संस्कृत-वाङ्मय का बृहद् इतिहास

सप्तम-खण्ड

आधुनिक संस्कृत साहित्य का इतिहास

(आधुनिक महाकाव्य-लघुकाव्य-गद्यरचना-रूपक-नाटक-प्रहसन)

प्रधान सम्पादक

पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय

सम्पादक

डॉ. जगन्नाथ पाठक

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान

लखनऊ

प्रकाशक :
अरुण कुमार ढौंडियाल
निदेशक :
उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ

प्राप्ति स्थान :
विक्रय विभाग :
उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, नया हैदराबाद,
लखनऊ-२२६ ००७

प्रथम संस्करण :
वि.सं. २०५६ (२००० ई.)
प्रतियाँ : ११००
मूल्य : रु. ३६०/-

मुद्रक : **शिवम् आर्ट्स,** निशातगंज, लखनऊ । दूरभाष : ३८६३८६

पुरोवाक्

"सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते"

इदं महते प्रमोदाय यत् "आधुनिक संस्कृत साहित्य का इतिहास" नामा "संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास" नाम्नो ग्रन्थस्य सप्तमः खण्डः प्रकाशमासादयतीति। मया स्वेन हिन्दी-भाषायां लिखिते संस्कृतसाहित्येतिहासे 'आधुनिकः कालः" न लेखन्या विषयतां नीतः। तदानीमिदमनिवार्यमिति नानुभूतम्। किन्तु प्रवर्तमानेऽस्मिन्नायोजने आधुनिकस्य कालस्य निवेशोऽनिवार्य इत्यनुभवगोचरीकृतः। कतिपये विद्वांसः इतिहासकृद्भिरयं कालः कथन्न लिखित इति विचारयद्भिर्निर्णीतं यत् प्राचीनसंस्कृतसाहित्यस्य तुलनायां नायं काल आरोहतीति। परं नैषा भूतार्थव्याहृतिरिति मामकीनः पक्षः। तस्मिन् काले साम्रग्येण आधुनिकं साहित्यमुपलब्धुं शक्यं नाभवत्। नैके चाधुनिकस्य कालस्य ग्रन्थाः स्वातन्त्र्योत्तरे काले प्रकाशमासादिताः। यथा चानैकैर्विद्वद्भिराधुनिकस्य साहित्यस्य सङ्कलने विगतेषु दशकेषु प्रयासः कृतः तथा तदानीं केनापि न कृत इति मन्ये। कृष्णमाचार्यैरवश्यमनेके आधुनिकाः संस्कृतरचनाकाराश्चर्चा-विषयमानीताः, किन्तु तेषां विषये सामान्या संक्षिप्ता च सूचना तैरुपहृता। अस्तु, मया स्वीये "काशी की पाण्डित्य परम्परा" नाम्नि ग्रन्थे नैके आधुनिका रचनाकाराश्चर्चिताः।

आधुनिकेषु संस्कृतरचनाकारेषु नैके ते सन्ति ये परम्परामनुसृत्येव काव्यलेखने समीचीनां योग्यतां प्रमाणयितुं सामर्थ्यं भजन्ति। तादृशेषु रचनाकारेषु, मद्गुरुचरणा महामहोपाध्यायाः पं. रामावतारशर्माणः स्मृतिपथमिदानीमवरतन्तिः। तैर्लिखितं मारुतिशतकं पठन् को नाम महाकविना मयूरेण लिखितस्य सूर्यशतकस्य न स्मरेत् ? अस्मिन्नेव क्रमे, मया श्रुतं यत् क्रान्तदर्शिना योगिराजेन श्रीमताऽरविन्देन कारागारे किमपि लघुकाव्यं लिखितम्, तत् भवानी भारतीति नाम्ना पाण्डिचेर्यां स्थितेन अरविन्दाश्रमेण प्रकाशं नीतमिति। तस्मिन् काऽप्योजः-सम्पन्ना भाषा तेन सम्प्रस्तुता। एवं मया श्रुतं यत् माधव श्रीहरि अणे महाशयैः लोकामान्यानां बालगङ्गाधरतिलकमहाशयानामुदात्तं चरित्रं विषयीकुर्वद्भिस्तिलकयशोऽर्णव इति महाकाव्यं लिखितं यत् पुणेस्थतिलकविद्यापीठतः त्रिषु भागेषु प्रकाशं नीतमिति। अयञ्च मत्कृते कश्चन चमत्काराधायकः समाचार आसीत्।

इतिहासेऽस्मिन् त्रीन् प्रभावशालिन आलोचननिपुणान् रचनाकारांश्चाश्रित्य युगविभाजनं सम्प्रस्तुतम्। ते सन्ति-राशिवडेकरोपाह्वा अप्पाशास्त्रिमहाशयाः, भट्टोपाह्वा मथुरानाथशस्त्रिणः, वेंकट राघवन् महाशयाश्च, ते कथमस्मिन्नितिहासे युग-प्रवर्तने हेतुभूता इति सम्पादकेन स्फुटतां नीतम्। आशासे, इतिहास्यास्याध्येतारो युगविभाजनमिदमङ्गीकरिष्यन्ति। इतिहासस्याध्यायेषु सर्वा अपि प्रचलिताः काव्यविधा आलोचिताः। लघुकाव्याध्याये गीतिकाव्याध्याये च नैके रचनाकारा द्विरालोचिताः, कतिपये च रचनाकाराः प्रायः सर्वेष्वध्यायेषु नामग्राहं यत्किञ्चिदालोचिताः। अध्यायानां लेखकानामालोचनपद्धतिः काव्यस्य

प्रतिमानविषयका विचाराः अस्मिन्नितिहासे पठतामायास्यन्ति विचारपदवीम्। सा च स्वाभाविकी स्थितिः, किन्तु प्रायः सर्वेऽप्यालोचकाः प्राचीनाचार्येनिर्दिष्टां काव्यालोचनपद्धतिमनुसरन्तीति मयाऽऽकलितम्। सत्यप्येवं सर्वैरपि आधुनिकसमीक्षाया विशेषः पन्था अपि नोपेक्षाविषयतां नीतः। अस्यां समीक्षायां रचयितुः परिवेशोऽपि विचार्यते। प्राचीने काले परिवेशविषयको विचारो न प्रवर्तितः। वस्तुतस्तस्यापि महत्त्वम्, किन्तु कतिपये आधुनिकम्मन्याः काव्यसमीक्षकाः प्राचीनानाचार्यानुपेक्षमाणाः प्रतीयन्त इति खेदः। नासीदीदृशी दृष्टिः काव्यालोचननिपुणानामाचार्य-रामचन्द्रशुक्लवर्याणाम्। प्राचीनालोचनपद्धत्या ये गुणास्तेऽद्यापि काव्ये विचारणीयाः आधुनिकाश्च ये पाश्चात्या विचारास्तेऽपि विचारपदवीं नेया विद्वद्भिरित्यस्माकं मतम्।

इतिहासेऽस्मिन् न केवलमाधुनिकाः संस्कृतरचनाकाराः, परं समकालिका अपि आलोचिता इति वैशिष्ट्यम्। अपि च अस्मिन् खण्डे दर्शनस्य शास्त्रस्य चाध्यायो निवेशितः। अस्मिन् प्रसङ्गे नैके विद्वासः संक्षेपेण निर्दिष्टाः। खण्डोऽयमुपयोगी सेत्स्यत्यस्माकं विश्वासः।

अनेन खण्डेन सम्बद्धः सम्पादको जगन्नाथ पाठकः तस्य सहयोगिनो लेखकाश्च, संस्थानस्य पूर्वनिदेशकः श्री मधुकरद्विवेदी, निदेशकपदे वर्तमाना श्रीमती अलका श्रीवास्तवा, अधिकारी श्रीचन्द्रकान्तद्विवेदी च, सर्वानेतान् प्रति आशीर्वचांसि व्याहरन् विरमामि।

बलदेव उपाध्यायः
विद्याविलासः
रवीन्द्रपुरी, वाराणसी।

गुरु-पूर्णिमा
विक्रम सं. २०५६

प्रस्तावना

"संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास" का सप्तम खण्ड "आधुनिक संस्कृत साहित्य का इतिहास" प्रकाश में आ रहा है यह मेरे लिए प्रसन्नता और सन्तोष का विषय है। मैं अपने "संस्कृत साहित्य का इतिहास" ग्रन्थ में आधुनिक काल के साहित्य का अध्याय नहीं जोड़ सका था। उस समय सम्भवतः इसकी आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई थी, क्योंकि तब इसके प्रति ऐसा कुछ नहीं लग रहा था कि यह अध्याय इतिहास के लिए अनिवार्य है। कुछ लोगों ने ऐसी कल्पना कर ली कि इस अध्याय के प्रति इस कारण उदासीनता बरती गई कि प्राचीन संस्कृत साहित्य की तुलना में अर्वाचीन संस्कृत का साहित्य नाना कारणों से न्यून समझा जा रहा है, किन्तु मेरा निजी विचार इसके विपरीत रहा। मैने स्वयं ऐसे अनेक प्रतिभाशाली रचनाकारों को देखा और सुना तथा उनमें प्राचीन रचनाकारों जैसी गरिमा लक्षित की। जैसे अपने गुरु म.म. रामावतार शर्मा जी की रचनायें मैंने पढ़ीं और इसी प्रकार कई उत्कृष्ट कोटि के अन्य साहित्यकारों के विषय में क्रमशः अवगत हुआ, "काशी की पाण्डित्यपरम्परा" के लेखनक्रम में मैंने काशी से जुड़े ऐसे अनेक विद्वानों, साहित्यकारों के विषय में अपनी क्षमता के अनुसार लिखा जो आधुनिक काल में प्रतिष्ठित हुए।

"बृहद् इतिहास" की योजना में स्वतन्त्र रूप से "आधुनिक काल" उन्नीसवीं तथा बीसवीं शती को जोड़ना मुझे अनिवार्य लगा, क्योंकि अब तक देश के कई विद्याकेन्द्रों में इस कार्य के अन्तर्गत आने वाले साहित्यकारों के विषय में अध्ययन और शोध कार्य को बहुत प्रश्रय दिये जाने से उनके विषय में प्रामाणिक सामग्री प्रकाश में आ चुकी है, ऐसा मैने अनुभव किया। अब इस काल-खण्ड के इतिहास को एक व्यवस्थित रूप देने के प्रसंग में इसके विषय के अनेक पक्षों को सुना और इसमें यथास्थान परामर्श भी दिया। मैंने अनुभव किया कि इतिहास का यह एक उपयोगी "खण्ड" सिद्ध होगा।

प्रस्तुत खण्ड जिस अर्थ में एक साहित्य के इतिहास से अपेक्षा की जा सकती है उसकी बहुत कुछ पूर्ति में समर्थ होगा ऐसा मुझे विश्वास है। इसके अध्याय के सभी लेखक साहित्य के आधुनिक युग में विकास ग्रहण करते काव्यरूपों तथा शैलियों से सुपरिचित ही नहीं, स्वयं निर्माण में दक्ष भी हैं। उन्हें सामाजिक तथा राजनैतिक परिवर्तनों का भी विशेष ज्ञान है। इतना होने पर भी काव्य के मूल्यांकन की उनकी दृष्टि निजी भी है, इस कारण सम्भव है निर्णय तक पहुंचने में एक-दूसरे से अलग, या कही-कहीं एक दूसरे के विरोधी भी प्रतीत हो सकते हैं। साथ ही, इतना मुझे लगा है कि सभी भारतीय परम्परा के प्रति निष्ठावान हैं। उन्होंने आधुनिक युग के काव्यचिन्तन को भी आत्मसात् करते हुए अपनी गुणग्राहिणी दृष्टि का भी परिचय दिया है। इस कारण भी यह खण्ड उपयोगी बन पड़ा है।

आधुनिक काल में काव्य की सभी विधाओं में बहुत मात्रा में लेखन हुआ। संस्कृत भाषा की यह विलक्षणता ही कही जा सकती है कि इस काल में भी अखिल भारतीय स्तर

पर रचनायें प्रस्तुत हुईं। एक ओर संस्कृत के प्रतिष्ठित शास्त्रज्ञ पण्डितों ने प्रौढ़ तथा उच्च कोटि की रचना की तो दूसरी ओर जयदेव की "कोमल कान्त पदावली" में लिखने वालों की कोई कमी नहीं रही। मुझे यह जानकर आश्चर्यमिश्रित प्रसन्नता की अनुभूति हुई कि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के एक सहपाठी बिहार के निवासी कमलेश मिश्र ने संस्कृत में लोक-गीत की परम्परा स्थापित की, उनका "कमलेशविलास" स्वातन्त्र्योत्तर काल में प्रकाश में आया। इससे जिस परम्परा को भट्ट मथुरानाथ शास्त्री से प्रवर्तित माना जाता रहा वह उनसे पूर्व भी प्रवर्तित हो चुकी थी यह तथ्य इस इतिहास में स्पष्ट रूप से प्रकाश में आया है।

आधुनिक काल में जहां तक आरम्भ की बात है मैंने अपने एक पत्र में इस खण्ड के सम्पादक को सूचित किया था कि यह तब से आरम्भ होता है जब से नागेश भट्ट ने काशीवास आरम्भ किया। मेरा तात्पर्य यह था कि नागेश भट्ट के कारण शास्त्रीय चिन्तन की धारा में एक विशेष परिवर्तन लक्षित होता है। उन्होंने न केवल व्याकरण शास्त्र के ग्रन्थों पर व्याख्यान प्रस्तुत किया, प्रत्युत काव्यप्रकाश की व्याख्या "प्रदीप" पर भी अपनी गम्भीर टिप्पणी "उद्योत" नाम से प्रस्तुत की। फिर भी राजनैतिक और सामाजिक स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में आधुनिक काल के जो विभाजन लोगों ने सुझाये हैं वे सामान्यतः भिन्न होने पर भी, मुझे ठीक लगे हैं। आधुनिक काल में ही दो मुख्य घटनाएं घटित हुईं। एक तो भारत पर वैदेशिकों का प्रभुत्व स्थापित होने के कुछ समय बाद स्वातन्त्र्य के लिए संघर्ष का युग और स्वातन्त्र्य की प्राप्ति के पश्चात् उसे लेकर राष्ट्र के अभ्युत्थान के लिए सोत्साह प्रयास का युग। इसमें संस्कृत का जो साहित्य स्वातन्त्र्य-संघर्ष काल में रचित हुआ वह अपने आप में विशेष ओजस्वी लक्षित होता है। यह मुझे जानकर और भी प्रसन्नता हुई कि इस युग के क्रान्तिकारी चेतना से सम्पन्न रचनाकार श्री अरविन्द ने प्रचंड ओजस्वी शैली में एक लघुकाव्य लिख रखा था जो बाद में "भवानी भारती" के नाम से प्रकाशित हुआ। मुझसे जब इस खण्ड के सम्पादक ने एक बात की और सूचना पहले ही दी थी कि स्वातन्त्र्य संग्राम के एक प्रखर योद्धा माधव श्रीहरि अणे महाशय ने अपने गुरु लोकमान्य बालगंगाधर तिलक को लेकर "तिलकयशोऽर्णवः" महाकाव्य की रचना की है और उसका तीन भागों में प्रकाशन हुआ है, तो मैं इस समाचार से चमत्कृत हो उठा। जिस प्रकार गांधीजी के सम्बन्ध में संस्कृत में पण्डिता क्षमाराव ने उनके जीवनकाल में ही सत्याग्रहगीता जैसी रचना प्रस्तुत की और उसकी प्रमाणिकता निर्विवाद सिद्ध हुई उसी प्रकार बापू जी अणे की भी यह महीयसी रचना अपने विषय के अनुरूप गम्भीर और उदात्त सिद्ध होगी, ऐसी मेरी अवधारणा है।

इस इतिहास में जो एक और विशेष बात, सम्भवतः इदम्प्रथमतया सामने आयी है वह यह कि इसका एक दूसरे ढंग से युग-विभाजन किया गया है। सम्भव है हिन्दी साहित्य के इतिहास में जिस प्रकार भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग आदि की चर्चा चलती आ रही है उसका भी इस प्रकार के युग-विभाजन पर कुछ प्रभाव हो। निःसन्देह यह युग-विभाजन

हमारे लिए विचारणीय है। आधुनिक साहित्यधारा को अप्पाशास्त्री राशिवडेकर, भट्ट मथुरानाथ शास्त्री और डा. राघवन् इन तीन साहित्यकार मनीषियों ने अपने उदार कृतित्व से प्रभावित किया है। अतः इनके आधार पर इस इतिहास में राशिवडेकरयुग, भट्टयुग ओर राघवनूयुग के आधार पर विभाजन मुझे एक समुचित और स्वस्थ प्रयास लगा है।

आधुनिक काल के साहित्य में भी मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि रचनाकारों ने भारतीय संस्कृति के प्रति अपने अपने ढंग से निष्ठा और आदर व्यक्त किया है, भरत, भामह, आनन्दवर्धन आदि प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों को बहुत कुछ मान्यता प्रदान की है। इसके साथ ही उन्होंने आधुनिक साहित्य की समीक्षा में आने वाले तत्त्वों पर भी ध्यान दिया है। आज जो काव्य-समीक्षा में विशेष तत्त्व विचार कोटि में आता है वह, मेरे विचार में परिवेश है। रचनाकार का अपना परिवेश निश्चित रूप से उसकी रचना के अस्तित्व में आने में कारण बनता है। प्राचीन काल में इस पर विचार नही किया गया। प्राचीन समीक्षा में जहां सहृदय को केन्द्र में रखा जाता था वहां आज रचनाकार केन्द्र में प्रतिष्ठित किया जाने लगा है।

संस्कृत के क्षेत्र में अब भी स्वतन्त्र आधुनिक समीक्षा दृष्टि का विकास हुआ हो, यह मेरे संज्ञान में नहीं है, यदि नहीं हुआ हो तो प्रबुद्ध संस्कृतज्ञ समाज को इस दिशा में ध्यान देना चाहिए। प्राचीन आचार्यों के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलते हुए आज के युग में, प्रकाश में आ रहे साहित्य का पर्यालोचन अवश्य करना चाहिए। तभी साहित्य को गति और दिशा मिल सकेगी। अन्यथा उसके गतिहीन तथा दिशाहीन होने का भय बना रहेगा।

इस इतिहास के निर्मित होने में जिन दो विद्वानों की पुस्तकों का विशेष योगदान है वे हैं -नागपुर के श्रीधर भास्कर वर्णेकर जी और मध्य प्रदेश के डा. हीरालाल शुक्ल जी। इसी प्रकार डॉ. रामजी उपाध्याय और डा. राघवन् ने भी आधुनिक संस्कृत साहित्य को मान्य कोटि तक पहुंचाने का स्तुत्य प्रयास किया है। ये लोग आधुनिक संस्कृत साहित्य के प्रत्येक जिज्ञासु के लिए मान्य हैं।

इस इतिहास में काव्य की प्रचलित नाना विधाओं के अध्यायों के साथ दर्शन और शास्त्र के अध्याय को जोड़ना आवश्यक समझा गया और इसके सम्पादक को इस सम्बन्ध में प्रयास के लिए निर्देश दिया गया। वास्तव में, आधुनिक काल में अनेक विभूतियां उत्पन्न हुई जिन्होंने शास्त्रचिन्तन को गति प्रदान की। इनमें धर्मदत्त (बच्चा)झा, नकछेद राम द्विवेदी, स्वामी करपात्री जी महाराज जैसी विभूतियों को कौन नहीं जानता ? आज अपने स्वतन्त्र राष्ट्र में संस्कृत की स्थिति निरन्तर दयनीय से दयनीयतर होती जा रही है। यदि ऐसी ही स्थिति बनी रही तो शास्त्रीय ग्रन्थ तो दूर, वाल्मीकि, व्यास और कालिदास को भी लोग भूल जायेंगे। "बृहद् इतिहास" के निर्माण की इस योजना से लोगों के समक्ष संस्कृत साहित्य अपनी समग्र गरिमा के साथ प्रकट होगा और इसके अध्ययन, आकलन और मनन की ओर लोगों की प्रवृत्ति बढ़ेगी। प्राचीन कवियों के साथ आधुनिक संस्कृत के रचनाकारों के प्रति भी उनके मन में आकर्षण उत्पन्न होगा।

इस इतिहास में, न केवल आधुनिक काल के संस्कृत रचनाकारों का समावेश हुआ है प्रत्युत समकालिक संस्कृत के रचनाकारों का साहित्य भी अधिक मात्रा में चर्चित हुआ है। इससे समकालिक रचनाकारों में उत्साहसंवर्धन के साथ और भी स्तरीय रचनाओं के निर्माण की प्रवृत्ति स्फुरित होगी और संस्कृत का आधुनिक तथा समकालिक साहित्य अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य के बीच देदीप्यमान होगा।

मैं इस खण्ड के सम्पादक अपने शिष्य जगन्नाथ पाठक तथा उनके सहयोगी सभी लेखकों को साधुवाद और आशीर्वाद देता हूँ। साथ ही डा. रमाकान्त झा ने सम्पूर्ण सामग्री को मुझे सुनाया और मेरे निर्देश का पालन करते हुए इसमें यथास्थान कुछ परिवर्तन और परिवर्धन किया उसके लिए उन्हें तथा "संस्थान" के पूर्व निदेशक श्री मधुकर द्विवेदी और वर्तमान निदेशक श्रीमती अलका श्रीवास्तवा और अधिकारी चन्द्रकान्त द्विवेदी को इतिहास के प्रकाशन में अपेक्षित सहयोग के लिए आशीर्वाद देता हूँ।

बलदेव उपाध्याय
विद्याविलास
रवीन्द्रपुरी, वाराणसी।

गुरुपूर्णिमा
वि.सं. २०५६
२८ जुलाई, १९९९

सम्पादकीयम्

संस्कृत-साहित्यस्य प्राचीनत्वं महत्त्वञ्च

यदैव संस्कृतं 'भाषा'मात्रमिति प्रस्तूयते तदैव प्रतीयते यद् गङ्गा काचिदेका 'नदी'-मात्रमिति परिचाय्यते। 'दैवी वाक्' 'सुर-भारती' वेति सुबहोः कालात् प्रतिष्ठापिता खल्वियं संस्कृत-भाषा न केवलं विश्वस्य प्राचीनासु भाषासु अन्यतमा, परं तस्यां साहित्यमपि, न केवलं शताब्देभ्यः परं सहस्राब्देभ्यो निर्मीयमाणमस्तीति नाविदितं समेषाम्। विश्व-मानवस्य, इदम्प्रथमतया ज्ञातः, ऋग्वेदो नाम प्रथमं काव्यं पञ्चसहस्रवर्षेभ्यः प्राक्कालिक इत्यपि निर्विवादमेव। त्यागेन तपसा चानुप्राणितं स्वीयं सांस्कृतिकं निधानमनुसन्धातुं संस्कृतसाहित्यमनिवार्यतया ऽस्माभिरवगाह्यते। सुबहोः कालाच्च प्रशस्ते निर्मले च संस्कृतसाहित्यादर्शे भारतीयं जन-मानसं जन-जीवनञ्च प्रतिफलितमुत्पश्यामः। अतः संस्कृतसाहित्यं भारतीयायाः संस्कृतेर्वाहनमिति कृत्वा प्रत्येकं भारतीयेनाकलनीयम्।

ऋग्वेदादयो दिव्या वैदिका ग्रन्थाः, गम्भीरा उपनिषदः, अनुपमं वेदाङ्गसाहित्यम्, वाल्मीकेरादिकवे रामायणम्, कृष्णद्वैपायनस्य महर्षेर्व्यासस्य महाभारतञ्चेति इतिहासौ, पुराण-साहित्यञ्च, संस्कृतभाषायामीदृशं साहित्यमस्ति यदद्यत्वेऽपि पवित्रयत्युल्लासयति चास्मान्।

पाणिनि-कात्यायन-पतञ्जलीनां त्रयाणां मुनीनां व्याकरणम्, कौटल्यस्य चाणक्यस्य अर्थशास्त्रम्, चरक-सुश्रुत-वाग्भटादीनामायुर्वेदशास्त्रग्रन्थाः, प्रखरचिन्तकत्वेन प्रसिद्धिं गताना-मादिशङ्कराद्याचार्याणां धर्मकीर्तिप्रमुखानां बौद्धाचार्याणां जैनमनीषिणाञ्च दार्शनिका ग्रंथाः संस्कृत- साहित्यं विलक्षणनिधितया प्रख्यापयितुमद्यापि प्रभवन्ति।

कविकुलगुरुकालिदास-अश्वघोष-भारवि-माघ-भवभूति-श्रीहर्षप्रभृतीनां काव्यानि संस्कृत-साहित्यस्य महार्हाणि रत्नानि-इत्यद्यत्वेऽपि सङ्ग्राह्याणि समाकलनीयानि च।

संस्कृतातिरिक्तासु प्राकृतपाल्यपभ्रंशभाषास्वपि विपुलतया साहित्यनिर्माणं समजनि। तासु निर्मितमपि साहित्यमस्माकं समुज्ज्वलायाः सांस्कृतिक्याश्चेतनायाः परमं प्रमाणम्। किन्तु कालक्रमेण संस्कृतभाषायाः प्रभविष्णुतायाः समक्षं तासु भाषासु साहित्यनिमार्णप्रवृत्तिः शिथिलतां गतवती।

संस्कृतसाहित्यधारा सर्वेष्वपि युगेष्वप्रतिहतगतिका प्रवहन्ती प्रावर्ततेत्याश्चर्यम्। इतोऽप्यधिक-माश्चर्यं यद् विगतायां प्रवर्तमानायाञ्च शताब्द्यां विशालमुच्चकोटिकं संस्कृतसाहित्य-मद्यत्वेऽप्याकलनविषयतां गच्छतीति। संस्कृतभाषाया नैकासामपि भारतीयानां भाषाणां जननीत्वं तु निर्विवादमेव। सा सम्प्रति सर्वकारेण प्रदत्तमान्यतासु भाषास्वन्यतमेत्यवगन्तव्यम्। तस्यां निर्मितमाधुनिकं साहित्यं नैकासां समकालिकीनां भाषाणां साहित्येन समं सुप्रतिष्ठितम्।

अत इदमावश्यकं यदस्माभिः शताब्दीद्वयकालखण्डेऽस्मिन् विनिर्मितस्याधुनिकस्य संस्कृत-साहित्यस्य सर्वाङ्गीणं वस्तुपरञ्च ऐतिहासिकं पुनराकलनं विधेयमिति।

प्राचीने काले संस्कृतसाहित्येतिहासस्य लेखनं न प्रावर्तत। ऐदम्प्राथम्येनास्येतिहासस्य लेखनं विगतायां शताब्द्यां पाश्चात्यैर्विद्वद्भिः प्रवर्तितम्। ततोऽनेके भारतीया विद्वांसोऽस्यां दिशि प्रवृत्ता अभूवन्, येषु समुल्लेख्याः सन्ति, डॉ. कृष्णमाचारियरमहाशयाः, आचार्य पं. बलदेवोपाध्यायश्च। कृष्णमाचारियरमहाशयानतिरिच्य नैकेनापि विदुषा संस्कृतसाहित्येतिहासः खिस्तीयसप्तदशशताब्दीतोऽग्रे समुल्लिखितः।

अत्र सम्भाव्यमेतदपि यत् पाश्चात्या भारतीयाश्च ते विद्वांसः ख्रिस्तीयसप्रदशशताब्दी-तोऽग्रे समुल्लिखितं संस्कृतसाहित्यं प्राचीनसंस्कृतसाहित्यतुलनायां न्यूनमित्यकल्पयन् इति। यद्वा तद् वाऽस्तु, पण्डितराजानन्तरं निर्मितं संस्कृतसाहित्यं, विशेषेण विगतायां प्रवर्तमानायाञ्च शताब्द्यां निर्मितं संस्कृतसाहित्यं समग्रामपि भारतीयां चेतनां नवनवेष्वायामेषु समुद्घाटयितुं प्रवृत्तमद्यत्वेऽपि गतिशीलामस्माकं जीवनधारां महता प्रामाणिकत्वेनाकलयितुमेकमनिवार्यं साधनमित्यतः अस्माकं पक्षतः सर्वथा सङ्ग्राह्यमाकलनीयञ्च।

संस्कृतसाहित्यस्याधुनिकः कालः

संस्कृतसाहित्येतिहासस्यास्याधुनिकः कालः कस्मात् कालविशेषादारब्ध इति प्रश्नः। आधुनिकेषु विचारकेष्वस्मिन् विषये निश्चयेन यः कश्चन मतभेदः संलक्ष्यते। अथ च किन्तावदाधुनिकत्वं संस्कृतसाहित्यस्य, इत्यपि विचारणीयः प्रश्नः। यद् विगतं तत् प्राचीनम्, यच्च प्रवर्तमानम्, तदाधुनिकमितीदृग् विचार आधुनिकत्वस्य निर्णायकतथ्यतया नैव मान्यः। कालिदासेनापि स्वपूर्ववर्ति काव्यं पुराणमिति, तदपेक्षया स्वकाव्यं नवमिति, अभिहितम्। किन्तु नाधारः साहित्येतिहासस्य सन्दर्भे व्यवहार्य इति प्रतीयते। प्रसङ्गेऽस्मिन् डॉ. राधावलल्भत्रिपाठिनो वक्तव्यमिदं विचारणीयम्-"विश्वस्मिन् देशे च परिवर्तमानानां राजनैतिकीनां सामाजिकीनाञ्च स्थितीनां बोधेन समं समग्रस्य राष्ट्रस्य ऐकात्म्यमधिश्रिता दृष्टिः न्यूनान्यूनमेकं व्यावर्तकमस्ति, या कालस्य विषयवस्तुनश्च दृष्ट्या आधुनिकस्य साहित्यस्योपक्रमं विधत्ते।" ("नवोन्मेषः", राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर, पृ. ११८)

प्राध्यापकैर्वर्णेकरमहाशयैरर्वाचीनकालस्यारम्भः सप्तदशशताब्दीतः स्वीकृतः, किन्तु तेषां विचारेण स्पष्टतया स्वीयामसहमतिं प्रकटयद्भिः स्वीय एकस्मिन् व्यक्तिगते पत्रे आचार्यैः पं. बलदेवोपाध्यायैरर्वाचीनकालस्यारम्भः १७५० खिस्तीयाब्दतः स्वीकृतः, यदारभ्य नागेशभट्टस्य काशीवासः समभूत्। तैरेव स्वीये पत्र एकस्मिन् (३.६'६१ दिनाङ्के लिखिते) आधुनिक-संस्कृतसाहित्यस्य कालखण्डेन १८५० तः १९६० पर्यन्तं भाव्यमिति स्वीयो निर्देशः कृतः।

संस्कृतसाहित्यस्याधुनिकं कालं सन्निर्धारयता केनचिदपि समग्रेऽपि भारते परिवर्तमाना राजनैतिक्यः सामाजिक्यश्च स्थितयो नैवोपेक्षितुं शक्याः। पण्डितराजानन्तरं साहित्यक्षेत्रे कश्चन गतिरोधः, एकं गतिहीनत्वं वा, स्फुटतया प्रतीतिपथमवतरति। सम्भवत इदमेव कारणं यदितिहासकाराणां ध्यानं न तं विषयमनु गतम्। यद्यपि तथ्यमेतद् यद् 'गतिरोधस्य' तादृशी स्थितिः खिस्तीयद्वादशशताब्दीत एव संलक्ष्यते, तथापि सा पण्डितराजानन्तरं सुस्पष्टतयाऽनुभूतिपथमायातेति शक्यतेऽभिधातुम्।

डॉ. हीरालालशुक्लैः १७८४ वर्षं संस्कृतस्य नवजागरणदृष्ट्या महत्त्वपूर्णमिति स्वीकृतम्। यतः, अस्मिन्नेव काले सर विलियम जोन्समहाशयस्य प्रयासेन कलिकातायां 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' इव्याख्यायाः संस्थायाः स्थापनं जातम्। अनया संस्थया संस्कृतस्य पाडुलिपीनां समुद्धारोऽभूत्, संस्कृतक्षेत्रेऽनुसन्धानस्य प्रवर्तनञ्च सञ्जातम्। अस्मिन्नेव काले श्रीमद्भगवद्गीतायाः, हितोपदेशस्य, शकुन्तलोपाख्यानस्य चाङ्ग्लानुवादाः प्रकाशिताः। इदम्प्रथमतया संस्कृतभाषायाः साहित्यं मुद्रणालये मुद्रितं सत् प्रकाशितम्, अथ च सम्पूर्ण एव यूरोपदेशे प्रचारितम्। अनेन संस्कृतं प्रत्याकर्षणं संवर्धितम्। ततः, १७९१ वर्षे शाकुन्तलस्य शर्मण्य (जर्मन) भाषायामनुवादः प्रस्तुतः, यमालोक्य शर्मण्य (जर्मन) भाषाया महाकविः गेटेमहाशयः सुतरां प्रभावितः सञ्जातः। वाराणस्यां संस्कृतमहाविद्यालयः १७९१ वर्षे स्थापितः। डॉ. शुक्लमहाशयाः कारणैरेभिः "संस्कृतस्य भावधारासु विशेषमेकं परिवर्तनम"नुभवन्ति। तैरिदमप्यनुभूतं यत् "संस्कृतभाषायां नवसम्भावनानां सिंहद्वारमुद्घाटितमि"ति। किन्तु १८३५ वर्षे भाषाविषयके मेकाले महाशयस्य प्रस्तावे शासनेन स्वीकृते सति सम्पूर्ण एव संस्कृतजगति व्याप्तः कश्चन विक्षोभः, तत्प्रतिक्रियायाञ्च संस्कृतस्य रक्षार्थं नवेनोत्साहेन सर्वेषां सम्मिलितानां प्रवृत्तिः, डॉ. शुक्लाः संस्कृतसाहित्यस्याधुनिककालस्यारम्भ इति मन्वते। अथ च, ते १८३५ त आरम्य १९२० पर्यन्तं लिखितं संस्कृतसाहित्यं "राजसभासंवेदना"-(दरबारी संवेदना) साहित्यतः सर्वथैव पृथक् हृदयरक्तसिक्तं निःसीममुर्वरमिति परिकल्पयन्ति, अपि च, 'अवधिमिमं, नवजागरणस्य विकासकाल इति कथनमुपयुक्तमभिप्रयन्ति। ("आधुनिक संस्कृत-साहित्य" भूमिका)

संस्कृतसाहित्यस्याधुनिकः कालः ('देववाणी-सुवासः', प्र.खं. भूमिकायाम्) डॉ. राजेन्द्रमिश्रैरेवं विभज्यते-१. पुनर्जागरणकालः (१७८४-१८८४), २. स्थापना-कालः (१८८४-१८५०), तथा, समृद्धिकालः (१९५०-अद्यावधि)। एकेन विदुषा, शतद्वयवर्षावधिकः काल एवं विभक्तः-

१८००-१९०० ऊनविंशतिशताब्दी, स्वतन्त्रतापूर्वकालः;

१९००-१९५० विंशतिशताब्द्याः पूर्वार्धभागः, स्वतन्त्रतासंघर्षकालः।

१९५०-१९९० विंशतिशताब्द्याः उत्तरार्धभागः, स्वातन्त्र्योत्तरकालः।

इमानि विभाजनानि राजनैतिकानि परिवर्तनान्यालक्ष्य प्रस्तुतानीति निश्चितम्। ईदृशानि परिवर्तनानि साहित्ये यत्किञ्चित्प्रभावमातन्वत इति न शक्यतेऽस्वीकर्तुम्, तथापि संस्कृत-साहित्यस्याधुनिकः कालोऽन्येनापरेणापि दृष्टिकोणेन शक्यते विभक्तुमिति विचारणीयमस्माभिः। स च विचारः साहित्यमेव सर्वात्मना समालम्बत इति प्रस्तूयते।

राजनैतिकी सामाजिकी या काचिदपि घटना साहित्यस्य रचनासंसारमपि स्वप्रभावसीमाया-मानयत्येव, किन्तु तस्याः प्रभावस्तस्मिन्नेव काले स्फुटतामापद्यमानो न प्रतीयते, कदाचित्तस्मिन् दशकानि व्यतियान्ति। तथाहि, राजनीतिक्षेत्रे महात्मगान्धिनामुदयः, तेषाञ्च नेतृत्वे स्वातन्त्र्य-सङ्घर्षस्य नवीनया दिशा च प्रवर्तनं जातम्, किन्तु तेषामनुभावेन प्रभाविताः

संस्कृतरचनाकारास्तद्विषये लेखितुमेकदशकानन्तरमेव प्रायः प्रवृत्ताः। एवञ्च, शाकुन्तलसदृशस्य संस्कृतग्रन्थस्यानुवादप्रकाशन-समकालमेव संस्कृतक्षेत्रे पाश्चात्यसम्पर्कप्रभावजन्यः कश्चन नवः प्रयोगो नारब्धः।

युगेषु विभाजनम्

पूर्वमाधुनिकसंस्कृतसाहित्यस्य कालविभाजनमधिश्रित्य विदुषां ये विचारा निर्दिष्टास्तानवलम्ब्य कस्यचिदपि विवादस्य कृते प्रश्रयमदत्वा कांश्चन युगान्तरकारिणो रचनाकारान् पुरस्कृत्य कालविभाजनं कथं न प्रवर्तनीयम् ? विशेषेण, तान् रचनाकारान् पुरस्कृत्य, यैरन्यापेक्षया सुदूरतः संस्कृते साहित्यलेखनं प्रभावितम्, व्यापकतया स्वकाले रचनाकर्मणि प्रवृत्तेभ्यो मार्गदर्शनञ्च कृतम्।

एवं संस्कृतसाहित्यस्याधुनिकः कालस्त्रिषु युगेषु विभजनीयः -राशिवडेकरयुगम्, १८९० तः १९३० यावत्; भट्टयुगम् १९३० तः १९६० यावत्; तथा राघवयुगम्, १९६० तः १९८० यावत्। एतद्विषयकः सङ्केतः गद्यसाहित्याध्यायस्य लेखकेन श्रीकलानाथशास्त्रिणा स्व-'पृष्ठभूमौ' समुपन्यस्तः। मया समं परस्परं परामर्शकाले श्रीशास्त्रिणा पूर्वं स्व-सहमतिरपि प्रकटीकृता। यादृशी युगानां सीमारेखा निर्धारिता, तत्र मामकः कश्चन मतभेदोऽपि विद्यते, तथापि सङ्केतोऽयं प्रायो मान्यः।

अप्पाशास्त्रिराशिवडेकराः (१८७३-१९१३) मौलिका रचनाकारास्त्वासन्नेव, सममेव च तैः 'संस्कृतचन्द्रिका'ख्यायाः 'सूनृतवादिनी'त्याख्यायाश्च पत्रिकायाः सम्पादनेन नवयुग-प्रवृत्त्यनुसारेण संस्कृते लेखनं, सतीष्वपि नानाबाधासु प्रोत्साहितम्, येन च तदानीन्तनः संस्कृतसमाजो जागरूकः समजनि। शासनतन्त्रस्य रोषपात्रैरपि सद्भिस्तैः कारावासकष्टमप्यनुभूतम्, तथापि तेषां साधना न बाधिता। चत्वारिंशद्वर्षावधिकेऽल्पीयसि स्वजीवनकाले साहित्यतः प्रशस्तिगानमूला प्रवृत्तिः येन विधिना पृथग्भवेत् स विधिरवलम्बितः, तस्मिन् राष्ट्रियया चेतनया च समं न केवलं प्रसादगुणमयी भाषा प्रवृत्तिविषयतां नीता, प्रत्युत पाण्डित्यप्रदर्शनग्रासतो यथासम्भवं संरक्षिताऽपि। श्रीकलानाथशास्त्रिणा, अप्पाशास्त्रिवर्याणां स्वर्गवासानन्तरमपि प्रभावं मन्यमानेन राशिवडेकर-युगं १८९० तः १९३० पर्यन्तं सङ्केतितमिति प्रतिभाति। राशिवडेकरयुगस्यान्येऽपि कतिपये मनीषिणः प्रसङ्गेऽस्मिन् सादरमुल्लेख्याः सन्ति, यथा पं. हृषीकेशभट्टाचार्याः, म.म. रामावतारशर्माणः, म.म. विधुशेखरभट्टाचार्याश्च।

भट्ट-युगं भट्टमथुरानाथशास्त्रिणां (१९८९-१९६०) नाम्ना प्रवर्तितम्। भट्टमहोदयैः 'संस्कृतरत्नाकरः' इत्याख्यायाः, 'भारती' त्याख्यायाश्च पत्रिकायाः सुबहूनि वर्षाणि यावत् सम्पादनं कृतम्। स्वयञ्च तैर्नवासु विधासु संस्कृते लेखनं प्रवर्त्य लेखने प्रवृत्तेभ्यः संस्कृत-रचनाकारेभ्यो मार्गदर्शनमपि कृतम्। प्रवर्तमानं गद्यलेखनमपि तैर्मसृणतां नीतम्। तस्मिन् नवाया गतेः प्रवाहमयत्वस्य च प्रवर्तनेन समं तत् परिनिष्ठितं स्यादित्यपि प्रयतितम्। संस्कृतं मृतभाषा नास्तीति यः पक्षो देशे प्रवर्धमानपाश्चात्त्यप्रभावतः शिथिलतां गत आसीत् स

पुनः प्रतिष्ठापितः। भट्टयुगस्यान्येषु लेखकेषु यतीन्द्रविमल चौधुरी (१६०८-१६६४) महाशया उल्लेखनार्हाः।

राघव-युगस्य प्रवर्तकैः डॉ. वेंकटराघवन् महाशयैः (१६०८-१६७६) यावता नवदेहलीस्थायाः साहित्याकादेम्याः पत्रिकायाः ''संस्कृतप्रतिभे''त्याख्यायाः सम्पादनमारब्धं तावता सा (पत्रिका) कामप्यखिलभारतीयां प्रतिष्ठामधिगतवतीत्येव न, किन्तु तद्द्वाराऽखिलभारतीयं स्तरीयं साहित्यं स्थानादेकस्मात् प्रकाश्यमानं समपद्यत, व्याकीर्णतां गतञ्च तदेकदिक्कृत्वमेकलक्ष्यत्वमप्यवाप्नोत्।

डॉ.राघवमहाशयाः स्वलिखितैर्निबन्धैराधुनिकसंस्कृतसाहित्यस्य महत्त्वं प्रतिष्ठापितवन्तः। समकालिकीनां भाषाणां यानि साहित्यानि तेषु संस्कृतसाहित्यस्य आधुनिके युगे प्रस्तुतस्य महत्त्वप्रतिष्ठापने तेषां विशिष्टं योगदानमासीत्। स्वयञ्च तैर्महाकाव्यस्यैकस्य लेखनेन समं नाटकानां निर्माणपुरःसरं रङ्मञ्चेऽभिनयोऽपि कृतः। तदीयैः प्रयासैः समकालिके संस्कृत-साहित्यक्षेत्रे नवायाः कस्याश्चिदुर्जस्वितायाः सञ्चारः समजनि, तत्र ते नानाप्रयोगाः समघटन्त, येऽखिलभारतीयस्तरे मान्यताभाजः समपद्यन्त।

आधुनिकस्य संस्कृतसाहित्यस्य सम्प्रवर्तने नैकेषामप्यन्येषां विदुषां स्व-स्वरचनाधर्मितया समं प्रशंसनीयं योगदानमासीत्, येषु कतिपये राशिवडेकरयुगस्य मनीषिणो नामग्राहमुल्लिखिताः पूर्वमस्माभिः। राघवयुगस्यापि ये समुल्लेखनीयास्तेषु सन्ति-डॉ. रामजी-उपाध्यायाः, यैराधुनिकसंस्कृत-नाटकानां सङ्कलनपुरस्सरं ग्रन्थोऽपि लिखितः, सागरविश्वविद्यालये आधुनिकान् संस्कृतरचनाकारानाधृत्य महता समारम्भेण शोधकार्यमपि प्रवर्तितम्।

राशिवडेकरयुगारम्भः ऊनविंशतिशताब्द्या अन्त्ये दशके जातः। ततः पूर्वं लिखितं साहित्यमाधुनिकं सदपि सर्वथा सामूहिकबोधसमन्वितं नासीदिति शक्यते वक्तुम्। ''संस्कृतचन्द्रिकातः'' पूर्वं तादृशस्य बोधस्य साहित्यलेखनक्षेत्रे समुत्पादनार्थं कोऽपि तादृशः प्रयासो न जातः। ततः पूर्वं प्रकाशितानां पत्रिकाणामुद्देश्यं प्रायः अप्रकाशितानां संस्कृतग्रन्थानां प्रकाशनं शास्त्रीयाणां धार्मिकाणाञ्च विचाराणां प्रसारश्चासीत्। अत एव ऊनविंशतिशताब्द्या नवमं दशकं यावत् संस्कृतरचनाक्षेत्रे सुमहद्, व्याकीर्णत्वं प्रतीतिपथमायाति। कालेऽस्मिन् आङ्ग्लशासनप्रभावात् खिस्तीयं धार्मिकं वाङ्मयमाधिक्येन प्राकाश्यमापद्यत।

राशिवडेकर-युगे संस्कृतलेखने समासबाहुल्यं शिथिलतां गतम्, तच्च बोधगम्यं प्रवाहमयञ्च विधातुं प्रयासः कृतः। प्राचीनादेव कालात् संस्कृतभाषा व्याकरणशास्त्रस्य नियमैः समधिकतया ग्रस्ता। तस्याञ्च गद्यापेक्षया पद्येषु लेखनमधिकतरं जातमिति निर्विवादम्। राशिवडेकर-युगे गद्यलेखनम्प्रति रचनाकृद्भिर्ध्यानं दीयमानमाकलयितुं शक्यम्। अस्मिन् युगे संस्कृते कविता-निर्माणे सम्प्रवृत्ताः सुकवयः कवितायाः कलाविलासरूपं पक्षं शिथिलीकृत्य मानवस्य सुखदुःखयोरभिव्यञ्जनेऽवहिता अभूवन्।

भट्टयुगे विशेषेण परिष्कारः सम्प्रवर्तितः। किमप्यतिरिक्तमोजः प्रवाहमयत्वञ्चानु-भूतिपथमागतम्, गद्यविधासु वैचारिका निबन्धा अलिख्यन्त, तत्र च सामयिकेभ्यो विषयेभ्यः

प्रश्रयो दत्तः। युगमिदं राशिवडेकरयुगमधिश्रितम्। तस्मिन् युगे आधुनिकं संस्कृतसाहित्यमेकखण्डकं भवनमिव सुविनिर्मितमिति शक्यते वक्तुम्।

राघवन्-युगे तदेकखण्डकं भवनं द्विखण्डकभवनरूपतया निर्मितं सत् समधिकतया भव्यतां गतम्। तस्मिन् नानावर्णाः कलाकृतयः शृङ्गाणि च सुविनिर्मितानि। युगेनानेन आधुनिक- संस्कृतसाहित्यभवनं सुदर्शनं कृतम्।

पत्र-पत्रिकाणां योगदानम्

आधुनिकसंस्कृतसाहित्येतिहासे यानि परिवर्तनानि, यानि वा नवासु विधासु लेखनस्य प्रवर्तनानि सम्पन्नानि, तत्र पत्र-पत्रिकाणां योगदानं महत्त्वपूर्णम्। प्रायः संस्कृतपत्रपत्रिकाणां प्रकाशनमपि संस्कृतसाहित्ये आधुनिककालस्य प्रवर्तनेन साकमेव समारब्धम्। आरम्भकालिकीषु पत्रिकासु, काशीविद्यासुधानिधिः, प्रत्नकम्रनन्दिनी, विद्योदयः, षड्दर्शनचिन्तनिका-इत्येतासामुल्लेखस्तु, मैक्समूलरमहाशयेन कृतः। परवर्तिनि काले याः पत्रिकाः प्राकाश्यं गतास्तासु, पण्डितः, संस्कृतचन्द्रिका, मित्रगोष्ठी, सूक्तिसुधा, सहृदया, शारदा-इत्येतासां नामान्युल्लेख्यानि। ततः सुप्रभातम्, उद्योतः, सूर्योदयः, श्रीः, कालिन्दी, मञ्जूषा, पीयूषपत्रिका-इत्येतासां सूचनोपलभ्यते। एतासु, सूर्योदयः अद्यत्वेऽपि वाराणसीतः प्रकाश्यते।

१८७२ वर्षे 'विद्योदय'नाम्नः पत्रस्य हृषीकेशभट्टाचार्यस्य सम्पादकत्वे लवपुरात् (लाहौरतः) प्रकाशनारम्भः समजनि, यस्य पत्रस्य पञ्चाशद्वर्षकालिकः संस्कृतसेवाया इतिहासोऽस्ति। अप्पाशास्त्रिराशिवडेकरस्य सम्पादकत्वे प्रकाशितया 'संस्कृतचन्द्रिकया' पत्रिकया राष्ट्रियान्दोलनेऽपि सक्रिया भूमिका निर्व्यूढा। अनया पत्रिकया संस्कृतक्षेत्रे एकः सामूहिको बोधः समुत्पादित एव, सममेव च सामयिकीषु समाजस्य दुःस्थितिषु टिप्पण्योऽपि प्रकाशिताः।

पत्रिकासु नैकाः त्रैमासिक्यः, मासिक्यः, पाक्षिक्यः, साप्ताहिक्यश्च प्रकाशिता अभूवन्। पूर्वं जयपुरतः, पश्चात् वाराणसीतः प्रकाशितायाः 'संस्कृतरत्नाकरः' इत्याख्यायाः पत्रिकाया विशिष्टं साहित्यिकं महत्त्वमासीत्।

अनूदितं साहित्यम्

आधुनिकस्य संस्कृतसाहित्यस्य विकासे संस्कृतेऽनूदितस्य साहित्यस्य योगदानमपि किञ्चिन्न्यूनं महत्त्वपूर्णं नास्ति। आरम्भतः, बाङ्लासाहित्यस्य अनेके उपन्यासाः संस्कृतभाषायामनूदिताः। ततश्च पूर्वं, 'बिहारीसतसई' नाम्नः काव्यस्य दोहाछन्दसि अनुवादः परमानन्दपण्डितेन कृतः। स्वातन्त्र्योत्तरे काले नैके वैदेशिका ग्रन्थाः संस्कृतभाषायामनूदिताः प्रकाशिताश्चाभूवन्। अनेनानूदितेन साहित्येन संस्कृतस्य प्रसारः प्रचारश्च सञ्जातावेव, इतोऽप्यधिकमनया भाषया अन्यासां भाषाणां भावानात्मसात् कृत्वा तासामभिव्यञ्जनस्यापारं सामर्थ्यमपि साधितम्।

अनूदितमिदं प्रभूतमपि साहित्यं साहित्यस्य श्रीवृद्ध्यै समपेक्ष्यत एव, परं तस्य मौलिकं

साहित्यमिव महत्त्वं नैव स्वीकर्तुं शक्यते। यद्यपि संस्कृतस्य प्रथम उपन्यास इति स्वीकृतः श्रीमदम्बिकादत्तव्यासरचित उपन्यासः 'शिवराजविजयो'ऽपि एकाऽनूदितैव रचनेति कैश्चिद् विद्वद्भिः प्रमाणपुरःसरमुपस्थाप्यते, तथापि विचारकैस्तत्र पं. व्यासमहोदयानां विलक्षणायाः प्रतिभाया योगदानमपि मन्यत एव। अतः, 'सा एका मौलिकी रचने'ति नात्र विप्रतिपत्तव्यम्।

आधुनिकाः संस्कृतज्ञा विशेषेण गुणग्रहीतार उदारचेतस इत्यत्रापि नास्ति सन्देहः। तैर्न केवलं, पवित्र 'बाइबिल'-आदयः ख्रिस्तीया धार्मिका ग्रन्थाः संस्कृतेऽनूदिताः, परं पवित्र'कुराण'-स्यापि संस्कृतेऽनुवादः कृतः। डॉ. वनेश्वरपाठकैः 'यीशुचरितम्' इतिनाम्ना 'बाइबिल-न्यूटेस्टामेण्ट' इत्यस्य संस्कृतपद्यानुवादः १६८६ वर्षे रांचीतः प्राकाश्यं नीतः। इतोऽपि पूर्वं आचार्यैः स्व. धर्मेन्द्रनाथमहाभागैः 'सादिनः पुष्पलोकः' इतिनाम्ना 'गुलिस्ताने सादी' नामा प्रसिद्धः पारसीको ग्रन्थः संस्कृतहिन्दीभाषयोरनूद्य निखिलभारतीयभाषापीठतः ससंरम्भं प्रकाशितः। ज्ञानेश्वरी (मराठी-भाषायां प्रस्तुता सन्तज्ञानेश्वरस्य भगवद्गीता-व्याख्या), लोकमान्यबालगङ्गाधर-तिलकमहाशयस्य गीतारहस्यम्, इति द्वयमपि संस्कृतेऽनूदितं विलसति। एवमाधुनिकं संस्कृतानुवाद- साहित्यं सर्वथा महनीयं संग्राह्यम्, संस्कृतविदुषां जागरूकत्वस्य च परिचायकम्।

किन्तु प्रसङ्गेऽस्मिन्नेतदप्यमिधातुं शक्यं यद् भारतीयमभारतीयञ्च साहित्यं संस्कृतेऽनूदितम्, परं संस्कृतस्याधुनिकं मौलिकं साहित्यमन्यासु भारतीयासु भाषासु कांश्चिदपवादान् विहाय नानूदितमिति। आधुनिकं संस्कृतसाहित्यं कथं तथा भारतीयानां भाषाणां संस्कृतज्ञान् भारतीयान् वैदेशिकान् वा नाद्यत्वे समाकर्षतीति प्रश्नः। विषयेऽस्मिन् संस्कृतस्य आधुनिकै रचनायां प्रवृत्तैः समालोचनायाञ्चाभिनिविष्टैः साहित्यकृद्भिश्च सम्भूय विचारणीयम्।

आधुनिककालस्य काश्चन विशिष्टाः प्रवृत्तयो विधाश्च-

आरम्भतः, प्राचीनैः समकक्षतां स्वलेखनस्य प्रमाणयितुं प्रवृत्ता अनेके न केवलं शास्त्रज्ञाः स्वं 'अभिनवपाणिनिः' इति 'अभिनवपतञ्जलिः इति 'अभिनवशङ्कर' इति उपाधिभिः प्रतिष्ठापयितुं प्रायतन्त, प्रत्युत काव्यनिर्माणे प्रवृत्ता अपि केचन 'अभिनवकालिदासाः, 'अभिनवबाणभट्टा' अभूवन् इति विदितमस्माकम्। किन्तु गच्छति काले क्रमेण तादृशी भावना शिथिलतां गता। आधुनिकै रचनाकृद्भिः परम्परातः प्राप्तया लेखनपद्धत्याऽसंस्पृष्टां स्वीयां लेखनपद्धतिं प्रस्तुवद्भिः स्वपरिचयं पृथगेव स्थापयितुं प्रयतितम्।

समसामयिके युगे गद्यापक्षेया पद्ये लेखने समधिका प्रवृत्तिरभिलक्षिता भवतीति सत्यम्, तथापि गद्यलेखनं तथा समुपेक्षितं नास्तीत्यपि लक्ष्यते। एतदपि सुमहदाश्चर्यकरं यदन्यासां भारतीयानां भाषाणां साहित्ये महाकाव्यविधायां लेखनं प्रायोऽवरुद्धमिव जातम्, किन्तु संस्कृतस्याधुनिके साहित्ये समधिकतया महाकाव्यानि सुविरचितानि। इदमपि च समुल्लेखनीयं यन्महाकाव्यानां नायकत्वेन गुरुर्गोविन्दसिंहः, स्वामी दयानन्दः, लोकमान्यो बालगङ्गाधरस्तिलकः, महात्मा गान्धी, पं. जवाहरलाल नेहरुः- एवमादयो राष्ट्रिया नेतारो मनीषिणश्च वृता इति।

यत्किञ्चित् समधिकतया प्रवर्धमाने गद्यलेखने सत्स्वपि बाङ्लाप्रभृतिसाहित्येभ्योऽनूदितेषु उपन्यासेषु मौलिका उपन्यासा अलिख्यन्त। समकालिकेऽपि युगेऽनेके मौलिका उपन्यासाः

प्रस्तुताः, तथाहि, डॉ. केशवचन्द्रदाशैरनेके उपन्यासा लिखिता एव, डॉ. रामकरण-शर्मणामुपन्यासद्वयम्, सीमा (१९८७), रयीशः (१९९४) अपि प्रकाशितं विराजते।

कालेऽस्मिन् गीतिकाव्यस्य लेखनं प्रभूततया समजनि। गीतगोविन्दस्य रागकाव्यपरम्परातः पृथक् पाश्चात्त्य-'लीरिक'परम्परायाः प्रभावः सर्वात्मनाऽनुभूतिगोचरो भवति। क्षेत्रेऽस्मिन्, विशेषेण उत्तरभारते, भट्टमथुरानाथशास्त्रिणः, ललितललामाः श्रीजानकीवल्लभशास्त्रिणश्च सुप्रतिष्ठितहस्ताक्षरतया स्वीकृता अभूवन्। ततश्च, छन्दोमुक्तायामपि शैल्यां गीतिलेखनं प्रवृत्तम्, नैकानि मेघदूतपरम्परायां दूतकाव्यानि निरमीयन्त। लोकगीतीनां प्रवर्तनमपि 'भारतेन्दु'-हरिश्चन्द्रस्य सवयसा कमलेशमिश्रेण कृतम्। कमलेशमिश्रस्य गीतिसङ्ग्रहः 'कमलेशविलासः' १९५५ तमे खिस्ताब्दे प्राकाश्यत। अस्मिन् ग़ज़लगीतयोऽपि समुल्लसन्तीत्यवधेयम्।

आधुनिकसंस्कृतसाहित्यस्य मूलभूतेषु स्वरेषु राष्ट्रियः स्वरः सविशेषं गणयितुं शक्यते। लोकमान्यो बालगङ्गाधरस्तिलकः ऐतिहासिकं स्वदेशीयान्दोलनं प्रवर्तितवान्। ततोऽपि पूर्वं बाङ्लासाहित्यस्य मूर्धन्येनेनोपन्यासकारेण बङ्किमचन्द्रचट्टोपाध्यायेन (१८३८-१८९४) लिखितस्य 'आनन्दमठ' इत्याख्यस्य उपन्यासस्य प्रकाशनं १८८२ वर्षे जातम्। तस्य भूमिका राष्ट्रिय आन्दोलने सविशेषाऽजनि, तस्य 'वन्दे मातरम्' इति संस्कृतगीतेन शताब्दीम्यः प्रसुप्तं राष्ट्रं प्रबुद्धं सञ्जातमिति। ततः परमिदमेव गीतं स्वातन्त्र्यान्दोलनस्य प्रधानतया प्रेरकतां गतम्। तदनन्तरं प्रायः संस्कृतस्य, समग्रमेव लेखनं राष्ट्रियभावनाप्रधानं समपद्यत। श्रीधरपाठकेन 'भारतस्तवः' लिखितः,

वन्दे भारतदेशमुदारम्। सुषमासदनसकलसुखसारम्। -. . . . .

पराधीनताजन्यं कष्टमनुभवता अन्नदाचरणतर्कचूडामणिना लिखितम्-

धन्यस्त्वमेव विहग स्वत एव विश्व-
संसारबीजमनिशस्मरणीयकीर्तिम्।
गायन् पुनः पुनरहो विचरस्यजस्रम्,
स्वाधीनताशुभविभूषणभूषितः सन्।।

(संस्कृतचन्द्रिका, ७-५-१८९७,- डॉ. शुक्ल, संस्कृत का समाजशास्त्र पृष्ठ ९४)

संस्कृतस्य रचनाकाराणां या दृष्टिः, विगताभ्यः शताब्दीभ्यः, वार्णी चमत्कार-सम्पन्नामलङ्कृताञ्च विधातुं स्वाश्रयदातृंश्च प्रशस्तिगानेन प्रसादयितुं प्रवृत्ताऽऽसीत्, कांश्चनापवादान् विहाय, पारतन्त्र्येण पीडितस्य भारतीयस्य जनसामान्यस्य पीडां विषयीकृतवती, अथ च सा जनोन्मुखीभूताऽवर्तत।

अत्र विशेषेणोलेखनीयं यत्, योगिराजो महामनीषी श्रीअरविन्दो यदा स्वीय उग्रवाद-परे राजनैतिके जीवने तिलकमहाशयादिभिः प्रभावितो राष्ट्रनेताऽऽसीत् तदा स्वकारावासकाले १९०४ तः १९०८ यावत्, लघु संस्कृतकाव्यमेकं निर्मितवान्। तत् काव्यं 'भवानीभारती' इतिनाम्ना पुदुच्चेरिस्थ-श्रीअरविन्दाश्रमात् १९८७ वर्षे, इदम्प्रथमतया सम्पादितं प्रकाशितञ्च।

श्रीअरविन्दस्तस्मिन् लिखति-"भौतिकचिन्तनपरायणः सुखशय्यामधिश्रितो यावन्निद्रापरिगतोऽभवम्, तावद् भूमिः चीत्कृतवती। ततः कालीरूपा महाशक्तिः साक्षादाविर्भूता मम वक्षः स्वीयेन भयङ्करेण पाणिना स्पृशति स्म", इति। श्रीअरविन्दस्तस्याः स्वरूपमेभिः शब्दैर्वर्णयति-

नरास्थिमालां नृकपालकाञ्चीं वृकोदराक्षीं क्षुधितां दरिद्राम्।
पृष्ठे व्रणाङ्कामसुरप्रतोदैः सिहीं नदन्तीमिव हन्तुकामाम्।
क्रूरैः क्षुधार्तैर्नयनैर्ज्वलद्भिर्विद्योतयन्तीं भुवनानि विश्वा।
हुङ्काररूपेण कटुस्वरेण विदारयन्तीं हृदयं सुराणाम्।। ५,६

इयं समग्रैव शब्दावली भारतभूमेः प्रवर्तमानां दुःस्थितिं सुस्पष्टतयाऽभिव्यनक्ति, अस्माकं राष्ट्रियताबोधञ्च जागरयति। एवमेव, पं. रामावतारशर्मणां 'भारतवन्दना' समाकलनीया, यस्याः प्रासङ्गिकत्वमद्यापि शक्यतेऽनुभवितुम्। अस्मिन्नेव क्रमे ब्रह्मश्रीकपालिशास्त्रिणां 'भारतीस्तव' उल्लेखनीयः।

महाकाव्यम्

संस्कृते महाकाव्यलेखनं समधिकं प्राचीनम्। श्रीमद्वाल्मीकीयं रामायणं महाभारतञ्च विकसनशीलं महाकाव्यमिति मन्यते। संस्कृतस्य प्राचीनेषु काव्यकारेषु कालिदास- अश्वघोष- भारवि-माघ-रत्नाकर-श्रीहर्षप्रभृतीनां नामान्युल्लेख्यानि सन्ति, परवर्तिनि काले ऐतिहासिकानि, धार्मिकाणि च महाकाव्यानि निर्मितानि। चरितप्रधानेषु विशेषेणैतिहासिकेषु महाकाव्येषु राज्ञामाश्रयदातॄणां प्रायः प्रशस्तिगानमुपलभ्यते।

यथासमयं कतिपयैरालङ्कारिकैर्महाकाव्यस्य लक्षणान्यपि निर्मितानि। भामहेन, दण्डिना, साहित्यदर्पणकर्त्रा विश्वनाथेन च निर्मितानि महाकाव्यलक्षणानि प्रसिद्धिं गतानि।

यथा च पूर्वमभिहितमस्माभिः, आधुनिके काले महाकाव्यविधायां संस्कृते लेखनं भारतीयानामन्यासां भाषाणां साहित्यापेक्षया समधिकतया प्राप्तप्रश्रयं जातम्। अपि च, आधुनिकैरनेकैर्महाकाव्यकृद्भिः प्राचीनाचार्यैर्निर्मितानां लक्षणानामनुपालने सर्वथा स्वातन्त्र्यमप्याचरितम्।

एकतः, परम्परागतानि रूढलक्षणानुसारीणि महाकाव्यान्यालिख्यन्त, अन्यतः, परम्पराविषये आग्रहमुक्तैः कविभिर्महाकाव्यानि व्यरच्यन्त। महाकाव्यलेखनार्थमाधुनिके काले यः प्रश्रयः प्रदत्तः, तस्यानेकानि कारणानि कल्पयितुं शक्यन्ते, यथा-१. महनीयचरितस्य कस्यापि महापुरुषस्य गुणगानपुरःसरमात्मानं तेन संयोज्य प्रतिष्ठापितुं मनीषितम्, २. महाकाव्यस्य लेखनेन महाकवित्वेनात्मनः प्रतिष्ठापनम् (महाकाव्यनिर्माणकर्ता महाकविपदवाच्यो भवतीति यद्यपि नायं कश्चन सिद्धान्तः), ३. स्वकवित्वस्य विस्तृत एकस्मिन् आयामे प्रस्तुतीकरणेन कस्यचिच्चमत्कारस्य प्रदर्शनम् इत्यादि। वार्णिकानां विविधानां छन्दसां प्रयोगदृशा महतः

कस्यचिच्चरितस्य विस्तरेण प्रस्तावने च कोऽप्यं महाकविभिः प्राचीनैः क्षुण्णो मार्ग इति सौविध्यमनुभूतमाधुनिकैर्महाकाव्यकृद्भिरिति मामकीनमनुमानम्। आधुनिके काले महाकाव्यस्य निर्माणेन कस्यचित् क्षुद्रस्य लाभस्योद्देश्येन प्रशस्तिगानपरं मानसिकत्वं शिथिलतां गतम्। ततश्च कानिचिदुत्तमकोटिकानि महाकाव्यानि तैरस्मिन् काले सुविरचितानि, येषु वैविध्येन समं राष्ट्रिया चेतना समुचितं स्थानमधिगतवती।

गद्यकाव्यम्

संस्कृते प्राचीनादेव कालाद् गद्यस्यानेकासु विधासु विधाद्वयं मुख्यतया प्रवृत्तम्-कथा, आख्यायिका चेति। महाकवेर्बाणभट्टस्य रचनाद्वयं, हर्षचरितं कादम्बरी चेति, संस्कृतस्यालङ्कृताया गद्यशैल्याः सर्वोत्कृष्टः प्रयोग इत्यङ्गीकृतम्। तस्मिन्नादर्शे नैकाः शताब्दीर्यावत् संस्कृते गद्यलेखनस्य प्रवृत्तिरभिलक्षिता भवति। यद्यप्याधुनिके काले संस्कृते उपन्यासा लघुकथाः इत्यादयोऽनेका विधा विकासमधिगताः, तथापि नैके गद्यकारा बाणभट्टस्य प्रभावत आत्मानं मोचयितुं न प्राभवन्।

अयं प्रसन्नताया विषयः, यत् प्राचीनेभ्यो गद्यकारेभ्यः कमपि प्रभावं गृह्णन्तोऽपि आधुनिकाः संस्कृतगद्यकाराः सर्वथा नूतनामेकां सामान्यैरपि संस्कृतज्ञैर्ग्राह्यां लेखनपद्धतिं प्रकल्पितवन्तः, अथ च काल्पनिकीभ्यः कथानकरूढिभ्यः समुन्मोच्य रचनां यथार्थभूमौ प्रस्तोतुं प्रयासे किमपि साफल्यमपि तेऽर्जितवन्त इति।

यद्यपि, इदमपि तथ्यं यदाधुनिकेऽपि काले पद्यापेक्षया गद्ये लेखनं किञ्चिन्न्यूनं भवति, तथापि पत्रिकासु क्रमेण गद्यलेखनं प्रश्रयमवाप्नुवानमिव लक्ष्यते।

गीतिकाव्यम्

संस्कृते गीतिकाव्यस्य परम्पराऽपि प्राचीना। वेदस्यानेकासु ऋक्षु वैदिकानामृषिकवीनां भावभरितस्य हृदयस्य स्पन्दनं गीतात्मकत्वञ्चानुभवितुं शक्यम्। इदमप्यनुमीयते यत् तासामृचा-माधारः प्राचीनतराणि लोकगीतानि भवेयुरिति। कालिदासस्य मेघदूतेऽपि गीतात्मकत्वमनुभूयते। प्राचीनैराचार्यैर्मेघदूतं खण्डकाव्यमिति निर्दिष्टम्। तस्यानेकेषु पद्येषु कान्ताविरहजन्याया विह्वलतायाः प्रेम्णश्च सहजाऽभिव्यक्तिर्भवति। संस्कृतस्यानेकानि मुक्तककाव्यानि पाश्चात्त्येतिहासकाराणां प्रभावतः गीतिकाव्यानीति मन्यन्ते। भर्तृहरेः शतकत्रयम्, मयूरादेः सूर्यशतकादीनि स्तोत्र-काव्यानि, अमरुकशतकम्, बिल्हणस्य चौरपञ्चाशिका-इमानि सर्वाणि मुक्तककाव्यानि गीतिकाव्य-विधान्तर्गतानि मतानि। हालसातवाहनस्य 'गाहासत्तसई' ग्रन्थस्य प्रभावेण आचार्यगोवर्धनस्य 'आर्यासप्तशती'त्याख्यो ग्रन्थोऽपि गीतिकाव्यत्वेन परिगणितः।

केवलं स्तोत्रकाव्यत्वेन मुक्तकत्वेन वा न काऽपि रचना गीतिकाव्यविधान्तर्गता भवितुमर्हति। यदा कश्चिद् रचनाकारः 'प्रकृतेः' रम्यत्वं निरीक्ष्य, प्रियाया विरहेण, ईश्वरप्रेम्णा राष्ट्रप्रेम्णा वा कामपि भावोच्छ्वसितां स्वानुभूतिक्षणसंवलितां भावस्थितिमभिव्यनक्ति तदा गीतिकाव्यं

सृष्टं भवति। सर्वाणि स्तोत्रकाव्यानि मुक्तककाव्यानि वा गीतिकाव्यानि वा भवितुं नार्हन्ति। श्लेषप्रधानं यमकमयं किमपि स्तोत्रकाव्यं मुक्तककाव्यं वा गीतिकाव्यमिति न शक्यमभिधातुम्। तत्र हि कवेः प्रायः सहजस्वानुभूतिप्रकाशनातिरिक्त एव व्यापारः सम्प्रतीयते। पण्डितराजस्य स्तोत्रकाव्यं 'गङ्गालहरी' भवितुमर्हत्येव गीतिकाव्यम्। बाह्यनीतिविषयकतया भर्तृहरेः नीतिशतकं बाह्यशृङ्गारपरकतया चामरुकशतकं गीतिकाव्यमिति सन्देहास्पदमेव। आसु रचनासु गीतिकाव्यतत्त्वानि लभ्यन्ते, परं नाधिक्येन।

ऊनविंशतिशताब्द्यां कानिचिद् गीतिकाव्यानि भिन्नप्रकाराण्यरच्यन्त। प्रथमतस्तेषु प्रशस्तिपरत्वमभिलक्षितम्। ततो राष्ट्रिया चेतना स्फुटतामवाप्तवती। राष्ट्रियां प्रतिष्ठामवाप्नुवानं बङ्किमचन्द्रस्य गीतं, 'वन्देमातरमि'त्याख्यं संस्कृत एव सुविरचितमिति नाविदितं सर्वेषाम्। क्रमेण स्वातन्त्र्यसङ्ग्रामे प्रवर्तमाने यथा यथा राष्ट्रिया भावना प्रवर्धमानेव समजायत तथा तथा राष्ट्रप्रेमसंवलितानि गीतान्यलिख्यन्त। सममेव च सामाजिकीः कुरीतीर्विषमताश्चाश्रित्य 'विधवाश्रुमार्जनम्' इत्यादीनि गीतान्यालिख्यन्त। मेघदूतस्य प्रभावतः, एकतो दूतकाव्यानि, अन्यतो भक्तिभावनासंवलितानि स्तोत्रकाव्यानि व्यरच्यन्त। 'गीतगोविन्दा'नुगतायां रागकाव्य-परम्परायामपि विश्वनाथसिंहस्य सङ्गीतरघुनन्दनसदृशानि रागकाव्यानि निरमीयन्त। अन्नदाचरणतर्करत्नमहाशयैः 'तदतीतमेव' इतिशीर्षकमतीतगौरवगानपरं दीर्घगीतं लिखितम्।

विंशतितमायां शताब्द्यां गीतिकाव्यानि व्यापकतया मार्मिकतया च निर्मितानि। आरम्भतः, गीतिकारेषु, पण्डिता क्षमा, भट्टमथुरानाथशास्त्री, जानकीवल्लभशास्त्री-एवमादय उल्लेखनीयाः सन्ति। ततः गीतिकाराणां विस्तृता सूची वर्तते, यस्यां रामनाथपाठकः प्रणयी, वाराणस्याः 'कविभारती' त्याख्यायाः संस्थाया अनेके प्रतिष्ठिताः कवयः, मधुकरगोविन्दमाइणकरश्च समुल्लेख्याः।

नैकासां पत्रपत्रिकाणां प्रकाशनेनापि गीतिकाव्यविधा समधिकं प्रश्रयमुपलब्धवती। गीतिकाव्य-विधामूलामिमां प्रवृत्तिं नवतामानेतुं पाश्चात्त्यस्य साहित्यस्य बाङ्लासाहित्यस्य च प्रभावः, तत्रापि विशेषेण श्रीरवीन्द्रनाथस्य 'गीताञ्जलेः' प्रभावः, संस्कृतगीतिकारेषु सुतरां समन्वभूयत। ('लघुकाव्यमि'तिनाम्ना संस्कृतसाहित्ये न काऽपि काव्यविधा विद्यते। महाकाव्यातिरिक्ता श्रव्या लघुप्रबन्धरचना प्राचीनैः 'खण्डकाव्यम्' इत्यभिहिता। किन्तु 'गीतिकाव्य'विधायां रागकाव्यातिरिक्तासु अनेकासु कृतिषु संगृहीतासु नैकाः कृतयोऽवशिष्टास्तिष्ठन्ति, यानि समाहर्तुं 'लघुकाव्यानि, इति नवीनोऽध्यायः अस्माभिः सन्निवेशितः। नैकानि काव्यानि, खण्डकाव्येषु लघुकाव्येषु चान्तर्भावयितुं शक्यानि। अतः, गीतिकाव्याध्यायस्य खण्डकाव्याध्यायस्य च लेखकाभ्यां स्वस्वानुसारेण स्वाध्याययोरुल्लिखितानि। अत्र मतभेदस्यावसरः। परं नास्त्यत्रास्माकमाग्रहः। वस्तुतः, लघुकाव्याध्याये व्यापकदृष्ट्या नानालघुकाव्यकृतयः समाहर्तुं शक्यन्त इति लघुकाव्याध्यायः इतिहासेऽस्मिन् निवेशितः।)

नाट्यसाहित्यम्

आधुनिककालस्य संस्कृतनाट्यसाहित्यं, यस्मिन् रूपक-भेदाः नाटकप्रहसनादयः समाहृताः

समधिकतया निर्मिताः। अस्यामन्यासु विधास्विव, एकतः रामायणमहाभारताद्युपजीव्य-रचनाश्रितानि रूपकाण्यलिख्यन्त, अन्यतः अनैकैर्लेखकैः स्वातन्त्र्य-सङ्ग्रामस्य समर्थनार्थं तं बलवत्तरताञ्च नेतुं नैकेषां महापुरुषाणां वीराणाञ्च चरितान्याधिश्रितानि। आधिक्येन पूर्वरचनानां शाकुन्तलादीनां पुनुरावृत्तिरप्यभूत्। तथापि नैकासु रचनासु नवः प्रयोगोऽपि लक्ष्यते, यथा सुन्दरवीररघूद्वहस्य भोजराजाङ्कः, यत्र धारानृपतेर्भोजस्य मुञ्जस्य च सम्बद्धा घटनाः समाश्रिताः। पं. अम्बिकादत्ताव्यासस्य 'सामवतम्' अपि एका शोभना कृतिः। राजराजवर्मणः प्रतीकच्छायाशैल्या नाटकं 'गैर्वाणीविजयम्' संस्कृतभाषाया दुःस्थितिं प्रकाशयितुं प्रस्तुता काचिदुत्तमा नाट्यकृतिः। परशुरामनारायणपाटकरस्य 'वीरधर्मदर्पण' नाम्नी कृतिः नानादृष्टिभिरेका श्रेष्ठा रचना, या भट्टनाराणस्य वेणीसंहारेण तुलयितुं शक्यते। अस्या हिन्दीभाषायामनुवादः 'जयद्रथवध'नाम्ना कृतः। इयञ्च पाठ्यपुस्तकरूपेणापि निर्धारिता। अस्याः प्रशस्तिः 'सरस्वती' त्याख्यायां पत्रिकायाम्, आचार्यमहावीरप्रसादद्विवेदिभिः प्रकाशिता। स्वतन्त्रतासङ् ग्रामे योद्धृतां वहद्भिः, १९०७ तमे वर्षे 'अलीपुर बमकाण्डे' बन्दिभिः पञ्चाननतर्करत्न-महाशयैः 'अमरमङ्गल'-नाम्नी ऐतिहासिकी नाट्यकृतिर्व्यरच्यत, या महाराणाप्रतापतनयस्य अमरसिंहस्य जीवनघटनाः समधिश्रिताऽस्ति। इयमप्येकाऽऽकलनीया कृतिः।

राष्ट्रियस्य जागरणकालस्य मुख्या नाट्यकृतिकाराः सन्ति हरिदाससिद्धान्तवागीशः, मूलशङ्करमाणिकलालः, मथुराप्रसाददीक्षितश्च मथुराप्रसादीक्षितस्य भारतविजयनाम्नी कृतिः आङ्ग्लशासने प्रतिबन्धमधिगताऽऽसीत्।

तदनन्तरनेका नाट्यकृतयः प्रकाशिताः, यासु संविधानदृशा पाश्चात्त्यनाट्यविधानां विशेषेण प्रभावः समलक्ष्यत।

नाट्यसाहित्याध्यायस्य लेखकेन डॉ. जयशङ्करत्रिपाठिना स्व० ब्रह्मदेवशास्त्रिणो नाटिकाद्वयी-वेला, सावित्री च सविशेषं प्रशंसिता। परं भाषाजन्यास्त्रुटयस्तयोराधिक्येन समुपलभ्यन्ते।

शास्त्रं दर्शनञ्च

अयमध्यायो माननीयानां प्रधानसम्पादकमहोदयानां निर्देशानुसारेण नियोजितोऽस्माभिः। आधुनिकस्य संस्कृतसाहित्यस्यैतदभिन्नमङ्गमित्यत्र नास्ति सन्देहः। शास्त्रीये दार्शनिके च क्षेत्रेऽनेके श्रेष्ठा ग्रन्थकाराः समभूवन्। यैः परम्परागते चिन्तने नवं किञ्चिन् न्ययोजि, नवा विचारभङ्गी वा प्रवर्तिता, तेषु सन्ति केचित्-स्वामी दयानन्दसरस्वती, म.म. सुधाकरद्विवेदी, म.म. मधुसूदन-ओझाः, पं. धर्मदत्त (बच्चा) झाः, उमापति (नकच्छेदराम) द्विवेदी, स्वामी करपात्रः, पं. रामेश्वर झाः चेति स्वस्वक्षेत्रे महच्चिन्तनं प्रवर्तितमेभिः, सुमहच्च योगदानमेषामाधुनिके संस्कृतसाहित्ये।

एवं, न वयं जैनानां मनीषिणां योगदानमपि विस्मर्तुं शक्नुमः, यैः न केवलं धर्म-दर्शनयोः प्रत्युत काव्यनिर्माणक्षेत्रेऽपि नवैर्निर्माणैः संस्कृत-साहित्यस्य श्रीवृद्धिः कृता। (ऊनविंशतिशताब्द्या

जैनसाहित्यसम्बद्धा सामग्री सत्यपि प्रयासे नास्माभिरुपलब्धेति खेदः। अतः, नास्मिन्नितिहासे, तस्या निवेशो जातः।)

चम्पूकाव्यम्

विधानां दृष्ट्याऽध्यायानां क्रियमाणायां व्यवस्थायां चम्पूकाव्यनाम्नी विधा कथङ्कारं शक्येत त्यक्तुम्? अस्मिन् कालावधावपि चम्पूकाव्यानि बाहुल्येन विरचितानि; किन्तु नाय-मध्यायः पृथक्तया परिगणितः, परं गद्याध्यायेन सममेव तदङ्गतयाऽत्र संक्षिप्य नियोजितः।

स्वातंत्र्योत्तरकाले संस्कृतसाहित्यस्य विकासः

यदा १६५४ वर्षे नवदेहल्यां 'साहित्य-अकादमी' प्रतिष्ठापिता तत आरभ्य भारतीयानां भाषाणां साहित्यग्रन्थानुवादस्यापि व्यवस्था प्रवर्तिता। अनयाऽखिलभारतीयया संस्थया प्रमुखमखिलमपि भारतीयं साहित्यं समाकलनविषयीकृतम्।

साहित्याकादम्या संस्कृतकवीनां मौलिक्यः कृतयोऽपि पुरस्कृताः। ततः क्रमेण नैकेषु राज्येषु संस्कृताकादमी-संस्था प्रतिष्ठापिता, संस्कृतस्य नैके विश्वविद्यालयाः, केन्द्रीयाणि च विद्यापीठानि स्थापितानि। अखिलभारतीयानि राज्यस्तरीयाणि च संस्कृतकविसम्मेलान्यायोज्यन्त। आकाशवाण्या दूरदर्शनस्य च केन्द्रेभ्यः समकालिकं संस्कृतसाहित्यं प्राप्तप्रश्रयञ्च जातम्।

संस्कृतसाहित्यस्य महत्त्वमनयाऽपि दृष्ट्याऽमन्यत, यत् तत् एकमात्रमीदृशं साहित्यमस्ति यद् देशे क्षेत्रीयाः सीमाः समुल्लङ्घ्य कांश्चिदेव भागानपहाय, कश्मीरतः कन्याकुमारीं यावत् सुपठितानां जनानां मध्ये साहित्यसमुचितस्य व्यवहारस्य माध्यमभूतमस्ति।

समकालिकस्य संस्कृतसाहित्यस्य विकासे तिस्र उपयोगिन्यः स्थितयः, कारणानि वा सञ्जातानि, यथा-नैकेषु विश्वविद्यालयेषु आधुनिकसंस्कृतस्य रचनाकाराणां साहित्यमाश्रित्य शोधकार्यस्य प्रवर्तनम्, यथासमयं नैकेषु स्थानेषु अखिलभारतीयानामाधुनिक-संस्कृतसाहित्यमधिश्रितानां सङ्गोष्ठीनामायोजनम्; समकालिकस्य संस्कृतसाहित्यस्य संवर्धनार्थं नैकासां संस्कृतपत्रिकाणां प्रकाशनम्।

पूर्वमेवोक्तमस्माभिर्यत् आधुनिकसंस्कृतसाहित्यमधिश्रितो विचारः शोधकार्यं वा मध्यप्रदेशस्य सागरविश्वविद्यालये संस्कृतविभागतः समारब्धः, यस्य कृते श्रेयः, विभागा-ध्यक्षेभ्यः प्रो. रामजी-उपाध्यायेभ्यः सम्प्रदातुं शक्यते, प्रो. श्रीधरभास्करवर्णेकरस्य, प्रो. हीरालाल शुक्लस्य च ग्रन्थाभ्यामाधुनिकं संस्कृतसाहित्यं समाकलनविषयीकृतम्। वर्णेकरमहोदयानां 'अर्वाचीनसंस्कृतसाहित्य' इत्याख्यो मराठीग्रन्थः १६६३ वर्षे, शुक्लमहोदयानां 'आधुनिकसंस्कृतसाहित्य' इत्याख्यो हिन्दीग्रन्थश्च १६७१ वर्षे प्रकाशितौ। सममेव च डॉ. रामगोपालमिश्रस्य ग्रन्थः "संस्कृतपत्रकारिता का इतिहास" १६७६ अपि प्रसङ्गेऽस्मिन्नुल्लेखनीयः।

विश्वविद्यालयानुदानायोगस्यार्थिकेन साहाय्येन सङ्गोष्ठ्याः परिसंवादस्य वा समायोजनं सागरविश्वविद्यालयत एवारब्धम्, यत्र पठितानां निबन्धानां सङ्कलनं 'आधुनिक-

संस्कृतसाहित्यानुशीलनम्' इति नाम्ना १९६५ वर्षे प्रकाशितम्। मुम्बय्या भारतीयविद्याभवनतः "भारतीयविद्ये" त्याख्यायाः त्रैमासिक्याः पत्रिकायाः भागे १९८० वर्षे, विंशतिशताब्द्याः संस्कृतसाहित्यमधिश्रितायां विश्वविद्यालयानुदानायोगस्यार्थिकेन साहाय्येन १९७२ वर्षस्य दिसम्बर मासे सम्पन्नायां सङ्गोष्ठ्यां पठिताश्च लेखा दिसम्बर मासे १९९२ वर्षे प्रकाशिताः। जयपुरस्थाया राजस्थानसाहित्याकादम्याः सहयोगेन १९८७ वर्षे जोधपुर-विश्वविद्यालयस्य संस्कृतविभागेन अखिलभारतीयं संस्कृत-लेखकसम्मेलनमायोजितम्, तस्मिन् पठितानां निबन्धानां सङ्कलनं 'आधुनिकसंस्कृतसाहित्य' इति नाम्ना १९८८ वर्षे प्रकाशितम्। पुनश्च, अस्या एवाकादेम्याः सहयोगेन १९८८ वर्षे जयपुरस्थराजस्थानविश्वविद्यालयस्य संस्कृतविभागेन सङ्गोष्ठी समायोजिता, यस्यां पठितानां निबन्धानां विद्यालयानुदानायोगस्यार्थिकेन साहाय्येन सम्पादितं सङ्कलनं 'नवोन्मेष' इत्याख्यं १९९० वर्षे प्रकाशितम्। स्वातन्त्र्योत्तरं संस्कृतसाहित्यमधिश्रिता सङ्गोष्ठी नागपुरविश्वविद्यालयस्य स्नातकोत्तरसंस्कृतविभागेपि समायोजिता, यस्यां पठितानां निबन्धानां सङ्कलनं पोस्ट 'इण्डेपेण्डेण्ट संस्कृत लिटरेचर' इतिनाम्ना १९९० वर्षे प्रकाशितम्।

एतदतिरिच्य, विश्वविद्यालयानुदानायोगस्यार्थिकेन साहाय्येन सागरविश्वविद्यालये १९८९ वर्षे अखिलभारतीया सङ्गोष्ठी, कलिकातास्थायाः साहित्याकादेम्याः, रामकृष्णमिशन इन्स्टिच्यूट आफ कल्चर' इत्याख्यायाश्च संस्थायाः सहयोगेन १९९२ वर्षे आधुनिकसंस्कृतसाहित्यस्य परम्परामभिनवं परिवर्तनञ्चाधिश्रिता राष्ट्रिया सङ्गोष्ठी समायोजिता, ययोः पठिता निबन्धाः प्रकाशिता न वेति न ज्ञायते।

उक्तासु सङ्गोष्ठीषु अखिलभारतीये स्तरे समाकालिकानां संस्कृतरचनाकाराणां मनीषिणाञ्च मध्ये नितान्तमुपयुक्तो विचार-विमर्शः समपद्यत, येन समकालिकं संस्कृतसाहित्यं परिवर्धितम्, इति यत्किञ्चिदनुभवितुं शक्यम्।

अद्यत्वे याः संस्कृतपत्रपत्रिकाः समकालिकं संस्कृतसाहित्यं गतिशीलतां नेतुमुपक्रमन्ते तासु प्रमुखाः सन्ति-'संस्कृतप्रतिभा' (साहित्यअकादमी, नवदेहली), 'दूर्वा' (मध्यप्रदेशसंस्कृताकादमी, भोपाल), 'सागरिका' (सागरिकासमितिः, सागर), 'स्वरमङ्ला' (राजस्थानसंस्कृताकादमी, जयपुर), 'विश्वसंस्कृतम्' (साधुआश्रम, होशियारपुर) 'भारती' (भारती-भवन, जयपुर), 'संवित्' (भारतीय विद्याभवन, मुम्बई), 'अजस्ना' (अखिल भारतीय संस्कृतपरिषद्, लखनऊ) सूर्योदयः (भारतधर्ममहामण्डलम्, वाराणसी), अर्वाचीनसंस्कृतम् (वाणीविहार, दिल्ली) च।

समकालिकस्य संस्कृतसाहित्यस्य केषाञ्चित् कवीनां सुभाषितसङ्ग्रहः 'षोडशी' इति नाम्ना डॉ. राधावल्लभत्रिपाठिभिः सम्पादितः साहित्याकादेम्या १९९२ वर्षे प्रकाशितः। लघुकथासङ्ग्रहोऽप्येकः सद्यः प्रकाश्यत इति मन्ये। इतः पूर्वं डॉ. शिवदत्तशर्मचतुर्वेदेन (वाराणसेयेन) 'अभिनवकथा-निकुञ्ज' नामा कथासङ्ग्रहः १९६६ वर्षे प्रकाशितः।

सर्वमिदं प्रमाणयति यत् समकालिकस्य संस्कृतस्य रचनाकारः अखिलभारतीये स्तरे समकालिकीनां भारतीयानां भाषाणां साहित्यस्य रचनाकारैः समं स्वलेखनं गतिशीलतां नेतुं नैरन्तर्येण जागरूक इति। इदानीं संस्कृतं मृतभाषेतिवादिनां भ्रान्तिः यथासम्भवमुच्छिन्नेति वक्तुं शक्यते।

एवं सत्यपि, स्वदेशस्यैव कतिपये आधुनिकम्मन्याः पाश्चात्यानायातितान् सिद्धान्तान् शिरसि वहन्तः सन्ति, ते प्रायः संस्कृतलेखने प्रवृत्तान् रचनाकारान् 'पुराणपथावलम्बिन' इति मन्यमाना सन्ति। तैरिदमवगन्तव्यं यत् संस्कृतस्य समकालिको रचनाकारो न कदाचित् तादृशीं गतानुगतिकतामवलम्बत इति। स हि राष्ट्रस्य हिताय सदैव जागरूकः, नवञ्च स्वागतीकर्तुं सदैव तत्परश्चास्ति। अपि च, स्वपरिचयं स्थापयितुं निरन्तरं प्रयतमानश्चास्ति। सर्वात्मना च भारतीय इत्यात्मानं प्रख्याप्य गौरवमनुभवति, स्वपरम्परां सादरभरमवेक्षते च। तदीया सादरा दृष्टिरियं न तस्य मोह इत्यवगन्तव्यम्, स स्वभूम्या सर्वथा सम्पृक्त इति च मन्तव्यम्।

आधुनिकेन संस्कृतसाहित्येन भारतीयाय वाङ्मयाय अनेके महान्तः साहित्यकाराः समुपहृताः। अद्यप्रभृति तेषां साहित्यिकस्य योगदानस्य समुचितं मूल्याङ्कनं नाभवदिति खेदः।

साम्प्रतमन्यासां भारतीयानां भाषाणां मध्ये संस्कृतमप्येका भाषा, सा काचिद् दैवी वागिति काममास्ताम्, तस्याः साहित्यस्य विकासार्थं संस्कृतस्य प्रवर्तमानो रचनाकारः किमपि स्वीयं नियोजयितुकामः समभिलक्ष्यते, तत्साहित्यं समृद्धतरमपि कर्तुं चेष्टते।

आगामिन्यां शताब्द्यां संस्कृतसाहित्यमन्यदेव किमपि नवतरं भविता, नास्मिन् केवलमखिलभारतस्तरीयाः, प्रत्युत विश्वस्तरीया रचनाकाराः साहित्यरचनायां प्रवृत्ता भविष्यन्तीत्यस्माकं द्रढीयान् विश्वासः।

किमपि विचारणीयम्

समकालिकस्य संस्कृतसाहित्यस्य विकासमूलां गतिं तीव्रतरतां नेतुं प्रयतमानैरस्माभिरिदमवधेयं यदद्यत्वेऽपि संस्कृतस्य मानकं व्याकरणं पाणिनीयमेवेति। पाणिनीयानां नियमानामवहेलनं नास्माकं पक्षतः काममप्यौचितीं बिभर्ति। भाषायाः स्वाभाविकीं विकासमूलां गतिं रूढा जटिलाश्च व्याकरणनियमा बाधन्त इत्यपि सत्यम्, तथापि संस्कृतस्य विषये पाणिनीयानां नियमानां सीमा परमावश्यकी समुचिता च।

संस्कृतस्य लेखने किमपि शैथिल्यं समालम्ब्यते चेत् संस्कृतस्य संस्कृतत्वमेवोच्छिन्नं स्यात्। तथैव वार्णिकानां मात्रिकाणामपि छन्दसां नियमानां पालनं पिङ्गलच्छन्दःशास्त्रानुसारेण कर्तव्यम्। छन्दोबन्धमुक्तस्य काव्यस्य निर्माणे तु भिन्ना स्थितिः।

आधुनिकस्य संस्कृतसाहित्यस्य कालावधिः शताब्दद्वयमध्यवर्ती। नायं कालः केवलं भारतस्य, प्रत्युत विश्वस्येतिहासस्य दृष्ट्या नैकेषामुद्वेलनानां परिवर्तनानाञ्च कालः। कालावधावस्मिन् विश्वयुद्धद्वयं घटितम्, जापानदेशस्य नगरद्वये, हिरोशिमाख्ये नागासाकीत्याख्ये च अणुबम-प्रहारजन्या मानवसंहाररूपा दुःस्थितिरुत्पन्ना, भारते आङ्ग्लशासनस्य विरोधे प्रबलः सङ्घर्षः प्रवृत्तः, यस्य स्वातन्त्र्यप्राप्तिरूपः परिणामः समजनि, भारतस्य विभाजनेन सममेव साम्प्रदायिकाः कलहाः प्रावर्तन्त। वर्षैकावधिक एव काले महात्मगान्धिनां बलिदानं दुर्घटितम्, अनेके महान्तो विभूतिमत्सत्त्वरूपा नेतारः समजनिषत, यैः स्वदेशे राष्ट्रियाया भावनायाः समुद्बोधनं सामाजिकीषु कुरीतिषु प्रहारश्च कृतः, स्वातन्त्र्यप्राप्त्यनन्तरं भारतमेकमखण्डं

राष्ट्रं लोकतन्त्रात्मकगणराज्यरूपेण च प्रतिष्ठितम्। परं, सत्यपि राजनीतिमूले स्वातन्त्र्यलाभे क्रमेण वयं मनसा पाश्चात्यानां भोगमूलानां दुष्प्रभावाणां वशीभूता जाताः, अस्माकं नैतिकस्य चारित्र्यस्य शतमुखो विनिपात इव संलक्ष्यते। सर्वमिदमन्यासां भारतीयानां भाषाणां साहित्येष्विव संस्कृतभाषारूपे आधुनिकसाहित्यदर्पणेऽपि स्फुटतया निभालयितुं शक्यते। किन्तु तत्किं कारणं यदाधुनिकं संस्कृतसाहित्यं नाकर्षणकेन्द्रतां गतम्!

प्रायः, आधुनिके संस्कृतसाहित्ये सर्वासु प्राचीनासु नवविकसितासु च विधासु लेखनं संवृत्तं सम्प्रवर्तमानञ्चास्ति। ये तु संस्कृतस्य सामर्थ्यं सन्देहसंवलितया दृशाऽऽकलयन्ति तेऽपि विदित्वैतत् आश्चर्यभरिताः स्युः। परं न वयं दृढतया वक्तुं समर्था यदाधुनिके संस्कृतसाहित्ये कश्चन रवीन्द्रनाथः, कश्चन शरच्चन्द्रो वा, कश्चन प्रेमचन्दो वा, कश्चन मुहम्मद इक़बालः सुब्रह्मण्यभारती वा सञ्जात इति। न स्यात् कस्यापि आधुनिकसंस्कृतरचनाकारस्य, अनुवाद-माध्यमेन विश्वस्तरीयमाकलनम्, परमखिलभारतस्तरीयमप्याकलनं न जातम् ! इदमपि शक्यते वक्तुं यदाधुनिकस्य संस्कृतरचनाकारस्य तादृशे साहित्यनिर्माणक्षमत्वे सत्यपि सम्यगालोचन-मद्यावधि न जातमिति।

समीक्षाग्रन्थानामभावः

आधुनिकसंस्कृतसाहित्येतिहासे साहित्यसमीक्षारूपोऽध्यायः न निबद्धः। आधुनिकान् संस्कृतरचनाकारानधिश्रितस्य मौलिकस्य समीक्षात्मकस्य ग्रन्थचयस्याभावस्तत्र कारणम्। यदि केनापि किञ्चिल्लिखितमपि तत् न तथा मार्मिकमिति प्राय उपेक्षितमेव सञ्जातम्। दौर्भाग्येण, टी. गणपतिशास्त्रिणा (१८६०-१६२६) विशाखविजय-महाकाव्यमधिश्रितः समीक्षात्मको ग्रन्थो नास्मामिरधिगतः। अस्माकमाधुनिकेषु साहित्यविचारकेषु काचिदाधुनिकी मौलिकी च समीक्षा-दृष्टिर्नास्तीति नास्माकं मन्तव्यम्। अन्येषामप्याधुनिकानामयमेवानुभवः, यथा डॉ. राधावल्लभत्रिपाठिभिरभिहितम्-"साहित्यिकं प्राखर्यं सक्रियत्वञ्च समालोचनायामुत्प्रेरकत्व-मापद्येते। आधुनिके काले लिखितासु रचनासु काचिदीदृशी सर्वाङ्गपूर्णा समीक्षाकृतिः न दृष्टिपथमागता, यया समग्रतया साहित्यस्याकलनं कृतं स्यात्। साहित्यिक उत्कर्ष एव प्रकृष्टां समीक्षामुत्पादयति। एवं समुचितायाः समीक्षाया अभावः आधुनिकस्य साहित्यस्य कृते चिन्तनीया स्थितिः।"

इतः परमनेकेषां पाश्चात्यया पौरस्त्यया च दृशा सम्पन्नानां समीक्षकाणां ध्यानमस्या रिक्ततायाः पूरणार्थमाकृष्टं भवितेत्यस्माकं विश्वासः।

अद्यत्वे, आधुनिकसंस्कृतसाहित्यक्षेत्रे यावती कारयित्री प्रतिभा विकासमधिगता न तावती भावयित्री प्रतिभेत्याश्चर्यम् ! साम्प्रतं कविता मानवीयां संवेदनामभिव्यञ्जयितुं प्रयतमानाऽभिलक्ष्यते। अस्मासु बहूनां दृष्टिरद्यत्वेऽपि न तथा तस्यां निपतति, कथ्यमुपेक्ष्य विशेषेण कथनप्रकार-मेवाश्रयन्ती सा परिलक्ष्यते। अद्यापि बहवः प्राचीनानामेव गतानुगतिकतामाश्रयन्ति। केवलं महाकाव्यस्य रचनयैव न कस्यापि महाकवित्वं सिध्यति, तदर्थं विशेषेण नवार्थघटनाऽपेक्ष्यते, यथा नैषधकारैः स्वकाव्यविषयेऽभिहितम्-एकामत्यजतो नवार्थघटनामिति। न हीतिवृत्तमात्रस्य

निर्वाह एव कस्याश्चिद् रचनाया उत्कर्षं सूचयति।

यदा वयं कस्याश्चिद्रचनाया आलोचनायां प्रवर्तामहे तदाऽस्माकं प्राचीनाः काव्यालोचनमूलाः संस्कारा मध्ये समुपायान्ति, पाश्चात्या वा विचाराः समापतन्ति। अस्माकं प्रतिभानाश्रितः काव्यमूल्याङ्कनपक्षोऽद्यत्वे स्वातन्त्र्येण विचारणीयः। आशास्महेऽनागते काले पक्षेऽस्मिन्नपि किमपि परिवर्तनं घटिष्यते।

विंशतिशताब्द्या दशकेष्वेषु प्राचीनकविताया नवीनकविताया मध्ये या विभाजिका रेखा सा क्रमेण स्पष्टतामापद्यमाना प्रतीयते। छन्दसामलङ्काराणाञ्च योजनायामेकां सीमां यावद् व्यामोहेन ग्रस्तोऽप्याधुनिकः कविः जनसामान्यस्य सुखानि दुःखानि चात्मसात् कृतवान्, वायव्यकल्पनापक्षत्योरारोहापेक्षया यथार्थभूमेराधिक्येन रसं गृह्णाति, गर्हितं श्लथञ्च शृङ्गारमपि नासेवते, निर्मोकतो मुक्ताया इव तस्य कवितायाः किमपि श्लक्ष्णं रूपमनुभूयमानमप्यस्ति, किन्तु स्पष्टतया नवलेखने प्रवृत्तानामपि रचनाकाराणां समक्षं काचन कुज्झटिकेव समभिलक्ष्यते, यस्यां दिग्भ्रान्ता इव कतिपये प्रतीयन्ते। अद्यत्वे, हिन्दीसाहित्यक्षेत्र इव, कस्यचित् 'अज्ञेयस्य' आवश्यकत्वमनुभूयते, यः 'तन्त्रीसप्तकस्य' योजनया संस्कृतस्य नवां कवितां प्रकाशमानयेत्, नवानाञ्च प्रतिमानानामालोके तस्या व्याख्यामपि कुर्यात्।

साम्प्रतं कैश्चिदाधुनिकीं रचनाधर्मितामालक्ष्य संस्कृतक्षेत्रे 'प्रचारवादः' सीमामेकामतिक्रम्य समधिकतया समाश्रीयते, स हि सर्वथा यथार्थभूमिनिष्ठस्य साहित्यस्य विकासेऽवरोधमुपस्थापये-दिति न केवलमुपेक्षणीयः, ततः सावधानेनापि भाव्यम्।

आधुनिकसंस्कृतसाहित्यस्य व्यवस्थित इतिहासः

सतीष्वपि नानाविधासु त्रुटिषु स्वासु सीमासु च प्रस्तुत इतिहासः किमपि व्यवस्थितं रूपमवाप्नुयादिति प्रयतितम्। कियदस्माभिरस्मिन् प्रयासे साफल्यमधिगतमिति निर्णयः सहृदयेषु पाठकेष्वधीनः। अस्माभिः 'इतिहासस्य' लेखनार्थं सूचनासामग्रीरूपा अनेके ग्रन्था लेखाश्च परिशीलिताः। प्रा. वर्णेकरमहाशयानां मराठीग्रन्थः, डॉ. शुक्लमहोदयानां 'आधुनिकसंस्कृत-साहित्य' इत्याख्यो हिन्दीग्रन्थश्च सविशेषमस्माकं कृत उपयोगार्हौ सिद्धौ। एकतः, वर्णेकरमहाशयैः, सप्तदशशताब्दीतः १९६० पर्यन्तं संस्कृतसाहित्यस्य पर्यालोचनं कृतम्, अन्यतः, डॉ. शुक्लमहाशयैः, 'निरपेक्षतया तटस्थतया च नवजागरणस्येतिहासं प्रस्तोतुं प्रयतितम्। एवमेव, प्रो. रामजी-उपाध्यायानाम् 'आधुनिक संस्कृत नाटक' नामाऽपि ग्रन्थोऽस्माभिरुपयोगविषयीकृतः। डॉ. शुक्लानां 'संस्कृत का समाजशास्त्र' नाम्नि ग्रन्थे कतिपय उपयोगिनोऽध्याया निबद्धा, येषु स्वातन्त्र्यसङ्ग्रामस्य सन्दर्भे संस्कृतसमाजस्य योगदानं महता साफल्येन स्फुटतां नीतम्।

इतिहासस्य सामग्री न इतिहास इति वक्तव्यं नापेक्ष्यते। कियन्ति रामपरकाणि, कृष्णपरकाणि वा काव्यानि निर्मितानीति गणनया कश्चिद् 'इतिहास': स्वरूपं न गृह्णाति। यदि महाकाव्य-विधायां लिखितानां काव्यानां गणनाप्रसङ्गे आत्मचरिताश्रितं महाकाव्यमाधुनिकयुगस्यावदानमिति, एतावताऽपि कस्यचिदितिहासस्य स्वरूपनिष्पत्तिर्न भवति। वस्तुतः सर्वमिदं सामग्रीजातं समधिकतया ग्रन्थानां नामाद्युल्लेखपूर्वं, कस्याश्चिद् गतिशीलताया निवेदनं यावद् विरतव्यापारं

भवति। प्रो. शुक्लमहोदयैरुल्लिखितः संस्कृतसमाजस्य सङ्घर्षो यत्किञ्चिदुपयोगित्वं बिभर्ति, परं तेन साहित्यविषया काचिदैतिहासिकी दृगुन्मीलितेति न शक्यते सम्भावयितुम्। विद्वद्भिरेभिरितिहासस्य पृष्ठभूमिर्निर्मितेति तेषां श्रमस्य महत्त्वम्।

आधुनिकस्य संस्कृतसाहित्यस्य सामग्रीमाकलयतां मनस्यनेके प्रश्नाः उत्पद्यन्ते, येषां समाधानं सङ्ग्रहकारैरमीभिर्न प्रस्तूयते, यथा 'आधुनिकसंस्कृतेतिहासः' इत्यनेन किमभिप्रेतम् ? आधुनिके कालखण्डे (विगत-प्रवर्तमानशताब्दीद्वयरूपे) लिखितस्य संस्कृतसाहित्यस्येतिहासः ? अथवा, संस्कृते यत् आधुनिकं साहित्यं तस्येतिहासः ? आधुनिककाले लिखितं समग्रमपि सामग्रीजातमाधुनिकमिति न शक्यते वक्तुम्। अपि च, संस्कृतसाहित्यस्य सन्दर्भेऽद्यावधि किन्तावदाधुनिकत्वमिति प्रश्नोऽपि न समाहितो विद्वद्भिः। आधुनिकतामूलकोऽयं प्रश्नो यदाऽस्माभिः साहित्येतिहाससंस्कृतिविषयाणां प्रख्यातस्यविचारकरस्य प्रा. गोविन्दचन्द्रपाण्डेयस्य समक्षमुपस्थापित-स्तदा तेषां समाधानमिदमासीत्-"रचनायामाधुनिकत्वं कामं माऽस्तु, यदि तस्यां न्यूनान्न्यूनं कोऽप्युत्कर्षः, दोषाभावश्च भवेत्, तदा सा स्वीकार्या, सत्यपि तस्यामाधुनिकत्वस्याभावे। अत्र, जगन्नाथदासरत्नाकरस्य हिन्दीकाव्यम्, 'उद्धवशतकम्' उदाहार्यम्, यत् स्वस्मिन्नुत्कर्षेण प्रतिष्ठाभाजनं समजनि", इति।

संस्कृतस्य आधुनिककालिकं साहित्यं परम्परागतायां कस्याञ्चिद् बद्धमूलायां परिपाट्यां व्यलिख्यत, इत्यस्य तात्पर्यं नास्ति यत् आधुनिकानां संस्कृतकवीनां चिन्तनं जडीभूतमासीत्। देशे प्राचीनादेव कालात् प्रवहन्ती धार्मिकी व्यवस्था सक्रियाऽऽसीत्, तयैव सार्धमनिवार्यतया ताः परिपाट्यो बद्धमूला व्यवस्थाश्च सम्प्राप्ताः। भाषाया यद् व्यवस्थितं स्वरूपमासीत् तस्मिन्नेव तत्सर्वं सुचारुतया समञ्जसमभूत् । एतदेव कारणं यत् कविभिस्तस्य मोहः सुबहोः कालात् अपि न त्यक्तः। अन्यच्चेदं कारणं स्पष्टतया प्रतीतिपथमायाति-संस्कृतलेखने कवित्वस्य पाण्डित्यस्य च सामञ्जस्यं सम्भवतः श्रीहर्षस्य प्रभावात् समधिकतया समलक्ष्यत 'सुकुमार-वस्तुनः साहित्यस्य', दृढन्यायग्रह-ग्रन्थिलस्य तर्कस्य' च एकस्मिन्नेव रचनाकारे प्रस्फुटितत्व-मुदाहर्तुं शक्यते। संस्कृतस्य समर्थेन रचनाकारेण पण्डितराजेन शास्त्रस्य काव्यस्य च लेखनेन समानतया चमत्कारः प्रस्तुतः, अस्य पूर्ववर्ती, प्रसन्नराघवकारो जयदेवः सममेव कविस्तार्किकश्चासीत्। आधुनिके काले सर्वतन्त्रस्वतन्त्राः पं. धर्मदत्त (बच्चा) झाशर्माणः स्वीयेन विलक्षणेन कवित्वबलेन 'सुलोचनामाधवचम्पू' काव्यं रचयामासुः। अस्मिन्नेव क्रमे म. म. गङ्गाधरशास्त्रिणः (अलिविलासिसंलापकाराः) म. म. रामावतारशर्माणः (मारुतिशतककाराः), कवितार्किकचक्रवर्तिनः पं. महादेवशास्त्रिवर्याः (भारतशतककाराः) समुल्लेख्याः सन्ति। किं तादृशाः पण्डितकवयः आधुनिकस्य संस्कृतसाहित्यस्येतिहासे न स्थानमर्हन्ति ?

प्रस्तुते साहित्येतिहासेऽस्माभिः समकालिकस्यापि साहित्यस्यालोचनं कृतम्। अत्र 'इतिहासस्य' सन्दर्भे समालोचनाया दायित्वमपि यथाकथञ्चिन्निर्वोढुं प्रयतितम्, येन 'इतिहासो'ऽयं भविष्यत्कालोन्मुखोऽपि क्रियेत। यद्यप्यय'मितिहासः' एकः सामूहिकः प्रयास इति कृत्वा क्रमिकं विकासमालोचनात्मकमैकरूप्यञ्च प्रस्तोतुं कोऽपि सफलः प्रयोगो नापि सिध्येत्, तथाप्यनेन

नवानां रचनाप्रवृत्तानां विचारकाणाञ्च दृष्टेरुन्मीलने किमपि योगदानं क्रियेत चेत् तदाऽस्माकं प्रयासः सार्थकत्वमापद्येत।

संस्कृतक्षेत्रे व्यापकतयाऽऽधुनिकानां रचनाकाराणामद्यावधि वस्तुपरा तटस्था च समीक्षा प्रवर्त्येत, इत्यस्माकमुद्देश्यम्, विशेषेण चिन्तनीयञ्च। इतः पूर्वं ये प्रयासा विहिताः (येषामुल्लेखः संक्षेपेणास्माभिः कृतः) ते सर्वे वस्तुतो भूमिकामात्रमिति वक्तुं शक्यते। समकालिकः संस्कृतरचनाकारः सर्वतोभावेन प्रबुद्धः समर्थश्चेति निश्चितम्। न केवलं सुवर्णस्य 'उत्पादक' एव, प्रत्युत तस्य 'परीक्षाक्षमो'ऽपि। इतः परं तेन निःसङ्कोचमुपस्थातव्यम्। प्रस्तुत एष 'इतिहासः' तस्य कृत 'आह्वानम्'। न स कस्यचित् 'मृतस्य' उपासकः, परम्, 'अमृतस्य' सन्देशवाहक इति।

ग्रन्थोऽयमुत्तरप्रदेशसंस्कृतसंस्थानेन (लक्ष्मणपुरस्थेन) तदध्यक्षाणां पद्मभूषण-आचार्य-पं. बलदेवोपाध्यायानां प्रधानसम्पादकत्वे प्रकाश्यमानस्य 'संस्कृतवाङ्मय का बृहद् इतिहास' इत्याख्यस्य महाग्रन्थस्य सप्तमः खण्डः। अस्य निर्माणदिशि प्रयासः प्रधानसम्पादकमहोदयानामादेशेन मार्गनिर्देशेन च १९९१ वर्षत आरब्धः। अस्मिन् सहयोगिभिर्यै योगदानं कृतं ते सन्ति-प्रो. राधावल्लभत्रिपाठी (सागर), डॉ. जयशङ्कर त्रिपाठी, डा. हरिदत्तशर्मा (प्रयाग), श्रीकलानाथ शास्त्री (जयपुर), डॉ. श्रीमती कमला दुबे (प्रयाग) डॉ. (श्रीमती) दीपा अग्रवाल (प्रयाग)। एभिः क्रमशः गीतकाव्यम्, नाट्यसाहित्यम्, लघुकाव्यानि, गद्यकाव्यम्, शास्त्राणि/दर्शनानि, जैनानां मुनीनां मनीषिणाञ्च योगदानम्- इमेऽध्याया लिखिताः। आरम्भतः, येषां त्रयाणां सहयोगिनां बहुमूल्येन सहयोगेन वयं तेषां कार्याधिक्यजन्यव्याकीर्णतावशतः वञ्चिताः ते सन्ति-प्रो. शिवकुमार मिश्रः (गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृतविद्यापीठम्, प्रयाग), प्रो. सुरेशचन्द्र पाण्डेयः (पूर्वविभागाध्यक्षः, संस्कृतविभागस्य, प्रयाग वि.वि., प्रयाग) प्रो. राघवप्रसाद चौधरी (प्राचार्यः, श्रीरणवीरकेन्द्रीय संस्कृतविद्यापीठम्, जम्मू") प्रत्येक-मध्यायस्य लेखका स्वस्य लेखनस्य दायित्वं बिभ्रति।

कृतज्ञताप्रकाशः

समायोजनेऽस्मिन् नैकैर्विद्वद्भिर्मनीषिभिश्च उदारतया सहयोगः, स्वरचनानामालोचनात्मक-सामग्र्याश्च सम्प्रदानेन कृत इति वयमनुगृहीतास्तेभ्यः सर्वेभ्योऽपि कार्तज्ञ्यं विनिवेदयामः। ते च विद्वांसः मनीषिणश्च सन्ति-

प्रो. श्रीधरभास्कर वर्णेकरः (नागपुर), डॉ. रामकरणशर्मा (दिल्ली), प्रो. गोविन्दचन्द्र पाण्डेयः (प्रयाग), प्रो. सत्यव्रत शास्त्री (दिल्ली), प्रो. व्रजमोहन चतुर्वेदी (दिल्ली), डॉ. रुद्रदेव त्रिपाठी (उज्जैन), डॉ. वनेश्वर पाठकः (रांची), डॉ. विश्वनारायण शास्त्री (गुवाहाटी), डॉ. केशवचन्द्रदाशः (पुरी), डॉ. राजेन्द्रमिश्रः (शिमला) पं. विश्वनाथ मिश्रः(बीकानेर), प्रो. कैलाशपति त्रिपाठी (वाराणसी), प्रो. रेवा प्रसाद द्विवेदी (वाराणसी), डॉ. शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी (वाराणसी), डॉ. प्रभात शास्त्री (प्रयाग), आचार्य प्रियव्रत शर्मा (वाराणसी), डॉ. रहसविहारी द्विवेदी (जबलपुर), डॉ. रामनारायणदासः (गुरूवायूर), प्रो. जी.बी. पलसुले

(पुणे), डॉ. श्रीधरवासुदेव सोहोनी (पुणे), प्रो. कृष्णलालः (दिल्ली), डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी (सागर), श्रीकलानाथ शास्त्री (जयपुर) प्रो. ब्रज बिहारी चौबे, (होश्यारपुर), डॉ. माधवस्वरूप बहलः (जालन्धर), डॉ. मारुतिनन्दन पाठकः (बोधगया), श्री दिगम्बर महापात्रः (राउरकेला), डॉ. रञ्जनसूरिदेवः (पटना), डॉ. आनन्द कुमार श्रीवास्तवः (प्रयाग), प्रो. इन्द्रनाथ चौधुरी (सचिवः, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली), श्रीमती कुमुद शर्मा (धर्मपत्नी, स्व. प्रो. नलिनविलोचन शर्मा) डॉ. दरबारी लाल कोठिया (बीना), श्रीसन्तोष सिंहई (दमोह), श्रीनीरज जैन (सतना), श्री कमलेश कुमार जैनः 'भाईजान' (जबलपुर), डॉ. शिव शङ्कर पण्डितः (रांची) प्रा. एच. (आर.) ए. शाण्डिल्यः (मुम्बई), डॉ. कस्तूर चन्द कासलीवालः (जयपुर), डॉ. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी (वाराणसी), डॉ. पी. सी. मुरलीमाधवः (गुरुवायूर)। डॉ. किशोरनाथ झा (प्रयाग)।

उल्लिखितनामानः 'इतिहासस्या' स्यास्मत्सहयोगिनोऽध्यायानां लेखका ते सर्वेऽप्यस्माकं धन्यवादस्य पात्राणि।

श्रीमधुकर द्विवेदी (पूर्व निदेशकः उ.प्र. संस्कृतसंस्थानम्, लखनऊ) वर्तमान-निदेशकः, डॉ. श्रीमती अलका श्रीवास्तवा, संस्थानस्यान्ये सहयोगिनः, डॉ. चन्द्रकान्त द्विवेदी-प्रभृतयः- एतेभ्यो शुभकामना व्याहरामः, एतैर्यथासमयमावश्यकः सहयोग उपकल्पितः।

प्रधानसम्पादकान् श्रीगुरुचरणान् (पद्मभूषण-आचार्य पं. बलदेव-उपाध्यायान्) प्रति कैः शब्दैः कार्तज्ञ्य विनिवेदयामः ? वस्तुतः अस्माकमिदं समग्रमयोजनं तेषामेव शुभाशीर्वादानां सत्प्रेरणानाञ्च परिणामः। तैः इतिहासस्यास्य सम्पादकत्वं मयि सहजस्नेहवशादेव समुपन्यस्तम्, इति वक्तुं शक्नोमि। अस्याधुनिकसाहित्यखण्डस्य सम्पादने प्रकाशने च ममाभिन्नः सखा डॉ. रमाकान्त झा महोदयोऽपि प्रभूतं साहाय्यमकरोदतः सोऽपि साधुवादार्हः।

मदनुजेन चि. कृष्णानन्देन, भ्रातृजेन चि. अनिलकुमारेण यथासमयमस्मिन्नध्यवसाये मह्यं सहयोगः कृतः, एतदर्थं ताभ्यां शुभाशीर्वादान् व्याहराभि।

'इतिहासस्य' प्रस्तुतीकरणे ज्ञाता अज्ञाताश्च नानात्रुटियोऽस्माभिः कृताः। अनेके संस्कृतस्य प्रतिष्ठिता रचनाकारा अचर्चिता अल्पचर्चिताश्च। तेषां कृतीनामनुपलम्भोऽपि तत्र कारणं, भवितुमर्हति। त्रुटीनां कृते सुधियः क्षमाप्रदानेनास्माननुग्रहीष्यन्तीति विश्वासः, अपि च ते मार्गदर्शनेन इतिहासमिमं परिष्कर्तुं सहयोगमस्मभ्यं वितरिष्यन्तीति विश्वसिमः।

वसन्त पञ्चमी
२५.१.६६
३/१४, एम.आई.जी., झूसी
इलाहाबाद-२११ ०१६

जगन्नाथ पाठकः
(सम्पादकः)

सम्पादकीय

संस्कृत साहित्य की प्राचीनता और महत्त्व

जब भी संस्कृत को एक "भाषा" मात्र के रूप में प्रस्तुत किया जाता है तब ऐसा लगता है, जैसे गंगा की पहचान केवल एक "नदी" के रूप में की जा रही है। संस्कृत, जिसे हम "दैवी वाक्" या "सुरभारती" के रूप में मान्यता और प्रतिष्ठा देते चले आ रहे हैं, हमारी सबसे प्राचीन भाषा है और उसमें शताब्दियों से ही नहीं, सहस्राब्दियों से साहित्य-रचना होती आ रही है। कहते हैं, विश्व-मानव का प्रथम काव्य ऋग्वेद ईसा पूर्व पांच हजार वर्षों से अधिक प्राचीन है। त्याग और तप से अनुप्राणित अपनी सांस्कृतिक विरासत के अनुसन्धान के लिए हम संस्कृत में निर्मित साहित्य का अनिवार्य रूप से अवगाहन करते आ रहे हैं। संस्कृत साहित्य के प्रशस्त तथा निर्मल आदर्श में हम भारतीय जन-मानस तथा जन-जीवन को बहुत काल से प्रतिफलित देखते आ रहे हैं। इस प्रकार, संस्कृत का साहित्य भारतीय संस्कृति का वाहन है और इस कारण प्रत्येक भारतीय के लिए आकलनीय है।

दिव्य वैदिक ग्रन्थ ऋग्वेद आदि, गम्भीर उपनिषत् साहित्य, अनुपम वेदाङ्ग साहित्य, महनीय इतिहास ग्रन्थ आदिकवि वाल्मीकि निर्मित रामायण, महर्षि व्यास विरचित महाभारत तथा पुराण साहित्य संस्कृत भाषा में निर्मित ऐसा साहित्य है जो हमें आज भी पवित्र और उल्लसित करता है।

पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि जैसे महान् त्रिमुनि का व्याकरण शास्त्र, चाणक्य का अर्थशास्त्र, चरक, सुश्रुत और वाग्भट आदि के महनीय आयुर्वेद-ग्रन्थ, प्रखर चिन्तक आदिशङ्कराचार्य, बौद्ध धर्मकीर्ति, श्रीरामानुजाचार्य और जैन मनीषियों के दार्शनिक ग्रन्थ संस्कृत साहित्य को विलक्षण निधि के रूप में परिचित कराते हैं।

कविकुलगुरु कालिदास, अश्वघोष, भारवि, माघ, भवभूति, श्रीहर्ष जैसे महान् कवियों की रचनाओं का निधान संस्कृत साहित्य अपने आपमें हमारे लिए आज भी संग्राह्य तथा आकलनीय बना हुआ है।

प्राचीन भारत में संस्कृत के अतिरिक्त पालि प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में विशाल साहित्य निर्मित हुआ, जो हमारी सांस्कृतिक चेतना का बहुत ही समुज्ज्वल प्रमाण है। किन्तु कालक्रम से संस्कृत की प्रभविष्णुता के समक्ष उन भाषाओं में साहित्य का निर्माण शिथिल होता गया।

संस्कृत साहित्य की धारा किसी युग में व्याहत नहीं हुई और यह कम आश्चर्य की बात नहीं कि आधुनिक काल अर्थात् विगत शताब्दी और प्रवर्तमान शताब्दी में उसमें निर्मित

उच्च कोटि का विशाल साहित्य हमारे आकलन का विषय हो रहा है। संस्कृत अनेक भारतीय भाषाओं की जननी तो है ही, वह आज भारत की विभिन्न मान्यता-प्राप्त भाषाओं में से एक है और अखिल भारत को जोड़ने का एक प्रबल माध्यम के रूप में भी स्वीकार्य है। उसमें निर्मित आधुनिक साहित्य को आज भारत की विभिन्न समकालिक भाषाओं के साहित्य के साथ प्रतिष्ठित किया गया है।

अतः यह आवश्यक हो जाता है कि हम आधुनिक काल (१९वीं तथा २०वीं शताब्दियों) में निर्मित संस्कृत साहित्य का एक सर्वाङ्गीण वस्तुपरक ऐतिहासिक पुनराकलन करें।

प्राचीन काल में भारत में संस्कृत साहित्य के इतिहास का लेखन नहीं हुआ। इसके लेखन की परम्परा पहले, विगत शताब्दी में पाश्चात्य विद्वानों ने स्थापित की। फिर अनेक भारतीय विद्वान इस दिशा में प्रवृत्त हुए जिनमें डॉ. कृष्णमाचारियर और आचार्य पं. बलदव उपाध्याय विशेष उल्लेख्य हैं। कृष्णमाचारियर को छोड़ किसी ने संस्कृत साहित्य के इतिहास को ईसा की सत्तरहवीं शताब्दी से आगे नहीं बढ़ाया।

सम्भव है पाश्चात्य तथा भारतीय संस्कृत-साहित्य के इतिहासकार परवर्ती शताब्दियों में रचित संस्कृत-साहित्य को प्राचीन संस्कृत साहित्य की तुलना में न्यून समझते रहे हों। चाहे जो भी हो पण्डितराज के बाद निर्मित संस्कृत साहित्य, विशेष रूप से विगत और प्रवर्तमान शताब्दियों में निर्मित आधुनिक संस्कृत साहित्य भारतीय चेतना के नये आयामों को उद्घाटित करता है, और आज हमारी गतिशील जीवन-धारा को बहुत ही प्रामाणिकता के साथ आकलित करने का एक अनिवार्य माध्यम है, अतः हमारे लिए संग्राह्य है, आकलनीय है।

संस्कृत साहित्य का आधुनिक काल

संस्कृत साहित्य के इतिहास के आधुनिक काल का आरम्भ कब से माना जाय? निश्चित रूप से अनेक विचारकों में इस सम्बन्ध में यत् किञ्चित् मत-भेद लक्षित होता है। इसी के साथ साहित्य के सन्दर्भ में आधुनिकता क्या है, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। जो विगत है वह प्राचीन है और जो प्रवर्तमान है वह आधुनिक है ऐसा विचार, आधुनिकता के निर्णायक तथ्य के रूप में मान्य नहीं है। कालिदास ने अपने समय से पूर्व रचित काव्य-साहित्य को "पुराण" और उसकी अपेक्षा अपने काव्य को "नव" कहा था, किन्तु यह आधार साहित्य के इतिहास के सन्दर्भ में व्यवहार्य प्रतीत नहीं होता। इस प्रसंग में डा. राधावल्लभ त्रिपाठी का यह वक्तव्य विचारणीय है-"विश्व और देश में बदलती राजनीतिक, सामाजिक स्थितियों के बोध के साथ समग्र राष्ट्र के ऐकात्म्य के प्रति दृष्टि कम से कम एक व्यावर्तक है, जो काल और विषयवस्तु की दृष्टि से आधुनिक साहित्य का उपक्रम कराता है।" ('नवोन्मेष' राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर, पृ. ११८)।

प्रो. वर्णेकर जी ने अपने मराठी ग्रन्थ 'अर्वाचीन संस्कृत साहित्य' में अर्वाचीन काल का आरम्भ सत्तरहवीं शताब्दी से माना है, किन्तु उनके इस विचार से स्पष्ट रूप से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए अपने एक व्यक्तिगत पत्र में आचार्य पं. बलदेव उपाध्याय जी ने अर्वाचीन काल का आरम्भ १७५० ई. से माना है, जब नागेश भट्ट का काशीवास हुआ। उन्होंने एक अन्य पत्र (३/६/६१ को लिखित) में आधुनिक संस्कृत साहित्य का काल-खण्ड १८५० ई. से लेकर १६६० तक होना चाहिए, ऐसा भी सुझाव दिया था।

संस्कृत साहित्य के आधुनिक काल को रेखांकित करते हुए, सम्पूर्ण भारत में परिवर्तमान हो रही राजनैतिक तथा सामाजिक स्थितियों को अनदेखा नहीं किया जा सकता। पण्डितराज के बाद के साहित्य में एक ठहराव, एक गतिहीनता स्पष्ट रूप से झलकती है। सम्भवतः यही कारण था कि इतिहासकारों का ध्यान उस पर आकृष्ट नहीं हुआ। वैसे तो "ठहराव" की स्थिति पण्डितराज से पूर्व बारहवीं शती से ही अनुभूत होने लगती है, फिर भी उसे पण्डितराज के बाद स्पष्ट अनुभूत किया जा सकता है।

डा. हीरालाल शुक्ल ने अपने ग्रन्थ 'आधुनिक संस्कृत साहित्य' में १७८४ को संस्कृत के नवजागरण के प्रसंग में महत्त्वपूर्ण माना है, क्योंकि सर विलियम जोन्स के प्रयास से कलकत्ता में "रॉयल एशियाटिक सोसाइटी" की स्थापना इसी काल में हुई थी। इस संस्था द्वारा संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों का उद्धार और संस्कृत के क्षेत्र में अनुसन्धान का प्रवर्तन किया गया। इसी काल में श्रीमद्भगवद्गीता, हितोपदेश और शकुन्तलोपाख्यान के अंग्रेजी में अनुवाद प्रकाशित हुए। संस्कृत का साहित्य प्रथम बार प्रेस में मुद्रित होकर प्रकाश में आया और इसी माध्यम से संस्कृत का सम्पूर्ण यूरोप में प्रचार हुआ। इसके फलस्वरूप संस्कृत के प्रति आकर्षण बढ़ा, फिर शाकुन्तल का (१७६१) जर्मन में अनुवाद प्रस्तुत हुआ था, जिसे देखकर जर्मन के महाकवि गेटे बहुत प्रभावित हुए थे। वाराणसी में संस्कृत कालेज १७६१ में स्थापित हुआ था। डॉ. शुक्ल इन सब कारणों से 'संस्कृत की भाव-धाराओं में एक विशेष परिवर्तन' का अनुभव करते हैं और उन्हें लगता है कि संस्कृत भाषा में नई सम्भावनाओं का सिंह-द्वार खुल गया, किन्तु १८३५ में भाषा-विषयक मेकाले का प्रस्ताव शासन द्वारा स्वीकृत कर लिये जाने पर सम्पूर्ण संस्कृत जगत् में व्याप्त विक्षोभ की भावना तथा उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप संस्कृत की रक्षा के लिए नये उत्साह के साथ मिल कर कार्य करने से डॉ. शुक्ल, सम्भवतः संस्कृत साहित्य के आधुनिक काल का आरम्भ मानते हैं और १८३५ से लेकर १६२० तक के लिखे गये संस्कृत साहित्य को दरबारी संवेदना साहित्य से बिल्कुल अलग हृदय के रक्त से सिंचा हुआ बेहद उर्वर मानते हैं, और साथ ही, इस अवधि को संस्कृत के नवजागरण का विकासकाल कहना उपयुक्त समझते हैं।

संस्कृत साहित्य के आधुनिक काल को डॉ. राजेन्द्र मिश्र ने देववाणी सुवास; (प्र.भा.) की भूमिका में पुनर्जागरण काल (१७८४-१८८४), २. स्थापना काल (१८८४-१६५०) तथा [illegible]साहित्य के रचनाकारों पर[illegible]क) के रूप में तीन भागों में विभक्त किया है। एक

[illegible] में विभक्त करते हैं:-

१८००-१६०० तक १६वीं शताब्दी-स्वतन्त्रतापूर्वकाल..
१६००-१६५० २०वीं-पूर्वार्ध स्वतन्त्रता संघर्षकाल
१६५०-१६६० २०वीं शताब्दी उत्तरार्ध-स्वातन्त्र्योत्तरकाल

निश्चित रूप से ऐसे विभाजनों को राजनीतिक परिवर्तनों की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है और इस प्रकार के परिवर्तनों के साहित्य पर पड़ने वाले प्रभाव को नकारा भी नहीं जा सकता, फिर भी हम समझते हैं कि संस्कृत-साहित्य के आधुनिक काल का एक और भी दृष्टिकोण से विभाजन विचारणीय होना चाहिए, जो बहुत कुछ मूलतः साहित्य की दृष्टि को ध्यान में रखकर प्रस्तावित है।

कोई भी घटना, वह चाहे राजनैतिक हो अथवा सामाजिक, साहित्य के रचना-संसार को प्रभावित करती ही है, किन्तु उसका प्रभाव उसी काल में व्यक्त नहीं होता। कभी-कभी तो इसमें कई दशक लग जाते हैं, जैसे राजनीति के क्षेत्र में महात्मा गांधी का आगमन हुआ, उनके नेतृत्व में स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष ने एक नया मोड़ लिया, किन्तु उनके व्यक्तित्व से प्रभावित संस्कृत के रचनाकारों ने बहुत बाद में उन पर लेखनी उठायी। इसी प्रकार, जिस काल में अभिज्ञानशाकुन्तल जैसे संस्कृत के ग्रन्थ अनूदित होकर विदेशों में पहुंचे, उसी काल में संस्कृत के क्षेत्र में पश्चिम से सम्पर्क को लेकर किसी प्रकार का सहित्य में "नया" कुछ आरम्भ नहीं हो गया।

युगों में विभाजन

हमारा विचार है कि आधुनिक संस्कृत साहित्य के इतिहास के उक्त काल विभाजनों को लेकर किसी प्रकार के विवाद को प्रश्रय न देते हुए, संस्कृत के युगान्तरकारी रचनाकारों को काल-विभाजन का आधार क्यों न बनाया जाय ? विशेष रूप से उन रचनाकारों को, जिन्होंने अपेक्षाकृत दूर तक साहित्य लेखन को प्रभावित किया और व्यापक रूप से प्रवृत्त रचनाकारों का मार्ग-दर्शन भी किया।

संस्कृत साहित्य के आधुनिक काल को मुख्यतः तीन युगों में विभाजित किया जाना चाहिए-राशिवडेकर-युग-१८६०-१६३०, भट्ट-युग १६३०-१६६० तथा राघवन-युग १६६०-१६८०। इसका संकेत गद्य साहित्य के हमारे लेखक श्री कलानाथ शास्त्री ने अपनी "पृष्ठभूमि" में दिया है। परस्पर विचार-विमर्श के दौरान श्री कलानाथ शास्त्री ने मेरे इस विचार पर सहमति व्यक्त की थी, हालांकि उन्होंने जो विभाजन की सीमा निर्दिष्ट की है इसके साथ मेरा कुछ मतभेद है फिर भी उनका यह संकेत मुझे बहुत कुछ मान्य है।

अप्पाशास्त्री राशिवडेकर (१८७३-१६१३) एक मौलिक रचनाकार तो थे ही, साथ ही "संस्कृतचन्द्रिका" और "सूनृतवादिनी" पत्रिकाओं के सम्पादक के रूप में उन्होंने संस्कृत में नयी युगीन प्रवृत्ति में लेखन को नाना कठिनाइयों के बाव[illegible] [illegible]त किया और संस्कृत के विस्तृत समाज में एक जागरूकता लायी। उन्हें ८· ११८)। गोष

का पात्र होकर ज़ेल भी जाना पड़ा, फिर भी उनकी साधना बाधित नहीं हुई। अपने चालीस वर्षों के अल्प जीवनकाल में उन्होंने साहित्य को प्रशस्तिगान वाली प्रवृत्ति से अलग करने का प्रयास किया, उसमें राष्ट्रीय चेतना के साथ प्रसाद गुण वाली भाषा को महत्त्व दिया और पाण्डित्य प्रदर्शन की मानसिकता से ग्रस्त होने से बचाया। श्री कलानाथ शास्त्री ने संभवतः उनकी मृत्यु के बाद भी उनके प्रभाव को स्वीकारते हुए राशिवडेकर युग को १८६० से १९३० के बीच माना है। इस युग के कुछ और मनीषियों के नाम लिये जा सकते हैं जैसे हृषीकेश भट्टाचार्य, म.म. रामावतार शर्मा, म.म. विधुशेखर भट्टाचार्य आदि, जिनका साहित्य में आधुनिकता को प्रवर्तित होने में बहुत कुछ योगदान है।

भट्ट-युग पं. भट्ट मथुरानाथ शास्त्री (१८८९-१९६०) के नाम से प्रवर्तित हैं। भट्टजी ने भी संस्कृत रत्नाकर और भारती जैसी पत्रिकाओं का सम्पादन किया और स्वयं संस्कृत में नयी विधाओं में लेखन करके नये लेखकों के लिए मार्ग प्रशस्त किया। इन्होंने गद्य-लेखन को कुछ तराशा और उसमें नयी गति या प्रवाहमयता को लाने के साथ उसे परिनिष्ठित करने का भी प्रयास किया। "संस्कृत मृतभाषा नहीं है" यह पक्ष देश में बढ़ते हुए पाश्चात्त्य प्रभाव के कारण जो शिथिल पड़ गया था उन्होंने उसे पुनः स्थापित किया और अपने विभिन्न निबन्धों द्वारा उस स्थापित सत्य को गरिमा दी। भट्ट-युग के अन्य उल्लेखनीय रचनाकार हैं, यतीन्द्र विमल चौधुरी (१९०८-१९६४)।

राघवन्-युग के प्रवर्तक डॉ. वेंकट राघवन् (१९०८-१९७९) ने साहित्य-अकादेमी की "संस्कृत प्रतिभा" का सम्पादन १९५९ से आरम्भ किया। तब उसे अखिल भारतीय प्रतिष्ठा तो मिली ही, उसके माध्यम से अखिल भारतीय स्तर का साहित्य एक स्थान से प्रकाशित होने लगा और व्याकीर्ण लेखन अखिल भारतीय स्तर पर एक दिशा और लक्ष्य की ओर प्रवर्तित हुआ। स्वयं डॉ. राघवन् ने आधुनिक संस्कृत साहित्य में प्रकाशित सामग्री का अपने विभिन्न लेखों के माध्यम से महत्त्व बताया। इस प्रकार आधुनिक संकृत साहित्य के समकालिक भारतीय भाषाओं के साहित्य के समकक्ष स्थापित होने में उनका विशिष्ट योगदान रहा। डॉ. राघवन् ने आलोचनात्मक लेखन के साथ अनेक नाटकों का भी लेखन किया और उन्हें रंगमंच पर अभिनीत भी किया। उनके प्रयास से समकालिक संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में एक नयी ऊर्जा का संचार हुआ और उसमें नये प्रयोग घटित होने लगे, जिन्हें अखिल भारतीय स्तर पर मान्यता मिली।

आधुनिक संस्कृत साहित्य के सम्प्रवर्तन और संवर्धन में अपनी स्वयं की रचनाधर्मिता के साथ ही अन्य भी अनेक मनीषियों का सराहनीय योगदान रहा, जिनमें राशिवडेकर युग के कुछ मनीषियों का उल्लेख ऊपर हुआ है। राघवन् युग के अन्य मनीषियों में उल्लेखनीय हैं-डॉ. रामजी उपाध्याय, जिन्होंने आधुनिक संस्कृत नाटकों पर लेखन किया और आधुनिक संस्कृत साहित्य के रचनाकारों पर शोध-कार्य को सागर विश्वविद्यालय में प्रवर्तित किया।

राशिवडेकर युग का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक से होता है। इसके पूर्व रचित साहित्य मात्रा में कुछ कम न हुआ, किन्तु उसमें सामूहिक बोध का अभाव रहा। संस्कृतचन्द्रिका के पूर्व प्रकाशित होने वाली संस्कृत पत्रिकाओं में साहित्य के स्तर पर लगभग सामूहिक बोध को प्रवर्तित करने की दिशा में प्रयास नहीं किया गया। उनका उद्देश्य केवल अप्रकाशित कृतियों का प्रकाशन था अथवा शास्त्रीय (या धार्मिक) विचारों का प्रसार था। इस कारण हम उन्नीसवीं शती के नवम दशक तक की रचनाओं को बहुत व्याकीर्ण पाते हैं। इस काल में अंग्रेजी शासन के प्रभाव से अनूदित होकर ईसाई धार्मिक साहित्य पुष्कल मात्रा में प्रकाशित हुआ।

राशिवडेकर युग में संस्कृत की समासबहुलता शिथिल हुई और उसे बोधगम्य बनाने के साथ प्रवाहमय बनाने का भी प्रयास हुआ। संस्कृत व्याकरण के नियमों से सर्वाधिक ग्रस्त भाषा है तथा उसमें वार्णिक वृत्तों में लेखन गद्य की अपेक्षा अधिक हुआ है। इन दोनों विशेषताओं के साथ रचनाकारों के ध्यान को कविता को कलाविलास की सीमा से हटाकर मानव के सुख-दुःख की अभिव्यञ्जक बनाने का प्रयास भी हुआ।

भट्ट-युग में विशेषरूप से उक्त परिष्कार को बढ़ावा मिला, साथ ही नयी विधाओं में लेखन प्रस्तुत हुआ। इससे संस्कृत में एक अतिरिक्त ओज और प्रवाहमयता का अनुभव होता है। गद्य में वैचारिक निबन्धों में सामयिक विषयों को प्रश्रय मिला। यह युग राशिवडेकर-युग के आधार पर निर्मित हुआ और उसने आधुनिक संस्कृत साहित्य के भवन को एक-मंजिला बनाने में बहुत सफलता अर्जित की।

राघवन्-युग में आकर उस भवन की एक और मंजिल निर्मित हुई और आधुनिक संस्कृत साहित्य एक भव्य भवन के रूप में अपनी समग्र छटा के साथ प्रतिष्ठित हुआ। उसमें विभिन्न वर्णों, कलाकृतियों तथा गुम्बजों का निर्माण हुआ। इस युग ने आधुनिक संस्कृत साहित्य के उस भव्य भवन को बहुत कुछ एक समग्र तथा दर्शनीय रूप दिया।

पत्र-पत्रिकाओं का योगदान-

आधुनिक संस्कृत साहित्य के इतिहास में जो भी परिवर्तन तथा नयी विधाओं के लेखन में प्रवर्तन आदि घटित हुए, उनमें पत्र-पत्रिकाओं का योगदान महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी लगभग आधुनिक काल के प्रवर्तित होने के साथ ही आरम्भ हुआ। आरम्भ की पत्रिकाओं में काशीविद्यासुधानिधि, प्रत्नक्रमनन्दिनी, विद्योदय और षड्दर्शनचिन्तनिका का उल्लेख तो मैक्समूलर ने किया है। आगे चलकर जो पत्रिकाएं प्रकाश में आयीं, उनमें पण्डित, संस्कृतचन्द्रिका, सूनृतवादिनी, विद्योदय, मित्रगोष्ठी, सूक्तिसुधा, सहृदया और शारदा के नाम उल्लेखनीय हैं। फिर, सुप्रभात, उद्योत, सूर्योदय, श्री, कालिन्दी, मञ्जूषा, पीयूष पत्रिका की सूचना मिलती है। इनमें "सूर्योदय" अब भी वाराणसी से प्रकाशित हो रही है।

१८७२ में "विद्योदय" पत्र का प्रकाशन हृषीकेश भट्टाचार्य के सम्पादकत्व में लाहौर से होने लगा था, जिसका पचास वर्षों तक का संस्कृत की सेवा का इतिहास है। संस्कृतचन्द्रिका (अप्पाशास्त्री के सम्पादकत्व में प्रकाशित) ने राष्ट्रीय आन्दोलन में भी सक्रिय भूमिका निभाई। इन पत्रिकाओं ने संस्कृत के क्षेत्र में एक प्रकार का समूह बोध तो उत्पन्न किया ही और साथ ही सामयिक सामाजिक दुःस्थितियों पर आलोचनात्मक टिप्पणियां भी निकालीं।

विभिन्न त्रैमासिक, मासिक, पाक्षिक तथा साप्ताहिक पत्रिकाओं के, अपना-अपना स्वरूप तथा उद्देश्य थे। जयपुर आदि स्थानों से कई वर्षों तक प्रकाशित 'संस्कृत रत्नाकर' का भी अपना एक साहित्यिक महत्त्व था।

आधुनिक काल की कुछ प्रवृत्तियाँ तथा विधायें

आरम्भ में प्राचीन रचनाकारों की होड़ में उनके समान ही स्तरीय लेखन की प्रवृत्ति के कारण न केवल शास्त्रज्ञ पण्डितों में अभिनवपाणिनि, अभिनवशङ्कर आदि के रूप में प्रतिष्ठापित किये जाने की भावना रही, प्रत्युत गद्य या पद्य के रचनाकारों में भी अभिनव-बाणभट्ट या अभिनवकालिदास कहलाने की भावना भी लक्षित होती रही; किन्तु बाद के रचनाकारों ने अपनी अलग पहचान बनाने तथा परम्परा से कुछ हटकर अपने लेखन को प्रतिष्ठापित करने की ओर अधिक अभिरुचि दिखलायी। /

आधुनिक काल में गद्य की अपेक्षा पद्य में लेखन को ही अधिक प्रश्रय मिला, जबकि अन्य भारतीय भाषाओं में गद्य में लेखन को ही अधिक समर्थन दिया गया। यह कम आश्चर्य का विषय नहीं है कि महाकाव्य विधा में लेखन जहाँ अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य में बहुत कुछ उपेक्षित हुआ, वहाँ संस्कृत में उसे बहुत अधिक प्रश्रय मिला। महाकाव्यों के विषय के रूप में स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, नेहरू आदि राष्ट्रीय नेता तथा महापुरुषों को विषय बनाया गया।

संस्कृत में गद्य लेखन को आधुनिक युग में अधिक बढ़ावा मिला। बंगला आदि अनेक भाषाओं के संस्कृत गद्य में अनुवाद प्रकाशित हुए, फिर भी मौलिक उपन्यास और लघु कथा साहित्य के लेखन की प्रवृत्ति बढ़ती गयी।

इस काल में गीतियों का लेखन बहुत हुआ, जिस पर गीतगोविन्द की परम्परा से हटकर पाश्चात्त्य "लीरिक" विधा का प्रभाव अधिक पड़ा। गीत के क्षेत्र में भट्ट मथुरानाथ शास्त्री और ललितललाम जानकीवल्लभ शास्त्री का योगदान विशेष उल्लेखनीय है। बाद में मुक्त छन्द में गीत लेखन की प्रवृत्ति भी विकसित हुई। इसी विधा में मेघदूत के अनुकरण पर सन्देशकाव्यों की परम्परा में लेखन भी आधुनिक काल में हुआ। संस्कृत में लोकगीत भी लिखने की परम्परा रही। उसके एक प्रवर्तक भारतेन्दुकालिक कवि कमलेश मिश्र थे, जिन्होंने "कमलेश विलास" का प्रणयन किया, ये भट्ट मथुरानाथ शास्त्री के पूर्ववर्ती गीतकार

थे, जो साहित्य में चर्चित नहीं हो सके। आधुनिक संस्कृत कविता में मूल राष्ट्रीय स्वर भी आधुनिक काल की एक विशेष प्रवृत्तियों में परिगणनीय है।

१९वीं शती के उत्तरार्ध में कुछ आरम्भिक काल को छोड़कर निर्मित होने वाले संस्कृत साहित्य का मूल स्वर राष्ट्रीयता की भावना हो गया। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक जैसे महान् राष्ट्रवादी नेता ने स्वदेशी आन्दोलन छेड़ रखा था। बंगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय (१८३४-१८९४) के प्रसिद्ध उपन्यास "आनन्द मठ", जिसका प्रकाशन १८८२ में हुआ, की भूमिका राष्ट्रीय आन्दोलन में विशेष रही। उसका एक गीत "वन्दे मातरम्" ने शताब्दियों से सुप्त राष्ट्र को जगा दिया। आगे यही गीत स्वतन्त्रता आन्दोलन का भी मुख्य प्रेरक बना। इसे राष्ट्रीय मर्यादा भी मिली। इसके बाद तो संस्कृत का आधुनिक लेखन लगभग राष्ट्रीय भावना प्रधान यत्किञ्चित् उससे संस्पृष्ट या प्रेरित हो गया। श्रीधर पाठक ने "भारतस्तवः" लिखा-

वन्दे भारतदेशमुदारम्, सुषमासदनसकलसुखसारम्।

पराधीनता के कष्ट की अनुभूति को अभिव्यक्ति देते हुए स्वतन्त्र "वन-विहग" को सम्बोधित करते हुए अन्नदाचरण तर्कचूड़ामणि लिखते हैं -

धन्यस्त्वमेव विहग स्वत एव विश्व-
संसारबीजमनिशस्मरणीयकीर्तिम्।
गायन् पुनः पुनरहो विचरस्यजस्रं,
स्वधीनताशुभविभूषणभूषितः सन्।।

(संस्कृतचन्द्रिका ७.५.१८९७)
(श्री शुक्ल, संस्कृत का समाज शास्त्र, पृ. ९४)

(हे पक्षी, तू ही धन्य है, जो तू स्वाधीनता के शुभ अलंकरण से विभूषित होकर स्वतः सदा स्मरणीय कीर्तिवाले, संसार के बीज भगवान् का गुण-गान करता हुआ विचर रहा है!)

संस्कृत के रचनाकारों की जो दृष्टि विगत कुछ शताब्दियों से वाणी को चमत्कारपूर्ण करने, अलंकृत करने में तथा, बहुत कुछ अपने आश्रयदाताओं के गुणगान में लगी रही, कुछ अपवादों को छोड़ कर देश की पीड़ित जन-सामान्य की व्यथा की ओर गयी और इस प्रकार जनोन्मुख हो गयी।

एक और विशेष उल्लेख्य बात यह है कि योगिराज महामनीषी श्री अरविन्द ने, जो अपने उग्रवादी राजनैतिक जीवन में तिलक आदि से प्रभावित राष्ट्रवादी नेता थे, अपने कारावास के दिनों, १९०४ से १९०८ के बीच, संस्कृत में एक काव्य की रचना की, जो 'भवानीभारती' के नाम से, श्री अरविन्दाश्रम, पाण्डिचेरी से १९८७ में प्रथम बार सम्पादित होकर प्रकाश में आया। श्रीअरविन्द लिखते हैं कि भौतिक चिन्तन में परायण मैं सुखशय्या

सुन्दरवीर रघूद्वह का भोजराजांक, जिसमें धारा के राजा भोज और मुञ्ज से सम्बद्ध घटनाओं को आधार बनाया गया है। नाटकीय कथा-विन्यास की दृष्टि से इसे एक सफल प्रयोग कहा जा सकता है। पं. अम्बिकादत्त व्यास का सामवतम् भी एक सुन्दर रचना है। राजराजवर्मा का प्रतीक छाया शैली का नाटक "गैर्वाणीविजय" संस्कृत भाषा की दुःस्थिति के प्रकाशन के उद्देश्य से लिखी गयी एक अच्छी नाट्यकृति है। परशुराम नारायण पाटणकर का "वीरधर्मदर्पण" कई दृष्टियों से एक उत्तम कोटि की रचना है, जिसकी तुलना वेणीसंहार (भट्टनारायणकृत) से की जा सकती है। इसका हिन्दी अनुवाद "जयद्रथवध" नाम से हुआ। इसे पाठ्य पुस्तक में निर्धारित किया गया। इसकी प्रशंसा "सरस्वती" में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने की थी। पञ्चानन तर्करत्न, जिन्होंने स्वतन्त्र्य संग्राम में भाग लिया था और अलीपुर बमकाण्ड में १९०७ में बन्दी बनाये गये थे, का अमरमङ्गल नाटक एक ऐतिहासिक नाट्यकृति है, जो महाराणा प्रताप के पुत्र अमर सिंह के जीवन की घटनाओं पर आधारित है। यह भी एक आकलनीय नाट्यरचना है।

राष्ट्रीय जागरण काल के मुख्य नाटककार हैं-हरिदास सिद्धान्तवागीश, मूलशङ्कर माणिकलाल, मथुरा प्रसाद दीक्षित, श्री जीव न्यायतीर्थ तथा वेंकटराम राघव। मथुरा प्रसाद दीक्षित की एक रचना "भारतविजय" को अंग्रेज शासन में जब्त कर लिया गया था।

आगे ऐसी अनेक रूपक कृतियां भी प्रकाश में आयीं जिन पर संविधान की दृष्टि से पाश्चात्त्य नाट्यविधाओं का विशेष प्रभाव लक्षित होता है।

डॉ. जयशंकर त्रिपाठी (नाट्य साहित्य के अध्याय के लेखक) ने स्व. ब्रह्मदेव शास्त्री की काव्य नाटिकाओं, वेला और सावित्री की विशेष प्रशंसा की है। हालांकि उनमें भाषाजन्य त्रुटियों का आधिक्य है।

शास्त्र/दर्शन

आधुनिक संस्कृत साहित्य में दो अध्यायों, शास्त्र/दर्शन तथा जैन मनीषियों का योगदान को बाद में माननीय प्रधान सम्पादक महोदय के निर्देशानुसार जोड़ा गया। निःसन्देह आधुनिक संस्कृत साहित्य के ये अनिवार्य और अभिन्न अंग हैं।

दर्शन और अन्य शास्त्रीय क्षेत्रों में आधुनिक काल में अनेक उत्कृष्ट ग्रन्थकार हुए जिन्होंने एक ओर परम्परागत चिन्तन को या तो गति प्रदान की या नया मोड़ दिया। स्वामी दयानन्द सरस्वती, पं. सुधाकर द्विवेदी, म.म. मधुसूदन ओझा, पं. धर्मदत्त झा (बच्चा झा), नकच्छेदराम द्विवेदी, स्वामी करपात्री जी महाराज, पं. रामेश्वर झा आदि अपने-अपने क्षेत्र के महान चिन्तक थे, जिन्होंने आधुनिक संस्कृत साहित्य के विकास में मूल्यवान् योगदान दिया।

इसी प्रकार, हम उन जैन मनीषियों के योगदान को भी नहीं भूल सकते जिन्होंने न केवल धर्म और दर्शन के क्षेत्र में, प्रत्युत साहित्य के क्षेत्र में अपने नये निर्माणों द्वारा

संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि की है। खेद है कि हमने उन्नीसवीं सदी के जैन-साहित्य के सम्बन्ध में बहुत प्रयास करने पर भी जानकारी नहीं पायी। इस कारण वह काल इस सन्दर्भ में अनुल्लिखित ही रह गया।

चम्पूकाव्य

विधाओं की दृष्टि से जब हमने इतिहास के अध्यायों को व्यवस्थित किया तो चम्पू काव्य, जो प्राचीन काल से चली आ रही एक विधा है कैसे छूट सकती है ! निश्चित रूप से हमारे आलोच्य "इतिहास" की कालावधि में प्रभूत चम्पूकाव्यों की रचना हुई। किन्तु इसे हमने एक अलग अध्याय के रूप में न रखकर गद्य साहित्य के अध्याय के एक दूसरे भाग के रूप में जोड़ना ठीक समझा।

आधुनिक संस्कृत साहित्य का विकास

जब से १९५४ में नई दिल्ली में साहित्य अकादेमी स्थापित हुई तब से भारतीय भाषाओं के साहित्य को एक-दूसरे से अनूदित करके प्रस्तुत करने का भी एक व्यवस्थित तथा उपयोगी प्रयास आरम्भ हुआ। इस अखिल भारतीय संस्था के माध्यम से अनेक विकसित भाषाओं का साहित्य आलोचित होकर प्रस्तुत हुआ।

साहित्य अकादेमी के माध्यम से समकालीन संस्कृत रचनाकारों के मौलिक ग्रन्थ पुरस्कृत होने लगे। उसके बाद तो देश में, विभिन्न राज्यों में संस्कृत अकादेमी की स्थापना का आरम्भ हुआ। संस्कृत के कई विश्वविद्यालय तथा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ स्थापित हुए। अखिल भारतीय और राज्यस्तरीय संस्कृत कवि-सम्मेलन आयोजित होने लगे, आकाशवाणी के केन्द्रों (बाद में, दूरदर्शन के केन्द्रों) द्वारा भी समकालिक संस्कृत साहित्य को भी प्रश्रय मिलने लगा।

संस्कृत साहित्य का महत्त्व इस अर्थ में भी माना गया कि वह एक मात्र ऐसा साहित्य है जो देश में क्षेत्रीय सीमाओं को पार करके, कुछ भागों को छोड़कर, कश्मीर से कन्याकुमारी तक परस्पर व्यवहार का माध्यम है, हालांकि इसका व्यवहार कुछ सुपठित लोगों के बीच ही है। (यहां 'व्यवहार' का तात्पर्य लेखन, विचार-विमर्श के सीमित व्यवहार से है)।

समकालिक संस्कृत साहित्य के विकास में तीन उपयोगी स्थितियां अथवा कारण बने। १. विभिन्न विश्वविद्यालयों में आधुनिक संस्कृत रचनाकारों के साहित्य पर शोधकार्य का आरम्भ। २. विभिन्न कालों में अनेक स्थानों पर, अखिल भारतीय स्तर पर आधुनिक संस्कृत साहित्य पर संगोष्ठियों का आयोजन, ३. समकालिक संस्कृत साहित्य को बढ़ावा देने वाली कई संस्कृत पत्रिकाओं का प्रकाशन।

हम कह चुके हैं कि आधुनिक संस्कृत साहित्य पर विचार और शोध कार्य का आरम्भ सबसे पहले, मध्य प्रदेश के सागर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग ने किया,

जिसका श्रेय विभागाध्यक्ष प्रो. रामजी उपाध्याय को जाता है। आधुनिक संस्कृत साहित्य के विषय में चिन्तन तथा शोध कार्य को बढ़ावा देने का जो एक और भी उल्लेखनीय महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ वह है, डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णेकर द्वारा लिखित मराठी ग्रन्थ "अर्वाचीन संस्कृत साहित्य" का १९६३में तथा डॉ. हीरालाल शुक्ल द्वारा लिखित आधुनिक संस्कृत साहित्य का १९७१ में प्रकाशन। साथ ही डॉ. राम गोपाल मिश्र द्वारा लिखित "संस्कृत पत्रकारिता का इतिहास" का १९७६ में प्रकाशन भी इस क्रम में उल्लेखनीय है।

आधुनिक संस्कृत साहित्य पर विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के आर्थिक सहयोग से संगोष्ठी या परिसंवाद के आयोजन का शुभारम्भ भी सागर विश्वविद्यालय से होता है, जिसमें पठित निबन्धों का संकलन "आधुनिक संस्कृत साहित्यानुशीलन" नाम से १८६५ में प्रकाशित हुआ। भारतीय विद्या भवन, बम्बई से प्रकाशित "भारतीय विद्या" (त्रैमासिक पत्रिका) के भाग १, २-३ १९८० में बीसवीं शताब्दी के संस्कृत साहित्य पर दिसम्बर १९७२ में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के आर्थिक सहयोग से आयोजित संगोष्ठी में पठित लेख प्रकाशित हुए। राजस्थान अकादमी (जयपुर) की ओर से १९८७ में जोधपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग ने अखिल भारतीय संस्कृत लेखक सम्मेलन का आयोजन किया। उसमें पठित निबन्धों का सम्पादित संकलन "आधुनिक संस्कृत साहित्य" १९८८ में प्रकाशित हुआ। फिर इसी अकादमी के सहयोग से १९८८ में राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के संस्कृत विभाग द्वारा संगोष्ठी आयोजित की गयी, जिसमें पठित निबन्धों का सम्पादित संकलन "नवोन्मेषः" नाम से १९९० में प्रकाशित हुआ। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के आर्थिक सहयोग से स्वातन्त्र्योत्तर संस्कृत साहित्य पर नागपुर विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग में १९८५ में अखिल भारतीय स्तर पर आयोजित संगोष्ठी में पठित निबन्धों का संकलन, "पोस्ट-इण्डेपेण्डेन्ट संस्कृत लिटरेचर" नाम से १९९० में प्रकाशित हुआ।

इनके अतिरिक्त सागर विश्वविद्यालय, सागर में यू.जी.सी. के आर्थिक सहयोग से १९८९ में अखिल भारतीय संगोष्ठी तथा साहित्य अकादेमी तथा रामकृष्ण मिशन इन्स्टीट्यूट ऑफ कल्चर, कलकत्ता के सम्मिलित सहयोग से १९९२ में आधुनिक संस्कृत साहित्य परम्परा और अभिनव परिवर्तन पर राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित हुई, जिनके निबन्धों का प्रकाशन हमारी जानकारी के अनुसार अब तक नहीं हुआ है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त "संगोष्ठियों" में अखिल भारतीय स्तर पर आधुनिक एवं समकालिक संस्कृत के रचनाकारों तथा मनीषियों द्वारा बहुत उपयोगी विचार-विमर्श प्रस्तुत हुआ, जिसके समकालिक संस्कृत साहित्य को बहुत गति मिली।

आज जो संस्कृत की पत्रिकायें समकालिक संस्कृत लेखन को गति प्रदान कर रही हैं उनमें प्रमुख हैं-संस्कृत प्रतिभा (साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली) "दूर्वा" (मध्य प्रदेश

संस्कृत अकादमी, भोपाल), सागरिका (सागरिका समिति, सागर), स्वरमङ्गला (राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर), विश्वसंस्कृतम् (साधुआश्रम, होशियारपुर), भारती (भारतीभवन, जयपुर), अजस्रा (अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ), सूर्योदय (भारतधर्म महामण्डल, वाराणसी) और अर्वाचीनसंस्कृतम् (६, वाणीविहार, दिल्ली-५८) आदि।

समकालिक संस्कृत साहित्य के कुछ कवियों का सुभाषित संग्रह "षोडशी" नाम से डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी द्वारा संकलित तथा सम्पादित होकर साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली से १९९२ में प्रकाश में आया है और एक लघु कथा संग्रह भी सद्यः प्रकाशित होने वाला है। इसके पूर्व डॉ. शिवदत्त चतुर्वेदी (वाराणसी) द्वारा 'अभिनव कथानिकुञ्ज' १९६६ में प्रकाशित हुआ था।

यह सब कुछ इस बात का प्रमाण है कि समकालिक संस्कृत का रचनाकार अखिल भारतीय स्तर पर समकालिक भारतीय भाषाओं के साहित्य के रचनाकारों के साथ अपने लेखन को गति देने में निरन्तर जागरूक है। अब संस्कृत को "मृतभाषा" समझने तथा कहने वाले लोगों की भ्रांति का एक सीमा में बहुत कुछ उच्छेद हो चुका है, ऐसा हम समझते हैं।

लेकिन फिर भी, अपने देश में ही, अपने को तथाकथित "आधुनिक" सिद्ध करने वाले आयातित मान्यताओं को सिर पर ढोने वाले कुछ लोगों में संस्कृत लेखन में प्रवृत्त रचनाकारों को "पुराणपंथी" कहने और मानने की प्रवृत्ति अब भी बनी हुई है। उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि संस्कृत का रचनाकार परम्परा से सदैव जुड़ा रहा। राष्ट्र के हित के प्रति वह सदैव जागरूक तथा नवीन के स्वागत के लिए तत्पर भी रहा है। वह अपना परिचय स्थापित करने की दिशा में सदा प्रवृत्त है और वह सर्वात्मना भारतीय होने में गौरव अनुभव करता है। उसकी अपनी परम्परा के प्रति आदर की भावना को उसका "'मोह" नहीं समझा जाना चाहिए। आधुनिक संस्कृत साहित्य ने भारतीय साहित्य को अनेक महान् साहित्यकार दिये हैं। खेद है कि अभी तक उन रचनाकारों के साहित्यिक योगदान का समुचित मूल्याङ्कन नहीं हुआ है।

आज अन्य भारतीय भाषाओं के बीच संस्कृत एक भाषा है। ऐसा भी नहीं कि आज उसे कोई "दैवी वाक्" या देव-वाणी नहीं मानता, (नहीं मानने वालों की संख्या नगण्य ही कही जा सकती है) फिर भी आज का संस्कृत का रचनाकार उसकी उस प्राचीन प्रतिष्ठा को स्वीकार करते हुए उसके साहित्य के विकास में अपनी ओर से कुछ और जोड़ना चाहता है तथा उसे और भी समृद्ध करना चाहता है। आगे आने वाली शताब्दी में संस्कृत का साहित्य कुछ और अधुनातन रूप में प्रस्तुत होगा और उसमें अखिल भारतीय ही नहीं, विश्व स्तर के रचनाकार साहित्य रचना में प्रवृत्त होंगे, यह हमारा दृढ़ विश्वास है।

समकालिक संस्कृत साहित्य के विकास की गति को तीव्र करते हुए यह हमें ध्यान में रखना है कि संस्कृत का मानक व्याकरण पाणिनीय व्याकरण है। उसके द्वारा स्थापित

नियमों की अवहेलना हमारे लिए ठीक नहीं है। यह ठीक है कि किसी भाषा के विकास की गति को व्याकरण के रूढ़ तथा जटिल नियम बाधित करते हैं, तथापि संस्कृत के विषय में पाणिनीय नियमों की सीमा में रहना आवश्यक भी है और उचित भी। (आधुनिक संस्कृत के लिए व्याकरण की सीमा पर समयानुसार तथा आवश्यकतानुसार विचार-विमर्श भी होना चाहिए।)

संस्कृत के लेखन में यदि इस प्रकार की शिथिलता को प्रश्रय दिया गया तो संस्कृत का संस्कृतत्व उच्छिन्न हो सकता है। साथ ही, वार्णिक तथा मात्रिक छन्दों में पद्यों के निर्माण में छन्दःशास्त्र के नियमों का पालन भी आवश्यक है। अनजाने में त्रुटियां किसी से भी हो सकती हैं, किन्तु जान बूझकर व्याकरण शास्त्र तथा छन्दशास्त्र के नियमों का उल्लंघन या उनके प्रति उपेक्षा प्रवर्तमान संस्कृत साहित्य के लिए बाधक हो सकती है।

आधुनिक संस्कृत साहित्य की कालावधि लगभग दो शताब्दियों (१६वीं-२०वीं) की है। यह काल न केवल भारत के इतिहास, प्रत्युत विश्व के इतिहास की दृष्टि से बड़े उद्वेलन और परिवर्तन का काल है। इसमें दो विश्व युद्ध घटित हुए, हिरोशिमा, और नागासाकी पर अणुबम के प्रहार द्वारा मानव-संहार की विकट दुःस्थिति उत्पन्न हुई। भारत में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध प्रबल संघर्ष छिड़ा, जिसके फलस्वरूप भारत स्वतन्त्र हुआ। भारत-विभाजन के साथ साम्प्रदायिक दंगों की लपटें फैलीं और इस शती के सबसे महान नेता महात्मा गांधी की हत्या हुई। इस बीच, भारत में नाना विभूतियों ने जन्म लिया और उनमें से अनेक ने भारत में राष्ट्रीय चेतना को जगाने के साथ सामाजिक कुरीतियों पर भी प्रबल प्रहार किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत एक अखण्ड राष्ट्र तथा लोकतन्त्रात्मक "गणराज्य" के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। खेद है कि हम राजनैतिक परतंत्रता से तो मुक्त हुए, किन्तु मानसिक तौर पर हम उन्हीं पाश्चात्त्य भोगवादी दुष्प्रभावों के वशीभूत या गुलाम होते गये और हमारा नैतिक चारित्र्य पतन की ओर जाता हुआ प्रतीत हुआ। यह सब कुछ अन्य भारतीय भाषाओं के नव विकसित साहित्य की भांति आधुनिक संस्कृत साहित्य के दर्पण में भी स्पष्ट देखा जा सकता है।

आधुनिक संस्कृत साहित्य में साहित्य की लगभग सभी प्राचीन तथा नव विकसित विधाओं में लेखन हुआ और हो रहा है। हालांकि हम यह दृढ़तापूर्वक नहीं कह सकते आधुनिक संस्कृत साहित्य ने कोई रवीन्द्रनाथ, कोई शरच्चन्द्र और कोई प्रेमचंद, को मुहम्मद इक़बाल, या कोई सुब्रह्मण्य भारती को प्रस्तुत किया है, जिसकी कृतियां विश्वस्तर पर नहीं तो भारत की विभिन्न भाषाओं मे अनूदित होकर बड़ी चाव से पढ़ी गयी हों, फिर भी हम निराश नहीं हैं। आधुनिक संस्कृत साहित्य के अनेक रचनाकारों में उस प्रकार की उत्तम लेखन क्षमता अवश्य है, किन्तु खेद है कि इस साहित्य का अब तक सही अर्थ में आलोचन या आकलन नहीं हुआ। बहुत लोगों को यह भी स्पष्ट रूप से अवगत नहीं है कि अब भी संस्कृत में नवीन रचनायें हो रही हैं।

समीक्षा ग्रन्थों का अभाव

आधुनिक संस्कृत साहित्य के इतिहास में समीक्षात्मक साहित्य का अध्याय इस कारण नहीं जोड़ा जा सका कि संस्कृत के विचारकों ने उन्मुक्त हृदय से गहरे पैठ कर किसी रचनाकार पर या किसी कृति-विशेष पर लेखन नहीं किया। यदि किसी ने कुछ लिखा भी तो वह बहुत मार्मिक समीक्षा न होने के कारण उपेक्षित रह गया। दुर्भाग्य से टी. गणपति शास्त्री (१८६०-१९२६) द्वारा लिखित विशाखविजय महाकाव्य की समालोचना को हम उपलब्ध नहीं कर सके। हमारा ऐसा कभी दृष्टिकोण नहीं है कि हमारे विचारक विद्वानों में आधुनिक समीक्षा दृष्टि का अभाव रहा है। हमारे अनेक प्रतिष्ठित रचनाकार मूलतः समीक्षक की भूमिका भी अपना कर प्रतिष्ठित हो चुके हैं। हमसे मिलता-जुलता अनुभव स्वातन्त्र्योत्तर काल के एक रचनाकार डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी का है जिसे उन्होंने अपने एक लेख में इन शब्दों में व्यक्त किया है "साहित्यिक प्रखरता और सक्रियता आलोचना के लिए उत्प्रेरक बनती है। आधुनिक काल में संस्कृत पर लिखी रचनाओं पर ऐसी कोई सर्वाङ्गपूर्ण समीक्षाकृति नहीं दिखाई पड़ती, जो समग्रता में इस साहित्य का आकलन करती हो। साहित्यिक उत्कृष्टता ही प्रकृष्ट समीक्षा को जन्म देती है तो अच्छी समीक्षा का अभाव संस्कृत के आधुनिक साहित्य के लिए ऐसी चिन्तनीय स्थिति है।" (आधुनिक संस्कृत साहित्य", राजस्थानी ग्रन्थकार, जोधपुर १९८८, पृ. ४)

हमारा विश्वास है कि अब हमारे पाश्चात्त्य और पौरस्त्य समीक्षा-दृष्टि से सम्पन्न विचारकों का ध्यान इस रिक्तता की ओर विशेष रूप से जायेगा।

जैसा कि कहा गया है कि संस्कृत के कवियों में सर्जनशीलता के क्षरण की स्थिति को महसूस करके ही कदाचित् आनन्दवर्धन ने अपने काल तक दो तीन या छः कालिदास प्रभृति महाकवियों की बात कही है। यही कारण था कि काव्य का चिन्तन कवि-केन्द्रित न होकर सहृदयकेन्द्रित हो गया। अर्थात् कारयित्री प्रतिभा का स्थान भावयित्री प्रतिभा ने ले लिया। आधुनिक संस्कृत साहित्य में आकर कुछ पाश्चात्त्य प्रभाव से जो भी परिवर्तन आया उसे अमान्य करार नहीं दिया जा सकता है, फिर भी आधुनिक संस्कृत के अनेक रचनाकार गतानुगतिकता से अपने को मुक्त नहीं कर सके हैं।

आज जब कविता मानवीय संवेदनाओं की अभिव्यक्ति को लक्ष्य करके निर्मित होने लगी है, हमारी दृष्टि में अब भी उसका महत्त्व उतना नहीं है, कथ्य की अपेक्षा कथन-प्रकार का महत्त्व संस्कृत के क्षेत्र में अब भी बना हुआ है।

यह भी सही है कि आधुनिक काल में अनेक काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों के निर्मित होने पर भी आधुनिक सर्जनात्मकता को उससे प्रभावित होते अनुभव नहीं किया जा रहा है, अधिकतर हमारे रचनाकार परम्परानुगत होकर ही लेखन में प्रवृत्त हैं और अब भी संस्कृत का आधुनिक कवि अपनी संकीर्ण सीमाओं से उबर नहीं सका है। केवल प्राचीन लक्षणों पर आधारित किसी महाकाव्य की रचना करके ही कोई महाकवि पद पर प्रतिष्ठित नहीं हो

जाता, उसके लिए विशेष रूप से नव्यार्थ का संयोजन अनिवार्य होता है। नैषधकार श्रीहर्ष जैसे कवियों ने "नवार्थघटना" पर बहुत बल देते हुए अपने काव्य को "एकामत्यजतो नवार्थघटनाम्" की बात कही है, केवल मात्र किसी इतिवृत्त के सफलतापूर्वक निर्वाह तथा कुछ अलंकारों का प्रयोग मात्र कविता को प्रतिष्ठित नहीं करते।

आज हम जब भी किसी रचना का मूल्यांकन करने के लिए प्रवृत्त होते हैं तब तो कुछ हमारे संस्कारगत काव्यालोचन के तत्त्व उभर आते हैं या पाश्चात्त्य चिन्तकों से आयातित विचारों की सरणियां आड़े आ जाती हैं। इस प्रकार हमारा मूल्यांकन पक्ष अब भी विचारणीय है और हमारा विश्वास है कि भविष्य में आधुनिक संस्कृत के साहित्य में इस पक्ष में बहुत कुछ परिवर्तन घटित होगा।

आधुनिक संस्कृत साहित्य के बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के इन दशकों में प्राचीन कविता और नवीन कविता के बीच की विभाजक रेखा स्पष्ट से स्पष्टतर होती जा रही है। छन्द और अलंकार योजना के प्रति एक सीमा में व्यामोह के बावजूद संस्कृत का नव आधुनिक कवि जन सामान्य के सुख-दुःख को आत्मसात् कर चुका है। वह वायवीय कल्पना के पंख पर उड़ान की अपेक्षा यथार्थ की भूमि से अधिक रस ग्रहण कर रहा है और श्लथ शृङ्गार के लिजलिजेपन को भी वर्जित कर चुका है। एक निर्मोक से मुक्त संस्कृत कविता का भास्वर रूप अब कुछ-कुछ खिलने लगा है। किन्तु बहुत स्पष्ट रूप से अब भी नये लेखन में प्रवृत्त रचनाकारों की आंखों के समक्ष एक सघन धुंध सा बना हुआ है जिससे वे प्रायः अपनी दिशा को खोते तथा भटकन के पात्र होते प्रतीत होते हैं। आज, हिन्दी के समान ही संस्कृत को भी किसी "अज्ञेय" की आवश्यकता है जो "तन्त्रीसप्तकम्" की योजना बनाकर संस्कृत की नवकविता को प्रकाश में ला सके और नये प्रतिमानों के आलोक में उसकी व्याख्या करके उसे उजागर कर सके।

इधर, कुछ लोगों द्वारा रचनाधर्मिता के नाम पर संस्कृत में "प्रचारवाद" को एक सीमा से अधिक प्रश्रय मिल रहा है। निश्चय ही संस्कृत कविता में नव चेतना के स्फुरण में ऐसे तत्त्व बहुत बाधक सिद्ध हो रहे हैं, जिनसे समय के रहते सावधान हो जाने की आवश्यकता है।

आधुनिक संस्कृत साहित्य का एक व्यवस्थित इतिहास

अपनी नाना त्रुटियों तथा सीमाओं के बावजूद प्रस्तुत "इतिहास" को एक व्यवस्थित रूप देने का प्रयास किया गया है। हमें इसमें कहां तक सफलता मिली है इसका निर्णय करना हमारा काम नहीं है। हमें "इतिहास" के लेखन के लिए सूचना सामग्री के रूप में अनेक ग्रन्थ और लेख मिले। प्रो. श्री. भा. वर्णेकर और प्रो. हीरालाल शुक्ल के ग्रन्थ अर्वाचीन संस्कृत साहित्य (१९६३ मराठी ग्रन्थ) और आधुनिक संस्कृत साहित्य (१९७१) हमारे लिए विशेष उपयोगी सिद्ध हुए। आधुनिक संस्कृत साहित्य की प्रभूत मात्रा में लिखित

व्याकीर्ण सामग्री को इन दोनों विद्वानों ने विधाओं के अनुसार विभाजित करके संकलन का रूप दिया। जहां वर्णेकर जी ने १७वीं शती से १९६० तक के संस्कृत साहित्य का पर्यालोचन किया है वहां हीरालालजी शुक्ल ने "निरपेक्ष तथा तटस्थ रूप से संस्कृत के नवजागरण के इतिहास को" प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसी प्रकार हमने प्रो. रामजी उपाध्याय के "आधुनिक संस्कृत नाटक" का भी उपयोग किया। डॉ. शुक्ल का एक ग्रन्थ "सस्कृत का समाज शास्त्र" (स्वतन्त्रता संग्राम और संस्कृत साहित्य) १९८९ में प्रकाश में आया, जिसमें उन्होंने कुछ महत्त्वपूर्ण अध्याय जोड़े, जिनमें स्वतन्त्रता संग्राम के सन्दर्भ में संस्कृतज्ञ समाज के योगदान को बड़ी सफलता के साथ उजागर किया गया है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इतिहास की सामग्री इतिहास नहीं होती। कितने रामपरक, कितने कृष्णपरक या शिवपरक तथा राजभक्तिपरक ग्रन्थ लिखे गये तथा कितनी विधाओं में लेखन हुआ इसकी गणना से "इतिहास" का स्वरूप नहीं बनता। यदि महाकाव्य विधा में लिखित ग्रन्थों की चर्चा करते हुए यह बात कह दी गयी कि आत्मचरितपरक महाकाव्य आधुनिक युग की देन हैं तो इतने मात्र से एक इतिहास का लक्ष्य सिद्ध नहीं हुआ। निश्चय ही इन विद्वानों ने "इतिहास" का एक ढांचा तैयार किया। इस अंश में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। आधुनिक संस्कृत साहित्य के इतिहास की सामग्री को आकलित करते हुए अनेक प्रश्न और जिज्ञासाएं उदित होती रहीं हैं, जिनका समाधान इन संग्रहकारों के ग्रन्थों से नहीं मिला। एक तो यही मन में बात उठती है कि "आधुनिक संस्कृत साहित्य के इतिहास" से क्या लिया जाय? क्या आधुनिक काल खण्ड (१९वीं तथा २०वीं शती) में लिखे जाने वाले संस्कृत साहित्य का इतिहास अथवा क्या 'संस्कृत के आधुनिक साहित्य का इतिहास' ? यह प्रश्न जब मैंने इतिहास, संस्कृति और साहित्य के प्रख्यात विचारक प्रो. गोविन्द चन्द्र पाण्डे के समक्ष रखा तो उनका यह समाधान था कि रचना भले ही आधुनिक न हो, किन्तु उसमें दोष की मात्रा कम से कम हो और उसमें "उत्कर्ष" हो उसे आधुनिक साहित्य के इतिहास में प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए भले ही उसमें आधुनिकता न हो। प्रो. पाण्डे ने इस सन्दर्भ में "उद्धवशतक" (जगन्नाथ दास "रत्नाकर" द्वारा लिखित हिन्दी काव्य) का उदाहरण दिया, जो छायावाद युग में लिखा गया और हिन्दी के क्षेत्र में अपने उत्कर्ष के कारण प्रतिष्ठित हुआ। यह एक "समाधान" के रूप में प्रो. पाण्डे का मत हमारे लिए विचारणीय है। फिर भी आधुनिक काल में लिखित स्तोत्रकाव्यों को बहुत मान्यता देने के पक्ष में वे भी नहीं लगे।

संस्कृत का आधुनिक काल का साहित्य परम्परागत परिपाटी या प्राचीन सांचों के अन्तर्गत लिखा गया, इसका यह तात्पर्य नहीं कि संस्कृत कवियों का चिंतन जड़ीभूत था। इसके पीछे देश की प्राचीनकाल से अविश्रान्त रूप से प्रवहमान धार्मिक आस्था उस चिन्तन

के पीछे काम कर रही थी, ठीक उसके साथ ही वे परिपाटियां और सांचे भी अनिवार्य रूप से आ गये। संस्कृत भाषा का एक जो व्यवस्थित स्वरूप बना हुआ था वह उनमें ही सुचारु रूप से समञ्जस हो पाता था। इसी कारण संस्कृत के कवियों ने उसका मोह बहुत समय तक नहीं छोड़ा। एक और दूसरा कारण जो स्पष्ट प्रतीत होता है, संस्कृत के लेखन में कवित्व और पाण्डित्य का सामञ्जस्य या योगायोग श्रीहर्ष (नैषधकार) के प्रभाव से अधिक मात्रा में लक्षित होने लगा था। "सुकुमारवस्तु" साहित्य और "दृढ़न्यायग्रहग्रन्थिल" तर्क को एक ही रचनाकार में प्रस्फुटित होने के अनेक उदाहरण हैं। संस्कृत के समर्थ रचनाकार पडितराज जगन्नाथ ने भी शास्त्र और काव्य दोनों के लेखन द्वारा अपनी प्रतिभा का समान चमत्कार प्रस्तुत किया। इनके पूर्ववर्ती प्रसन्नराघवकार जयदेव एक ही साथ कवि और तार्किक दोनों थे। आधुनिक काल के प्रसिद्ध नैयायिक सर्वतन्त्रस्वतन्त्र पं. धर्मदत्त (बच्चा) झा ने विलक्षण कवित्व के बल पर "सुलोचनामाधवचम्पू" जैसे उत्कृष्ट काव्य का निर्माण किया। इसी क्रम में म.म. गंगाधर शास्त्री (अलिविलासिसंलाप) म.म. रामावतार शर्मा (मारुतिशतक" और "मुद्गरदूत") और "कवितार्क्किचक्रवर्ती महादेव शास्त्री (भारतशतक) आदि के नाम उल्लेख्य हैं। क्या इस केोटि के शास्त्र-कवियों की रचनाओं को आधुनिक संस्कृत साहित्य के इतिहास में स्थान नहीं दिया जा सकता?

हमने प्रस्तुत इतिहास के माध्यम से केवल विगत को समुल्लिखित नहीं किया है, किन्तु अपने समकालिक साहित्य को भी आलोचित किया है। यहां इतिहास के सन्दर्भ में समालोचना को भी हमने एक दायित्व के रूप में निभाने का प्रयास किया हैं, जिससे हम अपने इतिहास को भविष्य की ओर भी उन्मुख कर सकें। यद्यपि यह इतिहास एक सामूहिक प्रयास होने के कारण क्रमिक विकास या आलोचनात्मक एकरूपता प्रस्तुत करने की दिशा में कोई सफल प्रयोग भले न सिद्ध हो, तथापि इसमें नये रचनाकारों तथा आधुनिक विचारकों की दृष्टि के उन्मीलन में यदि इसका कुछ योगदान हुआ तो हमारा प्रयास सार्थक होगा।

हमारी प्रमुख चिन्ता इस बात की है कि अब तक व्यापक पैमाने पर आधुनिक काल तथा समकालीन संस्कृत के रचनाकारों की तटस्थ वस्तुपरक समीक्षा प्रस्तुत करने की दिशा में कोई जागरूकता नहीं आयी। अब तक के प्रयासों को उस दिशा में एक भूमिका मात्र कहा जा सकता है। निश्चय ही समकालीन संस्कृत साहित्य का रचनाकार सर्वतोभावेन प्रबुद्ध और समर्थ है। वह सुवर्ण का उत्पादक ही नहीं, उसकी परीक्षा में भी क्षम है, अतः उसे खुलकर सामने आना चाहिए। प्रस्तुत "इतिहास" एक प्रकार से उसके लिए "आह्वान" है। वह किसी 'मृत' का उपासक नहीं, प्रत्युत "अमृत" का सन्देशवाहक है।

यह इतिहास ग्रन्थ, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ द्वारा उसके अध्यक्ष पद्मभूषण आचार्य पं. बलदेव उपाध्यायजी के प्रधान सम्पादकत्व में प्रकाश्यमान संस्कृत

वाङ्मय के "बृहद् इतिहास" का सप्तम खण्ड है। इसके निर्माण की दिशा में प्रयास प्रधान सम्पादक महोदय के आदेश तथा मार्गनिर्देश में १६६१ में आरम्भ हुआ। जिन सहयोगी लेखकों तथा लेखिकाओं का सोत्साह योगदान है वे हैं-प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी (सागर), डॉ. जयशङ्कर त्रिपाठी (प्रयाग), डॉ. हरिदत्त शर्मा (प्रयाग), श्री कलानाथ शास्त्री (जयपुर), डॉ. (श्रीमती) कमला दुबे (प्रयाग) और डॉ. (श्रीमती) दीपा अग्रवाल (प्रयाग)। इन लेखकों ने क्रमशः गीतिकाव्य, नाट्यसाहित्य, लघुकाव्य, गद्यकाव्य, दर्शन तथा शास्त्रीय ग्रन्थ और जैन साहित्य पर स्वतन्त्र लेखन किया है। मैंने महाकाव्य (अध्याय) को लिखा। खेद है कि आरम्भ में हम जिन तीन सहयोगी विद्वानों के मूल्यवान् सहयोग से, उनकी मुख्यतः व्यस्तता के कारण वञ्चित रहे हैं वे हैं-प्रो. शिव कुमार मिश्र, आचार्य गंगानाथ झा केन्दीय संस्कृत विद्यापीठ प्रयाग, प्रो. सुरेश चन्द्र पाण्डेय (पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग प्रयाग वि.वि. प्रयाग) तथा डॉ. राघव प्रसाद चौधरी (प्राचार्य, श्री रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू)। यहां हम यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं कि प्रत्येक अध्याय के लेखक पर ही उसके लेखन का विशेष उत्तरदायित्व है। उनके सहयोग से ही यह कार्य सम्पन्न हो सका।

इस समायोजन में हमारा अनेक विद्वानों तथा मनीषियों ने उदारतापूर्वक सहयोग करके अपनी रचनाओं, आलोचनात्मक सामग्री आदि द्वारा हमें अनुगृहीत किया है, हम उनके प्रति हृदय से कृतज्ञ हैं। वे विद्वान् तथा मनीषी हैं-

प्रो. श्रीधर भास्कर वर्णेकर (नागपुर), प्रो. गोविन्द चन्द्र पाण्डे (प्रयाग), डॉ. रामकरण शर्मा (दिल्ली), प्रो. सत्यव्रत शास्त्री (दिल्ली), प्रो. ब्रजमोहन चतुर्वेदी (दिल्ली), डॉ. रुद्रदेव त्रिपाठी (उज्जैन), डॉ. वनेश्वर पाठक (रांची), डॉ. विश्व नारायण शास्त्री (गुवाहाटी), डॉ. केशवचन्द्र दास (पुरी), डॉ. राजेन्द्र मिश्र (शिमला), डॉ. विश्वनाथ मिश्र (बीकानेर), प्रो. कैलाशपति त्रिपाठी (वाराणसी), प्रो. रेवा प्रसाद द्विवेदी (वाराणसी), डॉ. शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी (वाराणसी), डॉ. प्रभात शास्त्री (प्रयाग), आचार्य प्रियव्रत शर्मा (वाराणसी) डॉ. रहसबिहारी द्विवेदी (जबलपुर), श्री कलानाथ शास्त्री (जयपुर), प्रो.राधवल्लभ त्रिपाठी (सागर), डॉ. रामनारायण दास (गुरुवायूर), प्रो. जी.बी. पलसुले (पुणे), डॉ. श्रीधर वासुदेव सोहोनी (पुणे), प्रो. कृष्णलाल (दिल्ली), प्रो. व्रजबिहारी चौबे (होश्यारपुर), डॉ.माधवस्वरूप बहल (जालन्धर), डॉ. बलजिन्नाथ पण्डित (जम्मू), डॉ. श्रीरञ्जन सूरिदेव (पटना), डॉ. मारुति नन्दन पाठक (बोध गया), श्री दिगम्बर महापात्र (राउरकेला), डॉ. आनन्द कुमार श्रीवास्तव (प्रयाग), प्रो. इन्द्रनाथ चौधुरी (सचिव, साहित्य अकादमी नई दिल्ली), श्रीमती कुमुद शर्मा (धर्मपत्नी, स्व. प्रो. नलिन विलोचन शर्मा), डॉ. दरबारी लाल कोठिया (बीना), श्री सन्तोष सिंहई (दमोह), श्री नीरज जैन (सतना), श्री कमलेश कुमार जैन "भाईजान" (जबलपुर), डॉ. शिव शङ्कर पण्डित (रांची), प्रो. एच. आर.ए. शांडिल्य (उल्हासनगर, बम्बई), डॉ. कस्तूर चंद कासलीवाल (जयपुर),

डॉ. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी (वाराणसी), डॉ. पी.सी. मुरलीमाधवन् (गुरुवायूर, केरल) डॉ. क़िशोरनाथ झा (प्रयाग)।

श्री मधुकर द्विवेदी (पूर्व निदेशक, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान), लखनऊ और वर्तमान निदेशक डॉ. श्रीमती अलका श्रीवास्तव तथा संस्थानके उनके अन्य सहयोगी डॉ. चन्द्रकान्त द्विवेदी आदि के हम आभारी हैं जिन्होंने हमें पूरा सहयोग प्रदान किया है। इस खण्ड के सम्पादन और प्रकाशन में हमारे अभिन्न मित्र डॉ. रमाकान्त झा का सहयोग विशेष उपादेय है अतः मैं डॉ. झा को हृदय से साधुवाद देता हूँ।

प्रधान सम्पादक अपने गुरु प्रातःस्मरणीय पद्मभूषण आचार्य पं. बलदेव उपाध्याय जी का किन शब्दों में आभार प्रकट करूं ! वस्तुतः हमारा यह पूरा आयोजन उनके शुभाशीर्वाद तथा सत्प्रेरणा का परिणाम है। उन्होंने आधुनिक संस्कृत साहित्य के प्रस्तुत इतिहास के सम्पादन का दायित्व मुझ पर अपने सहज स्नेहवश ही सौंपा, ऐसा कह सकता हूँ।

निश्चय ही इस इतिहास के प्रस्तुतीकरण में जाने-अनजाने हमसे और भी अनेक त्रुटियां हुई हैं। अनेक संस्कृत के प्रतिष्ठित रचनाकार या तो अचर्चित रह गये हैं या कम चर्चित हुए हैं। कुछ हमारी विवशता इस अंश में रही है कि हमें उनकी कृतियों को देखने का अवसर नहीं मिला। हमारा विश्वास है कि सुधीजन हमारी त्रुटियों के लिए क्षमा करते हुए हमारा मार्ग-दर्शन करेंगे और आगे के संस्करणों में आधुनिक संस्कृत साहित्य के इतिहास को और भी परिष्कृत करने में हमें सहयोग प्रदान करेंगे।

मेरे अनुज चि. कृष्णानन्द पाठक तथा भ्रातृज चि. अनिल कुमार पाठक ने मुझे इस कार्य में अपेक्षित सहयोग प्रदान किया है, इसके लिए उन्हें शुभार्शीवाद देता हूं।

बसन्त पञ्चमी
२५-१-६६
३/१४, एम.आई.जी., झूसी
इलाहाबाद-२११०१६

जगन्नाथ पाठक
सम्पादक

संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास

सप्तम खण्ड : आधुनिक संस्कृत साहित्य का इतिहास

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम भाग

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

जैन मनीषियों का योगदान

आधुनिक संस्कृत साहित्य का इतिहास
(सप्तम खण्ड)
विषय एवं लेखक सङ्केत

विषय	
प्रथम अध्याय : महाकाव्य	**डॉ. जगन्नाथ पाठक,** पूर्व-प्राचार्य गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद। ३/१४, एम.आई.जी., झूसी, इलाहाबाद-२११ ०१६
द्वितीय अध्याय : लघुकाव्य	**डॉ. हरिदत्त शर्मा,** प्रवाचक, संस्कृत विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
तृतीय अध्याय : गीति काव्य	**प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी,** आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
चतुर्थ अध्याय : नाट्य साहित्य	**डॉ. जयशङ्कर त्रिपाठी,** पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, ईश्वरशरण डिग्री कालेज, इलाहाबाद। बेदौली, पो. भारतगंज, इलाहाबाद
पञ्चम अध्याय : गद्य साहित्य	**श्री कलानाथ शास्त्री,** पूर्व भाषा निदेशक, राजस्थान सरकार तथा पूर्व अध्यक्ष, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर
पञ्चम अध्याय : चम्पू काव्य	**डॉ. जगन्नाथ पाठक**
षष्ठ अध्याय : दर्शन और शास्त्र	**डॉ. (श्रीमती) कमला दुबे,** अध्यक्ष संस्कृत विभाग, जगत तारन गर्ल्स डिग्री कालेज, इलाहाबाद। नाजरेथ अस्पताल कैम्पस १३ ए, कमला नेहरू रोड, इलाहाबाद
सप्तम अध्याय : आधुनिक संस्कृत साहित्य को जैन मनीषियों का योगदान	**डॉ. (श्रीमती) दीपा अग्रवाल** प्रवाचक, इलाहाबाद डिग्री कालेज, इलाहाबाद २/१३६ एम.आई.जी., झूसी, इलाहाबाद-२११०१६

प्रेरित किया। संस्कृत के साहित्यकारों के समक्ष दूसरी कठिनाई उतनी नहीं थी। उन्हें नई चेतना को अभिव्यक्ति देने के लिए परम्परा से एक शक्त भाषा एवं साहित्य दोनों उपलब्ध थे। किन्तु उनके मन में अपनी परम्परा के प्रति एक अतिरिक्त मोह अवश्य आड़े आया। वे अपनी मध्यकालीन स्तावक प्रवृत्ति के अनुरूप, अंग्रेजों के शासन को बहुत कुछ स्वीकार कर चुके थे। इसलिए अंग्रेज शासकों की प्रशस्ति में भी उन्होंने काव्य रचे। अंग्रेज शासकों ने संस्कृत के कालेज खोले और शास्त्रज्ञ पण्डितों को उनमें प्रतिष्ठित किया। किन्तु यह दृष्टि शनैः शनैः निस्तेज होती गयी और सम्पूर्ण राष्ट्र में शिव के तृतीय नेत्र के रूप में जो क्रान्ति की ज्वाला धधक उठी उसने संस्कृत के साहित्यकारों के समक्ष भी लेखन के नये क्षितिज आलोकित किये। आत्मसम्मान के प्रति जागरूकता आयी और समाज में व्याप्त नाना कुप्रथाओं के उन्मूलन के लिए भी साहित्य के स्तर पर प्रयास आरम्भ हो गया। इतना तो सही है कि इस संक्रमणकाल में नये समाज के निर्माण की ओर प्रवृत्त होने वालों के समक्ष जो बड़ी चुनौतियां थीं, उनपर विजय पाने के लिए साहित्य का अवलम्बन सम्पूर्ण तथा साधकतम उपाय नहीं था। साहित्य अपनी सीमा में ऐसे समर्पित उदारचेता महानुभावों के प्रति श्रद्धा-सुमन समर्पित करके तथा उनके उच्च विचारों को और भी समर्थ भाषा देकर अपना कर्त्तव्य पूरा कर सकता था, जो उसने कुछ अंश में किया।

किसी समय जिस भाषा में लिखना लेखकों के लिए प्रचार-साधन के अभाव में, स्वान्तःसुखाय मात्र था, बाद में मुद्रण-कला के विकास के साथ राष्ट्र में बदले हुए परिवेश के कारण जन-सामान्य को आदर्शभूत चरित्रों से अवगत करा कर तथा राष्ट्र के लिये उनके कर्तव्य के प्रति उन्हें सचेत करा कर उस भाषा में लेखन अपना लेखकीय उद्देश्य बन गया। बाद में तो राष्ट्र के शत्रुओं के प्रति जन-सामान्य के मन में घृणा का भाव उत्पन्न करना आदि भी उद्देश्य बने। साथ ही अपने देवता एवं पूर्वज शिव, विष्णु, राम और कृष्ण के चरित को नये अर्थ का आयाम देकर लिखने की प्रवृत्ति विकसित हुई। और कुछ ने आत्मचरितपरक लेखन को भी प्रश्रय दिया, जिसे सर्वथा आधुनिक प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया।

महाकाव्य के लक्षण- जैसा कि हम कह चुके हैं, प्राचीन आचार्यों ने महाकाव्य-विधा के लक्षण प्रस्तुत किये। निश्चय ही, उनमें से प्राचीन भामह तथा दण्डी के महाकाव्य के लक्षण मुख्यतः श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण जैसे महान् काव्यों को ध्यान में रखकर या उन्हें आदर्श मान कर निर्मित हुए। प्राचीन महाकाव्य-लक्षणों में जो उनकी गरिमा के अनुरूप व्यापकता एवं उन्मुक्तता थी वह बाद के महाकाव्य लक्षणों में नहीं मिलती। वे अधिकतर कठोर एवं रूढिबद्ध होते गये और उन्होंने बहुत कुछ परवर्ती रचनाकारों को भी प्रभावित किया।

महाकाव्य, प्राचीन लक्षणकारों के अनुसार एक तो "प्रबन्धकाव्य" होता है तथा जिसका सर्गबद्ध होना भी आवश्यक माना गया है। उसमें महान् चरित्र वर्णित होता है और वह आकार में बड़ा भी होता है। उसमें अर्थ-सौष्ठव के साथ अलङ्कृत भाषा होती है।

प्रसङ्गतः मन्त्रणा, दूतप्रेषण, युद्ध तथा नायक के अभ्युदय की चर्चा होती है। नाटकीय सन्धि का प्रयोग होता है। धर्म आदि पुरुषार्थ चर्चित होते हैं और व्यवहार एवं रसों का असंकीर्ण रूप से संयोजन होता है।

दण्डी ने कुछ और स्पष्ट करते हुए कहा है कि सर्ग न तो बहुत बड़े हों और न हीं बहुत छोटे। साथ ही उनकी संख्या आठ से अधिक हो और सर्ग के अन्त में आगामी कथावस्तु की सूचना हो। सन्ध्या, सूर्योदय आदि प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन किया जाय तथा वीररस के प्रसंगों में युद्ध आदि वर्णित हों।

प्रबन्ध काव्य में रसों के संयोजन के औचित्य को लेकर आचार्य आनन्दवर्धन ने बहुत सूक्ष्म चर्चा की है। आगे के आचार्यों ने जिनमें रुद्रट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ मुख्य हैं, उपर्युक्त बातों को ही कुछ और जटिल या रूढ़िबद्ध कर डाला है। जैसे, छन्द के प्रयोग की बात को लीजिये। प्रत्येक सर्ग में छन्द या तो एक ही हो और सर्ग के अन्त में उसमें परिर्वतन किया जाय और ऐसा भी नहीं, अनेक छन्द भी प्रयुक्त हो सकते हैं। जहां तक सर्गों के न बहुत बड़े या न बहुत छोटे होने की बात है उसकी कोई इयत्ता निर्धारित न करके आचार्यों ने रचनाकारों को बहुत छूट दे रखी है। सर्गों में कहीं तो शताधिक पद्य होते हैं और कहीं पच्चीस या तीस। सर्गों की संख्या पर भी किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं रखा गया है। केवल आठ सर्गों से अधिक की बात तो कही गयी, किन्तु उनकी अन्तिम सीमा निर्धारित नहीं की। फलतः कुछ महाकाव्य के सर्ग पचास-साठ की संख्या भी पार कर गये। वीररस और युद्ध आदि की चर्चा करके महाकाव्य के नायक को क्षत्रिय एवं राजा होने की सीमा में बांधने की भी बात है। नायक के देवता या उदात्त-चरित व्यक्ति होने की भी बात कही गयी है।

आधुनिक काल में, जिसकी काल सीमा संस्कृत में १८ वीं शती के अन्त से अब तक मानी गयी है, महाकाव्यों की लेखन-परम्परा मात्र अक्षुण्ण ही नहीं रही, बल्कि उसमें एक भिन्न प्रकार की गति एवं कुछ विशेष परिवर्तन भी लक्षित किये गये। संस्कृत में महाकाव्य लेखन की जो सुदीर्घ परम्परा आज भी अक्षुण्ण बनी हुई है, यह कुछ कम आश्चर्य की बात नहीं, जब कि समकालीन भाषाओं के साहित्य में वह बहुत कुछ शिथिल या उपेक्षित हो गयी। संस्कृत ही एक ऐसी भाषा है जिसमें साहित्य का निर्माण लगभग अखिल भारतीय स्तर पर होता है, इस तथ्य का अपलाप नहीं किया जा सकता। संस्कृत में महाकाव्य लेखन-परम्परा के आज भी अक्षुण्ण बने रहने के कारणों के तथा अन्य समकालीन भाषाओं के साहित्यों में उस परम्परा के शिथिल हो जाने के कारणों के विश्लेषण के पचड़े में हम यहां पड़ना नहीं चाहेंगे। मात्र हम यहां यह कहना चाहेंगे, कि संस्कृत में महाकाव्य विधा को लेकर जहां परम्परागत लक्षण मान्य रहे, वहीं अन्य साहित्यों में पाश्चात्त्य साहित्य के पुष्कल प्रभाव के कारण बहुत कुछ बदल दिये गये अथवा बहुत उपेक्षित हो गये। समकालीन भाषाओं के साहित्य में, आधुनिक काल में भी पद्य ही भावाभिव्यक्ति का बड़ा शक्त माध्यम बना रहा और "महाकाव्य" विधा में आज के संस्कृत के कवि ने अपने न केवल

कवित्व को सहजता से अभिव्यक्ति देने में सौविध्य का अनुभव किया, प्रत्युत गृहीत विषय को एक व्यापक आयाम भी देने के अपने लक्ष्य की सिद्धि में उसने अपने को बहुत कुछ समर्थ अनुभव किया। यहां तक कि उसे अन्य समकालीन भाषाओं के साहित्यकारों की भांति भाषा के स्तर पर किसी प्रकार के संमार्जन के अतिरिक्त प्रयास की अपेक्षा नहीं हुई। उसे संस्कृत के प्राचीन महाकवियों द्वारा क्षुण्ण एवं प्रशस्त राजमार्ग मिला और अपनी सर्जनाशक्ति को सहज अभिव्यक्ति देने के लिए संस्कृत के विविध छन्द मिले। यद्यपि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक कहा है- "इसमें सन्देह नहीं कि संस्कृत के वर्णवृत्तों का माधुर्य अन्यत्र दुर्लभ है, पर उसमें भाषा इतनी जकड़ जाती है कि वह भाव धारा के मेल में पूरी तरह से स्वच्छन्द होकर नहीं चल सकती। (हि. सा. का इति. प्रकरण ४ काव्यखण्ड) किन्तु हम दृढ़ता से इतना कह सकते हैं कि संस्कृत के आधुनिक महाकाव्यकारों ने उस जकड़ी हुई भाषा में भी भावधारा को स्वछन्द होकर संचालित करने के प्रयास में कुछ अवश्य सफलता अर्जित की है। संस्कृत के प्रशस्त राजमार्ग पर चलने वाला आधुनिक संस्कृत कवि महाकाव्य विधा में "कथ्य" को बड़ी सरलता से ढाल लेता है।

जहां तक महाकाव्य के लक्षणों के अनुगत होकर चलने के बात है, संस्कृत के आधुनिक कवि ने प्राचीन लक्षणकारों, जैसे भामह और दण्डी के विचारों को तो कुछ स्वीकार किया, किन्तु विश्वनाथ द्वारा "साहित्यदर्पण" में प्रस्तुत "महाकाव्य" के लक्षण के अनुगमन को सम्पूर्णतया स्वीकार नहीं किया; क्योंकि उसमें अधिक पारतन्त्र्य का उसे अनुभव हुआ। साथ ही उसने "महाकाव्य विधा" को अपनी प्रतिभा के आधार पर युगानुरूप कुछ परिवर्तित एवं कुछ सम्मार्जित करने का भी प्रयास किया। उसने कल्पनालोक में उड़ान भरने की अपेक्षा वास्तविक जगत् के सुख-दुःख के अनुगुम्फन को अधिक प्रश्रय दिया और मानवीय संवेदना के स्तर पर भी समधिक जागरूकता दिखायी। इस प्रकार परम्परागत रूढ़ियों से कुछ मुक्त होकर आधुनिक संस्कृत कवि ने "महाकाव्य विधा" में लेखन को एक नये आयाम में प्रस्तुत किया।

इस नये आयाम की बात को समझने के लिए हमें नैषधीयचरित के बाद अकस्मात् महाकाव्य लेखन-परम्परा के लुप्त नहीं तो शिथिल हो जाने की स्थिति पर ध्यान देना होगा। वास्तव में नैषध के बाद संस्कृत में ऐसा महाकाव्य निर्मित नहीं हुआ जो उसके जैसा प्रभावोत्पादक होता। बिल्हण के विक्रमाकदेवचरित और नीलकण्ठ दीक्षित के शिवलीलार्णव को उत्तम कोटि की रचना के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, फिर भी उनमें रूढ़ियों की गतानुगतिकता और उबाऊपन अधिक होने के कारण कोई नई काव्यचेतना का स्पर्श नहीं है।

नैषध के बाद अठ्ठारहवीं शती तक के महाकाव्यों में कोई विशिष्ट रचना इस कारण नहीं आ सकी, क्योंकि कवियों ने अधिकतर तो किसी आश्रयदाता के गुणगान में महाकाव्य लिखे और उनका काव्यनिर्माण "स्थिति का निर्वाह" मात्र होकर रह गया, सहृदयों को रसाप्लावित करना उसका लक्ष्य नहीं रहा। यदि आश्रयदाता का गुणगान नहीं किया तो

किसी देवी-देवता को लेकर उनका चरितगान कर दिया। वैसे यह प्रवृत्ति पूरे संस्कृत काव्य-जगत् में, यहां तक कि आधुनिक काल में भी प्रवर्तमान रही, फिर भी आगे चल कर इसमें बहुत कुछ अन्तर भी आया।

उन्नीसवीं शताब्दी में, जब भारत पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में आया, अंग्रेजी के माध्यम से पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान का चमत्कार फैला, तब संस्कृत कवि का मन उससे अप्रभावित न रहा। उसे लेखन के नये आयाम सहज रूप से मिलते गये, और बाद में तो राष्ट्रियता की लहर ने उसे सराबोर कर दिया, किन्तु फिर भी उसकी 'गुणगान' वाली मानसिकता बनी रही। उसने अंग्रेज शासकों के गुणगान में भी काव्य लिखे। और आगे चलकर तो अनेक राष्ट्रभक्त नेताओं के तथा समाज सुधारकों के उदात्त जीवन को लेकर आधुनिक संस्कृत साहित्य के कवियों में महाकाव्य लेखन की होड़ सी लग गई।

जहां तक आधुनिक संस्कृत साहित्य में महाकाव्य-लेखन की बात है, रामपाणिबाद (१७०७-१७८१) के महाकाव्य राघवीयम् से माना जा सकता है। यद्यपि ऐसी कोई रेखा खींच सकना कि महाकाव्य लेखन में कब प्राचीन युग समाप्त हुआ और कब नवीन युग, जिसे आधुनिक काल कहते हैं, आरम्भ हुआ, बहुत कठिन है। वैसे जहां तक प्राचीनता और नवीनता की मूल धाराओं की बात है, दोनों आधुनिक काल के महाकाव्यों में सम्मिलित रूप से प्रवाहित रही हैं। आधुनिक संस्कृत साहित्य के कवियों ने शताब्दियों से चली आ रही "सर्गबन्ध" वाली इस विधा को बहुत कुछ भामह, दण्डी, उद्भट, विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत लक्षणों के अनुसार ही कुछ परिवर्तनों के साथ अपनाया और इस प्रकार उनके द्वारा महाकाव्य-लेखन को प्रश्रय मिला।

परवर्ती काल में, जब महाकाव्य का लेखन अपकर्ष की ओर था, कवियों ने अपने आश्रयदाताओं को जीवन का आधार बनाकर चरितप्रधान महाकाव्य के लेखन पर अधिक ध्यान दिया। इसके साथ ही परम्परा से चले जा रहे उपजीव्य ग्रन्थों-रामायण, महाभारत तथा पुराण आदि से कथानकों को लेकर महाकाव्य का लेखन कभी शिथिल नहीं हुआ।

यद्यपि इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं कि कितने रामपरक, कितने कृष्णपरक तथा कितने शिवपरक महाकाव्य लिखे गये तथापि आधुनिक संस्कृत साहित्य के विचारकों (प्रो. श्रीधर भास्कर वर्णेकर और प्रो. हीरालाल शुक्ल) ने इस प्रकार के विभाजनों पर विचार किया। यह सही भी है कि भारतीय जीवन को बहुत दूर तक इन महनीय चरितों ने प्रभावित किया है और आधुनिक काल के कवि के लिए भी यह एक प्रशस्त राजपथ सिद्ध हुआ।

संस्कृत के आधुनिक रचनाकार ने, चाहे वह महाकाव्य का रचयिता हो चाहे अन्य विधाओं में लिखता हो, युग के प्रवर्तमान से कुछ प्रभावित होने पर भी अपने को अपनी उदात्त परम्परा से कभी अलग नहीं किया है। महाकाव्य-विधा में उसका लेखन इस तथ्य का सबसे पुष्ट प्रमाण है। फिर भी उसने न केवल कथानक या पात्र के चयन में नवीन युग से प्रभाव ग्रहण किया वरन् भावाभिव्यक्ति और भाषा के सौष्ठव को भी नये युग के अनुरूप करने का प्रयास किया।

आधुनिक काल के उदय के पूर्व, लगभग सभी मुख्य भारतीय भाषाओं के साहित्य में लेखन किसी न किसी रूप में विकसित हो चुका था, किन्तु प्रायः सबने, पं. रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, चिरकाल से संस्कृत की परिचित और भावपूर्ण पदावली का आश्रय किया था (हि. सा. का इति. पृ. २४४)। संस्कृत के मूल उत्स से प्रभाव ग्रहण करके उनके रचनाकार अधिकतर अपने को स्थापित करते रहे, किन्तु आधुनिक काल में, सबमें अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की चेतना विकसित हुई। इसके मूल में उन्नीसवीं शताब्दी की बदली हुई राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थिति का मुख्य योगदान माना जा सकता है। और जब, १९४७ ई. में भारत राष्ट्र के क्षितिज पर स्वातन्त्र्य का सूर्योदय हुआ, तब और भी उद्दाम गति से वह धारा प्रवाहित होने लगी। स्वातन्त्र्यपूर्व जो मुक्ति के लिए संघर्ष था, स्वातन्त्र्य प्राप्ति के पश्चात् वह एक प्रबल उल्लास में परिवर्तित हो गया। तब महाकाव्य जैसी गम्भीर विधा में लेखन, और वह भी प्रभूत मात्रा में हुआ। इसे आधुनिक संस्कृत कवियों की एक अतिरिक्त सुदृढ़ मानसिकता का परिचायक तो माना ही जा सकता है।

हम कह चुके हैं कि नवजागरण काल ने भारतीय साहित्य की धारा को एक गति दी और साथ ही एक नया आयाम भी दिया। संस्कृत का साहित्यकार भी शताब्दियों से चली आ रही परम्परा के प्रतिबद्ध होकर भी राष्ट्रवाद की चेतना से मुखर हुआ। यद्यपि उसने अंग्रेज शासकों की प्रशस्ति में भी महाकाव्य की रचना की, तथापि उसने सब ओर से नवयुग में उत्पन्न होने वाली समाज की प्रत्येक धड़कन को सुना और क्रान्ति के गीत गाये। धीरे-धीरे, बीसवीं शती में तो वह प्रखर भाषा में लेखन में प्रवृत्त हुआ। और जब राष्ट्र स्वतन्त्र हुआ तब वह उल्लसित होकर नाना विधाओं में लेखन करने लगा। उसने अनेक राष्ट्रीय वीर महापुरुषों के जीवनचरित को आधार बनाया और इतनी मात्रा में महाकाव्य लिखे जितनी मात्रा में अन्य भाषाओं के साहित्य में नहीं लिखे गये। यहां तक कि उसने परम्परा की लीक से हट कर उच्च कोटि की आदर्शभूत महिलाओं के जीवन पर महाकाव्य रचे।

आधुनिक संस्कृत साहित्य के महाकाव्यों के एक आलोचक डा. रहस बिहारी द्विवेदी को, स्वतन्त्रताप्राप्ति के बाद संस्कृत की दीर्घकाय विधा, महाकाव्य के लेखन की ओर कवियों की साधना सुखद आश्चर्य का विषय लगती है, किन्तु यह संस्कृत के रचनाकार की विवशता भी हो सकती है; क्योंकि उसे शताधिक महाकवियों द्वारा क्षुण्ण एवं प्रशस्त महाकाव्य के राजमार्ग पर चलने में जितना सौविध्य प्राप्त था उतना अन्य विधाओं, विशेषकर गद्यविधा के लेखक को नहीं। यह भी बहुत सरलता से स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए कि उसने जितनी मात्रा में अधिक महाकाव्य लिखे उतनी ही मात्रा में उसका कवित्व भी अपनी गुणवत्ता के कारण अपना विशेष महत्त्व स्थापित कर सका है। इस दिशा में अभी और गहराई में उतर कर विशकलन की अपेक्षा है।

यह अलग बात है कि आधुनिक संस्कृत कवियों ने अपने महाकाव्य में जिन स्वनामधन्य महापुरुषों के चरित को आश्रय बनाया उनके कारण उनकी वाणी एक अतिरिक्त पवित्रता के स्पर्श से सार्थक हो गयी।

वैसे तो आधुनिक संस्कृत साहित्य के रचनाकार ने महाकाव्य लेखन में प्राचीन रचनाकारों की गतानुगतिकता को प्रश्रय दिया तथापि उन्होंने कुछ विशेष आकलनीय प्रयोग भी किये।

कुछ कवि ऐसे हैं, जिन्होंने सम्पूर्णतया प्राचीन माघ, भारवि, श्रीहर्ष की अलङ्कृत शैली पर महाकाव्य रचे तो कुछ ने प्राचीन कथावस्तु में नये युग की जीवन-दृष्टि को अनुस्यूत करने का प्रयास किया। कुछ तो काव्यलेखन के नाम पर शुद्ध इतिवृत्तात्मक पद्धति अपना कर ही महाकाव्यकारों की श्रेणी में उल्लेखनीय हो गये। निश्चय ही कुछ कवियों में अपने कवित्व के प्रति पूर्ण जागरूकता है, किन्तु ऐसे भी रचनाकार महाकाव्य-लेखन में प्रवृत्त हुए जिनमें संस्कृत व्याकरण तथा छन्दःप्रयोग के परिनिष्ठित ज्ञान का बहुत कुछ अभाव प्रतीत होता है। मात्र उनकी दृष्टि में, किसी उदात्त चरित या किसी राष्ट्रनायक के प्रशस्तिगान की त्वरा या सस्ते यशोलाभ के उद्देश्य का सहज अनुमान होता है। प्रकाशन एवं प्रचार के इस युग में, जो जितना सफल होता है उसे ही आदर्श मान लिया जाता है, किन्तु यथार्थ की खोज करने वाली दृष्टि कुछ और ही चाहती है।

निश्चय ही संस्कृत का आधुनिक कवि, वह चाहे महाकाव्य का रचयिता हो अथवा गीतकार हो कुछ अपवादों को छोड़कर समाज के सुख-दुःख की सहानुभूति का भाव रखता है, और सर्वथा समाजोन्मुख है। उसने मध्यकाल की श्लथ शृङ्गार वाली प्रवृत्ति से लगभग संन्यास ले लिया है। यह उसकी सबसे बड़ी विशेषता है कि वह भले ही अपने को किसी जातिविशेष के संस्कार से घिरा अनुभव करे, किन्तु उसका कथ्य सर्वथा विश्वजनीन होता है। उसने लघुचेतस् लोगों की प्रवृत्ति को कभी प्रश्रय नहीं दिया। उसकी राष्ट्रिय चेतना किसी एक देश या किसी जाति विशेष से प्रतिबद्ध नहीं है।

जहां तक महाकाव्य-विधा में लेखन का प्रश्न है, इस युग में राम पाणिवाद (१७०७-१७८१) से लेकर एडवर्डवंशम् के रचयिता उर्वीदत्त शास्त्री (१८७५) तथा उनके जैसे अनेक समासामयिक महाकाव्यकारों तक पूर्वकाल से चली आ रही इस विधा में अनुगत लेखन को प्रश्रय मिला। एक ओर कवियों ने कालिदास, भारवि, माघ और नैषध की परम्परा में महाकाव्य लिखे तो दूसरी ओर महापुरुषों के उदात्तचरित को अपना कर लिखने की प्रवृत्ति को प्रश्रय दिया। ये महापुरुष किसी प्रकार के शासक नहीं थे। ऐसे काव्य हैं- महेशचन्द्र तर्कचूडामणि का भूदेवचरित, दुःखभञ्जन कवि का चन्द्रशेखरचरित, रामवर्म-तम्पुरान का शङ्करगुरुचरित, वेमूरी रामशास्त्री का गुरुकल्याणम्, अखिलानन्द शर्मा का दयानन्ददिग्विजयम् आदि। विशेष उल्लेखनीय है कि इस युग में कामाक्षी का अभिनवरामायण महाकाव्य लिखा गया, जो किसी नारी द्वारा सम्भवतः संस्कृत में लिखित सबसे पहला महाकाव्य है। इसी युग में, परम्परागत महाकाव्य लेखन की पद्धति से बिल्कुल अलग, आत्मचरितपरक महाकाव्य भी रचित हुए, जैसे कोरदरामचन्द्र कवि का स्वोदयकाव्यम् और चुनक्कर राम वारियर का २० सर्गों में प्रस्तुत रामात्मचरित। इसी क्रम में मधुसूदन मिश्र का स्वेतम् (महाकाव्य) भी उल्लेखनीय है। अपने विशिष्ट कवित्व या पाण्डित्य के प्रकाशन

के लिए इस काल में ऐसे भी काव्य रचे गये जिन्हें द्व्यर्थी काव्य या पाणिनीय सूत्रों की योजना के अनुसार लिखित भट्टिकाव्य की परम्परा का काव्य कहा जा सकता है, जिनका महत्त्व भले ही कालक्रम से घटता गया, पर लिखे जाते रहे हैं।

आज जब बीसवीं शताब्दी के हम अन्तिम दशक में पहुंच गये हैं, आधुनिक संस्कृत के महाकाव्य-लेखन में भी और अधिक विकास और सामाजिक राष्ट्रिय चेतना का सम्मिश्रण अनुभव करते हैं। इस काल के कवियों ने अपनी परम्परा का अनुसरण तो किया, किन्तु उनकी लेखनी में सामायिक चेतना के अनुकूल कथावस्तु को ढालने की विशेष प्रवृत्ति लक्षित होती है। साथ ही उन्होंने लक्ष्मीबाई जैसी वीराङ्गना के चरित को भी महाकाव्य लेखन का आधार बनाया। यहां तक कि अपने राष्ट्र की सीमा से ऊपर उठकर लेनिन जैसे क्रान्तिकारी महापुरुष पर भी महाकाव्य का प्रणयन किया। और फिर रामचरित का, राष्ट्र की सीमा से बाहर फैले स्वरूप को आत्मसात् करके उसने महाकाव्य की रचना की है।

परवर्ती संस्कृत के आधुनिक साहित्यकारों, विशेषकर महाकाव्यों की दृष्टि से जो परिवर्तन स्पष्ट लक्षित होता है वह शृङ्गार के प्रति सम्मान का शैथिल्य है। शृङ्गार, जो अधिकांश में प्राचीन संस्कृत साहित्यकारों की रचनाधर्मिता को एक प्रकार से ग्रस चुका था और दूर तक श्लथ शृङ्गारप्रधान वर्णनों में पर्यवसित हो चुका था, इन कवियों द्वारा प्रायः उपेक्षित हुआ। उसका स्थान वीर रस ने लिया। राष्ट्र के प्रति समर्पित हुतात्मा वीरों का शौर्य-वर्णन इन रचनाकारों का मुख्य उद्देश्य हो गया। साथ ही ऐसे साधुचरित महापुरुषों को इन्होंने आश्रय बनाया जिनकी देश की सामाजिक कुरीतियों के निराकरण में बहुत महनीय भूमिका रही, जैसे स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द आदि। इस प्रकार वीररस के अतिरिक्त यदि दूसरा रस अपनाया गया तो वह शान्त रस था। और एक विशेष बात यह भी प्रतीत होती है कि जो प्राचीन कवियों की अपने आश्रयदाताओं की प्रशस्तिगान वाली मानसिकता थी वह इन कवियों में सम्पूर्णतया शिथिल हुई और वर्णनों में संक्षिप्तता के साथ मौलिकता भी आयी, वर्णन मात्र के लिए वर्णन की परम्परा का भी सम्पूर्णतया ह्रास हुआ।

सङ्क्रान्तिकाल के कवि

राम पाणिवाद (केरल १७०७-१७८१) अठ्ठारवीं शताब्दी के इस महान संस्कृत कवि ने 'राघवीयम्' (त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज में प्रकाशित, सं. १४६) महाकाव्य के अतिरिक्त अनेक विधाओं में काव्य रचना की। इनके काल और परिचय को लेकर विद्वानों में पर्याप्त मत-भेद है। कुछ विद्वान् इन्हें कुंजन नम्बियार से अभिन्न मानते हैं तो कुछ भिन्न। यद्यपि इन्हें हम आधुनिक संस्कृत साहित्य की काल-सीमा के अन्तर्गत नहीं रख सकते, तथापि प्राचीन काल और आधुनिक काल के बीच की कड़ी के रूप में रखना उचित समझते हैं, क्योंकि इनमें एक ओर कुछ स्पष्ट रूप से प्राचीनता भासित होती है तो इन पर कुछ झीना-झीना सा आधुनिकता का भी आवरण झलकता है। डॉ. हीरालाल शुक्ल ने इन्हें आधुनिक काल में स्थान दिया है।

राम पाणिवाद के द्वारा रचित राघवीयम् बीस सर्गों का महाकाव्य है, जो राम के जन्म से लेकर राज्याभिषेक की कथा पर आधारित है। मूल रामकथा में कवि ने कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया है। महाकाव्य के परम्परागत लक्षण पर आधारित यह काव्य एक ओर भगवान् राम के उज्ज्वल चरित्र को बड़ी सफलता के साथ तो प्रस्तुत करता ही है, राम-कथा के अनेक पात्रों के चित्रणों में भी एक अलग आकर्षण की अनुभूति कराता है। इसका मूल कथ्य मानव जीवन में परोपकार के महान् लक्ष्य को प्रस्तुत करना प्रतीत होता है। एकादश सर्ग में वालि-वध के बाद वानरराज सुग्रीव जब राम को अपने दिये वचन को भूल जाता है तब उसके प्रति कोप का भाव मन में रखकर राम लक्ष्मण से कहते हैं-

यः परार्थपरवत्तया परं शेष इत्यभिहितो भुजङ्गराट्।
तं कथञ्चिदनुयातुमीहते यः स एव भुवने पुमान् पुमान् ।। ३८।।

अर्थात् जो नागराज परकार्य में प्रवृत्त होने के कारण 'शेष' कहे जाते हैं उन्हें किसी प्रकार जो अनुगमन करना चाहता है संसार में वह पुरुष पुरुष है। इसी क्रम में राम कहते हैं- अपना प्रयोजन सिद्ध करते हुए भी कोई स्वभावतः दूसरे का कार्य भी कर देता है, जैसे अग्नि इन्धन का भक्षण करता है और साथ ही अन्धकार को दूर करता है। हमारे बाण उन्हें छोड़कर कहां गिरेंगे, जो अपने कार्य की सिद्धि के लिए दूसरों के प्रयोजन के लिए वचन देकर भी उदासीन हो जाते हैं।

प्रस्तुत महाकाव्य में कला-पक्ष और भाव-पक्ष दोनों सहज भाव से निभाये गये हैं और वस्तुतः कवि को इसमें पर्याप्त सफल माना जा सकता है। एक ओर अनेक प्राकृतिक दृश्यों के वर्णनों में स्वाभाविकता है तो दूसरी ओर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा जैसे अर्थालङ्कारों के साथ श्लेष, यमक और अनुप्रास को भी यत्किञ्चित् प्रश्रय मिला है। कवि की शैली विषय के अनुरूप कहीं-कहीं परिवर्तित होती रहती है। भाव-पक्ष को बड़ी सावधानी के साथ कवि ने निभाया है। कैकेयी द्वारा दो वरों के मांगने के प्रसङ्ग में कवि ने रूपक का आश्रय लिया है-

केकयेन्द्रदुहितुर्मुखगर्तादुत्सृता वरयुगद्विरसज्ञा।
वाङ्मयी तमथ मूर्च्छयति स्म द्राङ्नरेन्द्रमपि कालभुजङ्गी ।। ५/३८।।

(कैकेयी के मुख के गर्त से निकली, दो वरों की दो जीभों वाली वाणी की काली नागिन ने उस नरेन्द्र (राजा दशरथ, श्लेष से सपेरे) को भी मूर्च्छित कर डाला।)

लङ्का में हनूमान जब प्रथम बार सीता को देखते हैं तब उन्हें एक ही साथ नाना रसों (भावों) की अनुभूति होती है-

सैवेयं जनकात्मजेति मुमुदे शोकानलज्वालया
व्यालीढेति शुशोच रावणहृतेत्युच्चैरदृप्यत् क्रुधा।

यत्नो मे फलवानसूनजहती यद् दुर्बलानप्यसौ
संदृष्टेति समाश्वसीदिति हरिर्नानारसोऽभूत् क्षणम् ।। १२/६३।।

(यह वही जनक-पुत्री है इस कारण प्रसन्न हुए, शोकाग्नि की ज्वाला से ग्रस्त है इस कारण दुखी हुए, रावण द्वारा हृत है, इस कारण क्रुद्ध हुए, यह दुर्बल प्राणों को भी नहीं त्याग करती हुई मेरे दृष्टिगोचर हो रही है अतः मेरा यत्न सफल हुआ, इस कारण आश्वस्त हुए, इस प्रकार हनुमान ने नाना रसों का एक ही साथ अनुभव किया।)

जगज्जीवन भट्ट - (राजस्थान १७४०) मारवाड के शासक महाराजा अजित सिंह के चरित्र पर समसामयिक कवि जगज्जीवन भट्ट द्वारा लिखित ऐतिहासिक 'अजितोदय' महाकाव्य श्री नित्यानन्द दाधीच द्वारा सम्पादित होकर १९८६ ई. में प्रकाशित हुआ। (प्रकाशन-महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाशन, मेहरानगढ़ म्यूजियम, जोधपुर)।

३२ सर्गों का यह महाकाव्य राजपुताना के इतिहास के १६७४ से लेकर १७२४ तक के कालखण्ड पर आधारित है। इस कालखण्ड में 'अवरंगजेब' ने मारवाड़ को हथियाने का प्रयास किया, पर बाद में वह दकन की ओर मुड़ने के लिए बाध्य हुआ, जहां १७०७ में उसकी मृत्यु हुई। यह महाकाव्य जसवन्त सिंह (प्रथम) की मंदाब नदी के तट पर पठानों पर विजय की घटना से आरम्भ होता है और मथुरा में अजित सिंह के उत्तराधिकारी पुत्र अभय सिंह को जयपुर के महाराज जयसिंह की कन्या के साथ विवाह की घटना तक समाप्त होता है।

कवि जगज्जीवन भट्ट श्री कृष्ण का भक्त है, क्योंकि वह मङ्गलाचरण पद्य में श्रीकृष्ण के प्रति नमन निवेदित करता है और आगे भी उसने कृष्ण-भक्ति परक अनेक पद्य लिखे हैं (१८/८०-९३)। वह प्रथम सर्ग के दूसरे पद्य में विनय निवेदित करते हुए कहता है-

शास्त्रज्ञो न च शाब्दिकोऽस्म्युत महासाहित्यविन्नास्म्यहं
नो जानाम्यहमद्भुतार्थविलसत्सत्काव्यसंयोजनाम्।
देवी काचिदिहाब्जयोनितनया पाणिस्थवीणाकल-
क्वाणानन्दरता निरीक्ष्य सुजडं ब्रूते तु मत्कण्ठगा।।

अर्थात् न मैं शास्त्रों का ज्ञाता हूं, न वैयाकरण हूं, न साहित्य का ज्ञान रखता हूँ और न ही चमत्कारी अर्थों से युक्त सत्काव्य की संयोजना जानता हूं। केवल मुझ जड़ को देखकर वीणावादिनी देवी सरस्वती मेरे कण्ठ में स्थित होकर बोल रही है।

आरम्भ के दस सर्गों में केवल वसन्ततिलका और बाद के सर्गों में शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा तथा अन्य कुछ छन्दों में रचित इस विशाल ऐतिहासिक महाकाव्य की कथानक-संरचना में कवि काल्पनिक पौराणिकता का भी आश्रय लेता है। जैसे, चिन्तित नारद का स्वर्ग में इन्द्र के पास जाना, इन्द्र को लेकर ब्रह्मा के पास और ब्रह्मा का क्षीरसागर के तट पर आकर

भगवान विष्णु से प्रार्थना करना आदि। यहां काव्य-नायक अजित सिंह को इन्द्र के अवतार के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि आद्योपान्त ऐतिहासिक स्थानों, व्यक्तियों और घटनााओं से भरपूर इस काव्य का कवित्वपक्ष दबा हुआ प्रतीत होता है, तथापि कवि अपनी बात कहने के लिए अलंकारों का आश्रयण लेता है। जैसे, विनोक्ति का प्रयोग-

सूर्यं विना दिनगणः सदनं विनार्थमृद्धिं विना वितरणं सुवचो विना वै।
सद्गौरवं सरसिजं च विना सरो हि सुश्रीकतामपि न याति कुलं विपुत्रम् ।। ३/६

(सूर्य के बिना दिनसमूह, धन के बिना गृह, समृद्धि के बिना दान, सुवाणी के बिना सद्गौरव, कमल के बिना तालाब और पुत्र के बिना कुल सुशोभित नहीं होता।)

यह कवि भी संस्कृत साहित्य के इतिहास के प्राचीन और आधुनिक काल की देहली पर स्थित है। एक ओर जहां राम पाणिपाद ने महाकाव्य में भारभूत वर्णनों के आधिक्य को कम प्रश्रय दिया, वहां दूसरी ओर जगज्जीवन भट्ट ने अपने कवित्व को सर्वथा कल्पना-जाल के वशीभूत नहीं किया और बहुत कुछ अपने नायक के जीवन से सम्बद्ध घटनाओं की ऐतिहासिकता को सुरक्षित रखा।

उल्लेख्य है कि **बालकृष्ण** ने भी दस सर्गों में अजितोदय महाकाव्य लिखा है, जिसमें डॉ. हीरा लाल शुक्ल के अनुसार जगज्जीवन की रचना की अपेक्षा कुछ रसमयता है।

रूपनाथ झा (मध्य प्रदेश अनुमानतः १७६०)- कवि रूपनाथ या रूपनाथोपाध्याय मूलतः मिथिला (बिहार) के निवासी थे, किन्तु उनके पूर्वज मध्यप्रदेश में जा बसे थे। मध्यप्रदेश के माडला या माहिष्मती से पूर्व इन्होंने रामटेक में भी निवास किया था, जहां इनके द्वारा उपार्जित धन-राशि को लुटेरे लूट ले गये। इन्होंने दो महाकाव्यों की रचना की- श्रीरामविजयमहाकाव्य और गढेशनृपवर्णनम्। दूसरा ऐतिहासिक महाकाव्य है जिसमें डॉ. ही. ला. शुक्ल के अनुसार मांडला के गोंड राआओं का वर्णन है। इसके अन्तिम ५४ श्लोकों में अन्तिम शासक सुमेदसाहि (१७८६) की चर्चा है तथा जो १७६०-१७६६ के बीच रचित है। श्रीरामविजय महाकाव्य गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, बनारस से १६३२ में पं. गणपतिलाल झा शर्मा द्वारा सम्पादित होकर पं. नारायण शास्त्री खिस्ते की भूमिका के साथ प्रकाशित हुआ । इसके ६ सर्गों में मृगया के लिए वन गये दशरथ को मुनि द्वारा शाप दिये जाने के प्रसंग से लेकर रावण-बध के पश्चात् श्रीराम के राजसिंहासनाधिरोहण तक का कथा-भाग उपनिबद्ध है। महाकाव्य के परम्परागत लक्षणों पर आधारित इस रचना का आरम्भ शाक्त कवि ने उग्र काली (श्यामा) की स्तुति से किया है।

प्रथम सर्ग में महाराज दशरथ मृगया के लिए वन जाते हैं और उनके बाण से श्रवण के मरने और उसके माता-पिता के द्वारा शाप दिये जाने का मार्मिक प्रसङ्ग है। कवि ने शिखरिणी छन्द में निर्मित सर्ग के अनेक पद्यों के तृतीय पाद में यमक अलंकार का प्रयोग किया है जो "अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य" न होने के कारण कांव्यार्थ बोध में बाधक हो गया है, किन्तु बाद के विभिन्न छन्दों में निर्मित सर्गों में इस आरोपित यमक-प्रयोग के आग्रह के

मुक्त हो जाने से कवि की रचना में सम्प्रेषणीयता आ गयी है। छोटे से फलक पर भी एक बृहद् राम-कथा के प्रसंगों को उल्लिखित करने के कारण कवि कहीं तो घटना को संकेतित क.रके आगे बढ़ जाता है तो कहीं रम जाता है। द्वितीय सर्ग के धनुर्भङ्ग प्रसङ्ग में परशुराम-लक्ष्मण संवाद पर गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस का प्रभाव ग्रहण ही नहीं, कविने अनुवाद भी निःसंकोच किया है। यही बात भरत द्वारा कैकेयी की भर्त्सना के प्रसंग में है। कवि ने कहीं समुचित शब्द शय्या एवं अलंकार द्वारा वर्ण्यविषय को आकर्षक बना दिया है।

राम के शुभ विवाह में जनक के आमन्त्रण पर बारात को लेकर महाराज दशरथ मिथिला पहुँचे। घोड़ों, ऊटों की स्वाविभाविक स्थिति का कवि ने वर्णन किया है-

वाहा रयैर्निर्जितगन्धवाहा उरोविशाला लघुकर्णशालाः।
आवर्तयुक्ताः शुभशंसिशुक्तियुता निबद्धाः पटमण्डपेषु ।।३/४१
उत्तारिते पृष्ठत एव वाहाः पल्याणके क्षोणितले लुठित्वा।
स्कन्धान् मुहुः सन्दुधुवुः सपाशून् सशब्दभाण्डं परिधूतखेदम्।।
श्रीवृक्षकी वाजिवरः शुभंयुर्वक्षोभवावर्तचतुष्टयेतः।
कण्ठे महावर्तविरोचमानः समीप एवाजिनृपस्य तस्थौ।।
भारे समुत्तारित एव चोष्ट्रवृन्दं म्रदीयश्छदनं विहाय।
आम्रादिकं निम्बपलाशमादू रुचिर्विभिन्ना खलु जीवजातेः।।
उक्षाण उत्तारितभार एव तले निषण्णा धरणीरुहाणाम्।
रोमन्थकं चक्रुरलं श्रमेण चलत्कपोलं सुनिमीलिताक्षम्।। ३/४१-४५

(विशाल वक्ष तथा छोटे कानों वाले, आवर्त तथा "शुक्ति" के शुभ लक्षणों से युक्त पट-मण्डपों में बंधे घोड़े वेग से हवा को जीतने की क्षमता रखते थे। वे घोड़े पलान के पीठ से हटा दिये जाने पर, जमीन पर लोट कर धूल-भरे कंधे बारबार झाड़ने लगे और भड़्-भड़् की आवाज करने लगे। उनमें श्रीवृक्षकी नाम का श्रेष्ठ घोड़ा, जिसकी पीठ पर चार "आवर्त" थे और कण्ठ में बड़ा "आवर्त" था, राजा के समीप ही खड़ा हो गया। और उष्ट्र-वृन्द भार के उतारे जाने पर मृदु छाया वाले आम आदि को छोड़ नीम के पत्तों को ग्रहण करने लगा। प्राणियों की रुचि अलग-अलग होती है। और भार उतारे जाने पर पेड़ों के नीचे बैठे, आंखें बंद किये, कपोल का चालन करते हुए बैल "पगुरी" (रोमन्थ) करने लगे।)

विश्वेश्वर पाण्डेय (उत्तर प्रदेश १७०८-१७८८)- ये अल्मोड़ा लिजे के पाटिया ग्राम के निवासी थे। ये एक ही साथ कवि, गद्यकार और काव्यशास्त्र के आचार्य थे। आचार्य पं. बलदेव उपाध्याय के शब्दों में, ये अपने युग के महान् साहित्य स्रष्टा थे। इन्होंने लक्ष्मीविलास काव्य की रचना की। इनकी कृतियों में आर्यासप्तशती (मुक्तक काव्य) मन्दारमञ्जरी (गद्यकाव्य) और अलङ्कारकौस्तुभ अलङ्कार ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हुए।

सुब्रह्मण्य (केरल १७२४-१७६८) रामलिङ्गम् और कोकिलाम्बा के सुपुत्र सुब्रह्मण्य कार्तिक तिरुनाल रामवर्म महाराज के दरबार के कवि थे। कल्पना है कि ये तमिल ब्राह्मण थे। इन्होंने आठ सर्गों में पद्मनाभविजय महाकाव्य लिखा। नैषधकार के ढंग से इन्होंने प्रत्येक सर्ग के अन्त में अपने परिचय का पद्य लिखा।

आरूर माधवन् अडितिरि (केरल १७६५-१८३६) -केरल के प्राचीन कुच्चि राज्य के पेसवन से कुछ दूरी पर स्थित चेरु वत्तेरि स्थान के अरुरमठ में इनका जन्म हुआ। इन्होंने मनोरमा तम्बुराटी, देशमङ्गलम् आदि गुरुओं से विद्यार्जन किया तथा कोटिलिंग राजकुमारों को पढ़ाया। इनका उत्तरनैषधम् १६ सर्गों का महाकाव्य है जो १८३० ई. में पूर्ण हुआ।

श्याम भट्ट भारद्वाज (महाराष्ट्र) अठ्ठारहवीं शती के उत्तरार्ध में इनका जन्म हुआ। ये भारद्वाज गोत्रीय दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे तथा कोल्हापुर में रहते थे। इनके कुल में वाराणसी के प्रसिद्ध विद्वान् बाल शास्त्री और दामोदर शास्त्री हुए। इनके द्वारा १८२५ में निर्मित चालुक्यराजअय्यणवंशचरितम् १७ सर्गों का ऐतिहासिक महाकाव्य है, जो श्रीलालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली से १९६६ में प्रकाशित हुआ।

उन्नीसवीं शती के महाकाव्यकार

गोदवर्म युवराज (केरल) १८००-१८५१- कोटिलिंगपुर (कोटुङ्गल्लूर) के राज-भवन के विद्वान् इलय तम्पुरान के नाम से प्रसिद्ध इस कवि ने 'श्रीरामचरितम्' नाम के महाकाव्य की रचना की। इनका दूसरा महाकाव्य सोलह सर्गों का बाल्युद्भव या महेन्द्रविजय बताया जाता है, जो कवि की आरम्भिक रचना है। विद्वद्युवराज ने रामचरित को अपने जीवन काल के अन्तिम दिनों में लिखा था, अतः इसके १३वें सर्ग के ३१वें श्लोक मात्र तक वे लिख सके। इस रचना को उसी परिवार के कविसार्वभौम रामवर्म कोच्चुण्णि तम्पुरान या कोच्चुण्णिराज (१८५८-१९२६) ने चालीस सर्गों में लिखकर पूरा किया। श्रीरामचरित का प्रकाशन निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से हुआ था। इधर इसे १९८५ ई. में पं. के. पी. नारायण पिषारोटि, प्राध्यापक, कलिक्कट् आदर्श संस्कृत विद्यापीठ, बालुश्शेरी (केरल) ने सम्पादित करके इसी विद्यापीठ से प्रकाशित किया। विद्वद्युवराज की अन्य अनेक प्रसिद्ध रचनाओं में रससदनभाण उल्लेखनीय है। संयोग से कोच्चुण्णिराज द्वारा रचित "विद्वद्युवराजचरितम्" उक्त नये संस्करण के ३३८ से ३४६ तक के पृष्ठों में प्रकाशित है, जिससे कवि के जीवन और कृतित्व के सम्बन्ध में अत्यन्त प्रामाणिक सूचना प्राप्त होती है।

प्रस्तुत महाकाव्य श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण की कथा पर ही आधारित है। दोनों ही रचनाकारों ने मूल कथा में कोई परिवर्तन नहीं किया है। सम्पूर्ण महाकाव्य चालीस सर्गों में रचित है। इसे तीन भागों में विभक्त किया गया है-प्रथम तो विद्वद्युवराज निर्मित १-१३, द्वितीय भाग और तृतीय भाग कोच्चुण्णिराजरचित १४ से ३२ सर्ग तथा १-८ सर्गों का

उत्तररामचरितम्। यह सही अर्थ में एक महत् काव्य है, क्योंकि इसके संयोजन में दोनों ही रचनाकारों ने बड़े आटोप का आश्रयण किया है। वर्णनों के प्रति यहां विशेष आग्रह लक्षित होता है। जो बात या जो घटना थोड़े में कहीं जा सकती है उसे पूरे सर्ग में विस्तारपूर्वक प्रस्तुत करके तथा वर्णनों में नाना अलंकारों का नये तथा अछूते रूपों में संयोजन करके दोनों ही कवियों ने अपनी विलक्षण प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। कवि ने प्रथम और द्वितीय सर्गों में राम आदि के जन्म से लेकर सीता आदि के साथ उनके विवाह के प्रसंगों को अधिकतर सामान्य इतिवृत्तात्मक शैली में प्रस्तुत करके तृतीय से सप्तम सर्ग तक सीता और राम की काम-लीलाओं, वसन्त आदि ऋतुओं, उद्यान, सन्ध्या, चन्द्रोदय, रात्रि एवं प्रभात आदि वर्णनों की एक ओर भरमार कर दी है और वहीं दूसरी ओर दशम तथा द्वादश में शूर्पणखा द्वारा राम के तथा रावण द्वारा सीता के केशादिपादान्त का वर्णन करके श्लथ शृङ्गार को एक सीमा तक प्रश्रय दे डाला है। क्या ही अच्छा होता कि केशादिपादान्त वर्णनों को राम और सीता की ओर से एक दूसरे को देखकर प्रस्तुत किया जाता! राम और सीता की काम-लीलाओं का वर्णन कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग की याद दिलाता है जैसे-

ददर्श पश्यन्नपि तत्कलेवरं चुचुम्ब पश्यन्नपि तन्मुखाम्बुजम्।
अजस्रमालिङ्गितवानपि प्रियः स्तनोपपीडं मुहुरालिलिङ्ग ताम्।। ३/८०

(प्रिय ने बार-बार उसके अङ्ग को देखते हुए भी देखा, देखते हुए भी उसके मुख का चुम्बन किया, बार-बार आलिङ्गि करके भी उसका निरन्तर आलिङ्गन किया)

ऋतुओं के वर्णन में कवि ने कालिदास और माघ की अनुकृति पर द्रुतविलम्बित में यमक अलङ्कार की अद्‌भुत योजना की है। छन्दों के प्रयोग में भी दोनों ही कवियों ने अच्छी सूझ-बूझ का परिचय दिया है। रूपक का एक प्रयोग उदाहरणार्थ, चन्द्रोदय वर्णन के प्रकरण का-

सन्ध्याचूडैरनिबिडतमस्ताम्रचूडैरुडूनि
प्रासूयन्त स्फुटमधिवियद्‌भाण्डमण्डानि यानि।
दृष्ट्वा तानि ध्रुवमुपगतः सैन्धवादन्तरीपात्
ग्रासं ग्रासं चरति परितः कश्चिदेणाङ्कहूणः।। ६/६६

(सन्ध्या के (लाल) चूड वाले ताम्रचूड ने आकाश के भाण्ड में जिन तारों के अंडों को पैदा कर रखा है उन्हें देखकर समुद्र के अन्तरीप से मानो आया कोई चन्द्रमा रूप हूण कौर-कौर करके निगलता जा रहा है।)

यहां कवि ने मुर्गों के अंडों की चर्चा की है जबकि मुर्गियों के अंडे होते हैं। प्रा. कुञ्जुनि राजा का यह कथन कि कवि के पाण्डित्य के कारण कहीं उसका कवित्व म्लान नहीं हुआ है, बहुत सही है।

सप्तम में सूतजनों द्वारा उद्बोधन के अवसर पर वधू-वर युगल के निद्रा रस मे निमग्न होने की स्थिति का प्रस्तुतीकरण सुन्दर हुआ है-

व्यत्यस्तीकृतभुजकल्पितोपधानं ग्रस्तोष्ठं व्यतिमिलितोरु मीलिताक्षम्।
अत्यन्तस्थिरपरिरम्भगूढभेदं तद्द्वन्द्वं स्वपनरसे चिरं ममज्ज।। ७/२६

(एक दूसरे की भुजाओं को उपधान बना लिया, होठ पकड़ लिये, दोनों की जांघें परस्पर संश्लिष्ट हो गयीं, दोनों अत्यन्त स्थिर प्रगाढ़ आलिङ्गन में गुथ गये- इस प्रकार वह जोड़ी निद्रा-सुख में देर तक डूब गयी।)

मेरे विचार में यदि कवि ने महाराज दशरथ के भवन में नववधुओं के आगमन को लेकर पारिवारिक जनों के बीच के उल्लास का वर्णन प्रस्तुत किया होता तो निश्चय ही वह एक नया और अनूठा प्रयोग होता। खेद है कि ऐसे प्रसङ्गों की उद्भावना की ओर से वह नितान्त विरत है। इस प्रकार मार्मिक प्रसङ्.गों की उपेक्षा प्रायः खटकती है।

कोच्चुण्णिराज द्वारा निर्मित भाग में जटायु-रावण युद्ध का वर्णन अच्छा है-

रुषा निबद्धं रुधिरावनद्धं वीर्याविरुद्धं नखरादिसिद्धम्।
जगत्प्रसिद्धं सविधस्थसिद्धं तद्द्वन्द्वयुद्धं प्रबभौ समिद्धम्।। १३/८३

(दोनों रोष से भिड़ गये, रुधिर निकलने लगा, पराक्रम के अनुरूप, नखों के प्रहार से सिद्ध, प्रख्यात, सिद्ध जनों के समीप रहते, प्रबल द्वन्द्वयुद्ध हुआ।)

उत्तररामचरित का सबसे मार्मिक प्रसङ्ग, सीता-परित्याग के अवसर पर राम के प्रति सीता का सन्देशवचन है। किन्तु वह लगभग रघुवंश के चतुर्दश सर्ग का विस्तार से शब्दान्तरण मात्र होकर रह गया है। किन्तु जब वाल्मीकि के साथ सीता राम की सभा में आती हैं तब उनका यह स्वरूप बहुत प्रभावित करता है-

सुधांशुलेखेव नितान्तरम्या तेजोमयी वायुसुहृच्छिखेव।
निजाङ्गमात्राभरणा नदीव ग्रीष्मेण याता नियमेन कार्श्यम्।। ८/१६

(चन्द्रलेखा की भांति बहुत रमणीय, तेजोमयी, अग्नि-शिखा-सी, मात्र अपने अङ्गों के आभरण वाली, तथा ग्रीष्म से नदी की भांति नियम-पालन से कृशकाय सीता विराजमान हुई।)

प्रस्तुत रचना अपने आप में इतनी समग्र एवं प्रभावोत्पादक होने पर भी आधुनिक भावसम्प्रेषण की दृष्टि से हमे कुछ निराश करती है। फिर भी जिनके मन में प्राचीन कवियों की प्रतिष्ठित रचनाओं की प्रतियोगिता में आधुनिक काल की किसी रचना को प्रस्तुत करने की बात को लेकर यदि कोई आशङ्का हो तो उनके समक्ष यह गरिमामयी रचना रखी जा सकती है।

चण्डीदास (हरियाणा) १८०४-पुण्डरीकपुर या पुण्डरी में जनमे कवि चण्डीदास ने वाराणसी में १८३४ ई. तक अध्ययन किया। उन्हें पंजाब के महाराज रणजीत सिंह के दरबार में सम्मानित पद मिला। बाद में, कवि चण्डीदास पटियाला, जयपुर और अन्त में जम्मू-कश्मीर की राजसभा में प्रतिष्ठित हुए। महाराज रणवीर सिंह के समसामयिक इस कवि ने कई ग्रन्थ लिखे। इनकी प्रतिष्ठा का आधारभूत ग्रन्थ है, १३ सर्गों में लिखित 'श्रीरघुनाथगुणोदय' महाकाव्य। इस महाकाव्य का प्रकाशन डॉ. गंगादत्त शर्मा विनोद के सम्पादकत्व में श्री रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू से १९७६ में हुआ। श्री रघुनाथ-गुणोदय रामकथा पर आधारित है। प्रथम सर्ग में अयोध्या वर्णन के पश्चात् महिषी और राजा के बीच रात्रि के एकान्त में संवाद या साकूत सूक्ति के प्रसंग में पुत्र के लिए चिन्ता प्रकट की गयी है-

गतोऽद्यावधि कालोऽयमावाभ्यां विमलाशये।
नानुभूतं त्वदुद्भुतसुतस्पर्शसुखं मनाक्।। ११०६

(आज तक का समय बीत गया, हे विमल आशयवाली, हम दोनों ने तुझसे उत्पन्न सुत के सुखद स्पर्श का सुख थोड़ा भी अनुभव नहीं किया।)

दूसरे, तीसरे और चौथे सर्गों में रामादि के जन्म, ताटकादि का वध और वनप्रान्त का वर्णन है। कवि बहुत कुछ प्राचीन कल्पनाओं को पुनरुक्त करता है। चतुर्थ सर्ग में वियोगिनी छन्द में कवि ने राम के गुणों का वर्णन किया है। राम को देखकर जब जनक प्रभावित हुए और एक सखी को इसकी जानकारी हुई तो उसने जाकर सीता को राम के गुणों के विषय में बताया। वर्णन के पश्चात् वह यह प्रकट करती है कि सीता और राम एक दूसरे के अनुरूप हैं-

सदृशस्तव तन्वि पश्य तं त्वमपि श्रीरिव तस्य शार्ङ्गिणः।
अनुरूपगुणं क्वचिद् भवेद् यदनूनानतिरिक्तयोर्द्वयम् ।। ५/६०

(हे कृश अंगों वाली उसे देख, वह तेरे जैसा है और तू भी लक्ष्मी की भांति विष्णु जैसी है। न कुछ कम, न कुछ अधिक गुणों वाली जोड़ी संयोग से कहीं होती है।)

षष्ठ सर्ग में राम के प्रति सीता के अनुकूल मनोभाव से अवगत होकर वह सखी राम के पास आती है और सीता के मन के भाव को निवेदित करती हुई सीता के सौन्दर्य का बखान करती है-

पश्य राम हृदयं यथा निजं तन्मनोऽपि च तथैव निश्चिनु।
अस्ति तन्न च तथेति संशये साक्षि चित्तमुभयोर्हि नापरम्।। ६/१२

(हे राम, देखो जैसा तुम्हारा हृदय है वैसा ही उसका मन भी समझो। संशय की

स्थिति में दोनों के चित्त से बढ़कर दूसरा साक्षी नहीं है।)

सप्तम में राम-लक्ष्मण के मिथिला में प्रवेश होने पर नारियों की उनके अवलोकन की त्वरा और अन्त में रामादि का वैवाहिक उत्सव वर्णित है।

अष्टम सर्ग में कवि ने राम के राज्याभिषेक के प्रकरण में नीति वचनों का निर्माण किया है। यह प्रकरण भले ही कवित्व की दृष्टि से महत्त्व नहीं रखता, किन्तु यहां मानवीय गुणों के सम्बन्ध में कवि की अपनी दृष्टि का उल्लेख होने के कारण इसे विशेष आकलनीय माना जा सकता है। बाद के सर्गों में कथानक को आगे बढ़ाते हुए कवि एकाक्षरपाद, एकव्यजन, नाना यमकों, चित्रबन्धों के प्रदर्शनमूलक प्रयोग में लग गया है। फलतः कवित्व की उच्च भूमि से नीचे आ जाने के कारण उसकी रचना स्तरीयता को खोती प्रतीत होती है।

ऐसे भी अनेक स्थलों पर हमारी दृष्टि गयी जिनके सम्बन्ध में कवि द्वारा की गयीं पाणिनीय परम्परा की या तो उपेक्षा प्रतीत हुई या उसके अज्ञान का अनुमान हुआ। कवि चण्डीदास के सम्बन्ध में उनके ऊपर किसी प्रकार के अज्ञान या अक्षमता का दोष लगाना अनुचित भी लगता है, फिर भी विचारकों पर इस दिशा में निर्णय लेने की बात छोड़ते हुए हम कहना चाहते हैं कि आलोच्य महाकाव्य में आधुनिकता को लेकर कुछ विशेष उल्लेखनीय बात नहीं लगती। कवि ने दरबारी होते हुए भी अपने आश्रयदाता के गुणों का गान न करके उसके कुलदेवता श्रीरघुनाथ के गुणोदय को विषय बनाया है। अष्टम सर्ग में नीति-वचनों में उसने मानवीय गुणों के आख्यान के प्रसंग में राष्ट्र का उल्लेख किया है-

अनुरक्षति यो रक्ष्यान् रक्षन्नात्मानमग्रतः।
राष्ट्रं विवर्धते तस्य स चिरं सुखमश्नुते।। ८/६४

(अपनी रक्षा करता हुआ जो आगे रक्षा के योग्य जनों की रक्षा करता है, उसका राष्ट्र सवंर्धन को प्राप्त होता है और वह चिरकाल तक सुख का अनुभव करता है।)

संस्कृत साहित्य के इतिहास में, अपकर्षकाल की रचनाओं में लोकोन्मुखता का अभाव होता गया। आधुनिक काल में इसे प्रश्रय मिला, जिसका एक क्षीण सा संकेत कवि चण्डीदास ने इस सर्ग में किया है, ऐसा लगता है।

परमेश्वरन् मूत्ततु (केरल) १८१६-१८८३ अपने समय के प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान तथा वैद्य परमेश्वरन् मूत्ततु गोदवर्म युवराज के शिष्य थे। ये वैक्कम् जनपद के व्याघ्रालपेश क्षेत्र के पास के निवासी थे। इनका "परमेश्वर शिवद्विज" के नाम से भी उल्लेख किया गया है। व्याकरण और ज्योतिःशास्त्र में भी इनकी अप्रतिहत गति थी। इन्हें कन्याकुमारी जनपद के अन्तर्गत शुचीन्द्रपुर के स्थाणु क्षेत्र में "वट्टपल्लि" के "स्थानी" होने का गौरव कुलपरम्परा से प्राप्त था।

इन्होंने आठ सर्गों में रामवर्ममहाराजचरित काव्य का निर्माण किया, जो आइल्यम

तिरुनाल महाराज (१८६०-१८८०) के जीवन-चरित पर आधारित है। इसमें वञ्चिराज्य की कथा भी वर्णित है। इस काव्य के पद्यों में "अष्टाध्यायी" के पाणिनीय सूत्रों का आरोह क्रम से यथासम्भव उपयोग किया गया है। इस काव्य को म. म. पण्डित वेङ्कट राम शर्मा ने सम्पादित करके तिरुवनन्तपुर (त्रिवेन्द्रम) से १६५७ में प्रकाशित किया।

कवि ने मङ्गलाचरण में अक्षराम्नाय रूप श्रीपति भगवान् के अपने तल्प (पर्यङ्क) पर धारण करने वाले अद्भुत व्याकृति-भाष्य (पाणिनीय सूत्रों पर महाभाष्य) के कर्ता शेष के चरण को शिरोधार्य किया है और "अष्टाध्यायी" के आरम्भ के तीन सूत्रों, "वृद्धिरादैच्", "अदेङ्गुणः" और "इको गुणवृद्धी" को समेटते हुए इस प्रकार काव्य का आरम्भ किया है-

गुणान् सवृद्धीन् प्रथयन् स्वया दृशा विभाति वर्णैः पृथगीड्या त्रिभिः।
पदागमः किं गुणवृद्धिवाचकैश्चतुर्षु, वर्णेषु, स वञ्चिभूपतिः।।१/२।।

इस काव्य के नायक चूंकि आश्लेषा नक्षत्र में उत्पन्न हुए थे, अतः कवि ने उनके चरित को भी श्लेष के आधार पर काव्य का रूप दिया है। प्रसंगतः इसमें सूर्योदय आदिका वर्णन भी है। पाणिनीय सूत्रों के उदाहरण के रूप में इसके प्रत्येक पद्य में कुछ कहने की प्रवृत्ति ने कवि को अपनी सीमा से ऊपर उठ कर कहने की स्वतन्त्रता नहीं दी है। इसमें सन्देह नहीं कि कवि इस काव्य के माध्यम से एक अतिरिक्त चमत्कार के प्रदर्शन के लोभ से ग्रस्त है। इस कारण यह कहना कठिन है कि उसकी कविता उससे प्रभावित नहीं हुई है। इसे "ध्वनिकाव्य" कह कर भी "उत्तम काव्य" की संज्ञा तो नहीं दी जा सकती।

सीताराम भट्ट पर्वणीकर (उन्नीसवीं शती) सवाई राजा जय सिंह तृतीय के शासनकाल (१८१८-१८३४) में थे और इन्होंने अनेक शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की तथा इनके द्वारा रचित चार महाकाव्यों, नृपविलास, नलविलास, जयवंश तथा राधवचरित्रम्, में से दूसरा जयवंशमहाकाव्य प्रकाशित है। नृपविलास महाकाव्य सटीक एवं १६ सर्गों में पूर्ण हुआ है। यह श्रीहर्ष के नैषधीयचरित के आदर्श पर रचित है, किन्तु नैषध वाली क्लिष्टता इसमें नहीं है। इसमें किसी "नृपवीर" राजा के कथानक को आधार बनाया गया है। राजस्थान वि. वि. में इस पर शोध कार्य भी किया गया है। नलविलास महाकाव्य में ३२ सर्ग है। पहले के २२ सर्ग नैषधीय चरित के कथानक पर आधारित हैं और शेष १० सर्ग महाभारत के नलोपख्यान पर। राधवचरित्रम्, श्रीराम के कथानक पर आधारित है और इस पर भी शोध कार्य सम्पन्न हो चुका है। लघुरघुकाव्य कवि पर्वणीकर का पाचवां महाकाव्य है जो १६ सर्गों में रचित एवं कालिदास के रघुवंश के आदर्श पर प्रस्तुत किया गया है।

जयवंशमहाकाव्य राजस्थान विश्वविद्यालय से पं. पट्टाभिराम शास्त्री द्वारा सम्पादित होकर १६५२ में प्रकाशित हुआ। यह एक ऐतिहासिक महाकाव्य है तथा इसमें १६ सर्ग हैं। कवि ने अपने आश्रयदाता सवाईजयसिंह तृतीय और उनके वंशजों के कथानक को आधार बनाया है। कालिदास की शैली में कवि ने जयवंश के गुणों के वर्णन में अपनी अक्षमता प्रकट की है-

अमन्दसम्बन्धिपदं लघीयानारोढुमिच्छाम्यतिमन्दबुद्धिः।
सेयं मदिच्छोच्चमहीरुहाणां पुष्पोच्चिचीषा खलु वामनस्य।। १/३

(छोटा, अति मन्दबुद्धि वाला में महान् पद पर आरूढ़ होना चाहता हूँ। मेरी यह इच्छा ऊचे पेड़ों से फूल चुनने की, बौने व्यक्ति की इच्छा जैसी है।)

शिवकुमार मिश्र (उत्तर प्रदेश १८४७-१६१८ ई.) इन्होंने काशी के शास्त्रार्थी विद्वानों में सर्वाधिक ख्याति प्राप्त की, कुछ समय मिथिला में भी अध्यापन किया तथा दरभंगा नरेश लक्ष्मीश्वर सिंह तक दरभंगा के नरेशों की वंशावली "लक्ष्मीश्वरप्रतापः" नाम के महाकाव्य के माध्यम से प्रस्तुत की। हरिनाथ शास्त्री (मनीष्यानन्द) उत्तर-प्रदेश अनु. १८४७-१६२३ ये काशी में रहते थे। इन्होंने सन्यस्त जीवन बिताया, तथा "मनीष्यानन्द" नाम से विदित हुए। इन्होंने भवानन्दचरित महाकाव्य (डा. हीरालाल शुक्ल के अनुसार, यतीन्द्रचरितामृतमहोदधि महाकाव्य) की रचना की। भवानन्द तीर्थ इनके दीक्षागुरु थे। कहते हैं कि इनकी म. म. शिवकुमार शास्त्री से बिलकुल नहीं पटती थी। आचार्य पं. बलदेव उपाध्याय के अनुसार भवानन्द चरित १५ सर्गों तथा नाना वृत्तों में निबद्ध है तथा काव्य की दृष्टि से बड़ा ही रोचक, सुबोध एवं आध्यात्मिक शिक्षण समन्वित है। दुःखभंजन कवि (उत्तर प्रदेश) अनुमानतः १८४६, वाराणसी के संस्कृत कवि-समाज में आज भी इनका सादर स्मरण किया जाता है। ये अनेक विषयों के विद्वान् तथा मर्मज्ञ थे। त्रिपुरा के उपासक भी थे। साथ ही श्लेष के चमत्कारी कवि थे। इन्होंने राजा चन्द्रशेखर त्रिपाठी के विषय में एक प्रशस्तिकाव्य चन्द्रशेखर-चरित महाकाव्य के नाम से लिखा। इनकी छन्दःशास्त्र पर रचित "वाग्वल्लभ" अपने विषय की प्रसिद्ध रचना है। ए. आर. राजराजवर्मा (केरल) १८६३-१६१८ मलयालम भाषा तथा केरलीय साहित्य के विकास में विशेष योगदान के द्वारा नवोत्थान करने वाले इस कवि ने संस्कृत में 'आङ्ग्लसाम्राज्यम्' की रचना २३ सर्गों में की। उसका प्रथम श्लोक है-

अस्ति प्रशस्तेष्वतलान्तिकाब्धिक्षिप्तेषु विष्वक् पुरमण्डलेषु।
तिसानदीतीरवतंसभूतं भूमण्डनं लण्डननामधेयम्।।

(अटलाण्टिक महासागर में फैले प्रशस्त नगरों में से एक टेम्स नदी का तटवर्ती पृथ्वी का अलङ्.करण लन्दन नाम का नगर है।)

अन्नदाचरण तर्कचूडामणि (बंगाल) अनु. १८६२ में इनका जन्म पूर्वी बंगाल के नोआखाली ज़िले के सोमपाड़ा ग्राम में हुआ। काशी में इन्होंने अध्यापन किया। १६२२ में अंग्रेज सरकार ने इन्हें महामहोपाध्याय की पदवी से अलङ्कृत किया। "संस्कृतचन्द्रिका" में समय-समय पर इनकी रचनाएं प्रकाशित होती थीं, जिनका संग्रह "सुमनोऽञ्जलिः" नाम से १६०१ में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। इनके दो महाकाव्य प्रकाश में आये-'रामाभ्युदयम्' और 'महाप्रस्थानम्'। रामाभ्युदयम् १८६७ ई. में नोआखाली से प्रकाशित हुआ। इसमें १६

सर्ग हैं तथा राम के बाल्यकाल से विवाह तक की घटनाएं वर्णित हैं। अयोध्या के वर्णन में दशरथ के वैभव का विशद वर्णन है तथा यज्ञवर्णन (षष्ठ सर्ग), बालक्रीडाओं का वर्णन है। सीता-स्वयंवर के प्रसंग में सीता का वर्णन और राम के आनन्दित होने की स्थिति कवि की सूक्ष्म वर्णन दृष्टि की परिचायक है। कवि द्वारा सीता का यह वर्णन आकलनीय है-

जयति जयति सीता विश्वचित्ताम्बुधीन्दुः,
युवतिजनतरूणां पारिजातः सपुष्पः।
स्मितवदनसरोजा रत्नमाला धरिण्याः,
जनकनयनतारा मानसानां नियन्त्री। १७/६३

(संसार के चित्तरूपी समुद्र का चन्द्रमा, युवति-जन रूपी वृक्षों के बीच पुष्पों से भरा पारिजात, सस्मित मुखकमल वाली, पृथ्वी की रत्नमाला, जनक के नेत्र की तारा, मन को नियन्त्रित करने वाली सीता की जय हो, जय हो।)

महाप्रस्थानम् महाभारत कथा पर आधारित है तथा इसमें पाण्डवों के स्वर्गारोहण की कथा है। इसमें २२ सर्ग हैं। यह अर्जुन के वर्णन से आरम्भ होता है, किन्तु इसके नायक युधिष्ठिर हैं। बसन्त का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है-

नवनवोज्ज्वलवेशविभूषिते निखिलजीवमनोहरणक्षमे।
सुमधुरे सरसे जगतीतले सुरुचिरे रुचिरे न चलाः श्रियः।। ८/२४

(नये-नये उज्ज्वल वेशों से विभूषित, निखिल जीवों के मन को हर लेने में समर्थ, संसार में सुमधुर तथा सरस, रुचिर वसन्त में श्री (लक्ष्मी, या शोभा) अचल रही)।

मन्दिकल सी. एन. रामशास्त्री (मैसूर १८४६) मैसूर के महाराज कृष्णराज वाडियर ने इनसे प्रभावित होकर इन्हें "कविरत्न" की उपाधि से अलङ्कृत किया तथा महाराजा संस्कृत कालेज, मैसूर का प्रधान पण्डित नियुक्त किया। इन्होंने कृष्णराजाभ्युदयमहाकाव्य की रचना की। फिर इन्होंने "सीतारावणसंवादझरी" नाम से चित्रकाव्य की रचना करके अपने अतिरिक्त काव्यनिर्माण-चातुरी का परिचय दिया। **त्रिविक्रम शास्त्री** (मैसूर) अनुमानतः १८५० ई.-इन्होंने मैसूर के महाराजा कृष्णराज पर "कृष्णराजगुणालोकः (महाकाव्य) की रचना की।

विश्वनाथदेव वर्मा (उड़ीसा १८५०-१६२० ई.) ये आठगढ़ (उड़ीसा) के महाराज थे। इन्होंने रुक्मिणीपरिणय महाकाव्य का निर्माण किया। **चण्डमारुताचार्य** (तमिलनाडु १८५०-१८६६) इनका जन्म कांजीवरम के आलिसूर नाम के गांव में हुआ था। इनका उपनाम परिमल था। मद्रास के सेन्ट थामस कालेज तथा मैलापुर मिशनरी कालेज में इन्होंने अध्यापन कार्य किया। ६ सर्गों का "अनिलराजकथा" एक अपूर्ण महाकाव्य है, जो इनकी मृत्यु के कारण अपूर्ण रह गया। **सोंठी भद्रादि रामशास्त्री** (आन्ध्र-प्रदेश) १८५६-१६१५,

पूर्वी गोदावरी जिला के पीठापुरम् ग्राम के निवासी इस कवि ने 'श्रीरामविजयम्' महाकाव्य की रचना की। **लक्ष्मण सूरि** (तमिलनाडु १८५९-१९१९ ई.) रामनाथुपरम् ज़िला के श्रीवेल्लिपुलूर के निकट पुनाल वेदी में उत्पन्न इस कवि ने 'कृष्णलीलामृतम्' महाकाव्य का निर्माण किया। ये मद्रास के पचयप्पा कालेज में संस्कृत के प्राध्यापक थे। इन्होंने उपन्यास, नाटक तथा सन्देशकाव्य भी लिखे। **दिवाकर कवि** (उत्तर प्रदेश, अनु. १८६० ई.) इन्होंने १४ सर्गों में पाण्डवचरितकाव्यम् की रचना की। **भट्टनारायणशास्त्री** (तमिलनाडु अनु. १८६०-१९०१ ई.) तंजोर के नाडुकावेरी के निवासी तथा ब्रह्मविद्या के सम्पादक श्रीनिवास शास्त्री के अनुज, अप्पयदीक्षित के वंशज इस कवि ने छोटे-बड़े ९६ रूपकों की रचना की, "सीमन्तिनी" नाम का लघु उपन्यास लिखा। इनका २४ सर्गों का महाकाव्य "सौन्दर्यविजयः" है। **योगीन्द्रनाथ तर्कचूडामणि**-(बंगाल अनु. १८६०-) इन्होंने 'दशाननवधकाव्य' नाम के महाकाव्य की रचना की। **अभिनव रामानुजाचार्य** (आन्ध्र प्रदेश अनु. १८६० ई.-) तिरुपति के निवासी इस कवि ने भगवान् वेंकटेश की प्रशस्ति में 'श्रीनिवासगुणाकरः' (महाकाव्य) का प्रणयन किया तथा इसके प्रथम आठ सर्गों की व्याख्या भी स्वयं की। शेष की व्याख्या कवि के भ्रातृज वरदराज ने की। **रामचन्द्र** (आन्ध्रप्रदेश अनु. १८६० ई.-) कृष्णा जिला के मछलीपट्टम के नोबल कालेज में संस्कृत के प्रधान पण्डित ईडपल्ली निवासी इस कवि ने 'देवीविजयम्' (महाकाव्य) की रचना की।

रामनाथ तर्करत्न-(शान्तिपुर बंगाल १८४०-५० के बीच जनमे) कालिदास विद्यावागीश के सुपुत्र इस कवि ने अठारह सर्गों में 'वासुदेवविजय' महाकाव्य की रचना की, जिसका प्रकाशन कलकत्ता के २ नं. नवाव दि ओस्तागार लेन स्थित इंराजियन्त्र में श्रीपीताम्बर बन्द्योपाध्याय द्वारा किया गया था। इस महाकाव्य की रचना कवि ने १८८३ में की थी तथा १८९० में प्रकाशित हुआ था। इसके अतिरिक्त इनकी दो और रचनाओं की सूचना मिलती है- आर्यालहरी (रचनाकाल १८९३) और विलापलहरी (रचनाकाल १८९२)।

हरिवंश पुराण के पारिजातहरण के प्रसङ्ग पर आधारित इस पारम्परिक महाकाव्य रचना में कवि का उत्कृष्ट कवित्व प्रकट हुआ है। कालिदास आदि कवियों का इस पर कुछ प्रभाव लक्षित होता है। इसके अतिरिक्त कवि का कवित्व अपनी विलक्षणता से उद्भासित है ऐसा दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है।

वैदशिक आंग्लशासन से ग्रस्त अपने राष्ट्र के मान संवर्धन के प्रति कवि के हृदय में जागरूकता इसके त्रयोदश सर्ग के पद्यों में लक्षित होती है, जैसे-

कीर्तिस्तमालिङ्गति तं वृणीते सौभाग्यसम्पत् तमुपैति लक्ष्मीः।
प्रीतिर्मुहुस्तं भजते प्रकामं गृह्णाति केशेष्वहितश्रियं यः।। १३/२४

(उसका कीर्ति आलिङ्गन करती है, सौभाग्य-सम्पत्ति उसे वरण करती है, उसे लक्ष्मी अपनाती है प्रीति उसकी सेवा करती है, जो दृढ़ता से शत्रु की लक्ष्मी के बाल पकड़ कर उस पर अपना अधिकार कर लेता है) पारतन्त्र्य नरक को व्यक्त करता है, क्योंकि वह शौर्य

को नष्ट कर देता है, सुरुचि को रोक लेता है, चित्त को तोड़ देता है, धन को बांट देता है, नीति को रगड़ डालता है, तथा दासता को ला देता है।

पारतन्त्र्य को लेकर कवि की पीड़ा इन शब्दों में व्यक्त हुई है-

हिनस्ति शौर्यं सुरुचिं रुणद्धि भिनत्ति चित्तं विवृणोति वित्तम्।
पिनष्टिं नीतिञ्च युनक्ति दास्यं हा पारतन्त्र्यं निरयं व्यनक्ति।। १३/३२

इसलिए वह एक निर्णय लेता है-

असुव्यपायेष्वपि नो जहीमः स्वतन्त्रतामन्त्रमतन्द्रिणोऽद्य।
उपागतायां परतन्त्रतायां यशोधनानां शरणं हि मृत्युः।। १३/३४

(आज हम तन्द्रारहित हैं, और प्राणों के चले जाने पर भी स्वतन्त्रता के मन्त्र को नहीं छोड़ेंगे। क्योंकि परतन्त्रता के प्राप्त हो जाने पर यश के धनी लोगों के लिए मृत्यु शरण है)। **रामचरण भट्टाचार्य** (बंगाल १८६३-१६२८) स्वामी विशुद्धानन्द के शिष्य इस कवि ने 'उमाचरितचित्तम्' महाकाव्य (कलकत्ता, १६००) लिखा। **पञ्चानन तर्करत्न** (१८६६-१६४१) ये बंगाल के भट्टपली ग्राम के निवासी थे। इन्होंने विदेशी शासक के विरुद्ध "अनुशीलनी" नाम की क्रान्तिकारी संस्था स्थापित की तथा १६०७ ई. में अलीपुर बम-विस्फोट काण्ड में जेल गये थे। इन्होंने दो महाकाव्य लिखे 'पार्थाश्वमेध' 'विष्णुविक्रम'। डा. हीरालाल शुक्ल ने विष्णुविक्रम को उत्कृष्ट कोटि की रचना माना है। इनके नाटक भी हैं- अमरङ्गलम् तथा कलङ्कमोचनम्। **तिरुमल बुक्कपट्टनम् श्रीनिवासाचार्य** (आन्ध्रप्रदेश अनु. १८७० ई.-) इन्होंने 'आङ्ग्लजर्मनीयुद्धविवरणम्' नामक ऐतिहासिक महाकाव्य की रचना की।

बीसवीं शती में प्रकाश में आये महाकाव्यकार

अखिलानन्द शर्मा (उ.प्र., १८८०-१६५५) वदायूं ज़िले में सनाढ्य ब्राह्मण कुल में उत्पन्न, पं. टीकाराम के सुपुत्र कवि अखिलानन्द शर्मा ने प्रथम बार, आर्यसमाज के प्रतिष्ठापक स्वामी दयानन्द सरस्वती के चरित को आधार बनाकर 'दयानन्द-दिग्विजय' नामक महाकाव्य का प्रणयन किया, जो इण्डियन प्रेस, प्रयाग से प्रथम बार १६०६ में, और बाद में आर्यधर्मप्रकाशन, सामली से १६७० में प्रकाशित हुआ था। बाद में इसी विषय पर दिलीपदत्त शर्मा ने मुनिचरितामृतम् महाकाव्य (दर्शन प्रेस, ज्वालापुर) और मेधाव्रताचार्य ने दयानन्ददिग्विजय महाकाव्य की रचना की।

इक्कीस सर्गों के दयानन्ददिग्विजय महाकाव्य में कवि अखिलानन्द शर्मा ने अपने काव्य के नायक स्वामी दयानन्द को भारत के उन्नायक के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए लिखा-

यत्कृतं मुनिवरेण भारते भारतोदयकृते शिवं कृतम्।
भारतोन्नतिनिविष्टचेतसा भारते भवतु तन्मुदे सताम्।। १८/६२

(भारत की उन्नति के लिए दत्तचित्त मुनिश्रेष्ठ ने भारत में भारत के उदय के लिए जो कल्याण का कार्य किया वह यहाँ सज्जनों को आनन्दित करे।)

कवि शर्मा की, जीवन के आरम्भ से आर्य-समाज के क्षेत्र में शिक्षा-दीक्षा हुई। उन्होंने उस काल को देखा जिसमें भारत में एक ओर राष्ट्रियता की भावना जाग उठी थी, दूसरी ओर उसमें व्याप्त सामाजिक कुरीतियों के निवारण के प्रति स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे मनीषियों की ओर से भारतीय जन-मानस को जगाने के लिये उद्घोष किया जा रहा था। यह वह काल था जिसमें संस्कृत का रचनाकार अपने लिये नये आयाम की तलाश भी कर चुका था। कवि अखिलानन्द ने स्वामी जी के यशोगान स्वरूप अपनी रचना के प्रति ध्यान आकृष्ट करते हुए लिखा-

प्रणम्य भक्त्या परमेश्वरं परं दयालुमाकारविशेषनिर्गतम्।
मया दयानन्दयशोविभूषितं विरच्यते काव्यमिदं विलोक्यताम्।। १/१

(आकार विशेष से रहित परम दयालु परमेश्वर को भक्तिपूर्वक प्रणाम करके मैं स्वामी दयानन्द के यश से विभूषित काव्य की रचना कर रहा हूँ, इसे देखें।)

प्रस्तुत महाकाव्य परम्परा से कुछ इस अर्थ में अलग माना जा सकता है, कि कवि ने न तो किसी देवता को और न ही अपने किसी आश्रयदाता के जीवन-चरित को विषय बनाकर लिखा, बल्कि उसकी रचना का विषय था एक महान् समाज-सुधारक महापुरुष का उदात्त व्यक्तित्व। और, अपने सूर्योपम चरित नायक के सम्बन्ध में उसने यह भी कहा-

अखडपाखण्डविवादवर्धनासमुत्थनानामतवादवारिदान्।
विधूनयन् यो जगतीतले नवं ततान वेदोदितधर्ममुत्तमम्। १/२१

(जिन स्वामी दयानन्द ने फैले पाखण्ड के कारण उत्पन्न नाना मत-वाद के मेघों को हटाते हुए संसार में नये उत्तम वेदोक्त धर्म को प्रसारित किया।)

कवि अखिलानन्द की भाषा प्राचीन परम्परागत रचनाकारों की भांति कवित्व प्रदर्शन को प्रश्रय देने वाली न थी, फिर भी उसमें सहज भाव से अलंकारों की संग्रथना से आद्योपान्त काव्यात्मक सौन्दर्य का आकलन किया जा सकता है। आश्चर्य है कवि ने चतुर्दश सर्ग से सर्वतोगमनबन्ध, षोडशदलकमलबन्ध, गोमूत्रिकाबन्ध आदि का प्रयोग कर डाला है। स्वामी दयानन्द रूप सूर्य का उदय हो चुका था, कवि के शब्दों में -

अथ स्वविद्याविषयोत्सुको यतिर्दिगन्तरेषु प्रविसारयन् प्रभाम्।
मुहुर्दिदीपे तिमिरं विदारयन् दिनोदये भानुरिवातिदुःसहः।। ११/१

(तब अपनी विद्या के सम्बन्ध में उत्सुक यति दयानन्द दिनोदय काल में सूर्य की भांति दिशाओं में प्रभा को फैलाते तथा अंधकार को बार-बार विदीर्ण करते हुए अतिदुःसह रूप में दीप्त हुए।)

नवम सर्ग में कवि ने, जहां नाटक का रूपक देकर महर्षिदयानन्द का यशोवर्णन प्रस्तुत किया है वह उसका, मेरी दृष्टि में अभिनव प्रयोग है -

लसन्ति यत्राग्निरविप्रभञ्जनाः करे दधाना निगमत्रयीपटान्।
गुणत्रयीनाटकसूत्रतां गताः प्रधानभृत्या इव सूचनोद्यताः।।

(हाथ में तीनों वेदों के पट धारण किये हुए, तीनों गुणों के नाटक के सूत्र बने हुए, सूचना देने को उद्यत प्रधान-भृत्यों की भांति अग्नि, सूर्य और वायु, जहां शोभा प्राप्त करते हैं)

इसका उपसंहार करते हुए कवि ने लिखा है -

इति प्रशस्ते नवरङ्गमण्डपे समागते चापि समस्तमानवे।
प्रवक्तुकामा पदविक्रमक्रमं पुरो दिदीपे ननु तद्यशोनटी।।

(इस प्रकार प्रशस्त्र रङ्ग-मण्डप पर, सभी लोगों के आ जाने पर, पद-विक्रम के क्रम को बताना चाहती हुई उनके यश की नटी प्रकट हुई)

सबसे बड़ी दयनीयता इस बात की थी कि विदेश के लोग धर्म की खोज में लगे हुए थे और अपने देश के वासी सुख की नींद सो रहे थे-

महानयं शोक इहास्ति विस्तृतो विदेशजाताः किल धर्ममार्गणम्।
प्रकुर्वते देशनिवासिनो जनाः सुखेन निद्रामधिगम्य शेरते।। १३/८१

महाकाव्य के अन्त में अपनी विनम्रता प्रकट करते हुए कवि ने लिखा है -

इति परमदयालुर्यस्य साहाय्यमेत्य व्यरचि महदपीदं काव्यरत्नं मयाऽरम्।
निखिलजगदधीशः सोऽद्य मे वन्दिताङ्घ्रिर्दिशतु सकलभावैरुत्तमानन्दमित्योम्।।२१/६६

(इस प्रकार, जिनकी सहायता प्राप्त कर मैंने इस महान् भी काव्य-रत्न का शीघ्र निर्माण कर डाला, वह परमदयालु, समस्त संसार के स्वामी सम्पूर्ण भावों से वन्दित चरणों वाले परमात्मा उत्तम आनन्द प्रदान करें)

सखाराम शास्त्री भागवत (महाराष्ट्र १८८६-१६३५) कवि का जन्म करवार भूधर दुर्ग के निकट वेदगङ्गा नदी के तटवर्ती "गारगोटी" ग्राम में हुआ। विविध शास्त्रों में निष्णात कवि भागवत के अन्तिम दिन सतारा में बीते। कवि ने कई स्तोत्र भी लिखे और 'ज्ञानेश्वरी' के चरमाध्यायषट्क का संस्कृत में अनुवाद भी किया, जो प्रकाशित नहीं हुए। इन्होंने अपने मित्रों को संस्कृत में पद्यबद्ध पत्र भी लिखे। ये अपनी रचना 'अहल्याचरित' महाकाव्य के पूर्ण होने के कुछ ही समय बाद दिवंगत हो गये। इसे गोविन्द रामचन्द्र राजोपाध्याय ने सतारा से १६२७ में प्रकाशित किया। कवि के मन में त्रिस्थली-प्रयाग, काशी और गया की यात्रा के प्रसंग में अहल्या देवी द्वारा बनवाये गये धर्मशाला और विष्णु-मन्दिर

को देखने के पश्चात् आलोच्य रचना के निर्माण का संकल्प उदित हुआ था। "कवि परमानन्द ने शिवभारत की रचना की तो इस कवि ने अहल्याभारत की"।

सत्रह सर्गों में निर्मित अहल्याचरित (महाकाव्य) में इस विधा की परम्परा से कुछ हट कर कवि ने इस रचना को गुरु-शिष्य-संवाद के रूप में प्रस्तुत किया है। प्रथम सर्ग में अहल्या के जन्म और बाल्यकाल का वर्णन है। "अहल्या" शब्द का निर्वचन, कवि की कल्पना के अनुसार इस प्रकार है-

पैतृकी वृत्तिरेतेषां हल्याऽऽसीन्मेषपालिका।
त्यक्त्वा नूनमहल्येयं भविता राष्ट्रपालिका।। १/३६

(हल पर आधारित तथा भेंड़ पालन वाली उनकी पैतृक जीविका थी, उसे छोड़कर निश्चय ही राष्ट्र का पालन करने वाली यह अहल्या होगी।)

अहल्या का खण्डूजिराय के साथ विवाह होता है। तृतीय में, संसार-सौख्य का वर्णन है। अहल्या गर्भवती होती है, कवि की कल्पना है-

स्नुषाऽप्यहल्या रजनी विभाति गर्भो हिमांशुर्गगनं च कुक्षिः।
मल्लादिरायस्य च शोभमानः सौधो महान् शारदशुक्लपक्षः।।
स्वातीघनो वाऽथ स राजपुत्रो भार्या सुशीला नवशुक्तिका वा।
गर्भस्तदा मौक्तिकनामकोऽभून्मल्लारिरायस्य गृहं समुद्रः।। ३/३०,३१

(वधू अहल्या रजनी थी, गर्भ चन्द्रमा, कोख आकाश, महल्लारिराय का सुहावना प्रासाद शरत्काल का शुक्लपक्ष था अथवा स्वाती का मेघ वह राजपुत्र, भार्या नई शुक्ति, गर्भ मौक्तिक और मल्लारिराय का भवन समुद्र था।)

कवि के अनुसार यह अहल्या भी सतियों में अग्रगण्य है-

सतीषु ताराप्रमुखासु पूर्वं श्रेणीमहल्या प्रथमामवाप।
यथा तथाऽस्मिन् समयेऽप्यहल्या श्रेष्ठैव तत्कालसतीष्वभूत्सा।। १/३८

(जिस प्रकार पुराकाल में, तारा आदि सतियों में अहल्या प्रथम श्रेणी की सती हुई उसी प्रकार इस समय भी अहल्या अपने काल की सतियों में श्रेष्ठ हुई।)

द्वितीय में, मल्लारि के पुत्र खण्डेराव के साथ अहल्या के विवाह का वर्णन कवि ने शास्त्रीय विधि तथा महाराष्ट्र की लोकपरम्परा के अनुसार करके उसमें सजीवता ला दी है-

रङ्गक्रीडा वीटिकानां प्रदानं स्यादुन्मोको हस्तपूगीफलस्य।
नामग्राहं सर्वसीमन्तिनीभिः साकं सोऽभूदुत्सवो मण्डपे स्वे।। २/३३

(रङ्ग की क्रीडा, पान का बीड़ा देना, हाथ में रखे पूगीफल का खोलना तथा सभी

सुहागिनियों के साथ नाम ग्रहण-इस प्रकार वह अपने मण्डप में उत्सव बन गया)

जाटों के साथ युद्ध में मधुपान का व्यसनी खण्डेराव मारा जाता है। अहल्या वैधव्य का भाजन बनती है। दोनों के विषय में कवि लिखता है-

तमःप्रधानाचरितश्च भर्ता सत्त्वप्रधानाचरिता च तत्स्त्री।
भूपस्य गेहेऽवसतामिमौ द्वौ तमःप्रकाशाविव भिन्नरूपौ।। ४/१२

(तमोगुणी आचरण वाला पति, सत्त्व प्रधान आचरण वाली उसकी पत्नी, इन दोनों ने ही राजभवन में तम और प्रकाश की भांति भिन्न रूप होकर निवास किया।)

खण्डेराव की मृत्यु पर मल्लारिराय और अहल्या का विलाप बहुत सहज बन पड़ा है। कालिदास के द्वारा प्रस्तुत अज-विलाप और रतिविलाप की स्मृति उत्पन्न होती है। जब अहल्या मरण के लिए तैयार होती है तब मल्लारिराय कहते हैं -

बालिके। मम कुलाम्बुधिमुक्ते त्वं सहाभिगममद्य करोषि।
त्वत्पुरो दृढशिलां विनिधाय हन्मि मस्तकमिमं मृतिमाप्तुम्।। ६/३८

(मेरे कुल के समुद्र की मुक्ता हे बालिके ! तू आज पति के साथ सती होकर स्वर्ग जाना चाहती है ? इससे पूर्व, मैं तेरे सामने मजबूत चट्टान रख कर मस्तक फोड़कर मर जाऊँगा।)

अन्त में कहते हैं-

त्वज्जीवने जीवति राष्ट्रमेतत् त्वदत्यये नश्यति तत्क्षणं मे।
इतः परं नो कथयामि तुभ्यं म्रियस्व वा पालय वा यथेष्टम्।। ६/१४६

(तेरा जीवन बना रहेगा तब मेरा यह राष्ट्र जीवित रहेगा, तेरे मरते ही तत्काल यह नष्ट हो जायेगा, इससे आगे तुझसे नहीं कहता हूँ, तू जो चाहे, मरे या राष्ट्र का पालन करे।)

कवि केवल घटनाओं के निर्देश को प्रश्रय नहीं देता। उसकी यह रचना आधुनिक इस अंश में है कि उसने वर्णनों या वार्तालापों में सन्तुलन नहीं खोया है और न ही भाषा को अनावश्यक अलंकारों के बोझ से ग्रस्त किया है। अहल्या के प्रति उसकी निष्ठा उसके प्रत्येक पद्य में झलकती है। वह उसे शिवाजी महाराज के समकक्ष रखता है-

पूर्वं शिवाजीनृपतिः किलैकः शूरेषु साध्वीषु तथा ह्यहल्या।
चण्डांशुरेको जगतीतले वा ज्योत्स्ना जनानन्दकरी तथैका।।

(पहले शूरों में एक शिवाजी महाराज हुए और साध्वियों में अहल्या बाई। संसार में प्रखर किरणों वाला एक सूर्य है अथवा लोगों को आनन्दित करने वाली चन्द्रिका।)

खेद है कि एक अच्छा निर्माण होने के बाद भी यह रचना प्रायः आज अनुल्लिखित ही रहती है।

मेधाव्रत (महाराष्ट्र १८९३-१९६४) नासिक जनपद के अन्तर्गत "येवला" में सनातनधर्मी परिवार में जनमे आचार्य मेधाव्रत की शिक्षा आर्य समाज के गुरुकुलीय वातावरण में हुई। इन्होंने आर्य कन्या विद्यालय, बड़ौदा के प्रधानाचार्य के रूप में भी सेवा की। इनका संस्कृत में 'कुमुदिनीचन्द्र' नाम का उपन्यास है। इस कवि ने दयानन्ददिग्विजय तथा ब्रह्मर्षिविरजानन्दचरित नाम के दो महाकाव्यों का प्रणयन किया। दयानन्ददिग्विजय के पूर्वार्ध का प्रकाशन १९३८ ई. में आर्यकन्यामहाविद्यालय से तथा उत्तरार्ध का १९४७ ई. में हुआ। उत्तरार्ध के प्रकाशक हैं- श्री सुबोधचन्द्र सत्यव्रततीर्थ विद्यालङ्कृत, जो गुरूकुलविद्यामन्दिर, सूपा (नवसारी) में अध्यापक रहे हैं। हम कह चुके हैं कि आचार्य मेधाव्रत की रचना के पूर्व स्वामी दयानन्द के जीवन पर आधारित दो महाकाव्य प्रकाश में आ चुके थे-एक अखिलानन्द शर्मा द्वारा लिखित दयानन्ददिग्विजय (१९१०) और दूसरा दिलीपदत्त शर्मा का मुनिचरितामृत (१९१८)।

नाना कुरीतियों से भरे भारतीय समाज में वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा और समाज-सुधार के पवित्र उद्देश्य को लेकर संघर्ष करने वाले स्वामी दयानन्द का जीवन अनेक कवियों की लेखनी का विषय बना। आचार्य मेधाव्रत ने उस "नररत्न" को अपनी काव्यरचना का विषय बनाया।

इदमेव विशिष्टमन्तरं नररत्ने च पृथग्जने च यत्।
विपदः प्रतिबुध्य स द्रुतं यतते दिव्यपदोपलब्धये।। द.दि.५/६२

(नर-रत्न तथा सामान्य जन में यह विशेष अन्तर होता है कि नररत्न विपत्तियों को ललकार कर शीघ्र दिव्य-पद की उपलब्धि के लिए प्रयास करता है।)

कवि के अनुसार स्वामी दयानन्द ने मनुष्य के चित्त की भित्ति पर आर्य संस्कृति के आदर्श-चित्र का अंकन किया, जो अनेक दृष्टान्त के सु-वर्ण से सुन्दर था-

अनेकदृष्टान्तसुवर्णसुन्दरं य एवमादर्शसुचित्रमालिखत्।
नृचित्तभित्तावतुलार्यसंस्कृतेरहो दयानन्दयतिर्जयत्यसौ।। १/४२

अपने दूसरे महाकाव्य ब्रह्मर्षि विरजानन्दचरित के दस सर्गों में स्वामी दयानन्द के गुरु विरजानन्द के उदात्त जीवन को कवि ने सम्भवतः पहली बार संस्कृत जगत् के समक्ष उपस्थापित किया। अपने शिष्य दयानन्द से स्वामी विरजानन्द ने "गुरुदक्षिणा" कवि के शब्दों में इस रूप में मांगी -

न सौम्य वाञ्छामि सुवर्णदक्षिणां प्रयच्छ मे जीवनमेव केवलम्।
स्वदेशधर्मोद्धरणाय वत्स ते यतो नियुञ्जीय तथा श्रुतं कुरु।। ८/५०

(हे सौम्य! मैं तुझसे सुवर्ण की दक्षिणा नहीं चाहता। तू अपने जीवन को ही स्वदेश के उद्धार के लिए मुझे अर्पित कर। हे वत्स, जिस कारण तुझे नियुक्त करूं तू मेरी बात मान।)

बदरीनाथ झा (बिहार १८६३-१६७४) ''कविशेखर'' की उपाधि से विभूषित कविवर झा का जन्म मधुबनी मण्डल के सरिसब ग्राम में हुआ। यह ग्राम बहुत पहले से विद्वानों तथा कवियों की जन्मभूमि के रूप में प्रसिद्ध है। पं. झा ने विविध शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन करके साहित्य के क्षेत्र में अपनी सहजात विशिष्ट प्रतिभा का प्रदर्शन किया। इन्होंने धर्मसमाजसंस्कृतमहाविद्यालय, मुजफ्फरपुर में साहित्य का अध्यापन किया। राधा-कृष्ण की उपासना को समर्पित कविशेखरजी ने संस्कृत और मैथिली में अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया, जिनमें उल्लेखनीय हैं- संस्कृत का महाकाव्य ''श्रीराधापरिणय'' और मैथिली का एकावलीपरिणय। श्रीराधापरिणय महाकाव्य बीस सर्गों का है और इसका प्रकाशन १६३६ ई. में विजय प्रेस, मुजफ्फरपुर से हुआ।

कवि ने प्रथम-सर्ग में पञ्चम जार्ज तथा मिथिलेश रमेश्वर सिंह के प्रति शुभाशंसा के पद्य लिखे हैं। सम्पूर्ण महाकाव्य एक ओर परम्परागत महाकाव्यविधा को आधार बना कर रचित है तो दूसरी ओर कविकी परिनिष्ठित भाषा और आर्द्र वैष्णव मानसिकता से ओतप्रोत होने के कारण एक आकलनीय कृति बन गया है। आारम्भ में अलङ्कारों का संयोजन जितनी अधिक मात्रा में हुआ है, बाद में भावों की प्रवणता के कारण तथा वर्णनों की सरसता के कारण कुछ शिथिल हो गया प्रतीत होता है। कविशेखर जी की भाषा प्राचीन कवियों की शैली तथा महाकाव्य की गरिमा के अनुरूप है। इसमें उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और अर्थान्तरन्यास के चामत्कारिक प्रयोग तो हैं ही, उन्नीसवें सर्ग के द्रुतविलम्बित छन्द में लिखे पद्य शिशुपालवध (माघ) के षष्ठ सर्ग के पद्यों की स्मृति को ताजा कर देने वाले प्रतीत होते हैं, जिनमें प्रभूत मात्रा में यमक का प्रयोग हुआ है। कवि ने श्रीकृष्ण की बाललीलाओं का वर्णन बारह सर्गों तक किया है। तेरहवें सर्ग में सुरभिशक्रस्तुति के पश्चात् राधा-कृष्ण के प्रणय की मूल कथा आरम्भ होती है। सम्पूर्ण रचना का आधार तो श्रीमद्भागवत है, किन्तु कवि की उसके अपने ही कल्पनालोक में सहृदय को रमाने की विलक्षण क्षमता प्रकट हुई है। अलंकारों के नियोजन में सिद्ध इस कवि ने स्वभावोक्ति को भी प्रश्रय दिया है। श्रीकृष्ण जन्मोत्सव-प्रसंग में प्रमदाओं का उल्लास इन शब्दों में वर्णित है-

विकसद्वदनाम्बुजाः स्खलद्वसना भावितनृत्यगीतयः।
व्यलिपन् प्रमदाः परस्परं दधिहारिद्ररजोभिरङ्गने।। २/६३

(आंगन में खिलते कमलों जैसे मुखों वाली, खिसकते वसनों वाली, नृत्य और गीत में संलग्न प्रमदाएं दधि तथा हल्दी के मिश्रित द्रव द्वारा परस्पर लेपन करने लगीं।)

काव्य के नायक श्रीकृष्ण निखिल जनों को पीड़ित करने वाले तथा राधा से द्वेष करने वाले को ताड़ित करते है (४/३२)। कवि राधा के सम्बन्ध में लिखता है-

श्रीसहस्रमपि नैव कथञ्चिद् यत्तुलां श्रयितुमीषदपीष्टे।
सा स्वयं तु सुषमात्मकशक्तिर्भासते स्म भवने वृषभानोः।। १४/७६

(जिसकी तुलना हजार लक्ष्मियां थोड़ा भी नहीं कर सकतीं, वह स्वयं शोभामय शक्ति शाली राधा वृषभानु के यहां विराज रही थी।)

आद्योपान्त सरस इस महाकाव्य की समाप्ति रासोल्लास के वर्णन से होती है। कवि लिखता है-

उल्लासः कुतुकस्य विश्वविजयन्यासः सुमेषोर्भृशं
ह्रासः कृष्णवियोगदुःसहरुजो व्यासः कलानां परः।
उच्छ्वासः शिशिरो रतेरनुपमो वासश्चिरत्नः श्रिया-
माश्वासः पशुपालपङ्कजदृशां रासश्चिरायाभवत् ।। २०/१०२

(यह रास चिरकाल तक चला, जो कौतुक का उल्लास, पुष्पबाण कामदेव का विश्व पर विजय का न्यास, कृष्ण-वियोग से उत्पन्न दुःसह रोग का अत्यन्त ह्रास, कलाओं का श्रेष्ठ आयाम, रति का शिशिर उच्छ्वास तथा शोभाओं का पुराना आवास एवं गोपाङ्गनाओं का आश्वास था।)

कवि ने श्रीकृष्ण द्वारा गोपियों को "परिपूर्णकाम" किये जाने का उल्लेख करके श्रीकृष्ण और राधा के मधुर, प्रणय-प्रसंग को एक बहुत बड़ी उदात्त मानवीय भावना की ओर संकेत करते हुए अपनी वाणी को विराम दिया है।

कविशेखरजी ने अपनी रचनाओं के अनेक शिखरों का निर्माण उस काल में किया जब सम्पूर्ण भारत राष्ट्र महात्मा गान्धी के नेतृत्व में स्वातन्त्र्य के लिए जूझ रहा था। पञ्चम जार्ज के प्रति शुभाशंसा व्यक्त करने वाले इस कवि ने राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी के शहीद होने पर "शोकश्लोकशतक" का भी निर्माण करके अपने उदात्त राष्ट्र-प्रेम का परिचय दिया है।

क्षमाराव (महाराष्ट्र, १८९०-१९५४) इनका जन्म पूना में हुआ। इनके पिता शङ्कर पाण्डुरङ्ग पण्डित अपने समय के विशिष्ट विद्वान् थे। शिक्षा की व्यवस्था समुचित न होने पर भी अपने पिता के प्रभाव से क्षमा ने अंग्रेजी, मातृभाषा मराठी के अतिरिक्त संस्कृत पर अधिकार प्राप्त कर लिया था। उनका विवाह राघवेन्द्र राव एम.डी. के साथ हुआ। बहुत समय तक ये अंग्रेजी में लघु कथाएं लिखती रहीं, किन्तु १९३१ के बाद संस्कृत में लेखन में प्रवृत्त हो गयीं। आधुनिक संस्कृत साहित्य के आकाश में एक उज्ज्वल नक्षत्र के रूप में क्षमा का अभ्युदय हुआ। इनके नाम के साथ "पण्डिता" शब्द जैसे अनुस्यूत हो गया।

कहना न होगा कि इनके द्वारा लिखित साहित्य का आकलन करने वाला आज भी सहज भाव से यह अनुभव करता है कि विज्जिका, विजयाङ्का, शीला भट्टारिका, अवन्तिसुन्दरी और विजयाङ्का की परम्परा सुरक्षित है। पण्डिता क्षमा को स्वदेशाभिमान अपने पिता से मिला था तो सौन्दर्य अपनी माता उषा से। उन्होंने राष्ट्र-भक्ति की भावना से स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लेने के उद्देश्य से महात्मा गान्धी के यहाँ साबरमती आश्रम में प्रवेश लिया, किन्तु स्वास्थ्य के अनुकूल न होने की स्थिति में, अपने लेखन द्वारा साहित्य की समृद्धि के साथ देश की सेवा का कार्य किया। इनकी अनेक प्रकाशित कृतियों में महाकाव्य, लघु कथाएं, जीवनवृत्त आदि हैं। इनके महाकाव्य हैं-श्रीतुकारामचरित, श्रीरामदासचरित और श्रीज्ञानेश्वरचरित।

श्रीतुकारामचरितम् (१९५०), श्रीरामदासचरितम् (१९५३) और श्रीज्ञानेश्वरचरितम् (१९५५)-ये तीनों ही रचनाएं महाराष्ट्र के तीन महान् सन्तों के जीवन पर आधारित हैं। एक ओर, पाण्डिता क्षमा जैसी प्रबुद्ध लेखिका ने भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम के महानायक महात्मा गान्धी के जीवन और दर्शन को अपना विषय बनाया तो दूसरी ओर इन तीन सन्तों के जीवन पर अपनी लेखनी चला कर भारतीय जीवन को परम्परागत नैतिकता, पवित्रता एवं सहज मानव-प्रेम से प्रवर्तित करने की ओर भी अपने द्वारा एक साहित्यिक प्रयास किया है। आधुनिक संस्कृत साहित्य में सन्तों के जीवन पर लेखन का कुछ पहले, उन्नीसवीं शताब्दी में ही नया आयाम खुल चुका था। सन्त तुकाराम का जन्म तीन सौ वर्ष पूर्व शिवाजी के समय एक तथाकथित शूद्र कुल में हुआ था। उन्हें वंशानुक्रम से भगवान् पाण्डुरंग के प्रति अगाध भक्ति का संस्कार प्राप्त हुआ था। नौ सर्गों में लिखित श्रीतुकारामचरित में उनके जीवन की विविध घटनाओं का वर्णन है। श्रीरामदासचरितम् में तेरह सर्ग हैं। शिवाजी के गुरु इस महान् सन्त ने अपने शिष्य शिवाजी महाराज को देश की रक्षा के लिए प्रवृत्त किया और उन्हें अपने आशीर्वाद का बल दिया। इस रचना में भारत के अनेक पवित्र स्थानों का वर्णन है। श्रीज्ञानेश्वरचरितम् में आठ सर्ग हैं। तेरहवीं शताब्दी में उत्पन्न महान् सन्त ज्ञानेश्वर की "ज्ञानेश्वरी" (गीता पर लिखित व्याख्या) से कौन नहीं परिचित है ! पण्डिता क्षमा ने अपने जीवन के अन्त में, कुछ ही दिन पूर्व इसे लिखकर समाप्त किया था। सन्त ज्ञानेश्वरको नाना सामाजिक अत्याचारों से जूझना पड़ा था। उनके मन में मानव-मात्र के प्रति अपार करुणा थी। कवयित्री ने उनके जीवन को भी विषय बनाकर भोगेश्वर्यपरायण मनुष्य के लिए वेदान्त के प्रशस्त मार्ग पर चल कर अपने को सार्थक बनाने की ओर संकेत किया है। अपनी उपदेशात्मकता के बावजूद इन तीनों कृतियों में भारतीय परम्परागत मानवीय चेतना को शब्द-रूप मिला है। क्षमा ने इन महापुरुषों के जीवन-चरित के ऊपर काव्य-निमार्ण के माध्यम से आधुनिक संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में शृंगार और प्रशस्तिगान की संकीर्ण मानसिकता से ऊपर उठकर लिखने का मार्ग भी प्रशस्त किया है। कवयित्री क्षमा की शैली का एक उदाहरण, श्रीतुकाराम के अन्तर्हित होने के क्षण को लेकर लिखित इस पद्य में आकलनीय है-

निस्तेजाः समजायताम्बरमणिर्दिव्यप्रभानिर्जितो
विद्युत्पुञ्जहता इवाखिलनृणां सम्मीलिता दृष्टयः।
स्वप्नोद्बुद्ध इवेक्षते जनगणो यावत्समन्तान्नभ-
स्तावत् सर्वमदर्शि शून्यमनघोऽप्यन्तर्हितस्तापसः।।

(सूर्य दिव्य प्रभा से रहित होकर निस्तेज हो गया, बिजली की चमक से हत सी होकर सभी लोगों की आखें बंद हो गयीं, लोग स्वप्न से जगे की भांति अभी देखते ही हैं कि सब ओर शून्य दिखाई देने लगा और पापरहित तापस ने अन्तर्धान प्राप्त किया।)

इनके अन्य महाकाव्य हैं-सत्याग्रहगीता और शङ्करजीवनाख्यानम्। इन दोनों काव्यों के महाकाव्यत्व को लेकर मत-भेद सम्भावित है, किन्तु हम उन्हें महाकाव्य के रूप में यहाँ उल्लिखित करने में पक्ष में हैं।

'सत्याग्रहगीता'[1] तीन भागों में है। गांधीजी के जीवन पर आधारित इस कृति के प्रथम भाग सत्याग्रहगीता में १६३१ से लेकर गांधी-इरविन पैक्ट तक की घटनाओं का वर्णन है। द्वितीय भाग उत्तर सत्याग्रहगीता में १६३१ से १६४४ तक का वर्णन है तथा अन्तिम भाग स्वराज्य विजय में भारतीय स्वातन्त्र्य और उसका स्वरूप चित्रित है। यह एक ऐतिहासिक महत् काव्य तो है ही, इसका महत्त्व इसलिए भी बढ़ जाता है कि यह बहुत अंश तक अपने चरित्र नायक के जीवनकाल में निर्मित एवं प्रकाशित हो चुका था। सभी भागों का प्रकाशन विभिन्न कालों में बम्बई से हुआ है।

हम यहां तीनों भागों में वर्णित कथानक की चर्चा न करके कुछ अपेक्षित बातों की चर्चा करना चाहेंगे। ये तीनों भाग अध्यायों में विभक्त हैं, इन अध्यायों को सर्ग कहा जा सकता है। इसमें एक मात्र छन्द अनुष्टुप् का आश्रयण लिया गया है। केवल एक पद्य में मालिनी का प्रयोग हैं। घटनाप्रधान रचना होने पर भी यथास्थान इसमें विभिन्न अलंकारों का समुचित प्रयोग हुआ है। प्राकृतिक वर्णनों के प्रति कवयित्री का विशेष झुकाव न होते हुए भी कहीं-कहीं उनका मोहक संकेत है। चरित्रनायक महात्मा गान्धी के जीवन तथा संघर्ष का उद्देश्य देश की स्वतन्त्रताप्राप्ति यहाँ "स्वराज्यविजय" के रूप में वर्णित है। कवयित्री ने अपनी देशभक्ति को अपनी प्रकृत रचनाधर्मिता की प्रमुख प्रवृत्ति मानते हुए विनम्रतापूर्वक कहा है-

तथापि देशभक्त्याऽहं जाताऽस्मि विवशीकृता।
अत एवास्मि तद्गातुमुद्यता मन्दधीरपि।। स.गी. १/३

(तब भी मैं देश-भक्ति के कारण विवश हूँ। अतः मन्दबुद्धि की होकर भी उसे गाने में प्रवृत्त हूँ।)

---

१. सत्याग्रहगीता का प्रथम प्रकाशन १६३२ ई. में पेरिस से हुआ।

"सत्याग्रह" की जो कल्पना चरित्र-नायक महात्मा गान्धी के निजी जीवन-दर्शन के केन्द्र में प्रतिष्ठित थी क्षमा ने उसे ही अपने शब्दों में प्रस्तुत किया है-

दुर्बला ननु गण्यन्ते शान्तिमार्गावलम्बिनः।
परं सत्याग्रहाद् विद्वि नास्ति तीव्रतरं बलम्।। स.गी. १०:३५

(शान्ति-मार्ग का अवलम्बन करने वाले लोग दुर्बल ही गिने जाते हैं, लेकिन सत्याग्रह से बढ़कर कोई बल नहीं है, ऐसा जानो।)

वीर रस के भेदों में नाना वीरों की कल्पना की गयी है। मेरे विचार में महात्माजी उन वीरों में परिगणनीय हैं जो स्वराष्ट्र के लिए अपने को बलिवेदी पर चढ़ा देते हैं। संक्षेप में कवयित्री क्षमा के सम्पूर्ण सत्याग्रहकाव्य का आकलन करते हुए वाल्मीकि और व्यास की मार्मिक अनुष्टुप प्रधान शैली का आभास मिलने लगता है और सहृदय भाषा की सरलता के साथ विभिन्न घटनाक्रमों में विभिन्न रस के आस्वाद की व्यञ्जना से तन्मय हो जाता है। वास्तव में, सदियों से पराधीनता का कष्ट भोगते आ रहे तथा उसे नियति का फल मान रहे राष्ट्र के लिए स्वातन्त्र्य संघर्ष की चेतना का यह नया आयाम एक नयी अनुभूति थी। स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक आदि महान् नेताओं के पश्चात् महात्मा गांधी ने भारतीय जनता की दयनीयता को देखकर स्वातन्त्र्य की प्राप्ति के लिए आशा का सन्चार किया।

कुर्वन्तो नित्यमेवं हि स्वातन्त्र्यं प्राप्स्यथाचिरात्।
स्वातन्त्रयादपि भूतानां प्रियमन्यन्न विद्यते।। स.गी.

(ऐसा नित्य ही करते हुए तुम शीघ्र स्वातन्त्र्य प्राप्त करोगे, क्योंकि स्वातन्त्र्य से बढ़कर प्राणियों का दूसरा प्रिय नहीं है।)

शङ्करजीवनाख्यानम्-इसमें १७ उल्लास हैं और इसका प्रकाशन १९३९ में २७ न्यूमरीनलेन बम्बई से हुआ है। इसे कवयित्री क्षमा ने अपने विद्वान् गुणसम्पन्न पिता शङ्करपाण्डुरग के जीवन को आधार बनाकर प्रस्तुत किया है। शङ्कर पाण्डुरग ने एक ओर जीवन में राष्ट्र के प्रति स्वाभिमान को प्रतिष्ठापित करने का प्रयास किया तो दूसरी ओर वेदों के अध्यापन की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने अपनी पुत्री क्षमा को जो उपदेश दिया, वह उनके उदात्त जीवन को एक महाकाव्य के नायक (प्रधान पात्र) के रूप में प्रतिष्ठित करने वाला है। क्षमा के ही शब्दों में-

यदि त्वां सज्जनः कोऽपि सौजन्याद् भोजयेत् क्षमे।
तदाऽस्मै द्विगुणं दद्याः काले प्रत्युपकारिणी।।

नृपोऽपि चेन्महौदार्यात् प्रयच्छेत् पारितोषिकम्।
नैव तत्प्रतिगृह्णीयास्तदनर्हाऽसि चेत् क्षमे।।

यदि कश्चिन्मनुष्यस्ते हिंसां कुर्यात् सुचेतसा।
कुरु तस्य प्रियं भूयस्तदानृण्यं भजस्व च।।

दिष्ट्या तु यदि विद्यां ते वितरेत् पण्डितः क्वचित्।
सर्वथाऽनुग्रहं तस्य प्रतीक्ष परमादरात्।। ।७/४८-५।

(अरी क्षमा, यदि कोई सज्जन तुझे सौजन्य से भोजन कराये तो उन्हें अवसर प्राप्त होने पर प्रत्युपकार के रूप में दुगुना दे। राजा भी यदि तुझे बड़ी उदारता के साथ पारितोषिक दे तो उसे यदि तू उसके योग्य नहीं, तो न ले। यदि अच्छे मन से कोई आदमी तेरा भला करता है तो उसका प्रिय कर तथा उससे उऋण हो। यदि देवयोग से कोई विद्वान् तुझे विद्या-दान देता है तो परम आदरपूर्वक सब प्रकार से उसे उसका अनुग्रह मान।

गंगा प्रसाद उपाध्याय (उत्तर-प्रदेश १८८१) कवि उपाध्याय का जन्म एटा जिले के नदरई गांव में कायस्थ परिवार में हुआ। इनके द्वारा रचित आर्योदय महाकाव्य (कलाप्रेस, इलाहाबाद १९५१) दो भागों में विभक्त है। पूर्वाद्र्ध में दस सर्ग और उत्तरराद्र्ध में ११ सर्ग हैं। पूर्वाद्र्ध की कथा सृष्टि की उत्पत्ति से आरम्भ होती है। वैदिक धर्म विकास की चर्चा और उसके बाद ह्रास के कारण विदेशी मतवाद का उद्‌भव होता है। इसमें पृथ्वीराज और जयचन्द के कलह, मुहम्मद गोरी के आक्रमण तथा खिलजीवंश का शासन, मुग़लवंश का शासन, अकबर का शासन और जहांगीर के समय ब्रिटिश व्यापारियों का प्रवेश, शिवाजी और औरंगज़ेब का संघर्ष, सिक्ख गुरुओं का इतिहास, नेपाल का इतिहास, अंग्रजी का आधिपत्य और भारत की मुक्ति आदि वर्णित हैं। दूसरे भाग में स्वामी दयानन्द के आरम्भ से अन्त तक का जीवन वर्णित हुआ है। कथावस्तु की दृष्टि से इतना व्यापक आधार रखने के कारण कवि को अपने कवित्वपक्ष को उजागर करने के लिए अवकाश अपेक्षाकृत कम मिला है, ऐसा कहा जा सकता है। उसके मन में आर्यजाति के प्रति जो निष्ठा है वह उसकी इस रचना में आद्योपान्त झलकती है। आर्यो की शासन-पद्‌धति को वह आदर्श मानता है-

निःस्वार्थभावेन चकार शासनं विश्वस्य शान्त्यै यतते स्म सर्वथा।
संस्थापयामास समन्वयं भुवि न चक्रवर्ती विततान दासताम्।।३/१०

(सम्राट् ने निःस्वार्थ होकर शासन किया, विश्व की शान्ति के लिए सदा प्रयत्न किया, समन्वय की स्थापना की, दासता को नहीं फैलाया।)

वैदेशिक आक्रमण के काल में भारतीय शासकों की दयनीयता के कारण भारत भूमि को दासता के पाश से मुक्त करने वाला न रहा। कवि कहता है-

पश्येत् को वा स्वहितविषयान् स्वार्थभावान् विहाय
रक्षेत् को वा रिपुगणकराद् देशधान्यं धनं वा।
कुर्यात् को वा परवशहतां मातरं शल्यशून्यां
को वा भव्यां भरतधरणीं मोचयेच्छत्रुपाशात्।। ४/१६

(स्वार्थ के भावोंको छोड़ कौन अपने हित को देखे? शत्रु के हाथ से देश के धन-धान्य की कौन रक्षा करे ? परवश हो हत हो रही मातृ-भूमि को शल्य-रहित कौन करें ? कौन भव्य भारत-भूमि को शत्रु के पाश से मुक्त करे?)

सम्पूर्ण रचना आर्य-देश की समुन्नति की कामना से ओत-प्रोत है। उसकी पराधीनता उसके विकास में बहुत बड़ी बाधक है। कवि लिखता है-

काङ्क्षामात्रमलं नृणां न हृदये साध्यस्य पूर्तौ क्वचित्
योग्यायैव ददाति वाञ्छितफलं विश्वम्भरः सर्वदा।
यावद् दुष्टगुणांस्त्यजेन्न जनता जातीयताघातकान्
तावच्छक्तिमुपैति नैव न च वा मुञ्चेत् पराधीनताम्।। १०/४

(हृदय में केवल इच्छा मात्र से कहीं साध्य की पूर्ति नहीं होती, सदैव, विश्व का पालनकर्ता योग्य व्यक्ति को ही उसका वाञ्छित फल देता है। जब तक जनता जातीयता के घातक दुष्ट गुणों को नहीं छोड़ती, तब तक उसे शक्ति प्राप्त नहीं होगी और न ही पराधीनता से उसकी मुक्ति होगी।)

भगवदाचार्य (पंजाब, १८८०-१९७७) स्यालकोट (अब पाकिस्तान) में जनमे भगवदाचार्य का पूर्व नाम सर्वजित था। प्रारम्भ में अपने पितृव्य के साथ काशी में और बाद में भाई के पास रावलपिण्डी मे रहे। भाई से ही संस्कृत का ज्ञान अर्जित करना आरम्भ किया। कई भाषाओं में भी निपुण हुए। पुनः काशी जाकर संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थों का अध्ययन किया। आजीवन अविवाहित रहे। घर छोड़कर बाहर चले गये और आर्यसमाज की धारा में कुछ समय भवदेव ब्रह्मचारी के नाम से, फिर बाद में रामानन्द सम्प्रदाय में वैष्णवी दीक्षा लेकर ब्रह्मचारी भगवद्दास बन गये। महात्मा गान्धी के साबरमती आश्रम में भी अध्यापन किया। उनका कार्यक्षेत्र विस्तृत हो गया। अपने सम्प्रदाय में भी सुधार के लिए प्रयास किया और सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लिया। उनके द्वारा निर्मित साहित्य विशाल है, किन्तु प्रस्तुत में उल्लेख्य है उनके द्वारा तीन खण्डों में निर्मित विशाल श्रीमहात्मगान्धिचरित (१९५१) महाकाव्य। वह कहते हैं कि उन्होंने रामानन्ददिग्विजय महाकाव्य का भी निर्माण किया।

श्रीमहात्मगान्धिचरित के तीन भागों के नाम हैं- १. भारतपारिजात (२५ सर्ग) जिसमें गान्धी जी के जन्म से लेकर दांडी यात्रा तक का वृत्तान्त है, २. पारिजातापहार (२९ सर्ग), जिसमें सन् १९४२ के "भारत छोड़ो" आन्दोलन की घटनाएं वर्णित हैं तथा, ३. पारिजातसौरभ (२० सर्ग), जिसमें मृत्यु तक की घटनाओं का वर्णन है। कवि ने भारतरूपी उद्यान में पारिजात पुष्प की भांति खिलने वाला गान्धीजी का व्यक्तित्व है, ऐसा मान कर तीनों भागों का नामकरण किया है। "पारिजातापहार" और उनकी सुगन्धि यथोगाथा के सुदूर व्याप्त होने से पारिजातसौरभ नाम दिया। कवि के ही अनुसार "इन ग्रन्थों के नायक हैं जगद्वन्दनीय महात्मा गान्धी जी"।

संस्कृत में इतने विशाल रूप में महात्मा गान्धी के व्यक्तित्व को महाकाव्यकी विधा में प्रस्तुत करने का, पण्डिता क्षमा राव के पश्चात् यह दूसरा प्रयास है। इस रचना को आधुनिक संस्कृत साहित्य के एक गौरव ग्रन्थ की मान्यता देने में संकोच नहीं होना चाहिए। कवि यहाँ मात्र एक माध्यम है, एक महापुरुष के चरित को अपनी प्रसन्न वाणी के आवरण में प्रस्तुत करने में। अतः उसने कहीं कवित्व का चमत्कार प्रदर्शित करने का प्रयास नहीं किया है। सामान्यतः जहाँ भी उपमा आदि अलंकार यहाँ उपनिबद्ध हुए हैं उनमें कवि का कोई प्रयास लक्षित नहीं होता। वर्णनों की उपेक्षा नहीं हुई है, फिर भी उनका सन्तुलित रूप में प्रस्तुत किया जाना आकलनीय है।

महात्मा गान्धी के जीवन-दर्शन के मूल में उनका "सत्याग्रह" प्रतिष्ठित था। सत्याग्रह के सम्बन्ध में उनका निश्चय कवि के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त हुआ है-

भ्रष्टो भविष्यामि न सत्यमार्गात् क्वचित् करिष्ये न परार्थहानिम्।
परार्थपीडामपि नो करिष्यामीति प्रतिज्ञामहमाभजामि।। भा.पा. ११/१८

(सत्य के मार्ग से विचलित नहीं होऊंगा, कहीं दूसरों को हानि नहीं पहुंचाऊंगा, दूसरों को पीडित भी नहीं करूंगा-यह प्रतिज्ञा करता हूँ।)

यह भी गांधीजी का कहना था, अपने देशवासियों से-

सत्याग्रहस्तीव्रममोघमस्त्रं स्थातुं न शक्नोति पुरश्च तस्य।
अनीकिनी काऽपि महाबलाऽपीत्येतत्तु जानीथ चिरेण यूयम्।। भा.पा. १८/१३

(सत्याग्रह एक तीव्र अमोघ अस्त्र है, जिसके सामने बलवती भी सेना नहीं टिक सकती-यह तुम चिरकाल से जानते हो।)

भाषा की प्रवाहमयता, प्रसाद तथा विविध छन्दों के प्रयोग के साथ यत्र तत्र वर्णनों के सन्तुलित रूप ने काव्य में कहीं ठहराव आने नहीं दिया है। पुतलीबाई के गर्भ में गान्धीजी के आने के प्रकरण में कवि ने जो षड्तुवर्णन एवं मासवर्णन किया है वह बड़ा सहज बन पड़ा है। पण्डिता क्षमा द्वारा प्रस्तुत गान्धीचरित में मात्र अनुष्टुप् के प्रयोग से जो काव्यात्मक छटा की कुछ कमी प्रतीत होती थी वह यहाँ निरस्त हो गयी। गान्धी का व्यक्तित्व एक वीर-पुरुष का व्यक्तित्व था, जो अपनी अहिंसक सेना के साथ एक प्रबल हिंसावादी शत्रु के साथ संघर्ष में कभी पीछे नहीं हटा। अतः यहां वीररस को अनुभूत कराने वाली वृत्ति को कवि द्वारा प्रश्रय दिया जाना स्वाभाविक है।

कवि ने एक ऐतिहासिक महाकाव्य की रचना की है, किन्तु उसकी लेखनी से एक काव्य या महाकाव्य लिखा गया है न कि इतिहास, इसका उसे आद्योपान्त ध्यान रखना चाहिए। पण्डिता क्षमा के साथ भी यही कुछ कमी रह गयी, जो खटकती है। भगवदाचार्य ने अपनी रचना में ऐसे अनेक स्थल प्रस्तुत किये हैं, बल्कि रचना का अधिकांश स्थल ऐसा है जिसमें कवि केवल महात्माजी के पत्रों की भाषा को अनूदित सा करता चला गया है,

फलतः ऐसे स्थलों में काव्य की चारुता खो सी गयी है। उदाहरणार्थ, पारिजातसौरभम् का प्रथम सर्ग एक पत्र के उत्तर के रूप में प्रस्तुत हुआ है। केवल कवि वहाँ उसका प्रस्तोता या अनुवादक मात्र होकर रह गया है। यह सही है कि कहीं-कहीं ऐसे स्थलों में भी उसकी भाषा में कवित्व का चमत्कार झलक सा गया है। गांधीजी के मन में ऐसा नहीं था कि सभी अंग्रेज़ भारत से चले जायें। एण्ड्रूज जैसे उनके अनेक मित्र भी थे। कवि लिखता है-

यथैकचन्द्रो गगने स्थितो नृणां मनांसि चक्षूंषि हरत्यनारतम्।
तथेदमेण्ड्रूजसखित्वमेव मे सितैः सखित्वाय मनोहरं परम्।।

पा.सौ. १/३५

अर्थात् "जिस प्रकार आकाश में रहने वाला एक ही चन्द्र मनुष्यों के मन और नेत्र का हरण सदा करता है वैसे ही श्री एण्ड्रूज की मित्रता ही अन्य अंग्रेजों के साथ मित्रता करने के लिए मेरे मन को खींचती है।"

कवि महात्मा जी को "यतिक्षितीश्वर" जैसे विशेषणों से विशेषित करने में संकोच नहीं करता, यह उसके मन में अपने काव्य-नायक के प्रति अपार श्रद्धा का सूचक तो है ही, साथ ही वह निःसकोच अँग्रेजी स्थानवाची या व्यक्तिवाची संज्ञाओं को अपनी रचना में उदारतापूर्वक अनुस्यूत करता है। ऐसे भी अनेक प्रसंग आये हैं जहाँ मन कुछ क्षणों के लिए कवि की सरल भाषा को आकलित करते हुए आर्द्र हो जाता है, इनमें से एक स्थल है बा (गांधीजी पत्नी कस्तूरबा गांधी) के बीमार होकर स्वर्ग सिधारने का प्रसंग (पा.सौ. तृतीय सर्ग)। किन्तु सबसे अधिक मन को अभिभूत करने वाला वह प्रसंग है जब एक हत्यारे के गोलिका-प्रहार से महात्माजी का प्राणान्त होता है और स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जब विलाप की भाषा में कहते हैं-

न हि रोचिरदः प्रकाशते परितोऽस्मानिह साम्प्रतं ज्वलत्।
वयमद्य समावृताः परं तमसामेव चयेन भारते।।
न हि राष्ट्रपिताऽद्य वर्तते गुरुदेवो गत एव मां त्यजन्।
परमः सुहृदस्तमन्वगादधुना को हि निषेव्यतां मया।। १४

(हमारे चारों ओर जो प्रकाशित हो रही थी वह ज्योति अब बुझ गयी। भारत में हम अन्धकार-समूह से घिर गये हैं। अब राष्ट्र के पिता नहीं रहे। मुझे छोड़ गुरुदेव चले गये। परम मित्र चले गये अब किसकी सेवा करूं ?)

कवि ने "विलाप" की इस सहज भाषा को अभिव्यक्ति देने के लिए वियोगिनी छन्द का आश्रय लिया है, जिसका ऐसे प्रसङ्गों में कालिदास ने भी लिया है। ऐसे शताधिक पद्य हैं, जिनमें महात्मा गान्धी की वाणी या उनके द्वारा अभिहित उनका निजी जीवन-दर्शन कवि के शब्दों में यथावत् रूपायित सा हो गया है सत्य को लेकर महात्माजी का यह कथन है-

सत्येन न स्यान्मनसो व्यथा मे सत्यं व्यथायाः परमौषधं मे।
सत्येन संगत्य जिजीविषामि सत्येन हीनो मृतिमाश्रयामि।। पा.सौ. ११/६४

(सत्य से मेरे मन को व्यथा नहीं होती, सत्य ही मेरी व्यथा का परम औषध है। सत्य से मिलकर ही जीना चाहता हूँ, सत्य से रहित होकर तो मरण का आश्रयण कर लूंगा।)

कवि भगवदाचार्य की लेखनी इस अंश में अवश्य सार्थक है कि उसने अपने युग की एक महान् विभूति को, महनीय चरित को एक विशाल महाकाव्य के आभोग में, गीर्वाण वाणी के माध्यम से प्रस्तुत करने का उत्तम प्रयास किया है।

जिस प्रकार अपने समय के महापुरुष राम के चरित को आदिकवि वाल्मीकि ने रामायण के रूप में प्रस्तुत किया कुछ उसी प्रकार संस्कृत भाषा में महात्मा गान्धी के जीवन-चरित और जीवन-दर्शन को आधुनिक संस्कृत साहित्य के कविद्वय, पण्डिता क्षमा राव तथा भगवदाचार्य ने किया।

काशीनाथ द्विवेदी (उ.प्र.,१८६७-१९६६) "सुधीसुधानिधि" के उपनाम से विभूषित कवि द्विवेदी का जन्म वाराणसी में हुआ। इनके पिता पं. रुद्रदत्त द्विवेदी गोरखपुर के निवासी थे, किन्तु वाराणसी में बस गये थे। कविवर द्विवेदी ने अपने पितृव्य पं. नकच्छेद राम द्विवेदी (पं. उमापति द्विवेदी) के चरणों में विद्याध्ययन किया तथा स्वामी मनीष्यानन्द भी इनके गुरु थे। इनके अत्यन्त निकटवर्ती मित्रों में "कविपति" उमापति द्विवेदी थे। दोनों ने ही गांधीजी के द्वारा प्रवर्तित "असहयोग आन्दोलन" में भाग लिया था। कविवर द्विवेदी की अयाचितोपनतवृत्ति[१] प्रसिद्ध है। कहते हैं कि इन्होंने कई वर्ष केवल पत्तियां खाकर गुजार दिये थे!

कविवर द्विवेदी की एकमात्र रचना इक्कीस सर्गों का रुक्मिणीहरण महाकाव्य है, जो कई वर्षों की साधना से पूर्ण हुआ था। यह श्रीमद्भागवत के प्रसिद्ध रुक्मिणी आख्यान (१०/५२-५४) पर आधारित है। संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं में इस आख्यान पर अनेक कवियों ने लेखनी उठायी। इस महाकाव्य में, परम्परावादी महाकाव्य विधा में एक विद्वान् कवि की रचना होने के कारण कवित्व ओर वैदुष्य का मणि-काञ्चनयोग हुआ है। कवि ने मूल कथानक में सामान्य परिवर्तन करते हुए वर्णनों से रचना को खूब ही सजाया और संवारा है। इनकी कल्पनाओं में नूतनता को भी समुचित प्रश्रय मिला हैं। पारिजातहरण महाकाव्य के कर्ता "कविपति" जी की तथा "सुधीसुधानिधि" की रचनाओं की तुलना की जाये तो उनकी अपेक्षा इनकी भाषा में कुछ अधिक स्फुटता एवं प्रवाहमयता की अनुभूति होती है। कवि ने स्वयं एक प्रसंग में अपनी सम्मत काव्य भाषा को लक्षित किया है-यथोचितं सन्धिविधिक्रियास्थितिर्यथायथं कारकसन्निवेशनम् (एकादश सर्ग)। प्रथम सर्ग में ही कवि द्वारा प्रस्तुत रुक्मिणी का विस्तृत नख-शिख वर्णन अभिभूत कर देता है। कवि के अनुसार

---

१. बिना मांगे जो कुछ प्राप्त हो उससे गुज़ारा करना

रूक्मिणी के एक अङ्ग पर पड़ी दृष्टि वहीं की वहीं रुक जाती है, दूसरे अङ्गों तक पहुँचने का नाम नहीं लेती तो कवि इसके समग्र अत्यद्भुत रूप का वर्णन करने में कैसे क्षम हो-

एकाङ्गसक्ता निपपात दृष्टिरस्या न येनापघनान्तरेषु।
तस्मात्कविर्वर्णयितुं क्षमेत कः सुरूपमत्यद्भुतमेतदीयम्।। १/१६६

(इसके एक अङ्ग पर चिपकी हुई दृष्टि जिस कारण दूसरे अङ्गों पर नही पड़ती, इस कारण कौन कवि उसके अत्यद्भुत रूप का वर्णन करने की सामर्थ्य रखता है ?)

सती प्रथा के प्रति कवि का व्यंग्य आकलनीय है-

मृतास्वहो प्राणसमासु सत्वरं प्रमोदतेऽन्यां परिणीय पूरुषः।
कुलस्त्रियः स्वामिनि संस्थिते पुनर्वहन्ति वैधव्यमसह्यवेदनम्।।
नमोऽस्तु पाखण्डविनिर्मिताय ते द्विजेन्द्र धर्माय विडम्बनात्मने।
सहैधसा पत्रलतेव नूतना शवेन सत्रा तरुणी प्रदह्यते।। ११/६०, ६१

(प्राणों से भी बढ़कर प्रिय पत्नियों के मर जाने पर पुरुष दूसरी से विवाह करके प्रसन्न हो जाता है, किन्तु कुलीन स्त्रियाँ पति के दिवंगत होने पर असह्य वेदनाओं वाले वैधव्य को धारण करती हैं। हे ब्राह्मण श्रेष्ठ ! पाखण्ड द्वारा निर्मित विडम्बना स्वरूप तुम्हारे धर्म को नमस्कार है, ईधन के साथ नूतन पत्रलता की भाँति तरुणी शव के साथ जला दी जाती है।)

उमापति शर्मा द्विवेदी (उत्तर प्रदेश, १८६८-) देवरिया जनपद में उत्पन्न कवि द्विवेदी ने अपने जीवन काल में स्वातन्त्र्य संग्राम में, अध्ययन छोड़कर भाग लिया था। बाद में अध्ययन में प्रवृत्त हुए। अपनी काव्य-लेखन की सफल प्रवृत्ति के कारण इन्हें "कविपति" कहा गया। इनके द्वारा २१ सर्गों में लिखित पारिजातहरण महाकाव्य १६५७ ई. में प्रकाशित हुआ, जिसे प्रकाशित किया, श्रीललन शर्मा पाण्डेय, व्यवस्थापक गोस्वामी तुलसीदास महाविद्यालय, पड़रौना (देवरिया) ने। श्रीमद्भागवत के एक निर्देश पर कवि ने श्रीभगवान् के गुणानुवाद रूप इस महाकाव्य की रचना द्वारा अपने को कृतार्थ मान लिया और इसके प्रकाशन से निरपेक्ष रहे।

श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के ५६वें अध्याय की संक्षिप्त कथा पर पारिजातहरण का कथानक आधृत है। द्वारका में रैवतक पर्वत पर रुक्मिणी द्वारा किये गये याग के प्रसंग में ऋषि नारद रूक्मिणी को पारिजात पुष्प अर्पित करते हैं। इस पर सत्यभामा रुष्ट हो जाती हैं। श्रीकृष्ण पारिजातवृक्ष को ही लाकर उसे अर्पित करने की प्रतिज्ञा करते हैं तथा नारद को इन्द्र से पारिजात मांगने के लिए भेजते हैं, किन्तु इन्द्र अस्वीकार कर देते हैं। तब श्रीकृष्ण सत्यभामा को लेकर गरुड़ द्वारा स्वर्ग के लिए प्रस्थान करते हैं। सात्यकि और प्रद्युम्न भी वहां जाते हैं, पारिजात को लेते हैं, किन्तु इन्द्र के साथ वहाँ युद्ध छिड़ जाता

है। युद्ध के वैषम्य की शान्ति के लिए श्रीकृष्ण शिव की स्तुति करते हैं। सन्धि की सफलता के लिए कश्यप शिव की स्तुति करते हैं और वर प्राप्त होता है। कश्यप आकर मातृमहिमा का वर्णन करते हैं। भगवान् भीमासुर के वध के लिए पाताल जाते हैं और उसका वध करते हैं। पृथ्वी उनकी मानसी पूजा करती हैं। भगवान् राजकन्याओं का उद्धार करते हैं। दिति का कुण्डल लेकर कश्यप आदि के साथ स्वर्ग आते हैं और उपहारस्वरूप पारिजात को लेकर द्वारिका लौट आते हैं और सत्यभामा के भवन में उसका रोपण करते हैं।

यह एक मूलतः धार्मिक कथा है जिसमें भीमासुर जैसे आततायी का वध एक सांयोगिक घटना के रूप में निबद्ध है। "कविपति" जी ने इस सामान्य से कथानक को, महाकाव्य के पारम्परिक लक्षणों की सीमा में, भारवि और माघ के आदर्श पर चलते हुए एक प्रौढ़ काव्य-रचना का रूप दिया है। कहीं-कहीं श्लथ शङ्गार को प्रश्रय मिल गया है, फिर भी रचना आद्योपान्त कवि की अनन्य सामान्य प्रतिभा को व्यञ्जित करने में क्षम है। बीसवीं शती में इस प्रकार की प्रौढि को प्रश्रय देने वाली तथा पारम्परिकता को कुछ अधिक मात्रा में निर्वाह करने वाली काव्य कृतियाँ कम नहीं लिखी गयीं। यह परम्परा, लगभग "कविशेखर" बदरीनाथ झा के श्रीराधापरिणय महाकाव्य वाली है।

पूर्वार्ध और उत्तरार्ध, दो भागों में विभक्त पारिजातहरण महाकाव्य में यत्र-तत्र शब्दालंकार संयोजन को अधिक प्रश्रय मिला है। जैसे, तृतीय सर्ग के द्रुतविलम्बित छन्द में लिखे पद्यों में यमक का सुनियोजन। उदाहरणार्थ,

अपि करेणुकरेऽणुविशृङ्घणं विदधतो दधतो मदविभ्रमम्।
समुपबृंहितबृंहितका ययुः शमदरम्मदरञ्जिकटा घटाः।। ३/११

(हथिनियों की सूंड को अपनी सूँड से सूंघते हुए, मदविदलित गति से चलने वाले, जोर जोर से गड़गड़ ध्वनि करते, मद-धार के रञ्जित गण्ड वाले कल्याणपूर्ण निर्भय हाथियों का झुंड चल रहा था।)

यह कुछ कम आश्चर्यकारी बात नहीं कि परम्परावादी "कविपति" जी ने परम्परा से कुछ हट कर कवित्त और दोहा आदि हिन्दी के छन्दों का भी यहां प्रयोग किया है (पञ्चदश सर्ग)।

कवि श्लेषाश्रित उपमा के सुनियोजन द्वारा शरत्के अवतरण का दृश्य इस प्रकार प्रस्तुत करता है-

श्वेताम्बरा रसिकहंसगतिप्रसन्ना शृङ्गारहारकुसुमोत्करकाम्यकान्तिः।
उल्लासितस्वसमयाश्रितबन्धुजीवा वाग्देवतेव समुदेति मुदे शरन्नः ।। १०/१२

(श्वेत वसन वाली, अथवा स्वच्छ आकाश वाली, शृङ्गार के लिए उपयुक्त हार के

फूलों के कारण कमनीय कान्ति वाली, ज्ञान के आश्रित बन्धुओं के प्राणों को उल्लसित करने वाली अथवा खिले अपने समय के बन्धुजीव नाम के फूलों से युक्त, वाग्देवता की भाँति शरत् हमारी प्रसन्नता के लिए उदित हो रही है।)

कविपतिजी के कुछ ऐसे पद्यों को आचार्य पं. बलदेव उपाध्यायजी ने "काशी की पाण्डित्य परम्परा" में उद्घृत किया है जिनमें उनकी काव्य-दृष्टि संकेतित हुई है-

नैवौचिती परिहृताऽस्त्यनया कदाचिन्निर्व्याजभावरमणीयपदक्रमा च।
आरोपशून्यसरसाभिहिता समर्था मान्या न कस्य तव वाक् कुलजाङ्गनेव।।
१०/५८

(इसने औचिती का परित्याग कभी नहीं किया, निर्व्याज भाव के कारण जिसके पद-क्रम रमणीय हैं, जिसकी बात आरोप-रहित एवं सरस है और जो समर्थ है, ऐसी कुलीन अङ्गना की भांति तुम्हारी वाणी किसे मान्य नही है।)

"कविपति" द्विवेदी ने वर्णनों को इतना प्रश्रय दिया है कि लगता है, वर्णनों के लिए वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं। यज्ञ के प्रकरण में उसकी इतिकर्तव्यता को लेकर कवि ने जो शास्त्रीय चर्चा छेड़ दी है (चर्तुथ सर्ग) वह भले ही उसके पाण्डित्य को प्रमाणित करने वाली मानी जाय, किन्तु वहाँ उसका कवित्व दब गया सा प्रतीत होता है। कहीं कहीं वह वर्णों के परस्पर प्रभाव की बात बड़ी सफलता से कहते हैं जैसे -

हरिर्हरिन्मणिद्योतो नारदः शारदेन्दुदृक्।
आकालिकीमपूर्वाञ्च सन्ध्यां तत्सङ्गमो व्यधात् ११४/६४

(हरिन्मणि के समान कान्ति वाले कृष्ण और शरत् काल के चन्द्र की भांति दृष्टि वाले नारद, इन दोनों के संगम ने असामयिक और अपूर्व सन्ध्याकाल का दृश्य उपस्थित कर दिया)

कवि की शब्दयोजना सन्तुलित एवं मनोहर है। कहीं-कहीं उपमानों का एक ही साथ सन्निवेश और अनुप्रास की अनुगूंज से लालित्य की सृष्टि करने में वह सफल हुआ है।

विन्ध्येश्वरीप्रसाद मिश्र (बिहार) चम्पारण जिले के सरारा ग्राम के निवासी कविवर मिश्र ने काशी में ही अध्ययन और अध्यापन किये। ये भारतधर्म महामण्डल से जुड़े रहे। इन्होंने महाभारत और पद्मपुराण में प्राप्त कर्ण और अर्जुन के बीच युद्ध से सम्बद्ध कथानक को लेकर २२ सर्गों में कर्णार्जुनीय महाकाव्य की रचना की। इनकी दूसरी महाकाव्य-रचना महर्षिज्ञानानन्दचरित है, जो २३ सर्गों में प्रस्तुत हुई है तथा श्री-भारतधर्ममहामण्डल, जगतगंज, वाराणसी से प्रकाशित है। इस दूसरे महाकाव्य के १९६८ में प्रकाशन के पूर्व ही कविवर मिश्र दिवंगत हो गये।

'अर्वाचीनसंस्कृतमहाकाव्यानुशीलनम्' (१९८१) के लेखक डॉ. रहसविहारी द्विवेदी को

कर्णार्जुनीय महाकाव्य में साम्प्रतिक युगजीवन के सम्बन्ध में चित्रण नहीं मिला है। वस्तुविन्यास में कवि केवल पौराणिक शैली का अनुहरण करता है। जहाँ तक भाषा की प्रौढि की बात है वह इस रचना में प्राप्त होती है। यहाँ, भीम और दुर्योधन के एक संवाद को डॉ. द्विवेदी ने यह कह कर उद्धृत किया है कि वाग्व्यवहार में अशिष्ट शब्द के उच्चारण के कारण पात्र की गरिमा अरक्षित जैसी लगती है-

भीमः-
बलवानपि जम्बुकात्मजः किमु सिंहस्य पुरः प्रसर्पति।
निहितोऽपि सुवर्णपिञ्जरे किमु काकः क्रतुहव्यभुग् भवेत्।।
अपि पश्यत मन्दधीरयं ह्यधमः सूतसुतो भवन्नपि।
परिवाञ्छति सव्यसाचिना सह योद्धुं नितरामपत्रपः।।
सुयोधनः-
ननु भीम सुसान्निपातिकज्वरसंश्लिष्ट इव प्रतीयसे।।
नृपतिः किल कर्ण एषको नृपसिंहासनमास्थितो वरम्।
इति यस्य न विद्यते भवेऽभिमतं तस्य हि मूर्ध्नि मे पदम्।।
तमहं समरार्थमाह्वये द्रुतमायातु स वीरसम्मुखम्।
यदि नेति निजानने तथा मसिमालिप्य पलायतामितः ११६/१३२,३४,३७

(बलशाली भी स्यार का वंशज क्या सिंह का सामना करता है ? कौवे को सोने के पिजड़े में भी रख दिया जाय तो क्या वह यज्ञ के हव्य को खाने का पात्र हो सकता है ? और देखो, अधम तथा मूर्ख कर्ण सूत का पुत्र होता हुआ निर्लज्ज होकर अर्जुन के साथ युद्ध करना चाहता है !)

(भीम, लगता है तुम्हें सन्निपात का ज्वर हो गया है, जिससे कि बड़बड़ा रहे हो। यह कर्ण सिंहासन पर आसीन राजा है, ऐसा संसार में जिसे अभिमत नहीं उसके मस्तक पर मेरा पैर है। उसे मैं समर के लिए बुलाता हूँ, वह शीघ्र इस वीर के सम्मुख उपस्थित हो और यदि नहीं, तो अपने मुख में कालिख पोत कर यहाँ से भागे।)

यहाँ, क्रोध की स्थिति में भीम तथा सुयोधन के मुख से कुछ अशिष्ट से लगने वाले शब्द का उच्चारण किया जाना बहुत अनुचित भी नहीं कहा जा सकता है।

कवि का दूसरा महाकाव्य श्रीभारतधर्म महामण्डल के संस्थापक स्वनामधन्य महामनीषी स्वामी ज्ञानानन्द जी के जीवन पर आधारित है। कवि को स्वामीजी के सान्निध्य का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। महाकाव्य में इतिवृत्तात्मकता को अधिक प्रश्रय मिला है तथापि चरित्र-नायक के व्यक्तित्व को उभारने में कवि को सफलता मिली है। वेदर्भी रीति वाली कवि की भाषा में कहीं-कहीं अलंकार सहज भाव से अनस्यूत लगता है -

प्रकृतिः किल यस्य यादृशी नहि यत्नात् परिवर्तते क्वचित्।
सहितः सितशर्करादिभिः, न च निम्बो विजहाति तिक्तताम् ।।६/११

(जिसका जैसा स्वभाव होता है वह कहीं यत्न से नहीं बदलता है, चीनी के साथ होने पर भी नीम अपना तीतापन नहीं छोड़ता।)

निश्चय ही शान्तरस प्रधान इस रचना में कवि ने अपने चरित-नायक के माध्यम से संसार को अभिधा की ही भाषा में कुछ उपदेश देते हुए अपने कर्तव्य का निर्वाह किया है।

गोस्वामिबलभद्रप्रसाद शास्त्री (उत्तरप्रदेश) गोस्वामी प्रकाशन, सकाहा हरदोई से १९७५ में प्रकाशित बारह सर्गों में रचित गोस्वामी जी का नेहरुयशःसौरभमहाकाव्य पं. जवाहर लाल नेहरू के राष्ट्रिय चरित्र पर रचित संस्कृत की अनेक कृतियों में से एक है। परम्परागत महाकाव्य के लक्षणों पर निर्मित इस काव्य में कवि की समर्थ लेखनी यथास्थान प्रकट होती है। अपने काव्य नायक के चरित के वर्णन के माध्यम से कवि ने अपनी राष्ट्रभक्ति को भी इस रचना में अनुस्यूत किया है। कवि कहता है कि अपना अपमान, प्रतिभा का उपहास, भूसम्पत्ति और स्वर्ण-धन का अपहरण तथा विद्या-कला-संस्कृति का सर्वनाश देखता हुआ भी वह कौन है जो दासता को सहता है-

आत्मापमानं प्रतिभोपहासं स्वसम्पदास्वर्णधनापहारम्।
विद्याकलासंस्कृतिसर्वनाशं पश्यन्नसौ दास्यमपीहते कः।। ५/३८

विश्वनाथ केशव छत्रे (महाराष्ट्र, १९०६) कवि छत्रे ने अनेक संस्कृत तथा मराठी ग्रन्थों की रचना की। भारतीय रेल विभाग में लिपिक के रूप में सेवा से निवृत्त होकर सिद्धेश्वर आली, जोगलेकर वाडा, कल्याण जि. ठाणे (महाराष्ट्र) में निवास किया। दस सर्गों में रचित सुभाषचरित महाकाव्य के अतिरिक्त तीन और महाकाव्य, १८ सर्गों में उपनिबद्ध एकनाथचरित, श्रीसातवलेकरचरित, भारतीयस्वातन्त्र्योदय लिखे। एकनाथचरित का ९ सर्गों का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ और बारह सर्गों के श्रीसातवलेकरचरित का निर्माण १९८३ में पूरा हुआ, किन्तु यह अप्रकाशित है। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस (१८९७-१९४५) के महनीय जीवन पर लिखित सुभाषचरित महाकाव्य अपने चरित-नायक के त्यागमय जीवन की ही भाँति एक सार्थक प्रयास है। नेताजी ने भारत से पैदल पलायन किया था तब उनका मार्ग कितना कठिन था, किन्तु प्रबल देशभक्ति के कारण अत्युच्च विद्या से समलङ्कृत, भोग की ओर से निवृत्त सुभाष ने जंगल में पैदल प्रस्थान किया-

कियत्यहो भारतभूमिभक्तिस्त्यक्त्वा यदर्थं विषयोपभोगान्।
अत्युच्चविद्यासमलङ्कृतोऽसौ पद्भ्यां युवा याति वने सुभाषः।। ७/४६

कवि ने अपने चरित नायक के विषय में ठीक ही कहा है कि पीछे चलने वाले तो हजारों बार-बार मिलेंगे, पर नेताजी के समान नेता बार-बार नहीं प्राप्त होगा।

भूयो हि लभ्या अनुगाः सहस्रं नेता तु नेताजिसमो न भूयः।

बालकृष्ण भट्ट (उत्तर प्रदेश) कवि भट्ट का जन्म पर्वतीय क्षेत्र टिहरीगढ़वाल के जाखौली ग्राम में हुआ। इन्होंने अपने ही जिले के राजकीय संस्कृत महाविद्यालय में प्रधानाचार्य के पद पर सेवाकार्य किया था। इनके द्वारा रचित सत्ताइस सर्गों का कनकवंश महाकाव्य स्वयं कवि द्वारा चार भागों में प्रकाशित कराया गया है (१९५२,१९५४,१९६१, १९६९)। कवि भट्ट की ही दूसरी रचना भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति (१९४७) के अवसर पर रचित स्वतन्त्रभारतम् नाम का खण्ड काव्य (दो भागों में विभक्त) है। कवि ने इसे "भारतस्वातन्त्र्यालोकः" भी कहा है।

इस ऐतिहासिक काव्य में गढ़वाल के परमारवंशीय नरेश कनकपाल के वंश का वर्णन है। इसका कथा-क्षेत्र ईसा की सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से बीसवीं शताब्दी के मध्यकाल तक, अर्थात् कनकपाल के सिंहासनाधिरूढ होने से लेकर मानवेन्द्र शाह के शासन काल तक फैला हुआ है। कवि ने इस समग्र कथावस्तु को बड़ी भावुकता के साथ प्रस्तुत किया है। प्रथम श्लोक इस प्रकार है-

अनन्तकल्याणगुणैकसिन्धुःविधेर्विधानस्य कृतेऽस्ति हिन्दुः।
समस्तभूमण्डलमण्डनेशः स राजते भारतवर्षदेशः।।

(वह भारत देश शोभायमान है, जो अनन्त कल्याण-गुणों का एक सागर है, विधाता के विधान के लिए हिन्दु है तथा समस्त भूमण्डल का श्रेष्ठ भूषण है।)

स्वाभाविक है जो कवि ने हिमालय की प्राकृतिक रम्यता और उसमें प्रवहमान अनेक नदियों और विराजित तीर्थों का वर्णन किया है।

सत्यव्रत शास्त्री (१९३०) इनका जन्म लाहौर, जो अब पाकिस्तान का एक शहर है, में हुआ। आपके पिता चारुदेव शास्त्री विशेष रूप से पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त विद्वान् थे। देश के विभाजन के पश्चात् इन्होंने पिता के साथ अम्बाला और जालन्धर में रहकर अध्ययन किया। विशेष अध्ययन वाराणसी में किया तथा १९५९ में दिल्ली विश्वविद्यालय संस्कृत विभाग में विभिन्न पदों पर अध्यापन करते हुए आचार्य के पद से अवकाश ग्रहण किया। आपकी रचना श्रीगुरुगोविन्दसिंह-चरित (१९६७) पर साहित्य अकादमी पुरस्कार, १९६८ में प्राप्त हुआ।

कविवर शास्त्री द्वारा रचित तीन महाकाव्य प्रकाश में आये। १. श्रीबोधिसत्त्वचरित, जो प्रथम बार १९६० में प्रकाशित हुआ तथा दूसरी बार १९७३ में, मेहरचंद लछमन दास, दरियागंज दिल्ली द्वारा प्रकाशित किया गया। २. इन्दिरागान्धीचरितम्, जो भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली से १९७६ में प्रकाशित हुआ। ३. श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य मूलामल सचदेव प्रतिष्ठान और अमरनाथ सचदेव प्रतिष्ठान, बैंकाक द्वारा १९९० में प्रकाशित किया गया।

चौदह सर्गों का प्रथम महाकाव्य श्रीबोधिसत्त्वचरित पालि-साहित्य की (और संस्कृत

में भी प्राप्त होने वाली) कुछ जातक कथाओं पर आधारित है। इनमें बुद्धत्व प्राप्ति से पूर्व, बुद्ध के पूर्वजन्मों की कथाएं हैं। बोधिसत्त्व नाना जन्म ग्रहण करके उदात्त कर्म करता है और अन्ततः बुद्धत्व को प्राप्त होता है। प्राचीन महाकाव्य के लक्षण के अनुसार, या तो एक नायक का सम्पूर्ण चरित वर्णित होता है या एक वंश के अनेक नायकों का। रघुवंशकी भांति एकवंश के अनेक नायकों का चरित तो आलोच्य रचना में वर्णित नहीं है, फिर भी यहां बोधिसत्त्व सभी कथाओं में बुद्धत्व की प्राप्ति के एक मात्र उद्देश्य से प्रयत्नशील है अतः असम्बद्ध घटनाओं में भी एकसूत्रता सी बन गयी है। इस प्रकार आधुनिक संस्कृत के एक प्रतिष्ठित कवि द्वारा परम्परा से अलग हटकर लिखित इस रचना को महाकाव्य की श्रेणी में स्थापित करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। कवि के एक आलोचक डॉ. धर्मेन्द्र कुमार गुप्त के शब्दों में "कथानक की सीमाओं के होते हुए भी कवि उक्त पात्रों (जैसे अरिष्टपुर का नरेश शिबि, युक्तमना कृषक, संघ और उसका मित्र पीलिय) एवं अन्य पात्रों में चरित्र का क्रमिक विकास दिखाने में सफल हुआ है।" (भूमिका) चरित्र के क्रमिक विकास में डॉ. गुप्त को सर्वाधिक मात्रा में अन्तर्द्वन्द्ध का अनुभव अरिष्टपुर नरेश शिवि के चरित्र में हुआ है, जो पहले सेनापति की सुन्दर पत्नी के प्रति पाप-पूर्ण दृष्टि रखता है और बाद में पश्चात्ताप की अग्नि में तप कर सोने के समान निर्मलचरित्र हो जाता है। उन्मदन्ती के सौन्दर्य में शृङ्गार को प्रश्रय मिला है-

अनङ्गरङ्गस्थलमन्तरङ्गं तरङ्गयन्ती कुटिलैः कटाक्षैः।
असौ विशालायतपक्ष्मलाक्षी मनोऽहरन्मे वनकिन्नरीव।।
मणिप्रभोद्भासितकुण्डलश्रीर्होमद्युतिर्विद्युदिवोल्लसन्ती।
मुग्धा विदग्धोचितलीलया मां व्यलोकयत्सा चकिता मृगीव।। ८/६६-७

(अपने कुटिल कटाक्षों से कामदेव के रंगस्थल रूप मेरे अन्तरंग को तरंगित करती हुई यह विशाल, आयत तथा पक्ष्मल नेत्रों वाली वन-किन्नरी की भांति मेरा मन हर चुकी है।

मणिकी प्रभा से उद्भासित कुण्डल-शोभा वाली, सूवर्णकान्तिवाली, बिजली की भांति कौंधती हुई उस मुग्धा ने विदग्ध के समुचित लीला से चकित मृगी की भांति मुझे निहारा।)

हालांकि यहां अनुचित कामभावना की उत्पत्ति के कारण शृङ्गार के आभास की कोटि का रस अभिव्यक्त है।

कवि की दूसरी महाकाव्य-कृति है, इन्दिरागान्धीचरित, जिसमें २५ सर्ग हैं। यह भारतीय स्वतान्त्र्य संग्राम के अन्तिम चरण के कालखण्ड के कथानक पर आधारित है, जिसमें महात्मा गान्धी का पदार्पण हो चुका था और प्रयाग में बसा कश्मीरी नेहरूपरिवार उस संग्राम से सर्वात्मना जुड़ चुका था। पं. मोतीलाल नेहरू का "आनन्द-भवन" उसका केन्द्र बन चुका था। महाकाव्य की चरितनायक इन्दिरा का जीवन उसी घटना-संकुल

वातावरण में विकसित होता है। कवि के अनुसार, उसे अपने दादा मोतीलाल से उदारता और उच्च परिष्कृत रुचि, पिता से स्वाध्यायशीलता औद अदम्य साहस, पितामही से अपने देश के साहित्य में भक्ति और दृढ़ आस्था के संस्कार प्राप्त हुए तो उसमें मां कमला ने प्राचीन संस्कृति में प्रेम और सौकुमार्य के संस्कार डाले। महाकाव्य के प्रथम से लेकर बीसवें सर्ग तक इन्दिरा गान्धी के चरित के विकास क्रम को भूमिका के रूप में प्रस्तुत करके अन्तिम पांच सर्गों में कवि ने केन्द्र में मन्त्री पद प्राप्त करने से लेकर १६७६ तक की घटनाओं का वर्णन किया है। महाकाव्य में किसी महान् व्यक्तित्व के महत् कार्यों का मूलतः वर्णन होता है, अतः इन्दिरागान्धीचरित एक ऐतिहासिक श्रेणी का महाकाव्य कहा जा सकता है। इसमें कवि ने इतिवृत्तात्मकता को अधिक प्रश्रय दिया है, फिर भी उसकी भाषा में घटनाओं को प्रस्तुत करने में कवित्व का स्पर्श निरन्तर बना होने से एक गतिशीलता के साथ सरलता का भी अनुभव होता है। इन्दिरा की मां कमला का क्षयरोग से देहान्त हो जाता है। वह मातृवियोग के कारण अत्यन्त दुःखी होने पर भी अपना धैर्य नहीं खोती (१२/३५) और जब उसका विवाह फिरोज गांधी के साथ सम्पन्न हो रहा था तब उस सुखद वातावरण में भी मां के न रहने के कारण एक विषाद की सूक्ष्म रेखा उसकी आंखों में झलक रही थी (१५/२५)। वर्णनों में कवि ने संक्षिप्तता बरती है। प्रयाग, शर्मण्यदेश, स्वीटजरलैण्ड के वर्णन आकर्षक हैं। शान्तिनिकेतन के वर्णन के प्रसंग का यह पथ आकलनीय है-

सुकविता सुकवेरिव कस्यचित् सुघटिता प्रतिमेव सुशिल्पिनः।
सुरमणीयमृषेरिव दर्शनं लसति शान्तिनिकेतनमद्‌भुतम्।। १२/५

(किसी सुकवि की सुकविता की भाँति, अच्छे शिल्पी की सुघटित प्रतिमा की भांति, सुरम्य ऋषि के दर्शन की भाँति अद्‌भुत "शान्तिनिकेतन" सुशोभित है।)

इन्दिरा का व्यक्तित्व अन्त के पांच सर्गों में पूर्ण विकसित होकर प्रस्तुत हुआ है और कवि को उसके प्रस्तुतीकरण मे पर्याप्त सफलता मिली है।

घटना-प्रधान इस महाकाव्य के अपेक्षाकृत छोटे-छोटे सर्गों में कवि ने अपने युग के एक प्रखर व्यक्तित्व को महाकाव्य का विषय बनाने का एक सफल प्रयास किया है। यह भी कहा जा सकता है कि अपने आश्रयदाता के प्रशस्तिगान वाली प्राचीन मानसिकता से कवि ने अपने को असंस्पृष्ट रखते हुए यथार्थ को उभारने का प्रयास किया है।

श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य २५ सर्गों में पूर्ण हुआ है। यह मूल थाईदेश की रामायण पर आधारित है। जैसा कि स्वयं कविवर शास्त्री ने अपने "आत्मनिवेदनम्" में यह स्पष्ट कर दिया है कि उन्होंने थाई-देशों में प्रचलित "रामकीर्ति" नाम की रामगाथा को उपजीव्य-ग्रन्थ के रूप में लिया है तथा जो उपाख्यान श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण अथवा अन्य भारत में प्रसिद्ध रामायणों में उपलब्ध नहीं होते, उन्हें विशेष रूप से लिया है, जिससे थाई-रामायण के राम का कथागत वैशिष्ट्य समुन्मिषित हो। उनका यह भी कहना है कि "रामकीर्ति" की

रामगाथा उनके सूत्रमात्र है, उसे परिवतर्तित न करते हुए उन्होंने अपनी शैली में अपना भी कुछ जोड़ा है।

प्रथम सर्ग में पहले के पांच पद्य कवि ने "थाइदेशविलास" नामक की अपनी रचना से उद्धृत किये हैं। नगर की राजधानी "बैकाक" के इतिहास, रामकीर्ति के नाम से ख्यात रामगाथा के इतिवृत्त और उसके प्रति उस देश के वासियों की आत्मीयता की चर्चा है। द्वितीय सर्ग में अनोमतन् नाम के आद्य नृपति के जन्म का वर्णन है। इस प्रसंग में हिरन्त यक्ष नाम के असुर का उपद्रव, देवताओं का उसके प्रतीकार के लिए ईश्वर के पास गमन, ईश्वर द्वारा नारायण का स्मरण, नारायण द्वारा हिरन्त यक्ष का वध, तब क्षीरसागर पर पहुंचे नारायण द्वारा पद्म पर सो रहे एक शिशु का दर्शन, उसे ईश्वर को उपहृत करना, ईश्वर द्वारा उसका नाम अनोमतन् रखा जाना तथा यह आदेश देना कि यह पृथ्वी का प्रथम राजा होगा, ईश्वर के आदेशानुसार महेन्द्र द्वारा अयोध्यापुरी का निवेशन, अनोमतन् से दशरथ और दशरथ से श्रीराम की उत्पत्ति का इतिवृत्तात्मक निर्देश किया गया है।

कवि ने वाल्मीकीय रामायण और "रामकीर्ति" में प्राप्त होने वाले समान पात्रों की संज्ञाओं को तो वाल्मीकीय रामायण के अनुसार ही रखा है, हालांकि "रामकीर्ति" में उनके उच्चारण में भेद पाया जाता है, जैसे "दशरथ" के लिए "तोत्सरोत्" आदि, किन्तु जो संज्ञाएं मात्र रामकीर्ति में प्राप्त हैं उन्हें अपरिवर्तित रूप से रखा है। यहां प्रत्येक सर्ग की कथा को उद्धृत करना सम्भव नहीं। कवि ने सर्वत्र मूलकथा की इतिवृतात्मकता सुरक्षित रखी है, जिसमें उसके द्वारा प्रस्तुतीकरण में कवित्व के स्पर्श की सामान्य अनुभूति होती है। कवि की यह प्रवृत्ति उसके अन्य महाकाव्यों में भी लक्षित हुई है। अनेक मार्मिक प्रसंगों को अवर्णित छोड़ दिया गया है। चतुर्थ में लीला की उत्पत्ति के तुरंत बाद सीता का विवाह प्रसंग उपस्थित हो जाता है। यहां धनुभंग से कुपित परशुराम रामासुर के रूप में आकर युद्ध करते हैं। यहां ऐसी अनेक धटनाओं की सूचना है जो भारतीय रामायणों से सम्भवतः ज्ञात नहीं हैं, जैसे कैकेयी की दासी कुब्जा के मन में बाल्यकाल में राम के साथ घटित एक घटना के कारण द्वेष का भाव बना हुआ था आदि। वनवास, सीताहरण, जटायु-वृत्तान्त, हनुमान् से सम्पर्क, सुग्रीव से मैत्री, वालि का बध आदि घटनाएं सामान्य वर्णनों के साथ सूचित कर दी गयी है। इसी प्रकार हनुमान् का लंका-गमन, सीता से भेंट और लंकादहन के प्रकरण सूचित मात्र हो जाते हैं। नवम सर्ग में रावण द्वारा दो स्वप्नों का दर्शन और विभीषण से उनके फल के सम्बन्ध में पूछने की चर्चा है। कवि ने इस प्रकरण को "शार्दूलविक्रीडित" छन्द में प्रस्तुत किया है। विभीषण द्वारा स्वप्नों के फल कहे जाने पर रावण क्रुद्ध हो कर कहता है-

शक्तिं न्यूनां गणयसि कथं राघवान्मे विजेतु-
र्दिक्पालानां सकलभुवनस्पृहृयकीर्तेर्विमूढ।
क्वाहं वीरो जगति विदितो राक्षसानामधीशो

राज्याद् भ्रष्टो वनमधिवसन् राघवो वा पुनः क्व।। ६१/१५

(मूर्ख, तू दिक्पालों के विजेता तथा सारे संसार में स्पृहणीय कीर्ति वाले मुझ रावण की शक्ति को राम से कैसे कम मानता है ? कहां राक्षसों का अधिपति जगत् में विख्यात वीर और कहां राज्य से च्युत वनवासी राम!)

रावण द्वारा निष्कासित एवं अपमानित विभीषण राम की शरण में आता है। अब रावण की ओर से राम के शिबिर में शुक्रसार का आगमन और हनुमान् द्वारा उसकी दुर्गति, स्वयं साधु के वेश में रावण का आगमन और राम को सलाह देना कि रावण रूपी अग्नि में शलभायायित न हो, किन्तु राम के मुख से यह प्रतिज्ञा सुनता है और लौट जाता है।

चापद्वितीये मयि युध्यमाने स्थातुं ममाग्रे न भवेदलं सः।
एकैकशः कर्तयितास्मि तस्य तीक्ष्णैर्दशास्यानि शरैरहं द्राक्।। ८/५१।।

(जब धनुष लेकर मैं युद्ध करूंगा तो वह मेरे सामने नहीं ठहर सकता। तीक्ष्ण बाणों से मैं एक-एक करके दसों सिर काट डालूगां।)

रावण माया आरम्भ करता है। वह वेञ्जकयी नाम की राक्षसी को भेजता है जो मृत सीता के रूप में राम को पानी में तैरती दिखायी देती है। अन्त में वह हनुमान् द्वारा पकड़ ली जाती है। विभीषण बताते हैं कि यह उनकी पुत्री है और अपने इस कृत्य के कारण वधार्ह है, किन्तु यह कहते हुए हनुमान इसे क्षमा कर देते हैं-

एवं सखे नैव भवेत् कदाचित् हन्यां कथं मित्रवरस्य कन्याम्।
यथा तवेयं हि तथा ममापि क्षम्यो मयाऽस्याः प्रथमापराधः।। १०/२१

(मित्र ! ऐसा कभी नहीं होगा, मित्रवर की पुत्री को कैसे मार सकता हूं ? जैसे यह तुम्हारी कन्या है वैसे मेरी भी है, इसका पहला अपराध मेरे द्वारा क्षम्य है।)

राम की आज्ञा से हनुमान् वेञ्जकयी को लंका पहुंचाने जाते हैं और मार्ग में ही उसके प्रेम पाश के वशीभूत होकर उसके साथ रमण करते हैं। उन्हें एक "असुरफद" नाम का पुत्र होता है। हनुमान् के साथ सुवर्णमत्स्या का एक और प्रणयप्रसंग घटित होता है। वह मुग्ध होकर मन में सोचती है-

दृष्ट्वैनमत्र मनसः सुतरामनीशा जाने न किं खलु मया करणीयमत्र।
पर्याकुलेव लुलितेव सुविह्वलेव वल्लीव पौरुषतरुं श्रयितुं लषामि।। १२/४२

(इन्हें देखकर ही पूरा मन दे बैठी, समझ में नहीं आता, यहां क्या करूं ? पर्याकुल-सी, लुलित-सी, विह्वल-सी लता की भांति इनके पौरुष रूपी वृक्ष का आश्रय लेना चाहती हूं)

मैयराब का विस्तृत उपाख्यान दो सर्गों में उपनिबद्ध है जिसमें हनुमान् राम को पाताल देश से ले आते हैं। कुम्भकर्ण, इन्द्रजित और रावण के वध की घटनाएं घटित होती हैं। अन्त के बीसवें सर्ग से पच्चीसवें सर्गों तक उत्तररामचरित की घटनाएं घटित होती हैं। एक प्रसंग में राम सीता से अयोध्या चलने के लिए निवेदन करते हैं किन्तु सीता यह कहकर ठुकरा देती हैं-

जीवामि दैवादहमद्य राजन् मृता त्वहं त्वत्कृत आसमेव।
मृतां गृहाणैव तु मां त्वमद्य त्वया मया किं करणीयमस्ति।। २३/२२
तत्स्वस्ति तेऽस्तु व्रज राजधानीं न्यायेन सर्वाः प्रकृतीः प्रशाधि।
पत्नी तवाहं तव नित्यमेव धास्यामि कल्याणमहं स्थिताऽत्र।। २३/३०

(हे राजन्! मैं भाग्य से आज जीवित हूं, तुम्हारे लिए तो मर ही चुकी थी, आज तुम मुझे मरी हुई को ग्रहण करो, तुमसे मुझे क्या लेना-देना है ? इसलिए तुम्हारा कल्याण हो, तुम राजधानी लौट जाओ और न्यायपूर्वक प्रजाओं का शासन करो, मैं तुम्हारी पत्नी नित्य ही बनी रहूंगी और यहां रह कर कल्याण करूंगी।)

तब राम सीता के दोनों पुत्रों को अपने साथ अयोध्या ले जाने के लिए उसकी अनुमति चाहते हैं। वह व्याकुल हो जाती है, किन्तु अन्त में यह कह कर उन्हें ले जाने की अनुमति देती है-

पत्युर्वियोगो मयका विसोढश्चिराय सम्प्रत्यहमाश्रमेऽस्मिन्।
दीर्घं सहिष्ये सुतयोर्वियोगं सीताऽस्मि सर्वं मम सह्यमेव।। २३/४३

(पति का वियोग मैंने चिरकाल तक सहन किया, अब इस आश्रम में, पुत्रों का दीर्घ वियोग भी सहूंगी। मैं सीता हूं, मुझे सब सहना है।)

चौबीसवें सर्ग में राम सीता के दोनों पुत्रों-मंकुट और लव द्वारा सन्देश देते हैं कि यदि वह अयोध्या नहीं आयेगी तो उनके आंसू उनके प्राण हर लेंगे। यह सन्देश पाकर सीता राम के अन्तिम दर्शन के लिए अयोध्या आने की प्रतिज्ञा करती है। राम बहुत व्याकुल होते हैं। सीता के मिलन के लिए अनेक उपाय सोचते हैं। अन्त में हनुमान् को छद्‌म रूप से यह सूचित करने के लिए भेजते हैं कि राम दिवंगत हो गये। इस सूचना से वह मूर्च्छित होकर गिर जाती है। फिर वह हनुमान् के साथ अयोध्या आती है और विलाप करती है। तभी राम उसके सामने प्रकट हो जाते हैं। इससे पति द्वारा अपने को छलित अनुभव करके दुःखी होती है। वह पुनः "शठोत्तम" राम के वचन पर विश्वास न करने का निर्णय लेती है। जब राम कहते हैं कि वह कैसे जायेगी, द्वार तो रुद्ध हैं। इस पर उसे परम विस्मय होता है। वह इष्टदेवता से प्रार्थना करती है। उसी समय पृथ्वी विदीर्ण हो जाती है और वह पाताल लोक चली जाती है। अन्तिम २५ वें सर्ग में भगवान् शंकर के प्रयास से राम और सीता का मिलन सम्पन्न होता है।

कविवर शास्त्री के सभी महाकाव्यों में घटनाओं के बाहुल्य के कारण इतिवृत्तात्मकता को कवित्व के स्पर्श की अपेक्षा अधिक प्रश्रय मिला है, फिर भी अपनी प्रासादिक प्रवाहमयी शैली के कारण तथा यत्र-तत्र मर्म-स्पर्शी प्रसंगों को अनुस्यूत करने के कारण इनकी आधुनिक संस्कृत महाकाव्यकारों में एक प्रतिष्ठा है और इनका "रामकीर्ति महाकाव्य" एक नये आयाम को उद्घाटित करने वाली रचना सिद्ध होगी, ऐसा विश्वास होता है।

ब्रह्मानन्द शुक्ल (उत्तर प्रदेश, १६०४-१६७०) मुज़फ्फरनगर जिले के चरथावल ग्राम में जनमे कवि शुक्ल ने खुरजा के श्रीराधाकृष्ण संस्कृत महाविद्यालय में साहित्य विभाग के अध्यक्ष के रूप में सेवा की। इनमें संस्कृत के पाण्डित्य के अतिरिक्त कवित्व का भी विशेष गुण था। इन्होंने अनेक कृतियां संस्कृत साहित्य को दीं, जिनमें लघुकाव्य श्रीगान्धिचरितम् भी है। इनकी अन्तिम रचना श्रीनेहरुचरित महाकाव्य है जो अट्ठारह सर्गों में निर्मित है, जिसका प्रकाशन शारदासदनम् ३८ राधाकृष्ण, खुरजा (उ. प्र.) से १६६६ में हुआ है।

स्वयं कवि शुक्ल ने लिखा है कि यहां लक्षण ग्रन्थों में प्रतिपादित महाकाव्य के लक्षणों का उन्होंने परिपालन नहीं किया है, प्रत्युत युगानुसार महाकाव्य के लक्षण को ध्यान में रखकर रचना की है। श्रीनेहरूचरित में भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू के जीवन चरित को आधार बनाया गया है। कवि ने पं. नेहरु के जन्म से लेकर उनके दाम्पत्य सौख्य के वर्णनों में महाकाव्य का तीन चौथाई भाग लगाया है। नेहरूजी का जन्म किसी योगीश्वर के पुर्नजन्म ग्रहण के रूप में होता है (चतुर्थ सर्ग)। विदेशों में अध्ययन, पिता पं. मोतीलाल के निर्देश पर गांधी जी के साथ होना और कांग्रेस के एक सदस्य के रूप में देश की सेवा में जुट जाना, कमला के साथ विवाह, पिता, पत्नी और माता के स्वर्गवास, पुत्री इन्दिरा के लिए उच्च शिक्षण का निश्चय वर्णित होते हैं और चतुर्दश सर्ग के अन्त में, पं. नेहरू प्रधान मन्त्री होते हैं। बाद के सर्गों में नेहरूजी के विविध कार्यकलापों का वर्णन है। काव्य का अन्त उनके स्वर्गवास की घटना को लेकर होता है।

यहां कवि ने इतिवृत्तात्मकता को प्रश्रय दिया है, फिर भी कवि का कवित्व पक्ष बहुत शिथिल नहीं हुआ है। वर्णनों के लिए उसे पर्याप्त अवसर मिलता है, किन्तु उनमें वह उलझता नहीं। वर्णनों में वस्तुस्थिति को यथार्थ रूप से प्रस्तुत करने में उसका अधिक मनोयोग लक्षित होता है। पं. नेहरू के रूप में काव्य का नायक न केवल देश के पारतन्त्र्य की समस्या, बल्कि एक ही साथ अनेक पारिवारिक कठिनाइयों से भी जूझता हुआ निर्दिष्ट हुआ है-

पितरौ स्थविरौ जातौ पुत्री पञ्चदशाब्दिका।
पत्नी रोगाकुला हन्त कीदृशीयं विडम्बना!। १३/५२

(माता-पिता बूढ़े हो चले, पुत्री पांच साल की है, पत्नी रोग से पीड़ित है, हाय कैसी विडम्बना है !)

कविने यमक, परिसंख्या आदि अलंकारों को भी यथास्थान प्रश्रय दिया है। वह अपने नायक के देश सेवा व्रत को इन शब्दों में, नायक के मुख से व्यक्त करता है-

कदापि नाहं विचलामि सत्यात् पथः स चैवं करुणां करोतु।
शरीरमेतन्मम देशसेवारतस्य कामं विलयं प्रयातु।। ६/२२

(सत्य के पथ से मैं कभी विचलित नहीं होउं, वह ऐसी करुणा करे। देश की सेवा में लगे मेरा यह शरीर चाहे विलीन ही क्यों न हो।)

कवि अपने नायक के सम्बन्ध में कहता है-

कष्टैरनेकैः परिपीडितोऽपि न लेशतोऽयं चलितो बभूव।
वेगैर्नदीनां परिवारितोऽपि यथाऽचलो नैष चलः कदाचित्।। १३/३०

(अनेक कष्टों से नितान्त पीडित होकर भी यह विचलित नहीं हुआ, जैसे नदियों के वेगों से घिरा पर्वत भी विचलित नहीं होता, अपने स्थान से नहीं हटता।)

इस रचना में कविने पाकिस्तान बनने के पश्वात् पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान में हुए दंगों का भी वर्णन किया है जो संस्कृत रचनाओं में विरलता से वर्णित हुए हैं। सामान्यतः इस रचना के लेखन से कवि शुक्ल को उत्तम कवियों की गणना के अवसर पर उल्लेखनीय माना जा सकता है।

क्षेमधारिसिंह शर्मा (१८६३-१६६१) दर्शन (विशेषतः शाक्तदर्शन) के अध्ययन-मनन के साथ उपासना में सहज प्रवृत्ति रखने वाले क्षेमधारिसिंह का जन्म मिथिला के राजपरिवार में हुआ। ये कवि के रूप में अपनी ख्याति से निरपेक्ष रहे और सही अर्थ में स्वान्तःसुखाय ही काव्य रचना में प्रवृत्त हुए। इनकी दार्शनिक भाव वाली अनेक कृतियां अप्रकाशित रह गयीं। सुरथचरित महाकाव्य का प्रकाशन भी इनकी मृत्यु के पश्चात् हुआ। मार्कण्डेयपुराण के ८१वें अध्याय से लेकर ६३ वें अध्याय में उपनिबद्ध देवी माहात्म्य, जिसे दुर्गासप्तशती के नाम से जाना जाता है, के प्रथम अध्याय और त्रयोदश अध्याय के कथाभाग को कवि ने आधार बनाकर १८ सर्गों में सुरथचरित महाकाव्य की रचना की, जो क्षेमधारिस्मृतिप्रकाशन, मधुबनी (बिहार) से १६६७ में प्रकाशित हुआ। महाकाव्य के लक्षण का अनुगमन करते हुए कवि ने राजा सुरथ को धीरोदात्त नायक के रूप में तथा अंगीरस के रूप में शान्त को प्रतिष्ठित किया है। प्रसंगतः अन्य रसों का तथा प्रकृति के वर्णनों का भी रमणीय प्रसादगुणमय नियोजन कवि ने किया है।

कविता निर्माण में प्रवृत्त कवि ने देवी (दुर्गा) की करुणामयी दृष्टि को महत्त्व दिया है-

काचित् पिपीलिका चन्द्रं यातु जातु लघीयसी।
पद्भ्यां वा यदि तस्यास्तु भवेद्धि करुणामयी।। १/१३

(कोई क्षुद्र चींटी कभी चन्द्र तक पैरों से चलकर पहुंच जाये, यदि उस पर करूणामयी दृष्टि पड़ जाये।)

कवि की जननी दुर्गा के प्रति अगाध निष्ठा से प्रेरित यह काव्य एक आकलनीय रचना बन पड़ा है। कवि ने सीता और राधा को भी उसी दुर्गा का अवतार माना है-

सीता स्वयं सा भुवनस्य धात्री समागता रामगृहे च लक्ष्मीः।
आद्यैव शक्तिर्भवरक्षणाय जाता पृथिव्या जनकस्य कन्या।। ११/२४
कृष्णस्य माया परमेव शक्तिः काचिच्च लोकप्रथिताऽप्यदृश्या।
दृश्या च राधा पुरगोपजाता रासेश्वरी या शरदः प्रभेव।। ११/३३

(स्वयं वही भुवन का पालन करने वाली आद्या शक्ति संसार की रक्षा के लिए जनक की कन्या होकर राम के गृह में लक्ष्मी के रूप में आयी और कोई लोक में प्रसिद्ध परम अदृश्य शक्ति ही दृश्य होकर शरत् की प्रभा जेसी गोपकन्या रासेश्वरी राधा हुई।)

कवि की अन्य प्रकाशित रचनाएं हैं- श्री स्तुतिमाला और शतनामपञ्जिका।

कालीपद तर्काचार्य-(१८८८) इनका जन्म बंगाल (अब बांग्लादेश) के फरीदपुर जिले के कोटलिपारा-उनशिया ग्राम में हुआ था। इनका उपनाम काश्यपकवि था। ये मधुसूदन सरस्वती तथा हरिदास सिद्धान्तवागीश के वंशज थे। इन्होंने १६३२ में कलकत्ता के संस्कृत कालेज में न्याय का अध्यापन किया तथा महामहोपाध्याय की उपाधि से भूषित हुए। इनके अनेक रूपक हैं तथा दो महाकाव्य हैं-सत्यानुभाव और योगिभक्तचरित। सत्यानुभाव प्रसिद्ध पौराणिक सत्यनारायण कथा पर आधारित एवं २४ सर्गों में रचित है। इसकी रचना सातवें दशक में हुई और संस्कृत साहित्य परिषद कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। इसमें कलि के प्रभाव का वर्णन, रमोपदेश, नारद वैकुण्ठ प्रवेश, नारद प्रेरणा, दरिद्र ब्राह्मण भिक्षाटन, नारदोपदेश, प्रदोषवर्णन, सत्यपूजोत्सव, ब्राह्मणवणिक्संवाद, वैश्यकृत सत्यपूजामहोत्सव, वाणिज्य व्यवसाय आदि से लेकर वणिक् की सभी विपत्तियों से मुक्ति से अन्त होता है।

सामान्यतः इस महाकाव्य में ऐसा कुछ नहीं लगता, जिसे कवि की दृष्टि किसी आधुनिक भाव बोध से समन्वित रचना की ओर है अन्यथा वह ऐसा सामान्य कथानक का आधार नहीं अपनाता। फिर भी कवि अपने राष्ट्र के प्रति शुभ भावना अपने पात्र के माध्यम से इन शब्दों में व्यक्त करता है -

चरति भारतवक्षसि सन्ततं करुणरोदनमन्तरदारणम्।
शमय सोमकरैरिव तापितं सदुपदेशकथामृतधारया।। १/५४

(भारत के वक्ष में सदा हृदय को विदीर्ण करने वाला करुण रोदन प्रवर्तमान है। आप सदुपदेशरूप कथामृत की धारा से उस ताप का शमन करें।)

भोलाशङ्कर व्यास (जन्म १६२४) बूंदी राजस्थान के नरेशों के कुलगुरु-परिवार में

फाल्गुन कृष्ण द्वादशी वि.सं. १९८१ को जन्मे कविवर व्यास का आरम्भिक अध्ययन उनके पितामह पं. गोवर्धन शास्त्री, पितृव्य कन्हैयालाल जी न्यायाचार्य तथा पिता शिवदत्त शास्त्री के घरके संस्कृत विद्यालय में सम्पन्न हुआ। बाद में इन्होंने पाश्चात्त्य पद्धति से अध्ययन करके काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र तथा भाषाशास्त्र का विशेष अध्ययन किया और इन विषयों पर ग्रन्थों का निर्माण भी किया। का.हि.वि. वि. वाराणसी के हिन्दी विभाग के आचार्य तथा अध्यक्ष पद पर कार्य करते हुए सेवानिवृत्त हुए हैं। इनके द्वारा हिन्दी में लिखित पण्डितराज जगन्नाथ के जीवन पर आधारित मौलिक उपन्यास "समुद्रसङ्गम" एक उत्तम कृति है।

व्यासजी ने १६ सर्गों में "शक्तिजयम्" (महाकाव्य) की रचना की है, जिसके आरम्भिक पांच सर्ग राजस्थान संस्कृत अकादमी (जयपुर) की प्रमुख पत्रिका (स्वरमङ्गला) में प्रकाशित हो चुके हैं। इस महाकाव्य की कथावस्तु दुर्गासप्तशती के उत्तरचरित (शुम्भवध-प्रकरण) से ली गई है, पर कवि ने शुम्भ और निशुम्भ को काम तथा क्रोध वृत्तियों का प्रतीक माना है, जो जीवों को 'पाश' में आबद्ध कर "पशु" बना देते हैं। परम शिव (पशुपति) की आनन्दशक्ति पराम्बा के अनुग्रह (शक्तिपात) के कारण ही शुम्भ और निशुम्भ पर विजय प्राप्त कर पाते हैं। वे इसके लिए अपनी-अपनी शक्तियों को भी युद्ध में प्रवृत्त करते हैं। इस काव्य में देवी दुर्गा के परामर्श पर देवरमणियों की सेना की तैयारी और युद्ध का वर्णन किया गया है और स्थान-स्थान पर त्रिकदर्शन और विशेषतः प्रत्यभिज्ञादर्शन के सिद्धान्तों का भी संकेत मिलता है। इसकी शैली तथा शिल्प पर कालिदास, माघ तथा श्रीहर्ष का प्रभाव कहीं-कहीं लक्षित होता है। प्राचीन महाकाव्यों में प्रयुक्त होने वाले प्रमुख छोटे-बड़े छन्दों के निबन्धन में कवि बहुत जागरूक है। एक सर्ग आर्यागीति (मात्रिक) छन्द में है।

ब्रह्मा, तदनन्तर आकाशवाणी के आदेश पर शुम्भ से हारे देवता शक्ति की सेवा में कैलास आते हैं। इस समय शीत ऋतु गुजारने के लिए शिव के मित्र कुबेर के यहां लंकापुरी में रुकते हैं (१ से ४ सर्ग तक)। पञ्चम में शीत ऋतु के बाद बसन्त का आगमन चित्रित है, पद्य आकलनीय है -

वाताश्लेषझरत्तुषारकणिकाप्रस्वेदिनी मेदिनीं
किं किञ्जल्ककरम्बककण्टभरैरामोदयन्ती भृशम्।
सूनैर्मञ्जुलयत्यहो स्मितिसुधापूरप्रभाभास्वरै-
र्मल्लीवल्लिमतल्लिका सुरभिता गन्धोन्मदं काननम्।।

(वायु के संश्लेष से झरते तुषार-कणों के पसीने वाली केसर-समूह के रोमाञ्च भार से पृथ्वी को आमोदित करती हुई, स्मिति के अमृत-प्रवाह से जनित प्रभा के भास्वर पुष्पों से सुरभित श्रेष्ठ मल्ली-लता गन्धोन्मद वन-प्रान्त को क्या रमणीय बना रही है!)

षष्ठ सर्ग में कुबेर द्वारा दर्शित मार्ग में हिमनदों को पार करते हुए सस्त्रीक देवता कैलास पहुंचकर समाधिस्थ शिव के दर्शन करते हैं। यहां कुबेर देशिक (गुरु) हैं, देवता

साधक और कैलास को पिण्डान्तवर्ती परम-पद का प्रतीक भी संकेतित किया गया है। इस प्रकार काव्य तथा दार्शनिक उन्मेष की सुन्दर योजना इस सर्ग में मिलती है। कैलास पहुंचने का दार्शनिक वर्णन कवि ने पुष्पिताग्रा छन्द में इन शब्दों में किया है-

निजपरगतभेदभिन्नमुच्चैः शिवसखदेशिकदर्शिताध्वना ते।
पदमतिगहनं प्रपेदिरे द्रागमरवराः परमव्ययं सुखेन।।

(वे श्रेष्ठ देवता शिव के मित्र कुबेर द्वारा दिखाये गये मार्ग से, जहां अपने पराये का भेद मिट जाता है ऐसे ऊँचे, अतिगहन तथा अव्यय पद पर सुखपूर्वक शीघ्र पहुंच गये।)

यहां "देशिक", "अध्वा" "अव्यय", "पर" "पद" शब्द समाधि दशा में साधक के पहुंचने का भी संकेत करते हैं। सातवें सर्ग में समाधिस्थ शिव से शक्ति के स्पन्दन, शक्ति के लीला-विलास का सुकुमार नृत्य के रूप में चित्रण तथा शिव के सात्त्वतीवृत्तिमय उद्धत नृत्य का वर्णन है, जो समाधिदशा में शिवशक्ति के यामल स्वरूप की लीलाओं का काव्यमय प्रस्तुतीकरण है-

आवर्तभङ्गीभिरपाङ्गलासं लास्यं नटन्त्या जगतां जनन्याः।
मल्लीसुमैर्नद्धगुणा नितम्बद्वये स्खलन्ती पतति स्म वेणी।।

(जब जगन्माता ने आवर्त की भङ्गियों से अपाङ्गलास का लास्य आरम्भ किया तब उनके नितम्बों पर मल्ली के फूलों से बंधी वेणी खिसककर गिरने लगी।)

आठवें सर्ग में पराशक्ति देवों पर प्रसन्न हो उन्हें शुम्भ पर विजय पाने का उपाय यह बताती हैं कि वे अपनी शक्तियों की सेना का निर्माण करें, जिन्हें युद्ध कौशल सिखाने को वह स्कन्द को आदेश देती हैं और युद्ध के समय स्वयं सहायतार्थ उपस्थित होने को कहती हैं। नवम में स्कन्द सस्त्रीक देवों को युद्ध-कौशल सिखाते हैं। दशम सर्ग में पराशक्ति स्वयं उपस्थित हो देवसभा में भावी युद्ध पर विचार कर शुम्भ के पास शिव को समझाने भेजती हैं। एकादश में चण्ड-मुण्ड अपूर्व लावण्यमयी एक सुन्दरी को हिमालय में विचरता देख शुम्भ को उसे ला लेने की सलाह देते हैं। द्वादश में शुम्भ का दूत आकर शुम्भ का प्रणय निवेदन करता है। देवी उसी को पति बरने की बात कहती हैं जो उसे युद्ध में जीत सके। त्रयोदश में धूम्राक्ष सेना के साथ आता है, युद्ध होता है। यहां दुर्गा के सिंह का रिपु सेना पर आक्रमण सुन्दर बन पड़ा है। चतुर्दश में चण्ड-मुण्ड तथा तदनन्तर रक्तबीज का देवशक्तियों के साथ युद्ध का वर्णन है। इनके मारे जाने पर पञ्चदश में निशुम्भ तथा शुम्भ का देवी के साथ युद्ध तथा उनके संहार का वर्णन है। अन्तिम षोडश सर्ग में कविकृत पराशक्ति की स्तुति है -

रजनिविरतौ प्रत्यूषेषु स्फुरच्चितिसागरे
रवविरहितं स्वान्तर्गीतं लयोत्कलिकाकलम्।

मधुरमधुरैश्छन्दोभेदैः परार्थरसोल्वणैः
प्रथयसि परे मूर्तिं रम्यां कवेः किल वैखरीम्।।

यहां कवि की रचना-प्रक्रिया का संकेत है, जहां कवि की वैखरी के रूप में पराशक्ति स्वयं स्वान्तर्गीत (पश्यन्ती तथा मध्यमा) की स्थिति में लहरियों सी उठती क्रमशः शब्द, अर्थ तथा रस से युक्त रचना होकर प्रकट होती है।

निखिलजगतीमामोदाङ्कां तनोति सुगन्धिता
परशिवकलाभूमिश्चास्ते महाफलकारणम्।
जयति विनतानन्दास्वादास्पदं पदमुच्चकै-
र्हरतरुवरस्येयं रम्या महारसमञ्जरी।।

यहां विशिष्ट आम्रमञ्जरी के द्वारा पराशक्ति का वर्णन है, जो परमशिव के वृक्ष पर बहुत ऊँचे लगी है और परानन्द (महारस) से युक्त है तथा महाफल (मोक्ष या जीवन्मुक्ति) का कारण है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण रचना एक ओर गम्भीर आध्यात्मिक पुट के कारण प्रौढ़ है तो दूसरी ओर कवि की अपूर्व वर्णन क्षमता के साथ कवित्व के स्पर्श से उल्लसित है।

रेवाप्रसाद द्विवेदी (मध्य प्रदेश, १६३५) - कविवर द्विवेदी का जन्म भोपाल के निकट "नादनेर" ग्राम में हुआ। विशेष अध्ययन के लिए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आये और वहीं बाद में संस्कृत महाविद्यालय में प्राध्यापक हुए। आरम्भ में इनके अनेक काव्य और मौलिक साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ प्रकाश में आये। ये कारयित्री तथा भावयित्री, दोनों प्रकार की प्रतिभा से सम्पन्न हैं। इनके दो महाकाव्य प्रकाशित हुए - सीताचरित (१६६०) जिसका प्र.सं. सागर वि.वि. (सागर) की संस्कृत परिषद द्वारा प्रकाश में आया और उसका षष्ठ परिष्कृत संस्करण कालिदास संस्थान, २८ महामनापुरी, वाराणसी से उत्तरसीताचरितम् के नाम से १६६० में प्रकाशित हुआ है। दूसरा महाकाव्य स्वातान्त्र्यसम्भव उक्त कालिदास संस्थान से १६६० में प्रकाशित हुआ है, जिस पर कवि को साहित्य अकादमी, नई दिल्ली का प्रतिष्ठित पुरस्कार और के.के. विरला फाउण्डेशन, नई दिल्ली का वाचस्पति पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं।

दस सर्गों में प्रस्तुत उत्तरसीताचरित महाकाव्य कवि की काव्ययात्रा का पहला पड़ाव है, क्योंकि इसका निर्माण छात्र-जीवन से ही आरम्भ हो चुका था। इसमें वनवास से आगमन के पश्चात् राम द्वारा सीता के निर्वासन की प्रसिद्ध घटना को आधार बनाया गया है। कविवर द्विवेदी ने मूल कथा में अपने अनुसार कुछ मोड़ दिये हैं। यहां प्रमुख पात्र सीता करुणा का पात्र अबला नहीं है, कयोंकि कवि के अनुसार , महामुनियों के शोणित से उसे ओजस् की ज्योति प्राप्त हुई है (३/४६)।

सर्वंसहा भगवती पृथ्वी से उसे शरीररत्न, महायोगी विदेह (जनक) से विनय-योग

प्राप्त हुआ है। बुद्धि-प्रधान सूर्यवंश की कुलवधू होकर चौदह वर्षों तक वनवास द्वारा वह पतिव्रतकी सुवर्णमुद्रा परीक्षित हो चुकी है तथा वह नितान्त उदात्त चित्तवाली नारी है। सीता के सम्बन्ध में यह श्लोक आकलनीय है -

निमिकुलतपसां वा सत्फलं, पुण्यपाको
रविकुलजनुषां वा जानकीत्यार्यलक्ष्मीः।
व्यरुचदवनिपालस्यार्धमुद्रासनस्था
श्रितवपुरिव लोकस्योदयायौषसी श्रीः।। उ.सी.स. १/६८

अर्थात् तब राजा राम के आधे आसन पर विराज रही, निमिकुल की तपस्याओं का सुफल या सूर्यवंशीय महात्माओं के पुण्यों का परिपाक जानकी नामक आर्य-लक्ष्मी ऐसी लग रही थी जैसे संसार के मंगलविधान के लिए शरीर धारण करके उपस्थित हुई उषा की श्री हो।

यहां अपने सम्बन्ध में परिवाद (लोकनिन्दा) को लेकर विलाप करके परिवार जनों के बीच "परित्याग" के निर्णय को न कह पा रहे राम की मनःस्थिति से अवगत होकर सीता स्वयं वन जाने का अपना निर्णय सुनाती हैं -

यामि मातर इतः स्वतस्ततो यामि, यामि विपिनं न मे व्यथा।
कीर्तिकायमवितुं सुमानुषा मृत्युतोऽपि न हि जातु बिभ्यति।।३/३१

(माताओं, मैं यहां से जाती हूँ, स्वयं ही जाती हूँ, और मुझे इसकी कोई व्यथा नहीं। अपनी कीर्ति की रक्षा के लिए अच्छे दम्पती और सतुरुष मृत्यु से कभी नहीं डरते।)

सीता के सम्बन्ध में लोकापवाद के पीछे अपनी ही त्रुटि मानते हुए राम उसे जनता में व्याप्त अशिक्षा को स्वीकार करते हैं (२/२६)। अग्रज की आज्ञा से विवश लक्ष्मण सीता को उसकी ऊर्मिला आदि बहनों से भेंट करवाते हैं, अन्ततः गर्भवती सीता को वन में छोड़ आते हैं। सम्पूर्ण रचना कविवर द्विवेदी की नवोन्मेषिणी प्रतिभा से प्रसूत होकर एक अलग ही प्रभाव छोड़ती है।

भारतीय संस्कृति के रस से पोर-पोर भीने कवि के हृदय से निर्गत इस रचना की सबसे बड़ी विशेषता है इसमें कवि की राष्ट्रीय भावना का आद्योपान्त समुल्लास और जहां तक भाषा और लालित्य का प्रश्न है, ऐसी रचनायें कम दृष्टिगोचर होती हैं। अलङ्कारों का सन्निवेश कहीं आरोपित नहीं प्रतीत होता। "राष्ट्रदेवी" सीता के चारित्र से सम्भूषित प्रस्तुत महाकाव्य को स्वातन्त्र्योत्तर संस्कृत साहित्य की एक उपलब्धि माना जा सकता है। कविवर द्विवेदी में कालिदास की रसपेशलता, माघ मसृणता और भारवि का अर्थगाम्भीर्य, एक साथ अनुभूत किये जा सकते हैं। इस रचना के प्रकाशन के पश्चात् उन्हें साहित्य जगत में प्रभूत प्रतिष्ठा मिली है।

'स्वातन्त्र्यसम्भव' २८ सर्गों का विशाल महाकाव्य है, जिसमें झांसीश्वरी महारानी लक्ष्मीबाई से लेकर प्रियदर्शिनी इन्दिरा गांधी तक भारत में घटित घटनाओं को ऐतिहासिक आधार बनाया गया है। कवि ने इस रचना को, सहृदयों को सुनने के लिए आमन्त्रित करते हुए कविता के रूप में राष्ट्रीय महास्फोट कहा है -

तां सन्तः श्रोतुमर्हन्ति स्वत्वस्वत्वाद्वयर्षयः।
कवितात्मनि रेवाया महास्फोटेऽत्र राष्ट्रिये।। १/४

कवि ने स्वयं स्वतन्त्र्यसम्भवरूपी त्रिदशापगा (गङ्गा) को लक्ष्मी (झांसीश्वरी) और इन्दिरा (गान्धी) रूपी तटयुगी से परिवेष्ठित कहा है (१/५३)। आरम्भ में ही उसने सुमेरु के शिखर से लेकर दक्षिण समुद्र तक फैले भारतवर्ष रूपी विष्णु की वन्दना करके अपने प्रस्तुत सम्पूर्ण कृतित्व को एक राष्ट्रीय रूप प्रदान किया ही (२/७), साथ ही मानव की महनीयता का आरोप के साथ गान भी किया है (२-६-२२)। द्वितीय सर्ग में वाराणसी वर्णन, काशी में लक्ष्मीबाई के जन्म-वृतान्त से कथा का आरम्भ हुआ है। "जनविद्रोह" नामक तृतीय सर्ग में भारत की धरित्री का गुणगान करते हुए कवि ने झांसीश्वरी की आंग्लों के साथ युद्ध में वीर-गति प्राप्त होने की चर्चा के साथ भारतीय इतिहास के अनेक कालों में वैदेशिकों के आक्रमण के क्रम में "गुरुण्डों" के शासन की बात कही है। भारत में सङ्घ शक्ति की स्थापना के काल में गोखले, मालवीय, तिलक, श्री अरविन्द, रवीन्द्र के उदित होने पर एक नया जागरण होता है और फलस्वरूप सबके मन में एक राष्ट्र का भाव उदित होता है। मुक्ति के मंत्र जन-जन में गूंजने लगते हैं। चतुर्थ सर्ग में प्रयाग के विस्तृत वर्णन के पश्चात् मोती लाल नेहरू और स्वरूप रानी से जवाहर लाल की उत्पत्ति ओर कमला के साथ उनके विवाह का निर्देश है। पञ्चम सर्ग में, पं. जवाहर और कमला के परस्पर प्रणय-बन्धन का विस्तृत वर्णन है। कवि के अनुसार -

तां प्राप्य रम्यां कमलां कदल्या गर्भादिवासादितगात्रलक्ष्मीम्।
जवाहरान्तःकरणं सुधाया महासमुद्रे नु बभूव मग्नम्।।
तं प्राप्य तस्या अपि वंशगुल्मात् समुच्छलन्तं नु हिरण्यवाहम्।
ज्योतीरथाया इव वीचिभङ्गाः प्रशान्तिमापुर्नु दृक्तरङ्गाः।।२, ३

अर्थात् मानो कदली के गर्भ से निकली अङ्गकान्ति वाली उस कमला को पाकर जवाहर का अन्तःकरण सुधा के महासमुद्र में जैसे डूब गया। और, वंशगुल्म से समुच्छलित हो रहे हिरण्यवाह (शोणनद) (रूप उस) (जवाहर) को प्राप्त कर ज्योतीरथा नदी के तरङ्ग-भंगों जैसे उस कमला के दृक्तरङ्ग प्रशान्त हो गये।

इसी क्रम में उद्दीपन विभाव, वसन्त का वर्णन भी कवि ने किया है। कमला के दोहद लक्षण के निर्देश के, क्रम में कवि बिल्कुल दार्शनिक हो उठा है-

भेदादभेदं प्रतिपद्यं भेदं पुनर्व्रजन्ती रसकुल्यकेव।
दाम्पत्यधारा कमलाशिरासु जवाहरस्याप विवर्तनानि।। ५/७८

(भेद से अभेद प्राप्त करके पुनः भेद प्राप्त करती हुई रसकी छोटी नदी की भांति जवाहर की दाम्पत्य-धारा कमला की शिराओं में उद्वेलित होने लगी।)

षष्ठ सर्ग मे, कमला के गर्भ में कन्या के आगमन को कवि ने "परा आनन्दमयी" के प्रवेश के रूप में प्रस्तुत किया है (२, ८)। 'गर्भ मङ्गल' नाम का यह सर्ग भी आटोप के साथ प्रस्तुत हुआ है। "दोहदपूरण" नाम के सप्तम सर्ग में तरुण पति-पत्नी का कश्मीर में निवास, कश्मीर की सुषमा का विशद वर्णन, परस्पर रसमय वार्तालाप है। अष्टम में भारत की ग्रामलक्ष्मी का उत्तम वर्णन प्रस्तुत हुआ है। नवम में, जवाहर और कमला प्रयाग आ जाते हैं। यह अवसर था जब भारत में स्वातन्त्र्य युद्ध छिड़ा था। कवि के अनुसार जिस "संघशक्ति" ने दुर्गा के रूप में महिषासुर की स्वार्थप्रधान धृष्टता को नष्ट किया, वही अब सहस्रमूर्ति होकर अवतीर्ण हुई और उस नन्दजा ने "मोहन" (मोहनदास गांधी, श्लेष से कृष्ण) को सेनानी के रूप में वरण किया। चारों ओर जनान्दोलन की स्थिति उत्पन्न हो गयी। गर्भवती कमला उठ खड़ी हुई और "कुमार-वह्नि" के नवावतार जवाहर स्वराज्य-युद्ध के लिए तैयार हो गये। कमला पुत्री को जन्म देती है, स्वरूपरानी ने उसे "इन्दिरा" कहा तो जवाहर ने "प्रियदर्शिनी"। एकादश सर्ग में कवि ने "सरसी" नामक रचना संदृब्ध की है। स्वातन्त्र्य संग्राम को लेकर हिंसोपद्रव होने लगे। जवाहरलाल आदि नेता कारागार में डाल दिये गये। सत्याग्रह में प्रवृत्त लोग गुरुण्डों की अवहेलना करने लगे। बालिका इन्दिरा ने भी वानरी सेना का गठन किया। फीरोज से उसका परिचय होता है। कवि ने इसी प्रसंग में राष्ट्रध्वज का वर्णन (१२/१५-३५) किया है। कमला रुग्ण हो जाती है और उसके दिवंगत होने की घटना घटित होती है। जवाहर के माता-पिता भी अस्वस्थ होने लगते हैं। फीरोज के साथ इन्दिरा का विवाह हो जाता है। वे दोनों कश्मीर को चले जाते हैं। इन्दिरा के राजीव नाम का पुत्र होता है। स्वरूप रानी का देहान्त हो जाता है। मोतीलाल फिर भी राष्ट्र को वैदेशिक पाश से मुक्त कराने में लगे रहते हैं। बाद में वे भी दिवंगत होते हैं। जवाहरलाल मृत्यु को लेकर चिन्तन करते हैं। (१३/१७-६८) जवाहरलाल, इन्दिरा, फीरोज मोहनदास गान्धी के नेतृत्व में उनके अनुगत हो गये। भारत के स्वातन्त्र्य-सूर्योदय की बेला तो आती है किन्तु वैदेशिकों की कूटनीति के कारण भारत का विभाजन हो जाता है।

इस क्रम में कविवर द्विवेदी का यह विलक्षण महाकाव्य २८ सर्गों तक ग्रथित हुआ है। एक ओर कवि का कवित्व उसकी प्रखर प्रतिभा से समुल्लसित है तो दूसरी ओर भारतीय संस्कृति की निगूढ़ दीप्ति से उसके द्वारा निर्मित भाव-मय निर्माण आलोकित हो उठा है। सामान्यतः कवित्व-प्रौढ़ि के कारण ऐसे बहुत से तत्त्व अकस्मात् सम्पृक्त हो गये हैं जो कवि की दार्शनिक चेतना के कारण यहां अनुस्यूत हो गये हैं। इससे सामान्य पाठक को काव्य में अन्तःप्रवेश में कठिनाई का होना स्वाभाविक है। यदि कविवर द्विवेदी स्वयं

इसकी व्याख्या लिखें तो साहित्य जगत् का उपकार होगा, अन्यथा इस गम्भीर रचना के अनेक पक्षों के अस्पृष्ट रह जाने का डर है।

कविवर द्विवेदी अपने दोनों ही महाकाव्यों के कारण आधुनिक संस्कृत साहित्य के आकाश में देदीप्यमान नक्षत्र के रूप में परिगणित होंगे। कहीं-कहीं उनके द्वारा प्रस्तुत बात कवित्व की ऊंचाई का स्पर्श करती हुई भी व्याख्यागम्य होने के कारण उद्विग्न करती है तो कहीं-कहीं सरस वाग्विच्छित्तियों के कारण मन को मुग्ध भी करती है। ठीक ही, जैसा कि कवि ने कहा है, पुरातन और नवीन का उसकी रचना में एक साथ स्वाद का अनुभव होता है (स्वा. सं.२८/३)।

श्रीधर भास्कर वर्णेकर (महाराष्ट्र १९१८)-नागपुर में जन्मे कविवर वर्णेकर ने वहीं आरम्भ से विश्वविद्यालय पर्यन्त शिक्षा पायी और नागपुर विश्वविद्यालय में ही संस्कृत विभाग के प्राध्यापक हुए और बाद में अध्यक्ष हुए। इन्होंने संस्कृत की अनेक विधाओं में लेखन के साथ, "अर्वाचीन संस्कृत साहित्य" नाम से मराठी में शोध-प्रबन्ध लिखा और 'संस्कृतभवितव्यम्' पत्रिका का सम्पादन किया। इन्हें काञ्चीपीठ के शङ्कराचार्य ने 'प्रज्ञाभारती' की उपाधि से विभूषित किया, इनके साहित्य का संग्रह 'प्रज्ञाभरतीयम्' नाम से १९९३ में समग्र रूप में प्रकाशित हुआ। इन्हें रामकृष्ण डालमिया श्रीवाणी सम्मान भी मिला।

छत्रपति शिवाजी के गौरवमय चरित्र पर निर्मित, ६८ सर्गों का इनका महाकाव्य श्रीशिवराज्योदय शारदा गौरव ग्रन्थमाला, ४२४ सदाशिव पेठ, पूना से १९७२ में प्रकाशित हुआ। इस पर उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार (नई दिल्ली) प्राप्त हुआ। कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा से समान रूप से सम्पन्न कविवर वर्णेकर की लेखनी से प्रसूत यह महाकाव्य आद्योपान्त राष्ट्रीय चेतना मूलक सहज उद्गारों से आप्लावित है। अपने चरित्र नायक के उज्ज्वल चरित्र को प्रस्तुत करने में कवि को अपूर्व सफलता मिली है। इसके पीछे कवि के स्वयं के अन्तर्मन में निहित उस महान् चरित्र के प्रति अतिशय श्रद्धा को भी मुख्य कारण कहा जा सकता है। इस ऐतिहासिक महाकाव्य में कवि ने कवित्व की सहजता को सुरक्षित रखते हुए इसके ऐतिहासिक पक्ष को भी सुरक्षित रखने का प्रयास किया है अतः एक प्रकार से अपने चरित्र नायक की कर्मभूमि को आनुसन्धानिक दृष्टि से भी आकलित करने का इसमें प्रयास अभिलक्षित होता है।

महाकाव्य का आरम्भ सह्याद्रि के वर्णन से होता है। अष्टसिद्धि सम्पन्न विनायक, दक्षिणाभिमुख हनुमान्, भगवान् पाण्डुरङ्ग और महापुरुषों, जैसे ज्ञानेश्वर, तुकाराम, रामदास के वर्णन प्रस्तुत किये गये हैं। तृ.स. में वसन्त का वर्णन संक्षिप्त किन्तु मनोरम हुआ है। इसी बेला में शाहजी और जीजा का वैवाहिक मंगल संविधान सम्पन्न होता है। माता जीजा ने ही बालक शिवाजी की धर्मगुरु का काम किया, जिनके उपदेशों का प्रभाव शिवाजी के जीवन पर विशेष रूप से पड़ा। कवि के शब्दों में शिवाजी का यह प्रतिज्ञा-वाक्य उनके शौर्य सम्पन्न व्यक्तित्व के कितना अनुरूप है -

किं जीवितेन विभवेन सुखेन तेन किं भारभूतकरवालधनुःकृपाणैः।
किं पौरुषेण यदि न प्रभवामि पातुं गोदेववेदवनिताद्विजसाधुसङ्घान् ।।११८/२६

अर्थात् उस जीवन विभव, सुख तथा भारभूत तलवार, धनुष, कृपाण से क्या यदि मैं अपने पौरुष से गो-देवता, वेद, वनिता, विप्र, साधुसङ्घ की रक्षा नहीं कर सकता हूँ।

भगवती दुर्गा का शिवाजी के प्रति यह कथन भी उनके व्यक्तित्व को कितना उजागर करने वाला है -

वत्स त्वदन्यो जगतीतलेऽस्मिन् न जातु जातो न जनिष्यते वा।
मदेकनिष्ठः खलु धर्मवीरो त्वदेकसंस्थं हृदयं मदीयम्।।१६/४३

(हे वत्स, तुझसे बढ़कर इस संसार में मेरे प्रति निष्ठा वाला धर्मवीर न उत्पन्न हुआ है और न होगा, क्योंकि मेरा हृदय तेरे प्रति एकमात्र स्थित है।)

वैसे तो सम्पूर्ण रचना में राष्ट्र और धर्म की रक्षा के प्रति जागरूक करने वाली उत्तमोत्तम वाग्विच्छित्तियां मिलती हैं, विशेष रूप से जय कामना से पूर्ण कवि के ये दो पद्य उद्धरणीय हैं -

जयोऽस्तु रामस्य रघूत्तमस्य श्रीरामदासस्य गुरोर्जयोऽस्तु।
जयोऽस्तु ते विठ्ठलपाण्डुरङ्ग सदा तुकाराममुनेर्जयोऽस्तु।।
जयोऽस्तु नित्यं शिवशासनस्य हिन्दूस्वराज्यस्य चिरञ्जयोऽस्तु।
जयोऽस्तु धर्मस्य सनातनस्य जयोऽस्तु राष्ट्रस्य च भारतस्य।। २६/४६, ४७

अर्थात् रघुश्रेष्ठ राम की जय हो, गुरु रामदास की जय हो, विठ्ठल पाण्डुरङ्ग तुम्हारी जय हो, सदा तुकाराम मुनि की जय हो, नित्य शिवाजी के शासन की जय हो, चिरकाल तक हिन्दू स्वराज्य की जय हो, सनातनधर्म की जय हो और भारत राष्ट्र की जय हो।

कविवर वर्णेकर का आधुनिक संस्कृत साहित्य को योगदान सदा स्मरणीय रहेगा, ऐसा कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

प्रभुदत्त स्वामी (उत्तर प्रदेश १९१४) कवि स्वामी का जन्म मेरठ जनपद के किशनपुर बराल में, एक वैष्णव विद्वान परिवार में हुआ। इन्होंने अपने जनपद के विभिन्न संस्कृत विद्यालयों में संस्कृत का अध्यापन किया। आपके दो महाकाव्य प्रकाश में आये, पूर्व -भारतम् और मौर्यचन्द्रोदयम्। पूर्वभारतम् का प्रकाशन मानसरोवर, मेरठ से १९७४ में हुआ जबकि मौर्यचन्द्रोदयम् का १९८५ में। इनकी अतिरिक्त रचनाओं में देवकीनन्दनम् (खण्डकाव्य), रामाचार्यकुसुमाञ्जलिः, और श्रीकृष्णबोधस्तवामृतम् (दोनों स्तोत्रकाव्य) हैं।

पूर्वभारत २१ सर्गों का महाकाव्य है। मूल कथा मनु से आरम्भ होती है और यवनराज सिकन्दर द्वारा भारत पर आक्रमण तथा उसकी पराजय से समाप्त होती है। एक

विस्तृत पीठिका में रचित इस महाकाव्य के कवि ने प्रथम पद्य में पूरे आर्य देश को धराभूत विष्णु के रूप में देखा है -

अस्त्यद्रिराजाद् दिशि दक्षिणस्यां महाहिमोद्भासितभव्यभालः।
पयोनिधिक्षालितपादपद्मो हरिर्धराभूत इवार्यदेशः।।

(अद्रिराज हिमालय से दक्षिण दिशा की ओर, हिम शक्ति से उद्भासित भाल, समुद्र से प्रक्षालित चरणकमल वाला धरा का रूप धारण किये हुए विष्णु जैसा आर्यदेश है)।

भारत की महिमा के आख्यान के पद्य भी आकलनीय हैं -

यस्मिन् कुलीनाः परदुःखदीनाः परार्थलीना स्वसुखान्युपेक्ष्य।
प्राणार्पणेनापि विपत्तिभाजां कुर्वन्ति रक्षां शरणागतानाम्।। १/३१

(जिस आर्य देश में कुलीन परदुःखकातर, परोपकार में लीन लोग अपने सुखों की उपेक्षा करके अपने प्राण न्योछावर करके भी शरण में आये विपद्ग्रस्त लोगों की रक्षा करते हैं।)

मनु से युधिष्ठिर तक स्थिति श्लघनीय रही, किन्तु वैदेशिक आक्रमणों के बाद, क्रमशः देश की स्थिति में विकार उत्पन्न होने लगे। हिंसा का प्राबल्य हो गया। पुरु के मुख से सिकन्दर के प्रति यह उक्ति भारतीय राष्ट्र की सहज ओजस्विता से दीप्त है -

शिरो नतिं गच्छति ये स्वधर्मस्वदेशरक्षाव्रतिनः पुरस्तात्।
तद्द्रोहिणो मूर्धविभक्तये तु ममैष जागर्ति करे कृपाणः।। १६/१४

(अपने धर्म, अपने देश की रक्षा के व्रती लोगों के सामने मेरा सिर झुक जाता है और देशद्रोहियों के सिर काट डालने के लिए मेरे हाथ में यह कृपाण समुद्यत है।)

मौर्यचन्द्रगुप्त २० सर्गों में रचित है। इसमें मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के चरित के साथ चाणक्य का विलक्षण व्यक्तित्व भी वर्णित है। कविवर स्वामी के शब्दों में राष्ट्र किसे कहते हैं, यह इन दो पद्यों में आकलनीय है -

तद् भूखण्डं वाद्रयो वा दिशो वा नैतद् राष्ट्रं राष्ट्रविज्ञा दिशन्ति।
भाषा भक्तिः सम्यता संस्कृतिश्चेत्येतत्प्राणं राष्ट्रमाहुश्चिरत्नाः।।
जातिर्धर्मो जातिधर्मप्रसूता भाषा भक्तिः सभ्यता संस्कृतिश्च।
एतैस्तत्त्वैः प्राणितां मातृभूमिं राष्ट्रं प्राहू राष्ट्रतत्त्वार्थविज्ञाः ।। १५/४१ ५१

(जाति धर्म तथा जाति और धर्म से उत्पन्न भाषा, भक्ति, संस्कृति और सभ्यता इन तत्त्वों से प्राणित मातृभूमि को राष्ट्र के तत्त्वज्ञ लोग "राष्ट्र" कहते हैं।)

कवित्व की दीप्ति और राष्ट्रीय चेतना दोनों का कविवर स्वामी की इन रचनाओं में अद्भुत समागम है।

त्र्यम्बक आत्माराम भण्डारकर (महाराष्ट्र १८६७) कवि भण्डारकर ने 'विद्यार्थी' नाम से "आत्मचरित" का प्रणयन किया है, जो तारा प्रिंटिंग वर्क्स वाराणसी से १६७३ में मुद्रित हुआ है। उससे कवि के जीवन के सम्बन्ध में प्राप्त जानकारी के अनुसार उनका जन्म महाराष्ट्र के चन्दूपुर मण्डल के तोरण ग्राम में हुआ था। "तिलक" आदि नेताओं द्वारा प्रवर्तित "स्वदेशी" आन्दोलन में उन्होंने भाग लिया था। वे अध्ययन के लिए कम्बल मात्र लेकर वाराणसी आ गये और बहुत समय तक भिक्षावृत्ति द्वारा जीवन-निर्वाह करते हुए अध्ययन किया और वसन्त कालेज राजघाट, वाराणसी में संस्कृत का अध्यापन किया और वहीं से सेवानिवृत्त हुए।

कवि भण्डारकर द्वारा अठारह सर्गों में निर्मित श्रीस्वामिविवेकानन्दचरित महाकाव्य चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी १६७३ में प्रकाशित हुआ। कवि ने इसका निर्माण "भारतीय युवकों के उपकार" के लिए किया था। कवि की संस्कृत में स्वोपज्ञ व्याख्या भी मूल रचना के साथ प्रकाशित हुई है। कवि भण्डारकर की यह रचना वर्णन-प्रधान न होकर स्वामी विवेकानन्द (पूर्वाश्रम के नरेन्द्रनाथ दत्त) के उदात्त जीवन के यथार्थ पक्ष को सहज-सरल कविता की भाषा में प्रस्तुत करती है और इस कारण यह एक पठनीय कृति है। स्वामी विवेकानन्द का जीवन अपने महान गुरु श्रीरामकृष्ण की प्रेरणा से एक ओर तत्त्व-चिन्तन को समर्पित था तो वहीं दूसरी ओर राष्ट्र की सेवा के लिए भी उत्सर्जित था। आरम्भ में जिज्ञासु नरेन्द्र के मन में पाश्चात्त्य और पौरस्त्य विचार-धाराओं के विषय में, समाज में व्याप्त सुख-दुःख, समता-विषमता, स्पृश्यास्पश्य की भावना को लेकर संकल्प-विकल्प का भाव था। वे सच्चे गुरु की तलाश में भटके और शान्ति की तलाश की। उन्होंने महर्षि देवेन्द्रनाथ से भेंट की। कवि ने उनकी इस मनःस्थिति को बहुत सही ढंग से प्रस्तुत किया है। अन्त में उन्हें दक्षिणेश्वर के संत श्री रामकृष्ण परमहंस के रूप में सच्चा मार्ग-दर्शक प्राप्त हुआ और श्री रामकृष्ण द्वारा "विवेकदीप" प्रज्वलित हुआ। कवि के अनुसार, श्रीरामकृष्ण और नरेन्द्र के बीच इस प्रकार का गुरु-शिष्य का सम्बन्ध स्थापित हुआ, जिसे तर्क शास्त्र की एक परिभाषा के अनुसार "अयुतसिद्ध" सम्बन्ध जैसा सम्बन्ध कहा जा सकता है-

विना नरेन्द्रं नहि रामकृष्णः श्रीरामकृष्णं न विना नरेन्द्रः।
सम्बन्ध एषोऽयुतसिद्धतुल्यो यथा गुणानां गुणिना सहास्ते।। ४/१

(नरेन्द्र अर्थात् विवेकानन्द, के बिना श्री रामकृष्ण नहीं और नरेन्द्र के बिना श्रीरामकृष्ण नहीं, यह सम्बन्ध अयुतसिद्ध जैसा है, जैसे गुणों का गुणी के साथ होता है।)

श्री रामकृष्ण ने शिष्य नरेन्द्र को अपने स्पर्श के द्वारा समाधि में लीन कर दिया और उसे अद्वैत की चेतना से जोड़ दिया (४/१३६)। गुरु की प्रेरणा से नरेन्द्र ने अपने जीवन का उद्देश्य लोकसेवा बनाया (४/५३)।

नरेन्द्र के पिता का स्वर्गवास हो जाता है। परिवार में दारिद्र्य का कष्ट व्याप्त है। नरेन्द्र की श्रद्धा डगमगा जाती है। वह पुनः श्रीरामकृष्ण के पास आता है। फिर उसके मन में गुरु के उपदेश से शिव-स्वरूप अखिल जीव की सेवा को जीवन का लक्ष्य बनाने का निश्चय स्थिर होता है (५/५४)। श्री रामकृष्ण रुग्ण हो गये। उन्होंने नरेन्द्र को दीक्षा दी और तबसे नरेन्द्र का नाम 'विवेकानन्द' हुआ। गुरु का निर्वाण हो जाता है। स्वामी विवेकानन्द अपने "मिशन" में लग जाते हैं। हिमालय की यात्रा करते हैं। इनका यश चतुर्दिक फैलने लगता है। भारत-भ्रमण, शिकागो की यात्रा, वहां की धर्म-सभा में व्याख्यान, यूरोप का भ्रमण, भारत आगमन, सेवाश्रम की स्थापना आदि के बाद परिनिर्वाण। उपदेशों के अमूल्य रत्नों से आद्योपान्त भरे और देशभक्ति, जनसेवा की भावनाओं को मन में प्रतिफलित करने वाले इस प्रेरक महाकाव्य में शमप्रधान काव्य के तत्त्वों को भी एक सीमा तक प्रश्रय मिला है। कवि ने प्रत्येक सर्ग के प्रथम अक्षर में- "श्रीस्वामिविवेकानन्दचरित महाकाब्य" के प्रत्येक अक्षर से आरम्भ किया है और एक सर्ग में, प्रत्येक पद्य के तीसरे पद्य में इस पद्य के प्रत्येक अक्षर को अनुसूत किया है-

"शुद्धे दत्तकुले जनिर्गिरिपतौ धीर्भारतस्योन्नतौ
सङ्कल्पोऽमलदक्षिणेश्वर-गुरौ सत्तत्त्वबोधोदयः।
पाश्चात्त्येषु च विश्वधर्मकथनं श्रीरामकृष्णाश्रमैः
सेवा जीवहरेर्विवेकचरितं यत्पुण्यसङ्कीर्तनम्।।"

(शुद्ध दत्त-कुल में जन्म, हिमालय पर चिन्तन, भारत की उन्नति के विषय में संकल्प, निर्मल दक्षिणेश्वर के गुरु के कारण सत्तत्त्वबोध का उदय, पाश्चात्त्य लोगों को विश्वधर्म का उपदेश, श्रीरामकृष्ण के आश्रमों द्वारा जीव-रूपी भगवान् की सेवा-इस प्रकार विवेकानन्द का चरित पवित्र संकीर्तन है।)

इस पद्य में स्वामी विवेकानन्द के समग्र चरित का सार-संक्षेप दे दिया गया है। इसी प्रकार सप्तम सर्ग में भी एक पूरा पद्य अनुस्यूत किया गया है। इस प्रकार कवि त्रयम्बक भण्डारकर द्वारा रचित यह महाकाव्य आधुनिक संस्कृत साहित्य की एक पठनीय कृति बन गया है। इस कवि ने प्रत्येक सर्ग के अन्त में अपने इस महाकाव्य को इन-इन विशेषणों से विशेषित किया है-

लोकं मोहतमोहतं धृतहितालोकं विधातुं क्षमे
विश्वाध्येयगुणे विवेकचरिते धर्मप्रधानाश्रमे।

(यह महाकाव्य, मोह के अन्धकार से इस संसार को, कल्याण कर आलोक प्राप्त कराने में समर्थ है, इसके गुण सभी के द्वारा विचारणीय है तथा यह धर्म का प्रधान आश्रय है।) और, अपने सम्बन्ध में "नैषधकार" की शैली में प्रत्यग्दर्शनबोधविहितप्रश्र, आर्य, सुपर्ववाङ्मयसुधाचार्य, अभ्यस्तश्रुतिशास्त्रभारतपुरातत्त्व, काशी में द्वादश वर्ष भैक्ष्यचरणासक्त,

तत्त्वज्ञान पुराण संस्कृत गिरा का शिक्षक, ज्यौतिषशास्त्रशीलनपरस्वान्त, अद्वैताश्रमसेवक मन वाला, बचपन में स्वामीजी के दर्शन सुख को प्राप्त, हिन्दी में नये नृत्य नाटक का रचयिता, स्वामीजी पर खण्डकाव्य की रचना करने वाला, चित्रकला में विशेष ख्यात, वाणीमन्त्र के जप में प्रसक्त आदि विशेषणों से विभूषित किया है।

उमाशङ्कर शर्मा त्रिपाठी (१९२२-१९८२ उ.प्र.) इनका जन्म देवरिया जनपद के सिगहा ग्राम में हुआ। मुख्यतः ये अंग्रेजी साहित्य के अध्येता तथा अध्यापक रहे, किन्तु इन्होंने संस्कृत से लगाव के लिए विशेष रूप से श्रेय अपने पिता पं. रामनरेशमणि त्रिपाठी को दिया है। इन्होंने काशी विद्यापीठ में अंग्रेजी साहित्य का अध्यापन किया और शिवाजी के चरित्र पर आधारित क्षत्रपतिचरित महाकाव्य की रचना की, जो मिहिरमणि त्रिपाठी द्वारा आनन्द कानन प्रेस, दुण्ढिराज, वाराणसी में मुद्रित होकर प्रकाशित किया गया। इसके अतिरिक्त कवि त्रिपाठी ने उमरखय्याम की रुबाइयों का संस्कृत में पद्यानुवाद, महात्मागान्धी की सूक्तियों का अनुष्टुप् छन्द में रूपान्तरण, भारतीगीतम् नाम से संस्कृत के गीत तथा विनोदपूर्ण अन्योक्तिमय संस्कृत काव्य "रासभारती" का प्रणयन किया।

२१ सर्गो के क्षत्रपतिचरित महाकाव्य में कवि त्रिपाठी ने अपनी उत्कृष्ट रचनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया है। इन्होंने वाल्मीकि, व्यास और कालिदास को अपना आदर्श माना है। इसी कारण पाण्डित्य के प्रदर्शन से बचते हुए 'अकाण्डप्रथन" को प्रश्रय नहीं दिया है। कवि को सत्य का अपलाप अभीष्ट न था, इस कारण उसने स्वीकार किया है कि महाकाव्य में महाराष्ट्र, काश्मीर आदि अनदेखे स्थलों के वर्णन में प्रकृति का अंकन अतिसामान्य, सतही ढंग से हुआ है।

प्रथम सर्ग में कवि की विनम्रता प्रकट हुई है। उसने अपने आदर्शभूत महान् कवियों का स्मरण किया है और कहा है-

> **शिवपात्रं वचो ब्राह्मी प्रस्तावो मातृभूत्सवः (स्तवः)।**
> **सर्वमेतत् परं दैवात् सूत्रधारोऽहमीदृशः।। १६**

(शिव, शिवाजी) पात्र हैं, ब्राह्मी (संस्कृत भाषा) वाणी है, मातृभूमि का स्ववगान प्रस्ताव है, पर ऐसा मैं सूत्रधार हूं, यह सब कुछ संयोगवश घटित हुआ है। कवि की दृष्टिमें, वे ही व्यक्तिवाणी के विषय होते हैं अर्थात् उन्हीं को लेकर काव्य का निर्माण किया जाना चाहिए जो आशा का सञ्चार करके नैराश्य को, तेज द्वारा अन्धकार को, प्रबोधन द्वारा मोह को तथा शौर्य द्वारा भय को दूर करते हैं। साथ ही कवि के चरित्र-नायक ने राष्ट्र की जिस स्वतन्त्रता के लिए संधर्ष किया उसके विषय में कवि कहता है-

> **उद्यमाराधिता नित्यं शीलिताऽनलसव्रतैः।**
> **स्वतन्त्रता सुविद्येव वर्धिष्णुरमृतायते।। १/८०**

(जब अनलस होने का व्रत धारण करने वाले लोग उद्यम द्वारा आराधन करते हैं तब स्वतन्त्रता सुविद्या की भांति नित्य प्रवर्धित होती हुई अमृत-फल देती है।)

दूसरे सर्ग में हिमालय से आरम्भ करके भारतीय राज्यों, तीर्थों का भव्य सांस्कृतिक वर्णन हुआ है जो इस महाकाव्य के भव्य भवन की सुदृढ़ भूमिका (आधारभित्ति) का काम करता प्रतीत होता है। यह सर्ग पूरा कवि के सहज काव्य-निर्माण का, प्रतिभा के साथ अपनी महनीय राष्ट्रिय सांस्कृतिक परम्परा के प्रति सूक्ष्मेक्षिका का परिचायक बन पड़ा है। इस प्रकारण में कवि ने स्वातन्त्र्य-संघर्ष काल की अनेक विभूतियों के उल्लेख के साथ उनके प्रति अपने सादर श्रद्धा-सुमन भी निवेदित किये हैं। अन्त में चरित-नायक शिवाजी के जन्म की चर्चा की है। कवि की मान्यता है कि आज जो हम हैं यह उस भारतीय शूरवीर के तेज के कारण ही सम्भव हुआ है-

आदर्शयाथार्थ्यविदात्मनन्दिनी सा देवमायेव चरित्रदेवता।
तं रत्नसुनुं सुषुवे प्रजाभरं यत्तेजसाऽद्यापि वयं वयं युगे।। २/१७८

(आदर्श और याथार्थ्य को जाननेवाली, आत्मनन्दिनी, देवमाया की भांति इस चरित्रदेवता ने प्रजा का भरण करने वाले उस पुत्ररत्न को उत्पन्न किया, जिसके तेज के कारण आज के युग में हम हम हैं।)

तृतीय में क्षत्रपति की मातृभक्ति, साहस, दक्षता का वर्णन है। उनका उज्ज्वल चरित्र तब और भी प्रदीप्त हो उठता है जब वे पालकी में लायी गयी शत्रुबधू से कहते हैं, मेरे रहते, दिल्ली का बादशाह भी तेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकता, अब तो तू अपने पिता के घर आ गयी है, अतः क्यों दुःखी होती है (३/१२१)। चतुर्थ सर्ग में कवि कल्पना से समुद्र के तट पर एक भग्न देवमन्दिर में सोये शिवाजी के समक्ष श्वेतवसना एक नारी को उपस्थित करता है। कालिदास के रघुवंश के १६वें सर्ग में कुश के समक्ष अयोध्या की अधिष्ठात्री देवी भी कुछ इसी प्रकार प्रस्तुत हुई है। यह सर्ग कवि के एक आलोचक के अनुसार, "राष्ट्रबोध का, सांस्कृतिक प्रबोधन का प्रभावपूर्ण उद्योग है, अकर्मण्य राजाओं, उच्छृङ्खल राज्यसत्ता तथा कातर न्यायबुद्धि के प्रति उत्कट उपालम्भ है।" महाकाव्य के आगे के सर्गों में क्षत्रपति के विनाश के लिए बीजापुर में मन्त्रणा, अफजल खान का सैनिक अभियान, अफजलखान और शिवाजी के दूतों को एक दूसरे के पास आगमन, अफजलखान का बध, मुगलसेनापति शायिस्ता ख़ान का पराभव, समर्थ गुरु रामदास के प्रति शिवाजी महाराज की गुरुभक्ति, आमेरनरेश जय सिंह के अनुरोध पर आगरा के लिए प्रस्थान, क्षत्रपति की कैद से मुक्ति, प्रच्छन्न वेष में क्षत्रपति का दक्षिण की ओर गमन, कोण्डना विजय, बादशाह के पास जजिया के विरुद्ध क्षत्रपति का निवेदन, राज्याभिषेक, शासनपद्धति आदि वर्णित हैं।

षष्ठसर्ग में कवि द्वारा ऋतुवर्णन के प्रकरण में द्रुतविलम्बित छन्द में यमक का प्रयोग रघुवंश के दशम सर्ग के संस्कार को उद्‌बुद्ध करता है। सम्पूर्ण महाकाव्य कवि की जागरूक काव्य-चेतना एवं पवित्र राष्ट्रप्रेम से उल्लसित है। इसके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है

कि यह कविवर त्रिपाठी की प्रतिभा का एक ओर चमत्कार है तो दूसरी ओर शिवाजी के महनीय व्यक्तित्व का उत्तम चित्र-फलक है।

परमानन्द शास्त्री (उ.प्र.,१९२६) कविवर शास्त्री का जन्म मेरठ जिले के अनवरपुर ग्राम में हुआ। इन्होंने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष पद से अवकाश ग्रहण किया। "संस्कृत गीत काव्य के विकास" विषय पर शोध कार्य में सफल कवि के लेखन एवं आलोचन के विषय रहे, हिन्दी कवि बिहारी, प्राकृतकाव्य गाथा सप्तशती और धोयी कवि का पवनदूत। इन्होंने संस्कृत में अनेक लघुकाव्यों के अतिरिक्त दो महाकाव्यों की रचना की-जनविजयम् और चीरहरणम्। जनविजय का प्रकाशन स्वयं कवि द्वारा १९७८ में किया गया और चीरहरण को भी स्वयं कवि ने १९८३ में प्रकाशित किया। कवि को उनके चीरहरण महाकाव्य पर मध्यप्रदेश साहित्य परिषद ने १९८५ में कालिदासपुरस्कार से पुरस्कृत किया है।

जनविजय पन्द्रह सर्गों में रचित है। इसमें दिल्ली-वर्णन से आरम्भ करके स्वतन्त्रता के आगम, जवाहर लाल नेहरू की नीति, चीन के साथ युद्ध, लालबहादुर शास्त्री का प्रधान-मन्त्रित्व, पाक के साथ युद्ध, शास्त्री जी का निधन, इन्दिरागाँधी द्वारा सत्ता की प्राप्ति, उनका उत्कर्ष, बाङ्लादेश की मुक्ति, आपातकाल की घोषणा, जनतादल का उद्भव, निर्वाचन, जनप्रतिनिधि के रूप में कवि द्वारा नेताओं का उद्बोधन आदि विषय मुख्यतया वर्णित हैं। कवि के कथनानुसार, षष्ठ लोकसभा के निर्वाचनों में आपातकाल के कारण उसके मन में एक अभूतपूर्व प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप यह महाकाव्य रचित हुआ है। इस महाकाव्य के सम्बन्ध में निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि यह परम्परा से अलग हट कर सम्पूर्ण आधुनिक भाव-भूमि पर रचित हुआ है, जिसमें राष्ट्र-भावना को प्रतिष्ठित किया गया है। कवि के अनुसार ही यहां "जन" शब्द जनता-दल का वाचक नहीं है, बल्कि भारतीय जन को समग्रता से संकेतित करता है। पन्द्रहवें सर्ग में कवि उसका (भारत की जनता का) प्रतिनिधि होकर सभी दलों के नेताओं को सचेत करता है और अनाचार के प्रति राजनीति के कलुष को कारण मानता हुआ उनपर रोष प्रकट करता है। यथार्थपरकता को पूरी रचना में प्रश्रय मिला है, इसके कारण कवित्व का पक्ष कहीं-कहीं पराभूत सा अवश्य लगता है, इतना होने पर भी कवि की भाषा में एक शालीन प्रवाहमयता है और कहीं-कहीं तो मनोमुग्धकारी कवित्व का स्पर्श भी है। समाज में व्याप्त विसंगतियों को भी कवि ने बेबाकी के साथ प्रस्तुत किया है।

एक ओर जहां कवि ने दूसरे सर्ग में द्रुतविलम्बित छन्द में यमक का प्रयोग करते हुए स्वातन्त्र्योत्सव का वर्णन किया है, दूसरी ओर वहीं उसने देश के विभाजन के बाद के हिंसोपद्रवों को भी यथार्थ भूमि पर अभिव्यक्ति दी है। तृतीय सर्ग में वियोगिनी छन्द में चीन के साथ युद्ध को लेकर नेहरू जी की मनःस्थिति, उनके स्वर्गवास के पश्चात् जन-विलाप आदि को काव्यमय अभिव्यक्ति मिली है। लालबहादुर शास्त्री का आकालिक निधन होने पर 'यमक'का प्रयोग करते हुए कवि लिखता है-

विना न ते नाशुशभे स्वदेशः, विना न तेनाशु शुभे स्वदेशः।
विना नतेना शुशुभे स्वदेशः, विना न तेनाशुशुभे स्वदेशः १४/६५

कहीं-कहीं कवि ने सार्वकालिक तथा सार्वभौमिक सत्य को प्राचीन ऋषि कवियों की शैली में अभिव्यक्ति दी है-

शौर्यं परम्परा श्रेष्ठा तथा कर्तव्यनिष्ठता।
बलिदानबलं यत्र तत्र नास्ति पराजयः।। ६/४१

ग्यारहवें सर्ग में, वसन्त का वर्णन कवित्वमय बन पड़ा है। इसी में कवि ने कृषक की पत्नी द्वारा धोती में बंधा भोजन और तक्र लाकर देना और पति के साथ उसका विनोद सुन्दर रूप में प्रस्तुत हुआ है। भारतीय जन की अभूतपूर्व विजय को लेकर कवि कहता है-

क्रान्तिर्विना शोणितबिन्दुपातमशिक्षितानां जनतन्त्रबोधः।
अभूतपूर्वो विजयो जनस्य लोकस्य जातोऽद्भुतविस्मयाय।। १३/३७

(बिना रक्तपात के क्रान्ति, अशिक्षित जन का जनतन्त्र-बोध, जनता की अभूतपूर्व विजय-यह लोगों के अद्भुत विस्मय का कारण बना।)

इस रचना को आधुनिक संस्कृत काव्य के क्षेत्र में एक अनूठा प्रयोग माना जा सकता है। इस प्रकार इस महाकाव्य में यदि कोई नायक है तो वह है भारतीय जन, जिसकी विजयगाथा इसमें वर्णित है। कवि, अन्त में कामना करता है-

राष्ट्रस्य जीयाज्जन एक आत्मा प्रभुत्वसत्ता च जनस्य जीयात्।
अन्यायमुज्जासयितुं च जीयात् क्रान्तिस्फुलिङ्गप्रतिभाविवेकः।। १५/५८

(राष्ट्र की एक आत्मा जीवित रहे, जनता के प्रभुत्व की सत्ता कायम रहे, और क्रान्ति के स्फुलिङ्ग की प्रतिभा का विवेक अन्याय को उखाड़ फेकने के लिए विद्यमान रहे।)

बारह सर्गों में लिखित चीरहरण महाकाव्य में कविवर शास्त्री ने महाभारत की प्रसिद्ध कथा, द्रौपदी के चीर-हरण को एक नये ढंग से प्रस्तुत किया है। युधिष्ठिर को कुरुराज धृतराष्ट्र की ओर से जुँआ खेलने का निमन्त्रण राजधानी हस्तिनापुर से प्राप्त होता है। द्यूतक्रीडा के लिए जाने को लेकर द्रौपदी तथा भाइयों के बीच विचार-विमर्श होता है। भीम आदि अपना विचार यात्रा न करने के लिए देते हैं और द्रौपदी भी उनके पूछने पर वैसा ही विचार देती है, किन्तु सब को साथ लेकर युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थ से प्रस्थान करते हैं। इन्द्रप्रस्थ नगरी से प्रस्थान के समय राज-परिवार को देखने के लिए पुरवासी स्त्रियों का कौतूहल और परस्परालाप, मार्ग में ग्राम-शोभा, ग्रामीणों द्वारा राजा का स्वागत, यमुनावर्णन आदि वर्णनों के पश्चात् सप्तम सर्ग में द्यूत का प्रसंग और द्यूत में द्रौपदी तक को हार जाना, दुर्योधन द्वारा द्रौपदी को सभा में लाने के लिए दूत को भेजना, द्रौपदी के न आने

पर दुःशासन को भेजना, द्रौपदी-दुशासन संवाद, उसे बलपूर्वक सभा में लाना, द्रौपदी द्वारा भर्त्सना, दुर्योधन का चीर-हरण के लिए आदेश, द्रौपदी का मूर्च्छित होना, कृष्ण का सभा में प्रवेश, दुर्योधन के साथ संवाद और समस्या का समाधान करना आदि कथानक के रूप में प्रस्तुत है। इस कथानक में सर्वाधिक मुख्य घटना, प्राचीन कथा के अनुसार कौरवों की सभा में दुःशासन द्वारा द्रौपदी का चीरहरण और श्रीकृष्ण द्वारा अपनी दिव्य शक्ति से वस्त्रों का अम्बार उत्पन्न करते जाना और द्रौपदी को नग्न होने से बचा लेने का दृश्य, है, किन्तु कवि ने इस प्रसंग को अपने ढंग से मोड़ दिया है। दुर्योधन के द्वारा चीरहरण के लिए कनखियों से दिए संकेत पर जब दुःशासन के चलते ही द्रौपदी व्याकुल होकर मूर्च्छित हो जाती है इसी समय श्री कृष्ण का सभा में प्रवेश होता है और बात ही बदल जाती है। दुःशासन कर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। तब दुर्योधन स्थिति की गम्भीरता को भाप कर श्रीकृष्ण को मन्त्रणा के लिए पार्श्व के कक्ष में ले जाता है। वह कहता है-द्रौपदी ने जो मेरा अपमान किया था, उसका फल उसे मिल गया। वह तो मुक्त है, किन्तु पाण्डवों को मेरा दास बनना होगा। तब श्रीकृष्ण उससे कहते हैं - द्रौपदी पतियों को छोड़कर कहां जायेगी। अतः इन्हें भी छोड़ो और यदि तुमने पाण्डवों को दास बनाकर अपने साथ रखा तो ये द्रोहवश तुम्हारी सेना में विद्रोह करा देंगे और तुम मारे जाओगे। तब दुर्योधन यह शर्त रखता है कि पाण्डव बारह वर्ष तक वनवास में रहें और एक वर्ष तक अज्ञातवास आदि। अन्ततः दुर्योधन ने इसे अपनी ही पराजय स्वीकार किया।

कविवर शास्त्री ने इस रचना के दूसरे, तीसरे और चौथे सर्गों में नागरिकों के राजपरिवार-दर्शन को लेकर कौतूहल के साथ भावालापों, ग्रामश्रीविलास, ग्रामीणों द्वारा राजा का स्वागत, सैनिकों का वन-विहार, जल-विहार आदि प्रसंगों को जोड़कर प्रस्तुत कथानक को प्राचीन महाकाव्यों के संस्कारवश वर्णनों से बोझिल बना दिया है, ऐसा रचनाकार पर आरोप लगाया जा सकता है। यह आरोप अंशतः सही हो सकता है, किन्तु कवि ने इन प्रसंगों में एक ओर सूक्ष्म मनोभावों की जानकारी तो व्यक्त ही करा दी है साथ ही शासक राजा को अपने प्रजागण के बीच लाकर परस्पर निकट करके उनकी दूरी समाप्त की है। यह कवि का आधुनिक भाव-बोध बहुत प्रभावित करता है। युधिष्ठिर सोचते हैं

मामन्नदातेति जनाः समस्ताः सम्बोधयन्त्यत्र न वेद्मि तत्त्वम्।।
विचार्य पश्यन् खलु निश्चिनोमि ममापि नित्यं कृषकोऽन्नदाता।। १२/११

(सभी लोग मुझे "अन्नदाता" कहकर संबोधित करते हैं, इसमें तथ्य नहीं समझता हूँ, विचारपूर्वक देखते हुए निश्चय करता हूँ कि सदा कृषक लोग मेरे भी अन्नदाता हैं।)

महाकाव्य का वह प्रसंग जहाँ प्रतिकामी नाम का दूत द्रौपदी के पास दुर्योधन की आज्ञा से कौरव-सभा में उसे ले जाने के लिए आता है और उसे राजाज्ञा सुनाता है तब द्रौपदी की जो प्रतिक्रिया होती है, अर्थात् आठवें सर्ग के ३१वें पद्य के बाद से, वह कवि के कवित्व और भारतीय नारी की अस्मिता को आधुनिक भावभूमि पर अधिक उजागर

करती है। कवि ने द्रौपदी की आन्तरिक प्रतिक्रिया, जो उसके बाह्य व्यक्तित्व से झलक रही थी, को बड़े सन्तुलित शब्दों में व्यक्त किया हैं।

सा नेत्रयोर्भिन्नमनःशलाका कपोलयोः फुल्लजपानुरागा।
चलद्दुकूलं पुनरादधाना गतागतान्युच्चलिता चकार।।८/४०

(नेत्रों में पिसी हुई मैनसिल और कपोलों पर फूले हुए जपापुष्प के समान वह द्रौपदी, खिसकते उत्तरीय को फिर से सँभालती हुई व्यग्र होकर आगे-पीछे टहलने लगी।)

दुःशासन द्वारा बलपूर्वक सभा में लाई गई द्रौपदी ने गुरुजनों तथा धृतराष्ट्र के सभासदों से जो दो-टूक बात कही है वह पूरी पीडित मानवता का प्रतिनिधित्व करने वाली बन गयी है-

तृषितमानवताऽत्र विषीदति ध्रुवमशोषि दयामृतमानसम्।
न लभते हि नयः शरणं क्वचित् तुदति राजनयस्तमनागसम्।। ११/५१

(मानवता प्यासी दुःख पा रही है। दया रूपी अमृत का मानसरोवर पूरी तरह सूख चुका है। न्याय को कहीं शरण नहीं मिल रही। राजनीति उस निरपराध का मर्मवेघ कर रही है।)

वह उस स्थिति को श्लेष की भाषा में व्यक्त कर ही है जो द्रौपदी रूपी प्रजा पर कुशासन के करो (टैक्सों या हाथों) से हो रही है-

अतिकठोरकरैर्हरति प्रजावसनमेव दुरन्तकुशासनम्।
पदसमृद्धिकृते उपदाहरा विदधते कलहं बत सांसदाः।। ११/६०

(दुरन्त कुशासन अत्यन्त कठोर करों-टैक्सों और हाथों, से मानो प्रजा का वस्त्र ही हर लेता है और सांसद लोग पद-समृद्धि के लिए रिश्वत लेते हैं और झगड़ते हैं)

इतना होने पर भी, कवि के इस महाकाव्य का नायक कौन है यह बात विचारणीय है। युधिष्ठिर द्यूत में द्रौपदी को हर कर बिलकुल मूक हो जाते हैं। श्रीकृष्ण कुछ समय के लिए काव्य के फलक पर अवतीर्ण होते हैं। मेरे विचार में इस प्रबन्धकाव्य का प्रमुख पात्र द्रौपदी है। वह आद्योपान्त चर्चा का विषय बनी रहती है।

प्रथम सर्ग में, भीम अन्त में युधिष्ठिर से कहते हैं कि मना करने पर भी यदि आप द्यूतक्रीडा की उत्कट इच्छा से जा रहे हैं तो प्रतिज्ञा करें कि कृष्णा (द्रौपदी) का कोई अनिष्ट नहीं होगा। निश्चय ही दुर्योधन का द्रौपदी द्वारा किया हुआ अपमान ही उसे बदला लेने को प्रेरित कर रहा था। उसकी कामना फलीभूत होते-होते रह गयी और उसे अपनी पराजय स्वीकार करनी पड़ी-"तस्थौ पराजयमिव प्रतिमन्यमानः। (१२/६६)

कविवर शास्त्री ने निश्चित रूप से अपनी दोनों महाकाव्यकृतियों द्वारा, आधुनिक

संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में कथ्य, भाव और भाषा तीनों दृष्टियों से नये आयामों का उद्घाटन किया हैं। इनके अनेक प्रयोगों में व्याकरण और छन्द की दृष्टि से पुनर्विचार करने की बात, वस्तुतः सामान्य रूप से आधुनिक संस्कृत के अनेक रचनाकारों के सम्बन्ध में कही जा सकती है,कविवर शास्त्री उसके अपवाद नहीं हैं।

पी. के. नारायण पिल्लई (केरल, १९१०-) तिरुवल्ल में जनमे पिल्लई मलयालम और संस्कृत, दोनों साहित्य में अपनी रचनात्मक प्रतिभा के कारण प्रशंसित हैं। संग्रहाध्यक्ष, विश्वविद्यालय में आचार्य, संस्कृत कालेज के प्राचार्य, हिन्दी प्रचार सभा के अध्यक्ष तथा किसी संस्था के मानद निदेशक आदि के रूप में भी उन्होंने अपने को प्रतिष्ठित किया। उन्हें, उनकी रचना पर उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी का कालिदास पुरस्कार और साहित्य अकादमी (नई दिल्ली) का पुरस्कार प्राप्त हुए है। स्वामी विवेकानन्द के जीवन पर आधारित उनका संस्कृत महाकाव्य 'विश्वभानुः (जयविहार, त्रिवेन्द्रम) १९८० में प्रकाशित हुआ।

स्वामी विवेकानन्द (१८६३-१९०२) का जीवन एक युग- प्रवर्तक महापुरुष का जीवन था, किन्तु इक्कीस सर्गों के "विश्वभानुः" महाकाव्य का कवि उन्हें दिव्य आत्मा के रूप में अवतार मानता है। पूर्वाश्रम के नरेन्द्र के जीवन के साथ घटित घटनाओं की चर्चा त्र्यम्बक भण्डारकर द्वारा लिखित श्रीस्वामिविवेकानन्दचरित महाकाव्य पर विचार के प्रकरण में आ चुकी है। स्वामी विवेकानन्द का जीवन मानव-सेवा के अर्पित था, उसे कवि ने इन शब्दों में अभिव्यक्ति दी है-

परात्मनः प्रस्फुरिते जगत्यलं विलोकयन् मानवदिव्यतां सदा।
सतां हितं यद् वितनोति सेवनं तदेव मुक्तिप्रदमात्मनो मतम्।। ८/१८

(परमात्मा से प्रस्फुरित इस जगत् में सदा मानव की दिव्यता को देखते हुए जो सज्जनों का हित तथा उनकी सेवा है वही मेरे मत में मुक्ति-प्रद है।)

शिवमयमिति चिन्तयन् समस्तं निखिलजनानपि सोदरांश्च मत्वा।
प्रतिफललवनिःस्पृहः सदाऽहं गुरुकृपया कलयामि लोकसेवाम्।। ९/८

(समग्र संसार को शिवमय समझते हुए तथा सभी लोगों को अपना सहोदर मानकर प्रतिफल के लेश की स्पृहा से रहित मैं सदा गुरु-कृपा से लोक-सेवा करूँगा।)

इस रचना में अनावश्यक वर्णनों को प्रश्रय नहीं मिला है। साथ ही घटनाओं के निर्देशों के कारण कवित्व का पक्ष अभिभूत नहीं हुआ है। महाकाव्य के नाम से ही कवि ने स्वामी जी को विश्व के सूर्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है। कवि में शब्द-योजना को लेकर चमत्कार उत्पन्न करने की क्षमता इस पद्य से समझी जा सकती है-

भ्रमरूपमरीचिकाहरी　　परिखीभूतपरार्ध्यनिर्झरी।
मुनिमानससोदरी परिस्फुरतात् काशिपुरी पुरीश्वरी।। २/२३

(भ्रम-रूपी मरीचिका को दूर करने वाली, चारों ओर की अमूल्य परिखा बने श्रेष्ठ निर्झरों वाली, मुनिजनों के मानस की सहोदरी, पुरियों की स्वामिनी काशी-पुरी शोभायमान हो।)

राजेन्द्र मिश्र (उ.प्र. १९४२)-स्वातन्त्र्योत्तरकाल में, संस्कृत साहित्य में जो अनेक प्रतिभाएं प्रतिष्ठित हुईं उनमें, अनेक विधाओं में लिखने वाले "अभिराज" राजेन्द्र मिश्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। कवि मिश्र का जन्म जौनपुर के द्रोणीपुर ग्राम में हुआ और उच्च शिक्षा इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हुई। वहीं सस्कृत विभाग में अध्यापन में लग गये और इन दिनों हिमाचल वि.वि., शिमला में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष हैं। इनके कथासंग्रह "इक्षुगन्धा" पर साहित्य अकादमी पुरस्कार और जानकीजीवन महाकाव्य पर के. के. बिरला फाउण्डेशन का "वाचस्पति-पुरस्कार" प्राप्त हुआ है। उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी ने भी इनकी कई कृतियों को विशिष्ट पुरस्कार से पुरस्कृत किया है।

इक्कीस सर्गों का इनका जानकीजीवन महाकाव्य १९८८ में वैजयन्त प्रकाशन ८ बाघम्बरी मार्ग, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ। इनके दूसरे महाकाव्य "वामनावतार" के सद्यः प्रकाशित होने की सम्भावना है। वैसे जानकीजीवन का पूर्वार्ध कवि ने १९८३ में ही प्रकाशित किया था। कवि ने अपनी इस रचना को मां वैदेही की ही अन्तःप्रेरणा से प्रणीत माना है और साथ ही, वह अपने निसर्गज काव्य-द्रुम का मूल कालिदास की कविता को, शरीर श्रीहर्ष की वाणी को, पत्र जयदेव के वचन को, पुष्प बिल्हणकी सदुक्ति को और फल पण्डितराज की काव्यगरिमा को मानते हैं। हालांकि राम द्वारा सीता को निर्वासित किये जाने की घटना पर कवि की आस्था नहीं है, फिर भी वह निष्पाप वैदेही को लाञ्छित करने वाले लोक (समाज) को अपराधी मानता है और उसकी दृष्टि में उसी (लोक) को दण्डित होना चाहिए। यही मानसिकता प्रस्तुत रचना के प्रणयन के पीछे रही है ऐसा कवि के "आत्मकथ्य" से प्रतीत होता है।

विदेह जनपद में अवर्षण के कारण उत्पन्न प्रजाजन की पीड़ा से व्याकुल राजा जनक गुरु शतानन्द के आश्रम में जाते हैं और उनके निर्देशानुसार वृष्टि के लिए सुवर्ण के हल को स्वयं जैसे ही खींचते हैं, एक प्रकाश-पुञ्ज के रूप में कन्या पृथ्वी के गर्भ से प्रकट होती है, वही सीता कहलाती है। फिर वर्षा भी प्रभूत मात्रा में होती है। बाद के सर्गों में कवि ने सीता की शिशु केलियों, स्मराङ्कुर, राघवानुराग, पूर्वराग, स्वयंवर, श्वशुरालयगमन और वध्वाचार के वर्णनों में लग जाता है। पञ्चदश सर्ग में सीता की अग्नि परीक्षा के पूर्व के सर्ग निश्चय ही कवि के कवित्व के नाना पक्षों को, जिनमें भावपक्ष और कलापक्ष को सम्मिलित किया जा सकता है बड़ी सफलता से उजागर करते हैं।

कवि की दृष्टि में गुरु शतानन्द के निर्देश पर प्रजावर्ग के हित के लिए स्वर्ण हल से पृथ्वी का स्वयं कर्षण करने वाले जनक अपने पूर्वजों-शिवि आदि की प्रतिष्ठा को पार कर जाते हैं-

शिविर्दधीचो न च रन्तिदेवः पृथुर्नृगो वा नहुषाम्बरीषौ।
न केऽपि जग्मुर्जनकप्रतिष्ठां प्रजानुरागप्रसरावदाताम्।। १/३६

जनक स्वर्ण-हल से कर्षण आरम्भ करते हैं। अकस्मात् हल रुक जाता है, फिर वे ज्यों ही जोर लगा कर उसे खींचते हैं त्यों ही एक प्रकाशधारा प्रकट होती है। कवि की कविता जैसे इस प्रकरण में अनजान सी बह पड़ती है-

कलेव चान्द्री स्फुटचारुशोभा ज्वलद्धुताशप्रतियातनेव।
लतेव मालेव धरासुतेव प्रमोहविद्धं विदधे जनं सा।। ६/४४

("चन्द्रकला के समान सुस्पष्ट आकर्षक छविवाली वह कन्या धधकती हुई आग की मूर्ति के समान थी। लतासरीखी, माला सरीखी तथा पृथ्वी की कन्या प्रतीत होने वाली उसने लोगों को प्रगाढ़ मोह से बींध दिया।") यहां कहीं ऐसा तो नहीं कि "धधकती हुई आग की मूर्ति के समान उस कन्या" सीता को निर्दिष्ट करते हुए कवि की लेखनी से आगे घटित होने वाली अग्नि-परीक्षा की घटना का पूर्व संकेत हो गया है ? अचिरोपारूढयोवना सीता के वर्णन का यह पद्य उल्लेखनीय है-

प्रपातनिर्बन्धरयो न साम्प्रतं व्यलोकि सीताचरणेषु केनचित्।
न वा सखीभिर्व्यवहारसारणी तटङ्कषाऽदर्शि तदेकलम्बना।। ३/२२

("अब सीता के पद-विन्यासों में कोई व्यक्ति प्रपात सरीखा अमन्द वेग नहीं देख पाता और न ही सखियाँ सीता की व्यवहार पद्धति को अमर्यादित देख पाती थीं, जिनका एकमात्र वह अवलम्बन थी।")

विश्वामित्र द्वारा राम को मांगने के प्रसंग में दशरथ के शब्दों में उनकी स्थिति का वर्णन भी आकलनीय है-

प्राणैर्विना दशरथीभवितुं न शक्तौ दृष्टिं विना दृगुभयं ननु मोघजन्म।
किं वा करोमि तदहं वितथं न भाषे रामं विना क्षणमपि श्वसितुं न शक्यम्। ४/२५

("प्राणभूत राम के बिना दशरथ बन कर जीवित रहना भी सम्भव नहीं, दृष्टिभूत राम के बिना दोनों नेत्रों का अस्तित्व ही व्यर्थ है। मैं क्या करूँ आप से असत्य नहीं कहता, राम के अभाव में एक पल भी जीवित रहना मेरे लिए सम्भव नहीं है।")

षष्ठ सर्ग में, राम द्वारा गृहीत सीता का वर्णन कालिदास के कुमारसम्भव की पार्वती की स्थिति को याद दिलाता है-

न च ससार पुरो न च पृष्ठतो न खलु दक्षिणतो न च वामतः।
उपरि नैव ददर्श न वाऽप्यधो ह्यचलमूर्तिरिवाजनि जानकी।। ६/५७

("न वह आगे बढ़ पायी और न पीछे ! न दाहिने खिसक सकी न बायें ! न उसने ऊपर की ओर देखा अथवा न ही नीचे की ओर ! सीता एकदम स्थिर मूर्ति बन गयी।")

नवम सर्ग में बरातियों के आगमन से अयोध्या में उल्लास का प्रसंग है। लोकाचार से वधुओं का गृहप्रवेश होता है। यहां अनुष्टुप् का प्रयोग लचर प्रतीत होता है। स्वभावतः कथानक के संघटन में राम का व्यक्तित्व सीता की अपेक्षा कम उभारा गया है। अधिकतर मार्मिक प्रसंग छोड़ दिये गये हैं।

पन्द्रहवें सर्ग में रावण पर विजय के पश्चात् अशोकवाटिका से सीता को राम के निकट उनके निर्देश से लाया जाता है। वह शिबिका पर सवार होकर आती हैं और विभीषण से अनुगत होकर कुछ दूर पैदल चल कर राम के समक्ष प्रस्तुत होती हैं। वह अपने मन में एक ही साथ अनेक भावावेगों से आन्दोलित हो रही हैं। इसी स्थिति में अचानक राम के मुख से परुष अक्षर निकल पड़ते हैं। "सीते, तुम रावण के संस्पर्श से मलिन हो तथा उसकी कामुक दृष्टि से देखी गयी हो, बहुत काल तक उसके भवन में रह चुकी हो, इन कारणों से मुझमें तुम्हें स्वीकार करने का साहस नहीं है।" राम का यह सीता के प्रति वक्तव्य कुछ अस्वाभाविक सा लगता है। यदि उन्हें ऐसा ही करना था तो सीता को सभा के बीच ही क्यों बुलाया? अपना यह सन्देश देकर अपने दूत को भेज देते ! यहां जानकी-जीवन के एक आलोचक डॉ. महाराज दीन पाण्डेय के कुछ विचार इस प्रकार हैं "ऐसा नहीं कि राम को स्वयं विश्वास हो कि सीता पवित्र है, केवल लोक के विश्वास को लेकर चिन्तित हों बल्कि वे स्वयं अविश्वस्त हैं और उससे अधिक लोक से दोचार होने के आतंक से आतंकित ! वाह जानकीजीवन के राम का शौर्य और औदात्य ! राम को इस स्थिति तक लाने के बाद तो सीता से जो भाषण कराया गया है, राम को भर्त्सित कराया गया है, वह बहुत विस्मयास्पद नहीं लगता, जब वह कहती है- श्रीमान् मैंने भी आज यह बात जान ली कि न आप मेरे पति हैं और न मैं आपकी पत्नी..... तो लगता है कोई आधुनिका अपने अपराधी पति का पानी उतार लेने पर उतारू है। आगे भी दो एक उदाहरणों द्वारा डॉ. पाण्डेय ने अपने "आकलन" से यह निष्कर्ष निकाला है-

("प्रस्तुत) महाकाव्य में रावण-वध के आगे की कथा में परिवर्तन रोचक बन पड़ा है, परन्तु इतिहास का वर्तमान की अपेक्षाओं के अनुरूप बहुत अनुकूलन नहीं हो पाया है।" ("बीसवीं शताब्दी के संस्कृत महाकाव्यों में राष्ट्रीय चेतना")

डॉ. पाण्डेय के इस निष्कर्ष से अपनी सहमति अथवा असहमति पर किसी टिप्पणी से बचते हुए मैं इतना कहना चाहूंगा कि कविवर मिश्र की यह रचना अनेक स्थलों पर बहुत मार्मिक बन पड़ी है और एक नारी की पीड़ा को उभारने में उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। यह रचना आज के आधुनिक संस्कृत महाकाव्यों की भीड़ में अपने नाना वैशिष्ट्यों के कारण प्रतिभासम्पन्न इस कवि के यश को प्रतिष्ठापित करने में सक्षम है। कवि की भाषा प्रसंग से अनुरूप स्वतः ढलती गयी है। चतुर्दश में 'अरावणमरामं वा जगद्द्रक्ष्मथ वानराः' (६।१०१।४६) आदि कवि वाल्मीकि की इस भाव-भूमि का अनुहरण करती हुई रावण के

साथ युद्ध से पूर्व राम की यह प्रतिज्ञा राम के व्यक्तित्व को बहुत ही स्फुट करती है-

हरामि भुवनत्रयप्रथितशोकशङ्कुं रणे
निहत्य दनुजाधमं बहुतिथावधिप्रेक्षितम्।
भविष्यति बसुन्धरा नियतमद्य नीरावणा
दशास्यनिधनेऽथवा मयि हते तु नीराघवा।। १४/७४

("एक लम्बी अवधि के अनन्तर प्रत्यक्षीकृत इस अधम राक्षस को आज रणभूमि में मार कर मैं त्रिभुवन के महान् शोकशंकु को शान्त कर दूंगा। आज रावण के मारे जाने पर निश्चय ही वसुन्धरा या तो रावण-विहीन हो जायेगी या फिर मेरे ही दिवंगत होने पर राघव-विहीन।")

माधव श्रीहरि अणे (महाराष्ट्र, १८८०-१९६८) पुणे के एक संस्कारशील परिवार में जन्मे लोकनायक बापूजी अणे भारतीय स्वातन्त्र्य के एक सेनानी तथा विद्वान् के रूप में प्रतिष्ठित थे। वे पुणे के तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ के कुलपति रहे। बिहार राज्य के राज्यपाल के रूप में भी उन्होंने स्वतन्त्र राष्ट्र की सेवा की। उन्हें भारत के राष्ट्रपति ने १९६८ में पद्मविभूषण अलङ्करण से विभूषित किया था। उनका कवि रूप उनके महाकाव्य, "श्रीतिलकयशोऽर्णवः" के प्रकाशन से लोक-विदित हुआ।

श्रीतिलकयशोऽर्णवः तीन खण्डों में क्रमशः १९६९, १९७०, १९७१ में, ८५ तरङ्गों में प्रकाशित हुआ। इस विशालकाय रचना में, अन्त की तीन तरङ्गों को कवि के १९६८ में दिवगंत हो जाने से, इसके सम्पादक मण्डल ने उनकी टिप्पणियों के आधार पर कवि की शैली का ही अनुगमन करते हुए लिखकर पूर्ण किया। अपने समय के महान् राष्ट्रनेता और "गीतारहस्य" के प्रसिद्ध लेखक कर्मयोगी लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक (१८५६-१९२०) के जीवन की घटनाओं पर आधृत यह ग्रन्थ एक ऐतिहासिक महत् काव्य तो है ही, अपने आप में अपने रचनाकार की अत्यन्त प्रदीप्त प्रतिभा से निर्मित होकर आकलनीय बन गया है। रचनाकार को लोकमान्य तिलक के शिष्य के रूप में साथ काम करने का भी सौभाग्य मिला था, इस कारण इस रचना की प्रामाणिकता भी निःसन्दिग्ध हो गई है।

लोकमान्य के जीवन की लघु घटनाओं की बूंदों से बने इस "अर्णव" में अनुष्टुप् छन्द का ही बाहुल्येन प्रयोग हुआ है। श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण की सरल शैली में स्वातन्त्र्य-महाभारत के एक प्रखर योद्धा के जीवन का काव्यमय इतिहास सहृदय समाज द्वारा बहुत प्रशंसित हुआ। कवि ने प्रस्तुत वृत्तान्त के साथ यथास्थान अनेक पौराणिक प्रसङ्गों की उत्प्रेक्षा की है, उपमाओं का प्रयोग किया है। आरम्भ में शब्दचित्र के रूप में "लोकमान्य" की प्रस्तुति कविने इस प्रकार की है-

रक्तोष्णीषं शिरसि रुचिरं चन्दनाङ्कञ्च भाले
हस्ते यष्टिं तुहिनधवलामङ्गरक्षां शरीरे।

स्कन्धाज्जानूपरि विलसितं चोत्तरीयं दधानं
बालं भव्यं तिलककुलजं लोकमान्यं नमामि।। ६/६०

(मैं भव्य लोकमान्य "तिलक" कुल में उत्पन्न बाल (गङ्गाधर) को नमन करता हूं, जो सिर पर सुन्दर लाल पगड़ी धारण किये हुए हैं, जिनका ललाट चन्दन-चर्चित है, जिनके हाथ में हिमोज्ज्वल यष्टिका है, शरीर में अंगरखा है और जिन्होंने कंधे से लेकर जानु-भाग तक लटकते उत्तरीय को धारण कर रखा है।)

इस रचना में प्राचीन महाकाव्य-लक्षणों का सर्वात्मना अनुगमन नहीं हुआ है, इस आधारपर इसे "महाकाव्य" की कोटि में न रखना ठीक नहीं, क्योंकि कवि की दृष्टि निश्चित रूप से एक महत् काव्य के निर्माण में प्रवृत्त लक्षित होती है और युग के परिवर्तन के अनुरूप उसने सम्पूर्ण रूप से महाकाव्य के प्राचीन लक्षणों पर अनुगमन करना स्वीकार नहीं किया। तरंग के अन्त में उसके द्वारा छन्दों में परिवर्तन किया जाना भी उसकी ओर से एक "महाकाव्य" के रूप में इसे प्रस्तुत करना लक्ष्य प्रतीत होता है। बापूजी अणे के मन में अपने चरित नायक के प्रति कितनी श्रद्धा थी इसे यह पद्य प्रकट करता है-

धैर्येण भूधर इवाम्बुधिवद् गभीरो यस्तेजसाऽर्क इव शीतकरः शशीव।
ज्ञानेन गीष्पतिरिवोत्तमकर्मयोगी तं भारतस्य हृदयं तिलकं नमामि।।

(मैं उन "तिलक" को नमन करता हूं, जो धैर्य से पर्वत के समान, समुद्र जैसे गम्भीर, तेज से सूर्य के सदृश, चन्द्र जैसे शीतल प्रकाश वाले, ज्ञान में बृहस्पति के समान हैं और उत्तम कर्मयोगी हैं।)

"स्वाराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है" इस मन्त्र के दाता तिलक की प्रस्तुत "यशोगाथा" में नाना घटनाओं का उल्लेख है। उदाहरणार्थ, जब (तिलक) ने केसरी पत्र का सम्पादन-कार्य अपने हाथ में लिया तो उनके मन में जन-सेवा का भाव था, क्योंकि लोक-ऋण से उसी प्रकार मुक्ति पाई जा सकती थी। कवि लिखते हैं-

अहं सर्वैरपकृतः सज्जनैर्देशबान्धवैः।
सर्वपक्षैः सर्ववर्णैः सर्वधर्मानुयायिभिः।।
ऋणापकरणं शक्यं नाधमर्णेन वै पृथक्।
प्रशस्यते सङ्घटिता जनसेवा विवेकिभिः।। २६/४५,४६

(सभी पक्षों, वर्णों, धर्मों के अनुयायी सज्जनों, देश के बन्धु-जनों ने मेरा उपकार किया है, अलग से अधमर्ण मैं ऋण को चुकता नहीं कर सकता, विवेकी लोग संघटित जन-सेवा की प्रशंसा करते हैं।)

कवि के अनुसार उन्होंने कार्यसूत्र को अपने हाथ में लेकर लोगों को सही मार्ग का उपदेश किया और निराशा के अन्धकार से ग्रस्त चित्रों को स्वदेश आदि के प्रति भक्ति के द्रव से भर दिया। फलतः,

नवाशावसन्तो जनेष्वाविरासीत् प्रफुल्ला रसालाः पिका गीतहृष्टाः।
समुत्साहवायुर्ववौ गन्धवाहः प्रजासु स्वकर्तव्यनिष्ठोदयोऽभूत्।। २६/५५

(नई आशा का वसन्त प्रकट हुआ, आम्र मञ्जरित हो गये, कोकिल गीत गाकर प्रसन्न हुए, उत्साह का गन्धवा ही पवन बहने लगा और जनता में अपने कर्तव्य की निष्ठा का उदय हुआ।)

एक प्रसंग में, ''टाइम्स'' नाम के एक पत्र ने तिलक के साथ कुछ ग़लत व्यवहार किया, अन्ततः उसके प्रतिनिधि ने न्यायालय में ''क्षमापत्र'' लिखकर पढ़ा और तिलक ने उसे क्षमा कर दी। कवि इस पर लिखते हैं-

न शत्रुरपि हन्तव्यः शरणं यः समागतः।
युद्धनीतिर्भारतीया तिलकेनावलम्बिता।। २७/३०

(शत्रु भी जो शराणागत जो जाय, मारने योग्य नहीं है, इस भारतीय नीति का 'तिलक' ने सहारा लिया) कवि ने किसी-किसी प्रकरण को उसके महत्त्व के अनुसार विस्तृत करके वर्णित किया है, जैसे ३३वीं तरंग में बङ्गभङ्ग-प्रसङ्ग आदि को। कहीं-कहीं कवि की लेखनी से उत्तम सूक्तिमय पद्य-रत्न का निर्माण हो गया है-

न प्रार्थना न विज्ञप्तिर्भैक्ष्यं नैव च नैव च।
पराक्रमेण सिध्यन्ति स्वातन्त्र्यस्य मनोरथाः।। ३३/१५४

(स्वातन्त्र्य के मनोरथ पराक्रम से सिद्ध होते हैं, उसके लिए न प्रार्थना, न ही विज्ञापन आवश्यक है, भिक्षा का आचरण तो बिल्कुल नहीं।)

सामान्यवस्तुलाभोऽपि न तु त्यागं विना भवेत्।
न विनात्मार्पणं कश्चित् स्वातन्त्र्यमधिगच्छति ११ ३३/२२६

(सामान्य वस्तु का लाभ भी बिना त्याग के नहीं होता, कोई भी आत्मबलिदान के बिना स्वातन्त्र्य प्राप्त नहीं करता) मण्डालय के जिस कारागार में ६ वर्षों तक तिलक को बंद रहना पड़ा, वहीं उन्होंने 'गीतारहस्य' का लेखन किया। इस प्रसङ्ग को कवि ने कवित्वपूर्ण शैली में प्रस्तुत किया है (३८/४७)। यद्यपि स्वाराज्य का सुफल तिलक के जीवनकाल में भारत की जनता को प्राप्त नहीं हुआ, तथापि उसे प्राप्त होने में तिलक के योगदान का बहुत बड़ा स्थान है। कवि ने ऐसे महापुरुष का चरित प्रस्तुत करके आधुनिक संस्कृत साहित्य का महनीय संवर्धन किया है। उन्हीं के शब्दों में-

तिलकचरितं परमगहनं देशसंसारबिम्बममृतमधुरं तरुणहृदयस्पर्शि सद्भावपूर्णम्।
विमलमतुलं मनुजहृदयाकाशदीप्तिप्रदं यद् भुवनविरलप्रथितयशसां तुष्ट्येऽभ्यासयोग्यम्।।
३०/३३५

(तिलक का चरित परम गहन है, उसमें देश और संसार दोनों का बिम्ब है, वह अमृत जैसा मधुर है, तरुण जनों के हृदय को स्पर्श करने वाला है, सद्भाव से भरा है, विमल तथा अतुलनीय है, मनुष्य के हृदयाकाश को दीप्ति प्रदान करने वाला है और यत्र-तत्र फैले यश वाले लोगों के अभ्यास योग्य है।)

गणेश गङ्गाराम पेंढारकर (महाराष्ट्र)-इनका "संस्कारसङ्गरम्" नाम का नौ सर्गों में लिखित महाकाव्य श्री र. ब. जोशी चिटणीस प्राज्ञ पाठशाला, मण्डल बाई (जि. सतारा) से १९७७ में प्रकाशित हुआ। "संस्कारसङ्गरम्" संस्कृत महाकाव्यों की परम्परागत कथावस्तु से अलग कल्पित पात्र पर आधारित होने के कारण एक ओर कवि की, नये आयाम में लेखन की दृष्टि को उजागर करता ही है, दूसरी ओर कथ्य के अनुरूप कवित्वप्रदर्शन से विरत परिस्फुट शब्दयोजना वाली भाषाशैली के कारण भी ध्यान आकृष्ट करता है। इसका मूल कारण है रचनाकार आधुनिक जीवन-पद्धति के अधिक निकट है और उसकी जीवन-दृष्टि भी मूलतः भारतीय होते हुए भी कुछ निजी हैं। लेखक के अनुसार यहां सनातन पवित्र संस्कार से प्रभावित, निरपराध एक तरुणी एवं आधुनिक पाश्चात्य संस्कार के प्रभाव वाले एक तरुण, जो परस्पर विरोधी संस्कारों से निर्मित आवर्तमय चक्कर के कारण जर्जर हो चुके हैं, का करुण तथा विपन्न संसारचित्र वर्णित है। इसमें संवादों, नाट्यगुणों से समन्वित प्रसङ्ग तथा अशिथिल कथासूत्र का घाट आद्योपान्त सफल रूप से नियोजित हुए हैं। कवि की भाषा सर्वथा उपयुक्त एवं हृदयग्राहिणी है। इसका एक निदर्शन प्रस्तुत है-

किमप्यविदितं पुरा वपुषि मानसे माधवी
ह्यकारणमिवान्वभूद्र विविधचित्रसंवेदनम्।
क्वचित्सपुलका क्वचित्सचकिता सलज्जोन्मनाः
क्वचित्प्रमुदिता क्वचिच्च विमना अनीशात्मनः।। ५/२०

(माधवी ने अपने शरीर तथा मन में पहले से अनुभूत तथा अकारण विविध विचित्र संवेदन अनुभव करने लगी। वह कभी रोमांचित कभी आश्चर्ययुक्त, कभी प्रभुदित, कभी मन का अपने आप पर अधिकाररहित हो जाती।)

करुण एवं शान्त रसों की सम्मिश्रित अनुभूति उत्पन्न करने वाली यह रचना आधुनिक संस्कृत साहित्य के महाकाव्यों में बिल्कुल एक अलग अपना स्थान बना सकने में समर्थ है और इस दृष्टि से इसके निर्माता कवि पेंढारकर सर्वतोभावेन अभिनन्दनीय है; किन्तु इसके महाकाव्यत्व को लेकर उठने वाले विवाद की सम्भावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता।

नारायण शुक्ल (उत्तर-प्रदेश १९०८) देवरिया जिले में खोण्डा ग्राम के निवासी कवि शुक्ल ने अपने ही जिले के एक संस्कृत महाविद्यालय में अध्ययन किया और श्रीनाथ संस्कृत महाविद्यालय, हाटा, (देवरिया) के प्रधानाचार्य पद से सेवानिवृत्त हुए। कवि शुक्ल

ने 'ऊर्मिलीयमहाकाव्य' का निर्माण किया जो उनके ही द्वारा १९७३ में प्रकाशित हुआ।

महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की दृष्टि में वाल्मीकि द्वारा रामायण की उपेक्षिता नारी ऊर्मिला को प्रस्तुत रचना में प्रतिष्ठित करने का कवि का प्रयास है। ऐसा ही प्रयास हिन्दी के प्रतिष्ठित कवि स्व. मैथिली शरण गुप्त ने भी अपने 'साकेत' महाकाव्य में किया है। कवि शुक्ल ने कृष्णायनम् नाम से भी एक महाकाव्य की रचना की है, ऐसा उल्लेख है। कवि शुक्ल द्वारा १७ सर्गों में प्रणीत 'ऊर्मिलीय महाकाव्य' में, रामायण और पुराण के विभिन्न स्रोतों से प्राप्त ऊर्मिला के कथानक को अपनी प्रतिभा से आबद्ध करने का प्रयास किया गया है। जनक की रानी सुनयना से ऊर्मिला का जन्म होता है। सीता के विवाह के प्रसंग में उसका विवाह लक्ष्मण के साथ होता है। कवि ने ८वें ९वें सर्गों को लक्ष्मण और ऊर्मिला के संवाद के रूप में प्रस्तुत किया है और अपने कवित्व का स्पर्श देने का भी उसका विशेष प्रयास लक्षित होता है, किन्तु उसकी भाषा में सम्प्रेषणीयता का कुछ अभाव सा प्रतीत होता है।

रमेशचन्द्र शुक्ल (राजस्थान १९०९-१९९५) अनेक विधाओं में अपनी रचना-प्रवृत्ति से आधुनिक संस्कृत साहित्य को जिन्होंने सम्पन्न करने का प्रयास किया उनमें कविवर शुक्ल अन्यतम हैं। धौलपुर में जनमे कवि शुक्ल ने अनेक स्थानों में अध्यापन किया। इनके द्वारा १४ सर्गों में रचित महाकाव्य 'सुगमरामायण' देववाणी परिषद् दिल्ली-५६ से १९७८ में प्रकाशित हुआ। कविवर शुक्ल का दूसरा ग्यारह सर्गों में निबद्ध महाकाव्य 'श्रीकृष्णचरित' देववाणी परिषद्, दिल्ली से ही १९७९ में प्रकाशित हुआ। जैसा कि नामकरण से स्पष्ट है, राम की कथा को सुगम भाषा में प्रस्तुत करने का इस कवि का प्रयास है। कवि ने रामायण के सभी आदर्श चरित्रों को प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए प्रस्तुत किया है। भाषा में एक निश्चित ही प्रवाहमयता और अपेक्षित प्रसाद गुण है। कवि स्त्री शूर्पणखा का नासिका और कान के कर्तन द्वारा विरूपीरकण समुचित नहीं मान कर लक्षण से स्वीकार कराता है। राम उससे कहते हैं-

निशम्य तस्या वचनं कठोरमुवाच रामः प्रतिभासि मे त्वम्।
विना च नासाश्रवणे स्वतन्त्रे प्रयाहि न त्वां तरसा दिदृक्षुः ।।११९/९२

कवि ने यत्र-तत्र सुन्दर वर्णनों को भी उपनिबद्ध करके कवित्व का अच्छा स्पर्श दिया है। रामराज्य के वर्णन के प्रसङ्ग में कवि की राष्ट्रिय भावना समुचित रूप से व्यञ्जित हुई है।

वसन्त त्र्यम्बक शेवडे (महाराष्ट्र १९१७) सतारा के निवासी कवि शेवडे का जन्म मुम्बई में उनके मातामह के घर में हुआ। पिता श्रीत्र्यम्बक लक्ष्मण शेवडे पहले अमरावती में, फिर बाद में नागपुर में वकील थे। बाद में महाधिवक्ता (एडवोकेट जनरल) और फिर न्यायमूर्ति (हाईकोर्ट जज) हुए। कवि को संस्कृत का संस्कार मातामह-कुल में प्राप्त हुआ। आपने प्राचीन पद्धति से अनेक गुरुजनों से विविध शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त की। आप

काशीवास करते हुए अपना अधिकतर समय शास्त्रचिन्तन और काव्य-निर्माण में व्यतीत कर रहे हैं। आपका लघु काव्य 'रघुनाथशिरोमणिचरितम्' "सरस्वतीसुषमा" (बाराणसी) में प्रकाशित हुआ। आपके अब तक तीन महाकाव्य प्रकाश में आये विन्ध्यवासिनीचरित (चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी १६८२) शुम्भवध और श्रीदेवदेवेश्वर महाकाव्य (श्री देवेश्वर संस्थान पर्वती व कोयरूड पुणे, महाराष्ट्र संस्थान के प्रयास से १६६३ में प्रकाशित)। कविवर शेवडे को उनके प्रथम महाकाव्य पर साहित्य अकादमी (नई दिल्ली) का पुरस्कार प्राप्त हुआ। सहज उपासक प्रवृत्ति के इस कवि ने अपनी रचनाओं को पार्वती और परमेश्वर की आज्ञा तथा उनके प्रसाद का फल माना है। वैदर्भी रीति उन्हें कालिदास और बिल्हण की परम्परा से प्राप्त हुई-

कविकुलगुरुमादौ शिश्रिये कालिदासं तदनु च कविमल्लं बिल्हणं या प्रपेदे।
स्मरहरचरणाब्जे चञ्चरीकं वसन्तं श्रयति कविमिदानीं सैव वैदर्भरीतिः।।

(जिस वैदर्भी रीति ने पहली बार कविकुलगुरु कालिदास की सेवा की, तत्पश्चात् कवि-मल्ल बिल्हण को प्राप्त हुई और अब वही काम-हर शिव के चरणों में रह रहे (वसन्तं) वसन्त (शेवडे) के पास रहती है।)

सोलह सर्गों में रचित विन्ध्यवासिनीचरित महाकाव्य का मूल कथानक कहीं सुसंगत रूप से उपलब्ध नहीं है। विन्ध्याचल के निकट मुनि नारद आते हैं और उसे इन्द्र के विरुद्ध कलह के लिए प्रेरित करके चले जाते हैं। पर्वतों के साथ इन्द्र का वैर प्रसिद्ध है। विन्ध्याचल सभी पर्वतों को आमन्त्रित करता है और इन्द्र से बदला लेने के लिए सबकी सहमति प्राप्त करता है। विन्ध्याचल भगवती दुर्गा और अपने गुरु अगस्त्य का स्मरण करके बढ़ने का उपक्रम करता है। उधर इन्द्र की प्रार्थना पर विष्णु विन्ध्याचल को मनाने में अपनी अक्षमता व्यक्त करते हैं और उन्हें अगस्त्य की शरण में जाने का निर्देश देते हैं। देवताओं के साथ इन्द्र प्रयाग होते हुए काशी आते हैं। इन्द्र की प्रार्थना अगस्त्य स्वीकार कर लेते हैं और विन्ध्याचल के पास जा कर उसे पूर्ववत् स्थिर रहने का आदेश देते हैं। विन्ध्याचल उनसे प्रार्थना करता है कि विन्ध्य के किसी स्थान पर भगवती दुर्गा को निवास करने के लिए प्रेरित करें। अगस्त्य कैलास जाकर भगवती को राजी करते हैं। विन्ध्याचल का एक क्षेत्र "शक्तिपीठ" बन जाता है।

उत्तरार्ध में, विन्ध्यवासिनी की कृपा से वसुदेव को भगवान् कृष्ण पुत्ररूप में प्राप्त होते हैं। कंस के सत्ता में आने पर वसुदेव और देवकी को कारावास होता है। वसुदेव के अनुरोध से गर्ग मुनि विन्ध्याचल जाकर सहस्रचण्डी यज्ञ करते हैं। प्रसन्न होकर दुर्गा नन्द के यहां अवतीर्ण होना स्वीकार करती हैं। और विष्णु को वसुदेव-पुत्र के रूप में अवतीर्ण होने के लिए प्रेरित करती हैं। कारावास में कृष्ण का जन्म, वर्षा में वसुदेव द्वारा उन्हें गोकुल पहुंचाया जाना, यशोदा के पास कृष्ण को छोड़कर योगमाया को लेकर मथुरा आना, कंस द्वारा योगमाया को मारने का उपक्रम, योगमाया का उसके हाथ से निकल कर कंस को मारे

जाने की आकाशवाणी, कृष्ण द्वारा कुवलयापीड हाथी, चाण्डूर आदि मल्लों के वध के पश्चात् कंस का संहार आदि वर्णित हैं और अन्तिम सर्ग में कृष्ण और बलराम के उपनयन का समारोह, नवरात्र में वसुदेव आदि की विन्ध्याचल यात्रा, नवरात्र महोत्सव आदि वर्णित हैं।

दूसरा महाकाव्य शुम्भवध भी सोलह सर्गो का है, जिसमें भगवती दुर्गा द्वारा शुम्भ नामक दैत्य का वध वर्णित है। साथ ही, अंगरूप में धूम्रलोचन, चण्ड-मुण्ड, रक्तबीज, निशुम्भ आदि के वध के वृत्तान्त भी वर्णित हैं। इसका कथानक देवी-भागवत और मार्कण्डेयपुराण से लिया गया है।

कवि का तीसरा महाकाव्य (१६ सर्गो का) मराठों के इतिहास पर आधारित है तथा १६५० से १७५० तक का इतिहास इसका मूल विषय है। रघुवंश की परम्परा में यहां भोसलेवंश के राजाओं का पराक्रम वर्णित हुआ है। क्षत्रपति शिवाजी महाराज उनके ज्येष्ठ पुत्र सम्भाजी, द्वितीय पुत्र राजा राम तथा सम्भाजी के पुत्र शाहू जी महाराज के चरित्र इसमें चित्रित हैं। उनके प्रधान मन्त्री बालाजी बाजी राव पेशवा पूना में पर्वत पर एक मन्दिर बना कर उसमें शाहूजी महाराज द्वारा दी गयी श्रीदेवदेवेश्वर की मूर्ति की स्थापना करते हैं।

स्वात्माराम प्रकृति के उपासक कवि शेचडे की काव्य-साधना भी इनकी उपासना की कोटि में परिगणनीय है। इन्होंने वर्णनों को अधिक प्रश्रय दिया है, घटनाओं को कम। उनकी भाषा में एक संश्लिष्टता के साथ सम्प्रेषणीयता है। अलंकारों को अनुस्यूत करने और अपनी बात के प्रस्तुतीकरण की शैली परम्परागत है, तथापि उनकी वैदर्भी चित्त को प्रभावित करती है। वर्णनों में वस्तु की स्वाभाविकता का अतिक्रमण प्रायः नहीं करते, फिर भी उनके अनुसार विन्ध्यपर्वत की किरात कान्तायें नाना रत्नों को अल्प मूल्यों में वणिग्जनों को दे डालती हैं (८/१४)।

कवि में पाण्डित्य के साथ भारतीय सांस्कृतिक चेतना का गहरा रंग भी उद्भासित है। ऐसा प्रभाव उसकी रचना में आद्योपान्त परिलक्षित होता है। विन्ध्यवासिनी विजय महाकाव्य के पूर्वार्द्ध (१-१० सर्ग) की पूरी संरचना इन्द्र के मद को चूर करने के लिए हुई और भगवती को विन्ध्य क्षेत्र में प्रतिष्ठित करके देवताओं के पर्वत सुमेरु की तुलना में विन्ध्य को अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने में, की गयी किन्तु यह रचना अन्ततः कृष्ण द्वारा आततायी कंस के संहार के कारण लोक-कल्याण की भूमि पर प्रस्तुत हुई। इसमें कवि का कवित्व आद्योपान्त उच्छलित है। एक ओर कवि विन्ध्य वर्णन के प्रसंग में समाज के सबसे छोटे वर्ग, किरातों, पुलिन्दों, शालिगोपियों पर दृष्टिपात करता है तो दूसरी ओर वाराणसी-वर्णन में वैदिक विद्वानों के वेदपाठ की चर्चा करता है।

प्रयाग के प्रसंग में संगम का वर्णन करना कवि को सम्भवतः इसलिए अभिप्रेत नहीं रहा कि कालिदास से उसका वर्णन अतिशयित नहीं हो सकता था। कवि के अगस्त्य जब जगज्जननी गौरी तक पहुंचते हैं तब उनकी वाणी और मुखर हो जाती है-

विद्यां पुरा त्रिपुरभैरवि तावकीनामाराध्य पञ्चदशवर्णमयीं मुकुन्दः।
दैत्यानुपप्लवकरानिव विप्रलब्धुं, त्रैलोक्यमोहनमपद्यत रूपधेयम्।।८/३१

(हे त्रिपुरभैरवी, पुराकाल में तुम्हारी विद्या की आराधना करके मुकुन्द ने उत्पात मचाने वाले दैत्यौं को मानों वञ्चित करने के लिए त्रैलोक्य को मोहित करने वाला रूप प्राप्त किया।) कविवर शेवडे महाकाव्य में प्रयुक्त होने वाले प्राचीन अनेक छन्दों का प्रयोग किया है किन्तु अनुष्टुप् में लेखन उन्हें अभीष्ट नहीं।

शुम्भवध में अपेक्षाकृत वीररस को अधिक प्रश्रय मिला है। क्रुद्ध शुम्भ देवी के पास अपना दूत भेजकर यह कहलाता है-

गर्वोद्धताऽसि हननान्महिषासुरस्य मायाभ्रमेण पशुभावमुपाश्रितस्य।
नाहं महेशि महिषः कपटानभिज्ञः शुम्भोऽस्मि नीतिनिपुणो रणपण्डितश्च।। ७/४३

(हे भावानी, माया के भ्रम से पशुभाव को प्राप्त महिषासुर के वध से तू घमंड से भर गयी है। मैं कपट का अनभिज्ञ महिष नहीं हूं, बल्कि नीति में निपुण और रण का पण्डित शुम्भ हूं।)

समग्ररूप से कविवर शेवडे का रचनाकार अपनी परम्परागत सीमा के बावजूद मन को आकृष्ट करता है और आज के अनेक रचनाकारों को अपनी कलात्मक चेतना के कारण बहुत पीछे छोड़ता हुआ प्रतीत होता है।

रामावतार मिश्र (बिहार १८६६-१६८४) कवि मिश्र गया जिले के टेकारी के पास बेनीपुर ग्राम के निवासी थे। किन्तु इनका जन्म निकटवर्ती ग्राम मखपा में इनके नाना के यहां हुआ। आप जब दो वर्ष के थे तभी आपके पिता का देहान्त हो गया। गया के पं. रमाप्रसाद मिश्र "रमेश" की शरण में रहकर १६२३ में आपने साहित्योपाध्याय की परीक्षा उत्तीर्ण की। आपने व्याकरण, आयुर्वेद तथा ज्योतिष का भी अध्ययन किया। अपने गुरु के प्रति इनके मनमें अपार आदर का भाव था। अपने काव्यों के प्रकाशन के उपाय से विरत कवि मिश्र ने अनेक खण्डकाव्यों के साथ दो महाकाव्यों की रचना की। संयोगवश इनकी अप्रकाशित रचनाएं सेण्टजेवियर्स कालेज में अंग्रेजी विभाग के प्राध्यापक गुणग्राही डॉ. शिवशङ्.कर पण्डित के हाथ लगीं और उनका सम्पादन करके हिन्दी में अनुवाद के साथ डॉ. पण्डित ने प्रकाशित किया। कवि के दो महाकाव्य हैं-'श्रीदेवीचरितम्' (१६८२) और 'श्रीरुक्मिणीमङ्गलम्' (१६६६)। पहला तो १६३५ से १६३६ के बीच ही लिखा जा चुका था, किन्तु दूसरे के ६ सर्गों की रचना १६३६ में हो चुकी थी, लेकिन कवि ने प्रथम महाकाव्य के प्रकाशन के पश्चात् बाद में १६८२-८३ पूरा किया। दोनों रचनाओं का प्रकाशन रुक्मिणी प्रकाशन, इन्द्रपुरी रांची- ८३४००५ (बिहार) से हुआ। कवि को श्रीदेवीचरित पर उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी (लखनऊ) का कालिदास पुरस्कार (१६८३) में प्राप्त हुआ। सम्पादक डॉ. पण्डित के अनुसार, कवि ने रचनाओं के मुखपृष्ठ पर अपने

गुरु की असीम कृपा को अपनी रचनाओं का मूल कारण निर्देश करने वाले अपने इस पद्य को आग्रहपूर्वक मुद्रित करने का निर्देश किया था-

"कृष्णांघ्रिपाथोजमधुव्रतस्य सदागमाभ्यासपरायणस्य।
धृतावतारस्य नु कालिदासकवे रमेशस्य कृपाश्रयेण।।"

(श्री कृष्ण के चरण कमलों के भ्रमर, सदा आगम शास्त्र के अभ्यास में संलग्न, कवि कालिदास के अवतार रूप गुरु रमेश की कृपा के आश्रित)

श्रीदेवीचरित (१६ सर्ग) प्रसिद्ध पौराणिक कथानक पर आधृत है, जिसमें आदि शक्ति जगज्जननी द्वारा महिषासुर आदि नाना असुरों के संहार की कथा है। विष्णु के नाभिकमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति, विष्णु के कान की मैल से मधु और कैटभ की उत्पत्ति, उनके डर से ब्रह्मा द्वारा स्तुति से आरम्भ करके विभिन्न असुरों के वध की रोचक प्रसंग वर्णित हैं। इस विजय के पश्चात् सब ओर सुख शान्ति का वातावरण हो जाता है। इसी प्रकार दूसरे महाकाव्य श्रीरुक्मिणीमङ्गल (१२ सर्ग) का कथानक श्रीमद्भागवत में प्राप्त रुक्मिणी विवाह की घटना पर आधारित है। आरम्भ में, नारद श्रीकृष्ण के यहां आकर रुक्मिणी का वर्णन करते हैं, श्रीकृष्ण के पास ब्राह्मण द्वारा रुक्मिणी का संदेश प्राप्त होता है। श्रीकृष्ण सेना के कुण्डिनपुर जाते हैं और रुक्मिणी का हरण करते हैं आदि पुराण प्रसिद्ध कथा है।

यद्यपि कवि ने दोनों रचनाओं में इतिवृत्तात्मक शैली में कथा को मन्दगति से गतिशील किया है तथा कवित्व के प्रदर्शन से पराङ्मुख है तथापि उसका कवित्व आद्योपान्त जलचादर के दीप की भांति उसके द्वारा प्रयुक्त शब्द-अर्थों के आवरण में झलकता हुआ प्रतीत होता है। प्रथम महाकाव्य के प्रथम सर्ग में कविने मधुकैटभ के आतंक से भयाक्रान्त ब्रह्मा के मुख से योगनिद्रा की स्तुति करायी है। वहां उसकी आदि शक्ति के प्रति निष्ठा के साथ उसके कवित्व का पाक भी लक्षित होता है। कवि की भाषा भी आद्योपान्त प्रसादगुणमयी एवं भावसम्प्रेषण में क्षम है। जैसे-

सौम्याकृतीनां त्वमतीव सौम्या त्वत्तः पर सौम्यतरा न लोके।
सौम्यत्वमेवास्ति तवाश्रितं यत् कथ न तादृग्भवसि त्वमेव।। श्री दे. च. १/५८

(सौम्य आकृति वाली स्त्रियों में तुम सबसे बढ़कर सुन्दर हो, संसार में तुमसे अधिक सुन्दर कोई भी नहीं है, जब सौन्दर्य तुम्हारे ही अधीन है, तो तुम वैसी क्यों न हो)

दूसरे सर्ग में विष्णु के साथ असुरों-मधु और कैटभ का युद्ध सहज भाव से वर्णित हुआ है। कवि का ज्योतिष ज्ञान तृतीय सर्ग में प्रकट हुआ है, जहां महिषासुर स्वर्ग पर विजय प्राप्त करने के लिए युद्ध-यात्रा करता है। कहीं-कहीं कवि ने आज के जीवन में प्रचलित लोकोक्तियों को अनुस्यूत करके भी अपने कवित्व में रमणीयता लाने को प्रयास किया है। जैसे दशम सर्ग में रक्तबीजवध के प्रसङ्ग में कवि ने लिखा है-

अहो यदेतत्सकलाङ्गनिःसृतक्षतोद्भवा व्यापृणुयुर्धरामिमाम्।
तदा त्रिवेदो भवितुं चतुःश्रुतिर्गतो द्विवेदस्तु भवन् समागतः।। १०/४४

अर्थात् यदि इसके सम्पूर्ण अंग से निःसृत रक्त से सारी पृथ्वी व्याप्त हो जाये तो कहा यह जायेगा-त्रिवेदी गये चतुर्वेदी बनने, किन्तु मात्र द्विवेदी बनकर ही लौटे।"

श्रीदेवीचरित के अट्ठारहवें सर्ग में एक दैत्य द्वारा विभिन्न देहाती खेलों तथा शारीरिक व्यायामों का जीता-जागता वर्णन हुआ है। प्राचीन शैली के रचनाकार कविवर मिश्र ने अपने जीवनकाल में देश में प्रवर्तमान वैदेशिक साम्राज्य के आतङ्क को अनुभूत किया था, सम्भव है उससे ही मुक्ति पाने के लिए देवी आदिशक्ति के चरित का गान किया है।

रसिकबिहारी जोशी (१९२७)- कविवर जोशी के पिता पं. रामप्रताप शास्त्री एक प्रतिष्ठित विद्वान् और वैष्णव कवि थे। कवि जोशी पर उनका वैष्णव संस्कार पर्याप्त रूप में पड़ा है, जो उनकी करुणाकटाक्षलहरी द्वारा अभिव्यक्त हुआ है। जोशीजी ने वाराणसी में अध्ययन किया और जोधपुर तथा दिल्ली विश्वविद्यालयों के संस्कृत विभागों में अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित रहे। श्रीकृष्णभक्तिप्रवण रचनाओं के निर्माण में निपुण कवि जोशी का आठ सर्गों में लिखित 'मोहभङ्गम्' नाम का महाकाव्य १९७८ में जोधपुर विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ। इस महाकाव्य का विष्णुपुराण में प्राप्त मुनि सौभरि के आख्यान् को कवि ने मूल आधार बनाया है। कवि के अनुसार, उसको उस आख्यान में जीवन दर्शन के 'युनिवर्सल' सत्य का अनुभव हुआ और वह उसके आधार पर महाकाव्य लिखने के लिए प्रेरित हुआ।

सौभरि महान् विचारक, वेदों के ज्ञाता एवं तपोनिष्ठ मुनि थे। उनका आश्रम यज्ञानुष्ठानों, तप-नियमों तथा विद्याओं का केन्द्र था। एक दिन यमुना के जल में साधना के अवसर पर उन्होंने एक श्रेष्ठ मत्स्य को अनेक मछलियों के साथ काम-क्रीडा में आसक्त देखा और उनके मन में भी विवाहित जीवन की आकांक्षा जगी। मुनि सम्राट् मान्धता के पास पहुंचे और उनकी पचास कन्याओं में से एक के साथ विवाह की आकांक्षा व्यक्त की। मान्धाता तो उस अस्सी वर्ष के वृद्ध मुनि का न निषेध कर सके और न स्वीकार ही किया। किसी प्रकार उन्होंने सुझाया कि यदि कन्याओं में से कोई उन्हें पति के रूप में चुन लेती है तो उन्हें (सम्राट् को) कोई आपत्ति न होगी। मुनि ने राजा के अन्तःपुर में प्रवेश करते हुए, अपनी अद्भुत कायव्यूह की शक्ति से नवयुवक राजकुमार का रूप धारण कर लिया। फलतः उनके सौन्दर्य पर गुग्ध होकर सम्राट् की सभी कन्याओं ने एक ही साथ उनसे विवाह कर लिया। दिव्यशक्ति के बल पर राजभवनरूप में परिणत आश्रम में मुनि उन्हें ले आये। उनका गृहस्थ जीवन आरम्भ हुआ। समयानुसार प्रत्येक पत्नी से उनके तीन-तीन पुत्र हुए और पौत्रों का भी क्रम चला। परन्तु सौभरि ने अपनी आकाङ्क्षाओं को पूरी होते हुए नहीं अनुभव किया। अन्त में उन्होंने गृहस्थ जीवन का परित्याग कर दिया। आरम्भ में तो उनकी

पत्नियों ने आपत्ति की, किन्तु सौभरि के द्वारा तत्त्व-ज्ञान का उपदेश पा कर वे भी सब कुछ छोड़कर वानप्रस्थ जीवन बितानें लगीं।

कवि ने भारतीय आदर्श एवं दर्शन को इस कथानक के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। भाग्य के चक्र के अनुसार जीवन परिवर्तित होता रहता है, जैसा कि पूर्व कर्मानुसार सौभरि मार्ग से हट कर पुनः सही मार्ग पर आ जाते हैं। इस कथ्य को कवि ने आधुनिक जीवन के लिए भी प्रसंङ्गिक माना है। कवि के अनुसार, जीवन एक मात्र सर्वोत्तम पाठशाला है, स्वानुभव एक मात्र सर्वोत्तम गुरु है तथा भाग्य एकमात्र सर्वश्रेष्ठ विधान है, यही इस महाकाव्य का सन्देश है।

कवि कालिदास के मार्ग पर चलकर "क्वाहं मन्दमतिः क्व काव्यरचनाशास्त्रम्बुधिर्दुस्तरः" द्वारा अपना विनय प्रकाशित करते हुए मूल कथा का आरम्भ करता है और अधिकतर संस्कृत के बड़े छन्दों, स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित आदि का आश्रयण करता है। कवि की प्रतिभा कहीं स्त्रोत्र में, कहीं मान्धाता के प्रासाद के वर्णन में और अधिकतर यङ्लुङ्न्त धातु-रूपों के प्रयोग में आकलनीय है। स्थान-स्थान पर कवि ने यङ्लुङ्न्त धातुओं के प्रयोग में अपनी विशेषकाव्य निर्माण क्षमता दिखायी है। उदाहरणार्थ यह पद्य आकलनीय है-

वन्देऽहं मन्त्रमूर्तिं प्रणतहृदयगो यस्तमो दन्दहीता-
च्छ्रद्धां मे तन्तनीताद् रसिकहृदयगो देदवीतात् स्वधाम्ना।
ते कृष्णं तोष्टवीमो मधुरगुणमयीं मालिकां जाग्रथीमः
पूजार्थं नन्नमीमो हृदयनिधिहितं माधवं पोपुषीमः ।। ७/२३

(मन्त्रमूर्ति उस कृष्ण की मैं वन्दना करता हूं, जो प्रणत जनों के हृदय में रहता है, जो मेरे तम को नष्ट करता है, मेरी श्रद्धा को बढ़ाता है, रसिक के हृदय में बैठा जो अपने प्रकाश से प्रकाशित है उसकी हम स्तुति करते हैं, मधुर गुणों वाली माला को उस के लिए गूथते हैं, उसे प्रणाम करते हैं, हृदय में निहित उस माधव को पुष्ट करते हैं।)

शान्त रस प्रधान इस महाकाव्य में प्रसङ्गानुसार शृङ्गार आदि रसों को भी अभिव्यक्ति मिली है। एक अप्रख्यात प्राचीन पात्र और कथावस्तु को लेकर कवि ने महाकाव्य के क्षेत्र में एक नये आयाम का उद्घाटन किया है। सौभरि के मन में जो नाना अर्न्तद्वन्द्व उत्पन्न होते हैं उनके चित्रण से कवि की यह रचना आकलनीय कोटि की बन पड़ी है।

सुबोधचन्द्र पन्त (उत्तर प्रदेश, १९३४) कवि पन्त ने आरम्भ में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी और बाद में प्रयाग के गङ्गानाथ केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ तथा राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (नयी दिल्ली) के कार्यालयों में अधिकारी के रूप में सेवा की। २२ सर्गों में लिखित इनका 'झांसीश्वरीचरित' महाकाव्य गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, प्रयाग से १९७९ में प्रकाशित हुआ। 'झांसीश्वरीचरितम्' के रचनाकार श्रीपन्त एक सहज

कविहृदय हैं। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के इतिहास में झांसी की रानी लक्ष्मीबाई (१८३५-५८) का नाम अमर है। कवि पन्त ने उन्हें देवी दुर्गा के अवतार के रूप में चित्रित किया है-

दुर्गेव नारीजन इत्यवोचल्लोकस्य नेत्रे उदमीमिलच्च।
यद् विस्मितोऽभूद् बत विस्मयोऽपि चक्रे समस्तं तददृष्टपूर्वम्।। १/२७

(यह कन्या दुर्गा जैसी है, ऐसा नारियों ने कहा। उस बालिका ने लोगों के नेत्र खोल दिये, यहां तक कि विस्मय भी विस्मित हुआ, सब कुछ अदृष्टपूर्व घटित हुआ)। इस महनीय ऐतिहासिक चरित्र पर लिखित इस महाकाव्य में कवि ने वर्णनों को महत्व न देकर कथा-प्रवाह को आद्योपान्त गतिशील रखा है और विषय, प्रसंग के अनुकूल भाषा का प्रयोग एवं छन्दोयोजना को प्रश्रय दिया है। इस कारण यह पठनीय कृति बन पड़ी है। सम्पूर्ण रचना अपने विषय के अनुरूप कवि की उदात्त भावना एवं स्वदेशप्रेम से उल्लसित है। हिन्दी आदि समकालीन साहित्य में भी झांसी की रानी पर अनेक गीत एवं उपन्यास आदि लिखे गये, किन्तु प्रस्तुत संस्कृत रचना का एक अलग ही महत्त्व है। निश्चय ही कवि ने जानबूझ कर अलंकार संयोजन आदि में प्रयास नहीं किया है, फिर भी यत्र-तत्र उत्प्रेक्षा की झड़ी सी लगा दी है। इसके अन्य पात्रों के चरित्र चित्रण में भी कवि को सफलता मिली है।

अन्त में वह संग्राम में शहीद हुई उस वीराङ्गना को सम्बोधित करके कहता है-

देहं सारं रुधिरममितं सेचनं सम्प्रदायं
यं हे देवि प्रयतनशतैर्वर्धयामासिथ त्वम्।
अत्युच्छ्रायः स्पृशति सततं मुक्तिवृक्षः स एव
स्वीयैरग्रैः सुजनहृदयं का कथा पुष्करस्य।। २२/२१

यह रचना उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी द्वारा पुरस्कृत की गई।

विद्याधर शास्त्री (राजस्थान, १६०१) अनेक छोटी बड़ी वैविध्यपूर्ण संस्कृत रचनाओं के निर्माण से संस्कृत क्षेत्र में प्रतिष्ठित कविवर शास्त्री का एक विशेष स्थान है। राजस्थान साहित्य अकादमी ने इनकी कुछ रचनाओं का संग्रह "विद्याधरग्रन्थावली (१६७७) के नाम से प्रकाशित किया है। शास्त्री जी एक ओर अपनी महनीय परम्परा से जुड़े हैं तो दूसरी ओर नये युग के विचारों को बेहिचक आत्मसात् करते हुए प्रतीत होते हैं। "नवोत्साहो नवो भावो नवा दृष्टिर्नवा कृतिः" की भावना से निर्माण में प्रवृत्त कविवर शास्त्री आधुनिक संस्कृत कवियों में अपनी एक अलग पहचान बना चुके हैं। इनका 'हरनामामृतम्' (संस्कृतजीवनम् नाम की काव्यावली का एक अंग) महाकाव्य १६ सर्गो में विभक्त है तथा पितामह पं. हरनाम दत्त के जीवन-चरित पर आधारित है। एक व्यक्ति के जीवन-चरित पर लिखित होने पर भी इस रचना को कवि ने एक बड़ा सांस्कृतिक आयाम दिया है। कवि की भाषा सहज प्रवाहमय एवं प्रसादगुणयुक्त है। कवित्व के प्रदर्शन की ओर से कवि आद्योपान्त निरपेक्ष प्रतीत होता है। कवि के मन में "नवीन" के प्रति कुछ अतिरिक्त

युग-बोध का स्पर्श था, जो उसे लेखन के लिए प्रवृत्त करता था-

प्रतिक्षणं यत्र मतिर्नवीना गतिर्नवीनैव च यत्र नित्यम्।
कथं न तस्मिन् नवमस्तु काव्यं युगे युगे नव्यविमर्शशीले।। १/१३

(जिस युग में प्रतिक्षण मति नवीन है और गति तो नवीन ही है, फिर नये के विमर्श में परायण उस प्रत्येक युग में काव्य क्यों न नया हो)

कवि यह स्पष्ट कर देता है कि अपने कुल की प्रशस्ति उसे अभीष्ट नहीं है, प्रत्युत उसके माध्यम से सत्य के प्रकाश का यह निमित्त मात्र है (१/३५)। अपने मरुदेश (राजस्थान) के प्रति कवि के मन की अपार आस्था व्यक्त हुई है। वह एक ओर उसके सौन्दर्य का वर्णन करता है तो दूसरी ओर उसमें दुर्भिक्षजन्य दुःस्थिति का भी चित्रण करता है-

सशीतलो गन्धवहः समीरः स तित्तिराणां मधुरो विरावः।
तन्नर्तनं बर्हविभूषणानां समुत्प्लुतिः सा च कुरङ्गमाणाम्।। ७/२७

(वह शीतल गन्धवह पवन, वह तीतरों की मधुर आवाज, मोरों का वह नर्तन तथा हिरणों का वह फुदकना।)

विदलस्य तरोरधस्तले रवितापे न भृशम्प्रतापिताः।
बिहगा विकला हि निश्चलाः कठिनं हा कथमुच्छ्वसन्ति ते।। ८/५

(पत्ते से रहित पेड़ के नीचे, सूर्य के ताप से अत्यन्त तापित, विकल पक्षी निश्चल पड़े, हाय कठिनाई से उच्छ्वास ले रहे हैं।)

कवि का विश्वमानवीयम् (महाकाव्य) नौ सर्गों में विभक्त है। कवि ने इसे महाकाव्य या खण्काव्य की विधा में नहीं रखा है।

कथा नेयं न वा काव्यं ममेयं काऽपि हृज्झरी।।/५०

(यह न कोई कथा है और न ही कोई मेरा यह काव्य है, प्रत्युत यह मेरे हृदय का झरना है।) इस काव्य में चन्द्रमा पर मानव के पदार्पण और वैज्ञानिक परीक्षण से प्रभावित कवि ने एक प्रकार से सचेत किया है।

न हि कदापि महीतलवासिनामहितमाचरितं शशिना क्वचित्।
यदधुना मनुजैः कृतघातकैरयमपि क्रियतां क्षतविक्षतः।। ६/१७

(कभी चन्द्रमा ने कहीं पृथ्वीतल के निवासियों का कोई अहित नहीं किया है जो कि कृतज्ञतारहित मनुष्यों द्वारा वह क्षत-विक्षत किया जाय।) अन्त में कवि मानवीय विभूति के प्रति अपनी प्रगाढ आस्था व्यक्त करता है और एक निर्णय देता है-

तन्मानवाभ्युदय एवं सदैव कार्यः
कार्या न चात्मगतयः क्वचनापि मन्दाः।
उच्चैर्हि मानवमनोबलमत्र नित्यं
साध्यस्य सिद्धिमखिलां नियतामुपैति।।

(अतः, मानव का अभ्युदय ही यहां सदा करना चाहिए, कहीं पर भी अपनी गति मन्द नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ऊंचा मानव-मन का बल साध्य की अखित तथा नियत सिद्धि को प्राप्त कर लेता है)। भले ही यह कवि की दृष्टि में महाकाव्य आदि किसी विधा में रखा जाने वाला काव्य न हो तथापि मानव मात्र के प्रति उदात्त दृष्टि देने वाले इस महत् काव्य को महाकाव्य कहने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

पी. सी. देवस्य (केरल, १६०६) इस कवि ने 'क्रिस्तुभागवतम्' नाम से ईसा मसीह के जीवन पर ३३ सर्गों में महाकाव्य की रचना की है, जो जयभारतम्, त्रिवेन्द्रम, केरल से १६७७ में प्रकाशित हुआ है। कवि की यह रचना "साहित्य आकादेमी" दिल्ली द्वारा पुरस्कृत है। कवि को महान् ईसामसीह के बलिदान ने काव्य रचना की ओर कुछ उसी प्रकार प्रेरित किया जिस प्रकार कौञ्चवध की घटना ने महर्षि वाल्मीकि को रामायण लिखने के लिए प्रेरित किया था-

द्रुमस्थितक्रौञ्चनिषूदनव्यथा व्यधात्पुरा व्याधमुनिं महाकविम्।
अजात्मजस्यात्मबलेरनुस्मृतिः सुचेतसं कं न कविं करिष्यति।। १/२

(बहुत पहले वृक्ष पर स्थित क्रौञ्च पक्षी के वध से उत्पन्न व्यथा ने व्याधमुनि वाल्मीकि को महाकवि बना दिया तो कन्या-पुत्र येशु के आत्मबलिदान की अनुस्मृति किस सुचेतस् व्यक्ति को कवि नहीं बनाएगी)। कवि का यह सहज विनय ही है जिससे कवि ने कवि के पद की उपलब्धि के लिए मानवता के महान् उपकारक ईसा मसीह के सुचरित को आधार बनाया है और साथ ही, आधुनिक संस्कृत साहित्य को एक नया तथा प्रतिष्ठित आयाम दिया है।

भारतीय साहित्यकार सत्य का सदा से अनुसन्धाता रहा है। वह सत्य चाहे धर्म के स्रोत से उपलब्ध हो अथवा विभिन्न देशों के नाना दार्शनिक विचारकों के माध्यम से, उसके प्रति यहां एक सहज आकर्षण रहा है। भारत ने एक ओर अपनी महनीय सत्यानुभूति के बल पर अपने को 'जगद्गुरु' के पद पर प्रतिष्ठित करने की गरिमा पायी तो दूसरी ओर, अन्य स्त्रोतों से प्राप्त होने वाले सत्य की ओर से किञ्चिन्मात्र भी मुंह नहीं मोड़ा, उसका हृदय से स्वागत किया। यह रचनाकार उसी भारतीय उदात्त भावभूमि पर प्रतिष्ठित है।

'क्रिस्तुभागवतम्' एक 'महाकाव्य' की पूर्ण भूमि पर आधारित रचना है, क्योंकि इसमें अभिव्यक्त जीवन अपने घनत्व, प्रतीकत्व एवं विराट रूप, इन तीनों गुणों से समुच्छलित है। कवि में कथानक को सुसम्बद्ध करके वैदर्भी से सम्पोषित भाषा में प्रस्तुत करने की भी एक अलग क्षमता है। यथास्थान प्रभु येशु के अमृतमय उपदेशों का नियोजन भी ग्रन्थ को

आकलनीय बना देता है। जैसे १८ वें सर्ग में २,३,६,७,८,९ तथा २३ वें श्लोक में कवि ने "क्रूश" पर चढ़े येशु के उसी बचन को अनूदित किया है।

क्रूशमारोपितो येशुर्ययाचे तात मर्षय।
तेषां दोषान् न जानन्ति यत्ते कुर्वन्त्यविद्यया।। ३१/३०

(सूली पर चढ़ाये गये येशु ने प्रार्थना की-हे प्रभो, इन्हें क्षमा प्रदान करना, क्योंकि अविद्या के कारण ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं)। उनके स्वार्गारोण को इन शब्दों में कवि प्रस्तुत करता है-

अनुज्झितनराकृतिः सपदि येशुदेवः स्वयं
स्वशिष्यनिकटात् पृथग् भवति चोर्ध्वनेत्राम्बुजः।
प्रसारितकरः समुत्पतति नाकलोकोन्मुखो
वलाहकपटः क्षणादपहरत्युमुं दृक्पथात्।। ३३/३१

(जिन्होंने अपने मनुष्याकार को नहीं छोड़ा ऐसे ऊपर उठे नेत्रकमलों वाले येशुदेव शीघ्र स्वयं अपने शिष्य के समीप से हट जाते हैं और स्वर्गलोक की ओर हाथ फैलाये उठ जाते हैं, मेघ का वस्त्र पहने कोई उन्हें दृष्टि-पथ से क्षणभर में अपहरण कर लेता है।)

कालिकाप्रसाद शुक्ल (उत्तर-प्रदेश, १९२१) कुशीनगर के निकट मठिया ग्राम में उत्पन्न कवि शुक्ल सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में व्याकरण विभाग के अध्यक्ष पद से सेवानिवृत्त हुए। उनका १३ सर्गों मे रचित 'राधाचरित' महाकाव्य (१९८५) कवि के रचनाशिल्प की प्रौढि की परिचायक कृति है। कवि को इसके निर्माण के कारण साहित्य-अकादमी (दिल्ली) का पुरस्कार भी मिल चुका है। कवि की दृष्टि 'राधा' के प्रति प्राचीन वैष्णव परम्परानुगत होने के कारण अतिशय भक्तिपरक हो गयी है। आज की आधुनिक साहित्य-चेतना की अभिव्यक्ति ढूढ़ने वाले को इस रचना से कुछ निराशा अवश्य हो सकती है। किन्तु पञ्चमसर्ग में आये शिशिर ऋतु के वर्णन के पद्य कवि के प्रति किञ्चित् अतिरिक्त आकर्षण उत्पन्न करते हैं। -

शिशिरशिशिरवातबाणविद्धा अपि हलिनः शतपर्णसर्ववस्त्राः।
निखिलनिशि पलालजालतल्पा असुमिव सस्यमवन्ति वह्निसाध्याः।। ५/५७

(शिशिर काल की ठंडी हवा के बाण से विधे छितवन के पत्ते पहने, पुआल के तल्प पर सारी रात सोने वाले, एक मात्र अग्नि के साधन वाले किसान प्राणों की भांति सस्य-सम्पदा की रक्षा करते हैं।)

स्व. शुक्ल जी ने भगवान् आदित्य पर एक स्तोत्र काव्य की भी रचना 'भास्करभावभानवः' नाम से की है जो उनके प्रौढ कवित्व को उजागर करती है। यद्यपि कवि मूलतः वैयाकरण

है तथापि उसका हृदय भक्तिभाव से उल्लसित है, जिसकी अनुभूति उसके प्रत्येक पद से होती है। कवि की 'राधा' के विषय में यह आर्या अत्यन्त मोहक है-

धन्यं वृन्दाविपिनं कदम्बलवलीनिकुञ्जनिचितान्तम्।
यस्मिंस्तमालमाले नृत्यति बाधाहरा राधा।। ६/१

(कदम्ब की लताओं के निकुन्ज से व्याप्त वृन्दावन धन्य है, तमाल से घिरे जिसमें बाधा दूर करने वाली राधा नृत्य करती है।)

एक आलोचक का कहना है ....''कवि अपने चरित्रों को दिक्कालानवच्छिन्न गोलोक से ज्यों-त्यों मध्यकाल तक ले आ पाया है। रचना आज की होकर नहीं सम्प्रेषित होती, कवि ने कोशिश ही नहीं की है। अन्यथा भाषा और शिल्प की समर्थता उसका यथेच्छ साथ देती लगती है।''

जग्गू बकुलभूषण (जग्गू अलवार अयंगार) (कर्णाटक १६०२-१६६३)

संस्कृत में कई दशकों से लेखन में प्रवृत्त श्री बकुलभूषण का १५ सर्गों का 'अद्भुतदूतम्' महाकाव्य १६६८ में प्रकाशित हुआ। इसके साथ रत्नप्रभा नाम की संस्कृत व्याख्या भी प्रकाशित है। कवि ने महाभारत के उद्योग पर्व की मूल कथा, जिसमें श्री कृष्ण पाण्डवों के दूत बन कर कौरवों की सभा में जाते हैं, को आधार बनाया है। बकुलभूषण ने साहित्य की अनेक विधाओं गद्यकाव्य, चम्पू, नाटक, गीत तथा स्त्रोत्र में रचना की। किन्तु इनकी सर्वतोभावेन अभिनंद्य रचना अद्भुतदूतम् है। कवि ने श्रीकृष्ण को एक मानव रूप में चित्रित न करके ''अवतार'' के रूप में चित्रित किया है और यह बात सम्पूर्ण रचना में ही अभिव्यक्त होती है। कवि की दृढ मान्यता है कि स्वयं पाण्डवदूत उन भगवान् (श्रीकृष्ण) ने अपने को इस कैङ्कर्य में लगाते हुए, उसकी सरस एवं सफल रचना को भगवच्चरणकमलमधुस्पन्दसन्दोह से समाप्लावित (करके) यथार्थ रूप से इसे बनाया है-(देखें, ग्रन्थकुर्तुविज्ञापनम्)। कवि ने आद्योपान्त पठनीय इस रचना को सब ओर से एक व्यवस्थित रूप दिया है। वह ''महाकाव्य'' लेखन की परम्परागत मान्यता का अनुसरण भी करता है। श्रीकृष्ण पाण्डवों के दूत बनकर कौरवों की सभा में जाते हैं, किन्तु उनका ''रोल'' एक राजदूत का नहीं, प्रत्युत एक भयंकर युद्ध को रोकने के लिए एक प्रकार का, दैवी चेतना की ओर से प्रयास है। श्रीकृष्ण अपने अग्रज बलराम के साथ आकर पाण्डवों से मिलते हैं। विराट् नगर में तेरहवें वर्ष के अज्ञातवास की पूर्ति के लिए द्रौपदी के साथ पाण्डव
निवास कर रहे थे। अभिमन्यु का विवाह हो चुका था। पाण्डवों के मन में युद्ध की भावना भड़क रही थी। वे उपप्लव्य नाम के स्थान पर आ गये थे। वहीं श्रीकृष्ण और बलराम पहुंचते हैं। धर्मराज उनके बाल्यकाल के कृत्यों की चर्चा करते हुए उनका स्वागत करते हैं और प्रजावर्ग में क्षोभ की सम्भावना की कामना करते हैं। युद्ध की बिभीषिका या परिणति की चर्चा करते हैं। दोनों की सन्धि में ही वे कल्याण समझते हैं और बड़ी विनम्रता के साथ

दौत्य के लिए प्रार्थना करते हैं। श्रीबलराम, भीम और अर्जुन धर्मराज युधिष्ठर के प्रस्ताव का समर्थन करते हैं। किन्तु द्रोपदी की मनःस्थिति भिन्न है। अब श्रीकृष्ण उसे सान्त्वना देते हैं। अन्त में वह भी यह कहती है-

निजावतारं सफलीकुरुष्व विनाश्य पापान् परिपाल्य साधून्।

(पापियों को नष्ट कर तथा साधुजनों की रक्षा करके अपने अवतार को सफल करो) तत्पश्चात् कवि ने श्रीकृष्ण की हस्तिनापुर की यात्रा का वर्णन किया है। मार्ग में श्रीकृष्ण समाज के सामान्यजनों से मिलते हुए जाते हैं। उनके गोप वृद्धों से मिलन के प्रसंग को कवि ने लिखा-

हैयङ्गवीननवनीतपयोमधूनि प्रीत्याऽर्पितानि परिभुज्य स गौपवृद्धैः।
बाल्ये व्रजे विरचितं निजचौर्यमुक्त्वा तेभ्यो जगाद सुलभान्यधुनेति कृष्णः।। ४/३८

(बूढे ग्वालों द्वारा अर्पित मक्खन, दूध और शहद को ग्रहण कर श्रीकृष्ण ने उनसे अपने बाल्यकाल में ब्रज में अपने चौर्यकर्म की बात बतायी और पूछा कि अब उन्हें वे पदार्थ सुलभ हैं!)

हस्तिनापुर में धृतराष्ट्र ने अपने सभासदों को बुलाकर श्रीकृष्ण के स्वागत के आयोजन के लिए तैयारी करने का आदेश दिया। तब कर्ण की प्रेरणा से दुर्योधन ने श्रीकृष्ण की खिल्ली उड़ायी, किन्तु श्रीविदुर उसका प्रत्याख्यान करते हैं। कवि में वर्णन-प्रतिभा के साथ उक्ति-प्रत्युक्ति के घटन की भी अद्भुत क्षमता लक्षित होती है। अनुकूल छन्दोयोजना के साथ शब्द-चयन में भी बहुत सहजता और गुम्फनवैचित्र्य प्रतीत होता है। सम्पूर्ण महाकाव्य में श्रीकृष्ण का साक्षात् नारायणस्वरूप लक्षित कराने की ओर कवि का विशेष आग्रह है। साथ ही उनका शान्तिदूत का स्वरूप आज युद्ध की विभीषका से ग्रस्त विश्व में देशों-महादेशों के बीच दूतों को भेजकर चलने वाले शान्ति-प्रयास का भी संकेत इस महाकाव्य को एक आधुनिक पृष्ठभूमि प्रदान करता है। यह रचना जहां एक ओर भारतीय परम्परा के अनुगमन का सन्देश देती है तो वहाँ दूसरी ओर युद्धों के निवारणार्थ होने वाले शान्ति के प्रयासों के औचित्य का भी समर्थन करती है।

जब बहुत धन व्यय करके सम्पादित स्वागत-समारोह के अवसर पर दुर्योधन श्रीकृष्ण को भोजन के लिए आमन्त्रित करता है तब श्रीकृष्ण "ननु भक्तिरसैकपूर्ण-कुम्भस्मरणेनैव धरेश तृप्तिमीयाम् (भक्ति रस से भरे कुम्भ का स्मरण करके ही मैं तृप्त हो चुका हूँ।) कहकर अस्वीकार कर देते हैं और सात्यकि के साथ श्रीविदुर के यहां चले आते हैं। पुनः धृतराष्ट्र की प्रेरणा से दुर्योधन श्रीकृष्ण को सभा में उपस्थित होने के लिए आग्रह करके लाता है। सभा में श्रीकृष्ण इस पद्य से अपनी बात आरम्भ करते हैं-

यस्य चित्ते स्थिरो धर्मः शान्तिश्च वसति स्थिरा।

संग्रहीष्यति मे वाचं साधु नान्यः कथञ्चन।। १३/२

(जिसके चित्त में धर्म है और स्थिर होकर शान्ति निवास करती है वह मेरी बात ठीक से मानेगा, किसी प्रकार दूसरा नहीं।)

श्रीकृष्ण की बातें दुर्योधन को अच्छीं नहीं लगीं। वह सभा से कुपित होकर निकल जाता है। उसके पीछे दुःशासन और शकुनि भी चले जाते हैं। कर्ण की मन्त्रणा से पुनः वह आ जाता है। यहां कवि ने दुर्योधन पर कुपित सात्यकि (युयुधान) को कृष्ण द्वारा इन शब्दों में रोके जाने की बात कही-

सम्भ्रम एष तवाद्य किमर्थं फेरुवधाय हरेः किमु यत्नः।

(यह तुम्हारी हड़बड़ाहट किस लिये हैं ? क्या सिंह का स्यार के वध के लिए यत्न होता है?) यह वचन माघकवि के शिशुपालवध के १६ वें सर्ग के इस पद्य को सहज ही स्मृतिपथ पर ला देता है-

प्रतिवाचमदत्त केशवः शपमानाय न चेदिभूभुजे।
अनुहुङ्कुरुते घनध्वनिं न हि गोमायुरुतानि केसरी।।

(अपशब्द कह रहे चेदिराज शिशुपाल को श्रीकृष्ण ने उत्तर नहीं दिया, क्योंकि सिंह मेघ के गर्जन का उत्तर अनुगर्जन द्वारा देता है, न कि स्यार की बोलियों का।) अन्तिम सर्ग में अपने दौत्यकर्म की विफलता के पश्चात् प्रस्थान करते हुए श्रीकृष्ण ने कर्ण को समझाते हुए कहा-

व्यालवर्गोपगूढं हि चन्दनद्रु सुगन्ध्यपि।
जनैर्न सेव्यते भीत्या तद्दूरीकुरु दुर्जनम्।।

(सर्प समूह से आलिङ्गित सुगन्धी भी चन्दन वृक्ष को लोग डर के मारे नहीं सेवते हैं इस लिए दुर्जन को दूर हटाओ।) किन्तु कर्ण ने सब कुछ समझ कर भी अपना हठ न छोड़ा। उसने अपने पक्ष में तर्क भी दिये। अन्त में वह कहता है-

यद् भव्यं तद्भवत्येव नात्र कार्या विचारणा।
संकल्पं तेऽन्यथा कर्तुं शक्नुयात् क इहाच्युत।।

(जो भवितव्य है वह होकर ही रहेगा, इस विषय में विचार न किया जाय। हे अच्युत, कौन है जो आपके संकल्प के झुठला सके।) श्रीकृष्ण युधिष्ठिर के पास आ जाते हैं। यदि मैं अतिशयोक्ति नहीं करता हूँ, श्रीबकुलभूषण की इस रचना को प्राचीन महाकवियों की कालजयी रचनाओं के साथ यदि तुलना में रखा जाय तो इसका पक्ष किसी प्रकार हल्का नहीं होगा। इस महान् रचनाकार की गद्य कथा 'जयन्तिका' साहित्यअकादेमी (नई दिल्ली) द्वारा पुरस्कृत हुई।

प्रभुदत्त शास्त्री (राजस्थान, १८६२-१६७२) अलवर जनपद के ततारपुर ग्राम में उत्पन्न शास्त्री जी ने दिल्ली में अध्यापन किया और वर्तमान शताब्दी के सातवें दशक में 'गणपतिसम्भव महाकाव्य' (१६६८) की रचना की। दस सर्गों में रचित इस महाकाव्य में उन्होंने आद्योपान्त केवल शार्दूलविक्रीडित छन्द का उपयोग किया है, किन्तु सर्गान्त में छन्द बदल दिये हैं। कालिदास की रचना "कुमारसम्भव" जो भगवान् शिव के छोटे पुत्र कुमार (कार्तिकेय) पर आधारित है जबकि प्रस्तुत रचना "गणपतिसम्भव" शिव के बड़े पुत्र गणपति पर। कवि के अनुसार, कुमार कार्तिकेय की प्रसिद्धि तो कम लोगों तक है, किन्तु गणपति को आबालवृद्ध, सभी लोग यहां तक कि हल चलाने वाला कृषक का बालक भी जानता है, ऐसे प्रसिद्ध गणपति के पौराणिक आख्यान को आधार बनाकर रचित यह महाकाव्य कविवर शास्त्री जी का अनूठा प्रयास हैं, क्योंकि इसके कथानक की संरचना में उन्होंने अपनी कल्पना-शक्ति का पूरा अपयोग करके परिवर्धन और परिवर्तन किये हैं। कथानक से सभी पात्र अपने आपमें दिव्य होते हुए भी यहां प्रतीक रूप में चित्रित हैं, जैसे गणेश, राष्ट्र की रक्षा के लिए शिर कट जाने पर भी जीवित रहने वाले आदर्श नायक हैं, पार्वती भारतमाता हैं तथा शिव राष्ट्र आदि के कठोर परीक्षक। सम्पूर्ण रचना में भारत की आध्यत्मिकता, योग तथा राष्ट्रीय भक्ति-धारा उन्मीलित हैं।

प्रथम सर्ग में हिमालय का वर्णन है जो कवि की अपनी अनुरूप कल्पनाशक्ति एवं राष्ट्रभक्ति का परिचायक है। सम्पूर्ण हिमालय को एक विष्णु के पाञ्जजन्य शंख के रूप में कवि ने वर्णित किया गया है, जो मोहक एवं चमत्कारी है-

जृम्भारम्भिमृगेन्द्रदन्तकिरणैर्बाभाति दान्तुर्यवान्
अङ्गुष्ठाङ्गुलिचिह्नवानिव च वा तत्पादजैर्लाञ्छनैः।
भब् भब् भब् ध्वनिभिगुहानिलभवैस्तच्छब्दकारीव यो
विष्णोरेष स पाञ्जन्यपदवान् शङ्खः सितोऽद्रीश्वरः।। १/१४

(यह उज्ज्वल हिमालय विष्णु के पाञ्चजन्य जैसा लगता है, क्योंकि उस हिमालय जैसे शंख में जंभा आरम्भ करने वाले सिंह के दांतों की किरणों से निचाई-ऊचाई आ गयी है, उस हिमालय के प्रान्त-देश के लाञ्छनों से वह (शंख) अंगूठे तथा उगंलियों के चिह्नों वाला है तथा गुहाओं के पवन की भवू-भवू ध्वनियों से शब्द कर रहा है।)

हिमालय का ऐसा प्रशस्त वर्णन सम्भवतः कालिदास के बाद दूसरा कहा जा सकता है। इसी प्रकार हिमालय के राष्ट्रध्वज (तिरंगे झंडे) के रूप में चित्रण भी सुन्दर है। (१/३६)। द्वितीय सर्ग में शिव-पार्वती का विवाह वर्णित है। कवि वर्णनों में आधुनिक सामग्री का ही नहीं उपयोग करता, बल्कि आधुनिक लौकोक्तियों का भी। सामयिक परिस्थिति को प्रायः सूचित करके उसने अपनी कवित्व प्रतिभा का परिचय दिया है।

इस महाकाव्य के सम्बन्ध में डा. रहसबिहारी द्विवेदी का यह कथन बहुत ठीक है-"गणपतिसम्भवस्य पात्राणामुद्घोषे भारतराष्ट्रस्य जयघोषः श्रूयते, तेषां शक्तौ भारतीययोगस्य

योगो दृश्यते, तेषां गाने भारतस्य राष्ट्रगीतमनुगीयते, तेषां स्वरूपे भारतीयाया जनताया आदर्शरूपमवलोक्यते, तेषां कार्येषु देवानामलौकिकता विद्यते, तेषामवलोकने आहिमालयात् कन्याकुमारीं यावत्, भारतस्य वीरभोग्या वसुन्धरा दृग्गोचरीभवति, तेषामाचरणे धर्मशास्त्रस्य शासनं प्रतिफलितमिव दृश्यते। (अर्वाचीनसंस्कृतमहाकाव्यानुशीलनम्, पृ. २,३।)

(गणपतिसम्भव के पात्रों के उद्घोष में भारत-राष्ट्र का उद्घोष सुन पड़ रहा है, उनकी शक्ति में भारतीय योग का योग दिखता है, उनके गान में भारत का राष्ट्रगीत अनुगीत होता है, उनके स्वरूप में भारतीय जनता का स्वरूप लक्षित होता है, उनके कार्यों में देवताओं की अलौकिकता है, उनके अवलोकन में हिमालय से कन्याकुमारी तक भारत की वीरभोग्या वसुन्धरा दृष्टिगोचर होती है, उनके आचरण में धर्मशास्त्र का शासन प्रतिफलित जैसा दिखता है।)

माता की आज्ञा से उसकी रक्षा में द्वार पर बैठा बालक गणपति शिव से जिस भाषा में व्यवहार करता है वह मातृभूमि की रक्षा में तत्पर प्रत्येक भारतीय बालक की वाणी बन कर प्रस्फुटित हुआ है। वह अन्त में यहां तक कह देता है-

सुच्छेदो मम मस्तकस्तु भवता तीक्ष्णत्रिशूलिंस्त्वया
दुश्छेदं मयका तु मातृवचनाख्यं मातृभूवद्धनम्।। ४/२१

(हे तीक्ष्ण त्रिशूल वाले, आप मेरा मस्तक आसानी के काट सकते हैं, किन्तु मेरे मातृवचन रूप मातृभूमि के धन को नहीं नष्ट कर सकते।)

जिस प्रकार "श्रीमद्भागवत" में श्रीकृष्णभक्ति का स्वाद पद-पद में अनुभूत होता है (स्वादु स्वादु पदे पदे) ठीक उसी प्रकार 'गणपतिसम्भव' महाकाव्य में राष्ट्रभक्ति या स्वदेश प्रेम व्यञ्जित हुआ है। इस अंश में यह रचना निःसन्देह आधुनिक संस्कृत साहित्य में विशेष स्थान की अधिकारिणी बन पड़ी है।

जो बात विशेष रूप से पढ़ने वालों को इसमें व्याकुल करती है वह है, काव्यभाषा की विसंष्ठुलता और यत्र-तत्र छन्द के दोष! साथ ही सम्पूर्ण महाकाव्य में एक ही शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग भी खटकता है। इसमें एक छन्द का प्रयोग करके कवि ने महाकाव्य के परम्परागत लक्षण की उपेक्षा की है, किन्तु इसे दोष के रूप में नहीं लिया जाना चाहिए।

किसी प्रसिद्ध प्राचीन (पौराणिक) आख्यान का इस प्रकार राष्ट्रिय सन्दर्भों से जोड़कर नये रूप में प्रस्तुतीकरण इस रचना का सर्वतोभावेन आकलनीय पक्ष है। सबसे बड़ी बात यह है कि कवि ने किसी देवता विशेष (गणेश) के चरित्र को मात्र देवत्व की पृष्ठभूमि से ऊपर उठा कर सम्पूर्णतया राष्ट्रनायक के पद पर प्रतिष्ठित करके मानवीय भूमिका दी है और इस प्रकार उन्हें प्रत्येक भारतीय के लिए आत्मीय बना दिया है।

रामचन्द्र मिश्र (बिहार १६११) सीतामढ़ी जिले के पकड़ी ग्राम में उत्पन्न कवि मिश्र

ने साहित्य के क्षेत्र में अध्यापन तथा लेखन, दोनों में प्रतिष्ठा अर्जित की। उनके द्वारा परिणत वयःकाल में निर्मित दस सर्गों का 'वैदेहीचरित' महाकाव्य कामेश्वरसिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा (बिहार) से १९८५ में प्रकाशित हुआ। कवि ने इसे अपने साहित्यिक जीवन का "चरमपरिणामभूत काव्य ग्रन्थ" कहा है।

कवि मिश्र ने सामान्य कथा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया है। उनका पक्षपात वैदेही के चरित को प्रस्तुत करने में है, अतः उनसे सम्बद्ध ही राम-कथा प्रसङ्ग को लेते हैं। राम का चरित उनके सामने कुछ गुणीभूत होकर रह जाता है। स्वयं कवि ने कहा भी है कि राम वृक्ष हैं और सीता लता, किन्तु सर्वत्र उसने लता पर ही दृष्टि डाली है। इसके पीछे कवि का मिथिला और मैथिली (वैदेही) के प्रति विशेष अनुराग उसकी जन्मभूमि में उत्पन्न होने के कारण भी कहा जा सकता है। इस रचना के वर्णनों में सन्तुलन है और कवि का कवित्व पक्ष पर विशेष ध्यान लक्षित होता है। सीता के शैशव के पश्चात् यौवन प्राप्त होने पर कवि ने उनके सौन्दर्य का वर्णन परम्परानुगत ढंग से अवश्य किया है किन्तु उसने परवर्ती काल के कवियों की भांति कहीं अतिरेक नहीं किया है। कहीं-कहीं उसकी भाषा अनुप्रास की छटा विखेरती प्रतीत होती है, जैसे सीता के वर्णन-प्रसंग में-

अनञ्जनं खञ्जनदत्तलज्जं जगज्जयाय भ्रुकुटीततज्यम्।
तद्यौवनं किञ्चिदिवोज्जिहानं दृगञ्चलं चञ्चलयाञ्चकार।। २/४६

(कुछ उठते हुए के यौवन ने अञ्जन से रहित, खंजन पक्षी को लज्जित करने वाले भृकुटि तक खिंचे हुए, उसके दृगञ्चल को चञ्चल बना दिया।)

यत्र-तत्र उपमा और रूपक आदि अंलकारों का सन्निवेश भी बहुत हृद्य हो गया है-

उद्यानभूमाविव भर्तृगेहे नवेव वल्ली जलदागमेन।
सिक्तेव सस्नेहमवेक्ष्यमाणा मम्लौ न सीता निजवल्लभेन।। ५/१०

(उद्यानभूमि सरीखे पति-गृह में, बरसात में नयी लता की भांति सिक्त सी सीता अपने पति द्वारा देखी जा रही होकर म्लान नहीं हुई।)

सीता कोई सामान्य नारी नहीं हैं। वह स्वयं राम के समक्ष अग्नि में प्रवेश करके अपनी पवित्रता की परीक्षा देती हैं। दूसरी बार पति द्वारा वनवास दी जाने पर भी मन में कातर नहीं होतीं-

वीरात्मजा वीरवरस्य जाया वीरस्नुषा स्वेन हृदा च वीरा।
वीरे सुते भाविनि बद्धभावा सा कातरत्वं न मनस्ययासीत्।। ८/४३

(वीर-कन्या, वीरश्रेष्ठ की पत्नी, वीर की पुत्र-वधू तथा स्वयं हृदय से वीर, और उत्पन्न होने वाले वीर पुत्र की भावना वाली वह सीता कातर नहीं हुई)

विदेह की उस मिथिला नगरी का वर्णन है जहां वैदेही सीता पृथ्वी के गर्भ से प्रकट हुई। अनावृष्टि के कारण प्रजा-वर्ग के कष्ट से दुःखी जनक ने हल से कर्षण करके यज्ञानुष्ठान करने की योजना बनायी। इसी अवसर पर एक बालिका हिरण्य-पात्र में रखी हुई मिलती है। वह जनक के राजभवन में पलती है और उसका विख्यात नाम सीता या वैदेही होता है। वह जब बड़ी होती है तब उसका स्वयंवर होता है और शिवके धनुष के चढ़ाने वाले को वह अर्पित की जायेगी, ऐसी प्रतिज्ञा राजा जनक करते हैं। फलतः विश्वामित्र के साथ उत्सव देखने आये दशरथ-पुत्र राम धनुष को भंग करते हैं और सीता उनके साथ ब्याही जाती हैं। अयोध्या में वह वधू के रूप में आती हैं। जब दशरथ ने राम को युवराज बनाना चाहा तो कैकेयी ने उसका विरोध किया, फलतः राम का वनवास होता है और सीता तथा लक्ष्मण उनके साथ आते हैं। सीता का रावण द्वारा अपहरण होता है। सुग्रीव की सेना की सहायता से राम समुद्र पार कर लंका जाते हैं और रावण का वध करके सीता के पास अशोक वाटिका में जाते हैं और सीता को रावण के मारे जाने की सूचना देते हैं। जब वह राम के चरणों में लोटने लगती हैं तब उसे राम उठा लेते हैं और जब उनका चिबुक पकड़ने के लिए उद्यत होते हैं तब वह उनसे अलग हट कर कहती हैं कि यद्यपि वह उनके (राम के) अङ्ग संस्पर्श से पवित्र हो चुकी है तथापि लङ्का में निवास के कारण कलङ्कित हैं अतः वह वह्नि में प्रवेश करके अपनी परीक्षा दें, यह उनकी प्रार्थना है। तब वह प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश करके और भी निर्मल कान्ति होकर निकल आती हैं। राम सपरिजन पुष्पक पर आरूढ़ होकर अयोध्या आ जाते हैं। राम का राज्याभिषेक होता हैं। राम का राज्य प्रवर्तित होता है। राजा जनक आते हैं। उनके आगमन से एक भिन्न पारिवारिक वातावरण बनता है। वे मिथिला चले जाते हैं। लोकापवाद के भय से राम गर्भिणी सीता को जंगल में छोड़ आने का आदेश लक्ष्मण को देते हैं। वाल्मीकि के आश्रम में सीता के दो पुत्र लव और कुश उत्पन्न होते हैं। अश्वमेध यज्ञ के प्रसंग में वाल्मीकि के दोनो शिष्य राम को रामायण गाकर सुनाते हैं। रामँ पुनः सीता से मिलने के लिए आश्रम में आते हैं। इसके पूर्व ही वह माता पृथ्वी से अपने को ले लेने के लिए प्रार्थना करती हैं और पृथ्वी उन्हें ले जाती हैं।

स्वयंवर प्रसंग के अर्पित तृतीय सर्ग न केवल छन्दोयोजना की दृष्टि से है, बल्कि अन्त्यानुप्रास के साथ, धनुर्भङ्ग के प्रसङ्ग में सीता की शंकाकुल अन्तःस्थिति को संक्षेप में सुन्दर अभिव्यक्ति देने के कारण भी सफल कहा जा सकता है-

पुष्पैरिव रचिताङ्गी मध्ये वेदिवलग्ना
सीता स्वसखीनिवहपरीता चिन्तामग्ना।
किमयं कोमलसकलावयवो धनुर्ग्रहीता
विजयश्रीः कथमिवास्य भविता करमुपनीता।। ३१

(मानों, पुष्पों से रचित अंगों वाली, कृश मध्यभाग वाली सीता अपनी सखियों से घिरी इस बात के लिए चिन्ताकुल हैं कि कोमल अंगों वाले यह क्या धनुष को उठा लेंगे? (कैसे विजयश्री इनके हाथ लगेगी?) कवि इस पद्य से रचना की समाप्ति करता है-

व्यथाकथा मूर्तिमती पतिप्राणा शुचिव्रता।
धरया जनिता सीता तस्यामेव व्यलीयत।। १०/४४

(मूर्तिमती व्यथा-कथा, पति रूप प्राण वाली, पवित्र व्रत वाली सीता पृथ्वी द्वारा उत्पन्न की गयी और उसी में विलीन हो गयी।) सामान्यतः परम्परागत भूमि पर प्रतिष्ठित होने पर भी यह रचना मन में आकर्षण उत्पन्न करती है।

निगमबोध तीर्थ (हरियाणा, १६३६) भिवानी जिले के लुहारी जाटू ग्राम में उत्पन्न पूर्वाश्रम के आचार्य राधाकृष्ण ने भिवानी, अमृतसर और चण्डीगढ़ में अध्ययन किया। उनका विशेष अध्ययन उज्जैन और कुरुक्षेत्र में सम्पन्न हुआ। भिवानी के ब्रह्मचर्याश्रम और होशियारपुर के "संस्थान" में आपने अध्यापन भी किया। अब संन्यास जीवन में प्रवृत्त हैं। आपने 'हरियाणावैभवम्' की रचना की। आपके द्वारा रचित १३ सर्गों का श्रीशङ्कराचार्य-चरित महाकाव्य परिमल पब्लिकेशन १७/२८, शक्तिनगर, दिल्ली-७ से १६८८ में प्रकाशित हुआ। कहने की आवश्यकता नहीं कि विषय वस्तु के अनुसार यहां शान्त रस अङ्गी है। कवि शङ्कराचार्य को शिव का अवतार मानता है और अपनी काव्य रचना में प्रवृत्ति को 'विडम्बना' मानता है-

क्वासौ जगद्गुरुरहो यतिचक्रवर्ती विश्वं हि यद्रचनया चकितं बभूव।
क्वाहं विवेकविकलो रचनाप्रवृत्तस्तस्मादिदं ननु ममास्ति विडम्बनेव।। १/८

(विस्मयकारी, संन्यासियों के सम्राट् जगद्गुरु कहां ? क्योंकि जिनकी रचना से संसार चकित हो गया! ज्ञान से रहित, किन्तु रचना में प्रवृत्त मैं कहां? यह मेरी विडम्बना ही है।)

पूरी रचना में इतिवृत्तात्मकता को अधिक प्रश्रय मिला है, फिर भी कवि की भाषा में स्वाभाविकता है और अलङ्कारों के सन्निवेश के प्रति किसी प्रकार का आग्रह लक्षित नहीं होता। महाकाव्य के नायक का लक्ष्य जगत् के हित का साधन था, कवि लिखता है-

मुक्त्वा ममत्वं समतां विधार्य विस्मृत्य लोकं परलोकहेतोः।
ततः प्रशान्तः समदर्शनोऽसौ चचाल गेहाज्जगतो हिताय।। ४/१

(तब अत्यन्त शान्त, समदर्शी ने ममता को छोड़ समता धारण करके अन्य लोगों के लिए अपने इस लोक के सुखों को भूल कर जगत् के कल्याण के लिए चल पड़े।)

कवि ने प्रत्येक सर्ग का नाम कथावस्तु के आधार पर दिया है जैसे, १. शङ्करोत्पत्तिक २. विद्यावाप्तिक, ३. प्रव्रज्यानुमतिक, ४. प्रव्रज्यावाप्तिक, ५. विश्वनाथदर्शन, ६. भाष्यनिर्माण, ७. जननीदेहत्याग, ८. श्रीमण्डनमिश्रपराजय, ६. श्रीमण्डनमिश्रदीक्षा, १०. तीर्थाटन, ११. पद्मपादटीकोद्धार, १२. मठस्थापन, १३. स्वाधामगमन। कवि ने

शङ्कराचार्य की हिमालाय-यात्रा की चर्चा करते हुए लिखा है-

विहृत्य पाथोधिमहोर्मिसङ्घैः प्रक्षालिते भारतभूमिपादे।
नद्यम्बिकास्निग्धपयो निषेव्य पश्यंश्च रम्याणि तपोवनानि।।
तपोनिकायान् हिमवत्प्रदेशान् हैमैः किरीटैः परिशोभिशृङ्गान्।
मुक्ताचयैर्वक्षसि निर्झराणां पयःकणैः शोभितमानयासीत्।। १३/३४

(सागर की बड़ी-बड़ी लहरों के समूहों द्वारा पखारे हुए भारत भूमि के चरणों वाले प्रदेश में विहार करके नदी रूपी माताओं के प्यार भरे दूध जैसे जलों का सेवन करके, रमणीय तपोवनों का दर्शन करते हुए वह हिम के मुकुटों से शोभित शिखरों वाले, वक्षःस्थल पर जल-कणों के मोतियों से अधिक शोभित हिमालय के प्रदेशों में गये।)

इस प्रकार कवि की दृष्टि में सम्पूर्ण भारतीय राष्ट्र और भारतीय जनता के प्रति परम आत्मीयता का भाव प्रस्तुत रचना के माध्यम से बहुत स्पष्ट प्रतीत होता है, जो उसकी नवीन काव्यभूमि का परिचायक है।

हरिहर पाण्डेय (उ. प्र.) आजमगढ़ जिले के कुकुढ़ीपुर ग्राम के कवि पाण्डेय की रचना 'उमोद्वाह' महाकाव्य निर्मल प्रकाशन बी २७/३१ बी, भिनगा हाउस, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी-५ द्वारा १९८५ में प्रकाशित हुई। इसमें १६ सर्ग हैं। कवि ने आद्योपान्त एक ही छन्द, उपजाति में पूरी रचना उपनिबद्ध की है। शिव-पार्वती के विवाह के प्रसङ्ग को कवि ने एक नया और आधुनिक आयाम दिया है, जिसमें उसकी नूतन दार्शनिक दृष्टि उपनिबद्ध है। कवि के प्रस्तुतीकरण की विशेषता है उसकी यथार्थपरक दृष्टि, जो परम्परा के अनुगत न होकर आधुनिक जीवन को एक आयाम देती हुई प्रतीत होती है। लगता है कवि के उमा और महेश्वर ने यहां एक भिन्न रूप ही ग्रहणकर लिया है। उसने प्रथम सर्ग में हिमालय पर्वत को शिव का रूप दिया है और उसकी प्राकृतिक रम्यता का वर्णन किया है। हिमालय, कवि के अनुसार एक राजा है, जिनके यहां उमा का जन्म होता है। परम्परानुसार अङ्ग-सौन्दर्य आदि वर्णन से विरत कवि ने उमा को तप में प्रवृत्त कर दिया है और वह शिवार्चन के लिए न तो फूलों की कलियां ही तोड़ती और न बिल्व के पत्ते ही। और नारायण की पूजा के लिए तुलसी के दल भी नहीं तोड़ती (३/३८)। कवि के एक आलोचक पं. विश्वनाथ भट्टाचार्य का कथन है-"हिमालय का शिवरूप में वर्णन कर भारत के इतिहास में हिमालय क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण भूमिका का वर्णन किया है। उमानारदसंवाद और शिवनारदसंवाद जैसे प्रसंग पूर्णतः परम्परानुरागी होकर भी नाना प्रकार की मूढ़धारणाओं और निरर्थक रूढ़ियों का साहसपूर्ण तिरस्कार प्रस्तुत करते हैं। शिव को वस्तुतः महादेव सिद्ध करते हुए महाकवि ने उन्हीं के द्वारा सत्य और औचित्य का बोध कराया है।"

कवि की भाषा प्राञ्जल है। आरम्भ के तीन सर्गों में पद्यों के द्वितीय और चतुर्थ चरणों को तुकान्त करने का प्रयास भी स्तुत्य हुआ है, किन्तु प्राचीन महाकाव्य के लक्षण के अनुसार सर्गान्त के पद्य को भिन्न छन्द में नहीं लिखा गया है। कवि की दृष्टि

राष्ट्रियतापरक प्रतीत होती है। जैसा कि वह हिमालय के राज्य वर्णन में लिखता है-

नायव्ययं राष्ट्रधनस्य चक्रे कोऽप्यम्बुविद्युद्धरणीवनादेः।
नैवात्मनो व्यर्थकृतौ च नाशं चकार कालप्रतिभावनादेः।। २/२१

(जनता जल, बिजली, भूमि वन आदि राष्ट्रीय सम्पत्तियों का अपव्यय नहीं करती थी और उत्पादनहीन निरर्थक कार्यों में अपने धन, समय तथा प्रतिभा का नाश नहीं करती थी।) विचार पक्ष के प्राधान्य के कारण भाषा पर अप्रतिम अधिकार होने पर भी कवि का कवित्व पक्ष दब सा गया है, फिर भी रचना पठनीय है।

द्विजेन्द्र लाल शर्मा पुरकायस्थ (राजस्थान) जयपुर के निवासी, दर्शनशास्त्र के अध्यापक, कवि पुरकायस्थ ने शुक्राचार्य, कच और देवयानी के प्रसिद्ध पौराणिक कथानक पर आश्रित १२ सर्गों का महाकाव्य 'महीमहम्' की रचना की, जिसे १९८४ में स्वयं प्रकाशित किया। कवि की अन्य संस्कृत रचनाओं में एक "अलकामिलनम्" भी है। महीमह महाकाव्य में कवि ने अपनी कल्पना को भी अनुस्यूत करके उसे एक सुन्दर कृति का रूप देने का प्रयास किया है। किसी समय स्वर्ग से मुनि अङ्गिरस् भूतल पर स्थित भृगु के निवास पर आते हैं। भृगु उनका यथोचित स्वागत करते हैं। भृगु का पुत्र आकर उन्हें प्रणिपात निवेदन करता है। अपने पुत्र के समान आयु वाले भार्गव को अङ्गिरस् ने अध्यापन के लिए अपने साथ रखने की बात की। भृगु ने प्रसन्नता से अनुमति प्रदान की। स्वर्ग में गुरु के आश्रम में भार्गव बृहस्पति के मित्र होकर अध्ययन करने लगे। जब अङ्गिरस् ने अध्ययन में भार्गव को अपने पुत्र से अधिक सफल अनुभव किया तब उनके मन में असूया का भाव उत्पन्न हुआ। फलतः उनके व्यवहार में अन्तर आ गया। भार्गव (शुक्र) को अन्य कार्यों में व्यापृत करके अपने पुत्र बृहस्पति को एकान्त में पढ़ाने लगे। अन्त में शुक्र गुरु का छल समझ गया। वह उन्हें छोड़कर अन्य गुरु की खोज में निकल गया। ब्रह्माजी के निर्देशानुसार, उसने तप करके विद्या के दाता शिव को प्रसन्न किया। शिव ने उसे सञ्जीवनी विद्या का मन्त्र दे दिया। उस विद्या के प्रभाव से शुक्र के स्पर्श से ऊषर भूमि भी जलार्द्र होकर उर्बर हो जाती। इसी बीच दैत्यों के अधिपति ने उनका (दैत्यों का) गुरु बनने के लिए दूत द्वारा बुला भेजा, किन्तु "अवसर पर हम आयेंगे" यह कहकर उसे उन्होंने लौटा दिया। इसी बीच सुरेन्द्र की पुत्री जयन्ती और शुक्र के मध्य प्रणय-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और वे दोनों गान्धर्व विवाह कर लेते हैं। उन्हें पुत्री होती है, जिसका नाम देवयानी रखते हैं। देवताओं और दैत्यों के बीच युद्ध छिड़ जाता है। अपने शिष्यों की सहायता के लिए शुक्र भूलोक जाने के लिए तत्पर हो जाते हैं, किन्तु जयन्ती स्वर्ग लोक से जाना नहीं चाहती। कन्या देवयानी को लेकर शुक्र देवलोक में आ जाते हैं। आगे का कथानक प्रसिद्ध कथा के अनुसार चलता है।

कवि ने संस्कृत में इस अनूठी कथा को सरल और सरस रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। सरलता और सरसता, ये दोनों ही गुण आरम्भ से ही अनुभूत होने लगते

हैं, जैसे शुक्र और जयन्ती के प्रणय-प्रसङ्ग में कवि लिखता है-

विजित्यात्मसौख्यं नवप्रेमभोगान स्वकर्तव्यभातिः प्रसादैर्धिया च।
नरे यत्र तिष्ठेदनन्यात्मसत्ता भुवस्तत्र नाकादपि स्यात्प्रतिष्ठा।। २/८८

(अपने सौख्य तथा नये प्रेम-भोगों पर विजय प्राप्त करके जिस मनुष्य में अनन्य आत्मसत्ता वाली, अपने कर्तव्य की प्रतीति रहती है वहां पृथ्वी को स्वर्ग से भी अधिक प्रतिष्ठा होती है।)

कवि पुरकायस्थ ने अपनी रचना की भूमिका में अपनी दार्शनिक दृष्टि को कथानक के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, जैसा कि वे लिखते हैं-

"इस पुस्तक में तीन पृथक् क्षेत्र वर्णित हैं, देवताओं का देश, असुरों का देश और मनुष्यों का देश। प्रथम और द्वितीय एक-पक्षीय, अपरिवर्तनीय तथा अपनी चारित्रिक मानसिकता और व्यवहार के सर्वथा वशीभूत हैं- अविकृत हैं, अतः अच्छे हैं, अनिष्ट हैं, अतः इनमें सुधार सम्भव नहीं। मनुष्यों का देश दोनों अतियों के बीच सन्तुलित होकर अवस्थित है, आदर्श निवास है, और मानव-जीवन को, यहां तक कि देवताओं की दृष्टि में भी चरम-परम बनाता है। मेरा विश्वास है कि माता भूमि अपनी असंख्य, अविनाशी ऊर्जाओं से अपने बच्चों को निरन्तर पूर्णतर तथा सुष्ठुतर यथार्थ की ओर अग्रसर कर रही हैं।" (अंग्रेजी से अनूदित) कवित्व और चिन्तन दोनों के समान सम्मिश्रण से यह रचना एक आधुनिक संस्कृत साहित्य की आकलनीय कृति मानी जा सकती है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कवि की भाषा विषयवस्तु को प्रस्तुत करने में कुछ लचर सी प्रतीत होती है।

पद्‌म शास्त्री (उत्तर प्रदेश १६३५ ई.) अल्मोड़ा जनपद में उत्पन्न पद्‌म शास्त्री ने रूस में बोल्शेविक क्रान्ति के जन्मदाता महान् क्रान्तिकारी ब्लादिमीर लेनिन (१८७०-१६२४) के जीवन पर आधारित 'लेनिनामृतम्' की रचना १५ सर्गों में की है। कवि का यह महाकाव्य विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, साधुआश्रम होशियारपुर (प.) से प्रकाशित हुआ। एक विदेशी एवं क्रान्तिकारी महान् व्यक्ति को आधार बना कर संस्कृत में लिखा गया यह महाकाव्य अपने आप में भारतीय परम्परा में लिखे गये अन्य महाकाव्यों से अलग ही अपने स्वरूप में उद्‌भासित है। साम्यवादी विचार धारा की, इस युग की "एकमात्र प्रतिनिधि कृति" के रूप में अपनी रचना के माध्यम से कवि ने युगपुरुष लेनिन के प्रति "श्रद्धाञ्जलि" अर्पित की है और इस प्रकार श्रीहर्ष (नैषधकार) की इस उक्ति को एक प्रकार से चरितार्थ किया है-

"वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत्"।

जहां संस्कृत के आधुनिक महाकाव्यों में भी उनके नायकों को अवतार की प्रतिष्ठा देने तथा लोकोत्तर बनाने की प्रवृत्ति सामान्य है, वहीं कवि पद्‌मशास्त्री ने अपने महाकाव्य के नायक को सम्पूर्णतया "मनुष्य" कहा है-

जीवेषु वै श्रेष्ठतरो हि मर्त्यः शास्ता स तेषां विधिवच्च भोक्ता।
इदं मतं भूतविदामिदानीं मर्त्यात् (स) नान्यो भुवनेऽस्ति कश्चित्।। ३/२४

(जीवों में सबसे श्रेष्ठ मनुष्य है, वह उनका शासक तथा भोक्ता है। अब भौतिक वादियों का यह मत है कि संसार में मनुष्य से बढ़ कर कोई नहीं है।)

कवि साम्यवादी दर्शन के निर्देश के साथ रूस का भौगोलिक वर्णन, लेनिन का जन्म, छात्रजीवन, कारावास, बोल्शेविकवाद का जन्म, जनता द्वारा ज़ार के शासन का विरोध, बोल्शेविक दल की विजय, अन्तर्दलीय संघर्ष, जारतन्त्र का पतन आदि का वर्णन करते हुए लेनिन के राजतंत्र पर एकाधिपत्य और महाप्रयाण का वर्णन करता है और अन्त में रूस-भारत मैत्री की चर्चा करके महाकाव्य की समाप्ति करता है।

कवि ने विश्व के अनेक राष्ट्रों को अपनी विचारधारा से प्रभावित करने वाले महान् क्रान्तिकारी श्रीलेनिन को अपने महाकाव्य का विषय बनाकर एक ओर आधुनिक संस्कृत कवि की व्यापक दृष्टि को संकेतित तो किया ही है, साथ ही महाकाव्य को कोरी कल्पनाओं का विलास बनने से बिल्कुल बचाया है और एक शुद्ध मानवीय आधार दिया है। उसने कहा है कि उसका 'लेलिनामृत' सीमारहित भीषण तरंगों से दुर्गम लेनिन-रूपी समुद्र के यत्किञ्चित् मंथन से प्राप्त हुआ है(१/११)। अपने महाकाव्य के आधारभूत सिद्धान्त साम्यवाद को वह भारत के लिए नया नहीं मानता, क्योंकि सभी जीवों में समता की मान्यता भारत के धार्मिक क्षेत्र में बहुत पहले से प्रतिष्ठित है। (१/१३) वह साम्यवाद के प्रतिष्ठापकों, काल मार्क्स, एंगल्स का उल्लेख करता है। प्राकृतिक वर्णन के प्रसङ्ग में कवि ने रूस के पर्वतों, नदियों, सरोवरों मिट्टी तथा खनिज सम्पत्ति की चर्चा की है। लेनिन के जन्म के प्रसङ्ग का वर्णन कालिदास के रघु-जन्म के प्रसंग के वर्णन से कुछ प्रभावित है। कवि ने स्पष्ट रूप से कहा है कि मारिया के गर्भ में स्थित वह मनोज्ञ जीव निश्चित ही देवता नहीं था, अपितु देवगुणों से युक्त था। क्या वह दुःखार्णव से दीनों का उद्धार करने के लिए इस धरती पर नहीं उतरा था ? इस प्रश्न के रूप में अपनी बात प्रस्तुत करके कवि ने अपने वक्तव्य को अधिक दृढ़ बना दिया है, जो काव्य की भाषा के अनुरूप है और काव्य की स्तरीयता के समीप भी। कवि ने साम्यवाद के सिद्धान्त के अनुरूप मानव-जीवन में श्रम को अपने महाकाव्य में सर्वाधिक प्रतिष्ठा दी है।

कवि ने अपने नायक को "महामनुष्य" कहा है। वह लेनिन के जन्म के समय परम्परा से हट कर कहता है-न तो देवताओं ने कीर्तिशब्दों को दुन्दुभियों द्वारा फैलाया और न लोगों ने ही जन्म दिन पर प्रसन्नता के कारण घर पर महोत्सव मनाया। इस समय उसके घर पर न कोई डिण्डिमघोष हुआ और न लोगों में कोई विशेष उत्सुकता दिखाई दी। सामान्य रूप से लोगों ने सुना कि मारिया ने पुत्र को जन्म दिया है। (३/५६-५७) इस प्रकार कवि ने "अतिवाद" से बचकर अपने काव्य को यथार्थ की भूमि पर रखने का जो प्रयास किया है वह सर्वथा स्तुत्य है। कवि के नायक का कहना है कि उसकी मृत्यु से यदि

रूस में क्रान्ति का स्फुरण हो तो वह हजार बार मरेगा, क्योंकि देहधारी निश्चय ही जला दिया जाता है। (४/२०)-

यदि मन्मृत्युना रूसे क्रान्तेः स्फुरणमुद्भवेत्।
सहस्रधा मरिष्येऽहं ध्रुवं देही विदह्यते।।

"ध्रुवं देही विदह्यते" की उक्ति जितनी भारतीय परिवेश मे सार्थक है उतनी रूस के परिवेश मे सार्थक नहीं है, क्योंकि वहां शवों को दफनाया जाता है, जलाया नहीं जाता। वह प्रसंग, जिसमें कवि ने लेनिन द्वारा अपनी बहन को पत्र लिखकर कहना कि यदि किसी प्रकार मुझे पुलिस पकड़ भी ले तो तुम ऐसा प्रयत्न करना जिससे माता मुझे देखने को न आ सकें। कारागार में पड़ा देखकर शोकविह्वल तथा अश्रुमुखी माता को मेरे राष्ट्रभक्त और प्रिय भ्राता तथा अपने ज्येष्ठ पुत्र अलेक्जेण्डा का स्मरण हो जायेगा (५/२७,२८), बड़ा मार्मिक बन गया है।

राष्ट्रभक्ति की मूल भित्ति पर शुद्ध मानवीय हितभावना से प्रेरित चरित्र को कवि ने अपने महाकाव्य का विषय बना कर अत्याचारों के प्रति संघर्ष का समर्थन करके भारत के उन शताधिक राष्ट्रभक्तों के प्रति अपनी अपार निष्ठा व्यक्त की है जिनके बलिदान का ही सुफल भारत का स्वातन्त्र्य है। कवि कहता है-

शोणितेनैव शश्वत् स्वराष्ट्रध्वजं रञ्जयन्तः प्रजापादपं सर्वतः।
दुःखदावानलेनैव तप्ता भृशं सार्वभौमं प्रशस्तं शरीरं सताम्।। ६/२०

(जो स्वराष्ट्र के ध्वज रूप प्रजावृक्ष को सदा सब ओर से सींचते हुए तथा दुःख के दावानल से तप्त रहते हैं उन सज्जनों का शरीर सार्वभौम और प्रशस्त होता है।)

इस प्रकार आलोच्य महाकाव्य आद्योपान्त घटनाओं के कारण संकुल है और शुद्ध राष्ट्र प्रेम, मानव-प्रेम तथा दलितोद्धार के प्रति नवबोध को जागरित करने वाली अनूठी रचना बन पड़ा है। अन्त में कवि रूस-भारत मैत्री की बात बोल्गा (रूस की एक नदी) से गङ्गा के मिलन के रूप में कही है,

प्रसरतु जनभूत्यै वोल्गया सार्धमेषा
निजविमलजलाढ्या जाह्नवी जीवलोके।। १५/७४

(जीवलोक में जनता के वैभव के लिए वोल्गा के साथ ही अपने निर्मल जलों से सम्पन्न गंगा प्रवाहित रहे)।

यह बात सही है कि कवि ने 'लेनिनाभूत' द्वारा एक भिन्न दृष्टि का परिचय दिया है, और भारतीय महाकाव्य की परम्परागत पद्धति के ढाँचें में सहज भाव से बैठा कर उसे ग्राह्य बनाया है।

जहां तक कविता की दृष्टि से देखा जाय तो यह रचना, महाकाव्य के प्राचीन लक्षणों के बहुत कुछ अनुरूप होने पर भी, भाषा एवं संप्रेषण की दृष्टि से कुछ सामान्य हो गयी है। कहीं-कहीं तो छन्दोयोजना में लक्षित होने वाली त्रुटि विशेष खटक जाती है। कविता में सादगी होने पर भी वह प्रवाहमय नहीं बन पायी है। एक ओर विदेशी शब्दों के संयोजन की भरमार, दूसरे विदेशी विचार-धारा को संस्कृत का रूप देने का प्रयास कुछ सहज नहीं हो पाया है। और जो बात विशेष रूप से ध्यान में आती है, वह है, कवि का साम्यवादी विचार-धारा से प्रतिबद्ध होकर लिखना, जैसे वह उसका एक प्रचारक हो गया है।

हरिनारायण दीक्षित- उत्तर प्रदेश १६३६ जालौन के पड़कुला ग्राम में जन्मे कवि दीक्षित का व्याकरण और साहित्य का अध्ययन वाराणसी के संस्कृत विश्वविद्यालय में सम्पन्न हुआ। वर्तमान में वे कुमायूं विश्वविद्यालय, नैनीताल में संस्कृत के आचार्य एवं अध्यक्ष के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इन्होंने अनेक विधाओं में लेखन किया है। इनकी रचनाओं में श्रीमदप्पय-दीक्षितचरितम् (गद्यकाव्य), मेनकाविश्वामित्रम् (दृश्य काव्य) श्रीहनुमद्दूतम् (सन्देशकाव्य), गोपालबन्धुः (कथाकाव्य) के साथ बीस सर्गों वाला महाकाव्य 'भीष्मचरित' है, जो साहित्य अकादमी, नई दिल्ली द्वारा पुरस्कृत हो चुका है।

भीष्मचरित महाभारत के एक महनीय पात्र गङ्गापुत्र देवव्रत भीष्म के जीवन तथा व्यक्तित्व पर आधारित है, जो ईस्टर्न बुक लिंकर्स ५८२५ न्यू चन्द्रावल, जवाहरनगर दिल्ली-७ से १६६१ ई. में प्रकाशित हुआ। भीष्म के जन्म से लेकर उनके महाप्रयाण तक की नाना द्वन्द्वों से भरी जीवनी को कवि ने महाभारत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अनुगमन करते हुए लिखा है। मूल महाभारत के कथानक में कोई विशेष परिवर्तन लक्षित नहीं होता। हस्तिनापुर के राजा शान्तनु पत्नी के वियोगजन्य कष्ट को सहन करते हुए भी पुत्र का समुचित लालन-पालन करते हैं। अपने पुत्र देवव्रत को शिक्षित करने वाले गुरुजनों को इन शब्दों में निर्देश देते हैं-

वसुसमोऽसुसमो मम दीपको निजविबोधघृतेन सुपूर्यताम्।
सुविरचय्य तथा कृतिवर्तिकां शुचिविवेकशिखी विनियोज्यताम्।। २/३०

(वसुदेवता जैसे और प्राण जैसे मेरे इस कुलदीपक को आप लोग अपने सदुपदेश रूप घृत से भर दीजिए, और कर्तव्यपरापयणता रूपी बत्ती डालकर विवेक की पवित्र अग्नि से इसे प्रकाशित कर दीजिए।)

देवव्रत पिता की प्रेरणा से धनुर्विद्या जामदग्न्य परशुराम से प्राप्त करता है। अपने योग्य पुत्र को शान्तनु युवराज का पद देते हैं। यमुना के तट पर भ्रमण करते हुए विधुर शान्तनु सौरभ बिखेरती एक सत्यवती नामक रमणी को देखकर उस पर मोहित हो जाते हैं। वह भी उन पर आकृष्ट होती है। राजा ने पत्नी के रूप में उसे वरण करने की बात की तब उसने कहा कि उसके पिता की स्वीकृति वह प्राप्त करें। राजा ने उसके दाश (मत्स्याजीव) पिता से बात की तो उसने शर्त रखी कि उसकी पुत्री से उत्पन्न पुत्र को

युवराज बनाने का वचन देना होगा, किन्तु यह बात राजा को मान्य न हुई। धीरे-धीरे दाशकन्या के लिए शान्तनु की व्याकुलता उजागर हुई तब देवव्रत ने गुप्तचर के माध्यम से वस्तुस्थिति की जानकारी प्राप्त कर ली। देवव्रत अपने युवराज पद के अधिकार को छोड़कर दाशकन्या के साथ पिता का विवाह कराने में सफल होते हैं और भीषण प्रतिज्ञा करते हैं, कवि के शब्दों में-

सदोर्ध्वरेता इह जीवने वसन् व्रतं चरिष्यामि विखानसो भवन्। १६/६२

(इस जीवन में मैं सदा ऊर्ध्वरेता रहकर ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करूंगा)

"युवराज का पद तो छोड़ ही दूंगा तथा अपना विवाह भी नहीं करूंगा, जिससे कि मेरा पुत्र दाशकन्या से उत्पन्न होने वाले पुत्र से अपने अधिकार की कामना न करे।" इस भीषण प्रतिज्ञा के कारण ही उनका नाम 'भीष्म' हुआ। आगे की कथा महाभारत की प्रसिद्ध कथा के अनुसार है। अन्त में भीष्म युद्ध में आहत होकर शरशय्या पर लेट जाते हैं और सूर्य के उत्तरायण होने पर अपनी इच्छा से भगवान् श्रीकृष्ण के समक्ष महाप्रयाण करते हैं।

कवि दीक्षित ने प्रसिद्ध पुरावृत्त को प्रसादगुण से सम्पन्न भाषा में बड़ी सफलता पूर्वक अपने कवित्व का सुन्दर आवरण दिया है। परम्परागत महाकाव्य लक्षण का निर्वाह करते हुए वर्णनों तथा घटनाओं को सन्तुलित रूप देने के साथ मुख्य पात्र भीष्म के व्यक्तित्व का चित्र मनोरम ढंग से प्रस्तुत किया है। पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व को प्रस्तुत करने में भी कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। शान्तनु के समक्ष दाश ने अपनी कन्या को विवाह में देने के लिए जब अपना पण रखा तब उन्हें वह मान्य नहीं हुआ। वह सोचने लगते हैं-

क्षणविनाशिशरीरसुखाप्तये मनुजधर्मवधं न करोम्यहम्।
मम मते नृपधर्मचितानलः प्रियतमाविरहानलतो महान्।। ७/५८

अर्थात् क्षण भर में नष्ट हो जाने वाले शरीर के सुख के लिए मैं मनुष्य-धर्म का नाश नहीं करूंगा। मेरे विचार में प्रिया की विरहाग्नि से बढ़ कर राज-धर्म की चिताकी अग्नि है, अर्थात् उसमें ही जलना ठीक है। और, जब देवव्रत को अपने पिता की आन्तरिक स्थिति की जानकारी होती है तब वे कितनी उदात्तता से सोचते हैं- "इस संसार में पुत्र को अपने शारीरिक सुख की अपेक्षा अपने जन्मदाता माता-पिता के सुख की अधिक रक्षा करनी चाहिए। इसलिए मुझे चाहिए कि मैं अपने पिता को आनन्द से रहने का अवसर दूं। मुझे राज्य के लाभ का लोभ करना धर्मसंगत नहीं है, क्योंकि राज्य तो धर्मपालन के लिए होता हैं, लेकिन धर्म राज्य पाने के लिए नहीं होता" (८/३६)। भीष्म ने जब आजीवन ब्रह्मचर्य धारण करने की भीषण प्रतिज्ञा की तब उसका प्रकृति पर होने वाला प्रभाव कवि इन शब्दों में प्रस्तुत करता है-

धरा चकम्पे गगनं व दिद्युते दिशो बभूवुः सकलाश्च नीरवाः।। ८/६६

(पृथ्वी कांप उठी, आकाश द्योतित हो उठा, और सभी दिशाएं निःशब्द हो गईं)

पिता शान्तनु भी मन की आन्दोलित स्थिति में ही सत्यवती के साथ विवाह स्वीकार करते हैं। (८/५-७) भीष्म का जीवन एक सम्पूर्णतया समर्पण का जीवन है, अपने वंश के लिए, अपने राष्ट्र के लिए, किन्तु जब वे अपनी आंखों के सामने द्रौपदी को अपमानित होने से नहीं बचा सके थे यह उनके जीवन का बहुत बड़ा खटका रहा, जो मरणपर्यन्त उन्हें सालता रहा। वह अपने मारे जाने का रहस्य स्वयं बताते हैं और पाण्डवपक्ष के प्रति उनका मन स्नेहार्द्र बना रहता है। कौरवों का अन्न जो खाया था, उसका तो बदला उन्होंने मर कर देने का निर्णय लिया-विनिष्क्रयोऽन्नस्य दृढप्रभूतो धर्मोऽथ मृत्वा परिरक्षणीयः। १४/३। भीष्म और अर्जुन के बीच युद्ध के प्रसङ्ग की स्थिति का वर्णन करते हुए कवि लिखता है-

क्षणे व्रजन्ती दिशि कौरवाणां क्षणं च यान्ती दिशि पाण्डवानाम्।
आकृष्यमाणोभयसैनिकैः सा दोलेव भाति स्म रणे जयश्रीः।। १४/४२

(क्षण में कौरवों की ओर, और क्षण में पाण्डवों की ओर खिंचे जा रहे दोनों ओर के सैनिकों के कारण युद्ध में जयश्री दोला जैसी लग रही थी।)

इस रचना में जो बात खटकने वाली लगी वह है कवि द्वारा शान्तनु और सत्यवती का कामशास्त्रानुगत श्लथ शृङ्गारमय वर्णन। यदि यह प्रसङ्ग व्यञ्जना में थोड़े में लिखा गया होता तो ठीक होता। कुछ प्रसङ्ग तो केवल वस्तुनिर्देशमात्र होकर रह गये हैं, जैसे अस्त्रों के ज्ञान की प्राप्ति का प्रसङ्ग (पञ्चम सर्ग) आदि। अनुष्टुप् छन्द का सुन्दर निर्वाह नहीं लगता तथा आर्या का प्रयोग त्रुटिपूर्ण हो गया है। वैसे कई स्थानों पर छन्दोभङ्ग कष्ट दे जाता है जैसे-

स्वैरं चरन्तो हरिणाश्च क्वापि ४/३६, दधार स्वीयं तिलकं त्वरावती ६/३१, तदैव धावन् स विहाय स्यन्दनम् ६/५२, प्रोक्तं चोच्चैर्निजतममिमं पितृदेवो भवेति ८/३८ कहीं कहीं कवि पाणिनीय नियमों की अनदेखी भी कर जाता है।

कवि ने कहीं-कहीं आधुनिक शब्दों का प्रयोग किया है, जेसे मानसून का नगाधिराजोन्मुखमानसूनवत् ६/४, दूरदर्शन १३/४१-कवि ने प्रवर्तमान भाषा-विवाद, जातिवाद और क्षेत्रवाद पर भी टिप्पणी की है। जैसे शान्तनु के राज्य के वर्णन के प्रसङ्ग में १/२८ और अन्त में, मोक्षधर्म-वर्णन के प्रसंग में १६/२१। अलङ्कारों में रूपक के निबन्धन में कवि विशेष सफल हुआ है। फिर भी भीष्मचरित से सम्बन्ध में कहना होगा कि यह एक अच्छी रचना है।

द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री-१८६२-१६६३, उत्तर प्रदेश में जन्मे कवि ने घटनाप्रधान स्वराज्यविजयमहाकाव्य की रचना की। इसमें २० सर्ग हैं तथा प्रत्येक सर्ग की कथावस्तु अलग होने के कारण संघटित नहीं है। अनेक चरित्रों का निबन्धन करके कवि ने भारत

के मुक्ति-आन्दोलन को शब्दों में रूपायित करने का प्रयास किया है। नवें सर्ग में गान्धी जी का उदय होता है-

उदियाय ततो गान्धी सूचिभेद्यतमोऽम्बरे।
पूर्णः स पार्वणश्चन्द्रो निस्तन्द्रोऽमन्दतेजसा।। ६/३०

यद्यपि अनेक चरित्रों के वर्णित होने के कारण कवि पात्रचरित्र की प्रभावोत्पादकता में सफल नहीं हुआ है, तथापि भावानुकूल भाषा तथा छन्द आदि के संयोजन के कारण उसकी यह रचना आकलनीय हो गयी है। राष्ट्रियता की भावना से सम्पूर्ण रचना ओत-प्रोत है, इसमें सन्देह नहीं। कवि की दृष्टि में उत्तम काव्य कुछ इस प्रकार का होता है-

रसोज्ज्वला भावगुणादिगर्भा सालङ्कृती रीतिमती प्रगल्भा।
सा काप्युदारा कृतिनामुदेति मन्येऽतिपुण्येन हि काव्यधारा।। १/४८

हरिप्रसाद द्विवेदी शास्त्री (उत्तर-प्रदेश १८६२) अलीगढ़ के बाण ग्राम में उत्पन्न कवि की शिक्षा कासगंज (एटा) में हुई और अजमेर में अध्यापन किया। इन्होंने ११ सर्गों में 'गोस्वामितुलसीदासचरितं महाकाव्य का निर्माण किया। कवि ने सूकरक्षेत्र या सोरों को गोस्वामी जी का जन्मस्थान माना है। कवि का यह पद्य उद्धरणीय है-

त्रिधाराणां यस्मिन् पृथगगभुवां सङ्गमवरः
स्वरूपाद् भिन्नानां दिशति लहरीणां कलकलैः।
गुणैर्जात्या रूपैरिह जगति भिन्नैरपि जनै-
र्मिथः सङ्गन्तव्यं सुमतिसुखसिद्ध्यै सहृदयैः।। ६/३६

(पर्वत से निकली तथा स्वरूप से भिन्न तीन धाराओं का श्रेष्ठ संगम अपनी लहरों की कल-कल से यह उपदेश देता है कि गुण, जाति तथा रूप से भिन्न भी सहृदय लोगों को सुमति तथा सुख की सिद्धि के लिए परस्पर मिल-जुल कर चलना चाहिए।)

नारायण शास्त्री-इनकी रचना "श्रीशैलजगद्गुरुचरित" महाकाव्य है जो १६ सर्गों में निबद्ध है तथा १६५३ में बंगलोर से प्रकाशित है। इसमें श्रीशैल के जगद्गुरुओं का जीवन वृत्त वर्णित है। इसमें पण्डिताराध्यसे आरम्भ करके चन्न बसवदेशिक तक के गुरु वर्णित हैं। श्री चन्नबसवदेशिक का सभी धर्मों के प्रति आदर का भाव इस पद्य में आकलनीय है-

सर्वं शिवात्मकमतः सकलोऽपि धर्मः
शेषं पदं गमयतीति विशालचेताः।
माहेश्वरो यतिवरः समदर्शिचित्तः
सर्वान् स्वधर्मनिरतान् बहु मन्यते स्म।। १६/२३

(सब कुछ शिवमय है, अतः सभी धर्म शैव पद तक पहुंचाते हैं, इस प्रकार समदर्शी चित्त वाले माहेश्वर यतिश्रेष्ठ सबको स्वधर्मनिरत मान कर आदर देते थे।)

छज्जुराम शास्त्री (१६०५, हरियाणा) कुरुक्षेत्र के निकट शेखपुरा लावला ग्राम में जन्मे तथा संस्कृत के अध्यापक कवि शास्त्री ने दो पौराणिक महाकाव्यों की रचना की 'परशुरामदिग्विजय' तथा 'शिवकथामृतम्'। दोनों को ही पुराणों में व्याकीर्ण सम्बद्ध कथाओं को एकत्र करके कवि ने "सर्गबद्ध" रूप में प्रस्तुत किया है। प्रथम रचना १२ सर्गों में निबद्ध है तो दूसरी में १५ सर्ग हैं। कवि ने अनुष्टुप् छन्द को अधिक प्रश्रय दिया है। कवित्व की दृष्टि से दोनों रचनाएं शिथिल प्रतीत होती हैं। दोनों में ही पौराणिक शिल्प की पुनरावृत्ति मात्र होकर रह गयी है। इनके माध्यम से कवि कोई अपने अध्येताओं को सन्देश भी देता प्रतीत नहीं होता।

भवानीदत्त शर्मा (बिहार)-आरा के निकट, गङ्गा के दक्षिण तट पर उत्पन्न कवि शर्मा ने नौ सर्गों के महाकाव्य 'सौमित्रिसुन्दरीचरित' की रचना की। ऊर्मिला के जीवन पर आधारित यह संस्कृत का दूसरा महाकाव्य है। नारायणशुक्ल के 'ऊर्मिलीयम्' की चर्चा हम कर चुके हैं। प्रस्तुत रचना में कवि की आद्योपान्त मार्मिकता स्फुरित होती है। समयोचित संवादों में एक सहज प्रवाह एवं रसार्द्रता है जो मन को अभिभूत कर देती है। सौमित्रि लक्ष्मण प्रिया ऊर्मिला से कहते हैं-

दासः प्रियो मे भविता प्रभोश्चेद् दासीं प्रियां विद्धि धरात्मजायाः।
विभज्य चावां द्रुतमेव सेवाव्रताद्यनुष्ठानपरौ भवेव।। ४/१३

(मेरे प्रिय आप प्रभु राम के दास होंगे तो धरात्मजा सीता की मुझे दासी समझें, अपने-अपने कार्य का विभाजन करके हम दोनों सेवाव्रतादि के अनुष्ठान में तत्पर हो जायें।)

पञ्चम सर्ग में लक्ष्मण के राम के अनुगत होकर वन जाने पर 'मन्दाक्रान्ता' में निबद्ध ऊर्मिला का करुण-विलाप अत्यन्त मार्मिक है। अष्टम सर्ग में कवि ने मात्रिक संगीत-प्रधान गीतों की रचना की है, जो सम्पूर्ण रचना को एक अतिरिक्त वैशिष्ट्य से उजागर करते प्रतीत होते हैं। काव्य की समाप्ति राम एवं सीता के साथ लक्ष्मण के वनवास से अयोध्या लौट आने पर हुई है, जहां कवि ने एक ही श्लोक में उस मिलनक्षणजन्य सुख को बांधने का प्रयास किया है-

क्षणेन साऽपश्यदुपस्थितं स्वं कान्तं गृहद्वारि विभान्तमच्छम्।
विवेद नानन्दनिमीलिताक्षी कदा तदुत्सङ्गमियं जगाम।। ६/८४

यत्र-तत्र कवि द्वारा छन्दों की योजना में की गयी त्रुटियां अवश्य ही मन को खिन्न कर जाती हैं।

पाण्डुरंग शास्त्री डेग्वेकर (महाराष्ट्र)-पूना के निवासी कवि डेग्वेकर ने महाभारत से

गृहीत मूल कथानक पर आधारित तथा १० सर्गों में निबद्ध 'श्रीकुरुक्षेत्र' महाकाव्य (१६५६) की रचना की है। पूरी रचना में राष्ट्रिय चेतना को प्रश्रय मिला है। कुरुराज के मुख से भारत की सुरक्षा का यह उपदेश इन शब्दों में प्रस्तुत हुआ है-

अवेक्षणीया जननीनिभा सा संरक्षणीया विविधैः प्रकारैः।
अकारि चेदाक्रमणं परैर्वा प्राणव्ययेनापि निवारणीयम्।। १२/१३

(भारत-भूमि को अपनी माता के रूप में देखना चाहिए, हर प्रकार से उसका रक्षण करना चाहिए। यदि शत्रुओं ने उस पर आक्रमण किया तो प्राणों को अर्पित करके भी उस आक्रमण को विफल कर देना चाहिए।)

काशीनाथ पाण्डेय "चन्द्रमौलि" (राजस्थान)-बीकानेर के निवासी कवि "चन्द्रमौलि" ने संस्कृत में अनेक विधाओं में काव्य प्रणयन किया है। इनके द्वारा लिखित २१ सर्गों का 'श्रीमज्जवाहरयशोविजय' महाकाव्य १६८५ में अखिलभारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ समताभवन, रामपुरियामार्ग, बीकानेर द्वारा प्रकाशित कराया गया है। इसमें श्रीमज्जवाहराचार्यजी के व्यक्तित्व तथा कृतित्व को विषय बनाया गया है। विषय के अनुसार धार्मिक उपदेशों को कवि ने कवित्वमय अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया है। कवि ने अपने चरित-नायक के "जवाहर" नाम की व्युत्पत्ति का निर्देश करते हुए उसकी ओचिती इन शब्दों में सूचित की है-

विधातुमार्तान् सुखितानानारतं विनेतुमिष्टाननभीष्टपद्धतेः।
जवेन तत्त्वाहरणादिकारणात् जवाहरेति प्रियनाम चर्चितम्।।

(दुःखी प्राणियों को निरन्तर सुख की ओर प्रेरित करने से, अप्रशस्त पथ पर गतिशील मानवों को सन्मार्ग पर गति की प्रेरणा देने से तथा शीघ्रग्राही प्रज्ञा से उस बालक का नाम "जवाहर" यह रखा गया।)

रघुनन्दन शर्मा (उत्तर प्रदेश)-इन्होंने जैन तेरापन्थ सम्प्रदाय के संघाधिनायक आचार्य श्री तुलसी के जीवन-दर्शन पर आधारित 'श्रीतुलसीमहाकाव्यम्' की रचना १६६२ में प्रस्तुत की, जिसमें २५ सर्ग हैं। कवि वैसे तो आयुर्वेदाचार्य थे, किन्तु उनमें सहज कवित्व का आभास प्रस्तुत रचना के माध्यम से मिलता है। गंभीर भावों को वे सरल शब्दावली में प्रस्तुत करने में भी निपुण प्रतीत होते हैं। आचार्य श्रीकालूगणी के स्वर्गवास के समय शोकाकुल गङ्गापुर का चित्रण कवि इन शब्दों में करता है-

गङ्गापुरं गहनशोकसमुद्रमग्नं कस्यापि कुत्रचन काऽप्यभवन्न पृच्छा।
माता स्वपुत्रमनुजं निजमेव बन्धुः पत्नी च विस्मृतवती स्वपतिं तदानीम्।।
सीमन्तिनी प्रथममेव तथाञ्जयित्वा नाक्षिद्वितीयमलमञ्जयितुं बभूव।
क्षौरार्द्रकर्मणि करादपि नापितस्य क्षित्यां क्षुरं निपतितं निशितं त्वरेव।।

ग्रासार्पणाय मुख्मध्यमधि प्रविष्टा हन्ताङ्गुली बहिरुपेतुमभूदनर्हा।
ग्रासोऽप्यधो न पतितो गलतो बुभुक्षोः कोलाहले सति दिवोगमनस्य कालोः।।

स्वयम्प्रकाश शर्मा (१६१७-१६८३) पंजाब के होशियापुर के निकटवर्ती एक गांव में जन्मे कवि शर्मा ने 'श्रीभक्तसिंहचरित' महाकाव्य का प्रणयन किया, जिसमें ७ सर्ग हैं। कवि अपने चरितनायक के पुण्य चरित को लिखने वाली अपनी लेखनी को धन्य मानता है-

धन्याः सुपुण्या निजदेशमुक्त्यै प्राणान् स्वकान् ये तृणवत् त्यजन्ति।
विलिख्य पुण्यं चरितं हि तेषां पुण्यत्वमीयादपि लेखनी मे।। १/३

(धन्य पुण्यवान् जो लोग अपने देश की मुक्ति के लिए अपने प्राणों का तृण की भांति त्याग कर देते हैं उनके पुण्य चरित को लिखकर मेरी लेखनी भी पुण्य-भाव को प्राप्त करेगी।)

कवि ने राष्ट्रभक्ति से लबालब भरे चरितनायक भगत सिंह के जीवन को तथा उनके स्वमातृभूमि-प्रेम को बहुत सहजता से अभिव्यक्ति दी है। भगत सिंह की इस प्रतिज्ञा को कवि ने इन शब्दों में प्रस्तुत किया है-

चेज्जन्म दद्यात्पुनरेव देवस्तदत्र भूयाद् भुवि भारतेऽस्मिन्।
सेवाञ्च कुर्यां निजमातृभूमेर्दत्वाऽपि मस्तं बहुभक्तियोगात्।। ७/४७

(फिर यदि विधाता भारत-भूमि पर जन्म दे तो अपनी मातृभूमि की सेवा अतिशय भक्तियोग से अपना मस्तक चढ़ाकर करूं।)

कठोपनिषद् में वर्णित प्रसिद्ध नचिकेता की कथा के माध्यम से कवि ने मृत्यु के रहस्य को यमराज के मुख से खुलवाने के उद्देश्य से नौ सर्गों में 'अमृतमन्थनम्' (महाकाव्य) की रचना की है। यौगिक सिद्धि के बल से नचिकेता के द्वारा यमलोक की यात्रा का वर्णन करते हुए कवि ने ग्रह-गणों के मार्ग का वर्णन किया है। इसके लिए उसने "सूर्यसिद्धान्त" के अनुसार ग्रहों की स्थिति का निर्देश किया है। अपने काव्य को एक सुदृढ वैज्ञानिक भित्ति पर प्रतिष्ठित करते हुए कवि शर्मा ने सरल संस्कृत में अपने कथ्य को प्रस्तुत करने का सराहनीय प्रयास किया है।

इस रचना से पूर्व कवि ने केनोपनिषत् की कथा पर आश्रित 'इन्द्रयक्षीयम्' काव्य लिखा था।

नचिकेता अपने आपमें सम्पूर्ण भारतीय जनता की जिज्ञासु-प्रवृत्ति एवं सत्यानुसन्धान की दृढ़ मानसिकता का जीता-जागता प्रतीक है। और ऐसे ही पात्र को कवि ने बड़ी जागरूकता के साथ काव्य का विषय बनाया है। कवि के दो पद्य यहां उद्धरणीय हैं- नवम सर्ग में अपने उद्देश्य में सफल नचिकेता से यमराज कहते हैं-

धन्योऽसि यद्भारतभूमिभागादत्रागतस्त्वं सुविलङ्घ्य शीघ्रम्।
नवग्रहान् विस्तृतविग्रहांस्तान् यमालये प्राणधृतैरगम्ये।। ३७
अहो मुने साहसमीदृशं ते केनापि दृष्टं न च संश्रुतं प्राक्।
स्वलक्ष्यसिद्धौ दृढनिश्चयः को भवादृशोऽन्यो भवितुं समर्थः।। ३८

श्यामवर्ण द्विवेदी-१६१६-१६७५ ई. उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जनपद में जन्मे कवि द्विवेदी ने 'विशालभारत' महाकाव्य का निर्माण किया, जिसका प्रथम भाग जवाहरदिग्विजयम् है। कवि की भाषा समर्थ एवं कवित्व से पूर्ण प्रतीत होती है। वह तिरंगे राष्ट्रध्वज को लेकर लिखता है-

राष्ट्रध्वजं तं गगने त्रिवर्णमुद्वीक्ष्य वायुस्फुरदुज्ज्वलान्तम्।
गौराः प्रतीयुः क्रकचं चलन्तं प्रकम्पिताङ्गा हृदरुर्विदारम्।। ११४/१५

(तीन वर्णों वाले, पवन से फहराते अग्र-भाग वाले, हृदय के व्रण को विदीर्ण करने वाले उस राष्ट्रध्वज को गोरे अंग्रेजों ने चलता हुआ आरा समझा।)

रघुनाथप्रसाद चतुर्वेदी- (१६११-१६८८ ई.) मथुरा से १६६७ में प्रकाशित कवि द्वारा निर्मित 'जवाहरज्योतिर्महाकाव्य' २१ सर्गों में विभक्त है। स्व. जवाहरलाल नेहरू के जन्म से लेकर देवावसान पर्यन्त कथावस्तु पर आधारित इस रचना में घटनाओं की चर्चा अधिक हो गयी है, जिससे कवित्व पक्ष शिथिल हो गया है। आद्योपान्त मात्र अनुष्टुपृछन्द का प्रयोग हुआ है।

पी. उमामहेश्वर शास्त्री (आन्ध्र-प्रदेश) इनका 'कंससंहारमहाकाव्य' १६६८ में प्रकाशित हुआ। १८ सर्गों के इस महाकाव्य में श्रीकृष्ण की बाललीलाओं का वर्णन है, उनमें कंस का वध प्रमुख है। नगर, समुद्र आदि के वर्णनो से संवर्धित यह एक प्राचीन परम्परा की रचना है।

के. एन. एझतचन (केरल १६२२-१६८२) इनका २१ सर्गों का 'केरलोदय' (१६७७) एक ऐतिहासिक महाकाव्य है, जिसमें केरल का इतिहास वर्णित है। रचनाकार केरल के इतिहास, संस्कृति तथा साहित्य का अधिकारी विद्वान् है। फिर भी यह रचना मात्र इतिहास नहीं है। इसमें प्राचीन परम्परा के अनुगमन के साथ आधुनिकता का भी समावेश है। प्राचीनता और नवीनता के समाहार से यह एक विशिष्ट कृति बन गयी है। विचार या वर्णनों के प्रस्तुतीकरण में मौलिकता है, जैसे-

सन्ध्याभ्ररेणुचन्द्रार्कनेमिद्वयविचालितम्।
पुरो यात्रां करोति स्म प्रवञ्चशकटं पुनः।। १४/१४०

भ्रमन्ती कुम्भकाराय धावन्ती पटकारिणे।
प्लवमानाब्धिनाशाय चचाल नरजीविका।। १४१

उलूकचटकस्तोत्रा काका धावितवृश्चिका।
प्रकृतिर्ग्रामसीमासु शशास निजकाननम्।। १४४

रामकुबेर मालवीय (उत्तर-प्रदेश) इनका जन्म प्रयाग के निकट कड़ा में हुआ। इन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और तत्पश्चात् वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय में साहित्य विभाग के अध्यक्ष के पद पर अध्यापन किया। इनके द्वारा रचित 'श्रीमालवीयचरितम्' में महामना मदनमोहन मालवीय जी का जीवन-चरित १५ सर्गों में वर्णित है। इस रचना का प्रकाशन का.हि.वि.वि. की पत्रिका "प्रज्ञा" में क्रमशः हुआ है। मालवीय जी के प्रति अतिशय श्रद्धालु कवि ने उनके शरीर-सौष्ठव एवं वेशभूषा के वर्णन में अधिक प्रवृत्ति दिखायी है। कवि ने वर्णनों को प्रभावशली बनाने के लिए अलंकारों की विशेष सहायता ली है और रचना में भाषा का माधुर्य आद्योपान्त बना हुआ है। मालवीय जी के उत्तरीय का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है-

मालवीयोत्तरीयस्योभयप्रान्तच्छलेन किम्।
विवेको विनयश्चैवोभयपार्श्वे सदा स्थिरौ।।
भुजद्वयमपर्याप्तं भिक्षाग्रहणकर्मणे।
इति विचार्य किञ्चान्यद् भुजद्वयमिदं कृतम्।। ११३९/४०

वाराणसी का वर्णन इन शब्दों में हुआ है-

गङ्गातरङ्गानिलसङ्गपूता वाराणसी पुण्यभृतामुपास्या।
मुक्तिश्रियो मञ्जुलवैजयन्ती सौभाग्यसिन्धुर्नु वसुन्धरायाः।।

सुधाकर शुक्ल (उत्तर प्रदेश १९१३-१९८५) इटावा के क्योंटरा ग्राम में उत्पन्न कवि शुक्ल मध्य प्रदेश के शासकीय उ.म. विद्यालय, बसई के प्रधानाचार्य पद से सेवानिवृत्त हुए और दतिया में अपना 'कविकुलाय' बनवाया। इन्होंने तीन महाकाव्यों की रचना की-स्वामिचरितचिन्तामणिः (१६ सर्ग) गान्धीसौगन्धिकम् (२० सर्ग) तथा भारतीस्वयम्वरम् (१२ सर्ग)।

साधुशरण मिश्र (बिहार) चम्पारण के नरकटियागंज स्थित श्रीजानकीसंस्कृत विद्यालय के प्रधानाचार्य पद से सेवानिवृत्त मिश्र जी ने १९ सर्गों में निबद्ध 'गान्धिचरित' महाकाव्य (१९६२) की रचना की। इनके पिता पं. जयराम मिश्र हथुआराज्य के शासक श्रीकृष्ण प्रताप शाही के प्रधान पण्डित के पद पर प्रतिष्ठित रह चुके थे। कवि ने महात्मा गांधी को राम और कृष्ण की भांति एक 'अवतार' माना है और कहा है कि जैसे पुराकाल में राम जब स्वधाम जाने को उद्यत हुए तब लक्ष्मण लीला-निर्मित माया से निमित्त बन गये और यादवेन्द्र कृष्ण के स्व-लोकगमन का कारण व्याध बना। उसी प्रकार महात्मा गान्धी ने जब अपने लोक को प्रस्थान करना चाहा तो गोडसे नाथूराम निमित्त बन गया (१८-१३२-३४)।

कवि ने प्रसादगुण से व्याप्त अपने काव्य में चरितनायक गांधीजी के व्यक्तित्व का समुचित वर्णन किया है। कवि ने गाँधीजी के सर्वधर्मसमभाव को इन शब्दों में अभिहित किया है-

हिन्दुर्यथास्ते यवनोऽपि तद्वत् खीष्टानुयायी च जनोऽपरोऽपि।
तुल्योऽस्य पृष्टौ न भिदालवोऽपि समप्रवृत्ते विषमा न बुद्धिः।। १६/३०

श्रीकृष्ण प्रसाद शर्मा घिमिरे (नेपाल) टंगाल गहिरीधारा, काठमाण्डू में कवि घिमिरे का जन्म १६१८ में हुआ। इन्होंने चार महाकाव्यों का प्रणयन किया-श्रीकृष्ण-चरितामृतम्, वृत्रवधम्, ययातिचरितम् तथा नाचिकेसम्। कवि घिमिरे के कारण संस्कृत कविता का क्षेत्र भारत की सीमा से पार पहुंचा। श्रीमद्भागवत के कथानक पर आश्रित ५८ सर्गों में निबद्ध 'श्रीकृष्णचरितामृत' एक विशाल महाकाव्य है। इसी प्रकार नाचिकेतस कठोपनिषद् के यम-नचिकेता संवाद को आधार बनाकर २८ सर्गों में निबद्ध है। इसे एक आध्यात्मिक रचना कहा जा सकता है। इसमें जीवात्मैक्य के दर्शन को यमदेवता के मुख से इन शब्दों में प्रस्तुत किया गया है-

आब्रह्मकीटगतविग्रहहृद्गुहायां
जानीहि तात विलसत्यतुलोऽयमात्मा।
सूक्ष्मातिसूक्ष्म इह चाप्यणुरूप एकोऽ-
णुक्योऽपि सूक्ष्मतम ईश्वर एव साक्षात्।। ११/१५

(ब्रह्म से लेकर कीट पर्यन्त के शरीर में स्थित हृदय-गुहा में, जिसकी कोई तुलना नहीं, ऐसा यह आत्मा विद्यमान है। यह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, अणुरूप से सूक्ष्मतम अणु साक्षात् ईश्वर है, हे तात ऐसा तुम जानो।)

मुतुकुलम् श्रीधर-इन्होंने 'नवभारतम्' (१६७८) नाम का १८ सर्गों का ऐतिहासिक महाकाव्य लिखा है जो स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू के जीवन पर आधारित है। पं. नेहरू के जीवन के माध्यम से कवि ने भारतीय स्वातनत्र्य संग्राम का इतिहास प्रस्तुत किया है। साथ ही उसने कवित्त्व की कल्पनामय भूमि में विविध प्राकृतिक वर्णनों, सांस्कृतिक भौगोलिक स्थानों के चित्रणों से अपनी रचना को संवर्धित किया है। कुमारसम्भव और रघुवंश का उस पर प्रभाव लक्षित होता है, किन्तु उसने उस कारण अपने कवित्व-स्पर्श को अभिभूत नहीं होने दिया है। इन्दिरा का वर्णन करते हुए कवि लिखता है-

अयेन्दिराख्या प्रियदर्शिनी सा कुले च गेहे मणिदीपभासा।
दिने दिने पोषमियाय बाला शरत्सुधांशोरिव रश्मिमाला।।

श्रीमती कमला नेहरू की मृत्यु का प्रसंग-

तनिमानमुपेयुषां पुरः स्तिमितेन्दीवरलोचनामिमाम्।
चलितालकवीचिसुन्दरां कलितावेगवतीं नदीमिव।।
अपसारितसूक्ष्मगण्डकस्थलपद्मश्रियमीषदस्फुटाम्।
अवलोक्य जवाहरः प्रियां विषसादैव महाधृतिः परम्।।

के. बालराम पन्निकर- इनके द्वारा रचित 'श्रीनारायणविजय' नाम का २१ सर्गों का महाकाव्य है, जो केरल के प्रसिद्ध समाजसुधारक एवं सन्त श्रीनारायण गुरु के जीवन तथा शिक्षा पर आधारित है। यह १९७१ ई. में त्रिवेन्द्रम से प्रकाशित है।

श्रीनारायण गुरु १९वीं शती के अन्त तथा बीसवीं के पूर्वार्ध में हुए थे। इसमें कवि ने काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत महाकाव्य के लक्षणों का पूरा अनुगमन नहीं किया है, धर्मों की एकता तथा मानव में बन्धुत्व के विश्वजनीन भावों को उद्घाटित किया है। पन्द्रहवें सर्ग में सहोदर संघ की स्थापना, महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर से भेंट १६वें तथा १८वें में महात्मा गान्धी के साथ वार्तालाप वर्णित है। कवि की भाषा की सरलता तथा शैली की मधुरता आद्योपान्त आकलनीय है। रवीन्द्रनाथ के साथ वार्तालाप भी बहुत मनोरञ्जक बन पड़ा है।

शान्तिभिक्षु शास्त्री (उत्तर प्रदेश) क्रिस्तुभागवत की भांति कवि शास्त्री का १०० सर्गों का बुद्धविजय काव्य साहित्य अकादमी (दिल्ली) द्वारा पुरस्कृत एक आकलनीय रचना है। इसके महाकाव्य होने के कुछ संशय अवश्य उठाये जा सकते हैं, किन्तु इसे श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण एवं क्रिस्तुभागवत की परम्परा में रचित अपने आप में एक महत् काव्य कहा जा सकता है। आद्योपान्त रचना (सर्ग के अन्त वाले पद्यों को छोड़कर) अनुष्टुप् छन्द् में निबद्ध है। कवि ने सम्पूर्ण बौद्ध जीवन-दर्शन को सरल एवं सरस शब्दावली में काव्य के रूप में प्रस्तुत करने का अभिनन्दनीय प्रयास किया है। उसने पाठकवर्ग को यह कह कर अपनी रचना के आकलन के लिए प्रेरित किया है-

इदं हि काव्यं सरसं गुणान्वितं शुभप्रभावं सुगताश्रयोन्नतम्।
समर्थशब्दार्थपरायणं नवं महानुभावाः प्रपठन्तु सादरम्।। (पुष्पिका)

५९ वें सर्ग में कवि आज के हिंसा ग्रस्त लोगों से इन शब्दों में क्षुद्र भावनाओं से ऊपर उठने का निर्देश करता है-

हिंसा करुणया हेया मैत्र्या व्यापादभावना।
हिंसाव्यापादमुक्तस्य चित्तं पुण्ये प्रसीदति ।।४६
एकनीडामिमां भूमिं भावयन् विचरेत् सुधीः।
न च देशविशेषे स्यात् सादरोऽनादरः क्वचित्।। ४७

कवि ने अपनी इस काव्यरचना को पञ्चसाहस्त्री कहा है।

ओगेटि परीक्षित् शर्मा (१९३० आन्ध्र-प्रदेश) इनका 'परीक्षि-नाटकचक्रम्' नाम से

२७ नाटकों का संग्रह प्रकाश में आ चुका है। इन्होंने दो महाकाव्यों यशोधरामहाकाव्य तथा श्रीमत्प्रतापराणायन की रचना की है। दूसरी रचना साहित्य अकादमी (दिल्ली) द्वारा पुरस्कृत हो चुकी है। प्रथम गौतम सिद्धार्थ के गृहत्याग (अभिनिष्क्रमण) की प्रसिद्ध कथा पर आधारित है। निश्चय ही कवि पर हिन्दी के कवि श्रीमैथिलीशरण गुप्त की रचना यशोधरा की प्रसिद्ध पंक्ति का प्रभाव है-

"आंचल में है दूध और आंखों में पानी।"

कवि शर्मा लिखते हैं-

किमेतदाश्चर्यमहो धरित्र्यां स्त्रीणां मनोवृत्तिरगम्य एव।
पयोधरक्षीणभृताः सुजीवाः क्षणेन नेत्राञ्चलसाश्रुपाताः।। (१०/११)

इनका ८० सर्गों का श्रीमत्प्रतापराणायन महाकाव्य इनकी महीयसी प्रतिभा का एक 'विस्फोट' कहा जा सकता है। राष्ट्रिय भक्ति-भावना से ओतप्रोत इस विशाल रचना में अनेक स्थलों पर कवि की मार्मिकता उजागर हुई है, जैसे हल्दिघाटकाण्ड में चतुर्थ सर्ग में राणा प्रताप द्वारा सेना के सञ्चालन का प्रसङ्ग, चेतक के लिए राणाप्रताप का विलाप आदि। इस 'विलाप' में कवि ने समुचित वियोगिनी छन्द का आश्रय लिया है। युद्ध के वर्णन भी कवि ने अनुरूप शैली में प्रस्तुत किये हैं। यह आधुनिक संस्कृत साहित्य के महाकाव्य के इतिहास में एक संयोग की बात है कि कवि वर्णेकर द्वारा रचित शिवाजी विषयक महाकाव्य श्रीशिवराज्योदयम् और कविवर शर्मा द्वारा रचित श्रीमत्प्रतापराणायनम्, दोनों ही अपने आपमें एक समर्थ एवं आकलनीय रचनाएं हैं। खेद है कि कवि शर्मा के महाकाव्य में अनेक स्थलों पर व्याकरण एवं छन्दोयोजना की दृष्टि से प्रयोग चिन्त्य हो गये हैं।

के. एस. नागराजन् (कर्णाटक)-१६ सर्गों में रचित इनके श्रीसीतास्वयंवरम् (महाकाव्य) के पश्चात् दूसरी महाकाव्य रचना 'श्रीलवलीपरिणयम्' १९७५ में प्रकाशित हुई। स्कन्दमहापुराण की शङ्करसंहिता के देवकाण्ड में प्राप्त लवली और सुब्रह्मण्य के विवाह की पौराणिक कथा ही इस रचना का आधार है। भारवि के किरातार्जुनीय की भांति यह भी 'लक्ष्म्यङ्क' है। नाना छन्दों के व्यवस्थित प्रयोग एवं प्रसादगुणमयी पदावली से समलङ्कृत यह रचना अत्यन्त सरस बन पड़ी है। सुब्रह्मण्य (कार्तिकेय) कवि के कुल देवता हैं, अपनी इस रचना के व्याज से कवि ने एक ओर तो उनके प्रति श्रद्धा निवेदित की है, दूसरी ओर पौराणिक प्राचीन कथा-वस्तु में आधुनिक विषयों को नूतन रीति से प्रस्तुत किया है। कहीं-कहीं कालिदास आदि की रचनाओं की छाया लक्षित हो जाती है तो कहीं-कहीं प्रसंगतः इस प्रकार उपदेश कवि अपने पात्रों के माध्यम से कर जाता है-

कोपो हि पापकरणे मनुजं नियुङ्क्ते
लोके स एव सकलापदनर्थमूलः।

तस्मान्नरो न तु कदापि भवेद् वशेऽस्य
कोपस्य सर्वविषमस्थितिकारकस्य।।

(क्रोध मनुष्य को पाप करने में प्रवृत्त करता है, संसार में वही सकल आपदाओं का मूल है, इसलिए मनुष्य कभी-कभी विषम स्थितियों को उत्पन्न करने वाले क्रोध के वश में न हो)।

रघुनाथ शर्मा (उत्तर प्रदेश) बीसवीं शती के आरम्भ में जन्मे बलिया जिले छाता ग्राम के विख्यात मनीषी विद्वान पण्डित शर्मा जी ने अपनी कारयित्री प्रतिभा का परिचय संस्कृत में अनेक स्तोत्रों तथा ८ सर्गोंवाले 'पार्वतीपरिणय' (महाकाव्य) के निर्माण से दिया है। भर्तृहरि के वाक्यपदीय पर प्रसिद्ध "अम्बाकर्त्री" व्याख्या के रचयिता इन मनीषी ने अपने पार्वतीपरिणय महाकाव्य को कालिदास के "कुमारसम्भव" का छायाग्राही कहा है। आठ सर्गों की इस रचना में कवि ने यत्र-तत्र कुमारसम्भव के प्रसङ्गों को उसी रूप में ले लिया है तथा कहीं-कहीं अन्य कवियों के पद्य-रत्नों को भी उद्धृत कर लिया है। फिर भी, प्रथम सर्ग में जहां उन्होंने पार्वती के जन्म-प्रसङ्ग में ब्रह्मा, वरुण, यम आदि देवताओं के मुख से देवी की स्तुतियां प्रस्तुत की हैं, तथा गणेश की गीतियां प्रस्तुत की हैं वहां उनकी वाणी के गाम्भीर्य एवं सौष्ठव के गुण एक साथ लक्षित किये जा सकते हैं। कहीं-कहीं तो कवि ने कालिदास के अनेक पद्यों को अपने अनुसार मोड़ कर और भी चमत्कारी बना दिया है। इस महाकाव्य का प्रकाशन साहित्य अकादमी (दिल्ली) की पत्रिका 'संस्कृत प्रतिभा' के पञ्चदश उन्मेष (१९८५) में हुआ है। इनके द्वारा निर्मित पद्यों का आकलन करते हुए ऐसा सहज भाव से प्रतीत होने लगता है कि मनीषिवर शर्माजी पर वाग्देवी की अहैतुकी कृपा थी। इनके पिता पं. काशीनाथ शास्त्री भी अपने समय के विशिष्ट विद्वान् थे।

वनमालिदास शास्त्री-कविवर शास्त्री जी ने दो महाकाव्य लिखे हैं-'हरिप्रेष्ठ-महाकाव्य' और 'श्रीकृष्णानन्दमहाकाव्य'। श्रीवनमालिप्रार्थनाशतकम् इनके द्वारा रचित स्तोत्र-काव्य है। अतिशय स्फीत शैली में काव्यरचना में निपुण शास्त्री जी के अट्ठारह सर्गों वाले महाकव्य का प्रकाशन श्रीकृष्णनन्द स्वर्गाश्रम, वृन्दावन (मथुरा) से हुआ है। इसमें कवि ने अपने सहाध्यायी श्रीहरिप्रेष्ठ महाशय के चरित्र को विषय बनाया है। श्रीहरिप्रेष्ठ महाशय ने पच्चीस वर्ष की अवस्था में ही शिक्षक का पद, नवोढा पत्नी, वृद्धा माता और छोटे भाई को त्याग दिया और श्रीकृष्ण की भक्ति तथा तपश्चरण में लग गये। कवि ने परम्परागत महाकाव्य के लक्षणों का अनुगमन किया है और यथास्थान उपदेशात्मक बातें नियोजित की हैं।

मधुकर शास्त्री (राजस्थान, १९३१) जयपुर के निकटवर्ती एक ग्राम में उत्पन्न कविशास्त्री ने जयपुर और वाराणसी में अध्ययन किया।

तीर्थंकर महावीर स्वामी पर आधारित इनका श्रीमहावीरसौरभम् १६ सर्गों का महाकाव्य है। कवि की यह उक्ति आज के राष्ट्रिय परिप्रेक्ष्य में कितनी सार्थक है-

इन्द्रभूते व्यक्तिसेवा न मे जात्वपि रोचते।
जनार्चेव जिनार्चाऽस्ति जनतेव जनार्दनः।। ११/१७

कवि प्राचीन कथाभूमि में भी युगधर्म को अंकुरित करने में सफल हुआ है। इस रचना में संस्कृतेतर छन्दों का भी प्रयोग है। इनकी रचना गान्धिगाथा के पूर्वभाग में गान्धीजी का जीवनदर्शन है और उत्तर भाग में गांधीवाणी है।

रामरूप पाठक (बिहार, १८६१-१६७३) सहसराम में जन्मे इस कवि ने आरम्भ में अध्ययन अपने नगर में ही किया। बाद में, काशी में एक संन्यासी स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती के अन्तेवासी होकर काव्यसाहित्य का अध्ययन किया। सरस्वती के उपासक गुरु ने इनके कवि-हृदय को पहचाना और संस्कृत निर्माण के लिए प्रेरित किया। वृद्धावस्था में ये काशी जाकर रहने लगे। काशी की काव्यगोष्ठियों में इनके सहज कवित्व की प्रतिष्ठा तथा इनके सरल स्वभाव के प्रति साहित्यिक समाज का आकर्षण बढ़ने लगा। ये वाराणसी की प्रख्यात "कविभारती" के प्रथम अध्यक्ष बने। इनके द्वारा लिखित 'चित्रकाव्यकौतुकम्' पर साहित्य अकादमी का पुरस्कार मिला। इन्होंने 'श्रीरामचरितम्' नाम से एक महाकाव्य की रचना की थी, जिसकी एक मात्र प्रति को वाराणसी में कोई व्यक्ति इनसे मांग कर ले गया और फिर नहीं लौटाया। वृद्ध कवि को यह याद नहीं रहा कि उन्होंने किसे अपनी अत्यन्त प्रिय रचना दे दी। इसका कष्ट उन्हें आजीवन बना रहा। इस महाकाव्य के प्रथम तथा अंशतः दूसरा सर्ग चित्रकाव्यकौतुकम् के साथ ही प्रकाशित हुए। प्रथम पद्य है-

रम्ये रसाद्रिनवभूमितवैक्रमाब्दे मासाश्विने सितदले सुविहाय निद्राम्।
वाणी यदा मम मनःसदने ननर्त श्रीरामचन्द्रचरितं सहसा प्रवृत्तम्।।

(विक्रम संवत् १६७६ के आश्विन मास के शुक्ल पक्ष में जब वाग्देवता सरस्वती ने निद्रा छोड़कर मेरे मानस के सदन में नृत्य किया तब श्रीरामचन्द्रचरित का निर्माण सहसा आरम्भ हो गया।)

इनके कुछ अन्य लघु-काव्य, समस्यापूर्तियां इसी ग्रन्थ में प्रकाशित हैं, जिनमें भक्तिभाव से आर्द्र कवि के मन को पद-पद पर लक्षित किया जा सकता है।

जगन्नाथ मिश्र (बिहार) मधुवनी के बलिया ग्राम में उत्पन्न कवि मिश्र ने रामभक्त वनका या शबरी के चरित पर आधारित नौ सर्गों के 'भारतीशबरीमहाकाव्यम्' की रचना की। कवि की दृष्टि में शबरी की कथा काल्पनिक जैसी है। कवि त्रिवेणी में विलुप्त सरस्वती की भांति शबरी को भारती के रूप में, साथ ही प्रातःकाल गृहसम्मार्जन में लगी प्रत्येक भारतीय नारी को शबरी के रूप में देखता है। भक्तिभावना से परिलसित शबरी के वृत्तान्त पर इस कवि ने महाकाव्य की रचना करके एक नये आयाम की ओर संकेत किया है। जहां उदात्त चरित वाले पात्रों को "महाकाव्य" का विषय बनाने की प्रवृत्ति चली आ रही है, वहां कवि ने बिल्कुल उससे अलग हट कर एक हीन कही जाने वाली जाति की नारी को महाकाव्य का विषय बनाकर अपनी आधुनिक तथा उदार दृष्टि का परिचय दिया है। कवि

के मन में अपने राष्ट्र भारत के प्रति आस्था है। कवि शबरी के प्रति अपना भाव इन शब्दों में प्रकट करता है-

यस्या न माता न पिता न बन्धुर्नासीत् समाजेऽपि पदेन मान्या।
तस्या महादैन्यपयोधिवीचौ रामोऽभवत् पोत इव प्रणेता।। १/७१

(जिसके माता-पिता, भाई-बन्धु न थे और न जो समाज में ही मान्य थी, उस शबरी के राम महादैन्य के समुद्र की लहरों में पोत की भांति उबारने वाले हुए।)

छन्द एवं व्याकरण की शिथिलता के बावजूद रचना में कहीं-कहीं कवि की मोहक कल्पना स्फुरित हो जाती है।

श्रीनिवास रथ (उड़ीसा १६३३) उज्जैन के विक्रमविश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के आचार्य कवि रथ आधुनिक संस्कृत साहित्य के एक समर्थ एवं प्रयोगधर्मा जागरूक गीतकार हैं। "तदेव गगनं सैव धरा" के प्रसिद्ध गायक एवं अपनी "काव्ययात्रा" में परम्परा की उपलिब्धयों को आधुनिकता से जोड़ने के प्रयास में प्रवृत्त कवि रथ ने आचार्य पं. बलदेव उपाध्याय के जीवन पर आधारित "बलदेवचरितम्" महाकाव्य की रचना की योजना बनायी है, जिसके कुछ सर्ग "दूर्वा" में प्रकाशित हो चुके हैं। "महाकाव्य की पारम्परिक विधा में 'कुछ नया रचने का प्रयास' स्वरूप इस रचना के पीछे जो कवि रथ की दृष्टि है वह कवि के अनुसार है "भारतीय स्वतन्त्रता के लिए केवल राजनीतिज्ञों ने ही संघर्ष नहीं किया है, परन्तु वे लोग जिन्होंने भारतीय चिन्तन-धारा, सांस्कृतिक मूल्य और भारतीय कला-रूपों के उत्थान के लिए बिना किसी विज्ञापन के सारा जीवन अर्पित कर दिया, वे लोग भी स्वतन्त्रता आन्दोलन के कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण योद्धा और शिल्पी हैं।" इनका चतुर्थ सर्ग का काशी-वर्णन आकनीय बन पड़ा है।

दिगम्बर महापात्र (उड़ीसा १६२८)-मानससन्देशम्, व्यस्तरागम् आदि काव्यों के रचयिता कवि महापात्र ने ११ सर्गों में 'सुरेन्द्रचरितमहाकाव्य' (१६८७) नाम से एक ऐतिहासिक महाकाव्य की रचना की है। महाकाव्य के नायक सुरेन्द्र भारतीय स्वातन्त्र्य-सङ्ग्राम के एक उत्कलीय क्रान्तिकारी योद्धा थे, जिन्होंने अपने को राष्ट्र के मुक्ति-आन्दोलन में समर्पित कर दिया था। रचना इतिवृत्तात्मक होने पर भी कवि की सहज प्रतिभा की द्योतक एवं प्रसादगुणमयी है।

श्रीजीव न्यायतीर्थ (पं. बंगाल १८६२)-१६८५ ई. में प्रकाशित एवं अट्ठारह सर्गों में निर्मित 'पाण्डवविक्रमम्' महाकाव्य के रचयिता श्रीजीवन्यायतीर्थ भाटपारा, २४ परगना के वयोवृद्ध प्रसिद्ध कवि थे। इस महाकाव्य की कथा महाभारत के दो पर्वों, वन तथा विराट की धटनाओं पर आधारित है। पाण्डवों ने अपने वनवास के अन्तिम चरण में द्वैतवन में अज्ञातवास किया था। उनके हस्तिनापुर लौटने तक की कथा इसमें वर्णित है। महाकाव्य के प्राचीन लक्षणों पर आधारित इस रचना में कवि ने पूर्ववर्ती महाकवियों की पद्धति के प्रति अपनी श्रद्धा निवेदित की है। इसमें वीर रस प्रधान रूप से प्रतिष्ठित है तथा इसके नायक

युधिष्ठिर हैं। धर्म की विजय और अधर्म की पराजय इसकी मूल कथा है। अट्ठारहवें सर्ग में कवि ने साहित्यदर्पण के दश परिच्छेद के निर्दिष्ट अलङ्कारों को क्रम से नियोजित करते हुए श्लोकों की रचना की है। महाभारत के दृष्टान्त को ध्यान में रखकर कवि ने इसमें श्रीदुर्गा तथा गो-देवता की स्तुतियां भी उपनिबद्ध की हैं। कवि के अनुसार जनकल्याण की भावना ही उसकी प्रयोजिका है। कुछ छन्द ऐसे भी यहां प्रयुक्त हैं जिन्हें सामान्य संस्कृत के कवि महाकाव्यों में प्रयोग में नहीं लाते, जैसे कलहंस, मञ्जुभाषिणी, भुजङ्गप्रयात मृगेन्द्रमुख, आर्या आदि। कवि ने प्रत्येक सर्ग के अन्त में अपने पिता श्री पञ्चानन तर्करत्न का बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण किया है। श्री पञ्चानन तर्करत्न ने विष्णुविक्रम और पार्थाश्वमेध महाकाव्यों की रचना की थी। कवि का भाषा पर असामान्य अधिकार है। प्राचीन महाकवियों की पद्धति पर काव्यलेखन में यह सफल कहा जा सकता है। यत्र-तत्र चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति भी कवि में लक्षित होती है।

विष्णुदत्त शर्मा (मेरठ, उत्तर प्रदेश १९३७)-मेरठ में जन्मे कवि शर्मा कई विषयों में आचार्य हैं तथा मेरठ के एक स्नातकोत्तर विद्यालय में अध्यापन कर रहे हैं। 'श्रीगुरुनानकदेवचरित' कवि शर्मा का १७ सर्गों का महाकाव्य है, जिसमें सिक्ख धर्म के प्रवर्तक गुरुनानक देव जी के जीवन की घटनाओं के साथ उनके उपदेश एवं जीवन-दर्शन को उपनिबद्ध किया गया है। यह विश्वनाथ प्रकाशन, मेरठ से १९८२ में प्रकाशित हुआ है।

आरम्भ में भारत राष्ट्र की महत्ता इन शब्दों में कवि ने व्यक्त की है-

यस्य स्थितिर्भूमितलेऽखिलेऽपि प्रधानभूता च पुरातनी च।
अङ्गीकृता सर्वजनैः सदैव जयत्यसौ भारतवर्षदेशः। १/१०

(उस भारत देश की जय हो जिसकी स्थिति अखिल भूतल में श्रेष्ठ तथा पुरातन है, ऐसा सभी लोगों ने स्वीकार किया है।)

गुरु नानक के श्रीमुख से कहलाये गये थे शब्द प्रवर्तमान भारतीय जीवन में व्याप्त क्षुद्र भेदभावमूलक संकीर्ण विचारों के निराकरण के लिए प्रेरित करते हैं और साथ ही कवि की सरल एवं संयत भाषा के प्रयोग में निपुणता की सूचना देते हैं-

सर्वोऽपि युष्मासु समानसारः कश्चित् परस्मान्न लघुर्गुरुर्वा।
देहस्य सर्वेऽवयवाः समानाः समा समेषामुपयोगिताऽस्ति।।
न जन्मना कोऽपि पुरस्क्रियार्हस्तिरस्क्रियार्होऽस्त्यथवा मनुष्यः।
कर्मैव पूज्यं न च चर्म पुंसां कर्मैव हेतुर्न हि जन्ममुक्तेः।।
तस्माद् विहायाखिलजातिभेदान् सर्वे समत्वेऽपि निबद्धचित्ताः।
अन्योन्यसौभ्रात्ररसेन सिक्ता हरिं भजन्तो विलसन्तु लोके।। १६/४,५,१२

(तुम लोगों में सभी समान है, न कोई बड़ा है न कोई छोटा। शरीर के सभी अंग

समान हैं, सबकी बराबर उपयोगिता है। कोई भी जन्म से पुरस्कार के योग्य नहीं और न तिरस्कार का पात्र है। कर्म ही मनुष्य का पूज्य है, चर्म नहीं, क्योंकि जन्ममुक्ति का हेतु कर्म ही है। अतः सभी जातिगत भेदों को भुलाकर सभी समत्व के प्रति निबद्धचित्त हों, परस्पर भाईचारे के रस से भीन कर संसार में भगवान का भजन करें।)

पशुपति झा (१६२७ ई-) नेपाल में जनकपुर के निकटवर्ती सादा ग्राम में उत्पन्न कवि ने १५ सर्गों में 'नेपालसाम्राज्योदय' महाकाव्य की रचना की है। इनकी एक और रचना 'वाताह्वानम्' भी प्रकाशित है। उक्त महाकाव्य में नेपाल राज्य का इतिहास आरम्भ से वीरेन्द्रविक्रम शाहदेव के काल तक उपनिबद्ध हुआ है। अपने देश के प्रति कवि के मन की सहज आस्था तो है ही, भारत के सम्बन्ध में भी वह आस्थावान् है। जैसा कि वह कहता है-

यत्प्राङ्गणे भव्यमनेकतीर्थगङ्गार्कजानिर्मलतोयपूतम्।
स्वर्गलोद्घाटनमस्ति नूनं तद्भारतं वेत्ति न को जगत्याम्।। २/१

राजकिशोर मणि त्रिपाठी - (२४ सित. १६२७ उ.प्र.) गोरखपुर के जमुई पण्डित ग्राम के निवासी कविवर त्रिपाठी ने पाणिनीय व्याकरण और दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया और गोरखपुर विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्राध्यापक रहे। इनका १६ सर्गों का राघवेन्द्रचरितम् (महाकाव्य) १६६२ में संस्कृत सेवा संस्थान, खुर्रमपुर, पोस्ट गीताप्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त इनकी कृतियों में अभिनवा स्तुतिः (१६८०), मूषकवैदुष्यम् (१६८४) तथा मुक्तकम् (१६६६) प्रकाशित हैं।

रामायण की मूल कथावस्तु पर आधारित राघवेन्द्रचरित एक प्रौढ़ रचना है। त्रिपाठीजी ने इसमें एक ओर वाल्मीकि, व्यास और कालिदास की परम्परा को सुरक्षित रखने का प्रयास किया है तो दूसरी ओर उनकी अभिनव कल्पना को उसमें प्रस्फुटित होने का अवसर मिला है। सरयू और सारवार्य प्रदेश के प्रति कवि का गहरा लगाव प्रथम सर्ग में व्यक्त हुआ है। रघुनाथ की कीर्ति का गान रूप इस रचना के निर्माण में वे इस कारण प्रवृत्त हुए कि कहीं उनका भी जन्म निरर्थक न हो जाय, न कि कवित्व के दर्प के कारण-

निरर्थकं जन्म ममापि न स्यादतः प्रवृत्तो न कवित्वदर्पात्। १/१६

सम्पूर्ण रचना में जहां कवि ने इतिवृत्त के निर्वाह को प्रश्रय दिया है वहीं वह उसे एक उत्तम काव्य के रूप में प्रतिष्ठित करने का भी प्रयास किया है। यहां सरयू, घाघरा, नारायणी नदियों का मानवीकरण भी हुआ है। कवि वहां कुछ अधिक भावुक हो उठा लगता है। जहां चतुर्थ सर्ग में उसने बालक राम के सौंदर्य पर मुग्ध एक पुरन्ध्री के मुख से राम की माता (कौसल्या) के प्रति यह कहलवाया है-

अर्जितमोदं प्रशमिततपनं जृम्भितहासं धवलितककुभम्।
निर्जितकामं जलधरवपुषं कुञ्चितकेशं कुसुमितवदनम्।। २५

अद्भुतबालो विलसतु सुचिरं सद्मनि तेऽयं विहरतु निभृतम्।
जीवितकालं वितरतु गिरिशो रक्षतु चैनं प्रतिपलमनलः।।२६।।

तब पुत्र के स्नेह से आतुर कौशल्या अपने पुत्र की बड़ाई सुनकर 'नजर' के लगने के भाव को न जानती हुई डर जाती हैं और राम के चन्द्रमुख पर काजल लगा देती हैं। राम के मिथिलागमन के प्रकरण में भी कवि की भावुकता आकलनीय है।

एकादश सर्ग में सीता के विरह से व्याकुल राम द्वारा पवन को दूत बनाकर सन्देश देने की कल्पना वाल्मीकीय रामायण में इन शब्दों से संकेतित है, जब राम कहते हैं -

वाहि वात ! यतः कान्ता तां स्पृष्ट्वा मामपि स्पृश। ६/५/६

कालिदास के 'मेघदूत' से प्रभावित कविवर त्रिपाठी ने 'पवन-दूत' के रूप में एक सन्देश-काव्य को ही 'मन्दाक्रान्ता' छन्द में निबद्ध कर दिया है । एक पद्य उदाहरणार्थ -

श्वासोच्छ्वासैर्विरहजनितैर्म्लापयन्तीं मुखेन्दुं
शोकाश्रूणां सततपतनादार्द्रगण्डं वहन्तीम्।
स्नेहाभावाद् विततचिकुरां पाण्डुरां सौम्यमूर्तिं
जानीयात्तां परिणतधियं जानकीं वल्लभां मे।। ११/१६६

(विरह से पैदा होने वाले श्वासोच्छास से मुखचन्द्र को मलिन करती हुई, शोकजनित आंसुओं के निरन्तर गिरते रहने से गीले कपोलों को धारण करती हुई तैलादि के अभाव में बिखरे केशवाली जो पीली सौम्यमूर्ति है, मेरे ध्यान में रची हुई उसे मेरी प्रियतमा जानकी समझना।)

इस रचना के कारण 'पण्डितराज' कविवर त्रिपाठी जी आधुनिक संस्कृत के रचनाकारों में सुप्रतिष्ठित हैं।

इन्द्रदेव द्विवेदी "इन्द्र" का जन्म बिहार के भोजपुर के एक गांव लहठान में १९४० में हुआ। आपने काशी में अध्ययन के पश्चात् अध्यापन भी किया। केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, लखनऊ में प्रवाचक पद पर सेवारत थे। इनकी रचना 'सूक्तिमन्दाकिनी' उ. प्र. संस्कृत अकादमी, लखनऊ से पुरस्कृत हुई है। इनके द्वारा रचित २१ सर्गों का महाकाव्य 'सुदामचरित' १९९२ में भारती साहित्य परिषद् गोमतीनगर लखनऊ से प्रकाशित हुआ है। प्राचीन सुदामचरित पर आधारित इस रचना में कवि ने सुदामा द्वारा श्रीकृष्ण के हृदय का परिवर्तन महात्मा गान्धी के सिद्धान्त के अनुसार निबद्ध करके कथावस्तु को एक नया मोड़ दिया है। हिंसा से हिंसा को बढ़ावा ही मिलता है अतः वह समस्या का समाधान नहीं है। तृतीय सर्ग में कवि ने वर्षावर्णन के प्रसङ्ग में विभिन्न छन्दों की ही वर्षा कर दी है।

बलभद्र शास्त्री का १४ सर्गों का 'दूताञ्जनेय' महाकाव्य वाग्देवता प्रकाशन, १४ अशोक नगर, बरेली (उ. प्र.) से १९९३ में प्रकाश में आया। इसमें श्रीहनुमान् द्वारा श्रीराम

के दौत्यकर्म का मुख्यतः वर्णन है। यह विचारणीय है कि उक्त रचना एक दूतकाव्य कोटि की है अथवा महाकाव्य की कोटि की!

शिवकुमार शास्त्री का जन्म बिहार के वर्तमान कैमूर जिले के मुख्य नगर भभुआ में उन्नीसवीं शती के नवें दशक में हुआ था तथा देहावसान १९५० में। इन्होंने भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम से प्रभावित होकर १६ सर्गों में 'श्रीवीरकुमारसिंहचरित' महाकाव्य लिखा, जो गायत्री-प्रकाशन, बुद्धकालोनी, पटना (बिहार) से १९९५ में प्रकाशित हुआ है। भोजपुर क्षेत्र में बाबू "कुंअर सिंह" नाम से सुख्यात इस स्वातन्त्र्य-वीर ने १९५७ में अंग्रेजों के शासन के विरुद्ध तलवार उठायी थी। सम्भवतः इस स्वातन्त्र्य सेनानी पर रचित संस्कृत की यह प्रथम रचना है। उल्लेख्य है कि चन्द्रशेखर मिश्र ने भोजपुरी भाषा में "कुंअर सिंह" नाम से एक महाकाव्य (१९६६) की रचना की है।

त्रिपुरारिशरण पाण्डेय (जन्म १९२८) झकरासी नायन राज्य, राय बरेली (उत्तर प्रदेश) में उत्पन्न कवि पाण्डेय द्वारा चौदह सर्गों में रचित 'रामामरचरितामृत महाकाव्य' १९९५ में समीक्षा प्रकाशन, गांधी नगर, बस्ती (उ. प्र.) द्वारा प्रकाशित किया गया है। विष्णु के अंशावतार भगवान परशुराम के चरित पर आधारित इस महाकाव्य के रचनाकार की दृष्टि आज के युग में उत्पन्न सांस्कृतिक संकट के कारण क्षरित हो रहे मानव मूल्यों पर पड़ी है।

द्वितीय अध्याय

लघुकाव्य

स्वरूप

शास्त्रीय दृष्टि से संस्कृत में लघुकाव्य नामक कोई पृथक् काव्यविधा नहीं है। किसी आचार्य ने अपने लक्षण-ग्रन्थ में एक पृथक् विधा के रूप में इसको लक्षित नहीं किया है। उन्नीसवीं एवं बींसवीं शताब्दी के विगत दो सौ वर्षों के काव्यों का पर्यालोचन किया जाय तो हमें महाकाव्य, नाट्यकाव्य, गद्यकाव्य एवं गीतिकाव्य के अतिरिक्त सैकड़ों की संख्या में ऐसे काव्यों का बाहुल्य दिखाई पड़ता है जिन्हें हम केवल खण्डकाव्य या स्फुटकाव्य नाम दें तो लक्षण अव्याप्त ही रहेगा। वस्तुतः इस कालावधि में इतने प्रकार के वैविध्यपूर्ण काव्यों का सर्जन हुआ कि उक्त चार-पाँच प्रसिद्ध विधाओं के अतिरिक्त जितने भी प्रकार के संस्कृत-काव्य रचे गए, सबको एक श्रेणी में बद्ध करने के लिए सामान्य रूप से 'लघुकाव्य' संज्ञा दी जा सकती है। यह बात सुनिश्चित है कि इस प्रकार के काव्य स्वरूप की दृष्टि से प्रायः लघु कलेवर वाले ही हैं। हाँ, कतिपय काव्य कलेवर की दृष्टि से कुछ विशाल होते हुए भी स्वरूप की दृष्टि से 'लघुकाव्य' श्रेणी में ही अन्तर्भूत होते हैं। अतः यह विधा अर्वाचीन संस्कृत-साहित्य के एक बहुत बड़े भाग को अपने आप में समाविष्ट करती है और इसके अन्तर्गत आने वाले काव्यों की संख्या बहुत अधिक है।

संरचना एवं शैली की दृष्टि से पर्यालोचन किया जाय तो हम देखेंगे कि ये लघुकाव्य प्रायः प्राञ्जल भाषा एवं सहज शैली में निबद्ध हुए हैं। भाषा कठिनता से सरलता की ओर उन्मुख है। अलङ्कारादि के प्रयोगों में नवीनता आई है। अधिकांश लघुकाव्यों की रचना पारम्परिक वार्णिक एवं मात्रिक छन्दों में हुई है। विगत दो दशकों से एक धारा छन्दोमुक्त कविता की भी प्रचलित हुई है, जो संस्कृत-काव्यजगत् में एक अभिनव प्रयोग है। लगभग दो सौ वर्षों के अन्तराल में फैले इन काव्यों में विविधता के दर्शन प्रभूततया होते हैं। अतः आन्तरिक एवं बाह्य स्वरूप की दृष्टि से सभी लघुकाव्य एक-से नहीं, अपितु वैविध्यपूर्ण हैं।

देश-काल

संस्कृत के इन समस्त लघुकाव्यों की रचनाभूमि भारतवर्ष है। भारत-भूखण्ड तथा विश्व की तत्कालीन ऐतिहासिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों ने इस युग के संस्कृत-साहित्य को पर्याप्त मात्रा में प्रभावित किया। विशेष रूप से उन्नीसवीं शताब्दी

के मध्यकाल से लेकर बीसवीं शताब्दी तक का मध्यकाल भारत में भयङ्कर राजनैतिक उथल-पुथल का काल रहा। भारत में अँग्रेजी सत्ता का आधिपत्य, १८५७ का विप्लव, महान् धार्मिक एवं राजनीतिक जननायकों के जन्म, स्वतन्त्रता-सङ्ग्राम का लम्बा संघर्ष, प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्ध, १९४७ में भारत को स्वतन्त्रता-प्राप्ति- इन शताधिक वर्षों में घटते घटना-क्रमों ने संस्कृत-कविता को भी प्रभूत मात्रा में प्रभावित किया। एक ओर स्वतन्त्रता-आन्दोलन के सूत्रधारों एवं स्वतन्त्रता संग्राम के सेनानायकों के चरितों एवं कठिन कर्म-व्यापारों पर संस्कृत-कवियों की लेखनी चली तो दूसरी ओर राष्ट्रभक्ति एवं देशप्रेम की प्रबल धारा कविता में प्रवाहित हुई। न केवल वर्तमान, अपितु अतीत में परतन्त्रता के उन्मूलन हेतु राष्ट्र की बलिवेदी पर अपने प्राण निछावर करने वाले वीरों के कर्तृत्व पर भी सैकड़ों काव्य इस काल में लिखे गए। संस्कृत का कवि अधिनायकवाद, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, और विस्तारवाद के विरुद्ध लेखनी से लड़ाई लड़ता रहा। अन्ततः भारत को स्वतन्त्रता-सङ्ग्राम में विजय प्राप्त हुई और स्वराज्य की स्थापना के बाद देश की परिस्थितियों में एक दूसरे प्रकार का मोड़ आया। १९६२ में भारत पर चीन का आक्रमण, १९६५ का भारत-पाकिस्तान युद्ध तथा १९७१ का बँगलादेश के जन्म का युद्ध भारत के राष्ट्रीय जीवन पर छाये रहे, जिसके कारण इन विषयों को लेकर संस्कृत-काव्यों की झड़ी लग गई। भारत में फैले आतङ्कवाद, भ्रष्टाचार, नारी पर होने वाले अत्याचार, सामाजिक कुरीतियों, वैज्ञानिक विकास, वैचारिक क्रान्ति, बदलते राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश ने संस्कृत के अन्दर प्रविष्ट होकर उसे विषयवस्तु दी। परिणामस्वरूप संस्कृत-लघुकाव्यों की रचना भी परिवर्तित परिवेश में आधुनिक युगबोध के अनुरूप हुई।

लघुकाव्य : प्रवृत्तियाँ और विधायें

आधुनिक संस्कृत-लघुकाव्य उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी की परिस्थितियों की देन हैं। भारत के सामाजिक-राजनैतिक क्षितिज पर घटती विविध घटनाओं के घात-प्रतिघातों ने संस्कृत-लघुकाव्य की प्रवृत्तियों और विधाओं को निर्धारित किया। घटना-वैविध्य के कारण लघुकाव्यों में विषय-वैविध्य आया। समाज के बदलते रूपों और मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में संस्कृत-कवि का स्वर मुखरित हुआ और तदनुसार अनेक लघुकाव्य लिखे गए। ये लघुकाव्य प्रबन्धात्मक भी थे और मुक्तक भी। स्वल्प कथासूत्र को ग्रहण कर चलने वाले प्रबन्धात्मक काव्यों तथा स्फुट विषयों को लेकर लिखे जाने वाले मुक्तक काव्यों की समानान्तर धारायें इस काल में चलती रहीं। इन लघुकाव्यों के विषयों का जाल अत्यन्त विशाल है। युगानुरूप पाये जाने वाले विविध विषयों के आधार पर ही लघुकाव्य की प्रवृत्तियों और विधाओं का प्रवर्तन हुआ। विषय-वैविध्य की दृष्टि से इस काल के संस्कृत लघुकाव्यों का वर्गीकरण किया जाय तो हम देखेंगे कि आधुनिक युग में जिन विविध विषयों को गृहीत कर इन काव्यों की रचना हुई है, उनके आधार पर इन्हें इस प्रकार वर्गीकृत कर विवेचित किया जा सकता है-

पुराकथाश्रित काव्य

इस युग के अनेक संस्कृत-कवियों ने पूर्ववर्ती कवियों की सरणि का अनुसरण करते हुए अनेक पुरातन कथाओं एवं पौराणिक उपाख्यानों को विषय बनाकर लघुकाव्यों की रचना की है। मूल उपजीव्य ग्रन्थ रामायण, महाभारत, विविध पुराणों एवं कथाग्रन्थों से विषय लेकर अथवा एक भावांश अथवा वृत्तांश लेकर तथा अपनी मौलिक कल्पना से यथेष्ट परिवर्तन कर इन कवियों ने खण्डकाव्यों की रचना की है। कहीं-कहीं पुरावृत्तों को युगानुरूप नये साँचे में ढालकर प्रस्तुत किया गया है और कहीं पुरातन वृत्त को अक्षुण्ण रखकर नये रस-भाव की सृष्टि की गई है। इस पारम्परिक काव्य के कतिपय उदाहरण हैं- कवि हेमचन्द्रराय-कृत 'परशुरामचरितम्', स्वयंप्रकाश शर्मा शास्त्री -कृत 'इन्द्रयक्षीयं काव्यम्', एन्. कुमारन् आशान-कृत 'सीताविचारलहरी', श्री. भि. वेलणकर-कृत 'विष्णुवर्धापनम्' आदि।

देवस्तुतिपरक काव्य

लघुकाव्यों में ऐसे भक्तिपरक काव्यों की संख्या बहुत अधिक है, जिसमें किसी एक देवताको आराध्य मानकर उसकी भावपूर्ण स्तुति की गई है। संस्कृत में स्तोत्र-लेखन की परम्परा पुरानी है। अर्वाचीन कवि ने भी अनेक देवताओं, किसी स्थान विशेष पर प्रतिष्ठित मन्दिरों में विद्यमान मूर्तिरूप देवों, पावन तीर्थों, नदियों, गुरुओं, ऋषियों का स्तवन करते हुए उनके प्रति अपने हृदय के श्रद्धामय उद्गार व्यक्त किये हैं। कुछ काव्य केवल एक देव की स्तुति में अर्पित हैं तो दूसरे अनेकानेक देवी-देवताओं की स्तुति से भरे पड़े हैं। एक ओर लीलापुरुष भगवान् कृष्ण की रसमयी लीलाओं का वर्णन करते हुए कवियों ने मधुरा भक्ति का प्रसार किया, जैसे श्री ओट्टूर उण्णि नम्बूदरीपाद-कृत 'राधाकृष्णरसायनम्' तथा श्री सत्यव्रत शर्मा 'सुजन' शास्त्री-कृत 'श्रीयुगलशतदलम्', तो दूसरी ओर अन्य अनेक देवी-देवताओं की स्तुतियों में कवियों ने अपने उद्गार व्यक्त किये, जैसे अभिराज राजेन्द्र मिश्र-कृत 'पराम्बाशतकम्' तथा 'श्रीयुगलशतदलम्', नलिनी शुक्ला-कृत 'भावाञ्जलिः', श्रीभाष्यम् विजय सारथि-कृत 'मन्दाकिनी' आदि।

राष्ट्रभक्तिपरक काव्य

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के पैर जम गए थे और पराधीनता की बेड़ियों में जकड़े देश में उनके विरुद्ध विद्रोह की आवाज़ उठ रही थी। इसी विद्रोह भावना की एक प्रबल अभिव्यक्ति की अट्ठारह सौ सत्तावन ईसवी का प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम, जिसकी सेनानायिका थीं, वीराङ्गना झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई। भारत को अंग्रेजी-दासता से मुक्त कराने के लिए एक ओर वीर एवं वीराङ्गनाओं ने प्राणपण से लड़ना आरम्भ किया तो युग की पुकार के अनुरूप संस्कृत का कवि भी राष्ट्रीय चेतना जगाने वाला साहित्य

लिखने लगा गया। इसी १८५७ के विद्रोह के परिप्रेक्ष्य में श्री वासुदेवशास्त्री बागेवाडीकर ने 'क्रान्तियुद्धम्' तथा पी. गोपालकृष्ण भट्ट ने 'महाराज्ञी-झाँसी लक्ष्मीबाई' काव्य लिखे।

पराधीनता-विरोधी संघर्ष की आग आगे भी निरन्तर सुलगती रही। बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों में स्वतन्त्रता-संङ्ग्राम ने एक नया मोड़ लिया जब भारत के राष्ट्रीय क्षितिज पर अन्य अनेक महापुरुषों के अतिरिक्त महात्मा गान्धी का उदय हुआ, जिन्होंने अँग्रेजी सत्ता के विरुद्ध सत्याग्रह-आन्दोलन छेड़ा। सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व में अँग्रेजों के विरुद्ध एक उग्र एवं गर्म युद्ध भी चल रहा था, हज़ारों बलिदानी वीर मातृभूमि की बलिवेदी पर अपने प्राण अर्पित कर रहे थे। इस परिस्थिति में राष्ट्रीय भावना का शङ्खनाद करते हुए संस्कृत-कवियों ने सैकड़ों महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक और गद्यकाव्य लिखे। पण्डिता क्षमा राव ने 'सत्याग्रहगीता', 'उत्तरसत्याग्रहगीता' तथा 'स्वराज्य-विजयः' जैसे लघुकाव्य लिखकर महात्मा गान्धी के सत्याग्रह-आन्दोलन को विश्व के समक्ष रखा तथा स्वराज्य-प्राप्ति की कठिन परिस्थितियों पर प्रकाश डाला। के.एस. नागराजन्-कृत 'भारतवैभवम्', शिवदत्तमिश्र-कृत 'भारतवर्षः' तथा महादेवशास्त्री कवितार्किकचक्रवर्ती-कृत 'भारतशतकम्' जैसे राष्ट्रभक्तिपरक काव्य लिखे गए। स्वराज्य-प्राप्ति के बाद की घटनाओं में १९६२ का भारत-चीन युद्ध, १९६५ का भारत-पाक युद्ध तथा १९७१ का बँगलादेश के जन्म का युद्ध कवियों की वाणी के विषय बने; जैसे सुरेशचन्द्र शास्त्री-कृत 'वीरोत्साह-वर्द्धनम्', रमेशचन्द्र शुक्ल-कृत 'बँगलादेशः', शशिधर शर्मा-कृत 'वीरतरङ्गिणी' आदि। यह अवधेय है कि संस्कृत लघुकाव्यकारों की सबसे अधिक सामग्री स्वतन्त्रता-आन्दोलन के विविध पक्षों से मिली। और सबसे अधिक लघुकाव्य इसी राष्ट्रीय भावना की प्रवृत्ति को लेकर रचे गए। भारत की महिमा गाकर राष्ट्रभक्ति जगाने वाले कतिपय प्रसिद्ध लघुकाव्य हैं - पं. यज्ञेश्वर शास्त्री-कृत 'भारतराष्ट्ररत्नम्', श्रीधर भास्कर वर्णेकर-कृत 'श्रमगीता', लक्ष्मीनारायण शुक्ल-कृत 'राष्ट्रतन्त्रम्', श्री महादेवशास्त्री-कृत 'भारतशतकम्,' गरिकपाटि लक्ष्मीकान्तैया-कृत 'भव्यभारतम्', पं. बालकृष्ण भट्ट शास्त्री-कृत 'स्वतन्त्रभारतम्', डॉ. रमाकान्त शुक्ल-कृत 'भाति मे भारतम्' आदि।

चरितनायक-परक काव्य

भारत में दीर्घकाल तक चलने वाली पराधीनता का काल उत्कृष्ट चरित्र वाले चरितनायकों की उत्पत्ति की दृष्टि से बड़ा उर्वरता का काल रहा। भारत-वसुन्धरा में बीसवीं शती के पूर्वार्ध तक के डेढ़ सौ वर्ष के काल में स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर अपने प्राण न्यौछावर करने वाले अनेक वीरों, स्वतन्त्रता-सेनानियों, महापुरुषों, धार्मिक नेताओं, राजनेताओं के जीवन-चरित को विषय बनाकर अनेक लघुकाव्य लिखे गए। स्वतन्त्रता संग्राम के जननायकों के चरित के माध्यम से अनेक काव्यों में राष्ट्रभक्ति, राष्ट्रप्रेम एवं राष्ट्रीय भावना ही प्रधान रूप से मुखरित हुई है और उनका मूल स्वर स्वतन्त्रता-आन्दोलन के इतिहास के किसी न किसी पक्ष को उद्घाटित करना है। अतः राष्ट्रभक्तिपरक काव्य एवं

चरितनायकपरक काव्य, दोनों समानान्तर धारा में बहकर एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर होने वाले काव्य हैं। चरित-काव्य अन्य अनेक काव्य-विधाओं में भी पर्याप्त मात्रा में लिखे गए। लघुकाव्य-विधा के अन्तर्गत पाये जाने वाले प्रमुख प्रतिनिधि-काव्य ये हैं -पं. चुन्नीलाल सूदन-कृत 'भरतसिंहचरितामृतम्', पं. ब्रह्मानन्द शुक्ल-कृत 'श्रीगान्धिचरितम्', पं. जयराम शास्त्री-कृत 'श्रीगान्धिबान्धवम्', श्रीनिवासताडपत्रीकर-कृत 'गान्धीगीता', राजनारायण प्रसाद मिश्र-कृत 'सुभाषचन्द्रोदयम्', रामशरणशास्त्री-कृत 'जवाहरजीवनम्', श्रीधर भास्कर वर्णेकर-कृत 'जवाहरतरङ्गिणी', आचार्य रमेशचन्द्र शुक्ल-कृत श्रीनेहरूवृत्तम्' तथा 'लालबहादुरशास्त्रिचरितम्', विष्णुकान्त झा-कृत 'राष्ट्रपतिराजेन्द्रवंशप्रशस्तिः', रमेशचन्द्र शुक्ल-कृत 'इन्दिरायशस्तिलकम्', डा. रामाशीष पाण्डेय-कृत 'इन्दिराशतकम्' तथा श्रीकृष्ण सेमवाल-कृत 'इन्दिराकीर्तिशतकम्' आदि।

सामाजिक-समस्यामूलक काव्य

आधुनिक भारत की विभिन्न सामाजिक समस्याओं को विषय बनाकर भी संस्कृत-कवियों ने अनेक प्रकार के काव्य लिखे। अस्पृश्यता-निवारण, नारीदुर्दशा, दहेजप्रथा, कुरीति-ग्रस्तता, भ्रष्टाचार, आतङ्कवाद जैसी भीषण सामाजिक समस्याओं की ओर आधुनिक कवि का ध्यान गया और उसने लघुकाव्यों में भी समाज-सुधार की विविध बातों को रखा। मुक्तक काव्यों में निबद्ध स्फुट रचनाओं में कवियों ने राष्ट्रीय जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार, आतङ्कवाद तथा दहेज-प्रथा जैसी विकराल समस्याओं की ओर समाज का ध्यान केन्द्रित किया तथा विभिन्न विवादों के कारण भारत के राष्ट्रीय सङ्घटन के सङ्कट पर चिन्ता व्यक्त की। अनेक मुक्तक पद्यों के अतिरिक्त इस धारा के काव्य हैं जैसे-आतङ्कवाद के परिप्रेक्ष्य में लिखा गया डा उमाकान्तशुक्ल-कृत भावमय काव्य 'कूहा', श्रीमती सरोजिनी देवी-कृत 'स्त्रीशिक्षालयम्', तथा आंशिक रूप से सामाजिक समस्याओं के चित्रण से युक्त काव्य हैं - व्योमशेखर-कृत 'अग्निजा', प्रो. रामकृष्ण भट्ट-कृत 'काव्योद्यानम्' आदि।

शुद्ध रसात्मक काव्य

इस युग में अनेक ऐसे लघुकाव्यों की रचना हुई है जो विशुद्ध रूप से रसपूर्ण हैं। उनमें प्रसिद्ध रसों में से किसी एक का पोषण हुआ है तथा जो भावप्रवणता के कारण सहृदयों द्वारा आस्वाद्य हैं। किसी गहन भाव-प्रेम, विरह, उत्साह आदि के व्यञ्जित एवं पोषित होने पर ही काव्य रसनीयता को प्राप्त करते हैं और कोमल एवं कठोर दोनों प्रकार के प्रसङ्गों में ये प्राप्त होते हैं। श्री मधुकर गोविन्द माइणकर-कृत 'स्मृतितरङ्गम्' इसी तरह का काव्य है। रामायण की कथा पर आश्रित होते हुए भी पुलिवर्ति शरभाचार्य-कृत 'यशोधरा', कृष्णप्रसाद शर्मा घिमिरे-कृत 'श्रीरामविलापः' तथा डा. रमाशङ्कर तिवारी-कृत 'वैदेह्या अतीतावलोकनम्' शुद्ध रसात्मक होने के कारण इस तरह अलग श्रेणीबद्ध किये गए हैं।

प्रकृतिवर्णनपरक काव्य

संस्कृत-लघुकाव्यों की एक प्रवृत्ति प्रकृति-वर्णन की ओर भी उन्मुख है। प्राचीन कवियों की भाँति अर्वाचीन कवि भी सृष्टि में फैले प्रकृति के नाना रूपों को देखता है, उस पर मुग्ध होता है और उसे कल्पना के विविध रंगों में डूबो कर प्रस्तुत करता है। कतिपय कवियों ने प्रकृति-वर्णन के पारम्परिक रूप को ही लिया है। जैसे रामनारायण त्रिपाठी-कृत 'ऋतुविलासः' तथा के.एस. कृष्णमूर्ति शास्त्री-कृत 'प्रकृति-विलासः', श्रीसुन्दरराज-कृत 'सुरश्मिकाश्मीरम्' आदि। अर्वाचीन युग के संस्कृत-कवि ने इस प्रकार के प्रकृति-चित्रण के अतिरिक्त इस रहस्यमयी प्रकृति के वैज्ञानिक रूप के अवलोकन में भी रुचि ली है; जैसे लछमनसिंह अग्रवाल-कृत 'कुटुम्बिनी', तथा डॉ. डि. अर्कसोमयाजी-कृत 'ब्रह्माञ्जलिः' इसी कोटि के काव्य हैं।

दूतकाव्य/सन्देश काव्य

महाकवि कालिदास के अमर काव्य 'मेघदूत' के अनुकरण पर जो दूतकाव्य अथवा सन्देशकाव्य लिखने की प्रवृत्ति प्राचीन काल में चली थी वह अर्वाचीन काल में भी अविराम गति से चलती रही। इन दिनों में भी संस्कृत-कवियों ने प्रकृति के विभिन्न उपादानों, चेतन-अचेतन पदार्थों को विरही या विरहिणी के पास प्रणय-सन्देश लेकर दूतरूप में भेजा। हाँ, युग-परिवर्तन के अनुरूप भावों में परिवर्तन आए हैं। पूर्वमेघ-उत्तरमेघ की भाँति दूतकाव्यों में प्रायः पूर्वभाग स्थान-वर्णन एवं प्रकृति-वर्णन से युक्त हैं और उत्तर भाग विरहसन्देश लिये हुए हैं। विरह के अतिरिक्त सामान्य सन्देश वाला काव्य है - सुधाकर शुक्ल-कृत 'देवदूतम्'। एक व्यङ्ग्यपरक दूतकाव्य है - पं. रामावतार शर्मा-कृत 'मुद्गरदूतम्'। अन्य प्रमुख दूतकाव्य हैं वासुदेव-कृत 'भृङ्गसन्देशः' विष्णुदास-कृत 'मनोदूतम्, भोलानाथ-कृत 'पान्थदूतकाव्यम्' महालिङ्ग शास्त्री-कृत 'भ्रमरसन्देशः', बटुकनाथ शर्मा-कृत 'बल्लवदूतम्', पी.के. कृष्णमूर्ति शास्त्री-कृत 'शुनकदूतम्-', चिन्तामणि रामचन्द्र सहस्रबुद्धे-कृत 'काकदूतम्' रामाशीष पाण्डेय-कृत 'मयूखदूतम्' परमानन्दशस्त्री-कृत 'गन्धदूतम्', कृपाराम त्रिपाठी-कृत 'तरङ्गदूतम्', तथा अज्ञातकर्तृक 'हंससन्देश' 'चकोरसन्देहः' 'मरुत्सन्देशः' आदि। दयानिधिमिश्र-कृत 'सूर्यदूतम्', मधुसूदन तर्कवाचस्पति-कृत 'हनुमत्सन्देशम्', नारायण रथ-कृत 'कपोतदूतम्'। प्रबोधकुमार मिश्र-कृत 'स्वप्नदूतम्' तथा मलयदूतम्' भी इसी विधा के लघुकाव्य हैं। रागात्मक तत्त्व की प्रधानता के कारण दूतकाव्यों को यद्यपि गीतिकाव्यों के अन्तर्गत ही गिना जाना चाहिए, परन्तु सभी दूतकाव्यों में उत्कृष्ट गीतितत्त्व विद्यमान न होने से उनमें गीतिकाव्य बनने की क्षमता नहीं है। अतः उन्हें सामान्यतया लघुकाव्य विधा के अन्तर्गत श्रेणीबद्ध किया गया है। उनका विवेचन गीतिकाव्य के प्रसङ्ग में भी किया जा सकता है।

अन्योक्ति-परक काव्य

अन्यापदेश रीति से बात कहने की रीति पुरानी है, जिसे अर्वाचीन युग में पण्डितराज जगन्नाथ ने नव जीवन प्रदान किया। लघुकाव्यकारों ने आधुनिक युग के जीवन की विषमताओं-जटिलताओं को कहने के लिए और हल्की-फुल्की छींटाकशी करने के लिए अन्योक्ति को माध्यम के रूप में चुना। कुछ काव्य पूर्णतः अन्योक्तिपरक लिखे गए तथा कुछ मुक्तकों में आंशिक रूप से अन्योक्तिमय पद्य सङ्कलित हुए। अन्योक्ति के माध्यम से कवियों ने व्यङ्ग्योक्ति का भी काम लिया और समाज पर कटाक्ष भी किए। प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों, पशु-पक्षियों तथा विविध चेतन प्राणियों एवं अचेतन पदार्थों को प्रस्तुत रूप में सामने रखकर कवियों ने अप्रस्तुत मनुष्य आदि की प्रशंसा की और इस तरह जीवन के अनेक अनुभवों का रेखाङ्गन तथा सत्यों का उद्घाटन किया। यह अन्योक्ति-साहित्य संस्कृत भाषा की एक अमूल्य निधि है। अन्योक्तिमय लघुकाव्यों में कतिपय अपने नाम में ही 'अन्योक्ति' शब्द को समाविष्ट कर चलते हैं, जैसे मथुरा प्रसाद दीक्षित-कृत 'अन्योक्ति-तरङ्गिणी', अभिराजराजेन्द्र मिश्र-कृत 'आर्यान्योक्तिशतकम्' आदि। कतिपय अन्य काव्य ऐसे हैं जिनके नाम में अन्योक्ति शब्द नहीं है, पर वे उत्कृष्ट अन्योक्ति-काव्य हैं जैसे राम करण शर्मा-कृत 'वीणा', 'सन्ध्या' एवं 'शिवशुकीयम्' काव्य। स्फुट रूप में बिखरे हुए अन्योक्तिपरक पद्य तो अर्वाचीन काव्यों में भी हज़ारों की संख्या में भरे पड़े हैं।

हास्य-व्यङ्ग्यपरक काव्य

संस्कृत-साहित्य में हास्य की कमी सामान्यतया पाई जाती है। आधुनिक कवियों ने इस दिशा में कुछ योगदान किया है। शुद्ध हास्य-परक काव्य संख्या में कम हैं, परन्तु वर्तमान युग में अनुदिन बढ़ती सामाजिक विषमताओं, राजनैतिक आडम्बरों, दुहरे मानदण्डों एवं घटते जीवन मूल्यों ने आधुनिक संस्कृत-कवि को भी तीखी बात कहने को विवश किया तथा अनेक कवियों ने सोत्प्रास शैली में व्यङ्ग्यमय पद्य लिखकर इस कुत्सित व्यवस्था के प्रति अपनी तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की। विशेष रूप से स्वातन्त्र्योत्तर संस्कृत-काव्यों में अनुदिन गिरते राष्ट्रीय चरित्र, भष्टाचार तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के दुरुपयोग आदि को कवियों ने व्यङ्ग्योक्तियों के माध्यम से प्रकट किया है और इस प्रकार मुक्तक काव्यों में स्फुट पद्यों में इनकी अभिव्यक्ति हुई है और व्यङ्ग्योक्ति-अन्योक्ति-वक्रोक्ति से संवलित यह काव्यविधा अर्वाचीन संस्कृत-साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। इस युग में एम.पी. सम्पत्कुमार आचार्य ने काफ़ी जैसे विषय पर 'काफीपानीयम्' आदि तथा श्रीरंगम् वेंकटेश्वर ने 'काफीशतकम्' लघु काव्य लिखे तो वासुदेव आत्माराम लाटकर ने 'अर्धखरार्भक' काव्य की रचना की। हास्य-व्यङ्ग्य को ही विषय बनाकर लिखे गए कुछ काव्य इस प्रकार हैं-शैलताताचार्य-कृत 'कपीनामुपवासः', वागीश शास्त्री-कृत 'नर्मसप्तशती,' प्रशस्यमित्र शास्त्री-कृत 'हासविलासः' वनेश्वर पाठक-कृत 'हीरोकाव्यम्', शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदी-कृत

'हाहा-हूहू शतकम्' आदि। रुद्रदेव त्रिपाठी, वीरभद्र मिश्र, केशवचन्द्रदाश, कृष्णलाल, राजेन्द्र मिश्र, देवदत्त भट्टि आदि की रचनाओं में व्यङ्ग्य का स्वर मुखर है। 'मुद्गरदूतम्' तथा 'वानरसन्देशः' व्यङ्ग्यविधा (सेटायर) के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

वैदेशिक-यात्रावृत्त-विषयक काव्य

वर्तमान शती में अनेक भारतीय संस्कृतज्ञ विद्वानों की भारत से बाहर के देशों और द्वीपों मे यात्राएं हुईं। जर्मनी, फ्रांस, थाईलैण्ड, बाली आदि देशों की शैक्षणिक-सांस्कृतिक यात्राओं के विविध प्रकार के अनुभवों को इन कवियों ने अपनी कविताओं में रेखाङ्कित किया। इन रचनाओं से संस्कृत को अन्तर्राष्ट्रीय विषय-वस्तु ग्रहण करने के कारण विस्तार मिला तथा आधुनिक, काव्य में नवीनता का प्रवर्तन हुआ। इस विधा के प्रमुख काव्य हैं- सत्यव्रत शास्त्री-कृत 'शर्मण्यदेशः सुतरां विभाति' तथा 'थाईदेशविलासम्', राजेन्द्र मिश्र-कृत 'बालीप्रत्यभिज्ञानशतकम्' डा. रमाकान्त शुक्ल-कृत 'भाति मौरीशसम्'। इन यात्राओं के प्रसङ्ग में कवियों की जो विमान द्वारा यात्राएं हुईं इन यात्रानुभवों को भी उन्होंने काव्यबद्ध किया और संस्कृत में विमान-काव्य की भी अवतारणा हुई। विमानयात्रा पर मुक्तक कविताएँ भी लिखी गईं और सम्पूर्ण लघुकाव्य या काव्यांश भी, यथा प्रभाकर नारायण कवठेकर-कृत 'भूलोकविलोकनम्', राधावल्लभ त्रिपाठी-कृत 'धरित्री-दर्शनम्' तथा राजेन्द्रमिश्र-कृत 'विमान-यात्राशतकम्' आदि।

अन्तर्राष्ट्रीय चेतना-परक काव्य

यह विशेष रूप से ध्यातव्य विषय है कि उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी का संस्कृत-कवि राष्ट्रीय विषयों की तरह अनेक अन्तर्राष्ट्रीय वृत्तों एवं विचारों से प्रभावित हुआ और उन्हें अपने काव्यों में स्थान दिया। इस विशेषता के कारण संस्कृत-साहित्य ने अपनी पुरातन परम्परावादिता को त्याग कर नया रूप धारण किया। भारत में अँग्रेजी साम्राज्य के चलते रहने पर विश्व एवं भारत के राजनैतिक मञ्च पर जो घटनाएँ घटीं वे इन लघुकाव्यों में प्रतिबिम्बित हुईं। उदाहरणार्थ ऐसे काव्य हैं-केरलवर्म वलिय कोइतम्बुरान-कृत 'विक्टोरियाचरितम्', अप्पाशास्त्री-राशिवडेकर-कृत 'उद्वाहमहोत्सवम्' तथा राधा-कृष्ण गोस्वामी-कृत 'वैवाहिकवर्णनम्' (प्रिंस ऑफ वेल्स का विवाह), शिवराम पाण्डेय-कृत 'एडवर्डराज्याभिषेकदरबारम्' तथा 'जार्जाभिषेकदरबारम्', क.स. अय्यास्वामी शास्त्री अय्यर-कृत 'जार्जवंशम्', म.क. कोच नरसिंहाचार्य-कृत 'जार्जमहाराजविजयः', जी.वी. पद्मनाभाचार्य-कृत 'जार्जचरितम्' आदि। इस प्रकार केवल जार्ज पञ्चम की प्रशस्ति में कई काव्य लिखे गए। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उभर कर आई चेतना एवं विचारधारा ने भी संस्कृत-कवि को प्रभावित किया। लेनिन और मार्क्स का समाजवादी चिन्तन संस्कृत-कविता में आया, यथा पद्मशास्त्री-कृत 'लेनिनामृतम्', केवलानन्द शर्मा-कृत 'लेनिनकुसुमाञ्जलिः', शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी-कृत 'कार्लमार्क्सशतकम्' आदि। प्रसिद्ध जर्मन नाटककार मेक्सिम गोर्की के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर रघुनाथ प्रसाद

चतुर्वेदी ने 'मेक्सिमगोर्कीपञ्चशती' लिखी। नये राष्ट्र के रूप में बंगलादेश के उदय पर रमेश चन्द्र शुक्ल ने 'बँगलादेशः' काव्य लिखा। हर्षदेव माधव की 'जापानदेशे', 'मिस्रदेशे' आदि अनेक कविताओं में विश्वचेतना प्रभूत मात्रा में परिलक्षित होती है।

छन्दोमुक्त निर्बन्ध काव्य

विगत दो दशकों से संस्कृत-साहित्य-जगत् में लघुकाव्य की एक अन्य धारा भी प्रवाहित हुई, जिसमें पारम्परिक छन्दोविधान का नितान्त अभाव है और यह कविता छन्द के बन्धन से नितान्त निर्मुक्त है। हाँ, उसमें अपने प्रकार की एक लय एवं गति विद्यमान है। उधर हिन्दी साहित्य में भी कविता छन्दों के बन्धन को तोड़कर प्रगतिवादी और फिर प्रयोगवादी युग में प्रवेश कर नये-नये प्रयोग कर रही थी। कुछ यहाँ से और कुछ पाश्चात्य काव्यशैली से प्रभाव ग्रहण कर संस्कृत में भी नई कविता का यह रूप बना। यह कविता समग्रतया आधुनिक युगबोध पर आश्रित है और आधुनिक मानव-जीवन के विविध पक्षों, मानसिक द्वन्द्वों, संत्रासों, पीडाओं एवं भावबोधों को उद्घाटित एवं अभिव्यञ्जित करती है। नई संवेदनाओं, नये प्रतीकों एवं नई शैलियों को जन्म देने के कारण हम इसे 'नई संस्कृत-कविता' कह सकते हैं। इस विधा के काव्य किसी अन्य काव्य-श्रेणी में अन्तर्भूत न हो सकने के कारण सामान्यतया लघुकाव्य-विधा के अन्तर्गत ही परिगणित किये जा सकते हैं। इस विधा के प्रतिनिधि कवि एवं काव्य हैं-कृष्णलाल-कृत 'उर्वीस्वनः', 'शिञ्जारवः' एवं 'शशिकरनिकरः', देवदत्त भट्टि-कृत 'इरा' और 'सिनीवाली', केशवचन्द्रदास-कृत 'महातीर्थम्' 'भिन्नपुलिनम्', 'अलका', 'ईशा' आदि, हर्षदेव माधव-कृत 'रथ्यासु जम्बूवर्षाणां शिराणाम्', इन्द्रमोहन सिंह-कृत 'हिरण्यरश्मिः', व्योमशेखर-कृत 'अग्निजा', मायाप्रसाद त्रिपाठी-कृत कतिपय काव्य आदि।

बाल-काव्य

संस्कृत में स्फुट रूप से वात्सल्य रस एवं बालवर्णन के अनेक सुन्दर प्रसङ्ग प्राप्त होते हैं, पर सामान्यतया यहाँ बाल-साहित्य का अभाव पाया जाता है। आधुनिक संस्कृत-कवियों ने इस कमी की ओर ध्यान दिया है और पृथक् बालोपयोगी साहित्य लिखना आरम्भ किया है। बालगीतों, बाल-नाटकों एवं बाल-कथाओं के सङ्कलन प्रकाशित होने लगे हैं। बालवर्णन-परक लघुकाव्यों में वासुदेव द्विवेदीशास्त्री के 'बालकवितावलिः' 'दीपमालिका' आदि काव्य, राम किशोर मिश्र-कृत 'बालचरितम्', गणेश गंगाराम पेंढारकर-कृत 'शिशुलीलालाघवम्', श्रीधर भास्कर वर्णेकर-कृत 'वात्सल्यरसायनम्' आदि उल्लेखनीय हैं। लघु बाल-कविताओं के विकास में 'बालसंस्कृतम्' 'लोकसंस्कृतम्' तथा 'चन्दामामा' आदि संस्कृत-पत्रिकाओं का बहुत योगदान है।

शतक काव्य

लघुकाव्य का यह वर्गीकरण विषयानुसारी न होकर स्वरूपानुसारी है। प्राचीन संस्कृत-साहित्य की तरह अर्वाचीन साहित्य में भी सौ श्लोकों के शतक काव्य तथा सात सौ श्लोकों के सप्तशती-काव्य लिखे गए, जिनमें शतक-काव्यों की संख्या बहुत विशाल है। किसी एक विषय को लेकर उस पर सौ श्लोक लिख देना लघुकाव्य का एक उत्कृष्टतम रूप है। विषय की दृष्टि से विचार किया जाय तो ये शतक काव्य प्रायः देवस्तुति, लोकनीति तथा राष्ट्रभक्ति विषयों से सम्बद्ध हैं। हास्य-व्यङ्ग्य तथा यात्रावृत्त आदि विषयों पर भी शतक काव्य हैं, कतिपय स्फुट विषयों के भी शतक हैं। सप्तशती-काव्यों में गिरिधर शर्मा 'नवरत्न-कृत 'गिरिधरसप्तशती', शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी-कृत 'स्फूर्तिसप्तशती', राजेन्द्र मिश्र-कृत 'अभिराजसप्तशती' का उल्लेख किया जा सकता है। कतिपय प्रमुख शतक काव्य में हैं-गुमानी कवि-कृत 'उपदेशशतकम्', प्रीतमलाल नृसिंहलाल कच्छी-कृत 'शक्तिशतकम्', ति.गु. वरदाचार्य-कृत 'कृष्णशतकम्', 'भास्करशतकम्' तथा 'कालहस्तीश्वरशतकम्' , विठलदेवमुनिसुन्दर शर्मा-कृत 'वीराञ्जनेयशतकम्', 'श्रीनिवासशतकम्', 'शम्भुशतकम्, 'देवीशतकम्' 'छायापतिशतकम्', महादेवशास्त्री कवितार्किकचक्रवर्ती-कृत 'भारतशतकम्', रामकृष्णकवि-कृत 'सारशतकम्', हरेकृष्ण शतपथी-कृत 'कविशतकम्', गदाधर दाश-कृत 'मेघशतकम्', 'विद्याधरशास्त्री-कृत 'अनुभवशतकम्', पद्मशास्त्री-कृत 'सिनेमाशतकम्' श्रीधर भास्कर वर्णेकर-कृत 'स्वातन्त्र्यवीरशतकम्', कैलाशनाथ द्विवेदी-कृत 'गुरुमाहात्म्यशतकम्', केवलानन्द शर्मा-कृत 'यतीन्द्रशतकम्', कृष्णभाऊ शास्त्री धुले-कृत 'विज्ञानशतकम्', पी. रामचन्द्रडु-कृत 'कुमतिशतकम्', नलिनी शुक्ला-कृत 'वाणीशतकम्', रामकरण शर्मा-कृत 'पाथेयशतकम्', श्रीकृष्ण सेमवाल-कृत 'सर्वमङ्लाशतकम्' एवं 'इन्दिराकीर्तिशतकम्', रामकृष्णशास्त्री-कृत 'इन्दिराशतकम्' तथा रामाशीष पाण्डेय-कृत 'इन्दिराशतकम् प्रहेलिकाशतकम्' आदि। अनेक काव्य ऐसे भी हैं जिनमें श्लोकसंख्या तो सौ के लगभग ही है, पर नाम्ना उन्हें 'शतकम्' नहीं कहा गया है।

लहरी काव्य

शतक काव्य की भाँति लहरीकाव्य भी आधुनिक संस्कृत-लघुकाव्य की एक तकनीकी विधा है जो विषय पर आधृत न होकर रचना-वैशिष्ट्य पर आधृत होती है। अनेक कवियों ने अपने लघुकाव्यों के नाम तत्तत् विषयों के साथ 'लहरी' शब्द जोड़कर रखे हैं। अतः भक्ति, प्रेम, राष्ट्रीय भावना, चरितप्रशस्ति, वर्तमान युगचेतना आदि विविध विषयों पर इन लहरीकाव्यों की रचना हुई है। अतः पूर्वगृहीत अनेक विषय ही इन काव्यों के विषय हैं। कतिपय प्रमुख लहरी-काव्यों के नाम इस प्रकार हैं- पण्डिता क्षमाराव-कृत 'मीरालहरी', प्रकाशशास्त्री-कृत 'भावलहरी', मेघाव्रत-कृत 'दयानन्दलहरी', एन्. कुमारन् आशान-कृत 'सीताविचारलहरी', काशीनाथ रघुनाथ वैशम्पायन-कृत-'जवाहरगंगालहरी', के. भास्कर

पिल्लई-कृत 'प्रेमलहरी', गोपीनाथ द्राविड़-कृत 'काशीलहरी', विद्याधरशास्त्री-कृत 'वैचित्र्यलहरी, 'मत्तलहरी', 'लीलालहरी', जगदीशचन्द्र आचार्य-कृत -'संगीतलहरी', मधुकरशास्त्री-कृत 'मारुतिलहरी' एवं 'मातृलहरी', श्री भाष्यम् विजयसारथि-कृत 'विषादलहरी', श्रीधर भास्कर वर्णेकर-कृत 'मातृभूलहरी'' राधावल्लभ त्रिपाठी-कृत 'लहरीदशकम्' आदि।

चित्रकाव्य

संस्कृत में चित्रकाव्य-रचना की परम्परा प्राचीन है, पर अर्वाचीन कवियों ने भी इस परम्परा का परित्याग नहीं किया है और समय-समय पर विविध प्रकार से अपनी रचना चातुरी का प्रदर्शन किया है। इस प्रकार के काव्य प्रधानतया शब्दगत चमत्कार से परिपूर्ण होते हैं। इनका उद्देश्य मनोरञ्जन एवं बौद्धिक व्यायाम, दोनों है। संस्कृत पद्य-रचना में होने वाले विविध प्रयोग जैसे प्रहेलिका, प्रश्नोत्तर, चित्र-रचना, समस्यापूर्ति आदि इस विधा के अन्तर्गत आते हैं। इस युग में भी कवियों ने शब्दों के माध्यम से विविध प्रकार के आकारचित्र बनाने की परम्परा को अक्षुण्ण रखा है। भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने अपने 'साहित्यवैभव' एवं 'जयपुरवैभव' काव्यों में आकारचित्र शैली को पर्याप्त स्थान दिया है; तथा 'चित्रचत्वर' नामक एक पृथक् सर्ग भी लिखा है। इसके अतिरिक्त इस विधा के कतिपय लघुकाव्य हैं-कविचक्रवर्ती देवीप्रसाद-कृत 'चित्रोपहार-काव्य', दामोदर मिश्र-कृत 'चित्रबन्ध-काव्य', रामरूप पाठक-कृत, 'चित्रकाव्यकौतुक', रामावतारशर्मा-कृत 'चित्रबन्धावतारिका', 'वी. रामचन्द्रन्-कृत 'रामचरित-चित्रकाव्य', रुद्रदेव त्रिपाठी-कृत 'चित्रालङ्कार-चन्द्रिका', श्रीजीवन्यायतीर्थ-कृत 'सारस्वतशतकम्' नित्यानन्द शास्त्री-कृत 'हनुमद्दूतम्', मधुसूदन तर्कवाचस्पति-कृत 'हनुमत्सन्देशम्', पं. मूलचन्द्र शास्त्री-कृत 'वचनदूतम्'। किसी काव्य के पाद, पद, पदांश, सूक्तिवाक्य आदि को आधार बनाकर अनेक समस्यापूर्तियाँ प्रचलित हुई हैं। समस्यापूर्ति- साहित्य के विविध रूप संस्कृत-पत्र-पत्रिकाओं में देखे जा सकते हैं। अप्पाशास्त्री राशिवडेकर ने 'समस्यापूर्ति' नामक एक पत्रिका का प्रकाशन १६०० ई. से आरम्भ किया था। आधुनिक संस्कृत-पत्रिकायें भी निरन्तर इस सामग्री को प्रकाशित कर रही हैं। संस्कृत-कवि सम्मेलनों में समस्यापूर्ति के विपुल स्वरूप का प्रदर्शन होता है। समस्यापूर्ति को आधार बनाकर आयोजित किये गए कवि-सम्मेलन के आधार पर, अनेक कवियों की समस्यापूर्तिविषयक पद्यों के सङ्कलन 'कविभारतीकुसुमाञ्जलिः (वाराणसी), 'वाणीविलसितम्' प्रथम एवं द्वितीय भङ्गी (दो खण्डों में) गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद से प्रकाशित हुए हैं।

नीति-सूक्ति-परक काव्य

प्राचीन संस्कृत-काव्य परम्परा की भाँति अर्वाचीन संस्कृत में भी नीतियों एवं सूक्तियों से समन्वित लघुकाव्य रचे गए। जीवन के विविध व्यवहारों, रीतियों, नीतियों को विषय बनाकर तथा विविध सूक्तियों को गृहीत कर कवियों ने मुक्तक काव्यों का प्रणयन किया।

लघुकाव्यों में ऐसे सैकड़ों नीतिवचन एवं सुभाषितवचन भरे पड़े हैं। केवल नीति पर आधारित कतिपय सूक्ति-काव्य इस प्रकार हैं-गिरिधर शर्मा 'नवरत्न-कृत' 'नवरत्ननीतिरचनावलि' एवं 'अमरसूक्तिसुधाकर', नित्यानदशास्त्री-कृत 'आर्यामुक्तावली' अमृतवाग्भवाचार्य-कृत 'अमृतसूक्तिपञ्चाशिका', प्रा.दे.खे. खण्डीकर-कृत 'सुवचनसन्दोहः' आदि।

प्रकीर्ण काव्य

आधुनिक संस्कृत-लघुकाव्यों के प्रस्तुत वर्गीकरण से यह स्पष्ट होता है कि ये प्रायः किसी न किसी विषय को प्रधान रूप से लेकर चले हैं। पर कुछ काव्य ऐसे भी लिखे गए जो एक नहीं अपितु अनेक स्फुट विषयों के सङ्कलन हैं। ये काव्य विविध विषयों के मिश्रित रूप हैं। इस प्रकार के कुछ काव्यों में तो इन मुक्तकों को शीर्षक देकर विभिन्न वर्गों में विभाजित कर लिया गया है और कुछ अन्य काव्यों में मुक्त रूप से विविध विषयों पर लिखे गए पद्यों का सङ्कलन कर लिया गया है। विविध मिश्रित विषयों पर रचे गए इन काव्यों को हम प्रकीर्ण लघुकाव्य कह सकते हैं। ऐसे काव्यों की संख्या संस्कृत में प्रभूत है। कतिपय प्रमुख प्रकीर्ण काव्यों के नाम इस प्रकार हैं-हरिपाददत्त-कृत 'कवितावली', चिन्तामणि द्वारकानाथ देशमुख-कृत 'संस्कृत-काव्यमालिका', विश्वेश्वर विद्याभूषण-कृत 'काव्य-कुसुमाञ्जलिः, भट्ट मथुरानाथ शास्त्री-कृत 'पद्यमुक्तावलिः' अनन्त विष्णु काणे-कृत 'काव्यसरित्', श्रीकान्त त्रिपाठी-कृत 'श्रीकान्त-कविताकलापः', रामनाथ आचार्य-कृत 'पद्यमालिका', यतीन्द्रनाथ भट्टाचार्य-कृत 'काकली', महालिङ्ग शास्त्री-कृत 'किङ्किणीमाला'।

अनूदित काव्य

आधुनिक युग में विभिन्न भारतीय तथा वैदेशिक भाषाओं के सुन्दर काव्यों के संस्कृत भाषा में अनुवाद की भी प्रवृत्ति पर्याप्त मात्रा में प्रचलित हुई। अनेक संस्कृत-कवियों ने अन्य भाषाओं के लघुकाव्यों का संस्कृत में पद्यानुवाद प्रस्तुत किया जिससे संस्कृत-साहित्यकी समृद्धि में वृद्धि हुई। ऐसे अनूदित काव्यों को हम संस्कृत लघुकाव्य का ही एक प्रकार मानते हैं। प्रमुख अनूदित काव्य हैं-एम.ओ. अवरा के मूल मलयालम काव्य का श्री के.पी. नारायण पिषारोटी-कृत 'महात्यागी' नाम से किया गया अनुवाद, उमर खैयाम की रूबाइयों का पं. गिरिधर शर्मा द्वारा 'अमरसूक्तिसुधाकर' नाम से किया गया अनुवाद, वी. सुब्रह्मण्य अय्यर द्वारा 'पद्यपुष्पाञ्जलि' नाम से किया गया अँग्रेजी कविताओं का संस्कृतनुवाद, मराठी कवि मोरो पन्त की कविताओं का डी.टी. सकूरिकर द्वारा 'गीर्वाणकेकावली' नाम से किया गया अनुवाद, टैगोर की बँगला कविताओं का फटिकलाल दास-कृत पद्यानुवाद, 'तिरुक्कुरल' तमिल कविता का अप्पा वाजपेयी द्वारा किया गया 'सुनीतिकुसुममाला' नामक काव्यानुवाद, तमिल कवि औव्वई की कविताओं का वाई. महालिङ्ग शास्त्री द्वारा 'द्रविडार्यसुभाषितसप्तति' नाम से किया गया अनुवाद; तेलुगु भाषा के तेलगुशतक, सुमतिशतक, वेमनशतक, दाशरथिशतक, कृष्णशतक, भास्करशतकों के चित्तिगुदुरु वरदाचारियर-कृत अनुवाद, श्रीअरविन्द

की कविताओं का टी.वी. कपालि शास्त्री द्वारा 'कविताञ्जलिः' नाम से किया गया अनुवाद, रघुनाथ चौधरी के असमिया भाषा में लिखित काव्य का 'केतकी-काव्यम्' नाम से पं. मनोरञ्जन शास्त्री द्वारा किया गया अनुवाद, मलयालम-कवि कुमारन् आशान् के काव्य का एन. गोपाल पिल्लई द्वारा 'सीताविचारलहरी' नाम से किया गया अनुवाद, हिन्दी भाषा के कवि बिहारी की सतसई का प्रेम नारायण द्विवेदीकृत 'सौन्दर्यसप्तशती' नामक अनुवाद, अंग्रेजी कवियों की कविता का गोविन्दचन्द्र पाण्डेय द्वारा 'अस्ताचलीयम्' के नाम से किया गया अनुवाद।

संस्कृत-लघुकाव्य की इन विविध प्रवृत्तियों एवं विधाओं का पर्यालोचन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि आधुनिक युग में लघुकाव्य ने विविध नये-नये रूप धारण किये हैं, उसका बहुमुखी विकास हुआ है और उसने आधुनिक युग की अनेक धाराओं में प्रवाहित होकर अपना क्षेत्र विस्तार किया है। इन विविध धाराओं और विषय विस्तारों को ध्यान में रखकर ही इन लघुकाव्यों का वर्गीकरण किया गया है। इसके अतिरिक्त भी इनके कुछ और वर्ग बन सकते हैं और कुछ लघुकाव्य उनमें समाविष्ट हो सकते हैं। परन्तु अर्वाचीन युगीन समस्त प्रमुख प्रवृत्तियों एवं विधाओं का आकलन यहाँ कर लिया गया है। इस विवेचन से संस्कृत काव्य की दो शताब्दी के कालक्षेत्र में फैली विविधताओं का ज्ञान होता है। इस विधानुसारी विवेचन के पश्चात् ही अब कवि-काव्यानुसारी विवेचन तथा साहित्येतिहास-समीक्षण करना सुविधाजनक एवं समीचीन होगा।

उन्नीसवीं शताब्दी - कवि और काव्य

विगत शताब्दियों के संस्कृत साहित्य के इतिहास का सम्यक् सिंहावलोकन किया जाय तो हम पायेंगे कि संस्कृत-काव्य अपने समृद्धि काल में जिस उच्चतम शिखर तक पहुँचा था, परवर्ती काल में वह क्षीणतर होता गया, परन्तु रचना की धारा अजस्र गति से प्रवाहित होती रही। अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग को संस्कृत-काव्य रचना का पुनर्जागरण काल या नवाभ्युदयकाल कहा जा सकता है। इस काल में संस्कृत-कविता नये-नये विषयों और रूपों में प्रस्तुत होने लगी थी। यूरोप तथा अन्य पश्चिमी देशों में संस्कृत-साहित्य का प्रसार भी तीव्रता से होने लगा था। अन्य विधाओं के अतिरिक्त संस्कृत में विविध लघु विषयों पर लघुकथा लिखने की प्रवृत्ति प्रवर्तमान थी। भारत में अंग्रेज़ी शासन की सत्ता चल रही थी। संस्कृत लघुकाव्य में अन्य पूर्वस्थापित विषयों के अतिरिक्त अंग्रेज़ सम्राटों और शासकों के चरित एवं राज्यसम्बन्धी वृत्त भी प्राप्त होते हैं और प्रशस्ति काव्य का यह नया रूप सामने आता है। काव्य-जगत् में नई-नई उद्भावनाओं का जन्म इस युग में होता रहा। अठारहवीं शताब्दी में केरल के कवि राम पाणिवाद तथा उत्तर प्रदेश के विश्वेश्वर पाण्डेय ने प्रभूत रचनात्मक साहित्य प्रदान किया। पूर्व से लेकर पश्चिम तक तथा उत्तर से दक्षिण तक इस काल में अनेक संस्कृत-कवि हुए, जिन्होंने अपनी प्रतिभा से अनेक लघुकाव्यों की सर्जना कर संस्कृत-साहित्य की श्रीवृद्धि की। यथासम्भव काल क्रमानुसार उन्नीसवीं शताब्दी

के लघुकाव्यकारों के कृतित्व का विवरण यहाँ प्रस्तुत है।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भिक चरण के कवियों में सर्वप्रथम श्रीमच्चाटु नारायण इलयत (१७६५-१८४३) का नाम लिया जा सकता है, जो केरल में जन्मे कवि हैं। इन्होंने 'रामचरितम्' नामक लघुकाव्य लिखा था, जिसमें बालकों के लिए उपयोगी यमक अलङ्कार का निबन्धन है। प्रथम श्लोक में ही यमक का प्रयोग किया है-

श्रीरामचरितं चित्रं वक्ष्ये संक्षिप्य सादरम्।
सन्तु सन्तः प्रसन्ना मे सनामेयमनोमला।।

इन्होंने 'धान्यमुखालयेशसार्धशतकम्' नामक एक भक्तिप्रधान काव्य भी लिखा है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण के दूसरे प्रमुख कवि हैं श्री पुन्नश्शेरि श्रीधरन् नम्बी (१७७४-१८३१), जिन्होंने 'विक्रमादित्यचरितम्' नामक पाँच सर्गों का काव्य लिखा, जिसमें उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य का वर्णन है। इनका दूसरा काव्य है 'नीलकण्ठसन्देशः' जो मेघदूत के अनुकरण पर लिखा हुआ दूतकाव्य है जिसमें नायक स्वयं कवि है जो भारतपुल्ला के उत्तर में कामाकुल अवस्था में रहता हुआ एक दिन नीलकण्ठ को देखता है और उसे दूत बनाकर प्रियतमा के पास भेज़ता है। इसका आरम्भ भी मेघदूत की भाँति होता है-'कश्चित् कान्तो विरहविधुरः स्वाश्रमे निस्सहायः। इसी काल में कवि वसुप्रहराज (१७९०-१८६०) ने 'हंसदूतम्' काव्य लिखा, जिसमें हंस को प्रणय दूत बनाकर भेजा गया है। कालिदासीय मेघदूत के अनुकरण पर कुट्टमत्तु कुंज्जुनिन कुरुप (१८१३-१८८५) ने 'कपोतसन्देशः' काव्य लिखा, जिसमें कबूतर को सन्देशवाहक बनाया गया है। 'हंससन्देशः' नामक काव्य तीन पृथक् कवियों द्वारा पृथक् रचे हुए प्राप्त होते हैं। श्रीमती त्रिवेणी (१८१७-१८८८) द्वारा रचे हुए दो दूतकाव्य प्राप्त होते हैं-'शुकसन्देशः' एवं 'भृङ्गसन्देशः'। १८२० ई. के लगभग रचे गए श्री गङ्गाधर शास्त्री मंगरूलकर के तीन श्रृंगार प्रधान काव्य प्राप्त होते हैं- 'विलासगुच्छा, 'भामाविलासः' तथा 'अपराधमार्जनम्'।

उन्नीसवीं शताब्दी में काव्यों की विविध विधायें सामने आने लगीं। इलत्तूर राम स्वामी (१८२४-१९०७) ने 'अन्यापदेशद्विशती' काव्य लिखा, जिसमें अन्योक्तिपरक दो सौ पद्य हैं। यह अन्यापदेश-काव्य का सुन्दर उदाहरण है। मुडम्बीस वेंकटराम नरसिंहाचार्य (१८४२-१९२८) ने नीतिपरक काव्य 'नीतिरहस्स्यम्' वीररसमय काव्य 'युद्धप्रोत्साहनम्' तथा सामान्य काव्य 'दैवोपालम्भः' लिखे। इसी काल के कवि शंकरलाल माहेश्वर के दो काव्य 'योगवती-भाग्योदयम्' तथा 'मेघप्रार्थना' प्राप्त होते हैं। हरिवल्लभ शर्मा (१८४८) का 'मुक्तकसूक्तानि' सूक्तिपरक मुक्तक काव्य है। दूतकाव्यों की परम्परा में कृष्णनाथ शर्मा न्यायपञ्चानन भट्टाचार्य (१८३०-१९००) ने १८४५ ई. 'वातदूतम्' काव्य की रचना की, जिसमें वायु को दूत बनाकर प्रेषित किया गया है। मेघदूत के अनुकरण पर कृष्णनाथ भट्टाचार्य द्वारा लिखे हुए, सौ मन्दाक्रान्ता वृत्तों के 'वातदूतम्' काव्य की विशेषता यह है कि इसमें पतिवियोग से व्याकुल सीता वासन्ती वायु द्वारा अपना विरह-सन्देश राम के पास भेजती है। राम से

अपनी व्यथा बताती हुई सीता कहती है :-

सा सिञ्चन्ती नयनसलिलैर्बाहुमूलं कदाचित्
त्वां पश्यन्ती नखरलिखितं कर्हिचिद् भूमिपृष्ठे।
जातं वत्सं खलसद इवादृष्टिदोषं लपन्ती
दुःस्था कालं नयति रजसि व्यालुठन्ती क्वचिच्च।।

दुःखी वह सीता कभी अपने आँसुओं से अपने बाहुमूल को भिगोती हुई, कभी धरती के तल पर नाखूनों द्वारा चित्रित तुम्हें देखती हुई, उत्पन्न हुए वत्स से बिना दृष्टिदोष के बातचीत करती हुई और कहीं धूल में लेटती हुई समय बिताती है। इसी क्रम में सुब्रह्मण्य सूरि (१८५०-१९१३) के 'बुद्धिसन्देशः' में बुद्धि द्वारा सन्देश भेजा गया है। चिन्तामणि सहस्रबुद्धे का 'काकदूतम्', रङ्गनाथाचार्य का 'शुकसन्देशः' पञ्चानन तर्करत्न का 'प्राणदूतम्', अजितनाथ न्यायरत्न का 'बकदूतम्', प्रमथनाथ तर्कभूषण का 'कोकिलदूतम्' कोच. नरसिंहाचार्य का 'पिकसन्देशः आदि दूतकाव्य इस युग में प्रसिद्ध हुए।

मेघदूत के अनुकरण पर लिखे गए दूतकाव्य कहीं-कहीं व्यंग्यकाव्य के रूप में प्रस्तुत हुए हैं, जैसे चिन्तामणि रामचन्द्र सहस्रबुद्धे का 'काकदूतम्', के.वी. कृष्णमूर्ति का 'शुकदूतम्', तथा बटुकनाथ शर्मा का 'बल्लवदूतम्' इसी कोटि के काव्य हैं। इन्हें 'अनुकरणमूलक व्यंग्यकाव्य' कहा जा सकता है। सर्वमंगलेश्वर शास्त्री (१७५९-१८३९) ने अनेक हास्यव्यङ्ग्यपूर्ण कविताएँ लिखी हैं। वासुदेव आत्माराम लाटकर का 'अर्धखरार्भक', पाटिवीमूर कृष्णकवि का 'कलिविलासमणिदर्पण', श्रीनिवास दीक्षित का 'कलिकष्टकोद्धार, पुन्नशेरि नीलकण्ठ शर्मा का 'सात्त्विकस्वप्नः', आर.वी. कृष्णमाचार्य का 'वायसवैशसम्, के.सी. राजगोपालाचार्य का 'कांकः', मुडुम्बी वेंकटराम-नरसिंहाचार्य का 'खलावलेहनम्' आदि सामाजिक व्यङ्ग्यपरक काव्य हैं। कहीं-कहीं स्तोत्रों में भी कवियों ने व्यङ्ग्य का सहारा लिया है, जैसे ब्रह्मतन्त्र परकाल स्वामी का 'चपेटिकाहस्तिस्तुति', शंकर-लाल माहेश्वर का 'भ्रान्तिभयभञ्जनम्', कुट्टमत्रु चेरिय रामकुरुप का 'सर्वगरलप्रमोचनस्तोत्र, कृष्णभाऊ शास्त्री धुले का 'वाचकस्य प्रतिस्तवः', कृष्णचन्द्रदास का 'बालिश-भञ्जनस्तोत्रम्' आदि। इस काल में कुछ अनुकरणमूलक लहरीकाव्य भी लिखे गए, जैसे पण्डितराज जगन्नाथ की गङ्गालहरी के अनुकरण पर गोदवर्म विद्वान इलिय तम्बुरान (१८००-१८५१) ने 'सुधानन्दलहरी' लिखी, इसी तरह शङ्कराचार्य की सौन्दर्यलहरी के अनुकरण पर कैकुलङ्गर राम वारियर (१८३३-१८९५) 'वागानन्दलहरी' की रचना की। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्ध में लघुकाव्यरचना की दृष्टि से दक्षिणभारत अधिक उर्वर रहा। दक्षिण भारत के कवियों ने विविध प्रकार के काव्यों का प्रणयन कर आधुनिक संस्कृत-साहित्य को समृद्ध बनाया। कुछ कवियों ने अठारहवीं शताब्दी की पूर्वस्थापित परम्परा का अनुवर्तन किया और कुछ ने युगानुरूप नये-नये प्रयोग किए। लघुकाव्य-रचना की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध पूर्वार्ध की अपेक्षा अधिक उर्वर रहा। अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध १८५७ का विद्रोह इसी काल में हुआ। देश में

राजनीतिक उथल-पुथल रही। भारत को आंग्ल शासन की दासता से मुक्त कराने के लिए जो तड़प देश में थी वह राष्ट्र भक्ति से पूर्ण काव्यों के रूप में सामने आई। टी. गणपति शास्त्री ने 'भारतवर्णनम्' काव्य लिखा तो अन्नदाचरण तर्कचूडामणि ने भारत के अतीत को याद करते हुए 'तदतीतमेव' कृति का प्रणयन किया। शारदाचरण मित्र ने 'भारतगौरवम्', परवस्तु कृष्णमाचार्य ने 'भारतगीतम्' तथा 'तिलकमञ्जरीसङ्ग्रहः', नगरकर ने 'राष्ट्रियजागृतिः' जैसे काव्य लिखे। पराधीन भारत को पिंजड़े में बन्द तोते के समरूप मानकर अप्पाशास्त्री राशिवडेकर ने 'पञ्जरबद्धशुकः' तथा विधुशेखर भट्टाचार्य ने 'बद्धविहगः', काव्यों की रचना की। विधुशेखर भट्टाचार्य के अन्य दो काव्य 'भारतभूमिः' और 'उद्बोधन्', वरद कृष्णमाचार्य का 'भारतखड्गाः' एम. के ताताचार्य का 'भारतीमनोरथः' रामावतार शर्मा का 'अभिनवभारतम्' चारुचन्द्र वन्द्योपाध्याय का 'मातृसम्बोधनम्', मेघाव्रताचार्य का 'मातः का ते दशा' आदि अनेक काव्य हैं जो पराधीन भारत की दुर्दशा बताते हैं और भारतमाता को इस पारतन्त्र्य-जाल से मुक्त करने की प्रेरणा देते हैं। इसी तरह के काव्य 'प्रबोधनम्' में कवि शालग्राम शास्त्री भारतवासियों को परतन्त्रता-पाश से मुक्ति हेतु उद्बोधित करते हैं-

भज बोध राजभक्तिं, जहि पारतन्त्र्य-पाशम्।
त्यज दैववादवेगं ननु पौरुषं श्रयस्व।।

यद्यपि संस्कृत-काव्य में अंग्रेज़ी दासता से मुक्ति का स्वर मुखर रहा है, किन्तु संस्कृत-कवियों का बहुत बड़ा वर्ग ऐसा था, जिन्होंने अपने-अपने समय के अंग्रेज़ी शासकों के चरितों पर काव्य लिखे तथा उनके प्रशस्तिपरक काव्यों की भी पर्याप्त मात्रा में रचना हुई और ऐसे प्रशस्तिपरक काव्यों को प्रकाशन का सुअवसर भी प्राप्त होता रहा। उस काल में प्रकाशित कतिपय संग्रह-ग्रन्थों में ब्रिटिश सत्ताधारी राजाओं एवं राजकुमारों की प्रशस्तियाँ संगृहीत हैं। संग्रहरूप प्रशस्तिकाव्य के रूप में १८७० में 'वाराणसी से 'सुमनोऽञ्जलिः' का प्रकाशन हुआ जिसमें 'ड्यूक ऑफ एडिनबरा' की प्रशस्ति है, तथा १८६२ में बाँकीपुर से प्रकाशित 'मानसोपायनम्' में 'प्रिंस ऑफ वेल्स' की प्रशस्ति है। स्वतन्त्र काव्यों में मंजुलनैषधम् का 'आंग्लाधिराजस्वागतम्' (१८२२-१६०६), महेशचन्द्र तर्क चूडामणि का 'एडर्वडमहोदयस्याभिनन्दनम्' (१८४५-१६०६), हृषीकेश भट्टाचार्य का 'राजपुत्रागमनम्' (१८४६-१६१३), राजा सुरेन्द्र मोहन टैगोर का 'प्रिंसपञ्चाशत्' आदि हैं। सबसे अधिक संख्या में काव्य महारानी विक्टोरिया की प्रशस्ति में लिखे गए, जैसे विक्टोरियाचरितम्-कोइतम्बुरान (१८८७) 'चक्रवर्तिविक्टोरियायाः विजयपत्रम्'-बलदेव सिंह (१८८६), 'विक्टोरियाप्रशस्तिः'-ब्रजनाथ शास्त्री (१८६२), विक्टोरियाप्रशस्तिः'-मुडुम्बी व्यंकटराम नरसिंहाचार्य (१८४१-१६२८), विक्टोरियामाहात्म्यम्' (सुरेन्द्र मोहन टैगोर), 'विक्टोरियावैभवम्'-संपत् कुमार नरसिंहाचार्य (१८६६), ''विक्टोरियाप्रशस्तिः', टी. गणपतिशास्त्री आदि। इसी तरह राजा जार्ज पञ्चम के जीवन चरित, राज्याधिरोहण आदि को लेकर भी कई काव्य लिखे गये। राधाकृष्ण गोस्वामी ने १८७० में वैवाहिकवर्णनम्' नाम से एक लघुकाव्य लिखा,

जिसमें 'प्रिंस आफ वेल्स' के विवाह का वर्णन है। संग्रहरूप प्रशस्तिकाव्य के रूप में १८७० में वाराणसी से 'सुमनोऽञ्जलिः' का प्रकाशन हुआ जिसमें 'ड्यूक आफ एडिनबरा' की प्रशस्ति है तथा १८६२ में बांकीपुर से प्रकाशित मानसोपायनम् में 'प्रिंस आफ वेल्स' की प्रशस्ति है। श्रीश्वर विद्यालङ्कार ने १६०१ में 'देहलीमहोत्सवम्' लिखा, जिसमें एडवर्ड के देहली-दरबार का वर्णन है, १६०२ में इलाहाबाद से 'एडवर्ड-राज्याभिषेकम्' काव्य प्रकाशित हुआ, तथा १६०३ में शिवराम पाण्डेय ने 'एडवर्डराज्याभिषेकदरबारम्' की रचना की। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल से लेकर बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल तक अनेक संस्कृत-कवियों ने राष्ट्रभक्ति के साथ-साथ राजभक्ति से अधिक सम्बन्ध रखा और उस तरह के अनेक काव्यों की रचना की, जिनमें उस समय के अंग्रेज शासकों एवं सत्ताधारियों के प्रति भारतवासियों की भावना सकारात्मक अथवा नकारात्मक रूप से व्यक्त हो रही थी।

अर्वाचीन काल के संस्कृत-कवियों ने अंग्रेज़ शासकों के अतिरिक्त अपने आश्रयदाता राजाओं, सामन्तों आदि को विषय बनाकर तथा उनके जीवन के अनेक पक्षों को लेकर भी लघुकाव्यों की रचना की। इलत्तूर रामस्वामी का 'तुलाभारप्रबन्धम्', बाणेश्वर का 'चित्राभिषेक' इसी तरह के काव्य हैं। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध के काव्यों में वेलत्तेरि केशवन (१८३८-६७) का 'विशाखविलासः', कोटक्कोटि मानविक्रम का (१८४५-१६१६) का 'तुलापुरुषदान' एवं 'विशाखविजयोल्लासः', पुन्नश्शेरि नीलकण्ठ शर्मा (१८५८-१६३५) का 'पट्टाभिषेकप्रबन्ध', टी. गणपति शास्त्री (१८६०-१६२६) का 'श्रीमूलचरितम्' एवं 'तुलापुरुषदानम्', के.सी. केशव पिल्ला (१८६८-१६१४) का 'केरलवर्मविलासः', हरिहरकृपालु (१८७०-१६४६) का 'रमेश्वरकीर्तिकौमुदी', अप्पाशास्त्री राशिवडेकर (१८७३-१६१३) का 'शाहोः कुमारावाप्तिः' एवं 'उद्वाहमहोत्सवम्' तथा बालकृष्ण मिश्र (१८८०-१६३४) का 'लक्ष्मीश्वरीचरितम्' आदि अनेक आश्रयदाता राजाओं के जीवन-प्रसंगों को विषय बनाकर लिखे गए काव्य हैं। आश्रयदाता राजाओं के अतिरिक्त ऐतिहासिक राजाओं के वृत्त को विषय बनाकर भी काव्य-रचना की गई है। मुडुम्बीस वेंकट नरसिंहाचार्य ने 'जयसिंहाश्वमेधीयम्' काव्य में राजा जयसिंह के अश्वमेध का वर्णन किया है। कोटिक्कोट् मानविक्रम ने 'केरलविलासः' में केरल के इतिहास को प्रस्तुत किया है तथा 'रणसिंगुचरितम्' लिखकर उज्जयिनी के राजा जयसिंह का चरित वर्णित किया है। इसी प्रकार तेजोभानु पण्डित (१८८०) ने 'श्रीचन्द्रचरितम्' लिखकर उसमें चन्दबरदाई का इतिहास वर्णित किया है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि चरितनायकपरक लघुकाव्यों के प्रणयन की दृष्टि से यह काल अत्यधिक समृद्धिशाली रहा।

ऐतिहासिक काव्यों पर लेखनी चलाने के अतिरिक्त काल्पनिक काव्यों की भी परम्परा इस अवधि में प्रवर्तित हुई। कवि कोटिक्कोटि मानविक्रम ने १८८० में 'प्रेतकामिनी' नामक उत्कृष्ट काव्य रचना प्रस्तुत की। शैलताताचार्य ने १८६२ में 'दूतचरितम्' तथा राजराजवर्म कोइतम्बुरान ने १८६३ में 'विटविभावरी' काव्य लिखे, जो काल्पनिक कथाओं पर आश्रित

थे। ऐतिहासिक एवं काल्पनिक चरितनायकों के अतिरिक्त पौराणिक चरित नायकों पर भी अनेक लघुकाव्य रचे गये। राम, कृष्ण, शिव आदि पुराण-पुरुषों एवं देवताओं पर भी इस काल के कवियों ने लेखनी चलाई। १८४० ई. में तमिलनाडु में जन्मी कवयित्री कामाक्षी रामकोटि ने 'रामचरितम्' नामक काव्य लिखा, जिसमें कालिदास के रघुवंश की शैली एवं शिल्प का अनुकरण प्राप्त होता है। १८४६ में जन्मे म. वेंकट राघवाचार्य सेतलूर ने 'रामाष्टप्रास' नामक रामकथा-काव्य लिखा। इसी तरह केशव नम्बीशन (१८४६-१६२४) ने 'रामायणम्' नाम से लघुकाव्य की रचना की तथा गोपालशास्त्री ने 'रामाभ्युदयम्' में राम के सम्पूर्ण जीवन की गाथा को निबद्ध किया। दधिभूषण भट्टाचार्य (१८६२) ने पाँच सर्गों में 'सीतापरिणयम्' नामक सीता के चरित्र पर आधृत काव्य लिखा। गणपति वेदान्त केसरी (१८७१-१६१३) ने 'ताटकावधम्' काव्य की रचना कर विश्वामित्र-यज्ञ-प्रसंग एवं ताडका के वध की कथा को प्रस्तुत किया तो वेंकटेश वामन सोवाणी (१८८२-१६२५) ने चार सर्गों के काव्य 'रामचन्द्रोदयम्' में रामायण की कथा का अपनी दृष्टि से निबन्धन किया। सी. शंगुत्रि नायर ने (१८६५-१६४२) ने 'सीताहरणम्' काव्य लिखकर सीता के हरण एवं अनुवर्ती प्रसंग को भावपूर्ण शैली में निबद्ध किया है। एलत्तूर सुन्दरराज अय्यंगार (१८४१-१६०५) ने 'नीतिरामायणम्' तथा सुब्रह्मण्य सूरि (१८५०-१६१३) ने 'आसेचकरामायणम्' लिखकर रामायण के लघुरूप को नीतिपरकता के साथ प्रस्तुत किया। रामकाव्य-प्रणयन की परम्परा आगे बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भी प्रवर्तमान रही।

राम की भांति कृष्ण, शिव आदि देवताओं के चरितों को ग्रहण कर पर्याप्त काव्य-सर्जना इस काल में हुई। कुट्टमत्त चेरिय रामकुरुप का 'रुक्मिणी-स्वयंवर' एक तीन सर्गों का काव्य है जिसमें रुक्मिणी से सम्बद्ध कृष्णकथा को यमक अलङ्कार के विशिष्ट प्रयोग सहित निबद्ध किया गया है। मूरिइल नारायण नम्बीश (१८५२-१६२२) ने 'पूतनामोक्षम्' नामक एक चार सर्गों का काव्य लिखा, जिसमें बालक कृष्ण द्वारा स्तनपान द्वारा पूतना राक्षसी के वध की कथा है। काव्य में छन्दों एवं अलङ्कारों के सुन्दर प्रयोग प्राप्त होते हैं। पूतनामोक्ष का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है -

बालेन तेन मृगराजकिशोरलीलालोलेन दारितपयोधरकुम्भदीना।
नक्तंचरी भयदकुञ्जरसुन्दरीव भूमौ पपात परिधूतकचोत्रदन्ती।।

(सिंहशावक के समान खेल में चञ्चल उस बालक कृष्ण के द्वारा कस कर स्तनों के काट लेने से दीन हुई, बिखरे बालों वाली, जोर से चीखती हुई वह राक्षसी पूतना भयानक हथिनी के समान भूमि पर गिर पड़ी)।

इसी प्रकार वटपल्लि भास्करन मूत्तत (१८०५-१८७५) का 'कृष्णोदन्तम्', वासुदेव आत्माराम लाटकर (१८५४) का 'अहिमहिहननम्' तथा गुरुप्रसन्न भट्टाचार्य का 'माथुरम्' तथा भट्टगिरिधारि शर्मा का 'श्रीगोविन्दगीता' आदि काव्य कृष्ण के चरित पर रचे गए हैं। हरिदास सिद्धान्त-वागीश (१८७७-१६६५) ने कृष्णचरित पर 'रुक्मिणीहरणम्' तथा शङ्कर

के चरित पर 'शङ्करसम्भवम्' काव्यों की सर्जना की। शिव-पार्वती की कथा पर लिखे गये अन्य काव्य हैं - गोपाल शास्त्री (१८५३-१६२४) का 'श्रीगौरीपरिणयम्', अम्बिकादत्त व्यास (१८५६-१६००) का 'शिवविवाहः', तथा परीक्षित् रामवर्म राजा (१८७७-१६६५) का 'सुकन्याचरितम्' आदि। शीवुल्लि नारायण नम्बूदरी का 'पार्वतीविरहः' (१८६६) तथा नारायण शास्त्री खिस्ते का 'यक्षाध्वरध्वंसम्' (१६१०) भी इस काल के सुन्दर शिवचरितपरक काव्य हैं। परीक्षित् रामवर्म राजा ने अम्बरीषविजयम् नाम से भक्तिमय काव्य भी लिखा है। महाभारत एवं भागवत के चरितनायकों को काव्य का विषय बनाकर जिन काव्यों की रचना हुई उनमें प्रमुख हैं-शङ्करलाल माहेश्वर (१८४४-१६१६) के 'प्राञ्चालिचरितम्', 'अरुन्धतीविजयम्' तथा 'प्रसन्नलोपामुद्रम्'; कोटिक्कोट मानविक्रम एट्टन तम्बुरान के 'ध्रुवचरितम्' तथा 'विश्रुतचरितम्' और राधाकृष्ण तिवारी के दो काव्य प्राप्त होते हैं-'गजेन्द्रचरितम्', जिसमें गजेन्द्र मोक्ष की कथा है तथा 'दशावतारचरितम्', जिसमें विष्णु के दस अवतारों का वर्णन है। कुछ कवियों ने अपने गुरुओं तथा अन्य श्रद्धेय जनों के चरित का चित्रण करने के लिए भी लघुकाव्यों की सर्जना की है, जिनमें पैंगानाडु पञ्चापगेश शास्त्री का 'शङ्करगुरुचरितसङ्ग्रहः' उल्लेखनीय है। इसमें कवि ने शङ्कराचार्य का चरित प्रस्तुत किया है।

उन्नीसवीं शताब्दी के कवियों ने अपने युग की परिस्थितियों के अनुरूप तथा अपनी प्रतिभा के अनुकूल विविध आधुनिक एवं पारम्परिक विषयों को ग्रहण कर काव्य-रचना की।

तत्कालीन राष्ट्रीय परिस्थितियों के अनुरूप हुई साहित्य-रचना के अतिरिक्त प्रेम एवं शृंगार के विषयों पर भी कवियों ने काव्य लिखे। इस काल में रचे गये अनेक काव्य ऐसे भी हैं जो रसराज शृंगार के माधुर्य से आप्लावित हैं। महेशचन्द्र तर्कचूडामणि ने 'काव्यपेटिका' नामक सङ्ग्रह के अन्तर्गत 'शृंगारकाव्यानि' (१८६६) में अनेक शृंगारपरक पद्य लिखे। इससे पूर्व शती के पूर्वार्द्ध में गंगाधरशास्त्री मंगरूलकर ने 'विलासगुच्छः', 'भामाविलासः' तथा 'अपराधमार्जनम्' ये तीन शृंगारपरक काव्य लिखे। कोटिक्कोट मानविक्रम तम्बुरान ने शृंगार के क्षेत्र में भी अपनी लेखनी चलाई तथा 'शृंगारमञ्जरी' एवं 'भामिनीचरितम्' ये दो संयोगशृंगारपरक काव्यों की सर्जना की। हरिवल्लभ शर्मा (१८४८) की 'ललनालोचनोल्लासः' तथा 'कान्तावक्षोजशतोक्तयः' अमर्यादित शृंगार की रचनायें हैं। व्रजरत्न भट्टाचार्य (१६५५) का 'प्रमोदविलासः', रंगाचार्य (१८५६-१६१८) का 'शृंगारनायिकातिलकम्' , राजवर्म कोइतम्बुरान (१८६३-१६१८) का 'शृंगारभृङ्गार', विधुशेखर भट्टाचार्य का 'यौवनविलासः' आदि अनेक इस काल की शृंगारपरक रचनायें हैं।

प्रकृति के सौन्दर्य को परिप्रेक्ष्य में रखकर लिखे गए काव्यों की भी इस काल में कमी नहीं है। इस काल के कवि का भी मन प्रकृति के विविध रूपों को देखकर मुग्ध होता है और इसी भावभूमि पर अनेक काव्यों का सर्जन होता है। प्रकृति के आलम्बन एवं उद्दीपन दोनों रूपों को ग्रहण कर काव्य लिखे गए हैं। महेशचन्द्र तर्कचूडामणि के सुप्रसिद्ध काव्य-संग्रह 'काव्यपेटिका' में प्रकृति-वर्णन भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होता है। उन्होंने

षड्ऋतुओं का वर्णन सुन्दर रूप में किया है, साथ ही प्रातः मध्याह्न, सायं, चन्द्रोदय आदि का वर्णन उद्दीपन रूप में प्रस्तुत किया है। इन वर्णनों में चारुता एवं सहजता है। वसन्त-वर्णन का यह पद्य कितनी सरल-सहज शैली में लिखा गया है-

द्रुमाः सुवेषा इव जातपत्रा लताः सकामा इव पुष्पवत्यः।
दिशश्च मृष्टा इव निस्तुषारा नवेव जाता जगती वसन्ते।।

(नये पत्तों से लदे हुए वृक्ष सुन्दर वेष वाले लोगों की भांति, पुष्पों से लदी लताएं काम से पीड़ित रजस्वला स्त्रियों की तरह, तथा बर्फ से रहित हुई दिशायें मांजी हुई सी, इस तरह वसन्त में सारी धरती नई-नई सी हो गई।)

कवि सार्वभौम कुच्चुनि तम्बुरान (१८५८-१९२६) ने 'सूर्योदयः' नामक काव्य लिखा। परमेश्वर झा (१८५६-१९२०) का 'ऋतुवर्णनकाव्य' तथा अन्नदाचरण तर्कचूडामणि का 'ऋतुचित्रम्' (१९६८), ये दो काव्य कालिदास के ऋतुसंहार के अनुकरण पर रचे गये हैं। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में प्रसिद्धि प्राप्त करने वाले दो कवियों, महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा श्रीधर पाठक ने संस्कृत में भी लघु-काव्य रचना कर अपना योगदान किया है। द्विवेदीजी ने 'प्रभातवर्णनम्' काव्य लिखा है जिसमें प्रकृति के केवल बाह्य रूप का चित्रण है। श्रीधर पाठक (१८५९-१९२८) का चौदह श्लोकों का अति लघुकाव्य है जिसमें शिमला के सौन्दर्य का सुन्दर वर्णन है। उनके 'नववसन्तगीतम्', के ऋतुवर्णन के साथ अन्त्यानुप्रास का मनोरम दर्शन है -

जय जय भारतभुवि नववसन्त
जय नन्दनरुचि-दीपितदिगन्त।
कलरवनवशिक्षितमधुपमाल
मञ्जरितनवलदलमृदुरसाल।
पिकशुकनिनादनन्दितनिकुञ्ज
द्विगुणितवियोगिजनदहनपुञ्ज।।

(भारतभूमि में विद्यमान हे नववसन्त! तुम्हारी जय हो, अपनी आनन्दित करने वाली कान्ति से दिशाओं को दीप्त करने वाले तुम्हारी जय हो। नये कलरव की शिक्षा पाये हुए भ्रमरसमूहों वाले, नई मञ्जरियों से शोभित कोमल आम्रवृक्षों वाले, कोयल एवं तोते के शब्दों से कुञ्जों को गुञ्जित करने वाले तथा वियोगी जनों की विरहाग्नि को दुगना करने वाले वसन्त! तुम्हारी जय हो।)

बंगाल की कवयित्री सरोजमोदिनी देवी ने 'क्षणप्रभा', 'शरत्' तथा 'प्रावृट्' (१८९४-९५) इन कविताओं की रचना की है। रघुपति शास्त्री के 'हैमन्तो वसन्तोत्सवः' (१८९७) में वसन्तोत्सव का, कृष्णराम व्यास के 'होलामहोत्सव' में होली के त्योहार का सुन्दर चित्रण

है। विधुशेखर भट्टाचार्य की 'वर्षावैभवम्' 'वसन्तः' तथा 'ग्रीष्मः' ऋतुवर्णनपरक रचनायें हैं। पं. रामावतार शर्मा ने भी अपने काव्यों में ऋतुओं के मनोरम चित्र उपस्थित किए हैं। अप्पाशास्त्री राशिवडेकर ने मासिक पत्रिका 'संस्कृतचन्द्रिका' के बारह अङ्कों में चैत्र से फाल्गुन तक बारह महीनों का मनोरम वर्णन प्रस्तुत किया है। उनके लघु काव्यों में भी अनेकत्र प्रकृति का बिम्बग्राही चित्रण है। अम्बिकादत्त व्यास की 'पुष्पवर्षाः' एक भावपूर्ण कविता है। राजराज वर्म कोइतम्बुरान ने 'मेघोपालम्भः' में मेघ को उलाहना दी है।

आधुनिक युग के कवियों ने अपने समकालीन समाज के विविध रूपों पर कटाक्ष एवं व्यंग्य अपने काव्यों के माध्यम से ही किया है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में बाबा दीक्षित वाटवे कुरुन्दवाडकर ने 'कल्पितकलिवृत्तादर्शपुराणम्' जैसा पुराणशैली का काव्य लिखकर अंग्रेज़ी सभ्यता में पले हुए लोगों पर अधिक्षेप किया था। काव्य में यह प्रवृत्ति आगे भी चली। गीता के अनुकरण पर मद्रास के एल. रंगीलादास ने 'कांग्रेसगीता' (१९०५) लिखी, जिसमें सूरत के कांग्रेस अधिवेशन पर व्यंग्य है। तथा चिन्तामणि रामचन्द्र शर्मा की 'श्रीचहागीता' (१९१९) है, जिसमें वासनासक्त लोगों पर व्यंग्य है, साथ ही एक अध्याय में व्यसनासक्त विद्यार्थियों पर व्यंग्य है। चहागीता का अन्तिम श्लोक गीता की भांति इस प्रकार है-

यत्र पेयेशटीदेवो यत्र कप्यधरा नराः।
तत्राल्पायुर्विपद् रोगा ध्रुवाऽनीतिर्मतिर्मम।।

चाय की तरह काफी भी कवि की लेखनी का रोचक विषय बनी। एम.वी. सम्पत्कुमार आचार्य ने काफी की स्तुति में तीन लघुकाव्यों की रचना की-'काफीषोडशिका', 'काफीपानीयम्' तथा 'काफीत्याग-द्वादश-मञ्जरीका'। महावीर प्रसाद द्विवेदी भी तीखे व्यंग्य का सहारा लेकर अपनी बात कहते हैं। उन्होंने 'कान्यकुब्जलीलामृतम्' में कान्यकुब्ज ब्राह्मणों पर व्यंग्य किया है। 'सूर्यग्रहणम्' में धर्म के नाम पर होने वाले अनैतिक कार्यों का पर्दाफ़ाश किया गया है। शालग्राम शास्त्री ने आधुनिक युग की पाश्चात्त्य शिक्षा पर करारा व्यंग्य किया है-

चातुर्यं चाकरीमात्रे कौशलं बूटपालिशे।
भाले लिखति चैतावत् शिक्षा पाश्चात्यचालिता।।
बी.ए. पर्यन्तशिक्षायां स्रहस्राणां तु विंशतिः।
व्ययीभवति वित्तं तु केवलं दासवृत्तये।।

इस काल के प्रमुख दार्शनिक काव्य हैं - श्रीनिवासाचार्य का 'हंसविलाप', गंगाधर शास्त्री का 'अलिविलासिसंलापकाव्य', पंचानन तर्करत्न का 'इन्द्रियानुशासन', नीलकण्ठतीर्थपाद का 'विधुनवसुधाझरी' तथा विधुशेखर भट्टाचार्य के 'जीर्णतरु' एवं 'चित्तविलास' काव्य।

उन्नीसवीं शताब्दी के कवियों ने संस्कृत-काव्य-रचना की विविध धाराओं एवं विधाओं

को अपनाते हुए नीतिकाव्यों का प्रणयन भी किया और प्रशस्तिकाव्यों का भी, शतक-काव्यों की भी रचना की और 'लहरी'-काव्यों की भी, अनेकानेक देवी-देवताओं पर स्तोत्र-काव्य भी लिखे और दार्शनिक काव्य भी, अन्योक्तिपरक काव्य भी रचे गए और प्रतीकपरक भी। रस की सरसता से युक्त भी काव्यों की सर्जना हुई और व्यंग्य की वक्रता से युक्त काव्यों की। इस काव्यपरक विवेचन के पश्चात् अब उन्नीसवीं शताब्दी के उन कतिपय कवियों के कृतित्व का विवेचन किया जा रहा है जो लघुकाव्य-प्रणयन के क्षेत्र में स्तम्भभूत एवं प्रतिष्ठित हैं और जिनकी विशेष महत्ता के कारण उन पर पृथक् प्रकाश डालना अनिवार्य है। स्वल्प संख्या वाले ऐसे कवियों का स्वल्प विवरण यहाँ प्रस्तुत है-

महेशचन्द्र तर्कचूडामणि-१८४१ ई. में दिनाजपुर मण्डल में जन्मे कवि महेशचन्द्र को तर्कचूडामणि की उपाधि से अलङ्कृत किया गया था। उनकी कविताओं का संग्रह १६०६ में कलकत्ता से 'काव्यपेटिका' के नाम से प्रकाशित हुआ। कविकृत कविताओं की इस सन्दूक में दो प्रकरण हैं, जिनमें पन्द्रह-पन्द्रह कविताओं का संग्रह है। इनका विवरण इस प्रकार है -

प्रथम प्रकरण-मङ्गलकाव्यम्, कवेर्विनयः, शृंगारकाव्यानि, वसन्तवर्णनम्, ग्रीष्मवर्णनम्, प्रावृड्वर्णनम्, शरद्वर्णनम्, हेमन्तवर्णनम्, शिशिरवर्णनम्, प्रभातवर्णनम्, मध्यान्हवर्णनम्, सायाह्नवर्णनम्, तमोवर्णनम्, चन्द्रोदयवर्णनम्, तथा युवराजपदमलङ्कुर्वतः सप्तम-एडवर्डमहोदयस्याभिनन्दनम्।

द्वितीय प्रकरण- मङ्गलाचरणम्, राजप्रशस्तिः, धनप्रशस्तिः, पण्डितप्रशस्तिः, प्रास्ताविकानि, शान्तकाव्यानि, रामाष्टकम्, दक्षिणकालिकाष्टकम्, दुर्गाष्टकम्, गङ्गाष्टकम्, सूर्याष्टकम्, अन्नपूर्णाष्टकम्, कृष्णाष्टकम् तथा उपसंहारकाव्यानि।

इसके अतिरिक्त उन्होंने 'भगवच्छतकम्' नामक स्तुतिपरक शतककाव्य, यमक के प्रयोगवैचित्र्य से युक्त 'महायमकम्' काव्य तथा स्फुट कविताएं 'काव्यपरिमलः' 'दुर्भिक्ष-प्रार्थना' 'सुभाषितानि' 'समस्यापूर्तयः' 'दरभङ्गाधिराजस्य' कृते 'विलापः' आदि लिखीं। 'कवेर्विनयः' में कवि अपने भाव को इस प्रकार प्रकट करता है -

काव्यानि सन्ति रसवन्ति यदीतराणि
सन्तः कृतिं मम तथापि विलोकयन्तु।
पद्मेषु सत्स्वपि मधुव्रतसार्थ एव
पुष्पाणि लेढि कुटजस्य न काकलोकः।।

(यद्यपि अन्य अनेक रसमय काव्य हैं, तथापि सज्जन लोग मेरी कृति को देखें। कमलों के रहने पर भी भ्रमरों का समूह ही कुटज के पुष्पों का आस्वादन करता है, कौवों का समूह नहीं।)

केरल वर्मा-वलिय कोइलम्पुरान का जन्म १८४५ ई. में केरल में लक्ष्मीपुरम् के

चंगनाशेरि उच्च घराने में हुआ था। वे तिरुवनंतपुर राजमहल ग्रंथालय के अधिकारी थे। वे चार तिरुनाल राजाओं के कार्यकाल में रहे। किन्तु मध्य में आइल्यं तिरुनाल राजा किसी कारण से इनसे कुपित हो गये और इन्हें १६७५ में कारागार में डाल दिया। इन्होंने अपनी अधिकांश उत्कृष्ट रचनाएं कारागार में ही रहकर लिखीं। इनकी कवि-प्रतिभा के सम्मान में इनको 'केरल-कालिदास' की उपाधि प्रदान की गई थी।

कवि केरल वर्मा की उत्कृष्ट कृति है 'क्षमापणसहस्रम्' जिसको उन्होंने जेल में महाराज से अपने अपराधों की क्षमा-याचना के लिए लिखा। क्षमा-याचना हेतु इतना बड़ा काव्य लिख जाना एक अद्भुत बात है, जिसमें पचास विंशतियों में विभाजित कर एक हजार श्लोकों की रचना की गई है। पूरा काव्य पाश्चात्ताप की अभिव्यक्ति से भरा है। एक ओर इसमें तिरुनाल राजा के उत्कृष्ट गुणों की प्रशंसा की गई है, दूसरी ओर कवि ने गहन भावना के ज्वार में अपना हृदय उडेल कर रख दिया है। क्षमापण भाव के इस आवेग के साथ कवि ने छन्दों एवं अलङ्कारों का चमत्कारपूर्ण प्रयोग किया है। क्षमायाचनापरक एक पद्य द्रष्टव्य है -

नत्वा साष्टाङ्गपातं तव पदकमले मूर्ध्नि विन्यस्तहस्तः
स्फायद्बाष्पाम्बुधाराव्यतिकरकलुषीभूतनेत्रोऽतिमात्रम्।
भूयो भूयोऽपि याचत्ययमतिकृपणो विप्रतीसारमग्नो
दासस्ते सर्वमागोऽप्यनितरशरणस्यास्य नाथ! क्षमस्व।। १/५

(तुम्हारे चरण-कमलों में साष्टाङ्ग नमन करके सिर पर हाथ रखे हुए, बढ़ती हुई आँसुओं की धारा के समूह से अत्यधिक कलुषित हुए नेत्रों वाला, अत्यन्त दीन, पश्चात्ताप में डूबा यह दास अपने सब अपराधों के लिए क्षमा मांगता है। हे स्वामिन्! कहीं अन्यत्र शरण न पाने वाले इसे क्षमा कर दीजिए।)

ज्ञातव्य है कि यह काव्य तिरुवनन्तपुर से १६६२ में प्रकाशित हो चुका है।

क्षमापणसहस्र के अस्वीकार होने पर कवि ने 'यमप्रणामशतकम्' लिखा, जिसमें यम से महाराज के मारने की प्रार्थना है। कामाक्षी की स्तुति में उन्होंने 'क्षमापणाष्टक' भी लिखा है। राजप्रशंसापरक काव्यों में कवि के 'विशाखराजप्रशस्तिः' 'श्रीमूलकमहाराजपादपद्मशतकम्' तथा 'तुलाभारशतकम्' काव्य प्राप्त होते हैं। महारानी विक्टोरिया की प्रशस्ति में 'नक्षत्रमाला' तथा 'विक्टोरियाचरितसंग्रहः' दो लघुकाव्य प्राप्त हैं। उनके द्वारा रचित स्तोत्र काव्य अनेक हैं-जैसे 'व्याघ्रालयेशशतकम्' 'शोणाद्रीशस्तोत्र', 'गुरुवायुपुरेशस्तोत्र', 'स्कन्दशतकम्', 'चंगनादीश्वरीस्तोत्र', 'त्रिशत्यन्तम्', 'ललिताम्बास्तोत्र', 'दण्डनाथस्तोत्र', 'शत्रुसंहारप्रार्थनाष्टकम्' आदि।

मानविक्रम तम्पुरान - केरल के एक अन्य प्रसिद्ध कवि कोटिक्कोट मानविक्रम एट्टन तम्पुरान का जन्म भी १८४५ ई. में मलाबार में हुआ। उन्होंने भी प्रभूत काव्य-सर्जना की।

उनके 'केरलविलास' में केरल की उत्पत्ति का वर्णन है। दूसरे खण्डकाव्य 'रणसिंगुराजचरितम्' में उज्जयिनी के राजा रणसिंगु का चरित वर्णित है। 'तुलापुरुषदान' विशाखं तिरुनाल के तुलादान के अवसर पर लिखा गया था। कवि तम्पुरान ने एक शृंगाररसमय काव्य 'शृंगारमञ्जरी' का भी प्रणयन किया। 'जननीस्तवः' में माता की महिमा का बखान है। 'धन्याधन्यविवेचनी' में प्रतिश्लोक में कवि ने धन्यों और अधन्यों के क्रमशः गुणों और दोषों का विवेचन किया है। 'प्रेतकामिनी' एक रोचक गीतात्मक काव्य है, जिसमें काशी की एक कन्या की, पति की मृत्यु के बाद भी प्रेतात्मा के रूप मे आकर उसकी उस कामिनी के साथ रमण करने की कथा वर्णित है। 'किराताष्टपदी' भक्तिपरक गीतिकाव्य है। 'प्रश्नोत्तरमाला' में एक योगी का मुमुक्षु को तत्त्वोपदेश है। 'वृद्धविलापः' काव्य में वृद्धावस्था के प्राप्त होने पर कवि का निर्वेद भाव व्यक्त हुआ है। इन्होंने चरित काव्यों की भी रचना की है; जैसे - 'स्वर्गारोहणशतकम्', 'भामिनीचरितम्', ध्रुवचरितम्'। विशाखं तिरुनाल पर 'विशाखविजयोल्लासः' लिखा है। 'उपदेशमुक्तावली' में तीन सौ दृष्टान्तयुक्त उपदेश हैं। दो भक्तिपरक अष्टपदियाँ भी लिखी हैं। कवि का रचनाक्षेत्र बहुमुखी है। उनका शृंगारपरक एक उदाहरण द्रष्टव्य है जिससे उनकी प्रियतमा में भारत के विभिन्न प्रान्तों की रमणियों का चातुर्य दिखाई पड़ रहा है -

भर्तृत्वे केरलानां भणितविलसिते पाण्ड्यभूमण्डितानां
चोलानां चारुगीते यवनकुलभुवं चुम्बने कामुकानाम्।
गौडानां सीत्कृतेषु प्रतिनवविविधालिङ्गने मालवानां
चातुर्यं ख्याति चैतत् त्वयि सकलमिदं दृश्यते वल्लभाद्य।।

अप्पाशास्त्री राशिवडेकर - अप्पाशास्त्री आधुनिक काव्यक्षेत्र के युगप्रवर्तक कवि हैं। उनका जन्म १८७३ ई. में महाराष्ट्र के कोल्हापुर जिला के अन्तर्गत राशिवडे ग्राम में हुआ था। वे बहुमुखी कारयित्री प्रतिभा के धनी थे। उनके कवित्व का प्रसार मासिक 'संस्कृत चन्द्रिका' तथा साप्ताहिक 'सूनृतवादिनी' से विशेष हुआ। समस्यापूर्ति रूप अनेक स्फुट पद्य उन्होंने लिखे। कविवर ने 'शाहोः कुमारावाप्तिः' एवं 'उद्वाहमहोत्सवम्' काव्यों द्वारा अपने समय के अंग्रेज़ राजकुमार 'प्रिंस ऑफ वेल्स' के प्रशासनिक एवं वैवाहिक वृत्तों को निबद्ध किया है। कवि ने राष्ट्रीय सन्दर्भ के भी काव्य लिखे। 'पञ्जरबद्धशुकः' में उन्होंने पराधीनता के पाश में बँधे भारत का स्वरूप चित्रित किया है, तो 'तिलकस्य कारागृहनिवासः' बालगङ्गाधर तिलक के ज़ेल में बन्द होने का इतिवृत्त वर्णित है। स्तोत्रकाव्यों की परम्परा में उन्होंने 'श्रीकण्ठपदभूषणम्' की रचना की है।

'संस्कृत-चन्द्रिका' पत्रिका की मासावतरणिकाओं में उन्होंने चैत्र से लेकर फाल्गुन तक बारहों महीनों का वर्णन किया है। उनके वर्णनों में प्रकृति के विविध आलम्बनगत एवं उद्दीपनगत रूप मिलते हैं। 'मल्लिकाकुसुमम्' में कवि ने मालती लता के पुष्प के माध्यम से मानवीय भावना को चित्रित किया है। 'कुसुमस्तबकः' में कवि ने पुष्प के सौन्दर्य, सौरभ,

पराग आदि बाह्यगुणों के साथ उसके देवपूजोपयोगिता आदि गुणों की प्रशंसा की है। 'दावानलविलासः' में पर्वत प्रदेश पर उठी हुई जंगल की आग का वर्णन किया गया है।

'उपवनतटाकम्' काव्य में चांदनी भरी रात में उपवन के तट पर स्थित सरोवर के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन है। 'कविप्रभावः' तथा 'धाता धत्ते धियं कवेः' भी उनके उत्कृष्ट लघु काव्य हैं। राशिवडेकर ने दुःख-शोकमय विलाप-काव्य भी लिखे हैं। 'निर्धन-विलापः' में निर्धनता का करुण वर्णन किया है, 'वल्लभविलापः' में वियोगिनीवृत्त में प्रिय का विलाप तथा 'विधुरविलापः' में पत्नी के निधन पर पति का विलाप वर्णित किया गया है। 'सुधाकरसुभाषितम्' नाम से एक सुभाषित-काव्य भी उन्होंने लिखा है, जिसमें उनका जीवन-दर्शन प्रतिबिम्बित होता है। उनके अन्य लघुकाव्य हैं- 'उदरप्रशस्तिः' (सामाजिक व्यंग्य) 'आशीर्वचनरत्नमालिका' 'आक्रन्दम्' (स्तोत्रकाव्य), 'ईशानन्दपुष्पाञ्जलिः' (स्तोत्रकाव्य) आदि। लघुकथा, नाटक, आलोचना आदि अतिरिक्त लेखन को न जोड़ें तब भी राशिवडेकर जी का काव्य-साहित्य की प्रभूत श्रीवृद्धि करने में अपूर्व योगदान है। वे सचमुच एक युगान्तरकारी कवि हैं और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त को 'राशिवडेकर-युग' के नाम से जाना जा सकता है। उनके विशाल वाङ्मय से केवल दो उदाहरण देना पर्याप्त होगा, जिसमें से एक में (पञ्जरबद्धशुकः) उन्होंने प्रतीकात्मक रूप से परतन्त्रता में बंधे भारत का चित्रण किया है -

शुक सुवर्णमयस्तव पञ्जरो
विविधरत्नचयप्रतिमण्डितः।
कलयते हृदयं न मुदान्वितं
समपसार्य मनः क्लममन्वहम्।।

(हे तोते! सोने से बना, विविध रत्नों के समूह से सुशोभित तुम्हारा यह पिंजरा मन के खेद को दूर कर हृदय को प्रसन्न नहीं करता है।) 'विधुरविलापः' का यह पद्य भी कवि के मार्मिक चित्रण को व्यक्त करता है -

भवदाननशोभया तया
विजितत्वात् खलु हन्त सन्ततम्।
विधुरं विधुरङ्गनामणे
कुरुते ते वसतिं मनो मम।।

(हे रमणियों में श्रेष्ठ प्रिये! तुम्हारे मुख की उस शोभा से जीते जाने के कारण चन्द्रमा तुम्हारे निवास स्थान मेरे मन को विधुर बनाये दे रहा है।)

रामावतार शर्मा १८७७-१९२९ आधुनिक संस्कृत-साहित्याकाश के देदीप्यमान नक्षत्र म.म. रामावतार शर्मा का जन्म में बिहार के छपरा में हुआ था। उन्होंने पटना,

कलकत्ता तथा वाराणसी में अध्यापन-कार्य किया। वे 'मित्रगोष्ठी' पत्रिका के सम्पादक रहे। पं. रामावतार में कवित्व एवं पाण्डित्य का अपूर्व समन्वय था। उनकी प्रखर मेधा और अद्भुत कवित्वशक्ति का प्रमाण यह है कि उन्होंने अठारह-उन्नीस वर्ष की कैशोर्यावस्था में (१८६४ ई.) में 'मारुतिशतकम्' जैसे प्रौढ़ काव्यों की रचना की। 'मारुतिशतकम्' की भाँति शङ्कर की स्तुति में कवि ने 'शम्भुशतकम्' लिखा है, कृष्ण की स्तुति में कृष्णस्तवकल्पतरुः तथा सरस्वती के स्तवन रूप में 'सरस्वत्यष्टक' की रचना की है। 'अभिनवभारतम्' जिसे 'भारतीयमितिवृत्तम्' भी कहा जाता है, में भारत का इतिहास निबद्ध है। 'शतश्लोकीयं धर्मशास्त्रम्' तथा 'सत्यदेवकथा' उन्हीं की रचनायें हैं। सात अध्यायों में निबद्ध 'श्री सत्यनारायण की कथा' काव्य सत्यनारायण की कथा के अनुकरण पर निबद्ध है। इसमें कवि के प्रतीक रूप पात्र मुद्गरानन्द से मूर्खताग्रस्त एवं पापदूषित भारत के उद्धार का उपाय पूछा गया है। उत्तर के रूप में समग्र ब्रह्मांड का भौगोलिक एवं ऐतिहासिक परिचय देते हुए भारत की अतीत एवं वर्तमान दशा का चित्रण किया गया है।

पण्डित शर्मा का सर्वाधिक प्रसिद्ध काव्य है 'मुद्गरदूतम्', जो दूतकाव्य-परम्परा का अंग होने पर भी शृंगारिक या वियोगपरक नहीं है, अपितु यह सर्वथा नवीन पैरोडी है या हिन्दू समाज की बुराइयों पर एक हास्यप्रधान मार्मिक चोट है। इसमें व्यभिचारी मूर्खदेव का विचित्रतापूर्ण वर्णन है। यह काव्य पूर्वमुद्गर, मध्यमुद्गर एवं उत्तरमुद्गर तीन भागों में विभाजित है तथा इसमें १८८ पद्य मन्दाक्रान्ता वृत्त में हैं। कवि शर्मा ने 'जार्जप्रशस्तिः' नाम से एक प्रशस्तिकाव्य भी लिखा है। प्रकृति के रम्य रूपों के उद्घाटन में उनकी काव्यकला का प्रकर्ष दिखाई पड़ता है। उनके वसन्तवर्णन में कितनी रमणीयता है -

प्रियकथां मलयानिल एकया-
नुयुयुजे परया किल कोकिलः।
ललनया विनयेन समुल्लसत्-
कुतुकया तु कयापि मधुव्रतः।।

(किसी एक रमणी ने मलयानिल से प्रिय की कथा को पूछा तो दूसरी ने कोयल से और विनयपूर्वक उल्लसित कौतूहल वाली एक ललना ने भ्रमर से प्रेमकथा को पूछा।)

विधुशेखर भट्टाचार्य- ये अनेक विश्वविद्यालयों में संस्कृत-प्राध्यापक रहे। अपने प्रतिभाबल से उन्होंने प्रभूत साहित्य-सर्जना की। उन्होंने राष्ट्रभक्ति सम्बन्धित तीन रचनाएँ लिखी हैं - 'भारतभूमिः' 'बद्धविहंगः' तथा 'उद्बोधनम्'। बद्धविहगः में कवि पराधीन भारत का प्रतीकात्मक ढंग से वर्णन करता है। 'उद्बोधनम्' में वह परतन्त्रता में जकड़े देशवासियों को जगाता है। भट्टाचार्य ने अनेक प्रकृति-वर्णनपरक कवितायें लिखी हैं, जैसे 'वर्षावैभवम्', 'वारिदामन्त्रणम्', 'प्रभातकुन्दम्', 'चन्द्रिकाप्रशस्तिः', 'मलयमारुतः', 'वसन्तः', 'ग्रीष्मः' आदि। ये सभी मित्रगोष्ठी पत्रिका में प्रकाशित हुई हैं, जिसके वे स्वयं सम्पादक थे। एक ओर

उन्होंने 'यौवनविलासः' जैसी शृंगारिक तथा 'चित्तविलासः' जैसी दार्शनिक रचनायें लिखीं हैं तो दूसरी ओर 'जीर्णतरुः' जैसी वृद्धावस्था को लक्ष्य करके लिखी गई तथा 'नैराश्यम्' जैसी निर्वेदपरक रचनायें भी हैं। 'भ्रातृविलापः' कारुण्यपूर्ण कविता है। समस्यापूर्ति के अतिरिक्त विधुशेखर जी ने स्तोत्रकाव्यों की भी रचना की है, जैसे 'प्रार्थनापरिपाकः', 'शिवस्तोत्रम्' 'दुर्गाशतकम्' आदि।

भट्ट मथुरानाथ शास्त्री-(उपनाम मंजुनाथ) का जन्म जयपुर में १८८६ ई. में हुआ। यद्यपि उनके काव्य का प्रतिफलन बींसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही हुआ, तथापि शास्त्रीजी को उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दी के आधुनिक लघुकाव्य का मध्यसेतु कहा जा सकता है। भट्टजी लम्बे समय तक जयपुर में संस्कृत-शिक्षा के अधीक्षक रहे तथा 'संस्कृतरत्नाकर' एवं 'भारती' संस्कृत-पत्रिकाओं का सम्पादन करते रहे। उन्होंने 'ईश्वरविलासः' स्वतन्त्र खण्डकाव्य तथा 'पद्यमुक्तावली' नामक काव्य-संग्रह लिखा। 'त्रिपुरसुन्दरीस्तवराज' उनका स्तोत्रकाव्य है। 'मञ्जुकवितानिकुञ्ज' में उनकी अधोलिखित कवितायें प्रकाशित हैं-साहित्यवैभवम्, जयपुरवैभवम्, संस्कृतगाथासप्तशती, संस्कृतसर्वस्वम् तथा काव्यकलारहस्यम्।

इन प्रमुख कवियों के अतिरिक्त जिन अन्य अनेक कवियों ने लघुकाव्य-क्षेत्र में अपना योगदान किया है उनके कृतित्व की चर्चा उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भिक विवरण में आ चुकी है। उन्नीसवीं शताब्दी के सातत्य में ही बीसवीं शताब्दी के कवियों एवं काव्यों का विवेचन प्रवर्तमान है।

बीसवीं शताब्दी- कवि और काव्य

ईसा की बीसवीं शताब्दी का काल संस्कृत काव्य रचना हेतु अत्यन्त उर्वरता का काल रहा। वस्तुतः बीसवीं शताब्दी ही आधुनिक संस्कृत-साहित्य का अर्वाचीनतम काल है। इस कालावधि में भी निरन्तर संस्कृत साहित्य की श्री का संवर्धन होता रहा। अन्य प्रकार के काव्यों की तरह लघुकाव्यों का भी प्रणयन होता रहा। आधुनिक लघुकाव्य के इतिहास की दृष्टि से बीसवीं शताब्दी को दो कालखण्डों में विभाजित किया जा सकता है। स्वातन्त्र्यपूर्व काल तथा स्वातन्त्र्योत्तर काल। भारत में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए चलने वाले लम्बे राष्ट्रीय संघर्ष के कारण संस्कृत-लघुकाव्यों में इसका व्यापक प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ा। इन काव्यों में परतन्त्रता मुक्ति एवं राष्ट्रभक्ति की प्रबल धारा प्रवाहित हुई और सबसे अधिक संख्या में काव्य इसी धारा में लिखे गए। स्वातन्त्र्योत्तर काल अर्थात् बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लघुकाव्य की दिशा में परिवर्तन हुआ। लघुकाव्य का क्षेत्रविस्तार हुआ, अनेक नवीन प्रवृत्तियों एवं शैलियों की उद्भावना हुई। उत्तरोत्तर विषय-वैविध्य भी बढ़ता गया। बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध संस्कृत-लघुकाव्य विधा का चरमोत्कर्ष काल है। अनुदिन बढ़ती युग की दौड़ में बड़े काव्यों के स्थान पर लघु काव्यों की रचना को अधिक प्रोत्साहन दिया गया। लघुकाव्यों की इस दीर्घ परम्परा का विहंगावलोकन करते हुए, हम इस काल के प्रमुख कवियों और उनके काव्यों का समीक्षात्मक विवरण प्रस्तुत करते हैं।

बींसवीं शताब्दी की काव्य परम्परा का आरम्भ हम उन कवियों से मानते हैं जिनका जन्म तो इस शताब्दी के आरम्भ से कुछ पहले हो गया था, परन्तु उनकी साहित्य-सर्जना का पूरा प्रतिफलन बीसवीं शताब्दी में ही हुआ। अतः यथा सम्भव कालक्रमानुसार इस काल के कवियों के कर्तृत्व का विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

पण्डिता क्षमाराव - इनका रचनाकाल वस्तुतः १६२० ई. सन् से आरम्भ हुआ और संस्कृत-लेखन का आरम्भ १६३१ से हुआ। वे भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम तथा गांधीजी के जीवन-दर्शन से बहुत प्रभावित थीं, फलतः इनकी सब कृतियों पर इसका प्रभाव पड़ा। और इसीलिए उनमें राष्ट्रभक्ति की लहरियाँ लहरा रही हैं। पण्डिता क्षमा ने महाकाव्य एवं कथाकाव्य भी लिखे, लघुकाव्यों एवं नाट्यकाव्यों की भी सर्जना की। उनके प्रकाशित ग्रन्थ १२ हैं- सत्याग्रहगीता (१६३२), कथापञ्चकम् (१६३४), विचित्रपरिषद्यात्रा (१६३६), शकुङरजीवनारख्यानम् (१६३६), मीरालहरी (१६४४), उत्तरसत्याग्रहगीता (१६४४), तुकारामचरितम् (१६५०), रामदासचरितम् (१६५३), ग्रामज्योतिः (१६५५), स्वराज्यविजयः (१६६२)। इसके अतिरिक्त ७ एकाकुडी नाटक, ४ तीन अकुङ्कों वाले नाटक तथा ३५ लघुकथायें आदि भी अप्रकाशित रूप में उपलब्ध हैं। इनके लघुकाव्यों का विवरण इस प्रकार है-

विचित्रपरिषद्यात्रा - यह श्रीमती क्षमा की सबसे लघु रचना है जिसमें १६३२ में त्रिवेन्द्रम में हुए 'अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन' (ऑल इण्डिया ओरिएण्टल कॉन्फ्रेंस) के अनुभवों का विवरण दिया गया है।

मीरालहरी-कृष्ण-भक्ति में लीन मीरा के जीवन को लेकर कवयित्री क्षमा ने यह काव्य लिखा है। यह पूर्वखण्ड एवं उत्तर खण्ड, दो भागों में विभाजित है। राज परिवार में विवाह होने पर भी कृष्णभक्तिमत्ता मीरा की क्या-क्या प्रताड़नाएँ हुईं, क्या कष्ट उन्हें दिये गए, इसका पूरा वृत्त इसमें वर्णित है। मीरा की इस दशा का वर्णन करती हुई क्षमा जी कहती हैं-

ध्यायन्ती मनसा जपैः प्रणुतिमिः कृष्णप्रसादेप्सिनी
लेभे सा क्षणमेकदैव सहसा देवस्य सन्दर्शनम्।
दिव्यं तच्च पुनर्विलुप्तमभवत् साऽप्यश्रुधाराजलैः
शुष्कापाण्डु ममार्ज वक्त्रनलिनं चेतोवसादं गता।।

(मन से जपों और प्रणामों से ध्यान करती हुई, कृष्ण के प्रसाद को चाहने वाली उस मीरा ने सहसा एक साथ उसी क्षण देव कृष्ण का दर्शन पा लिया। पर दिव्य-रूप वे फिर से विलुप्त हो गए और इससे मन में दुःखी हुई मीरा ने आँसुओं के जल की धाराओं से सूखे एवं पीले हुए अपने मुखरूपी कमल को धो डाला।)

यह पूरा काव्य भावपूर्ण है, शार्दूलविक्रीडित वृत्त में लिखा हुआ है। ग्रामज्योतिः - यह लघुकाव्य तीन मयूखों में विभाजित हैं प्रथम मयूख का शीर्षक है 'रेवायाः कथा' जिसका

घोषित सूक्तिवाक्य है- 'देशाभ्युदयसक्तानां तृणाय धनसम्पदः। द्वितीय मयूख का नाम है 'कटुविपाकः' जिसका लक्ष्य है- 'परसेवी निजद्वेषी कुलमृत्युर्न संशयः' तृतीय मयूख 'वीरभा' नाम से ख्यात है जिसका सिद्धान्तवाक्य है- 'दुर्जनोऽपि सतां सङ्गाद् भवत्येव हि सज्जनः'।

स्वराज्यविजयः - यह ५४ अध्यायों का काव्य है जिसमें युगपुरुष महात्मा गान्धी के जीवन के चरम खण्ड में घटने वाली विविध घटनाओं, विशेष रूप से देश के दो खण्ड होकर मिलने वाली स्वराज्य-विजय की घटना की कवयित्री ने दुःख व्यक्त करते हुए लिखा है। गान्धीजी ने हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के रूप में भारत माता का खण्डन चाहने वाले लोगों से कहा था-

अयि भो बान्धवा मा मा भैष्टास्मिन् प्रस्तुते मनाक्।
प्राणेभ्योऽपि हि मे प्रेयान् मातृभूमेः सुखोदयः।।
खण्डनं स्वशरीरस्य करिष्येऽहं सहस्रशः।
न तु स्वप्नेऽपि विच्छेदं चिन्तयिष्ये जनुर्भुवः।।

(भाइयों ! इस विषय में आप लोग थोड़ा भी मत डरिये। अपनी मातृभूमि का सुखोदय मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय है। मैं अपने शरीर के हज़ारों टुकड़े कर लूँगा, पर जन्मभूमि के खण्डन की बात सपने में भी नहीं सोचूंगा।)

महात्मा गान्धी की पतितोद्धार, समाज-सुधार आदि सेवाओं का उल्लेख करती हुई, १९४५-४६ वर्ष की घटनाओं का विवरण देती हुई क्षमा देश के खण्डन की विवशताभरी कथा के साथ स्वराज्य प्राप्ति का वर्णन करती हैं। अन्त में गान्धीजी के महानिर्वाण को कवयित्री ने बड़ी भावुकता के साथ अङ्कित किया है।

इस प्रकार पण्डिता क्षमाराव बीसवीं शती के संस्कृत काव्य की एक युगनिर्मात्री कवयित्री हैं, जिन्होंने एक ओर संस्कृत को तत्कालीन राष्ट्रीय धारा से जोड़ा और दूसरी ओर आधुनिक युग के अनेक व्यावहारिक एवं राजनीतिक शब्दों का संस्कृत में निर्माण कर अर्वाचीन संस्कृत साहित्य का श्रीसंवर्धन किया। आधुनिक संस्कृत लघुकाव्य को उनका योगदान महनीय एवं अविस्मरणीय है।

प्रभुदत्त शास्त्री-पण्डिता क्षमाराव के जन्म के एक वर्ष बाद अर्थात् १८९२ ई. में प्रभुदत्त शास्त्री का जन्म हुआ और १९७२ तक जीवित रहे। अतः उन्हें बीसवीं शताब्दी का कवि ही मानना उचित है। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई की शौर्यकथा का उस युग पर पूरा प्रभाव था। अतः शास्त्रीजी ने 'झाँसीश्वरीशौर्यामृत' काव्य लिखकर रानी लक्ष्मीबाई के द्वारा अँग्रेज़ों के विरुद्ध लड़े गए युद्ध की गाथा को सामने रखा। स्वदेशी के प्रभाववश गान्धीजी ने चारों ओर चर्खे का प्रचार और प्रयोग किया। उसी प्रभाव से कवि ने 'चर्खावन्दनामृत' काव्य की रचना की। उन्होंने तीन 'अमृतकाव्य' और लिखे-राष्ट्रभक्ति से प्रेरित 'राष्ट्रध्वजामृत', आयुर्वेद के जनक धन्वन्तरि के जीवन पर आधारित 'धन्वन्तरिजन्मामृत'

तथा 'नान्दीश्रद्धामृत'। कवि के दो लघुकाव्य और है -**'संस्कृतवाक्सौन्दर्य'** तथा **'श्रीरामकीर्तिकौस्तुभ'**।

श्रीकान्तपति शर्मा त्रिपाठी -. इनका जन्म सन् १८६२ में गोरखपुर जनपद के एक ग्राम में हुआ था। त्रिपाठी जी ने अपने जीवनकाल में पर्याप्त काव्यरचना की, परन्तु उसका प्रकाशन न हो सका। इधर १८८६ वर्ष में गङ्गनाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद से श्रीकान्त कविताकलापः के नाम से उनके समस्त काव्य-सङ्ग्रह सङ्कलित हैं। अनेक शीर्षकों में विभाजित विविध स्फुट कविताओं के अतिरिक्त कवि द्वारा रचित अनेक सुभाषितों का दर्शन यहाँ होता है। प्रकीर्ण मुक्तक एवं प्रकीर्ण सुभाषित शीर्षक से कवि अनेक सुन्दर पद्यों को उपन्यस्त करता है। गङ्गा, शिव, कृष्ण, कालिका, स्वगुरु आदि की अनेक भावपूर्ण स्तुतियाँ कवि ने लिखी हैं। वनमाला, पुष्करकरण्डक, अरुणोदय, कोजागरा आदि प्राकृतिक उपादानों को ग्रहण कर कवि ने मनोरम चित्राङ्कन किया है। 'वनमाला' शीर्षक के अन्तर्गत ६१ तथा 'दिव्यालोक' के अन्तर्गत ८३ श्लोक निबद्ध हैं। 'सिंहोन्नताशतकम्' एक शतक काव्य है जिसके अन्त में कवि ने अपनी कविता के बारे में लिखा है-

जानन्ननेकभाषाकल्पं वैभाषिकञ्चयोऽध्यैष्ट।
तस्य श्रीकान्तपतेः कृतिमालोक्यान्तरुल्लसन्ति न के।।

इसके अतिरिक्त 'रुक्मिणीहरणम्', 'श्येनकपोतीयमाख्यानम्', 'निर्वाणामृतम्', 'श्रीसीताकटाक्षशतकम्' आदि कई लघुकाव्यों की रचना त्रिपाठी जी ने की। कवि की लेखनी में शक्ति है, भाषा में प्रौढि और शैली में प्राञ्जलता है। पारम्परिक पण्डितकुल का प्रभाव काव्य पर परिलक्षित होता है। समस्यापूर्ति-परक एक श्लोक द्रष्टव्य है-

मरालकुलभूषणं स्फटिकमालिकालालितं
मुखाब्जमभितः पतन्मधुकरालिझङ्कारितम्।
नृणामभयदायकं कनककान्ति सारस्वतं
कवीन्द्रकुलदैवतं हृदि चकास्तु दिव्यं महः।।

(हंसों के समूहरूपी आभूषण वाले, स्फटिकमणि की माला से सुशोभित, मुखरूपी कमल के चारों ओर गिरते हुए भ्रमरों की पंक्तियों के गुञ्जन से गुञ्जित, लोगों को अभय देने वाला, स्वर्णिम कान्ति वाला, बड़े-बड़े कवियों के समूह का देवस्वरूप दैवी सरस्वती सम्बन्धी तेज हमारे हृदय में प्रकाशित हो।)

बदरीनाथ झा १८६३-१६७३- बीसवीं शताब्दी में बिहार में संस्कृत के जो साहित्यकार साहित्य के क्षितिज पर उभरे, उनमें पं. रामावतार शर्मा के बाद 'कविशेखर' बदरीनाथ झा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। १६३८ में प्रकाशित 'राधापरिणय' महाकाव्य के अतिरिक्त झा जी की अन्य अनेक कृतियाँ प्रकाश में आई हैं, जैसे प्रमोदलहरी, जो

रमेश्वर प्रेस, दरभंगा से १९११ में प्रकाशित हुई। इसमें कवि की आरम्भिक अवस्था की ५३ स्तुतियों को संगृहीत किया गया है। राजस्थानप्रस्थानम् यह एक खण्डकाव्य है जिसमें दरभंगा-महाराज रमेश्वर सिंह की काशी, जयपुर, हिसार, भिवानी, दिल्ली, बीकानेर, चित्तौर, उदयपुर आदि स्थानों की यात्रा का २०५ श्लोकों में रोचक वर्णन है। यह यात्रा दरभंगा-महाराज ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए धन-संग्रह के उद्देश्य से की थी। 'अन्योक्तिसाहस्री'-नाम का मुक्तक काव्य १९३८ में काशी से प्रकाशित हुआ था। एक हज़ार अन्योक्तियों से भरी यह रचना दस शतकों में इस प्रकार विभाजित है -जलाशयशतक, खचरशतक, शकुन्तशतक, स्थावरशतक, तरुवरशतक, लताशतक, पशुशतक, यादश्शतक, तथा प्रकीर्णशतक। कविवाणी के विषय में कवि ने अपनी अभिमत दृष्टि इस प्रकार दी है-

अनलङ्कृताऽपि कविवाग् रमणीया व्यङ्ग्यसङ्गता भवति।
निर्भूषणाऽपि रमणी राजति लावण्ययोगेन।।

कवि की अन्योक्ति पद्धति का यह पद्य उद्घरणीय है-

राकेश तेजसा ते ध्वान्तं जगतोऽपसार्य किं विहितम्।
यदि कालिमा स्वकीयो द्रागपि दूरीकृतो नायम्।।

(हे चन्द्रमा ! तुम्हारे तेज ने यदि अपने इस कलङ्क को झट से दूर नहीं कर दिया तो संसारभर के अंधकार को दूर करके भी क्या कर दिया।)

इनके अतिरिक्त कवि के अन्य उल्लेखनीय लघुकाव्य हैं-'काश्यपकुलप्रशस्तिः', 'काव्यकल्लोलिनी', 'संस्कृतगीतरत्नावली' तथा 'शोकश्लोकशतकम्' आदि। इस कवि ने अपने कृतित्व से कविशेखर की उपाधि को चरितार्थ किया है।

महीधर वेङ्कटराम शास्त्री- इनका जन्म बीसवीं शताब्दी के प्रथम वर्ष अर्थात् १९०१ ई. में राजमहेन्द्रवर, आन्ध्र-प्रदेश में हुआ था। शास्त्री जी ने संस्कृत में दार्शनिक काव्य लिखने की परम्परा डाली और इस शास्त्रीय परम्परा के दो काव्य लिखे, जिनका विवरण इस प्रकार है-

'मानसरसकेली'-कवि ने इस काव्य को 'हृदयपद्यं शान्तिकाव्यम्' कहा है और इसका अंग्रेजी रूपान्तर 'मिर्थफुल डांस आफ माइंड' किया है। इसका प्रकाशन १९६९ ई. में हुआ। शास्त्री जी ने दार्शनिक भावभूमि पर इस काव्य को १२ प्रकरणों में विभाजित किया है-बाह्यजगत्, काव्यजगत्, कर्मजगत्, भक्तिजगत्, योगजगत्, नाडीजगत्, चैतन्यजगत् पराशक्तिजगत्, जीवजगत्, अभ्यासजगत् आनन्दजगत् और कैवल्यजगत्। कवि ने इस शान्तरस प्रधान पद्यकाव्य में अन्तःकरण रूप मन के तत्त्व का दार्शनिक चिन्तन किया है। बाह्यजगत् से आरम्भ कर कैवल्य जगत् तक मन के प्राधान्य का प्रतिपादन इसमें किया गया

है। वस्तु शास्त्रीय है, शैली परिभाषिकपदभूयिष्ठा है। शिखरिणी छन्द का प्रयोग है। मन तथा तदनुरूप अन्यवृत्तियों का विवेचन करते हुए कवि कहता है -

मनो बुद्धिश्चित्तं त्वथ पृथगहङ्कार इति तच्-
चतुर्थायामन्तःकरणमयते कार्यवशतः।
मनः संकल्पस्य प्रभुरिति जगत् कार्यमखिलं
तदायत्तं तेन प्रचलति चतुर्ष्वस्य महिमा।।

(अन्तःकरण कार्य के वश में होकर मन, बुद्धि, चित्त और चौथे अंहकार इन नामों को प्राप्त करता है। मन संकल्प का स्वामी है। इसलिए संसार का सब कार्य उसके अधीन है। इसलिए इन चारों में इसकी महिमा चलती है।)

काव्य के ऊपर यह मूलवाक्य अङ्कित है-

जानाति यश्चित्तगतिं निगूढां
स शान्तिमाप्नोति विकारदूरः।

'दहरचन्द्रिका'-वैयाकरण, साहित्यविद्याप्रवीण, आयुर्वेदविशारद महीधर शास्त्री के इस काव्य का प्रकाशन १९७१ में हुआ। इस काव्य का अँग्रेजी रूपान्तर कवि ने मून लाइट आफ़ थर्ड वेन्ट्रिकल किया है। इस काव्य में भी गूढ एवं जटिल विषय को पद्यबद्ध करके दार्शनिक विषय को काव्यरूप देकर शास्त्रीजी ने सचमुच कठिन कार्य किया है। परब्रह्म भी कृपाप्रप्ति भी कामना इस श्लोक में इस प्रकार व्यक्त की गई है -

सहस्रारगर्भे हृदाकाशदह्रे
विराजत्सुधांशोर्वलक्षोच्चबिम्बात्।
निरन्तप्रसाराग्रभूमेर्लसच्-
चन्द्रिकायाः कृपातः समस्तं हि शस्तम्।।

सहस्रार के गर्भ में, हृदाकाशरूप दावाग्नि में विराजते हुए चन्द्रमा के ऊँचे मण्डल से अनन्त प्रसार की अग्रभूमि में सुशोभित चन्द्रिका की कृपा से सारा विश्व व्याप्त है।

समस्त काव्य भुजङ्गप्रयात छन्द में निबद्ध है। इसमें १३७ पद्य हैं। अन्त में कवि कहता है कि यह दहरवन्द्रिका काव्य मनस्सन्ताप करने वालों के हृदय में परमानन्द प्रदान करे। इस प्रकार सृष्टि के गहन दार्शनिक विषयों का काव्य के क्षेत्र में प्रवेश करा कर शास्त्रीजी ने एक विशिष्ट साहित्यिक प्रवृत्ति का प्रवर्तन किया है।

विद्याधर शास्त्री - इनका जन्म भी बीसवीं शताब्दी के प्रथम वर्ष अर्थात् १९०१ में हुआ और वे १९८३ तक जीवित रहे। इन्होंने अनेक लघुकाव्यों की रचना की जिनमें तीन लहरीकाव्य हैं-'वैचित्र्यलहरी', 'मत्तलहरी' और 'लीलालहरी'। एक 'अनुभवशतक' नामक

शतक काव्य है। तीन काव्य और हैं-'हिमाद्रिमाहात्म्य', 'काव्यवाटिका' एवं 'आनन्दमन्दाकिनी।

अमृतवाग्भवाचार्य-आचार्य जी का जन्म १९०३ ई. में हुआ और वे १९८२ तक जीवित रहे। उन्होंने दों स्तोत्र काव्य लिखे-'परमशिवतोत्र' एवं 'मन्दाक्रान्तास्तोत्र'। दो अन्य काव्य हैं-'राष्ट्रालोक' तथा 'अमृतसूक्तिपञ्चाशिका'।

ओट्टूर उष्णि नम्बूदरीपाद-कवि नम्बूदरीपाद का जन्म १९०४ ई. में केरल प्रान्त में हुआ था। आपका 'राधाकृष्णरसायनम्' काव्य १९८२ में देववाणी परिषद, दिल्ली से प्रकाशित हुआ। यह भक्तिरस से परिप्लुत काव्य है। आराध्य राधा और कृष्ण के विषय में कवि के उद्गार व्यक्त हुए हैं। कहीं कवि राधा-कृष्ण की स्तुति करता है, कहीं लीला का वर्णन करता है। वह इस रसायन को भवमहाज्वर से पीड़ित लोगों के लिए स्वास्थ्यकर मानता है। काव्य में २४ शीर्षकों में ५५६ पद्य लिखे गए हैं, जिनमें कहीं कवि नररूप श्रीकृष्णात्मक ज्योति को नमस्कार करता है तो कहीं अपने आराध्य का महत्त्व और अपना लाघव वर्णित करता है। कहीं आत्म-निवेदन करता है तो कहीं कृष्ण की विविध कलाओं का वर्णन करता है। कहीं राधा की अनन्य प्रेमपरता, समर्पणशीलता, त्यागमयता, विरहसाधना, सात्त्विकता आदि गुणों की मनोरम व्यञ्जना करता है, तो कहीं प्रकृति-वर्णन और विविध रसदशाओं को उपन्यस्त करता है। अक्षर-अक्षर में कवि की भक्ति भावना अनुप्रणित है। काव्य में सर्वत्र रस का सागर है, आनन्द की लहरियाँ हैं। समस्त काव्य एक मुक्तक स्तोत्रकाव्य के रूप में है, पर 'राधाविलास' प्रकरण में 'प्रबन्धात्मकता है और वह नौ उल्लासों में विभक्त है। मुख्य रस भक्ति है, वात्सल्य और शृङ्गार दो रस और प्राप्त होते हैं। अलङ्कारों और छन्दों का वैविध्यपूर्ण प्रयोग प्राप्त होता है और उनके अनेक चमत्कार देखने को मिलते हैं। अन्त्यानुप्रासमय भक्तिश्लोक दर्शनीय है-

कलायकुसुमत्विषे शिरसि बर्हमालाजुषे
नवोद्धृतपयोमुषे निगमसौरभेयीपुषे।
अघादिखलविद्विषे तरणिजातटे तस्थुषे
नराकृतिभुपेयुषे नम इदं परंज्योतिषे।।

(मटर के पुष्प के समान कान्ति वाले, सिर पर मोरपंख की माला धारण करने वाले, नये मेघ के समान, वेद रूपी गाय को पुष्ट करने वाले, पाप आदि दुष्टों से द्वेष करने वाले, यमुना के तट पर स्थित होने वाले मनुष्य की आकृति को प्राप्त करने वाले परम तेज स्वरूप उस कृष्ण को नमस्कार है।

सरल भाषा में वियोगव्यथा का यह वर्णन द्रष्टव्य है-

केशं पयोदे भ्रुकुटीं लतायां
नेत्रं सरोजे वदनं शशाङ्के।

कायं कलाये नटनं तरङ्गे
निक्षिप्य राधे क्व गतः प्रियस्ते।।

ब्रह्मानन्द शुक्ल- इनका जन्म १६०४ ई. में उत्तर प्रदेश में हुआ था। आपने महात्मा गान्धी और पं. नेहरू के जीवनचरित पर प्रकाश डालने वाले दो काव्य लिखे 'श्रीगान्धिचरितम्' तथा 'नेहरूचरितम्' जिनमें स्वतन्त्रतासङ्ग्राम के स्वरूप का भी दर्शन होता है। श्री गान्धिचरितम् में अँग्रेजों द्वारा भारतीयों पर किये गए अत्याचारों का वर्णन है। उन्हें 'कुली' एवं 'काले' इन निम्नस्तरीय सम्बोधनों से सम्बोधित किये जाने पर क्षोभ प्रकट किया गया है। साथ ही गान्धीजी के सत्य-अहिंसा आदि साधनों द्वारा देश को स्वतन्त्र कराने का वर्णन किया गया है। इसी बात को आरम्भ में स्थापित करते हुए कवि कहता है-

अहिंसया सत्यबलेन चैव
कार्याण्यसाध्यान्यपि यान्ति सिद्धिम्।
इत्थं व्रतं यस्य सदा समृद्धं
जयत्यसौ मोहनदासगान्धी।।

काव्य के मुखपृष्ठ पर ही कवि ने लिखा है-

येषामात्माहुतिभिः सम्पूर्णोऽभूत् स्वतन्त्रतायज्ञः।
तेषां शाश्वतकीर्त्यै भूयात् सफला कृतिः सेयम्।।

१६६८ में प्रकाशित 'नेहरूचरितम्' भी शुक्ल जी का एक चरित-काव्य है, जिसमें जवाहरलाल नेहरू के समग्र जीवन पर प्रकाश डाला गया है। भारत देश शोभा के वर्णन से युक्त 'भरतसुषमा' भी आपका एक लघुकाव्य है।

रमेशचन्द्र शुक्ल- इनका जन्म १६०६ ई. में हुआ। पश्चिमी उत्तर प्रदेश की कई संस्कृत पाठशालाओं और अन्त में वार्ष्णेय कालेज, अलीगढ़ में अध्यापन कार्य करने में शुक्लजी के जीवन का बहुत भाग बीता। संस्कृत-रचनात्मक साहित्य के प्रणयन में आपकी लेखनी निरन्तर चलती रही। संस्कृत नाटक, निबन्ध, काव्यशास्त्र, स्वतन्त्रता-संग्रामेतिहास आदि विषयों पर रचनाओं के अतिरिक्त शुक्लजी ने अनेक लघुकाव्य लिखे, जो प्रायः राष्ट्रीय सन्दर्भ के ही हैं। इनका विवेचन इस प्रकार है-

गान्धिगौरवम्-इस काव्य का प्रकाशन गान्धी जन्मशताब्दी वर्ष १६६६ में हुआ। ग्रन्थारम्भ में प्रथम पृष्ठ पर ही कवि ने इसका उल्लेख किया है-

गान्धिजन्मशताब्द्या या भाति वेलातिमञ्जुला।
तदर्चार्थमिदं किञ्चिदर्प्यते कृतिकैरवम्।।

कवि ने स्वतन्त्रता-आन्दोलन के समग्र परिप्रेक्ष्य में गान्धीजी के जीवन पर प्रकाश

डाला है। ब्रिटिश शासन का विरोध करने पर गान्धीजी को कठोर कारावास दे दिया गया। इसका वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है-

मनीषिणं तं जगदेकबन्धुं कारालयस्थं विदधुः सिताङ्गाः।
मुहुर्मुहुर्भारतभूविभूतिं साध्यात् परं नो विमुखोऽभवत् सः।।

इस काव्य में १२५ पद्य हैं जो इन्द्रवज्रा वृत्त में निबद्ध किये गए हैं। लालबहादुर शास्त्रिचरितम्-इस काव्य का प्रथम संस्करण सन् १९७१ में प्रकाशित हुआ। इसमें भारत के द्वितीय प्रधानमन्त्री लालबहादुरशास्त्री के सरल एवं महान् व्यक्तित्व की गाथा प्रस्तुत की है। आरम्भ में शास्त्रीजी के व्यक्तित्व पर टिप्पणी करते हुए कवि कहता है-

योऽभूत् प्रकृत्या सरलो विनीतः
शान्तिप्रियो भारतमातृभक्तः।
ऐक्ये न सत्ये धृतधीरनिष्ठः
शास्त्रीड्यते लालबहादुरः सः।।

कवि ने शास्त्रीजी के जन्म, शिक्षा-दीक्षा, संस्कार, सरल जीवन की झाँकी प्रस्तुत करते हुए स्वतन्त्रता आन्दोलन में उनके कूद पड़ने का वर्णन किया है। अन्त में एक-एक पद पर उनके प्रधानमन्त्री पद पर प्रतिष्ठित होने की बातें कवि करता है। अन्य घटनाओं के अतिरिक्त १९६५ के भारत-पाकिस्तान युद्ध की चर्चा कवि ने की है। इस युद्ध के प्रसंग का एक श्लोक द्रष्टव्य है-

शास्त्री तदा देशजनान् स्वकीयान्
उच्चैः सुधीराह्वयति स्म सर्वान्।
यत्ते भवेयुः सकलाश्च सज्जाः
क्षिप्रं रिपोर्मानविमर्दनार्थम्।।

अन्त में शास्त्रीजी की ताशकन्द यात्रा और ताशकन्द-सन्धि के पश्चात् उनके अकस्मात् हुए निधन का वर्णन कवि ने बड़ी मार्मिकता के साथ किया है। काव्य में १८३ पद्य हैं। वसन्ततिलका छन्द का प्रयोग अधिक है।

नवभारतपुराणम्-यह तीन सौ पद्यों का काव्य है जिसमें अनेक अर्वाचीन संस्कृत-कवियों के व्यक्तित्व-कृतित्व आदि का विवरण दिया गया है। आधुनिक संस्कृत साहित्य के परिचय के लिए यह काव्य परम उपयोगी है।

भूवैभवम्-इस काव्य में कवि ने भारतभू पर उत्पन्न हुए अनेक महात्माओं, महर्षियों, शास्त्रकारों, विद्वानों, कवियों, लेखकों, दार्शनिकों तथा अन्य महापुरुषों के जीवन और व्यक्तित्व पर स्वल्प प्रकाश डालते हुए उनकी स्तुति की है। किसी विद्वान्-विदुषी पर कुछ

अधिक पद्य भी प्रस्तुत किये गए हैं। गार्गी, मैत्रेयी जैसी प्राचीन नारियों, वसिष्ठ जैसे ऋषियों, पाणिनि जैसे आचार्यों, शङ्कराचार्य जैसे दार्शनिकों, वाल्मीकि जैसे कवियों का कवि ने पर्याप्त गुणगान किया है। इस काव्य में प्रायः बड़े वृत्तों में निबद्ध २८६ पद्य हैं।

बँगलादेशः-१९७१ वर्ष में हुए भारत-पाकिस्तान युद्ध के परिप्रेक्ष्य में लिखे गये काव्य का प्रकाशन १९७२ में हुआ। इस युद्ध की परिणति 'बँगलादेश' नामक स्वतन्त्र राष्ट्र के जन्म में हुई। अपनी स्वतन्त्रता, राष्ट्रियता हेतु संघर्षरत पूर्व पाकिस्तान की जनता को शरण एवं सहायता देने वाले भारत पर पाकिस्तान ने बमबारी कर युद्ध छेड़ दिया। भारत की वीरवाहिनी ने युद्ध में पाकसेना को परास्त किया और अन्ततः पाकसेना को आत्म-समर्पण करना पड़ा। कवि ने इस युद्ध में अपूर्व शौर्य प्रदर्शित करने वाले कतिपय वीर सैनिकों के युद्ध कौशल का गर्व के साथ बखान किया है। काव्य में २०८ पद्य हैं।

भरतचरितामृतम् - यह २३५ पद्यों का चरितकाव्य है। इसमें कैकेयी के पुत्र भरत के भ्रातृप्रेम एवं त्याग का भावमय वर्णन है। चित्रकूट में भरत राम से अयोध्या वापस चलकर राज्य ग्रहण करने को कहते हैं और राम भरत द्वारा राज्य-सञ्चालन में ही प्रजा का कल्याण बताते हैं। इस विवाद में उभरती भरत के चरित की उदात्तता का अंकन कवि ने सुचारु रूप से किया है।

विभावनम् - यह १०१ पद्यों का एक शतक काव्य है जिसमें कवि ने वर्ष १९७० में दिवङ्गत होने वाले संस्कृतकवि पं. ब्रह्मानन्द शुक्ल को भावमय श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है। इस काव्य का प्रकाशन १९७५ ई. में हुआ।

इन्दिरायशस्तिलकम् - अलीगढ़ संस्कृत परिषद् के अष्टम पुष्प के रूप में प्रकाशित ११४ पद्यों के इस काव्य में भारत की प्रथम महिला प्रधानमन्त्री इन्दिरा गान्धी के प्रभाव, महिमा, उपलब्धियों तथा राजनीतिक जीवन की ऊँचाइयों का वर्णन है। देशदारिद्र्य-निवारण, बँगलादेश-निर्माण, श्रमिक-सुरक्षा, पोखरण-परमाणु परीक्षण, अर्यभट्टाविष्कार, बीससूत्रीय कार्यक्रम आदि इन्दिरा गान्धी के जीवन के विविध कार्यकलापों का विवरण इस काव्य में प्रस्तुत किया गया है।

श्रीनेहरूवृत्तम् - इस लघुकाव्य का प्रथम प्रकाशन १९८९ ई. में हुआ। ११४ श्लोकों के इस लघुकाव्य में विविध छन्दों में भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पं. जवाहरलाल नेहरू के महान् व्यक्तित्व का गुणानुवाद किया गया है। वर्णवृत्तों के नामोल्लेख के साथ कवि ने नेहरूजी का प्रशस्तिगान किया है। नेहरू-जन्म-शताब्दी वर्ष में प्रकाशित होने के कारण यह काव्य अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है।

इस प्रकार पं. शुक्ल ने अन्य विधाओं में भी काव्य रचना कर तथा अनेक स्फुट रचनाओं, लेखों आदि से संस्कृत-साहित्य को समृद्ध कर अपना महनीय योगदान किया है। इन काव्यों पर तथा संस्कृत सेवा हेतु आपको अनेक बार उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी तथा दिल्ली संस्कृत अकादमी से पुरस्कार एवं सम्मान प्राप्त हो चुके हैं।

जगदीशचन्द्र आचार्य - इनका जन्म १६११ ई. में हुआ। आपके द्वारा रचित कुल सात काव्यों की रचना की सूचना प्राप्त होती है। ये काव्य है - 'विरहिणी', 'सङ्गीतलहरी', 'मन्दाकिनीमाधुरी' और 'श्रीवासुदेवचरित। 'गोविन्दगीताञ्जलि' गीतात्मक काव्य है। 'ऋतुविलास' और 'हंसदूत' दो काव्य अपूर्ण रूप में प्राप्त होते हैं।

रघुनाथप्रसाद चतुर्वेदी - आपका जन्म १६१२ ई. में हुआ। आपका शिक्षणस्थल एवं कार्यस्थल मथुरा रहा। चतुर्वेदी जी ने कई प्रकार के काव्यों की रचना की। उनकी रचनाओं में व्रज-भाषा का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में परिलक्षित होता है। आपके लघुकाव्य प्रमुखतया चार हैं जिनका विवरण इस प्रकार है-

शतकद्वयम्-इस काव्य का पूरा नाम है-'श्रीमदाचार्यवल्लभतच्छिष्य-महाकविसूरशतकद्वयम्'। स्पष्ट है कि यह काव्य दो शतकों में विभाजित है- प्रथम आचार्य वल्लभशतक है जिसमें १०६ श्लोकों में श्री वल्लभाचार्य का सम्पूर्ण जीवन-परिचय है। उनकी भक्ति के 'पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त' तथा समग्र दर्शन को कवि ने उपस्थापित किया है। वस्तुतः आचार्य के पञ्चशताब्दी पर्व पर इस काव्य की रचना विशेष रूप से की गई है। कवि ने इस शतक के अन्त में लिखा है कि पद्यपुष्पों की यह माला संवत् २०३४ में वैशाख-मास में निर्मित की गई है।

सूरशतक में कवि ने व्रजभाषा अष्टछाप के श्रेष्ठ कवि सूरदास का समस्त जीवन परिचय दिया है। जीवन-परिचय के साथ ही उनके कृतित्व, सूरसागर आदि काव्यों का विधिवत् परिचय दिया गया है। सूरदास की जन्मान्धता, साथ ही उत्कृष्ट काव्यरचना पर टिप्पणी करते हुए कवि चतुर्वेदी कहते हैं -

काव्यक्षेत्रस्य नेत्रत्वं कोऽत्र धारयितुं क्षमः।
माधुर्यपूर्णकाव्येन यश्चातुर्यं प्रदर्शयेत्।।

(जो मधुरता से परिपूर्ण काव्य से चतुरता प्रदर्शन कर दे, कवि सूरदास काव्यक्षेत्र का नेत्र बनने में समर्थ है।) इस शतक में १५२ श्लोक हैं। अन्तिम श्लोक के उल्लेखानुसार यह शतक संवत् २०३४में भाद्रपद मास में पूरा हुआ।

शतकाष्टकम्-इस काव्य का पूरा नाम है-'आदिकविश्रीवाल्मीकि-व्यासकालिदासादि-शतकाष्टकम्'। यह ग्रन्थ वस्तुतः चतुर्वेदी जी द्वारा आठ संस्कृत-कवियों के विषय में लिखे गए आठ शतकों का संग्रह है। ये आठ कवि हैं आदिकवि वाल्मीकि, महामुनि वेदव्यास, महाकवि कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ, बाणभट्ट एवं श्रीहर्ष। शतकों में सर्वत्र अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग करते हुए कवि ने प्रत्येक कवि के काल, जीवन-परिचय, कृति-परिचय, काव्यगत वैशिष्ट्य, रसयोजना, अलङ्कारयोजना, प्रमुख-पात्र-वर्णन, प्रमुख काव्यसौन्दर्यस्थल' आदि विविध विषयों को अपने प्रतिपादन में ग्रहण किया है। अनेक स्थानों पर पाद

टिप्पणियों में अपने कथन के समर्थन में चतुर्वेदी जी ने प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण भी दिये हैं, जिनकी यहाँ काव्य में कोई आवश्यक्ता नहीं थी। वाल्मीकिशतक में बाल्मीकि को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए चतुर्वेदीजी लिखते हैं-

ऋतुराजामरगिरः काव्यकल्पद्रुमे स्थितम्।
उद्गिरन्तं त्वार्यधर्मं वन्दे वाल्मीकिकोकिलम्।।

प्रत्येक शतक में सौ ही श्लोक नहीं हैं, अपितु सौ से अधिक तथा कहीं-कहीं डेढ़ सौ से अधिक श्लोक हैं। प्रत्येक शतक के रचनाकाल एवं पूर्णता-तिथि का कवि ने विधिवत् उल्लेख किया है। इस प्रकार ये शतक प्रायः विक्रम संवत् २०३४ से २०३६ के मध्य लिखे गए हैं और संग्रह-काव्य का प्रकाशन संवत् २०३६ में हुआ है।

मैक्सिम-गोर्की-पञ्चशती-कविवर चतुर्वेदी की यह एक अनुपम काव्य कृति है। विश्व-प्रसिद्ध महान् सर्वहारा लेखक मैक्सिम गार्की के क्रान्तिकारी व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालने वाली यह प्रथम संस्कृत काव्यकृति है। इसका प्रकाशन १९८६ ई. में हुआ। इसमें ५५४ अनुष्टुप् श्लोक हैं। रूस के इस प्रसिद्ध साहित्यकार की कथा का आरम्भ करते हुए कवि ने कहा-

मैक्सिम गोर्की रूसराष्ट्रे तथा साहित्यिकोऽभवत्।
साहित्यिकेषु विश्वस्य येन सुख्यातिरर्जिता।।

इस रचना का आरम्भ १४ दिसम्बर, १९८७ की उस घटना से हुआ जिसमें रूस के कजान नामक प्रदेश में युवक ने आत्महत्या का प्रयास किया था, परन्तु वह असफल हो गया था। शरीर में गोली मारने के बाद भी आत्मबल से वह जीवित बच गया। उसी युवक के बारे में कवि कहता है।

अनन्तरं स युवको मैक्सिमगोर्कीतिनामतः।
अस्य देशस्य चोत्कृष्टो लेखकाग्रेसरोऽभवत्।।

इसके बाद कवि गोर्की के जीवन-परिचय, रचनाओं, विविध कठिन संघर्षों, त्रासद दुःखों, उनके द्वारा किये गए विविध कार्यों-व्यवसायों, तथा अनेकानेक घटनाओं को कवि ब्यौरेवार ढंग से देता है। इन कठोर मार्गों से होकर कवि गोर्की का जनवादी साहित्य जन्म लेता है। इस काव्य में उनके रचना-संसार के विविध रूपों और प्रकारों का समीचीन वर्णन प्राप्त होता है। उनके नाटकों, उपन्यासों, कथाकाव्यों के पात्रों तक का विवरण इस पञ्चशती में प्राप्त होता है। इस प्रकार अपने काव्यों के माध्यम से विश्व में समाजवादी-साम्यवादी विचारधारा का प्रसार करने वाले इस महान् रचनाकार पर रची गई यह कृति संस्कृत-काव्य-सर्जन के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी कदम है। इसने संस्कृत भाषा की अन्तर्राष्ट्रीयता एवं अर्वाचीनता, दोनों को सम्बल दिया है।

गान्धीगरिमकाव्यम्-इस काव्य में कवि ने महात्मा गान्धी के महान् व्यक्तित्व को विषय बनाकर उनकी गरिमा का गान किया है। इस काव्य पर उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी से पुरस्कार प्राप्त हो चुका है।

मुक्तकमौक्तिकम्-इस लघुकाव्य में सुन्दर, जीवनोपयोगी पद्यों का सङ्कलन है। इस प्रकार पं. चतुर्वेदी ने अर्वाचीन संस्कृत साहित्य को प्रभूत योगदान कर उसमें अपना गौरवपूर्ण स्थान बनाया है।

सत्यव्रत शर्मा 'सुजन' शास्त्री-इनका जन्म सन् १६१२ में बिहार प्रदेश में हुआ था। आपने श्रीकृष्णभक्तिपरक काव्य लिखा, जिसके आरम्भिक आलेख 'द्योतनिका' में कवि ने स्वयं स्वीकार किया है कि यह ग्रन्थ गीतिकाव्य (राधाकृष्णयुगलीयरहोगीतिकाव्य) है, यद्यपि यह काव्य अनेक प्रकार के वार्णिक एवं मात्रिक छन्दों में निबद्ध है, परन्तु कवि के अनुसार यहाँ के श्लोक भी गीत हैं। इसलिए छन्द के कारण तो यहाँ श्लोकत्व है, पर भाव-निबन्ध में गीतत्व है। वस्तुतः काव्य के अन्तिम विभाजन 'गान्धर्वी' में लगभग ४६ गीतों का भी संग्रह है। अन्य आठ विभाजनों में विविध छन्दों के श्लोक ही हैं। अतः कुल ६ विभाजन इस प्रकार हैं-श्रीध्यानमङ्गलम्, वेणुपूरणम्, स्तवस्तबकः, नामविरहः, अश्रुवेणी, प्रेम-निकषः, आर्त्तवार्त्तिः, चित्रजल्पः और गान्धर्वी। इस काव्य का मूलविषय है भक्ति तथा प्रेम। गौडीय, वाल्लभ एवं राधावल्लभीय महान् प्रेमदर्शन ही इस रचना की पृश्ठभूमि में है। कवि कभी राधा तो कभी कृष्ण के चरणयुगल की स्तुति करता है, कभी युगल के प्रति भक्ति प्रकट करता है। यह भक्तिरसाप्लवित पद्य द्रष्टव्य है-

युगपद्रसद्वय-लसद्दलात्मके
नखरद्रवन्मधुरभावप्रस्रवे
धृतकृष्णरागललिते हि राधिका
पदयुग्मके मम मनो निलीयताम्।।

(एक साथ दो रसों से सुशोभित होते हुए दलस्वरूप, नाखूनों से द्रवित होते हुए मधुर भाव के प्रवाह वाले कृष्ण के प्रति प्रेम रखने के कारण ललित राधिका के चरणचुगल में मेरा मन विलीन हो जाये।) राधा-कृष्ण के युगल-प्रणय का प्रस्तुत चित्र कितना मनोहारी है-

अन्योन्यं प्रतिवीक्ष्य प्रक्रमविकासस्पर्धिपद्माननौ
कृष्णे नृत्यति वेणुकूजनकले राधानुनृत्ताकुला।
चित्रं मन्मथमन्मथो विजयते वामे यदा राधिका
संश्लेष्टुं युगलं तदेव हृदयं रोरुद्यमानं मम।।

(दोनों एक दूसरे की ओर देखकर क्रमिक विकास की स्पर्धा करने वाले कमलरूप मुखवाले हैं। वंशी के शब्द में सुन्दर कृष्ण के नृत्य करने पर राधा उनके बाद में नृत्य करने में व्याकुल हैं।)

टी. वी. परमेश्वर अय्यर - इनका जन्म १६१५ ई. में केरल प्रान्त के कालीकट नगर में हुआ। आरम्भ में ये मलयालम भाषा में लिखते थे। बाद में इन्होंने संस्कृत भाषा में रचना आरम्भ की। 'संस्कृत-साहित्य-प्रोफेसर' के रूप में स्विटज़रलैण्ड में कई वर्ष रहे तथा संस्कृतज्ञ के रूप में पेरिस, पूर्व जर्मनी, स्वीडन, वेस्ट इण्डीज़ आदि स्थानों का भ्रमण किया। स्विस्देशप्रकृतिवर्णन के यह स्विटज़रलैण्ड का हिमपातवर्णन अत्यन्त मनोरम है-

अदृश्याम्भस्तलेऽमुष्मिन् कासारे धूमिकावृते।
क्षीराम्भोनिधिरेवायमिति जाता मतिर्मम।।

(जिसमें जल का तल दिखाई नहीं पड़ रहा है ऐसे धुंध से ढके हुए इस तालाब में यह क्षीरसागर की रेखा है ऐसी मेरी बुद्धि हुई।)

कविवर अय्यर ने स्विटज़रलैण्ड, जर्मनी, स्वीडन आदि देशों के राष्ट्रगीतों का संस्कृत में पद्यानुवाद किया तथा फ्रांस, कनाडा, अमेरिका आदि देशों का बहुधा वर्णन किया। 'स्विस्देश-प्रकृतिवर्णनम्' 'जर्मनीयात्रा-वर्णनम्' ये दो इनके वैदेशिक यात्रावृत्तपरक काव्य हैं तथा 'स्वास्थ्यसूक्तिरत्नावली' में स्वास्थ्यविषयक रोचक पद्य हैं। ये अप्रकाशित काव्य हैं। इनके प्रकाशित काव्यों में प्रमुख है 'साहित्यकौतुकम्' काव्य, जो 'देववाणीपरिषद्' दिल्ली से १६८३ में प्रकाशित हुआ है। यह काव्य आठ स्तबकों में विभाजित है। स्तबकों का विभाजन अष्टकों में हैं। जो संख्या में ३४ हैं। ये स्तबक विषयानुसार विभाजित हैं। यथा, प्रार्थनास्तबक, देशीयस्तबक, प्रेरकस्तबक, महापुरुषस्तबक मनोरञ्जनस्तबक, उपस्कृतिस्तबक, प्राणामृतस्तषक एवं धर्मोपदेशस्तबक। प्रत्येक अष्टक में आठ-आठ शार्दूलविक्रीडित छन्द हैं। कवि के वर्णनीय विषयों में भक्ति, देशप्रेम, राजनीति, प्रकृति, महापुरुष दर्शन, धर्म आदि हैं। अनेक स्थलों पर कवि तीखे व्यङ्ग्य करता है और समाज-व्यवस्था पर आघात करता है, जैसे 'राष्ट्रनेत्रष्टकम्' के अन्तर्गत कवि आधुनिक नेताओं पर कठोर प्रहार करता हुआ कहता है-

गेहं गेहमुपेत्य तत्परतया चक्रे पुरा याचनां
सर्वेषां मतदायिनामुपकृतेर्निर्वाचने स्वस्य यः।
पूर्णे लोकसभासदस्यचयने मन्त्री बुभूषुर्मुदा
ह्येकच्छत्रधरोपमो विजयते राष्ट्रस्य नेता महान्।।

(पहले तो तत्परता के साथ घर-घर जाकर चुनाव में समस्त मतदाताओं से याचना की। लोकसभा के सदस्य के रूप में चयन पूरा हो जाने पर फिर मन्त्री होने की इच्छा वाले एकछत्रधारी राजा के समान राष्ट्र के महान् नेता की जय हो।)

अनेक आधुनिक महापुरुषों के चरित को भी कवि ने उपन्यस्त किया है। कवि अय्यर के दो और प्रकाशित काव्य हैं- आभाणकमञ्जरी तथा सदाशयसमुच्चयः। आभाणकमञ्जरी में अनेक जीवनोपयोगी सुभाषितों एवं सद्वचनों का संग्रह है। इसमें अन्य भाषा की

लोकोक्तियों का संस्कृत-पद्यरूपान्तर है। इसी तरह सदाशयसमुच्चय अन्य भाषाओं की सूक्तियों का संस्कृतपद्यरूपान्तर है। इस प्रकार मौलिक एवं अनूदित, प्राचीन तथा अर्वाचीन विषय वाले उभयविध काव्य की रचना करने वाले कवि अय्यर वस्तुतः आधुनिक संस्कृत साहित्य के सफल कवि हैं।

यज्ञेश्वर शास्त्री - इनका जन्म उत्तर प्रदेश के मेरठ जनपद में विक्रम संवत् १६७२ में हुआ। वे उसी जनपद के नवजीवन किसान कालेज, मवाना में संस्कृत अध्यापक रहे। इनका 'राष्ट्ररत्नम्' राष्ट्रभक्तिपरक लघुकाव्य है जिसका प्रकाशन १६७३ में हुआ। कवि ने भारत राष्ट्र के रत्नभूत इक्कीस मनीषियों, वीरों, राजनेताओं का काव्यमय परिचय इसमें प्रस्तुत किया है, जिनमें वीराङ्गना महारानी लक्ष्मीबाई से आरम्भ कर दयानन्द, तिलक, मालवीय, गान्धी, पटेल, लाजपतराय, विनोबा, राधाकृष्णन, नेहरू, सुभाष बोस, राजेन्द्र प्रसाद, आज़ाद, भगत सिंह, गफ्फार, किदवई, नायडू, वी.वी. गिरि, शास्त्री, इन्दिरा, कर्णसिंह इन २१ विभूतियों का परिचय दिया है। महारानी लक्ष्मीबाई के वीराङ्गना रूप का वर्णन करते हुए कवि कहता है-

> **कृपाणहस्ता तुरगाधिरूढा**
> **दुर्गेव दुर्गारिषु चेष्टमाना।**
> **विद्युत्प्रवेगादसिचालनात् सा**
> **न हि क्षणायापि दधे विरामन्।।**

(हाथ में तलवार लिये हुए, घोड़े पर चढ़ी हुई, दुर्ग के शत्रु अँग्रेज़ों पर दुर्गा के समान चेष्टा करती हुई, बिजली के वेग से चलने के कारण उसने क्षणभर के लिए भी विराम नहीं किया।)

कवि ने प्रत्येक महापुरुष के व्यक्तित्व और लघु जीवनवृत्त को अपने इस लघुकाव्य में प्रकाशित करने का प्रयत्न किया है। महात्मा गान्धी के व्यक्तित्व का चित्राङ्कन करते हुए कवि कहता है-

> **कौपीनधारी कृशदेहबन्धो**
> **हस्ते समालम्बितलम्बदण्डः।**
> **आजानु-खादी-पट-वेष्टितश्च**
> **स भारतस्य प्रतिभूतिरासीत्।।**

(लँगोट धारण करने वाला, दुबले-पतले शरीर वाला, हाथ में लम्बा डण्डा लिये हुए, घुटने तक खादी के वस्त्रों से ढका हुआ वह भारत की प्रतिमूर्ति था।)

भारत भूमि के सच्चे सेवक एवं भारत राष्ट्र की बलिवेदी पर अपने प्राण निछावर करने वाले लौहपुरुष सरदार बल्लभ भाई पटेल तथा युगपुरुष सुभाषचन्द्र बोस को कवि ने

मार्मिक शब्दों में याद किया है। सुभाष से कवि ने इस प्रकार कहा है-

सुभाष ! त्वं क्वासि, क्व नु वद विभासि स्ववपुषा
यशोभिस्ते देशोऽव्रजदयमशेषो धवलताम्।
स्वदेशाय त्यागः स खलु तव भागः सुनियतो
यतो वीतं दास्यं तव तु पुनरास्यं न सुलभम्।।

विष्णुदत्त शुक्ल-इनका निधन १९६४ ई. में हुआ। उसके पश्चात् डा. ब्रजलाल वर्मा के सम्पादन में उनका काव्य 'गंगासागरीयम्' प्रकाशित हुआ। 'गंगासागरीयम्'एक प्रबन्धकाव्य है जिसकी कथावस्तु का आधार परम्परागत गंगावतरण का ही पौराणिक आख्यान है। परन्तु कवि ने कथानक आदि के संयोजन में अपनी विलक्षण काल्पनिकता का परिचय दिया है। काव्य में गङ्गा का विवाह सागर से कराया गया है। इसीलिए यह नाम पड़ा है। काव्य का आरम्भ कालिदास के विश्रुत महाकाव्य 'कुमारसम्भव' के आरम्भ की भाँति होता है-

अस्त्युत्तराखण्डपदे समृद्धे
स्वनामधन्यो हिमवान् महीभृत्।
आश्यामपेशावरविस्तृतस्य
राज्यस्य नान्तं विभवस्य तस्य।।

(समृद्ध उत्तराखण्ड नामक स्थान में स्वनामधन्य हिमालय नाम का एक पर्वत है। श्याम से पेशावर तक फैले हुए उसके राज्य के वैभव का कोई अन्त नहीं है।)

हिमवान् की कन्या गङ्गा के जन्म से लेकर उसके जीवन के एक खण्ड की कथा इसमें वर्णित है। ऋतुएँ, दिन-रात्रि, प्रातः-सन्ध्या, पर्वत, नद-नदी, सरोवर, सूर्य-चन्द्र, नक्षत्रों, पशुओं, पक्षियों का मोहक चित्रण इसमें प्रस्तुत किया गया है। कवि ने सुन्दर कवित्वमयी शैली में गंगा की वन्दना की है, यथा-

इयं धरा सैव जटाकलापो
विष्णोः पदं ब्रह्मकमण्डलुश्च।
पूरा समस्ता कृपया यया सा
गङ्गा गिरो मे विमलीकरोतु।

पुण्यसलिला गङ्गा के प्रवाह की भाँति कवि का काव्य-प्रवाह भी अव्याहत गति से चला है। माता-पिता द्वारा सन्तान के विषय में कितना हस्तक्षेप होना चाहिए इस बिन्दु पर कन्या गङ्गा और पिता हिमवान् का जो विवाद है वह आधुनिक नारी-स्वातन्त्र्य के विचारों का पोषक है। काव्य में नैतिक एवं आध्यात्मिक विचारों का भी सन्निवेश है। अलङ्कारों एवं छन्दों का बहुलता से प्रयोग है। कलेवर की दृष्टि से इसे एक महाकाव्य कहा जा

सकता है।

जीव न्यायतीर्थ- कलकत्ता विश्वविद्यालय के भूतपूर्व प्रध्यापक श्री जीव न्यायतीर्थ ने 'सारस्वतशतक' नामक शतक चित्रकाव्य की रचना की, जिसका प्रकाशन कलकत्ता विश्वविद्यालय से १९६५ में हुआ। कवि आत्मकथन के रूप में यह स्वीकारता है कि यह काव्य नवीन कल्पना-कौशल से बनाया गया है। आरम्भ में अनेक अनुष्टुपों के माध्यम से कवि ने सरस्वती की वन्दना की है, जैसे स्वस्तिकाबन्ध यमक के प्रयोग द्वारा इस श्लोक में सरस्वती की स्तुति की गई है-

तामहं तामसे चित्ते नित्यतामरसासनाम्।
सारदां सारदाज्योतिर्न संसारमथार्थये।।

कवि ने चित्रकाव्य के विविध पारम्परिक प्रयोगों को दर्शाया है। परन्तु कुछ चित्र कवि द्वारा मौलिक रूप से उद्भूत भी हैं, जैसे घण्टा, वीणा, पुस्तक, हंस, मयूर, विमान, धेनु, महिष, छाग आदि के चित्रबन्ध। लता तन्तु ग्रथित पुष्पमाला को समर्पित करने के लिए कवि ने सरस्वती-स्तुतिपरक लताबन्ध चित्रकाव्य प्रस्तुत किया है-

लीलाबालाविलासा युवतिबलवती भारती रम्यरङ्गा
माता ख्याता स्मितांशुस्मृतशतसितगुर्मालिभा लग्नलक्ष्मीः।
आशापाशार्तिशान्त्यै स्फुरतु रतुरसा श्वेतपूतत्रितन्त्री
नादह्लादप्रदश्रीः सकलकविकलाकौशलं सन्दिशन्ती।।

(क्रीडामयी बाला के विलासों वाली, बलवती युवती भारत की सुन्दर गङ्गा माता के रूप में प्रसिद्ध है, जिसके मुस्कान की किरणों से सैकड़ों चन्द्रमा याद आते हैं, कान्तियुक्त लक्ष्मी वाली ऐसी श्वेत और पवित्र त्रिपथगा नाद के आह्लाद को प्रदान करने वाली शोभा से युक्त, समस्त कवियों की कला के कौशल का सन्देश देती हुई आशा के बन्धन की पीड़ा का शमन करने के लिए वेगपूर्वक स्फुरित हो।)

इस प्रकार १०८ पद्यों में अन्य अनेक बन्ध चित्रित हैं। कवि के सरस्वती देवी के प्रति भावभरे उद्गार हैं। अतः यह एक स्तुतिप्रधान आधुनिक शतक काव्य है।

ईशदत्त शास्त्री 'श्रीश' १९१५-१९४४- ईशदत्तपाण्डेय का जन्म उत्तर प्रदेश के आजमगढ के 'मुगमास' ग्राम में हुआ और अध्ययन वाराणसी में किया। इनके प्रताप-विजय लघुकाव्य का प्रकाशन १९३९ ई. में वाराणसी से हुआ। काव्य सरस्वतीस्तव से आरम्भ होता है। कवि भारतवर्ष और फिर मेवाड़भूमि की कथा का गान करता है और तब 'प्रतापी प्रताप'-शीर्षक से महाराणा प्रताप की शौर्यगाथा कहने लगता है। इस शोर्यकथा का एक पद्य इस प्रकार है-

अटाट्यमानो ह्यटवीषु सन्ततं
स्वतन्त्रतार्थं सकलत्रपुत्रकः।
अवाप दुःखं न हि किं व्यथाकुलः
स वीरतायास्तनयो वरान्वितः।।

(स्वतन्त्रता के लिए पत्नी और पुत्रों के साथ जंगल-जंगल भटकते हुए वीरता के पुत्र वर पाये हुए व्यथा से व्याकुल इस राणा ने क्या-क्या दुःख नहीं झेले!)

इसके बाद 'देश-दशा' शीर्षक से भारत की तत्कालीन दशा एवं मुग़ल-साम्राज्य का आधिपत्य वर्णित करता है तथा 'प्रताप-प्रतिज्ञा' से भारतभूमि को मुग़ल-दासता से मुक्त कराने की कठोर प्रतिज्ञा करता है। 'मान-मान हानिः' में मानसिंह के तिरस्कार का वर्णन है, और 'राणा-रणघोषणा' में राणा प्रताप द्वारा युद्ध की घोषणा कर दी जाती है। 'रणाङ्णे राणाप्रतापः' में हल्दी घाटी के भीषण ऐतिहासिक युद्ध का वर्णन है। 'कुन्त-कौटिल्यम्' में राणा के भाले द्वारा शत्रु-दलन दिखाया गया है, 'चेतक-चङ्क्रमणम्' में उनके घोड़े चेतक का युद्धनैपुण्य वर्णित है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

निशम्य राणा-कृत-कुन्त-टङ्कृतिं
स चेतकश्चारु चकार हुङ्कृतिम्।
उदग्रवेगोच्छलदच्छकेसरः
चचाल युद्धेऽप्यचलां प्रचालयन्।।

(राणा के द्वारा किये गए भाले की आवाज़ सुनकर वह चेतक सुन्दर हुङ्कार भरता था। तीव्र वेग वाला, उछलते हुए स्वच्छ गर्दन के बालों वाला वह घोड़ा चट्टानों को भी कँपाता हुआ युद्ध में चला।)

पूरा काव्य इसी प्रकार की ओजस्विनी भाषा से युक्त है। कवि को अलङ्कारों में यमक एवं अनुप्रास अलङ्कारों से विशेष प्रेम है और यह अलङ्कार-कृत पद-सन्निवेश काव्य में विद्यमान वीररस के अधिकाधिक उद्दीपन में सहायक होता है।

ए. वि. कृष्ण वारियर- कृष्ण वारियर द्वारा रचित 'भारतवैजयन्ती यात्रा च' दो भागों में विभाजित एक लघुकाव्य है, जिसको स्वयं कवि ने काव्य के शीर्षभाग 'माइनर पोएम' की संज्ञा दी है। प्रथम भाग 'भारतवैजयन्ती' में ३४ पद्य हैं और 'यात्रा' में १४६। सन् १९४७ में भारत के परतन्त्रता-मुक्त होने पर कवि ने इसे लिखा है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति पर भारत की त्रिवर्ण वैजयन्ती गौरव के साथ फहरा रही है। यह इसी तरह भासित होती रहे-

इयं भारती भासतां वैजयन्ती
जयन्ती मनो मानवानां विशन्ती।

स्वतन्त्रान् सतो राज्यतन्त्रप्रवीणान्
सृजन्ती हरन्ती समस्तं जनाधिम्।।

इसी क्रम में कवि भारतमाता की बार-बार स्तुति करता है, गान्धीजी की शान्ति और अहिंसा के मार्ग की प्रशंसा करता है। तत्कालीन राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद एवं प्रधानमन्त्री पं. नेहरू की चर्चा करता है। इसमें उपजाति छन्द का सर्वाधिक प्रयोग है।

यात्रा वाले उत्तरार्ध भाग में भारत देश की अपनी यात्रा का वृत्तान्त वर्णित है। कवि की यात्रा राम-सेतुबन्ध स्थल से आरम्भ होती है। कवि भारत के विविध प्रदेशों में भ्रमण करता है और वहाँ के वासियों के अलग-अलग रहन-सहन, वेषभूषा आदि का वर्णन करता है, जैसे चण्डीगढ़ प्रदेश में पहुँचने पर सिक्खों का वर्णन कवि इस प्रकार करता है-

दीर्घैः केशैर्धवलवलयैः कङ्कतैर्लम्बकूर्चैः
कच्छाबन्धैः समरविरतैश्शान्तिरम्यैः कृपाणैः।
गात्रैः क्षत्रप्रभवपिशुनैश्चातिकल्याणरूपा
जेजीयन्ते विजयसुहृदः 'केशिनो' वीरमुख्याः।।

(लम्बे बालों, सफेद रंग के कड़ों, बाल बाँधने के कंघों, लम्बी दाढ़ियों, शिर पर बँधी पगड़ियों, युद्ध से विरत, शान्ति के कारण सुन्दर कृपाणों, क्षत्रिय के प्रभाव को सूचित करने वाले शरीरों से अति कल्याणमयी रूप वाले श्रेष्ठ वीर सिक्ख युद्ध में विजय प्राप्त करते हैं।)

इसी क्रम में कवि ने हरिद्वार, ऋषिकेश, नंगल, अमृतसर, देहरादून, आगरा, मथुरा, दिल्ली, बनारस, गया, इलहाबाद, बम्बई आदि नगरों का सुन्दर वर्णन किया है। लघु छन्दों के अतिरिक्त कवि ने मन्दाक्रान्ता छन्द का सर्वाधिक प्रयोग किया है। राष्ट्रभक्ति एवं यात्रावृत्त की दृष्टि से यह द्विधा विभाजित स्वयं में एक सुन्दर काव्य है।

के. केशवन् नायर-ये केरल प्रदेश के कवि हैं जो रामकृष्ण गुरुकुल विद्यामन्दिर, पुरनाट्टुकरा में संस्कृत-अध्यापक थे। कवि नायर द्वारा रचित 'निवेद्यम्' काव्य का प्रकाशन १९७० ई. में हुआ। कवि ने देवी सरस्वती को काव्यरूपी निवेद्य या नैवेद्य समर्पित करते हुए इसका यह नामकरण किया है-

गैर्वाणीदेवि मातर्महितगुणनिधे, सन्ति ते पण्डिताग्र्या
भूयांसो भूरिसम्पद्विलसितयशसो विश्वविख्यातविद्याः।
यद्यल्पज्ञोऽपि तावद् गुणगणविभवैस्तैश्च हीनस्तथापि
प्रीत्या दद्यामहं ते विरसमपि गृहाण त्वमेतन्निवेद्यम्।।

(हे पूजित गुणों की भण्डार माँ संस्कृतदेवी ! तुम्हारे बहुत से प्रभूतसम्पत्ति से सुशोभित यश वाले, विश्वभर में प्रसिद्ध विद्याओं वाले श्रेष्ठ पण्डित हैं। यद्यपि मैं अल्पज्ञ हूँ और विविध गुणसमूहों की सम्पत्तियों से हीन हूँ, फिर भी प्रेम से तुम्हें मैं यह नीरस भी नैवेद्य दे रहा हूँ, तुम इसे ग्रहण करो।)

इस लघुकाव्य में स्फुट रचनायें है जिनको १३ शीर्षकों में विभाजित किया गया है- निवेद्यम्, नमस्तस्मै, मुक्तकानि, श्रीरामकृष्णपञ्चकम्, भारतीयप्रतिज्ञा, गुरुप्रणामः, श्रीकृष्णस्तवः, प्रभावसूर्यः, निवापाञ्जलिः, वितर ते दिव्यदर्शनम्, वाल्मीकिदशकम्, दुष्यन्तानुतापः तथा भारतस्तवः। एक मुक्तक इस प्रकार है-

कालः कलिमयो यस्मिन् विद्या मानमयी नृणाम्।
गुरवो लघवो जाताः केरलेषु विशेषतः।।

'भारतीय-प्रतिज्ञा' शीर्षक के अन्तर्गत १९६२ में भारत पर चीन का आक्रमण होने पर कवि ने दस अनुष्टुप् छन्द लिखे हैं। 'निवापाञ्जलिः' में महात्मा गान्धी की हत्या कर दिये जाने पर उनके हत्यारे को कोसते हुए कवि कहता है-

नाथुराम इति मर्त्यराक्षसः कोऽपि हिन्दुमतकण्टकोऽशुचिः।
देवकल्पमवधीन्महात्मजिं लोकसेवनरतं शुचिस्मितम्।।

काव्यः में प्रायः प्रचलित वार्णिक एवं मात्रिक छन्दों को ग्रहण किया गया है। विविध अवसरों पर लिखे गए स्फुट श्लोकों का यह एक सुन्दर संग्रह है।

के. एल. व्यासराज शास्त्री-विद्यासागर, महोपाध्याय, शिरोमणि, साहित्यनिपुण, विद्यालङ्कार उपाधियों से विभूषित व्यासराज शास्त्री प्रेसिडेन्सी कलाशाला, मद्रास में संस्कृताध्यापक थे। इनका 'महात्मविजयः' महात्मा गांधी के स्वातन्त्र्य-संग्राम के वर्णन से युक्त लघुकाव्य है। प्रथम श्लोक में ही महात्मा गांधी के प्रभाव और महत्त्व का वर्णन करते हुए कवि कहता है-

महात्मगान्धिर्महितापदानः
क्षितौ समन्तात् प्रथिताभिधानः।
मनोवचःकर्मभिरेकरूपो
महात्मनामप्यभवन्महात्मा।।

महात्मा गांधी के सरल, किन्तु प्रभावी रूप का चित्रण इस काव्य में किया गया है। गांधीजी के जीवन की अन्यान्य घटनाओं का, अन्त में उनकी दुःखद हत्या का वर्णन कवि ने बड़े मार्मिक ढंग से किया है। गोली मारे जाने पर गान्धीजी के गिरने का वर्णन करते हुए कवि कहता है-

त्वय्यम्ब भूयो मम जन्म भूया-
दितीव धात्रीमुपगूहमानः।
श्रीरामरामेति गिरन् विशोकः
शोकाम्बुधौ लोकममज्जयत् सः।।

(हे माता ! पुनः तुम पर मेरा जन्म हो ऐसा मानकर मानों, पृथ्वी का आलिङ्गन करते हुए, 'हे राम राम' ऐसा कहते हुए शोकरहित उन महात्मा ने संसार भर को शोकसागर में डुबो दिया।)

काव्य में १०८ श्लोक हैं, उपजाति वृत्त का प्रयोग है।

जयराम व्यंकटेश-कवि श्री जयराम व्यंकटेश पल्लेवार 'जयेश' के लघुकाव्य 'मोहन-मञ्जरी' का प्रकाशन महाराष्ट्र से गान्धी-जन्म शताब्दी वर्ष १६७० में हुआ। काव्य के ऊपर ही काव्य-काल एवं कवि-परिचय परक श्लोक उद्धृत है। आरम्भ में गान्धीजी के समस्त प्रसिद्ध नामों की व्युत्पत्ति का वर्णन करते हुए कवि कहता है-

अर्धाम्बरत्वेन निवेदितं वपुः
सन्धार्य निष्काञ्चनलाक्षिकं ननु।
यातो यदा वर्तुलसंनिवेशकम्
मुमोह सभ्यान् कृतनाममोहनः।।

(आधे वस्त्र से जिसका शरीर ढका रहता है, बिना सोने के ही लाख की तरह चमकने वाले शरीर को धारण कर जब गान्धीजी जाते थे तो मोहननामधारी वे सज्जनों को मोह लेते थे।)

गान्धीजी की जीवन-कथा, विचारधारा, व्यक्तित्व और उनके आन्दोलन के समग्र रूप को कवि ने रेखाङ्कित किया है। द्वितीय गुच्छ में गान्धीजी के जीवन के विरोधाभासों को कवि ने इस प्रकार प्रकाशित किया है-

कृशाङ्गयष्टिस्तु करे च यष्टिः
तथापि धर्माचरणे समष्टिः।
जनस्य कार्ये कृतजीवनेष्टिः
अभूच्च रम्या हि तवाङ्गयष्टिः।।

गान्धीजी के समकालीन अग्रगण्य नेताओं की भी चर्चा की गई है। अन्त में राष्ट्र हेतु गान्धीजी की आत्माहुति के वर्णन के साथ यह काव्य समाप्त होता है।

पुलिवर्ति शरभाचार्य-कवि शरभाचार्य का जन्म आन्ध्रप्रदेश के गुंटूर जनपद में हुआ था। इनके 'यशोधरा' काव्य का प्रकाशन १६७० ई. में हुआ। कवि ने इस काव्य में अवतारी पुरुष गौतम बुद्ध के तत्त्वज्ञान के बाद महाभिनिष्क्रमण कर जाने पर यशोधरा के आर्त विलाप का वर्णन किया है-

शुद्धान्तकान्ता परिवारमध्ये
हठाद् वियोगाशनिपातविद्धा।

हा नाथ हा वल्लभ हा प्रियेति
आक्रन्दयामास भृशं सती सा।।

(परिवार के बीच अन्तःपुर की कान्ता सती वह यशोधरा बरबस वियोग रूपी वज्र के गिरने से घायल हुई 'हा नाथ, हा प्रिय, हा पतिदेव' ऐसा कहकर ज़ोर से चिल्लाने लगी।)

समस्त काव्य को कई शीर्षकों एवं खण्डों में विभाजित कर दिया गया है, यथा महाभिनिष्क्रणम्, एकान्तवासः, गौतमतपोनिष्ठा, बुद्धधर्मः एवं भगवद्दर्शनम्। काव्य में कुल २८६ श्लोक हैं। कवि शब्दाटोप का लोलुप नहीं है, काव्य में कहीं कृत्रिम अलङ्कार-सन्निवेश नहीं है और न अनावश्यक वर्णन हैं। काव्य में सबसे अधिक उपजाति छन्द का प्रयोग है। इसके अतिरिक्त अनुष्टुप्, मञ्जुभाषिणी, मालिनी, शिखरिणी आदि वृत्तों का प्रयोग है। 'भगवद्दर्शन' नामक सर्ग में यशोधरा भी भगवान् आत्मेश्वर को प्राप्त कर, उनके उपदेश से मोहरहित हो, भिक्षुकी होकर निर्वाण को प्राप्त हुई।

द्विजेन्द्रलाल शर्मा पुरकायस्थ-कवि पुरकायस्थ अध्यापक थे और 'काव्यतीर्थ' उपाधि से विभूषित इनके 'अलका-मिलनम्' काव्य का प्रकाशन १९५४ ई. में हुआ। कालिदास के मेघदूत की कथा को आगे बढ़ाते हुए कवि ने अलकापुरी में विरहाकुल यक्ष तथा उसकी पत्नी के पुनर्मिलन को विषय बनाकर यह काव्य लिखा है। इसमें दो सर्ग हैं। आद्य सर्ग में विरहिणी का विरहावशेष संक्षेप में प्रकट किया गया है। अन्त्य सर्ग में दोनों का मिलनोत्सव, रागानुभव-भोगों का वर्णन है। मेघदूत के अनुकरण पर ही कवि ने मन्दाक्रान्ता वृत्त चुना है। यद्यपि मेघदूत में मधुरतम भावाभिव्यञ्जन के पश्चात् यह काव्य कोई अतिरिक्त काव्यानन्द प्रदान नहीं कर पाता। कालिदास के वियोग-वर्णन के बाद यह संयोग-वर्णन बहुत फीका-फीका लगता है। प्रिय-मिलन का एक शृङ्गारिक चित्र प्रस्तुत है-

भावावेगाप्रतिहतमतिः स्पन्दहीनेव तन्वी
तं कामार्ता प्रियमुखसुधापानमिच्छुश्चुचुम्ब।
नन्दाधिक्यान् मदनविवशा वाक्पटुत्वोज्झिताऽपि
स्वाङ्गीकारः स्फुटयति रतौ नेत्रपातैर्विलोलैः।।

(भावावेग से न मारी गई बुद्धिवाली, स्पन्दनहीन हुई सी, प्रिय के मुखरूपी अमृत के पान की इच्छा करती हुई, काम से पीडित उस छरहरे शरीर वाली नायिका ने नायक का चुम्बन कर लिया। पुनः कामजन्य आनन्द की अधिकता के कारण वाणी की पटुता को छोड़ी हुई वह चञ्चल कटाक्षों द्वारा अपनी स्वीकारोक्ति को प्रकट कर रही है।) प्रथम सर्ग में ४१ तथा अन्तिम सर्ग में १९ श्लोक हैं।

वेलूरि सुब्बारावु शर्मा विशाखापत्तन-स्थित आन्ध्र विश्वविद्यालय के सेवानिवृत्त संस्कृत-आचार्य हैं। उन्होंने मेघदूत के अनुकरण पर 'दाक्षिणात्य-मेघसन्देश' नामक काव्य लिखा, जिसका दूसरा नाम 'सुन्दरीमेघसन्देश' भी है। खण्डकाव्य श्रेणी में होने पर भी इस

काव्य को छः सर्गों में निबद्ध किया गया है। इसमें ३१० पद्य हैं जो मन्दाक्रान्ता वृत्त में ही लिखे गए हैं। यह विरहकाव्य है और प्रियतमा से विरह की स्थिति में विरही नायक की मनःस्थिति का विवेचन करता है। इस काव्य का नायक एक कवि है जो विवशतापूर्वक अपनी प्रियतमा नवोढा पत्नी सुन्दरी से वियुक्त होकर मेंगलोर, पश्चिम समुद्र तट पर जाकर रहता है। वह दक्षिण-पश्चिम मानसून के पहले बादल को देखता है और भारत के पूर्वी समुद्रतट पर स्थित भीमवरम् नामक स्थान में रह रही अपनी नवोढा वधू को प्रणय-सन्देश भेजता है। वह भारत के दक्षिण में स्थित अनेक सुरम्य स्थलों से होते हुए मेघ को आगे बढ़ने का मार्ग बताता है। थोड़ा वक्र होते हुए भी कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र होते हुए मेघ जाता है और लौटते समय मद्रास, मैसूर से होकर आता है। मार्ग के सारे स्थलों का वर्णन कवि ने बड़ी सुन्दरता के साथ किया है। काव्य यद्यपि व्यञ्जना-प्रधान है, पर बीच-बीच में शास्त्रीय अवधारणाओं को भी स्थान दिया गया है। वस्तु एवं उसका विन्यास अच्छा है। विरह वर्णन एवं प्रेमविह्वलता का यह पद्य उदाहरणार्थ द्रष्टव्य है-

नेमे झञ्झाश्वसनविसरा दीर्घनिःश्वासवारा
नायं व्याप्तो जलदनिवहः केशहस्तो विहस्तः।
नेमा धारा नवजलमुचामश्रुधारा मृगाक्ष्याः
प्रावृण्नेयं घनतरमहाकालरात्रिः प्रियायाः।।

(ये आँधी और हवा का फैलाव नहीं है, अपितु लम्बी-लम्बी साँसों का समूह है। यह मेघों का समूह नहीं फैला हुआ है, अपितु नायिका की व्याकीर्ण केशराशि है। ये नये बादलों की धारायें नहीं हैं अपितु उस मृगनयनी के आँसुओं की धारायें हैं। यह वर्षा भी नहीं है, अपितु प्रियतमा की घनी महाकालरात्रि है।)

काव्य के विविध प्रसङ्गों, कठिन शब्दों, व्याकरणगत व्युत्पत्तियों एवं विविध शास्त्रीय विषयों के व्याख्यान हेतु स्वयं कवि ने 'सुन्दरीतोषिणी' नामक संस्कृत व्याख्या लिखी है, जो काव्य के अवगमन में सहायिका सिद्ध होती है। दूतकाव्य-परम्परा की यह एक और सुन्दर कड़ी है।

श्रीधर भास्कर वर्णेकर-३.७. १९१८ ई. में जन्मे कवि वर्णेकर दीर्घ काल तक नागपुर विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के आचार्य रहे। संस्कृत में अनेक महाकाव्य एवं गीतिकाव्य लिखकर वर्णेकर जी ने राष्ट्रभक्ति तथा ईश्वरभक्ति के कवि के रूप में विशेष ख्यति अर्जित की। आपका एक लघुकाव्य 'श्रमगीता' नाम से है जिसमें ११८ पद्य हैं जिसमें गान्धीजी ने श्रम का महत्त्व समझाया है। दूसरे काव्य का विवरण प्रस्तुत है-

वात्सल्यरसायनम्-यह काव्य शक १८८४ में शारदागौरवग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ है। इसका दूसरा नाम 'श्रीकृष्णबाललीलाशतकम्' भी दिया गया है। इसमें श्रीकृष्ण की

बाललीलाओं का चित्रण करने वाले १०४ पद्यों का संकलन कर कवि ने श्रीकृष्ण-भक्ति की अभिव्यञ्जना की है। भक्ति रस के पूर्ण पोषण वात्सल्य रस द्वारा ही प्राप्त हुआ है। श्रीकृष्ण की मनोहर बाल लीला को दार्शनिक भावभूमि पर उतारते हुए कवि कहता है-

मृद् भक्षिता कितव ! किं न गुडो गृहे नः ?
सन्तर्जितोऽतिपरुषं हि यशोदयैवम्।
तां नेति नेति निगदन् ननु वेदवाक्यं
चित्ते सदा वसतु बालजगद्गुरुर्मे।।

(बदमाश, तूने मिट्टी खाई ? क्या हमारे घर में गुड़ नहीं है ? यशोदा माता ने कृष्ण को इस तरह बड़ी कड़ी फटकार लगाई। उस माँ से 'नेति नेति' (मैंने नहीं खाई, नहीं खाई) इस तरह वेदवाक्य बोलते हुए ऐसा समस्त जगत् का पिता बालक कृष्ण सदा मेरे चित्त में निवास करे।)

गोरस चुराने में प्रवीण कृष्ण का एक और बालरूप दर्शनीय है-

गोपीजनेन बहुशः परिभर्त्स्यमानः
क्रुद्धाम्बयोद्धृतकरं प्रतितर्ज्यमानः।
तातं भियेव शरणं हि गवेषमाणः
हृद्गह्वरे वसतु गोरसतस्करो मे।।

(गोपीजनों द्वारा बार-बार खरी-खोटी बातें सुनाया जाता हुआ, क्रुद्ध माता के द्वारा हाथ उठाकर डाँटा जाता हुआ, डर के कारण पिता की शरण खोजता हुआ वह माखनचोर कृष्ण मेरे हृदय रूप गह्वर में निवास करे।)

कवि ने वर्षाविहार, शरद्विहार, दशावतारलीला, मथुराभिनिष्क्रमण एवं मथुराप्रवेश शीर्षकों से कंसवध प्रसंग तक की बाललीलाओं का वर्णन किया है। समस्त काव्य प्रायः वसन्ततिलका वृत्त में रचित है।

कृष्णप्रसाद शर्मा घिमिरे-कविरत्न, विद्यावारिधि, भागवत कवि कृष्णप्रसाद शर्मा घिमिरे का जन्म सन् १९१९ में हुआ। ये नेपाल के निवासी हैं। आपने अनेक विधाओं में काव्य लिखे। उनका 'श्रीरामविलापः' खण्डकाव्य १९७३ ई. में प्रकाशित हुआ। इसमें पुष्करिणी पम्पा को देखकर देवी सीता को याद करके भगवान् राम द्वारा किया गया विलाप वर्णित है। श्रीराम लक्ष्मण को सम्बोधित कर अपनी मनोव्यथा कहते हैं। विविध ऋतुओं, अनेक पक्षी, प्रकृति के अन्य अङ्ग वृक्ष, लतादि सब राम को विरहकाल में पीडित करते हुए प्रतीत होते हैं। प्रकृति में विविध रूपों में फैला आनन्द राम को कष्ट देता हुआ प्रतीत होता है। वसन्त ऋतु की दाहकता और पीडकता का वर्णन करते हुए कवि वाल्मीकि की विरहपरक पंक्तियों को याद दिला देता है। राम लक्ष्मण से कहते हैं:

शाखाः शुभा विटपिनां परितो ज्वलद्भि-
रिद्धैः सुमैः किसलयैरपि शोणिताभैः।
सोऽसौ वसन्तहुतभुक् प्रियया विहीनं
मां भस्मसादिव करोति विलोक्य दीनम्।।

(चारों ओर जलते हुए समृद्ध पुष्पों, लाल कान्ति वाले नवपल्लवों से वृक्षों की शाखाएँ भर गई हैं। वह यह वसन्त रूपी आग प्रिया से हीन और दीन देखकर मुझे जलाकर राख बनाये दे रही है।)

पूर्वार्ध में ८१ तथा उत्तरार्ध में ८६ श्लोक हैं। पूरे काव्य में वसन्ततिलका छन्द है। राम की प्रगाढ़ व्यथा को कवि ने यह कह कर प्रकाशित किया है कि सीता की खोज उनके लिए मृगभरीचिका बन गई है और हमारे वन-वन में भटकने का कुछ फल नहीं निकला है-

पश्याद्य लक्ष्मण ! वयं बहुदुःखयोगा-
दत्रागता जनकजाविरहार्तियुक्ताः।
अन्वेषणं विदधतो विपिने मृगाक्ष्या
भ्रान्ता सुधा मृगमरीचिकयैव वृत्त्या।। उत्तरार्ध प. स. ५

(हे लक्ष्मण ! देखो बहुत-भारी दुःख के कारण हम सीता के विरहःदुख की पीड़ा से युक्त हुए यहाँ आए हैं। वन में मृगनयनी सीता की खोज करते हुए हम मृगमरीचिका में फंस व्यर्थ में इधर-उधर भटक रहे हैं।)

कवि इसे परब्रह्मरूप राम की परिदेवन-निदर्शनात्मिका व्याजस्तुति मानता है। इस तरह यह भक्तिपरक स्तोत्रकाव्य भी है। पर इसका मूल स्वर विप्रलम्भ शृङ्गार की ओर भी उन्मुख है। इसमें कविकृत हिन्दी अनुवाद साथ ही है।

सुरेशचन्द्र त्रिपाठी-श्री त्रिपाठी सारस्वत खत्री पाठशाला इण्टर कालेज, प्रयाग में अध्यापक थे। कवि आरम्भ में यह स्वीकार करता है कि भारत के तत्कालीन प्रधानमन्त्री पं. नेहरू की ७३ वीं जन्म वर्षगाँठ पर मैंने राष्ट्र के वीरों की उत्साहवृद्धि के लिए 'वीरोत्साह-वर्धनम्' काव्य लिखा। वस्तुतः १९६२ में भारत पर चीन के बर्बर आक्रमण के बाद यह काव्य लिखा गया। इसमें वीरों का उत्साह बढ़ाने के लिए नितान्त अनुकूल छन्द 'प्रमाणिका' का प्रयोग किया गया है। काव्य को १२ प्रकरणों में विभाजित किया गया है। आरम्भ में कवि हिमालय की गरिमा का गान करता है। कवि यह बात कई बार दुहराता है कि चीन ने भारत के साथ विश्वासघात किया और कृतघ्नता का व्यवहार किया-

कृतघ्नचीनवासिनो विचार्य मित्रतां न ते
प्रभारतं च भारतं समाक्रमन्त कुत्सिताः।।

चीन के आक्रमण के समय की राजनैतिक परिस्थितियों तथा परवर्ती प्रभाव को कवि ने सुन्दर ढंग से रेखाङ्कित किया है कि कैसे उस समय सारे देश ने एक होकर धन, जन, बल एकत्र कर इस युद्ध का सामना किया। इस युद्ध में शहीद हुए कतिपय वीरों की गाथा को भी कवि ने दिया है। कवि ने स्वयं इसे 'युद्धकाव्य' की संज्ञा दी है। बाद में १९६५ में हुए भारत-पाकिस्तान-युद्ध में भारत की विजय पर 'जयध्वजम्' काव्य भी त्रिपाठी जी ने लिखा।

गोस्वामी बलभद्रप्रसाद शास्त्री-इन का जन्म उत्तर प्रदेश के हरदोई जिले में सन् १९२५ में हुआ। महाभारत के द्रोणपर्व की कथा पर आधृत आपका 'चक्रव्यूहम्' नामक खण्डकाव्य १९७३ में भाषा विभाग, हरियाणा द्वारा प्रकाशित हुआ। यह ७ सर्गों में निबद्ध है। अतः इसे महाकाव्य की श्रेणी में गिना जाना चाहिए, पर कवि ने स्वयं इसे खण्डकाव्य की संज्ञा दी है। कलेवर की दृष्टि से भी यह सामान्य लघुकाव्य से बड़ा ही है। इसमें नायक अभिमन्यु है। अनेक महारथियों द्वारा एक साथ प्रहार किये जाने पर उनका प्रतिरोध करते हुए तथा वीरता के साथ लड़ते हुए अभिमन्यु का वीरगति को प्राप्त होना वर्णित है-

यथा वृतो बालवरो मदान्धै रणेऽन्ततो वीरगतिं प्रयातः।
तथा हि शौर्यं सुकुमारकस्य प्रभावितं बालमनश्चकार।।

कवि ने उत्तरा के माध्यम से एक आदर्श नारी-चरित्र को रेखांकित किया है। उत्तरा एक सामान्य नारी का दुर्बल चरित्र नहीं है, अपितु वह एक वीर-नारी, वीर-पत्नी एवं वीर-युवती के रूप में प्रस्तुत की गई है। कवि अन्त में राष्ट्र कल्याण की कामना करता हुआ कहता है-

देशः समन्तात् कुटिलप्रचारैराचारहीनैः परिवीक्षितोऽयम्।
भूयात् कृतिर्मे जनचेतनार्थं यूनामसौ चेतसि शङ्खनादः।।

(यह देश कुटिल प्रचार करने वाले, आचारहीन लोगों से चारों ओर से घिरा हुआ है। मेरी रचना जनचेतना के लिए युवा लोगों के हृदय में शङ्खनाद का काम करे।)

कवि के अन्य काव्यों में 'दूताञ्जनेयम्' नामक सन्देशकाव्य १९६३ ई. में प्रकाशित हुआ है। 'भागीरथीदर्शनम्' तथा 'ज्योतिष्मती' दो अन्य काव्य भी गोस्वामीजी ने लिखे हैं।

श्रीभाष्यम् विजयसारथि-कविवर विजयसारथि संस्कृत साहित्य में अपनी विशिष्ट रचनाशैली लेकर आते हैं। इनके प्रायः समस्त काव्य एक गीतात्मक लय को लेकर चलते हैं जिसमें प्रायः अन्त्यानुप्रास रहता है। व्याकरण के कठिन प्रयोगों, विशेष रूप से क्रियापदों के कठिन एवं अप्रचलित प्रयोगों के कारण आपके काव्यों में सर्वत्र एक दुरूहता एवं कृत्रिमता का समावेश हो गया है। विजयसारथि के काव्य हैं- शबरीविलापः, विषादलहरी, आत्मदानम्, श्रीशैलमल्लिकार्जुनसुप्रभातम्, उन्मनी अवस्था, सुहृल्लेखः, मन्दाकिनी, रासकेली,

बाससरस्वतीसुप्रभातम्, भारतजननीसुप्रभातम्, अश्रुतर्पणम् तथा भारतभारती। सबसे अधिक प्रसिद्धि आपने 'मन्दाकिनी' काव्य के कारण पाई। पर यह भी साङ्गीतिक लय पर चलने वाला एक गीतिकाव्य है, 'रासकेली' भी इसी श्रेणीं का है। अतः लघुकाव्य की परिधि से बाहर के गीतिकाव्य होने के कारण यहाँ उनका विवेचन नहीं किया जा रहा है। केवल एक काव्य का विवेचन प्रस्तुत है।

भारतभारती-१९६१ ई. में आन्ध्रप्रदेश से प्रकाशित 'भारत-भारती' काव्य वस्तुतः कवि विजयसारथि द्वारा रचित २४ लघुकाव्यों का सङ्ग्रह है। यद्यपि ये काव्य विविध विषयों पर लिख गए हैं, पर उनका प्रमुख स्वर राष्ट्रभक्ति का ही है। प्रथम खण्डकाव्य 'भारतीसुप्रभातम्' में ४४ पद्य हैं। भारत के बाह्य सौन्दर्य एवं आध्यात्मिक महत्त्व को प्रकाशित करते हुए कवि अन्त में अपनी रचना के प्रति शुभाशंसा व्यक्त करते हुए कहता है-

रसालपल्लवग्रास-विकस्वर-पिकस्वरा।
भारतश्रेयसे भूयाद् वाणी विजयसारथेः।।

इस सङ्ग्रह के द्वितीय लघुकाव्य का नाम ही 'भारत-भारती' है, जिसमें ६० पद्य हैं। कवि यह कामना करता है कि उसका देश भारत जाति, सम्प्रदाय और रंग आदि के भेदों को भुलाकर अपना पुराना गौरव प्राप्त करे। अपनी अलङ्कृतिमयी भाषा एवं दीर्घसमासान्त पदावली का प्रयोग करते हुए कवि भारतभूमि की इस तरह प्रशंसा करता है-

मरुन्मुदासुधाझरी-सुमाधुरीजरीहरत्-हरिद्दरीतरीतरत् सुचित्रकलापरीमला।
समुन्मनत् समुन्मनीकलावनी-कलापिनी कृपावनी सुपावनी चकास्तु भारतावनी।।

(वायु की मोदभरी अमृत की झड़ी की मधुरता का हरण करने वाली दिशारूपी गुफाओं में तैरती हुई सुन्दर गन्ध वाली, अति उल्लसित होती हुई कला की भूमि, मयूरीरूप कृपा की स्थली अत्यन्त पवित्र भारत भूमि सुशोभित हो।)

आगे 'उषस्सूक्तम्', 'भारतमहिम्नःस्तुतिः', 'संस्कृतप्रशस्तिः', 'नमोवाकः', चेगुर्तिवेणुगोपालसुप्रभातम्', 'श्रीवासरसुप्रभातम्' आदि काव्यांशों में कवि ने अपनी शदालङ्कार-भार से लदी कठिन व्याकरण-प्रयोग से समन्वित शैली का प्रदर्शन किया है। वस्तुतः कवि श्रीभाष्यम् कवित्व एवं पाण्डित्य के सुन्दर समन्वय हैं और उन्होंने प्रभूत साहित्यसर्जना कर संस्कृत की श्रीवृद्धि की है।

'आवाहनम्' कवि विजयसारथि की दूसरी ऐसी रचना है जिसको लघुकाव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है। इसमें गीतियाँ दो-एक ही हैं शेष वार्णिक-मात्रिक छन्दों में निबद्ध पद्य हैं। इसका प्रकाशन १९६१ ई. में हुआ है। काव्य का आरम्भ राष्ट्रिय कविता 'राष्ट्रसूक्त' से होता है। आगे चलकर कवि 'कविसूक्त' भी उपन्यस्त करता है। कवि कहता है कि हे कवि! तेरा संसार कितना विचित्र है, तेरे न जाने कितने रूप हैं, कितने नाम हैं-

अयि कवे ! जानाति को नाम नामानि
प्रतिफलं भिन्नानि तव रूपधेयानि।

'कौलेयसूक्त' में कवि ने एक एक सामाजिक अधिक्षेप उपस्थापित किया है।'विषादलहरी' शीर्षक से कवि ने विस्तार से भगवान् के सामने अपनी विषादमयी वेदना को व्यक्त किया है, यथा-

स्वामिन् हे करुणानिधे ! श्रुतितनो विश्वैकमूर्ते विभो
काचिद्दीनतनूर्विषादलहरी मन्मानसं विद्रुतम्।
विष्ट्वा द्रवकरी विषादमयरीतिं गातुमेवं परं
प्रारब्धेश शृणुष्व देव ! कृपया तां द्राविणीगीतिकाम्।।

'आहुतिः' कविता को कवि ने उच्छ्वासों में विभक्त किया है तथा पौराणिक आख्यान द्वारा उपन्यस्त किया है। कवि विजयसारथि की भाषा में एक विशेष चमत्कार एवं परिष्कार है, छन्दों के प्रयोग में वैविध्य है, भावों में गहनता एवं व्यापकता है। उनका विषय-निर्वाह एवं शैली-प्रयोग मौलिक है। वे प्रौढ़ कविता के धनी हैं, युगकर्ता एवं युगोद्धर्ता हैं।

यतीन्द्रनाथ भट्टाचार्य - कवि यतीन्द्रनाथ सेण्ट पॉल्स कालेज, कलकत्ता में प्रोफेसर थे। उनका स्फुट पद्यों का संग्रह 'काकली' १६३१ ई. में प्रकाशित हुआ। इसमें कुछ स्तोत्र हैं। इसमें सविता, सोम, अतिथिसत्कार, परोपकार, धात्री पन्ना, राजा हरिश्चन्द्र, महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि पर स्फुट कविताएँ हैं। रथोद्धता छन्द में 'सविता' शीर्षक के अन्तर्गत सूर्य पर ये पद्य दर्शनीय हैं-

भाति पश्यत हरेहर्रिन्मुखे सूर्यबिम्बमरुणं निक्षाक्षये।
ओड्रपुष्पमिव कृत्रिमे वने प्रस्फुटं मघवतो दिवस्पतेः।।

(देखो, पूर्वदिशा के मुख भाग में रात बीत जाने पर प्रातःकाल लाल रंग का सूर्यबिम्ब ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे स्वर्ग के स्वामी इन्द्र के नन्दन वन में खिला हुआ जवाकुसुम का फूल हो।)

महालिङ्ग शास्त्री-दक्षिण भारतीय प्रौढ़ कवि महालिङ्ग शास्त्री ने तीन लघु काव्यों की रचना की, जिनका विवरण इस प्रकार है -

किङ्किणीमाला-यह काव्य १६३४ ई. में मद्रास से प्रकाशित हुआ। इसके परिचय रूप में कवि ने लिखा है 'लघीयसां विचित्र-विषयाणां खण्डकाव्यानां समाहारः'। इसमें वस्तुतः देवस्तुति, नायिका-वर्णन, प्रणय-प्रसङ्ग, प्रकृतिवर्णन, रामविलाप, जीवन-दर्शन, कवि-सर्जना आदि विविध विषयों पर विविध छन्दों में पद्य लिखे गये हैं। 'आकाशतारा' शीर्षक के अन्तर्गत आकाश के तारों का वर्णन कवि की रचनाशीलता को प्रकट करता है-

आकाशताराः स्फुरणप्रकाराः पश्यात्युदाराः करकानुकाराः।
फेनायमाना वियदम्बुराशेर्बिन्दूपमाना नभसो वराशेः।।

यहाँ अन्त्यानुप्रास दर्शनीय है। जार्ज पञ्चम के यशोगान से युक्त 'जार्जपञ्चकम्' भी इसी काव्य का अङ्ग है। कतिपय गद्य गीतात्मक भी है।

वनलता-१९५५ ई. में तंजौर से प्रकाशित 'वनलता' काव्य में पांच सर्ग हैं। यक्ष की प्रियतमा यक्षिणी कुबेर के शाप से वनलता बन जाती है और वन में रहती है। यक्ष अलका छोड़ देता है और धरती पर जाकर राजकुमार के रूप में जन्म लेता है और बाद में शाप-विमोचन से दोनों का पुनर्मिलन होता है। इसमें शाप-विमोचन में राजकुमार द्वारा की गई शिवस्तुति कारण मानी गई है। प्रकृति वर्णन का यह उदाहरण सुन्दर है-

कुमुदिनी मुमुदे जहृषुस्तदा मधुलिहः पुलिनानि चकाशिरे।
परितुतोष चकोरपरम्परा स च युवा हृदि कौतुकमानशे।।

भारतीविषादः-शास्त्रीजी का यह तृतीय लघु काव्य है जो श्रीसाहित्यचन्द्रशाला, तिरुवालङ्गरडु, तंजौर से १९६४ ई. में प्रकाशित हुआ। ग्रन्थ के ऊपर यह श्लोक अङ्कित है -

ऊनविंशतिवर्षेण काव्यं तत् प्रथमं कृतम्।
कविना भारतीदेव्या विषादाख्यं विषादिना।।

इसमें वसन्ततिलका वृत्त में १५२ पद्य संगृहीत हैं। विज्ञान एवं पाश्चात्त्य ज्ञान के प्रभाव से इस युग में संस्कृत भाषा को जो विपरीतता सहन करनी पड़ रही है, कवि ने उस पर दुःख व्यक्त किया है।

डि. अर्कसोमयाजी-आन्ध्र प्रदेश निवासी डि. अर्कसोमयाजी केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ तिरुपति में खगोलशास्त्र के प्रवाचक रहे हैं। सन् १९६० में इसी विषय पर आपका एक काव्य 'ब्रह्माञ्जलिः' नाम से प्रकाशित हुआ, जिसको कवि ने 'परमेश्वरार्पिता श्लोकमालिका' कहा। इसमें कवि ने उनचास शीर्षकों में विविध विषयों पर सुन्दर पद्यों की रचना की है। कवि ने कहीं गौडी और कहीं वैदर्भी रीति की उपासकता दिखाई है। सृष्टि, ईश्वर, मनुष्य, प्रकृति, आत्मा, भारतदेश आदि विविध विषयों को लेकर कवि ने अपनी वाणी का प्रसार किया है। 'प्रकृति ग्रन्थ' के अन्तर्गत कवि विश्व के विद्वानों को ब्रह्माण्ड रूपी अनन्त ग्रन्थ को पढ़ने और उसके रहस्यों को जानने के लिए कहता है -

किमु ग्रन्थान् विद्वन्! पठसि नरमेधाविरचितान्
पठ ब्रह्माण्डाख्यं द्रुहिणरचितं ग्रन्थमतुलम्।
असंख्याका गोलाः कथमिव नभोगर्भनिहिताः
कया शक्त्या भूमिर्लुठति गगने कन्दुक इव।।

हे विद्वन्! मनुष्य की बुद्धि से बने हुए ग्रन्थों को क्यों पढ़ते हो ? विधाता के बनाये हुए इस ब्रह्माण्ड रूपी अनुपम ग्रन्थ को पढ़ो कि इस आकाश के गर्भ में असंख्य गोले कैसे

रखे हैं ? किस शक्ति से भूमि आकाश में गेंद की तरह लोट रही है।

कवि ने इस तरह के प्रकृति-रहस्यों की जिज्ञासा प्रकट करने वाले अनेक प्रश्नों को पूछा है। धर्म एवं दर्शन के विषय इसमें समाहित हैं। उनका निष्कर्ष है कि ब्रह्माण्ड एक एवं अविभाज्य है। खगोल विद्या जैसे गम्भीर रहस्यात्मक विषय पर काव्य लिखकर अर्कसोमयाजी ने एक नितान्त नवीन कार्य किया है।

स्वयंप्रकाश शर्मा शास्त्री-साहित्याचार्य, ज्योतिषाचार्य शास्त्रीजी का 'इन्द्रयक्षीय काव्य' १९७० ई. में प्रकाशित हुआ। इसमें कवि ने उपनिषद् की कथा को काव्य का रूप प्रदान किया है। अलङ्कारों के सुन्दर सन्निवेश से युक्त अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग इसमें प्राप्त होता है। आध्यात्मिक तत्त्वों की शिक्षा एवं सांस्कृतिक ज्ञान की वृद्धि के लिए यह ग्रन्थ उपादेय है। इसमें चार सर्ग हैं। कथावस्तु केनोपनिषद् की देव-राक्षस-युद्ध-कथा पर आधृत है। ब्रह्मविद्या का उपदेश इसका प्रधान उद्देश्य है।

मधुकर शास्त्री-इनका 'गान्धिगाथा' काव्य राजस्थान संस्कृत अकादमी, उदयपुर से १९७३ ई. में प्रकाशित हुआ। इसके दो भाग हैं-पूर्व एवं उत्तर। पूर्वभाग में जीवन-दर्शन है और उत्तर भाग में गान्धि-वाणी। यह हिन्दी के नये गेय छन्दों की लय पर लिखा गया काव्य है। इसमें कवि ने गान्धीजी के जन्म, बाल्यकाल, शिक्षा-दीक्षा, जीवन की विविध घटनायें, गान्धी पर अन्य मनीषियों के प्रभाव, विदेश-यात्रा, दक्षिण अफ्रीका-गमन-आगमन, स्वतन्त्रता-आन्दोलन में गान्धीजी की भूमिका, और प्रमुख राजनीतिक घटनाओं का विवरण दिया है। द्वितीय भाग में गान्धीजी के सिद्धान्तों का संङ्कलन है। गान्धीजी के सत्याग्रह और नमक आन्दोलन का वर्णन करता हुआ कवि कहता है-

अनुबन्धानेकादश गान्धी न्यदधाद् राज्यसमक्षं
तदस्वीकृतवानान्दोलनमुद्घोषितवान् प्रत्यक्षम्।
लवण-नियम-समतिक्रमणेऽस्याऽभवन्निश्चयो गाढं
डाँडीयात्रामकृत मनुष्यैः षट्सप्ततिना सार्धम्।।

पूर्व भाग में २४७ तथा उत्तर भाग में १०६ पद्य हैं।

गरकपाटि लक्ष्मीकान्तैया-इन्होंने संस्कृत में अनेक काव्यों की सर्जना की है। जैसे हरस्तुतिः, कीरसन्देशः, अष्टकपञ्चकम, जलधिजानन्दलहरी, श्रीभवानीशङ्करस्तुतिकुसुमाञ्जलिः, भारतरत्नम्, विश्वकविः, श्रीविद्याशङ्करभारतीविजयः, श्रीश्रीशृङ्गगिरि-श्रीजगद्गुरुचरितसंग्रहः, श्रीवेङ्कटेश्वरस्तुतिः, श्रीनारायणतीर्थयतीन्द्रचरितम् तथा भव्यभारतम्। भव्यभारतम् का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है-

इस लघु काव्य का प्रकाशन १९७४ ई. में हुआ। यह मयूखों में विभाजित है और इसमें सात मयूख हैं। भारतवर्ष की महिमा का गान, यहाँ के पवित्र प्राचीन ग्रन्थ, आश्रम, गुरुकुल, प्राचीन विश्वविद्यालय, ग्राम, भारत के पुण्य-क्षेत्रों, प्रमुख आचार्यों, सम्राटों,

संस्कृत-कवियों, राष्ट्रभाषा-कवियों की गौरव-गाथा इसमें प्राप्त होती है। भारत के प्राचीन प्रमुख आचार्यों की चर्चा करता हुआ कवि कहता है-

श्रीमद्व्यासश्शुकमुनिवरश्चात्मविद्गौडपादः
श्रीगोविन्दो गुरुवरगुरुश्शङ्करश्शङ्करार्यः।
श्रीमद्रामानुजगुरुवरः पूर्णबोधो यतीन्द्रः
श्रीचैतन्यप्रभृतिगुरवः प्राभवन्यत्र चान्ये।।

के.एस. कृष्णमूर्ति शास्त्री- इनका 'प्रकृतिविलासः' काव्य सन् १९५० में प्रकाशित हुआ। इसमें प्राकृतिक सौन्दर्य के विविध वर्णन विविध शीर्षकों के अन्तर्गत प्राप्त होते हैं यथा-सारस्वतसर्वस्वम्, काननकामनीयकम्, पर्वतपारम्यम्, समीरसमर्हणम्, त्रिपथगासौभाग्यम्, द्विजराजसाम्राज्यम्, प्रभाकरप्रभावः, शर्वरीसौन्दर्यम् आदि। वन की सुन्दरता का एक चित्र दर्शनीय है-

गीतिं मुधा मधुकरीषु वितन्वतीषु
हंसीषु पक्षपुटताडनतोऽप्सु तालान्।
तीरद्रुमेषु विकिरत्सु सुमान्यभीक्ष्णं
लक्ष्मीर्ननर्त सरसीरुहरङ्गधाम्नि।।

(भ्रमरियों के सहर्ष गीत गाने पर, हंसिनियों के जल में अपने दोनों पंखों के मारने से ताल बजाने पर, तटवर्ती वृक्षों के बार-बार फूल बरसाने पर कमलरूपी रङ्गस्थल पर लक्ष्मी ने नृत्य किया।)

समस्त काव्य में शैली सरस, अलङ्कारमयी एवं समासभूयिष्ठ है।

बालकृष्ण भट्ट शास्त्री-इनका 'स्वतन्त्रभारतम्' काव्य भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर सन् १९४६ में लिखा गया। कवि भारत को मिली स्वतन्त्रता के इतिहास पर दृष्टि रखता हुआ ही त्याग-बलिदान के बाद मिली स्वतन्त्रता की चर्चा करता है। वह स्वतन्त्रता के सेनानायकों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है। कवि ने स्वतन्त्र भारत की नई समस्याओं की ओर ध्यान केन्द्रित कराया है। भारत का विभाजन, गान्धीजी की हत्या, शरणार्थी-समस्या आदि पर प्रकाश डाला है।

सी.आर. स्वामिनाथन् - शास्त्रपुरम् रामकृष्ण स्वामिनाथन् का जन्म सन् १९२७ में पालघाट केरल में हुआ था। देववाणी परिषद्, दिल्ली से १९८३ में प्रकाशित आपके काव्य 'श्रीबदरीशसुप्रभातम्' को स्वयं कवि ने स्तोत्रकाव्य की संज्ञा दी है। भगवान् बद्रीनारायण और उनके आवासभूत हिमालय पर्वत पर विराजमान बदरिकाश्रम की महिमा का गान कवि ने भक्ति-भाव से प्रेरित होकर किया है। श्रीमद्भागवत और महाभारत में बदरीक्षेत्र से सम्बन्धित जो कथन हैं उनका भी उल्लेख यहाँ किया गया है। कवि ने प्रत्येक श्लोक के

चतुर्थ चरण के रूप में 'श्रीनाथ ते बदरिकेश्वर सुप्रभातम्' यह पदावली रखी है। शेष तीन चरण इसी पर आकर समाप्त होते हैं। पूरे काव्य में आराध्य देव के प्रति समर्पण भाव है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है -

भागीरथीतटविहार भवाब्धिपोत भाग्यस्वरूप भुवनस्य भयापहारिन्।
भीमाभिवन्ध भगवन् भुजगेन्द्रशायिन् श्रीनाथ ते बदरिकेश्वर सुप्रभातम्।।

यथास्थान उपयुक्त अलङ्कार भी प्रयुक्त हुए हैं। पं. रघुनाथ शर्मा ने इस काव्य पर संस्कृतटीका लिखी है।

श्रीशैल ताताचार्य-कवि श्रीशैलताताचार्य शिरोमणि तञ्जौरस्थित पञ्चनद संस्कृत महाकलाशाला में मीमांसा-दर्शन के प्राध्यापक थे। मीमांसक होते हुए भी आपमें कवित्व गुण विद्यमान था, जिसकी प्रशंसा कुप्पू स्वामी शास्त्री एवं एस. वेदान्त आयंगर जैसे विद्वानों ने की है। आपके दो लघुकाव्य प्रकाशित हैं जिनका विवरण इस प्रकार है-

कपीनामुपवासः-यह लघुकाव्य १९२५ ई. में कुम्भकोणम् से प्रकाशित हुआ। यह ३१ श्लोकों का एक हास्य काव्य है जिसमें व्यङ्ग्य का पुट भी विद्यमान है। एक बार एक बन्दरों के राजा (कपिसार्वभौम) ने बन्दरजाति के लोगों का एक सम्मेलन बुलाया और उसमें यह कहा कि जब हमारी जाति में शौर्य, वीर्य और विद्या की दृष्टि से अनेक महान लोग हुए हैं ; बाली, सुग्रीव, नल और हनुमान जैसे लोग हमारी जाति में हुए हैं तब हमें मनुष्य जाति से हीनतर क्यों माना जाता है -

किन्तावदस्मासु न विद्यते यन्मनुष्यजातेरवरा भवेम।
किं वा मनुष्येष्वधिकं चकास्ति यतः प्रकृष्येत मनुष्यवर्गः।।

अतः मनुष्यों के समान अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए उस वानरराज के निर्देश पर सब बन्दरों ने एकादशी के दिन उपवास रखने का निश्चय किया। किसी तरह कठिनाई से उन्होने इस व्रत का पालन भी किया और अन्ततः एक वानर की प्रेरणा से वे वृक्षों पर चढ़ गये। अपने चपल स्वभाव के कारण अन्ततः उन्होंनें वृक्षों के समस्त फलों का भक्षण कर लिया और उनका उपवास टूट गया। इस तरह हास्य को एक सामान्य रूप इस लघु काव्य में प्राप्त होता है।

मुग्धाञ्जलिः-यह भी २७ श्लोकों का अतिशयलघुकाव्य है जिसमें आराध्य के प्रति आराधक के अनवद्य उद्गार भरे हुए हैं। वह आराध्य को ही एकमात्र शरण मानता है। वह आर्तबन्धु भगवान् के आगे अञ्जलिबद्ध होकर खड़ा है कि उसकी रक्षा करें। न उसके पास भक्ति है, न शक्ति है और लोकस्थिति अत्यन्त भयप्रद है। अतः ऐसी स्थिति में ईश्वर ही रक्षक हैं। इस प्रकार इस काव्य में हृदय की विशुद्ध भावना व्यक्त हुई है। अतः यह एक लघु भक्तिकाव्य है। एक उदाहरण है-

शस्त्राणि युद्धखलतां गमितानि लोके नैवास्ति योगसरणिर्न तपो न मन्त्रः।
केनाधुना कमललोचन वीतमोहो दिव्यं त्वदीयपदपङ्कजमाश्रयेयम्।।

श्री. भि. वेलणकर-संस्कृत की कई काव्यविधाओं में रचना करने वाले वेलणकर प्रतिभाशाली कवि हैं, जिन्होंने अनेक नाटक, गीतिकाव्य एवं खण्डकाव्य लिखकर संस्कृत-साहित्य को समृद्ध किया है। उनका 'जवाहरचिन्तनम्' काव्य १९६६ ई. में, सुरभारती भोपाल से प्रकाशित हुआ, जिसमें जवाहरलाल नेहरू के जीवन पर ७७ गीतों का सङ्ग्रह है। १९६७ ई. में प्रकाशित 'विरहलहरी' दूसरा गीतिकाव्य है। इनके अन्य काव्य हैं-अहोरात्रम्, गीर्वाणसुधा, विष्णुवर्धापनम्, गुरुवर्धापनम्, जयमङ्गला, जीवनसागरः, संङ्गीतसौभद्रम्, कालिदासचरितम्, कालिन्दी, कैलासकम्पः, स्वातन्त्र्यचिन्ता, मेघदूतोत्तरम् आदि। यद्यपि कवि वेलणकर का काल एवं क्षेत्र, दोनों ही व्यापक हैं, फिर भी उन्हें लघुकाव्य के बीसवीं शती के सातवें दशक का समृद्धिकारी कवि कहा जा सकता है।

राजाराम शुक्ल-काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के रणवीर संस्कृत विद्यालय में साहित्य के प्रधानाध्यापक कवि शुक्ल के 'जवाहरज्योतिः' काव्य का प्रकाशन १९६७ ई. में हुआ। इसमें पं. जवाहरलाल नेहरू के व्यक्तित्व का सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया गया है। ज्योति के विषय में एक स्थान पर कवि कहता है-

श्रीभारतीया ननु लोकतन्त्रे सिद्धाः स्वयं सच्चरितैश्चरित्रैः।
यतः सहास्तित्वमतिं प्रलभ्य जवाहरज्योतिरितश्चकास्ति।।

सहास्तित्व रूपी सिद्धान्त का अवलम्बन करने वाली जवाहरज्योति यहाँ प्रकाशमान है। इस चरितवर्णन के साथ भारत और पाकिस्तान के कटु कूटनीतिक सम्बन्धों और संघर्षों का विवरण भी कवि ने दिया है।

के.एस. नागराजन- इनका 'भारतवैभवम्' काव्य राष्ट्रीय काव्यमाला के अन्तर्गत बंगलौर से १९७४ में प्रकाशित हुआ। इसमें आठ छोटे-छोटे पद्यकाव्यों का संग्रह है। इसमें पहली कविता 'भारताम्बिकास्तुति' है जो १२ पद्यों में है। 'भारतमहिमा' दो सौ पद्यों में है। तृतीय 'भारतभावना', चौथी कवीन्द्र रवीन्द्र को लेकर लिखी गई १६ पद्यों की, पाँचवी 'नवकर्णाटवैभव' नाम की २३ पद्यों की, छठी मोतीलाल नेहरू की प्रशंसापरक, सातवीं आर्य विश्वेश्वर को विषय बनाकर लिखी हुई, और आठवीं 'गान्धीमहिमा', इस तरह राष्ट्रभक्ति को विषय बनाकर लिखी गई कई कविताएँ यहाँ विद्यमान हैं। भारत की महिमा का गान करते हुए कवि कहता है -

अखण्डभूमण्डलमण्डनार्हश्चाखण्डलादित्रिदशप्रशस्तः।
दिगन्तविश्रान्तविशेषकीर्तिर्विराजतेऽसौ भरताख्यखण्डः।।

(अखण्ड पृथ्वीमण्डल को सुशोभित करने योग्य, इन्द्र आदि देवताओं से प्रशंसा प्राप्त,

विभिन्न दिग्भागों में फैली हुई विशेष कीर्ति वाला यह भारतवर्ष सुशोभित हो रहा है।)

रामनाथ आचार्य-वाल्मीकि संस्कृत महाविद्यालय, नेपाल के भूतपूर्व प्रधानाचार्य कवि आचार्य ने स्फुट पद्यों से युक्त 'पद्यमालिका' नामक काव्य लिखा, जिसका प्रकाशन १६७६ ई. में हुआ। काव्य पारम्परिक छन्दों एवं विषयों से युक्त है। आरम्भ में अनेक देवी-देवताओं की स्तुतियाँ हैं।

चुन्नीलाल 'सूदन'-इनके द्वारा रचित 'भरतसिंहचरितामृतम्' काव्य वर्ष १६७६ में सहारनपुर, उत्तर प्रदेश से प्रकाशित हुआ। कवि ने राष्ट्र के लिए अपना सर्वस्व निछावर करने वाले त्यागी, राष्ट्रभक्त, वीर सरदार भगतसिंह को इस काव्य का नायक बनाया है। इसमें भगतसिंह का पूरा जीवनवृत्त और स्वतन्त्रता संग्राम में उनके बलिदान की कथा विस्तार से वर्णित है। भगतसिंह का शौर्यगान करते हुए कवि कहता है -

स्वातन्य-सङ्गर-विलासरता नरा ये उत्सारणे रिपुकुलस्य निबद्धखड्गाः।
तेषां वरेण्यसुविशालभुजान्तरालं वर्ण्यो नृसिंहसदृशोऽत्र स भक्तसिंहः।।

(स्वतन्त्रता-संग्राम के विलास में लगे हुए जो लोग शत्रुसमूह को उखाड़ फेंकने के लिए तलवार उठाये हुए हैं उनकी सुन्दर विशाल भुजाओं के मध्य में नरसिंह के समान वह भगतसिंह वर्णनीय है।)

रामकृष्ण भट्ट-श्रीभट्ट दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दू महाविद्यालय में संस्कृत विभागाध्यक्ष पद पर रहे। आपका 'काव्योद्यानम्' काव्य १६७२ ई. में प्रकाशित हुआ। यह छः अध्यायों में विभक्त एक बृहत् काव्य है जिनके नाम इस प्रकार है -

१. गाणपतम् २. भागवतम् ३. सारस्वतम् ४. पत्रपुष्पम् ५. साप्तपदीनम् एवं ६. मौक्तिकम्। प्रथम अध्याय में प्रायः स्तुतियाँ हैं जो गणेश से आरम्भ होकर अन्य आराध्य देवों तक जाती हैं। द्वितीय अध्याय में महापुरुषों, पूज्य जनों की वन्दनाएँ हैं। सारस्वतम् में कवि-काव्य-विषयक विभिन्न विषय हैं। विभिन्न वर्ग के लोगों के प्रति शुभाशंसाएँ व्यक्त की गई हैं। यत्र-तत्र कवि एक विषय को लेकर समस्यापूर्ति करता हुआ कई पद्य लिखता है, जैसे 'विषमा समस्या' नामक समस्यापूर्ति का गरीबी पर लिखा एक पद्य द्रष्टव्य है -

देशे स्वतन्त्रेऽप्यधुनाऽस्मदीये वासोनिवासाशनजातलाभे।
कल्यार्जने निःस्वतया जनानां कार्पण्यभाजां विषमा समस्या।।

इनके काव्य में प्रौढि, उदारता एवं वैदग्ध्य सभी गुण विद्यमान हैं। अष्टम दशक में काव्य पारम्परिकता के साथ आधुनिकता का भी वरण कर रहा था इसका उदाहरण यह काव्य है।

रामशरण शास्त्री-कविवर शास्त्री का 'जवाहरजीवनम्' लघुकाव्य सेवक संघ, बरनाला,

संगरूर, पंजाब से प्रकाशित हुआ। इसमें कवि धर्म और संस्कृति के पवित्र पृष्ठाधार पर पण्डित नेहरू की जीवन-यात्रा अङ्कित करता है। इसमें नेहरू परिवार के पूर्वपुरुषों का काश्मीर से दिल्ली-आगमन, पश्चात् आगरा-प्रयाग में उनका प्रवास, पं. मोतीलाल नेहरू का वर्चस्व, आनन्दभवन वर्णन, जवाहर-जन्म, बाल्यावस्था, स्वतन्त्रता-संग्राम, उनके राजनीतिक जीवन, महाप्रस्थान तक की घटनाओं का रोचक इतिवृत्तात्मक चित्रण है। सम्पूर्ण काव्य को २१ भागों में घटनाक्रमानुसार विभाजित किया गया है। जवाहरलाल के जन्म का वर्णन कवि ने ज्योतिष की स्थिति के अनुसार इस प्रकार किया है-

जातो जवाहरो योगी राज्य-ग्रहसमन्वितः।
मुक्तारत्नैः समुद्भूतो मणिरूपो जवाहरः।।

जवाहर के जन्म को पुण्यकर्म का फल मानते हुए कवि ने उनकी तुलना रघुवंशी राजा दिलीप से की है। काव्य में प्रसङ्गवश काश्मीर की सुषमा का मनोहर वर्णन किया गया है। भारत के परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़े रहने पर उभरे स्वतन्त्रता-आन्दोलन का कवि ने पूरा ब्यौरा दिया है। जवाहरलाल के निधन पर सारा राष्ट्र किस तरह शोकाकुल हो गया, इस स्थिति को प्रकट करते हुए कवि तिरंगे झण्डे में लिपटे उनके पार्थिव शरीर को देखकर लोगों के भावों का वर्णन करता है -

जवाहरोऽमरो नित्यं पितृव्योऽप्यमरोऽस्ति वै।
इति घोषस्पृशैर्देवैर्वर्षणं क्षणदं कृतम्।।

समग्र काव्य में प्रायः अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग है, परन्तु अनेक भावमय वर्णनपरक स्थलों में कवि स्वयं बड़े तदनुरूप छन्दों की ओर प्रवृत्त हो जाता है।

मिजाजीलाल शर्मा-शर्माजी का 'जवाहरचरितम्' उत्तरप्रदेशीय जनपद इटावा से १९८० में प्रकाशित हुआ। यह दो सर्गों में निबद्ध है। श्रीनेहरू में धीरोदात्त नायक के सारे गुण विद्यमान हैं। जवाहर की तुलना राजा रघु से करता हुआ कवि स्वीकार करता है कि उनका जन्म भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए हुआ है। अतः यह केवल नेहरूजी की कथा नहीं है, अपितु अँग्रेजी शासन से भारत की मुक्ति की गाथा है।

लछमनसिंह अग्रवाल-आठवें दशक में विशेष रूप से प्रकाशित होने वाले अग्रवाल ऐसे कवि हैं जो चलती धारा से हटकर विज्ञान, प्रकृति आदि विषयों पर काव्य-प्रणयन में प्रवृत्त हुए। ये अन्धे थे। प्रकाशनवर्षक्रमानुसार, आपके काव्य इस प्रकार हैं - कालरात्रिः (१९७७) राष्ट्रदर्पणः (१९८०), विज्ञानगीतम् (१९८१), कुटुम्बिनी (१९८२), पद्यपुष्पवाटिका (१९८३), कालचक्रम् (१९८६) मानसरासकेली तथा श्रीरामरसायनम्। इनके प्रमुख काव्यों का विवरण इस प्रकार है -

'कुटुम्बिनी' लघुकाव्य दो भागों में विभक्त है। पूर्वभाग को प्रकृतिखण्ड तथा उत्तर भाग को प्रवृत्तिखण्ड नाम दिया गया है। पूर्वभाग में ५१ तथा उत्तर भाग में ६१ पद्य हैं।

ग्रन्थ की विषयवस्तु पूरी तरह विज्ञानपरक है। इस काव्य में विज्ञान से कल्पना का, पुराख्यानों से इतिहास का, समाजशास्त्र से भूशास्त्र का, व्याकरण से निरुक्त का तथा वास्तविकता से कल्पना का मनोहारी समन्वय दर्शनीय है। इस छोटे से काव्य में पृथिवी के अन्य नामों की निरुक्तियाँ, प्राकृतिक सौन्दर्य वैज्ञानिक दृष्टि से शब्दों की व्युत्पत्तियाँ, डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त का आश्रय लेकर औद्योगिकता की प्राप्ति-पर्यन्त मानव-सृष्टि का विकास, विज्ञानकी ध्वंसकताशक्ति आदि का प्रतिपादन काव्य की परिधि में किया गया है। पृथ्वी के स्वरूप का वर्णन करते हुए कवि कहता है-

ध्रुवप्रदेशोज्ज्वलतन्तुजाल-समुद्रचण्डातकवीतगात्री।
नामानि यस्या गुणसार्थकानि अमन्दलावण्यमयी गरिष्ठा।।

पृथ्वी की उत्पत्ति कैसे हुई इस रहस्यमय प्रश्न का विवरण देते हुए कवि कहता है-

किं बीजमादावभवन् तरुर्वा किमण्डमासीत् प्रथमं खगो वा।
पूर्वं शिशुर्वा पुरुषोऽथवाऽत्र क्षितौ रहस्यानि बहूनि नूनम्।।

'श्रीरामरसायन' काव्य में ३५५ वियोगिनी पद्यों में रामकथा वर्णित है। काव्य यद्यपि लघु है, पर सात सर्गों में निबद्ध है। संक्षेप में रामकथा वर्णित है। उपसंहार में लव एवं कुश, बप्पा रावल, संग्राम सिंह, महाराणा प्रताप, शिवाजी आदि राष्ट्र वीरों का उल्लेख कर इस कथातन्तु को कवि आधुनिक काल तक ले आया है।

राजनारायण प्रसाद मिश्र-श्री मिश्र, उत्तर प्रदेश स्थित पीलीभीत के निवासी हैं। उनका 'सुभाषचन्द्रोदय' काव्य नूतन प्रकाशन, पीलीभीत से १९८७ ई. में प्रकाशित हुआ। इसमें स्वतन्त्रता-संग्राम के अद्वितीय योद्धा सुभाषचन्द्र बोस का जीवन-परिचय एवं व्यक्तित्व निबद्ध है। यह काव्य तीन आलोकों में विभक्त है-आद्यालोक, मध्यालोक तथा अन्त्यालोक। भूमिका में भारतवर्ष के गौरवगान के पश्चात् कवि सुभाषचन्द्र के जन्म रूप उदय का वर्णन करता है, जिसका यह प्रास्ताविक पद्य है -

अपास्य याच्ञां समुपास्य पौरुषं रुषं ह्यधादाङ्गलशासनाय यः।
सुभाषिता यस्य शुभा सिता सुभा सुभाषचन्द्रोऽभवदद्भुतोदयः।।

सुभाषचन्द्र के जन्म को चन्द्रोदय कहकर कवि ने श्लिष्ट प्रयोग किया है -

सुभाषचन्द्रोदयचारुचन्द्रिका विकारहीना चिरभव्यदिव्यता।
हतान्तरिक्षाखिलध्वान्तश्यामिका विकासिताशा प्रसरत्वमागता।।

(सुभाष रूपी भासमान चन्द्रमा के उदय से उत्पन्न विकारहीन, चिरकाल तक भव्य और दिव्य, अन्तरिक्ष के समस्त अन्धकार और कालिमा को विनष्ट करने वाली, दिशाओं को विकासित करने वाली सुन्दर चाँदनी फैल गई।)

कवि सुभाष के जन्मदिन २३ जनवरी, १८६७ से आरम्भ कर उनके बाल्यजीवन, शिक्षा, स्वतन्त्रता-संग्राम में कूदना, जेल यात्राएँ, कांग्रेस से सम्बन्ध, स्वातन्त्र्य-संग्राम को उग्र करने के लिए पेशावर, काबुल, बर्लिन, जर्मनी से जापानयात्रा, सिंगापुर, रंगूर, बैंकाक आदि की सब यात्राओं का मार्मिक चित्रण किया गया है। उनके वर्णनों में यत्र-तत्र वैज्ञानिकता, दार्शनिकता तथा व्याकरणात्मक नूतनता का समावेश है। भाषा सरल, एवं प्रसादगुणयुक्त है। वस्तुतः यह वीररसप्रधान एवं वीरगाथापरक काव्य है।

मथुराप्रसाद दीक्षित-महामहोपाध्याय दीक्षित का अन्योक्तिपरक काव्य 'अन्योक्तितरङ्गिणी' १६६६ ई. में प्रकाशित हुआ। कवि ने विविध जीव-जन्तुओं, प्राकृतिक उपादानों को विषय बनाकर जीवन के विविध व्यवहारों पर सुन्दर अन्योक्तियाँ लिखी हैं। उनकी अन्योक्तियाँ प्रायः चुटीली, विनोदभरी, अथवा व्यङ्ग्य भरी होती हैं। अन्योक्तियाँ सम्बोधनात्मक हैं। उन्होंने मत्कुण, झांकारक, कुक्कुर, रासभ, टिट्टिभ, वृश्चिक, ज्योतिरिङ्गण आदि जीवों, वृक्षों, लताओं, पुष्पों, तथा अन्य अनेक चेतन-अचेतन प्राणियों, पदार्थों को सम्बोधित किया है। अभावग्रस्त लोगों का रक्तशोषण करने वाले लोगों पर फबती कसते हुए कवि कहता है-

रे रे मत्कुण ! रक्तपानचतुरो मायाविनामग्रणी -
र्विक्रान्तोऽसि पलायने पटुतरस्त्वामस्मि सम्प्रार्थये।
एते क्लान्ततरा निरन्नवसनाः क्षामाः क्षुधापीडिताः,
छात्रास्तान् परिहाय शोणितयुतानन्यान्नरान् शोषय।।

(अरे खटमल ! तू लोगों का रक्त पीने में चतुर, मायावियों में सबसे आगे और बड़े भयंकर है, तू भाग जाने में भी बड़ा चतुर है। ये छात्र बहुत थके हुए हैं, अन्न-वस्त्र से हीन, दुर्बल एवं भूख से पीडित हैं। इनको छोड़कर तू रक्त से भरे हुए अन्य लोगों का खून चूँस।)

इस प्रकार इस काव्य में सौ अन्योक्तिमय पद्य हैं। भाषा अत्यन्त प्राञ्जल एवं शैली मधुर है। अन्योक्ति-साहित्य के क्षेत्र की यह एक अनुपम देन है।

विश्वेश्वर विद्याभूषण काव्यतीर्थ-ये पश्चिम बङ्ग संस्कृति शिक्षा परिषद् के सदस्य, पश्चिम बङ्ग शिक्षाधिकार सेवा से निवृत्त अध्यापक तथा ऋषिधाम के कुलपति थे। इनका काव्यकुसुमाञ्जलि काव्य १६८० ई. में प्रकाशित हुआ। रूपकमञ्जरी ग्रन्थमाला के अष्टम पुष्परूप इस काव्य में ७३ शीर्षकों में पद्यों का संङ्कलन है। छन्दःप्रयोग पारम्परिक है। कवि विश्वदेवनन्दन, वाणी-वन्दन तथा सुरभारती-वन्दन से काव्य आरम्भ करता है। अनेक कविताएँ स्तुतिपरक, ऋतुवर्णनपरक तथा हिमालय-गङ्गादिवर्णनपरक हैं। 'मधुपूर्णिमाया भावपुष्पाञ्जलिः' शीर्षक कविता से एक श्लोक उद्‌धृत है-

हे श्रीकान्त कृतान्तभीतिविकले सन्तापतप्ते जने
लीला-लास्य-मधुप्रमोदललितां दृष्टिं विकीर्यामलाम्।

क्रीड त्वं मुरलीधरश्चिरसुखं मच्चित्तवृन्दावने
भक्तिस्यन्दमयीं प्रवाह्य यमुनां पीताम्बरः श्रीधरः।।

(हे लक्ष्मी के पति भगवान् विष्णु ! यमराज के भय से व्याकुल, सन्ताप से तपे हुए लोगों पर अपनी लीला और नृत्य के आनन्द के कारण ललित निर्मल दृष्टि को डालकर पीत वस्त्र एवं मुरली धारण करने वाले तुम मेरे हृदय रूपी वृन्दावन में भक्ति के प्रवाह से युक्त यमुना को प्रवाहित करके चिरकाल तक सुख देते हुए क्रीडा करो।)

अनेक कविताएँ स्मृतितर्पणरूप तथा श्रद्धाञ्जलिरूप भी हैं।

उमाशङ्कर शर्मा त्रिपाठी-महाकाव्य एवं गीतिकाव्य के क्षेत्र में किये गये सर्जन के अतिरिक्त श्री त्रिपाठी ने लघुकाव्य लिखे तथा अन्य अनेक मुक्तक रचनाएँ भी प्रस्तुत कीं। आपकी 'अहं राष्ट्री' नामक लघुकाव्यकृति सर्वाधिक प्रसिद्ध हुई, जिसमें राष्ट्रीय नेताओं के महनीय चरित्रों का अङ्कन है। इनकी दूसरी लघुकृति 'रसभारती' हास्यरसमयी है। त्रिपाठीजी की रचनाओं में प्रगति का शङ्खनाद है। भारतीय समाज में युगानुरूप होने वाले सुधार के लिए कवि की वाणी प्रस्फुटित होती है।

अस्पृश्यता की कुप्रथा के विरुद्ध बोलते हुए कवि कहता है कि बड़े-बड़े देव-मन्दिरों का निर्माण करने वाले वे ही लोग हैं जिन्हें इनमें जाने से रोका जाता है -

केषां कीर्तिर्हरिगृहमिदं मन्दिरं नेत्ररम्यं
वेदज्ञैः किं विरचितमिदं क्षत्रियैर्वाऽथ वैश्यैः।
अस्पृश्यानां दिशति धवलां सभ्यतावर्त्मपंक्तिं
प्रासादोऽसौ नभसि पवनाश्लेषकम्पत्पताकः।।

त्रिपाठीजी ने अनेक आधुनिक विषयों पर अपनी लेखनी सार्थक कर संस्कृत काव्य-जगत् में नया आन्दोलन भी चलाया है और यथावसर पारम्परिक विषयों पर पारम्परिक शैली में भी काव्य-रचना की है।

रेवा प्रसाद द्विवेदी 'सनातन'-इन्होंने सातवें-आठवे दशक में प्रसिद्ध 'सीताचरितम्' महाकाव्य सहित अनेक काव्यों का प्रणयन किया। अनेक स्फुट कविताओं के अतिरिक्त आपका 'रेवाभद्रपीठकाव्यम्' एक प्रसिद्ध लघुकाव्य है, जिसका प्रकाशन १९८८ ई. में हुआ। कवि ने अपने जन्मस्थान एवं गृहग्राम के वर्णन से काव्य का आरम्भ किया है। नर्मदानदी के तट पर स्थित, मध्य प्रदेश के भोपालभुक्ति में स्थित नादनेर ग्राम का वर्णन कवि ने सुचारु रूप से किया है। साथ ही रेवा नदी का सौन्दर्य-वर्णन भी किया है, जिसका एक उदाहरण इस प्रकार है -

श्रीरेवा या धरित्रीपरिसर उदयत्क्षात्र-विप्र-प्रताप-
व्यामिश्रस्याद्भुतात्मा भवति खलु पदं वर्त्मनोऽध्यात्मनीतेः।

मन्ये नो वारिधारां वहति भगवती नर्मदास्मिन् प्रदेशे
तां ब्रह्मक्षत्रधाम्नां प्रणयमसृणतां प्रीतिधारां वदामः।।

काव्य में शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा जैसे बड़े छन्दों का प्रयोग है। भाषा प्रौढ़, कठिन एवं पाण्डित्यपूर्ण है। वस्तुतः आपकी कविता में पाण्डित्य एवं वैदग्ध्य का अद्भुत मिश्रण प्राप्त होता है। द्विवेदीजी की स्फुट रचनाओं में से 'मातुःस्तुति' का एक पद्य द्रष्टव्य है -

मातश्चित्तवितर्दिकामधिवसन्तीच्छामयूरी भम
प्रत्यग्रान् विषयामिधान् विषधरान् संप्रेक्ष्य नृत्यत्यसौ।
सूते किञ्च विचित्रपोतकगणं तत्रैव नृत्यत् स्थिरं
कोऽत्र स्यान्मृगयुर्विना तव शुभं दिव्यं कृपाविभ्रमम्।।

यद्यपि कविवर द्विवेदी की कविता में अनेक आधुनिक विषयों का भी समावेश हो गया है, परन्तु उनकी कविता शैली की दृष्टि से काशी की प्रौढ परम्परा का ही प्रतिनिधित्व करती है।

शतपत्रम्-'सनातन' कवि द्विवेदी का यह लघुकाव्य १९८७ ई. में कालिदास संस्थान, वाराणसी से प्रकाशित हुआ। कवि ने इसमें कविता के विषय में ११५ पद्य लिखे हैं। कविता क्या है इस बात को यहां प्रत्येक पद्य में अलग-अलग रीति से प्रतिपादित किया गया है। कविता प्रणयतरल हृदय का मुक्तबन्धन संविधान है, हृदय की संसिसृक्षा है। कविता कवि का स्वगत है, वह स्व के बिम्ब के प्रतिबिम्ब का शब्दात्मक प्रतिबिम्बन है-

कविता स्वगतं कवेः स्वबिम्ब-प्रतिबिम्ब-प्रतिबिम्बनं वचःसु।
अत एव तु तां विभावयामोऽपरलभ्यं परमात्मनो विलासम्।।

प्रत्येक पद्य 'कविता' पद के प्रयोग से आरम्भ होता है और कविता के स्वरूप का विविध कल्पनाओं, रूपकों और प्रयोगों के द्वारा उद्घाटन करता है और कविता को विविध रूपों में परिभाषित करता है। एक सिद्ध कवि और आचार्य द्वारा कविता को इस प्रकार लक्षित करना काव्य के क्षेत्र में काव्यशास्त्र का सुन्दर प्रयोग है।

'प्रमथः'-१९८८ में प्रकाशित इस काव्य को कवि ने अंग्रेजी में 'Poems on Atomic Age' इस नाम से लक्षित किया है। वस्तुतः यह एक संकङ्लनकाव्य है, जिसमें नौ रचनायें संगृहीत हैं। प्रथम 'प्रमथ' परमाणु युग के विषय विपाक को लक्षित कर शान्ति कामना से निष्पन्न भावमयी रचना है, द्वितीय 'चतुर्दशी' वैराग्यमयी, तृतीय 'प्रलापाः' आर्थिक वैषम्य पर प्रहार करने वाली, चतुर्थ 'निसर्गः' मात्सर्य-प्रतिशोधमयी, पञ्चम 'किं नु करोमि' नियतिचक्र के वैपरीत्य को बताने वाली, षष्ठ 'नमो विषाय' समाज-समीक्षा-परक, सप्तम 'मृत्यो' दार्शनिकतामय, अष्टम 'कस्त्वं काम' मनोवैज्ञानिक तथा नवम 'भावाः' आन्तरिक द्वन्द्व का निरूपण करने वाली है। 'प्रमथः' से एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

भगवन्! न हि ताण्डवस्य वेला ननु विज्ञानवधूः सकौतुकैव।
इयमद्य सयावका कथञ्चित् क्रमते कौतुकवेश्मने वराकी।।

हे भगवन्! यह ताण्डव का समय नहीं है। विज्ञानरूपी वधू तो कौतूहलयुक्त है ही। यह इस समय लाल रंग का महावर लगाये हुए बेचारी किसी तरह कौतुकगृह में जा रही है।

परमानन्द शास्त्री-इनके शैक्षणिक जीवन का अधिकांश भाग अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग में प्राध्यापक एवं आचार्य के रूप में काम करते हुए बीता। शास्त्रीजी ने अनेक मधुर गीतों का प्रणयन किया और पारम्परिक छन्दों में काव्य-रचना की है। आपने सरल एवं प्राञ्जल भाषा-शैली का प्रवर्तन किया है, जिनका विवरण इस प्रकार है -

गन्धदूतम्-मेघदूत के अनुकरण पर लिखे गये दूतकाव्य 'गन्धदूतम्' का प्रकाशन वर्ष १६७७ में हुआ। पति से मान करके पिता के घर गई हुई पत्नी के पास नायक कमल के गन्ध को दूत बनाकर भेजता है। उसकी पत्नी वाराणसी में रह रही है। नायक गन्धदूत को फरीदाबाद, ब्रज प्रदेश आदि के मार्ग से भेजता है। इसी यात्रा-क्रम में आगे मथुरा, आगरा आदि का वर्णन करते हुए कवि कहता है-

आद्यं क्षेत्रं त्रिभुवनगुरोश्चक्रिणो राजनीते-
र्भ्रातस्तस्मात्तदनु मधुरां नाम गच्छेः पुरीं त्वम्।
भूयो यायास्त्वमनुयमुनावीचिधौताञ्चलां तां
लोलागारं मुगलनगरीमागरां नागरीणाम्।

(हे भाई गन्ध! तीनों लोकों के स्वामी चक्रधारी भगवान् कृष्ण की राजनीति का यह आदि स्थल है, अतः तुम मथुरा नगरी को अवश्य जाना। फिर तुम यमुना नदी की लहरों से धोये गए आँचल वाली नगरवासिनी रमणियों की सुन्दर घरों वाली मुगल नगरी आगरा को जाना।)

पूर्वगन्ध और उत्तरगन्ध, दो भागों में विभाजित इस काव्य में कवि ने एक ओर बड़े औद्योगिक नगरी का वर्णन कर पर्यावरण-प्रदूषण, धुआँ उगलती चिमनियों आदि का वर्णन किया है तो दूसरी ओर ग्राम्य वर्णन में वहाँ की सुरम्य प्रकृति एवं सरल रीतियों का भी वर्णन किया है। अनेक ऐतिहासिक स्थानों एवं व्यक्तियों को भी कवि ने अपने काव्य में स्थान दिया है। इस तरह कवि आधुनिक भारत के चित्र को भी दिखाता है और साथ ही शराब पीने के दुर्व्यसन से होने वाली बुराइयों को भी समाज के सामने रखता है। सुरापान की बुरी आदत छोड़ने के आश्वासन के बाद ही पति को पत्नी से मिलन संभव हो पाता है।

कौन्तेयम्-राधेय कहलाने वाले कुन्तीपुत्र कर्ण को परम्पराविरुद्ध रीति से 'कौन्तेय' कहकर कवि परमानन्द ने 'कौन्तेयम्' काव्य लिखा है। इस खण्डकाव्य को 'कर्णः', 'कुन्तीः', 'अर्जुनः', और 'कृष्णः', चार भागों में विभाजित किया गया है। कर्ण न तो पुत्र होकर माता का वात्सल्य पा सका, और न क्षत्रिय होते हुए भी क्षत्रिय के रूप में समाज में स्वीकार किया जा सका। कवि ने कर्ण की इस व्यथा को उभारा है-

जन्मना क्षत्रियः कौन्तेयः संयोगाल्लोके राधेयः सूतसुतोऽस्मि गृहीतः।
क्षत्रोचितगुणो न जातेर्मृषैव दोषैर्भूयो भूयो ह्यपमानझरो बहु पीतः।।

कुन्ती के माध्यम से कवि ने भारतीय नारी की विवशता एवं उसके सामाजिक विषपान एवं बलिदान की व्यथा कही है। अर्जुन और कृष्ण के वचनों के माध्यम से कवि ने मिथ्या कुलजातिदम्भ, अर्जुन की ग्लानि, परस्पर वैर का कारण आदि विषयों को दिया है। अतः यह काव्य भी समाज की रूढियों के विरुद्ध कवि की आवाज है।

परमानन्दसूक्तिशतकम्-इस लघुकाव्य में कवि ने १०८ सूक्तिरूप श्लोकों को संगृहीत किया है और इनसे आधुनिक जीवन की विषमताओं और कुटिलजाओं को दर्शाया है। सीता के विषय को लेकर निर्मित यह सूक्ति कितनी मर्मभेदिनी है -

सीताभूत् खलुमन्थरारजकयोर्हेतोर्वने वासिनी
जाताः सम्प्रति मन्थरा प्रतिगृहं श्वश्रूननान्दादयः।

दहेज के कारण जलाई गई युवती की व्यथा को कवि ने इस तरह कहा है -

वक्षस्ताडितकेन शोकविकलैराक्रन्द्यते बाहुभिः
धिक्कारः स्फुटितोऽद्य कोऽपि नगरे स्टोवः पुनः कौतुकी।

काव्य में अनेक अन्योक्तियाँ तथा अनेक व्यंग्योक्तियाँ भी हैं।

वानरसन्देशः-भारतीय राजनीति के क्षेत्र में नेताओं द्वारा पदलोभ के कारण आचारनीति छोड़कर जिस दुर्नीति का पालन किया जा रहा है और उससे इस क्षेत्र में जो भ्रष्टता एवं मूल्यहीनता आ गई है, कवि ने उसे व्यङ्ग्यात्मक रूप से प्रकट किया है।

विप्रश्निका - यह भी सौ श्लोकों का एक लघु काव्य है जिसमें कवि ने जीवन के विविध विषयों और समस्याओं पर प्रश्न उपस्थापित किए हैं।

परिदेवनम् - जून १९८० में विमान-दुर्घटना में तत्कालीन प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी के पुत्र संजय गांधी का असामयिक निधन हो जाने पर कवि ने इस काव्य को लिखा था। इसीलिए उन्होंने इसे 'शोकगीतिः' नाम दिया है। इस प्रकार शास्त्रीजी के काव्य-प्रणयन में अत्यधिक वैविध्य विद्यमान है।

सुन्दरराज-इनका जन्म १९६३ ई. में तञ्जाबूर जनपद में हुआ था। श्री सुन्दरराज

ने भारतीय प्रशासनिक सेवा में रहते हुए भी अनेक संस्कृत-काव्यों की प्रणयन किया, जैसे श्रीजगन्नाथसुप्रभातम्, श्रीजगन्नाथस्तोत्रम्, श्रीजगन्नाथशरणागतिस्तोत्रम्, श्रीजगन्नाथमङ्गलाशंसनम्, मङ्गलाशंसनम्, बदरीशतरङ्गिणी, सुरश्मिकाश्मीरम् आदि। दो प्रमुख काव्यों का विवरण इस प्रकार है -

सुरश्मिकाश्मीरम्-इस काव्य का प्रणयन एवं प्रकाशन काल १९८३ ई. है। यह लघुकाव्य १०८ उपजातिवृत्तों में उपनिबद्ध है। इसमें सरल, सरस पदावली में काश्मीर प्रदेश की शोभा वर्णित है। काश्मीर की नैसर्गिक रमणीयता, सांस्कृतिक गौरव, प्राचीन वैभव एवं अद्यतन सौन्दर्य का कवि की लेखनी से चित्रण हुआ है।

कवि का बिम्बविधान इस पद्य में दर्शनीय है -

कान्तारशान्तः कुलशैलकान्तः कासारकूलैः करणानुकूलः।
कालो वसन्तः कविकोकिलानां काश्मीरसंज्ञो विषयो मनोज्ञः।।

(जिसमें शान्त वन हैं, सुन्दर ऊँचे पर्वत हैं, झीलों के तटों से जो इन्द्रियों को सुख प्रदान करने वाला है ऐसा काश्मीर देश कविरूपी कोकिलों के लिए सुन्दर वसन्त है।)

कवि ने काश्मीर प्रदेश के प्रत्येक सुन्दर स्थल, उद्यान, नदी, गुहा, आदि का सुन्दर वर्णन किया है। काश्मीर से सम्बन्धित जनश्रुतियों, महापुरुषों एवं तत्तत् वस्तुओं का वर्णन भी यथावसर किया गया है। कवि ने सर्वत्र वैदर्भी रीति का ही आश्रय लिया है। अनेक अलङ्कारों के माध्यम से कवि ने अपनी बात को अधिक चारुता से उपन्यस्त किया है। यथा -

काश्मीरनाम्नी तरुणी किमेषा हेमन्तशीतौ किमृतू निशीथः।
किं कम्बलोऽयं धवलस्तुषारः शेते यमावृत्य नतोन्नताङ्गी।।

श्रीबदरीशतरङ्गिणी-कवि सुन्दरराज ने भारतीय संस्कृति के अमरधाम श्री बदरीश क्षेत्र अथवा श्री बदरीनाथ का स्वयं साक्षात्कार कर काव्यमय वर्णन उपन्यस्त किया है। बदरीनाथ, केदारनाथ क्षेत्र में स्थित नदियों, मन्दिरों, पुराणप्रसिद्ध स्थानों का कवि ने मनोरम वर्णन किया है जो भौगोलिक दृष्टि से नितान्त उपयुक्त हैं। इस काव्य में यात्रा-वृत्तान्त, शतक-काव्य और स्तोत्र काव्य तीनों का समन्वय अथवा सङ्गम है, जिससे यह पर्यटकों, भक्तों एवं रसिकों के लिए समान रूप से उपयोगी एवं प्रिय है। भारतीय संस्कृति के प्राणभूत इस काव्य में राष्ट्रभक्ति-भावना भी है तथा मानवता के लिए अमृतमयी शान्ति का संदेश भी। अलङ्कारों का प्रयोग सहज है। अनुष्टुप्, उपजाति, मालिनी, वियोगिनी, छन्दों के सुन्दर प्रयोग हैं। श्लेष अलङ्कार का चमत्कारपूर्ण प्रयोग द्रष्टव्य है-

जिगमिषन् बदरीं शतरङ्गिणीं श्रयति या बदरीशतरङ्गिणीम्।
पठति यो बदरीशतरङ्गिणीम् स लभते बदरीं शतरङ्गिणीम्।।

रामाशीष पाण्डेय-श्री पाण्डेय राँची विश्वविद्यालय के मारवाड़ी कालेज में संस्कृतविभागाध्यक्ष रहे हैं। संस्कृत-नाटक-लेखन के अतिरिक्त लघुकाव्य-क्षेत्र में भी इन्होंने सर्जन-कार्य किया, जिसका विवरण इस प्रकार है -

मयूखदूतम्-यह संस्कृत दूत काव्य-परम्परा का अन्यतम काव्य है जिसका प्रकाशन १६७४ ई. में हुआ। काव्य का विषय नितान्त आधुनिक है। इसका नायक मानव के शिक्षित वर्ग का प्रतिनिधि है जो प्रेम-तत्त्व में अपनी आस्था रखता है। नायिका एक पाश्चात्त्य रमणी है जो राष्ट्रीय भावना एवं प्रेम भावना के समायोजन में तत्पर है। यहाँ मयूख को दूत रूप में भारत के पटना नगर से इंग्लैण्ड भेजा जाता है। अतः इस बीच के प्रमुख स्थलों का भौगोलिक एवं प्राकृतिक वर्णन उपस्थित किया गया है। छन्द मन्दाक्रान्ता ही है।

सूर्यकिरणरूप दूत को पटना से काशी, प्रयाग, आगरा होते हुए दिल्ली भेजा गया है और फिर वहाँ से करांची, मक्केश्वर, यूनान, रोम, पेरिस, लन्दन होते हुए इंग्लैण्ड पहुंचने के लिए कहा गया है। पाश्चात्त्यदेशीय नगरों की अपेक्षा भारतीय नगरों तथा अन्य स्थलों के वर्णन अधिक सुन्दर हैं। दौत्यकर्म को विदेश-गमन के प्रसङ्ग से जोड़कर कवि ने आधुनिकता का अच्छा पुट दिया है।

इन्दिराशतकम्-भारत की पूर्वप्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के जीवन एवं व्यक्तित्व पर आधारित सौ श्लोकों का काव्य है। इन्दिराजी के जन्म से लेकर मृत्यु तक की घटनाओं का वर्णन सरल सपाट भाषा में किया गया है। इन्दिराजी की हत्या का वर्णन कवि इस प्रकार करता है -

वेदाष्टनिध्यब्जयुतेऽथ वर्षे दिल्ल्यां स्वगेहे निजरक्षकाभ्याम्।
अक्तूबरे मासि हता मराली क्षीराज्जलं क्ष्वेदयितुं निमग्ना।।

प्रहेलिकाशतकम्-बालकों के मनोविनोद एवं ज्ञानवर्धन के उद्देश्य से कविवर पाण्डेय ने सौ पहेलियों का यह काव्य लिखा है। पहेली-पद्धति के अनुसार प्रत्येक पद्य में कवि प्रश्न उपस्थित करता है और कोष्ठक में उसका उत्तर लिख देता है जो प्रायः बुद्धि को व्यायाम कराने वाला एवं चमत्कार उत्पन्न करने वाला होता है। भाषा अत्यन्त सरल एवं बालकों के लिए ग्राह्य है। इनकी नवीनतम कृति 'काव्यकदम्बकम्' नाम से प्रकाशित हुई है।

हजारीलाल शास्त्री-श्री शास्त्री हरियाणा राज्य के एक प्रतिष्ठित काव्यसर्जक हैं जिन्होंने संस्कृत की अन्य काव्यविधाओं के अतिरिक्त ये सात काव्यशतक लिखे- शिवप्रतापविरुदावली, इन्दिराविजयप्रशस्तिशतकम्, शिवशतकम्, महर्षिदयानन्दशतकम्, सगुणब्रह्मस्तुतिशतकम्, और कादम्बरीशतकम्। इनमें से कुछ काव्यों का परिचय इस प्रकार है -

शिवप्रतापविरुदावली - इस शीर्षक से शास्त्रीजी ने वीर शिवाजी एवं महाराणा प्रताप के जीवनचरित को आधार बनाकर दो शतक काव्य लिखे हैं-प्रतापविजयनामक प्रथमशतक

तथा शिवराजविजयनामक द्वितीयशतक। इन दोनों शतकों में इन दो वीरों की विजयगाथा कवि ने हिन्दू संस्कृति की रक्षा एवं आर्य जनता की जागृति का सन्देश दिया है। राणा प्रताप और उनके परिवार को जंगल में रहकर कितने कष्ट भोगने पड़े उसका एक उदाहरण कितना मार्मिक है जब भूखी बच्ची के हाथ से बिलाव घास की रोटी भी छीनकर ले जाता है-

हा! चैकदा सुरचिते तृणबीजचूर्णैः भोक्तुं मुदा करधृते करपट्टिके द्वे।
व्यात्ताननो वनभवः कुविडाल एको जग्राह हन्त! करतो नृपबालिकायाः।।

इन्दिराविजयप्रशस्तिशतकम्-इस लघुकाव्य में श्रीमती इन्दिरा गान्धी के महिमाशाली व्यक्तित्व एवं राजनीतिक उपलब्धियों का दिग्दर्शन कराया गया है। कवि आरम्भ में ही उनके प्रधानमंत्री जैसे उच्च पद की प्राप्ति पर अपनी शुभाशंसा व्यक्त करता है। प्रसङ्गवश कवि स्वदेश के गुणगौरव का भी बखान करता है और उसकी दुर्दशा पर चिन्ता भी व्यक्त करता है। अन्त में इन्दिराजी की बंगलादेश के उदयकाल में हुई विजय की चर्चा कर काव्य समाप्त होता है-

समस्तां स्वदेशस्य शक्तिं नियोज्य सुमातेन्दिरा वङ्गदेशं स्वतन्त्रम्।
विधायार्यवीराङ्गनेयं कृपाकाद् हसन्ती मुदासीद् यशोभिः सुपूता।।

कवि इसे इन्दिरा-सम्बन्धी 'प्रशस्ति-प्रशस्त लघु ग्रन्थ' कहता है।

शिवशतकम्- शास्त्रीजी ने वैराग्य-प्राप्ति के उद्देश्य से भगवान शिव की स्तुति में इस शतक को लिखा है। शिव के लगभग सब विशेषणों को कवि ने यहां प्रयुक्त कर दिया है।

शास्त्रीजी ने अपने शतकों से इस शती के आठवें दशक की संस्कृत-कविता का प्रतिनिधित्व किया है।

शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी-प्रख्यात संस्कृत पण्डित म.म. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के आत्मज शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी का जन्म जयपुर में सन् १६३४ में हुआ था।

दीर्घकाल से वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राच्य सङ्काय में साहित्य के प्राध्यापक एवं आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे। बाल्यकाल से ही लेखन-प्रवृत्ति होने के कारण इन्होंने कई संस्कृत काव्य लिखे, जिनमें शतक काव्यों को विशेष प्रसार मिला। आरम्भिक शतकों में प्रमुख हैं-गोस्वामि-तुलसीदास-शतकम्, काव्यप्रयोजनशतकम्, काव्यकारणशतकम्, तथा विद्योपार्जनशतकम्। ये शतक १६८२ से पूर्व प्रकाशित हो चुके थे। १६८२ में 'स्फूर्तिसप्तशती' का प्रकाशन हुआ। इसके अतिरिक्त कविवर चतुर्वेदी ने 'यात्राशतकम्', 'सी.वी. रमणशतकम्', 'कार्लमार्क्सशतकम्', विद्याशतकम्, 'यावत्तावत्शतकम्', तथा 'हाहा-हूहूशतकम्', जैसे शतक काव्यों की भी रचना की जिनकी चर्चा उनके 'चर्चामहाकाव्यम्' में आ गई है। आधुनिक विज्ञान और राजनीति के विषयों पर काव्य लिखकर डॉ. चतुर्वेदी ने संस्कृत-साहित्य की

समसामयिकता को सुपुष्ट किया है। कार्ल मार्क्स और सी. वी. रमण दोनों पर संस्कृत-लेखन आधुनिकता से जोड़ता है। चतुर्वेदी जी की अन्यतम कृति का परिचय इस प्रकार है - स्फूर्तिसप्तशती - कविवर चतुर्वेदी ने आरम्भ में संस्कृत और बाद में हिन्दी में भी अपनाई गई 'सतसई-परम्परा' को आगे बढ़ाते हुए सात सौ उन्नीस पद्यों का यह 'स्फूर्तिसप्तशती' काव्य लिखा है। कुछ स्थलों को छोड़कर प्रायः सभी पद्य मुक्तक ही हैं। काव्य में विद्यमान ६६ विषयों को चार भागों में विभक्त किया गया है-आर्याभागः, समस्यापूर्तयः, नानाच्छन्दांसि गीतानि च। आरम्भ में आर्याछन्द द्वारा कवि ने विविध विषयों पर लेखनी चलाई है। देवस्तुति, महापुरुषप्रशंसा, संस्कृत-संस्कृति-निष्ठा, दार्शनिकता, प्रगतिशीलता, विनोदप्रियता, व्यङ्ग्यवक्रता, समसामयिकता आदि प्रवृत्तियाँ भूरिशः दिखाई पड़ती हैं। इसी काव्य का एक अंश है चतुर्वेदीजी का 'किन्तुशतकम्', जिसमें आधुनिक सामाजिक परिवेश में व्याप्त यथार्थ और आदर्श के बीच की विसंगतियों को दिखाया गया है। ऐसी ही किन्तु-निर्दिष्ट विसंगति दर्शनीय है -

धर्मो देशो राष्ट्रमिति शब्दाः प्रोन्नताः किन्तु।
धूर्तमुखैर्निर्गमनादेते सर्वे निरर्थका जाताः।।

कवि की आर्यायें वस्तुतः बहुत सुन्दर बन पड़ी हैं। आर्याओं के अतिरिक्त समस्यापूर्तियों में भी उन्होंने आधुनिक विषयों पर सुन्दर पद्य लिखे हैं। जैसे-'को विहातुं समर्थः' की पादपूर्ति में कवि रिश्वत पर एक अच्छा व्यङ्ग्य लिखता है-

उत्कोचानामिह शबलताऽनन्तरूपेषु दृश्या
यत्रोत्कोचप्रबलतरता तत्र भोग्या विलासाः।
अद्योत्कोचः शिव इति हरिर्वाऽथ देवो हनूमान्
चञ्चद्रूपं द्रविणमतुलं को विहातुं समर्थः।।

(इस संसार में रिश्वतों की विविधता अनेक रूपों में दिखाई पड़ती है। जहाँ रिश्वत की अत्यधिक प्रबलता होती है, वहां विलास भोगने योग्य होते हैं। आज रिश्वत ही शिव, विष्णु अथवा हनुमान् है। चञ्चल रूप वाले अनुपम धन को कौन छोड़ सकता है ? अर्थात् कोई नहीं।)

इस प्रकार चतुर्वेदी जी की कविता में स्वातन्त्र्योत्तर भारत के बदलते परिवेश का समग्र स्वरूप झांकता है और इस क्रम में आठवें-दसवें दशक के मध्य में उनकी कविता विशेष रूप से प्रकाश में आई है।

विठल देवमुनि सुन्दर शर्मा - कविवर सुन्दर शर्मा उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद की संस्कृत परिषद् में परिशोधन सहायक हैं। इन्होंने मुख्यतः २ शतककाव्य लिखे जिनका विवरण इस प्रकार है -

श्रीनिवासशतकम्-इस शतक का प्रकाशन १६८७ ई. में हुआ। यह एक चरितप्रधान काव्य है। 'देवीशतकम्' भी इनका एक भक्तिपूर्ण लघुकाव्य है।

वीराञ्जनेयशतकम्-यह शतक १६७१ ई. में प्रकाशित हुआ। इसमें १०८ पद्य हैं। इसमें वीर हनुमान् के प्रति भक्ति प्रदर्शित की गई है और उनके गुणों का गान किया गया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है -

> **तद्वज्रपातजनिता न च हानिरासीद्-**
> **वातात्मजात्! तव काचिदपीह हिंस्रा।**
> **रक्तौ हनू तव हि देव ततो हनूमान्**
> **वीराञ्जनेय! रघुवीरपदाब्जभृङ्ग!।।**

'छायापतिशतकम्' और 'शम्भुशतकम्' ये और शतक काव्य उन्होंने लिखे हैं, जिनका प्रकाशन १६८३ वर्ष से पहले हो चुका था।

सत्यव्रत शास्त्री - साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित सत्यव्रत शास्त्री ने अपने प्रसिद्ध वैयाकरण पिता प्रो. चारुदेव शास्त्री से संस्कृत ज्ञान को पितृ-परम्परा द्वारा प्राप्त किया। दीर्घकाल तक शास्त्रीजी दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में आचार्य-अध्यक्ष पद पर आसीन रहे। शास्त्रीजी में विवेचनात्मक एवं रचनात्मक दोनें प्रकार की प्रतिभा विद्यमान है। इन्होंने दो महाकाव्यों के अतिरिक्त 'श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्' खण्डकाव्य तथा 'बृहत्तरं भारतम्' शतक काव्य लिखे। शास्त्रीजी ने अनेक देशों की शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक यात्राएं कीं। अपनी इन यात्राओं के वृत्तों को संस्कृत-भाषा में पद्यबद्ध कर वैदेशिक वृत्त-वर्णन-परक नवीन काव्य-रूप का प्रवर्तन किया। इस धारा के उनके दो लघुकाव्य हैं, जिनका विवेचन इस प्रकार है -

शर्मण्यदेशः सुतरां विभाति-अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ द्वारा प्रकाशित इस काव्य में कवि ने वर्ष १६७५ में जर्मनी जाने पर वहाँ अनुभूत यात्रा पर अपना यात्रावृत्त लिखा है। कवि ने वहाँ जिन प्रमुख विश्वविद्यालयों में व्याख्यान दिये, अनेक संस्कृत विद्वानों से भेंट की तथा जिन-जिन स्थानों पर भ्रमण किया, उनका ब्यौरेवार वर्णन यहाँ प्राप्त होता है। अपने यात्रा-वर्णन का आरम्भ करते हुए कवि कहता है -

> **योरूपभूमण्डलमध्यवर्ती पारं समृद्धेः परमभ्युपेतः।**
> **नानानदी-प्रस्रवणैः सुरम्यः शर्मण्यदेशः सुतरां विभाति।।**

(पृथ्वीमण्डल के एक भाग यूरोप के मध्य में स्थित अत्यन्त समृद्ध एवं सुन्दर तथा अनेक नदियों और झरनों से सुहावना लगने वाला जर्मनी देश अत्यधिक सुशोभित होता है।)

कवि सर्वप्रथम विमान से फ्रांकफुर्ट नगर पहुँचने का वर्णन करता है। फिर वहाँ मारबुर्ग और टोरीन नगरों में होता हुआ वह जर्मनी की राजधानी बॉन पहुँचता है। बॉन

का वर्णन करते हुए कवि कहता है-

कूलद्वये तस्य नदस्य तावद् बॉनाख्यमास्ते नगरं निविष्टम्।
यस्योपकण्ठे वलया गिरीणां सौन्दर्यमत्यद्भुतमर्पयन्ति।।

सांस्कृतिक एवं शैक्षिक स्वरूप के अतिरिक्त जर्मनी के प्राकृतिक सौन्दर्य का भी कवि चारुतापूर्वक वर्णन करता है।

प्राच्यविद्या एवं संस्कृत से सम्बद्ध अन्य अनेक जर्मन संस्थानों और विश्वविद्यालयों में जाकर, वहाँ के विद्वानों से साक्षात्कार कर, विविध विषयों पर व्याख्यान देकर कविवर शास्त्रीजी ने जो अनुभव प्राप्त किये, उन सबका सञ्चय इस लघुकाव्य में किया गया है। वैसे समस्त काव्य सूचना-सङ्कलन बहुल होने के कारण अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि का नहीं है, परन्तु आधुनिक संस्कृत काव्य में एक नई धारा प्रवाहित करने के कारण इसका विशिष्ट योगदान है।

थाईदेशविलासम्- १६७७ ई. में जब कविवर शास्त्री की नियुक्ति थाईलैण्ड की राजधानी बैंकाक में स्थित चुलालौङ्कौर्न विश्वद्यिालय में भारतीय विद्याध्ययनपीठ के अभ्यागताचार्य के रूप में हुई तो इस यात्रा को साहित्यिक रूप कवि ने इस लघुकाव्य के माध्यम से दिया और जो बाद में १६७६ ई. में ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली से प्रकाशित हुआ। आरम्भ में यात्रावृत्त का प्रवर्तन करते हुए कवि कहता है-

अस्त्येशियानामनि सुप्रसिद्धे द्वीपे विशालेऽतिविशालकीर्तिः।
आग्नेयदिङ्मण्डलमौलिभूतो देशोऽतिरम्यो भुवि थाइलैण्डः।।

कवि थाईलैण्ड की सुदृढ़ सांस्कृतिक परम्परा धार्मिक अवस्था, रामकथा और रामायण के प्रचार, का वर्णन करता हुआ उनकी राजधानी बैकांक के विविध स्थानों, बाजारों प्राकृतिक दृश्यों, कलाओं आदिका दर्शन कराता है। थाईदेश की राजकुमारी का भी सुरम्य वर्णन कवि ने प्रस्तुत किया है। वर्णनीय व्यक्ति एवं वस्तु के अनुसार काव्य में छन्दों का भी परिवर्तन किया गया है। भारत की पुरातन भाषा संस्कृत में अधुनातन वैदेशिक यात्राओं का ऐसा तथ्यपूर्ण वर्णन निश्चित रूप से संस्कृत साहित्य के क्षेत्र का विस्तार करता है और संस्कृत को अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर खड़ा करने में सहयोग करता है।

वागीश शास्त्री-सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के अनुसन्धान संस्थान के भूतपूर्व निदेशक आचार्य भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी 'वागीश' शास्त्री संस्कृत जगत् में हास्य-व्यङ्ग्यकार के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी काव्यकृति 'नर्मसप्तशती' वि.सं. २०४१ में प्रकाशित हुई, जिसको स्वयं कवि ने 'शिष्ट-हास्य-व्यङ्ग्योक्तिविराजिता' तथा 'शिष्टहास्यरससुधाधाराऽऽप्लाविता पद्यमयी' रचना कहा है। इसमें सात अध्याय हैं जिनको क्रमशः शैक्षिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, व्यावसायिक, चैकित्सिक, आरक्षित और दाण्डिक नामों से विषयानुसार विभाजित किया गया है। इस लघुकाव्य में कवि ने कभी एक, कभी

दो, तीन या चार पद्यों को लेकर एक-एक विषय पर हास्य की धारा बहाई है अथवा चुटीले व्यङ्ग्य कसे हैं। हमारे दैनन्दिन पारिवारिक, शैक्षिक, अथवा सामाजिक जीवन में जो घटनाएँ घटित होती हैं, कवि ने उन्हीं से विषय लेकर ये हास्य-व्यङ्ग्य के पद्य लिखे हैं। हास्य का एक छोटा-सा उदाहरण प्रस्तुत है-

सखि ! कोलाहलं श्रुत्वा नक्तं बुद्धा व्यलोकयम्।
खट्वाधश्चरणौ चौरः ? भीतः प्राणप्रियो मम।।

दहेज-प्रथा पर एक हास्य-व्यङ्ग्य की फुलझड़ी छोड़ते हुए कवि कहता है-

पुत्रं विवाहयित्वा च कश्चित् प्रत्यागतो जनः।
प्राहुस्तत् सुहृदस्तं भोः। किं वृत्तं वद मित्र नः।।
किं वदानि सखायो वो दण्डितोऽहं शतं खलु।
कारावासश्च पुत्रस्य आजन्म समजायत।।

(पुत्र का विवाह कराकर एक व्यक्ति वापस लौट आया। उसने उसके मित्रों में कहा, 'मित्र ! क्या हुआ ? हमें बताओं !' उसने कहा, मित्रों ! क्या बताऊँ। मैं तो सैकड़ों रुपयों से दण्डित हो गया और मेरे पुत्र को जीवनभर का कारावास हो गया।)

आतङ्कवाद की समस्या पर कवि ने 'आतङ्कवादशतकम्' नामक काव्य लिखा है जिसमें आतङ्कवाद और राष्ट्रवाद को पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के रूप में निबद्ध किया गया है।

रुद्रदेव त्रिपाठी-इनका जन्म १६२५ ई. में मालवा प्रदेश के मंदसौर में हुआ था। त्रिपाठीजी दीर्घकाल तक लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली में प्राध्यापक रहे। 'मालवमयूरः' नामक मासिक संस्कृत-पत्र के सम्पादन द्वारा उन्होंने संस्कृत में प्रभूत साहित्य सर्जना का क्षेत्र-विस्तार किया। त्रिपाठी जी को हास्य कवि के रूप में बहुत ख्याति मिली और वे हास्य रस के प्रतिनिधि कवि के रूप में माने जाने लगे। उन्होंने जिन लघुकाव्यों की सर्जना की, उनमें दूतकाव्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिनका विवेचन इस प्रकार है-

पत्रदूतम्-दूतकाव्य होने पर भी शृङ्गारपरक कोटि में न आने वाले इस काव्य में कवि ने गुरुपूर्णिमा के अवसर पर गुरु के चरणों में उपस्थित न होने की स्थिति में पत्र को ही दूत बनाकर भेजा है। एक दिन बम्बई के समुद्रतट पर भ्रमण करते हुए कवि समुद्र के ज्वार को देखता है, जिससे उसे गुरुपूर्णिमा का स्मरण हो आता है और गुरु पूजन हेतु न पहुँच पाने पर मन्दसौर में स्थित अपने गुरु स्वामी कृष्णानन्द तीर्थ के पास क्षमायाचना से पूर्ण पत्र को दूत रूप में प्रेषित करता है। पत्र में बम्बई सेण्ट्रल से देहरादून एक्सप्रेस द्वारा की जाने वाली यात्रा में मार्ग में पड़ने वाले अनेक स्टेशनों का कवि वर्णन करता है। महत्त्वपूर्ण नगरों का विशेष वर्णन किया गया है। गाड़ी के चलते रहने पर बीच में आने वाले प्रातः रात्रि, मध्याह्न, सूर्यास्त आदि का भी वर्णन कवि ने किया है। साथ ही

संवेदनात्मक स्तर पर उसने कुलियों और श्रमिकों की दशाओं, यात्रियों की कठिनाइयों तथा दीनजनों की जीवन-परिस्थितियों का भी वर्णन कर काव्य को आधुनिक रूप दिया है।

पुत्रदूतम्-आधुनिक समाज की विषमताओं को उभारने वाले इस काव्य में अपने मार्ग से भटके हुए, राजनीति के दलदल में फँसे हुए दिल्ली-स्थित नायक के पास एक भोली ग्रामवधू द्वारा अपने पुत्र को दूत बनाकर भेजा गया है।

पादत्राणदूतम्-यह हास्यमूलक लघुकाव्य है। कवि के 'विनोदिनी' नामक 'विनोद-पद्य-संग्रह' में इसके कुछ पद्य छपे हैं। एक बार किसी कालेज के एक मनचले छात्र ने किसी सुन्दर कन्या पर आसक्त होकर उससे प्रेम करने का निश्चय किया -

> **कश्चित् कामी प्रणयगुरुणा मोहमाप्तः कदाचिद्**
> **बालामेकां पठनसमये पाठशालां प्रयान्तीम्।**
> **दृष्ट्वा हृष्ट्वा मृदुलमृदुलां चित्रवस्त्रावृताङ्गी-**
> **मात्मायत्तां कथमपि सपद्येव कर्तुं व्यवास्यत्।।**

धीरे-धीरे उसकी आसक्ति बहुत बढ़ गई और प्रेमरोग से ग्रस्त वह अपने साथी मित्रों के सामने एक ही रट लगाने लगा-

> **धन्या कन्या वसति हृदि में कालिजस्यैव नान्या।**

परन्तु उस बालिका ने उस युवक को शिक्षा देने की योजना बनाई और 'पादत्राण' को दूत के रूप में भेजा, जिसने उस मनचले प्रेमी को ठीक कर दिया।

इस प्रकार कविवर त्रिपाठी के दूतकाव्य आधुनिक परिवेश के हास्य-व्यङ्ग्य से युक्त हैं। 'विनोदिनी', 'डिण्डिमः' तथा 'हाहा-हूहूः' आपके अन्य हास्य-काव्य हैं, जिनमें उन्मुक्त हास-परिहास का वातावरण प्राप्त होता है। इन्होंने समस्या पूर्ति-परक काव्य के रूप में शिखरिणीछन्दोमयी 'श्रीबटुकभैरवलहरी' की भी रचना की है। हास्य रस की इनकी अनेक कवितायें स्फुट रूप से पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं।

रमाशङ्कर तिवारी-'वैदेह्या अतीतावलोकनम्' के रचयिता कवि तिवारी समीक्षक होने के साथ-साथ साहित्यकार भी हैं। वर्ष १९९० में प्रकाशित यह लघुकाव्य परित्यक्ता सीता के अतीत का सीता द्वारा अवलोकन है। इसमें सीता के व्यथामय करुण भावों को अभिव्यक्ति मिली है। सीता बाल्यकाल से लेकर माँ बनने तक की अपनी व्यथाकथा को याद करती हैं और अन्त में निश्चित करती हैं कि वे राम-भवन नहीं जायेगीं और यहीं मातृधर्म का निर्वाह करेगी। सीता के अतीत जीवन के अनेक मार्मिक पक्षों को कवि ने स्थल-स्थल पर उद्घाटित किया है। विवाह के पश्चात् सीता का मिथिला से अयोध्या को प्रस्थान कैसी भावभूमि में होता है इसका वर्णन करते हुए कवि कहता है-

विस्मर्तुं न प्रभवामि भावार्द्रप्लवनं
अयोध्यायै यदा प्रस्थानमक्रियत।
अव्यथयन्मां पित्रोर्विप्रयोगश्च
ह्यपीडयन्मां पित्रोर्विप्रयोगश्च।।

वन में अचानक बिना अपराध बताये सीता का इस तरह राम द्वारा परित्याग किया जाना कितना कष्टप्रद है, सीता के इस मर्मभेदी दुःख को कवि इस तरह व्यक्त करता है-

नाजानं कः कर्मदोषः प्रमादश्च
का च च्युतिः कस्त्वगुणोऽपराधः,
येनाऽदण्ड्य्यऽहं भर्त्रा प्रेमिणा वा
स्वामिना, राज्ञा, लोकभृता वा।
सहसाऽकस्माद् विनाऽग्रज्ञानञ्च
बिना पूर्वलिङ्गमज्ञात्वाऽभियोगनम्।।

कवि ने छन्द के विषय में पारम्परिकता छोड़कर नवीनता का प्रयोग किया है। जनक की सभा में शिवधनुष को कौन उठा पायेगा इसकी सीता की माता के मन में जो अनेक शङ्काएँ होती हैं उनका चित्रण 'का निश्चितिः' से आरम्भ करके (का निश्चितिः रम्यरूपो भवेत् सः) तेरह वाक्यों द्वारा किया गया है। शैली में नवीनता है, पर काव्य पूरी तरह अनवद्य नहीं है। इसी भाव भूमि और रचनारीति पर तिवारीजी ने 'राधाया अतीतावलोकनम्' काव्य भी लिखा है।

राजेन्द्र मिश्र-अभिराजोपाह्व राजेन्द्र मिश्र बीसवीं शती उत्तरार्ध की संस्कृत-कविता के एक युगनिर्माता कवि हैं। वे दो दशकों से सुरभारती को अनेक सुन्दर काव्यरत्न प्रदान करते आ रहे हैं।

उन्होंने दीर्घकाल तक इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अध्यापन-कार्य किया और बाद में हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। अनेक अन्य पुरस्कारों के अतिरिक्त वे अपनी उत्तम कृतियों के लिए साहित्य-अकादमी पुरस्कार तथा बिड़ला वाचस्पति पुरस्कार से भी सम्मानित हुए। आचार्य मिश्र ने महाकाव्य, गीतिकाव्य, नाटक, कथा-काव्य, स्फुट काव्य आदि अनेक विधाओं में साहित्य-सर्जना की, एक के बाद एक शतक काव्य लिखे और भाव, भाषा, शैली, लय, छन्द आदि के नये-नये प्रयोगों का प्रवर्तन किया। कवि अभिराज के लघुकाव्यों का पृथक्-पृथक् विवेचन इस प्रकार है-

आर्यान्योक्तिशतकम्-१६७५ ई. में प्रकाशित इस शतककाव्य में आर्या छन्द में निबद्ध सुन्दर अन्योक्तियों का सङ्कलन है जिनके द्वारा अन्यापदेश रीति से आह्लादकारिणी शैली में जीवन के कटु सत्यों एवं अनुभवों को कह दिया गया हैं। अनेक स्थलों पर तीखे व्यङ्ग्यों एवं कटाक्षों का आश्रय लिया गया है। अन्योक्तियों को विषयानुसार वर्गों में विभाजित कर

लिया गया है, जैसे विबुधवर्ग, मानववर्ग, पशुवर्ग, विहगवर्ग, प्राणिवर्ग, विटपिवर्ग तथा प्रकीर्णवर्ग। संकुचित दायरे में रहकर अपने को ही सब कुछ मानने वाले कूपमण्डूक पर अन्योक्ति करते हुए कवि कहता है -

कथमधिपतिर्न दर्दुर। भवसि यदि कूप एव ब्रह्माण्डः।
मूढ ! तवेयं भ्रान्तिः नंक्ष्यति शीघ्रं बहिरागते।।

नवाष्टकमालिका -१६७६ में प्रकाशित यह रचना देवस्तुतियों एवं कविकृत आत्म-निवेदनों का सङ्कलन है। कवि की मान्यता है कि ईश्वर के समक्ष 'आत्माभिप्राय-निवेदन' ही स्तुतिकाव्य का प्राणतत्त्व है। परमेश्वर की स्तुतियों को क्रम से मरन्दमाधुरीस्तवनम्, दुकूलचौरचरितम् आदि दस शीर्षकों में विभक्त किया गया है, जिनमें से प्रत्येक में ग्यारह श्लोक हैं। कवि की पितृविहीनता से समुत्पन्न वेदना बार-बार काव्य में छलक पड़ती है और माँ दुर्गा से अपना आर्तनाद करता है। शङ्कर, विष्णु, राम, कृष्ण आदि की भी कवि वन्दना करता है। कृष्ण के लीलामनोहर रूप की झाँकी प्रस्तुत करता हुआ कवि कहता है-

वरवेणु-निनादपरम्परयैव वशीकृतलोकमुदारवरम्।
मधुराधिपतिं, कलयामि मुदा व्रजबल्लवदारदुकूलहरम्।।

कवि ने वर्णनीय विषय के अनुरूप कोमल अथवा कठोर भाषा का प्रयोग किया है। छन्दोवैविध्य भी दर्शनीय है।

पराम्बाशतकम् - १६८१ में प्रकाशित यह शतक भगवती रुद्राणी को समर्पित मौलिक स्तोत्रकाव्य है। कवि अपने को अनाथ, अशरण मानकर माँ देवी से अपनी रक्षा हेतु प्रार्थना करता है - 'त्वमेव त्वमेव त्वमेवाम्ब पाहि' कवि सर्वात्मना पराम्बा के चरणों में समर्पित है और उसे ही अपने जीवन का आश्रय मानता है। वह देवी के विविध रूपों का बखान करता है, उनके वंश का वर्णन करता है और विविध रूपों में देवी की स्तुति करता है। संस्कृत के स्तोत्रकाव्यों में इस काव्य का प्रमुख स्थान स्थापित हो गया है।

अभिराजसप्तशती-१६८७ ई. में प्रकाशित यह काव्य अन्य सप्तशती काव्यों की तरह केवल एक विषय के सात सौ पद्यों का संग्रह नहीं है, अपितु भिन्न विषयों वाले, भिन्न वृत्तों वाले, यथाकाल, यथारुचि, यथासन्दर्भ रचे गये भिन्न प्रवृत्ति वाले सात शतक काव्यों का संग्रह है। इस दृष्टि से प्रत्येक शतक काव्य को एक लघुकाव्य कहा जा सकता है। इनके नाम है - नव्यभारतशतकम् २. मातृशतकम् ३. प्रभातमङ्लशतकम् ४. सुषाषितोद्धारशतकम् ५. चतुर्थीशतकम् ५. भारतदण्डकम् तथा ७. सम्बोधनशतकम्।

'नव्यभारतशतकम्' में कवि वर्तमान भारत की दुर्दशा पर दुःख व्यक्त करता है -

तदेव भारतं राष्ट्रं प्राप्तभूरिसमस्यकम्।
पीड्यते नितरां हन्त लोकतन्त्रसमाश्रितम्।।

वर्तमान भारत की सामाजिक एवं राजनीतिक दशा अत्यन्त जर्जर एवं शोचनीय है। कवि ने उसी पर चिन्तायुक्त हो प्रकाश डाला है। 'मातृशतकम्' में मातृरूपा शक्ति को संसार की सर्वोत्कृष्ट शक्ति एवं सर्वविध आराध्य मानकर उसके प्रति श्रद्धा भावना व्यक्त की गई हैं।

'प्रभातमङ्गलशतकम्' में कवि ने अनेक देवी-देवताओं के माहात्म्य का वर्णन करते हुए उनसे प्रातःकालीन मङ्गलकामना की है। कवि तीर्थराज प्रयाग से जुड़ा हुआ है। अतः उसको उपमान बनाकर देवी सरस्वती से मङ्गल-याचना करता है-

या कालिदास-भवभूति-कवित्वनीर-
स्रोतोऽनुभूत-नवयामुनगाङ्गसङ्गा।
सा तीर्थराजधरणीव विमुक्तिशक्ता
हंसानना दिशतु मे नवसुप्रभातम्।।

जो कालिदास और भवभूति इन दो कवियों के कवित्व के जल-प्रवाह से गङ्गा और यमुना के नये सङ्गम का अनुभव करती है ऐसी वह तीर्थराज प्रयाग की धरती के समान मोक्ष में समर्थ हंसवाहिनी सरस्वती मुझे नया शुभ प्रभात प्रदान करे।

'सुभाषितोद्धारशतकम्' भी अनुष्टुप् छन्द में लिखित एक ऐसा काव्य है जिसमें संस्कृत के पूर्वप्रयुक्त प्रसिद्ध सुभाषितों को आधुनिक नये सन्दर्भ से जोड़कर व्यंग्य शैली में प्रस्तुत किया गया है। आधुनिक विद्या-केन्द्रों में अयोग्य जनों की नियुक्तियों पर कटाक्ष करते हुए कवि सुभाषित का उद्धार करता है-

विश्वविद्यालये को वा नियुक्तो न बुधायते।
अश्मापि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठितः।।

अनुष्टुप् छन्द में लिखित 'चतुर्थीशतकम्' में भी कवि ने व्यंग्यात्मक रीति से ऐसे दुर्जन के प्रति बार-बार नमस्कार अर्पित किया है जिससे सज्जन का जीवन बार-बार दुष्प्रभावित होता है। 'भारतदण्डकम्' में कवि ने दण्डक छन्द में भारत देश के बृहत् स्वरूप का दर्शन कराते हुए उसकी महिमा का गान किया है तथा दिव्य भाषा में भारत के भव्य रूप का दर्शन कराया है। 'सम्बोधनशतकम्' में किसी न किसी चेतन प्राणी अथवा अचेतन पदार्थ को सम्बोधित कर कवि ने अपने मन की व्यथा कही है। कवि को समाज से जो प्रतारणा, प्रवञ्चना मिली, उसकी पूर्णअभिव्यक्ति इस शतक में हुई है। कवि ने रात्रि, मृत्यु, पर्वत, घनागम, दूर्वा, प्रयाग, प्रसून, चातक, भ्रमर आदि को सम्बोधित कर अपनी मनोव्यथा को प्रकट किया है।

शताब्दीकाव्यम् कवि मिश्र ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय के शताब्दी-समारोह के अवसर पर १६८७ में पाँच सर्गो का यह शताब्दी-काव्य लिखा, जिनके नाम हैं - प्रस्तावना,

संस्थापना, संगणना, गवेषणा, एवं प्ररोचना। इसमें इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अतीत एवं वर्तमान से सम्बद्ध विविध पक्षों की काव्यमयी समीक्षा एवं वर्णना प्रस्तुत की गई है।

विमानयात्राशतकम्-इस शतक में कवि ने भारत की राजधानी नई दिल्ली से बाली द्वीप की राजधानी डेनपसार तक की अपनी हवाई यात्रा का विवरण प्रस्तुत किया है। विमानों की आन्तरिक साजसज्जा से लेकर विमानगवाक्ष से दिखते प्राकृतिक दृश्यों का भी इसमें सुचारु वर्णन किया गया है।

देववाणीहुङ्कारशतकम्-यह शतक कवि के बाली द्वीप के प्रवासकाल में तब लिखा गया था जब नई शिक्षा नीति से संस्कृत का बहिष्करण कर दिया गया। संस्कृत भाषा ने अपने हनन पर क्रोध में हुङ्कार भरी है। 'बालीविलासम्' 'बालीप्रत्यभिज्ञानशतकम्' तथा यवसाहित्यशतकम्' इन तीनों लघुकाव्यों में कवि ने बाली द्वीप के आन्तरिक एवं बाह्य सौन्दर्य का वर्णन किया है। इसी प्रवासकाल में कवि ने मृगाङ्कदूतम् नामक दूतकाव्य भी लिखा, जिसमें चन्द्रमा को भारत की धरती पर दूतरूप में प्रेषित किया गया है और उसके द्वारा भारत की संस्कृत-विद्वत्-परम्परा का भी विवरण दिया गया। 'अभिराजशतक' कवि के स्वानुभूतिपरक वचोनिःश्वासों का सङ्कलन हैं। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' शीर्षक काव्य मे कवि ने तत्कालीन श्रद्धेय महापुरुषों की प्रशस्ति प्रस्तुत की है। इस प्रकार कवि मिश्र ने लघुकाव्य की परिधि में आने वाले विविध प्रकार के काव्य लिखकर संस्कृत-साहित्य का श्रीसंवर्धन किया है। वे अपने साथ के अपने काल की समग्र परम्परा को लेकर चले हैं। उनके काव्यों में समकालीन अर्वाचीन संस्कृत-कवियों की काव्य-परम्परा पूरी तरह प्रतिबिम्बित होती है जो संस्कृत-साहित्य के इतिहास के भावी समीक्षकों के लिए दीपशिखावत् मार्ग-दर्शन करते रहेंगे।

कृष्णलाल-कवि लाल दिल्ली विश्वविद्यालय में संस्कृतविभागीय आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे हैं। वे आधुनिक संस्कृत कविता में मुक्त छन्द की आधुनिक शैली के जन्मदाता हैं। संस्कृत-छन्दोविधान की सुदृढ़ परम्परा के रहते हुए छन्दोबन्ध तोड़कर मुक्त काव्य लिखना सचमुच इस क्षेत्र में एक नई क्रान्ति है। आचार्य लाल के काव्यों में मुक्त और बद्ध दोनों धारायें प्रवाहित हुई हैं। अनेक रूपकों के अतिरिक्त आपके चार लघुकाव्य प्रकाशित हुए। 'शिञ्जारवः' प्रथम लघुकाव्य १६६६ में प्रकाशित हुआ, जिसमें बड़ी-छोटी इकसठ कविताओं का संग्रह है। उसमें छन्दोबद्ध एवं छन्दोमुक्त दोनों प्रकार की रचनाएँ हैं। प्रत्येक शीर्षक के अन्तर्गत निबद्ध कविताएँ भिन्न-भिन्न विषयों से सम्बद्ध हैं जो अलग-अलग समयों में लिखी गई प्रतीत होती हैं। कुछ कविताएँ स्तुति रूप हैं तो कुछ प्रकृति-वर्णन-परक, कुछ उपदेशात्मक हैं तो कुछ सन्देशात्मक, किसी कविता में आधुनिक जीवन की विडम्बना का दर्शन है तो कहीं जीवन की छोटी-छोटी अनुभूतियो का प्रदर्शन, कहीं तीखे व्यङ्ग्य हैं तो कहीं सहज अन्योक्तियां। कहीं-कहीं कवि सीधे सपाट ढंग से भी अपनी बात कहता है। 'नवमानवः' शीर्षक कविता में कवि कहता है -

परमहमधुना नवयुगस्य प्रकाशेनास्मि नवमानवः
नवचेतना, नवबुद्धिरपि नवभावना जागरिता मयि।

सर्वानहं त्रोटयिष्यामि बन्धनान् हसिष्यामि गास्यामि
स्वरेणोन्मुक्तबन्धेन स्वतन्त्रः सर्वदा।

जिस तरह यहाँ नवयुग में सारे बन्धन तोड़ने की बात कहीं गई है, उसी प्रकार नवकविता में भी छन्द आदि के बन्धन टूट रहे हैं।

उर्वीस्वनः - १६७६ ई. में प्रकाशित इस काव्य में छियालीस कविताओं का संग्रह है। राष्ट्रीय, सामाजिक, देशभक्तिपूर्ण, वीरत्व-भावनामय, उद्बोधनपरक, सन्देशात्मक, संवेदनात्मक आदि विविध विषयों को लेकर ये स्फुट कविताएँ लिखी गई हैं। इसमें भी 'मुक्तोऽहमद्य' शीर्षक वाली कविता में कवि कहता है -

मुक्तोऽहमय निखिलबन्धनेभ्यो मुक्तोऽस्मि, मुक्तोऽस्मि।
अद्य श्वाससङ्गीतझङ्कृतिर्मयाऽनुभूयते।

शशिकरनिकरः-कृष्णलाल का यह तृतीय काव्य-सङ्ग्रह है जो १६६० ई. प्रकाशित हुआ है। इस नवीनतम सङ्कलन में कवि ने नवीनतम भावभूमि पर उतर कर लेखन किया है। चालीस कविताओं के इस काव्य में छन्दोगत स्वच्छन्दता का बाहुल्य है, तथापि कतिपय पारम्परिक छन्द हैं तो कतिपय गीत भी हैं जिनमें ध्रुवा का उल्लेख भी है। कवि ने जीवन में समय-समय पर आने वाली विविध अनुभूतियों के खण्डों को, आधुनिक जीवन के विविध भावबोधों को और विविध सामाजिक समस्याओं को मुक्तचित्त से सामने रखा है। समाज के विभिन्न वर्गों पर कवि ने तीव्र कटाक्ष किया है। 'दूयतेतरां मम चेतः' शीर्षक कविता में नेताओं पर व्यङ्ग्य करते हुए कवि कहता है -

दूयतेतरां मम चेतो वीक्षे यावत् कपटमयं नेतारम्
यः खलु शासनमदे निमग्नो नैव विगणयन् जनसामान्यं
सततं निजपदरक्षणनिरतः संघर्षयति जनान् परस्परम्।

'मामाह्वयन्ति नगा विशालाः' शीर्षक कविता में कवि जहाँ प्रकृति द्वारा आह्वान किये जाने की कल्पना करता है, वहाँ 'कालिदासमुखरिता सृष्टिः' कविता में वह कालिदासीय दृष्टि से, प्रकृति का अवलोकन करता है। 'भारतं मे भविष्यति' तथा 'भारतीयं नववर्षम्' कविता राष्ट्रभक्ति से प्रेरित प्रतीत होती हैं तो 'किं कारणम्' और 'प्रश्नः' में कवि जगत् के विषय में विविध प्रश्न उत्थादित करता है। 'जीवनचक्रम्' जैसी कविताओं में जीवन की रहस्यमयी गुत्थियों का प्रदर्शन करता है। पचास पञ्चचामर वृत्तों में लिखी 'सागरलङ्घनम्' कविता में कवि ने राम के सागर-लङ्घन के वृत्त को राष्ट्र के विपल्लंघन के रूप में तत्पश्चात् सीता

प्राप्ति को राष्ट्रोन्नति प्राप्ति के रूप में कल्पित किया है। इस प्रकार यह सङ्कलन कवि कृष्णलाल के नवीन काव्यजगत् को दर्शित करता है तथा आधुनिक संस्कृत काव्य की नई धारा को लक्षित करता है।

सन् १६७६ में कवि कृष्णलाल का 'शतदलम्' नामक लघुकाव्य भी प्रकाशित हुआ, जिसमें छोटे-छोटे भावखण्डों का सङ्कलन सौ पद्यों में किया गया है। इस प्रकार इसे उनकी चतुर्थ लघुकाव्य-कृति कहा जा सकता है।

देवदत्त भट्टि - संस्कृत में प्रयोगशील शैली का प्रवर्तन करने वाले देवदत्त भट्टि का कार्यक्षेत्र पंजाब है तथा ये इसी प्रान्त के मालेरकोटला राजकीय महाविद्यालय में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष हैं। कवि ने यह स्वीकार किया है कि उसने अपने प्रबन्ध में प्रयोगशील शैली में आधुनिक काव्य की प्रतिनिधिभूत कविताओं का ही समावेश किया है। कवि के दो लघुकाव्य प्रकाशित हैं जिनका विवरण इस प्रकार है -

'इरा'-कवि ने इस काव्य को, आरम्भिक पृष्ठ पर 'विश्व संस्कृत-साहित्य में प्रयोगशील कविता का नवावतार' अभिहित किया है। कविता की यह विधा वर्तमान परिवेश का अङ्कुर है, यही आज के द्वैतभरे जीवन पर प्रहार कर सकती है। कवि ने इस कृति की लघु कविताओं में ऐसे ही विषयों को रखा है। यह लघु कविता कभी हल्का सा गुदगुदाती है और कभी हल्का प्रहार करती है। कवि रस जैसे प्राचीन काव्यशास्त्रीय प्रतिमान को असाम्प्रतिक मानता है। इसीलिए उसकी कविता में रस न होकर व्यङ्ग्य प्राप्त होता है, जैसे 'क्रय' शीर्षक कविता में कवि कहता है -

चेत्त्वम्
सत्यसन्धत्वम् विश्रब्धताम् निष्ठाम्
निर्व्याजत्वमार्जवं च क्रेतुमिच्छसि ?
क्रीणीहि कुक्कुरमेकमेकम्।
मानवेषु नेदं लम्यते।

सिनीवाली-कविवर भट्टि की प्रयोगवादी कविता का यह दूसरा संग्रह १६८६ ई. में प्रकाशित हुआ। काव्य के आरम्भ में 'पुरोवाक्' में कवि कहता है कि मेरी यह कविता शब्दसम्भारमात्र है, रसात्मिका कविता नही है। काव्य के आरम्भ में कवि का यह कथन कितना सुन्दर एवं समीचीन है -

'सिनीवाली' नवं काव्यं मुक्तकं विदधे प्रियम्।
पुराणी देवभाषेयं युवतिर्दृश्यते पुनः।।

इस काव्य में भी उनकी सब कविताएं छन्दोबन्धविमुक्त एवं आधुनिक भावबोध से संस्पृष्ट हैं। प्रथम कविता में ही 'सिनीवाली' शब्द का प्रयोग हुआ है -

तस्य निधने युगोऽरोदीत्
मानवता अकालमृत्युना हृता, साधुता च हता।
ममान्तर्मानसम्, नभसः क्रन्दनम्।
अवृश्चदपिंशच्च। (?)
तारकाः अश्रूणि प्रावहम्।
सिनीवालीनिशायाम् दिशोऽक्रन्दन्।

(उसके मरने पर युग रोया। मानवता अकाल मृत्यु से खींची गई और सज्जनता मारी गई। मेरा अन्तर्मन आकाश का क्रन्दन हुआ। मैंने तारारूप आँसुओं को बहाया। प्रतिपदा की अँधेरी रात में दिशाओं ने क्रन्दन किया।)

केशवचन्द्र दाश-उत्कल प्रदेशीय केशवचन्द्र दाश भी अर्वाचीन संस्कृत काव्य की मुक्तछन्दधारा के प्रतिनिधिभूत कवि हैं। वे जगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय, पुरी में न्याय दर्शनविभाग के अध्यापक एवं अध्यक्ष हैं। संस्कृत रचनात्मक साहित्य के अन्तर्गत उपन्यास एवं कहानी को नया रूप देने के साथ ही श्री दाश ने कविता को आन्तर और बाह्य विधान में नया रूप प्रदान किया है। उनके प्रकाशित कविता-संग्रह हैं- प्रणयप्रदीपम् (१९७९) हृदयेश्वरी (१९८१), महातीर्थम् (१९८२), भिन्नपुलिनम् (१९८३), अलका (१९८६) तथा ईशा। इन लघुकाव्यों में कवि के अन्तर्गत विद्यमान एक दार्शनिक सर्वत्र दिखाई देता है और सब काव्य दार्शनिकता से परिपूर्ण हैं। कवि ने मुक्तक कविताएँ लिखी हैं और मुक्तक शैली में लिखी हैं। इनके काव्यों का विवरण इस प्रकार है-

अलका-अलका काव्य में कवि केशवचन्द्र दाश का कल्पनावैभव, विषय वैविध्य, नये-नये प्रतीकों के प्रयोग, प्रसादमयी काव्यपंक्तियाँ, आधुनिकयुगीन संवेदना, शास्त्रगम्भीर अर्थरमणीयता और शब्दों की व्यञ्जनक्षमता आदि गुण सर्वत्र दिखाई पड़ते हैं। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

राजवधूनाभिरन्ध्रे अन्धायते कलहंसध्वनिः
जनबहुलनगरेऽस्मिन् पुनः पुनरपि देहो मार्गायते।

(राजबधू के नाभिछिद्र में कलहंसों की ध्वनि अन्धी सी हो जाती है। लोगों से भरे इस नगर में फिर से शरीर मार्ग-सा बन जाता है।)

त्वं पुनः मधु सञ्जायसे, प्राच्यस्य मे विचारचषके।

ईशा-कवि दाश का यह काव्य १९९२ ई. में लोकभाषा प्रचार समिति, पुरी से प्रकाशित हुआ है। 'ईशा' में कवि एक ऐसे यात्री की भाँति प्रस्तुत है जो सदा नया गन्तव्य ढूँढता रहता है-'नवनिलयान्वेषणे भ्रमति पुरातनपान्थः'। अन्त में इस खोज की परिणति प्रायः निराशा में ही होती है-'आशाबन्धो बन्धुरः केवलः। अद्य त्वत्सत्तासन्धानम्। प्रतिभाति

साक्षात् पलाण्डुकेशराविषणम्।' वह बार-बार व्यथा, आक्रोश और क्लेश का अनुभव करता है। अपने चिन्तन की चरमावस्था में वह कहता है-

सन्ध्याकालवन्ध्यायाः क्रन्दने आशाबन्धो बन्धुरः केवलः।
पुनरपि वासरो धूसरः भागे भागे विभागे विभागे
युगे-युगे . . अभियोगे विधिश्च बधिरः।
कालः कलायते . . . सरले. . .तरले
अविरले विरलीविधातुम् मरालीनयने परन्तु
'ईशा''भाषामाहरति हरति . . . .विहरति।

परन्तु चिरजिजीविषा मानव की आशाओं का केन्द्र है। कवि प्रसादमयी शैली में जीवन के गहन रहस्यात्मक तत्त्वों का उन्मेष करता है। रहस्यात्मकता के आवरण में लिप्त होने पर भी भारत और भारतीयता की वर्तमान संकटापन्न दशा के प्रति भी वह सजग है, यथा -

गृहमिव कुरुक्षेत्रं कर्मशाला हिंस्रमाला गङ्गानदी न चिरप्रवाहा
सम्मुखे दण्ड्यमाना भारतीयता नः क्रीतदासी इव।

समग्र काव्य सौ विषय-शीर्षकों में विभक्त है, जिसमें लघु कवितावली की धारा प्रवाहित है। कवि दाश के समस्त काव्यों में भाव और भाषा का एक समन्वित प्रवाह दृष्टिगोचर होता है। उनमें कहीं पारम्परिक वार्णिक अथवा मात्रिक छन्द का प्रयोग नहीं है, परन्तु सर्वत्र एक लय है, गति है, भाषा में एक विशेष रागात्मक प्रवाह है। अनेकत्र सहज अनुप्रास एवं अन्त्यानुप्रास कविता के सौन्दर्य में वृद्धि करते हैं। संस्कृत-काव्य जगत् में यह एक अभिनव प्रयोग है और कृष्ण लाल और देवदत्त भट्टि की प्रयोग-परम्परा में रहते हुए भी केशवचन्द्र दाश की यह छन्दोनिर्बन्धता की अपनी एक विशिष्ट शैली है। दाश अपनी रचनाशीलता में निरन्तर अग्रसर हैं।

इस प्रकार 'प्रणयप्रदीपम्' में अपनी प्रथम भावाभिव्यक्ति देने वाले कवि ने 'हृदयेश्वरी'में अपने प्रियतम को अन्तर्हृदय में ढूँढने की चेष्टा की है। वर्तमान सामाजिक स्थिति पर लिखित 'महातीर्थम्' प्रेम और स्वार्थ का समन्वय है। 'भिन्नपुलिनम्' रोमाण्टिक भाव से ऊपर की कृति है जिसमें समुद्र और समुद्रतट को भिन्न बताया गया है।

हर्षदेव माधव-आधुनिक संस्कृत काव्यजगत् में शैली-प्रवर्तन की दृष्टि से क्रान्ति लाने वाले तथा संस्कृत-कविता को विश्व-कविता के समानान्तर उपस्थापित करने वाले हर्षदेव माधव एक सशक्त कवि हैं। गुर्जर भूमि में, अहमदाबाद नगर में अपना कवि जीवन बिताने वाले कवि माधव ने बाल्यकाल में ही काव्यसर्जना आरम्भ कर दी थी। १९७५ से ही गैर्वाणी, भारती, भारतोदयः, अजस्रा, स्वरमङ्गला, विश्वभाषा, संविद्, अभिनवसंस्कृतम्, संस्कृतरत्नाकर, हेमवती आदि संस्कृत-पत्रिकाओं में कवि माधव की अनेक संस्कृत-कवितायें प्रकाशित होती

रही हैं। इनका प्रथम काव्य 'रथ्यासु जम्बूवर्णानां शिराणाम्' संस्कृत सेवा समिति, अहमदाबाद से १६८५ में तथा द्वितीय काव्य 'अलकनन्दा' पार्श्व प्रकाशन, अहमदाबाद से १६६० में प्रकाशित हुआ।

कवि हर्षदेव अर्वाचीन संस्कृत-साहित्य-भूमि पर एक नितान्त नवीन शैली लेकर अवतरित हुए हैं। संस्कृत के अतिरिक्त वे गुजराती और अँग्रेजी में भी प्रतिष्ठित कवि है और उनका आंग्लकवित्व उनकी संस्कृत-कविता में सर्वत्र झाँकता है। अँग्रेजी शब्दों का प्रभूत प्रयोग और कभी-कभी मूल लिपि में ही प्रयोग उनकी संस्कृत कविता में सर्वत्र झाँकता है, और इसे उनके काव्य का एक दोष भी माना जा सकता है। आपकी अनेक कविताओं का अँग्रेजी में काव्यानुवाद होकर अमेरिका से प्रकाशित हो चुका है। कवि माधव ने जापान देश में प्रचलित त्रिपादयुक्त सप्ताक्षरी कविता 'हाइकू' तथा पञ्चपादयुक्त 'तान्का' नामक काव्यप्रकार को संस्कृत-साहित्य में प्रविष्ट कराया है। आंग्ल-साहित्य में एझरा पाउण्ड तथा उसके समकालीन कवियों द्वारा उद्भावित 'मोनो इमेज' नामक काव्यविधा का प्रयोग संस्कृत में प्रवर्तित करने वाले माधव ही हैं। दक्षिण कोरिया से कवि ने 'सीजो काव्य' नामक काव्यप्रकार का आहरण कर संस्कृत में प्रयोग किया।

कवि हर्षदेव के भाव एवं भाषा दोनों में पर्याप्त विलक्षणता है। एक स्थान पर अपनी काव्ययात्रा के विषय में टिप्पणी करते हुए लिखते हैं-'पुष्पस्य एक्सरेच्छविरस्ति मे कविता'-मेरी कविता पुष्प की एक्सरे छवि है। 'संस्कृत के वर्तमान कवि के रूप में मैं क्षुब्ध हूँ, खिन्न हूँ, प्राचीन संस्कृति की भव्यता और अर्वाचीन सभ्यता की वेदना मेरी काव्यरचनाओं में प्रवाहित है। स्वप्नों और शब्दों के निर्मक्षिक ध्वंसावशेषों में मैं खो गया हूँ। मेरी लेखनी में वेदना, व्यथा, अस्तित्व-संघर्ष स्याही के रूप में है, ऐसा में मानता हूँ, 'जैसा कि अपने हाइकू काव्य में कवि ने कहा है-

मम स्वप्नानि
मोहञ्जोदडो गृहम्
को बसेत् तत्र।

अर्वाचीन सभ्यता के विषय में कवि की निराशा 'ताङ्का' काव्य में मुखरित हुई है-

आभुपुष्पिता
बोगेमपुष्पलता
गन्धरहिता
यथा हि अर्वाचीना
प्रसृताऽस्ति सभ्यता।

अणुबम की विभीषिका से त्रस्त मानवता के लिए कवि की यह मोनो इमेज 'नगरम्' कविता दर्शनीय है-

बुद्धस्य शिक्षापात्रे
निमज्जितमस्तिं
अणुबोम्बदग्धं नगरम्।

'रणम्' शीर्षक दो पंक्ति की कविता इस प्रकार है -

अद्य हर्षदेवमाधवो रणस्य पर्यायोऽस्ति
श्वो रणं हर्षदेवमाधवस्य पर्यायो भविष्यति।

जापानदेशीय हाइकू कविता का संस्कृत भाषा में प्रयोग कवि ने इस प्रकार किया है-

हिन्दोलशून्य-/गृहे मृतगृहिण्याः/स्वरोऽयं कुतः
बलाकापंक्तिः/सरसि पत्रारूढ/ वर्णमालावत्।

सचमुच कवि माधव ने संस्कृत में मुक्त छन्द के एक नितान्त नवीन एवं परम्परा से भिन्न स्वरूप का प्रवर्तन किया है। उन्होंने संस्कृत-कविता में कल्पनावाद (इमेजिनेशन) प्रतीकवाद (सिम्बोलिज़्म) अतिवास्तववाद (सर्रिअलाइज़ेशन) एवं घनवाद (क्यूबिज़्म) इत्यादि वादों का प्रयोग कर एक नई संवेदना एवं काव्य-भावना की उद्भावना की है। अपनी 'संकेतरहिते नगरे' शीर्षक कविता में कवि कहता है -

संकेतरहितं पत्रं भूत्वा
अहं निवसामि तव नगरे अलकनन्दे !
शाकिनीवत् प्रस्खलन्ति बसयानानि
लोष्टवत् स्तब्धं नगरोद्याने
सरोवरस्य जलम्।
कीटशलभतुल्या नागरकाः
सूकरदन्तसमः ट्यूबलाइटप्रकाशः।

(हे अलकनन्दे ! मैं पतारहित पत्र बनकर तुम्हारे नगर में रह रहा हूँ। बसगाड़ियाँ पिशाचिनी की भाँति फिसल रही हैं। नगर के बाग में तालाब का पानी ढेले की तरह रुक गया है। नगरवासी जन कीट-पतङ्गों की तरह हैं और ट्यूबलाइट का प्रकाश सुअर के दाँत की तरह है।)

समुद्र के स्वरूप पर कवि की आधुनिक उपमा के प्रयोग से युक्त ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं -

समुद्रः
जिप्सीयुवतिपृष्ठदेशसमोऽनावृतः।

समुद्रः
हब्सीयुवतिनेत्रप्रतिमः श्यामः
समुद्रः
होनोलुलुसुन्दरीहस्तसन्निभो मसृणः।

कवि माधव के काव्यों में 'मिस्रदेशे' 'जापानदेशे' जैसी कवितायें भी मिलती हैं, कुछ गज़ल-गीतियाँ भी लिखी हैं पर उनके गीत की भी अपनी एक विशिष्ट शैली है। उनके अन्य विचित्र प्रयोगों में हैं प्रतीक द्वारा अभिव्यक्ति, संङ्केतों द्वारा अभिव्यक्ति, गणित की संज्ञाओं या गणितीय प्रयोगों द्वारा कविता, प्रतिच्छाया (Shadow) काव्य तथा पिरामिड (Pyramid) काव्य आदि द्वारा काव्य रचना, जो आधुनिक चित्रकाव्य के नये रूप कहे जा सकते हैं। कवि माधव का उद्देश्य है विश्वकविता के मञ्च पर संस्कृत-काव्य को खड़ा करना। इस प्रयोग प्रखर कवित्व के कारण उन्हें संस्कृत का क्रान्तिकारी कवि कहा जा सकता है।

इन्द्रमोहन सिंह-पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला के संस्कृत विभाग के प्रवक्ता इन्द्रमोहन सिंह ने भी इसी मुक्त छन्द शैली में 'हिरण्यरश्मिः' नामक अभिनव काव्य-सङ्ग्रह की रचना की है। कवि ने गीत एवं स्फुट पद्यों को मिलाकर उसमें ६६ कविताओं का सड्कलन किया है। गीतों में सङ्गीततत्त्व है, गेयता है और स्फुट पद्यों में प्रायः लयबद्धता तो है ही, पर पारम्परिक छन्दों के प्रयोग का अभाव है। कुछ पद्यों में उर्दू ग़ज़ल का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। छन्दोमुक्तता के पर्याप्त दर्शन होते हैं। मुक्त छन्द शैली का प्रेमविषयक पद्यांश द्रष्टव्य है -

प्रिये ! त्वं
तिमिरे किरणवत्
नीरदेषु गृहविहीनेषु खिन्नेषु
त्वं विद्युत् प्रणयमयी
विरहानले कठिने
त्वं मिलनगीतिका रम्या।

शृंङ्गार के आधुनिक प्रसङ्गों को भी कवि ने ग्रहण किया है, जैसे विश्वविद्यालय की युवती का चित्रण करते हुए कवि कहता है-

चलापाङ्गबाणैर्युवकान् घ्नती
कुसुमचापयष्टिरिव
तनुमध्या क्षीबा सोमलतेव
नन्दन-वन-पवनचालितेव
आगच्छति विश्वविद्यालययुवतिः।

प्रणय-चित्रण के अतिरिक्त 'नेतृचरितचर्चा' 'पदलोलुपता' जैसे आधुनिक युग के विषयों पर कवि ने लेखनी चलाई है, परन्तु पूरा काव्य मुख्यतः प्रणयविषय पर ही समाधृत है। इस कृति को आधुनिक गीतिकाव्य तथा छन्दोमुक्त शैली का लघुकाव्य दोनो कहा जा सकता है।

विशनलाल गौड़ 'व्योमशेखर'–व्योमशेखर की रचना 'अग्निजा' का प्रकाशन १९८४ ई. में हुआ। व्योमशेखर संस्कृत-काव्य के क्षेत्र में नई समाज-व्यवस्था की स्थापना के आग्रह को मानने वाला कवि है। उसका रचना संसार लोकानुभव की भित्ति पर टिका है। उसकी रचना में मानवीय सहानुभूति का सौन्दर्य है और मानवीय शोषण-पद्धति को बदल डालने का प्रखर स्वर है। आरम्भ में ही अग्नि को जगाता हुआ वह कहता है–

उद्बुध्यस्वाग्ने ! प्रजागरमन्त्रनादः
विश्वजनस्वापनाशी लोपयंस्तन्द्राम्
प्रातः सवनेषु समुदीरितः केन ?

विश्व-चेतना का आह्वान करने वाले कवि को प्राची दिशा रक्तानना दिखाई देती है, सूर्य भी लाल उगता हुआ आ रहा है, क्रान्ति का बिगुल बज उठा है। चारों ओर नव जयनिनाद है। 'श्रमिकाया अयं बालः' कविता में कवि एक दुःखिनी श्रमिका के भूखे-नंगे बालक का करुण चित्र खींचता है –

रे नग्नः क्षुधितः स्वपिति
देशस्य भाग्यं रोदिति
श्रमिकाया अयं बालः

कवि बार-बार कृषक, श्रमिक और सैनिक का गुणगान करता है। उसे दुःख है कि बड़े-बड़े विद्यालय-भवनों के निर्माण में अपना पसीना बहाने वाली श्रमिका का बालक कभी उस विद्यालय में प्रवेश न कर सकेगा। युग-इतिहास करवट ले रहा है। इसी इतिहास-भैरवी कविता में इसी काल चक्र के परिर्वतन की चर्चा करते हुए कवि कहता है –

मुहुर्मुहू रणति जीवनसमराजिरे
विबोधयन्ती चेतनां नवनवोन्मेषाम्
आलोकपथं दिशति पुरोगामिनः
सततगतिशीलस्येतिहाससूर्यचक्रस्य।

(यह इतिहास-भैरवी जीवन-संग्राम में बार-बार गूँज रही है, नये-नये उन्मेषों वाली चेतना को जगा रही है। यह लगातार चल रहे इतिहास-सूर्य के पहिए का आगे और आगे बढ़ता प्रकाशमय मार्ग बता रही है।)

समस्त काव्य में इसी तरह के मुक्त छन्द की धारा प्रवाहित हुई है। पर ओजस्विता होने के कारण भाषा में अपूर्व गति है, स्पन्दन है, कहीं-कहीं छन्दोबद्ध पद्य एवं गीत भी हैं। संस्कृत में नवयुगीन भावधारा को लाने और शोषणविहीन समाजवादी व्यवस्था की वकालत करने के कारण यह काव्य एक नया प्रयोग है। कवि का स्वयंकृत हिन्दी पद्यानुवाद भी साथ में विद्यमान है।

'अहं राष्ट्री' व्योमशेखर के अन्दर की आग का 'अग्निजा' के बाद दूसरा स्फुलिङ्ग है। इसका प्रकाशन १९९० ई. में हुआ। समस्त काव्य सरल एवं सरस शिखरिणी छन्द में है, जिससे राष्ट्रभक्ति की धारा का गीत्यात्मक स्वर फूटता हुआ दिखाई पड़ता है। कवि ने अहं राष्ट्री के चेतनामय मन्त्र को वैदिक ऋषि की वाणी से लिया है। वैदिक राष्ट्री का तादात्म्य आधुनिक भारत माता से जुड़ गया है। कवि ने 'आत्मगतम्" में यह स्वीकार किया है कि 'अहंराष्ट्री में मेरा भावलोक मुख्यतया दो प्रकार से प्रवर्तित हुआ है-साहित्य, संस्कृति एवं इतिहास से प्रदत्त राष्ट्रीय महिमा का भाव तथा मेरा इन्द्रियों के साक्षात् संवेदन विषय वाला भाव। दोनों प्रकार के भावलोक में स्वर की अस्मिता, राष्ट्र के प्रति आत्मीयता दृश्यमान है। राष्ट्रप्रेम का आह्वान करती राष्ट्रभक्ति अपना परिचय देती हुई कहती है -

अपूर्वा गायत्री हिमगिरिनिनादा हिमसुता
युगानामालोकं दिशति मधु सम्बोधयति च।
ममामर्त्याः पुत्रा भरतपुरुषा विस्मरत नो
स्वतन्त्राऽहं राष्ट्री जलधिवसना चास्मि गिरिजा।।

(हिमालय से निनाद करती हुई कोई अपूर्व गायत्री गङ्गा युग-युग का आलोक देती मधुमय सम्बोधन कर रही है। भरतवंशी मेरे अमरपुत्रों ! मत भूलो, मैं स्वतन्त्र राष्ट्रशक्ति हूँ। सागर का परिधान पहने में हिमाद्रि-बाला भारती धरा हूँ।)

यह राष्ट्रशक्तिरूपा भारत माता धर्म, जाति, प्रान्त वर्ण आदि की संकीर्णताओं से परे है और ये सभी संकीर्णताएँ विराट एवं उदान्त राष्ट्रीय भावना में विलीन हो गई हैं। भारतमाता की अनन्त सौन्दर्यराशि अनेक नदियों, पर्वतों, वनों आदि में दिखाई पड़ रही है। भारत की आत्मशक्ति यहाँ की महान् संस्कृति एवं दर्शन में हैं। कवि प्रसंगतः इस महान् राष्ट्र के पुरातन ऋषियों, कवियों, दार्शनिकों, राजाओं, एवं महापुरुषों का भी स्मरण करता है। अन्त में कवि कामना करता है कि चिरविजयी मेरा राष्ट्र सदा विजयी रहे-'निकामं कामो मे चिरविजयि राष्ट्रं विजयताम्।

रमाकान्त शुक्ल-शुक्लजी का जन्म १९४० ई. में उत्तर प्रदेश के खुर्जा नगर में हुआ था। पितृ-परम्परा से ही आपको संस्कृत-रचना की प्रवृत्ति मिली। सम्प्रति वे राजधानी कालेज, दिल्ली में हिन्दी के प्राध्यापक एवं देववाणी परिषद्, दिल्ली के सचिव हैं। वे राष्ट्रभक्तिपरक काव्यरचना के क्षेत्र में अधिक प्रसिद्ध हो गए हैं और उनके लघुकाव्य,

गीतिकाव्य तथा नाट्यकाव्य सभी राष्ट्रभक्ति से ओत-प्रोत हैं। उनकी अनेक स्फुट रचनाएँ जैसे 'भारतजनताऽहम्' तथा 'क्रूरहृदय मेघ' कवि-सम्मेलनों में बहुत प्रसिद्ध हुई हैं। 'अर्वाचीनसंस्कृतम्' पत्रिका के सम्पादक रूप में भी शुक्ल जी ने अपने तथा अपने युगीन कवियों के साहित्य का पर्याप्त प्रकाशन किया है। आपके लघुकाव्यों का विवरण इस प्रकार है-

भाति मे भारतम्-यह रचना देववाणी परिषद, दिल्ली से प्रथम बार, १६८० में प्रकाशित हुई। अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त करने के कारण इसके दो संस्करण और निकल चुके हैं। यह राष्ट्रभक्तिपरक रचना भारत के समग्र स्वरूप का उद्घाटन करती है। यह पारम्परिक स्रग्विणी छन्द में लिखी गई है, पर कवि-सम्मेलनों में कवि द्वारा इसके गान से तथा दूरदर्शन पर प्रसारण से गेयताधर्म के कारण इसने एक गीत का रूप धारण कर लिया है। यह शतक काव्य है। इसमें १०८ छन्द हैं। इसमें देशवासियों, भारतराष्ट्र तथा भारतीय संस्कृति के आकर्षक पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। भारत के ऐतिहासिक एवं भौगोलिक स्वरूप, धार्मिक एवं सांस्कृतिक गौरव, औद्योगिक एवं वैज्ञानिक विकास, आन्तरिक एवं बाह्य सौन्दर्य आदि विविध पक्षों को उद्घाटित किया गया है। भारतदेश के पुरातन स्वरूप से लेकर अद्यतन स्वरूप तक विधिवत् प्रकाश डाला गया है। भारत के कवियों, महापुरुषों, पर्वों, नीति-रिवाजों, परम्पराओं, भाषाओं, आध्यात्मिक विचारों एवं गौरव-ग्रन्थों-सभी का यशोगान करते हुए कवि आधुनिक युग के भारत का भी वर्णन करता है। भारत के राष्ट्रीय संघटन पर विचार व्यक्त करता हुआ कवि कहता है -

> **मन्दिरैर्मस्जिदैश्चैत्यगिर्जागृहै -**
> **रार्यगेहैर्गुरुद्वारकैर्भ्राजितम्।**
> **कर्मभूःशर्मभूर्धर्मभू-र्मर्मभूः**
> **भूतले भाति मेऽनारतं भारतम्।।**

इस राष्ट्रीय काव्य ने सचमुच भारतराष्ट्र की आत्मा को हमारे सम्मुख रख दिया है। अनेक विद्वत्तल्लजों में इस पर अपनी समीक्षा लिखकर इस काव्य का यशोवर्धन किया है।

जय भारतभूमे-यह भी १०८ पद्यों का ही काव्य है, परन्तु इसमें ताटङ्क, भुजङ्गप्रयात, आर्या, तोटक, मालिनी, द्रुतविलम्बित, शार्दूलविक्रीडित आदि अनेक प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध छन्दों का प्रयोग होने पर भी इसका स्वरूप गीतिकाव्यात्मक है। अन्त्यानुप्रास एवं ध्रुवा का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुआ है। इस काव्य का प्रकाशन १६८१ ई. में देववाणी परिषद् द्वारा ही हुआ। काव्य सात शीर्षकों द्वारा सात खण्डों में विभाजित है-जय भारतभूमे !, भजे भारतम्, मम भारतं विजयते, भारतभूमिर्विलसति, जय भारतमेदिनि, भारताख्यः स्वदेशः तथा दिव्यं मम भारतम्। इस प्रकार समग्र काव्य में आदि से लेकर अन्त तक भारतभूमि की ही महिमा

एवं गरिमा का गान किया गया है। हर पद्य में कवि भारतभूमि को प्रणाम करता है, उसकी जय-जयकार करता है तथा उसकी उन्नति की कामना करता है। उसे आशा है कि उसके देश से बलात्कार, हत्या, अशिक्षा, वधूदाह, प्रहार आदि दोष अवश्य एक दिन समाप्त होंगे-

बलात्कार-हत्यापहार-प्रहाराः
अशिक्षा-वधूदाह-भिक्षाप्रचाराः।
कदाचित्तु लुप्ताः भविष्यन्ति यस्मात्
(अवश्यं विलुप्ता भविष्यन्ति यस्मात्)
भजेऽहं मुदा भारतं स्वदेशम्
भजे तं मुदा भारतं दिव्यदेशम्।

कवि शुक्ल को बीसवीं शती के नवम दशक का कवि कहा जा सकता है। उन्होंने स्वतन्त्र भारत की महिमा का जो गान किया है वह यथार्थ की धरती पर आकर खण्डित भी हो जाता है। अतः उन्होंने 'भाति मे भारतम्' के विपरीत 'रौति में भारतम्' कविता भी लिखी, जिसमें भारत की दुर्दशा का चित्रण है। इसी तरह 'राष्ट्रदेवते' में कवि ने आतङ्कवाद के विरुद्ध तीखा स्वर अपनाया है।

उमाकान्त शुक्ल-सनातनधर्म कालेज, मुजफ्फरनगर के संस्कृत-प्राध्यापक उमाकान्त शुक्ल भी आधुनिक युग के सिद्धहस्त संस्कृत-कवि हैं, अन्य अनेक स्फुट कविताओं के अतिरिक्त उनके 'मङ्गल्या', चाङ्गेरिका' तथा 'कूहा' प्रसिद्ध काव्य हैं।

'कूहा' का लेखन और प्रकाशन वर्ष १९८४ में देववाणीपरिषद, दिल्ली से हुआ, जब उसी वर्ष भारत की तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गान्धी की जघन्य हत्या हुई। इस काव्य में कवि ने इन्दिरा गान्धी की जीवन-गाथा और विविध गुणों का समग्रतया वर्णन किया है। काव्य में कथावस्तु मात्र इतनी है कि दिवङ्गत श्रीमती इन्दिरा गान्धी की अस्थिभस्म को हिमाचल पर बिखेर कर वहाँ से लौटे हुए इस काव्य के नायक राजीव गान्धी अपनी माँ का स्मरण कर रहे हैं। इसी प्रसङ्ग में कवि ने उनका जीवनचरित संक्षेप में वर्णित किया है। इसके बाद राजीव गान्धी देश की कल्याणकामना करते हुए अपनी राजधानी आते हैं और भारतमाता की सेवा में तत्पर होते हैं। राष्ट्र की कल्याणकामना के प्रसङ्ग में ही कवि ने कहा है कि इस राष्ट्ररूपी पद्मखण्ड पर जो घनी पीड़ा की कूहा (धून्ध) छाई हुई है उसे उदित होते हुए विवेक रूपी सूर्य की किरणों का प्रकर्ष काट डाले-

व्याप्तास्त्यकस्मादिह राष्ट्रपद्म -
षण्डे घना सम्प्रति यार्तिकूहा।
झटित्यमुं कृन्ततु कोऽप्युदेष्यन्
विवेकमार्तण्ड-करप्रकर्षः।।

इसी राष्ट्रव्यापी कुञ्झटिका को व्यक्त करने के लिए कवि ने काव्य का नाम 'कूहा' रखा है।

नलिनी शुक्ला-बीसवीं शती के आठवें-नवें दशक में अपनी काव्य प्रतिभा के प्रकाश से संस्कृत-जगत् को आलोकित करने वाली नलिनी शुक्ला 'व्यथिता' कानपुर-स्थित आचार्य नरेन्द्रदेव महिला महाविद्यालय में संस्कृत-प्राध्यापिका हैं। उन्होंने गीतिकाव्य, लघुकाव्य एवं नाटक तीन विधाओं में अपनी लेखनी चलाई है तथा संस्कृत-कवयित्री के रूप में पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त की है। उनकी अनेक काव्यकृतियाँ पुरस्कृत एवं सम्मानित हो चुकी हैं। श्रीमती शुक्ला के लघुकाव्यों का विवरण इस प्रकार है-

प्रकीर्णम् - यह सौ श्लोकों का एक शतक काव्य है जिसका प्रकाशन १९७६ में हुआ। कवयित्री ने अनुष्टुप् छन्द के माध्यम से लोकवैषम्य के कारण हुई अपनी व्यथा को कहा है। स्वतन्त्रता प्राप्ति पर व्यङ्ग्य करती हुई वह कहती है -

मन्ये स्वतन्त्रता प्राप्ता धूर्तैरेव हि केवलम्।
तेषामेव भृताः कोषाः सज्जनाः क्षीणतां गताः।।

भावाञ्जलिः-श्रीमती शुक्ला के इस भावमय काव्य का प्रकाशन १९७७ में हुआ। यह भक्तिमय स्तोत्रकाव्य है जिसमें २१ स्तोत्र हैं। पद्य प्रायः पारम्परिक ही हैं, पर अनेक स्थलों पर गीतों का प्रयोग किया गया है। अनेक आराध्य देवी-देवताओं के प्रति कवयित्री ने कहीं भावभरी अञ्जलि की प्रस्तुति की है, कहीं उनकी स्तुति की है, कहीं आत्म-निवेदन, कहीं उपालम्भ तो कहीं अनुरोध की अभिव्यक्ति की है। 'वाणीपञ्चदशी' में वाग्देवी सरस्वती का स्तवन करती कवयित्री कहती है-

त्रिलोके विख्यातस्तव जननि ! कारुण्यमहिमा
न दृष्टिस्स्नेहार्द्रा सरसति ममाङ्गेष्वपि सुधाम्।
कियत्कालो यातो वितरसि दृशं नैव सुभगे
मृतप्रायप्राणेष्वमृतरससञ्चाररुचिराम्।।

(हे माता ! तुम्हारी करुणा की महिमा तो तीनों लोकों में प्रसिद्ध है। तुम्हारी स्नेह से भीगी दृष्टि मेरे अङ्गों पर भी अमृत नहीं बरसाती है। तुम तो मृतप्राय प्राणों में भी अमृतसमरस का सञ्चार करने में निपुण हो। हे सुभगे ! कितना समय बीत गया है। तुम अपनी दृष्टि मुझ पर नहीं डाल रही हो।)

समग्र काव्य में कवयित्री ने अपनी मानसिक व्यथा को आराध्य के समक्ष प्रकाशित किया है तथा उससे बार-बार अपने उद्धार की प्रार्थना की है। 'देवीदेवनम्' 'चरणचिन्तनम्', 'व्यथामन्थनम्' जैसे सानुप्रास शीर्षकों में भावमय पद्य अलङ्कारमयी भाषा में गुम्फित हैं। कृष्ण के जितने भी लीलामय रूपों का इसमें ध्यान प्रस्तुत किया गया है वह अत्यन्त सरस है। अतः यह भक्तिरसमाधुरी से युक्त एक उत्तम काव्य है।

वाणीशतकम्-१६८१ में कवयित्री शुक्ला का यह शतक काव्य प्रकाशित हुआ। इसमें शिखरिणी छन्द में पराम्बा, भगवती, वाग्वादिनी, महासरस्वती की साधनामयी वन्दना प्रस्तुत की गई है। इस स्तुति का प्रत्येक श्लोक कवयित्रीकृत देवी की साधना के किसी न किसी विशिष्ट दिव्य रहस्य की गूढ भावना को व्यक्त करता है। जपमाला के १०८ दानों की तरह इस स्तोत्र में १०८ पद्य हैं। एक स्तोत्र द्रष्टव्य है-

रविस्त्वं कामाख्यः प्रकटमुखबिन्दौ समरसात्
स्तनद्वैतव्यक्त्या , हिमकरणवह्न्यात्मकवपुः।
त्रिबिन्दूनां तत्त्वं कलयति च हार्दामपि कलाम्
जनोऽसौ दिव्ये ते जननि ! रमते धाम्नि सुचिरम्।।

इस प्रकार यह दार्शनिक एवं तान्त्रिक पृष्ठभूमि से संवलित, भावपूर्ण, सरस संस्कृत-पद्यकाव्य है। कवयित्री नलिनी निरन्तर अपने भावमय लेखन से संस्कृत-साहित्य को समृद्ध कर रही हैं। अभी उनके कुछ काव्य अप्रकाशित हैं जो प्रकाशित होकर साहित्यश्री का सवर्धन करेंगे।

जगन्नाथ पाठक-संस्कृत-काव्य-जगत् में उर्दू-फ़ारसी की ग़ज़ल शैली पर आधारित गीतधारा एवं भावधारा का प्रवर्तन करने वाले कवि जगन्नाथ राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान के विद्यापीठों में उपाचार्य एवं प्राचार्य पद पर अधिष्ठित रह चुके हैं। आरम्भ में आपने 'कापिशायनी' काव्य की रचना की, जिस पर साहित्य अकादेमी का पुरस्कार प्राप्त हुआ, बाद में आपके 'मृद्वीका' और 'पिपासा' के उत्कृष्ट गीतिकाव्य प्रकाशित हुए, जिनमें 'मृद्वीका' पर वे 'वाचस्पति पुरस्कार' से सम्मानित हुए। 'पिपासा' समग्र रूप से सुन्दर गीतिकाव्य है। पर प्रायः वियोगिनी छन्द में निबद्ध 'कापिशायनी' एवं 'मृद्वीका' द्वारा भी कवि ने गीतशैली में ही काव्यरसयिताओं को सुस्वादु चषकपान कराया है। कापिशायनी को स्वयं कवि ने 'द्राक्षारसमयी नूतनमुक्तककाव्यरचना' तथा मृद्वीका को 'नूतनकाव्यमधुपरिपाकः' कहा है और पूर्ण रागात्मकता के साथ सहृदयों के हृदयों में अमन्द आनन्द का सञ्चार कराया है। अतः भावोच्छ्वास एवं रचना शैली की दृष्टि से तीनों काव्य गीतिकाव्य की श्रेणी में ही आते हैं और समीक्षकों ने उन्हें इसी रूप में मान्यता दी है। अतः यहां उनका विवेचन न कर पाठक जी के नवीनतम काव्य 'विच्छित्तिवातायनी' का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

विच्छित्तिवातायनी-यद्यपि १६८० ई. में 'कापिशायनी' के प्रकाशन के पश्चात् कवि पाठक संस्कृत-काव्यजगत् के समुन्नत शिखर पर आरूढ़ हो गये और सम्पूर्ण नवम दशक में उत्तमोत्तम साहित्य-साधना के आधार पर उन्होंने पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त की। १६६१ में उनकी 'विच्छित्ति-वातायनी' नामक मुक्तक-काव्य-कृति प्रकाशित हुई। इस कृति के छः भागों में पहला एवं प्रमुख भाग विच्छित्ति-वातायनी ही है। कलेवर की दृष्टि से भी यह भाग बहुत बड़ा है। इसमें १४५४ आर्याएं हैं। सभी १०१ पद्यसंख्या वाले पांच भाग इस कृति में

और संसक्त हैं, जिनके नाम हैं - श्रीकृष्णभावनाशतकम् (सराधाभावम्) रामत्वशतकम्, कविताशतकम्, स्त्रीशतकम् एवं सौन्दर्यकारिका। समग्र कविता की रचना आर्या छन्द में हुई है। कवि आरम्भ में अपनी कविता का उद्देश्य बताते हुए कहता है कि उसके लिए कविता केवल साध्य है, न वह यश के लिए है और न धन के लिए -

केषाञ्चित् कवितेयं साधनमास्तां धनस्य वा कीर्तेः।
अस्माकं तु मतेयं सुमहत् साध्यं नु जगतीह।।

कवि ने जीवन के विविध पक्षों का स्पर्श कर उन पर हल्का रंग चढ़ाया है। उनकी आर्या की लघु रचना कदाचित् मन को स्पन्दित कर देती है, कभी हल्का गुदगुदाती है, कभी सोचने को विवश कर देती है, कभी मर्म पर प्रहार करती है और कभी आधुनिक युग की विडम्बनाओं, विसंगतियों का खुला प्रदर्शन करती है। देश की वर्तमान दुर्दशा का प्रदर्शन करता हुआ कवि कहता है -

राज्ञो घट्टं विलपति, शान्तिवनं वर्तते विषीददिव।
शक्तिस्थलमनुताम्यति दर्शं दर्श निजं देशम्।।

(दुर्दशापत्र अपने देश को देख-देखकर राजघाट विलाप कर रहा है, शान्तिवन दुःखी हो रहा है और शक्तिस्थल अत्यन्त व्यथित हो रहा है।) अपनी बात को अनेकशः कवि अन्योक्ति के माध्यम से अथवा प्रतीकों के द्वारा कहता है, जैसे -

खर्जूराणां मध्ये सहकारः कश्चिदेक उत्पन्नः।
दुःखाकरोति मां खलु तस्य तदस्थानपतितत्वम्।।

अन्य शतकों में कविवर पाठक ने अतिमधुर भावव्यञ्जना की है। 'श्रीकृष्णभावनाशतकम्' में राधाभाव का वर्णन करते हुए कवि कहता है -

व्रजभुवि शुभे प्रयागे राधाभावेन गाङ्गसलिलेन।
श्रीकृष्णाख्ययमुनया समजायत सङ्गमः कश्चित्।।

'रामत्वशतकम्' में रामत्व की व्याख्या करते हुए कवि कहता है -

व्यर्थे वेदविधाने व्याकीर्णे शास्त्रमार्गसन्धाने।
सेतुर्मर्यादाया अनुशासनमेव रामत्वम्।।

इस प्रकार ये शतक काव्य अपने-अपने वैशिष्ट्य से संबंधित हैं। इस सङ्कलन से भिन्न इन शतकों को माना जाय तो वस्तुतः ये लघुकाव्य होंगे। इस प्रकार कवि पाठक अपनी संस्कृत-काव्य-साधना की विधा में प्रतिभा-प्रकर्ष से समन्वित एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने स्वयं

अपने लिए मौलिक मार्ग का निर्माण किया है और उसी पर तबसे अब तक चल रहे हैं।

राधावल्लभ त्रिपाठी - अपनी रमणीय काव्यकला से साहित्य-सदन को समलङ्कृत करने वाले राधावल्लभ त्रिपाठी लम्बे समय से मध्य प्रदेश के सागर विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष पद पर अधिष्ठित हैं। अनेक मुक्तक कविताओं के अतिरिक्त आपका प्रथम मौलिक काव्य-सङ्ग्रह 'सन्धानम्' नाम से १९८९ में प्रकाशित हुआ।

लहरीदशकम्-कवि राधावल्लभ के इस काव्य का प्रकाशन १९९१ में संस्कृत परिषद्, सागर विश्वविद्यालय से हुआ। यह लघुकाव्य दस लहरीकाव्यों का सङ्कलन है। वसन्तलहरी, निदाघलहरी, प्रावृड्लहरी, धरित्रीदर्शनलहरी, जनतालहरी, रोटिकालहरी, नर्मदालहरी, मृत्तिका-लहरी, अद्यापिलहरी एवं प्रस्थानलहरी।

कवि समाज के वर्तमान स्वरूप के सन्दर्भ को लेकर चलता है। प्रकृति-वर्णन के समस्त सन्दर्भ पारम्परिक शैली के वर्णन नहीं हैं, अपितु नवीन दृष्टि लिये हुए है। वसन्तलहरी में वसन्त-वर्णन में कवि यह दिखाना चाहता है कि आधुनिक औद्योगिक नागरी सभ्यता के मध्य बसन्त का आनन्द कहीं खो गया है, जैसा कि वह कहता है -

यानागमव्यतिकराकुलिताश्च मार्गाः
पित्रोलगन्धपरिपूरितदिङ्मुखास्ते।
धूमः प्रसर्पति च राजपथे पुरेऽस्मिन्
धूलिं बिभर्ति वसुधाऽसितडामराङ्का।।

(सारे मार्ग गाड़ियों के आने-जाने की बाधा से व्याकुल हो गये हैं, पेट्रोल की गंध से समस्त दिशायें भर गयी हैं। सड़क और नगर में धुंआ फैल रहा है। काले तारकोल से युक्त पृथिवी धूल धारण कर रही है।)

आगे एक पद्य में कवि स्पष्ट रूप से यह कह देता है कि वह अब वसन्त को प्राचीन नहीं, नवीन दृष्टि से देख रहा है -

काव्याङ्गणं समवतारयितुं समीहे
सर्वं पुरातनमिदं न हि वर्ण्यजातम्।
त्यक्त्वा चमत्कृतिततिं प्रतिबिम्बकल्पां
वासन्तिकं विशदयन्तु गिरो मदीयाः।।

भाव के साथ-साथ कवि ने उपमायें भी नये रूप की दी हैं। ग्रीष्मकाल को दाहकारक होने के कारण आतङ्कवादी खल के समान बताया गया है -

आतङ्कवादिखलवन्निदाघो दाघमश्नुते।

छाया का उपमान ससुराल में पीड़ित की जाती हुई बहू को बनाया गया है -

श्वशुरालयसम्प्राप्ता पीड्यमाना वधूरिव।
छायां छायाप्यहो कोणे मार्गमाणा लयं गता।।

आकाशरूपी मञ्च पर चढ़े हुए केवल गरजने वाले और न बरसने वाले मेघों की उपमा केवल भाषण देने वाले और कुछ काम न करने वाले नेता से दी गई है -

समारूढनभोमञ्चो गर्जन् मेघो न वर्षति।
भाषमाणोऽक्रियो नेता जनतायाः पुरो यथा।।

धरित्रीदर्शनलहरी में कवि ने अपनी पूर्व जर्मनी देश की यात्रा के उपक्रम में की गई विमानयात्रा के अनुभवों का सूक्ष्मता से वर्णन किया है। विमान में बैठकर बाहर के दृश्यों का अवलोकन किया जाये और विशेष रूप से पृथ्वी को देखा जाय तो कैसा रोमाञ्चक अनुभव होता है, यह काल्पनिक चित्रण कवि ने किया है। जनतालहरी में कवि ने भारतीय जनता की वर्तमान दशा का विविध रूपों में चित्रण किया है। शाकुन्तल की शब्दभूमि पर रचित पैरोडी रूप अनेक श्लोक हैं, जिनमें यह द्रष्टव्य है -

गच्छति पुरतो देशः, पुनरिह पश्चात् प्रधृष्यते जनता।
कोऽयं समाजवादः प्रगतिर्वा कीदृशी सेयम्।।

रोटिकालहरी में जीवन में रोटी का महत्त्व वर्णित है। चार तरङ्गों में विभाजित नर्मदालहरी में नर्मदा नदी के ऐतिह्य, स्वरूप एवं माहात्म्य का मनोरम वर्णन है। मृत्तिकालहरी में देश की मिट्टी का वर्णन है। 'अद्यापिलहरी' में श्लोकों की पद्यपंक्तियों 'अद्यापि' से प्रारम्भ होती हैं। 'प्रस्थानलहरी' में जीवन-यात्रा के समापन के बाद अन्तिम प्रस्थान का वर्णन किया गया है।

रसिक विहारी जोशी- 'करुणाकटाक्षलहरी' के रचयिता जोशी जी दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागीय आचार्य पद पर अनेक वर्षों तक प्रतिष्ठित रहे। अपने पिता श्री राम प्रताप को उन्होंने काव्य के आरम्भ एवं अन्त में श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है। उनके 'मोहभङ्गम्' महाकाव्य के पश्चात् इस लहरीकाव्य का प्रकाशन १६७७ ई. में भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली से हुआ। कवि की यह मान्यता है कि पूर्व काव्य की रचना से मेरी सब व्यथा नष्ट हो गई, मेरा मोहभङ्ग हो गया और कटाक्षलहरी मेरे चित्त में प्रवेश कर गई। कवि कृष्णप्रिया राधा की करुणामयी कटाक्षलहरी को विविध प्रकार के उपमानों, रूपकों और प्रतीकों में बाँधकर प्रस्तुत करता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

राधे! ते करुणाकटाक्षलहरी नीलाम्बुजस्पर्धिनी
कालिन्दी प्रतिभाति काऽपि विमला सम्पत्सुधावर्षणे।
किं वा मौक्तिककान्तिपुञ्जजयिनी सारस्वतेयी च्छटा
किं वा कैरविणीरुचां मदरिपुर्भागीरथीसन्ततिः।।

(हे राधे! तुम्हारे करुणमय कटाक्षों की तरङ्ग नीलकमल से स्पर्धा करने वाली है, वह सम्पत्ति रूपी अमृत के वर्षण में निर्मल यमुना प्रतीत होती है। अथवा क्या यह मोतियों की कान्ति के समूह को जीतने वाली सरस्वती की छटा है अथवा कैरविणियों की कान्तियों के समूह को हरने वाली गङ्गा की सन्तति है ?)

राधा की इस करुणाकटाक्षलहरी को ही कवि ने संसार-सागर से तारने वाली, विद्या, यश, वैभव, आदि की वृद्धि करने वाली, कल्पवल्ली के समान मनोरथ पूर्ण करने वाली आदि कहा है। कवि भक्तिरस से आप्लावित हो राधा के मधुर ममतामय एवं वात्सल्यमय स्वरूप के आगे नतमस्तक होना चाहता है। इस प्रकार मधुरा भक्ति की उत्तम रचना होने से यह काव्य वस्तुतः मधुर है। रसात्मकता को अलङ्कारात्मकता पुष्ट करती है। अनेक अलङ्कारों के सुन्दर प्रयोगों की छटा से यह एक मनोरम काव्य बन गया है। समस्त काव्य में प्रायः शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग है जिसका निर्वाह कवि द्वारा सुचारु रूप से किया गया है। अर्वाचीन युग में इस भक्तिमय लघुकाव्य की सर्जना कर कविवर जोशी ने संस्कृत-साहित्य की श्रीवृद्धि की है।

प्रियव्रत शर्मा-इनका जन्म १६२० ई. में बिहार में हुआ था। ये दीर्घकाल तक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के आयुर्वेदीय संस्थान में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे। इन्होंने रोगियों के लिए जैसे आयुर्वेद के विविध रसायनों का निर्माण किया, वैसे ही सहृदयों के लिए काव्य-रसायन का सर्जन किया। सर्वप्रथम इन्होंने 'श्रीमदयोध्याप्रसादचरितम्' लिखा, पुनः अपने पितृचरण के चरित को विषय बनाकर 'श्रीरामावतारचरितम्' की रचना की, जिसका प्रकाशन १६४८ ई. में हुआ। यह पांच सर्गों का काव्य है, जिसमें पहले सर्ग में भारतवर्ष का और दूसरे सर्ग में बिहार का वर्णन है। आगे के सर्गों में श्री रामावतार की अनेक विशेषताओं तथा आयुर्वेद-सम्बन्धी उपलब्धियों का विवेचन किया गया है। कविवर प्रियव्रत ने ऋतुवर्णनों पर अपनी लेखनी विशेष रूप से चलाई है। इस सन्दर्भ में उनका 'वसन्तशतकम्' नामक शतक काव्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसका प्रकाशन १६७० में हुआ। इसमें अत्यन्त सुरम्य एवं ललित भाव एवं भाषा में वसन्त का वर्णन उपस्थापित किया गया है। वसन्त के आगमन की चर्चा करता हुआ कवि कहता है-

शरानस्यन् पश्यन् दिशि दिशि मदाघूर्णितदृशा
मृषोदस्यन् पान्थान् प्रियजनवियुक्तान् विकलयन्।
उषःकाले भाले दिनकरकरामृष्टमधुरो
वसन्तोऽयं प्राप्तः कमलमुकुलानीव कलयन्।।

(बाणों को फेंकता हुआ, दिशा दिशा में मद से घूमते हुए नेत्रों से देखता हुआ, पथिकजनों को झूठे उकसाता हुआ, प्रियजनों को व्याकुल करता हुआ, प्रातःकाल के मस्तक पर सूर्य की किरणों के स्पर्श से मधुर यह वसन्त मानों कमल-कलियों को खिलाता हुआ पहुंच गया है।)

पूरे काव्य में इसी तरह की वसन्तच्छटा शिखरिणी छन्द में आबद्ध होकर प्रस्तुत है। अन्त में कवि कहता भी है-'शुभास्ते पन्थानो लसतु तव सिद्धिः शिखरिणी।'

भोलानाथ मिश्र-इनका जन्म मुजफ्फरपुर, बिहार में हुआ था। उन्होंने अनेक काव्यों का प्रणयन किया, जिनके नाम कालक्रमानुसार इस प्रकार हैं-'कालतत्त्वम्' (१६४८) 'गान्धि-गरिमा' (१६५०) 'गीतायां समता' (१६६१), 'भारतीयसर्वस्वम्' (१६८३) तथा 'इन्दिरा-काव्यम्' (१६८८)। अन्तिम काव्य का विवरण इस प्रकार है-

इन्दिरा-काव्यम्-यह काव्य प्रधानमन्त्री पद पर आरूढ़ श्रीमती इन्दिरा गान्धी के हृदय-विदारक हनन पर लिखा गया है। काव्य में स्रग्विणी छन्द का प्रयोग किया गया है। प्रत्येक पद्य 'इन्दिरा' इस शब्द से आरम्भ होता है। उनमें इन्दिरा के व्यक्तित्व एवं कार्यों का गुणानुवाद प्रभूत मात्रा में किया गया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

इन्दिरा मानवत्वं दिशन्ती स्वतो
विश्वबन्धुत्वतो विश्वशान्तिश्रिता।
सर्वतः प्रेम-पीयूष-गङ्गाजलै-
र्विश्वचेतः पुनन्ती दिवं प्रस्थिता।।

काव्य में कुल ६१ पद्य हैं। भाषा नितान्त सहज, सरल एवं सुबोध है। इन्दिरा गान्धी के इस तरह हिंसात्मक रीति से हत होकर स्वर्ग चले जाने पर कोटि-कोटि भारतीयों की तरह कवि के हृदय पर भी जो आघात हुआ उसी की अभिव्यक्ति यहां हुई है। काव्य में राष्ट्रभक्ति, कारुण्य एवं चरितस्तुति तीनों का समिश्रण हुआ है।

आनन्द झा-झा जी मूलतः नैयायिक थे। उन्होंने लम्बे समय तक लखनऊ विश्वविद्यालय के प्राच्यविद्या विभाग में अध्यापन-कार्य किया। कविवर झा प्रौढ कवित्व के धनी हैं। अनेक स्फुट पद्य-समूहों के अतिरिक्त उन्होंने 'चन्द्रावतीचरितम्' काव्य लिखा, जिसमें बिहार के बनैली स्टेट की रानी चन्द्रावती के जीवनचरित का वर्णन किया है। कवि ने पुष्पचयन, पूजाभाजन-संस्करण, महेशगीताभ्यास, यज्ञोपवीत-रचना आदि मैथिल बालिकाओं के बाल्यावस्था में किये जाने वाले संस्कारों का वर्णन किया है। काव्य में पदमधुरता, भावगम्भीरता, सालङ्कारता, श्रुतिहारिता के गुण सर्वत्र विद्यमान हैं। काव्य में १०१ पद्य हैं। कविवर झा के अनेक पाडित्यपूर्ण समस्यापूर्तिपरक पद्य लिखे हैं। उनकी विद्वन्मनस्तोषिणी शैली के दर्शन उनके दण्डक-प्रयोगों में होते हैं। सङ्गम विषय पर लिखे गए उनके दण्डक का पूर्वांश इस तरह है-(मत्तमातङ्गदण्डकम्) -

श्रीत्रिवेण्या बुधैर्दृश्यतां सङ्गमः,
श्रीत्रिवेण्या न कैः पूज्यतां सङ्गम-
स्तत् कवीन्द्रैरये वर्ण्यतां सङ्गम-
स्तत् कवीन्द्रैरये वर्ण्यतां सङ्गमः।।

श्रीकृष्ण सेमवाल - आरम्भ में दिल्ली प्रशासन के विद्यालयों में संस्कृत अध्यापक रहे और तदनन्तर दीर्घकाल तक दिल्ली संस्कृत अकादमी के सचिव पद पर प्रतिष्ठित रहे सेमवाल जी का लघुकाव्य-लेखन राष्ट्रभक्ति एवं राष्ट्रीय राजनयिकों के चरितवर्णन की ओर अधिक उन्मुख रहा है। अधिकतर काव्यों के प्रकाशन-काल की दृष्टि से सेमवालजी को नवम दशक का ही कवि कहा जा सकता है। वे अत्यन्त सरल एवं सीधी-सपाट शैली के कवि हैं। उनके काव्यों का विवरण इस प्रकार है -

इन्दिराकीर्तिशतकम् - इस लघुकाव्य का प्रकाशन वर्ष १६७६ में भारतीय भाषा संगम, नई दिल्ली से भारत की तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरागांधी के जन्मदिवस, १६ नवम्बर, १६७६ को हुआ। इस काव्य में श्रीमती गांधी के व्यक्तित्व को भारत की आशाओं, आकाङ्क्षाओं के प्रतीक रूप में देखा गया है। इन्दिरा के बाल्यजीवन से लेकर स्वतन्त्रता-आन्दोलन में भाग लेने की सारी घटनाओं, विवाह, दो पुत्रों का जन्म, पति-निधन, पितृ-निधन, मन्त्रालय-प्राप्ति तथा प्रधानमन्त्रित्व प्राप्ति आदि का ब्यौरेवार वर्णन इस काव्य में है। अलङ्कारों के सहज प्रयोग से युक्त यह काव्य एक उत्तम लघुकाव्य है।

महाप्रयाणम्-जिन इन्दिरागान्धी के यशोगान में कवि ने पूर्व काव्य लिखा था उनकी, उनके रक्षक द्वारा गोली मारकर नृशंस हत्या कर दिये जाने पर कवि ने श्रद्धाञ्जलि के रूप में 'महाप्रयाणम्' नामक काव्य लिखा जिसका प्रकाशन देववाणी परिषद्, दिल्ली से वर्ष १६८५ में हुआ। कवि ने इस काव्य में इन्दिरा गान्धी की हत्या से हुए राष्ट्रव्यापी शोक एवं हाहाकार का मार्मिक चित्र खींचा है। एक पद्य इस प्रकार है -

प्रातः प्रयाणमतुलं जनताहिताय,
गेहात् कृतं सपदि हृष्टहृदा ययाद्य।
मार्गे दुरात्मचरितैः जननी हता सा
हा भारतं विनिहतं निहतं धरायाम्।।

हिमादिपुत्राभिनन्दकाव्यम्-चरितकाव्य-परम्परा के अन्तर्गत सेमवालजी का यह काव्य भी है, जिसका प्रकाशन १६८० ई. में हुआ। इसमें उन्होंने राजनेता हेमवतीनन्दन बहुगुणा के व्यक्तित्व, कृतित्व एवं चरित्र को संस्कृत भाषा में निबद्ध किया है।

पीयूषम्-'कविरत्न' सेमवाल का यह काव्य ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली से १६८२ में प्रकाशित हुआ। यह वस्तुतः अन्योक्ति काव्य है और कवि ने इसे 'अन्योक्ति- अनुरक्ति-शक्ति-संवलितम्' कहा है। इस काव्य को कवि ने तीन भागों में विभाजित कर रचा है - प्रथम, अन्योक्तिपीयूषम्, जिसमें अन्योक्ति के माध्यम से प्राकृत वस्तुओं को लक्ष्य कर जीवन के सुख-दुःख, लाभालाभ, मानापमान, उत्थान-पतन आदि विविध पक्षों का वर्णन है। द्वितीय अनुरक्ति-प्रकरण में प्रियानुराग के विषय को लेकर उसका विकास वर्णित किया गया है। शक्ति-प्रकरण में भगवती जगदम्बा के चरणों में भक्तिपरक अभ्यर्थना वर्णित है। अन्योक्ति

के माध्यम से आज की चाटुकारिता के युग पर कटाक्ष करता हुआ कवि कहता है -

ये कुक्कुराः प्रतिदिनं परितो भवन्तं
लाङ्गूलचालनरता नितरामटन्ति।
हा तेऽधुनाऽपि भवता सुकृपावरोधे
दुष्कर्तने तव रतास्तु भवन्ति नूनम्।।

सर्वमङ्गलाशतकम्-१९८७ ई. में 'पीयूषम्' काव्य का अंश रूप यह शतक काव्य हिन्दी-अंग्रेजी अनुवाद सहित पृथक् प्रकाशित हुआ। इस प्रकार कविरत्न सेमवाल के समस्त काव्य लघुकाव्य ही हैं जो प्रायः ईश्वरभक्ति एवं देशभक्ति से सम्बन्ध रखते हैं। वे नवम दशक के प्रसिद्ध एवं सुज्ञात कवि हैं।

प्रशस्य मित्र शास्त्री-संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में नवीन रीति से हास्य एवं व्यङ्ग्य की अवतारणा करने वाले प्रशस्य मित्र शास्त्री का जन्म १९४८ ई. में हुआ। आपका कार्यक्षेत्र संस्कृत अध्यापक के रूप में फीरोजगांधी कालेज, रायबरेली, उत्तर प्रदेश है। कवि प्रशस्यमित्र ने हास्यकवि के रूप में संस्कृत-कविसम्मेलनों एवं सञ्चारमाध्यमों में विशेष लोकप्रियता प्राप्त की तथा अत्यन्त सरल-सुबोध भाषा में दैनन्दिन व्यवहार के विषयों को लेकर हास-परिहास के विषयों को उपस्थापित किया तथा समाज के विविध अङ्गों पर व्यङ्ग्य, अधिक्षेप या आघात किया। मित्र जी द्वारा लिखित सैकड़ों हास्य-व्यङ्गय की रचनाएं विविध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं, पर अब पुस्तकाकार में प्रकाशित हैं-'हास-विलासः', 'व्यङ्ग्यविलासः', तथा 'कोमलकण्टकावलिः', इन नामों से जिनमें 'व्यङ्ग्यविलासः', गद्यरचना है, शेष दो लघुकाव्य हैं।

हास-विलासः - १९८६ ई. में प्रकाशित अपने 'हास-विलासः' नामक सङ्कलन को स्वयं कवि ने 'आधुनिकतमा संस्कृत हास्य-व्यङ्ग्य रचना' कहा है। सचमुच प्रशस्य मित्र ने आधुनिक जीवन के विविध सन्दर्भों को लेकर २०१ कविताएँ लिखीं हैं जिनमें गुदगुदी एवं हँसी उत्पन्न करने की अपूर्व क्षमता है। चार, छः, आठ पंक्तियों के इस वृत्त में घूमने पर अन्त में निश्चित रूप से हँसी का फव्वारा फूट पड़ता है। जैसे विवाहानन्तर प्रथम 'निशा' में किसी व्याकरण के विद्वान् पति से नवोढा पत्नी के 'प्रथमः पुरुषश्चासि त्वमेव मम जीवने' कहने पर पति द्वारा 'मध्यमः पुरुषः कस्ते ? उत्तम पुरुषश्च कः ? यह पूछा जाना पाठक के लिए एक अच्छे मनोविनोद का विषय बन जाता है। शास्त्रीजी ने संस्कृत की अनेक पुरानी सूक्तियों का नये हास्य सन्दर्भों में बहुत अच्छा उपयोग किया है। नेता पर व्यङ्ग्य करते हुए कवि कहता है-

विद्वत्त्वञ्च नृपत्वञ्च नैव तुल्यं कदाचन।
गृहेऽपि नार्च्यते विद्वान् नेता सर्वत्र पूज्यते।।

इस प्रकार कवि ने सैकड़ों पूर्वप्रचलित सुभाषितों को तोड़-मरोड़कर अथवा उसको वर्तमान संदर्भ से जोड़कर समाज के विभिन्न वर्गों की व्यवस्था पर अथवा राजनीति के विविध पक्षों पर करारी चोट की है। इस काव्य पर उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी का विशेष पुरस्कार प्राप्त हुआ।

कोमलकण्टकावलिः- कवि प्रशस्य मित्र की यह रचना १९९० में प्रकाशित हुई। काव्य का विभाजन कण्टकों में किया गया है। प्रथम से लेकर नवम कण्टक तक नौ प्रकरणों का विषय-विभाजन इस प्रकार से किया गया है-राजनीति-प्रकरण, दाम्पत्य-प्रकरण, प्रेमिका-प्रकरण, विद्यालय-प्रकरण, न्यायालय प्रकरण, आपण-प्रकरण, माणवक -प्रकरण, यात्रा-प्रकरण एवं विप्रकीर्ण प्रकरण। मनुष्य के सामाजिक जीवन के इन विविध प्रकरणों में विभिन्न रूपों में कवि ने हास्य के विविध प्रसङ्ग उपस्थापित किये हैं। पर इससे भी अधिक तीव्रतर है कवि का व्यङ्ग्य-प्रयोग, जिससे वह समाज के दूषित पक्षों पर प्रहार करता है। पहली ही कविता 'सत्यमेव जयते' में कवि ने आज की खोखली, आडम्बरपूर्ण एवं मिथ्याचारमयी राजनीति का पर्दाफाश किया है। किस तरह झूठ की नींव पर यह राजनीति का भवन खड़ा है जिसमें आचार-संहिता का नितान्त अभाव है। इसका वर्णन करते हुए 'द्वौ करौ मन्त्रिणामिमौ' शीर्षक के अन्तर्गत कवि कहता है-

जनानां तु यथाऽन्येषां द्वौ करौ भवतस्तथा,
मन्त्रिणामपि वर्तेते द्वौ करौ भारते परम्।
करेणैकेन रक्षन्ति निजकुर्सीं प्रयत्नतः,
परेषां कम्पयन्ते च कुर्सीम् अन्यकरेण ते।।

प्राचीन संस्कृत-साहित्य में हास्य का जो अभाव मिलता है, अर्वाचीन साहित्य के इन कवियों ने उस अभाव को अब पर्याप्त मात्रा में दूर कर दिया है और हास्य के साथ-साथ व्यङ्ग्य और अधिक्षेप को अत्यधिक अपना लिया है। कविवर प्रशस्य मित्र के काव्य-सर्जन ने इस हास्य-व्यङ्ग्य विधा को इस दशक में साहित्य में पूर्ण प्रतिष्ठित पद दिलवाया है। इस विधा का उन्नयन बीसवीं शती के नवम दशक के संस्कृत-साहित्य की एक उपलब्धि है।

हरिनारायण दीक्षित- दीक्षित जी का जन्म १९३६ में उत्तर प्रदेश के जालौन जनपद में हुआ था। उनका कर्मक्षेत्र नैनीताल रहा और कुमायूँ विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में वे अध्यापक एवं आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे। उन्होंने कई विधाओं में काव्य लिखे, जिनमें 'भीष्मचरितम्' महाकाव्य पर साहित्य अकादेमी का पुरस्कार प्राप्त हुआ। 'श्रीहनुमद्दूतम्' दीक्षित जी का १९८७ में प्रकाशित सन्देशकाव्य है, जिसमें लङ्कापुरी में राक्षसराज रावण द्वारा बन्दी बनाई गई सीता का हनुमान जैसे निपुण दूत द्वारा राम को प्रेषित किये जाने वाले सन्देश का वर्णन है। सीता की खोज कर, अनेक राक्षसों का संहार कर, लङ्का को जलकर जब हनुमान राम के पास लौटने लगते हैं तो सीता उन्हें अपना विरह सन्देश देती हैं। वे विरह कातर हो राम से बार-बार अपने को इन राक्षसों के जाल से शीघ्र मुक्त कराने

की प्रार्थना करती हैं। सीता की चिन्तार्द्रता एवं विह्वलता इस पद्य में व्यञ्जित है-

त्वं मे प्राणास्त्वमसि दयितस्त्वं सखा त्वञ्च स्वामी
त्वं मे भर्ता हृदयरमणो जीवनाधारहेतुः।
स्वीयां जायां विपदि पतितां मोचयागच्छ शीघ्रं
ध्यायं ध्यायं तव बलमहं साम्प्रतं जीविताऽस्मि।।

विरह के प्रसङ्ग में कवि ने कुछ भावमयी सूक्तियों का भी सर्जन किया है, जैसे

आशा नूनं कथमपि पते ! प्रेयसीनां विदेशे
पत्यौ दूरे विरहविधुरं प्राणवायुं बिभर्ति।

सीता राम को संयोगकाल में अनुभूत सारे सुखों का स्मरण कराती हैं जो इस समय विरह में कष्ट दे रहे हैं। अन्य दूतकाव्यों की तरह यह काव्य भी मन्दाक्रान्ता वृत्त में लिखा गया है। काव्य में भाव-सौरभ और शिल्प-सौन्दर्य का मञ्जुल समन्वय है। कुल मिलाकर यह एक लघुकाव्य है।

इच्छाराम द्विवेदी-द्विवेदी जी एकरसानन्द केन्द्रीय संस्कृत विद्यालय, मैनपुरी में प्राधापक हैं। वे मूलतः गीतकार हैं और उनके गीतों का संङ्कलन 'गीतमन्दाकिनी' प्रकाशित भी हो गया है। लघुकाव्य के रूप में उनके दो दूतकाव्य प्रकाशित हुए हैं जिनका विवेचन इस प्रकार है।

दूतप्रतिवचनम्-यह काव्य १९८६ ई. में देववाणी परिषद, दिल्ली से प्रकाशित हुआ। आधुनिक कवि इच्छाराम द्विवेदी 'प्रणव' मेघदूत के अनुकरण पर लिखे गए इस काव्य में अलकापुरी से रामगिरि वापस लौट आए मेघ से आधुनिक युग का दुरवस्थापूर्ण वृत्तान्त सुनवाते हैं। यह वृत्तान्त तथ्यपूर्ण तो है, पर इसमें हास्य-व्यङ्ग्य का पुट पूरी तरह विद्यमान है। कवि ने इसे स्वयं व्यङ्ग्य काव्य कहा है। जिन वस्तुओं एवं व्यक्तियों को मेघदूत का मेघ देखता है यहाँ भी उनका नाम है, पर उनका स्वरूप पूरी तरह बदल गया है। अब भारतवर्ष वैसा सुरम्य एवं सुवृत्त देश नहीं रह गया है। अब वहाँ धर्म परम्परा छिन्न-भिन्न हो गई है। अब वहाँ यक्षिणी का वह स्वरूप नहीं दिखाई दे रहा है। अब वह किस तरह की आधुनिका हो गई है इसका वर्णन करते हुए कवि कहता है-

तन्वी श्यामा शिखरिदशना यक्षिणी या त्वदीया
टी. वी. मध्ये चपलनयना तारिका दृश्यते सा।
कान्ते स्वाङ्गे विमलबटिकं फेनिलं लिम्पमाना
स्नान्त्युन्मुक्ता भवति विविधक्रय्यवस्तुप्रचारे।।

देश के विविध स्थानों में व्याप्त प्रदूषण, समाज एवं राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार,

चारित्रिक पतन एवं आधुनिकता की अन्धी दौड़ आदि का कवि ने पर्याप्त वर्णन किया है। उन्होंने अनेक शब्दावलियाँ पक्तियाँ एवं पाद ज्यों की त्यों मेघदूत से ग्रहण किये हैं।

मित्रदूतम्-'दूतप्रतिवचनम्' के बाद कविवर 'प्रणव' ने 'मित्रदूतम्' नामक दूतकाव्य लिखा। इसमें मैनपुरी निवासी कवि इच्छाराम ने ज्येष्ठ मास की धूप से सन्तप्त होकर हिमालय की यात्रा करने का विचार किया। यात्रा समाप्त होने पर उसने दिल्ली में वाणीविहार स्थान रहने वाले अपने प्रिय मित्र रमाकान्त शुक्ल को यह पत्र लिखा और इसी पत्र को मित्रदूत दूत के रूप में भेजा। जून, १९९० में यमुनोत्री, गंगोत्री, केदारनाथ, बदरीनाथ की इस यात्रा को सपत्नीक सानन्द सम्पन्न करने वाले कविवर 'प्रणव' भावप्रवण हो उसका वर्णन करते हैं। इस यात्रा का मार्ग मेरठ, हरिद्वार मसूरी, नौगाँव, बडकोट, हनुमानचट्टी, नारदचट्टी, जानकीचट्टी, मसूरी, ब्रह्मखाल, धयसू, उत्तरकाशी, टिहरी, श्रीनगर, रूद्रप्रयाग, तिलवाड़ा, अगस्त्यभूमि, गुप्तकाशी, सोनप्रयाग, गौरकुण्ड, रामबाड़ा, केदारनाथ, आदि शंकर की समाधि, गौरीकुण्ड, चमोली, पीपलकोटि, जोशीमठ, विष्णु प्रयाग, बदरीनारायण धाम है। इन सब स्थानों की प्राकृतिक रमणीयता के वर्णन के साथ उनके सांस्कृतिक-धार्मिक महत्त्व का भी आकलन कवि ने किया है। त्रिलोकीनाथ के मन्दिर में जाकर कवि ने इस काव्य को समर्पित करने की बात कही है।

बन्धो ! गत्वा त्रिभुवनपतेर्मन्दिरे त्वं प्रयाणे
नम्रैश्शब्दैर्मम जडमतेर्वन्दनं संवदस्व।
इच्छारामो द्विजकुलगतो देव ते पादपद्मे
यात्रावृत्तं झटिति रचितं प्रैषयन् मित्रदूतम्।।

अन्य दूतकाव्यों की तरह यह भी मन्दाक्रान्तावृत्त में लिखा दूतकाव्य है, पर इसका विषय कान्ताविषयिणी रति एवं तज्जन्य वियोग नहीं है, अपितु भगवद्विषयिणी रति एवं तद्विषयिणी भक्ति है। इस दृष्टि से सामान्य दूत काव्य-परम्परा से यह विशिष्ट है। अनेक धामों के वर्णन से युक्त यह काव्य भारत की धर्मप्राण जनता का कण्ठहार है, साथ ही संस्कृत-लघुकाव्यमाला का हीरक हार भी।

कृपाराम त्रिपाठी-कृपाराम त्रिपाठी 'अभिराम' का जन्म उत्तर प्रदेश के गोंडा जनपद में हुआ था और वे बलरामपुर स्थित महारानी लालकुँवरि महाविद्यालय में संस्कृत के अध्यापक रहे। उनके दो लघुकाव्य प्राप्त होते हैं-

तरङ्गदूतम्-यह भी दूतकाव्य-परम्परा का एक सुन्दर काव्यरत्न है जिसमें समुद्र की तरङ्ग को दूत बनाया गया है। इस काव्य की नायिका 'कला' लंका के राजा विभीषण की कन्या है तथा नायक 'विमन्यु' अविन्ध्य का कल्पित पुत्र है। नायक रावणारि श्रीराम की आज्ञा से समुद्र के पार सेतुबन्ध पर रामेश्वरम् में प्रवास कर रहा था। वह शिव के आराधन में तल्लीन था, तथापि वह अपनी प्रियतमा से दूर रहकर हृदय में बार-बार उसकी याद

करता था। इस काव्य में विरह की अवधि सोलह महीने हो जाती है। इस तरह एक वर्ष बीतने के बाद चार माह शेष रह जाने पर अत्यन्त विरहविकल हो नायिका नायक को समुद्र की तरङ्गों द्वारा सन्देश भेजती है। विरह विधुरा कला अपने विरहविह्ल प्रिय की दशा का मार्मिक चित्रण करती हुई कहती है-

तत्रैकस्मिन् मम सहचरस्तीरमासाद्य काले
पश्यन्नूर्मीः पुलकिततनुर्दर्शनीयस्त्वयैकः।
यस्त्वां दृष्ट्वा सजलनयनो निर्निमेषो महात्मा
किञ्चिद् ध्यायत्यविचलमनास्तं विजानीहि कान्तम्।।

(वहाँ एक समय समुद्र तट पर पहुँचकर तरङ्गों को देखते हुए, पुलकित शरीर वाले मेरे सहचर को तुम देखोगे, जो तुम्हें देखकर अश्रुपूर्ण नेत्रों वाला, अपलक होकर जो महात्मा कुछ ध्यान निश्चल मन होकर करे, उसे ही मेरा प्रियतम समझना।)

नायिका द्वारा लहर से सन्देश ले जाने का निवेदन, समुद्र-तट का प्राकृतिक चित्रण तथा लहर का समग्र वर्णन अत्यन्त सुन्दर है। काव्य में एक ओर भारत की प्राकृतिक सुषमा का वर्णन है तो दूसरी ओर दूतकाव्य की भावतरलता एवं स्निग्धता विद्यमान है। १६८८ में प्रकाशित यह काव्य उ. प्र. संस्कृत अकादमी द्वारा पुरस्कृत है।

कुटजकुसुमाञ्जलिः - अभिराम के द्वितीय काव्य 'कुटजकुसुमाञ्जलिः' का प्रकाशन १६६१ ई. में हुआ। 'कुटज' इस नाम की कल्पना सम्भवतः कवि को मेघदूत के पद्य ' स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः' से हुई। काव्य में तीन सौ श्लोक हैं। यह १८ स्तबकों में विभाजित है। काव्य में विषयवैविध्य भी है और छन्दोवैविध्य भी। राष्ट्रिय एकता, नारियों का महनीय स्वरूप, देववाणी की गरिमा, श्रमशोषण की निन्दा, ऋतुवर्णन, साम्प्रदायिक एकता, विश्वबन्धुत्व, सुजन-दुर्जन, प्रकृति-विवेचन, आत्मनिरीक्षण, स्वदोषदर्शन, अयोध्यामहिमा, आतङ्कवाद, पृथक्तावाद, हिंसा, आघात-प्रतिघात, राष्ट्रद्रोह, वधूदहन, ऋतुवर्णन, आधुनिक भारत दशा वर्णन आदि विषय इनमें संगृहीत हैं। भाषा लालित्यपूर्ण एवं अलंकारमयी है। अन्योक्तिमय वसन्त-वर्णन प्रसङ्ग द्रष्टव्य है-

आयातः कुसुमाकरस्त्विति मनस्याधाय न स्थीयते
खिन्नैः पर्णविहीनशाखिभिरपि स्थाणुत्वशेषैर्ननु।
चन्द्रोऽसौ सुरपीतषोडशकलः पूर्णत्वलाभाशया
क्षीणः सन्नपि नाम्बरेऽभ्युदयति व्यर्थं जनो रोदिति।।

आधुनिक भारत की राष्ट्रिय एकता के सन्दर्भ में भी कवि ने पद्य लिखे हैं। इस प्रकार कविवर कृपाराम भी इस शताब्दी के नवें दशक की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं जिनके दो लघुकाव्य अपने उत्कृष्ट काव्यगुणों से उन्हें उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करते हैं। उनकी रचनाएँ वस्तुतः अभिराम हैं।

मधुसूदन मिश्र-मिश्र जी राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली में उपनिदेशक पद पर प्रतिष्ठित रहे हैं। उनके दो काव्य प्राप्त होते हैं-'स्वेतम्' और 'श्रीहनुमत्स्तोत्रम्'। तीसरा काव्य 'प्रबुद्धराष्ट्रम्' भी प्रकाशित है।

स्वेतम्-यह काव्य तारा प्रकाशन, दिल्ली से १६८६ में प्रकाशित हुआ। यह छः सर्गों में निबद्ध काव्य है। अतः इसे एक दृष्टि से महाकाव्य कहा जा सकता है, परन्तु न तो कवि ने इसे कही महाकाव्य संज्ञा दी है, और न इसमें कथावस्तु आदि की दृष्टि से महाकाव्य के वैशिष्ट्य हैं। कवि ने काव्य के प्रथम सर्ग से पूर्व 'पूर्वकथा' द्वारा संक्षेप में इस रचना का प्रयोजन बताया है कि इस काव्य में आत्मचरित वर्णित करने को उद्यत हुआ हूँ। प्रथम सर्ग से ही कवि जीवन के कुछ कटु अनुभवों का वर्णन करता है। अपने-पराये की कटु अनुभूतियों का वर्णन करता हुआ वह कहता है-

स्वजनैरपमानितः क्वचित्परकीयैश्च समाहतोऽन्यतः।
स्वपरेतिपदद्वयं गतं पदवाच्यार्थविहीनतां शनैः।।

इसके अतिरिक्त कवि ने अपने जर्मनी आदि देशों के भ्रमण के अनुभवों को उपन्यस्त किया है। प्रकृति-वर्णन को भी कवि ने पर्याप्त स्थान दिया है। वर्णनानुसार छः सर्गों के नाम है- शिशिरर्तुप्रभातम्, वसन्तारम्भः, वसन्तपूर्वाह्णः, निदाघमध्याह्नः, वर्षतुः तथा शरदपराह्णः।

हनुमत्स्तोत्रम् - १६६० में प्रकाशित यह लघुकाव्य शिखरिणी छन्द में निबद्ध एक भक्तिपूर्ण काव्य है। कवि अनेक प्रकार से हनुमान के विविध रूपों का वर्णन करता है, उनकी स्तुति करता है, और उनके प्रति अपना समर्पण-भाव व्यक्त करता है। 'हनूमन् भक्तानामभयद महावीर वरद' इस चतुर्थ चरण के साथ कवि ने कई श्लोक निबद्ध किए हैं।

श्यामानन्द झा - ये जे. बी. एम. संस्कृत कालेज, बम्बई में प्रधानाध्यापक रहे। इनके दो लघुकाव्य प्राप्त होते हैं।

मधुवीथी-यह समस्त पद्यकाव्य सुन्दर अन्योक्तियों का सङ्कलन है। अन्योक्तियों में भाव एवं भाषा की दृष्टि से पण्डितराज जगन्नाथ की कविता का अनुकरण है। कविता को सम्बोधित एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

कोकिलतां काकोले वालेये चेत्तुरङ्गतां कोले।
मदकलतां किल कलयति सकलः कविते ! न ते कालः।।

वायु को सम्बोधित एक अन्य अन्योक्ति द्रष्टव्य है-

दित्सति जलद-वदान्यश्चातकवृद्धोऽभिशंसते वृद्धिम्।
मध्ये समीर ! किं रे प्रत्यूहं प्रत्यहं तनुषे।।

काव्य में १८८ पद्य हैं, आर्या छन्द का प्रयोग सर्वाधिक है।

कर्णिका-इस पद्यकाव्य में १४२ पद्य हैं। इस काव्य में भी प्रकृति के विविध उपादानों को लेकर कवि ने सुन्दर अन्योक्तियों की रचना की है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

काकस्य शुष्कं कलमाकलय्य
किं कोकिल ! त्वं किल हा जहास।
मातापि तत्याज यदा तदानी-
मपालयत्त्वामयमेक एव।।

सर्वत्र भाषा में माधुर्य है, शैली में सौकुमार्य है। 'श्यामानन्दरचनावलिः' (डॉ. किशोरनाथ झा द्वारा सम्पादित) पठनीय है।

पी.सी. तासुदेवन् इलयत-केरल की संस्कृत-काव्य-परम्परा की अन्यतम कड़ी हैं। इनका 'भक्तितरङ्गिणी' काव्य, जिसे कवि ने 'लघुकाव्यसमुच्चयः' नाम दिया है, केरल संस्कृत अकादमी, त्रिचूर से १९८७ में प्रकाशित हुआ है। इसमें विभिन्न अवसरों पर कवि द्वारा लिखे गए भक्तिमय पद्यों का सङ्कलन है। अनेक स्थलों पर पद्य गीतात्मक हैं तथा भक्ति की तन्मयता में वृद्धि करने के कारण सङ्गीतात्मक हैं। आरम्भ में ही कवि ने 'गुरूवायुपुरेशसुप्रभातम्' लिखकर स्थानीय देव की स्तुति प्रस्तुत की है। गुरुवायुपुरेश्वर पर कवि ने सुन्दर दण्डक भी लिखे हैं जिनमें प्रवाहमयी तथा स्तरीय भाषा का प्रयोग हुआ है। इक्कीस तरङ्गों में कवि ने यथास्थान भक्ति के विविध रूपों को दर्शाया है। अनेक पद्यों एवं गीतों मे कृष्ण लीला के विविध प्रसङ्ग उपस्थित किये गये हैं। 'नवनीतकृष्णस्तवः' में कवि श्रीकृष्णभक्ति पर लिखते हुए कहता है-

पिच्छाञ्चलाञ्चितमणीमुकुटाभिरामं लोलालकान्तललितालिकसन्निवेशम्।
चिल्लीलतामृदुविलासविशेषरम्यम् कारुण्यवर्षिनयनान्तमुपाश्रये त्वाम्।।

(मोरपंख के खण्ड से युक्त मणिमय मुकुट से सुन्दर लगने वाले, चञ्चल घुँघराले बालों से सुशोभित मस्तक प्रदेश वाले, चिल्लीलता के कोमल विलासों से विशेष सुन्दर, करुणा बरसाने वाले कटाक्ष से युक्त भगवन् कृष्ण ! मैं तुम्हारा आश्रय लेता हूँ।)

भक्ति के मधुर प्रसङ्गों के कारण भाषा में भी माधुर्य आ गया है। मधुरता के साथ किया गया यह पदसंयोजन दर्शनीय है-

अरुणकोमलं तरुणसुन्दरं करुणयाकुलं वरुणपूजितम्।
तरणितेजसं मरणमोचकं शरणमाश्रये शबरिकेश्वरम्।।

इस प्रकार 'भक्तितरङ्गिणी भक्तिपरक पद्यों का एक सुन्दर सङ्कलन है।

निष्ठल सुब्रह्मण्य-श्री निष्ठल सुब्रह्मण्य शर्मा का जन्म १९२० ई. में हुआ था।

उनका भक्तिपूर्ण लघुकाव्य 'चैतन्यनन्दनम्' १९८१ ई. में कवि की मृत्यु के उपरान्त प्रकाशित हुआ। चैतन्य का अर्थ है ब्रह्म। 'सगुणं ब्रह्म नन्दयतीति चैतन्यनन्दनम्' कविकृत इस विग्रह से ग्रन्थ के नाम का अर्थ स्पष्ट होता है। इस काव्य में विविध देवताओं की स्तुतियाँ प्रस्तुत की गई हैं। काव्य को 'स्वर्णधारास्तुतिः', 'तारुण्यतटिनी', 'हरिरसायनम्', 'श्रीकण्ठशतकम्', 'श्रीशक्तिनुतिः' आदि शीर्षकों में विभाजित किया गया है। कतिपय शीर्षकों के अन्तर्गत श्लोकसंख्या अत्यल्प है। सभी पद्य भावगर्भित, भक्तिप्लावित एवं वैराग्यजनक हैं। आरम्भ में कवि ने देवी, कुमार तथा गणेश के स्तोत्र प्रस्तुत किये हैं। 'तारुण्यतटिनी' में भक्तिभावानुकूल छन्द शिखरिणी का सुन्दर प्रयोग किया गया है। स्तुतियों के मध्य अनेक शब्दार्थलङ्कारों एवं चित्रालङ्कारों का सुन्दर प्रयोग मिलता है। व्याकरणसिद्ध शब्दों का यह प्रयोग द्रष्टव्य है-

सुध्युपास्यः कथं चाहं भवेयं मध्वरे प्रभो।
धात्रंशं च त्वमादाय संख्यावन्तं सृजाच्युत।।

(हे मधुदैत्य के शत्रु प्रभो ! मैं विद्वानों द्वारा उपसनायोग्य कैसे हो सकता हूँ हे विष्णो ! आप ब्रह्मा का अंश लेकर विद्वान की सर्जना करें।)

एक ओर महाभारतीय कथा पर आश्रित यह प्रयोग द्रष्टव्य है-

शरीरे विरटावासे पञ्चप्राणैश्च पाण्डवैः।
द्रौपद्या प्रज्ञया युक्ताश्चन्त्यज्ञातवत्सरम्।।

'नीरजा' शब्द का यह अलङ्कारमय प्रयोग कितना मनोरम है-

मधुकरकुलशोभितनीरजा, तुजतु च सुगुणामति नीरजा।
मुनिवरवरदा भुवि नीरजा, कुवलयनयना जननीरजा।।

इस प्रकार अलङ्कृत भाषा द्वारा अनेक देवी-देवताओं की भक्तिमयी स्तुतियाँ प्रस्तुत कर कवि निष्ठल ने इस लघु स्तोत्र काव्य की रचना की है।

हरिकान्त झा-'जम्बू-कश्मीर-सुषमा-रत्नम्' के रचयिता हरिकान्त झा बिहार के मधुबनी जनपद में स्थित जनकनन्दिनी संस्कृत महाविद्यालय में अध्यापक रहे हैं। अपनी जम्मू-कश्मीर प्रदेश की यात्रा को कवि ने लेखनी का विषय बनाकर उसे अमरत्व प्रदान किया है। कवि ने हिमालय की गोद में बसे जम्मू-कश्मीर प्रदेश का एक ओर तो प्राकृतिक वर्णन किया है, दूसरी ओर पौराणिक आख्यान प्रस्तुत कर उसके पुरातन स्वरूप का भी दर्शन कराया है। जम्बूतवी के रूप में इस प्रदेश की उत्पत्ति पर प्रकाश डालकर कवि ने इसके इतिहास का अन्वेषण किया है। इस काव्य में जम्बू-कश्मीर का इतिवृत्त, आकाशवाणी, महामुनिकश्यप-सङ्कल्प, जलासुर-वध, कश्मीर नामोत्पत्ति कश्मीर-सुषमा, आदि विषय १८ 'श्री' नामक विभाजनों में विभक्त हैं। काव्यारम्भ में कश्मीर का वर्णन करते हुए कवि कहता है-

जम्बू-कश्मीरघाटी तुहिनगिरितटी दिव्यचीनार-वाटी
पाटीरामोदशाटी सुरनगर-नटी-सेविता भूमिलक्ष्मीः।
सानन्दं नन्दयन्ती जगदिदमखिलं भूषयन्ती नगेन्द्रम्
तीव्रध्वान्तान्धकान्ते त्रिनयनसमरे प्राप्तशक्तिर्विभातु।।

(जम्मू-कश्मीर की घाटी हिमालय की तटवर्तिनी, दिव्य चिनार वृक्षों की वाटिका वाली, गुलाबों की सुगन्धित साड़ी वाली, स्वर्ग की अप्सराओं से सेवित, भूमि की लक्ष्मीरूप है। वह इस समस्त जगत् को सानन्द हर्षित करती हुई, हिमालय को सुशोभित करती हुई, तीव्र अन्धकाररूप अन्धकासुर का नाश करने वाले शङ्कर-सम्बन्धी युद्ध में शक्ति प्राप्त कर सुशोभित हो।) छन्द एवं अलङ्कार के सौन्दर्य से युक्त हिमालय की सुषमा का यह वर्णन दर्शनीय है-

तुहिन-सुन्दर-सानु-सुशोभितः सुरसरिद्वरवारिविभूषितः।
नभसि शम्भुतपोधवलीकृतः शिवनगो हिमवानिव शोभते।।

इस प्रदेश के हिमालय पर्वत, अमरनाथ गुहा, मन्दिर, नद-नदी, नगर आदि की प्राकृतिक सुषमा के वर्णन के साथ कवि ने यहाँ के राजाओं, कवियों, विद्वानों आदि का भी पर्याप्त वर्णन किया है। और उसे कवियों की क्रीडा भूमि,मुनियों की कर्मभूमि, बुधों की विद्याभूमि, एवं नरों की रत्नभूमि कहा है। वस्तुतः कश्मीर की सुषमा का मनोरम चित्र प्रस्तुत करने वाला यह एक मनोरम काव्य है।

कालिका प्रसाद शुक्ल - श्री शुक्ल उत्तर प्रदेश के देवरिया जनपद के निवासी तथा सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी में व्याकरण विभाग के अध्यक्ष थे। उनका 'भास्करभावभानवः' काव्य जिसको उन्होंने 'सूर्यशतकम्' नाम भी दिया है, कवि के उल्लेखानुसार विक्रम संवत्सर २०३० में पूरा हुआ। इसका प्रकाशन 'सुधी' गन्थमाला के चतुर्थ पुष्प के रूप में १६८३ में हुआ। कवि ने इस काव्य में सूर्योपासना को आधार मानकर सूर्य की महत्ता ख्यापित करने वाले १०८ श्लोकों की रचना की है। इस शतक के माध्यम से यहाँ सूर्य की उपासना की गई है। समस्त शतक शिखरिणी छन्द में रचित है। सूर्य की भक्तिपूर्वक स्तुति करता हुआ कवि कहता है-

तमो भिन्दन् पादैरुदयगिरिगर्वं विदलयन्
दिशः प्राच्या वामं वदनविधुमालं पिशुनयन्।
द्विजालीनामर्घ्यं कमलदलगन्धं सफलयन्
धरां धाम्ना सिञ्चन् विमलकरभानुर्विजयते।।

(अपनी किरणों से अन्धकार को नष्ट करता हुआ, उदयाचल के गर्व को खण्डित करता हुआ, पूर्वदिशा के सुन्दर मुखचन्द्र से युक्त मस्तक को सूचित करता हुआ,

द्विजसमूहों के अर्ध्य और कमल दलों की गन्ध को सफल बनाता हुआ, धरती को तेज से सींचता हुआ निर्मल किरणों वाला सूर्य सर्वोत्कृष्ट है।)

कवि ने सालङ्कार सुन्दर शैली का प्रयोग करते हुए एक ओर सूर्य का मनोरम प्राकृतिक वर्णन किया है तो दूसरी ओर असकी महिमा और गरिमा का गान किया है। सूर्य की पौराणिक महत्ता पर भी प्रकाश डाला गया है। वस्तुतः सूर्य को कवि ने व्याधियों का नाशक, मुक्ति का दायक तथा पापों का शामक माना है। अन्त में कवि कहता है कि हे सूर्य ! इस शतक में तुम्हारे अनुपम गुणों का कीर्तन है। यह शुद्ध भक्ति से लिखा गया है। यह शतक इस प्रकार भगवान् सूर्य को समर्पित एक स्तोत्र काव्य है।

अखण्डानन्द सरस्वती-पूर्वाश्रम के शान्तनुबिहारी द्विवेदी ब्रह्मलीन स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज श्रीमद्भागवत के अन्यतम प्रवक्ता के रूप में जाने जाते रहे हैं। उनका हनुमत्स्तोत्र आनन्दकानन प्रेस, वाराणसी से १९८८ में द्वितीय बार प्रकाश में आया। कहते हैं कि स्वामी जी ने हनुमान् जी के विग्रह में साक्षात् परा विद्या का दर्शन किया। पं. विद्यानिवास मिश्र के शब्दों में यह स्तोत्र साधना की दृष्टि से तो सिद्ध है ही, काव्य योजना की दृष्टि से भी अपूर्व है। जब वे मारुति की आरती करने की बात सोचते हैं तो वे देह को दीया, जीवन को तेल, प्राणों की बाती, जीवात्मा को ज्योति, वाणी मात्र को घण्टे की ध्वनि और चपलता मात्र को नृत्य के रूप में परिवर्तित करके स्व को ही आरती बना देते हैं।

देहः पात्रं जीवनं स्नेहधारा वर्तिः प्राणा ज्योतिरात्मैष जीवः।
वाचो ध्वानं चापलं नृत्यमित्थं स्वारार्तिक्यं मारुतेश्चिन्तयेऽहम्।।

कहते हैं कि "इससे ऊंची कविता और क्या होगी ?" वस्तुतः, पं. रामावतार शर्मा द्वारा रचित 'मारुतिशतक' के बाद आधुनिक संस्कृत के स्तोत्र साहित्य को गौरवान्वित करने वाली यह दूसरी कृति है। इसका प्रथम संस्करण वि.सं. २०११ में कानपुर से प्रकाशित हुआ था।

विन्ध्येश्वरी प्रसाद मिश्र 'विनय'-(जन्म १९५६ ई.) मिश्र जी पहले सागर विश्वविद्यालय, सागर और अब विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन में संस्कृत-प्राध्यापक हैं। उनकी स्फुटरूप से रचित अनेक रचनाएँ 'दूर्वा', 'सागरिका' आदि संस्कृत-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। उनका एक कविता-संग्रह 'सारस्वत-समुन्मेषः' नाम से १९८५ ई. में देववाणी परिषद, दिल्ली द्वारा प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में रचनाओं का विभाजन 'गीतवल्लरी' और 'श्लोकमञ्जरी' इन दो भागों में किया गया है। गीतवल्लरी में तो कवि के चौदह गीत सङ्कलित हैं। श्लोकमञ्जरी में आरम्भ में कवि ने कुछ देवताओं की स्तुति में पद्य लिखे हैं। कवि ने एक ओर भाव और दूसरी ओर प्रकृति, दोनों को संवेदना के स्तर पर जोड़ा है। 'पिकपञ्चदशी' में पन्द्रह मन्दाक्रान्ताओं में विरहिणी गोपी द्वारा कोकिल के प्रति उद्गार व्यक्त किये गए हैं। कवि व्रज की होली आदि का वर्णन तो करता ही है, साथ ही व्रज के

सवैया घनाक्षरी आदि छन्दों का प्रयोग मनोरम रीति से करता है, जैसे शरद्वर्णन-परक यह सवैया छन्द का प्रयोग कितना मनोरम है !

यमुनावटमञ्जुनिकुञ्जघने घनसाररसावलिते विपिने
विपिने नवनीरजगन्धयुते युतपङ्कजकोषमिलिन्दजने।
जनमानस-मानिनिमानमुदे मुदिताधरपानपुटे कमने
कमने ननु रासरसे सुविभाति शरत् सखि ! नैशसरत्पवने।।

(यमुना के तट पर स्थित वट के घने कुञ्ज में, कपूर के रस से युक्त, नये कमलों की सुगन्ध से व्याप्त, कमल के कोष में बन्द भ्रमरसमूहों वाले वन में लोगों के मन एवं मानिनियों के मान को खोलने वाले, हर्षित होकर अधरसम्पुट के पान से युक्त कामदेव के होने पर कमनीय रासरस में एवं रात्रिकालीन बहते हुए पवन में यह शरद ऋतु सुशोभित हो रही है।)

यहाँ यमक एवं अन्त्यानुप्रास की छटा ह्लादक है। कवि ने संस्कृत में दोहा छन्द का भी प्रयोग किया है। आर्या छन्द में सारिकाविषयिणी यह अन्योक्ति कितनी हृद्य है-

श्यामे कटूक्तिकुशले वामे तव नाम सारिकेति वृथा।
भ्रमसि पलाशपलाशे निःसारे सारकामनया।।

कविवर मिश्र की कविताओं में आधुनिक समाज पर तीखे व्यङ्ग्य भी प्राप्त होते हैं। सचमुच ये आधुनिक संस्कृत काव्य के प्रतिनिधि-कवि हैं।

गुरुप्रसन्न भट्टाचार्य-महोपाध्याय श्री गुरुप्रसन्न भट्टाचार्य, वेदान्तशास्त्री द्वारा रचित 'माथुरम्' लघुकाव्य १६३३ ई. में प्रकाशित हुआ। इसके पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दो भाग हैं। यह कृष्ण की मथुरा भक्ति को विषय बनाकर लिखा गया काव्य है। समस्त काव्य में मन्दाक्रान्ता वृत्त है। कृष्ण के व्रज छोड़कर मथुरा चले जाने पर गोपियों का यह कथन द्रष्टव्य है-

लब्ध्वा प्रेम्णा भुवनसुभगं दुर्लभं वासुदेवं
गर्वोऽस्माकं किमु परिभवोदर्क एवाद्य चूर्णः।
नो चेत् सोऽयं प्रणयरसिको गोपिकावल्लभोऽपि
त्यक्त्वा गोपीः क्षणमपि कथं निष्ठुरोऽन्यत्र वास्ते।।

१२० पद्यों के इस काव्य में राधा को कृष्ण की शक्ति माना गया है और दार्शनिक भावभूमि पर कृष्णभक्ति की व्याख्या हुई है।

हरिपददत्त सांख्यवेदान्ततीर्थ – श्री हरिपददत्त पश्चिमी बंगाल के निवासी थे। उनकी लघुकाव्यकृति 'कवितावली' १६७० ई. में प्रकाशित हुई। यह पाँच भागों में विभाजित है –

ऊर्म्मिः, वर्षाशतकम्, लिपिः, कूहा तथा सम्पुटम्। कवि आरम्भ में ही कह देता है कि उसके भाव भी नवीन हैं रीति भी नवीन है। 'ऊर्म्मिः' अंश से एक पद्य उद्धृत है -

विजने वसतो मनसि मे भाति
गतं किमिव किमिव वा लब्धम्।
प्राप्तुं किमिव चाद्यावशिष्यते
स्थितं किमपि जीविते शून्यम्।।

(निर्जन स्थान में रहते हुए मेरे मन में यह प्रतीति होती है कि हमने क्या खोया और क्या पाया, और अब क्या प्राप्त करना शेष रह गया है। अब जीवन में कुछ शून्य बचा है।)

दीपक घोष-'राजनीतिलीलाशताधिकम्' के रचयिता दीपक घोष पश्चिम बङ्गाल के सुकवि हैं। आपका यह काव्य पहले 'अर्वाचीनसंस्कृतम्' दिल्ली से प्रकाशित हुआ, बाद में स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में। आधुनिक युग में प्रचलित राजनीति के कलुषित रूप को कवि ने तीखेपन के साथ उपन्यस्त किया है। कवि आरम्भ से ही अमित कीर्ति और अनन्त शक्ति वाली राजनीति को प्रणाम करता है -

भो राजनीते ! प्रणमाम्यहं त्वां
पुनः पुनस्ते पदयोः प्रणामः।
अनन्तकीर्तीरमिताश्च शक्तीः
शक्नोमि मातुं न तव क्षमस्व।।

यह राजनीति अत्यन्त विचित्र है। कवि राजनीति पर तीखे व्यङ्ग्य कसता है और उसकी घोर स्वार्थसाधनता को प्रकट करता है। राजनीति अपनों के अतिरिक्त किसी को नहीं देखती है। राजनीति सर्वलाभकर व्यवसाय है। यही कारण है कि कलाकार, शिल्पी, अभिनेता, अध्यापक, सैनिक सब अपने-अपने काम को छोड़कर राजनीति के सेवन की ही इच्छा रखते हैं और सब निर्वाचित होने की इच्छा से राजनीति का चरण चाटन करते हैं-

एवं तवाङ्घ्रिस्फुटपङ्कजामृत-
निष्यन्दबिन्दून् परिलेढुकामाः।
एकैकशो देशविशिष्टशिष्टा
निर्वाचनप्रार्थितया समेताः।

इस प्रकार आधुनिक राजनीति के कुत्सित रूप पर अधिक्षेप करने वाली कवि की यह कविता आगे और भी अधिक वृद्धि को प्राप्त हो रही है। 'विलाप-पञ्चिका' नाम से कवि का एक और काव्य १९८९ में प्रकाश में आया है।

दिगम्बर-महापात्र-श्री महापात्र उत्कल प्रदेश के प्रतिष्ठित कवि हैं। उनके 'सुरेन्द्रचरितम्' महाकाव्य, रङ्गरुचिरम्' बालकाव्य, 'मानससन्देशम्' सन्देशकाव्य तथा 'व्यस्तरागम्' प्रकीर्णकाव्य हैं। रङ्गरुचिरम् में बालमनोविज्ञान पर आश्रित ४४ कविताएँ हैं। मानससन्देशम् में कवि का मानसहंस उत्कल प्रदेश के पुरी क्षेत्र का दर्शन करने के पश्चात् कोर्णाक, चिलिका, बिहार, आगरा, दिल्ली, श्रीनगर, कैलाशपर्वत आदि स्थानों के दृश्यों को देखता हुआ मानसरोवर प्रस्थान करता है। यहाँ दो हंसों का कथोपकथन अत्यन्त मनोरम है। काव्य में प्रकृति वर्णन अत्यन्त मनोहारी है। 'ऋतुचक्रम्' एवं 'भवते रोचते यथा' ये दो इनके अन्य लघुकाव्य हैं।

कवि का 'व्यस्तरागम्' लघुकाव्य १९९० में प्रकाशित हुआ। कवि ने इधर-उधर फैली हुई अपनी रागलताप्लुत कविताओं को संगृहीत कर इस काव्य में ग्रथित किया है। अतः इसका नाम 'व्यस्तरागम्' रखा गया है। काव्य में सत्य उल्लास, शिव उल्लास, सुन्दर उल्लास नाम से तीन उल्लास हैं। शेष भाग में प्रकीर्ण श्लोक हैं। इस प्रकार ६२ शीर्षकों में निबद्ध यह काव्य विषयवैविध्य से भरा है। काव्य श्रीजगन्नाथाष्टक से आरम्भ होता है। जीवन की विविध संवेदनाओं को प्रेम और वैराग्य के विविध प्रसङ्गों को, अनेक सामाजिक समस्याओं और प्रकृति के विविध चित्रों को कवि ने स्थान दिया है। कहीं-कहीं अन्योक्ति के भी दर्शन होते हैं। प्रहेलिकाओं और उक्ति-प्रत्युक्तियों के भी प्रयोग प्राप्त होते हैं। कहीं-कहीं गीत रूप छन्दों का प्रयोग है। अन्य अनेक छन्दों का अनेकानेक भावों के साथ सामञ्जस्य मिलता है। शिखरिणी छन्द में 'पदे मे वेपेते' शीर्षक के अन्तर्गत यह पद्य दर्शनीय है-

महाघोरेऽपारे भवजलनिधौ सङ्कटमये
कथं पारं यायामृत उडुपसाह्याद् वद सखे।
परं दूरे दृष्ट्वाऽशयपथमसीमं त्वहरहः
पदे मे वेपेते पुनरपि तरामीह तदहो।।

(अपार महाघोर सङ्कटों से भरे संसार रूपी सागर में हे मित्र ! छोटी सी नाव के सहारे के बिना मैं कैसे पार जाऊँ यह बताओ। किन्तु दिन-रात अपने असीम आशय-पथ को दूर पर देखकर मेरे दोनों पैर काँप रहे हैं। फिर भी आश्चर्य है कि मैं तैर रहा हूँ।)

पुल्लेल रामचन्द्रुडु-ये उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद में संस्कृत के आचार्य रहे। रामचन्द्रुडु एक प्रौढ संस्कृत कवि हैं। इनका कृतित्व १९९३ में 'श्रीरामचन्द्रलघुकाव्य-संग्रह', के रूप में सामने आया है। इस संग्रह में १९ शीर्षकों में विविध विषयों के मुक्तक श्लोक संगृहीत हैं। कवि ने इन कविताओं के माध्यम से आधुनिक जीवन की संवेदनाओं, विषमताओं, संत्रासों और विसंगतियों को रेखाङ्कित किया है। कई स्थानों पर कवि ने व्यङ्ग्य और अधिक्षेप का आश्रय लिया है, तो कहीं अन्योक्ति का, कहीं पैरोडी के माध्यम

से अपनी बात कही है तो कहीं उपदेशात्मक सूक्ति के माध्यम से। पैरोडी का प्रस्तुत प्रयोग द्रष्टव्य है -

नाहं जानामि पाठ्यांशान् नाहं जानामि पाठनम्।
जानामि त्वधिकारस्थान् नित्यं पादाभिवन्दनात्।।

लोगों की मोहमयी प्रवृत्ति पर कटाक्ष करते हुए कवि कहता है -

धाता पूर्वमशेषभूमिवलयं निर्माय चास्मत्कृते
स्वादिष्ठानतया ससर्ज विविधान् जन्तून् नरादीनिमान्।
हा हा हन्त ! करालकालविकृतिः किं वाद्य ते वर्ण्यतां
स्वेयं भूमिरिति ब्रुवन्नधिकृतिं प्रेप्सत्ययं श्वापदः।।

(पहले विधाता ने समस्त भूमण्डल को हमारे लिए बनाकर स्वादिष्ट अन्न होने के कारण इन विविध जन्तुओं मनुष्यों आदि को बनाया। किन्तु दुःख की बात है ! इस कराल काल के विकार का क्या वर्णन किया जाय। यह भूमि हमारी है ऐसा कहता हुआ यह पशु इस पर अपना अधिकार जताना चाह रहा है।)

कवि ने संस्कृतभाषा, भारतदेश, वसन्तागमन, कविकुलकोकिल, आधुनिक काव्यलक्षण जेसे विषयों पर लेखनी चलाई है तथा अद्वैत वेदान्त जैसे दार्शनिक विषयों पर भी पद्य लिखे हैं। कवि में सुभाषित लिखने की प्रवृत्ति बहुत है जिसमें जीवन के अनेक रहस्यों का उद्घाटन होता है। रामचन्द्रुडु के काव्यसंग्रह में अनेक अँग्रेजी शब्दों का संस्कृतीकरण किया गया है तथा कुछ नये संस्कृत-शब्द भी गढ़े गए हैं। भाषा में प्रौढ़ता, प्राञ्जलता एवं व्याकरणनियमबद्धता के सर्वत्र दर्शन होते हैं। इस संग्रह से पूर्व कवि की कविताएँ 'स्तुतिमञ्जरी' शीर्षक से प्रकाशित हुई थीं। ये दोनों संग्रह कवि के दीर्घकालीन एवं अनवरत कृतित्व का दर्शन कराते हैं।

रामचन्द्र (हरिशरण) शाण्डिल्य-इनका जन्म १६२७ ई. में पाकिस्तान के सिन्ध प्रान्त में हुआ था। देश-विभाजन के पश्चात् इनका परिवार राजस्थान आ गया। इनकी चार लघुकाव्य-कृतियाँ उपलब्ध हैं। १६८८ में प्रकाशित 'यात्राप्रसङ्गीयम्' दो खण्डों का खण्डकाव्य है। पूर्वार्ध में कवि के यात्राप्रसङ्ग में प्रकृति का रोचक वर्णन, एक युवती को बचाना, स्वप्नावस्था में उसके साथ प्रेमालाप, शृङ्गाररस का समावेश और वृद्धावस्था में पुत्र द्वारा माता-पिता के परित्याग से स्वप्नभङ्ग का वर्णन है। उत्तरार्ध में संसार की असारता के वर्णन से शान्तरस की प्रतिष्ठापना है तथा शृङ्गार और वैराग्य के मध्य लोकनीति का प्रदर्शन करते हुए दार्शनिक प्रबोध द्वारा मोक्ष का उपाय वर्णित है।

कवि शाण्डिल्य का दूसरा लघुकाव्य 'ऋतुवर्णनम्' है, जिसमें छः ऋतुओं का ललित वर्णन है। यद्यपि यह शृङ्गाररस से परिप्लुत काव्य है, तथापि भूगोल, खगोल, आयुर्वेद,

ज्योतिष आदि शास्त्रों से ऋतुओं का सम्बन्ध स्थापित कर उसे लोकहितकारक रूप भी दिया गया है। उनका एक अन्य काव्य 'स्तोत्रावलिः' है, जिसमें भारतमाता की वन्दनासहित विविध देवों की स्तुति में सोलह स्तोत्र हैं।

मेघदूत के अनुकरण पर लिखा गया 'कामदूतम्' शाण्डिल्यजी का सर्वोत्तम काव्य है। विप्रलम्भ शृङ्गार पर आश्रित रहने के साथ-साथ यह राष्ट्रीय भावना से भरा है, और भारत के विभाजन के पश्चात् पाकिस्तान में बसे सिन्धियों की व्यथाओं का चित्रण करता है। पाकिस्तान में रह रही एक प्रेमिका भारत में विद्यमान अपने प्रेमी के पास कामदेव द्वारा अपना विरह-सन्देश भेजती है। और फिर प्रेमी का उत्तर भी उसे प्राप्त होता है। काम की यात्रा के मार्ग में पड़ने वाले सड़सठ नगरों का वर्णन कवि ने किया है। मेघ के ही अनुकरण पर इसमें पूर्वकाम एवं उत्तरकाम दो भाग हैं। प्रेम के प्रसङ्ग में राष्ट्रीय सन्दर्भ का विनियोजन होने के कारण यह एक सुन्दर काव्य है।

वनेश्वर पाठक - सेण्ट जेवियर्स कालेज, रांची के संस्कृत प्राध्यापक वनेश्वर पाठक ने अन्य लघुकाव्यों के अतिरिक्त 'प्लवङ्गदूतम्' नामक दूतकाव्य लिखा है, जिसका प्रकाशन १९७५ ई. में हुआ। अन्य दूतकाव्यों की भाँति इसमें भी दो भाग हैं - पूर्वनिःश्वास तथा उत्तरनिःश्वास। एक भारतीय जन नौकरी करने के लिए अपनी पत्नी के साथ पेशावर (सम्प्रति पाकिस्तान में स्थित) जाता है। वहाँ बस जाने के बाद किसी काम से जब वह काशी आता है तो १९७१ ई. के दिसम्बर मास में भारत के साथ पाकिस्तान की लड़ाई छिड़ जाती है और वह प्रवासी पाकिस्तान लौटने में असमर्थ होकर वहीं पत्नी-वियोग में दिन काटता हुआ एक दिन विश्वनाथ-मन्दिर पहुँचता है और वहाँ भक्तों के साथ बैठकर भगवान् राम की कथा सुनने लगता है। वहीं उसके सामने एक भोलाभाला प्लवङ्ग (वानर) दिखाई पड़ता है जिसका वर्णन कवि इस प्रकार करता है -

श्रुत्वा सीतां प्रति हनुमता वाचिकं प्राप्यमाणं
श्रीरामेण व्यथितमनसा सोऽतिचिन्तानिमग्नः।
दृष्ट्वा चाग्रे कमपि सहसाऽऽगत्य तत्रोपविष्टं
शान्तं सौम्यं परमसरलं हर्षमाप प्लवङ्गम्।।

उस प्लवङ्ग से वह अपनी प्रिया के पास सन्देश पहुँचाने की प्रार्थना करता है। पहले वह काशी से पेशावर के समीपवर्ती जावरोद (जाब्रूद) नामक गाँव तक के गन्तव्य मार्ग का वर्णन करता है। उसे काशी से प्रयाग, आगरा, मथुरा, दिल्ली, अम्बाला, लुधियाना, भाखरा-बन्ध, जालन्धर, अमृतसर, लाहौर, रावलपिण्डी तथा पेशावर होते हुए जाब्रूद पहुँचना है। द्वितीय निःश्वास में प्रवासी अपनी पत्नी के रूप उसकी मनोदशा का मार्मिक वर्णन करता है तथा सन्देश प्रेषित करता है। अन्त में विरहिणी पत्नी से उसका भारत में ही मिलन होता है। पाठक ने कुमारसम्भव और शिवपुराण के आधार पर 'तवास्मि दासः' तथा हास्य-व्यङ्ग्य परक खण्डकाव्य 'हीरोचरितम्' भी लिखा है।

वासुदेव कृष्ण चतुर्वेदी - व्रज मण्डल के संस्कृत-कवियों में श्री चतुर्वेदी अग्रगण्य हैं। वे मथुरा जनपद के अन्तर्गत 'ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट ऑफ़ फिलासफी' में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष हैं। संस्कृत-पत्रिका 'व्रजगन्धा' के सम्पादन से भी आपको सुयश मिला। चतुर्वेदीजी का 'श्रीद्वारिकाधीशमहाकाव्यम्' प्रसिद्ध है। व्रजकवि के रूप में अपने लघुकाव्य 'श्रीव्रजस्तवमालिका' में उन्होंने व्रजभूमि की महिमा का बखान किया है। 'नन्दोत्सवः' में श्रीश्रीकृष्ण के जन्म के पश्चात् नन्द के घर में होने वाले आनन्द का वर्णन है। उनका अन्य प्रसिद्ध लघुकाव्य है-भारतस्तवमालिका' जिसमें अनेक देशभक्ति के पद्य एवं गीत निबद्ध हैं। हमारे राष्ट्रीय एवं सामाजिक जीवन से सम्बद्ध कुछ विषयों पर भी कवि ने लेखनी चलाई है, जैसे प्रदूषण समस्या, दाय (यौत) प्रथा, बीससूत्रीय कार्यक्रम आदि। काव्य में राष्ट्रभक्ति की धारा अविरल रूप से प्रवाहित है। 'भारतराष्ट्रगीतिः' में व्रजक्षेत्र का वर्णन करते हुए कवि कहता है-

यस्य वृन्दावनं कण्ठहारप्रभं माथुरं मण्डलं वैजयन्तीनिभम्।
शैलगोवर्धनो हारकं मौक्तिकं भारतं भारतं नौमि भावप्रदम्।।

कवि ने अपने काल के दो प्रधानमन्त्रियों के चरितों से अभिभूत होकर दो लघुकाव्य लिखे - 'श्रीमती-इन्दिरागान्धीकाव्यम्' तथा 'श्रीराजीवगान्धीकाव्यम्। प्रथम काव्य में इन्दिरा गान्धी के शासनकाल की कुछ घटनाओं एवं प्रसङ्गों को सङ्कलित कर उनका प्रशस्तिगान किया गया है। द्वितीय काव्य में नेहरू वंश के ऐतिह्य का वर्णन करता हुआ कवि राजीव गान्धी के प्रधानमंत्री बनने की परिस्थितियों का तथा तत्कालीन समस्याओं का ब्यौरा देता है। कवि चतुर्वेदी ने प्रायः सरल छन्दों का प्रयोग किया है। उनके अनेक पद्यों में ब्रजभाषा के छन्दों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। चतुर्वेदीजी एक सरल, सरस एवं सहज संस्कृत-कवि हैं।

अन्य कवि एवं काव्य-बीसवीं शताब्दी में उत्पन्न हुए अनेक कवियों और रचे गए अनेक काव्यों का विवरण ऊपर दिया गया है। इन कवियों के अतिरिक्त कतिपय अन्य कवि भी इस कालावधि में हुए जिन्होंने किसी न किसी विधा या विषय में काव्य-सर्जना की। अर्वाचीनयुग के लघुकाव्यकारों ने जहाँ रघुवीर मिश्र 'द्विरेफ' (१८६०-१६३७) ने अपने आश्रयदाता राजा की प्रशंसा में 'लक्ष्मीश्वरोपायनम्' तथा 'श्रीशारदोपायनम्' काव्य लिखे, वहाँ टी.ए. भण्डारकर ने आत्मभिव्यक्तिपरक काव्य 'विद्यार्थीआत्मचरितम्' की रचना की। श्री अवधनाथ पाण्डेय ने दुर्गा की स्तुति में 'श्रीदुर्गाशतक' की रचना की। राम नारायण शास्त्री पाण्डेय ने राधा की स्तुति में 'श्रीहरिवल्लभास्तोत्रम्' लिखा तो स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती ने 'हनुमत्स्तोत्र' काव्य। पण्डितरामचन्द्र भारतीय का बुद्धभक्तिपरक काव्य 'बुद्धभक्तिशतकम्' प्रकाशित हुआ तो पं. सूर्य नारायण मिश्र का 'नग्नसिद्धचरितम्' भी। मिथिलेशकुमारी मिश्रा ने 'व्यासशतकम्' लिखकर सौ पद्यों द्वारा व्यास के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डाला है। अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी से श्री अरविन्द-कृत 'भवानीभारती'

का प्रकाशन हुआ। वसन्त त्र्यम्बक शेवडे ने एक ओर 'रघुनाथतार्किकशिरोमणिचरितम्' जैसा चरितप्रधान काव्य लिखा तो दूसरी ओर 'अभिनवमेघदूतम्' की रचना कर मेघदूत में अचर्चित स्थानों का वर्णन किया। जम्मू के वेद कुमारी तथा राम प्रताप का संस्कृत-कविता संग्रह 'ऊर्मिका' नाम से प्रकाशित हुआ। शम्भुनाथ आचार्य ने स्वामी विवेकानन्द के जीवन पर 'विवेकानन्दात्मकम्' खण्डकाव्य लिखा। रमाशङ्कर मिश्र ने 'मारुति-चरितम्' तथा 'करपात्रपूजाञ्जलिः' दो काव्यों का प्रणयन किया। वीरभद्र मिश्र ने 'अनुनयः' नाम के शृङ्गारपरक काव्य की रचना की। कवि विद्यासागर का 'पञ्चशती' नामक सङ्कलन भी प्रकाशित हुआ, जिसमें भ्रमणशतक, निरंजनशतक, भावनाशतक, परीशतक तथा सुनीतिशतक ये पाँच शतक सङ्कलित हैं। विद्यासागर पाण्डेय का 'अभिनवभारतराष्ट्रम्' राष्ट्रभक्तिपरक लघुकाव्य है, जो १९९० में प्रकाशित हुआ। इसी प्रकार १९८६ में यागेश्वर झा का 'वन्दे वाणीविनायकौ' काव्य प्रकाश में आया।

१९६२ के भारत-चीन युद्ध के बाद कवि रामकैलाश पाण्डेय ने 'भारतशतकम्' काव्य लिखा। क्षीरोदचन्द्र दाश का तारुण्य को विषय बनाकर लिखा गया शृङ्गारप्रधान काव्य 'तारुण्यशतकम्' भी एक अच्छा काव्य है। कवि परड्डीमल्लिकार्जुन द्वारा प्रणीत 'अक्कमहादेवीशतकम्' तथा 'गङ्गाधरशतकम्' इस काल के सुन्दर भक्तिकाव्य हैं। चन्दनलाल पाराशर के 'मङ्गलं भारतम्' लघुकाव्य में भारत की सांस्कृतिक, भौगोलिक और सामाजिक सुषमा का सुन्दर वर्णन है। श्री शुकदेव शर्मा मुनि द्वारा प्रणीत 'मङ्गलानक्षत्रम्' ६३ कविताओं का सङ्कलन है जिसमें आधुनिक युग से सम्बन्धित अनेक सुभाषित विद्यमान हैं। उमा देशपाण्डे का 'अर्चनम्' काव्य विविध विषय की प्रायः वन्दनापरक स्फुट कविताओं का सुन्दर संग्रह है। उमाशङ्कर शर्मा त्रिपाठी का 'अहंराष्ट्री' काव्य राष्ट्रभक्तिपरक काव्यों में उत्तम है। कवि भूषण हेमचन्द्र राय ने तीन लघुकाव्यों का प्रणयन किया-सत्यभामापरिग्रहम्, रुक्मिणीहरणम् तथा पाण्डवविजयः। इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य लघुकाव्यों और उनके रचयिताओं के नाम इस प्रकार हैं-दयानन्दलहरी (मेधाव्रताचार्य), वाताह्वानम् (पं. केदारनाथ), सुगलार्थमाला (ब्रह्मश्रीनारायण), श्री शङ्करकथामृतम्- (वि. रामप्परेतवाल), देवदूतम् (सुधाकर शुक्ल), भावलहरी (प्रकाश शास्त्री), वाणी (राजशेषगिरि राव), सङ्कल्पकल्पद्रुमः (विश्वनाथ चक्रवर्ती), श्रीगान्धिचरितम्-(श्री चारुदेव शास्त्री), प्रियदर्शिनी इन्दिरा (सुबोध कुमार मिश्र), इन्दिराकाव्यम् (भोलानाथ मिश्र), राष्ट्रतन्त्रम् (लक्ष्मी नारायण शुक्ल), मालतीमञ्जरी (सोमनाथ शर्मा), जवाहरचरितम् (मिजाजीलाल शर्मा), प्रेमलहरी (के भास्कर पिल्लई), श्रीवृन्दावनमहिमामृतम् (श्री प्रबोधानन्द सरस्वती), लोकमान्यतिलकचरितम् (कृ.वा.चितले), भारतसन्देश (शिवप्रसाद भारद्वाज), अम्बालहरी, होलिकालास, उदरप्रशस्तिकाव्य (हरिशर्मा दाधीच), राधानयनद्विशती (बालकृष्ण झा), अम्बाष्टादशी, गङ्गास्तव, चन्द्रोपालम्भवर्णन (रघुनाथ शास्त्री), स्तुतिमुक्तावली (कपिलदेव द्विवेदी), सुरवाणीप्रशस्तिका (विशुद्धानन्द शास्त्री), सौन्दर्यवल्ली (डॉ. अमरनाथ पाण्डेय), काव्यकौतुकम् (राजदेव मिश्र), मरीचिका (राजेन्द्रनानावती), सारस्वतमुपायनम् (रामनारायण मिश्र), पौरच्छात्रीयम् गणेश व्यासशतकम्,

सुभाषितसुमनोञ्जलिः (मिथिलेशकुमारी मिश्रा), शान्तिशतकम् (प्रीतमलाल नृसिंहलाल कच्छी), शिवासम्बन्धः (पं. रामावध मिश्र), श्रीजगन्नाथरथोत्सवः (पं. गुणनिधिदाश शर्मा), राष्ट्रपतिराजेन्द्रवंशप्रशस्तिः (विष्णुकान्त झा), धन्वन्तरिजन्मामृतम् (प्रभुदत्त शास्त्री), हरिचरितम् (परमेश्वर भट्ट), सत्यविजयम् (श्री.ति.शु. वरदाचार्य), गान्धी-विजयः (सदाशिव दीक्षित), राजस्थानप्रस्थानम् (बदरीनाथ शर्मा), काव्यसरित् (अनन्त विष्णु काणे), श्रीमद्भगवत्परशुम-विजयशतकम् (अमियचन्द्र शास्त्री) आदि। बीसवीं शताब्दी में अनेक दूतकाव्य एवं शतककाव्य भी लिखे गए, जिनकी संख्या बहुत अधिक है। उनमें से कतिपय प्राप्त एवं काव्य ये हैं -

सुभाषितशतकम् (कृष्णमाचार्य), जार्जदेवशतकम् (लक्ष्मणसूरि), भारतशतकम् (महादेव पाण्डेय), यतीन्द्रशतकम् (केवलानन्द शर्मा), गुरुमाहात्म्य (कैलाशनाथ द्विवेदी), विज्ञानशतकम् (कृष्णभाऊ शास्त्री धुले), दरिद्रनारायणशतकम्' (जगन्नाथ व्यास), इन्दिराशतकम् (रामकृष्ण शास्त्री), वचनदूत (मूलचन्द्र शास्त्री), भारतसन्देश (शिवप्रसाद भारद्वार), कर्गजशरदूत (रवीन्द्र कुलकर्णी), शुनकदूत झञ्झावातदूत (के.के. कृष्णमूर्ति), दक्षिणानिलदूत (भोलाशङ्कर व्यास) आदि।

बीसवीं शताब्दी के दसवें एवं अन्तिम दशक में भी लघुकाव्य-प्रणयन प्रवर्तमान है। विगत दो दशकों में ऐसे अनेक कवि हुए हैं जिन्होंने कोई विशिष्ट काव्य नहीं लिखे अथवा ग्रन्थ रूप में काव्य प्रकाशित नहीं हुए, परन्तु उनका प्रौढ एवं सरस काव्य-प्रणयन स्फुट रूप से चलता रहा। विविध पत्र-पत्रिकाओं में उनके काव्यांश यत्र-तत्र प्रकाशित होते रहे हैं, अनेक कविगोष्ठियों आदि में उनकी काव्य-प्रतिभा के दर्शन होते हैं, तथा कतिपय कवि ऐसे हैं जो प्रमुखतया गीतकार हैं, लघुकाव्यविधा में उनका योगदान नहीं है, ऐसे अनेक प्रतिभा-प्रकर्ष से युक्त कवियों का विवरण या समीक्षण यहाँ प्रस्तुत नही किया गया है। कतिपय अन्य लघुकाव्य एवं लघुकाव्यकार ऐसे भी हो सकते हैं जो प्रयास करने पर भी यहाँ अनन्त कवि परम्परा में अदृष्ट रह गए हों, पर आधुनिक संस्कृत साहित्य में उनका स्थान एवं योगदान बहुमूल्य है।

तृतीय अध्याय

गीतिकाव्य

उन्नीसवीं शताब्दी का संस्कृत गीतिकाव्य

उन्नीसवीं शताब्दी में संस्कृत में गीतिकाव्य के -स्फुट पद्य, रागकाव्य, सन्देशकाव्य, प्रशस्ति आदि विभिन्न प्रकारों में प्रचुर मात्रा में रचनाएँ प्रस्तुत की जाती रहीं। इस रचनाक्रम में पूर्ववर्ती संस्कृतकाव्य परंपरा का सहज सातत्य भी है, तथा किंचित् प्रस्थानभेद भी। यह प्रस्थानभेद समग्र भारत में इस शताब्दी में बदली हुई परिस्थितियों के कारण है। यहाँ सर्वप्रथम उन्नीसवीं शताब्दी के संस्कृत गीतिकाव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों पर विचार प्रस्तुत है, और उसके पश्चात् इस काल के प्रमुख कवियों का परिचय दिया जा रहा है।

प्रमुख प्रवृत्तियाँ

राजनीतिक स्थिति का प्रभाव – राजनीतिक दृष्टि से इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही भारत का अधिकांश भाग अंग्रेजों के नियंत्रण में आ गया था। १८१८ ई. में पेशवाई राज्य का अंत होने पर समूचा महाराष्ट्र आंग्ल शासन की प्रभुसत्ता में आ गया। अंग्रेजों ने भारतीय जनता पर भयावह अत्याचार किये, जिसके परिणामस्वरूप १८५७ ई. में नाना साहेब पेशवा, तात्या टोपे तथा रानी लक्ष्मीबाई ने उनके विरुद्ध क्रान्ति का शंखनाद किया। सन् १८५७ की क्रान्ति का गहरा प्रभाव परवर्ती भारतीय साहित्य पर पड़ा, और संस्कृत के कवियों के मानस को भी इस घटना ने उतना ही आन्दोलित किया।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ की मुक्तक रचनाओं में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह का भाव परिलक्षित नहीं होता, क्योंकि इस युग के कवि धार्मिक आस्थाओं के कारण अंग्रेजों की प्रभुसत्ता को दैवी विधान मानते थे। उसके साथ ही छोटी-छोटी रियासतों, रजवाड़ों का पूरी तरह वर्चस्व समाप्त नहीं हुआ था, और इनके आश्रय में संस्कृत के कवि अभी भी पहले की तरह फल-फूल रहे थे।

सन् सत्तावन की क्रान्ति के पश्चात् भारत के शासन के सूत्र महारानी विक्टोरिया ने संभाल लिये। उनकी ओर से प्रसारित घोषणापत्र में भारतीय राजाओं की पुनः प्रतिष्ठा, उनके कार्य में अनधिकृत हस्तक्षेप न करने और भारतीयों की योग्यता के अनुसार शासकीय सेवाओं में नियुक्ति देने की प्रतिश्रुति थी। अप्पाशास्त्री राशिवडेकर ने सूनृतवादिनी (१/१५) में 'चक्रवर्तिन्याः घोषणापत्रम्' शीर्षक से इस पत्र का स्वागत किया और इस काल के कतिपय संस्कृत कवियों ने अपने गीतिकाव्यों में आङ्ग्ल शासकों का गुणगान भी किया। श्रीश्वर विद्यालंकार ने प्रिंस आफ वेल्स के भारत आगमन पर "प्रिंसपञ्चाशत्" की रचना

की, तो महेशचन्द्र ने 'अभिनन्दनपत्रम्'' लिखा। महारानी विक्टोरिया की प्रशस्ति में रची गयी कविताओं की संख्या भी बड़ी है।

१८७० ई. में महारानी विक्टोरिया के पुत्र ड्यूक आफ एडिनबरा के काशी आगमन पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सम्पादकत्व में 'सुमनोऽञ्जलिः' नामक रचना मार्च १८७० ई. में प्रकाशित की गयी। इस काव्यसंकलन में उस काल के १५ प्रमुख पंडितों की प्रशस्तियाँ थीं।[१] इनमें पं. राजाराम शास्त्री, पं. बालशास्त्री, ताराचरण तर्करत्न, पं. गंगाधरशास्त्री जैसे इस युग के सर्वश्रेष्ठ पंडित तथा कवि सम्मिलित थे। तथापि इस प्रशस्ति को मात्र अतिथिस्वागत का भाव ही मानना चाहिये, चाटुकारिता या राजभक्ति नहीं। इन्हीं प्रशस्तियों में शीतल प्रसाद की प्रशस्ति में देश में व्याप्त दुर्भिक्ष का भी उल्लेख है, जिससे स्पष्ट है कि संस्कृत कवि विदेशी शासकों का ध्यान देश की दुर्व्यवस्था की ओर खींचना चाहते हैं। इसी भावना से भारतेन्दु ने १८७७ ई. में 'मानसोपायन' प्रस्तुत किया। इस संकलन में प्रशस्तिपरकता तथा राजभक्ति का पुट है। अन्य भाषाओं की कविताओं के साथ-साथ इसमें अंग्रेजी शासकों के लिये संस्कृत प्रशस्तियाँ भी हैं, कुछ ६६ कवियों की पद्य रचनाएँ इसमें आरंभ के ३१ पृष्ठों में संकलित हैं।[२] वस्तुतः राजभक्ति की आड़ में इन संस्कृत कवियों ने देश की दरिद्रता का कटु यथार्थ खरे शब्दों में प्रकट कर दिया है-

दीनानां खलु दीनकर्पटभृतां क्षुत्पीडितानां गृहे
गत्वा सान्त्वनवारिणा द्विगुणितं दुःखं त्वदालोकनात्।।[३]

(दैन्यपूर्ण कपड़े पहने, भूख से पीड़ित दीनजनों के घर जाकर आपने सान्त्वना का जल बरसाया, किन्तु आपको देखने से उनका दुःख दुगुना हो गया।)

यह सत्य है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक अंग्रेज शासकों की प्रशस्ति में भी रचनाएँ लिखने की प्रवृत्ति बनी रही। इस क्रम में जुबिलिगानम् (१८८७ ई.) चक्रवर्तिविक्टोरियाविजयपत्रम् (१८६६ ई.) आङ्लाधिराजस्वागतम्, एडवर्डमहोदयाभिनन्दनम्, विक्टोरियाप्रशस्तिः, विक्टोरियाचरितसङ्ग्रहः (१८८७), विक्टोरियाप्रशस्तिः (१८६२), राजपुत्रागमनम् (१८६०) आदि रचनाएं सामने आईं। सुरेन्द्रमोहन टैगोर ने प्रिंसपञ्चाशत् (१८६७) तथा विक्टोरियामहात्म्यम् (१८६८) की रचना की और कृष्णचन्द्र की प्रीतिकुसुमाञ्जलिः (१८६७ ई.) तथा सम्पत्कुमारनरसिंहाचार्य) की विक्टोरियावैभवम् (१८६६ ई.) आदि कविताएँ भी इसी काल में प्रकाशित हुईं। इनमें से अंतिम रचना को कवि ने संस्कृतचन्द्रिका में प्रकाशनार्थ भेजा था, सम्पादक अप्पा शास्त्री पक्के राष्ट्रवादी थे। उन्हें कवि की प्रशस्तिपरकता अच्छी न लगी और उन्होंने उस कविता को बहुत दिनों तक रोके रखा।

---

१. विवरण के लिये देखिये : संस्कृत का समाजशास्त्र : हीरालाल शुक्ल, पृ. ८४
२. वहीं, पृ. ८६
३. वही, पृ. ८७

अन्त में कवि के बार-बार आग्रह करने पर उन्होंने पत्रिका (७/८) में उसे प्रकाशित तो किया, पर उसके साथ विदेशी शासकों की चाटुकारिता में काव्यरचना करने वाले कवियों का अधिक्षेप भी इसी कविता के अंत में संपादकीय टिप्पणी के रूप में प्रकाशित किया।[1]

साथ ही यह तथ्य भी ध्यातव्य है कि अंग्रेज शासकों के लिये प्रशस्ति के रूप में लिखी गयी रचनाओं में भी परोक्ष रूप से राष्ट्र-भावना संक्रान्त थी। यह युग ही ऐसा था कि राष्ट्र के गौरव तथा उसके भौगोलिक स्वरूप को लेकर संस्कृत कवि का सचेत होना स्वाभाविक था। 'विक्टोरियाष्टकम्' नामक रचना में भारतीय वसुन्धरा की सुषमा तथा भारतजननी का भी गुण-गान कवि ने साथ में किया है-

उत्तुङ्गो हिमभूधरो भवति यत्सीमा ह्युदीच्यां दिशि
नीलाम्बुः परिशोभते च सततं सव्येऽपसव्येऽथवा।
सेयं भारतभूः सुशीतसलिला शस्यैः फलैः श्यामला
मातस्तेऽभयदे पदे प्रकुरुते सानन्दसेवाञ्जलिम्।।

(हे माता, उत्तर दिशा में उन्नत हिमालय जिसकी सीमा है, अथवा जिसके दोनों ओर समुद्र निरन्तर शोभित है, सुशीतल जल वाली तथा सस्यों और फलों से श्यामायमान वह यह भारत-मही तुम्हारे अभय दान देने वाले पद-तल में आनन्दपूर्वक सेवाञ्चलि अर्पित करती है।)

धीरे-धीरे संस्कृत कवि की समाज-चेतना प्रखर होती है और वह अंग्रेजों के शोषणतन्त्र को पहचान कर अपनी कविताओं में उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्थ का संस्कृत गीतिकाव्य वस्तुतः राष्ट्रीय चेतना और जनजागृति का काव्य है। 'संस्कृतचन्द्रिका', 'सूनृतवादिनी', 'पण्डित' तथा 'विज्ञानचिन्तामणि' जैसी पत्रिकाओं की संस्कृत काव्य की इस नवीन प्रवृत्ति के संवर्धन में महती भूमिका रही। अन्नदाचरण, अप्पाशास्त्री आदि कवियों के संस्कृत काव्य में इस काल में स्वतन्त्रता की भावना का सुस्पष्ट प्रतिफलन हुआ।

सामाजिक चेतना-उन्नीसवीं शताब्दी भारतीय इतिहास में पुर्नजागरण का काल भी है। इस काल में राजा राममोहन राय, तिलक, अरविंद, महादेव गोविन्द रानाडे, महात्मा गाँधी आदि विभूतियों ने जन्म लिया और विदेशी सत्ता से देश को स्वतन्त्र कराने के साथ-साथ भारतीय समाज में व्याप्त कुरीतियों, विषमता, शोषण और पाखंड को दूर करने के लिये भी इन महापुरुषों ने अभियान छेड़ा। इन स्थितियों का प्रभाव संस्कृत कवियों पर भी पड़ा है। 'विज्ञानचिन्तामणि' पत्रिका के संपादकों और लेखकों ने विधवा-विवाह का समर्थन किया तथा कन्या-विक्रय का विरोध किया। दादोबा पांडुरंग ने 'विधवाश्रुमार्जनम्'

---

१. विवरण के लिये द्र.-संस्कृत का समाजशास्त्र, पृ. ६७

नामक पुस्तक का प्रणयन किया। महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा भारतेन्दु जैसे रचनाकारों ने सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध संस्कृत में कविताएँ लिखीं।

वैविध्य तथा काव्यसमृद्धि – उन्नीसवीं शताब्दी के संस्कृत गीतिकाव्य का वैशिष्ट्य उसमें नयी प्रवृत्तियों तथा नवीन चेतना के साथ नयी विधाओं का अवतरण भी माना जा सकता है। पारंपरिक विषयों तथा पारंपरिक विधाओं में रचना निर्बाध रूप से चलती रही। समस्यापूर्ति, अन्योक्ति तथा श्लेष-काव्यों की रचना इस काल में प्रचुर मात्रा में हुई। कुछ समस्यापूर्तिकाव्य तो ऐसे थे जो पण्डितसमाज में कण्ठहार बन गये। उदाहरण के लिये श्रीरामशास्त्री भागवताचार्य (१८५६-१६१३ ई.) की समस्यापूर्ति 'पिपीलिका चुम्बति चन्द्रबिम्बम्' या इन्हीं की 'मशकगलकरन्ध्रे हस्तियूथं प्रविष्टम्" कल्पनाओं की उड़ान और मनोरंजन विषयवस्तु के कारण लोकप्रिय हुई और आने वाले रचनाकारों ने भी इन पंक्तियों पर नये-नये पद्य रचे। श्लेषकाव्यों में अमरमङ्गलम् नाटक तथा पार्थाश्वमेघमहाकाव्य के प्रणेता प्रसिद्ध तार्किक विद्वान् पञ्चानन तर्करत्न का 'सर्वमङ्गलोदयम्' उल्लेखनीय है। शृङ्गारप्रधान या ऋतुवर्णनपरक गीतिकाव्य इस काल में बहुत अधिक लिखे गये, जिनमें विधुशेखर भट्टाचार्य का 'यौवनविलास' ताराचरण तर्करत्न का 'काननशतकम्' हैं। प्रमथनाथ का 'वसन्ताष्टकम्', अन्नदाचरण का 'ऋतुचित्रम्', कृष्णभट्ट की 'मुक्तकमुक्तावली', राजराजवर्मा की 'विटविभावरी', परमानन्द शर्मा की 'शृङ्गारसप्तशती' आदि महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। इसी प्रकार दूतकाव्यों की सुदीर्घ प्राचीन परंपरा का सातत्य भी उन्नीसवीं शताब्दी में उसी तरह अव्याहत बना रहा। त्रिलोचन शर्मा (१८०८ ई.) का 'तुलसीदूतम्' कृष्ण के मथुरा चले जाने पर व्रज की ललनाओं के व्याकुल मनोभावों का चित्रण प्रस्तुत करता है, इसमें गोपियाँ तुलसी को दूती बना कर कृष्ण के पास भेजती हैं। राजवल्लभ मिश्र (१८३० ई.) का 'उद्धवदूत' भी इसी प्रकार का काव्य है। इसी शृंखला में कृष्णनाथ न्यायपञ्चानन ने 'वातदूत' तथा गौरगोपाल ने 'काकदूत' की रचना की। अजितनाथ (१८८६ ई.) ने 'वकदूतम्' रच डाला, तो हरिहर ने 'कोकिलदूतम्' (१८५५ ई.) प्रस्तुत किया और रामगोपाल ने 'कीरदूतम्'। अनेक अन्य दूतकाव्यों का उल्लेख इसी अध्याय में कविपरिचय के प्रसंग में किया जा रहा है।

इसी प्रकार स्तोत्रकाव्यों की रचना भी विपुल मात्रा में उन्नीसवीं शती के संस्कृत साहित्य में हुई। रामप्रसाद का रमास्तवः (१८२० ई.) केशवसूर (१८१३-६३ ई.) का केशवस्तोत्र आदि के अतिरिक्त अन्य स्तोत्रकाव्यों का विवरण कविपरिचय के साथ दिया जा रहा है।

इनके अतिरिक्त दुःखभञ्जनकृत 'दुःखभञ्जनस्तोत्रम्', रामसहाय शर्मा के 'परमेश्वरशतकम्' तथा 'मातृपितृस्तोत्रम्' भी उल्लेखनीय हैं।

गीतगोविन्द की परंपरा में रागकाव्यों की रचना भी इस काल में हुई। इनमें रामवर्मा कुलशेखर के 'कुचेलोपाख्यानम्' तथा 'अजामिलोपाख्यानम्' तथा राजा विश्वनाथ सिंह का 'सङ्गीतरघुनन्दन' रागकाव्यपरम्परा में महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। भक्तिभावना, समर्पण तथा

सरस कथानिर्वाह के साथ सरल भाषा और ललित शैली के विन्यास के कारण ये तीनों रागकाव्य प्रभावित करते हैं। कुचेलोपाख्यानम् में लघुपदों की योजना के मनोभावों के क्षिप्र उतार-चढ़ाव को व्यंजित करने वाला यह गीत देखिये-

> **जलधिसुतारमणेन हि सोऽहं**
> **सरससमालिङ्गनतो निस्सन्देहम्।**
> **यदि खलु याच्ञा रचिता हि मया**
> **दास्यति भगवान् सकलं दयया।**
> **सरसिजनाथ हरे बहुतान्तां**
> **किन्तु वदामि गतो मम कान्ताम्।।**

सङ्गीतरघुनन्दनम् पर जयदेव का प्रभाव अधिक है। वसन्त का वर्णन यहाँ भी उसी पदावली में किया गया है, जो गीतगोविन्द की विशेषता है-

> **विहरति रघुपतिरिह ऋतुराजे।**
> **किसलयकुसुमसमाकुलतरुकुलकोकिलकीरसमाजे।**
> **विकसितमञ्जुलवञ्जुलपुञ्जनिकुञ्जमहोज्ज्वलभासे।**
> **विकसितसारससङ्कुलखगकुलसरसीसरसोल्लासे।**
> **तरलतरङ्गतरुणलतिकाततिलीलासुखदसमीरे।**
> **तरुपरिरम्भणवलितलतावलिवनविकलीकृतधीरे।**

नयी विधाएँ-उपर्युक्त पारंपरिक काव्यविधाओं के साथ नवीन विधाओं में भी रचनाएँ उन्नीसवीं शताब्दी के संस्कृत साहित्य में सामने आने लगीं। गीतिकाव्य के क्षेत्र में शोकगीत, अवगीति या व्यंग्यप्रधान पद्यरचना तथा राष्ट्रभावना से युक्त गीतिकाव्यों का निर्माण नवीन प्रवृत्तियों का परिचायक है। यद्यपि करुणरसप्रधान प्रसंग संस्कृतमहाकाव्यों में भी अनेक आते हैं, पर स्वतन्त्ररूप से विलाप-काव्य या शोकगीति का प्रचलन अंग्रेजी साहित्य में 'इलेजी' नामक विधा का प्रभाव कहा जा सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी की संस्कृत काव्य रचनाओं में अनेक शोकगीतिकाव्य भी हैं, यथा-करुणात्रिंशिका, विलापलहरी, शोकोच्छ्वासः, अश्रुविसर्जनम् आदि। इनके रचनाकारों का परिचय आगे दिया जा रहा है।

अवगीति या व्यंग्यप्रधान (सोत्प्रास) गीतिकाव्य की परंपरा का भी नवोन्मेष उन्नीसवीं शती के संस्कृत साहित्य में हुआ। इससे पाश्चात्त्य साहित्य में 'सेटायर' की अवधारणा के समकक्ष चेतना, युग की विसंगतियों के उद्घाटन और उन पर प्रहार के लिये संस्कृत कवि तत्पर हुआ। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'समाचारपत्रसम्पादकस्तवः', 'सूर्यग्रहणम्' आदि संस्कृत कविताएँ, जिनका विवरण आगे दिया जा रहा है, इस प्रकार की कविता हैं। इनमें संस्कृत कवि का साहस मुखरित है।

इसी प्रकार राजनीतिक चेतना के साथ-साथ राष्ट्र के भवितव्य और अस्मिता की पहचान के लिये भी इस काल में संस्कृत कवि विशेष रूप में अभिव्यक्तिप्रवण बना। 'भारतविलापः (हरिपद वन्द्योपाध्याय) देव्या गानम् (गोलोकनाथ) आदि कविताओं में समूचे राष्ट्र के प्रति कवि का चिन्ताभाव प्रकट हुआ है।

पुनरुत्थानवादी स्वर - वर्तमान की विसंगतियों, पाश्चात्त्य सभ्यता के दुष्प्रभाव तथा विदेशी शासकों द्वारा प्रचारित इस देश की संस्कृति के विरुद्ध भ्रामक दुष्प्रचार के कारण अनेक संस्कृत कवियों ने अतीत का गौरवगान किया, तथा वर्तमान की तुलना में उसकी उज्ज्वलता और भव्यता को स्पृहणीय रूप में चित्रित किया। श्रीनिवास दीक्षित अपने 'कलिपरिदेवनशतकम्' में कहते हैं-

मातः श्रुते स्विदिह जीवसि धर्मशास्त्र
भ्रातः क्व पर्यटसि मित्र इहेतिहास।
किं क्वापि गौरवमुपैषि गुरो पुराण
वेदान्त हा जनक का नु गतिस्तवासीत् ?।।

(संस्कृत चन्द्रिका ७/१ में प्रकाशित काव्य से)

अन्नदाचरण तर्करत्न की दीर्घ कविता 'तदतीतमेव' तो भारत के प्राचीन इतिहास का भावविह्वल गुणगान ही है। इस कविता की तुलना हम हिन्दी में मैथिलीशरण गुप्त द्वारा कुछ काल पश्चात् लिखी गयी 'भारतगीतिका' नामक काव्यकृति से कर सकते हैं, जिसे राष्ट्रभावना का शंखघोष माना गया था। भारतवासियों को अपने अतीत का बोध वर्तमान में उन आदर्शों और जीवनमूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा कराने के लिये दिया गया है, जो प्राचीन काल में हमारे पूर्वजों ने स्थापित किये-

यदा त्रिकालेक्षणशक्तिमन्तो ज्योतिर्विदो ज्योतिरनन्तदीप्त्या।
निरूपयन्ति स्म गतिं ग्रहाणां स्थितिं च तां तां तदतीतमेव।।
यदा कवीनां रसभावपूर्णोत्कण्ठादनन्तानि रसावशानि।
पद्यानि निःसृत्य सहस्रवक्त्रे दिदीपिरे हा तदतीतमेव।।
अनन्तभक्ताः समनन्तनादैरनन्तगीतैः समनन्तभोग्यैः।
यदार्चयन् जन्मधरां समष्ट्या गरीयसीं हा तदतीतमेव।।
हा वैदिकानां लयतानशुद्धसामादिगीतैरतिविस्मितः सन्।
विदग्धसार्थोऽपि च भारतेऽस्मिन् प्रीतिं नवामाप यदा गतं तत्।।

(जब तीनों कालों, भूत-भविष्य-वर्तमान को देखने की सामर्थ्य वाले ज्योतिर्विद्वान् लोग ज्योतिष विषय की अनन्त दीप्ति से ग्रहों की उस-उस गति और स्थिति का निरूपण किया करते थे, वह सब बीत गया ! जब कवियों के रस-भाव से भरे कण्ठ से अनन्त

रस-भरे पद्य निकलकर हज़ारों के मुखों में शोभित होते थे, हाय, वह बीत गया। जब अनन्त नादों, अनन्तगीतों तथा अनन्त भोग्य पदार्थों से मिल-जुल कर अनन्त भक्तगण गरीयसी जन्म-भूमि की अर्चना करते थे, हाय वह बीत गया ! जब इस भारत में विदग्धजनों का समूह वैदिक विद्वानों के लय-ताल से शुद्ध साम आदि के गानों से अतिविस्मित होकर अतिशय आनन्द का अनुभव करता था, हाय, वह बीत गया।)

व्यक्तिवाद तथा आत्माभिव्यक्ति-प्राचीन संस्कृत काव्य-परंपरा की तुलना में उन्नीसवीं शती के संस्कृत काव्य में कवि की वैयक्तिक भावनाअें की अभिव्यक्ति या वस्तुनिष्ठ प्रबन्धात्मकता के स्थान पर विषयिनिष्ठ रागात्मकता का उदय देखा जा सकता है। यद्यपि संस्कृत मुक्तककाव्य परंपरा में भर्तृहरि आदि कवियों के पद्यों में भी आत्माभिव्यक्ति तथा कवि का स्वयं का अनुभव व्यक्त हुआ है पर प्रस्तुत काल के गीतिकाव्यों में वैयक्तिकता का स्वर अधिक मुखर तथा प्रत्यक्ष अनुभूत होता है। अन्नदाचरण की 'क्व गच्छामि' तथा अप्पाशास्त्री की 'तिलकमहाशयस्य कारागृहवासः' जैसी कविताएँ इसका उदाहरण हैं, जिनमें कवि नितान्त निजी अनुभवसंसार को खोलता है। सामाजिक विडम्बनाओं के कारण विचलित कवि 'क्व गच्छामि' में अपनी आन्तरिक व्यथा को विशद अभिव्यक्ति देता है-

दशन्ति तिग्मं हृदयं विवेकं
सर्पा दशन्त्यत्र सुदीर्घकालम्।
व्यथाकुलो भेषजमत्र नेक्षे
हरे क्व गच्छामि बत क्व शान्तिः।।

समाजसमीक्षा-प्रस्तुत काल के संस्कृत गीतिकाव्यकारों ने अपने समय के समाज और उसकी प्रवृत्तियों, दुष्प्रवृत्तियों को पहचाना है और उन पर अपनी काव्यात्मक प्रतिक्रिया दी है। इसके पूर्व की संस्कृत कविता में समाज को ले कर कवि की इतनी गहरी चिन्ता तथा सामाजिक स्थितियों से सीधे इस रूप में साक्षात्कार की प्रवृत्ति इतनी उदग्र नहीं है। नवीन शिक्षापद्धति, पाश्चात्त्य सभ्यता के प्रभाव से नागर समाज में व्याप्त होने वाली दुष्प्रवृत्तियों पर इस काल के कवियों ने अपना विशेष विरोध प्रकट किया है। भारतीय नागरिकों के आचार, विचार, वेश-भूषा और दिनचर्या में आये परिवर्तनों को परिलक्षित करते हुए 'कलिपरिदेवनशतकम्' में कवि श्रीनिवास शास्त्री कहते हैं-

सूर्योदये क्वथितबीजकषायपानं
धौतं च सार्वदिककञ्चुकमेकवासः।
शौचं च सान्ध्यमपि नो शिवकर्म तेषां
म्लेच्छैः सहाटनमथानियमा च जग्धिः।। (संस्कृत चन्द्रिका ७-१-१९००)

(उनको सूर्य के उदित होने पर "काफी" (खौलै बीज) के कसैले रस का पान, सदैव

लुंगी और धोती का धारण, सन्ध्याकालीन भी शौच का आचरण न करना, मलिन जनों के साथ भ्रमण और भोजन-यह दिनचर्या है।)

समाज में सब ओर व्याप्त अशान्ति और अव्यवस्था को लेकर खिन्न होकर 'क्व गच्छामि' कविता में अन्नदाचरण कहते हैं-

कामः प्रमादो बलवान् प्रमादः
शेषाभिमानो विषमा च हिंसा।
क्रामन्ति किं नो सततं समन्ताद्-
धरे क्व गच्छामि बत क्व शान्तिः।।

(कामजन्य प्रमाद बलवान प्रमाद है, अभिमान तथा विषम हिंसा-यह सब ओर निरन्तर फैल रहे हैं, हे भगवान्, कहा जाऊँ, कहा शान्ति है ?)

शास्त्रकाव्य-विचारप्रधान शास्त्रकाव्य की परंपरा प्राचीन काल से संस्कृत साहित्य में चली आ रही है। उन्नीसवीं शती तो वैचारिक आलोडन और उथल-पुथल का युग था। अतः यह स्वाभाविक था कि कविता में विचारों की प्रधानता हो तथा युग के तर्कों, विवादों और संशयों के साथ-साथ कवि अपनी परंपरा में निहित विवेक का भी काव्य में उपस्थापन करें। उन्नीसवीं शताब्दी के संस्कृत काव्य की एक विशेषता यह भी है कि काशी तथा अन्य विश्वकेन्द्रों में रहने वाले इस युग के दिग्गज शास्त्रज्ञ पण्डितों ने प्रचुर मात्रा में संस्कृत में काव्य रचनाएँ कीं। स्वाभावतः ही ऐसी रचनाओं में शास्त्रज्ञान, पाण्डित्य तथा चिन्तन के स्वर प्रमुख हैं। पं. गंगाधर शास्त्री का 'अलिविलासिसंलापः' इस दृष्टि से एक उल्लेखनीय काव्य है। पं. शिवकुमार शास्त्री के 'यतीन्द्रजीवनचरितम्' काव्य में भी शास्त्रचर्चा और विचारविमर्श के प्रसंग बहुसंख्य हैं। नैतिक उपदेश की दृष्टि से श्री धीरेश्वर की 'विद्यामञ्जरी' इस काल में लिखी गयी रचना है।

उन्नीसवीं शताब्दी में जिन कवियों का कृतित्व सामने आया, उनमें से महत्त्वपूर्ण कवियों का परिचय यहाँ प्रस्तुत है-

लल्ला दीक्षित - लल्ला दीक्षित का जन्म-समय इदमित्थन्तया ज्ञात नहीं है, पर इनकी रचना 'आनन्दमन्दिरस्तोत्र' की पुष्पिका में इस काव्य का रचनाकाल १८५६ वि. सं. या १८०२ ई. बताया गया है, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि ये अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए होंगे और उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में विद्यमान थे। इनके पितामह काशी के महाराष्ट्रभारद्वाज कुल में उत्पन्न श्री शंकर दीक्षित थे और पिता लक्ष्मण दीक्षित। आनन्दमन्दिरस्तोत्र इनका स्तुतिकाव्य है, जिसमें भवानी की १०३ पद्यों में स्तुति की गयी है।

श्रीधरन् नम्बी - श्रीधरन् नम्बी पट्टाम्बि के पुन्नशेरी स्थान के निवासी थे। इनका समय सन् १७७४ ई. से १८३० ई. तक है। स्वयं प्रस्तुत परिचय के अनुसार ये जमोरियन

के मन्त्रियों और जमोरियन राज्य के प्रबन्धकर्ताओं के परिवार से संबद्ध थे। भारत पिशरोटी इनके गुरु थे। इनके प्रपौत्र नीलकण्ठ शर्मा संस्कृत के प्रख्यात पण्डित हैं।

श्रीधरन् के लिखे दो काव्य प्राप्त होते हैं - 'विक्रमादित्यचरितम्' (पाँच सर्गों में राजा विक्रमादित्य की कथा) तथा 'नीलकण्ठसन्देश'। नीकण्ठसन्देश में १२६ पद्यों में इण्णवूयर के राजा चेरी पुन्नश्शेरी को कोकिल के द्वारा प्रेमसन्देश प्रेषित है।

विश्वनाथसिंह - विश्वनाथसिंह रीवाराज्य के महाराजा तथा हिन्दी और संस्कृत के प्रख्यात रचनाकार हैं। इनके पिता राजा जयसिंह (१८०६-१६१३ वि. सं.) थे। विश्वनाथसिंह का जन्म सन् १७८६ ई. में हुआ तथा इन्होंने सन् १८३३ ई. से १८५४ ई. तक शासन किया। सन् १८५४ ई.में इनका निधन हुआ। विश्वनाथसिंह का उनके पराक्रम, प्रजाप्रेम, विद्वत्प्रियता तथा साहित्य और कलाओं के प्रति उनके अनुराग के कारण आज भी आदर से स्मरण किया जाता है। ये धार्मिक प्रवृत्ति के राजा थे और राममन्त्र में दीक्षित हुए थे। इनके संस्कृत ग्रन्थ इस प्रकार हैं -

दर्शनिक या भक्तिपरक ग्रन्थ-सर्वसिद्धान्तम्, रामरहस्य, राममन्त्रार्थनिर्णय तथा रामपरत्वम्।

टीकाग्रन्थ-अध्यात्मरामायण, श्रीमद्‌भागवत, श्रीमद्‌भागवततिलक, रामगीता, भक्तिरसामृतसिन्धु, सङ्गीतरघुनन्दन, रामचन्द्राह्निक, वासुदेवसहस्रनाम आदि पर टीकाएँ।

काव्य-सङ्गीतरघुनन्दनम्। चम्पू-रामचन्द्राह्निक। नाटक-आनन्दरघुनन्दनम्।

सङ्गीतरघुनन्दन रागकाव्य परम्परा की एक उल्लेख्य कृति है। यद्यपि चम्पूशैली का आश्रय लेते हुए कवि ने इसमें बीच-बीच में गद्य का भी सन्निवेश किया है, पर प्रमुखता विभिन्न रागों में गाये जाने वाले गीतों की ही है, और जयदेव के गीतगोविन्द का इस पर सुस्पष्ट प्रभाव है।

सदाशिव-सदाशिव कवि केरल में १८०० ई. में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता ऋषिकुल परिवार के नम्बुदरि ब्राह्मण थे, जिनका नाम कुन्नीकुट्टि तम्पूरन् था। सदाशिव कवि गोदवर्मन् युवराज के नाम से भी जाने जाते हैं तथा इन्हें कविसार्वभौम की उपाधि दी गयी थी। इनके रचे हुए कम से कम चौदह ग्रन्थ ज्ञात होते हैं, जिनमें महेन्द्रविजय तथा रामचरित-ये दो महाकाव्य, त्रिपुरदहनचरित, श्रीपादसप्तकस्तोत्र, सुधानन्दलहरीस्तोत्र, मुररिपुस्तोत्र, देवदेवेश्वराष्टक, सदाशिवप्रकरण आदि खण्डकाव्य या स्तोत्र हैं। रससदन नामक भाण भी इनका लिखा प्रकाशित है, तथा अन्य अनेक ग्रन्थ इनके ज्योतिषशास्त्र-विषयक हैं।

सुधानन्दलहरी गङ्गालहरी से प्रभावित रचना है, जिसमें ३५ पद्यों में गङ्गा के सौन्दर्य का वर्णन और उसके प्रति कवि का भक्तिभाव प्रकट किया गया है। श्रीपादसप्तकस्तोत्र में रमादेवी की स्तुति है, जो कोटिलिंगपुर में काली के नाम से विख्यात हैं। देवदेवेश्वराष्टकम् में शिव की, मुररिपुस्तोत्र में कृष्ण की, त्रिपुरदहनचरितम् में शिव की महिमा का गान कवि ने किया है। सदाशिवप्रकरण में स्फुट श्लोक हैं, जिनमें प्रकृति चित्रण, दुर्गास्तुति, राम की

स्तुति, राजपुत्रवर्णन, शृंगार आदि विषय हैं। सदाशिव की एक अन्य रचना 'हेत्वाभासोदाहरणश्लोका:' काव्य में दर्शन का मनोरंजक समन्वय प्रस्तुत करती है। इसमें राधाकृष्ण, सीताराम, रामलक्ष्मण के बीच हास्यपूर्ण रोचक संवाद हैं।

सदाशिव कवि की रचनाओं में भक्तिभाव की प्रधानता है। त्रिपुरदलनचरितम् में रौद्ररस का भी अंग के रूप में अच्छा परिपाक है। उदाहरणार्थ-

मुनिवरमुखादाकर्ण्य त्वं पुरत्रयचेष्टितं
झटिति घटितक्रोधादुच्चैस्तरामुदजृम्भथाः।
धणघणरणद्‌धण्टोत्कण्ठं महोक्षमधिष्ठितः
सरभसमवारुक्षो रूक्षाकृतिः स्फटिकाचलात्। (७)

(मुनिश्रेष्ठ के मुख से त्रिपुरासुर के व्यवहार की बात सुन कर रूक्ष आकृतिवाले तुमने उत्पन्न प्रबल क्रोध के कारण शीघ्र जम्भाई ली, घण-घण रणन करती घंटा वाले उत्कण्ठ नन्दी पर सवार होकर कैलास से वेग के साथ नीचे उतरे।)

तारानाथ तर्कवाचस्पति-तारानाथ के पितामह बंगाल के वैचण्णी ग्राम में निवास करते थे। उनके दुर्गादास तथा कालिदास नामक दो पुत्र हुए, जिनमें द्वितीय कालिदास तारानाथ के पिता थे। तारानाथ का जन्म १८१२ ई. में हुआ। ये बाल्यकाल से ही बड़े विलक्षण बुद्धि के थे तथा अल्पकाल में ही विभिन्न शास्त्रों का इन्होंने अच्छा अभ्यास कर लिया। १८३५ ई. में इन्हें तर्कवाचस्पति की उपाधि प्राप्त हुई। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के परामर्श से १८४४ ई. में इन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्राध्यापक का पद स्वीकार किया। मुद्रण की सुविधा के अभाव में स्वयं ग्रन्थ लिख-लिख कर छात्रों को देना, अवैतनिक अध्यापन तथा संस्कृत विद्यालय की स्थापना आदि अनेक प्रशस्त कार्य इन्होंने निःस्वार्थ सेवाभाव से किये। १८८५ ई. से काशी से आ कर वहां अध्यापन करते रहे। इनके पुत्र जीवानन्द भी इन्हीं की भाँति लेखक, समाजसेवी तथा टीकाकार के रूप में प्रख्यात हैं।

'वाचस्पत्यम्' तथा 'शब्दस्तोममहानिधि' तारानाथ के विशाल कोशग्रन्थ हैं। राजप्रशस्तिः इनकी ७५ पद्यों में प्रशस्तिपरक काव्य रचना है, जिसे इन्होंने ड्यूक आफ एडिनबरा के भारत में आगमन के अवसर पर लिखा था। कवि तारानाथ ने इसमें राजा में सद्‌बुद्धि के समुदाय और प्रजा के कल्याण की कामना व्यक्त ही है-

क्लेशजन्मपरिहीण ईश्वरो वासनारहित एष भूपते।
कर्मपाकपरिमुक्त आदितश्चेतसि प्रणिहितः सदाऽस्तु ते।। (१२)

(हे राजन्, यह ईश्वर सदा आपके चित्त में सन्निविष्ट हो, जो क्लेश तथा जन्म से परिहीण, वासना से रहित और आरम्भ से ही कर्म के फल से परिमुक्त है।)

बाबू रेवाराम-बाबू रेवाराम छत्तीसगढ़ के निवासी थे। इनका जन्मकाल इदमित्थम्

रूप से ज्ञात नहीं है। अनुमानतः इनका जन्म वर्ष सन् १८१४ ई. है। इनके प्रपितामह महन्तराय, पितामह शिवसिंह, पिता जगतराय तथा माता सीता थीं। ये जाति के कायस्थ थे। इनके पूर्वज हैहयवंशीय राजाओं के दीवान रहे। अत्यन्त प्रतिष्ठित कुल में जन्म लेकर भी इनको संघर्षमय जीवन बिताना पड़ा। आय के लिये ये पुस्तक रचना पर आलम्बित रहे या स्वतन्त्र रूप से संस्कृत का अध्यापन भी करते रहे। इनके पण्डित्य तथा रचनाकौशल की प्रशंसा उस समय भी दूर-दूर तक फैल चुकी थी। रीवानरेश ने इनको अपने दरबार में हाथी भेज कर आमंत्रित किया, पर स्वाभिमानवश ये अपना स्थान छोड़ नहीं गये। सन् १८७३ के लगभग दारिद्र्य और कष्टमय जीवन के साथ इनका देहावसान हो गया। इनका निवास रत्नपुर में था, यहाँ अब इनका कोई वंशज या परिवार का घर नहीं है, तथापि रत्नपुर और उसके आसपास इनके विषय में अनेक किंवदन्तियाँ और अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं, जिनसे इनके सन्त व्यक्तित्व और औदात्य का अनुमान होता है।[1]

इनके लिखे हुए तेरह ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं-साररामायणदीपिका, ब्राह्मणस्तोत्र, गीतमाधवकाव्य, नर्मदालहरी तथा गंगालहरी-ये पाँच इनमें से संस्कृत काव्य हैं तथा रामाश्वमेध, विक्रमविलास आदि शेष हिन्दी के काव्य हैं। साररामायणदीपिका में बाबू रेवाराम ने रामायण का सार १०८ श्लोकों में निबद्ध किया है। श्लोकों की भाषा सधुक्कड़ी है, पूरी तरह परिष्कृत संस्कृत नहीं है। शेष तीन काव्य स्तोत्र हैं, तथा गीतमाधव काव्य जयदेव के गीतगोविन्द की शैली पर लिखा गया रागकाव्य है। जयदेव की भाषाशैली का सफल अनुकरण इस काव्य में रेवाराम जी ने किया है तथा राधाकृष्ण के प्रति अपने भक्तिभाव के साथ श्रृंगार की भी अभिव्यक्ति दी है। प्रसाद और लालित्य का मणिकांचन-योग मोहक है। उदाहरण के लिये-

माधव हे, तिष्ठति राधा केलिगृहे।
भवदवलोकनसचकितनयना
पुनरनुतर्क्य रचितसमशयना।।

(हे माधव, राधा केलिवन में विद्यमान है, जिसकी आँखें आप के अवलोकन से साश्चर्य हैं, आपकी कल्पना करके जो बारबार शयन रचा करती है)।

बीच-बीच में मात्रिक छन्दों के विनियोग से कथा को आगे बढ़ाया गया है। अष्टपदियों या गीतियों के साथ सर्वत्र गेय राग का निर्देश किया गया है। संभव है, बाबू रेवाराम अपने इस काव्य का स्वयं गायन करते हों, क्योंकि उनकी संगीतकर्मकता विश्रुत है।

---

१. छत्तीसगढ़ के संस्कृत कवि बाबूरेवाराम के काव्यग्रन्थों का अनुशीलन : रायपुर विश्वविद्यालय का शोधप्रबन्ध (अप्रकाशित) पृ. ६०-६४।

जिस प्रकार गीतमाधव जयदेव के काव्य की सफल अनुकृति है, उसी प्रकार बाबू रेवाराम की गंगालहरी पण्डितराज के लहरीकाव्य की स्मृति कराती है। भाव और भक्ति की गहनता रेवारामजी की रचना में पण्डितराज की गगांलहरी के समान ही है। शिखरिणी छन्द में लालित्य, मसृणता और सानुप्रास पदावली में गंगा के प्रवाह को कवि ने बाँधा है-

> हरेः पादाम्भोजप्रचुरसुषमाशालिसलिलम्
> जटाजूटाटव्याश्रमरमणशीलं पुररिपोः।
> सुराणां पीयूषं कतिभुवनभूषं जननि यत्
> त्वदीयं मे तोयं परिहरतु पापं सुखमयम्।।

(हे माता गंगे, तुम्हारा जल मेरे ताप तथा पाप को हर ले, जो विष्णु के चरण-कमलों में अधिक शोभित है, जो पुरारि शिव के जटाजूट की अटवीं के आश्रम में रमण करने की प्रवृत्ति वाला है, देवताओं का अमृत, अनेक भुवनों की शोभा तथा सुखमय है।)

दैन्य, समर्पण तथा भक्ति की पराकाष्ठा इस काव्य में देखने को मिलती है। एक और उदाहरण देखिये-

> अनाथं स्नेहार्हं परिलसितसौहार्दसलिले
> भुवो हारेऽपारोद्धुरविपुलधारेऽब्धिमहिले।
> मरुद्धेनुक्षीरोल्लसितदरकुन्देन्दुरुचिरं
> तरङ्गं ते तुङ्गं हरतु मम गङ्गे कलिमलम्।।

(अनाथ तथा स्नेहार्ह जन के प्रति सौहार्द से युक्त जल वाली, पृथ्वी की हार अपार एवं विकट धारा वाली, हे समुद्र-पत्नी गङ्गा, तुम्हारी उत्तुङ्ग तरंग मेरे कलिजनित मल (या दोष) को दूर करे।)

शिखरिणी के अतिरिक्त वसन्ततिलका छन्द का प्रयोग भी इस काव्य में किया गया है।

नर्मदालहरी में विषय के अनुरूप उद्दाम प्रवाह तथा प्रबल वेग को सूचित करने के लिये स्रग्धरा छन्द और अनुरूप पदावली का प्रयोग रेवा राम ने किया है। ओजस्वी गाढ़ बन्ध और नृत्यत्प्राय पदावली का यह उदाहरण देखिये-

> खेलन्त्यः सम्पतन्त्यस्तिमिरतमतमीकुञ्जरोत्फालकेलि-
> प्रोत्काण्ठाकुण्ठकण्ठीरवविधुतनवाकल्पवल्लीलहर्यः।
> वामेवां मामरस्यां मुलविबुधधुनीविस्मयं क्षालयन्त्यः
> शं दातं, विष्टपानां मुवि भुवनभरोल्लासिचञ्चत्प्रवाहाः।।

स्वातितिरुनाल रामवर्म कुलशेखर (बञ्चीश्वरमहाराज) - रामवर्मकुलशेखर त्रावणकोर के राजा थे। इनका जन्म सन् १८१३ ई. में हुआ। स्वातिनक्षत्र में जन्म लेने के कारण इन्हें

स्वातितिरुनाल भी कहा जाने लगा। माता के गर्भ में आते ही इन्हें राज्य का उतराधिकारी घोषित कर दिया गया था, अतः इन्हें 'कर्मश्रीमान्' की उपाधि भी मिली। वन्चीश्वर इनका कुल है। पुत्र के जन्म के पश्चात् ही इनकी माता रानी लक्ष्मीबाई का देहावसान हो गया और इनकी मौसी ने इनका भरण-पोषण किया। तेरह वर्ष की आयु में ही रामवर्मा ने संस्कृत, मलयालम, कन्नड, तेलुगु, तमिल, मराठी हिन्दी तथ फारसी भाषाओं पर अधिकार प्राप्त कर लिया था। त्रावणकोर के दीवान श्री सुब्बाराय इन्हें अंग्रेजी सिखाते थे। सन् १८२६ ई. से इन्होंने त्रावण-कोर राज्य पर शासन आरम्भ किया और अपने को बड़ा सुयोग्य शासक प्रमाणित किया। राज्य में चिकित्सालय, पाठशालाओं, न्यायालय तथा मुद्रणालय की व्यवस्था इन्होंने करायी। इनके शासनकाल को त्राणकोर राज्य का स्वर्णकाल कहा जाता है। अंग्रेज जनरल कुलेन को इनकी योग्यता, न्यायप्रियता तथा प्रजावत्सलता से स्वाभावतः डाह थी और उसने इनके कार्य में बाधाएँ देना शुरू किया, जिससे खिन्न हो कर रामवर्मा शासन और राजनीति से विमुख तथा उदासीन हो गये तथा साहित्यसाधना में मन लगाने लगे। सन् १८४७ ई. में ३८ वर्ष की आयु में ये दिवंगत हुए।

संस्कृत में रामवर्मा की निम्नलिखित रचनाएँ मिलती हैं-स्यानन्दूरपुरवर्णनप्रबन्ध (त्रावणकोर राज्य से प्रका., १६२० ई.) पद्नाभशतक (ओरियंटल मैन्यु. लाइब्रेरी त्रिवेन्द्रम के जर्नल में प्रका., अजामिलोपाख्यान त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज में प्र. कुचेलोपाख्यानम् (प्रका. वही) तथा भक्तिमञ्जरी (त्रावणकोर राज्य से प्रका. १६०४ ई.)। प्रथम रचना चम्पू काव्य है, जिसमें त्रिवेन्द्रम् के मन्दिर के निर्माण और उसमें होने वाले उत्सव का वर्णन है। भक्तिमञ्जरी में एक सहस्र पद्य हैं, जो दस शतकों में विभक्त हैं। विभिन्न छन्दों का चयन कवि ने प्रत्येक शतक में किया है। भक्ति की महत्ता का गायन तथा दार्शनिक विवेचन इस रचना में हुआ है। इसके साथ ही भागवत तथा विष्णुपुराण से कथाएँ भी उद्धृत की गयी हैं।

राजवर्मा का संगीत पर असाधारण अधिकार था, और इनके अजामिलोपाख्यानम् तथा कुचेलोपाख्यानम् रागकाव्य हैं। कुचेलोपाख्यानम् सुदामा की कथा पर आधरित है। कवि ने पदों के साथ राग और ताल का निर्देश दोनों रचनाओं में किया है।

रामवर्मा ने संस्कृत, मलयालम, हिन्दी कन्नड, तेलगु, मराठी आदि भाषाओं में स्तुतिपरक कीर्तनों, पदों, चौपालों तथा ठुमरियों की भी रचना की थी। संगीतकार के रूप में उनकी प्रतिभा की सराहना अनेक समकालीन कलाविदों ने की है तथा उन्हें कर्नाटक के महान् सन्त-गायक त्यागराज और मुत्तुस्वामी दीक्षित के समकक्ष माना है।

सीतारामभट्ट पर्वणीकर-सीताराम भट्ट जयपुर नरेश महाराज जयसिंह द्वितीय (१८१६-१८३४ ई.) की राजसभा के कवि थे। इनके एक पूर्वपुरुष माधवभट्ट भी जयपुर के तत्कालीन राजा विष्णुसिंह की कीर्ति सुन कर महाराष्ट्र से जयपुर आये थे। उनकी पांचवी पीढ़ी में सीताराम हुए। सीताराम ज्योतिष, न्याय, छन्दःशास्त्र और व्याकरण आदि शास्त्रों में पारंगत थे। उनके लिखे प्रमुख ग्रन्थ इस प्रकार हैं-

महाकाव्य - नृपविलास, जयवंश, नलविलास, रामचरित आदि।

साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ - काव्यप्रकाशसार, साहित्यसार, नायिकावर्णन, साहित्यसुधा, साहित्यतत्त्व, साहित्यार्णव, साहित्यतरङ्गिणी आदि।

व्याकरण पर - चतुर्दशी व्याख्या।

ज्योतिष पर - जातकपद्धति, ज्योतिःपद्धति।

टीकाग्रन्थ - कुमारसम्भवटीका तथा घटकर्परकाव्यटीका।

इन रचनाओं के अतिरिक्त सीताराम भट्ट के निम्नलिखित स्तोत्रकाव्य हैं-

सूर्याष्टक, गङ्गाष्टक, देव्यष्टक, भैरवाष्टक, विष्णूवष्टक, हनुमदष्टक, शिवाष्टक, हेरम्बाष्टक, जम्बुवाहिन्यष्टक, गुर्वष्टक।

रघुराजसिंह-रीवानरेश महाराज विश्वनाथसिंह के सुपुत्र महाराज रघुराजसिंह हुए। इनका जन्म सन् १८२३ ई. में हुआ था तथा शासनकाल १८५४ ई. से १८८० ई. के मध्य रहा। ये अस्त्र-शस्त्रसंचालन में निपुण थे और मृगया में विशेष रुचि रखते थे। इनकी आठ पत्नियाँ थीं और सन्तानों में सर वेंकटरमण इनके उत्तराधिकारी हुए। १८५७ ई. के विद्रोह में इन्होंने अंग्रेजीशासन का साथ दिया और उसके पारितोषिक में इन्हें सरकार ने सोहागपुर का इलाका प्रदान किया। दुर्भिक्ष के समय उत्तम प्रबन्ध के लिये १८७७ ई. में दिल्ली दरबार द्वारा जी.सी.एस.आई. की उपाधि भी प्रदान की गयी। अपनी दानशीलता के लिये रघुराजसिंह माने जाते रहे हैं, तीर्थस्थलों में बार-बार इन्होंने अपने सारे आभूषण उतार कर दान किये। १८७५ ई. में इन्होंने रीवा राज्य का प्रबन्ध अंग्रेजी सरकार को सौंप दिया और भगवद्भजन में समय व्यतीत करने लगे। १८८० ई. में इनका स्वर्गवास हो गया। रघुराजसिंह के नाम से हिन्दी तथा संस्कृत में प्रचुर साहित्य प्राप्त होता है। हिन्दी में रामस्वयंवर, आनन्दाम्बुनिधि, रूक्मिणीपरिणय आदि इनकी कृतियाँ हैं, तथा संस्कृत में सुधर्मोविलास, नर्मदाष्टकम्, शम्भुशतकम्, रघुराजमङ्गलचन्द्रावली आदि इनके काव्य हैं।

सुधर्माविलास में सोलह उल्लासों में सुधर्मा की सभा, विभिन्न प्रकार की साधनापद्धतियाँ, वैकुण्ठ, दशावतारस्तुति, रामावतारस्तुति, कृष्णस्तुति आदि विषय हैं। शम्भुशतकम् की रचना तिथि संवत् १९१८ पौष कृष्ण १२ दी गयी है। जगदीशशतकम्[1] में ११० पद्यों में भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति है। कवि ने आर्तभाव से श्रीकृष्ण को पुकारा है -

किं किं ब्रवीमि पतितोद्धरणं हि लोके
यद्यत्त्वया कृतमनन्त चतुर्युगेषु।
तस्मात् त्वदीयचरणं शरणं गतोऽहं
मामुद्धरस्व कृपया जगदीश कृष्ण।। (२३)

---

१. डॉ. सुद्युम्न आचार्य ने रङ्गाचार्यवाधूल की टीका तथा अपनी व्याख्या और अनुवाद के साथ इसे पुनः प्रकाशित किया है। प्रकाशक-वेदवाणीवितानम्, कोलगवां सतना (म.प्र.)

(हे अनन्त, चारों युगों में जो-जो आपने पतितजनों का उद्धार किया है उसके बारे में क्या-क्या कहूँ ? इसलिए मैं आपके चरणों में शरणागत हूँ। हे जगदीश कृष्ण, कृपा करके मेरा उद्धार कीजिए।)

गोमतीदास रामस्वामीशास्त्री-गोमतीदास रामस्वामी का जन्म सन् १८२३ के नवम्बर माह में केरल के इलत्तूर ग्राम में हुआ था। गोमतीदेवी इनकी कुलदेवी थीं। एक बार पञ्चशती के अध्ययन के समय इन्हें गोमती ध्यान में दिखायी दीं। तब से वे अपने को गोमतीदास कहने लगे। अपनी समस्यापूर्तियों तथा काव्यप्रतिभा के कारण ये महाराज एलम् तिरुनाल के विशेष कृपापात्र बने। १५ अक्टूबर १८८७ के दिन इनका निधन हुआ। इनके देहावसान का समाचार सुन कर महाराज एलम् के अनुज केरल वर्मा ने यह आर्या अपने भाई को लिख कर भेजी थी-

श्रीशङ्करोपमानाः श्रीमदानन्दनाथगुरुचरणाः।
श्रीमोदिनीसनाथाः श्रीपुरमेवापुरद्य पूर्वाह्णे।।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रतिभाशाली संस्कृतरचनाकारों में गोमतीदास गणनार्ह हैं। इन्होंने काव्य, नाटक, काव्यशास्त्र, व्याकरण, दर्शन आदि विविध विधाओं में अपनी लेखनी व्यापृत की। भट्टिकाव्य की शैली पर लिखा सुरूपराघवमहाकाव्य, कीर्तिविलासचम्पू (महाराजा एलम् के जीवन पर) काशीयात्रानुवर्णन, कैवल्यवल्लीपरिणयनाटक (अनुपलब्ध), रामोदयः, वृत्तमुक्तावली, क्षेत्रतत्त्वदीपिका (रेखागणित) तुलाधारप्रबन्ध आदि इनकी उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

इनके खण्डकाव्यों में 'गौण्यप्रबन्ध' एक अनोखी रचना है, जिसमें नेपियरनामक गवर्नर के जाने पर मद्रास प्रान्त के कृषकों की मनोभावनाओं का चित्रण है। इन्होंने ४५ वर्षों में पार्वतीपरिणय नामक यमककाव्य भी लिखा। इस पर कालिदास के कुमारसम्भव का प्रभाव है। 'अम्बरीशचरित' तथा 'गान्धारचरित' इनके पौराणिक कथाओं पर आधारित खण्डकाव्य हैं। इनके अतिरिक्त इनके स्तुति-काव्यों की संख्या बहुत बड़ी है, जिनमें अश्वत्थगणनाथाष्टकम्, धर्मसंवर्धिनीस्तोत्र, आर्याद्विशती, त्रिपुरसुन्दरीगीता, ललितागीतम्, कृष्णदण्डक, अष्टप्रासशतकम् आदि का उल्लेख मिलता है। इनके काव्य में अलंकारों का यथोचित विन्यास कल्पना की छटा तथा दार्शनिक चिंतन का पुट मिलता है, भाषा का इनका अभ्यास परिष्कृत है। अष्टप्रासशतकम् से यह उदाहरण देखिये-

भूतं भव्यमिदं भवच्च निखिलं भूतं यदेकाश्रयं
जातं जीवति सम्परैति नियतं गीतं श्रुतैर्मौलिभिः।
पूतं ब्रह्म सनादनन्तनगरे पीतं सकृल्लोचनैः
प्रीतं भोगिशयं हृदिस्थकमलं पोतं भवाब्धेर्भजे।। (५२)

(यह भूत, भविष्य और वर्तमान समस्त भौतिक जगत् एक मात्र जिसके आश्रित हैं, (यहाँ तक कि) निश्चित रूप से उत्पन्न होता, जीवित रहता और मृत्यु को प्राप्त होता है, जो श्रेष्ठजनों द्वारा गीत है, पवित्र ब्रह्म (मन्त्र) है, तिरुअनन्तपुर में जो सदा दृष्टिगोचर होता है, उस प्रसन्न शेषशायी हृदयगत कमल वाला तथा संसार-सागर में पोत को भजता हूँ।)

सदाशिव शास्त्री-सदाशिव शास्त्री का जन्म १८२६ ई. में हुआ। ये केरल में ततमपुर के निवासी थे। इनका गोत्र शाण्डिल्य था। इनके पिता शूकर सोमयाजी भी संस्कृत के अच्छे पण्डित थे। इन्होंने बालक सदाशिव को अलंकारशास्त्र आदि का अध्ययन कराया। तेरहवें वर्ष में पितृवियोग का आघात पा कर सदाशिव देशभ्रमण के लिये निकल पड़े। प्रयाग में इनकी डॉ. भाऊजी से भेंट हुई। उनके साथ ये मुम्बई आ गये और वहाँ रहकर चार वर्ष पुराणों का संशोधन करते रहे। भाऊ जी के स्वर्गवास हो जाने पर विक्रम सं. १९३० में ये बीकानेर चले गये और वहाँ से रामसिंहद्वितीय के आश्रय में जयपुर आये। यहां रह वसन्तशतक, दुर्गाशतक तथा गोपालशतक इन तीन काव्यों की रचना की। संवत् १९४७ में अर्वुदाचल (आबू) में रह कर पं. गोपीनाथ शर्मा के साथ इन्होंने 'अर्बुदाचल माहात्म्य' का प्रणयन किया। उसके पश्चात् संस्कृत पाण्डुलिपियों, ग्रन्थों आदि के अध्ययन-अनुसंधान के लिए ये कश्मीर गये और वहाँ रह कर काश्मीरशतक की रचना की।

सदाशिव शास्त्री की शैली चमत्कारपूर्ण है। विषयवस्तु तथा भावबोध की दृष्टि से उसमें नवीनता नहीं है। चित्रालंकारों के प्रयोग में दक्षता का प्रदर्शन उन्होंने प्रायः किया। वसन्तशतकम् से एक उदाहरण देखिये -

स्फुटममारजनी सुदिनीकृता बलतदुज्ज्वलचम्पकवन्यया।
द्रुतमहारजतप्रतिमश्रिया नमितयाऽमितया सुमसम्पदा।। (४५)

रामवारियर-रामवारियर का जन्म तालचिप्पली के बैकुलन्नार नगर में १८३२ ई. में हुआ था। व्याकरण, अलंकार तथा तर्कशास्त्र की उच्च शिक्षा इन्होंने गोविन्द नाम्बियार से प्राप्त की। इन्होंने अनेक संस्कृत काव्यों की मलयालम में टीकाएँ लिखी हैं। कुमारसम्भव के तीन सर्गों पर संस्कृत में इनकी टीका मिलती है। संस्कृत काव्यों में इनके स्फुट पद्यों के अतिरिक्त वागानन्दलहरी, वामदेवस्तव, विद्युन्मालास्तुति, विद्याक्षरमाला आदि काव्य इन्होंने लिखे। वागानन्दलहरी सरस्वती की स्तुति में है, इसमें १०८ शिखरिणी छन्द हैं। शंकराचार्य की सौन्दर्यलहरी का इस पर प्रभाव है। कवि ने इस पर स्वोपज्ञ टीका भी प्रस्तुत की है। वामदेवस्तव में भगवान् शंकर का स्तवन है। इस काव्य में स्रग्धरा छन्द का प्रयोग है। इसकी भी कवि ने अर्थप्रकाशिका नाम की टीका प्रस्तुत की है।

वीरराघव-वीरराघव कवि का जन्म शाहजीपुरम् नामक ग्राम में हुआ। इनका जीवनकाल १८२० ई. से १८८२ ई. के बीच माना गया है। ये तंजौर के महाराज शिवेन्द्र या शिवजी (१८३५-६५ ई.) के आश्रित रहे। इन्होंने संगीत, नाट्यशास्त्र तथा धर्मशास्त्र का

विशेष अध्ययन किया। संस्कृत में इनके निम्नलिखित दस ग्रन्थ हैं -

नाटक-वल्लीपरिणयम् तथा रामराज्याभिषेकम्।

स्तोत्र-रामानुजाचार्याष्टकम्, रामानुजाष्टोत्तरनामस्तोत्रम्, रामानुजाष्टकम्, रामानुजातिभानुस्तवः तथा पार्वतीस्तोत्र आदि।

उमापति त्रिपाठी-श्री उमापति त्रिपाठी अयोध्या निवासी रामभक्त कवि थे। इनका जन्म गोरखपुर जिले के मझौली राज्य में पिण्डी ग्राम में संवत् १८६१ (सन् १८३४ ई.) में हुआ था। इनकी शिक्षा काशी में हुई। पच्चीस वर्ष की आयु में शास्त्रार्थ के निमित्त इन्होंने देशाटन आरम्भ किया। भारत की सुदीर्घ यात्रा में इन्होंने ग्वालियर के सिन्धिया दरबार, रीवा के राजा विश्वनाथ सिंह, बिठूर के पेशवा बाजीराव, लखनऊ के नवाब बाजिदअली शाह, बलरामपुर के राजा दिग्विजय सिंह तथा अवधमण्डल के राजा दर्शनसिंह की राजसभा में धन-मान अर्जित किया और अयोध्या लौट आये। अनुश्रुति है कि राजाओं से प्राप्त विपुल धन को इन्होंने पण्डितों में वितरित कर दिया था। इन्होंने ४६ वर्ष तक अयोध्यावास कर संवत् १६३० (सन् १८७३ ई.) में जीवनलीला समाप्त की। अयोध्या के नये घाट पर इनकी वंशपरम्परा फल-फूल रही है।

अपने वैदुष्य और रचनाशक्ति के कारण त्रिपाठी जी की तुलना शंकराचार्य तथा पण्डितराज जगन्नाथ से की जाने लगी थी। कहा जाता है कि रीवानरेश राजा विश्वनाथसिंह की सभा में इन्होंने भागवत के एक पद्य के ४७ अर्थ कर डाले थे। व्याकरण के पाण्डित्य के कारण इन्हें 'अभिनवपाणिनि' भी कहा जाता था। 'कोविद' उपनाम से इन्होंने हिन्दी में अनेक काव्य लिखे हैं। संस्कृत में अनेक टीकाओं, भाष्यों तथा पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने निम्नलिखित काव्य रचे हैं -उमापतिशतकत्रय, सुधामन्दाकिनी, रामजानकीस्तोत्र, रघुनन्दनषोडशक, अयोध्याविंशतिका, रघुनाथस्तोत्र, रामस्तोत्र, जानकीस्तोत्र, कालिकाष्टकम्, शङ्कराष्टकम् तथा श्रीविंशतिका।

सख्यसरोजभास्कर में इन्होंने रसिकोपासना की शास्त्रीय और काव्यशास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत की है। तदनुसार त्रिपाठी जी के सारे काव्यों की पदावली सरस और अनुप्रास-झंकार से समन्वित है। यमक के बड़े कठिन बन्धों का भी इन्होंने प्रयोग किया है। 'सुधामन्दाकिनी' से कुछ उदाहरण देखिये-

तव नखांशुकलाविकलो विधुः क्षयति मासि विलक्षणलक्षणम्।
परमतावक तावकविश्रुतिः श्रुतिजनो न तनोति मनोव्यथाम्।।
दुरितदार उदारसुदारको बृहदुदार उदारसुदारकः।
वृतकुमारकुमारकुमारको वृतकुमार कुमारकुमारकः।।

गोपीनाथ दाधीच (डेरोल्या)-साहित्यशास्त्र के उद्भट पण्डित श्री गोपीनाथ दाधीच जयपुरनरेश महाराज रामसिंह (१८३५-८०) के आश्रय में रहे। कृष्णरामशास्त्री ने अपने 'जयपुरविलास' काव्य में इनके विषय में लिखा है-

चकार यः स्वानुभवाष्टकं तथा गीतां जगौ देशिकलावनीपदैः।
ज्ञानोदयं स्वात्मनि घोषयन् स्वयं नाथः सगोपीप्रथमोऽस्ति काव्यवित्।। ५/४३

(उस काव्यज्ञ गोपीनाथ ने 'स्वानुभवाष्टक' की रचना की और देशी लावनी के पदों से अपने में ज्ञान के उदित होने की घोषणा करते हुए गीता को गाया।)

गोपीनाथ के पिता जयपुर के निवासी मालीराम जी थे। गोपीनाथ जी जयपुर संस्कृत पाठशाला में अध्यापक रहे। अपने हिन्दी ग्रन्थ 'उपदेशामृतघटी' में कवि ने स्वरचित छह हिन्दी रचनाओं तथा बाईस संस्कृत प्रबन्धों का नामोल्लेख किया है। इनमें माधवस्वातन्त्र्यम् नाटक, प्रधानरसदृष्टान्तपञ्चाशिका तथा वृत्तचिन्तामणिः-ये शास्त्रीय ग्रन्थ हैं और नीतिदृष्टान्तपञ्चाशिका, स्वानुभवाष्टक, रामसौभाग्यशतक, शिवपदमाला, दधिमथपञ्चाशिका, आनन्दनन्दनकाव्यम्, कृष्णार्यासप्तशती, हरिपञ्चविंशतिः, विश्वनाथविज्ञप्तिपञ्चाशिका, स्वजीवनचरितम्, भावनगरप्रशस्तिः, सुतजन्महोत्सवः ये काव्य हैं। इनके अतिरिक्त भी इनके कुछ काव्य और शास्त्रीय ग्रन्थ पुरातत्त्वमन्दिर जयपुर में मिलते हैं। वस्तुतः दाधीच जी का कृतित्व अतिशय व्यापक और विपुल है।

रामसौभाग्यशतकम् में इन्होंने सवाई रामसिंह के भाई सौभाग्यसिंह का चरित चित्रित किया है। यह १०६ पद्यों की प्रशस्ति है। सुतजन्ममहोत्सवः शेखावटीभूषण खेतड़ी नरेश अजीतसिंह वर्मा के पुत्रजन्मोत्सव के उपलक्ष्य में लिखा गया है।

श्री कृष्णरामभट्ट-श्री कृष्णरामभट्ट ने अपने जयपुरविलास खण्डकाव्य में स्वपरिचय इस प्रकार दिया है-

श्रीमद्गौतममगोत्रभूषणमणिः प्रत्यर्थिचिन्तामणि-
र्वामाचारतमिस्रपुष्करमणी रोगार्तचिन्तामणिः।
पृथ्वीपालकृतादरोऽखिलबुधश्रेणीशिरःशेखरो
लल्लूरामभिषग्वरोऽभवदिह प्रख्यातविश्वम्भरः।।
योगान्वितः सुरसभावनकर्मदक्षः काव्यादरः पुरविभावलयं दधानः।
पुत्रोऽभवद् गुरुसमृद्धिरमुष्य वैद्यविद्याचणो जगति कुन्दनरामनामा।।
गुरुप्रसादाधिगतार्थबोधौ वैद्यागमाकुण्ठितवाक्प्रसारौ।
श्रीकृष्णरामो हरिवल्लभश्च द्वावात्मजौ तस्य कवी अभूताम्।।

श्री कृष्णराम ने काव्यप्रकाश, छन्दःशास्त्र तथा गणित का अच्छा अध्ययन किया था। जयपुरनरेश राजा रामसिंह (१८३५-८० ई.) कवि श्रीकृष्णरामभट्ट के आश्रयदाता रहे।

श्रीकृष्णरामभट्ट की १८ रचनाएँ प्राप्त होती हैं - जिनमें कच्छवंश ऐतिहासिकमहाकाव्य है, जयपुरमेलककौतुकम् माधवपाणिग्रहणोत्सवः सम्राट्सुताभिनन्दनम्, काव्यमाला आदि प्रशस्तिपरक या वर्णनात्मक काव्य हैं। चत्वारिंशत्पद्यावली, मुक्तक-मुक्तावली, सारशतकम् आर्यालङ्कारशतकम् तथा जयपुरविलास इनकी काव्य रचनाओं में विशेष उल्लेखनीय हैं।

पलाण्डुराजशतकम् आयुर्वेद से संबद्ध मनोरजंक रचना है। सिद्धभैषजमणिमाला, छन्दोगणितम् आदि इनकी शास्त्रीय रचनाएँ हैं।

'जयपुरविलास' इनका जयपुर नगर के सौन्दर्य और सांस्कृतिक परिवेश को जानने के लिये वस्तुतः उपादेय है। श्रीकृष्णराम भट्ट की शैली बड़ी मंजी हुई तथा रचनाबन्ध प्राचीन कवियों के समकक्ष हैं। वर्णनकला में वे दक्ष हैं। द्वितीय उल्लास में रामनिवास के वर्णन में उन्होंने लिखा है-

> **द्राक्षामण्डनमण्डितं द्रुमशिखाव्यालम्बिलेखं पयो-**
> **यन्त्रश्रीमदखर्वपर्वतगृहं लीलाशकुन्तध्वनि।**
> **छायामञ्जुनिकुञ्जपुञ्जजठरभ्राजिष्णुपट्टासनं**
> **रम्यं रामनिवासमस्ति नृपतेरुद्यानमुद्यानकम्।।** (२/८५)

(नृपति का 'राम निवास' नाम का रम्य उद्यान, वास्तव में उद्यान है, जो अंगूर के मण्डपों से मण्डित, जिसके पेड़ों की शिखाओं पर लेख (?) लटकर रहे हैं, जहाँ जलधारा यन्त्रों के कारण शोभायमान बड़े पर्वत-गृह हैं, जहाँ लीलापक्षियों का कलरव है, छाया के सुन्दर निकुञ्जसमूह के मध्यभागों में शोभनशील पट्टासन हैं।)

सारशतकम् (निर्णयसागरप्रेस, १८८७ ई.) में कवि ने कुल १०५ पद्यों में कालिदास, भारवि, माघ और हर्ष के महाकाव्यों का सार प्रस्तुत किया है।

'मुक्तकमुक्तावली' (प्र. वही, १८८७ ई.) में सात सर्ग हैं- देवतास्तवन, समस्यापूरण, उद्दीपनवर्णन, शृङ्गारवर्णन, काव्यप्रशंसा, हास्य तथा सङ्कीर्णवस्तुवर्णन। अंतिम सङ्कीर्णवस्तुवर्णन में वापी, गङ्गा, वैद्य, विक्टोरियावर्णन, रेल, तार, नटी अदि विषय हैं। इसके अंत में राजस्थानी तथा हिन्दी में भी दोहा आदि छन्दों में रचनाएँ हैं।

कवि श्रीकृष्णराम ने काशीनाथस्तवः में शंङ्कर की, आर्यालङ्कारस्तवः में त्रिपुरसुन्दरी की तथा गोपालगीतम् में श्रीकृष्ण की स्तुति की है। वस्तुतः श्रीकृष्णराम भट्ट का रचनात्मक अवदान इस युग के संस्कृत साहित्य की उपलब्धि कहा जा सकता है। इनके समकालीन श्री दुर्गाप्रसाद पण्डित ने इनके विषय में लिखा है-

> **उथल्लावण्यलीलावलयितवपुषां स्वर्गवाराङ्गनाना-**
> **माश्लेषे यः प्रमोदः स्फुरति च गरिमा योऽमृते माधुरीणाम्।**
> **सौरभ्यं कुङ्कुमे यत् पयसि विमलता याप्यहो यत् समस्तं**
> **मित्रैकत्रेक्षितुं चेदभिलषसि तदा पश्य कृष्णस्य काव्यम्।।**

संस्कृतचन्द्रिकाखण्ड -११, संख्या-२

हरिवल्लभ भट्ट-श्री कृष्णभट्ट के ही अनुज हरिवल्लभ भट्ट थे। स्वरचित 'जयपुरपञ्चरङ्गम्' में इन्होंने अपने को श्रीकृष्णराम भट्ट का वैमातृक कनिष्ठ भ्राता

बताया है। हरिवल्लभ ने शब्दानुशासन का अध्ययन अपने पिता से, काव्य-कोश-छन्दोविधानादि का अध्ययन अपने अग्रज से तथा वैद्यक का अध्ययन स्वयं किया। इनकी सात संस्कृत काव्यकृतियां प्रकाशित हैं -

जयपुरपञ्चरङ्गम्, कान्तावक्षोजशतकम्, ललनालोचनोल्लासः, दशकुमारचरित्रम्, देवीस्तोत्रम्, शृङ्गारलहरी तथा गौर्यलङ्कारः।

जयपुरपञ्चरङ्गम्-ऐतिहासिक वर्णनात्मक काव्य है, जो पॉच सर्गों में विभाजित है। इसमें इष्टदेवतादिस्तुति के अनन्तर जयपुरनगर का वर्णन तथा सवाई जयसिंह द्वितीय से लगा कर सवाई माधवसिंह द्वितीय तक की पीढ़ी के जयपुरनरेशों की प्रशस्तियाँ हैं। दशकुमारचरित्रम् काव्य दण्डी के दशकुमारचरित का ११२ पद्यों में सारांश है। कान्तावक्षोजशतक १०१ पद्यों का शृंगाररसमय काव्य है। इसमें कविकल्पना, भाषा के चमत्कार, शब्दसौष्ठव और व्यंजनाओं का रमणीय समन्वय है। इसी प्रकार ललनालोचनोल्लास में सुन्दरी के कटाक्षों का १०३ पद्यों में रोचक चित्रण है। इसी विषयवस्तु को लेकर १०३ पद्यों में ही कवि ने शृङ्गारलहरी की रचना की है। कवि ने अपने शृंगारित काव्यों या स्तोत्रों में प्राचीन परिपाटी का ही अनुकरण अधिक किया है। अलंकारों का सायास विन्यास हरिवल्लभ भट्ट के काव्य में मिलता है। ललनालोचनोल्लास का यह उदाहरण द्रष्टव्य है-

भवतीह यादृशो यः स तादृशेनैव रज्यते प्रायः।
यदपाङ्गा हि नताङ्ग्या अनङ्गराज्ञो नवाः सुहृदः।।

कवि ने नताङ्गी (सुन्दरी) के अपाङ्ग (चितवनो) को अनङ्ग कामदेव रूपी सम्राट् का मित्र कहा है।

ताराचरण तर्कभूषण-ताराचरण काशी की पंडित मण्डली में पिछली शताब्दी के श्रेष्ठ विद्वानों में गिने जाते थे। ये काशीनरेश ईश्वरीनारायणसिंह के आश्रय में रहे और उनके आदेश से इन्होंने सन् १८६६ ई. में काशिराजकाननशतक काव्य लिखा था। इनके पुत्र पं. प्रमथनाथ तर्कभूषण ने अपने कोकिलदूतम् काव्य में पिता का परिचय इस प्रकार दिया है-

पूर्वाशावदनाद् दिवाकरमणिश्चन्द्रोऽब्धिमध्यादिव
प्रोद्भूतो भुवनप्रसारकिरणख्यातिर्वसिष्ठान्वयात्।
विद्वद्वृन्दविनिद्रदर्पनलिनीनागाधिनाथायितः
श्रीताराचरणो द्विजः सुविदितः पाण्डित्यवारांनिधिः।। -कोकिलदूतम्- १०५

(मानों पूर्व दिशा के मुख से सूर्यमणि की भाँति, समुद्र के बीच से चन्द्र की भाँति भुवन में फैली किरण रूपी ख्यातिवाले वसिष्ठकुल में उत्पन्न, विद्वत्सभूह के विकसित दर्प की नलिनी के लिए ऐरावत के आचरण वाले, पाण्डित्य के समुद्र द्विज श्री ताराचरण सुविदित हैं।)

ताराचरण न्यायशास्त्र में पारंगत थे तथा काव्यरचना में भी उतने ही निपुण थे। उक्त काशिराजकाननशतक के अतिरिक्त इन्होंने शङ्गाररत्नाकर, रामजन्मभाण तथा राघाष्टक की रचना की थी। शृङ्गारत्नाकर इनका काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है, जिसमें विशेषतः रसों और छन्दःशास्त्र का विवेचन है। काशिराजकाननशतकम् में किसी विरही पथिक की मनोदशा का चित्रण है, जिसे सुरम्य नैसर्गिक वातावरण में अपनी प्रिया की स्मृति व्यथित करती है और वह प्रकृति के प्रत्येक उपादान में उसी की छवि निरखता है। इस काव्य की रचना कवि ने विन्ध्यगिरि के शिखर पर विचरते हुए चन्द्रप्रभा नदी के तट पर निवास करते हुए की थी। इस रचना में विरह की उग्रता के साथ मिलन की आतुरता व्यंजित की गयी है-

> **किं किं सखे....रदच्छदकामुकेन सम्भाव्य सीत्कृतिसमुल्लसिताननेन।**
> **शीतव्रणव्यथितमोष्ठयुगं प्रचुम्ब्य दासो भविष्यति कदैव पुनः कृतार्थः।।**

राधाष्टकम् भी तर्कभूषण जी की शृंगारप्रधान रचना है, जिसके पद्य इन्होंने शृङ्गाररत्नाकर में उद्धृत किये हैं।

महेशचन्द्र तर्कचूडामणि-महेशचन्द्र तर्कचूडामणि का जन्म १८४१ ई. में दीनाजपुर जिले के अंतर्गत राजारामपुर ग्राम में पं. ईशानचन्द्र के घर पर हुआ। नवद्वीप की 'विदग्घजननीपरिषत्' ने इन्हें तर्कचूडामणि की उपाधि से अलंकृत किया था। इसके साथ ही तत्कालीन दिनाजपुराधीश श्री गिरिनाथराय की राज्यसभा में १८६६ ई. में इन्हें सभापण्डित का पद भी प्रदान किया गया। इनके प्रमुख काव्य हैं- निवातकवचमहाकाव्यम्, दिनाजपुरराजवंशम्, भूदेवचरितम् महाकाव्यम्, काव्यपेटिका-कोशकाव्यम् एवं भगवच्छतकम्।

इनके अनेक निबन्ध तथा काव्यरचनाएँ संस्कृतचन्द्रिका, मित्रगोष्ठी आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही थीं। इसके साथ ही इनके अनेक अप्राप्त प्रबन्धों का भी उल्लेख मिलता है। संगीत तथा चित्रकला की कुशलता की प्रतिच्छवि इनकी कविता में भी संक्रान्त हुई है। इनके लघुकाव्यों में गङ्गाष्टकम्, दुर्भिक्षे प्रार्थना, विक्टोरिया-महाराज्ञयां परलोकं गतवत्यां रचितानि सप्तकाव्यानि आदि उल्लेखनीय हैं। 'दुर्भिक्षे प्रार्थना' में बंगाल के अकाल का मार्मिक चित्रण हुआ है। गङ्गाष्टकम् में संगीतात्मकमता का पुट बड़ी कुशलता से कवि ने दिया है।

> **मामुद्धर हरसुन्दरि गङ्गे**
> **स्वर्गारोहणसोपानावलिभङ्गीललिततरङ्गे।**

प्रमथनाथ-ताराचरण तर्कभूषण के आत्मज प्रमथनाथ का जन्म १८४३ ई. में बंगाल के भाटापारा में हुआ। इन्होंने ताराप्रसन्न विद्यारत्न से साहित्य, वीरेश्वरतीर्थ से धर्मशास्त्र, विद्योदयपत्रिका के यशस्वी संपादक हृषीकेश भट्टाचार्य से सांख्य तथा म. म. शिवचन्द्र सार्वभौम से नव्यन्याय का अध्ययन किया। कुछ काल भट्टपल्ली में रह कर ये अध्ययन के लिये काशी आ गये और यहाँ स्वामी विशुद्धानन्द के शिष्य बन गये।

अध्ययन पूरा कर के ये कलकत्ता के संस्कृत विद्यालय में वेदान्त के व्याख्याता नियुक्त हुए तथा तत्पश्चात् काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राच्यविद्यासंकाय में प्राचार्य के पद पर भी कार्यरत रहे। अपने पिता की भाँति इन्होंने भी तर्कभूषण की पदवी प्राप्त की थी। इनकी काव्यरचनाओं में रासरासोदय (१८६१ ई.) विजयप्रकाश (१८६१ ई.) तथा कोकिलदूतम् (१८८७ ई.) उल्लेखनीय हैं।

कोकिलदूतम् में १०६ पद्य हैं। इसमें एक बंगतरुणी विदेश गये अपने पति के लिये कोकिल को दूत बना कर भेजती है। इस काव्य की रचना कवि ने काशीनरेश ईश्वरीनारायणसिंह की प्रेरणा तथा युवराज प्रभुनारायण सिंह के अनुमोदन से की थी। काव्यारम्भ के पूर्व उत्सर्गपत्रम् में कवि ने काशीनरेश के गुणों का ही स्मरण करते हुए उनको यह कृति अर्पित भी की है।

'विजयप्रकाशः' में तर्कभूषणजी ने अपने गुरु विशुद्धानन्द स्वामी का जीवनचरित पद्यबद्ध किया है। तर्कभूषण जी की भाषाशैली सरस और मसृण है। कोकिलदूतम् में मेघदूत का प्रभाव स्पष्ट है। विरहिणी नायिका की स्थिति का वर्णन है-

ताम्बोलोत्थो रदवसनयोर्दृश्यते नैव रागो
नो वाऽतुल्या बत चरणयोर्लक्ष्यतेऽलक्तकश्रीः।
सूक्ष्मस्पर्शा कठिनकठिना स्नेहसम्पर्कहीना
गाढोत्कण्ठां दिशति सुहृदामेकवेणी च तस्याः।। (७६)

(उसके होठों का ताम्बूलजनित राग नहीं दिखता, न ही चरणों में अनुपम अलक्तक की शोभा लक्षित होती है और सूक्ष्म स्पर्श वाली अतिशय कठिन, तैल के सम्पर्क से रहित उसकी एकवेणी सुहृद् जनों की अत्यधिक उत्कण्ठा उत्पन्न करती है।)

कमलेश मिश्र (१८४४-१६३५)-बिहार के जहानाबाद में अरवल के निकट वेलखरा ग्राम में उत्पन्न, आधुनिक हिन्दी के निर्माता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सहपाठी कमलेश जी का जन्म एक प्रतिष्ठित विद्वान् शाकद्वीपीय ब्राह्मणकुल में हुआ। कहते हैं कि आप के पितामह "निर्णयसिन्धु" के प्रणेता कमलाकर भट्ट के शिष्य थे। कमलेश जी का कई भाषाओं पर अधिकार था और इन्होंने काशी के प्रख्यात विद्वान् गङ्गाधरशास्त्री के पिता नृसिंहदत्तशास्त्री जी से साहित्य का अध्ययन किया था। सहाध्यायी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी के लिखे कई पत्र इनके वंशधरों के पास सुरक्षित हैं। इनका गीतिकाव्य "कमलेशविलासः" १६५५ ई. में प्रकाशित हुआ।

जयदेव के "गीतगोविन्द" की परम्परा में लिखित "कमलेशविलासः" को आधुनिक संस्कृत साहित्य की एक उपलब्धि माना जा सकता है। भगवद्भक्ति की उदात्त भावभूमि पर १३ सर्गों में रचित इस रचना में, सोहर, दादराताल में भैरवी राग से गेय, हरिगीतिका ग़ज़ल, दोहा, पृथ्वी, दिक्पाल छन्द, रेख़ता, कौव्वाली, ठुमरी, होली, चैता, कजली,

झूलनामलार, विहाग, खेमटा, टोड़ी, लावनी, झूमर, नहछू आदि का सुललित प्रयोग हुआ है। यह सम्भवतः संस्कृत का प्रथम गीतिकाव्य है जिसमें लोकधुन में तथा शास्त्रीय रागों में गाये जाने वाले गीतों के साथ फारसी परम्परा में प्रचलित ग़ज़लों का भी प्रयोग किया गया है। आगे चल कर जयपुर के पं. भट्टमथुरानाथ शास्त्री ने इस प्रकार के उत्तम प्रयोग किये। सुकवि कमलेश ने कहा है कि इनके गीतों के स्वर-ताल की मधुरिमा में ही न भूल जायें, प्रत्युत इनके पवित्र अर्थ के ग्रहण द्वारा भगवान के पावन पदों में मन को रमा दें।

कमलेशगीतमिदं मुदा स्वरतालमञ्जिममञ्जुलम्।
शृणु तस्य तत्र पदे मनोऽपि समाविधेहि सुपावने।

बरसात के इस गीत में कितनी चित्रमयता है-

"चम चम चमत्कृदाचञ्चन्ती चपला मुहुरुदरे संभाति।
प्रिय क्व हे ! ति च चातकी, पिकी कुहूरिति कौति;
नदति घने शिखिना समं शिखिनी नटति च नौति।
तदिदं दृक्श्रुतिपातमशेषं हृदि मे बहुशूलं प्रददाति।।

(कमलेशविलास के सम्पादक तथा कवि के वंशज श्रीमोहन शरण मिश्र ने प्रस्तुत गीतिकाव्यं की उत्तम भूमिका लिखी है, जिसमें भारतेन्दुहरिश्चन्द्र के दो संस्कृत गीतों को उद्धृत किया है।)

केरलवर्मा-केरलवर्मा वलियकोकिल तम्पूरन तथा केरलकालिदास के नामों से भी जाने जाते हैं। इनके पिता का नाम मुल्लप्पिली नारायण तथा माता का नाम अम्बादेवी था। चौदह वर्ष की आयु में राजकुमारी लक्ष्मीबाई से इनका विवाह हुआ, और तब से ये वलिय कोयिल तम्पूरन् कहे जाने लगे। विवाह के पश्चात् इन्होंने अपना अध्ययन जारी रखा। राजराजवर्मा इनके काका थे। उन्होंने इनकी शिक्षा में बहुत रुचि ली। इन्हें १८५७ ई. से १८८० ई. तक एलेप्पी में निवास करना पड़ा, क्योंकि राजा एल्यम् तिरूनाल इन से कुपित हो गये थे। राजा के निधन के अनन्तर ये पुनः राजसभा में प्रतिष्ठित हुए। अभिज्ञानशाकुन्तल के मलयालम अनुवाद के कारण इन्हें केरलकालिदास कहा जाने लगा। ६९ वर्ष की आयु में मोटर दुर्घटना में इनका निधन हो गया।

केरलवर्मा ने संस्कृत तथा मलयालम में १८ ग्रन्थ लिखे। इनका मयूरसन्देश संस्कृतमिश्रित मलयालम (मणिप्रवालम् शैली) में रचित है। इनके काव्यों में विशाखविजयम् महाकाव्यम्, शृङ्गारमञ्जरी भाण, श्रीमूलपादपद्माष्टक, चित्रावली, अमृतमन्थन, तुलाभारशतक, कंसवधचम्पूः आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त विक्टोरियाचरितसङ्ग्रह, यमप्रमाणाष्टक, क्षमापणसहस्त्रम्, शकुन्तलापरिणय आदि भी इनकी रचनाएं हैं।

केरल वर्मा ने चित्रश्लोकावली में चित्रकाव्य का चमत्कार प्रदर्शित किया है।

श्रीमूलपादपद्माष्टक, गुरुपवनपुरेशस्तव तथा ललितास्तव इनके स्तोत्रकाव्य हैं। राजा द्वारा कारागार में डाल देने पर इन्होंने मुक्ति के लिये "क्षमापणसहस्त्र"[1] काव्य भी लिखा था, जिसमें ५१ भागों में २०-२० पद्य हैं। इस काव्य का राजा पर प्रभाव न होने पर इन्होंने "यमप्रणामाष्टक" लिख डाला जिसमें १०१ पद्यों में मथुरानिवासियों की ओर से कंस को मारने के लिये यम से प्रार्थना निवेदित है। इस काव्य का वांछित प्रभाव हुआ। दण्डनाथस्तोत्र तथा शत्रुसंहाराष्टक में भी कवि ने स्तुति के साथ-साथ शत्रु के विनाश की कामना प्रकट की है।

मानविक्रम एट्टनतम्पूरन् कविराजकुमार-मानविक्रम कविराजकुमार का जन्म १८४५ ई. में पतिन्नार कोविलकम् नामक स्थान में हुआ तथा निधन १६२० ई. में हुआ। इन्होंने भी संस्कृत तथा मलयालम् दोनों भाषाओं में साहित्य लिखा है। इनकी सहायता से संस्कृत में पुन्नसेरी नीलकण्ठशर्मा ने 'विज्ञानचिन्तामणि' नामक पत्रिका का प्रकाशन किया था। इन्होंने संस्कृत में बहुसंख्य स्तोत्र काव्यों की रचना की, जिनमें कृष्णाष्टपदी, कृष्णकेशादिपादवर्णन, किरातसप्तपदी तथा स्तवमञ्जरी उल्लेखार्ह हैं। इनकी अनेक रचनाएँ नीतिपरक भी हैं, यथा-वैराग्यतरङ्गिणी, सूक्तिमुक्तामणिमाला, उपदेशमुक्तावली आदि। इन्होंने संस्कृत में रागतालनिबद्ध गीत भी लिखे।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र- हिन्दी के इस युगप्रवर्तक यशस्वी साहित्यकार ने संस्कृत में तीन सोत्प्रास शैली के मुक्तक काव्यों की रचना की-मदिरास्तव, अंग्रेजस्तव तथा वेश्यास्तवराज। तीनों ही काव्य व्याजनिन्दा के अच्छे उदाहरण हैं और इनमें भारतेनदु की हास्यविनोदवृत्ति, समाजचेतना तथा व्यंग्यप्रवणता के दर्शन होते हैं। मदिरास्तवराज में प्रासंगिक रूप से असंस्कृत शब्दों का भी प्रयोग है। यथा-

कलवारप्रिया काली कलपरियानिवासिनी।
होटलीलोटलीलोटनाशिनी पोटलीचला।।
धनमानादिसंहर्त्री ग्रण्डहोटलवारिणी।
पञ्चापञ्चपरित्यक्ता पञ्चपञ्चप्रपञ्चिता।।

'सीतावल्लभस्तोत्र' भारतेन्दु की स्तुतिपरक रचना है, जिसमें उन्होंने श्रीराम के प्रति मधुरोपासना की पद्धति के द्वारा भक्तिभाव को व्यक्त किया है। उन्होंने आराध्या सीता की चारुशीला, हेमा, क्षेमा, सुशीला आदि प्रमुख सखियों तथा युगल सेवा में लग्न कमला, विमला आदि मिथिलावासिनियों के प्रति भी अपनी श्रद्धा अर्पित की है। इस काव्य में भारतेन्दु ने सीतातत्त्व का निरूपण भी किया है।

---

१. क्षमापणसहस्त्रम् डॉ. पूवत्तूर रामकृष्ण पिल्लै द्वारा सम्पादित होकर सम्पादक द्वारा अनिता प्रकाशन प्रशान्तनगर, तिरुवनन्तपुरम-६६५०११ से १६६२ में प्रकाशित है-(सं.)

गंगाधर शास्त्री-गंगाधर शास्त्री श्रीनृसिंह शास्त्री के ज्येष्ठ पुत्र थे। इनका जन्म १८५३ ई. में काशी में हुआ था। इनका परिवार मूलतः मैसूर का निवासी था। काशी में इन्होंने पं. बालकृष्ण भट्ट तथा पं. राजाराम शास्त्री आदि श्रेष्ठ गुरुजनों से वेद, वेदाङ्ग, काव्य शास्त्र आदि का सम्यक् अध्ययन किया। उस समय के गणमान्य विद्वान् श्रीगट्टूलालजी शास्त्री के साथ हुए शास्त्रार्थ के अवसर पर इनके द्वारा पूरित "बभौ मयूरो लवशेषसिंहः" की अत्यन्त कठिन समस्यापूर्ति आज भी पंडितों में प्रसिद्ध है। इनके पाण्डित्य से प्रभावित होकर सरकार ने इन्हें सी.आई.ई. की उपाधि दी थी।

'अलिविलासिसंलापः' नामक खण्डकाव्य पं. गंगाधरशास्त्री की अद्भुत काव्यप्रतिमा का उदाहरण है। नौ सर्गों में विभाजित इस काव्य के निर्माण का उद्देश्य कवि ने ग्रन्थान्त में इस प्रकार बताया है-

प्राज्ञैरिदं प्रतिपदध्वनिसावधानै-
रन्वेक्ष्यमाणमसकृन्नवखण्डकाव्यम्।
धर्मार्थकामपरमुक्तिसमीक्षणेषु
दाक्ष्यं फलिष्यति सभासु सदादरार्हम्।। (६/११८)

इस काव्य में भारत के तीर्थस्थलों तथा द्वादश दर्शनों (षड्दर्शन, जैन, बौद्ध तथा चार्वाक) का विशद वर्णन है। दर्शन के गूढ़ तत्त्व तथा काव्यात्मकता का समन्वय कवि करने में सफल हुआ है। दार्शनिक चिन्तन की गहराई के साथ सौन्दर्यबोध की रमणीयता यहाँ अनुभूत होती है। पार्वती के वर्णन में कवि कहता है-

कलिन्दतनयां शिरस्युरसि तुङ्गशैलद्वयं
वहन्त्युदरधारितोरगशिशुस्तपो दुश्चरम्।
विधाय शरदम्बुदे स्थितिमनीश्वरीं बिभ्रती
बिभर्ति भजतो जनान् इह हि कापि सौदामनी।। (५/१२)

(कोई विलक्षण विद्युत् जो कालिन्दी को सिर पर, उन्नत दो पर्वतों को वक्ष पर धारण कर रही है, उदर प्रान्त में सर्प-शिशु को जिसने रखा है, दुश्चरतप करके शरत्कालिक मेघ में असमर्थ स्थिति कर रही है, सेवा करने वाले लोगों का भरण-पोषण करती है।)

'अलिविलासिसंलापः' के अतिरिक्त शास्त्री जी ने हंसाष्टक नाम का काव्य भी लिखा था, जिसमें श्लेष के द्वारा आत्मा तथा हंस का युगपत् वर्णन है।[1] गंगाधरशास्त्री के पट्ट शिष्य श्री रामावतार शर्मा ने उनकी प्रशस्ति में उचित ही कहा है-

---

१. विवरण के लिये द्र. काशी की पाण्डित्य परम्परा, पृ. २३६

'गतार्थोऽद्य जगन्नाथः नापेक्ष्योऽप्ययदीक्षितः।
कटुवाग् वेङ्कटार्योऽपि सति गङ्गाधरे गुरौ।।'

रामशास्त्री तैलंग-गंगाधर शास्त्री के ही अनुज श्री रामशास्त्री तैलंग काशिराज संस्कृत महाविद्यालय में अध्यापक रहे, तथा १९२५ ई. में ६५ वर्ष की आयु में इनका देहावसान हुआ था। इन्हें महामहोपाध्याय तथा साहित्यसुधाकर की पदवियों से सम्मानित किया गया था। पं. बलदेव उपाध्याय ने काव्य निर्माण में इनकी प्रतिमा को अलौकिक बताया है।[१] शब्दचयन की दृष्टि से इनका काव्य अत्यन्त उत्कृष्ट है। इनकी रचनाएँ 'सूक्तिसुधा' के विभिन्न अंकों में प्रकाशित होती रहीं जिनमें से अधिकांश का विषय ऋतुवर्णन है। ३९ पद्यों में वर्षा विलास, ४६ पद्यों में ग्रीष्म विलास ५५ पद्यों में वसन्त-विलास तथा ३६ पद्यों में शरद्विलास-ये चार काव्य महाकवि कालिदास के ऋतुसंहार का स्मरण कराते हैं। इन काव्यों में कवि ने कहीं पर अत्यंत मनोहर कल्पनाओं का वितान खड़ा किया है, तो कहीं जनजीवन के चित्र प्रस्तुत किये हैं। मेघ के गर्जन की उत्प्रेक्षा उसने विद्युत् रूपी प्रिया को डपटते हुए प्रिय की तर्जना में की है-

सौवर्णवर्णमदचूर्णनदक्षकान्तिं
बाले मुधैव भवतीं प्रबिडम्बयन्तीम्।
शम्पां प्रकम्पवपुषं वनितां स्वकीयां
गर्जन्नु तर्जयति वारिधरोऽयमद्य।।

ऋतुवर्णनपरक उक्त काव्यों के अतिरिक्त सूर्ययाचना, गौरीस्तवः तथा शिवाश्वधाटी-ये तीन काव्य भी तैलंग जी रचित उपलब्ध होते हैं। भाषा का लालित्य और नादसौन्दर्य इन काव्यों में प्रभावोत्पादक है। सूर्ययाचना का यह उदाहरण देखिये-

संसारघोरसागरतरणिः कल्याणतेजसामरणिः।
निःश्रेयसस्य सरणिर्वितरतु करुणामयीं दृशं तरणिः।।

शिवाश्वधाटी में अश्वधाटी जैसे अप्रचलित और दुरूह छन्द का आश्रय लेकर तैलंग ने अप्रतिम शब्दवैदुषी का परिचय दिया है। भाषा पर असाधरण अधिकार तथा अनुप्रास के सतत निर्वाह की क्षमता का परिचय उनकी इस रचना से मिलता है। आरम्भिक पद्य है-

वन्दामहे कमपि वन्दारुलोकमनु मन्दारपादपवरं
वृन्दारकेन्द्रसुखकन्दायितं विनतनन्दात्मजस्तुतपदम्।
कुन्दावदातमहिवृन्दाञ्चितं विमलमन्दाकिनीभृतजटं
सन्दारितान्धकमनिन्दास्पदं शिरसि सन्दानितेन्दुमनघम्।।

---

१. वही पृ. २४६ पर उद्धृत।
२. काशी की पाण्डित्य परम्परा, पृ० ३४७

नारायण भट्ट-नारायण भट्ट सखाराम के द्वारा दत्तक पुत्र के रूप में पालित हुए थे। सखाराम भट्ट जयपुरनरेश सवाई जयसिंह तृतीय (१८१८-१८३४ ई.) के शासनकाल में हुए। नारायणभट्ट वस्तुतः ग्वालियर के पर्वणीकर परिवार में जन्मे थे और इनका जन्मकाल १८५५ ई. है। इनके पिता गोविन्द भट्ट ने संस्कृत में ललिताकरुणाष्टक तथा दुर्गापुष्पाञ्जलिः नामक काव्यों की रचना की थी।

नारायण भट्ट बाल्यकाल से ही विलक्षण प्रतिभा से सम्पन्न थे। आठ वर्ष के होने तक इन्होंने लघुसिद्धान्तकौमुदी तथा बारहवें वर्ष तक पहुँचते-पहुँचते रघुवंश, पुरुषसूक्त आदि का सम्यक् अध्ययन कर लिया था। चौदह वर्ष की आयु में इन्होंने ग्वालियर राज्य के शिलालेखों का अंग्रेजी अनुवाद कर के आंग्ल शासकों से पुरस्कार पाया।

अपने धर्म भ्राता गंगाराम भट्ट का निधन हो जाने पर ये जयपुर पीठाधिकारी के रूप में जयसिंह द्वितीय के शासन में राजगुरु के पद पर प्रतिष्ठित हुए। उस काल के अनेक प्रतिष्ठित पण्डित तथा कवि इनकी मित्रमण्डली में थे। इनकी सहायता से ही पं० दुर्गाप्रसाद ने काव्यमाला सीरीज का प्रकाशन आरंभ किया था।

इनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं-पञ्चपञ्चाशिका (५०० पद्यों का संग्रह), संस्कृतश्लोकशतकसंग्रह (स्वरचित संस्कृत पद्यों का संकलन), स्वमित्रश्लोकसंग्रह, नवीनश्लोक, काव्यभूषणशतक (साहित्यशास्त्र) चतुर्दशीसूत्रीव्याख्या, श्लोकबद्धसिद्धान्तकौमुदी, परिभाषाप्रतिच्छविः, धर्मकल्पलतावृत्तिः आदि। इनके अतिरिक्त ज्योतिष, धर्मशास्त्र आदि पर इनकी अनेक शास्त्रीय रचनाएँ हैं। इनकी मुक्तक रचनाओं में रसिकाष्टक उल्लेखनीय है। यह शृंगारप्रधान काव्य है, जिसकी रचना कवि ने सोहलवें वर्ष में की थी।

परमेश्वर झा-परमेश्वर झा का जन्म मिथिला में सन् १८५६ ई. में तरौनी ग्राम में हुआ। इनके पितामह दरभंगा नरेश श्री छत्रसिंह (१८०७-२६ ई.) के सभा-पण्डित थे। इनके पिता पूर्णनाथ झा अपने समय के अच्छे विद्वान थे। परमेश्वर झा ने श्रेष्ठ गुरुओं से धर्मशास्त्र, सांख्यवेदान्त, व्याकरण तथा न्याय का सम्यक् अध्ययन किया। अध्ययन समाप्ति के पश्चात् ये झालरापाटन में संस्कृत शिक्षण के अध्यक्ष नियुक्त हुए। १८८० ई. में यह पद त्याग कर इन्होंने बनैली के राजा पद्मानन्दसिंह की राजसभा में पण्डित का पद ग्रहण किया, पर यहाँ की भी जलवायु प्रतिकूल होने से यह पद भी त्याग कर गंधवारि ड्योढ़ी की महारानी चन्द्रावती के द्वारा स्थापित संस्कृत पाठशाला में प्रधान अध्यापक हो गये और फिर दरभंगा की राजसभा में प्रधानपण्डित के पद पर भी रहे तथा दरभंगाराजसंस्कृत पुस्तकालय के अध्यक्ष पद को भी इन्होंने अलंकृत किया।

परमेश्वर को उनके पाण्डित्य के लिये भारतधर्ममण्डल ने "वैयाकरणकेसरी", बिहार पण्डित सभा ने 'विद्यानिधि' तथा भारतसरकार ने महामहोपाध्याय की उपधियाँ दी थीं।

इनकी लिखी ३० रचनाएँ मिलती हैं, जिनमें प्रमुख हैं-मिथिलातत्त्वविमर्श, ऋतुदर्शन, यक्षसमागम, परमेश्वरकोष आदि। इनके अनेक ग्रन्थ धर्मशास्त्र तथा ज्योतिष से संबद्ध हैं। "मिथिलातत्त्वविमर्श" इनका अनुसन्धापरक ग्रन्थ है।

यक्षसमागम काव्य कालिदास के मेघदूत का उपसंहार कहा जा सकता है। यक्ष और यक्षिणी के पुनर्मिलन के अवसर के प्रमोद का इसमें चित्रण किया गया है। इस काव्य में ३५ पद्य हैं। परमेश्वर झा का अन्य काव्य "ऋतुवर्णन" भी कालिदास के ऋतुसंहार से प्रभावित है।

पं. बलदेव उपाध्याय ने परमेश्वर झा की काव्यप्रतिभा को विलक्षण बताते हुए उनके यक्षसमागम का यह पद्य उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया है-

निश्वासस्याप्यधिकखरतां योऽधरस्तेन सेहे
धीरो दध्यात् कथमिव तुलां पल्लवस्तस्य बालः।
बिम्बं निम्बोपमथ रसे का सुधा पीतपीता
कान्ते स्वान्ते बहु कलयता तुल्यता क्वापि नापि।।

उपाध्यायजी ने इनकी गद्यशैली की भी सराहना की है। परमेश्वर झा के विषय में पं. मधुसूदन ओझा ने यह प्रशस्ति की थी-

अमृतं मृतकेन लभ्यते मधुनोऽप्येकरसत्वदूषणम्।
अधरं मधुरन्न कर्णयोरतुलन्ते रचनं विभावये।।

शिवकुमार शास्त्री-काशी की विद्वन्मण्डली में सदा स्मरणीय पं. शिवकुमार शास्त्री का जन्म काशी के ही निकट उन्दी ग्राम में १८५७ ई. में हुआ। इनके पिता पं. रामसेवक मिश्र तथा माता मतिरानी देवी थीं। शिव की आराधना करनें पर इन्हें शिवकुमार के रूप में पुत्र का मुख देखने को मिला था। इनको बाल्यकाल में अपने चाचा के यहाँ रह कर बड़ा कष्ट झेलना पड़ा। चौदह वर्ष की आयु में ये काशी गये और पं. दुर्गादत्त से लघुकौमुदी का अध्ययन करने लगे। अनंतर बाल शास्त्री, राजाराम शास्त्री जैसे विश्रुत पंडितों से ज्ञानार्जन का इन्हें अवसर मिला। १८७५ ई. से १८७६ ई. तक ये काशी के संस्कृत महाविद्यालय में अध्यापन करते रहे। इसके पश्चात् ये दरभंगानरेश द्वारा काशी में ही स्थापित संस्कृत पाठशाला में यावज्जीवन अध्यापन करते रहे।

इनकी रचनाओं में 'यतीन्द्रजीवनचरित' विविध छन्दों में निबद्ध ११३ पद्यों का मनोहर जीवनचरितात्मक काव्य है, जिसके नायक काशी में दुर्गाकुण्ड के निकट आनन्दबाग में निवास करने वाले भास्करानन्द सरस्वती हैं। चरितनायक के जीवन की घटनाओं का वर्णन करते हुए कवि शिवकुमार जी ने इस काव्य में दर्शन, धर्म और अध्यात्म का समावेश किया है। भाषा की प्रौढ़ता, पदशय्या की आकर्षकता तथा महनीय चरित्र के उपस्थापन के कारण यह काव्य प्रभावित करता है। स्थान-स्थान पर यमक, श्लेष, अनुप्रास आदि शब्दालंकारों के साथ परिकर आदि अर्थालंकारों का विन्यास कुशलता के साथ किया गया है। उदाहरण के लिये-

कलधौतसुशोभितसौधततिः कलहंसगतिः सुदतीसुततिः।
कलनादिरिरंसुपतत्रिततिः कलयेन्न वशं प्रतिपक्षततिः।।

'लक्ष्मीश्वरप्रताप' कवि शिवकुमारजी का प्रशस्तिकाव्य है, जिसके नायक दरभंगानरेश लक्ष्मीश्वरसिंह हैं। यह काव्य अब अनुपलब्ध है। पं. बलदेव उपाध्याय द्वारा उद्धृत निम्नलिखित श्लोक से इसके गुणगणातिशय को समझा जा सकता है-

पूर्णा चान्द्री कला वा दिशि दिशि लहरी क्षीरसिन्धूत्थिता वा
कुन्दालीमालिका वा शिवनिलयगिरेः कान्तिरेवोद्गता वा।
हंसानां संहतिर्वेत्यवनितलबुधैस्तर्क्यते यस्य कीर्तिः
योऽयं लक्ष्मीश्वराख्यो जगति विजयते नायकस्तीरभुक्तेः।।[1]

शीतलप्रसाद त्रिपाठी- इनके देशकाल का विवरण अनुपलब्ध है। इन्होंने करुणात्रिंशिका की रचना की थीं। करुणात्रिंशिका में डुमरांव के राजा राधा प्रसाद के निधन के अनन्तर प्रजा में व्याप्त शोक का मार्मिक चित्रण किया गया है। कवि ने राधा प्रसाद के सद्गुणों का वर्णन भी किया है।

इस काव्य की रचना कवि ने डुमराव के राजा के काशी में निधन होने पर की थी। अतः इस काव्य का रचनाकाल १९५१ विक्रमाब्द या १८९४ ई. ठहरता है।

जानकीमंगल नामक हिन्दी नाटक के लेखक तथा भारतेन्दु के समकालीन शीतलाप्रसाद त्रिपाठी से इस कवि की अभिन्नता अनुससन्धेय है। हिन्दी नाटक-साहित्य के इतिहास के लेखक श्री सोमनाथ गुप्त ने इन्हीं शीतलप्रसाद त्रिपाठी को 'रामचरितावली' का कर्ता होने की संभावना भी सूचित की है।

करुणात्रिंशिका में छन्द का चयन अनुरूप है और भाषा भी शोकोद्वेग को व्यक्त करने में समर्थ है। काव्य दिवंगत व्यक्ति को संबोधन के रूप में निबद्ध है। राधाप्रसाद के दिवंगत होने पर कवि को डुमरांव की धरती विधवा सी प्रतीत होती है-

'त्वयि मुक्तिपदं गतेऽधुना, विधवेयं डुमरांवमेदिनी। (पद्य-५)

कन्हैयालाल शास्त्री-कन्हैयालाल शास्त्री का भी जीवन-परिचय प्राप्त नहीं होता है। इनकी संस्कृत रचनाएँ 'संस्कृत-चन्द्रिका', 'विज्ञानचिन्तामणि', 'सूर्योदय' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं, जिनसे इनके साहित्य का रचनाकाल अनुमित होता है। इन्होंने काशीश्वरश्लेष, शिवपञ्चाशिका तथा शोकोच्छ्वासः ये गीतिकाव्य लिखे थे। शोकोच्छ्वासः में बीस पद्यों में कवि ने अपने मित्र सर रमेशचन्द्र के निधन पर शोक व्यक्त किया है।

यादवेश्वर तर्करत्न-यादवेश्वर बंगप्रदेश के निवासी थे और रामकृष्ण परमहंस के वशंज थे। इनके पूर्वज रंगपुर जनपद के अन्तर्गत इटाकुमारी ग्राम में निवास करते थे। इन्होंने विशुद्धानन्द सरस्वती से अध्ययन किया था और उनके दिवंगत होने पर 'अश्रुविसर्जनम्'

---

१. विवरण के लिये द्र.-काशी की पाण्डित्य परम्परा, पृ. २०८-२४

नामक शोक-काव्य लिखा था। इन्होंने म.म. कैलासचन्द्र शिरोमणि से न्यायशास्त्र का भी अध्ययन किया था। इनके पाण्डित्य से प्रभावित हो कर वाराणसी में संस्कृत महाविद्यालय के प्राचार्य श्री ग्रिफिथ ने इनके लिये पाश्चात्त्य दर्शन का अध्ययन करने की व्यवस्था की।

काशी में अध्ययन समाप्त कर के यादवेश्वर जी रंगपुर के हाईस्कूल में शिक्षक नियुक्त हुए। कुछ समय वहीं पर स्थापित महाविद्यालय में भी इन्होंने अध्यापन किया और रंगपुर में ही संस्कृत पाठशाला में अध्यापन करते रहे। इनके अध्यापन की शैली से आकृष्ट हो कर दूर-दूर से छात्र इनके पास पढ़ने आते थे।

यादवेश्वर जी को तर्करत्न, पण्डितराज, पण्डितकेशरी तथा महामहोपाध्याय जैसी उस युग की सर्वोच्च उपाधियों से अलंकृत किया गया था। राजनीति तथा समाजसेवा के कार्यों में भी इनकी महती भूमिका रही।[1]

इनके संस्कृत में रचित १३ काव्यों का उल्लेख पं. बलदेव उपाध्याय ने किया है, जो इस प्रकार है-शोकतरङ्गिणी, वाणीविजयम्, सुभद्राहरणम्, चन्द्रदूतम्, प्रशान्तकुसुमम्, अश्रुबिन्दुम्, अश्रुविसर्जनम्, राज्याभिषेककाव्यम्, रत्नकोषकाव्यम्, अन्नपूर्णास्तोत्रम्, शिवस्तोत्रम्, गङ्गादर्शनकाव्यम् तथा भारतगाथा।

इनमें से प्रथम काव्य की रचना इन्होंने मात्र तेरह वर्ष की आयु में ही कर डाली थी। बंगाली भाषा में भी इन्होंने कविताएँ, उपन्यास तथा वैचारिक गद्य का निर्माण किया।

इनके संस्कृत काव्यों में प्रशान्तकुसुमम् का प्रकाशन कलकत्ता से १८८१ ई. में हुआ था। इस काव्य की रचना संसार की असारता के बोध से प्रेरित हो कर की गयी थी। कवि स्वयं कहता है-

द्विजरामघनाश्रमङ्गतोऽपगताध्वश्रम एष बालिशः।
प्रविलोक्य भुवोऽप्यसारतामपि संसारमनन्तमालयम्।। (उपसंहार पद्य -४)

अश्रुबिन्दु तथा अश्रुविसर्जन, दोनों ही करुणरसप्रधान विलापकाव्य हैं। पहला काव्य ब्रिटिश साम्राज्ञी के स्वर्गवास पर १६०१ ई. में लिखा गया था और दूसरा अपने गुरु विशुद्धानन्द सरस्वती के परलोकगमन पर।

'अश्रुविसर्जनम्' काशी के पण्डितसमाज और सांस्कृतिक क्षितिज से परिचय प्राप्त करने की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें २६३ पद्य हैं। मन्दाकान्ता छन्द का प्रयोग यहाँ कवि ने भाव के अनुरूप किया है। भाषा में सहजता और प्रवाह है। विशुद्धानन्द सरस्वती का अनुपम चरित्र श्रद्धाभाव से प्रस्तुत करते हुए कवि ने यहाँ उपमाओं और अन्य अलंकारों का अच्छा प्रयोग किया है। उपमा और अनन्वय के उचित प्रयोग का यह उदाहरण द्रष्टव्य है-

---

१. विवरण के लिये देखें-काशी की पाण्डित्य परम्परा, पं. बलदेव उपाध्याय पृ. ५२५-२८

तेभ्यो दत्वा स्वयमपि तथा तेन सम्भूषितोऽभूत्
सिन्धो रत्नं हरिरिव सुरेभ्योऽर्पयन् कौस्तुभेन।
स्मार्तैर्वैयाकरणकृतिभिस्तार्किकैः काव्यकृद्भि-
र्मीमांसाज्ञैः सदसि सततं विज्ञवेदान्तिकैश्च।।
सांख्याचार्यः स स इव महाविस्मितैर्वीक्ष्यते यः
कंसारातिर्हरिरिव जनै रङ्गभूमिं प्रविष्टः।।

(जिस प्रकार भगवान विष्णु देवताओं को समुद्र के रत्न अर्पित करके स्वयं कौस्तुभ रत्न से विभूषित हुए, उसी प्रकार वह उन्हें देकर स्वयं शोभा प्राप्त हुए। जिस प्रकार रङ्गभूमि में प्रविष्ट विष्णु को लोगों ने देखा उसी प्रकार उन्हें भी स्मृति, व्याकरण, न्याय, काव्य, मीमांसा तथा वेदान्त एवं सांख्य के पण्डितों ने सभा में उस-उस रूप में, स्मृति आदि के विद्वान् के रूप में, देखा।) आरम्भ में कवि ने धरती को युवती तथा काशी को उसके रम्यसुन्दरबिन्दु तथा गंगा को अर्धचन्द्राकृति के रूप में प्रस्तुत करते हुए अपनी कल्पनाशीलता का अच्छा परिचय दिया है-

एषा धन्या धरणियुवतेः केशसीमन्तसीम-
स्निग्धज्योतिर्जयति नितरां रम्यसिन्दूरबिन्दुः।
काशी यत्र त्रिपुरजयिनो हेमवत्या विलास-
श्चन्द्रार्धाधाकृतिसुरधुनी यत्पुरस्ताच्चकास्ति।। सागरिका (५/४) में प्रकाशित

(यह धन्य काशी नगर धरणि रूपी युवती के केश-सीमन्त के प्रदेश में स्निग्ध ज्योति से सम्पन्न रम्य सिन्दूर बिन्दु के रूप में सर्वोत्कृष्ट है जहाँ पार्वती की विलासरूप त्रिपुरारि शिव के अर्धचन्द्र की आकृतिवाली गङ्गा जिसके आगे शोभायमान है।)

विधुशेखर भट्टाचार्य - विधुशेखर भट्टाचार्य का जन्म बंगाल के मालदह जिले के अन्तर्गत हरिश्चन्द्रपुर ग्राम में १० अक्टूबर १८७८ को हुआ था। इनके पिता त्रैलोक्यनाथ भट्टाचार्य कलकत्ता विश्वविद्यालय में अध्यापक रहे थे। विधुशेखर जी ने पारंपरिक रीति से संस्कृत के अध्ययन के साथ-साथ अंग्रेजी का भी अध्ययन किया। छात्रावस्था में ही इनकी काव्यरचना की प्रवृत्ति फलवती हो गयी थी। विशेष अध्ययन के लिये ये काशी आये और वहां म. म. रामावतार शर्मा के साथ मित्रगोष्ठी नामक संस्कृतपत्रिका का संपादन तथा प्रकाशन इन्होंने आरंभ किया।

विधुशेखर शास्त्री ने पालि तथा तिब्बती भाषाओं में प्रवीणता प्राप्त कर के बौद्ध धर्म और दर्शन का गहन अध्ययन किया था। भारत शासन के द्वारा महामहोपाध्याय तथा शन्तिनिकेतन विश्वविद्यालय के द्वारा मानद डी. लिट्. की उपाधियों से उन्हें विभूषित किया गया था। ये तीस वर्ष से अधिक समय तक शान्तिनिकेतन में अध्यापन तथा विद्याराधन में तल्लीन रहे।

इन्होंने सन् १८६६ ई. में दशावतारस्तोत्र की रचना की थी। 'यौवनविलास' इनकी शृङ्गारमय रचना है। इसमें पांच विलास हैं तथा नायक और नायिका की अनुरागमय चेष्टाओं का चित्रण हुआ है। कामसूत्र का प्रभाव तथा अतिरंजित शृंगार भी इसमें मिलता है। मुख्य रूप से सम्भोग शृंगार ही इसमें अभिव्यक्त हुआ है। तथापि अप्रस्तुतविधान के द्वारा विप्रलम्भ की भी अभिव्यक्ति हृदयग्राही रूप में की गयी है। उदाहरणार्थ -

निकुचन्मधुकोषचलद्भ्रमरावलिकैतवतो विरहाद् विकला।
सरसा नलिनी नयनाञ्जनमागलदस्रभरैः खलु मुञ्चति हा।।

लक्ष्मी राज्ञी-लक्ष्मी राज्ञी का जन्म मलावार के राजपरिवार में उत्तवलत्तू कुल में हुआ था। इनका जीवनकाल १८४५ ई. से १६०६ ई. तक है। इन्होंने १६०० ई. में 'सन्तानगोपाल' नामक सर्गत्रयात्मक खण्डकाव्य की रचना की, जो श्रीमद्भागवत पर आधारित है। डा. कुंजुनि राजा ने इनके एक अन्य ग्रन्थ 'भागवत-संक्षेप' का भी उल्लेख किया है। सन्तानगोपाल काव्य कृष्ण, अर्जुन तथा विष्णु के चरित्र के माध्यम से रविवर्मा को शिक्षा देने के लिये रचा गया था। अर्जुन के अनुरोध पर श्रीकृष्ण के द्वारा एक ब्राह्मण के मृत पुत्र को विष्णुलोक से वापस लाने की कथा इसमें विशेष रूप से प्रतिपादित है।

श्रीनिवास दीक्षित-श्री निवास दीक्षित कुम्भकोणम् के निवासी थे। संस्कृतचन्द्रिका पत्रिका के कुछ अंकों में दिये गये उल्लेखों के आधार पर इनका समय उन्नीसवीं शती के मध्य से ले कर बीसवीं शती के दूसरे वर्ष तक है। इनके पिता राम स्वामी और माँ सीताम्बा थीं। इन्होंने गुरुकुल पद्धति से विद्याध्ययन करते हुए चौदह वर्ष की आयु में पूरी सिद्धान्तकौमुदी सिद्ध कर ली थी। इन्होंने उस समय के सुप्रसिद्ध शिवाद्वैताचार्य अप्पयदीक्षित के पास विद्याध्ययन करते हुए शिवाद्वैत का विशेष अभ्यास किया। ब्रह्मविद्या पत्रिका का सम्पादन करते हुए इन्होंने अपने दार्शनिक चिन्तन का विशेष उपयोग किया।

संस्कृत में इन्होंने मुक्तक, नाटक, स्तोत्र तथा प्रशस्तियों की रचना की। इनकी शतक रचनाएँ हैं-विज्ञप्तिशतक, कलिवैभवशतक, आस्थानुभवशतक, जगद्गुरुधामसेवाशतक। नाटक के क्षेत्र में इनके तीन प्रबन्ध हैं-कलिकण्टकोद्धार, शूरमयूरजैवजैवातृ तथा सौम्यसोम। इसके अतिरिक्त उपनिषद् पुराण तथा अध्यात्म पर इनके कई ग्रन्थ हैं।

विज्ञप्तिशतक में राष्ट्र-भावना को अभिव्यक्ति दी गयी है। संस्कृत चन्द्रिका से इसके १८६६ में प्रकाशित होने की सूचना मिलती है। इस काव्य में धर्म तथा नैतिकता के ह्रास पर भी कवि ने वेदना प्रकट की है। कलिवैभवशतक का अपर नाम कलिपरिदेवनशतक भी है।

लक्ष्मणसूरि-इनका समय १८५६ ई. से १६१६ ई. पर्यन्त है। इनके पिता मुत्तुसुब्बा अय्यार रामनाड के श्री विल्लीपुतुर में पुण्डडेली ग्राम में निवास करते थे। सर्वशास्त्रविशारद होने के कारण लक्ष्मणसूरि को महामहोपाध्याय की पदवी प्राप्त हुई। इनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं-

महाकाव्य-कृष्णलीलामृत। नाटक-देहलीसाम्राज्य तथा पोलस्त्यवध। गद्य - भीष्मविजय, भारतसंग्रह तथा रामायणसंग्रह। गीतिकाव्य-विप्रसन्देश, सुभगसन्देश, मनःसन्देश, वेङ्कटस्तव। संस्कृतटीकाएँ-उत्तररामचरित, महावीरचरित, वेणीसंहार, बालरामायण रत्नावली आदि पर।

वेङ्कटस्तवः का रचनाकाल १६०३ ई. है परन्तु इसका प्रकाशन १६१८ ई. में हुआ। सुभगसन्देश का प्रकाशन पूर्णचन्द्रोदय प्रेस तंजौर से हुआ, विप्रसन्देश का प्रकाशन भी इसी प्रेस से १६०६ ई. में हुआ।

विप्रसन्देश में शिशुपाल से अपना विवाह निर्धारित कर दिये जाने पर रुक्मिणी के द्वारा एक ब्राह्मण के मुख से श्रीकृष्ण को सन्देश भिजवाया गया है।

लक्ष्मणसूरि प्रसन्न, मधुर और उदार शैली के कवि हैं। विप्रसन्देश में सन्देहालंकारसमन्वित सौन्दर्य वर्णन का यह पद्य देखिये-

किं क्षीराब्धेरतिपरिचयाद् द्रष्टुमभ्यागतोर्मि-
श्चन्द्रज्योत्स्ना किमु परिचरत्यात्मनोऽक्षय्यतायै।
किं वा गङ्गा प्रवहति पुनः किं नु वा मूर्धजानां
चूडामुक्ता त्विडिति बहुधा तर्क्यते यन्नखश्रीः ।। (उत्तरभाग,१४)

(जिनके नख की कान्ति इस प्रकार बहुत प्रकार से तर्क का विषय होती है- क्षीरसागर की ऊर्मि अतिपरिचयवश देखने के लिए पहुँची है क्या? अथवा चन्द्र की ज्योत्स्ना अपने अक्षय्य होने के लिये सेवा कर रही है क्या ? अथवा गङ्गा पुनः प्रवाहित हो रही है क्या ? अथवा (उनके) बालों की चूडामणि की कान्ति है क्या ?)

रुक्मिणी के सन्देश में आतुरता, विवशता और करुण पुकार के भाव कवि ने मार्मिक रूप से व्यक्त किये हैं-

सङ्कल्पानामिति बहुशतैर्हर्षशोकादिमूलैः
सन्तानेनाविरतमुदितैस्तप्यमानामजस्रम्।
किं मां पश्यन्नपि न कुरुषे सन्निधिं नेतुमिच्छां
निर्द्वन्द्वानामपि खलु भवेद् मृत्युदुःखेन दुःखम्।। (उत्तरभाग, ४७)

(हर्ष शोक आदि जिनके मूल हैं, ऐसे शताधिक, निरन्तर उदित संकल्प-सन्तान से सतत तप्त हो रही मुझको देखते हुए भी निकट ले जाने की इच्छा क्यों नहीं करते हो ? द्वन्द्व रहित लोगों को भी मृत्यु के दुःख से दुःख होता है।)

ए. आर. राजवर्मा-ए. आर. राजवर्मा का जन्म १८६३ ई. में चन्नासेरी के लक्ष्मीपुरम् राजप्रसाद में हुआ। इनके पिता भरणीतिरुनाल तम्पूरत्ती थे। केरलवर्मा इनके पितृव्य थे। इन्होंने उनसे भी शिक्षा पायी थी। बाल्य से ही ये पद्यरचना करने लगे थे और बालकवि कहे जाते थे। १८८६ ई. में इसी राज्य में संस्कृत विभाग के सुपरिंटेंडेंट नियुक्त

हुए। इन्होंने 'नारायणभट्ट और उनका कृतित्व' इस विषय पर अनुसंस्थान कार्य किया था। १६१८ ई. में इनका देहावसान हो गया।

मलयालम में लिखे 'केरलपाणिनीय' ग्रन्थ के कारण इन्हें केरलपाणिनि की उपाधि मिली थी। संस्कृत में आङ्ग्लसाम्राज्य (महाकाव्य), गैर्वाणीविजय (रूपक), उद्दालकचरित (गद्यकाव्य) तथा विटविभावरी, वीणाष्टक, देवीमङ्गल, देवीदण्डक, मित्रश्लोक, पितृवचन, राममुद्रासप्तक, मेघोपालम्भ तथा पद्मनाभशतक अदि गीतिकाव्यों की रचना इन्होंने की।

विटविभावरी इनकी उल्लेखनीय रचना है। इसमें शृंगाररस की प्रमुखता है। यह चार यामों में विभक्त है और राधाकृष्ण के प्रेम का इसमें चित्रण है। नायिका राधा की विभिन्न प्रेम-दशाओं का चित्रण कवि ने तल्लीन भाव से किया है। यथा व्याधि के चित्रण में-

पार्श्वगप्रियसखीकरलीनां पाणिपद्मधृतपाण्डुकपोलाम्।
प्रेमभूः सुपरिमार्जितचक्षुः प्रेयसीं प्रियतमोऽथ ददर्श।। (३/११)

(प्रेम के आधार, सुपरिमार्जित नेत्र वाले प्रियतम ने बगल में बैठी प्रियसखी के हाथ पर पड़ी तथा अपने पाणि-पद्म पर पाण्डुवर्ण कपोल को रखे हुई प्रेयसी को देखा।)

कवि ने अलंकारों का मनोरम विन्यास किया है तथा उसके साथ-साथ भावधारा को भी अक्षुण्ण प्रवाहित किया है। स्मृति भाव के साथ अनुप्रास तथा उत्प्रेक्षा का समावेश देखिये-

अन्येद्युराकुञ्चितकण्ठनालं प्रोष्यागताया मधुरस्मितं तत्।
अपाङ्गमालामयकीलजालैरद्यापि मे चेतसि खातमास्ते।। (२/७)

(दूसरे दिन, कण्ठनाल को सिकोड़कर उसने जो मधुर स्मित किया वह मेरे चित्त में कटाक्षमाला के कीलों के साथ आज भी गड़ा हुआ है।)

महावीर प्रसाद द्विवेदी-ये हिन्दी साहित्य में युगप्रवर्तक आचार्य के रूप में विख्यात हैं। इनके संस्कृत-प्रबन्धों के अनुवाद भी विश्रुत हैं। ये समय-समय पर संस्कृत काव्य-रचना करते रहते थे। अपनी पत्नी का स्मारक बनवा कर उस पर स्मृति लेख संस्कृत में पद्यबद्ध कर इन्होंने लगवाया था। अपने साहित्यिक मित्रों को भी कभी-कभी ये संस्कृत में पद्यात्मक पत्र लिखते थे। काशी के श्रीराम पत्र के संपादक ने इनसे लेख भेजने का अनुरोध किया, उस समय ये रुग्ण थे और इन्होंने श्रीराम के श्लेष का संकेत करते हुए पत्र के संपादक को शिखरिणी छन्द में यह मार्मिक पत्र लिखा था-

अनेकाधिव्याधिव्यथितहृदयं दीनवदनं
विहीनं पुत्रादिस्वजनसमुदायेन जगति।
अतित्रस्तं ग्रस्तं हतविधिविलासैः सपदि मां
शरण्य श्रीराम त्रिभुवनपते पाहि रमया।।

क्षीणशक्तिर्जराजीर्णो मन्ददृष्टिरहं बुध।
पत्रादाने प्रदाने च न समर्थोऽस्मि क्षम्यताम् ।।'

(त्रिभुवन के पति शरणागत रक्षक हे श्रीराम, अनेक आधि-व्याधियों से व्यथित हृदय वाले दीन मुख वाले, पुत्र आदि स्वजन समुदाय से रहित, संसार में अतिशय त्रस्त, हत भाग्य-विलास से ग्रस्त मुझे शीघ्र आप रमा (सीता) के साथ बचाइये।

हे विद्वान, मेरी शक्ति क्षीण हो चुकी है, जरा से जीर्ण हूँ तथा दृष्टि भी मंद पड़ गयी है, अतः पत्र-व्यवहार में समर्थ नहीं हूँ, अतः क्षमा करें।)

द्विवेदी जी की संस्कृत कविताएँ उनके सुमन नामक काव्यसंकलन में संगृहीत हैं। इनमें से प्रमुख मुक्तक रचनाएँ हैं-**कथमहं नास्तिकः, कान्यकुब्जलीलामृतम्, समाचारपत्रसम्पादकस्तवः, तथा सूर्यग्रहणम्।**

कथमहं नास्तिकः ? शीर्षक कविता में छद्म धार्मिकता का विरोध करते हुए युगानुरूप सच्ची आस्तिकता का स्वरूप उद्घाटित किया गया है-

नित्यं जपामि यदहं शुचि सत्यसूत्रं
लोके तदस्तु मम मन्त्रजपः पवित्रम्।
या सज्जनेषु भगवन् मम भक्तिरेषा
सैव प्रभो भवतु देवगणस्य पूजा।।
सर्वेषु जीवनिचयेषु दयाव्रतं मे
श्रेयो ददातु निखिलं नियतव्रतानाम्।
अच्छाच्छचन्दनरसादपि शीतदो मा-
मानन्दयत्वनिशमीश परोपकारः।।

(जो कि मैं पवित्र सत्य-सूत्र का नित्य जप करता हूँ, अतः वह मेरा मन्त्र-जप पवित्र हो और हे भगवन्, सज्जनों के प्रति जो मेरी भक्ति भावना है, हे प्रभो, वही देवताओं की पूजा के रूप में स्वीकृत हो !

हे ईश्वर ! सभी प्राणियों के प्रति मेरा दया का व्रत मुझे नियम-व्रतों के समय श्रेय को प्रदान करे और स्वच्छ श्वेत चन्दन-रस से भी अधिक शैत्य प्रदान करने वाला परोपकार मुझे सदा आनन्दित करे।)

'काव्यकुब्जलीलामृतम्' में ३४ पद्य हैं। सामाजिक चेतना तथा व्यंग्य की दृष्टि से यह अनूठी रचना है। कवि ने कान्यकुब्जब्राह्मणों की लोलुपता, पाखण्ड, अन्धविश्वासवृत्ति पर कड़ा प्रहार किया है। व्यंग्य के साथ हास्य का भी अच्छा पुट रचना में दिया गया है। यथा-

१. विस्तृत विवरण के लिये सागरिका (संस्कृत त्रैमासिक) में प्रकाशित लेख 'आचार्यश्रीमन्महावीरप्रसादद्विवेदिनः संस्कृतकवित्वम्' द्रष्टव्य है। सागरिका २२/२,पृ. २३-२८

सदैव शुक्लारुणपीतवर्णपाटीरपङ्कावृतसर्वभाल।
आभूतलालम्बिदुकूलधारिन् हे कान्यकुब्जद्विज ते नमोऽस्तु।।

(सदैव श्वेत, लाल तथा पीत वर्ण के चन्दन पङ्क से चर्चित ललाट वाले, भूतल तक लटके दुकूल वस्त्र धारण करने वाले हे कान्यकुब्ज ब्राह्मण, आपको नमस्कार है।)

कान्यकुब्जों की यौतुक (दहेज) के लिये लिप्सा तथा घर में आयी बहू को सताने की दुष्प्रवृत्ति को भी इसी सोत्प्रास शैली में कवि ने उघाड़ा है-

अहो दयालुत्वमतः परं किं यथेहितं तद् द्रविणं गृहीत्वा।
निन्द्यानपि त्वं विमलं करोषि तदीयकन्यापरिपीडनेन।।

व्याजस्तुति अलंकार के प्रयोग की यह रचना अच्छा उदाहरण है। 'समाचारपत्रसम्पादकस्तवः' में भी इसी प्रकार अखबार के सम्पादकों की करतूतों को कवि ने अपने पैने व्यंग्यप्रहारों का विषय बनाया है। छद्म को उघाड़ने में आचार्य द्विवेदी ने गहरी अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है। व्याजस्तुति अलंकार के सटीक प्रयोग, शैली के चुलबुलेपन और शिष्टहास्य के व्यंग्य की प्रखर धार के कारण यह रचना और भी आकर्षक है। कवि की दृष्टि यथार्थवादी है-

पत्रे स्वकीये जगदेकनेत्रे शिशुं त्रिपादं त्रिशिरस्करं च।
सृजत्यजस्रं कुतुकेन तेन सम्पादक त्वं चतुराननोऽसि।।
आकृष्टमुच्चैर्लघुपत्रमूल्यं नवोपहारादि विधेर्विधाने।
समस्तमायाविशिरोमणित्वात् त्वमेव सम्पादक माधवोऽसि।।

'सूर्यग्रहणम्' कविता में सूर्यग्रहण के अवसर पर भारतीय समाज में विभिन्न वर्गों के लोगों का व्यवहार और प्रतिक्रियाएँ उसी पैनी व्यंग्यप्रवण शैली में व्यक्त की गयी हैं। इस अवसर पर ज्योतिषी, पुजारी आदि भोले-भाले लोगों को किस प्रकार मूर्ख बना कर उनसे द्रव्य ऐंठते हैं यह कवि ने निदर्शित किया है-

युद्धं भविष्यति नृपेषु परस्परेषु
लोकं गमिष्यति यमस्य रुजा प्रजा च।
धान्यं धनं बहु हरिष्यति चौरवर्ग
इत्यादि कैश्चिदिह सूरिभिरन्वभावि।।

महावीरप्रसाद द्विवेदी की एक अन्य कविता 'प्रभात-वर्णन' उनके निसर्गप्रेम का उदाहरण प्रस्तुत करती है। वैदर्भी तथा उत्प्रेक्षा के कल्पनाशील प्रयोग के कारण यह रचना भी रोचक बन पड़ी है। उदाहरणार्थ-

ममाचिरात् सम्भविता समाप्तिः
शुचा हृदीतीव विचिन्तयन्ती।
उषःप्रकाशप्रतिभामिषेण
विभावरी पाण्डुरतां बभार।।

(शीघ्र ही मैं समाप्त हो जाऊँगी, ऐसा हृदय में सोचती हुई रात्रि उषःकाल के प्रकाश के प्रतिभास के बहाने पाण्डुर वर्ण की हो गयी।)

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने युगानुरूप सरल शैली में नवीन विषयों पर भी लिखा था, पारंपरिक विषयों पर काव्य लिखते समय भी कहीं-कहीं कल्पना की नूतनता प्रकट की है।

यद्यपि आचार्य द्विवेदी की हिन्दीसेवा तथा 'सरस्वती' मासिक पत्रिका के सम्पादन का अधिकांश काल बीसवीं शती (१६०३ ई. से १६२० ई.) में आता है, पर इनके संस्कृतकवित्व का रचनाकाल अधिकांशतया उन्नीसवीं शती के अन्तर्गत (१८५७ ई. से लगभग १६०० ई.) ही आता है। द्विवेदी जी ने अपनी अनेक संस्कृत कविताएँ 'सुमन' उपनाम से पत्रिकाओं में प्रकाशित कराईं। उक्त रचनाओं के अतिरिक्त संस्कृत में इनकी कुछ और कविताए हैं-शिवाष्टकम्, अयोध्याधिपस्य प्रशस्तिः, मेधमालां प्रति चन्द्रोक्तिः, प्लेगस्तवराजः, काककूजितम् आदि।

सरोजमोहिनी देवी-सरोजमोहिनी देवी का परिचय अप्राप्य है, पर इनकी अनेक कविताएं 'संस्कृतचन्द्रिका' के पुराने अंकों में मिलती हैं। क्षणप्रभा[1], [2]शशद्वर्णन[3] प्रावृट्[4] आदि काव्यों में इन्होंने स्त्रीहृदय के सौकुमार्य के साथ बड़ी लयात्मक भाषा में प्रकृति के मनोहर चित्र अंकित किये हैं। शरद्वर्णन का यह पद्य देखिये-

नीरद इह गर्जति खलु, वर्षति नहि जीवनम्।
सन्ततमिव वर्षणप्रिय चातकघनजीवनम्।।

अन्नदाचरण-महाकवि अन्नदारण का जन्म बंगाल के नोआखाली जिले के अंतर्गत सोमपाड़ा ग्राम में सन् १८६२ ई. में हुआ था। वैदुष्य उन्हें वंशपरम्परा से प्राप्त हुआ। कलकत्ता तथा वाराणसी में उन्होंने उच्चशिक्षा प्राप्त की तथा न्याय-वैशेषिक का विशेष अध्ययन कर के काशी के पण्डितसमाज द्वारा तर्कचूडामणि की उपाधि से अलंकृत किये गये। पिता के द्वारा छोड़े गये ऋण को चुकाने के लिये अपनी सारी संपत्ति नीलाम कर के ये आजीवन अपरिग्रही हो कर रहे तथा अध्यापन का व्यवसाय अपनाया।

---

१. संस्कृतचन्द्रिका ३/१२, १८६४ ई. में प्रकाशित।
२. वही, २/५, १८६४,
३. वही, २/७, १८६४,
४. वही, ३/५, १८६५;

अन्नदाचरण काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापन करते हुए सुप्रभातम् तथा सूर्योदय पत्रिकाओं के प्रकाशन और सम्पादन के दायित्व का भी निर्वाह करते रहे। उनकी संस्कृत रचनाएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं और आधुनिक संस्कृत काव्य को उन्होंने चार महत्त्वपूर्ण रचनाएं पुस्तकाकार प्रकाशित करवा कर अर्पित कीं-दो महाकाव्य-रामाभ्युदयम् तथा महाप्रस्थानम् और दो गीतिकाव्यों या लघुकाव्यों के संकलन- ऋतुचित्रम् तथा सुमनोऽञ्जलिः।

ऋतुचित्रम् में छहों ऋतुओं की नैसर्गिक अभिरामता और स्थावर-जंगम जगत् में उनसे होने वाले विवर्तन का वर्णन किया गया है। सुमनोञ्जलिः में विभिन्न विषयों पर रचना हैं जिनके शीर्षक इस प्रकार हैं- 'प्रणतिः' आशा, शिशुहास्यम्, दशासादृश्यम्, किमेष भेदः, श्मशानम्, का गतिः, आत्मनिवेदने उपदेशः, परिणामभूमिदर्शनम्, गन्तव्यस्थाननिर्देशः, कल्पना, वनविहङ्गः, निद्रा, क्व सुखम्, तदतीतमेव तथा प्रार्थना।

अन्नदाचरण का एक अन्य खण्डकाव्य 'क्व गच्छामि' जो उक्त दोनों संकलनों में सम्मिलित नहीं है, संस्कृतचन्द्रिका में प्रकाशित हुआ था।

अन्नदाचरण के लघुकाव्यों में भाषा की प्रासादिकता तथा अभिव्यक्ति की सुस्पष्टता है। उस समय की सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों की प्रतिच्छवि भी उनकी कविताओं में मिलती है। सामाजिक विषमता तथा अन्याय और दरिद्र जनों के शोषण के विरुद्ध उन्होंने अपना स्वर मुखरित किया है। शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा जैसे लंबे छन्दों का उन्होंने प्रयोग नहीं किया है। उपेन्द्रवज्रा, द्रुतविलम्बित जैसे छन्दों का प्रयोग इनकी कविताओं में अधिक है।

'ऋतुचित्रम्' पर यद्यपि कालिदास के ऋतुसंहार का प्रभाव व्यक्त है, तथापि कवि ने अपने देश-काल और विशेषतः भारतीय जन-जीवन की दशा पर दृष्टिपात किया है। वर्षा के आगमन पर किसानों के विषय में वे लिखते हैं -

सुवर्षणैः कुत्रचिदत्र शस्यसम्पन्निदानैः कृषकाः प्रफुल्लाः।
क्वचिन्निराशत्वविषण्णभावमीयुः समन्ताद् बत तद्वियोगात्।
अहो इदानीं कतिचिद् दरिद्रा अनावृते वृष्टिजलाभिषिक्ते।
गृहेऽतिदुःखैर्निजदुष्कृतानि स्मृत्वैव मर्मव्यथया रुदन्ति।। (१०,१५)

(यहाँ कहीं पर अच्छी वर्षा होने से कृषक लोग सस्य सम्पदा के कारण प्रसन्न हैं, कहीं पर वर्षा के पूरे अभाव के कारण नैराश्य और विषाद को प्राप्त कर रहे हैं। खेद है कि आजकल कुछ गरीब लोग छाजन से रहित, बरसात के पानी से भींगे गृह में अतिदुःख के कारण अपने पापों को याद करके मर्मान्तक व्यथा से रो रहे हैं)

'दशासादृश्यम्' शीर्षक कविता में अन्नदाचरण ने समाज में व्याप्त विषमता पर खेद प्रकट किया है। इसी बात को 'किमेष भेदः' शीर्षक कविता में भी ये कहते हैं -

एको रसज्ञासुखदं सुभोज्यं प्राचुर्यतो भोक्तुमहो न शक्तः।
न विन्दतेऽन्योऽणुकमन्नचूर्णं किमेष भेदः समदर्शि सर्गे।।
एकः शिरीषातिकुमारवस्त्रावृतां सुशय्यामधिशेत एव।
न लभ्यतेऽन्येन धरापि शुष्का किमेष भेदः समदर्शि सर्गे ?।। (२, ३)

(यह कैसा भेद है जो संसार में दीख पड़ता है कि एक के पास रसना को सुख देने वाला सुभोज्य पदार्थ इतनी मात्रा में है कि उसका उपभोग नहीं कर पाता है और दूसरा अन्न का थोड़ा चूर्ण नहीं प्राप्त करता ! और, एक है जो शिरीष से भी कोमल वस्त्र से ढकी सेज पर शयन करता है, दूसरे को सूखी जमीन भी नसीब नहीं होती !)

अन्नदाचरण के काव्य में कोमल भावनाओं, हार्दिक करुणा तथा नये युग के चिन्तन को अभिव्यक्ति मिली। इनकी सभी रचनाओं का प्रकाशन नोआखाली से उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों तथा बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों के बीच में हुआ। उक्त साहित्यिक रचनाओं के अतिरिक्त इन्होंने काव्यचन्द्रिका तथा शब्दशक्तितत्त्व नामक शास्त्रीय ग्रन्थों का भी प्रणयन किया था।

रामवतार शर्मा-इनके पिता का नाम पं. देवनारायण शर्मा और माता का नाम गोविन्ददेवी था। पाँच वर्ष की आयु से ही इन्होंने संस्कृत के पद्य कण्ठाग्र करना आरंभ कर दिया था। १८८१ ई. में प्रथमा परीक्षा उत्तीर्ण कर के ये राजकीय संस्कृत महाविद्यालय काशी में पण्डित गंगाधर शास्त्री के श्रीचरणों में अध्ययन करने के लिये आ गये। ये बंगीय संस्कृत परिषद्, कलकत्ता विश्वविद्यालय तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालय की परीक्षाएँ भी उत्तीर्ण करते हुए १८६७ ई. में प्रथम श्रेणी में सर्वप्रथम स्थान के साथ साहित्याचार्य परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। इस बीच पिता का निधन हो जाने के कारण परिवार के भरण-पोषण का दायित्व इनके ऊपर आ गया। इन्होंने छपरा जिला स्कूल में संस्कृत शिक्षक के पद पर कार्य करना आरंभ कर दिया। इस पद पर कार्यरत रह कर भी वे पंजाब और कलकत्ता विश्वविद्यालयों की कई परीक्षाओं में बैठे और स्वर्णपदकों से अलंकृत हुए। १६०१ ई. से १६०५ ई. तक ये वाराणसी के सेंट्रल हिन्दू कालेज में प्राध्यापक रहे और ११-४-१६०६ से पटना कालेज में। १६०७ ई. में यहाँ से अवकाश प्राप्त होने पर इनकी नियुक्ति कलकत्ता विश्वविद्यालय में हो गयी। वहाँ से ये फिर कुछ समय के लिये पटना कालेज में ही सेवा करते रहे। १६१६ ई. से १६२२ तक महामना मालवीय जी के आदेश के अनुसार बिहार शासन से अवकाश ले कर हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में प्राच्य महाविद्यालय में इन्होंने प्राचार्य का पद संभाला। वहाँ से लौट कर पुनः आजीवन पटना कालेज में ही कार्यरत रहे।

म. म. रामावतार शर्मा की प्रतिभा बहुमुखी थी और उन्होंने साहित्य की अनेक विधाओं को अपने मौलिक सर्जनात्मक उन्मेष से संपन्न किया। उनकी वैदुषी तो अप्रतिम थी ही। उनके लिखे प्रमुख पद्य काव्य ये हैं -मारुतिशतकम्, शम्भुशतकम्, कृष्णस्तवककल्पतरुः, मुद्गरदूतम्, अभिनवभारतम्, सत्यदेवकथा, शतश्लोकीयं धर्मशास्त्रम् आदि। इनके अतिरिक्त

शर्मा जी ने धीरनैषधम् नाटक, जयप्रकाशचरितचम्पूः, साहित्यरत्नावली आदि की भी रचना की। उनके लिखे अनेक स्फुट काव्य भी मिलते हैं, तथा-वसन्तवर्णनम्, सरस्वत्यष्टकम्, ज्योर्जप्रशस्तिः तथा अनेक अन्योक्तियाँ। हिन्दी और अंग्रेजी में भी इनका विपुल शोधपूर्ण चिन्तापरक या पाण्डित्यपूर्ण साहित्य है।

धीरनैषध नाटक की रचना इन्होंने अठारह वर्ष की आयु में कर डाली थी। मारुतिशतक, शम्भुशतक, कृष्णस्तबककल्पतरुः आदि रचनाओं का लेखनकाल १८९५ ई. के लगभग है, जब इनकी आयु इक्कीस वर्ष की थी।

मारुतिशतक स्रग्धरा छन्द में रचित प्रौढ़ रचना है। स्तुतिपरक होने के साथ-साथ यह हनुमान् के विलक्षण चरित को भी एक-एक पद्य में ओजस्वी रूप में प्रस्तुत करता है। लंकादहन का दृश्य चित्रित करते हुए कवि कहता है-

हा मातस्तात हा हा प्रिय इह दयिते वत्स हा क्वासि यातो
हा दग्धो हा मृतोस्मि स्फुटति बत शिरो हन्त दैवं नृशंसम्।
इत्थं कोलाहलैर्यो रजनिचरपुरीं सम्भृतां दाहकाले
चक्रे सोयं कपिर्वः प्रदिशतु सततं सन्ततं सौख्यराशिम्।।

(जिन हनुमान जी ने लङ्कादाह के समय रावण की राजधानी में हल्ला मचा दिया और सभी चिल्लाने लगे-हा मातः, हा तात, हा प्यारे, हा प्रिय, हा पुत्र, हा तू कहाँ गया! हा मैं जला, हा मैं मरा, मेरा सिर फूट रहा है, हाय विधाता क्रूर है! वे हनुमान् जी आप लोगों को सदा अविच्छिन्न सुख प्रदान करें।)

शम्भुशतक अपूर्ण है। यह मन्दाक्रान्ता छन्द में लिखा गया है। मारुतिशतकम् में नृत्यत्प्रायपदावली का फड़कता हुआ विन्यास है, तो इस काव्य में शिष्ट हास्य, सौकुमार्य और श्रृंगार की छटा का भी भक्तिभाव के साथ अपूर्वयोग हुआ है। दीर्घ समास-रचना में भी कवि ने प्रासादिकता तथा माधुर्य की रक्षा अव्याहत रूप में की है। यथा-

गौरीदोर्लतिकाप्रसङ्गविगलद्भस्माङ्गरागोज्ज्वल-
ग्रीवाहालहलप्रभाच्छुरणया श्यामायितात्मप्रभम्।
मौलिस्थास्नुसुरापगातटवनीवानीरजालोपमं
चूडाचन्द्रमरीचिमण्डलमुमानाथस्य मथ्नात्वघम्।।

(उमापति शिव के सिर के चन्द्र का किरण-मण्डल पाप को नष्ट करे, जो गौरी पार्वती की भ्रूलता के सम्पर्क से गिर रहे भस्म के अंगराग के कारण उज्ज्वल है, जिसकी अपनी प्रभा शिव की ग्रीवा में स्थित हालाहल की प्रभा के मिलने से श्यामायित है और जो शिव के सिर पर रहने वाली सुरापगा गंगा के तट-वन के वेतस-जाल जैसा लगता है।)

श्रीकृष्णस्तबकल्पतरुः में दो प्रकाण्डों में क्रमशः २२ तथा ४८ पद्य हैं। इसमें माधुर्य तथा भक्तिभाव की तल्लीनता और भी उत्कर्ष पर है।

अभिनवभारतम् शर्माजी की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। यह १६११ ई. में लिखी गयी थी। इसमें दो तंरग है- भारतीयेतिहासतरङ्गः तथा देशान्तरीयेतिहासतरङ्गः। कवित्वशक्ति के साथ-साथ शर्मा जी की व्युत्पत्ति और देशकालावबोध का भी परिचय इस रचना से मिलता है। भातीयेतिवृत्त की अंतिम पाँचवीं वीची में शर्मा जी ने अपने गुरु गंगाधर शास्त्री तथा पिता की जो प्रशस्ति की है, वह उनकी सहृदयता का उत्कृष्ट उदाहरण है।

देशान्तरीयेतिवृत्त में अठारह वीचियों तथा ४२४ पद्यों में मिश्र, रोम, फारस आदि देशों का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। प्रायः कवि ने वैदेशिक नामों का संस्कृतीकरण कर दिया है, जैसे अलिकचन्द (अलेग्जेंडर), प्रलिम्प (फिलिप) आदि।

मुद्गरदूतम् आधुनिक संस्कृत साहित्य में अपने ढंग की निराली ही रचना है, जिसमें शर्मा जी का विलक्षण विनोदी स्वभाव, पैने व्यंग्य की मार, देश के प्रति गहरा लगाव और समसामयिक स्थितियों के प्रति जागरूकता के साथ उनकी प्रगतिशील दृष्टि प्रतिफलित हुई है। यह काव्य मेघदूत की पैरोडी है और १६१४ ई. में इस नवीन विधा की परिकल्पना तथा उसके साथ मौलिकता का निर्वाह शर्मा की विलक्षण प्रतिभा का परिचायक है। १४८ मन्दराक्रान्ताओं को कवि ने पूर्वमुद्गर, मध्यमुद्गर तथा उत्तरमुद्गर इन तीन भागों में विभाजित किया है। पाखण्ड तथा दम्भ पर ऐसा सोत्प्रास शैली में प्रहार दुर्लभ ही है-

नीतिव्याख्यासमितिषु तथा धर्मवार्तासदःसु
प्रायो नाट्येष्वथ शवखनिष्वाश्रमेषूद्भटानाम्।
व्यर्थं क्षिप्त्वा भरतवसुधाद्रव्यकोटीः स कीटो
देशप्रेमोल्बणभणितिभिर्नाशयामास विद्याम्।। पूर्वमुद्गर-१५

(नीति की व्याख्या की समितियों, धर्मवार्ता की सभाओं में, नाट्यों में, कब्रगाहों तथा उद्भटों के आश्रमों में उस कीड़े ने प्रायः भारत भूमि के करोड़ों रुपये व्यर्थ गंवाकर देश-प्रेम की भारी-भरकम बातों से विद्या को नष्ट किया है।)

अप्पाशास्त्री राशिवडेकर- अप्पाशास्त्री राशिवडेकर का जन्म१८७३ ई. में हुआ। राशिवडे ग्राम के निवासी श्री सदाशिवशास्त्री इनके पिता थे। कोल्हापुर के पं. कान्ताचार्य से इन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया था और कोल्हापुर में ही आरम्भ से निवास करते रहे। बंगाल के पं. जयचन्द्र शर्मा सिद्धान्तभूषण द्वारा १८६३ ई. से प्रारंभ की गयी प्रतिष्ठित संस्कृत पत्रिका 'संस्कृतचन्द्रिका' के सम्पादकत्व का दायित्व इन्होंने सम्भाला, तथा इसके पश्चात् सूनृतवादिनी नाम से पाक्षिक अखबार भी संस्कृत में प्रकाशित करने लगे।

- अप्पाशास्त्री के पाण्डित्य से प्रभावित होकर बंगीयसंस्कृत परिषद् के सम्मेलन में विद्वानों ने इन्हें वाचस्पति की उपाधि से अलंकृत किया था। वाराणसी भारत धर्ममण्डल ने उन्हें विद्यालंकार और महोपदेशक की पदवी भी दी थी। २५-१०-१६१३ को उनका निधन हो गया।

संस्कृत साहित्य की अनेक विधाओं में लेखनी व्यापृत करके अप्पाशास्त्री जीवनपर्यन्त सेवा करते रहे। इन्होंने कलियुग की विषमस्थितियों का चित्रण प्रस्तुत करते हुए 'अधर्मविपाकम्' नाटक लिखा था। संस्कृत में अनेक कहानियाँ भी इन्होंने लिखीं तथा अनेक प्राचीन ग्रन्थों पर टीकाओं की रचना भी की।

कथाएं- इनके लिखे प्रमुख संस्कृत खण्डकाव्य ये हैं- वेषमाहात्म्यम्, व्यसनविमोक्षः, प्राधान्यवादः, बकचापलम्, विमुग्धे विप्रलब्धासि।

इनके खण्डकाव्यों में श्रीमहाराजक्षत्रपतिशाहोः कुमारावाप्तिः, तिलकमहाशयस्य कारागृहवासः, श्रीकण्ठपदभूषणम्, मल्लिकाकुसुमम्, कुसुमस्तबकः, दावानलविलासः, निर्धनविलासः, उद्वाहमहोत्सवम्, आशीर्वचनरत्नमालिका, पञ्जरबद्धः शुकः, वल्लभविलापम्, आक्रन्दनम्, उपवनतटाकम् आदि हैं।

अप्पाशास्त्री के संस्कृत काव्य में उस समय की राजनीतिक स्थितियों के प्रति जागरूकता, स्वतन्त्रता संग्राम से संलग्नता, नवीनता और साहस के साथ-साथ नवयुगबोध, दीन और दलितों के प्रति करुणा तथा भारतीय नैसर्गिक सुरम्यता के प्रति आकर्षण व्यंजित हुए हैं।

इस दृष्टि से उनकी कविता 'पञ्जरबद्धः शुकः' स्मरणीय है। इसमें पंरजबद्ध शुक की अन्योक्ति के माध्यम से पराधीन भारत की वेदना को कवि ने व्यक्त किया है। इस कविता से प्रभावित हो कर हिन्दी कवि मैंथिलीशरण गुप्त ने इसका संस्कृत से हिन्दी में काव्यानुवाद किया था, जो महावीरप्रसाद सरस्वती के द्वारा संपादित सरस्वती जैसी श्रेष्ठ साहित्यिक पत्रिका में (अगस्त, १६६१) प्रकाशित हुआ था। कवि पराधीनता को मृत्यु के समान दारुण बताता हुआ कहता है-

शुक सुवर्णमयस्तव पञ्जरो
न खलु पञ्जर एष विभाव्यताम्।
मुखमिदं ननु हेमशलाकिका-
रदनशालि मृतेरतिभीषणम्।।

(हे शुक, इस अपने सोने के पिंजरे को पिंजरा मत समझ, यह तो सोने की सलाखों रूपी दाँतों वाला मृत्यु का अति भीषण मुख है।)

इसी प्रकार 'तिलकमहाशयस्य कारागृहवासः' शीर्षक कविता भी लोकमान्य तिलक के प्रति कवि की श्रद्धा-भावना के साथ-साथ उनकी राष्ट्र सपर्या के प्रति आस्था को व्यक्त करती है। इस कविता में ३७ पद्य हैं। कवि ने अंग्रेज सरकार द्वारा कारागार में तिलक को दिये जाने वाले कष्टों पर संवेदनामय शैली में अपना क्लेश प्रकट किया है।

अप्पाशास्त्री जी की अनेक कविताएं प्रकृतिचित्रण से संबद्ध हैं। 'ऋतुचित्रम्' उनकी एक श्रेष्ठ कविता है, जिसमें ऋतुसंहार के समान छहो ऋतुओं का क्रमशः सुन्दर वर्णन है।

इसमें कवि ने समकालिक सामाजिक विसंगतियों की ओर संकेत किया है। सहोक्ति अंलकार के मार्मिक निर्वाह के साथ आम जनता की ग्रीष्म ऋतु में अनुभूत कष्टपरंपरा को उद्घाटित करते हुए वह कहता है-

शस्यं शुष्यति सर्वमेव भुवने पुंसां सहैवाशया
प्रम्लायन्ति लता नितान्तमधुना साकं प्रजानां मुखैः।
उद्दामं समुदेति च प्रतिपलं चोष्मा समं मानसै-
स्तापैः क्वापि विलीयते बत शुचावप्यागते यद्धनः।।

(संसार में लोगों की आशा के साथ पूरा धान सूखता जा रहा है, अब प्रजा जनों के मुख के साथ लताएं अत्यन्त मलिन हो रही हैं, मन के तापों के साथ प्रतिपल गर्मी बढ़ती जा रही है, ग्रीष्मकाल के आने पर भी मेघ कहीं विलीन है।)

शास्त्री जी की वल्लभविलापः कविता अपनी पत्नी के निधन पर लिखी गयी अत्यन्त कारुणिक अभिव्यक्ति है। इस प्रकार उनकी 'मल्लिकाकुसुमम्' में भी सुकुमार भावों को व्यक्त किया गया है। इस कविता में एक युवक मालतीलता में केवल एक पुष्प देख कर उसे तोड़ कर फेंक देता है। इस छोटी सी घटना के माध्यम से कवि ने व्यक्ति की बन्धुबान्धवरहित एकाकी स्थिति का करुण चित्र प्रस्तुत किया है।

उक्त काव्यों के अतिरिक्त शास्त्री जी ने अनेक स्फुट पद्य तथा स्तुतिपरक काव्य भी लिखे हैं।

रामनाथ-रामनाथ का जन्म उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में हुआ। इनके पिता का नाम कालिदास था। इनके अग्रज उत्तम विद्वान थे। अपनी आर्यालहरी में रामनाथ ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है-

नन्दनकाननकल्पे भुवि कविपिककुलकलस्वनोद्गारैः।
नगरे शान्तिपुराख्ये निवसति वसतौ बुधानां यः।।
कोशव्याकृतिकाव्यच्छन्दोऽलंकार-तर्कविज्ञानम्।
योऽवाप पुण्ययशसः श्रीनाथादग्रजादग्रे।।

(कवि रूपी कोकिल के मधुर कूजित के उद्गारों से पृथ्वी पर नन्दन काननके सदृश, बुधजनों के निवास शान्तिपुर नाम के नगर में जो रहता है, जिसने पहले पुण्य यश वाले श्रीनाथ नामक अग्रज से कोश, व्याकरण, काव्य, छन्द, अलंङ्कार तथा तर्क शास्त्रों का विशेष ज्ञान अर्जित किया, कवि कालिदास का पुत्र विनीत इस रामनाथ ने इसकी रचना की।)

रामनाथ के तीन काव्यों का उल्लेख मिलता है- वासुदेवविजय महाकाव्य, विलापलहरी तथा आर्यालहरी खण्डकाव्य। इसके अतिरिक्त आर्यालहरी में ही कवि ने अपने विषय में

कहा है- "वेदान्तशास्त्रविषये यस्य च कृतयो विराजन्तें" (१८१७) इससे सिद्ध होता है कि इन्होंने अनेक शास्त्रीय ग्रन्थों की भी रचना की थी।

आर्यालहरी का प्रणयन रामनाथ ने राजा यतीन्द्रमोहन के आदेश से किया था। (वही, पद्य सं. ८११)। इस काव्य का प्रमुख विषय श्रृंगार है । आरंभ में गङ्गा, शिव, पार्वती आदि देवताओं की स्तुतियाँ तथा कविप्रशंसा, सज्जनप्रशस्ति, दुर्जननिंदा, सत्काव्यश्लाघा आदि विषय हैं। कुछ पद्य नीतिपरक भी हैं तथा कुछ अन्योक्तियाँ और आधुनिक नवाविष्कृत वस्तुओं से संबद्ध पद्य भी इस काव्य में हैं।

विलापलहरी की रचना कवि ने १८६४ ई. में की। इस काव्य में नरकासुर के वध से खिन्न माता पृथिवी का शोक चित्रित किया गया है। मातृहृदय की पीडा का करुण वर्णन यहाँ हुआ है। पुत्र भले ही कितना ही दुष्ट निकल जाय, माता को तो उसके न रहने पर शोक होता ही है। इस काव्य में कृष्ण के कथनों में कहीं-कहीं गीता का प्रभाव झलकता है। यथा-

हन्ता न कालो, न मृतिर्न चाहं
सुतो हतस्ते निजकर्मणैव।। (पद्य-८१)

(उसे काल ने नहीं मारा, न मृत्यु ने और न ही मैंने, तुम्हारा पुत्र अपने कर्म से ही मारा गया।) पृथ्वी के विलाप में करुण रस के साथ वात्सल्य की भी अभिव्यक्ति हुई है-

आगच्छ शीघ्रं सुत सज्जितानि भक्ष्याणि साक्षादमृतोक्षितानि।
आदाय बालव्यजनं वधूर्मे पन्थानमुत्पश्यति कातराक्षी।। (पद्य-६२)

(हे पुत्र, शीघ्र आ, साक्षात् अमृत-सिक्त भोज्य पदार्थ तैयार हैं। कातर आँखोवाली मेरी बहू व्यंजन लेकर तेरा बाट जोह रही है।)

बीसवीं शताब्दी का गीतिकाव्य

उन्नीसवीं शती को संस्कृत साहित्य के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात कह सकते हैं। योरोप से संपर्क और नयी राजनीतिक चेतना ने संस्कृत कविता के क्षेत्र में नये वातायन खोल दिये। पारंपरिक विद्या में दीक्षित पंडितों ने नये युग और नयी धरती भी खोजी। संस्कृत ही नहीं, देश की अन्य भाषाओं के साहित्य में भी उन्नीसवीं शती का काल नवजागरण और नयी चेतना के साहित्य का काल है।

पर धीरे-धीरे परिस्थितियां बदलीं। मैकाले की शिक्षानीति लागू होने के पूर्व तथा अंग्रेजी शासन की नीतियों का विकृत रूप जब तक स्पष्ट नहीं हुआ था तब तक संस्कृत के रचनाकारों में अपनी भाषा के गौरव और अपनी रचनाशीलता के प्रति अदम्य विश्वास था। अंग्रेजी को सारे देश में माध्यम की भाषा के रूप में थोपे जाने और शिक्षानीति में परिर्वतन से उनका मोह भंग हुआ। शनैः शनैः एक हताशा की भावना उनमें घर करने

लगी। जिस संरम्भ से उन्नीसवीं शती में संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं ने नये से नये काव्य, योरोपीय साहित्य के अनुवाद, नये विषयों पर चिंतन और नयी विधाओं में लेखन का समारम्भ किया गया था, वह छीजता चला गया। पत्रिकाओं की संख्या भी घटने लगी। संस्कृतचन्द्रिका, सूनृतवादिनी, ज्योतिष्मती जैसी पत्रिकाएं, जो स्वातन्त्र्यसंग्राम के यज्ञ में आहुति दे रही थीं अंग्रेजों के द्वारा बन्द करायीं गयीं। संस्कृत के कवि और पंण्डित स्वतंन्त्रता के आन्दोलन में सक्रिय थे। कांग्रेस की तो स्थापना ही मुंबई के संस्कृत महाविद्यालय में हुई थी। पर स्वतन्त्रता के पश्चात् अंग्रेजों के द्वारा छोड़ी गयी बद्धमूल औपनिवेशिक मानसिकता, मूल्यबोध का क्षरण और पंरपराओं की उपेक्षा ने वैसे कवियों और पण्डितों को समाज की मुख्य धारा से काट सा दिया। समाज में बड़े समुदाय ने संस्कृत को अतीत की वस्तु और उसके साहित्य को भी प्राचीन धरोहर मात्र मान लिया, संस्कृत की जीवनी शक्ति और उसमें रचना के सातत्य को अनदेखा किया जाने लगा। सबसे बड़ी विडम्बना यह थी कि स्वयं संस्कृत के ही पण्डितों या आधुनिक पद्धति से अधीत विद्वज्जनों में संस्कृत में नयी काव्यरचना के प्रति एक तिरस्कारणूर्ण दुराग्रह का भाव पनपने लगा।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में संस्कृत काव्यरचना का नैरन्तर्य बना रहा, उत्कृष्ट कविताएं भी लिखी जाती रहीं। पर उनको प्रचार, विवेचन और समादर न मिलने से अपरिचय के तिमिर ने आवृत कर लिया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् तीन दशकों में यह अपरिचय का अंधेरा कम होने के स्थान पर अधिक घना ही हुआ। स्वातन्त्र्योत्तरकाल के तीसरे दशक से इस स्थिति में परिवर्तन आया, जब डा. राघवन् आदि विद्वानों ने नये और समकालिक संस्कृत काव्य पर समीक्षएँ, शोधलेख प्रकाशित कराना आरम्भ किया। अन्य भाषाओं में लिखी ज़ा रही समाकलिक कविता के समक्ष आधुनिक संस्कृत काव्य के वैशिष्ट्र्य और श्रेष्ठता की पहचान भी की जाने लगी।

मात्रा की दृष्टि से इस शती में जितना संस्कृत काव्य रचा गया है, उतना विपुल काव्य इस भाषा में भी कदाचित् अन्य किसी युग में न रचा गया हो। प्रतिवर्ष सहस्रो लघु काव्य पत्रिकाओं के माध्यम से प्रकाशित हो रहे हैं तथा पुस्तकाकार भी निरन्तर सामने आ रहे हैं। बीसवीं शती ने संस्कृत के समसामयिक रचनाकर्म में नये वातायन भी खोले हैं। एक ओर संस्कृत कवियों का प्राचीन काव्य का संस्कार, रसात्मक बोध और भाषा के परिनिष्ठित रूप तथा शब्द की साधुता का अवधान जागृत है, तो दूसरी ओर प्रजातन्त्र की नयी व्यवस्था, बदलते राजनीतिक, सामाजिक पर्यावरण और विश्व की घटनाओं ने उन्हें प्रभावित विचलित भी किया है। विश्व साहित्य के अद्यतन रचनाकर्म और उसकी नयी प्रवत्तियों से भी युवा संस्कृत कवि परिचित और प्रभावित हुए हैं।

इसी शती के आरम्भिक दशकों में राष्ट्रीय भावना का एक प्रबल ज्वार संस्कृत काव्य में आया। उन्नीसवीं शती के अंत तक अंग्रेजी शासन के प्रति पण्डितों में जो विश्वास भाव बना हुआ था, अब वह भी चुक गया। संस्कृत कवि ने भारत की स्वतन्त्रता का स्वर गुंजित

किया, गान्धी, तिलक, जवाहर, बोस आदि राष्ट्रीय विभूतियों के गौरव का गान किया।

यह एक विस्मयकर तथ्य है कि संस्कृत भाषा ने नये से नये वातावरण, जीवनानुभव या परिस्थितियों को व्यक्त करने के लिये कवियों को उत्प्रेरित किया। कुछ ऐसे कवियों ने संस्कृत में इस काल में अत्यन्त प्राणवान् काव्यरचना की जो सीधे-सीधे आजादी की लड़ाई में सम्मिलित थे।

संस्कृत कविता की राष्ट्रीय धारा-राष्ट्रीयता, राष्ट्रबोध और सारी परम्परा और संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में इस राष्ट्र के भवितव्य की पहचान के प्रयास का इस शती के संस्कृत काव्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति कह सकते हैं।

श्री अरविन्द (१५ अगस्त १८७२-५ दिसम्बर १९५०) का 'भवानीभारती' इस प्रवृत्ति का प्रथम ज्वलन्त उदाहरण है-

राष्ट्रीय काव्यधारा की एक अनुपम मुक्तक रचना महायोगी महर्षि अरविन्द की 'भवानी-भारती' है। श्री अरविन्द ने अपना अधिकांश साहित्य अंग्रेजी में लिखा तथा संस्कृत नाटकों, काव्यों के अनुवाद या संस्कृत-साहित्य-विषयक लेख तथा ग्रन्थ भी उन्होंने अंग्रेजी में प्रस्तुत किये हैं। 'भवानी-भारती' उनका एकमात्र संस्कृत काव्य है, जो अपूर्ण मिलता है। यह काव्य उन दिनों लिखा गया जब वे क्रान्तिकारियों के आन्दोलन में कार्यरत थे। १९०१ ई. से १९०८ ई. तक का यह काल श्री अरविन्द के जीवन में अभूतपूर्व संक्रान्ति का काल है। इसी अवधि में उन्हें सशस्त्र क्रान्ति की योजना में सक्रिय होने के कारण बन्दी बना कर अलीपुर जेल में रखा गया। जेल में रह कर उन्होंने संस्कृत में यह मौलिककाव्य लिखना आरभ किया, जिसे पुलिस ने जप्त कर दिया। इसकी पाण्डुलिपि बहुत समय बाद पुराने दस्तावेजों में मिली है, और अब यह पाण्डिचेरी के अरविन्द आर्काइब्ज में सुरक्षित है। इस अरविन्द की हस्तलिखित पाण्डुलिपि के आधार पर इस काव्य का संपादन व प्रकाशन हो चुका है (श्री अरविन्दाश्रम, पुदुच्चेरी प्र. सं. १९८७)[१]।

भवानी-भारती उसी स्वप्नद्रष्टा महाकवि की रचना है, जिसने आगे चल कर अंग्रेजी में विश्वप्रसिद्ध "सावित्री" महाकाव्य लिखा है। काव्य के आरंभ में भोग और वैराग्य, गार्हस्थ्य और राष्ट्रसेवा के द्वन्द्व से ग्रस्त कवि स्वप्न में माता भारती का साक्षात्कार करता है, जो भारतपुत्रों को राष्ट्र के उद्धार के लिये पुकार रही है। राष्ट्रदेवी का कवि द्वारा यह साक्षात्कार तथा उसका आह्वान युगद्रष्टा कवि की भाषा में निबद्ध है। द्वन्द्व और संशय से ग्रस्त कवि सहसा भारती भवानी को अपने आगे खड़ा देखता है। राष्ट्रदेवी का स्वरूप यहाँ काली के समान चित्रित किया गया है, असुरों के अस्त्रों से उसका देह व्रणित है, फिर उसकी आँखों में अपार तेज है-

---

१. सम्पूर्ण काव्य का हिन्दी अनुवाद मुरलीधर कमलाकान्त द्वारा किया गया, जो मूल काव्य के साथ 'संस्कृत और राष्ट्र की एकता' (सं. राधावल्लभ त्रिपाठी) पुस्तक में प्रकाशित है।

नरास्थिमालां नृकपालकाञ्चीं वृकोदराक्षीं क्षुधितां दरिद्राम्।
पृष्ठे व्रणाङ्कामसुरप्रतोदैः सिंहीं नदन्तीमिव हन्तुकामाम्।। ५।।
क्रूरैः क्षुधार्तैर्नयनैर्ज्वलद्भिर्विद्योतयन्तीं भुवनानि विश्वा।
हुङ्काररूपेण कटुस्वरेण विदारयन्तीं हृदयं सुराणाम्।। ६।।

उसके आलोल केशों में से पर्वत शिखर ढह जाते हैं, कराल दंष्ट्राओं से प्रसृत हो जाते हैं, उसके श्वास से नभ विदीर्ण हो जाता है, और चरण धरने से धरती डोलती है-

आलोलकेशैः शिखरान्निगृह्य करालदंष्ट्रैश्च विसार्य सिन्धून्।
श्वासेन दुद्राव नभो विदीर्णं न्यासेन पादस्य च भूश्चकम्पे।। (८)

यह कराल देवी भारत माता के रूप में कवि का आह्वान करती है-

मातास्मि भो पुत्रक भारतानां सनातनानां त्रिदशप्रियाणाम्।
शक्तो न यान् पुत्र विधिर्विपक्षः कालोऽपि नो नाशयितुं यमो वा।। १२।।

यह भारतमाता उन भारतीयों को फटकारती है, जो अपने आपको ब्राह्मण कहते हैं पर म्लेच्छ अंग्रेजों के चरण चूमते हैं-

म्लेच्छस्य पूतश्चरणामृतेन गर्वं द्विजोऽस्मीति करोति कोऽयम् (१७)

वह भारतपुत्रों को अग्नि के समान बन जाने के लिये पुकारती है-

उतिष्ठ भो जागृहि सर्जयाग्नीन् साक्षाद्वधि तेजोऽसि परस्य शौरेः।
वक्षःस्थितेनैव सनातनेन शत्रून् हुताशेन दहन्नटस्व।। (१८)

६६ छन्दों में उपलब्ध यह काव्य स्वतन्त्रतासंग्राम के यज्ञ में एक सार्थक आहुति है। स्वप्नदर्शी कवि भारतीय स्वातन्त्र्य संघर्ष के द्वारा समग्र विश्व में होने वाली उथल-पुथल और उसकी परिणति में आने वाले परिवर्तनों को साक्षात् देखता है।

'भवानी-भारती' राष्ट्रीय नवजागरण की गीता है, एक क्रान्तिकारी का शंखनाद है, ओजस्विता और शक्ति का सन्धान है तथा भारत राष्ट्र के भवितव्य का स्वप्न और देश की अखण्डता का आह्वान भी है। प्रत्येक देशवासी को जागृत और स्फूर्त करना कवि का लक्ष्य है, चाहे वह किसी प्रान्त का हो, किसी भी सम्प्रदाय या धर्म का अनुयायी हो-

भो-भो अवन्त्या मगधाश्च बङ्गा अङ्गाः कलिङ्गाः कुरवश्च सिन्धोः।
भो दाक्षिणात्याः शृणुतान्ध्रचोलाः वसन्ति ये पञ्चनदेषु शूराः।।
ये के त्रिमूर्तिं भजथैकमीशं ये चैकमूर्तिं यवना मदीयाः।
माताह्वये वस्तनयान् हि सर्वान् निद्रां विमुञ्चध्वमये शृणुध्वम्।। (२३,२४)

यह काव्य संस्कृत भाषा की अपूर्व जीवनी शक्ति का परिचायक भी है। जिस काल में रवीन्द्रनाथ राष्ट्रीय गीत लिख रहे थे या बंकिमचन्द्र के वन्दे मातरम् से भारत गूंज रहा था, उसी काल में संस्कृत में एक आर्ष प्रतिभा के धनी कवि ने इस काव्य की रचना आरम्भ की, जिसके स्तर का काव्य उस काल में अन्य किसी भाषा में एकाध को छोड़ कर कठिनाई से मिलेगा। यद्यपि भवानी-भारती में कहीं व्याकरण की अशुद्धियां हैं, क्योंकि मई १९०८ ई. में कलकत्ता पुलिस के द्वारा इसकी एकमात्र पाण्डुलिपि जप्त कर लेने के बाद कवि को इसे न पूर्ण करने का अवसर मिला, न संशोधित करने का। पर अभिव्यक्ति के अबाध प्रवाह में ऐसी अशुद्धियाँ आर्ष काव्य का प्रत्यय देती हैं।

बीसवीं शती के पूर्वार्ध में राष्ट्रीयता की भावना का अभूतपूर्व उन्मेष हुआ, विशेषतः महात्मा गांन्धी के सत्याग्रह आन्दोलन तथा उनके जीवन दर्शन ने सारे देश को प्रेरणा के सूत्र में बाँध दिया। इस काल का संस्कृत साहित्य इस युगनिर्माता महापुरुष के चरित्र और सन्देश से अत्यधिक प्रभावित हुआ तथा उसे केन्द्र में रख कर स्वाधीनता संग्राम पर अनेक काव्य संस्कृत में लिखे गये। स्वयं गान्धी जी के जीवन को ले कर लिखे गये खण्डकाव्यों या मुक्तककाव्यों की संख्या सैकड़ों में है। इनमें उल्लेखनीय काव्यश्रृंखला सुकवयित्री क्षमा देवी ने प्रस्तुत की, जिसकी कड़ियाँ है-सत्याग्रहगीता, उत्तरसत्याग्रहगीता, उत्तरजयसत्याग्रहगीता तथा स्वराज्यविजय। यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण है कि गान्धी के चरित्र को आधार बना कर लिखे गये काव्यों को गीता की संज्ञा दी गयी। यद्यपि क्षमा देवी के इन काव्यों में महाकाव्यों के तत्त्व भी मिलते हैं, पर उन्होंने स्वयं इनकी रचना गीता के कलेवर को दृष्टि में रख कर की है। क्षमा देवी द्वारा इस प्रकार आधुनिक संस्कृत साहित्य में स्वाधीनता-संग्राम तथा गान्धीजी के जीवन या आदर्शों को विषय बना कर गीता-काव्यों की रचना का सूत्रपात किया गया और उनके पश्चात् अनेक गीतिकाव्य इस दिशा में रचे जाते रहे।

क्षमा देवी के काव्यों में तथ्यों की प्रामाणिकता, गान्धीजी के प्रति आस्था तथा भाषा और शैली की सहजता व प्राजंलता प्रभावकारी हैं। क्षमा देवी का अनुसरण करते हुए प्रो. इन्द्र ने गान्धीगीता अथवा अहिंसायोग (१९५९, राजहंसप्रकाशन दिल्ली) नामक काव्य की रचना की। इस काव्य में संपूर्ण गान्धी दर्शन का प्रतिपादन किया गया है। जिस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता में कुरुक्षेत्र में अर्जुन श्रीकृष्ण से प्रश्न करता है, उसी प्रकार चम्पारण के सत्याग्रह के प्रसंग में यहाँ राजेन्द्रप्रसाद गान्धीजी से उनकी नीति और जीवनदृष्टि के विषय में प्रश्न करते हैं, जिनके समाधान में इस काव्य के अट्ठारह अध्याय रचे गये हैं। कवि ने अहिंसा के स्वरूप और जीवन में उसकी व्याप्ति की स्थापना संरम्भपूर्वक की है। भाषा में सहजता और काव्यात्मकता है। अंहिंसा के स्वरूपविवेचन में परिकर अलंकार का प्रयोग सुन्दर रूप में किया गया है। यथा-

अहिंसा शोणिताकांक्षाशमयित्री रिपोरपि।
अहिंसा निष्क्रिया नैव प्रक्रिया शक्तिशालिनी।
नेयं निवृत्तिरूपास्ति प्रवृत्तिः परमा मता।। (३/४१)

के. एल. बी. शास्त्री के 'महात्मविजयः' नामक काव्य में १०६ श्लोकों में गान्धी जी के आन्दोलन तथा सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। व्रजानन्द का गान्धीचरित शतककाव्य है, जिसके १०० पद्यों में गान्धीजी का जन्म, शिक्षा, अफ्रीका यात्रा तथा स्वाधीनतासंग्राम में उनका कर्तृत्व चित्रित है। कहीं-कहीं असंस्कृत शब्दों का प्रयोग भी कवि ने इस काव्य में किया है। यथा-

हा सर्वतो दास्यममी भजन्ते कुलीति कौलीन्यमतो लभन्ते।
विगर्हिता जीवनयापनाय करातिभारेण भवन्ति खिन्ना।। (५६)
(गुरुकुलपत्रिका में दिसम्बर १६१६ में प्रकाशित)

(हाय, ये सब ओर से दासता करते हैं, "कुली" यह संज्ञा रूप निन्दा प्राप्त करते हैं, जीवन-यापन के लिए विनिन्दित होते हैं तथा अतिशय कर-भार से खिन्न होते हैं।)

'गान्धीनिर्वाणकाव्यम्' में ५० पद्य हैं। इसके रचयिता शम्भुशर्मा हैं। साम्प्रदायिक दंगों, रक्तपात और हिंसा का दुःखद चित्रण करते हुए कवि राष्ट्र में सौहार्द और एकता की स्थापना चाहता है। गान्धीजी के चरित्र पर लिखे गये अन्य काव्य हैं -महात्मा (व्ही. राघवन्) गान्धीगीता (अनन्त विष्णु काणे), गान्धीशतश्लोकी, (गणपति शंकर शुक्ल) गान्धीमहात्म्य (विजयराघवाचार्य), गान्धीचरितम् (चारुदेवशास्त्री १६३१ ई.), मोहनपञ्चाध्यायी (१६३१ ई.), मोहनगीता, गान्धीप्रवहणम् (महाभिक्षु) वर्णव्यवस्था (दीपचन्द्राचार्य) (१६३३ ई.) आदि। इन काव्यों की परम्परा में श्रीधरभास्कर वर्णेकर ने 'ग्रामगीता' (अनूदित, १६८४) तथा 'श्रमगीता' लिखी।

इन मौलिक काव्यों के अतिरिक्त चिन्तामणि द्वारकानाथ देशमुख ने 'गान्धीसूक्तिमुक्तावली' में गान्धीजी के द्वारा समय-समय पर प्रकट की गयी सदुक्तियों को सुन्दर भाषा में पद्यबद्ध किया है। (गान्धी स्मारक-निधि, नयी दिल्ली, १६५७) अनुवाद के साथ अंग्रेजी में मूल उक्ति भी दी गयी है। अनुवाद में अलग-अलग उक्तियों के साथ अलग-अलग छन्दों का चयन किया गया है। एक उदाहरण शिखरिणी में प्रस्तुत उक्ति का देखिये-

हृदि प्रत्येकस्य प्रतिवसति सत्यं तनुभृत-
स्ततस्तत्रैवास्थाऽस्त्युचितमनुसन्धानमपि तत्।
यथादृष्टं सत्यं भवति पथदर्शि स्वकलितं
परं सत्यं नान्यः प्रसभमनुसार्योऽधिकृतितः।। (२५)

(प्रत्येक प्राणी के हृदय में सत्य का निवास है। इस कारण उसका अनुसन्धान भी वहीं उचित है, जो जैसा देखा गया ऐसा स्वकलित सत्य ही मार्गदर्शक होता है, बलपूर्वक अधिकार से दूसरे को पराये सत्य का अनुसरण करने के लिए बाध्य नहीं करना चाहिए।)
सत्यदेव वासिष्ठ ने सत्याग्रहनीतिकाव्यम् में १६३६ ई. के हैदराबाद-सत्याग्रह का चित्रण किया है।

ब्रह्मानन्द शुक्ल बीसवीं शताब्दी के श्रेष्ठ संस्कृत पण्डितों में तथा महाकवियों में गणनीय हैं। इन्होंने १११ पद्यों में गान्धिचरितम् काव्य लिखा है (खुरजा, १९६४)। इसी श्रृंखला में रमेशचन्द्र शुक्ल ने १२५ पद्यों में "गान्धिगौरवम्" (१९६९ ई.) की रचना की है। आचार्य रमेशचन्द्र शुक्ल ने लालबहादुरशास्त्रिचरितम् तथा बङ्गलादेशः शीर्षक खण्डकाव्यों की भी रचना की है। इनके ब्रह्मानन्दशतकम् (१९७५) तथा इन्दिरायशस्तिलकम् (१९७६) काव्य संस्कृतकवियों में प्रशस्तिपरकता के भाव से रचे काव्य हैं।

श्री लक्ष्मीनारायण का 'राष्ट्रसभापतिगौरवम्' काव्य कांग्रेस के इतिहास को प्रस्तुत करता है। कवि ने इसकी रचना कांग्रेस महासभा की ५० वीं वर्षग्रन्थि के अवसर पर की। इसमें विशेष रूप से कांग्रेस के जितने सभापति निर्वाचित हुए, उनका गौरवास्पद चित्रण किया गया है। महात्मा गान्धी के अवदान तथा आदर्श के लिये कवि के मन में स्पृहा है। मुखपृष्ठ पर ही उसने काव्य के प्रेरणासूत्र के रूप में यह पद्य प्रस्तुत किया है-

सत्याहिंसासत्त्वबोधस्त्रिवेणेश्चक्रं धृत्वा भारते या पताका।
स्वातन्त्र्यं या स्वाश्रितेभ्यो ददाना सर्वोत्कृष्टा राजते भूतलेऽस्मिन्।।

(भारत में जो पताका सत्य-अहिंसा-सत्त्वबोध की त्रिवेणी के चक्र को धारण करके अपने आश्रित जनों को स्वातन्त्र्य दे रही है वह इस जगत् में सब से बढ़ कर शोभायमान है।) काव्य के परिशिष्ट में कवि ने गान्धीजी के तीन सिद्धान्तों-खादी, संस्कृत भाषा का महत्त्व तथा विश्वशान्ति की उपस्थापना की है।

केशिराजु वेंकट नृसिंह अप्पाराव ने 'पञ्चवटी' नामक काव्य में गान्धीजी के जीवन-दर्शन को अत्यन्त सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया है। गान्धीजी की सत्य, अहिंसा आदि के विषय में अवधारणाएँ यहाँ रमणीय दृष्टान्तों के द्वारा काव्यात्मक बना कर हृदयङ्गम करायी गयी हैं। रामराज्य का स्वरूप कवि ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है-

स्वार्थायान्यानपकृतिपरान् यः करोत्यासुरोऽसौ
त्यागेनान्यानुपकृतिपरान् यः करोत्येष दैवः।
सर्वेषामप्युपकृतिपराः कस्यचिन्नापकारं
विश्वप्रीतिं विदधति जना यत्र तद् रामराज्यम्।। (६१)

(जो दूसरों को स्वार्थ के लिए अपकार में संलग्न करता है वह 'आसुर' है, जो त्याग द्वारा दूसरों को उपकार में प्रवृत्त करता है वह देवता है। जहाँ लोग सभी के उपकार में संलग्न रहते हैं और किसी का अपकार नहीं करते तथा विश्व-प्रेम करते हैं वह रामराज्य हैं।) राष्ट्रीय विभूतियों पर रचे गये अन्य खण्डकाव्यों में विष्णुकान्त झा का 'राष्ट्रपतिराजेन्द्रप्रशस्तिः', जयराम शास्त्री का श्रीजवाहरवसन्तसम्राज्यम्, श्रीधर भास्कर वर्णेकर का 'जवाहरतरङ्गिणी' तथा राम वेलणकर का 'जवाहरचिन्तनम्' महत्त्वपूर्ण रचनायें हैं।

इस काल में संस्कृत में अनेक काव्यात्मक रचना ऐसी भी लिखी गयीं, जिनका गान्धी जी के जीवन से प्रत्यक्ष संबंध भले ही न हो, पर उन पर गान्धीवाद का गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है। पण्डिता क्षमादेवी की ही दो कथात्मक काव्यकृतियों-ग्रामज्योतिः तथा कथापञ्चकम् में संकलित पद्यबद्ध कथाओं की विषयवस्तु गान्धीवादी जीवनमूल्यों को मार्मिक घटनासंविधान के द्वारा उपस्थित करती हैं। गणपतिशंकर शुक्ल के द्वारा रचित 'भूदानयज्ञगाथा' भी इसी प्रकार का खण्डकाव्य है। इसमें विनोबा के भूदानयज्ञ का विवरण भी दिया गया है तथा अहिंसा का स्वरूप और हमारे समय की अन्य विचारधाराओं -साम्यवाद, समाजवाद आदि के परिप्रेक्ष्य में उसकी विशेषता का निरूपण भी किया गया है। अत्यन्त सरल भाषा में कवि ने अपने वैचारिक दर्शन को प्राचीन पौराणिक आस्थानों से उदाहरण देते हुए सुन्दर ढंग से प्रकट किया है। यथा-

भगवान् वामनः किन्तु करुणाप्रेमशक्तितः।
रक्तपातं विना लेभे विजयं सहजेन हि।। (७७)

(किन्तु भगवान् वामन ने करुणा और प्रेम की शक्ति से, बिना रक्तपात के सहज रूप से विजय प्राप्त की।) धर्मदेव विद्यामार्तण्डकृत 'महापुरुषसङ्कीर्तनम्' सात खण्डों का काव्य है। इसमें गान्धीजी का व्यक्तित्व तथा चरित्र केन्द्र में है, उसके साथ-साथ महामना मालवीय, राजेन्द्रप्रसाद, जवाहरलाल नेहरू, राजर्षि पुरूषोत्तमदास टण्डन आदि के जीवन और कृतित्व का भी निरूपण किया गया है।

स्वाधीनतासंग्राम के इतिहास-निरूपण की दृष्टि से कवि श्री प्रीतमलाल नरसिंहलाल कच्छी का 'मातृभूमिकथा' नामक काव्य की उल्लेखनीय है। इसमें अशोक के काल से लेकर १९३० ई. तक की ऐतिहासिक घटनाओं का अंकन है। रालेट एक्ट के विरुद्ध जलियाँवाला बाग में हुई सभा पर बर्बर गोलीकाण्ड की घटना का मार्मिक चित्रण कवि ने किया है। गान्धी-इरविनसन्धि तथा असहयोग आन्दोलन का भी विवरण इस काव्य में दिया गया है।

नारायण प्रसाद त्रिपाठी की 'श्रीभारतमातृमाला' (ज्ञानमण्डल, काशी, १९३६ ई.) में स्वतन्त्र भारत के स्वप्न और राष्ट्र के नवनिर्माण की आकांक्षा को अभिव्यक्ति दी गयी है। भारतीय कृषकों की दयनीय दशा का करुण चित्रण इस काव्य में कवि ने किया है-

कङ्कालशेषा नृपिशाचरूपा विशीर्णवस्त्राः करभारमग्नाः।
प्रातश्च सायं विलपन्ति दैवं समाजदोषोपहतस्वभावाः।। (२२)

(कंकालशेष, नरपिशाचरूप, फटे वस्त्रों वाले, कर-भार से दबे, सामाजिक दोषों के कारण दुष्ट स्वभाव वाले लोग प्रातः सायं भाग्य को रो रहे हैं।) भारतीय इतिहास का स्वाधीनता-युग तक चित्रण करने वाली काव्यकृतियों में उमाशंकर कृत 'काव्यकलिका' की चर्चा भी की जा सकती है। इस खण्डकाव्य में तीन सर्ग हैं। पहले सर्ग में भारत का प्राचीनकाल से लेकर संक्षिप्त इतिहास है, द्वितीय सर्ग में सन् १९४७ के पश्चात् घटी

स्थितियों का चित्रण है तथा तृतीय सर्ग में विश्वशान्ति के निमित्त से की गयी पं. नेहरू की इस यात्रा का चित्रण किया गया है। समूचे विश्व में नये उभरते हुए परिदृश्य को नेहरू जी के विशद वक्तव्य के द्वारा कवि ने उपस्थापित किया है-

देशेऽत एव शान्त्यै ग्रहणीया सहयोगभावना।
जनहानिनिरोघहेतवेऽवनसिद्धान्तमिमं चरिष्यथ।।

(अतएव देश में शान्ति के लिए सहयोग की भावना को प्रश्रय देना चाहिए, जनता को हानि न हो इसलिए रक्षण के इस सिद्धान्त का पालन करें।)

मंगलदेवशास्त्री का 'अमृतमन्थन' काव्य यद्यपि दार्शनिक चिन्तन तथा वैचारिक दिशाओं को उन्मीलित करता है। पर स्वतन्त्रभारत के नवनिर्माण और राष्ट्र नेताओं की युगदृष्टि का प्रभाव इस पर भी है। सम्पूर्ण ग्रन्थ का कलेवर भी गीता के समान सहज स्वच्छ भाषा में विचारों को प्रस्तुत करता है। प्रथम भाग का शीर्षक लक्ष्यानुसन्धान है। इसमें कवि ने ब्रह्मचर्य तथा आत्मसंयम को मानवजीवन की आधार-शिला माना है। दूसरे भाग जीवनपाथेय में उन नैतिक आदर्शों का निरूपण है, जिनसे मनुष्य अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। तृतीय भाग प्रज्ञा-प्रसाद में जीवन की उदात्त स्थिति का वर्णन है। यहीं पर कवि ने वर्तमान भारत के भवितव्य के निर्माण में तीन महापुरूषों दयानन्द, महात्मा गान्धी तथा रामकृष्ण परमहंस के महान् योगदान पर भी विचार किया है। कवि ने स्वयं अपने आप को गान्धीदर्शन से प्रभावित माना है। सत्य का तत्त्व निरूपित करते हुए वह गान्धीवाद की उपस्थापना को अंगीकार भी करता है-

तस्मात् सत्यपरो भूत्वा निर्द्वन्द्वं विचरेन्नरः। (२/४६)
तथा-
सत्याश्रयेण लोकस्य व्यवहारः प्रसिद्ध्यति।
सत्ये सत्येव विश्वासो व्यवहारस्तदुद्भवः।।

(इसलिए, सत्यनिष्ठ होकर मनुष्य निर्द्वन्द्व विचरण करे। सत्य के आश्रयण से ही लोक का व्यवहार सिद्ध होता है, सत्य के रहते ही विश्वास होता है तथा उसके कारण व्यवहार होता है।)

शिवप्रसाद भारद्वाज का 'भारतसन्देशः' (होशियारपुर, १९६२ ई.) स्वतन्त्र भारत की नवचेतना का काव्य है। इसके प्रथम भाग में सारे देश के प्रमुख नगरों का वर्णन करते हुए कवि ने राष्ट्र में हो रही सर्वतोमुख प्रगति का दिग्दर्शन प्रस्तुत किया है। दूसरे भाग में देश के नागरिकों के नाम राष्ट्रपति के सन्देश का सुन्दर रूपान्तर प्रस्तुत किया गया है। कवि ने दूतकाव्य की विधा का स्वरूप अंशतः स्वीकार करके उसे राष्ट्रवादी धारा से सफलतापूर्वक जोड़ा है। मन्दाक्रान्ता छन्द का प्रयोग प्रभावशाली है। राष्ट्रगौरव का जागरण कवि का ध्येय है-

देवः सोऽयं विदितमहिमा योनिराश्चर्यभूम्नां
क्षोणीचूडाभरणशिखरस्फारहीरायमाणः।
यस्मिन्नन्धं तम उपचितं च्छिन्नविज्ञानरेखं
छिन्दन् मित्रोऽपर इव परं ज्योतिराविर्षभूव।। (३)

(यह वह देश है, जिसकी महिमा ज्ञात है, जो अनन्त आश्चर्यों का जन्म-स्थान है, जो पृथ्वी के सिर के आभरण के उच्च-भाग पर चमकते हीरे जैसा है, जहाँ, विज्ञान की रेखा को छिन्न करने वाले बढ़े हुए अन्धकार को काटता हुआ दूसरे सूर्य जैसा 'परंज्योतिः' आविर्भूत हुआ है।)

राष्ट्रवादी धारा की रचनाओं में ही श्री बालकृष्ण भट्ट का 'स्वतन्त्रभारतम्' काव्य भी उल्लेखनीय है। कवि श्री भट्ट टिहरी गढ़वाल में प्राचार्य रहे।

स्वतन्त्रभारतम् पूर्वपीठिका तथा उत्तर पीठिका- दो भागों में विभाजित है। इसकी रचना स्वतन्त्रता - प्राप्ति के अवसर पर हुई, किन्तु उत्तर पीठिका में शनैः शनैः परिवर्धन करते हुए कवि ने इसमें देश की १६६६ ई तक की प्रमुख घटनाओं तथा विभिन्न क्षेत्रों में हुई प्रगति का भी उल्लेख यथावसर इस काव्य में प्रस्तुत कर दिया है। पूर्वपीठिका में ५८२ तथा उत्तरपीठिका में ४६६ पद्य हैं। भारत के स्वाधीनता संग्राम के रोमांचक वर्णन के साथ हमारे अतीत की झलक भी इसमें दी गयी है। स्वाधीनताप्राप्ति के अनन्तर हुए दंगों तथा देश में नैतिक अवमूल्यन पर कवि ने हार्दिक क्लेश व्यक्त किया है। यवनों तथा अंग्रेजों के द्वारा भारतीय जनता पर किये गये अत्याचारों का वर्णन यहाँ बड़ा हृदयद्रावक है।

इसी धारा की एक अन्य रचना 'वीरोत्साहवर्धनम्' है, जिसके रचयिता श्री सुरेशचन्द्र त्रिपाठी हैं। ये सारस्वत खत्री पाठशाला इण्टर कालेज, प्रयाग में संस्कृत के अध्यापक रहे हैं। इस काव्य की रचना श्री त्रिपाठी ने १६६२ ई. में चीन द्वारा भारत पर किये गये आक्रमण के समय की थी। इसमें संग्रामरत सैनिकों के मनोबल को बढ़ाने के लिये कवि ने ओजस्वी भावों को अभिव्यक्ति दी है तथा भारतीय जनता द्वारा इस युद्ध के लिये दी गयी सहायता का भी चित्रण किया है।

चीनी आक्रमण के समय इस प्रकार के अनेक काव्य संस्कृत में लिखे गये। इनका सामयिक महत्त्व ही अधिक है। गढ़वाल निवासी तथा पंजाब विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में पूर्व प्राध्यापक श्री शशिधर शर्मा का 'वीरतरङ्गिणी' (१६६७ ई.) काव्य भी १६६२ ई. में ही लिखा गया। इस काव्य में दो खण्डों में कुल २४२ पद्य हैं। वीररस के प्रवाह तथा भाषा और अभिव्यक्ति के चमत्कार की दृष्टि से यह परिपक्व रचना है। गोलियों से देह के छलनी हो जाने पर भी अंतिम सांस तक युद्धरत रहने वाले एक भारतीय सैनिक का वर्णन करते हुए कवि कहता है-

गोलकगलितोऽगोलः क्षितितलगोलेरमित्रसङ्घातान्।
स जहार सप्तहोराः स्वरूपसिंहः स्वरूपतः सिंहः।। (उत्तरखण्ड-६०)

समग्र काव्य राष्ट्रीय ऐकात्म्य के भाव से ओतप्रोत है। विभिन्न प्रान्तों के सैनिकों के एकत्र संग्राम में सम्भूयसमुत्थान का चित्रण करते हुए कवि कहता है-

जातिप्रदेशदलमुखभिदाच्छिदस्ते प्रवीर्यगणाः।
उत्साहवारबाणा दास्यववारप्रचारणा रेजुः।। (पद्य-४०)

राष्ट्रभक्ति से प्रेरित हो कर रचे गये अन्य संस्कृत गीतिकाव्यों या खण्डकाव्यों में श्री यज्ञेश्वरशास्त्री का 'राष्ट्ररत्नम्' देश के अनेक सपूतों का उज्ज्वल चरित्र प्रस्तुत करता है। इसमें रानी लक्ष्मीबाई, दयानन्द, तिलक, मालवीय जी, गान्धीजी, नेहरू, राधाकृष्णन् आदि महापुरुषों, तथा भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद आदि क्रान्तिकारियों के गौरवमय जीवन की कथाएं पद्य-बद्ध की गयी हैं। ओजस्विता तथा प्रवाह की दृष्टि से रचना चमत्कृत करती है। युद्धरत झांसी की रानी की शौर्यगाथा का चित्रण करते हुए कवि कहता है-

सा पृष्ठदेशे स्वसुतं बबन्ध जग्राह वल्गाग्रमहो मुखेन।
दोर्भ्यां कृपाणद्वयशोभिताभ्यां शत्रून् समुत्सारयितुं प्रवृत्ता।।

(उसने पीठ पर अपने पुत्र को बाँध रखा था, घोड़े की लगाम के अग्रभाग को मुख से पकड़ रखा था, दो कृपाणों से शोभित दोनों भुजाओं से शत्रुओं को खदेड़ने में लग गयी।) इसी परंपरा में श्रीकृष्णदत्तशास्त्री (जन्म १६३० ई.) ने अनेक राष्ट्रप्रेमपूरित रचनायें प्रस्तुत की हैं, जैसे-**भारतदर्शनम्, प्रतापप्रशस्तिः, कृपाणसैनिकः तथा सैनानीसुभाषः।**

आधुनिक संस्कृत कविता की समकालिकता

बीसवीं शती में लिखी जा रही संस्कृत कविता देश और सारे विश्व में सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्तरों पर हो रहे परिवर्तनों या परिस्थितियों का साक्ष्य देती हैं। संस्कृत कवि पारम्परिक विषयों पर तो लिखते रहे हैं, उन्होंने नयी स्थितियों और नये विषयों पर कविता में सीधे-सीधे भी प्रक्रिया दी है- यह आधुनिक संस्कृत काव्य के अध्ययन से स्पष्ट है। स्वतन्त्रताप्राप्ति के समय से वातावरण को चित्रित करते हुए वहुसंख्य काव्य संस्कृत में १६४७ ई. के पश्चात् लिखे गये। चीनी आक्रमण के समय तो देशभक्ति और युद्धोत्साह के भाव से समन्वित कविताओं की संस्कृत पत्रिकाओं में बाढ़ सी आ गयी थी। बांगलादेश के मुक्तिसंग्राम को विषय बना कर भी अनेक कविताएं संस्कृत कवियों ने लिखीं। अन्तरिक्षयात्रा, अपोलोयान आदि नये युग की महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर भी कविताएँ संस्कृत में लिखी गयीं।

पं. बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते ने 'सम्भ्रमी बम्भ्रमीति' शीर्षक कविता में याहियाखान, नियाजी आदि की बांग्लादेश युद्ध में हुई पराजय का रोचक और प्रभावशाली चित्र उपस्थित किया है-

कोपाटोपस्फुरदुरुसटामण्डलं चण्डनादं
ज्वालामालाकवलितचलन्मेघनाम्भःप्रवाहम्।
दृष्ट्वा सिंहं जगति जयिनं कान्दिशीको नियाजी
शुष्यद्वक्त्रः शिथिलवचनः सम्भ्रमी बम्भ्रमीति।।

यस्यालम्बादुदयपदवीं पाक-नीतिः प्रपन्ना
पाणिः स्कन्धे जनयति बलं यस्य मिथ्या निनादे।
सञ्जातो न क्षणसहचरो निःक्षणो याहियेत्थं
ध्यायं ध्यायं धृतिविगलितः सम्भ्रमी बम्भ्रमीति।।
परां भूतिमिच्छन् मनुष्यौघयाजी नियाजी प्रपेदे पराभूतिमेव।
निशम्येति हा हा वदन् याहियाखां मुहुः सम्भ्रमी बम्भ्रमीति स्वगेहे।।

("कविभारतीकुसुमाञ्जलि", भाग-५ पृ-११)

(कोप के आरोप से चमकते महा-मण्डल वाले, प्रचण्ड गर्जन करने वाले, ज्वालासमूह से कवलित चलायमान लगते श्याम जल-प्रवाह वाले संसार में विजयशील सिंह को देखकर भयग्रस्त नियाजी का मुख सूखने लगा, उसकी बोलती बन्द हो गयी, हड़बड़ा गया और भटकने लगा।

पाकिस्तान की नीति जिसके आधार से उदित हुई, व्यर्थ चिल्लाने में जिसका बल है वह निरुत्सव याहिया क्षण भर का सहचर नहीं हुआ, इस प्रकार सोच-सोच कर धैर्यरहित हो गया तथा हड़बड़ा गया और भटकने लगा।

मनुष्य-समूह का यजन अर्थात् हवन करने वाले नियाजी ने पराभूति (समधिक ऐश्वर्य) चाही और उसे प्राप्त हुई- पराभूति (पराजय), यह सुनकर याहिया खां अपने घर में बार-बार हड़बड़ा उठा और चक्कर काटने लगा।)

मार्गे प्रत्यूहशैलं जवजनितमहाघातपातैः क्षिपन्ती
प्रत्यर्थिक्षेत्रजातेष्वतिशयमलिनं जीवनं पङ्कयन्ती।
धारासारैरसारे रजसि विलुलितां क्षालयन्ती धरित्री-
मुद्वेलं प्लावयन्ती जयति विजयिनी वाहिनी भारतस्य।।

(कविभारती-कुसुमाञ्जलिः, भाग-५, पृ. ११-१२ पर रतिनाथ झा की कविता से)
(मार्ग में बाधाओं के पहाड़ को तीव्र वेग के महाघातों से फेंकती हुई, शत्रु के क्षेत्रों में जीवन को अतिशय मलिन तथा पंकिल बनाती हुई, असार धूल में लोटती पृथ्वी को धारा-सार द्वारा धोती हुई तथा सीमा तोड़कर आप्लावित करती हुई भारत की विजयिनी सेना विजय प्राप्त कर रही है।)

रेवाप्रसाद द्विवेदी, कमलेशदत्त त्रिपाठी, शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदी आदि कवियों की

बांग्लादेशयुद्ध के अवसर पर लिखी गयी रचनायें संस्कृत काव्य में बीरगाथाकाल की पुनरावृत्ति करती सी लगती हैं। इन कविताओं में क्षणिक उन्माद का भाव भी है और साथ में काव्यात्मकता और ओजस्वी भाषा की समृद्धि भी।

पिछले कुछ वर्षों में अनेक कविताएँ ऐसी प्रकाशित हुई हैं, जिनके द्वारा संस्कृत कवि ने समसामयिक घटना को गहरी संवेदनशीलता के साथ तथा अनुभव की प्रामाणिकता और यथार्थ की अनुभूति देते हुए अंकित किया है। रामकरण शर्मा की 'तैलावलिः प्लवमाना' खाड़ी युद्ध के समय समुद्र में फैले तैल के माध्यम से आज की बीभत्स राजनीति और संकटग्रस्त मानवता का मार्मिक बोध कराती है। (दीपिका, पृ. १५१) इसी प्रकार हर्ष देव माधव की 'आतङ्कवाद' शीर्षक कविता भी निर्मम और जघन्य दानवीय प्रवृत्ति के विरुद्ध कवि का ओजस्वी प्रतिरोध-स्वर मुखरित करती है। (अलकनन्दा, प्र. ६४)

संस्कृत की अनेक समकालिक कविताओं में मिथकीय या पौराणिक चरित्रों के माध्यम से आधुनिक व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व, संशय और जटिल मनोविज्ञान को बारीकी से चित्रित-व्यंजित किया गया है। कमलेशदत्त त्रिपाठी की 'सुतनुके' शीर्षक मुक्त छन्द और आधुनिक शैली की कविता में रामगढ़ के तीसरी शती ई. पू. के शिलालेख में उल्लिखित सुतनुका तथा देवदत्त इन दो प्रेमियों की विस्तृत कथा के संदर्भ में आधुनिक व्यक्ति की द्विधाग्रस्त मनःस्थिति और छटपटाहट का चित्रण किया गया है। (दूर्वाप्रवेशाङ्क, पृ. २३) दयानन्द भार्गव की कविता 'द्विधा विभक्तं पुरुराजचित्तम्' इस दृष्टि से अभिनव प्रयोग है, जिसमें पौराणिक दुष्यन्त की भावनाओं के चित्रण में छन्दोबद्ध काव्य तथा आधुनिक दुष्यन्त की भावनाओं के चित्रण में छन्दोबद्ध काव्य के लिये भिन्न भाषाशैली और मुक्तक छन्द का अलग-अलग प्रयोग है। अफ्रीका के स्वाधीनता सेनानी नेल्सन मंडेला के कारागार से मुक्ति के प्रसंग को लेकर रेवाप्रसाद द्विवेदी ने 'शकटारकाव्यम्' (वही दूर्वा-अङ्क-१६, पृ. ४५-६०) नन्दों के कुचक्र और मंत्री शकटार की कारागार से मुक्ति के संदर्भ में आधुनिक विश्व में अभी घटित घटनाक्रम की व्याख्या की हैं, तथा शकटार और मंडेला दोनों को मनुष्य की चिरन्तन जिजीविषा और युयुत्सा का प्रतीक निरूपित किया है।

अनेक कविताओं में आधुनिक वातावरण, दृश्यमान पदार्थों या घटनाओं का सतही स्थूल विवरण मात्र दिया गया है, जो संवेदना और अनुभूति का अंग नहीं बन पाता। बस, मोटर, राशन आदि असंस्कृत शब्दों का भी अत्यधिक प्रयोग ऐसी रचनाओं में हो रहा है। (द्रष्टव्य-परमानन्द शास्त्री का वानरसन्देश, पद्य-७१, १३५ आदि।)

समकालिक घटनाओं को विषय बना कर लिखी गयी इन कविताओं में कवि की स्वतः स्फूर्ति और प्रातिभ आवेग कम है, अवसरोचित काव्य-निर्माण की चातुरी अधिक है। 'मुक्तिवाहिनी' शीर्षक से लिखी गयी रतिनाथ झा, शिवदत्त शर्मा, केदारनाथ त्रिपाठी आदि की कविताओं में काव्यात्मक ऊर्जा है, पर प्रदत्त विषय पर स्वतः सिद्ध सामग्री को ही उपस्थापित किया गया है।

पिछले कुछ वर्षों में इन्दिरागान्धी की हत्या, राजीवगान्धी की मृत्यु या इस प्रकार की अन्य घटनाओं पर सामयिक संस्कृत कविता बड़ी संख्या में प्रकाशित हुई हैं। इन कविताओं में तात्कालिक आवेग और स्फूर्ति अधिक है, घटना का विश्लेषण और तार्किक उपस्थापन कम है। हास्य तथा उत्प्रास (व्यंग्य) की प्रवत्ति आधुनिक संस्कृत काव्य में, विशेषतः बीसवीं शती के पिछले कुछ दशकों की कविता में, शिष्ट हास्य तथा उत्प्रास या व्यंग्य (सेटायर) की प्रवृत्ति अधिक प्रतिफलित हुई है।

बीसवीं शती के आरम्भ में ही कुछ संस्कृत कवियों ने पहली बार पैरोडी (विडम्बनशैली) की विधा को लेकर संस्कृत काव्य-रचना का एक नया क्षितिज सामने रखा। मेघदूत के अनुकरण पर अनेक दूतकाव्यों की रचना प्राचीनकाल से आज तक संस्कृत में होती रही है, पर मेघदूत की पैरोडी करते हुए रचना की प्रवृत्ति इसी शताब्दी में उभरी। सी. आर. सहस्त्रबुद्धे ने 'काकदूत' (धारवाड, १६१७ ई.) की रचना की। 'काकदूत' के ही नाम से राजगोपाल आयंगार ने भी एक काव्य लिखा, जिसमें जेल से एक चोर कौए के माध्यम से सन्देश भेजता है। के. वी. कृष्णमूर्ति शास्त्री ने 'श्वानदूत' की रचना कर डाली, इसमें जेल में बन्द एक चोर एक कुत्ते के माध्यम से अपनी प्रिया के पास सन्देश भेजता है। मेघदूत की विडम्बना में रचे गये इन काव्यों में कालिदास की अवहेलना नहीं है, अपितु प्राचीन काव्य को आधुनिक सन्दर्भ दिया गया है। इस प्रवृत्ति का एक उत्कृष्ट परिपाक म. म. रामावतार शर्मा के 'मुद्गरदूतम्' में हुआ, जिसकी चर्चा अन्यत्र विस्तार से की गयी है।

अनेक संस्कृत कवियों ने खाद्यपदार्थों पर विनोदी वृत्ति से अपनी आस्वादवृत्ति को व्यक्त किया है। प्याज, चाय, काफी आदि पर विनोदपूर्ण कविताओं की पिछले कुछ दशकों में भरमार रही है। 'मत्कुणाष्टक' नाम से दो काव्य श्री कृष्णमूर्ति शास्त्री तथा पुलिनबिहारी दासगुप्त द्वारा लिखे गये। कुछ कवियों ने मार्जनी (झाडू) को विनोद का विषय बनाया।

कुछ रचनाओं में मात्र नर्मालाप या विनोद ही नहीं, उसके साथ-साथ अंतर्निहित रूप से विचार भी प्रस्तुत किया गया है। अप्पाशास्त्री राशिवडेकर की 'उदरप्रशस्तिः' (संस्कृत चन्द्रिका, १६०६ ई.) ऐसी ही कविता है। इससे आगे बढ़ कर अनेक संस्कृत कवियों ने आधुनिक साहित्य में प्रचलित व्यंग्य या उत्प्रास की शैली को ग्रहण कर के समाज में व्याप्त पाखंड, छद्म या निहित स्वार्थों की राजनीति पर पैने प्रहार किये हैं। श्री शैल ताताचार्य ने 'कपीनाम् उपवासः' शीर्षक कविता में पवित्रता का ढोंग करने वाले लोगों पर व्यंग्य किया है। पुन्नसेरि नीलकण्ठ शर्मा ने 'सात्त्विक स्वप्न' नामक सौ पद्यों के काव्य (त्रिचूर, १६०७) में राजनीतिक नारेबाजी, आन्दोलन और सत्ता के लिये नेताओं की लोलुपता पर अच्छी छींटाकशी की है।

समकालिक संस्कृत कविता में व्यंग्य की चेतना प्रखरतर होती गयी है। कतिपय कवियों ने आधुनिक जीवन की विसंगतियों, समाज में प्रचलित दोहरे मानदण्डों पर अपने काव्यों में तीखी टिप्पणियाँ की हैं, या इनकी सोत्प्रास व्यंजना की है। कुछ कवि जहाँ कांग्रेस और उसके नेताओं के माहात्म्य का वर्णन करने वाले काव्य संस्कृत में लिख रहे थे, तो

कांग्रेस के ही अधिवेशन का विडम्बन शैली में सोत्प्रास चित्रण करने वाली 'कांग्रेसगीता' भी संस्कृत में लिखी गयी है। कमलेशदत्त त्रिपाठी, भास्कराचार्य त्रिपाठी, राधावल्लभ आदि कवियों की अनेक संस्कृत कविता निर्भीक स्वर में समाज के शोषणतन्त्र पर प्रहार करती हैं, या दुराचार पर सोत्प्रास प्रहार कहती हैं। इन कविताओं के पीछे पाठक को सामाजिक स्थितियों के प्रति सचेत बनाने और उसमें अन्याय से प्रतिरोध की क्षमता जगाने का उद्देश्य भी रहता है। रमाकान्त शुक्ल की 'वदत नेतारो मनाक्' भास्कराचार्य त्रिपाठी की 'समस्तमन्दिरेषु राजते पृथक्-पृथक् ध्वजः' या राधावल्लभ के 'सन्धानम्' काव्यसङ्ग्रह में इस स्तर की बहुसंख्य कविताएँ है। कमलेशदत्त त्रिपाठी की 'धन्या ममेयं धरा' की समस्यापूर्ति में उत्प्रासशैली की संस्कृत कविता की बदलती हुई आस्वादभूमि को पहचाना जा सकता है -

> यत्र ध्वाङ्क्षनिभा विरावपटवो नेतृत्वसंसाधका
> उत्कोचैकपरा जनस्य हरणे पारङ्गताः साहिबाः।
> पूंजीस्वामि-हितैकसाधनरताः कुम्भोदरा नायका
> राजन्ते खलु राजनीतिभुजगा धन्या ममेयं धरा।।
> लोको यातु रसातलं दिवि मनागुच्चैस्तरां राजतां
> मूल्यं सा हि कथा समस्तजगतामेषा विकासक्रिया।
> लक्ष्यं मास्तु चलन्तु वृत्तिरहिता हिप्पीयुवानो मुधा
> क्रान्तिर्गच्छतु कञ्चुकं, भुवि परं धन्या ममेयं धरा।।[1]

(यह मेरी धरती धन्य है, जहाँ नेतृत्व के साधक लोग कौवों की भाँति शोर मचाने में पटु हैं, साहब या अधिकारी घूस मात्र में लगे रहते हैं तथा जनता का धन हड़प लेने की कला में पारङ्गत हैं, नेता लोग पूँजीपतियों के मात्र हितसाधन में निरत हैं और उनके पेट घड़े की भाँति फूल गये हैं, इस प्रकार राजनीति के क्षेत्र के सर्प विराजमान हैं।

पृथ्वी पर मेरी धरती धन्य है ! लोग रसातल जाएँ, मूल्य आकाश तक ऊँचा उठ जाए वह तो सारे जगत् के विकास की कथा है, लक्ष्य न हो, बेरोजगार हिप्पी बने युवक व्यर्थ घूमते रहें और क्रान्ति कञ्चुक प्राप्त करे।)

प्रतीकात्मक गीतिकाव्य-बीसवीं शती के मुक्तककाव्य में एक प्रवृत्ति प्रतीकात्मक संविधान की है। यद्यपि प्रतीक नाटकों की तो परम्परा संस्कृत साहित्य में अश्वघोष तथा कृष्णमिश्र जैसे महाकवियों के द्वारा संवर्धित होती रही है, पर प्रतीकात्मक खण्डकाव्य या मुक्तककाव्य की परम्परा पुष्ट रूप में प्राचीन साहित्य में नहीं मिलती।

प्रतीक शैली के आधुनिक काव्यों में 'श्रद्धाभरणम्' का उल्लेख किया जा सकता है। इसके रचयिता चन्द्रधर शर्मा हैं, जो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में प्राध्यापक थे तथा अनन्तर जबलपुर विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में आचार्य तथा

---

१. कविभारती-कुसुमाञ्जलिः, भाग-६, पृ. ७५

अध्यक्ष रहे। दर्शन के विद्वान होने के कारण इन्होंने 'श्रद्धाभरणम्' में जीवन के विषय में चिन्तन को काव्यात्मक अभिव्यक्ति दी है। इस काव्य में १५१ पद्य हैं, तथा मानव, श्रद्धा और इडा-ये तीन पात्र हैं। प्रसाद की कामायनी का प्रभाव इस काव्य पर स्पष्ट प्रतीत होता है। मनु या मानव द्वारा श्रद्धा के प्रति अनुराग, फिर उसका त्याग, अनन्तर इडा से उसका मिलन और अन्त में श्रद्धा से क्षमाचायना-यह भावपूर्ण कथा कवि ने जीवनदर्शन की अभिव्यंजना के साथ प्रस्तुत की है।

इसी प्रकार का एक अन्य काव्य वनमाली भारद्वाज (जन्म १९२४ ई.) का 'मिलिन्दमित्रम्' है, जिसमें भ्रमर को माध्यम बना कर कवि ने संसार के सुख-दुःख, मायाजाल और मोहभंग की विषयवस्तु को व्यक्त किया है।

संस्कृत काव्यानुवाद – वर्तमान काल में अनुवादों के माध्यम से विभिन्न भाषाओं के साहित्य में पारस्परिकता तथा संपर्क में वृद्धि हुई है, और इसके द्वारा विश्वसाहित्य का परिदृश्य बदला है। बीसवीं शताब्दी में रचनारत संस्कृत कवियों की कविताओं के अनुवाद जहां हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती आदि भाषाओं में हुए हैं, वहीं अन्य भाषाओं की श्रेष्ठ कविता भी संस्कृत में काव्यानुवादों के माध्यम से संस्कृत पाठकों के सामने आयी हैं, इससे समकालिक संस्कृत काव्य-रचना में इतर भाषाओं के लेखन से संपर्क और तज्जन्य नवीनता का संचार अनुभव किया जा सकता है।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में अंग्रेजी कविताओं के संस्कृत पद्यानुवाद बड़ी मात्रा में प्रकाशित हुए। रामानन्दाचार्य की 'लघुकाव्यमाला' (मद्रास, १९१४ ई.) में शेक्सपीयर, ब्राउनिंग आदि कवियों के अनेक काव्यांश संस्कृत में अनूदित कर के प्रस्तुत किये गये हैं। श्री महालिंग शास्त्री की 'किङ्किणीमाला' में शेक्सपीयर के अतिरिक्त वर्ड्सवर्थ, शैली, जानसन आदि की कविताओं के अनुवाद हैं। सुब्रह्मण्य अय्यर की 'पद्यपुष्पाञ्जलि' जिसका उल्लेख आगे किया जा रहा है, में भी कई अंग्रेजी कविताओं के अनुवाद हैं।[1]

अंग्रेजी कविताओं के संस्कृत अनुवादों का एक महत्त्वपूर्ण संकलन आङ्ग्लरोमाञ्चम् श्री एल. ओ. जोशी तथा हरिहर त्रिवेदी ने तैयार कर के प्रकाशित किया, इसमें अंग्रेजी के सभी महत्त्वपूर्ण रोमांटिक कवियों की चुनी हुई कविताओं के सरस पद्यानुवाद हैं।

संस्कृत की अनेक पत्रिकाओं ने इतर भाषाओं के साहित्य को अनुवादों के द्वारा संस्कृत पाठकों तक पहुँचाने का प्रशस्त कार्य किया है। दूर्वापत्रिका में मैथिलीशरणगुप्त, निराला आदि हिन्दी कवियों की कविताओं के अनुवाद प्रकाशित हुए, इस पत्रिका का एक पूरा अंक 'विश्वकविताङ्क' विश्व के समकालिक विभिन्न भाषाओं के कवियों की रचनाओं

---

१. यहां, आचार्य श्री गोविन्दचन्द्र पाण्डेय द्वारा रचित, कुछ आंग्ल कवियों की कविताओं के संस्कृत पद्यानुवाद का संग्रह 'अस्ताचलीयम् (१९९१, सं. स. वि. वि. वाराणसी) तथा मैथिली के कवि विद्यापति के गीतों का श्री काशीनाथ शर्मा द्वारा विरचित संस्कृत पद्यानुवाद 'विद्यापतिशतकम्' (१९९२, जानकी प्रकाशन, अशोक राजपथ, चौहट्टा, पटना-४) उल्लेख्य हैं,) (सं.)

के संस्कृत काव्यानुवाद का एक अभूतपूर्व संग्रह है।

जयशंकर प्रसाद की कामायनी के जिस प्रकार संस्कृत में दो अनुवाद प्रकाशित हुए हैं, उसी प्रकार 'बिहारीसतसई' का भी संपूर्ण अनुवाद दो कवियों ने संस्कृत में प्रस्तुत किया है।[1] मैथिलीशरण गुप्त के सम्पूर्ण पञ्चवटी खण्डकाव्य का भी संस्कृत में अनुवाद प्रकाशित हुआ है।

दक्षिण भारतीय भाषाओं के काव्यों का संस्कृत में अनुवाद इस शताब्दी में बड़ी मात्रा में हुआ। भरतियार शीर्षक के कन्नड के सुब्रह्मण्यम् कवि का, 'केरलप्रतिभा' शीर्षक से मलयालम के कतिपय कवियों के काव्यों का संस्कृत में अनुवाद सामने आया है। सावरकर के अग्निजा काव्य का अनुवाद गजानन पलसुले ने किया है।

चित्रकाव्य की परंपरा – यद्यपि काव्य में शब्दचित्र तथा चित्रालंकारों का समायोजन आज के युग के अनुरूप नहीं कहा जा सकता, पर अनेक संस्कृत कवियों ने भाषा पर अपने असाधारण अधिकार के साथ चित्रकाव्य की दुर्लभ परम्परा को इस शती में भी जीवित रखा है। भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने अपने जयपुरवैभवम् नामक काव्य-प्रबन्ध के अन्तर्गत विविध चत्वरों में एक चित्रचत्वर भी समाविष्ट किया। मैसूर के पण्डित सी. एन. राय शास्त्री ने १६०५ ई. में 'सीतारावणसंवादझरी' नामक काव्य प्रस्तुत किया, जिसमें रावण जो छन्द कहता है, उसी में एक अक्षर कम कर देने से सीता का उत्तर भी बन जाता है। इस प्रकार के काव्य बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशक में तंजौर के श्रीनिवासाचार्य तथा मद्रास के श्रीनिवासदेशिकाचार्य ने भी लिखे।

पं. रामरूप पाठक ने अपने 'चित्रकाव्यकौतुकम्' तथा इन्दौर के पं. गजानन करमरकर शास्त्री ने अपनी बहुसंख्य काव्यरचनाओं के द्वारा चित्रकाव्य की परम्परा में अपना योग दिया। श्रीजीवन्यायतीर्थ का सारस्वतशतक स्वस्तिकबन्ध, खड्गबन्ध, मुरजबन्ध, मयूरबन्ध आदि चित्रकाव्यश्लोकों का संकलन है।

नयी शैली, नये प्रयोग – पारम्परिक भावबोध तथा पुरातन शैली की रचनाओं के साथ नये भावबोध और नयी शैली की रचनाएँ भी इस अवधि में संस्कृत में प्रचुर मात्रा में सामने आयीं। नवगीतिविधा का विकास हुआ, जिसमें कवि की वैयक्तिक भावना, रूमानियत और स्वच्छन्द मनःस्थितियों के चित्रण की प्रवृत्ति फलवती हुई। राष्ट्रवादी धारा से जुड़कर गीति-विधा में नया प्राण फूँकने वाले दो कवि उल्लेखनीय हैं-हरिदत्त पालीवाल निर्भय तथा रामनाथ पाठक प्रणयी। श्री निर्भय क्रान्तिकारियों के साथ रहे तथा जेल यात्राएं भी कीं। इनके उस काल के गीतों में अग्निज्वाला सा कविव्यक्तित्व और ओजस्विता की दुर्निवार अभिव्यक्ति है। गीतविधा में बिम्बविधान और शिल्प की नवीनता का समवाय मायाप्रसाद त्रिपाठी ने किया। वैयक्तिक राग और कवि की आत्म-अभिव्यक्ति की दृष्टि से प्रभात शास्त्री के गीत प्रभावपूर्ण हैं।

---

१. परमानन्द तथा प्रेमनारायण द्विवेदी (सौन्दर्यक्षप्तशती)।

पश्चिम के प्रभाव से पिछले दशक की संस्कृत कविता अस्तित्ववादी चिन्तन और अतियथार्थवाद (सुर्रियलिज्म) की साहित्यिक धारा से भी जुड़ी है। इस दृष्टि से केशवचन्द्र दाश तथा हर्षदेव माधव-इन दो युवा संस्कृत कवियों की रचना गम्भीरतापूर्वक पठनीय हैं। इन कवियों ने 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' की उक्ति को अपने सफल प्रयोगशील लेखन से चरितार्थ किया है।

छन्दोविधान के क्षेत्र में बीसवीं शताब्दी के संस्कृत साहित्य में सर्वाधिक नये प्रयोग किये गये। भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने ब्रजभाषा के छन्दों में दोहा, सोरठा, कवित्त, सवैया, घनाक्षरी आदि के साथ उर्दू के काव्य से ग़ज़लों में प्रयुक्त छन्द ले कर सफल काव्यरचनाएँ प्रस्तुत करते हुए नये छन्दोविधान की आधुनिक संस्कृत कविता में अवतारणा की। उसके पश्चात् ग़ज़ल का प्रयोग सफलता के साथ करते हुए जगन्नाथ पाठक, राजेन्द्र मिश्र, बच्चूलाल अवस्थी, इच्छाराम द्विवेदी आदि कवियों ने संस्कृत कविता को नया धरातल दिया। अनेक कवियों ने लोकगीतों के संस्कारों से अनुप्राणित हो कर संस्कृत काव्यरचना में अभिनव प्रयोग किये। श्रीभाष्यम् विजयसारथि ने तेलुगु भाषा के लोकप्रचलित छन्दों में संस्कृत कविताएं लिखीं। राजेन्द्र मिश्र की लोकगीतपरक संस्कृत रचनाएं बहुत सराही गयी हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण आगे है।

उन्नीसवीं शती में शोकगीति की जो विधा संस्कृत कविता में चल पड़ी, उसका नाना दिशाओं में विकास इस शती में आ कर हुआ। दीपक घोष ने तो बड़ी संख्या में विलापकाव्यों की रचना कर डाली। मधुकर गोविन्द माईणकर ने 'स्मृतितरङ्गम्' में इस विधा को मेघदूत की भावना, विरहानुभव तथा करुणरस की धारा में स्नपित कर सर्वथा अछूता भावसौन्दर्य प्रदान किया।[1] श्री स्वामीनाथन् की 'ध्वस्तं कुसुमम्' भी प्रणयकथा की दारुण परिणति का कारुणिक चित्रण करने वाला काव्य है। गान्धी, नेहरू, इन्दिरा गान्धी आदि राष्ट्रीय विभूतियों के अवसान के अवसरों पर संस्कृत कवियों के द्वारा अनुभूतिप्रवणता के साथ रचे गये शोक-काव्यों का उल्लेख इस अध्याय में अन्यत्र किया गया है।

संस्कृत में बहुसंख्य नूतन नाट्यकृतियों की रचना करने वाले श्री वीरेन्द्रकुमार भट्टाचार्य (१६१७-१६८२ ई.) ने संस्कृत कविता को एक और नयी विधा दी- सानेट। इनके सानेटों का एक उत्तम संग्रह 'कलापिका' (कलकत्ता, १६६६ ई.) प्रकाशित हो चुका है। सानेट अंग्रेजी कविता में प्रसिद्ध छन्द है, एक छन्द में एक कविता भी पूर्ण हो जाती है। एक सानेट में चौदह पंक्तियाँ होती हैं। श्री भट्टाचार्य ने 'सानेट' को संस्कृतछन्दोविधान से समंजस करने का प्रयास किया।

जयदेव के गीतगोविन्द की परंपरा में उन्नीसवीं शती के ही समान इस शताब्दी में भी रागकाव्यों की रचना संस्कृत में होती रही। पर विषयवस्तु की दृष्टि से इन रागकाव्यों में नयापन है तथा इनका स्वरूप भी परिवर्तित हुआ है। ओगेट्टि परीक्षित् शर्मा (जन्म

---

१. अर्वाचीनसंस्कृतम्, अङ्क - २१३, १५-७-१६८०, पृ. ७८-८२

१६३० ई.) ने 'ललितगीतालहरी' का प्रणयन किया। श्री शर्मा ने संस्कृत में माँझियों के गीत, डिस्को गीत तक लिख डाले हैं। विषय और स्वरूप की दृष्टि से इस प्रकार की रचनाएं संस्कृत भाषा और उसकी साहित्यिक परंपरा के साथ बेमेल हैं, मेल नहीं खाती हैं। वे प्रयोग के नाम पर अश्लील प्रदर्शनमात्र हैं।

रागकाव्य से मिलती-जुलती एक विधा संगीतिका की है, जिसमें अनेक रचनाएं इस काल में संस्कृत में सामने आयीं। रागकाव्य की ही भाँति संगीतिका भी वस्तुतः अभिनेय काव्य है, पर गेयता की प्रधानता के कारण श्रव्य काव्य के रूप में भी इसका व्यवहार होता है। पश्चिमी साहित्य में इसे 'आपेरा' कहा जाता है। इसमें विभिन्न पात्रों के सवांद गीतों में ही आद्यन्त चलते हैं। शिवराज्योदयमहाकाव्य के प्रणेता श्री श्रीधरभास्कर वर्णेकर (जन्म १६१६ ई.) ने दो सङ्गीतिकाओं की रचना की है, जिनके नाम हैं -श्रीरामसङ्गीतिका, श्रीकृष्णसङ्गीतिका। श्रीमती वनमाला भवालकर ने पार्वतीपरमेश्वरीयम् तथा रामवनगमनम्-इन दो सङ्गीतिकाओं का प्रणयन किया है।

रागकाव्य की ही भाँति लहरीकाव्यों की रचना भी दोनों रूपों में संस्कृत में, वर्तमान में हो रही है - परंपरा से जुड़ कर लहरी के स्तोत्ररूप को बनाये रखते हुए भी तथा उसमें नये विषयों के समावेश के साथ उसके कलेवर में परिवर्तन करते हुए भी। वर्णेकर ने ही 'मातृलहरी' (१६७२ ई.) का प्रणयन किया है। राधावल्लभ ने कुछ लहरियाँ प्रकतिवर्णनपरक लिखी हैं, जिनमें प्रासंगिक रूप से सामाजिक यथार्थ के चित्र भी हैं, जैसे निदाघलहरी, प्रावृड्लहरी आदि, तो कुछ लहरी काव्यों में सर्वथा नवीन विषयों को उठाया है, जैसे-जनतालहरी या रोटिकालहरी।

फ़ारसी या उर्दू काव्य-परम्परा के छन्दों का संस्कृत कविता में अवतरण बीसवीं शताब्दी के संस्कृत काव्य की एक विशेषता है। इस दृष्टि से प्रवर्तक कार्य भट्ट मथुरानाथशास्त्री ने किया। इन्होंने १६२७ ई. में प्रकाशित अपनी 'गीतिवाणी' नामक पुस्तक में 'उर्दूभाषाचत्वर' नामक खण्ड समाविष्ट किया। इस खण्ड में शास्त्री जी की ५८ ग़ज़ल गीतियाँ संकलित थीं। शास्त्री जी के अनन्तर पं. जानकीवल्लभ शास्त्री ने भी संस्कृत में ग़ज़ल लिखी, जो अब प्राप्त नहीं होतीं। श्री श्रीधरभास्करवर्णेकर ने अपने संस्कृतवाङ्मयकोश में इस काल में लिखे राधाकृष्ण नामक कवि के 'ग़ज़लसंग्रह' का उल्लेख किया है। यह संग्रह भी प्राप्य नहीं है। अस्तु, संस्कृत में ग़ज़ल लेखन की परंपरा पिछले साठ-सत्तर वर्षो से अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है- इसमें कोई सन्देह नहीं।

इस समय लोकप्रिय ग़ज़ल लिखने वाले कवियों में श्री राजेन्द्र मिश्र तथा जगन्नाथ पाठक उल्लेखनीय हैं। जगन्नाथ पाठक की ग़ज़लों में मनोवेदना और सूक्ष्म भावाभिव्यंजना है, राजेन्द्र मिश्र की ग़ज़ल- गीतियों में रदीफ़ और क़ाफ़िये का संयोजन बड़ा आकर्षक होता है। पर ग़ज़ल के शिल्प की समझ और उसकी विधा में गहरी भावभिव्यक्ति की दृष्टि से पं. बच्चूलाल अवस्थी की गीतियां सर्वोत्कृष्ट कही जा सकती हैं। वस्तुतः अच्छी ग़ज़ल कहने के लिये फ़ारसी कविता की जो समझ चाहिये, वह जगन्नाथ पाठक तथा बच्चूलाल अवस्थी-

इन दो कवियों में विशेष रूप से है। अवस्थी जी ने ग़ज़ल में संस्कृत भाषा की प्रौढि उसके अपने संस्कार और अभिव्यंजनाशैली को उतारते हुए नये सौन्दर्यबोध से साक्षात्कार कराया है। उनकी एक ग़ज़ल का नमूना देखिये -

पिका मौनं भजेरन् मासि वासन्ते कथङ्कारम्।
शरः शाकुन्तलः सिद्ध्येन्न दुष्यन्ते कथङ्कारम् ?।।
भ्रुवोर्भङ्गभ्रमाद् भूम्ना निषेधाः सम्प्रतीयेरन्।
कपोलप्रान्तसङ्केता निगूह्यन्ते कथङ्कारम्..?।।
सहेला हावभावा विभ्रमा इन्द्रायुधीयन्ते।
निराकाराश्चमत्कारा न सह्यन्ते कथङ्कारम्।।

(वसन्त मास में कोकिल कैसे मौन धारण कर लें ! शकुन्तला का बाण दुष्यन्त पर कैसे न सफल हो? भृकुटिभङ्ग के भ्रम से निषेध अधिक मात्रा में भले ही प्रतीत हो जाए, किन्तु कपोल के प्रान्तभाग के संकेत कैसे छिपेंगे ? हेला सहित हाव-भाव तथा विलास इन्द्रायुध जैसा आचरण करते हैं, निराकार चमत्कार कैसे नहीं सहन होते हैं ?)

यहाँ कथङ्कारम् रदीफ़ है तथा वासन्ते दुष्यन्ते आदि क़ाफ़िये हैं। मुक्त छन्द के प्रयोग तथा नवीन विषयों की उपस्थापना की दृष्टि से दिल्ली विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्री कृष्ण लाल के दो काव्यसंग्रहों का भी उल्लेख किया जा सकता है- शिञ्जारवः (दिल्ली, १६५४ ई.) तथा उर्वीस्वनः (दिल्ली, १६७५ ई.) प्रथम में ६१ तथा दूसरे में ४६ कविता संकलित हैं। मुक्त छन्द का प्रवाह और लय आकर्षक हैं, पर अभिव्यक्ति में काव्यात्मकता न्यून है।

राजेन्द्रमिश्र, श्रीमती नलिनी शुक्ला, श्रीमती पुष्पा दीक्षित आदि कवियों ने हिन्दी कविता में प्रचलित नवगीति विधा का सफल प्रयोग संस्कृत काव्य रचना में किया। भट्ट मथुरानाथ शास्त्री के दाय का उपबृंहण करते हुए अनेक कवियों ने ब्रज-भाषा तथा उर्दू के छन्दों को अपनाकर उत्तम कविताएं संस्कृत में लिखीं। ग़ज़ल तथा रुबाई के प्रयोग की दृष्टि से कवि जगन्नाथ पाठक और ब्रजभाषा के छन्दों के प्रयोग की दृष्टि से नवोदित कवि विन्ध्येश्वरी प्रसाद मिश्र के नाम गिनाये जा सकते हैं। सुकवि राजेन्द्र मिश्र ने बड़ी संख्या में ग़ज़लों की रचना तो की है ही, जो अत्यन्त लोकप्रिय भी हुई, साथ ही इन्होंने लोकगीत की विधा को भी संस्कृत काव्य-रचना में प्रतिष्ठित कर दिया। इन्होंने स्कन्धहारीयम् (कहरवा) चैत्रकम् (चैती) आदि की धुन तथा छन्द लेकर संस्कृत में मधुर गीतियाँ लिखीं। भोजपुरी तथा अवधी के लोकगीतों की विषयवस्तु तथा छन्दःसंस्कार का गहरा प्रभाव कुछ नये संस्कृत कवियों पर देखा जा सकता है। भास्कराचार्य त्रिपाठी की अनेक गीतरचनाएं, सोहर गायन शैली को भावित कर के लिखी गयी हैं।

सानेट के अतिरिक्त अन्य विदेशी छन्दों को भी कुछ नये कवियों ने अपनाया। हर्षदेव

माधव ने तीन हजार के लगभग "हाइकू" छन्द संस्कृत में लिखे हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में भी प्रकाशित हुए हैं, जिनमें से कुछ हाइकू की ही भाँति तांका छन्द भी जापानी काव्य में प्रचलित हैं। माधव तथा अन्य कुछ कवि तांका छन्द में भी लिख रहे हैं। हर्षदेव माधव ने कोरियाई कविता से 'शिजो' नामक छन्द भी ले कर उसमें भी संस्कृत कविताएं लिखी हैं।

विषयों की नवीनता-हमारी शताब्दी विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की आश्चर्यजनक उपलब्धियों की शताब्दी है। इस शती में जीवन की पद्धतियों में द्रुत गति से परिवर्तन हुए, मनुष्य का परिवेश विपरिवर्तित हुआ या नये रूप में सामने आया। ऐसी स्थिति में संस्कृत कवियों ने नये वातावरण के अनुरूप नये-नये विषय उठाये। इस प्रवृत्ति का सूत्रपात मथुरानाथ शास्त्री ने विशेष रूप से किया। उनके 'साहित्यवैभवम्' के अन्तर्गत विभिन्न वीथियों के बीच नवयुगवीथी भी है, जिसमें ट्राम, मोटरकार, रेल, जहाज, बिजली, छायाचित्र, सिनेमा, विज्ञान की उपलब्धियाँ आदि पर पद्य हैं।

कुछ कवियों ने योरोपयात्राओं का काव्यात्मक वर्णन प्रस्तुत किया, जिससे संस्कृत कविता में नया पर्यावरण चित्रित होने लगा। विमानयात्रा का रोमांचक वर्णन भी अनेक संस्कृत काव्यों में हुआ है। वेङ्कट राघवन की कविता 'अभ्रमभ्रमभ्रविलायम्' या प्रभाकरनारायण कवठेकर की 'विमानवातायनात्' तथा राजेन्द्र मिश्र का 'विमानयात्राशतकम्'' (अर्वाचीनसंस्कृत, जुलाई १९८७ में प्रकाशित) आदि काव्य विमानयात्रा का रोचक वर्णन प्रस्तुत करते हैं। राधावल्लभ की 'धरित्रीदर्शनलहरी' में विमान से देखी जाती पृथ्वी का वर्णन वैदिक काव्य में विश्वबोध के साथ-साथ गहरी सौन्दर्यानुभूति भी देता है।

विदेश भ्रमण कर चुके संस्कृत कवियों की कतिपय रचनाओं में 'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्' का अनुभव नये रूप में होता है। श्री कवठेकर ने पेरिस के संग्रहालय में विश्वविख्यात कलाकृति 'मोनालिसा' को देख कर भावपूर्ण कविता लिखी है। (दूर्वा, अंक-२३, पृ. २६ मोनालिसां तां मनसा स्मरामि)। सत्यव्रत शास्त्री का 'थाईदेशविलासम्' भी उल्लेखनीय काव्य है। इसी प्रकार राजेन्द्र मिश्र ने अपनी अनेक संस्कृत कविताओं में थाइलेण्ड के जीवन, सौन्दर्य तथा तद्विषयक स्मृतियों को अभिव्यक्त किया है।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि में बीसवीं शती के प्रमुख संस्कृत मुक्तककारों, गीतिकाव्यों का परिचय प्रस्तुत है। इनमें से कई कवि उन्नीसवीं शती के जन्मे हैं, पर उनका कृतित्व इस शती का है।

लक्ष्मणशास्त्री तैलंग-महामहोपाध्याय मानवल्ली पं. लक्ष्मणशास्त्री तैलंग का जन्म १८८० ई. में काशी में हुआ। म. म. गंगाधरशास्त्री तथा श्री रामशास्त्री इनके अग्रज थे (काशी की पाण्डित्य परम्परा, पृ. ४१७ पर इन दोनों पंडितों को लक्ष्मणशास्त्री का अनुज कहा गया है, जो सम्भवतः मुद्रण की अशुद्धि है।) इन दोनों सुकवियों का परिचय पिछले अध्याय में दिया जा चुका है। लक्ष्मणशास्त्री तैलंग ने पितृपरम्परा तथा अग्रजों से प्राप्त विद्या की धरोहर का दाय ग्रहण ही नहीं किया उसे पाश्चात्त्य विद्याओं तथा अंग्रेजी साहित्य के

अपने अध्ययन से सयुंक्त कर संस्कृत पंडितों की तेजस्विता और प्रगतिशीलता का उदाहरण भी प्रस्तुत किया। उन्होंने पुरातत्त्व, इतिहास और शिलालेख आदि विषयों का अध्ययन डा. वेनिस से किया था।

आधुनिक संस्कृत काव्य के इतिहास में म. म.लक्ष्मणशास्त्री का अविस्मणीय स्थान उनकी 'उपशल्यशंसनम्' (यह कवितावल्लरी मासिक पत्रिका के प्रथम गुच्छक में वि. सं. १९९२ अर्थात् १९३५ ई. में प्रकाशित हुई है।) नामक कविता के कारण है। यह कविता बीसवीं शताब्दी की संस्कृत कविता की अग्रदूती है। प्राकृतिक दृश्यों का सूक्ष्म निरीक्षण, ग्राम-जीवन का यथार्थ और दरिद्र लोगों के प्रति कवि की संवेदना के साथ-साथ अन्याय और शोषण के विरुद्ध प्रतिक्रिया का सचेत स्वर इस कविता में हम सुनते हैं। निर्धन कृषकों के विषय में कवि लिखता है कि ग्रीष्म में वे कड़ी धूप में तपते हैं; वर्षा में नंगे बदन भीगते हैं और जाड़े में शीत से ठिठुरते रहते हैं। किसानों के बालकों का यह चित्र वात्सल्य का उद्रेक भी करता है और यथार्थ की अनुभूति भी देता है-

इमे कृषकदारकाः परिगृहीतपाथेयकाः
करात्तलगुडा मुहुर्मधुरगीतगाने रताः।
अजाविपरिचारणे प्रतिदिनं समायोजिताः
कमप्यतिशयं मुदामनुभवन्त्यचिन्तालवम्।।

धान की रोपणी करती स्त्रियों के पाँव लगातार जल में खड़े रहने से गल से जाते हैं, वे बीच-बीच में अपने दुधमुहे बच्चों को स्तनपान कराती हैं, फिर काम में लग जाती हैं-

अमूः कृषकयोषितः कलमरोपणानारत-
प्रसङ्गसलिलान्तरस्थितिविकारिपादद्वयाः।
स्तनन्धयशिशून् क्वचित् परिनिपातनेमस्तनान्
विधाय निजकर्मणि प्रसितविग्रहा लोकय।।

लक्ष्मणशास्त्री की दूसरी कविता 'मर्त्येषु भेदः कियान्' में समाज में व्याप्त विषमता पर खेद व्यक्त किया गया है।

शास्त्री जी का आधुनिक संस्कृत साहित्य को दूसरा योगदान शेक्सपीयर के नाटकों के पद्यबद्ध कथासार के रूप हैं। उन्होंने मर्चेण्ट आफ वेनिस तथा हैमलेट के काव्यात्मक सारांश 'वेतस्वतीसार्थवाहः' तथा हेमन्तकुमारः के नाम से किये हैं। प्रस्तुत इन संक्षिप्त काव्यरूपान्तरों के निर्माण में अभिनन्द के प्रख्यात महाकाव्य 'कादम्बरीकथासार' को उन्होंने अपना आदर्श माना है। दोनों ही रूपान्तर मौलिक खण्डकाव्यों के समान आस्वाद देते हैं। कथाप्रवाह और रोचकता के निर्वाह के साथ-साथ भाषा की विच्छित्ति और शब्द-सौष्ठव की

दृष्टि से भी ये दोनों काव्य अनुत्तम हैं, आचार्य बलदेव उपाध्याय द्वारा उद्धृत निम्नलिखित अंश द्रष्टव्य हैं-

अगलद्बिन्दुमात्रास्त्रगर्धशाटकमात्रकम्।
अन्यूनानतिरिक्तं भोस्त्वया मांसं विकर्त्यताम्।।
प्रमाणपत्र एतस्मिन्नुपन्यस्तं न लोहितम्।
मांसस्य केवलमतोऽधिकारस्तेऽवकर्तने।। (१३५-३६)

यह यहूदी साइलाक के प्रति संबोधन है, जिसमें कहा गया है कि ऋण न चुकाने पर शर्तनामे के अनुसार केवल मांस ही वह ले सकता है, उसके साथ खून पर उसका अधिकार नहीं है।

हेमन्तकुमारः में दिवगंत आत्मा हैमलेट को रहस्य बताते हुए कहता है-

मद्बन्धुरेव पापात्मा मां राज्येन प्रियासुभिः।
भार्यया प्रीतिपात्रेण त्वया चासौ व्ययोजयत्।।
अयि हेमन्त सत्यं त्वमात्मजोऽसि ममाश्रवः।
वैरनिर्यातनविधौ मा स्म भूः शिथिलोद्यमः।।

(पापात्मा मेरा बन्धु ही है जिसने मुझे राज्य से, प्रिय प्राणों से, भार्या से और प्रीतिपात्र तुझसे मुझे वियुक्त कर दिया। हे हेमन्त, सही माने में तू मेरी बात मानने वाला पुत्र है, वैर का बदला लेने के लिए अपने उद्योग में शिथिल मत हो।)

गिरिधर शर्मा नवरत्न-नवरत्न जी का जन्म सन् १८८१ ई. में झालरापाटन (राजस्थान) में हुआ था। इनके पूर्वज गुजरात से राजस्थान आये तथा अपने पाण्डित्य के कारण सवाई राजा जयसिंह आदि के द्वारा सम्मानित हुए। गिरिधरजी की शिक्षा जयपुर तथा काशी में हुई। इनका देहावसान ८० वर्ष की आयु में ३०.६.१९६१ ई. के दिन हुआ। ये हिन्दी, संस्कृत, राजस्थानी, बंगला, उर्दू, मराठी, गुजराती, फारसी, अंग्रेजी आदि भाषाओं पर अधिकार रखते थे तथा हिन्दी के अनन्य सेवकों में इनका नाम सादर परिगणित होता है। इनकी साहित्यसेवा के सम्मानस्वरूप काशी की पण्डितमण्डली ने इन्हें 'नवरत्न' की, सनातन धर्म सभा, कलकत्ता ने 'काव्यालंकार' की, वैष्णव महासभा पटना ने 'व्याख्यानभास्कर' की और कलकत्ता विश्वविद्यालय की संस्कृत सभा ने 'प्राच्यविद्यामहार्णव' की उपाधियों से विभूषित किया। संस्कृत में अमरसूक्तिसुधा, जापानविजयः, ईश्वरप्रार्थना, नवरत्ननीतिः, प्रेमपयोधिः, गिरिधरसप्तशती, राजस्थानवन्दना, श्रमचतुर्विंशतिः आदि काव्य प्रकाशित हैं। हिन्दी तथा संस्कृत में इनकी अनेक रचनाएँ अभी अप्रकाशित हैं।

'उमरसूक्तिसुधाकरः' इनका उमरखैयाम की रुबाइयों का संस्कृतकाव्यानुवाद है। 'प्रेमपयोधिः' नन्ददास के भ्रमरगीतों का समच्छन्दोनुवाद है। 'योगी' शीर्षक से इन्होंने गोल्डस्मिथ की अंग्रेजी कविता हर्मिट का सुन्दर संस्कृत अनुवाद किया है।

नीतिपरक पद्यों या सुभाषितों की रचना में 'नवरत्न' का अवदान विशेष स्तुत्य है। अपने पद्यों में उन्होंने गागर में सागर भर दिया है। आधुनिक कवियों की शैली के अनुसार नीतिपरक पद्यों में उन्होंने अनेक स्थलों पर नवरत्न के नाम अपने आप को सम्बोधित करते हुए पते की बातें की हैं। शैली हृदय में सीधे उतर जाने वाली है। उदाहरण देखिये-

कर्मप्रियो रे नवरत्न भूया-
श्चर्मप्रियत्वं भ्रमतोऽपि मा भूः।
कर्मप्रियं पृच्छति लोकलोक-
श्चर्मप्रियं क्वापि न कोऽपि किञ्चित्।। ''नवरत्ननीतिरचनावलिः -१

(अरे नवरत्न, तू कर्म का प्रेमी बने, भ्रम से भी तेरी चर्मप्रियता न हो। लोग कर्म के प्रेमी को पूछते हैं, चर्म-प्रिय को कहीं कोई भी नहीं पूछता या आदर करता है।)

श्रीधर पाठक-श्रीधर पाठक का जन्म फरवरी १८६० ई. में हुआ था। हिन्दी के प्रख्यात कवि श्री पाठक ने संस्कृत में अनेक ललित काव्यों की रचना की है। इनमें 'गोखलेप्रशस्तिः', आराध्यशोकाञ्जलिः (१६०५ ई.) भारतसुषमा, मातृपादवन्दनम् (१६२६ ई.) मनोविनोदः, भारतसुषमा अदि उल्लेखनीय हैं।

'गोखलेप्रशस्तिः' की रचना श्री गोपाल कृष्ण गोखले के निधन पर सं. १६७१ में की गयी और इसी वर्ष इसे कवि ने सं. १६७२ में पद्मकोट ग्रंथमाला के अन्तर्गत स्वयं प्रकाशित किया। इसमें भावविह्वल हो कर श्री गोखले के सद्गुणों का स्मरण किया गया है-

सौम्यवृत्तिसाधुतासमुत्थभावसुन्दरम्
देशकालकोविदं स्वदेशमानमन्दिरम्।
सूनृतोक्तिमौक्तिकाभिरामकण्ठभूषितम्
संस्मराभि लोकवन्द्यगोखलेबुधेश्वरम्।।

(सौम्य व्यवहार तथा साधुता से उत्पन्न भाव से सुन्दर, देश-काल को जानने वाले, स्वदेश के मान के मन्दिर रूप, सुभाषित की मुक्ताओं से सूभूषित कण्ठ वाले, लोकवन्द्य, बुधेश्वर गोखले महाशय को स्मरण करता हूँ।)

'आराध्यशोकाञ्जलिः' की रचना कवि ने अपने पिताजी के निधन पर सं. १६६३ में की थी, जिसका भी प्रकाशन सं. १६७२ में ही हुआ। इसमें पितृवात्सल्य और पुत्र की श्रद्धा तथा शोक के भावों को मार्मिक अभिव्यक्ति मिली है। उदाहरणार्थ-

क्व बतास्ति किलास्य चेतना क्व च सा वाक्पटुता क्व भा क्व धीः ?
क्व नु सा बतचारुता गता भुवि शेतेऽद्य विनिष्क्रियं वपुः।।

(इसकी चेतना कहाँ गयी, वह इसकी वाक्पटुता कहाँ और बुद्धि कहाँ तथा इसकी चारुता कहां गयी ? आज क्रियाहीन शरीर पृथ्वी पर पड़ा है।)

भट्ट मथुरानाथ शास्त्री-भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने साहित्यकारों और शास्त्रज्ञों की समुज्ज्वल वंश-परम्परा में जन्म लिया था। इनके पूर्वज मुग़ल काल में आन्ध्रप्रदेश से उत्तर की ओर आये। 'देवर्षि' की उपाधि से विभूषित ये पण्डित काशी, प्रयाग, रीवा, अनूपशहर आदि स्थानों पर रह कर बूंदी आये। देवर्षि श्रीकृष्ण भट्ट गढपहरा (सागर) में कुछ काल रह कर बूंदी में और फिर जयपुर की राजसभा में १६७५ ई. से १७६१ ई. तक रहे। इन्हीं के गोत्र में मण्डनभट्ट हुए तथा इनकी ही वंशपरम्परा में भट्ट मथुरानाथ का जन्म १८८६ ई. में हुआ। इनके पिता द्वारकानाथ भट्ट थे और माता जानकी देवी। छात्रावस्था से ही भट्ट मथुरानाथ अत्यन्त मेधावी थे और शिक्षा समाप्त करके वे जयपुर के महाराजा संस्कृत महाविद्यालय में प्राध्यापक हुए। १९६४ ई. में पचहत्तर वर्ष की आयु में इनकी मृत्यु हुई।

संस्कृत के अतिरिक्त शास्त्री जी ने हिन्दी तथा व्रज भाषाओं में भी काव्यरचना की। संगीतशास्त्र का इनको अच्छा ज्ञान था। उर्दू, बंगाली तथा गुजराती भाषाओं के साहित्य का इन्होंने अच्छा अध्ययन किया था। इन्होंने संस्कृत में छः रेडियो रूपक, आधुनिक दृष्टि से कहानी, यात्रावृत्त, ललित निबन्ध, एकांकी आदि नवीन विधाओं में रचनाएँ प्रस्तुत कीं। संस्कृत गीतिकाव्य को इनकी देन अविस्मरणीय है। और इनके संस्कृत काव्यों के तीन संकलन सुप्रसिद्ध हैं- साहित्यवैभवम् (१९३० ई.) जयपुरवैभवम् (१९४७ ई.) तथा गोविन्दवैभवम् (१९५७ ई.)। इन्होंने संस्कृत में घनाक्षरी, कवित्त, सवैया आदि व्रजभाषाकाव्य के छन्दों में रचना करने का अभिनव उपक्रम किया, ग़ज़ल और रुबाइयों की रचना का भी आधुनिक संस्कृत कविता में इन्होंने सूत्रपात किया। संस्कृतरत्नाकर, भारती जैसी संस्कृत की साहित्यिक पत्रिकाओं और काव्यमालासीरीज के संपादन में इनका सहयोग रहा। रसगङ्गाधर, गाथासप्तशती आदि प्राचीन ग्रन्थों की इनकी टीकाएं भी बहुमूल्य हैं।

संस्कृत कविता में नवीन छन्दःसंस्कार और अभिनव भावबोध को संचालित करने की दृष्टि से शास्त्री जी का योगदान अमूल्य है। आधुनिक परिवेश तथा समाज का इन्होंने कहीं चुटकी लेते हुए, कहीं व्यंग्य के पैनी मार के साथ तो कहीं हास्य और विंडबना का अनुभव देते हुए चित्रण किया है। अब तक अप्रयुक्त छन्दों में लिखते हुए भी शास्त्री जी ने कहीं आयास का अनुभव नहीं होने दिया है। आयास के कवियों पर उन्होंने कितनी सहजता से चुटकी ली है-

शब्दा न स्फुरन्ति रचनासु नापि भाषा वशे
न पुनरशेषवृत्तबन्धे प्रभविष्यामः,
दासा इव नायान्ति वाचमनुप्रासा अपि
भावमनायासादभिव्यक्तुं नोल्लसिष्यामः,
'मञ्जुनाथ' मानसिकमोदोद्गारमेतं मञ्जु-
कवितानिकेतं कृच्छ्रभावैर्भरयिष्यामः,
प्रस्थयवयोग एव विकलं व्ययतु वयो
निर्विरोधवाचो वयं कवयो भविष्यामः।।

(रचनाओं में शब्द न स्फुटित होते हैं, और न भाषा पर अधिकार है, फिर हम सभी प्रकार के छन्दों के बन्ध में समर्थ न होंगे, दासों की भाँति अनुप्रास भी वाणी का अनुगमन नहीं कर रहे हैं, भाव को अनायास प्रकट करने में भी उत्साहित नहीं होंगे, 'मञ्जुनाथ' कहते हैं, मानसिक मोद के उद्‌गार वाले इस कविता के निकेतन को भावों से हम भरेंगे, भले ही, प्रस्थपरिमाण के जौ अन्न को जुटाने(?) में ही व्याकुल उम्र बीत जाए, निर्विरोध वाणी वाले हम कवि होकर रहेंगे।)

शास्त्री जी के काव्य में वैयक्तिक अनुभूतियों, करुणा और भक्तिभाव का भी इसी सहजता से उन्मीलन हुआ है। अभिव्यक्ति की अनाविलता उनमें सर्वत्र बनी रही है, चाहे वह आधुनिक नागरिक जीवन का चित्रण कर रहे हों, या ग़ज़ल जैसी नयी विधा में लिख रहे हों, या आत्मव्यथा को प्रकट कर रहे हों। लय और अन्त्यानुप्रास का निर्वाह उनमें आधुनिक भारतीय भाषाओं की कविता के समान मिलता है। अपने आप को संबोधित करते हुए वे कहते हैं -

अयि चित्त चिरेण विचिन्तयतोऽपि च चञ्चलता न गता, न गता।
अपि नाम निरन्तरयत्नशतैस्तव निष्ठुरता न गता, न गता।।

(हे चित्त, चिरकाल तक तू चिन्तनपरायण है, लेकिन तेरी चञ्चलता नहीं गई, नहीं गई और सैकड़ों उपाय किये पर तेरी निष्ठुरता नहीं गई, नहीं गई।)

क्षमा राव-पण्डिता क्षमा राव का जन्म ४ जुलाई १८९० के दिन पुणे में हुआ। इनके पिता शंकर पाण्डुरंग पण्डित संस्कृत के ख्यातिप्राप्त विद्वान थे। दुर्योग से तीन वर्ष की अल्पायु में ही क्षमा को पिता की छंत्रच्छाया से वंचित होना पड़ा और इनकी बाल्यावस्था कष्ट में बीती। ये अपने चाचा पं. सीताराम के पास रहीं, जो राजकोट में बैरिस्टर थे। यद्यपि अपने बड़े भाई शंकर के अनुग्रह और अनुकम्पाओं के कारण सीताराम क्षमा के प्रति स्नेह का भाव रखते थे, पर क्षमा की चाची उसके साथ बहुत निर्दयता का व्यवहार करती थीं। क्षमा और उसकी छोटी बहन तारा दोनों ही असाधारण प्रतिभा से संपन्न थीं, वे अपने चचेरे भाइयों का पाठ सुन-सुन कर ही याद कर लेती थीं, उन्हें पाठशाला नहीं भेजा गया। तारा का भी बारह वर्ष की कच्ची आयु में ही दुःखद देहावसान हो गया। क्षमा ने सौराष्ट्र से मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की और अंग्रेजी के लिये 'चारफील्ड' पारितोषिक प्राप्त किया। इसके पश्चात् इन्होंने मुम्बई के विल्सन महाविद्यालय में प्रवेश लिया, जहाँ म.म.पी.व्ही. काणे भी उनके शिक्षक रहे। श्री काणे ने आगे चल कर क्षमादेवी को छात्रा के रूप में स्मरण करते हुए उनकी प्रशंसा की थी। बीस वर्ष की आयु में, अध्ययन पूर्ण होने के पूर्व ही क्षमा का विवाह मुम्बई के प्रख्यात चिकित्सक डा. राव से हो गया। उनकी भौतिक निर्धनता सर्वथा दूर हो गयी और वे ऐश्वर्यमय जीवन व्यतीत करने लगीं, पर संस्कृत साहित्य के अध्ययन की उनके मन में ललक बनी रही, जिसने उन्हें संस्कृत में रचनाकर्म के लिये प्रेरित किया। उन्होंने पति के साथ योरोप का भ्रमण भी किया था, फ्रैंच, जर्मन तथा अंग्रेजी

भाषाओं का अभ्यास किया था। भारत, फ्रांस तथा जर्मनी में उन्होंने कई बार अपनी पुत्री लीला के साथ महिला युगल चैपियनशिप जीती थी। नवंबर १९५३ ई. में उन्हें जीवन का एक और दारुण आघात लगा, जब उनके पति की मृत्यु हो गयी।

क्षमा देवी ने स्वदेशी और असहयोग के आंदोलन में भी भाग लेना चाहा और इसके लिये वे गान्धी जी से मिलीं थीं। पर गार्हस्थ्य के कारण उन्हें इसका अवसर नहीं दिया गया। आज़ादी की लड़ाई तथा गाँधीजी के सत्याग्रह के प्रति आस्था के भाव ने उन्हें संस्कृत में इन विषयों पर लिखने के लिये प्रेरणा दी, और स्वतन्त्रता-संग्राम पर उन्होंने महाकाव्यत्रयी का प्रणयन किया। २२ अप्रैल १९५४ के दिन श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का पाठ करने के अनन्तर उन्होंने प्राण त्याग दिये।

क्षमादेवी की रचनाओं में उनके महाकाव्य तो प्रसिद्ध हैं ही उनकी मुक्तक रचनाओं में मीरा-लहरी उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त 'शङ्करजीवनाख्यानम्' में उन्होंने अपने पिता का चरित्र पद्यबद्‌ध किया है, ग्रामज्योतिः में अनुष्टुप् छन्द में आधुनिक सामाजिक जीवन पर आधारित उनकी कहानियाँ हैं, तथा 'विचित्रपरिषद्‌यात्रा' में अनन्तशयनम् में आयोजित प्राच्यविद्यासम्मेलन के लिये की गयी यात्रा का अनुष्टुप् छन्द में वर्णन है।

क्षमादेवी की भाषा शैली में सरलता, प्रसाद और प्रांजलता के साथ उत्कृष्ट काव्यसौदर्य का समावेश है। विषयों की नवीनता और अनुभूतियों की गहराई के कारण उनकी कविता में एक दुर्लभ प्रत्यग्रता है। उनके दृष्टिकोण की आधुनिकता तथा व्यक्तित्व की गरिमा उनकी सभी रचनाओं में प्रतिबिम्बित हैं। 'मीरालहरी' में कुरीतियों और रूढ़ियों के प्रति विद्रोह तथा भक्तिभाव में तन्मयता की मार्मिक अभिव्यक्ति है-

धावल्यं सितनीरजं त्यजति किं पङ्केऽपि नित्यस्थितं
सौभाग्यं विजहाति किं हिमगिरिश्छन्नस्तुषारैरपि।
कान्तिं मुञ्चति किन्नु हीरकमणिर्लोष्टैश्च सन्दूषितः
किं चित्रं यदि धर्मतो न चलिता मीरापि तत्तर्जनैः।।

(कीचड़ में रह कर भी कमल क्या अपनी धवलता छोड़ता है ? तुषार से आच्छादित हो कर भी हिमालय क्या अपना सौभाग्य तजता है ? ढेलों के बीच हीरा क्या अपनी कान्ति छोड़ देता है ? तो फिर मीरा अपनी सास-ननद आदि के द्वारा धमकाई जा कर भी यदि धर्म से न डिगी तो क्या आश्चर्य ?)

दत्त दीनेशचन्द्र - दत्त दीनेशचन्द्र का जन्म सन् १८९१ ई. में बंगाल में हुआ। इनके पिता दुर्गापुर में प्राथमिक शाला में प्रधानाध्यापक थे। इनकी शिक्षा हाबीगंज, राजशाही तथा कलकत्ता में हुई। १९१३ ई. में इन्होंने संस्कृत तथा दर्शन विषयों के साथ बी. ए. परीक्षा उत्तीर्ण की तथा १९१६ ई. और १९२१ ई. में कलकत्ता विश्वविद्यालय से आधुनिक अंग्रेजी साहित्य तथा प्राचीन अंग्रेजी साहित्य में एम. ए. किया। बाल्यकाल से ही ये संस्कृतसाहित्य

का भी अध्ययन करते रहे तथा १६१६-२१ ई. की अवधि में इन्होंने लैटिन, ग्रीक, फ्रैंच, जर्मन, हीब्रू, अरबी तथा फारसी भाषाओं का भी अच्छा अभ्यास किया। १६२७ ई. से ये जयपुर महाराजा महाविद्यालय में अंग्रेजी के प्राध्यापक नियुक्त हुए और १६५१ ई. में वहीं से सेवानिवृत्त हो कर आजीवन जयपुर में निवास करते रहे। अंग्रेजी में इनके अनेक पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ तथा चण्डीदास, विद्यापति, मेघदूत, उमरखैयाम आदि के पद्यात्मक अनुवाद प्रकाशित हैं। १६४३ ई. में इन्होंने संस्कृत में 'भारतगाथा' काव्य की रचना की थी, जिसकी भट्ट मधुरानाथ शास्त्री आदि पण्डितों ने बहुत सराहना की। उससे प्रोत्साहित हो कर इन्होंने सुभाषगौरवम्, रवीन्द्रप्रतिभा, छन्दःसन्दोहः तथा वङ्गविभावरी ये चार काव्य भी प्रकाशित किये।

भारतगाथा में सौ मन्दाक्रान्ता छन्दों के द्वारा राष्ट्र के अतीत गौरव तथा वर्तमान दुरवस्था का मार्मिक चित्रण है। आरंभ में सरस्वती, कृष्ण, राम तथा परशुराम की वंदना करके कवि ने शंकर, चैतन्य आदि महापुरुषों के राष्ट्रोन्नायक कार्यों का हृदयग्राही वर्णन किया है। वर्तमान से असन्तुष्ट हो कर कवि ने अतीत की रमणीयता का चित्र खींचा है-

कृष्णप्राणाः स्वपतिविमुखाः क्वाधुना गोपिकास्ताः
कुत्र श्यामो मदनदमनो राधिकाप्रेमलक्ष्यः।
वंशीधारी रतिपतिजयी साम्प्रतं क्वास्ति दृश्यः
कालिन्दी च क्व पुनरधुना सोर्ध्ववारिप्रवाहा।।

(अपने पतियों से विमुख तथा कृष्ण को प्राण मानने वाली वे गोपियाँ अब कहाँ हैं? कामदेव को दमित करने वाले, राधा के प्रेम के लक्ष्य, वंशीधारी, रतिपति पर विजय प्राप्त करने वाले श्याम कहा हैं ? वे कहां दृष्टिगोचर होंगे ? फिर ऊर्ध्व जल-प्रवाह वाली यमुना अब कहां हैं ?)

सारा काव्य राष्ट्रीय भाव से ओत-प्रोत है। जिस धरती ने सिंह जैसे वीर पूतों को जन्म दिया था, वह सियारों की माता कैसे हो गयी-इस बात से खिन्न कवि फिर से राष्ट्र गौरव की प्रतिष्ठा चाहता है-

श्यामच्छाया दलितमहिषा मुण्डमालां दधाना
मत्स्याजीवैः कथमनुकृतैर्म्लानपुष्पैरिहार्च्या।
सूत्वा सिंहान् किमिह जननी फेरवाणामसि त्वं
धीरः संख्ये स्थिरनिजमहा मङ्क्षु हन्यादरातिम्।। (५६)

(श्याम कान्ति वाली, महिषासुर को मारने वाली, मुण्डमाला को धारण करती हुई उस जननी को मत्स्यों से जीविका निर्वाह करने वाले म्लान फूलों से पूजेंगे ? सिंहों को पैदा करके अब तुम क्या सियारों की जननी हो गयी हो ! युद्ध में स्थिर निजतेज वाला धीर शीघ्र शत्रु को मार सकेगा ?)

सुभाषगौरवम् में १७४ पद्यों में सुभाषचन्द्र बोस का ओजस्वी चरित निबद्ध है। इसमें विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया गया है। वीररस तथा गौडी रीति का बन्ध यहां चमत्कारमय है। इसके साथ ही कवि की कल्पना और अलंकारयोजना भी प्रौढ है। राष्ट्रनायक का चित्र कवि ने अनुभूतिप्रवणता के साथ ऊर्जस्वी और प्रेरणाप्रद रूप में अंकित किया है-

नवनीतसुधासमचित्तविनोदनरीतिगुणाढ्यतयावसित
त्वमनन्तसहायकशक्तिविनायकशूरषडाननवद्‌ रिपुहा।
त्वमु तारकजिद्‌ भुवि शक्तिधरोपमशौर्यगणाधिपतुल्यबलो
नवभारतनाविक रक्षतु ते रणनीतिरनाविकनावमिमाम्।।

(हे नये भारत के नाविक, नवनीत और अमृत के समान चित्त के विनोदन की रीति में गुणाढ्य के रूप में विद्यमान तुम अनन्त सहायक शक्तियों वाले विनायक तथा शूर कार्तिकेय के समान हो, तुम्हारी रणनीति नाविक रहित इस नौका की रक्षा करे।)

'रवीन्द्रप्रतिभा' काव्य में भी १७४ पद्य हैं, पर इसमें छन्दों की विविधता अनुपम है। कुल १४९ प्रकार के छन्दों का कवि ने यहाँ प्रयोग किया है। कवीन्द्र रवीन्द्र के कृतित्व और व्यक्तित्व का चित्रण प्रभावोत्पादक है। रवीन्द्रनाथ के काव्य और सुभाषित वाक्यों की भावना भी कवि ने आत्मसात् करके प्रकट की है-

कविजीवनं सततमाहुतिदानं
क्षणिकं सुखे तनुभृतां परमिष्टम्।
सुखमिच्छतां सततदुःखमवश्यं
स्मरणीयमेतदपरं रविवाक्यम्।। (६१)

(कवि का जीवन निरन्तर आहुतिदान रूप है, यद्यपि शरीरधारियों को क्षणिक सुख परम अभीष्ट होता है और सुख चाहने वालों को अवश्य सदा दुःख होता है, 'रवि' (रवीन्द्र) का यह वचन स्मरणीय है।)

बंगविभावरी में २२० पद्य तथा २१२ छन्द प्रयुक्त हैं। नृत्यमती तथा सौदामनी - ये दो नये छन्द कवि ने अपनी ओर से परिकल्पित कर के यहाँ रचे हैं। 'भारतगाथा' के ही समान यहाँ बंगदेश के अतीत का गौरवगान तथा वर्तमान कुरीतियों का चित्रण है। कवि दीनेशचन्द्र को छन्दों का असाधारण ज्ञान था, जों उनके छन्दःसन्दोहः में प्रतिफलित हुआ है। इसमें उन्होंने छन्दों के लक्षण तथा स्वरचित उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। भाषा के उत्तम शिल्प और लालित्य के साथ उदात्त विषयवस्तु के विन्यास के कारण दत्त दीनेशचन्द्र आधुनिक संस्कृत कवियों में उल्लेखार्ह हैं।

महादेव शास्त्री-सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, कवितार्किकचक्रवर्ती महादेव शास्त्री के पिता पं. अम्बिकाप्रसाद पाण्डेय थे। इनका जन्मस्थान बिहार के कैमूर (भभुआ) जिले में ऐलायग्राम है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में काशी के श्रेष्ठ पण्डितों से विद्या प्राप्त कर ये

अध्यापन करते रहे, तथा अनन्तर काशी सुमेरुपीठ शङ्कराचार्य के पीठ पर भी अधिष्ठित हुए।

रसगङ्गाधरटीका, ख्यातिवादः आदि दार्शनिक ग्रन्थों के अतिरिक्त इनका 'भारतशतकम्' 'पूर्णास्तवः' 'गङ्गाष्टकम्' आदि संस्कृत काव्यों के द्वारा सरसकाव्यरचनाभिनिवेश प्रकट है। 'भारतशतकम्' में मातृभूमि के गौरव, राष्ट्रप्रेम, देश की वर्तमान दुर्दशा तथा उसके पुनरुत्थान के लिये कवि ने अपने भावों को पूरी हार्दिकता के साथ व्यक्त किया है। भाषा की प्रांजलता, शब्दसाधना, पदशय्या और कल्पनाओं की रमणीयता का यह काव्य उत्कृष्ट उदाहरण है। यह एक सुन्दर राष्ट्रगीत भी कहा जा सकता है, जो देशप्रेम का भाव पाठकों के मन में संचारित करता है-

बङ्गैः सङ्गीतिकीर्तिः कलितकलकलश्चोत्कलैरान्ध्रबन्धु-
र्मद्रैरुन्निदुमुद्रो जवजनितजयोद्गुर्जरः सिन्धुबिन्दुः।
पञ्चापैरञ्चितश्रीर्मधुमधुरधुरो मध्ययुक्तैर्विहारै-
रार्यावर्ताभिधानो जयति जनपदो मानिनां जन्मभूमिः।।

(मानशाली जनों की जन्मस्थली आर्यावर्त नाम का राष्ट्र विजयशील हो, जिसकी कीर्ति का गान बंग करते हैं, उत्कलों से जो कल-कल से भरा है, जो आन्ध्रों का बन्धु है, मद्रों के कारण जिसकी मुद्रा जागृत है, गुर्जरों के कारण जिसकी विजय है, सिन्धु जिसका बिन्दु स्थानीय है, पंजाब के कारण जिसकी शोभा बढ़ी है तथा जो मध्य प्रान्त, युक्त प्रान्त तथा बिहार प्रान्त के कारण मधु के समान मधुर बना है।)

'पूर्णास्तवः' आगमिक दृष्टि से जगदम्बा की स्तुति है। कवि ने समग्र सृष्टि की विश्रान्ति तथा विमर्श और स्पन्द के द्वारा उत्पत्ति जगदम्बा में देखी है -

चिदानन्दाम्भोधेः परशिवपरातीतवपुषो
विभागोऽभूदाद्यः स च खलु विमर्शः प्रथिमगात्।
अपि स्यात् स्पन्दो वा ननु भवतु सेच्छा नगसुते
त्वमेवैका सर्वं त्वयि सकलसृष्टिः प्रणिहिता।।

(चिदानन्दमय परशिव का स्वातन्त्र्यवश प्रथम विभाग ही विमर्श के नाम से प्रथित हुआ, व 'स्पन्द' हुआ और वही 'इच्छा' शब्द से कहा गया, हे हिमालयपुत्री, नाम चाहे कुछ भी हो पर अर्थतः सब कुछ तुम ही हो और सब तुम में है।)

अलङ्कारों के विन्यास की दृष्टि से गङ्गाष्टकम् रचना बड़ी सम्पन्न है। कवि की गङ्गाभक्ति का भाव अत्यन्त कमनीय रूप इसमें प्रस्तुत हुआ है। सन्देह अलङ्कार गङ्गा की लावण्यपूरपरिपूरित लहरी प्रवाह के वर्णन में उपयोग करता हुआ कवि कहता है-

किं वाऽयं रसनिर्झरोऽमृतझरो ब्राह्मः प्रकाशः स्फुटः
किं वाऽसौ ललिता त्रिलोककलिता पुण्योज्ज्वलश्रीः शुभा।

आहोस्वित् पयसां निधिः किमपरो लावण्यपूरोल्लसन्
सोल्लासं विलसन्ति नस्त्वयि शिवेनाल्पा विकल्पालयः ।।

(हे शिवे, यह आपका प्रवाह-क्या रसपरिपूर्ण सतत अमृतवर्षी विशद परब्रह्म प्रकाश है ? अथवा, त्रैलोक्य की पुञ्जीभूत, सुन्दर, मङ्गलमयी धर्म की निर्मल श्री है, या पवित्र शृङ्गारलक्ष्मी है ? अथवा, लावण्य से लक्षित यह दूसरा क्षीरसमुद्र है ? इस प्रकार आप के विषय में हमारी अनेक संशय-कोटियाँ सोल्लास विलसित होती हैं।)

मेघाव्रत-स्वनामधन्य मुनि मेधाव्रत के पूर्वज गुजरात के खेड़ा जिले में पिंडरियों के उपद्रवों से उद्विग्न हो कर महाराष्ट्र के नासिक जिले में यवलवाड़ी ग्राम में आकर बस गये थे। मेघाव्रत के पिता जगजीवनदास आरम्भ में सनातनी थे, बाद में आर्यसमाज में दीक्षित हुए। इन्होंने अपनी कनिष्ठ तनया जानकी का अन्तर्जातीय विवाह किया तथा कनिष्ठ पुत्र से उत्पन्न अपने पौत्र सुबोधचन्द्र का मुख देख कर १६ मई १६२३ ई. में संन्यास ग्रहण कर लिया।

मेघाव्रत का जन्म ७-१-१८६३ ई. के दिन हुआ। इनका वास्तविक नाम मोतीचन्द्र था। सिकन्दराबाद गुरुकुल में इनकी मेधा को देख कर गुरुजनों ने मेघाव्रत नाम दिया। १६१० ई. से इनकी शिक्षा वृन्दावन गुरुकुल में हुई। १६१८ ई. में ये कोल्हापुर नरेश छत्रपति महाराज के निमंत्रण पर आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा स्थापित वैदिक विद्यालय में अध्यक्ष के पद पर कार्य करने हेतु कोल्हापुर गये। १६२० ई. में सूरत के राष्ट्रीय महाविद्यालय में हिन्दी तथा संस्कृत के प्राध्यापक नियुक्त किये गये। १६२५ ई. के इटोला गुरुकुल में आचार्य और १६२६ ई. से इसी संस्था में बड़ौदा में रहे। बाद में इसी संस्था को आर्य कन्यामहाविद्यालय बनाया गया, १६ वर्षों तक मेघाव्रत इसमें सेवारत रहे। २२-११-१६६४ ई. के दिन इनका देहावसान हुआ। मेघाव्रत ने दयानन्ददिग्विजय, ब्रह्मर्षिविरजानन्दचरितम्, नारायणस्वामिचरितम्, यतीन्द्रनित्यानन्दशतकम्, विश्वकर्माद्भुतशतकम् (उपकुलपतिमाईलाल-कर्मकौशलशतकम्) ज्ञानेन्द्रचरितम् ये चरितकाव्य, दयानन्दलहरी, दिव्यानन्दलहरी, सुखानन्दलहरी-ये लहरीकाव्य, अथर्ववेद के पृथिवीसूक्त पर आधारित वैदिकराष्ट्रकाव्य, श्रीकृष्णस्तुति नामक स्तोत्र, मातृविलापः, मातः प्रसीद, मातः का ते दशा-ये तीन विलापकाव्य या राष्ट्रभक्तिपरक काव्य, वाङ्मन्दाकिनी, श्रीरामचरितामृतम्, सत्यार्थप्रकाशमहिमा, गुरुकुलचित्तौडगढम् इत्यादि माहात्म्यनिरूपणात्मक काव्य, ब्रह्मचर्यशतकम्, गुरुकुलशतकम् इत्यादि शतककाव्यों के अतिरिक्त सहस्रों स्फुट पद्यों या लघुकाव्यों की रचना की। उदयपुर से दिल्ली तक की अतिरिक्त यात्रा का वर्णन इन्होंने 'विमानयात्रा' काव्य में चालीस पद्यों में किया है। इसके अतिरिक्त इनके अगणित प्रासंगिक काव्य भी हैं। गद्य (दो उपन्यास कथाएँ) तथा नाटक चम्पू आदि विधाओं में भी इनका साहित्य है।

शैली की प्रासादिकता, अनुप्रास और लयात्मकता तथा छन्दोवैविध्य की दृष्टि से मेघाव्रत सफल कवि हैं।

महालिङ्ग शास्त्री-महालिङ्ग शास्त्री का जन्म ३१-७-१८९७ ई. के दिन मद्रास प्रान्त के तंजौर जिले में तिरुवालंगाड ग्राम में हुआ। इनके पिता महामहोपाध्याय यज्ञ स्वामी थे। ये सोलहवीं शती के महान् दार्शनिक काव्यशास्त्री और मीमांसक श्री अप्पयदीक्षित के वशंज थे। यज्ञस्वामी इस वंश में उत्पन्न श्री राजुशास्त्री (त्यागराज) के पौत्र थे। महालिङ्ग का विद्यारम्भ इनके प्रपितामह श्री राजुशास्त्री द्वारा ही १९०२ ई. में कराया गया। काव्य-प्रतिभा इनकी छात्रावस्था से ही अंकुरित होने लगी थी। १९१५ ई. में प्रथम श्रेणी में सर्वप्रथम इंटरमीडिएट, १९१९ ई. में बी. एल. तथा १९३२ ई. में इन्होंने संस्कृत से एम. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। १९१९ ई. से ही ये श्री टी. आर. रामचन्द्र अय्यर के अधीन वकालत करने लगे। विषम परिस्थितियों में दस रुपये मासिक पर लिपिक कार्य भी किया। १९२८ ई. से इन्होंने हाईकोर्ट के वकील के रूप में अपना पंजीकरण कराया। १९३५ ई. से वकालत को त्याग कर मदुराई के महाविद्यालय में शिक्षण का कार्य किया। १७-४-१९६७ ई. के दिन इनका स्वर्गवास हुआ।

यद्यपि महालिङ्ग शास्त्री ने अनेक उत्कृष्ट नाटकों, प्रहसनों आदि की भी संस्कृत में रचना की है, पर उनका विशेष क्षेत्र गीतिकाव्य ही कहा जा सकता है। तमिल भाषा में तथा अंग्रेजी में भी इन्होंने काफी साहित्य रचा है। सात संस्कृत रूपकों के अतिरिक्त इनकी संस्कृत काव्य रचनाएँ हैं -भ्रमरसन्देश, भारतीविषाद, वनलता, द्रविडार्यासप्तशती, व्याजोक्ति-रत्नावली, तथा किङ्किणीमाला (अनेक अनूदित तथा मौलिक लघुकाव्यों का संकलन)। इन गीतिकाव्यों के अतिरिक्त शास्त्री जी की स्तोत्ररचनाओं की संख्या भी बहुत बड़ी है। देशिकेन्द्रस्तुतिः के अतिरिक्त इनके बारह स्तुतिकाव्य 'स्तुतिपुष्पोपहारः' में संकलित हैं।

महालिङ्ग शास्त्री प्राचीनता तथा आधुनिकता के सन्धिस्थल पर अवस्थित हैं। एक ओर तो वे प्रचीन महाकवियों की समर्थ पदावली में भक्तिभाव या उदात्त भावनाओं को अभिव्यक्त कर सकते हैं, जैसे विघ्नेशरवृत्तमालास्तवः का यह एक पद्य देखिये-

यदालानं चेतश्शुचिसुमनसां भक्तिरचला
सृणिर्यस्य स्वैरग्रहणविधिरोङ्कारमननम्।
गजेन्द्रः कोऽप्येष श्रुतिविपिनसंञ्चाररसिक-
श्चिरं वप्रकीडां श्रयतु मम विघ्नाद्रिकटके।।

(चित्त से पवित्र सुमनसूजनों की अचल भक्ति जिसका बन्धन है, ओंकार का मनन स्वतन्त्र जिसके ग्रहण का उपाय रूप अंकुश है, जो वेदों के जंगलों में सञ्चार का रसिक है, ऐसा यह कोई विलक्षण गजेन्द्र (भगवान् श्री गणेश) मेरे विघ्न रूपी पर्वत के मध्यभाग में चिरकाल तक 'वप्रक्रीडा' करें।)

गजेन्द्र (गणेश के लिये आलान (बन्धनस्तम्भ) सृणि (अंकुश) विपिन, विघ्नाद्रिसैन्य कटक तथा वप्रक्रीडा (ढूसा मारना) आदि से यहाँ एक आकर्षक रूपक बन्ध बनाया गया है। महालिङ्ग शास्त्री की अनेक रचनाएं सामाजिक तथा समसामयिक प्रसंगों पर हैं, कुछ

कविताओं में पैना उत्प्रास और वक्रोक्ति की विच्छित्ति है। उनके भ्रमरसन्देशः तथा वनलता (खण्डकाव्य) मेघदूत से प्रभावित हैं। वनलता में यक्ष-यक्षिणी के प्रेम को जन्म-जन्मान्तर की कथा के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। भारतीविषादः इनकी छात्रावस्था की रचना है। कवि संस्कृत को माता के रूप में देखता है। अपने कुपुत्रों के दुश्चरित्र से उसका हृदय बिधा हुआ है। पर उसका कोई पुत्र इस दुश्चरित पर अनुताप करता हुआ उसके निकट फिर से आये, तो उसका हृदय अवश्य ही द्रवीभूत हो उठेगा-

दुर्वृत्तपुत्रकुपितं जननीमनः ख-
ल्वन्तः सशल्यमपि मन्तुभिरुग्रकल्पैः।
दृष्टे सुते परिचितानुशयोपतापे
सद्यो व्यनक्ति करकोपलवद् द्रवत्वम्।।

व्याजोक्ति या अन्योक्ति की रचना में कवि महालिङ्ग ने विशेष दक्षता प्रकट की है। उन्होंने पारम्परिक विषयों पर भी अन्योक्तियों का प्रणयन किया है तथा कतिपय नवीन विषयों का भी अन्योक्ति के माध्यम से स्पर्श किया है। उनकी अन्योक्तियाँ समकालिक जीवन की विसंगति, छद्म और प्रपंच को मार्मिक अभिव्यक्ति देती हैं। मकड़ी उसके जाले और गृहस्थ द्वारा झाड़ू से उसे साफ कर डालने के प्रसंग को ले कर कवि ने कहा है-

प्रायोऽसंस्कृतजीर्णकोणवितते स्वोच्चारसारं हि य-
ल्लूता कर्म तनोति तन्तुजटिलं क्षुद्रं गृहाशंसया।
स्तोकालोकसशोभमर्कमहसा तद्दुर्भगं गेहिनो
नेर्ष्यन्ति क्वचिदीर्ष्यिता यदि मनाक् सम्मार्जनी भ्राम्यते।।
(अन्योक्तिरत्नावली, १२०)

(प्रायः, मकड़ी गृह में असंस्कृत कोने में घर बनाने के लिए जो जाल फैलाने का क्षुद्र कर्म करती है, उसे लेकर घर वाले लोग ईर्ष्या नहीं करते और यदि ईर्ष्या करें तो झाड़ू घुमा दी जाती है।)

महालिङ्ग शास्त्री संगीत के मर्मज्ञ थे। किङ्किणीमाला में संकलित कतिपय गीतियों के लिये उन्होंने उपादेय रागों का भी परिशिष्ट में निर्देश किया है। अंग्रेजी साहित्य पर उनका अच्छा अधिकार था। शेक्सपीयर आदि, कवियों के कतिपय उत्तम काव्यांशों का उत्कृष्ट संस्कृत पद्यानुवाद उन्होंने इसी संकलन में प्रस्तुत किया है।

सूर्यनारायण शास्त्री- श्री सूर्यनारायण शास्त्री का जन्म १०.२.१८६७ ई. के दिन आन्ध्रप्रदेश में हुआ। इन्होंने संस्कृत भाषा के साथ-साथ तेलुगु और अंग्रेजी का भी सम्यक् अध्ययन किया था। शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् ये सिकन्दराबाद के हाईस्कूल में शिक्षक नियुक्त हुए। अनन्तर इन्होंने राजा बहादुर वैंकटराम रेड्डी वूमन्स महाविद्यालय में कार्य

किया। इन्होंने पूर्णपात्रम् नामक गीतिकाव्य तथा खण्डकाव्यों की रचना की है-भर्तृदानम्, संयुक्तास्वयंवरम् विवेकानन्दम्, कचदेवयानीयम्, नन्दचरितम्, रामदासचरितम् तथा कीरसन्देशम्।

भर्तृदानम् श्रीमद्भागवत के पारिजातहरण के कथानक पर आधारित है। संयुक्तास्वयंवरम् की विषयवस्तु ऐतिहासिक है। कीरसन्देशम् में रुक्मिणी श्रीकृष्ण को सन्देश भेजती है। 'विवेकानन्दम्' में स्वामी विवेकानन्द के जीवन की प्रमुख घटना चित्रित हैं। कचदेवयानीयम् एक भावपूर्ण मार्मिक कथा का उपस्थापन है। नन्दचरितम् में एक अस्पृश्य शिवभक्त की कथा वर्णित है। रामदासचरितम् में स्वामी रामदास का जीवन चित्रित है।

नागार्जुन-नागार्जुन (वास्तविक नाम वैजनाथ, जन्म १६११ ई.) हिन्दी के समकालिक कवियों में मूर्धन्य हैं। इनकी शिक्षा काशी में हुई। बाल्यकाल से ही संस्कृत में कविता लिखते थे, कालान्तर में हिन्दी के उपन्यासकार, कथाकार तथा सुकवि के रूप में विश्रुत हुए तथापि संस्कृत काव्यरचना का इनका क्रम आज भी जारी है। इनकी संस्कृत कविताओं की समकालिक संस्कृत साहित्य में अपनी एक अलग बानगी है। बौद्ध भिक्षु के रूप में हिमालय के अंचल का भ्रमण करते हुए देश की जिस नैसर्गिक सुषमा का इन्होंने साक्षात्कार किया, उसकी कुछ छवियाँ अत्यन्त मौलिक परिकल्पना के साथ इन्होंने अपने अनेक संस्कृत मुक्तकों में संजोयी हैं। कश्मीर और वितस्ता के इनके वर्णन निराले ही हैं। अपने रचनाकाल के आरम्भिक दौर में इन्होंने रूस के क्रान्तिकारी महान् नेता लेनिन की मृत्यु पर 'लेनिनशतकम्' काव्य लिखा था, जो कवि की समाजचेतना वर्तमान विश्व की व्यवस्था की समझ की दृष्टि से प्रभविष्णु रचना है। इनकी 'भारतभवनम्' कविता भी भारतीय जनता के शोषण तथा शोषणतन्त्र का बेबाक चित्र उपस्थित करने वाली कविता है। इन्होंने अपनी देवस्तुतिपरक रचनाओं में भी प्रतीकात्मक या व्यंजनापूर्णरीति में आज के जीवन की स्थितियों को साकार कर दिया है। 'हैमी पार्वती' शीर्षक कविता में पार्वती का एक सुखी गृहिणी के रूप में चित्र अंकित किया गया है, उनका एक बेटा तो बड़ा होने के पहले ही देवसेनापति बन गया, दूसरा भी इतना बुद्धिमान् है कि दुनिया में उसकी प्रज्ञा का डंका बजता है। फिर पति का सुखद साथ और पिता हिमालय की विशाल अधित्यका। पार्वती को किस बात की चिन्ता ? वे तो वर्फानी चादर ओढ़े आराम से सो रही हैं-

तारुण्यात् पूर्वमेव प्रथितविजयिनामग्रणीः कार्तिकेयः
तीक्ष्णप्रज्ञश्च विश्वे वितरति प्रतिभां बालको वारणास्यः।
तातस्याधित्यकासु प्रमुदितवदना कान्तसान्निध्यतुष्टा
निद्रात्येषा मृडानी तुहिनवितितिभिः प्रावृतेवासमन्तात्।।

कवि ने पार्वती के प्रति भक्तिभाव भी बनाये रखा और पार्वती की छवि को आज की पारिवारिक संवेदना से जोड़ दिया है। इसी प्रकार गणेश और कार्तिकेय का चित्र बर्फ की गेंदों से खेलते बच्चों के रूप में बड़ा मनोहारी है-

नमामि हरपार्वतीप्रणयपद्मकिञ्जल्कजं
शिशुं शरवणोद्भवं गजमुखं च सिद्धिप्रदम्।
यदीयहिमकन्दुकैः शिखरकोटिसंस्पर्शिभिः
शतद्रुरपि धावनेषु शिथिलादरा दृश्यते।।

(शिव और पार्वती के प्रणय रूप कमल के पराग से उत्पन्न, शरवण में जनित शिशु कार्तिकेय और सिद्धिदाता गजानन को नमन करता हूँ, जिनके शिखर के अग्रभाग को छूने वाले हिममय कन्दुकों के कारण इस दृश्य को देखने में मग्न शतद्रु या सतलज नदी भी अपनी दौड़ शिथिल कर देती है।)

लेनिनविषयक काव्य में आपने महान् नेता के अवसान पर उसके सन्देश को भूल जाने की प्रवृत्ति पर मार्मिक कटाक्ष करते हुए कहा है-

अपि कौशेयनिचिताः स्वर्णवर्णाङ्किता अपि।
सूक्तयस्तव सीदन्ति दुर्व्याख्याविषमूर्च्छिताः।।

(सिल्क के वस्त्र पर खचित सोने जैसे वर्णो से अंकित भी तुम्हारी सूक्तियाँ दुर्व्याख्या के विष से मूर्च्छित होकर कष्ट सह रही हैं!)

कश्मीरविषयक कविताओं में नागार्जुन ने प्रकृति में स्पन्दन तथा चैतन्य खोला है। वर्फ से आवृत वन्यपरिसर में वितस्ता नदी का चित्र है-

जाड्यार्तानां सहस्रं दिशि दिशि प्रसृतं देवदारुद्रुमाणां
पाण्डुत्वग्वेष्टनान्तःशिथिलितवदना दैन्यमाप्ता वनाली।
क्षुत्क्षामे शुष्ककण्ठे विषमतलगृहे निर्झराणां कलेऽस्मिन्
शैत्याधिक्यप्रभावाद् विजडितगतिका स्विद्यतीयं वितस्ता।।

(सर्दी से पीड़ित देवदारु के हज़ारों वृक्ष दिशा में फैले हैं, पीले छालों से ढंकी भीतर शिथिल शरीर वाली वनपंक्ति दैन्य भाव से ग्रस्त है, भूख से दुर्बल तथा सूखे कण्ठ वाले तथा निर्झरों के शब्द वाले इस विषम तल-गृह में शैत्य के आधिक्य के प्रभाव से जड़ीभूत गति वाली वितस्ता नदी परेशान हो रही है।)

अमीरचन्द्र शास्त्री-अमीरचन्द्र शास्त्री का जन्म १९१८ ई. में पंजाब (अब पाकिस्तान) के जिला झंग के अहमदपुरस्याल नाम के एक गाँव में हुआ। कवि शास्त्री ने हरिद्वार के ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम में पं. घूटर झा जैसे प्रतिष्ठित विद्वान् के सान्निध्य में अध्ययन किया, आरम्भ से ही इनमें काव्य निर्माण की प्रवृत्ति रही, दिल्ली के श्रीलालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ में १९६३ से अध्यापन किया और वहीं से सेवानिवृत्त हुए।

इनकी सुप्रसिद्ध रचना 'गीतिकादम्बरी' उक्त विद्यापीठ से १९६८ में प्रकाशित हुई, यह संस्कृत के गीतपद्यात्मक बारह ग्रन्थों का संकलन रूप है। कवि शास्त्री जी ने इसमें

संकलित कुछ रचनाओं को छोड़ कर इसे कई कारणों से गीतिकाव्य-विधा की रचना माना है। इसमें संकलित ३० सर्गों का काव्य सङ्गीतवृन्दावनकाव्य एक विलक्षण गीतकाव्य है, जिसके समकक्ष आधुनिक काल में रचित किसी गीतकाव्य को स्थापित करने में किसी भी आलोचक के लिए संकोच हो सकता है।

कविवर शास्त्रीजी का समग्र व्यक्तित्व ही श्रीराधा और श्रीकृष्ण के प्रति सहज अनुराग से उल्लसित है और उनके भक्तिभाव से आप्लावित हृदय की तन्मयता इस रचना के पद-पद में अभिव्यक्ति पाती है।

कवि ने सामयिक घटनाओं के प्रभाव से भी अनेक रचनाओं को इस विशाल गीति काव्य में निबद्ध किया है। 'श्रीगान्धिगरिमा' (पृ. ४५३) लिखते हुए महात्मा गाँधी की हत्या से व्यथित होकर -"हा हा महात्मा हतः" समस्यापूर्ति शैली में प्रभावशाली ढंग से मनोभावों को अभिव्यक्ति दी है। कवि ने महात्मा जी को कपिल, गौतम, पतञ्जलि, कणाद, जैमिनि, व्यास, पाणिनि, वाल्मीकि के रूप में अपनी समर्थ शब्द-योजना द्वारा प्रस्तुत किया है। स्तुतिकादम्बरी का यह अश्वधाटीयुग्मक (पृ. ३७१) आकलनीय है-

जल्पेम किं कथमजल्पेन ना पदमनल्पेहितं विवृणुताम्,
कल्पेत कल्पतरुकल्पेऽपि किं क्वचन तल्पे स्थितस्य कुशले।
मन्दारतां श्रयति मन्दार इत्यहह वन्दारवे प्रियतमा,
नन्दात्मजाय सुखकन्दायते जगति मन्दायतेऽन्यदखिलम्।
छायाऽपि यस्य किल मायाऽभिधा जगति जाया सती विहरति,
कायाधवावितुरनायासमस्य किल साथासमुन्निमिषतः।
आधार एक इह मा धावतात् परमगाधा रसामृतझरी,
राधा हरेत मम बाधानशेषभवसाधारणाननुदिनम्।।

यह कहने की आवश्यकता नही कि यहाँ कवि की शब्द-योजना के समक्ष अर्थ का स्वारस्य नगण्य हो गया लगता है।

स्वामीनाथ पाण्डेय-स्वामीनाथ पाण्डेय हिन्दी के कवि के रूप में जाने जाते हैं और आधुनिक भावबोध से समन्वित कतिपय मुक्तक रचना इन्होंने संस्कृत में की हैं। इनका जन्म बलिया जिले के कुरेम गाँव में सन् १६३७ ई. में हुआ था। सन् १६७१ से ये फैजाबाद के साकेत महाविद्यालय में संस्कृत प्राध्यापक के पद पर कार्यरत हैं।

इनके संस्कृत गीतों में उत्प्रास, वेदना तथा सामाजिक स्थितियों का सजग चित्रण है। 'देहि वरं मे' शीर्षक गीत में आज की पाखण्ड की और छद्म की प्रवृत्ति पर व्यंग्यप्रहार करते हुए वे कहते हैं-

देहि वरं मे सुभगं धृत्वा बक इव धवलसुवेशम्
विविधसुगन्धसुगन्धितकेशम् जप्त्वा मङ्गलधाममहेशम्
लुण्ठाम्यहमिममखिलं देशम् देहि बलं मे बलदे विपुलम्।

(मुझे वरदान दे, जिससे कि मैं बगुलों की भाँति अच्छा उज्ज्वल वेश तथा विविध प्रकार की सुगन्ध से सुगन्धित केश को धारण करके मङ्गल के धाम भगवान् शिव का नाम जप कर अपने सम्पूर्ण देश को लूटूं, हे बल देने वाली माता, तू मुझे विपुल बल प्रदान करें।)

श्री पाण्डेय ने तुलसीदास के हनुमानबाहुक का संस्कृत पद्यानुवाद भी किया है, जो मौलिक रचना के समान आनन्द देता है।

जानकीवल्लभ शास्त्री–कविवर शास्त्री का जन्म बिहार के गया जिले में मैगरा नामक ग्राम में १६१५ ई. में हुआ। इनके पिता पं. रामानुग्रह शर्मा संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। अपने पिता से पारंपरिक पद्धति से अध्ययन करते हुए जानकीवल्लभ ने शास्त्री तक परीक्षा उत्तीर्ण की और अठारह वर्ष की आयु में साहित्याचार्य हो गये। इसके पश्चात् काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में इन्होंने अध्ययन किया। छात्रावस्था में ही इनकी संस्कृत काव्यरचना की प्रवृत्ति ने काशी के पंडितसमाज को प्रभावित किया था। उन्नीस वर्ष की अल्पायु में इन्होंने अपनी संस्कृत मुक्तक रचनाओं का संकलन 'काकली' (मैगरा, १६३५ ई.) प्रकाशित किया। अनंतर ये हिन्दी के कवि के रूप में भी प्रतिष्ठित हुए और छायावादी युग के उल्लेखनीय कवियों में इनकी गणना होती है। पर किशोरावस्था से लेकर अभी तक संस्कृत गीतरचनाओं का इनका क्रम बना हुआ है। काकली के अतिरिक्त बन्दीजीवनम् इनका स्वतन्त्रतासंग्राम की पृष्ठभूमि पर आधारित खण्डकाव्य है, जो अप्रकाशित है। वस्तुतः इनकी अनेक संस्कृत प्रणीत-रचना अप्रकाशित हैं या लुप्त हो गयी हैं।

कवि जानकीवल्लभ ने आधुनिक संस्कृत काव्य में नये युग का सूत्रपात किया। उन्होंने प्राचीन काव्यधारा को आज के साहित्य की नयी भावचेतना से जोड़ा। उनके गीतों में अनुप्रास का निर्वाह, पदावली की कोमलता तथा सप्राणता और रागात्मकता और वैयक्तिक करुणा कूट-कूट कर भरी है। वे संस्कृत कविता में रोमांटिक प्रवृत्ति के पुरोधा कहे जा सकते हैं। आज की संस्कृत कविता को उन्होंने अपनी प्रयोगशीलता के द्वारा नये आयाम दिये। ग़ज़ल जैसी नयी विधाओं में भी उन्होंने रचना की। गीतगोविन्द जैसी मधुर कोमलकान्तपदावली में आज की संवेदनाओं को उन्होंने स्पन्दित किया है। 'भारतीवसन्तगीतिः' में अपनी कविता का नवावतार घोषित करते हुए वे कहते हैं-

निनादय नवीनामये वाणि वीणाम्
मृदुं गाय गीतिं ललित-नीति-लीनाम्।।

'भ्रमरगानम्' शीर्षक गीत उपालम्भ और प्रतीकविधान का अच्छा उदाहरण है-

सरसि निविश्य मुखं सुखं चुचुम्बिथ नवरसं चषन् सन्,
सन्मुखमसाम्प्रतं साम्प्रतमपि कृतवानन्वरविन्दम्-

विन्दन्नानन्दं परात् परं कमपि नवीनममन्दम्।
इन्दिन्दिर, निन्दसि मकरन्दम् ?

(रे भंवरे, तू ने सरोवर में प्रवेश करके मुख का सुखपूर्वक चुम्बन लिया, नव रस को चूसा, उपयुक्त भी अरविन्द को तू ने अनुपयुक्त बना डाला, कुछ नवीन समधिक आनन्द लेता हुआ तू उसके मधु की निन्दा कर रहा है ?)

उस समय काशी की पण्डितमण्डली में अग्रणी श्रीमन्महादेवशास्त्री ने सन् १६३५ ई. में ही कवि जानकीवल्लभ के काव्यवैशिष्ट्य को सराहते हुए यह पद्य लिखा था-

गोविन्दो गोनविन्दः कविरकविरसौ नीलकण्ठोऽपकण्ठः
क्षेमो न क्षेमपक्षो गलितमदभरः फल्गुबन्धः सुबन्धुः।
सत्काव्योल्लासलीलाकलितकलकले काकलीकोकिलेऽस्मिन्
द्राक्षामाधुर्यदीक्षाक्षममपि गणये पण्डितम्षण्डमेव।।

(सत्काव्य के उल्लास की लीला से कलरव करने वाले 'काकली' के इस कोकिल के प्रस्तुत हो जाने के कारण गोविन्द (गीतगोविन्द के कर्ता जयदेव?) वाणी से रहित (मूक हो गये, कवि (?) भी अकवि बन गये, नीलकण्ठ (दीक्षित) भी नीरस कण्ठ वाले हो गये, क्षेम (क्षेमेन्द्र) का भी कल्याण न रहा, और मद-भार उनका उतर गया, और सुबन्धु भी हल्के पड़ गये, यहाँ तक कि द्राक्षा के माधुर्य की दीक्षा में समर्थ पण्डित (पण्डितराज़ ?) को भी षंड (नपुंसक) ही मानता हूँ।)

कवि जानकीवल्लभ शास्त्री ने राधा को ले कर हिन्दी और संस्कृत दोनों भाषाओं में विपुल काव्य सर्जना की है, जिसमें माधुर्य का अपूर्व परिपाक है। आधुनिक भावबोध के साथ-साथ प्राचीन परंपरा के समावेश की दृष्टि से इनकी उपलब्धियाँ संस्कृत काव्य रचना में सर्वथा स्पृहणीय हैं।

बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते-पं. बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते का जन्म ३०-११-१६१८ को हुआ। इनके पिता श्री नारायणशास्त्री खिस्ते काशी के संस्कृत पण्डितों और रचनाकारों में विख्यात रहे हैं। खिस्ते जी ने म. म. दामोदरलाल गोस्वामी आदि अपने समय के श्रेष्ठ गुरुजनों से विद्याध्ययन किया और संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी में अध्यापन कार्य करते रहे। सूर्योदय, कविभारतीकुसुमाञ्जलिः, दूर्वा आदि पत्र-पत्रिकाओं में इनकी पद्यरचनाएँ तथा समस्यापूर्तियाँ प्रकाशित होती रही हैं। हाल ही में इनका काव्यसंग्रह 'कल्लोलिनी' भी प्रकाशित हुआ है।

खिस्ते जी की पद्य रचना में अनुप्रास का चमत्कार अत्यंत आकर्षक रहता है। इन्होंने अपने स्फुटकाव्यों में विभिन्न विषय लिखे हैं, अनेक कविताओं में राष्ट्रीय भावना तथा राष्ट्रनेताओं के प्रति श्रद्धा की अभिव्यक्ति है। प्रकृतिचित्रण या ऋतुवर्णन विषयक इनके काव्य बड़े रमणीय हैं, और उनमें कहीं-कहीं समसामयिक स्थितियों का भी मार्मिक संकेत

है। 'जयत्यसौ वसुन्धरा' शीर्षक कविता में धरती की वन्दना में वे कहते हैं-

तुषारशैलशेखरप्रभालसद्दिगन्तरा
स्रवत्तरङ्गिणीसमप्रसारहारभासुरा।
ललाटकुङ्कुमायितोदयानुरक्तभास्करा
पवित्रसामसस्वरा जयत्यसौ वसुन्धरा।।

(यह धरती सबसे श्रेष्ठ है, जहाँ हिमालय पर्वत के शिखरों की प्रभा से दिगन्तर शोभायमान हैं, जो बहती हुई नदियों से बराबर फैलाव के हार से चमकदार है, जिसके ललाट के कुंकुम के समान उदयकाल के सूर्य लगते हैं तथा जो पवित्र साम गान से सस्वर है।)

कहीं-कहीं अनुप्रास और यमक के सायास निर्वाह में खिस्ते जी के काव्य में रस-भाव की दृष्टि से क्षीणता आ गयी है। प्राचीन परिपाटी का अनुकरण इनमें अधिक है। उदाहरण के लिए 'कृष्णमेघः' शीर्षक काव्य का यह पद्य-

शम्पा यस्मिन्नकम्पा निवसति जगतां पालने सानुकम्पा
यस्य श्लाघां निलिम्पाः श्रुतिमधुरपदैः साधु सम्पादयन्ति।
पुण्यैः कैश्चिद् विवेकी सरसकवितया जायते यस्य केकी
तृष्णां व्याधूय पुष्णात्वयममृतझरैर्वृष्णिभूः कृष्णमेघः।।

(जिसमें विद्युत् निश्चल होकर तथा जगत् के पालन कर्म में कृपाशील होकर निवास करती है, भौंरे कर्ण प्रिय गुंजार से जिसकी प्रशस्ति करते हैं, किन्हीं पुण्यकर्मों के कारण मयूर सरस कविता से विवेकशाली हो जाता है, वह वृष्णिकुल में उत्पन्न कृष्ण रूप मेघ अमृत-रस से तृष्णा को समाप्त कर स्वजनों को सम्पुष्ट करता है।)

रतिनाथ झा-पं. रतिनाथ झा का जन्म पन्द्रह अगस्त १६२२ ई. के दिन बस्ती जनपद के तलपुरवा ग्राम में हुआ। काशी में अध्ययन समाप्त करके ये वहीं हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापन करते रहे और अब सेवानिवृत्त होकर अपने जन्मधाम में रहते हैं। काशीपण्डितपरिषद् द्वारा इन्हें 'पण्डितराज' की उपाधि से सम्मानित किया गया था। अरविन्दशतकम्, मालवीयप्रशस्तिः, गान्धीशतकम्, आदि खण्डकाव्यों, महावीराभ्युदयमहाकाव्य तथा असंख्य स्फुट रचनाओं और समस्यापूर्तियों के द्वारा काशी के कविसमाज में इनकी बड़ी ख्याति रही है। पदावली की सुकुमारता, भावों की मसृणता और कल्पनाओं की अभिरामता के कारण इनकी पद्य रचनाएँ प्रशस्य हैं। इनकी प्रकृतिवर्णनपरक कविताएँ बड़ी सरस हैं। प्राचीन शैली और आलंकारिक भाषा में इन्होंने नवीन विषयवस्तु उठायी है। उदाहरण के लिये मालवीयप्रशस्तिः का एक पद्य-

किं धर्मो धृतविग्रहः, किमुदितो निर्लाञ्छनश्चन्द्रमाः
सामोदो मलयानिलः सुमनसां किं वा गृहीताकृतिः।
भारत्या यशसां चयः किममलः किं वाग्मितायाः स्मित-
स्पन्दः किं कविरेव नीतिविषये श्रीमालवीयोऽभवत् ?।।

(श्री मदन मोहन मालवीय के रूप में क्या धर्म ने ही शरीर धारण कर लिया है ? क्या लाञ्छनरहित चन्द्र उदित हुआ है ? क्या मलयानिल सुगन्धयुक्त हो गया ? सुमनों की आकृति बन गयी ? क्या भारती का यशःसमूह निर्मल रूप में प्रकट हो गया ? क्या वाग्मिता का स्मित स्पन्दित है ? या नीति के क्षेत्र के कवि शुक्राचार्य प्रकट हैं ?)

इनकी अनेक समस्यापूर्तियों में समकालीन विडंम्बनात्मक स्थितियों पर तीखा कटाक्ष है। उदाहरण के लिये-

अपि प्राज्यं राज्यं तृणमिव परित्यज्य सहसा
स्वधर्मानुष्ठानैर्जननमनयन्नर्चिततरम्।
इदानीं तत्रैवाभ्युदयमधिगन्तुं नयविदां
चरित्रैरस्माकं न हसितमहो नापि रुदितम्।।

(जहाँ राज्य को भी तृण की भाँति सहसा त्याग कर स्वधर्म के अनुष्ठान द्वारा नीतिज्ञ जनों ने अपने जीवन को अर्चिततर बनाया वहीं अब अभ्युदय प्राप्त करने के लिए राजनीतिज्ञों के कार्यकलाप से हमें न हँसना आता है और न ही रोना !)

देश में व्याप्त अव्यवस्था, अनाचार, महंगाई और जनसामान्य के त्रास का उल्लेख करते हुए एक अन्य समस्यापूर्ति में कविवर झा कहते हैं-

जनाक्रोशे व्याप्ते विलयमुपयातेऽथ नियमे
प्रवृद्धे सङ्घर्षे स्वपति जनहर्षे प्रतिदिशम्।
महार्घत्वे घोरे जनमनसि कामं कलुषिते
नयज्ञानां घोषो विफलमिह वाणीविलसितम्।।

(यहाँ चारों ओर जनाक्रोश व्याप्त है, कोई नियम नहीं रह गया है, संघर्ष बढ़ गया है, प्रत्येक दिशा में जनता के हर्ष को नींद आ गयी है, घोर महगाई है और जन-मन कलुषित है, ऐसी स्थिति में नीतिज्ञजनों की आवाज विफल वाग्विलास हो गयी है।)

रामनाथ पाठक 'प्रणयी' - आरा (बिहार) के निवासी संस्कृत के गीतकार स्व. कवि 'प्रणयी' की कीर्ति का आश्रय उनकी प्रसिद्ध रचना 'राष्ट्रवाणी' है। इसमें सोलह तथा चौदह मात्राओं में निबद्ध गीत हैं तथा उन पर कवि की शैली तथा व्यक्तित्व का प्रभाव परिलक्षित होता है। इस संग्रह में कवि ने राष्ट्र, समाज तथा व्यक्ति की समस्याओं के संकेत के साथ उनका समाधान भी सुझाया है। कवि युवाजन से कहता है, हे तरुण, तुम रण-भेरी को

बजाओ, युद्ध वीर के अभिमान को याद करो, गरल-पान को भी पीयूषपान समझो-

तरुण, रणभेरीं निनादय,
स्मर समरमनुजाभिमानम्
गरलमपि पीयूषपानम्
किमति मतिमायावितानम् ? धिङ्नु नात्मानं प्रवादय।

'जयतु भारतवर्षदेशः' शीर्षक कवि 'प्रणयी' का गीत समग्र भारत राष्ट्र की गरिमा को व्यंजित करने वाला एक राष्ट्रगीत है। स्वोदरपूर्तिपरायण विलासिता से ग्रस्त मनुष्य को धिक्कारते हुए कवि कहता है-

धिग्जीवनं जीवति नरः
भुक्त्वैव कृतकृत्यः परम्
शेते सुखेन निरन्तरम्,
भारं वहन्नप्यात्मना यतते न हन्त ! यथा रवरः।

वह पीडित भारत माता को सम्बोधित करते हुए कहता है-

मातः किन्न गता ते पीडा,
कथय कथं रोदिषि नतभाला,
त्यक्तमुकुटमणिमञ्जुलमाला,
विद्धं वाग्बाणैर्हृदयं वा व्यथयति काऽपि कुलीना व्रीडा।

मधुकर गोविन्द माईणकर-मधुकर गोविन्द माईणकर का जन्म १५-३-१९१६ ई. को हुआ। इन्होंने बम्बई विश्वविद्यालय से एम. ए. (संस्कृत-अर्धमागधी, मराठी-पालि) तथा पी. एच्. डी. (१९४३ ई.) और डी. लिट् १९६२ ई. की उपाधियाँ प्राप्त कीं तथा विशिष्ट योग्यता के कारण अनेक पुरस्कार भी इन्हें अध्ययनकाल में मिले। सांगली के विलिंग्टन महाविद्यालय (१९४०-५६ ई.) पूना के फर्ग्यूसन महाविद्यालय (१९५१-६७ ई.) दिल्ली विश्वविद्यालय तथा बम्बई विश्वविद्यालय (१९६७-७८ ई.) में ये प्राध्यापक रहे और बीच में फर्ग्यूसन महाविद्यालय के प्राचार्य तथा फर्ग्युसन सोसायटी के सचिव का कार्य इन्होंने किया। १९७८ ई. से मृत्युपर्यन्त ये भण्डारकर शोधसंस्थान, पूना के निदेशक का कार्य करते रहे। १७ सितम्बर, १९८१ ई. को इनका देहावसान हुआ।

विभिन्न पाण्डित्यपूर्ण उत्कृष्ट ग्रन्थों के अतिरिक्त श्री माईणकर ने संस्कृत में दो मुक्तक काव्यों की रचना की-स्मृतितरङ्गम् तथा गायिकाशिल्पकारम्। दोनों काव्य उनके द्वारा स्वयं पूना से क्रमशः १९७८ ई. तथा १९८० ई. में प्रकाशित किये गये।

'स्मृतितरङ्गम्' मन्दाक्रान्ता छन्द में निबद्ध एक शोकगीतिकाव्य है। इसमें करुण रस

अंगी है। पत्नी के निधन के अनन्तर किसी व्यक्ति का शोक कवि ने यहाँ अनुभूति की इतनी अन्तरंगता और मार्मिकता के साथ व्यक्त किया है कि इसमें कवि की पूर्ण आत्माभिव्यक्ति प्रतीत होती है। मेघदूत का गहरा प्रभाव इस रचना पर है, परन्तु कवि ने आधुनिक मध्यवर्गीय सम्भ्रान्त परिवार के वातावरण का चित्रण अनुभव की प्रमाणिकता के साथ किया है। प्राचीन छन्द और पुरातन पदावली में यहां आधुनिक मन और आज के व्यक्ति का वह भावबोध है, जो समकालिक होते हुए भी चिरन्तन है। दाम्पत्य और सौहार्द की अनन्यनिष्ठा, विरह की तीव्रता और भावसान्द्रता में यह छोटा सा काव्य अद्वितीय है। स्त्री के हृदय की सुकुमारता और गार्हस्थ्यजीवन की करुण-मधुर स्मृतियों का चित्रण हृदयद्रावक है। विधुर नायक अपनी दिवंगत पत्नी की एक-एक बात याद करता है। पुष्पकेलि (बेडमिंटन) के खेल के प्रसंग में विवाह के पूर्व नायिका से नायक का परिचय, विवाह के अनन्तर घर बसाने के निमित्त से दोनों के बीच हुई छोटी-छोटी बातें, पत्नी की दिनचर्या इस सबका चित्रण सूक्ष्मता के साथ किया गया है, और स्मृति व्यभिचारी करुण रस के स्थायी भाव के साथ अंग के रूप में गहरी अनुभूतिप्रवणता के साथ इस काव्य में आया है। दिवंगता प्रेयसी के एक-एक आभूषण को देखता है, जिसे वह छोड़ कर गयी है, और उससे जुड़ी हुई एक-एक घटना उसकी आँखों के आगे नाच जाती है। नीलम से जुड़ी सगाई के समय पत्नी की पहनाई गयी अँगूठी अब उसकी ही तरह दौर्भाग्योपहत हो कर पड़ी हुई है-

एषा रम्या मरकतचिता मुद्रिका वाग्विवाहे
प्रेम्णा न्यस्ता मदनलतिके कोमले ते कराग्रे।
स्थानाद् भ्रष्टा मलिनमलिना राजते नापि दीना
मन्ये तस्मादहमिव सखि क्षीणपुण्या सखी ते।। (४/४)

करुणरस के अंग के रूप में स्मर्यमाण सम्भोग श्रृंगार का उद्रेक काव्य में समुचित हुआ है। आधुनिक मध्यवर्गीय परिवार का वातावरण पृष्ठभूमि में रसास्वाद को पुष्ट करता है। स्मृतियों के माध्यम से भारतीय गृहिणी और आधुनिक होते हुए भी शीलसम्पन्न संवेदनशील महिला की छवि रसभूमि को और भी दृढ़ करती है। पत्नी के द्वारा पाला गया पामेरियन कुत्ता, टंकी में तिरती बतखें, घर में घोसला बनाने वाली चिड़ियाँ ये सभी विरहविधुर पति को प्रेयसी की स्मृति से व्यथित दिखते हैं। पत्नी का बतखों को खिलाना, बतख के बच्चे का पहली बार माँ की चोंच से दाना चुंग लेने पर उसका हर्ष-इस प्रकार की छोटी-छोटी अनेक घटनाओं की स्मृतियों के द्वारा इस छोटे से काव्य में रस का महासागर कवि ने उडेल दिया है।

दृष्ट्वा भूमौ पतनविकलं वर्तिकायाः शिशुं तं
वात्सल्यात् तं परमकृपयाऽपोषयः पाककक्षे।

मार्जाराद्‌धि प्रचुरमवनं सारमेयात् कृतं च
याते तस्मिन् वियति चटुले त्वाश्रुनेत्रां स्मरामि।। (५/७)

'गायिकाशिल्पकारम्' भी इसी प्रकार की भावोच्छ्वासमयी करुणगाथा है। कथात्मक होने से इसे खण्डकाव्य भी कहा जा सकता है। यह विप्रलम्भ का काव्य है। गायिका और शिल्पकार एक दूसरे से प्रेम करते हैं, पर तनिक सी गलतफहमी के कारण गायिका अपने प्रेमी को त्याग देती है। अन्त में दोनों का मिलन होता है। अनुताप, विरहाकुलता और भावुकता से सारा काव्य सराबोर है।

माईणकर कालिदास जैसे रससिद्ध महाकवियों से भी प्रभावित हैं और अंग्रेजी या योरोपीय साहित्य के आधुनिक कवियों से भी। संस्कृत की कालजयी अभिव्यक्ति में उन्होंने रोमांटिक कविता की नयी प्रवृत्ति का संचार किया है।

परमेश्वर अय्यर-परमेश्वर अय्यर का जन्म केरल में कालीकट के एक तमिलभाषी ब्राह्मण परिवार में १६ जुलाई १९१६ ई. को हुआ। इनके पूर्वज तमिलनाडु में तंजौर में निवास करते थे तथा उनमें से कुछ को राजकीय सम्मान और राजकवि का सत्कार भी मिला था। विद्यालय में संस्कृत तथा गणित में उत्तम अंक प्राप्त करने के लिये परमेश्वर को छात्रवृत्ति मिली। इसी समय से महात्मा गाँधी के त्याग और आन्दोलन से प्रभावित हो कर उसमें सम्मिलित हो गये और जेलयात्रा भी इन्होंने की। १९३३ से १९३९ ई. के बीच इन्होंने त्रिपुणित्थुरा के प्रसिद्ध संस्कृत महाविद्यालय में अध्ययन किया तथा न्यायदर्शन और वेदान्त में विशेषज्ञता प्राप्त की। इसी काल में इन्होने मलयालम, हिन्दी, संस्कृत तथा तमिल भाषाओं में साहित्य-रचना भी आरंभ की। १९३९ ई. से १९७४ ई. की अवधि में ये स्विटरजरलैण्ड में महर्षियूरोपियन रिसर्च विश्वविद्यालय में संस्कृतसाहित्य के प्राध्यापक रहे।

अय्यर जी की गीतिकाव्य रचनाओं में 'देवीनवरत्नमाला' (स्तोत्र) 'भारतगौरवम्' तथा 'आभाणकमञ्जरी'"(देववाणी परिषद, दिल्ली, १९८१) उल्लेखनीय हैं। इनकी अनेक काव्यरचनाएँ साहित्यकौतुकम् में संकलित हैं। इस कृति में शार्दूलविक्रीडित छन्द में २०० पद्य पच्चीस अष्टकों में संगृहीत किये गये हैं। इन अष्टकों के विषय विविध हैं यथा- कालिदास, योषा, द्रविण, विद्वान्, राष्ट्रनेता, चलचित्र, भिक्षुक, निद्रा आदि। ग्रामाष्टक में ग्राम जीवन का चित्रण करते हुए कवि अय्यर ने लिखा है-

ग्रीष्मे तिग्मकरे तपत्यनुदिनं वर्षे सुवृष्ट्यन्विते
हेमाहेषु च शीतकम्पिततनुः पुण्यार्जनायोद्यतः।
शश्वत् त्वं खलु लोकसंग्रहरतस्तस्मादकस्मादपि
ग्राम त्वां यदि विस्मरेयमधुना पापार्जनं मे भवेत्।

(हे ग्राम, प्रतिदिन ग्रीष्मकाल में जब सूर्य तपता है, जब बरसात होती है, जाड़े के दिनों में शीत के कारण काँपते हुए, पुण्यार्जन के लिए तत्पर तुम लोक-संग्रह में जुटे रहते

हो-यदि एक बार भी अकस्मात् मैं तुम्हें याद न करूं तो पाप का भागी होऊंगा।) आभाणकमञ्जरी में इन्होंने अंग्रेजी की कहावतों का सरल पद्यात्मक अनुवाद किया है।

श्री. भि. वेलणकर-श्री वेलणकर का जन्म सारन्दग्राम (जि. रत्नागिरि, महाराष्ट्र) में १६१५ ई. में हुआ। इनकी शिक्षा बम्बई के विल्सन कालेज में हुई। १६३७ ई. में एम. ए. में सर्वप्रथम स्थान तथा स्वर्णपदक आपने प्राप्त किया। ये म. प्र. में डाकतार विभाग में उच्च पद पर कार्यरत रहे तथा सेवानिवृत्ति के पश्चात् बम्बई में निवास करते हैं और 'गीर्वाणसुधा' संस्कृत मासिक का संपादन करते हैं।

आप पिछले पचास वर्षों से संस्कृत में निरन्तर साहित्य रचना करते आ रहे हैं, तथा नीति या रागकाव्य, मुक्तक, खण्डकाव्य, लहरी, नाट्य या गीतिनाट्य, गद्य आदि विविध विधाओं में विपुल मात्रा में आपने रचनाएँ की हैं। अपने नाटकों का अभिनय भी आप कई बार करवा चुके हैं।

गीतिकाव्य के क्षेत्र में आपकी मुख्य रचनाएँ हैं-जीवनसागरः, जयमङ्गला, जवाहरचिन्तनम्, बालगीतम्, विरहलहरी, प्रीतिपथे स्वैरविहारः, स्वच्छन्दम्, जवाहरजीवनम्, नैमित्तिकम्, निसर्गगीतम्, तथा संस्कृतनाट्यगीतम्।

संगीत का अच्छा ज्ञान होने के कारण अपनी गीतियों की स्वरलिपि इन्होंने स्वयं तैयार की है तथा उनका गायन भी करवाते रहे हैं। विरहलहरी में इस प्रकार के पच्चीस से अधिक गीत हैं। ये गीत पं. जवाहर लाल नेहरू के अवसान के अनन्तर १६६४ ई. में लिखे गये। इन सभी में नेहरू जी के चिन्तन को गीतों में ढाल कर प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार का लेखन सूचनाप्रधान या अनुवादात्मक अधिक है और उसमें चर्वित-चर्वण इतना रहता है कि रसास्वाद नहीं हो पाता। वस्तुतः वेलणकर जी का अधिकांश लेखन इस प्रकार का है। गेयकाव्य या रागकाव्य के द्वारा संस्कृत भाषा को लोकप्रिय बनाया जा सकता है-इस दृष्टि से अनेक संगीतज्ञ संस्कृतविद् सरल गीतों की रचना कर रहे हैं, जो काव्यतत्त्व और औदात्त्य से शून्य होती हैं। नये प्रयोग की दृष्टि से वेलणकर जी की 'संसारयात्रा' आकर्षित करती है, जिसमें समाज के विभिन्न वर्गों या जनजीवन को गीतों का विषय बनाया गया है।

बच्चूलाल अवस्थी-पं. बच्चूलाल अवस्थी का जन्म ६.८.१६१८ ई. को उत्तर प्रदेश के जिला लखीमपुर खीरी में हुआ। व्याकरणशास्त्री, दर्शनशास्त्री, साहित्याचार्य, व्याकरणाचार्य, एम. ए. आदि परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कीं तथा अध्यापन कार्य संस्कृत पाठशाला, लखीमपुर खीरी के महाविद्यालय तथा सागर विश्वविद्यालय में किया। सम्प्रति ये कालिदास अकादमी, उज्जैन में आचार्यकुल के अधिष्ठाता के पद पर कार्यरत हैं।

हिन्दी में अनेक पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों के अतिरिक्त इनके अब तक अप्रकाशित ग्रन्थों में ५००-५०० पृष्ठों के चालीस खण्डों में 'भारतीय दर्शनशास्त्र बृहत्कोश' लगभग बीस हजार पृष्ठों का अद्वितीय बृहत्कोश है तथा पाण्डित्य और अध्ययन की व्यापकता और

मौलिकता का इस शताब्दी का एक महान् निदर्शन है। अवस्थी जी का पाण्डित्य जितना व्यापक और तलावगाही है, उनका काव्य उतना ही भावपूर्ण, रागात्मक संवेदनों तथा कोमल कल्पनाओं से समवेत है। इनकी शताधिक मुक्तक, लघुकाव्य या ग़ज़ल रचनाएँ अप्रकाशित हैं, कुछ का प्रकाशन दूर्वा, अर्वाचीन संस्कृतम् आदि पत्रिकाओं में हुआ है। नेता अपने मार्ग के कण्टक साफ करता फिरता है, दूसरों के रास्ते में तो वह काँटे ही बिछाता है, जिनकी चुभन से जनता अभी इस समय खून बहा रही है, और नेता है कि मगरमच्छ के आँसू बहा रहा है-

नेता कण्टकशोधनाय यतते स्वस्यैव मार्गस्य यत्
तस्मात् कण्टकजालमेव विकिरत्यालोकतन्त्राध्वनः।
लोकोऽयं क्षतजप्लुताङ्घ्रिरघुना कार्पण्यभृद् दूयते
नेता रोदिति नक्रबाष्पविकलं तत्पीडया पीडितः।। *(अंका- १३/१, १९८१)*

अवस्थी जी की अन्योक्तिपरक या प्रतीकात्मक रचनाएँ अपनी ढंग की बेजोड़ कृतियाँ हैं। इनमें कथासंविधान की उनकी मौलिकता, कल्पना, व्यंग्य का पैनापन और आज के समाज की स्थितियों पर गहरी चुटकी देखते ही बनती है। प्रख्या-१ में प्रकाशित 'एकदन्तवृत्तम्', दूर्वा में प्रकाशित 'दस्युशुनकीयम्' तथा अर्वाचीनसंस्कृत में प्रकाशित 'हृदयपरिवर्तनम्' आदि ऐसी कविताओं के कुछ उदाहरण हैं। इनकी कविता में शैली के वैविध्य की परिधि भी सुविस्तीर्ण है। ग़ज़लगीतियों में जहाँ बड़ी छोटी-मोटी पङ्क्तियों में सरल भाषा में ये गहरी बात कह जाते हैं, अपनें स्तोत्रकाव्यों में चिन्तन और भावगाम्भीर्य के अनुरूप गौडीरीति, जटिल प्रौढ पदावली का सटीक उपयोग करते हैं। वस्तुतः अवस्थी जी आधुनिक संस्कृत साहित्य के उन विरले रचनाकारों में हैं, जिनकी काव्यात्मक उपलब्धियों का गहराई से आकलन होना चाहिए।

हरिदत्त पालीवाल 'निर्भय'-कवि निर्भय का जन्म कायमगंज (जिला-फर्रूखाबाद) के निवासी महामहोपाध्याय व्याकरणाचार्य पं. मथुराप्रसाद शर्मा के घर १९२७ ई. में हुआ। बाल्यकाल से ही काव्यरचना के साथ सामाजिक क्रान्ति और आन्दोलन में इनकी प्रवृत्ति थी। किशोरावस्था में ही ये सुभाषचन्द्र बोस की सेना में भर्ती हो गये। सशस्त्र क्रान्ति से जुड़ी अनेक गीतिविधियों में इनकी अग्रणी भूमिका थी-फर्रूखाबाद बैंक षड़यन्त्र, अलीगढ़ बम विस्फोट आदि कई योजनाओं का इन्होंने नेतृत्व किया। इसके साथ ही अंग्रेजों के अत्याचार और भारतीय जनता की दीनदशा का अनुभव करते हुए उस काल में आग उगलने वाले संस्कृतगीतों की रचना भी ये करते रहे। अकालपीडित देश की भयावह दशा का चित्र खींचते हुए इन दिनों इन्होंने लिखा-

एकं तन्मृतनग्नाङ्गं निष्प्रच्छदमातपशीतम्
योरपगृध्राणामेकं कवलमहहा रक्तच्युतिदिग्धम्

एकं प्रेतवनं तद्, यत्र न कश्चिच्छोकालापी
एको भ्राम्यन्नात्मा, यस्य न गेहः कोऽपि क्वापि।
(शङ्खनादः, पृ. १८०)

(एक वह मरे हुए कफ़न रहित, आतप तथा शीत में पड़ा नंगा शरीर और योरपीय गीधों का खून से सना एक ग्रास ! एक वह प्रेतवन (श्मशान) जहाँ कोई रोने वाला नहीं, और एक भटकती हुई आत्मा, जिसका कहीं कोई घर नहीं।)

क्रान्ति के सैनिकों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा -

अटलक्रान्तेर्गायत गीतं प्रलयताण्डवं मण्डयत।
शान्तं गगनं विशोभयत द्विषतां हृदयं कम्पयत।
स्वतन्त्रतासम्मदमत्ता बलिवेदीवर्त्माध्वन्या रे।
कथं न बिभियाद् योऽरिजनः शिरसा धृतमृतिशीर्षण्या रे।
अद्य निराशयामाशायाः पुनरपि निसृतं सञ्चारम्।
बन्दिनो भङ्क्त कारागारम्।।

(स्वतन्त्रता के मतवालों ! हे बलि-वेदी के मार्ग के पथिकों ! तुम अविचल क्रान्ति का गीत गाओ, प्रलय का ताण्डव मचाओं, शान्त आकाश को विक्षुब्ध कर दो, शत्रुओं के हृदय को कंपा दो, तुम्हारा शत्रु तुम से क्यों न डरे ! जो कि तुम सिर पर कफन बाँध चुके हो! आज निराशा में आशा का पुनः सञ्चार हो चला है, हे बन्दियो, कारागार को तोड़ डालो।)

क्रान्तिकारी आन्दोलन में कार्यरत रहते हुए इन्हें वर्षों तक जेलयात्रायें करनी पड़ीं। फर्रूखाबाद के केन्द्रीय कारागार में इनको मैथिलीशरणगुप्त, आचार्य नरेन्द्रदेव, सम्पूर्णानन्द, स्वामी सत्यदेव आदि विभूतियों का सान्निध्य मिला। गान्धी जी की अहिंसक नीति से ये सहमत न थे, और स्वातन्त्र्यप्राप्ति तक निरन्तर क्रान्तिकारियों का साथ देते रहे। क्रान्ति की भावना की अभिव्यक्ति तथा 'करो या मरो' के भाव का शङ्खघोष इनकी कविता में तेजस्वी रूप में गुंजित है-

यद्यस्ति जीवितव्यं क्राम्याम देहलीं तत्
यद्यस्ति वर्तितव्यं क्राम्याम देहलीं तत्।
यद्यस्ति कर्म कार्यं क्राम्याम देहलीं तत्
यद्यस्ति लभ्यमन्नं क्राम्याम देहलीं तत्।।

(१६४७ ई. में प्रकाशित देवभाषा संकलन से)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् निर्भय जी का रचनाकार अपनी इसी आग और ऊर्जा के साथ सक्रिय रहा। उन्होंने सन् १६४७ की स्वतन्त्रता को वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं माना,

इस काल में हुए साम्प्रदायिक दंगों और देश में व्याप्त अव्यवस्था के मार्मिक चित्र अपनी गीतियों में अंकित किये-

स्वमातृमूर्धखण्डनं स्वतन्त्रतात्मकः शिशु-
र्विधाय हाऽवतीर्णवान् समुत्सवं वितीर्णवान्।
अनाप्य हा तटं तरौ तु कर्णधार ईयिवान्
अनेकया प्रवातघातबाधनं समेयिवान्।।

XX XX XX

पपात पातकायुतेर्युतोऽमरेन्द्रसद्मनि
सुपुण्यवांश्च रौरवे किमेवमस्ति लक्ष्यताम्
स्वराज्यमागतं सुराजता परन्तु नागता।।

(१६४६ ई. प्रकाशित कविः संकलन से)

(स्वातन्त्र्य के शिशु ने अपनी माता के मस्तक को काट करके अवतार लिया है और जन्मोत्सव मनाया है, कर्णधार बिना तट को पाये पेड़ पर पहुँच गया है और अनेक बार झंझावात के घात की बाधा को प्राप्त कर चुका है।

पातकों से युक्त पुण्यवान् वह स्वर्ग में पहुँचा है अथवा रौरव नरक में यह देखें। स्वराज्य प्राप्त हुआ, किन्तु सु-राजता नहीं मिली)

निर्भय जी को स्वतन्त्रता आन्दोलन में कार्यरत रहने के कारण १६४० ई. में छः मास, १६४२ ई. से साढे तीन वर्ष तथा १६४६ ई. से पुनः फारवर्ड ब्लाक के आन्दोलन में सहभागिता के कारण जेल में रखा गया। जेल तथा जेल के बाहर आ कर ये वर्षों तक रुग्ण और शय्याधीन ही रहे। पर इस स्थिति में भी संस्कृत में इनका लेखन कार्य अविरल चलता रहा। हिन्दी में भी इनका विपुल लेखन है, तथा संस्कृत में क्रान्तिकारियों के संस्मरण या उनके जीवन पर खण्डकाव्य लिखकर इन्होंने आधुनिक संस्कृत काव्य को अप्रतिम योगदान दिया है।

संस्कृत में इनकी मुख्य काव्य रचनाएँ हैं- परिवर्तनम्, क्रान्तिः, जनघोषः, शङ्खनादः, राष्ट्रध्वनिः, वन्दी, अग्रगामिनं प्रति, हृदयाग्निः, कृषकाः, श्रमिकाः, सुभाषबोसचरितम्, भगतसिंह-चरितम्, रामप्रसादविस्मिलस्मृतिः, रावणायनम्, अर्चना, प्रियतमा आदि। रूसी और जर्मनी कविताओं के संस्कृत अनुवाद भी इन्होंने किये हैं तथा संस्कृत और हिन्दी में क्रान्ति और क्रान्तिवादी साहित्य के विषय में गद्य में भी प्रचुर लेखन किया है। इनका बहुत सा काव्य कारागार में निवास के समय लिखा गया। इनके परवर्ती काव्य में स्वाभिमान और मनस्विता यथावत् है, पर आजीवन भोगे कष्टों के कारण कहीं-कहीं पीडा का स्वर भी मुखरित है-

निजधर्मं चेद् व्यक्रेष्यमहं, हर्म्याणि तदाध्यकरिष्यमहम्।
त्वं स्वार्थसिद्धये जनतायां कुरु कपटपाटवैर्दलबन्धम्।। (तरङ्गिणी, पृ. ५१)

(यदि मैंने अपना धर्म बेच दिया होता तो बड़े महल बनवा लेता और तुम स्वार्थ की सिद्धि के लिए जनता में दल-बंदी करो !)

मञ्जुनाथ भट्ट-श्री मञ्जुनाथ भट्ट दक्षिण में मैंगलोर के सेंट अलोसियस महाविद्यालय में संस्कृत के प्राध्यापक थे। इन्होंने भर्तृहरि के वैराग्यशतक के समकक्ष 'विरक्तिवीथिका' का प्रणयन किया (अखिल कर्णाटक संस्कृत परिषद, मैंगलोर १९८४) है। 'विरक्तिवीथिका' में सौ पद्य हैं, जिनमें ९७ मन्दाक्रान्ता में तथा अन्तिम तीन पद्यों में एक वसन्ततिलक तथा दो इन्द्रवज्रा छन्द में है। भक्ति और वैराग्य के भावों को कवि ने इसमें समर्थ अभिव्यक्ति दी है। शिव और कृष्ण में कवि की सुदृढ आस्था है। भाषाशैली और वस्तु दोनों में सटीक निर्वाह के कारण रचना प्रभावशाली बन पड़ी है-

कार्पण्यं भोः किमपरमतो मानुषं प्राप्य देहं
गेहं सर्वाभ्यधिकसुभगं सर्वसन्मङ्गलानाम्।
तन्नैवाप्तं निगमशिरसां सम्मतं स्वात्मनीनं
यत्सान्निध्ये तनुतरतृणप्रख्यमल्पं हि विश्वम्।। (२३)

(इससे बढ़कर कायरता क्या हो सकती है कि मनुष्य का शरीर जो सबसे बढ़कर सुन्दर तथा सभी सन्मङ्गलों का गेह है, पाकर वेद द्वारा सम्मत तथा आत्महित का उपयोगी, हो नहीं पाया, जिसके निकट विश्व अत्यन्त क्षुद्र तृण की भांति अल्प है।)

इस निर्वेद और वेदान्त के अनुभव के साथ-साथ राधा-माधव के माधुर्य के भक्ति-भाव को भी कवि ने इसी प्रकार स्वानुभूत भाषा में अभिव्यक्त किया है। पदावली की मसृणता मनोहर है-

वृन्दं वृन्दावनभुवि गवां चारयंश्चारुचेलो
बालो वः स्याद् यदि स विदितो येन धन्यः कुचेलः।
तस्मिन्नस्तान्यविषयवलद्वल्लवीचाटुलोले
लोकालोकद्वयहितधियाऽऽधीयतां धीरभीरे।। (३१)

(हे लोगो, वृन्दावन की भूमि पर, यदि गौओं के झुंड को चराता हुआ सुन्दर वसन वाला बालक (कृष्ण) जो आप लोगों का ज्ञान-विषय हो जाता है तो उसके कारण कुचेल या दूषित वस्त्र वाला दरिद्र रहना भी धन्य है। अन्य विषय जहाँ शान्त हो गये हैं ऐसे गोपीजनों के विषय में चाटु करने में लोल तथा अभीर (ग्वाल) के विषय में दोनों लोकों के हित साधन की भावना से बुद्धि को प्रवृत्त करें।)

इस काव्य के साथ कवि की २१ अन्योक्तियों को भी प्रकाशित किया गया है। कुछ अन्योक्तियां चकोर, चातक, भ्रमर आदि पारम्परिक विषयों पर हैं, कुछ नवीन विषयों पर भी अन्योक्तियां कवि ने लिखी हैं। दर्दुर (मेढक) के द्वारा व्यर्थ प्रलाप करने वाले व्यक्ति पर अच्छा उत्प्रास है-

रे रे दर्दुर दूरतः सरतु ते व्यर्थप्रलापोऽधुना
मिथ्यागर्वित गर्हितात् तव भिया नायं प्रदत्ते पयः।
आकीटान्निखिलार्तिनोदनपटुर्विश्वाभिजीवप्रदः
प्रावृड्वारिधरः स्वयं विजयते धाराशतैः सर्वतः।।

(रे झूठा गर्वशील मेढक अब तू व्यर्थ-प्रलाप न करे, 'गर्हित होने के भय से यह वर्षा का मेघ नहीं बरस रहा है, कीट-पर्यन्त सबकी आर्ति शान्त करने में समर्थ, सबका जीवनदाता यह (वर्षाकालीन मेघ) सब ओर स्वयं धारासार बरस रहा है!) जुगुप्सित आचरण न छोड़ने वाले व्यक्ति पर सूकर के द्वारा अन्योक्ति है-

वारिणो गिरिसरिद्विगाहनाद् धौतधूलिविमलो विनिर्गतः।
सूकरस्त्वमरवाहिनीतटेप्यार्द्रपङ्कपटले निमज्जति।।

(पर्वतीय नदी में अवगाहन से धूल हट जाने के कारण निर्मल, जल से निकला सूअर गङ्गा के तट पर भी आर्द्र पंक-पटल में गोते लगा रहा है)। शब्दगुम्फ और अर्थसौष्ठव दोनों का सफल निर्वाह श्री भट्ट ने किया है।

रामकरण शर्मा-रामकरण शर्मा का जन्म २०.३.१९२७ ई. को हुआ। ये महान् राष्ट्र-सेवक कामेश्वरप्रसाद शर्मा के पुत्र हैं। पारम्परिक तथा आधुनिक दोनों दृष्टियों से संस्कृतविद्या का गहन अध्ययन इन्होंने किया है। वेदान्त और नव्यव्याकरण में शास्त्री, साहित्याचार्य, एम.ए., पी.एच.डी. आदि उपाधियों के साथ फुलब्राइट योजना में इन्होंने केलिफोर्निया विश्वविद्यालय में रह कर प्रख्यात भारोपीयभाषावित् श्री एमेनिउ के निर्देशन में भी कार्य किया है।

बाल्यकाल से ही इन्होंने संस्कृतकाव्यरचना आरम्भ कर दी थी। उस काल की इनकी अनेक कविताएं नष्ट हो गयी हैं। इनकी संस्कृत में प्रथम प्रकाशित रचना 'तुलसीस्तवः' थी, जो वैशाली में १९४३ ई. में छपी। 'मदालसा' काव्य का प्रथमसर्ग ही प्रकाशित हुआ (१९५५ ई.)। इसके अनन्तर इनकी अनेक कविताएं 'संस्कृतप्रतिभा' तथा अन्य पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। 'सीमा' गद्यकाव्य के अतिरिक्त इनके निम्नलिखित संस्कृतकाव्यसंग्रह विगत आठ वर्षों में ही प्रकाशित हुए हैं-शिवशुकीयम्, सन्ध्या, पाथेयशतकम् तथा दीपिका। 'सन्ध्या' पर इन्हें साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली का पुरस्कार भी मिला है।

शर्मा जी ने आर्या छन्द का प्रयोग सर्वाधिक किया है। छोटे से छन्द में प्रचुर भावसम्पदा का समावेश इनके काव्य की विशेषता है। इनकी अनेक कविताएं दो-दो चार-चार छन्दों की हैं, कुछ लम्बी कविताएं भी इनके उक्त संग्रहों में समाविष्ट हैं। 'शिवशुकीयम्' में २९०, 'सन्ध्या' में ४०० तथा 'वीणा' में २६३ और 'दीपिका' में १०६ कविताएं संकलित हैं।

शर्मा जी ने अपने काव्य में अदिव्य में दिव्य की अवतारणा की है। वे युग के वैषम्य

का चित्र अंकित करते हैं, उसकी परिणति कविदृष्टि से साम्य में उन्मीलित करते हैं। वे हमारे समय के भीषण संक्रान्तिकाल में एक द्रष्टा कवि के रूप में अवस्थित हैं। भारतीय जीवनमूल्यों और परम्परा में उनकी दृढ आस्था है, जिसके सम्बल से उन्होंने युग की विभीषिका का साक्षात्कार किया है। विष और अमृत, कार्कश्य और माधुर्य, प्रकाश और अन्धकार-इनका सांकर्य श्री शर्मा के काव्य में अनुभूत होता है। ये आज के मनुष्य को कामना से परिचालित देखते हैं, और कामना के विकृत रूप धारण करने पर होने वाले ध्वंस को समझते हैं। उनका अभिमत है कि इस कामना को चंचल नवोढा की भाँति मनुष्य अपने वश में कर के चले।

अपि कामनाऽपराध्यति जनयन्ती विविदिषाः पिपासाश्च।
अपि जननकाल एव वन्ध्या सा कृष्णसर्पीव ?।।
नेदं कथमपि युक्तं नियतेः परमा हि कामना शक्तिः।
सा हि नवोढेव चला संस्कार्या सुप्रणयनीत्या।।
(वीणा, पृ. ०१)

शर्मा जी के काव्य में विविध भावतरंगों का उच्छलन है, पर वे अपने ही भावसागर को ताटस्थ्य और निर्वेद के भाव से देखते हुए लगते हैं। राग से संपृक्त होते हुए भी वे परिणति में वीतराग कवि के रूप में उभरते हैं।

उनकी अनेक रचनाएं भक्तिभाव से आप्लुत हैं। 'वीणा' में संकलित शिखरिणी छन्द में रची "भवानि त्वां वन्दे" या दीपिका में संगृहीत 'अम्बिके त्राहि माम्' 'शिव त्वां वन्दे' आदि रचना प्राचीन स्तोत्रकाव्यों के श्रेष्ठ अंश में तुलनीय हैं।

दीपिका में संकलित 'न किञ्चिन् मम' 'तुभ्यं तावकमेव' या 'वन्दे व्यक्ताव्यक्तम्' जैसी कविताओं में कवि ने अपने जीवन-दर्शन को अनाविल भाव से प्रकट किया है। यह दर्शन ताटस्थ्य तथा निर्वेद की सुदृढ भूमि पर अवस्थित होकर महारस की सृष्टि करने वाले कवि का हो सकता है।

शर्मा जी के स्तोत्रकाव्यों में भक्ति और समर्पण तो है ही, पर चिरंतन और वर्तमान जीवन पर भी प्रसंगानुसार दृष्टिपात है। 'अम्बिके त्राहि माम्' में वे कहते हैं -

सद्म कुत्रास्ति मे ज्ञातमेतन्न मे
कल्पितेष्वेव नित्यं रमे सद्मसु।
किन्तु गृह्णन्ति सद्मानि मामग्रतः
क्षौमसूत्रैरमीभिर्मुहुर्यन्त्रितम्।।

क्षौमसूत्र (रेशम के धागे) के द्वारा वर्तमान क्षणभंगुर संबंधों की व्यंजना है, सद्म शब्द उत्तरार्ध में संसार की आपाधापी को द्योतित कर रहा है, तो पूर्वार्ध में मनुष्य के स्थायी पद या परम धाम को।

कवि अपने बाहर के जगत् में संघर्ष और संत्रास देखता है और अपने भीतर के जगत् में भी वह युद्ध देखता है-

नीरसे कानने नन्दनं भुज्यते क्ष्वेडघर्षैर्मुदा चन्दनं लिप्यते।
किं कृतेयं व्यवस्था ममान्तर्बहिः सर्वदा युद्धमेवात्र निर्विश्यते।।

शर्मा जी ने अहंसंकुचित राग के विसर्जन से उदात्त भाव में अवस्थित होकर इस युद्ध की विश्रान्ति देखी है। यह उदात्त भाव उनकी अनेक कविताओं में उज्ज्वल रूप में प्रकट हुआ है, जैसे-कर्पूरो भूयासम्! (दीपिका, पृ. ५२) या चन्दनतरुः सम्राट् (वही, पृ. ५३)। वे यह मानते हैं कि द्वन्द्व और संग्राम के बिना संसार नहीं चल सकता, और संघर्ष से गुजर कर ही सामरस्य की भूमि पर हम पहुँच सकते हैं। इस तथ्य को उन्होंने 'सङ्ग्रामः शाश्वतिकः' शीर्षक कविता में विशद रूप में प्रकट किया है (दीपिका, पृ. ११८)। वर्तमान की विभीषिका तथा निरन्तर प्रक्रान्त सारी आपा-धापी, औद्योगिक प्रगति और उससे उत्पन्न समस्याओं, यान्त्रिकता का अतिरेक, इन सबका अनुभव करते हुए शर्मा जी अपनी कविता में चिरन्तन मूल्यों और शाश्वत शान्ति की स्थापना का स्वप्न देखते है, जिसे उन्होंने 'नवसर्ग आगन्ता' शीर्षक कविता में अंकित किया है (वही, पृ. १४२)।

शर्मा जी ने जीवनदर्शन और चिन्तन को स्वानुभूत रूप में सहज और बोधगम्य काव्यात्मक अभिव्यक्ति देते हुए आधुनिक संस्कृत कवियों के बीच अपनी पृथक् और विशिष्ट पहचान बनायी है। इसके साथ ही उनकी कविता में सामाजिक स्थितियों पर उत्प्रास, प्रतीकात्मकता, उत्कृष्ट बिम्बविधान का भी प्रयोग है। आधुनिक जीवन की विडम्बना को उन्होंने 'न गवाक्षमपावृणु' शीर्षक छोटी सी कविता में सांकेतिक रूप से प्रकट किया है। विमान में सैर करते हुए यात्री विमान के भीतर ही सब कुछ कर सकते हैं, बस खिड़की नहीं खोल सकते हैं -

पिबत खादत मोदत यात्रिणः
पठत जागृत माद्यत सीदत।
लिखत पश्यत धूमयतापि च
न तु गवाक्षमवावृणुत स्वयम्।। (वीणा, पृ. ७७)

('यात्री' यात्रिन् शब्द की शुद्धि चिन्त्य है।) 'अपुच्छो द्विचरणः वीणा (पृष्ठ ८५) या 'यूकिलिप्टस्' (दीपिका) आदि कविताओं में शर्मा जी ने आधुनिक जीवन के छद्म, दोहरे मानदण्डों और खोखलेपन पर अच्छा व्यंग्य (उत्प्रास) किया है।

शर्माजी ने संस्कृत कविता अपनी एक विशिष्ट शैली में भी बनायी है, वे कहीं भी अपने काव्य को दुरूह होने नहीं देते, जटिल से जटिल भाव या विचार को भी वे नपे तुले शब्दों में बहुत स्पष्टता से कह देते हैं। भाषा के निस्सार चमत्कार के प्रलोभन से अपनी रचनायात्रा को वे सदैव बचाये रहे हैं।

युग की साहित्यिक प्रवृत्ति के अनुरूप शर्मा जी का अधिकांश काव्य विचारों की कविता है, पर अन्तरंग रागात्मक अनुभूतियों को भी उन्होंने अभिव्यक्त किया है।

श्रीनिवास रथ-श्री श्रीनिवास रथ का जन्म १ नवम्बर १९३३ ई. में पुरी (उड़ीसा) में हुआ। आपने अपने पिता से पारम्परिक पद्धति से भी शिक्षा ग्रहण की तथा मुरेना, ग्वालियर, सहारनपुर तथा वाराणसी में आधुनिक पद्धति से भी अध्ययन किया। १९५५ ई. से १९५७ ई. तक सागर विश्वविद्यालय तथा उसके पश्चात् विक्रम विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में ये प्राध्यापक रहे है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पद्मभूषण पण्डित बलदेव उपाध्याय इनके गुरु रहे, जिनके पाण्डित्य और सद्गुणों से प्रभावित होकर उन्होंने 'बलदेवचरितम्' महाकाव्य की रचना की, जो अद्यावधि अपूर्ण है।

श्री रथ ने अपने संस्कृत गीतों के कारण विशेष ख्याति प्राप्त की। इनके गीतों में नया भावबोध, अभिनव परिकल्पनाएं भाषा की सुघड़ता और मसृणता तथा लालित्य आकर्षक रूप में विन्यस्त हैं। समकालीन जीवन की विसंगतियों का इन्होंने अपने अनेक गीतों में मार्मिक रूप से अंकित किया है, तथा इनके संस्कृत गीत हिन्दी की नवगीतविधा के निकट प्रतीत होते हुए भी संस्कृत भाषा के कालजयी गौरवमय रूप की भी बानगी देते चलते हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

विज्ञाननौका समानीयते,
ज्ञानगङ्गा विलुप्तेति नो ज्ञायते।
संस्कृतोद्यानदूर्वा दरिद्रीकृता
निष्कुटेषु स्वयं कण्टकिन्याहिता।।

(विज्ञान की नौका तो लायी गयी, किन्तु ज्ञान की गङ्गा विलुप्त हो गयी इसका ज्ञान नहीं है, संस्कृत के उद्यान की दूर्वा तो समाप्त कर दी गयी और कंटीला पौधा घर के उपवन में लगाया जा रहा है)।

विपत्रितेयं जीवनलतिका
केवलकुटिलकण्टकाकुलिता
दूरे कुसुमकथा
सूर्ये तपति तमिस्रा प्रभवति
भवति नयनमयथा।।

(जीवन की लतिका पत्रहीन हो गयी, वह केवल कुटिल कंटकों से आकुलित है, फूल की बात दूर है, सूर्य तप रहा है, किन्तु अंधेरा बढ़ रहा है, दृष्टि काम नहीं कर रही है।)

इनके 'पुरुषार्थसंहिता' नामक गीत में आधुनिक भारत की त्रासकारक राजनीति और आतंकमय वातावरण की, पौराणिक प्रतीकों के द्वारा बड़ी सटीक अभिव्यक्ति दी गयी है। वस्तुतः श्री रथ उन विरले कवियों में से हैं, जिनके अनेक अप्रकाशित गीत भी सहृदय समाज में वर्षों से अत्यन्त लोकप्रिय रहे हैं।

शंकरदेव अवतरे-श्री शंकरदेव अवतरे मोतीलाल नेहरू महाविद्यालय, दिल्ली में प्राचार्य हैं। इनकी अब तक बीस कृतियाँ प्रकाशित हुईं, जिनमें हिन्दी काव्यकृतियों तथा बोधपरक रचनाओं के अतिरिक्त दो संस्कृत मुक्तककाव्यसंकलन हैं-नारीगीतम्[1] तथा जीवनमुक्तकम्[2]। श्री अवतरे की अभिव्यक्ति और भाषाशैली एक ओर उन्हें भर्तृहरि के नीतिशतक या अन्य सुभाषितकारों की परम्परा से जोड़ती है, वहीं युगबोध और विचारों की आधुनिकता उन्हें मुक्तककाव्य की समकालिक धारा में भी स्थापित करती है। कवि ने 'जीवनमुक्तकम्' में अपने भावबोध और रचना दृष्टि को स्पष्ट करते हुए स्वयं कहा है-

न याचे स्वर्लोकं निगमयति यः सावधि सुखं
न मुक्तावातिष्ठे कथमपि निजैकान्तिकगतौ।
ममास्था मानुष्ये भवतु भवसङ्घर्षसुखिनो
मदीयं कारुण्यं परिचयतु[3] सृष्टेः प्रतिकणम्।। (३६६)

जो एक अवधि तक सुख देता है ऐसे स्वर्ग-लोक की मैं याचना नहीं करता। अपनी एक मात्र जिसमें गति होती है ऐसी मुक्ति के प्रति मैं नहीं प्रवृत्त होता हूं। संसार के संघर्ष में सुख अनुभव करने वाले मेरी मानव-जाति के प्रति आस्था हो, मेरा कारुण्य सृष्टि के प्रत्येक कण का परिचय प्राप्त करे।

''नारीगीतम्'' काव्य में स्त्री की शक्ति और नारीतत्त्व के स्वरूप का प्रतिपादन है। भारतीय समाज में स्त्री के प्रति इस समय हो रहे अनाचार को दूर करने के लिये कवि कहता है-

नार्यास्तिरस्कृतिरहेतुकयन्त्रणा वा
यस्मिन् कुले भवति तत् कुलमेव नष्टम्।
रामाभिशप्तिरखिलं विकृतं समाजं
चाणक्यनीतिरपि नन्दकुलं क्षिणोति।।

(जिस कुल में नारी को अहेतुक यन्त्रणा दी जाती हो, वह कुल नष्ट हो जाता है। स्त्री का अभिशाप विकृत समाज को उसी तरह समाप्त कर देता है, जैसे चाणक्य की नीति ने नन्द कुल को समाप्त किया।)

'जीवनमुक्तकम्' में विभिन्न छन्दों में गुम्फित ३७५ पद्य हैं। इनमें कवि ने युगानुरूप चिन्तन, नीति और अपने जीवनदर्शन को अभिव्यक्त किया है। अर्थालङ्कारों का यथावसर सटीक प्रयोग किया है, और अप्रस्तुतविधान में ताजगी है। किसी जुगुप्सित व्यक्ति के लिए मेढक के बहाने अन्योक्ति करते हुए अवतरे जी कहते हैं-

---

१. साहित्यसहकार, दिल्ली से प्रकाशित।

२. प्रः-वही, १९८९

३. चिञ धातु (चुरादि गण की) से णिच् के बिना परिचयतु रूप बनाया गया है।

मण्डूकः स्नापितः सन् सुरभितसलिलैः स्थापितो हेमपीठे
द्रष्टुः प्रावार्य दृष्टिं पुनरपि सहसा कूर्दते कच्चरेषु।
एवं नीचः प्रकृत्या शतशतगुरुभिर्दीक्षितोऽनेकवारं
आत्मानं येनकेनाप्यनुचितविधिना पातयत्येव पापे।। (२६)

(सुगन्धित जल से नहलाया हुआ तथा स्वर्ण-पीठ पर बैठाया हुआ मेढक देखने वाले की दृष्टि बचाकर मलिन स्थान में कूद पड़ता है उसी प्रकार स्वभावतः नीच व्यक्ति अनेक बार शताधिक गुरुओं से दीक्षित होकर भी जिस किसी अनुचित उपाय से अपने को पापकर्म में डाल देता है।)

७. **जगन्नाथ पाठक**-जगन्नाथ पाठक का जन्म ४ अक्टूबर १९३४ ई. को बिहार के सहसराम में हुआ। आपने काशी में शिक्षा प्राप्त की। छात्रावास में ही उमरखैयाम की रुबाइयों से प्रेरित होकर आप संस्कृत में काव्यरचना करने लग गये थे और काशी के सहृदय समाज में लोकप्रिय भी बन गये थे। सम्प्रति आप केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ जम्मू एवं गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, प्रयाग में प्राचार्य पद को सुशोभित करके सेवा-निवृत्त हो चुके हैं।

पाठक जी ने संस्कृत के साथ-साथ हिन्दी में भी रचनात्मक साहित्य प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही आपकी ध्वन्यालोक, हर्षचरित आदि प्राचीन ग्रन्थों की हिन्दी टीकाएं बड़ी उपादेय हैं। संस्कृत में आपके तीन काव्यसंग्रह प्रकाशित हैं-कापिशायनी (१९८० ई.) मृद्वीका (१९८३ ई.) तथा पिपासा (१९८६ ई.)। कापिशायनी पर आपको देश का प्रतिष्ठित साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला है।

पाठक जी को उर्दू और फारसी काव्य की भी गहरी परख है, और इन्होंने संस्कृत ग़ज़ल और रुबाइयों की रचना में उसका सफलतापूर्वक विनियोग किया है। सौन्दर्यबोध और रागात्मकता के साथ-साथ बिम्बविधान की नवीनता और भारतीय जीवन-दृष्टि की अभिव्यक्ति इनके काव्य में मिलती है। सामाजिक यथार्थ को भी इन्होंने कहीं-कहीं चित्रित किया है। आर्या तथा वियोगिनी छन्दों में इन्होंने सर्वाधिक रचनाएँ की हैं। 'कापिशायनी' में कवि ने मधुशाला के प्रतीक के द्वारा वैयक्तिक प्रेम की विश्वजनीन अनुभूति तथा चैतन्य और उसके सायुज्य को अभिव्यक्ति दी है। एक उदाहरण देखें-

चषका इह जीवने मया परिपीता अपि चूर्णिता अपि।
मदमेष बिभर्मि केवलं क्षणपीतस्य मुधस्मितस्य ते।।

(जीवन में मैंने कई चषक पिये भी, कई तोड़े भी। पर एक क्षण में पी ली गयी तुम्हारी मधुर मुस्कान का मद ही बस मैं लिये फिरता हूँ।)

कवि पाठक के काव्य में भीड़ और लोकप्रियता से दूर रह कर साधना और चिन्तन के विकास का सौरभ अनुभूत होता है। वे समाज के सम्मर्द को तटस्थ होकर द्रष्टा की भाँति देखते हैं-

यस्मिन् द्वारि जनानां सम्मर्दः सम्प्रतीक्षमाणानाम्।
प्रेक्षे तस्माद् दूरे स्थितोऽन्वहं प्रेक्षणीयमहम्।।

(जिस द्वार पर प्रतीक्षा परायण लोगों की भीड़ खड़ी है उससे दूर खड़ा मैं प्रतिदिन दृश्य देखता रहता हूँ।)

इस साक्षीभाव में डूब कर लिखी गयी उनकी कुछ उक्तियाँ सूफी संत कवियों की अभिव्यक्ति के निकट आ जाती हैं।

शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी-म.म. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के आत्मज शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी का जन्म १६.४.१६३४ को जयपुर में हुआ। बाल्यकाल से ही काव्यरचना में इनकी प्रवृत्ति थी। सम्प्रति ये काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृतविद्या संकाय में साहित्यविभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष हैं। अभी तक इन्होंने पैंतीस के लगभग ग्रंथों तथा शताधिक लेखों की रचना की है। संस्कृत में इनकी प्रमुख काव्यकृत्तियाँ हैं- गोस्वामीतुलसीदासशतकम्, काव्यप्रयोजनशतकम्, काव्यकारणशतकम्, विद्योपार्जनशतकम् तथा स्फूर्तिसप्तशती (देववाणीपरिषद, दिल्ली, १६८२)। इसके साथ ही ये ललिता संस्कृत पत्रिका और कविभारतीकुसुमाञ्जलिः के सम्पादक भी रहे हैं।

'स्फूर्तिसप्तशती' गाहासत्तसई तथा आर्यासप्तशती की परंपरा का महत्त्वपूर्ण कोशकाव्य है। इसकी ६८६ गाथाएँ आर्याछन्द में हैं, तथा शेष में विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया गया है। कुछ गीतियों का भी संकलन इसी पुस्तक में किया गया है। विषयों की इस रचना में बड़ी विविधता है। कुछ गाथाएँ तिलक, गान्धी आदि राष्ट्रीय विभूतियों पर हैं, कुछ समकालिक समस्याओं पर, कुछ में कवि की नितान्त निजी भावनाएँ हैं, तो कुछ में विभिन्न प्रसंगों, मनोविकारों या भावों को लेकर प्रतिक्रियाएँ हैं। कवि की विचारसरणी सुस्पष्ट और सुलझी हुई है। प्रायः सप्तशती की परम्परा के कोशकाव्यों में मुख्य विषय शृंगार रहता है, जबकि चतुर्वेदी जी की रचना में मुख्य स्वर चिन्तन का है और विवेचनप्रधान शैली है। वैचारिकता और चिन्तन के साथ काव्यात्मकता का आधान अपनी रचना में करने में ये सफल हुए हैं- यह इनकी उपलब्धि कही जा सकती है। साथ ही आर्या छन्द में अभिव्यक्ति का सातत्य और निर्वाह भी श्लाघनीय है। 'एकान्ताः' शीर्षक की ये आर्याएँ पठनीय हैं-

कोलाहलेन शून्या एकान्ता भावनानीताः।
वैचारिकविश्वस्मिन् प्रवेशमार्गा इमे धन्याः।। (२१७)
रङ्गे रङ्गे रिङ्गणरेखा रम्या तथैकान्ते।
भव्या नव्या सरणिर्मिलतितरां वा तथैकान्ते।। (२२२)

(वैचारिक जगत् में कोलाहल से शून्य, भावना से लाये गये ये एकान्त प्रवेश के मार्ग हैं, अतः धन्य हैं। प्रत्येक रङ्ग में, रिंगण की रेखा है, उसी प्रकार एकान्त में है अथवा भव्य तथा नव्य सरणि मिलतीं है, उसी प्रकार एकान्त में मिलती है।)

दूसरी आर्या में अनुप्रास और माधुर्य का समायोजन अच्छा हुआ है। वैचारिकता तथा निबन्धात्मकता के साथ-साथ चतुर्वेदी की रचना में सौन्दर्यबोध, कलात्मक कमनीयता और सौकुमार्य भी कहीं-कहीं मिलता है। स्वरलहरी शीर्षक के अन्तर्गत वे कहते हैं-

सरिगमपधनिर्बन्धे प्रकम्पमानेव मधुमयी संवित्।
रङ्गमयी चित्रमयी विभामयी वा विभासते धारा।।

(स-रि-ग-म-प-थ इन स्वरों के बाँधने में मधुमयी संवित् प्रकम्पमान सी लगती है अथवा धारा है जो रङ्गमयी, चित्रमयी, विभामयी भासित होती है।)

स्फूर्तिसप्तशती के अन्तर्गत ही किन्तुशतकम् अपने ढंग की निराली रचना है, जिसमें कवि की सूझ-बूझ तथा विनोदप्रियता भी देखते ही बनती है। इस रचना की सारी सौ आर्याओं के द्वितीय पाद का अंतिम शब्द 'किन्तु' है। इन आर्याओं में जीवन की नाना विषम परिस्थियाँ, छोटी बड़ी समस्याएँ और मनुष्य की आकाक्षाएँ प्रकट की गयी हैं।

प्रत्येक आर्या उर्दू की ग़ज़ल के शेरों के समान आस्वाद भी देती है।

'स्फूर्तिसप्तशती' में अनेक स्थलों पर कवि ने वर्तमान में मूल्यों के ह्रास या नैतिक स्खलन पर टिप्पणियाँ स्पष्ट रूप में प्रकट की हैं। जैसे- बहुमतम् या अवमूल्यनम् शीर्षक के अन्तर्गत समाविष्ट आर्याओं में। कई आर्याओं में उत्प्रास (व्यंग्य) भी है, जैसे परिचयमहिमा की (४३०-३७) आर्याओं में। मुक्तककाव्य की आधुनिक भावभूमि का स्पर्श करते हुए चतुर्वेदी जी ने वैयक्तिक राग और अनुभूति के अन्तरंग संसार की झलक भी कहीं-कहीं दी है, विशेषतः 'कृपाणधारा' (४१२-१७) शीर्षक की गाथाओं में-

कालान्धकारपटलीसञ्छादितमेतदङ्गणं मनसः।
दीपा अप्याशानां निर्वातास्ते विरोधिभिर्भावैः।
श्वासप्रश्वासानां गतागतैरेवमनुमेया।
जीवनसरणिः काचित् खद्योतानां प्रकाशरेखेव।।

(मन का यह आंगन काले अन्धकार के पटल से ढका हुआ है। विरोधी भावों के कारण आशाओं के दीप भी बुझ चुके हैं। जुगनुओं की प्रकाश-रेखा की भाँति कोई जीवन-सरिण श्वास-प्रश्वास के गतागतों से कुछ इस प्रकार अनुमेय है।)

सुन्दरराज-श्री सुन्दरराज का जन्म १३.९.३६ ई. को तञ्जौर के देवनाथविलासग्राम में हुआ। रसायनशास्त्र से एम.एस.सी. करके इन्होंने आई.ए.एस. उत्तीर्ण किया और सम्प्रति भारतीय प्रशासनिक सेवा में हैं। इन्होंने स्तोत्रकाव्यों की बड़ी संख्या में रचना की है, यथा-

जगन्नाथसुप्रभातम्, श्रीजगन्नाथस्तोत्रम्, श्रीजगन्नाथशरणागतिस्तोत्रम्, श्रीजगन्नाथमङ्गलाशासनम्, बदरीशतरङ्गिणी आदि। 'सुरभिकश्मीरम्' इनका वर्णन काव्य है। जिसमे १०८ पद्य हैं।

इन्होंने कुछ तमिल प्रबन्धों का संस्कृत में अनुवाद किया है। 'सूरभिकश्मीरम्'' की भाषाशैली तथा अप्रस्तुतविधान कालिदास के काव्य की स्मृति दिलाते हैं। शब्दालंकारों की छटा भी कवि ने कुछ स्थानों पर दिखायी है।। अमरावती नदी के वर्णन में कवि कहता है-

पुरी सुराणाममरावती किं पुरन्दरं नाकमितो निनीषुः।
पुरो गिरेर्निर्झरिणी भवन्ती पुरारिमाराधयतीह पुण्या।।

(यहाँ से इन्द्र को स्वर्ग ले जाना चाहती हुई देवताओं की नगरी अमरावती है क्या ? पर्वत के सामने बहती हुई पवित्र निर्झरिणाी मानो शिव की आराधना कर रही है।)

इस काव्य में कश्मीर की विभिन्न नदियों, अमरनाथ आदि तीर्थ स्थानों, पर्वतों और नगरों तथा झीलों का मनोहर वर्णन है। कल्पनाशीलता और सौन्दर्यबोध की दृष्टि से यह काव्य उत्तम है। कश्मीर की सुन्दरियों का वर्णन करते हुए सुन्दरराज कहते हैं-

विज्ञानिभिस्तत्र विचारणीयं विवस्वता विस्फुरता विनैव।
विकासमायान्ति विचित्रमत्र विलासिनीनां वदनाम्बुजानि।।

(विज्ञानविदों द्वारा यह विचारणीय है कि स्फुरित होते हुए सूर्य के बिना ही यहाँ, आश्चर्य है कि विलासिनियों के मुख-कमल विकसित रहते हैं।) सूर्योदय शीत ऋतु में कश्मीर में दृष्टिगोचर नहीं होता, फिर भी सुन्दरियों के वदन-कमल खिले दिखते हैं। यहाँ विभावना अलंकार का प्रयोग चमत्कारपूर्ण होता है तथा तथ्यपूर्ण भी है। इसी प्रकार स्थान-स्थान पर समासोक्ति, उपमा, रूपक स्वभावोक्ति आदि अलंकारों का कुशल विन्यास किया है।

व्योमशेखर-व्योमशेखर का मूल नाम बिशनलाल गौड़ है। इनका जन्म दिसम्बर १९३७ ई. में मुरादाबाद (उ.प्र.) के लच्छमपुर ग्राम में हुआ। वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के शास्त्री तथा व्याकरणाचार्य की उपाधियाँ इन्होंने अर्जित कीं। १९६५ ई. में आगरा विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम.ए. तथा १९७३ ई. में मेरठ से पी-एच्.डी. प्राप्त की। सम्प्रति ये लाजपतराय स्नातकोत्तर महाविद्यालय साहिबाबाद में संस्कृत प्राध्यापक हैं। हिन्दी और संस्कृत में इन्होंने कविताएँ तथा लेख प्रकाशित किये हैं। संस्कृत में 'अग्निजा' के नाम से इनके गीतों और मुक्तकों का संग्रह प्रकाशित है।

इनके गीतों पर समाजवादी विचारधारा का विशेष प्रभाव है तथा सर्वहारावर्ग के शोषण पर इन्होंने विरोध का भाव व्यक्त किया है। इस दृष्टि से 'श्रमिकाया अयं बालः' शीर्षक गीत (अग्निजा, पृ. ३२) उदाहरणीय है। वर्तमान में व्याप्त संवेदनहीनता पर कटाक्ष करते हुए एक गीत में ये कहते हैं -

नीरवे तमसातटे क्रौञ्चस्तु भूयो हन्यते।
क्रौञ्चजायाया विलपनं ब्रूहि केन श्रूयते

(तमसा नदी के नीरव तट पर क्रौञ्च पक्षी तो बार-बार मारा जाता है। बोलो, क्रौञ्चपत्नी का विलाप कोई सुनता है ?) शोषित जनों की हाय का अभिशाप भयंकर होगा- इस मन्तव्य को ग़ज़ल की शैली में इन्होंने इस प्रकार प्रकट किया है-

वयं श्वसिमः श्वसन्त्यपि ते, न यूयं नो पुनः श्वसिथ।
न जाने केन निःश्वसितं जगन्निर्दग्धमिदमास्ते।। (अग्निजा, पृ. ३२)

अमरनाथ पाण्डेय-अमरनाथ पाण्डेय का जन्म ६ अक्टूबर १९३७ ई. में पं. रामनरेश पाण्डेय के यहाँ हुआ। सम्प्रति आप काशीविद्यापीठ, वाराणसी में संस्कृत विभाग में आचार्य तथा अध्यक्ष हैं। भास्वती, दूर्वा आदि पत्रिकाओं में इनकी मुक्तक रचनाएँ प्रकाशित होती रही हैं। 'कविता' शीर्षक अपनी कविता में वे संस्कृत की अभिनवकाव्यरचना का वैशिष्ट्य निरूपित करते हुए कहते हैं-

प्रकृतिसुन्दरी नवभङ्ग्या समुदेति काव्यसंसारे
भावकल्पना-सङ्घटना-निर्मित-चारुप्रसारे
वर्तमानसन्दर्भराजिरत्येति पूर्वकविमानम्
अयि कविते, प्रतनु वितानम्।। (दूर्वा-५, मई, १९८७)

(री कविते, तू अपना वितान फैला, क्योंकि प्रकृति की सुन्दरी भाव-कल्पना की सङ्घटना द्वारा जिसका सुन्दर प्रसार बना हुआ है ऐसे काव्य के संसार में नयी भङ्गिमा के साथ समुदित हो रही है, साथ ही पूर्व कवि के मान को वर्तमान के सन्दर्भ पार कर रहे हैं।)

'सौन्दर्यवल्ली' (भारतीय विद्या प्रकाशन, जवाहरनगर, दिल्ली-७, १९९५) कवि पाण्डेय का स्तोत्रकाव्य है, जो १०८ वसन्ततिलका वृत्तों में निबद्ध है। इसमें दर्शन तथा साहित्य-सौन्दर्य की त्रिवेणी का समागम करते हुए दुर्गा की स्तुति की गयी है। भक्तिभाव की तन्मयता और चिन्तन की प्रौढि दोनों यहाँ एकत्र हैं-

उत्थानरासरसिके रमसे प्रसन्ना
प्रीता शिवेन सहिता त्वरितं द्युलोके।
उल्लासयस्यमृतसिन्धुमथ प्रवाहै-
रम्ब प्रवृद्धविपदं सपदि क्षिणोषि।। (८२)

(हे उत्थान रूपी रास की रसिके मां, प्रसन्न और प्रीत तू शीघ्र विश्व के साथ द्युलोक में अर्थात् सहस्रार पद्म में रमण करती है, अमृत के समुद्र को ज्वारों से उल्लसित करती है तथा बढ़ी हुई विपत्ति को शीघ्र नष्ट करती है।)

अर्थालंकारों के साथ-साथ शब्दालंकारों का भी अनेकत्र प्रयोग करके भाषा की

विच्छित्ति कवि ने प्रकट की है। एक उदाहरण यमक के विन्यास की दृष्टि से प्रस्तुत है-

वित्तं विकारसहितं न हितं करोति
चित्तं विकाररहितं सहितं करोति।
त्वद्ध्यानमग्नमहितं रहयत्यवश्यं
शम्भुप्रसादसहितं महितं विधत्से।। (५५)

(विकास से युक्त वित्त हित (भला) नहीं करता, विकार से रहित चित्त हितयुक्त करता है। तुम्हारे ध्यान में डूबे वित्त वाले को अवश्य ही अहित त्याग देता है और हे माता, तू शम्भु के प्रसाद से युक्त चित्त वाले को महित अर्थात् पूजित बनाती हो।)

रामकैलाश पाण्डेय-रामकैलास पाण्डेय का जन्म सरयूपारीण ब्राह्मण परिवार में सन् १९३६ ई. में हुआ। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम.ए. करके इन्होंने वहीं शोधकार्य भी आरम्भ किया तथा दो वर्ष इसी विश्वविद्यालय में अध्यापन भी किया। तत्पश्चात् ये भारतीय विद्या भवन, मुम्बई में कार्यरत रहे और १९७२ ई. में पैजपुर (महाराष्ट्र) में गुरुकुल संस्कृत महाविद्यालय के प्राचार्य नियुक्त हुए।

भाषणकला के लिये विख्यात कवि पाण्डेय को १९४७ ई. में वाराणसी में भारत शासन की विधिमन्त्री डा. सरोजिनी के द्वारा महाकवि के रूप मे सम्मालित किया गया और स्वामी शंकरानन्द सरस्वती के द्वारा आशुकवि की उपाधि भी इन्हें प्रदान की गयी। हनुमदष्टकम्, भारतशतकम् तथा महाकविशतकम् इनके प्रकाशित काव्य हैं।

भारतशतकम् में पाण्डेय जी की तेरह गीतिरचनाएँ हैं संकलित हैं। यह रचनाएँ पूर्व में संस्कृत प्रतिभा, संवित्, श्रीपण्डित आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं। चार रचनाओं को छोड़कर शेष गीतियों की विषयवस्तु राष्ट्रिय भावना से सम्पृक्त है। पहली रचना भारतशतकम् है, जो पृथक् रूप से भी पुस्तकाकार प्रकाशित है। यह काव्य चीन आक्रमण के समय १९६२ ई. में लिखा गया था। देशवासियों में राष्ट्रगौरव को जागृत करने के लिये कवि ने इस में राम, हनुमान, कृष्ण, अर्जुन, व्यास, बुद्ध, चन्द्रगुप्त, अशोक, पाणिनि आदि मनीषियों का गुणगान भी किया है तथा झांसी की रानी, राणा प्रताप, शिवाजी आदि देशभक्तों के चरित्र पर भी प्रकाश डाला है। अंत में अपनी प्रगतिशील दृष्टि तथा संस्कृताभ्युदय की कामना की अभिव्यक्ति करते हुए कवि कहता है-

जायन्तां देशभक्ता रणविधिनिपुणा भारतेऽस्मिन् बलाढ्याः
विद्या वैज्ञानकी च प्रसरतु सततं स्वामभिख्यामुपेता।
सर्वे गीर्वाणवाणीं सुखविभवपरा भारतीयाः पठेयुः
देशाः शान्तिं लभन्तां जनमनसि सदा वर्धतां प्रीतिरेव।। (१०१)

(इस भारत में देश के भक्त रण के नियमों में निपुण तथा बलशाली हों, और अपनी

शोभा को प्राप्त होकर वैज्ञानिकी विद्या निरन्तर फैले, सुख तथा विभव के साधन में लगे सभी भारतीय गीर्वाण-वाणी संस्कृत को पढ़े, देशों में अमन-चैन हो, सदा जन-मानस में प्रीति बढ़ें।) इस संकलन में अन्य रचनाएँ-भारतम् प्रति, हे कालिदास, राणाप्रतापः, शिववीरः, महात्मा गान्धिमहोदयः आदि हैं ।

उमाकान्त शुक्ल-उमाकान्त शुक्ल का जन्म १८.१.१९३९ ई. को हुआ। आप खुरजा निवासी पं. ब्रह्मानन्दशुक्ल के आत्मज हैं। इस समय आप सनातन धर्म महाविद्यालय, मुजफ्फरनगर में संस्कृत के प्राध्यापक हैं। मङ्गल्या, परीष्टिदर्शन, चाङ्गेरिका तथा कूहा-ये चार काव्यरचनाएँ आपकी प्रकाशित हैं। मङ्गल्या आर्या छन्द में निबद्ध मुक्तकों का सरस मनोहारी संग्रह है। इसमें गाहासत्तसई तथा गोवर्धनाचार्य की गाथाओं के समतुल्य अभिव्यक्ति की छटा है, और आधुनिक ग़ज़ल की कोमलता, सौन्दर्य तथा रागात्मिका वृत्ति भी। कवि ने सौन्दर्यानुभूति के लिये रसिक पाठकों को आमंत्रित किया है-

सौन्दर्यं परितो मां कृतसौन्दर्यावगाहनश्चाहम्।
यदि वाञ्छसि तत् पातुमुपविश मे चेतसि क्षणकम्।।

(मेरे चारों ओर सौन्दर्य है और मैंने सौन्दर्य में अवगाहन किया है, तुम उसे पान करना चाहते हो तो क्षण भर मेरे चित्त के पास रहो) करुणा और संवेदना को रचना तथा भावन की पहचान मानता हुआ वह कहता है-

करुणाऽऽद्या मे माता विरहो जनकः सहोदरः शोकः।
उत्कलिका च वयस्या कविताऽहं चञ्चला बाला।।
अश्रुकणं त्वां याचे करुणावरुणालयं च याचे त्वाम्।।
उत्कलिका त्वां येन काव्यलता स्यात् सुपल्लविता।।

(करुणा मेरी आद्या जननी है, विरह पिता, शोक सहोदर भाई और उत्कलिका मेरी सहेली है और मैं चञ्चल बाला कविता हूँ। तुम से अश्रुकण की, करुणा के समुद्र की और उत्कलिका की याचना करता हूँ, जिससे मेरी काव्यलता सुपल्लवित हो।)

कवि की मुक्तक रचना हिन्दी की श्रेष्ठ छायावादी तथा रहस्यवादी कविता के समान भावबोध और संवेदना की गहराई, प्रतीक विधान की प्रत्यग्रता और अर्थालङ्कारों के उचित प्रयोग के कारण समकालिक संस्कृत काव्य का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करती है।

श्री शुक्ल की दूसरी उल्लेख्य गीतिकाव्यकृति 'कूहा' है, जिसमें इन्दिरागान्धी के दुखद निधन के अनन्तर समूचे राष्ट्र की वेदना को मार्मिक अभिव्यक्ति दी गयी है। काव्य का आरम्भ हिमालच के वर्णन से होता है, जहाँ राजीव गान्धी अपनी मां की भस्म बिखेरने जाते हैं। हिमालय का यह वर्णन कालिदास के हिमालय वर्णन के समकक्ष है-

द्रुतं वहन्त्यो विशदप्रवाहा नद्यो यदीया करुणां गिरन्ति।
दम्भोलिकोटीरपि दम्भयन्त्यः शिला यदीयं द्रढिमानमाहुः।।

(तीव्र वेग से विशद प्रवाह के साथ बहती नदियाँ जिस हिमालय की करुणा को व्यक्त करती हैं, और करोड़ों वज्राघातों को भी विदीर्ण कर देने वाली जिसकी शिलाएँ उसकी दृढता की कथा कहती हैं।)

उमाकान्त शुक्ल प्राचीन कालजयी कविता की सामर्थ्य तथा आधुनिक भावबोध दोनों की विलक्षण सन्धि अपने काव्य में उपस्थित करते हैं।

दीपक घोष-दीपक घोष का जन्म २४ जनवरी १६४१ के दिन कलकत्ता में हुआ और वहीं इनकी शिक्षा हुई। सम्प्रति ये कलकत्ता विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में प्रवाचक हैं।

श्री घोष ने कई विलापकाव्य संस्कृत में लिखे हैं, जिनमे पाँच विलाप-काव्यों का संग्रह 'विलाप'-पञ्चिका' के नाम से प्रकाशित है (कलकत्ता, १६८६)। मेघविलापम्, (१३ पद्य), सुरवागविलापम् (३२ पद्य), अमरविलापम् (१४ पद्य), उज्जयिनीविलापम् (तीन पद्य) तथा अलकाविलापम् (२६ पद्य) इन पांचों विलापों में कवि ने विभिन्न छंदों का प्रयोग करते हुए सरल और सरस भाषा में अभिप्राय व्यक्त किया है। अतीत के गौरव की ओर संकेत करते हुए समकालीन स्थितियों की विडंबना का उद्‌घाटन इन काव्यों में किया गया है। अभिनवपरिकल्पना और युगबोध की दृष्टि से मेघविलापम् प्रभावित करता है। कवि ने इसे 'सोल्लुण्ठकाव्य' की संज्ञा दी है। कालिदास के मेघदूत में यक्ष के भवन का जो वैभव और सौन्दर्य चित्रित है, उसके समानांतर कवि ने यहाँ एक आधुनिक भारत के एक दरिद्र व्यक्ति के घर का दैन्य और अभाव चित्रित किया है। यक्ष के सदन में ऐश्वर्य का साम्राज्य है, मेघविलापम् के नायक के घर में स्थितियाँ उसके ठीक विपरीत हैं। स्थितियों का विपर्यय प्राचीन कालजयी काव्य और आज के काव्य की संवेदना का अंतर भी रेखांकित करता है। मेघदूत की पदावली या पंक्तियों का पुनरावर्तन विडंबना के बोध को तीखा बनाता है। उदाहरणार्थ-

हासोऽज्ञातो मधुमयमुखादश्रुधौते गृहे मे
दन्तैर्घट्टः कुटिलवदने साश्रुवर्णे बसन्ते।
मेघालोके प्रथयति कविः काव्यमालां सुगन्धिं
मेघालोके मम तु हृदयं सर्वथा भीतभीतम्।। (५)

कवि ने मेघ के आगमन पर अनुभव में आने वाले प्रमोद के स्थान पर अतिवृष्टि से होने वाली विभीषिका का चित्र खींचा है, जिसमे उसका अपना देश-काल का अनुभव व्यक्त हुआ है। इसी दृष्टि से अलकाविलापम् भी स्थितियों के विपर्यय को लेकर लिखा गया है। शाप से मुक्त होकर यक्ष अलका लौटता है, और अपने भवन को उजड़ा हुआ पाता है, और यक्षिणी उसे नहीं मिलती। कुल मिलाकर दीपक घोष के काव्यों में निराशावादी स्वर

प्रबल है, उसके साथ व्यंग्य की प्रखरता भी है।

भास्कराचार्य त्रिपाठी-भास्कराचार्य त्रिपाठी का जन्म इलाहाबाद के निकट माण्डर जसरा नामक ग्राम में अनन्त चतुर्दशी संवत् १९९९ (१३.९.४२) को हुआ। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से उन्होंने डी.फिल. की उपाधि प्राप्त की। छात्रावस्था से ही संस्कृत-काव्य-रचना में इनकी सार्थक प्रवृत्ति थी और इसी काल में डा. व्ही.राघवन् ने 'संस्कृत प्रतिभा' में इनका अजाशती कथाकाव्य प्रकाशित करते हुए उन्हें बालकवि की उपाधि दी। सम्प्रति ये मध्यप्रदेश की शासकीय महाविद्यालयीय सेवा में प्रोफेसर हैं तथा आठ वर्षों से म.प्र. संस्कृत अकादमी के सचिव और संस्कृत त्रैमासिक 'दूर्वा' का सम्पादन कार्य कर रहे हैं।

श्री त्रिपाठी ने संस्कृत में रूपक, गद्य, खण्डकाव्य तथा गीतिकाव्यों की प्रचुर मात्रा में रचनाएँ की हैं। इनके लगभग सौ गीतकाव्य तथा लघुकाव्य विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। वक्रोक्ति की विच्छित्ति, भाषा पर असाधारण अधिकार, समसामयिक सामाजिक तथा राजनीतिक सन्दर्भ, व्यंग्य और विडम्बना का तीखापन इनके काव्य की विशेषताएँ हैं। मिथकों, प्रतीकों और बिम्बों का दुर्लभ विन्यास करने में भी इन्होंने निपुणता का प्रदर्शन किया है। इनकी रचनाओं में शिल्प और आयास तथा परिष्कार पर आग्रह अत्यधिक है तथा कहीं-कहीं क्लिष्ट, जटिल और अप्रचलित पदावली का प्रयोग भी ये करते हैं। भोजपुरी अंचल के लोकगीतों का रूप भी इनके अनेक गीतों में उभरता है, कुछ गीतों में राष्ट्रीय भावनाओं को अभिव्यक्ति दी गयी है। समकालिक जीवन पर कवि की टिप्पणियाँ मार्मिक हैं। यथा-

आगतः खलु कालः कोऽयम्
पौरवो रक्षति नहि विनेयम्।
अपि वृद्धा गौतमी न सम्प्रति निर्भयसञ्चारा,
शारद्वतशिष्येण हन्यते वत्सलसम्भारा।[1]

(यह कौन सा समय आ गया है कि पुरुवंश में उत्पन्न दुष्यन्त अनुशासन का पालन नहीं कर रहा है ! अब बूढ़ी गौतमी भी निर्भय होकर सञ्चरण नहीं करती ! वत्सल-सम्भार वाली वह शारद्वत शिष्य द्वारा मारी जा रही है !)

'मृत्कूटम्' 'खण्डकाव्य इनकी विशेष उपलब्धि कहा जा सकता है। इसमें मनुष्य जीवन की सारी विभीषिका, उपलब्धि, आंकाक्षा, आशा और वासना के घात-प्रतिघात का मार्मिक निदर्शन है। गर्भावस्था से वार्धक्य और मुमूर्षा तक की सारी अवस्थाओं का सूक्ष्म पर्यवेक्षण के साथ चित्रण है। एक उदाहरण देखें-

---

१. प्रख्या, भाग-१, पृ. १४-१६ पर प्रकाशित 'अभिज्ञानम्' कविता से।

दुग्धाब्धिः कृत्स्नगेहे विलुलितमधुरा दुग्धधारा मुखाब्जे
मुग्धाभिर्गीयमानं स्वरगृहमभितो मङ्गलं दुग्धगन्धि।
दन्ताली दुग्धमुग्धा कलितकिलकिला दुग्धसौख्यानि दुग्धे
मृत्कूटे दुग्धरागं भणति वसुमती स्नाप्यते दुग्धपूरैः।। (११)

(माटी का पुतला जब पहली बार दूध चाहता है, सारे घर में छलक पड़ता है दूध का सागर, मुँह से बरबस टपकती दूध की धार, नवेलियों द्वारा गाई जाती सोहर में दूधिया गमक, दूध की नन्हीं दँतुलियाँ और दूध की साध जैसी-लुभावनी किलकारियाँ, लगता है, सारी धरती दूध के फब्वारों से नहा उठी हो।)

राजेन्द्र मिश्र-राजेन्द्र मिश्र का जन्म जौनपुर जनपद में सई नदी के तटवर्ती द्रोणीपुर ग्राम में २६ दिसम्बर १९४३ ई. को हुआ। सम्प्रति आप हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में आचार्य तथा अध्यक्ष हैं। १९६० ई. से आपने संस्कृत में काव्यरचना का श्रीगणेश 'गीतरामचरितम्' लिख कर किया और गत बाईस वर्षों में भोजपुरी, हिन्दी तथा संस्कृत में विभिन्न विधाओं में विपुल साहित्य की सृष्टि कर प्रतिष्ठा प्राप्त की। एकांकी (भाण, प्रहसन आदि) महाकाव्य (जानकीजीवनम् तथा वामनावतरणम्) और लघुकाव्य कथा गीति-इन चार विधाओं में संस्कृत साहित्य को आपका विशेष योगदान रहा है।

खण्डकाव्यों या स्तोत्रकाव्यों में आर्यान्योक्तिशतकम् (१९७५) नवाष्टकमालिका (१९७६) पराम्बाशतकम् (१९८१), शताब्दीकाव्यम् (१९८७) तथा अभिराजसप्तशती (१९८७) आपकी प्रकाशित कृतियाँ हैं, तथा गीतसंकलनों में वाग्वधूटी (१९७८), मृद्वीका (१९८५) तथा श्रुतिम्भरा (१९८६) प्रकाशित हैं।

अपने विभिन्न लोकगीतविधाओं का भावबोध लय, तर्ज और छन्दःसंस्कारसंस्कृत भाषा के काव्यविश्व में प्रतिष्ठापित किया है। चैत्रकम्(चैती), सूतगृहगीतम् (सोहर), स्कन्धहारीयम् (कहरवा), नक्तकम् (नकटा) प्रचारगीतम् (पचरा) आदि विधाओं के अनेक गीत आपने लिखे हैं, जिनसे आधुनिक संस्कृत कविता को न केवल बृहत्तर रसिक समाज में लोकप्रियता प्राप्त हुई, बल्कि उसकी काव्यसम्पदा में भी नये आयाम जुड़े। इसी प्रकार संस्कृत में ग़ज़ल-गीतियों की भी श्री मिश्र ने विपुल मात्रा में रचना की है। मिश्र जी की ग़ज़लों में वेदना, अन्तर्द्वन्द्व तथा गहन वैयक्तिक अनुभूतियाँ भी हैं, और देश की वर्तमान स्थितियों पर तीखा व्यंग्य भी। कुछ गीतियों के उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

जायते निर्झरी हन्त कूलङ्कषा
एधते साम्प्रतं भारते दुर्दशा। (श्रुतिम्भरा, पृ. ४०)
निर्दयं विरौम्यहं कोऽपि नो शृणोति मे
मामके हि भारते कीदृशी स्वतन्त्रता ?

---

१. प्र. गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, प्रयाग १९९२।

शोकतापजर्जरा द्रोहभारभङ्गुरा
अद्य दृश्यते न किं भारते वसुन्धरा ?

(नदी तट-बन्ध तोड़ रही है, भारत में दुर्दशा बढ़ रही है। मैं निर्दय रुदन कर रहा हूँ, मेरी कोई नहीं सुनता, मेरे भारत में कैसी स्वतन्त्रता ? पृथ्वी आज क्या शोक के ताप से जर्जर, द्रोह-भार से भङ्गुर नहीं दिखाई देती ?)

इनकी ग़ज़लगीतियों में कहीं विरहानुभूति की तीव्रता है, तो कहीं फक्कड़पन की मस्ती। विरह की एक ग़ज़ल-गीत का मतला है-

नहि जगदतिरुचिरं त्वया विना
जीवनमपि न चिरं त्वया विना

(तेरे बग़ैर संसार अतिरुचिर नहीं लगता और जीवन भी चिर-स्थायी नहीं लगता।) एक अन्य ग़ज़ल में कवि कहता है-कुछ उम्र घर में कटी, कुछ पेड़ों तले। पर मनुष्यों या देवताओं की भीड़ में नहीं-

किञ्चिद् गृहे व्यतीतं किञ्चित् तले द्रुमाणाम्,
न कदम्बके नराणां न कदम्बके सुराणाम्।

पुष्पा दीक्षित-पुष्पा दीक्षित का जन्म १२.८.१६४३ ई. के दिन जबलपुर में दर्शन, साहित्य, व्याकरण के सुविज्ञ तथा आयुर्वेदविशेषज्ञ पं. सुन्दरलाल शुक्ल के घर हुआ। बाल्यावस्था में विवाह तथा तदनन्तर विषम परिस्थितियों में इनका जीवन व्यतीत हुआ। संप्रति ये विलासपुर के शासकीय महाविद्यालय में संस्कृत प्राध्यापिका हैं। १६८४ ई. में इनकी गीतियों का संग्रह 'अग्निशिखा' प्रकाशित हुआ। इसके अनन्तर इनकी अनेक गीतियाँ 'दूर्वा' तथा अन्य पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं।

'अग्निशिखा' की सभी गीतियों में विप्रलम्भ श्रृंगार के साथ आधुनिक कविता की रहस्यवादी धारा का रमणीय संयोग है। उपालम्भ, विरह की पीड़ा, उत्कण्ठा, प्रेम की अनन्यता और चेतना का तदाकाराकारित रूप-पुष्पा जी के काव्य में जिस तरह व्यक्त हुए हैं, उसने उनके काव्य को अद्वितीय ऊँचाई, भावगाम्भीर्य और औदात्य दिया है। भावों का आवेग तथा पदावली की सटीकता कवयित्री की अनुभूतिप्रवणता तथा काव्यसाधना दोनों के परिचायक हैं। उसकी दृष्टि में प्रेम एक अनिर्वचनीय सर्वव्यापी अनुभव है, भाषा उसे समग्र रूप में व्यक्त करने में अक्षम है-

न वर्णस्तद् वर्ण्यं प्रिय यदनुभूतं हृदि मया
क्षरत्वं गच्छेन्मेऽनवरतविलापेऽक्षरकुलम्।
विभिन्नैः शब्दार्थैर्विपुलविपुलः कोशनिकरः
क्षमो नो क्षन्ता वा विशकलितमेतत्कलयितुम्।।

(हे प्रिय, जो मैंने हृदय में अनुभव किया उसे वर्णों द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता, निरन्तर विलाप में मेरे अक्षर- समूह के क्षर या नष्ट हो जाने की सम्भावना है, विभिन्न प्रकार के शब्द-अर्थों से भरा कोश-समूह इसे व्यक्त करने में न समर्थ है और न होगा।)

प्रेम की आकस्मिकता का अनुभव भी इसी प्रकार मनुष्य को हतप्रभ और किंकर्तव्यविमूढ कर देने वाला है-

इयमग्निशिखा ज्वलिता
सहसैव कथं हृदये।
निशितैस्तव दृष्टिशरैः
सकलं शकलीक्रियते।। (पृ. ३)

तथा-

अयमेव मेऽपराधस्त्वमवेक्षितो मया किम् ?
स्नेहस्फुलिङ्ग एव ज्वलितो न मानसे किम् ? (पृ. ३८)

(यह अग्नि-शिखा अचानक ही कैसे हृदय में भड़क उठी ? तेरे तेज़ दृग्बाणों से सब कुछ टुकड़े-टुकड़े किया जा रहा है!

क्या यही मेरा अपराध है कि मैंने तुझे देखा ? मानस में स्नेह का यह स्फुलिङ्ग क्या जल नहीं उठा है !)

अग्नि-शिखा के सारे ४८ गीतों में वेदना की तीव्रता और भाव की अपार ऊर्जा है। कवयित्री के परवर्ती गीतों में सामाजिक स्थितियों का बोध, स्रोत्प्रास विडम्बना और दार्शनिक गहराई आ गयी है। अप्रस्तुतविधान तथा कल्पना के रमणीय विनियोग की दृष्टि से भी पुष्पाजी का गीतिकाव्य उत्तम है।

हरिदत्त शर्मा- १९४५ ई. में हाथरस (उत्तर प्रदेश) में जन्म तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालय में शिक्षणरत हरिदत्त शर्मा आधुनिक युग के ललित गीतकार हैं। उनका प्रथम काव्य 'गीतकन्दलिका' १९८३ ई. में गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ। पुनः १९८६ ई. में 'उत्कलिका' नामक परिष्कृत गीतिकाव्य तथा १९९२ में 'बालगीताली' का प्रकाशन हुआ। गीतों में विद्यमान माधुर्य तथा उनके प्रस्तुतीकरण के श्रवणमाधुर्य के कारण प्रकृत कवि को 'कविपुँस्कोकिल' की उपाधि से अलङ्कृत किया गया। व्रजप्रदेश की निकटस्थताके प्रभाव से हरिदत्त कवि के अनेक गीत व्रजभाषा के गीतों की लय पर लिखे गए हैं। छन्दों की भाँति गीतों के विषयों में भी नवीनता है। कतिपय गीतों में प्रेम और विरह की भावतरलता, तो कतिपय में राष्ट्रीयता तथा देशभक्ति के स्तर मुखरित हैं। सामाजिक समस्याओं एवं विषमताओं को विषय बनाकर भी कुछ गीतों की रचना हुई है तो प्रकृति के विविध रूपों पर भी कवि की लेखनी चली है। 'उत्कलिका' में कविकृत

योरोपीय देशों की सांस्कृतिक यात्राओं के अनुभवों पर भी गीत निबद्ध है, जीवन की विविध विसंगतियों, सृष्टि एवं संसार की गहन विरूपताओं पर गीतों का गुम्फन हुआ है। बालगीताली द्वारा बाल-मनोविज्ञान को ध्यान में रखकर सरल, सुमधुर गीत-रचना द्वारा बाल साहित्य की कमी पूरी करने की दिशा में काम किया गया है।

राधावल्लभ त्रिपाठी-राधावल्लभ का जन्म १५ फरवरी १९४९ को मध्यप्रदेश में राजगढ़ जिले में हुआ। इनकी शिक्षा म.प्र. के विभिन्न नगरों में हुई। संप्रति ये सागर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में आचार्य और अध्यक्ष हैं। इनकी संस्कृत कविताएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं हैं। अनेक विद्वत्तापूर्ण या समीक्षात्मक ग्रंथों, हिंदी में उपन्यास, नाटक और कहानी- संग्रहों के अतिरिक्त संस्कृत में इनके दो काव्यसंग्रह प्रकाशित हैं-सन्धानम्, (१९८९) तथा लहरीदशकम् (१९९१)। सन्धानम् में ५५ कविताएँ अन्तर्जवनिकम्, बहिर्जवनिकम्, लहरीलीलायितम्, गीतवल्लरी तथा नमोवाक्- इन पाँच खण्डों में विभाजित हैं। लहरीदशकम् में दस लहरीकाव्य संकलित हैं।

राधावल्लभ की कविताओं में विषयवस्तु की नवीनता, आधुनिक सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों की विसंगतियों का व्यंग्यपूर्ण चित्रण और भावप्रवणता के साथ कल्पना की सम्पन्नता आदि उल्लेख्य विशेषताएँ हैं। योरोपयात्रा के समय विमान से हिमाच्छादित धरती को देखते हुए कवि कल्पना करता है-

स्यूतं स्यूतं पुनरपि च यच्छीर्यते धार्यमाणं
गात्रे क्लृप्तं कथमपि तथाऽच्छादने नालमेव।
धृत्वा देहे हिममयमितं श्वेतकार्पासवस्त्रं
पृथ्वी शेते विकलकरणा निर्धना गेहिनीव।।

(दरिद्र गृहिणी की भाँति, व्याकुल इन्द्रियों वाली पृथ्वी ठंडे इस सफेद सूती वस्त्र को शरीर पर धारण करके सो रही है, इसका वस्त्र बार-बार सीये जाने पर भी धारण करने पर गलता जा रहा है। अङ्ग पर पूरा भी नहीं पड़ता और न ही ओढ़ने का काम करता है।)

यहाँ स्थान-स्थान से फटी सफेद चादर ओढ कर सोती गृहिणी का उपमान बर्फ से ढकी धरती नवीन कल्पना है। 'जनतालहरी' कविता में कवि ने आज के भारतीय जन के स्वप्नों, संघर्षों और आस्थाओं का चित्रण किया है।

विन्ध्येश्वरीप्रसाद-विन्ध्येश्वरी प्रसाद मिश्र का जन्म मध्यप्रदेश के ग्राम बहरा में १८.३.५६ को हुआ। सम्प्रति ये विक्रम विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में प्राध्यापक हैं। इनका 'सारस्वतसमुन्मेषः' नाम से कविता संग्रह प्रकाशित है तथा इसके अतिरिक्त पत्रिकाओं में इनकी अनेक रचनाएँ छपी हैं। नवगीतविधा हिन्दी के नवीन छन्दों में इन्होंने ललित रचनाएँ की हैं। लय, सौकुमार्य तथा रागात्मकता इनके काव्य का वैशिष्ट्य है।

पदशय्या की श्लक्ष्णता और काव्यपाक की सरसता की दृष्टि से कवि विन्ध्येश्वरी

प्रसाद का रचनाबन्ध मनोहर है। पिछले कुछ वर्षों से इन्होंने नवगीत विधा में अनेक रचनाएँ की हैं, जिनमें कहीं गहरा व्यंग्य, कहीं मनोवेदना तो कहीं सामाजिक अन्तर्विरोधों का सूक्ष्मेक्षिका से उद्घाटन है। पर इनके अपने रचनाकाल के आरंभिक वर्षों में लिखे गये सवैया, घनाक्षरी, दोहा सोरठा, आदि व्रजभाषा के छन्द भी उतने ही प्रभावशाली हैं। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

यमुनावटमञ्जुलकुञ्जघने घनसाररसावलिते विपिने
विपिने नवनीरजगन्धयुते युतपङ्कजकोषमिलिन्दजने।
जनमानसमानिनि मोदमुदे मुदिताधरपानपुटे कमने
कमने ननु रासरसे सुविभाति शरत् सखि नैशसरत्पवने।।

सवैया छन्द में शरद् ऋतु के वातावरण का यह सुन्दर चित्र है। इस कवि की घनाक्षरी की रचना भी इसी प्रकार प्रौढ है-

कलितकदम्बनिकुरम्बकेलिकुञ्जघने
पुलिने कलिन्दजायाः लघु-लघु सा विभाति।
ललितवनालीपरिवेष्टिते नु वृन्दावने
नव्यामेव शोभामावहन्ती तरसा विभाति।
वलितनिरभ्रताभ्रतारकिततारापथ-
सञ्चारामन्दचन्द्रसारसरसा विभाति।
सरति समीरे सखि यामुने गभीरे नीरे
धीरे बलवीरे शरदेषा सहसा विभाति।

विन्ध्येश्वरी प्रसाद की कविता में प्रसंगानुसार यमक और श्लेष का प्रयोग बड़ा चुटीला होता है। इन्होंने इस शैली में छोटे-छोटे अनुष्टुप् जैसे छन्दों में पैनी बातें कहीं हैं। इसी शैली में संस्कृत में अनेक ग़ज़ल-गीतियाँ भी इन्होंने लिखी हैं। प्रेम और रुमान से सम्पृक्त ग़ज़ल के भावजगत् में राजनीतिक व्यंग्य का निवेश करने वाले संस्कृत कवियों में राजेन्द्र मिश्र के बाद इनका नाम लिया जा सकता है। इनकी एक ग़ज़ल उदाहर्तव्य है-

वद विधुवदने त्वदीयमानसे कथं भीतिः ?
अपरिचितं कलयसि मयि प्रणयिनि, का संशीतिः ?
किं त्वया पीतमिदं मैरेयं नाद्य रुद्धासि देहलीषु साम्प्रतं हि देवि
'देहली' - संस्थिता तथापि ते न सम्प्रीतिः।।

(हे चन्द्रमुखी बोल, कैसा तेरे मन में डर है ? हे प्रणय वाली, कैसे मुझे अपरिचित समझ रही हो ? मेरे प्रति कौन सा संदेह है ? क्या तूने इस मदिरा का पान कर लिया है ?

अब तू देहलियों में बन्द नहीं है, 'देहली' में संस्थित है तब भी तेरी सम्प्रीति नहीं है ?)

इस युवा कवि के दो काव्यसंकलन 'सारस्वतसमुन्मेषः' तथा 'गीतिवल्लरी' देववाणी परिषद्, दिल्ली से प्रकाशित हैं।

केशवचन्द्र दाश - बहुमुखी प्रतिभा के धनी युवा कवि श्री केशवचन्द्र का जन्म ६ मार्च १९५५ ई. को उड़ीसा में हाटसांह ग्राम (जिला-कटक) में हुआ। इन्होंने आधुनिक तथा पारम्परिक दोनों विधियों से संस्कृत विद्या का गहन अध्ययन किया तथा दर्शन और विशेषतः भाषाशास्त्र एवं नव्यन्याय में विशेषज्ञता प्राप्त की। संप्रति ये श्रीजगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय में नव्यन्याय विभाग में अध्यक्ष हैं।

कवि केशवचन्द्र की अब तक ३० से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें अधिकांश संस्कृतकाव्य मौलिक हैं। संस्कृत में कई मौलिक उपन्यास, कहानीसंग्रह, बालोपयोगी उपन्यास या कथासंग्रह लिखे तथा प्रकाशित कराये हैं। इन्हें अनेक अवसरों पर राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित किया जा चुका है।

अलका (१९८६), हृदयेश्वरी (१९८१ ई.), महातीर्थम् (१९८२ ई.) भिन्नपुलिनम् (१९८३ ई.) इनकी मुक्तक रचनाओं के पुस्तकाकार संग्रह हैं। इनकी कविताओं का नवीनतम संग्रह 'ईशा' (१९८१ ई.) है, जिसमें सौ कविताएँ संकलित हैं।

केशवचन्द्र ने मुक्तछन्द में ही कविताएँ लिखीं हैं तथा इनके काव्य का भावबोध सर्वथा नवीन है। आधुनिक जीवन की विसंगति, परम्परा और आधुनिकता का द्वन्द्व, महानगर के जीवन का तनाव, पीछे छूट गये अकलुष पावन ग्राम जीवन की स्मृतियाँ जटिल प्रतीकों तथा बिम्बों के माध्यम से इनकी कविता उपस्थित करती है।

कवि ने स्वयं अपनी काव्ययात्रा को असंगति में संगति की खोज के रूप में लक्षित किया है (ईशा, भूमिका)। जीवन की रिक्तता और व्यर्थता का गहरा अनुभव केशवचन्द्र की कविताओं में अनेकत्र हैं, फिर भी वे जीवन को वरेण्य समझते हैं- 'इच्छायाः शेषकणे, जीवनं तथापि जृम्भते'। आज की भौतिकवादी लिप्सा के जगत् में सर्जना कठिन से कठिनतर कार्य होता जा रहा है- यह कवि अनुभव करता है-

निधिभवनस्य/अलिन्दे यथा/श्रूयते भौतिकतास्वरः/विक्षिप्तदीनतासु च/चीत्करोति/ शैलकल्पक्षुधा/कमहं श्रावयिष्यामि/प्रसूतिकाव्यथां मम ? (ईशा. पृ. ४)।

(कोश-गृह के बरामदे पर भौतिकता की आवाज सुनायी देती है। पहाड़ जैसी भूख पागल दीनताओं में चीत्कार कर रही है, प्रसव की पीडा किसे मैं सुनाऊ ?)

फिर भी अपने अस्तित्व का अनुभव अपने को खोने में, समष्टि में लय है, फेंकी गयी गेंद की तरह लौटने में नहीं, असीम में डूब जाने में है-

नाहं निक्षिप्तकन्दुकः/प्रत्यागभिष्यामि/भूतलं संस्पृश्य/परमेको मिमिलिषुः/आषाढस्य बिन्दुः। (वही. पू. १) (मैं फेंकी गयी गेंद नहीं हूँ। लौट आऊँगा। भूतल को छूकर। लेकिन, अकेली, मिलन की इच्छा वाली ! आषाढ की बूँद हूँ !)

कवि ने अपने अन्तर्जगत् के जटिल भावसंवेगों को अंकित करने के लिये सर्वथा अछूते बिम्बों या उपमानों की सृष्टि की है। देह और चेतना के पार्थक्य को निरूपित करता हुआ वह कहता है-

अनभिज्ञशरीरतो मम
मनो विगलति
यथा कश्चिद् वयस्कप्रणवः वृत्तित्यक्तब्राह्मणस्य मुखात्। (अलकां, पृ. ८)

(मेरे अनभिज्ञ शरीर से मन विगलित होता है, जैसे कोई प्रौढ़ प्रणव बेरोज़गार ब्राह्मण के मुख से)। इस अन्तर्जगत् में कवि स्वयं को स्वयं से अलग करके देखता है। तब 'सम्बोधन' सम्भव होता है। 'सम्बोधन' और उससे जुड़ी हुई विशिष्ट पदावली केशवचन्द्र के काव्य में प्रयुक्त हुई है। उनकी कविता को आत्मा का आत्मा से ही आत्मालाप और स्पृहाहीन होने की स्पृहा की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। इस अभिव्यक्ति के द्वारा कवि जिस धरातल पर पहुँचता है, वह असीम का अनुभव देता है। इस असीम को उसने 'अलका' भी कहा है। इस अलका तक पहुँचने के लिये वह स्वयं ही सन्देश देता है, स्वयं ही दूत भी है, स्वयं ही यात्री भी।

मेघकथां न पृच्छ माम्
अहं हि स्वयं दूतो मम नगरस्य
अहं च स्वयं प्रभुः न कस्य किङ्करः (वही, पृ. ४६)

(मेघ की वार्ता मुझसे मत पूछो। मैं स्वयं दूत अपने नगर का हूँ और मैं स्वयं स्वामी हूँ, किसी का किंकर नहीं।)

एक अर्थ में यह नयी कविता में, नये उपमानों, भावमय बिम्बों के साथ औपनिषदिक दर्शन का पुनराविष्कार है। संसार के सारे संसरण के स्तब्ध कर देने वाले कवि के द्वारा नये संसार की सृष्टि है। कवि कहता है कि चुम्बन लेते अधर में निमज्जित होते हास्य की तरह संसार को उसने निमज्जित अवनी अवैखरी लीला-माला में निमज्जित करा लिया है, तो कदाचित् वह इस नयी सृष्टि की ओर इंगित कर रहा है, इसी स्थिति में उसे 'त्वम्' भासित होता है -

संसारो निमज्जति स्वयं अवैखरीलीलामालिकासु
हास्यं यथा चुम्बिष्यदधरे त्वमवभाससे यदा (वही, पृ.२)

केशवचन्द्रने वर्तमान की विसंगतियों को अन्तर्मन की इसी उन्नत एकान्त नीरव भूमि पर खड़े होकर देखा है और उन्हें अपनी इस तटस्थ दृष्टि के आलोक में चित्रित किया है। संस्कृत के आधुनिक कवियों में ये सर्वथा भिन्न और अछूते अनुभव का साक्षात्कार भावक को देते हैं।

महाराजदीन पाण्डेय - महाराजदीन पाण्डेय (जन्म ३०.११.१६५६ ई.) इस समय नरेन्द्रदेव महाविद्यालय, बभनान (जिला-गोण्डा), उत्तर प्रदेश में संस्कृत प्राध्यापक हैं। ये इसी जिले के महादेवा निश्चलपुरवा ग्राम के निवासी हैं। इनकी संस्कृत कविताएँ, गीतियाँ पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। 'यौतकीयम्' इनका रूपक है तथा 'मौनवेधः' (१६६१) काव्यसंग्रह प्रकाशित है। अपनी काव्य दृष्टि को स्पष्ट करते हुए भी पाण्डेय ने लिखा है-

पथ्यं ये कटुकं कवित्वविषयीकर्तुं यतन्तेऽधुना।
यत्सत्यं कविता तदीयकविताऽन्येषां तु गल्लध्वनिः।।

(जो आजकल कड़वी दवा को कवित्व का विषय बनाने का प्रयास करते हैं, ठीक उनकी कविता तो कविता है, दूसरों की कविता गले की 'गलगलाहट' है।)

इस प्रकार ये काव्य में तथ्यकथन और यथार्थ को महत्त्व देते हैं। तदनुसार इनकी अनेक रचनाओं में सामाजिक अन्याय और विसंगतियों पर पैने प्रहार हैं। मौनवेधः में संकलित कविताओं में 'नमस्यास्ते गुरुम्मन्याः में ये कहते हैं-

पदं लीढ्वा पदं प्राप्ताः
वञ्चनैः सम्पदं प्राप्ताः
चाटुवचनैः पटूनामनुपदं ये सन्ततशरण्याः। (पृ. ४)

(जो पद (पैर) को चाट कर पद (स्थान, ओहदा) प्राप्त कर चुके हैं, वञ्चनों से सम्पत्ति को प्राप्त कर चुके हैं और चाटुवचनों से पटु-जनों के पग-पग पर निरन्तर शरणगत हैं।) 'धर्मनिर्मोकं दधानाः' शीर्षक मुक्त छन्द में लिखी कविता में भी पाखण्ड की विडंबना की गयी है।

श्री पाण्डेय ने वर्तमान भारत में नैतिक मूल्यों के ह्रास, सामाजिक विषमता, शोषण और बढती हुई अमानवीयता को अपनी कविता में उद्घाटित किया है। इस दृष्टि से इनकी 'विविक्तो वर्तमानः' शीर्षक लंबी कविता उदाहरणीय है।

अनेक ग़ज़ल-गीतियों में वैयक्तिक वेदना और अपने अन्तर्मन के एकान्त को कवि ने मार्मिक अभिव्यक्ति दी है। 'नखरैर्लेखयामि निजं व्रणम् '(पृ. २८),' कुशलं न पृच्छ लिम्प न लवणोदकं व्रणे '(पृ. ४१) तथा 'निशा शीतलायते' (पृ. ४५) आदि ग़ज़लगीतियाँ इसके उदाहरण हैं। असंस्कृत शब्दों का कहीं-कहीं खटकने वाला प्रयोग इन्होंने अपनी गीतियों में किया है, यथा-

करे घृत्वा लालटेनम्, ईश्वरं ढुण्ढामि' (पृ. १७)।

अपने स्थलों पर अप्रस्तुत विधान, बिम्ब या भाव उर्दूकाव्य से अनूदित करके प्रस्तुत किये गये से लगते हैं, जैसे समाधावपि क्लिश्यते चेतना मे (पृ. ४८) कब्र में भी बेचैनी होने के लिये, या भग्नकाचायिता भावनोच्चीयते (पृ. ५७) फूटे शीशे के बिम्ब के लिये।

श्री पाण्डेय ने छन्द तथा विधाओं की दृष्टि से विविधता और प्रयोगशीलता का परिचय दिया है। लोकगीत, ग़ज़ल मुक्त छन्द के अलावा इन्होंने कुण्डलिया और दोहा छन्दों में भी रचनाएँ की हैं तथा संस्कृत के मात्रिक छन्दों का भी प्रयोग किया है। लोकभाषाओं से मुहावरे लेकर इन्होंने संस्कृत की पदावली को संपन्नतर बनाने का प्रयास भी किया है। इस दृष्टि से 'रासभाः सिंहचर्माम्बरैरावृताः' या 'चर्व्यते मुखरीव मौखर्यम्' (मुखरता लगाम के दहाने की तरह चलायी जा रही है) इत्यादि पंक्तियाँ आकर्षित करती हैं।

अन्य प्रमुख मुक्तक कवि तथा उनके काव्य

वेङ्कट राघवन् संस्कृत के उन पण्डितों में थे, जिन्होंने पारंपरिक पद्धति से भी शास्त्रों तथा साहित्य का गहरा अध्ययन किया और आधुनिक साहित्य तथा आधुनिक कलाजगत् का भी प्रत्यक्ष संपर्क और गहन अनुशीलन किया। उनकी कविता परम्परा और आधुनिकता का समागम है। नाटककार और महाकाव्यकार के रूप में प्रख्यात कवि राघवन् ने संस्कृत में पचास के लगभग मुक्तककाव्य या खण्डकाव्य तथा शताधिक स्फुट पद्य, अन्योक्तियों या सुभाषितों की रचना की है। योरोप की यात्रा के अनुभव, आधुनिक जीवन की समस्याएँ, पश्चिमी काव्यधारा का संपर्क- इनके काव्य में तरलित हैं, पर पारम्परिक रचनाबन्ध और रसास्वाद की सुपुष्ट भूमि पर भी उनकी रचना अवस्थित है। उनके स्तोत्रकाव्यों में 'श्रीकामाक्षीमातृकास्तवः '(१६७६) तथा 'श्रीमीनाक्षीसुप्रभातम्' (१६७६) उल्लेखनीय हैं, तथा खण्डकाव्यों या गीतिकाव्यों में गोपहम्पणः (१६४७ ई.) देववन्दी वरदराजः (१६४८ ई.) महात्मा (१६४८ ई.) उच्छ्वसितानि (१६७६)। प्रमैव योगः (१६७८ ई.) प्रतीक्षा (१६७६ ई.) वाग्वादिनी सहस्रतन्त्री (१६६६) पुलकमेति कश्चित् कविः आदि आधुनिक संस्कृत गीतिकाव्य की विकास-यात्रा के महत्त्वपूर्ण सोपान कहे जा सकते हैं। राघवन् के काव्य में देश तथा विश्व में हो रहे परिवर्तनों के प्रति सजगता है, नवीन विचार-धाराओं का समावेश है, अंग्रेजी की स्वच्छन्दतावादी कविता की प्रेरणा भी है। कहीं-कहीं आत्मअनुभूतियों की गहनता और कहीं निसर्ग के सौन्दर्य के प्रति ललक का भाव है। संस्कृत कविता को नये मुहावरे और नयी शैली से अलंकृत करने में भी उनका योगदान है। एक कविता में आम के वृक्ष के वसन्त में पुनः नये हो उठने पर वे उसी से पूछते हैं-

किमिदं तव कार्मणं यदक्ष्णोः पुरतश्छोटिकयेव नूत्नमुर्व्याम्।
प्रतिनिर्मितवानसि स्वमेवं किमिदं मर्म रसस्त्वयीह को वा।।

(यह कौन सी तेरी कर्म-कुशलता है, जो आँखों के सामने चुटकी बजते ही, पृथ्वी पर अपने को नया बना डालते हो, यह रहस्य है क्या ? अथवा तुममें क्या रस है ?)

चुटकी बजते ही आम को अपने को नया बना डालना-इस अभिव्यक्ति को यहाँ कवि ने प्रकट किया है। राघवन् की काव्ययात्रा वस्तुतः साहित्यकी नयी प्रवृत्तियों स्वच्छन्दतावाद, रहस्यवाद से होती हुई भारतीय मनीषियों के जीवनदर्शन पर पहुँचती है। 'उच्छ्वसितानि' शीर्षक कविता में ये कहते हैं-

संसारार्णवबुद्बुदेष्ववसमेतावत् स्थिरप्रज्ञया
हर्षेणेव विवर्तयन्त्रघटनारूढोऽत्र मूढोऽभ्रमम्।
मत्स्यग्राह दिनं समागतमसौ जालेन कालः पुरो
मायाधीवर, मूढमत्स्यमधुना स्वामिन्नभं स्वीकुरु।।

(अब तक मैं संसार के समुद्र के बुद्बुदों के बीच रहा, स्थिर प्रज्ञा से हर्षपूर्वक चरखी पर चढ़ा मूढ़ मैं चक्कर काटता रहा। मत्स्य को पकड़ने वाले हे मायाधीवर, दिन आ गया है, जाल के साथ काल सामने है, अतः हे स्वामिन्, अब इस मूढ मत्स्य को स्वीकार कीजिए।) संसारार्णव के विवर्त, मत्स्य तथा जाल और माया रूपी धीवर आदि के द्वारा वेदान्त के दर्शन को कवि ने यहाँ व्यक्त किया है।

इसी श्रेणी के विद्वत्कवियों में मधुकर गोविन्द माईणकर तथा नये उभरते युवा कवियों में केशवचन्द्र दाश भी उल्लेखनीय हैं। इन कवियों ने परम्परा और संस्कृत साहित्य की संपदा का भी गहन अध्ययन किया है, तथा आधुनिक भावबोध तथा नये साहित्य की प्रवृत्तियों के साथ विश्व की अन्य भाषाओं में लिखे जा रहे साहित्य से भी ये सुपरिचित हैं।

जिन विद्वान् प्राध्यापकों ने संस्कृत काव्यलेखन में सक्रियता प्रदर्शित की, उनमें डॉ. गौरीप्रसाद झाला का नाम भी लिया जा सकता है (१९०७-७२ ई.)। यद्यपि इनकी संस्कृत रचनाओं का संकलन इनकी मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित किया गया, पर आचार्य झाला ने कई दशक पहले संस्कृत में मुक्त छन्द तथा नयी शैली की कविताओं का सूत्रपात कर दिया था, यह इस संकलन से विदित होता है। श्री झाला ने पारम्परिक छन्दों में प्रचलित विषयों पर भी कविताएँ लिखी हैं तथा मुक्त छन्द में नयी शैली के साथ भी रचनाएँ कीं। 'प्रौढा रात्रिः' शीर्षक कविता का नमूना देखिये-

प्रौढा रात्रिः निःस्पन्दा स्तब्धा
प्रकाशोदरगर्भादुदीर्णानि तमसो यूथानि
दन्तान् कटकटाय्य कालस्य कालखण्डं
भक्षयन्ति

टक् टक् टक् टक्। कट् कट् कट् कट्। (सुषमा, पृ. ३७)

(प्रौढा रात्रि निःस्पन्द तथा स्तब्ध है, प्रकाश के उदर-गर्भ से तमस् के यूथ निकल पड़े हैं, काल के टुकड़े को दाँत कटकटा कर खा रहे हैं......।)

आधुनिक संस्कृत मुक्तककाव्य के विकास में 'पद्यपुष्पाञ्जलिः' (मदुराई, १९५१) काव्यसंग्रह का योगदान महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। इसके कर्त्ता श्री सुब्रह्मण्य अय्यर मदुराई में रामेश्वर देवस्थानम् महाविद्यालय के प्राचार्य थे। इनकी अन्य संस्कृत काव्य कृति 'वल्लीपरिणय' है। 'पद्यपुष्पाञ्जलिः' दो भागों में विभाजित है। पूर्वभाग में पच्चीस छोटी-छोटी कविताएँ हैं तथा उत्तरभाग में सोलह पद्यबद्ध कहानियाँ हैं। कविताओं में

'शकुन्तलास्वगतम्' 'एकाकी' 'शिशुस्वर्गः' 'तदानीमिदानीं च' 'इत्यादि रचनाएं संस्कृतकाव्य की नयी भावभूमि को उत्खात करती है।श्री सुब्रह्मण्य की रचना सरल तथा कहीं-कहीं अपरिपक्व है। पर कुछ कविताओं में प्रौढि और काव्यपाक के साथ उत्कृष्ट कल्पना और उदार दृष्टि का योग हो सकता है। 'अष्टमूर्तिस्वरूपम्' कविता में आकाशरूप शिव का चित्र देखिये-

ब्रह्माण्डानि प्लवन्ते यदुदरविवरे नौकुलानीव सिन्धौ
कल्लोलानां प्रवाहः प्रसरति निबिडा यत्र भा विद्युदादेः।
यस्या ज्ञाने प्रमुग्धा अपि वरमनसश्चेह विद्वद्वरेण्याः
केशो रुद्रस्य या सा लसति सकलसूरादिमा व्योममूर्तिः।। (पृ. ३१)

(जिसके उदर-विवर में, समुद्र में नावों की भाँति ब्रह्माण्ड तैरते रहते हैं, जहाँ विद्युदादि के कल्लोलों का प्रवाह फैलता रहता है, जिसके ज्ञान में श्रेष्ठ विद्वान लोग भी मूढ हो जाते हैं (?) जो रुद्र के केश रूप है ऐसी सबकी जननी आद्या आकाशमूर्ति शोभायमान है।)

उत्तरभाग में कथानकों की पद्यात्मक प्रस्तुति श्री अय्यर का एक सराहनीय उपक्रम है। विषयवस्तु की दृष्टि से ये कथानक महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से खण्डकाव्य का स्वरूप भी कवि ने निर्मित किया है तथा आधुनिक कहानी की विधा का भी। कथानकों में कुछ विदेशी कहानियों पर आधारित हैं। इनसे विदेश की कतिपय प्रसिद्ध कहानियों का ज्ञान संस्कृत पाठकों को हो जाता हैं। दक्षिणभारत की कथाओं या लोककथाओं की प्रस्तुति भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। कथाओं की उपस्थापना में काव्यात्मकता का निर्वाह सफल है। प्रत्येक कथा किसी वैचारिक धरातल का भी स्पर्श करती है। वैचारिकता का समायोग श्री अय्यर की स्वतन्त्र कविताओं में भी हुआ है। जैसे- श्रममहिमा, भूतक्रीडा, भूभारः आदि कविताएँ इसके उदाहरण हैं।

खण्डकाव्यों में बकुलाभरणम् (राजमहेन्द्रवरम्, १९६६ ई.) महत्त्वपूर्ण रचना कही जा सकती है। इसके कवयिता महीधर वेङ्कटराम शास्त्री हैं, जो आन्ध्र प्रदेश के निवासी रहे हैं। बकुलाभरणम् दो परिस्पन्दों में विभाजित है, जिसकी कथा को कवि ने कल्पित बतलाया है, पर यह कथा लोककथाओं से साम्य रखती है। कथा की विषयवस्तु सामाजिक और मनुष्यचरित्र के उत्थान और पतन को प्रस्तुत करती है। कथा इस प्रकार है- विष्णुमित्र ब्राह्मण और उसकी पत्नी शान्ता किसी ग्राम में निवास करते थे। बड़ी मनौती तथा भगवदाराधन के पश्चात् उनके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम श्रीपति रखा गया। बड़े होने पर श्रीपति का धूमधाम से विष्णुमित्र ने विवाह किया और घर में सुशील रूपवती बहू आ गयी, जिसका नाम मल्लिका था। दुर्योग से श्रीपति एक नर्तकी की कुसंगति में पड़ गया और मल्लिका को छोड़कर नगर में उसी के यहाँ रहने लगा। मल्लिका ने आत्मघात का प्रयास किया, तो एक वृद्धदम्पती ने उसे बचाया और उनके यहां बकुलापीड नामक पुत्र को उसने

जन्म दिया। बड़ा होकर बकुलापीड बड़ा शूरवीर बना और उसने एक ऐसे दृप्त योधा को हरा दिया, जिसने राजा के सामने अपने प्रतिस्पर्धी वीर के लिये चुनौती दी थी। प्रसन्न होकर राजा ने उसे अपना सेनापति बना दिया। एक बार बकुलापीड को नर्तकी के द्वारा परित्यक्त आत्महत्या की चेष्टा करता हुआ कोई वृद्ध मिला। यह वास्तव में उसका पिता श्रीपति था। इस प्रकार मल्लिका और श्रीपति का पुनर्मिलन हुआ।

इस काव्य में गाँव के सहज आर्जव संपन्न जीवन का अच्छा चित्रण किया गया है। नगर के संपर्क से गाँव में पले युवक में दुष्प्रवृत्तियों का जागरण दिखाया गया है। सारा काव्य मन्दाक्रान्ता छन्द में है। छन्द का सम्यक् अभ्यास न होने से कहीं-कहीं बहुत खटकने वाला छन्दोभंग लेखक ने किया है। पर सौन्दर्य के चित्रण और रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से काव्य प्रभावित करता है। शान्ता के इस चित्र में कवि ने भारतीय नारी को साकार कर दिया है-

अंसे वामे शिथिलितकचं कज्जलं पक्ष्मभागे
हारिद्रेणामृदितरजसोद्वर्तिते फालदेशे।
माङ्गल्यार्थं पृथुलतिलकं कौङ्कुमं चोद्वहन्ती
साध्वी सा द्राग् जनयति नृणां पश्यतां नम्रभावम्।। (१८)

(बायें कंधे पर शिथिल पड़े बाल, बरौनियों में काजल तथा हल्दी के उबटन लगे फालदेश में माङ्गल्यार्थ कुंकुम के मोटे तिलक को धारण करती हुई वह साध्वी देखते हुए लोगों को झुका देती है।)

ऐसी साध्वी नारी और उसके पति विष्णुमित्र के पुत्र हुआ, जैसे सीपी के दोनों जुड़े हुए दलों के बीच से मोती निकलता है-

पुत्रः काले गतवति तयोर्वृद्धयोः प्रेमदाम्ना
जज्ञे मुक्तामणिरिव दलद्वन्द्वसम्बद्धमुक्तेः।। (१६)

सम्पूर्ण काव्य में सरल प्रासादिक भाषा का प्रयोग कवि ने किया है। नर्तकी के नृत्य के वर्णन में प्रसंगानुरूप नृत्यत्प्राय शिलष्ट दीर्घसमासबन्धमय पदावली का उपयोग बड़ा सटीक है- इसी प्रकार नर्तकी के द्वारा वश में किये ये श्रीपति को लगाम की नकेल लगाकर बांध दिये गये चौपाये से उपमित किया गया है-

प्रोद्यल्लीलाशतसुभगदृङ्मालिकायन्त्रितोऽसौ
तत् तत् कर्मानुपदमकरोदेतया यद्यदुक्तम्।
नासारज्जुप्रतिहतनिजेच्छाविहारप्रकारः
प्रज्ञालोपात् पटुरपि चतुष्पाद् यथा मुष्टिबद्धः।। (१/५१)

पति से परित्यक्त मल्लिका की मनोव्यथा का चित्रण कवि ने करुणा और संवेदना में डूब कर किया है। प्रोषितभर्तृका के प्रतीक्षा-भाव को स्वभावोक्ति के द्वारा मार्मिक अभिव्यक्ति दी गयी है।

पर्णे पर्णे गृहगततरोर्वायुना चालितेऽपि
प्रत्यायातः पतिरिति विनिश्चिन्वती द्वारदेशम्।
गत्वाऽज्ञानात् प्रतिदिनमहं वञ्चितास्मीति भर्त्रा
किन्त्वात्मानं निरवधि तथा वञ्चितां नो नियत्या।। १/५२

(घर में लगे पौधे के पत्ते हवा में हिलने पर भी मल्लिका को लगता कि पति लौट आया है, और वह द्वार तक दौड़ कर देखती। प्रतिदिन ऐसा होता रहा, तब उसे निश्चय हो गया कि पति ने उसे धोखा दिया है। पर नियति ने भी धोखा दे दिया है- ऐसा उसने न माना)। इस काव्य के लघु कलेवर में औपन्यासिक विस्तार को समेट लिया गया है तथा कथानक की सोदेश्यता का निर्वाह किया गया है।

मुक्तकाव्यसंग्रहों में ए.वी. सुब्रह्मणियन् का 'कल्पनासौरभ' (१९७४) उल्लेखनीय है। इसके रचयिता भारतीय रेलवे के वित्त सलाहकार और मुख्य लेखाधिकारी रहे हैं। 'कल्पनासौरभ' में संकलित मुक्तक रचनाओं में कुछ स्तुतिपरक हैं, कुछ में दार्शनिक चिन्तन और भारतीय मूल्यबोध को उपनिबद्ध किया गया है। 'जीवात्मषट्पदीयम्' में भ्रमर को जीव का प्रतीक बनाकर बन्धन, माया तथा मुक्ति की अवधारणा को काव्यात्मक रूपक में बाँधा गया है। इसी संकलन में तेरहवीं कविता 'ब्रह्मपुत्रो महानदः' आसाम के ब्रह्मपुत्र नद के प्रवाह और उसके तटवर्ती प्रदेश का सुन्दर चित्रण है। गैंडे की चेष्टाओं का यह वर्णन स्वाभावोक्ति तथा भ्रान्तिमान् का अच्छा निदर्शन है-

यत्रोपकूलमतिरौति स एकदन्तः
आयोध्य तीक्ष्णदशनः पृथुवंशषण्डम्।
वायौ विकीर्णकरवीरसुमं समीक्ष्य
किं शोणितं क्षतजमित्यधिकं बिभेति।। (पृ. ५५)

रेवाप्रसाद द्विवेदी-सीताचरितम् (उत्तरसीताचरितम्) तथा स्वातन्त्र्यसम्भवम्- इन दो महाकाव्यों के रचयिता रेवाप्रसाद द्विवेदी के निम्नलिखित काव्यसंग्रह या मुक्तक काव्य इसी दशक में प्रकाशित हुए है- शतपत्रम् (१९८७), प्रमथः (१९८८) तथा रेवाभद्रपीठम् (१९९०)। आचार्य द्विवेदी कल्पना की उर्वरता तथा प्रातिभ उन्मेष के धनी हैं। 'शतपत्रम्' में इन्होंने कविता को परिभाषित करने के लिये उपमानों या प्रत्युपमानों की शृंखला उपस्थित कर दी है। कविता हृदय की भाषा है, जो मौन में भी नववधू की भाँति मुखर है। समर्पण उसकी रचना की पहली आवश्यकता है-

कविता हृदयस्य कापि भाषा
मुखरा मानमयी वधूर्नवेव।
नहि शक्तिरथो न तत्र भक्तिः
प्रतिपत्तिस्तु समर्पणाय मार्गः ।। (७)

'प्रमथः' में नौ कविताएँ संकलित हैं। पहली रचना 'प्रमथः' शिव को सम्बोधित है, जिसमें परमाणु युद्ध के दारुण दुष्परिणामों की कल्पना करके उनसे अपना ताण्डव रोक लेने की प्रार्थना की गयी है। प्रमथ (शिवगण) को यह परमाणु का प्रतीक माना गया है। 'प्रलापाः' शीर्षक कविता में लक्ष्मी को चुनौती भरे शब्दों में सम्बोधन है, इसमें कवि की विनोदवृत्ति भी प्रकट हुई है। उत्प्रास या व्यंग्य की दृष्टि से 'निसर्गः' शीर्षक कविता बड़ी पैनी है, इसमें मनुष्य की परपीड़ा में सन्तुष्टि की कुण्ठित भावना का अच्छा चित्रण किया गया है। आज का मनुष्य अपने घर-परिवार में सन्तुष्ट न रहकर पड़ोसी को दुःखी देखकर सन्तोष पाता है, या उसकी समृद्धि से खिन्न होता है-

अहमस्मि न हन्त हन्त तुष्ट-
श्चरितार्थं परिलक्ष्य मां स्वगेहे।
परितुष्यति चेतना मदीया
प्रतिवेशे यदि वह्निमुत्सृजामि।।
मम धेनुरतीव पुष्टगात्री-
त्येलमेतन्मम नास्ति तोषणाय।
प्रतिवेशिविडालकप्रपोष-
परिदग्धाम्बक-शूल-पीडितस्य।। (३०, ३१, प्रमथः, पृ. ५६)

'रेवाभद्रपीठम्' काव्य द्विवेदी जी की गीतिकाव्य के क्षेत्र में विशिष्ट उपलब्धि है। यद्यपि यह नर्मदा की स्तुति में रचा गया है, पर कवि ने इसमें नर्मदा तट के ग्रामों, वहाँ के जनजीवन, रहनसहन और रीतिरिवाजों का इसमें स्वानुभूत यथायथ चित्रण भी किया है। कवि की रेवा के प्रति भक्तिभावना जितनी प्रबल है, उससे सिंचित प्रदेश और वहाँ की जनता के प्रति उसका अनुराग भी उतना ही गहरा है। अंचल विशेष की संस्कृति का चित्रण प्रस्तुत करने वाला तथा आंचलिकता (लोकलकलर) का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करने वाला यह अपने ढंग का अनूठा काव्य कहा जा सकता है। पूरा काव्य अनुभूति में डूब कर संरम्भ के साथ लिखा गया है, जिसकी पीठिका में कवि ने अपना दृष्टिकोण और अपने कवित्व का आदर्श भी विशद रूप से स्पष्ट कर दिया है। उसका कहना है-

तीर्थायते न खलु केवलमम्भ एव
पात्रं न वा न च तटं सरितां सृतीनाम्।

तत्तीरगा जनपदा जनतास्तदीया
जीवातवश्च न न तीर्थयितुं क्रमन्ते।।

(केवल जल, पात्र या नदी तट ही तीर्थ नहीं हुआ करते, उनके किनारे बसे लोग और जनपद भी क्या तीर्थ नहीं बन जाते हैं!)

कवि ने अपने जन्म स्थान नादनेर गाँव का वातावरण, वहाँ के दूलहदेव नामक ग्रामदेव, मातामाई, छप्पर से मढी वहां की कोठरियों आदि को छायाचित्रात्मक शैली में साकार कर दिया है। आंचलिकता तथा यथार्थ का अनुभव देने के लिये ग्रामजीवन में प्रचलित शब्दों या लोकभाषा की पदावली का प्रयोग भी उसने कुछ पद्यों में धड़ल्ले से कर दिया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

नारीणां वसनानि यत्र लहंगा चोली सशाटी, शिरो-
भूषायै ननु रेखड़ी, गुणशतैः केशेषु सन्नद्धता।
यासां वै कटिदोरकेण विपुलाभोगेन संशोभितं
भव्यं तन्त्रति सार्थकीकृतविधौ मध्यप्रदेशश्रुतौ।।
ताटङ्कं श्रवसोः सुवर्णरचितं ग्रीवासु कण्ठावृता
स्वर्णालङ्कृतिरङ्गनासु भजते बाजट्टिका च श्रियम्।
बाजूबन्दयुगान्विते भुजयुगे चूडाऽवतानान्विता
पादे वृश्चिकपायजेबकटिका गर्वाय सञ्जाग्रति।। (९, १०)

पूरा काव्य एक आवेग के साथ रचा गया प्रतीत होता है, जिसके प्रवाह में कवि को रेवातट के जनपदों के कृषक अपने आर्जव के कारण कवि ऋषि के द्वारा प्रशंसनीय लगते हैं-

यच्चक्षुः कमठायते श्रुतिमहावाक्यार्थमन्थाचले
तत्तत्त्वार्थसुधोत्कटाद्भुतघटप्रादुर्बुभूषास्वलम्।
रेवाक्षेत्रनिवासिनां हलकृषिव्यापारमात्रात्मना-
मप्येषां परमर्षयोपि शुचितां गुम्फन्ति काव्योत्तमैः।। (१९)

आदिम जनजातियों के जीवन के चित्र कदाचित् पहली बार समकालिक संस्कृत साहित्य में इस काव्य के माध्यम से प्रस्तुत हुए हैं। भक्तिभावना, सरसता, लोकजीवन का सूक्ष्म अंकन तथा भाषाशैली के परिष्कार के कारण यह काव्य उत्कृष्ट है।

खण्डकाव्यों में श्री जानकीराम काव्यतीर्थ का 'द्वैपायनावदानम्' पाँच सर्गों का काव्य है, जो महाभारतीय, इतिवृत्त पर आधारित है। इसके नायक कृष्णद्वैपायन व्यास हैं। इसमें व्यास को केन्द्र में रखकर पाण्डवों के वनवास तक की कथा ही प्रस्तुत की गयी है। आन्ध्र के श्री सूर्यनारायण शास्त्री ने अनेक खण्डकाव्यों की रचना की है। बंगलौर के श्री के.एस.

नागराजन् विज्ञान के स्नातक और एकाउंट आफिसर के पद पर कार्य करते रहे हैं, पर इन्होंने संस्कृत में विपुल मात्रा में साहित्य रचना की है। 'शबरीविलासम्' (बंगलौर, १६५२) पौराणिक विषयवस्तु पर आधारित इनका खण्डकाव्य है। इसकी कथा बड़ी रोचक है। पार्वती और शिव के बीच द्यूतक्रीडा, प्रणयकलह, द्यूत में पराजित शिव का गृहत्याग और वन में तप, पार्वती का अनुताप और शबरी के वेष में शिव को ढूंढना और इसी वेष में उन्हें आकर्षित करने का प्रयास तथा अन्त में दम्पती का पुनर्मिलन- यह लोककथाओं के सदृश मनोरंजक इतिवृत्त कवि ने सरस और सरल शैली में इस काव्य में प्रस्तुत किया है।

महाकाव्य तथा नाटककार के रूप में भी ख्यात श्री श्रीधरभास्कर वर्णेकर ने विभिन्न कथाओं या विषयों को लेकर अनेक खण्डकाव्य लिखे हैं। 'मन्दोर्मिमाला' इनका गीतिकाव्य है। विनायकवैजयन्ती (पारडी, १६५८) स्वतन्त्रतासेनानी श्री सावरकर के जीवनचरित को प्रस्तुत करने वाला खण्डकाव्य है। यह काव्य आठ स्तबकों में विभाजित है। वर्णेकर जी के अन्य खण्डकाव्य कालिदासरहस्यम्, वात्सल्यरसायनम्, तथा जवाहरतरङ्गिणी (नागपुर, १६५८) हैं। कालिदासरहस्यम् में भी आठ भाग हैं। इसमें कालिदास के कवित्व और कृतित्व का गीतिकाव्य की शैली में रम्य उपस्थापन है। जवाहरतरङ्गिणी शतककाव्य है, जिसमें कवि ने नेहरू जी के गुणों तथा कृतित्व की महनीयता का वर्णन किया है।

पौराणिक कथानायकों तथा महापुरुषों के जीवन पर बड़ी संख्या में खण्डकाव्य इस काल में संस्कृत में लिखे गये, उनमें शिवप्रसाद भारद्वाज (जन्म १६२२ ई., भारतसन्देश काव्य के सन्दर्भ में भी इनकी चर्चा है) का महावीरचरितम् तीर्थङ्कर महावीर के जीवन और सन्देश को प्रस्तुत करता है।

दक्षिण के कवि श्री सालिराम चन्दराय के 'सुदामाचरितम् में पाँच सर्गों में श्रीकृष्ण और सुदामा की मैत्री, सुदामा के गार्हस्थ्य, कृष्णसुदामा के पुनर्मिलन में छात्रावस्था की घटनाओं की मधुरस्मृतियों आदि का सुन्दर चित्रण किया गया है। मुनि नथमल जैन ने 'अश्रुवीणा' नामक खण्डकाव्य में कौशाम्बी की राजकुमारी पर महावीर की करुणा का मर्मस्पर्शी कथानक प्रस्तुत किया है। राजकुमारी चन्दनवाला दुर्भाग्यवश एक वणिक् के घर बन्दिनी है। महावीर उसके घर भिक्षा लेने पहुँचते हैं। इसके बाद वह अपने ऑसुओं को भगवान् के पास सन्देशवाहक बनाकर भेजती है। तब महावीर उस पर अनुग्रह करते हैं।

प्राचीन कथानकों की प्रायः यथावत् प्रस्तुति करने वाले खण्डकाव्यों के साथ-साथ कुछ खण्डकाव्य ऐसे भी लिखे गये, जिनमें कथानक की प्रस्तुति नयी परिकल्पना के साथ की गयी है या उसके द्वारा अपने युग के सन्दर्भों को व्याख्या दी गयी है। श्री वैंकटरमणैया ने अपने काव्यसमुदाय (बैंगलोर, १६४४ ई.) में हरिश्चन्द्र, नमोनेदिष्ठ तथा विश्वामित्र से संबद्ध कथाओं को नवीन योजना के साथ प्रस्तुत किया है। डी.एम. कुलकर्णी ने धारायशोधारा (सतारा, १६५२ ई.) में धारा नगरी के वैभव और सांस्कृतिक गौरव की गाथा राष्ट्राभिमान जागृत करने की दृष्टि से प्रस्तुत की है।

शोकगीति-शोकगीति की परंपरा संस्कृत काव्य में उन्नीसवीं शताब्दी से आरम्भ हो गयी थी। इस शती में आकर शोकगीतियों की संख्या अधिक दिखायी देती हैं। अनेक शोकगीतिकाव्य महात्मागान्धी के दुःखद अवसान के प्रसंग में लिखे गये हैं। बदरीनाथ का 'शोकश्लोकशतकम्' (पटना से प्र.) इसी विषयवस्तु की करुणा से आपूरित काव्य है। इसके अन्त में कवि ने यह विश्वास व्यक्त किया है कि जब तक यह धरती है, जब तक इस पर आग जलती है और वायु प्रवाहित होती रहती है, तब तक महात्मा गान्धी की कीर्ति भी इस पर अक्षय रहेगी। इसी प्रकार का एक उल्लेखनीय शोकगीतिकाव्य 'अग्नियात्रा' है। इसके रचयिता श्री बी.एन. दातार हैं, जो योजना आयोग के अंतर्गत श्रम तथा रोजगार विभाग के अध्यक्ष रहे हैं। इस काव्य में पं. जवाहरलाल नेहरू की मृत्यु के पश्चात् उनके पार्थिव शरीर को त्रिमूर्तिभवन से ले जाकर दाहसंस्कार तक के वृत्तान्त का करुण चित्रण है। शासकीय उच्चाधिकारी होने के कारण लेखक को नेहरू जी से जुड़ी परिस्थितियों, उनके निवासस्थलों और कार्यकलापों का प्रत्यक्षदृष्ट ज्ञान है, जिसका स्मृति के रूप में उपयोग इस काव्य में उसने मार्मिक ढंग से किया है।

श्री हजारीलाल विद्यालंकार (जन्म १६१५ ई.) ने शिवप्रतापविरुदावली, संस्कृतमहाकविदिव्योपाख्यानम्, इन्दिराप्रशस्तिशतकम् महर्षिदयानन्दशतकम् तथा शिवशतकम्- की रचना की है। इनकी भाषा-शैली सरल है। संस्कृतमहाकविदिव्योपाख्यानम् में इन्होंने कालिदास, श्रीहर्ष बाण, माघ, भारवि, भवभूति आदि महाकवियों के विषय में प्रचलित कथाओं की पद्यात्मक प्रस्तुति की है।

कुरआन का संस्कृत में अनुवाद प्रस्तुत करने वाले श्री सत्यदेववर्मा (जन्म १६१८ ई.) ने 'संस्कृतसुमनःसमुच्चयः' तथा संस्कृतकवितागीतानि च-ये दो पुस्तकें काव्यरचना की प्रकाशित की हैं। पहली पुस्तक अनुवादात्मक है, इसमें उर्दू के शेरों का संस्कृत में अनुवाद है। कुल ४१० शेर यहाँ पद्यों में अनूदित हैं। दूसरी पुस्तक में वर्मा जी की मौलिककाव्यरचनाएँ हैं। दोनों पुस्तकों का प्रकाशन क्रमशः १६६६ तथा १६७४ ई. में हुआ।

श्री रमेशचन्द्र शालिहास (जन्म १६२५ ई.) की संस्कृत कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं हैं। श्यामगीता, श्याममहिम्नःस्तोत्र, सत्यसप्तकम्, सन्तस्वरागारः - इनके पुस्तकाकार प्रकाशित काव्य हैं। सन्तस्वरागारः में हिन्दी के सूर, कबीर, मीरा आदि भक्त कवियों के पद समतुल्य लय, ताल आदि के साथ अनूदित किये हैं। सन्त शब्द का संस्कृत में इनके द्वारा किया गया प्रयोग चिन्तनीय है।

आचार्य राधाकृष्ण (जन्म १६३४ ई.) सम्प्रति दण्डी स्वामी निगमबोधतीर्थ के नाम से जाने जाते हैं। इनका स्थान विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान होशियारपुर में मुख्यतः रहा। इन्होंने हरियाणावैभवम् की रचना ३०० पद्यों में की है।

रामेश्वरदत्त शर्मा (जन्म १६३५ ई.) भिवानी के महाविद्यालय में संस्कृत प्राध्यापक हैं। इन्होंने संस्कृत में अपनी दो रचनाएँ प्रकाशित की हैं- दिव्यदृष्टिः तथा हरियाणासंस्कृतवृत्तम्।

दिव्यदृष्टि में १८६ पद्य हैं, जो दर्शन, सहजभाव, राजनैतिक तथा परिहास-इन चार शीर्षकों से चतुर्धा विभाजित हैं।

अनन्तराम मिश्र (जन्म १६५६ ई.) का संस्कृता गीतिकाव्य भी यहाँ उल्लेखनीय है। इसमें विभिन्न संस्कृत छन्दों के अतिरिक्त सवैया, दोहा आदि हिन्दी के छन्द तथा सूरदास आदि के पदों के सदृश गीतियों में भी कवि ने रचनाएँ प्रस्तुत की हैं।

हरिश्चन्द्र रेणापुरकर (जन्म १६२४ ई.) के काव्योन्मेषः में ४२ कविताएँ संकलित हैं, इनमें से कुछ राष्ट्रभक्तिपरक हैं, अनेक सामाजिक विषयवस्तु से संबद्ध है। एच.ए. शाण्डिल्य (जन्म १६२७ ई.) ने तीन खण्डकाव्य प्रकाशित कराये हैं- यात्राप्रसङ्गीयम्, ऋतुवर्णनम् तथा कामदूतम्। श्री रामनाथ शास्त्री (जन्म १६२६ ई.) ने विरहालापम्, प्रहेलिकाशतकम्, मानिनीमानभङ्गम् तथा बुद्धलीलाचरितम्- ये चार काव्य प्रस्तुत किये हैं। ये सभी काव्य १६८१ से १६८५ के मध्य प्रकाशित हुए। आतंकवाद की विषयवस्तु को लेकर १६८७-८८ ई. मे शास्त्रीजी ने 'भावविलासः' की भी रचना की। १६८६ ई. में इनका रावणमानभङ्गम् नामक खण्डकाव्य सामने आया, जिसमें बालि के द्वारा रावण के पराजय का वृत्तान्त निरूपित है।

शिवशरण शर्मा (१६२८ ई.) का जागरणम् (१६६३ ई.) प्रकाशित हुआ। इसके पूर्व सूर्योदय आदि पत्रिकाओं में श्री शर्मा के संस्कृत गीत प्रकाशित होते रहे हैं। इन पर हिन्दी की नवगीत विधा का प्रभाव है, संस्कृत छन्दों के स्थान पर इन्होंने गीतिविधा में ही रचनाएँ की हैं। जागरणम् के प्रकाशन के पश्चात् भी ये गीतियों के लेखन तथा प्रकाशन में संलग्न रहे हैं। इनकी अभिव्यक्ति में स्पष्टता है, तथा भाषा प्रसादगुणमयी है। नवयुग के अनुरूप नयी चेतना को काव्य में व्यक्त करने का आग्रह प्रकट करते हुए ये कहते हैं-

किमद्यापि ते सैव रागिणी ?
युगं व्यतीतं कालो यातो यस्मिन् गीतो मधुरो रागः।
शून्यमद्य मधुवनं वर्तते, नहि सुमानि, कीदृशः परागः ?
कथं प्रचण्डनिदाघे भ्रातर्मल्लारं गायति ते वाणी ?

देश तथा समाज के भवितव्य को लेकर चिन्ता इनके गीतों में विशेष रूप से झलकती है-

कीदृशं सुखसेवनं रे।
व्याकुला जननी, मदीयं ज्वलति रम्यनिकेतनं रे।

परमानन्द शास्त्री (जन्म १६२५ ई.) अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में संस्कृत प्राध्यापक रहे हैं। इनकी गीति रचनाएँ अनेक संस्कृत पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। 'परिदेवनम्' इनका शोकगीतिकाव्य है, जिसमें वेदना का अनुभव प्रधान रूप से व्यक्त हुआ है। यह काव्य १६८० ई. में प्रकाशित हुआ। शास्त्रीजी ने दो दूत काव्यों की रचना की है-

वानरसन्देशः (१६८२ ई.) तथा गन्धदूतम् (१६७७ ई.)। 'स्वरभारती' इनके संस्कृत गीतों का संग्रह है तथा कौन्तेयम्, भारतशतकम्, परमानन्दसूक्तिशतकम्- आदि इनकी अन्य मुक्तक रचनाएँ हैं। शास्त्री जी के गीतों में लालित्य और लय के साथ युगबोध की अभिव्यक्ति हुई हैं। प्रसादगुण इनकी कविताओं में सर्वत्र निर्व्यूढ है।

गान्धीसौगन्धिकम् भारतीस्वयंवरम् तथा स्वामिचरितचिन्तामणिः इन तीन महाकाव्यों के कर्ता श्री सुधाकर शुक्ल ने अनेक गीतिकाव्यों तथा स्तोत्रों की रचना की है। 'देवदूतम्' उनका इन्दिरा गान्धी की प्रशस्ति में रचा गया खण्डकाव्य है। 'दुर्गादिवनम्' स्तोत्र तथा 'केलिशतकम्, इनका गीतिकाव्य है।

संस्कृत गीतकार श्री ओमप्रकाश ठाकुर का जन्म २०.६.३४ को अलीपुर (इस समय पाकिस्तान में है) में हुआ। १६४६ ई. में इन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय से प्राज्ञ परीक्षा उत्तीर्ण की। दिल्ली विश्वविद्यालय से एम.ए. तथा दरभंगा विश्वविद्यालय से साहित्याचार्य की उपाधियाँ इन्होंने प्राप्त कीं।

१६७७ ई. में काशी की पण्डित परिषद ने इन्हें 'कविरत्न' की उपाधि से अलंकृत किया। १६५४ ई. से ये दिल्ली प्रशासन के अन्तर्गत शिक्षाविभाग में अध्यापन करते रहे। सम्प्रति वहाँ से सेवानिवृत्त होकर दिल्ली के दौलतपुर ग्राम में एक विद्यालय में उपप्रधानाचार्य हैं। श्री ठाकुर ने अब तक सैकड़ों संस्कृत गीतियों का प्रणयन किया है। ठाकुरगीतावली इनके ४० गीतों का संकलन है। "इन्द्रधनुः" (१६६३) प्रकाशित है। इनके गीत विभिन्न विषयों पर हैं तथा बालोचित हैं, जिनमें सतही विवरण अधिक है, रागात्मकता, सौन्दर्यबोध या रसावेशवैशद्य का प्रायः अभाव है।

वाराणसी के इन्द्रदेव द्विवेदी (मूल निवासी जिला-भोजपुर, लहठान) इन्द्रादेशम्, इन्द्रगीतम् तथा सूक्तिमन्दाकिनी ये तीन मुक्तक काव्य संस्कृत में प्रकाशित कराये हैं।

के.बी. जैन कालेज सहारनपुर में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष श्री विष्णुकान्त शुक्ल (जन्म १६२४ ई.) की 'स्फाटिकीमाला' गीतिकाव्यसंकलनों में महत्त्वपूर्ण है। श्री शुक्ल की संस्कृत गीति रचनाएँ अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। आर्या छन्द में भी इन्होंने विपुल मात्रा में रचना की है। सफाटिकीमाला में कोमल रागात्मक भावों को अभिव्यक्ति दी गयी है।

रुद्रदेवत्रिपाठी (जन्म १६२५ ई.) प्रेरणा, नीतिगङ्गा, पत्रदूतम, पुत्रदूतम्, गायत्रीलहरी, बदरीशलहरी, भैरवलहरी, विनोदिनी, डिण्डिमः, हाहा-हूहूः तथा प्रासङ्गिकमद्यपीयूषम्- ये ग्यारह काव्यसंग्रह प्रकाशित किये गये हैं। इनमें से प्रथम दो स्वतन्त्र विषयों को लेकर प्रस्तुत किये गये हैं, दो दूतकाव्य हैं, तीन लहरी काव्यों की विषयवस्तु देवस्तुति है, तथा अंतिम चार काव्यसंग्रह हास्यविनोद के हैं। वस्तुतः संस्कृत काव्य में हास्य और व्यंग्य की प्रस्तुति की दृष्टि से श्री रुद्रदेव त्रिपाठी का विपुल योगदान है। इन्होंने विडम्बनशैली, पैरोडी, असंस्कृत शब्दों का साभिप्राय प्रयोग हास्यसृष्टि के लिये किया है।

श्रीमती नलिनी शुक्ला (जन्म १९४० ई.) ने संस्कृत में कहानियाँ लिखी हैं, तथा भावाञ्जलिः (१९७७) स्वरूपलहरी, प्रकीर्णम्, वाणीशतकम्, निर्झरिणी-ये मुक्तकसंग्रह भी प्रकाशित किये हैं। इनकी गीतियों में जयदेव की कोमलकान्तपदावली की अनुगूँज है। अनेक गीतियाँ देवस्तुतिपरक हैं। निर्झरिणी (१९८९) के गीतों- 'करुणया हृदयं हि विदीर्यते वेदना चिरसंगिनी हृदयस्य मे'-आदि में स्त्रीहृदय की भावाकुलता है तो अनेक गीतियों का स्वर राष्ट्रप्रेम और समाजचेतना का है। श्रीपद्मशास्त्री (जन्म १९३५ ई.) लेनिनामृतम्' महाकाव्य के रचयिता के रूप में विख्यात हैं। सिनेमाशतकम्, स्वराज्यम्, पद्यप्रञ्चतन्त्रम्, चायशतकम् आदि आपकी मुक्तक काव्यकृतियाँ हैं।

अर्वाचीनसंस्कृतम् पत्रिका के सम्पादक रमाकान्त शुक्ल (जन्म १९४० ई.) ने अनेक गीतिकाव्यसंकलन प्रकाशित किये हैं, जिनमें 'भाति मे भारतम्' अत्यन्त लोकप्रिय हुआ है। स्रग्विणी छन्द की गेयता का इन्होंने अच्छा उपयोग किया है। 'जय मातृभूमे' इनका दूसरा काव्य है।

रामकिशोर मिश्र का जन्म एटा जिले के सोरों (शूकरक्षेत्र) में हुआ। सम्प्रति आप सेवड़ा (मेरठ जिला) के महाविद्यालय में संस्कृताध्यापक हैं। मिश्र जी ने नाटक, महाकाव्य, उपन्यास आदि विधाओं में विभिन्न रचनाओं के अतिरिक्त निम्नलिखित गीतिकाव्य संग्रह प्रकाशित किये हैं- बालवीरम्, गीतजवाहरम्, अष्टोक्तिशतकम्, किशोरगीतम्, किशोरकाव्यम् तथा बालचरितम्। "काव्यकिरणावलिः" में (१९८४ ई.) में इन्होंने बाल्यकाल से लगाकर प्रकाशनकाल तक की अपनी काव्यरचनाएँ अष्टादश किरणों में संकलित की हैं। सोलहवीं तथा सत्रहवीं किरणों (पृ. २०४-२३०) में संकलित गीत माधुर्य तथा सौष्ठव के कारण कहीं-कहीं उत्तम बन गये हैं, अन्यथा अधिकांश रचनाएँ अपरिपक्व, मात्र विवरणात्मक या नीरस हैं।

इच्छाराम द्विवेदी (जन्म १९५६ ई.) मैनपुरी में संस्कृत प्राध्यापक हैं। इन्होंने ग़ज़ल तथा गीतों की विपुल मात्रा में रचना की है, जो दूर्वा, अर्वाचीन संस्कृतम् आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। दूतप्रतिवचनम् (१९८९ ई.) तथा मित्रदूतम् इनके प्रकाशित काव्य हैं। दूतप्रतिवचनम् में मेघ के प्रति सन्देश के व्याज से भारतीय समाज के वर्तमान यथार्थ का सटीक चित्रण किया गया है। नैसर्गिक सौन्दर्य के चित्रण की दृष्टि से 'मित्रदूतम्' भी रमणीय है।

देवदत्त भट्टि ने मुक्त छन्द बहुसंख्य कविताएँ लिखी हैं। इनके काव्य में हास्य और व्यंग्य का पुट अच्छा रहता है। नये मुहावरों तथा कहीं-कहीं असंस्कृत पदावली का प्रयोग भी ये करते हैं। इनके इरा, सिनीवाली तथा शम्पा-ये मुक्तक काव्य प्रकाशित हैं, तथा काञ्चनी वासयष्टिः शीर्षक काव्यसंग्रह भी छपा है।

चतुर्थ अध्याय

नाट्य-साहित्य

(नाटक, प्रहसन आदि रूपक की विविध विधाएं)

पृष्ठभूमि

उन्नीसवीं-बीसवीं शती ईस्वी (१८०० से लेकर १९९० ईस्वी तक) का संस्कृत साहित्य और उसमें भी नाट्य साहित्य की रचना जिस विपुल मात्रा में है, वह सब भारत देश में संस्कृत भाषा की जीवन्तता का अभिलेख है। इस देश में हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक संस्कृत भाषा, उसके व्याकरण, साहित्य तथा अन्य विविधशास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन अनवरत होता रहा है। उन्नीसवीं-बीसवीं सदी में परिमाण की दृष्टि से उसमें और भी वृद्धि हुई। गुणवत्ता की दृष्टि से उसका मूल्य भले ही कम हो सकता है। इस परिमाणवृद्धि का ऐतिहासिक कारण है। संस्कृत भाषा के इस अध्ययन, परिशीलन तथा उसमें साहित्य लेखन का अमित उल्लास उत्तरमध्यकाल के बाद अंग्रेजी राज्य की स्थापना के कारण हुआ। उत्तरमध्यकाल में हिन्दू राजा संस्कृत को संरक्षण प्रदान किये हुए थे और उससे संस्कृत भाषा का प्रवाह देश में उच्छिन्न नहीं हुआ, लेकिन सूख तो रहा ही था। मुस्लिम राज्य की स्थापना से संस्कृत काफ़िरों (विधर्मियों) की भाषा हो गयी थी, ब्राह्मणों को 'जजिया कर' देना पड़ता था, उनको अपनी बहू-बेटियों के अपहरण का संकट हमेशा घेरे रहता था, ऐसी परिस्थिति में स्वधर्म का स्वाभिमान, भगवान् का गुणानुवाद, धार्मिक साहित्य का पठन-पाठन तो स्वाभाविक बात थी, पर नूतन संस्कृत साहित्य के लेखन का उल्लास वहीं था, जहां हिन्दू राज्य थे और उनका संरक्षण कवियों तथा विद्वानों को पूर्ण रूप से प्राप्त था। कुछ मुसलमान शासकों, जैसे अकबर, दारा शिकोह ने भी संस्कृत विद्वानों और उनकी कृतियों को आदर प्रदान किया था। अंग्रेजी राज्य की स्थापना ने इस स्थिति को उलट दिया। अंग्रेजों का राज्य तो विदेशी तो अवश्य था पर प्राचीन साहित्य, विशेष रूप से संस्कृत साहित्य, तथा इस देश की विविध कलाओं एवं ऐतिहासिक स्मारकों के प्रति उन्होंने जो अभिरुचि दिखाई वह अभूतपूर्व थी। उन्होंने स्वयं संस्कृत भाषा और उसके साहित्य का अध्ययन किया, संस्कृत ग्रन्थों का सम्पादन और उनका अंग्रेजी में अनुवाद किया। इसका सूत्रपात सन्१७८६ में कलकत्ता हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस सर विलियम जोन्स के कालिदास कृत अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के अंग्रेजी अनुवाद से होता है। सर विलियम जोन्स को संस्कृत भाषा सीखने के लिए बड़ी कठिनाई उठानी पड़ी थी, बड़ी मुश्किल से एक बंगाली ब्राह्मण उनको संस्कृत पढ़ाने के लिए तैयार हुए थे। अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक का अंग्रेजी अनुवाद जब यूरोप में पहुंचा तो पश्चिम वाले चकित हो गये कि भारत में इतना उच्चकोटि का नाट्य-साहित्य है और बड़ी तेजी से उनकी रुचि संस्कृतभाषा के अध्ययन की ओर आकृष्ट हुई। वेद, व्याकरण,

आयुर्वेद, तथ रामायण, महाभारत, रघुवंश आदि संस्कृत साहित्य एवं इसके साथ ही प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य के अध्ययन में कितने यूरोपीय विद्वानों ने जीवन ही बिता दिया, जबकि हमारे देश में महामहोपाध्याय पं. मधुसूदन ओझा, महामहोपाध्याय पं. रामावतार शर्मा, महामहोपाध्याय गणपतिशास्त्री, डॉ. शाम शास्त्री आदि कुछ इने-गिने विद्वान् ही इस टक्कर के दिखायी पड़ते हैं। इस प्रकार उन्नीसवीं-बीसवीं शती का यह युग संस्कृतभाषा का नवजागरणकाल था, जिस काल में संस्कृत विद्वानों के लिए अन्धकार के समान प्रतीत होने वाला मुस्लिम राज्य का आतंक अंग्रेजी राज्य के अभ्युदय से मिट गया था। इस परिस्थिति से संस्कृत साहित्य के पठन-पाठन और लेखन में नया उत्साह उमग पड़ा।

इन दो शतियों में काव्य-कथा आदि अन्य साहित्य की अपेक्षा नाटकों की रचना बहुत हुई है। साहित्य-रचना अपने में् देश, काल और अपने रचयिता व्यक्ति की अभिव्यक्ति छिपाये रहती है, जिस रचना में इनमें से एक भी अभिव्यक्ति नहीं होती, उस रचना में जीवन्तता नहीं आती। इन दो शतियों में लगभग दो सौ नाटक तो अवश्य लिखे गये, पर उनमें जीवन्तता का ऐसा अभाव रहा कि किसी एक दो नाटक को ही वर्तमान किसी भारतीय भाषा में अनूदित होने का सौभाग्य प्राप्त हो सका है। जब कि हिन्दी की साहित्यिक रचना संस्कृत में अनूदित की गयीं। कदाचित् संस्कृत के इन नाटकों के प्रति उनके रचयिताओं, उनकी पाठकलाओं अथवा उनके संस्कृत-समाज से अतिरिक्त दूसरे लोग बहुत कम आकृष्ट हुए हैं, सम्भवतः उनमें रचना-कौशल का अभाव ही इस अनाकर्षण का कारण रहा होगा। नाटक लिखने के प्रति उत्सुकता भी विदेश में शाकुन्तलनाटक का सम्मान देखकर जागृत हुई प्रतीत होती है।

संस्कृत देववाणी है, यह परम्परा से कहा जाता रहा है। अर्थात् आरम्भ में यह देवों की मातृभाषा थी तब इसका रूप वैदिक संस्कृत का था। आज हम जिस संस्कृत को बोलते हैं, रामायण और महाभारत की रचना जिस भाषा में हुई, उसका यह रूप देवोत्तरकाल में प्रतिष्ठित हुआ, यही नहीं वेद के तीन-चौथाई सूक्त देवोत्तरकाल के हैं। देवों के बाद संस्कृत उसी क्रम में ऋषियों, ब्राह्मणों और राजर्षियों के व्यवहार की भाषा बनी रही। इतिहास की अनेक घटनायें बीतीं, किसी समय प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं ने लोकमन को अपनी मधुरता से आक्रान्त कर लिया, किन्तु आश्चर्य है वे भाषाएं भी समाप्त हो गयीं, संस्कृत का अस्तित्व सनातन बना हुआ है। अतीत में सेनापति पुष्यमित्र शुंग तथा सम्राट् समुद्रगुप्त ने इस भाषा को हिमालय से कन्याकुमारी तक प्रतिष्ठित करने का श्रेय प्राप्त किया तथा इस देश के बुद्धिजीवी वर्ग में इस भाषा के सतत अध्ययन का कारण पाणिनि एवं पतञ्जलि के व्याकरण ग्रन्थ रहे। यदि ये व्याकरणग्रन्थ न पढ़े जाते तो रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों को पढ़ते हुए तथा वेद-पाठ करते हुए भी ब्राह्मण इस भाषा को जीवित नहीं रख सकते थे। इसकी जीवन्तता की रक्षा इसका अमृत (पाणिनीय) व्याकरण है। मुस्लिम साम्राज्य में, जब ब्राह्मणों पर दुगुना 'जजिया कर' लगाकर गांवों से भागने को लाचार किया जा रहा था तब भी इन संस्कृत-प्रेमियों ने पाणिनीय व्याकरण पढ़ने

में जीवन बिता दिया। दरिद्र बने रहे पर पाणिनीय व्याकरण का पढ़ना न छूटा। पाणिनीय व्याकरण को सरल करने के लिए इसी मुस्लिम काल में पाणिनीय सूत्रों के आधार पर सिद्धान्तकौमुदी तथा लघुसिद्धान्तकौमुदी जैसे अतिशय लोकप्रिय ग्रन्थों की रचना हुई। ग्रीष्मकाल में नदियों की धारा क्षीण हो जाती है, वर्षाकाल में वे कगार तोड़कर बहने लगती हैं। संस्कृत-अध्ययन की क्षीण स्रोतस्विनी में अंग्रेजी राज्य की स्थापना ने विद्या-प्रेम की सुखद सघन छाया और बरसात दोनों की। जर्जरी होती संस्कृत पाठशालाएं स्वस्थ और चैतन्य हो गयीं। हिन्दू मानस में जैसे अंग्रेजी-राज्य वरदान होकर आ गया था। अंग्रेजी-राज्य की स्थापना के साथ समूचे देश में यह भावना घर करती जा रही थी, क्योंकि अंग्रेजी सरकार ने धर्म और संस्कृति में कोई हस्तक्षेप नहीं किया था। शती के आठवें दशक में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने देश की पीड़ा से मर्माहत होकर भारतदुर्दशा नाटक लिखा है, उस नाटक में अंग्रेजों की इस नीति की प्रशंसा की है और भारतीयों को नवजागरण के लिए उठकर आगे चलने की चेतावनी दी है। देश में नया जागरण हुआ, हमने फिर से स्वतंत्रता प्राप्त कर ली, यह सब हमारे सामने घटित हुआ। जो बात सामने घटित हुई, वह है संस्कृतभाषा के अध्ययन एवं अनुशीलन का नूतन उत्कर्ष, जो केवल भारत में ही नहीं, विदेश में भी घटित हुआ। इस अध्ययन-अनुशीलन के साथ संस्कृत भाषा में साहित्य लिखने की बात भी आती है। यद्यपि इन दो शतियों में संस्कृत में विपुल साहित्य लिखा गया, लेकिन एक चौथाई साहित्य में ही जीवन्तता के लक्षण प्राप्त होते हैं। शेष पिष्ट-पेषण है अथवा भाषा का अभ्यास मात्र। ऐसा क्यों हुआ इसके कारण हैं। वे कारण ये हैं-

१. संस्कृत जिस समाज की भाषा थी उसमें नवीन चेतना का अभाव था। दूसरी ओर संस्कृत पढ़नेवालों की दृष्टि देश के विस्तृत समाज के भाव-अभाव की समस्याओं से ओझल थी।

२. अंग्रेजी राज्य का नव जागरण हमें आगे की शतियों की ओर बुला रहा था। संस्कृत के पढ़ने वाले अपने अतीत के गुणानुवाद में लग गये। फलस्वरूप अधिकांश रचनायें पौराणिक कथाओं, भक्ति कथाओं और पुराणवृत्तों के आधार पर ही लिखी गयीं, जिनसे किसी नव शक्ति और उत्साह की उपलब्धि भी सामने नहीं आयी।

३. राजाओं की यशोगाथा गाने का संस्कृतज्ञों का व्यसन फिर से उदित हो गया। जिस घटना की कोई सामाजिक या राष्ट्रीय पृष्ठभूमि न हो, जो केवल राजभवन की चहारदीवारी में ही सीमित हो, ऐसे अनावश्यक घटना-चक्र भी साहित्य के विषय बनाये गये। गोपीनाथ दाधीच का माधवस्वातंत्र्यनाटक (१८८३ ई.) ऐसा ही है।

४. कुछ नाटककारों ने प्रेम-गाथा को नाटक का विषय बनाया है। नाटक की मूलप्रेरणा प्रेम गाथाएं ही हैं, अभिनय की सच्ची परिणति उसी में होती है। किन्तु यह सत्य है कि जिन प्रेमगाथाओं को लेकर नाटक लिखे गये वे गाथाएं कल्पित नहीं सत्य थीं,

नाटक में उनको कल्पना के आवरण में प्रस्तुत किया गया। उनकी सत्यता के कारण ही उनमें जीवन्तता प्रतिष्ठित हुई। और शतियों बाद भी वे पढ़े जाते एवं अभिनीत होते हैं। विवेच्य शती के नाट्यकारों ने भी प्रेमगाथाओं पर नाटक लिखे हैं, पर उनको वैसी उदात्त गाथाओं की उपलब्धि नहीं हुई है। पुराण की प्रेम-गाथाएं अथवा पुराने प्रसिद्ध काव्य की कथाएं उनके लिए नाटक की कथावस्तु बनी हैं। किन्तु प्रणीत सन्दर्भ को नयी रचना का विषय बनाना कवि की प्रतिभा के लिए जबर्दस्त कसौटी है। सामान्य कवि जन उसमें असफल ही होते हैं। ऐसी कई असफल रचनाएं इस काल में हुई हैं, वे प्रकाशित हैं, पर पढ़ी नहीं गयीं, अपनी पाठशालाओं या अपने मंच पर अभिनीत भले कर ली गयी हों। जैसे- ययाति-देवयानीचरित (वल्ली सहायकृत) कुमारसम्भव (जीव न्यायतीर्थकृत) मेघमेदुरमेदिनीय (रमाचौधुरीकृत)।

एक विशेष बात इस काल के साहित्य रचना की यह है कि इसके रचनाकार उत्तरभारत के नहीं हैं, प्रायः दक्षिणभारत, पूर्वी भारत (बंग, असम) और पश्चिमी भारत (गुजरात,महाराष्ट्र) के हैं। इसका जबर्दस्त ऐतिहासिक कारण है। उत्तर भारत पर अंग्रेजों की विजय बाद में हुई तथा विजय के लघु अन्तराल के बाद ही १८५७ की क्रांति हो गयी। अंग्रेज शासकों ने क्रान्ति का दमन कर दिया। उसके बाद युद्धोत्तर विभीषिका से देश का यह भाग आक्रान्त रहा। पश्चिमी भारत (महाराष्ट्र, गुजरात) की स्थिति दूसरी थी, यहाँ उस समय मराठा-राज्य (पेशवाओं का शासन) संस्कृत भाषा के अध्ययन-मनन तथा साहित्य-लेखन के लिए अनुकूल वातावरण था। १८५७ की क्रान्ति का क्षेत्र न पूर्व भारत (बंग, असम) था न दक्षिण भारत और न पश्चिम। १८५७ की क्रान्ति की चिनगारी शान्त तो हो गयी, पर बुझ नहीं गयी थी। अंग्रेजी शासन के विरुद्ध क्रान्ति और आंदोलन का क्रम जारी रहा। उसमें धीरे-धीरे पूरे देश की सक्रियता बढ़ी, सन् १९२० से १९४७ के बीच स्वतन्त्रता-आन्दोलन अपने चरम उत्कर्ष पर रहा। इस काल में सभी भारतीय भाषाओं में स्वतंत्रता और देशप्रेम तथा सामाजिक क्रांति की रचनायें हुईं। संस्कृत में भी इन दो शतियों के बीच सर्वाधिक उत्कृष्ट साहित्य इन तीस वर्षों की अवधि में प्रणीत हुआ।

इन दो शतियों में जो भी संस्कृत साहित्य लिखा गया, उसकी एक विशेष उपलब्धि यह रही कि संस्कृत भाषा प्रयोग की दृष्टि से लोक मानस के सन्निकट आती प्रतीत हुई। विशेष रूप से संस्कृत में जो अनेक समाचार-पत्र प्रकाशित हुए, उनसे संस्कृत भाषा में न केवल नये शब्दों का प्रयोग हुआ, वाक्य-विन्यास में भी केवल नये शब्दों का प्रयोग हुआ, विन्यास भी संस्कृत पद्धति के हटकर सरल होता गया। नाटक रचना में मेरी यह बात विशेष रूप से देखने को मिलती है। नाटकों ने संस्कृत भाषा को अधिक सुगम बनाने में मदद की है।

इन दो शतियों में संस्कृत-साहित्य का विपुल प्रणयन साहित्य की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट न होते हुए भी संस्कृत भाषा की सनातन सत्ता को उजागर करने में अत्यन्त सफल

रहा। हिमालय से लेकर समुद्र (कन्याकुमारी) तक और सिन्धु नदी से लेकर असम तक सम्पूर्ण भारत में संस्कृत भाषा में साहित्य की रचना हो रही थी। इस उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में भी यह श्रेय केवल संस्कृत भाषा को प्राप्त था। भारत की शेष भाषाओं के अपने सीमित क्षेत्र थे, संस्कृत के बाद केवल हिन्दी ही ऐसी भाषा थी जिसमें देश के आधे भाग (समूचे उत्तर भारत) में साहित्य का प्रणयन हो रहा था। बंगभाषा के क्षेत्र कलकत्ता नगर से भी सन् १८२६ में हिन्दी का पहला समाचार-पत्र 'उदन्तमार्तण्ड' प्रकाशित हुआ। संस्कृत में पहले पत्रिका 'विद्योदय' का प्रकाशन सन् १८७० ई. में हुआ। संस्कृत भाषा के प्रयोग और उसके साहित्य-लेखन की इस व्यापकता को देखकर स्वतंत्रता के पश्चात् अनेक मनीषियों ने "संस्कृत" को ही राष्ट्रभाषा बनाये जाने का आग्रह किया था । कदाचित् यदि संविधान में संस्कृत को ही राष्ट्रभाषा स्वीकार किया गया होता तो देश में राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर कोई विवाद न होता।

दो सौ वर्षों के काल-खंड की अवधि साहित्य लेखन के इतिहास की दृष्टि से लम्बी अवधि नहीं मानी जा सकती। तो भी इस काल खंड में इतिहास के तीन घटनाचक्र घटित हुए-

१. अंग्रेजी राज्य की स्थापना
२. अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध क्रान्ति आंदोलन
३. स्वतंत्रता की प्राप्ति।

इन घटनाओं का भारतीय भाषाओं के साहित्य-प्रकाशन पर बहुत प्रभाव पड़ा है। उसी अनुपात में किसी न किसी दृष्टि से संस्कृत-साहित्य के लेखन पर भी वह प्रभाव लक्षित होता है। प्रभाव से लेखन की दृष्टि में किंचित् अन्तर आया है, अतः इस प्रभाव और तज्जन्य अन्तर को देखते हुए इस काल-खंड को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है-

१. १८०० से १८७० तक का समय-इस काल में संस्कृत विद्वानों ने मुसलमानों के दमनात्मक शासन से मुक्त होकर उल्लासपूर्वक अपने अतीत की ओर देखा तथा पुराण, महाभारत, रामायण, आदि के कथा-वृत्तों को लेकर नाटकों की रचना की है।
२. १८७० से १९२० तक का काल-इस अवधि में इन नाट्यप्रणेतारों ने देश के वर्तमान को भी देखा है। कुछ-कुछ राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत नाटकों की रचना हुई है।
३. १९२० से १९५० तक का काल-यह कालखंड देश में साहित्यरचना की दृष्टि से बहुत समृद्ध रहा। हिन्दी में अनेक क्रांतिकारी रचनायें हुईं, जिनमें से अधिकांश को सरकार ने प्रकाशित होते ही जब्त कर लिया। संस्कृत में भी राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत काव्य और नाटक इस काल में लिखे गये।
४. १९५० से १९९० तक का समय-यह अवधि स्वातंत्र्योत्तर कालखंड है। इस अवधि

में सरकार ने संस्कृत भाषा की उन्नति के लिए नये-नये विकल्प प्रस्तुत किये। संविधान में भारतीयभाषाओं (जीवित) की सूची में संस्कृत का भी नाम है। प्रत्येक वर्ष अन्य भाषाओं के समान संस्कृत में लिखी उच्च कोटि की रचना पर साहित्य-अकादमी का पुरस्कार मिलता है। संस्कृत की उन्नति के लिए तीन संस्कृत विश्वविद्यालयों और आठ केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठों की स्थापना हुई। इनके अतिरिक्त भी संस्थान स्थापित हुए। संस्कृत के अध्ययन की ओर सभी लोगों (ब्राह्मणों से अतिरिक्त भी) का झुकाव हुआ। लेकिन सरकार के इन सारे विकल्पों का संस्कृत की उन्नति में समुचित उपयोग नहीं हो सका। इसके पीछे संस्कृत के लोग ही कारण हैं। जो भी हो इस अवधि में संस्कृत में नाटक, काव्य तथा दूसरी रचनायें निरन्तर लिखी जाती रहीं, छपती रहीं और पुरस्कृत भी होती रहीं। नाटक लिखे गये। इधर संस्कृत के पंडितों ने अतीत की अपेक्षा वर्तमान को अधिक लिया। सामाजिक नाटक भी लिखे गये। कुछ वैज्ञानिक एकांकियों का संस्कृत में रूपान्तर हुआ। ऐसा एक एकांकी प्रयाग की 'संगमनी' पत्रिका (१९६५ई.) में प्रकाशित हुआ। रचनाओं की तो विपुलता रही, पर किसी रचनाकार का उदात्त कृतित्व नजर नहीं आता।

एक बात और है, संस्कृत में नाटक, काव्य और दूसरी रचनाओं के प्रणेता अपनी कृतियों का प्रकाशन करते समय उनका अनुवाद अंग्रेजी और हिन्दी में भी देते हैं, जिनके दो अर्थ निकलते हैं-एक तो यह कि अंग्रेजी वाले (विदेशीय) हमें पढ़े और कौन जाने वे मेरी कृति का ऊँचा मूल्यांकन करें, दूसरा अर्थ है, वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि संस्कृत का कोई पाठक नहीं है। वे संस्कृत वाले भी नहीं हैं, जो पाठशालाओं में पढ़ते हैं। इसलिए वे अंग्रेजी तथा हिन्दी भाषान्तर अपनी कृतियों के साथ छाप देते हैं। पर ऐसी बात नहीं है। यदि कृति महान् होगी और उसमें अमृत जीवन्तता होगी, तो साहित्य के पाठक उसे ढूँढ-ढूँढ कर पढ़ेंगे, यदि संस्कृत नहीं जानते हैं, उसका अनुवाद करा कर उसे जानना चाहेंगे। प्रणेता द्वारा स्वयं उसका अंग्रेजी भाषान्तर प्रस्तुत करना अपनी कृति को हीन घोषित करना है। होना ऐसा चाहिए कि रचना के अनुपमेय होने के कारण पाठक को स्वयं संस्कृत सीखने के लिए बाध्य होना पड़े।

इस काल में एक बात और हुई, संस्कृत पंडितों या साहित्यकारों का राजसभा या राजा के प्रति अपनी स्वार्थपूर्ण आस्था प्रकट करने की प्रवृत्ति पुनः बलवती हो उठी। स्वतंत्रता के संघर्ष का लम्बा इतिहास है, कितने महान लोगों ने जीवन का बलिदान किया। लेकिन प्रधानमंत्री पद पं. जवाहरलाल नेहरू ने संभाला इसलिए उनके लिए तथा नेहरू परिवार के लिए भावार्पित श्लाघा-पूर्ण कृतियां रची गयीं। संस्कृत के एक विद्वान ऐसे भी हैं जिन्होंने अपनी आस्था को परिवर्तित भी किया। १९७७ में जब इन्दिरा गांधी आपातकाल के बाद चुनाव हार गयीं तब उन्होंने कांग्रेसपराभवः नाटक की रचना की। और जब १९८०

में इन्दिरागांधी चुनाव जीतकर पुनः प्रधानमंत्री पद पर प्रतिष्ठित हुईं तब उन्होंने स्वातंत्र्यसम्भ काव्य की रचना की, जो विशुद्ध रूप से नेहरू परिवार की गुण-गाथा का काव्यगान है, इसमें स्वातंत्र्य के जन्म का ध्वन्यर्थ जवाहरलाल नेहरू के जन्म से हैं। काव्य कालिदास के कुमारसम्भवम् की नकल पर लिखा गया है।

संस्कृत में जो नाटक लिखे गये उनका अभिनय भी प्रायः यत्र-तत्र संस्थाओं में हुआ है। इन पंक्तियों के लेखक को भी उनको देखने का कभी-कभी सौभाग्य मिलता रहा। भरत मुनि के अनुसार रस-चवर्णा (साधारणीकरण) ही अभिनय की कसौटी है। पर संस्कृत के अभिनयों में ही भरतमुनि के सिद्धान्त को ही प्रत्यक्ष नहीं किया गया। भाण एवं प्रहसन के अभिनय अवश्य प्रभावशाली प्रतीत हुए। आगे उक्त विभाजन के कालखंडों के अनुसार प्रमुख नाटककारों तथा उनकी कृतियों का परिचय दिया जा रहा है।

१. १८०० से १८७० ई. तक का अतीत स्मरणकाल

इस काल के सभी नाटककार दक्षिण भारत के हैं और उन्होंने अतीत की पौराणिक गाथाओं पर नाटकों की रचना की, जो प्रायः भक्ति से प्रेरित हैं। राजकुल की प्रेमकथा पर भी नाटक-रचना हुई है। इन पर रासलीला का प्रभाव है, और किसी न किसी देवता के महोत्सव में इनका अभिनय हुआ है।

कस्तूरि रंगनाथ ने उन्नीसवीं शती के आरम्भ में "रघुवीर-विजय" नाटक की रचना की है। इनके इस नाटक का प्रथम अभिनय शेषाद्रीश के महोत्सव में हुआ था, वे बाधूल कुल में उत्पन्न हुए थे। "रघुवीरविजय" की कथा अटपटी है तथा रामकथा को विकृत करती है। इस नाटक में विश्वामित्र के साथ मिथिला गये राम के विवाह के प्रसंग आरम्भ होने के पूर्व ही राक्षस सीता का हरण कर लेते हैं। राम युद्ध कर रावण को मार कर सीता का उद्धार करते हैं और तब मिथिला में उनका विवाह और वहीं राज्याभिषेक भी हो जाता है। कोई विद्वान इसे रामकथा में अद्भुत परिवर्तन कहते हैं, सत्य बात यह है कि यह सब रामकथा का विकृतीकरण है।

अभिनय की दृष्टि से भी कथावस्तु के अतिशय प्रपंच से नाटक असफल है। किन्हीं कारणों से इसके प्रति आदरभाव से शेषाद्रीश-महोत्सव में इसका मंचीकरण हुआ, अतः यह नाटक साहित्य के इतिहास में उल्लेख्य है तथा इसे लोकधर्मी परमपरा का नाटक कहना चाहिए।

नाटक की मूल प्रेरणा श्रृंगार कवि की भावना में है, अतः वह उचितानुचित का विचार किये बिना ऋषि विश्वामित्र के मुख से सीता के सौन्दर्य का खुला चित्रण करता है-

मन्दं मन्दं मदनमहिषी कामनर्मोपचारा
स्थानोद्याना कलिततटिनी राजहंसीव गत्वा।
चारुश्रीमद्वदनकमला पीनवक्षोजकुम्भा
रामस्कन्धे कुवलयसरं संक्षिपत्यद्य सीता।।

यहां विश्वामित्र पीनवक्षोजकुम्भा सीता को देख रहे हैं। स्मरण रहे कि कवि भवभूति ने इसके विपरीत चित्रण "उत्तररामचरित" में किया है जहां सीता विवाह के समय केवल छह वर्ष की हैं और उनके दूध के सभी दांत भी नहीं टूटे हैं। *(उत्तररामचरित अंक १/२०)*

वीर राघव-वीरराघव ने 'वल्लीपरिणय' नामक नाटक की रचना की है। ये तंजौर-नरेश शिवाजी के सभा-कवि थे, जिन्होंने १८३३-५५ ई. तक राज्य किया। वीरराघव का जन्म १८२० ई. और मृत्यु १८८२ ई. में हुई। 'वल्लीपरिणय' नाटक में कुल पांच अंक हैं। वल्ली शिवभक्त व्याधराज की कन्या है। नारद की प्रेरणा से षडानन उसके प्रति आकर्षित होते हैं। नाटककार ने इस प्रेम-प्रपंच को क्रमशः विस्तारित किया है। चौथे अंक में षडानन नायिका वल्ली की चेटी की सहायता से उसे उसके राजसदन से उठाकर वन में चले जाते हैं। पांचवें अंक में इस बात का पता चलने पर षडानन और वल्ली के पिता व्याधराज के बीच घोर संग्राम होता है। षडानन से पराजित होकर व्याधराज मारा जाता है। वल्ली की प्रार्थना पर षडानन उसको तथा अन्य व्याधों को जीवित कर देते हैं। तदनन्तर देवों तथा सप्तर्षियों के साक्ष्य में षडानन एवं वल्ली का विवाह सम्पन्न होता है। ब्रह्मा पुरोहित बनते हैं। नाटक के घटनाक्रमों के अनुसार इसकी आरभटी वृत्ति है। कथा की नवीनता के अतिरिक्त भाव और वस्तु-अभिव्यक्ति की नूतनता कवि में नहीं है। प्राचीन प्रेम कथाओं की सरणि पर ही कवि ने नाट्यवस्तु का पल्लवन किया है। भाषा स्वच्छ और सुबोध है। नायिका के सौन्दर्य का निम्न-वर्णन उसके सौन्दर्य की उक्ति-गर्भित स्तुति है, सौन्दर्य का चित्र नहीं है, मध्यकाल के अनेक कवियों ने ऐसे वर्णन किये हैं -

त्वद्वक्त्रेण जितस्सुधांशुरयशोमुद्रां मृगव्याजतो
धत्ते त्वन्नयनद्वयेन विजितं तोयेऽम्बुजं मज्जति।
त्वद्वक्षोरुहमण्डलेन विजितं मेरूत्तमाङ्गं व्रज-
त्यश्मत्वं वपुषा तवेति विजिता विद्युत्क्षणश्रीकताम्।।

(तुम्हारे मुख की शोभा ने चन्द्रमा को जीत लिया इसलिए वह इस अयश को मृगलांछन के रूप में धारण किये हुए है, तुम्हारे दोनों नेत्रों ने कमल को जीत लिया तो वह लज्जा से पानी में डूबा रहता है, तुम्हारे स्तनों की शोभा ने मेरु के शिखर को नीचे कर दिया तो वह पत्थर हो गया तुम्हारे शरीर की चमक ने बिजली को जीत लिया तो वह क्षणिक शोभा वाली हो गयी।) कवि के इस नाटक का प्रथम अभिनय सहजिपुर के भगवान् श्री कुलीरेश्वर के महोत्सव के समय किया गया था। कवि ने रामायण की कथा पर "रामराज्याभिषेक" नाटक भी लिखा है।

वल्लीसहाय ने उन्नीसवीं शती के पूर्वार्ध में तीन नाटकों की रचना की है। ये नाटक संस्कृत-नाटक की मूल प्रकृति में श्रृंगार कथा पर आधारित हैं।

नाटकों के नाम हैं - (१) रोचनानन्द (२) ययातिदेवायानी-चरित (३) ययातितरुणानन्द। रोचनानन्द में कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध और रुक्मवान् की कन्या रोचना के परस्पर

मुग्ध होने, प्रेम तथा अन्त में विवाह होने की कहानी है। कथा में सौन्दर्य इसलिए आ गया है कि रुक्मवान् यद्यपि अनिरुद्ध का मामा है तथापि वह कृष्ण का परम विरोधी है। वह अनिरुद्ध के साथ रोचना के विवाह हेतु तैयार नहीं है। वह इस विवाह को न होने देने के लिए कलिंगराज जयसेन से मिलकर सहायता की प्रार्थना करता है। नाटक का अंतिम अंश खण्डित है। ययातिदेवयानीचरित पुराण की प्रसिद्ध कहानी पर आधारित है। देवयानी शुक्राचार्य की कन्या है और शर्मिष्ठा दैत्यराज वृषपर्वा की। विवाद में शर्मिष्ठा ने देवयानी को कुंए में ढकेल दिया था। उधर वन की ओर आये चन्द्रवंशी राजा ययाति ने उसे कुएं से निकाला। शुक्राचार्य को जब यह मालूम हुआ तब उन्होंने देवयानी का विवाह ययाति से कर दिया। पूर्व प्रण के अनुसार शर्मिष्ठा को देवयानी की परिचारिका बनना पड़ा था ; किन्तु शर्मिष्ठा में सौन्दर्य था, उसके सौन्दर्य ने ययाति को आकर्षित किया वह उसका प्रेम-क्रीत दास बन गया। दोनों का गन्धर्व-विवाह हो गया। पुत्रोत्पत्ति भी हुई। पर देवयानी को पता नहीं था। लेकिन एक दिन उसने शर्मिष्ठा से प्रेमालाप करते हुए ययाति को देख लिया। उसने राजा पर रोष प्रकट किया और भविष्य में उपवन में उद्यानपालिका को बिना मुद्रा दिखाए शर्मिष्ठा का प्रवेश वर्जित कर दिया। इस आदेश से शर्मिष्ठा और ययाति, दोनों विरह से अत्यन्त पीड़ित हुए। शर्मिष्ठा ने केतकी के पत्र पर अपनी प्रेम-चिट्ठी भेजी। राजा उस पत्र को पाकर मूर्च्छित हो गया। अपने को संभाल न सका, तथा हठात् जाकर शर्मिष्ठा से मिला, उसके आंसू पोछे। देवयानी एक दिन शर्मिष्ठा के घर गयी। उसके पुत्रों को देखकर प्रश्न किया-ये किसके पुत्र हैं ? शर्मिष्ठा ने कहा-महर्षि के तेजःप्रभाव से उत्पन्न हुए हैं। परन्तु देवयानी सब कुछ समझ गयी। उसने अपने पिता शुक्राचार्य से इसका रोना रोया और शुक्राचार्य ने ययाति को बूढ़ा हो जाने का शाप दे दिया। ययाति ने अनुनय-विनय की तो कहा, कि अपना बुढ़ापा देकर दूसरे की तरुणाई ले सकते हो, यदि वह चाहे तो। नाटक की कथावस्तु अत्यन्त मनोवृत्त्यात्मक है, लेकिन नाटककार उसका सामान्य शिल्पविन्यास ही कर पाया है। ययातितरुणानन्द-यह नाटक उक्त पौराणिक कथा का उत्तरभाग है। इस नाटक में मनोवृत्ति चित्रण के अपेक्षाकृत अधिक अवसर हैं। ययाति को उसके पुत्र कुरु ने अपनी जवानी देकर बुढ़ापा ले लिया है। इसीलिए अपने पांच पुत्रों में ययाति ने उसी को राज्य का उत्तराधिकारी घोषित किया। शेष पुत्र अपनी जवानी देने को तैयार नहीं थे। कथा मन के निभृत धरातल को जितना छूती है उतनी सूक्ष्मता से नाटककार उसे प्रस्तुत नहीं कर सका है। राजा तरुणाई पाकर जिस आनन्द की अवस्था में स्थित हुआ, उस स्थिति की सहजवृत्ति को न उद्घाटित कर कृतिकार दर्शन की बातें करने लगा है, राजा के मुख से यह श्लोक-

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।

(बहुविध विलास के उपभोग से काम शान्त नहीं होता।)

स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। उपदेश की ऐसी बात नाटककार की अपनी बातें हैं, इससे नाट्यरचना साधारणकृति मात्र रह जाती है। नाटककार ने अपने नाटक में प्राकृत का भी प्रयोग किया है। भाषा सामान्य रूप से अच्छी है। वस्तु और भाव-दर्शन में संस्कृत के सुप्रसिद्ध नाट्यकारों की अनुवृत्ति का ही प्रयास हुआ है, अपनी मौलिकता नहीं है। ययातिदेवयानी-चरित में शर्मिष्ठा केतकी पत्र के ऊपर लिखकर अपनी विरह अवस्था का वर्णन ययाति को भेजती है, जो इस प्रकार है-

त्वद्दर्शनेऽप्यभाग्याहं तथापि मदनानलः।
निर्दहत्यनिशं नाथ किंकरीमद्य पाहि माम्।।

यह श्लोक इसी भाव से युक्त कालिदास की उत्कृष्ट उक्ति को स्मृति में ला देता है-

तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवापि रात्रावपि।
निर्घृण तपति बलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथान्यङ्गानि।।

सुन्दरवीर रघूद्वह-पीछे चर्चित नाटककार कस्तूरि रंगनाथ ही सुन्दरवीर रघूद्वह के पिता हैं। इनका जन्म तमिल प्रदेश के अर्काड् जिले के शिरूबलूर अग्रहार में हुआ। इनके पितामह वीरराघव सूरि भी कविराज थे। ये भागवत सम्प्रदाय के मानने वाले थे। उन्नीसवीं शती के पूर्वार्ध के सुन्दरवीर रघूद्वह ने तीन नाटकों की रचना की है (१) भोजराज अंक (२) रम्भारावणीय ईहामृग और (३) अभिनवराघव नाटक। इन रूपकों में भोजराज उत्कृष्ट रूपक है। यह रूपक का अंक-भेद है। इसकी कथा धारा के राजा भोज की प्रसिद्ध कथा है, जिसके अनुसार इनके चाचा मुंज ने बालक भोज को सेनापति के हाथ में सौंपकर घूमने के बहाने जंगल में ले जाकर मार देने को कथा था। वहां भोज की प्रार्थना पर राजपुरुषों ने उनको छोड़ दिया। भोज ने वचन दिया था। लौटने पर राजपुरुषों ने जब मुंज को भोज के मार दिये जाने की सूचना दी और वह प्रसन्न हुआ और पूछा कि मारे जाने के पहले क्या भोज ने कुछ कहा भी? राजपुरुषों ने यह कहने पर भोज का पत्र मुंज के हाथ में दिया, यह पत्र संस्कृत-साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है-

मान्धाता स महीपतिः कृतयुगालंकारभूतो गतः
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यान्तकः।
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवं भूपते
नैकेनापि समं गता वसुमती मुञ्ज त्वया यास्यति।।

कृतयुग के महान् पुण्यशाली राजा मान्धाता की भी मृत्यु हुई, वे अमर नहीं रहे, पृथ्वी को छोड़कर दिव्य लोक चले गये, भगवान् राम जिन्होंने समुद्र पर पुल बनाकर रावण को मारा वे भी पृथ्वी को यहीं छोड़कर दूसरे लोक गये, राजा मुञ्ज! युधिष्ठिर आदि दूसरे प्रसिद्ध राजा भी अमर नहीं रहे, मृत्यु को प्राप्त हुए। वे जिस धरती के राजा थे, वह धरती

यहीं रह गयी और वे देवलोक को चले गये, किसी एक के भी साथ यह धरती नहीं गयी, पर ऐसा लगता है कि मुञ्ज जब तुम मृत्यु के वशीभूत होकर दूसरे लोक को जाने लगोगे, तब यह धरती का राज्य भी तुम्हारे साथ चला जायगा (इसीलिए तुम मेरी हत्या कर रहे हो।) बालक भोज का भावपूर्ण उद्गार हृदय को छूता है। मुञ्ज भी पत्र पढ़कर सत्य एवं सहज स्थिति में आ गया। वह भोज से मिलने के लिए विह्वल हो उठा, पर अपने अनुसार तो उसने भोज की हत्या करा दी थी, अब करता क्या ? उसने राजपुरुषों से कहा कि चलकर मुझे वह स्थान दिखाओ, जहाँ तुमने भोज को मारा है। अन्ततः मुञ्ज की सही स्थिति जानकर राजपुरुषों ने भेद प्रकट कर दिया और बालक भोज से मुञ्ज की भेंट हो गयी। इस प्रसिद्ध ऐतिहासिक कहानी को नाटककार ने अपने ढंग से नाटकीय कथाविन्यास का सुन्दर रूप दिया है तथा आकर्षक नाट्यशिल्प में प्रस्तुत किया है। रूपक का अंक-भेद करुण, शृंगार रस तथा कन्याबहुल पात्रों से अपनी कथा में रमणीय बनता है। भोजराज में भोज को चाहने वाली दो तरुणियां हैं-लीलावती और विलासवती। लीलावती उसकी भावी पत्नी के रूप में संकल्पित है और वह आदित्यवर्मा की कन्या है। मुञ्ज ने भीलों द्वारा उसका अपहरण करवा दिया था। वन में राजा के हत्यारों से यही लीलावती भोज की रक्षा करती है। दूसरी है मुञ्ज की बहन की लड़की विलासवती, जो भोज के पीछे लगी है। भोज उसके प्रति आकृष्ट भी है। नाटक में मुंज भोज को वन भेजकर उसकी हत्या तो करवाना ही चाहता है, भीलों द्वारा लीलावती का भी अपहरण कराकर उसकी हत्या की योजना बनायी है। भोज ने जो श्लोक राजपुरुषों को हत्या की योजना के समय लिखकर दिया था, उसे पढ़कर मुंज ने भोज की माता और उसकी बहन को बन्दी बना लिया। भोज की हत्या नहीं हुई थी, उसे वन में ही मुंज के सेनापति ने छोड़ दिया था। हत्या करने के लिए बाद में हत्यारे भेजे जाते हैं। इस बीच भोज को विलासवती की स्मृति सताती है कि तभी उसकी भेंट वन में लीलावती से हो जाती है। लीलावती के प्रति वह पूर्ण रूप से आकृष्ट होता है लेकिन उसे भील कन्या समझ असमंजस में पड़ता है। बाद में सचाई का ज्ञान हो जाता है। इधर मुंज के मंत्री बुद्धिसागर ने राजा के इस अत्याचार को न सहन कर लीलावती के पिता आदित्यवर्मा को मुंज पर आक्रमण करने के लिए संदेश भेजा। अरण्यराज जयपाल की सहायता से आदित्यवर्मा ने मुंज को जीत लिया। जयपाल के अरण्य में ही लीलावती रह रही थी और भोज भी अपने को वहां भिक्षुवेष में छिपाये था। मुंज के भेजे गये हत्यारों से लीलावती भोज की रक्षा करती है। मुंज की विजय करने के पश्चात् भोज का राज्याभिषेक हो जाता है। भोज तथा लीलावती का गन्धर्व-विवाह पहले ही हो चुका था। लीलावती पुरुषवेश में युद्ध के समय भोज के साथ जाती है। इस प्रकार नाटक की मूल कथा में लीलावती के अनुराग और उसकी तत्परता से भोज की रक्षा आदि का प्रकरण-विन्यास कर, एवं अरण्यपाल वनवासी जयपाल को सत्य के संरक्षण में मानवोचित सुसंस्कृत आचरण का पालक बनाकर नाटककार ने कथावस्तु का उदात्त संयोजन किया है। यद्यपि नाटकशिल्प की दृष्टि से वैसी उदात्तता नाटक में नहीं है, लेकिन कथावस्तु का

संयोजन उसे चमत्कृत कर रहा है। नाटक के संवाद और वर्णन नाट्यकार भी कवि-प्रतिभा को प्रमाणित करते हैं। लीलावती जब पहली बार भोज को वन में देखती है, जब कि भोज सो रहा है, तब वह एकान्त मन से भोज के रूप-सौन्दर्य का आकलन करती है, इस सौन्दर्य-आकलन में उसके भोलापन एवं तल्लीनता के दर्शन होते हैं -

किं वैष मन्मथकरः किमु वेक्षुधन्वा
किं वा स एव भगवान् मदनाभिरामः।
किं गोपिका-कुलकुचाचलमर्दितोराः
किं फाल्गुनः पृथुयशा न च भिक्षुरेषः।।

(क्या यह काम को जन्म देने वाला है, अथवा इक्षुधन्वा ? क्या वह ही साक्षात् भगवान् अभिराम काम है, अथवा क्या यह गोपियों के स्तनरूपी पर्वत मर्दित वक्ष वाला कृष्ण है अथवा क्या यह महान् यशस्वी अर्जुन है? यह भिक्षु नहीं है!) इस उक्ति में कवि की भी अपनी छाप है कि वह परम भागवत है, तभी वह लिखता है-**किं गोपिकाकुलकुचाचलमर्दितोराः।**"

कथा के अवसान की बात कवि सहज भाषा में निबद्ध कर नियताप्ति को दर्शक के हृदय में उतार देता है -

धारा जिताद्य युधि मालवराजधानी
मुंजो गतो हिमगिरिं तपसे निराशः।
आनेतुमत्र विपिनात् स्वयमेव भोजः
सेनापतिर्द्रुततरो नगरात् प्रयाति।।

(आज युद्ध में मालव राजधानी धारा जीत ली गयी। निराश होकर मुंज हिमालय पर तप करने चला गया। आज सेनापति स्वयं ही वन से भोज को ले आने के लिए शीघ्र नगर से निकल रहे हैं।) सब मिलाकर भोजराजांक कथावस्तु तथा अभिनय की दृष्टि से भी सफल नाट्यरचना है।

कवि की दूसरी कृति "रम्भारावणीय" की कथा पौराणिक है, जिसमें रावण ने नलकूबर की पत्नी प्रेयसी रम्भा के साथ बलात् संभोग किया था। नलकूबर और रम्भा दोनों शिव के पास जाकर रावण के इस अत्याचार से उनको अवगत कराया, क्योंकि उनके वरदान से ही रावण बलवान बना हुआ था। इसके बाद रावण कैलाश पहुंचा और उसने अपने बल के दर्प में कैलाश पर्वत को उठाने का उपक्रम किया। ध्यान-मग्न शिव को जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने पैर के अंगूठे से पर्वत को दबाया, रावण उस भार से दब गया और अपनी रक्षा के लिए शिव को पुकारने लगा। बाद में उसने विनीत होकर क्षमा मांगी और भविष्य में कभी नारी को न अपमानित करने की प्रतिज्ञा की। कथा यहां समाप्त

होती है, पर यह कहानी नारी के सम्बन्ध में ज्वलन्त प्रश्न उजागर करती है, जिसका प्रस्तुतीकरण ही इस कथावस्तु के विन्यास का कौशल होता, किन्तु यह परम्परावादी रूढ कवि के लिए संभव नई. था।

इस काल में ऐसे यक्षगानात्मक नाटक का भी प्रणयन हुआ, जिसका प्रकार हिन्दी के पारसी रंगमंच के उपयुक्त लिखी गयी नौटंकियों का सा है, जिसमें नायिका और नायक आमने-सामने पद्यात्मक संवाद में अपनी भावनाओं का आदान-प्रदान करते हैं। तंजौर के शिवाजी महाराज (१८३३-५५) द्वारा रचित "इन्दुमतीपरिणय" नाटक ऐसा ही है, उसे यक्षगानात्मक नाटक कहा गया है। कालिदास ने रघुवंश के पांचवे-छठे सर्ग में इन्दुमती-स्वयंवर की जो कथावस्तु निबद्ध की है, उसी कथा को लेकर शृंगार-भावों से ओतप्रोत यह यक्षगान नाटक लिखा गया है। इसका अभिनय भी बृहदीश्वर की चैत्रोत्सव यात्रा में भरतराज (नट) लोगों ने किया था। सभासदों का मनोरंजन मात्र है-

> सालंकारा सरसा मंजुपदन्यासराजमानार्या।
> विमला सत्सूक्तिरियं श्रीरिव सततं त्वया सुरक्ष्येति ।। ११ ।।

(अलंकारों और रस से युक्त, पदों के विन्यास से राजमान आर्या यह विमल सत्सूक्ति लक्ष्मी के समान सदा रक्षा के योग्य है) इस नाटक में नायिका इन्दुमती के मुख से गान सुनकर नायक (अज) उसकी मधुर पद निबन्धमयी प्रशंसा करता है। और नायिका अपनी काम वेदना से पीड़ित है -

> मलयमरुन्मयि किरति विदयो ज्वलनकणानिव यः।
> ज्वलयति विधुरपि तीव्रकरचयो दलति सदा मां काममविनयः।।

(दयारहित वह मलयपवन मेरे ऊपर जलती हुई चिनगारियां बरसाता है, तेज किरणों वाला चन्द्रमा भी जला रहा है, पूर्ण रूप से मुझे पीड़ित कर रहा है।)

ऐसे नाटक को नाटक की संज्ञा नहीं दी जानी चाहिए। अधिक से अधिक इसे ग्राम्यधर्मी नाटक ही कह सकते हैं, लेकिन इसकी यह ग्राम्यता तब सुषमा से मंडित होती जब यह प्राकृत या अपभ्रंश में रचा गया होता। रघुवंश की उदात्त कथा और उसके रमणीय कथा-विन्यास को नौटंकी बनाकर अच्छा नही किया गया।

(२) १८७० से १९२० ई. तक का वर्तमान-दर्शन काल

इस काल में अंग्रेजी राज्य के नव जागरण ने संस्कृतज्ञों को अपने वर्तमान को देखने की ओर कुछ-कुछ उन्मुख किया है। नाटकों के प्रणयन में इसकी यत्किञ्चित् झलक मिलती है। इस काल में १८७० में सर्वप्रथम संस्कृत की पत्रिका 'विद्योदय' का प्रकाशन हुआ। विशेष बात यह है कि उत्तर भारत के संस्कृतज्ञों का योगदान इस काल की नाटक-रचना

में मिलता है। नाटक-रचना की नूतन प्रेरणाएं भी दिखाई पड़ती हैं। पर कथा-वस्तु के विन्यास प्रायः शिथिल हैं।

पंडित अबिकादत्त व्यास-काशी के विख्यात पण्डित और कला-मर्मज्ञ पंडित अम्बिकादत्त व्यास जी ने २२ वर्ष की अवस्था में १८८० ई. में "सामवत" नाटक का प्रणयन किया। इस नाटक की कथा छह अंकों में विभाजित है, और सम्भवतः इसके कथानक की प्रेरणा स्कन्दपुराण ब्रह्मोत्तर खण्ड के सोमव्रत प्रकरण से ली गयी है। यह अपने ढंग का अकेला नाटक है जिसमें सुमेधा और सामवान्, दो स्नातक विदर्भराज से धनप्राप्ति की इच्छा में देशाटन के लिए निकलते हैं। उनमें से एक दुर्बासा ऋषि के शाप से स्त्री हो जाता है। घटना यों होती है कि मार्ग में कहीं वन के बीच स्वर्ग की अप्सरा मदालसा नृत्य करती गा रही थी, जिसको सुनने में तल्लीन सामवान् ने ऋषि दुर्वासा के आह्वान को नहीं सुना और उनके शाप से वह स्त्री हो गया। विदर्भराज के यहां पहुंचने पर राजा की पत्नी ने स्त्रीरूप सामवान् की पूजा दुर्गा के रूप में की। वह शरीर और मन सब प्रकार से स्त्री हो गया। वह सामवान् से सामवती हो गया। बाद में सामवान् के पिता सारस्वत के क्रुद्ध होने पर राजा ने देवी की आराधना कर उनसे सामवान् को पुनः पुरुष बनाने की प्रार्थना की, पर देवी ने रानी द्वारा दुर्गा के रूप में पूजित सामवती को पुरुष नहीं बनाया, वरंच इसके बदले सारस्वत को दूसरा पुत्र होने का वरदान दिया। आगे के घटनाक्रम में सुमेधा और सामवती का विवाह हो जाता है।

पं. अम्बिकादत्त व्यास संस्कृत के प्रकांड पंडित एवं कवि थे। उनके 'शिवराजविजय' गद्य-प्रबन्ध से संस्कृत समाज पूर्णतया परिचित है। उन्होंने हिन्दी में भी साहित्यिक रचनाएं की हैं। हिन्दी में तब भारतेन्दु का युग था, जब अनेक लेखक और कवि हिन्दी भाषा और साहित्य के संवर्धन में लगे थे। विशेष रूप से हिन्दी गद्य का रूप परिष्कृत हो रहा था। उस संवर्धन में व्यास जी का भी योगदान था। इस 'सामवत नाटक' में व्यासजी ने नाटकीय शिल्प तथा साहित्यिक सौष्ठव के साथ अपने पाण्डित्य का भी परिचय दिया है। पाडित्यपूर्ण लम्बे-लम्बे संवाद दिये हैं। नाटक अपनी नाटकीयता में कुछ ऊन होकर भी अपनी इन विशेषताओं कथा की विचित्रता, लम्बे संवादों का पाण्डित्य, आलंकारिक सूक्तियों आदि से संस्कृत नाटक-परम्परा में स्मरणयोग्य है। मन के भावों की अच्छी अभिव्यक्ति संवादों में होती है, लेकिन वहीं पर, जहां कवि का अपना पाण्डित्य और आलंकारिक सन्निवेश आड़े नहीं आता।

इसमें रोचक नाटकीयता तथा पाण्डित्य की दुरूहता दोनों हैं, किन्तु दोनों ही आकर्षक हैं। नाटककार व्यास भी अपनी कृति के इस स्वरूप को समझ रहे थे, अतः उन्होंने अपना निवेदन प्रकट कर दिया था-

क्षणमपि चेत् पंक्तिमपि प्रीत्या कश्चित् पठिष्यति प्राज्ञः।
कृतकृत्यतां तदासौ कलयिष्यत्यम्बिकादत्तः।।

(कोई विद्वान् यदि एक क्षण भी इस नाटक की एक भी पंक्ति पढ़ेगा तो वह अम्बिकादत्त अपने को धन्य समझेगा।)

नाटक की कथावस्तु वैसे तो शृंगार रस से ओतप्रोत है, लेकिन कथाविन्यास के माध्यम से ऋषि, तपोवन, नृत्य, संगीत, राजद्वार, देवता, भूतप्रेत सभी का समावेश नाटक में होता है। धीवर पात्रों द्वारा मागधी प्राकृत का गीत भी गवाया गया है। शब्दों के प्रयोग में व्यास जी निष्णात थे, उसकी बानगी इन नाटक में मिलती है। उन्होंने अलंकार की उक्तियों में नूतन कल्पनाओं की उद्भावना भी की है, जैसे, निम्नोक्ति में चन्द्रमा के लिए कहा गया है कि वह जगत् का अन्धकार दूर करता है पर अपनी गोद में छायी मलिनता को नहीं हटाता (क्योंकि विज्ञजन दूसरे का ही अर्थ या विपरीतार्थ देखते हैं।)

संसारतमसां स्तोमं हन्ति धावन् कलाधरः।
न तु स्वाङ्के समालग्नं यतो विज्ञाः परार्थिनः।। (२/२१)

संस्कृत का निम्न गीत भी उनकी नूतन रचना-सरणि का परिचय देता है -

गर्ज गर्ज वारिवाह तर्ज तर्ज घोरराव भर्ज भर्ज
दीनहृदयमतिशयरवरत रे।

व्यासजी की दृष्टि में उनका यह नाटक नायिका या परकीया के विधान से दूर है, और उन्होंने सच्चरितानुष्ठान की दृष्टि से इसकी रचना का समायोजन किया है, उपोद्घात में उनका यह स्पष्टीकरण है-

यद्यप्यत्राङ्गी श्रृंगारो रसः, तथापि नैष परकीयां सामान्यनायिकां वा समालम्ब्य प्रवृत्तो न वा गान्धर्वादिविवाहाश्रयः, सम्प्रति हि स्वभावत एव विषयलोलुपचेतसो भवन्ति नवयुवकाः। ते च यथा काव्येषु परकीयाविषयकप्रेमपूरं परिकल्प्य न भवेयू रतिकलुषमनसो न वा विघट्टयेयुर्धैर्यधुर्यमर्यादाम्, तथा विशिष्यास्मिन् सच्चरितानुष्ठानमेवाशस्यत इति स्वयमेव विभावष्यन्ति भावुकाः। (उपोद्घात) किन्तु व्यासजी के इस विचार को सहमति नहीं दी जा सकती। पुराणों में ऐसे वर्णन आये हैं जहां निषिद्ध क्षेत्र में जाने से पुरुष स्त्री हो गये हैं, पर ऐसी घटनाएं आकस्मिक हैं। यहां दुर्वासा सामवान् स्नातक को, यह जानते हुए कि मेरे मित्र का पुत्र है, स्त्री होने का शाप दें, ऐसा प्रसंग कथानक के लालित्य को विकृत करता है। तथा उसका विवाह भी उसके साथी सुमेधा से ही सम्पन्न हो जाता है-यह कथा-विन्यास नाटक को उदात्त स्वरूप नहीं प्रदान करता। दूसरी ओर इस कथावस्तु के कारण ही यह कृति संस्कृत-नाट्य परम्परा में उल्लेखनीय हो गयी है।

सुन्दरराज-सुन्दरराज दक्षिण भारत के थे। इनका जन्म १८४१ ई. में श्रीवैष्णव संप्रदाय के वैखानस कुल में इलत्तुर अग्रहार में हुआ, मृत्यु १६०५ ई. में हुई। ये व्याकरण के पंडित और कवि थे। इनकी रचनायें नाटक और काव्य दोनों विधाओं में हैं, उनसे इनकी प्रतिभा का प्रमाण मिलता है। एट्टियपुरम् और त्रावनकोर के राजाओं के यहां इनका सम्मान था।

उनके रचित चार नाटक हैं-स्नुषाविजय, हनुमद्विजय नाटक, वैदर्भीवासुदेव, तथा पद्मिनीपरिणय। इनमें स्नुषाविजय सामाजिक है, समस्या का विषय होने से तथा वैदर्भीवासुदेव कृष्ण-भक्ति की रचना होने के कारण विशेष लोकप्रिय रहे।

स्नुषा-विजय का अर्थ है पुत्रवधू की जीत। यह एक अंक का रूपक है। इसमें दुराशा नामक सास का अपनी सच्चरित्रा नामक वधू के प्रति घोर दुर्व्यवहार तथा अपनी दुष्ट पुत्री दुर्ललिता के लिए घोर आसक्ति का चित्रण है, जिससे भयानक गृह-कलह उत्पन्न हो जाता है। वधू की सहनशीलता उसके पति की विनम्रता तथा देवर सुगुण की उदारता से सास को किसी प्रकार शान्त किया जाता है। पुत्री के प्रति अधिक आसक्ति दिखाने वाली पत्नी को पति (पिता) सुशील डण्डा लेकर मारने दौड़ते हैं। पुत्र सुगुण की उदारता से सभी अपने क्रोध से विरत होते हैं।

इस प्रकार रूपक का कथानक समाज की समस्या को तो उजागर करता है, लेकिन कथा विन्यास का ताना-बाना इतना बेमेल है कि उससे एक आकर्षक नाट्यशिल्प का निर्माण नहीं होता, जो अभिनय या पठन की दृष्टि से हमें अभिभूत कर ले। कथानक में क्या छोड़ देना चाहिए और क्या ग्रहण करने योग्य है, इसकी मर्मज्ञता इस युग के अन्य नाटककारों की तरह सुन्दरराज में भी नहीं है। इसलिए इसको कौतुक-कृति ही कहेंगे। संस्कृत नाट्य साहित्य की सूची में इसे कदाचित् ही प्रवेश मिल सके।

उक्तियों और संवादों में परिवार के चरित्र को रचयिता ने अच्छा उजागर किया है। सास अपने पुत्र से उसकी पत्नी अर्थात् अपनी बहू का परिचय देती है, जिसके ऊपर उसको सन्देह है कि वह इस घर का सारा धन अपने भाई को दे आएगी-

तस्याः पिता विदित एव पुराऽतिदुष्टः,
माता च दुर्मतिरिति प्रथिता पृथिव्याम्।
भ्राता विटोऽथ भगिनी व्यभिचारिणीति
ख्याता न वेत्सि खलु तत्कुलमर्भक! त्वम्।।

(उसका पिता पुराना दुष्ट है यह ख्याति है। माता अपनी दुष्ट बुद्धि के लिए प्रसिद्ध है। भाई विट है, बहन व्यभिचारिणी है। मेरे बालक! क्या तुम अपनी पत्नी के परिवार का यह परिचय नहीं जानते हो ?)

सास बहू के पूरे कुल को ही दुष्ट, दुर्मति और व्यभिचारी प्रमाणित कर देती है। कथानक में सामान्य घटनाओं के अतिरिक्त किसी मर्मस्पर्शी घटना का स्वरूप नहीं उभरता, जो हृदय पर छा जाये। सास निन्दाओं के अतिरिक्त ऐसे किसी कृत्य को बहू के प्रति नहीं घटित करती जो हमारी भावनाओं को बेध दे। इसी प्रकार पिता अपनी लालची पुत्री के दुर्गुणों का वर्णन करता है। वह पुत्री सास के द्वारा घर से निकाल दी गयी है और पिता को इस घटना के प्रति कोई चिन्ता नहीं है। वह पुत्री के लोभ पर ही आक्षेप करता है-

वसनायेदं वित्तं दातव्यं भूषणायेदम्।
भाजनकृते ममेदं देयमिति स्वं हरत्यहो दुहिता।।

(यह रुपया वस्त्र के लिए, यह आभूषण के लिए देना है, मेरे बर्तनों के लिए इतना चाहिए। अहो! पुत्री इस प्रकार सब कुछ उठा ले जाती है।)

पुत्रीनामा मूषिका जन्मगेहात्।
किंचित् किंचित् वस्तु गूढं हरेत् किम्।।

(पुत्री नामक चुहिया अपने जन्मघर से कुछ न कुछ वस्तु छिपाकर ले ही जाती है।) पुत्री के लोभ को लेकर पिता की ऐसी उक्तियां परिहास का आनन्द अवश्य देती हैं, पर दूसरी ओर पिता की मूढ़ता को भी उजागर करती हैं, पुत्री तो उसी की है। इस पर उसे तनिक क्लेश नहीं है। कथावस्तु में ऐसे सन्दर्भ नाटक को हल्का कर देते हैं। और इसे प्रहसन का रूप प्रदान करते हैं। केवल सामाजिक समस्या का विषय होने के कारण नाटक हमारी दृष्टि को चकित करता है।

इनके वैदर्भीवासुदेव नाटक का प्रकाशन १८८८ ई. में कैलाशपुर, तिन्नेवल्ली से हुआ। इस नाटक में रुक्मिणी और कृष्ण के विवाह की पौराणिक कहानी को एक नये रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह प्रसिद्धि है कि रुक्मिणी का भाई रुक्म अपनी बहन का विवाह चेदि के प्रसिद्ध राजा शिशुपाल के साथ करना चाहता था। नाटक में कुल चार अंक हैं। नाटककार ने कथा के विस्तार और उसकी विचित्रता के लिए कई परिवर्तन किये हैं- कृष्ण आते हैं तब रंगमंच पर ही रुक्मिणी का आलिंगन करते हैं। सुयोधन कृष्ण का और शिशुपाल भीष्म का छद्मवेश बनाकर रुक्मिणी का विवाह कृष्ण से न होने देने का कुचक्र रचते हैं। विदूषक कृष्ण का वेश बनाकर भाई रुक्मी को धोखा देता है। रुक्मी उसे कृष्ण समझकर बन्दी बनाता है। तब तक कृष्ण रुक्मिणी को लेकर द्वारका पहुंच जाते हैं। इन कल्पनाओं से नाटक की स्वाभाविक कथा विकृत हो गयी है तथा वीरों में अग्रगण्य कृष्ण की उदात्तता पर आंच आती है। कथा में छोटे-मोटे कौतुक के लिए ऐसे परिवर्तन नहीं करने चाहिए। भीष्म भी वहां उस विवाह में पहुंचते हैं। सुयोधन तथा भीष्म का उस घटना-क्रम में उपस्थित होना पौराणिक कथा के विरुद्ध तो है ही, कृष्ण के चरित को भी अपक्रान्त करता है।

नाटक श्रृंगाररस से ओत-प्रोत है। पर नाटककार के अनुसार इसमें श्रृंगार तथा वीर दोनों रसों का सामंजस्य है-

देवो यदूनां पतिरेकमक्षिप्रेम्णा सुशीलं सुदृशि प्रहिण्वन्।
शोणं रुषान्यद्विमतावलीषु श्रृंगारवीरौ युगपद् भुनक्ति।।

नाटक में आधुनिक (तत्कालीन) समाज के आचारों का प्रभाव लक्षित होता है।

आशुकवि (शीघ्रकवि) **शंकरलाल** गुजरात के भारद्वाज गोत्रोत्पन्न गुजराती ब्राह्मण थे। इनका जन्म १८४२ ई. में और मृत्यु १९१८ ई. में हुई। इन्होंने एक दर्जन नाटकों की रचना की है। इनके नाटकों में नायक या ऐसे प्रमुख पात्र प्रतिच्छन्द रूप में उपस्थित होते हैं या प्राकृतिक भावों को प्रतीक रूप में उपस्थित कर उनसे अभिनय का कार्य सम्पादित किया गया है, इसलिए कतिपय विद्वान् इनके नाटकों को छायानाटक कहते हैं। जामनगर के राजा ने इनको शीघ्रकवि की उपाधि देकर सम्मानित किया था, तथा भारतीयशासन ने १९१४ ई. में उनको महामहोपाध्याय की उपाधि से अलंकृत किया था। इनके रचित नाटकों के नाम हैं-सावित्रीचरित, प्रसन्नलोपामुद्र, अनसूयाभ्युदय, ध्रुवाभ्युदय, गोरक्षाभ्युदय, भगवतीभाग्योदय, महेशप्रणयप्रिय, पाञ्चालीचरित, अरुन्धतीविजय, केशवकृपालेशलहरी, कैलाशयात्रा, भ्रान्तिमायाभंजन, मेघप्रार्थना, अमरमार्कण्डेय आदि।

शंकरलाल संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे। दैवयोग से उनको राजा का आश्रय भी प्राप्त था। इस स्थिति ने उन्हें ऐसा उत्साह प्रदान किया कि उन्होंने इतने सारे नाटकों की रचना कर दी। इन नाटकों का कथा-शिल्प अत्यन्त ढुलमुल है। सभी नाटक पौराणिक कथाओं पर आधारित हैं और लेखक ने किसी भी नाटक में मुख्य कथा की प्रधानता सुरक्षित नहीं रखी है। उसमें कथा-विन्यास का कौशल नहीं है, नाटक की मुख्य कथा की आनुषङ्गिक जो भी कथाएं हैं, उन सबको वह नाटक में उतार देना चाहता है और मुख्य कथा सिकुड़कर एक-दो अंक में रह जाती है, जैसा कि सावित्री-चरित में है, सावित्री अपने पति सत्यवान की रक्षा यम से करती है, इस मुख्य कथा का अवतरण भलीभांति सातवें अंक में ही हो पाता है, और वह भी छायापट इन्द्रजाल द्वारा धर्मराज के सभामण्डप में सावित्री सत्यवान को दिखाया जाता है। पूर्व के अंकों में आनुषङ्गिक कथाओं को अनावश्यक विस्तार दिया गया है। इस प्रकार उनके नाटक पौराणिक कथाओं के संवादात्मक प्रस्तुतीकरण मात्र हैं। इनकी विचित्रता केवल इनका छायानाटकत्व है, जिसमें या तो कथा इन्द्रजाल के शिल्प से प्रस्तुत की जाती है, या पात्र प्रतीक रूप में आते हैं। अमरमार्कण्डेय में आधिव्याधि, ज्वर, हृत्कम्प, राजयक्ष्मा आदि प्रतीक पात्र बनकर आते हैं और संवाद करते हैं। सम्भवतः ऐसे प्रतीक पात्र लोकधर्मी नाट्य परम्परा से आये हैं, यतः लोकधर्मी नाटक लोकबद्ध नहीं हुए हैं अतः उनके ऐसे तथ्यात्मक इतिहास से हम अनभिज्ञ हैं। इसी काल में हिन्दी में कवि भारतेन्दु ने ऐसे प्रतीकपात्रों का बड़ा आर्कषक और नाट्यशिल्प के अनुकूल प्रयोग किया है। उनके 'भारत दुर्दशा' नाटक में अकाल, महामारी, निर्लज्जता, आशा, दुर्दैव, सत्यानाश मौज मदिरा जैसे प्रतीकपात्र रंगमंच पर आते हैं। भारतेन्दु के नाटक में कथा के अनुकूल विन्यास के कारण ये प्रतीक पात्र जीवन्तता उत्पन्न करते हैं। शंकरलाल के नाटकों में ऐसे प्रतीक पात्र की उपयोगिता केवल संवादमात्र में है।

इन्होंने १८८२ ई. में सावित्री चरित नाटक की रचना की थी और अन्तिम नाटक 'अमरमार्कण्डेय' की रचना १९१५ ई. में की गयी। अमरमार्कण्डेय पांच अंकों का नाटक

है। इसका कथाशिल्प पूर्व के नाटकों की अपेक्षा बहुत कुछ ठीक है। 'सावित्रीचरित' का कथाशिल्प अत्यन्त शिथिल है, इसे संवादात्मक आख्यान कहना ही अधिक उचित होगा, जिसमें बीच-बीच में लम्बी स्तुति या पद्यों का संवाद रखकर इसको चम्पू का रूप दे दिया है। छह पृष्ठों तक लम्बे संवाद हैं। डा. रामजी उपाध्याय अपने 'आधुनिक संस्कृत नाटक' ग्रन्थ में इसको किरतनिया नाटक कहते हैं-किरतनिया नाटकों की भांति कहीं-कहीं कवि ने देवप्रशंसात्मक स्तुतियों को पिरोया है। शैव्या चतुर्थ अंक में शिव की एक पृष्ठ लम्बी स्तुति करती है। पंचम अंक में १३ श्लोकों का गीत है। जो भी हो संवाद और चम्पू का मिला-जुला रूप इस नाट्य रचना का है, इसकी रचना करते समय कवि की दृष्टि में लोकधर्मी नाटकों (नौटंकियों) का प्रभाव समाया हुआ था। नाटक सात अंकों का है। सातवें अंक में ही मुख्य कथा को दर्शाया गया है वह भी इन्द्रजाल के छायापरदे द्वारा। यदि यमराज, सावित्री और सत्यवान को प्रत्यक्ष रूप से रंगमंच पर दिखाया जाता तो वह ज्यादा प्रभाव उत्पन्न करता। मानवोचित प्रकृति के अभिनय से दर्शक का घटना की उदात्तता के प्रति अपनत्व अधिकाधिक फूट पड़ता है। 'अमरमार्कण्डेय' में ऋषि मार्कण्डेय के जन्म और उनके कृत्य तक चिरायु होने की कहानी को नाटकीय रूप दिया गया है। नाटक में कुल पांच अंक हैं। प्रथम अंक में ऋषि मृकंडु अपनी पत्नी विशालाक्षी के साथ पुत्र कामना से तप द्वारा शिव को प्रसन्न करने के लिए कावेरी नदी के तट पर जाते हैं। द्वितीय अंकों में शिव प्रसन्न हो जाते हैं और वे कैलाश पर्वत से पार्वती के साथ मृकंडु ऋषि को पुत्र का वरदान देने के लिए चलना चाहते हैं, तब तक नारद मुनि वृन्दावन में शरत्पूर्णिमा के दिन कृष्ण और राधा की रासलीला देखने का निमंत्रण शिव के लिए लेकर आ जाते हैं। शिव ने कहा ऐसा सम्भव नहीं है, रासलीला फिर देख लेंगे, पहले हमें ऋषि मृकंडु को पुत्र का वरदान देने के लिए जाना है। नारद ने कहा, भगवन् ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि बिना आपकी उपस्थिति के वृन्दावन में रासलीला नहीं हो पायेगी, यह कृष्ण की चिट्ठी आपके लिए है। पत्र में ऐसा निवेदन देखकर भगवान् शिव को अपना निश्चय बदलना पड़ा, तब उन्होंने मृकंडु ऋषि के पुत्र का वरदान नारद के माध्यम से प्रेषित कर दिया और स्वयं पार्वती के साथ रासलीला देखने वृन्दावन पहुंचे। नारद कावेरी नदी के तट पर गये। तीसरे अंक में रासलीला की कथा और अभिनय है। कथा की ऐसी कल्पना वैष्णवों (कृष्णभक्तों) और शैवों (शिव भक्तों) की एकता के लिए है। चौथे अंक में मृकंडु का पुत्र मार्कण्डेय गुरु उपमन्यु से विद्या प्राप्त कर पिता के पास आ जाता है। विशेष बात यह है कि नारद ऋषि दम्पती को पुत्र का वरदान सुना रहे थे तो विशालाक्षी से कहा था कि दीर्घायु और अज्ञ पुत्र चाहती हो या अल्पायु और सर्वज्ञ। विशालाक्षी असमंजस में पड़ गयी तथा उन्होंने अल्पायु सर्वज्ञ पुत्र ही मांगा। और अल्पायु पुत्र को दीर्घायु होने के लिए तपस्या करनी थी। उपमन्यु मार्कण्डेय को कावेरी-तट पर स्थित शिवमन्दिर में शिवमंजरी दीक्षा देते हैं, जिसके जप से वह दीर्घायु हो। एक दिन मार्कण्डेय की माता ने स्वप्न में देखा कि यमदूत उनके पुत्र को लेने आये हैं। वे दोनों दम्पति पुत्र की चिन्ता में शिव मन्दिर की ओर चल पड़े,

मार्ग में आधि-व्याधि, ज्वर तथा राजयक्ष्मा रोग प्रत्यक्षरूप में मिले और उनसे कहा कि हम तो तुम्हारे पुत्र को लेने आये थे, पर शिव के गणों ने हमें पीट-पीटकर भगा दिया। अब आपका पुत्र चिरायु है, उसे कोई मार नहीं सकता। पांचवे अंक में मार्कण्डेय का शिव मन्दिर में जप तप तथा मृत्यु पर उनकी विजय की कथा का अभिनय है। अन्तिम घटनाचक्र में जब यमराज महिष पर सवार होकर आते हैं और अपना पाश मार्कण्डेय के गले में डाल देते हैं तब मृत्युञ्जय शिव प्रकट होकर यम की छाती पर चरण प्रहार करते हैं। मूर्च्छित यमराज अपने भैंसे से नीचे गिर पड़ते हैं। मृत्युञ्जय शिव मार्कण्डेय को वरदान मांगने के लिए कहते हैं। बालक मार्कण्डेय ने सर्वप्रथम यमराज को सचेत करने का ही वरदान मांगा। इस प्रकार बालक मार्कण्डेय अपनी उच्चाशयता से ही सबकी कृपा का पात्र बनकर कल्पायु हो गया है। नाटक का कथाशिल्प सब मिलाकर आकर्षक ही है। तीसरे अंक में राधा-कृष्ण की रासलीला का प्रसंग है जो इस कथा के साथ सम्बद्ध कर दिया गया है। उससे दो उद्देश्य सिद्ध होते हैं - पहला तो दर्शकों का मनोरंजन होता है और दूसरी प्रेरणा यह मिलती है कि वैष्णवों तथा शैवों को आपस में लड़ना नहीं चाहिए, क्योंकि कृष्ण स्वयं कहते हैं -

राकाऽराकाऽशरदपि शरच्चन्द्रिकाऽचन्द्रिका सा
राधाऽराधा परशिव तवासन्निधौ श्रीपतेर्मे।
रासोल्लासः प्रभवति तदा साम्ब शम्भो यदा त्वं
देव्या सार्धं भवसि शिवया रत्नसिंहासनस्थः।। (२/७)

अर्थात् रासलीला का उल्लास आ नहीं सकता, न तो शरच्चन्द्रिका की चांदनी ही छा सकती है जब तक पार्वती के साथ शिव यहां आकर रत्नसिंहासन पर बैठकर रासलीला के दर्शक नहीं बनते। विशालाक्षी ने सर्वज्ञ पुत्र का वरदान मांगा, भले ही वह अल्पायु हो। दीर्घायु किन्तु मूर्ख पुत्र उनको नहीं चाहिए था। माता की यह कामना भारतीय संस्कृति का आदर्श है। महाभारत की विदुला ने भी युद्ध से भागकर आये अपने पुत्र से कहा था-

अलातं तिन्दुकस्येव मुहूर्तमपि विज्वल।
मा तुषाग्निरिवानर्चिर्धूमायस्व जिजीविषुः।।
मा धूमाय ज्वलात्यन्तमाक्रम्य जहि शात्रवान्।
ज्वल मूर्धन्यमित्राणां मुहूर्तमपि वा क्षणम्।। (महा.उद्यो.१३३ १४, ३१)

भारतीयनाट्यशास्त्र के अनुसार अर्थोपक्षेपकों का विन्यास भी कथा-सन्दर्भ की पूर्ति के लिए नाटककार ने किया है। सम्पूर्ण तीसरे अंक में रास-लीला का अभिनय आश्रयदाता राजा और कृष्णभक्त जनता के अनुकूल मनोरंजन की उपस्थिति है। उसके साथ ही कृष्णभक्ति और शिवभक्ति के प्रति समान आदर प्रकट करना भी सांस्कृतिक एवं धार्मिक दृष्टि है। इस पक्ष की सूक्तियां धार्मिक मान्यता की दृष्टि से माननीय हैं। नारद ने कृष्ण

को परांगना का आलिंगन करते देखा, तो असमंजस में पड़ गये। तब पार्वती ने अपनी मुद्रिका उतार कर नारद के हाथ में दी, नारद जब उस मुद्रिका में देखते हैं तो सारा रास-मण्डल केवल राधा और कृष्ण से ही व्याप्त है, दूसरी स्त्री दिखाई ही नहीं पड़ती -

राधिकां राधिकामन्तरे माधवो
माधवं माधवं चान्तरे राधिका।
राधिकामाधवाभ्यामिदं मण्डलं
व्याप्तमाभाति मे नापरा अङ्गनाः।।

श्रीकृष्ण ने भी चारों ओर समस्त दिशाओं को पार्वती और शिव से ही परिव्याप्त देखा-

कुंजे कुंजे प्रति तरुतलं सर्वतः पर्वताग्रे
तीरे तीरे तरणिदुहितुश्चानुरंगत्तरंगम्।
देशे देशे दिशि दिशि पुरः श्रीशिवासंयुतो मे
गंगाधारी स्फुरति जगदानन्दकारी पुरारिः।।

मनोज्ञ और सरस पदावली के विन्यास में लेखक पटु है। कृष्ण के बिना व्याकुलता का निम्न वर्णन प्रसाद गुणयुक्त ललित पदावली में आकर्षक बन पड़ा है-

न गोप्यो न गोपा न गावो न वत्सा
न वा राजयस्ता घनानां वनानाम्।
खगा नो मृगा नो नगा नो मनोज्ञं
बिना कृष्णचन्द्रं न पश्यामि किंचित्।। (३/३६)

(हाय! अब कृष्ण के न दिखायी पड़ने पर तो गोपियां, न गोप, न गायें, न ही बछड़े, न ही सघन वनों की ये कतारें, न पक्षी, न मृग, न पर्वत कुछ भी अच्छे नहीं लग रहे हैं।)

शंकरलाल के इस नाटक तथा दूसरे नाटकों में भी देवचरित का ही बाहुल्य है, तथा घटनाचक्र आकस्मिक रूप से घटते हैं, अतः इस बात की आशा नहीं की जानी चाहिए कि इन नाटकों में मानव-मन में सुलभ स्वाभाविक क्रिया-व्यापार सुलभ हुए होंगे। ऐसी स्थिति में उन्होंने स्वप्न जैसी घटनाओं की कल्पना कर ली है।

नारायण शास्त्री - इस काल के रचनात्मक साहित्य-प्रणेताओं में श्री नारायण शास्त्री का नाम ग्रन्थ संख्या की दृष्टि से सर्वोपरि है। उन्होंने अपने को ६६ रूपकों का रचयिता कहा है। इसके अतिरिक्त महाकाव्य, चम्पू, आख्यायिका आदि उनके दूसरे ग्रन्थ हैं। इनका जन्म कुम्भकोणम् में १८६० ई. में हुआ, और मृत्यु १९११ ई. में हुई। इनके पिता और भाई सभी विद्वान थे। इनको स्वयं की उच्चकोटि की विद्वत्ता तथा काव्य-रचनात्मक प्रतिभा

के सम्मानार्थ कई उपाधियों से अभिनन्दित किया गया था। इनके प्रमुख नाटकों के नाम हैं- शशिशारदीय, शूरमयूर, शर्मिष्ठाविजय, कलिविधूनन, महिलाविलास, स्वैराचार, मैथिलीय। इनके अतिरिक्त २० सर्गों का सुन्दरविजयमहाकाव्य, गौरीविलास चम्पू, चिन्तामणि आख्यायिका इनकी दूसरी रचनायें हैं। नारायणशास्त्री संस्कृत के निष्णात पंडित थे। संस्कृत भाषा पर इनका अधिकार था, जिसके फलस्वरूप इन्होंने शताधिक ग्रन्थों की रचना की है। किन्तु ग्रन्थों की यह संख्या गुणवत्ता की द्योतक नहीं है। अनेक पौराणिक कथानकों को काल्पनिक घटनाओं से संयुक्त कर नाटक का स्वरूप खड़ा किया गया है, जिसके दो ही आकर्षण हैं- संस्कृत भाषा के संवाद और कथा या घटना की अलौकिकता। कथा के माध्यम से मानव जीवन का उसके मनकी कोई स्वाभाविक अभिव्यक्ति इनकी कृतियों में नहीं पायी जाती। रचनात्मक सृष्टि की विरल प्रतिभा का कोई अंश इनकी कृतियों से प्रकट नहीं होता। पद्य रचना या सामाजिक आनुप्रासिक पदावली संस्कृत भाषा के लिए सामान्य बात है, जिससे ज्ञान या बुद्धि का कौशल प्रकट होता है, पर हृदय को छूने वाली बात ही रचनात्मक सृष्टि होती है, जो इन शताधिक ग्रन्थों में दुर्लभ लगती है।

लगता है कि दक्षिणभारत की संस्कृति नाट्य, संगीत और नृत्य से अतिरिक्त संयुक्त है। उनके लिए नाट्यरचना में संभवतः विनोद का उद्देश्य ही अधिक है, मानव प्रकृति की अभिव्यक्ति गौण है। पौराणिक गाथाओं में मानव प्रकृति की बातें भी सन्निविष्ट हैं, पर अलौकिक सन्दर्भों के साथ, लेकिन जब उन अलौकिक सन्दर्भों को कल्पना से और भी अलौकिक कर दिया जायेगा तब वे सन्दर्भ केवल आश्चर्य और कुछ-कुछ विनोद के ही समायोजन होंगे। ऐसे ही कुछ इन कई नाटककारों के नाटक हैं तथा नारायणशास्त्री के नाटक तो विशेषरूप से इसी ढांचे के हैं। उदाहरण के लिए उनके शूरमयूर नाटक का विश्लेषण किया जा रहा है।

'शूरमयूर' नाटक में कुल ७ अंक हैं। इसका कथानक शिव-पुत्र ओर देव-सेनानी कार्तिकेय (स्कन्द) की वीर कहानी है। इसका प्रकाशन पहली बार ग्रन्थलिपि में १८८८ ई. में हुआ।

कुमार कार्तिकेय की वीरगाथा उनके क्रीडा-विनोद से शुरू होती है, जहां वे सुमेरु पर्वत के शृंग को उखाड़कर उसे गेंद बनाकर खेलते हैं। इन्द्र को जब यह मालूम हुआ तो वे कुमार कार्तिकेय को पहचान गये। उनको शिवपुत्र कुमार की ही प्रतीक्षा थी। उन्होंने कुमार कार्तिकेय से अपनी रक्षा की प्रार्थना की। इन्द्र को तीन मायावी असुरों शूर, तारक और सिंहवक्त्र ने पराजित कर दिया था। इन्द्र की कायरता देखकर कार्तिकेय ने देवसेना का सेनापति होना स्वीकार कर लिया। बृहस्पति ने सेनापति पद पर उनका अभिषेक किया। शूर देवों से युद्ध नहीं करना चाहता था, पर तारक देवों से युद्ध करने के हठ में था। अन्ततः तारक ने युद्ध आरम्भ कर दिया। उसने कृत्रिम क्रौंच पर्वत की आड़ लेकर युद्ध प्रारम्भ किया। कुमार ने क्रौंच पर्वत को तोड़ डाला। तारक, सिंहवक्त्र दोनों मारे जाते हैं। छठे अंक में शूर कुमार से पराजित होकर उनकी शरण में आ जाता है, मयूर बनकर

उनका वाहन होने की प्रार्थना करता है तथा चाहता है कि मयूर कुमार के ध्वज पर अंकित हो-

शरणं सुब्रह्मण्यः शरणम्,
दर्पो मम व्यपगतो जनता प्रमीता।
आस्तां ध्वजे तव शिरो मम कुक्कुटात्मा
यानं भवान्यहमहो तव बर्हिरूपः।।

(भगवान् कार्तिकेय मेरे लिए शरण हैं रक्षक हैं, मेरा अभिमान दूर हो गया, जन-बल ध्वस्त हुआ। हे भगवन्! आपके ध्वज में मेरे शिर का चिह्न हो। मैं मयूर होकर आपका वाहन बनूं-यही मेरी इच्छा है) शूर दैत्य के मयूर हो जाने के साथ एक तरह से कथानक यहीं समाप्त हो जाता है। आगे सप्तम अंक की कथा में कुमार को इन्द्र देवसेना अर्पित करते हैं तथा इन्द्राणी शची उनको अनेक प्राभृत (भेंट) प्रदान करती हैं। सप्तम अंक कथा का परिशिष्ट या उपसंहार है। इस प्रकार पूरा कथानक अद्भुत कथाओं से ओत-प्रोत है। घटनाओं को दृश्यांकित करने की अपेक्षा सूच्य बनाकर (सूचनाओं से परिचय देकर) कथा को आगे बढ़ाया गया है।

आधुनिक काल के इन नाटककारों में यह प्रवृत्ति बहुत है और ये (स्वगत) एकोक्तियों से भी नाटक को बोझिल बनाते हैं। ऐसा इसलिए है कि नाट्य-कथा के समुचित विन्यास का कौशल इनकी प्रतिभा में नहीं है। इसीलिए अधिकांश नाटक केवल संवाद मात्र रह गये हैं। बीच-बीच में नाटककार अपने पाण्डित्य का भी परिचय देने को उत्सुक रहता है। शूरमयूर वीर रस का नाटक है। वीररस के नाटकों के संवाद की उदात्तता यह है कि वे प्रसाद और ओज गुण से संयुक्त हों। यदि वे कठिन शब्दावली से मुक्त हो जायेंगे और उनका अर्थ जटिल हो जायगा तो दर्शक या पाठक का हृदय भाव की अभिव्यक्ति से वंचित रह जायगा। इस नाटक में तारक और स्कन्द के संवाद श्लेष काव्य के उदाहरण हैं। जो तारक कहता है, स्कन्द उसके उत्तर में उसी पद्य को भिन्न अर्थ बोध में श्लेष द्वारा कह देते हैं। यह पाण्डित्य का अनूठापन हो सकता है पर नाटक के संवाद का नहीं।

बीसवीं शती में लिखा गया यह नाटक वर्तमान काल की अवस्था की कोई प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति नहीं करता, यह नहीं प्रतीत होता कि इस कथा को नाटकीय रूप देकर मनोरंजन के अतिरिक्त इसका कुछ और भी उद्देश्य है। वीर रस की घटनाएं तो लोकोत्तर हैं ही, दूसरी भी आश्चर्यमयी घटनाओं की सृष्टि इस नाटक में है, जैसे पृथ्वी से सिंहासन का उद्भव। इन्द्र और शची का उच्च देव-मर्यादा के अनुरूप व्यवहार भी इस नाटक में नहीं प्रदर्शित होता, इन्द्र शची को अपनी गोद में बैठा लेता है।

नारायण शास्त्री के अन्य नाटक भी ऐसे ही हैं। उनमें प्रशस्त नाट्यकौशल का अभाव है। इनकी 'शर्मिष्ठा-विजय' नाटिका अपेक्षाकृत प्रशस्त नाट्यकृति है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि नाटककार को इसमें केवल श्रृंगार भाव का ही विस्तार करना था,

और पूरी कथा, ययाति के साथ देवयानी के और शर्मिष्ठा के प्रेम-प्रसंग इसी शृंगार-भाव की सृष्टि करते हैं। देवयानी दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य की पुत्री है तथा शर्मिष्ठा दैत्यों के अधिपति वृषपर्वा की कन्या है।

शर्मिष्ठा द्वारा कुएं में गिरायी गयी देवयानी को वन में पहुंचे ययाति ने बाहर निकाला, तब देवयानी ने उनको वरण कर लिया। ययाति ने जब शर्मिष्ठा को देखा तब वह उसके वशीभूत हो गया। शुक्राचार्य ने ययाति को आशीर्वाद दिया। देवयानी को उनकी पत्नी तथा शर्मिष्ठा को सेविका का स्थान प्राप्त हो, यह उनका आदेश था। बात ऐसी हो नहीं पायी। राजा शर्मिष्ठा को ही चाहता रहा। मध्यकाल के राजाओं को लेकर नाटिकाएँ लिखी गयी हैं, उनमें भी ऐसे चित्र अंकित होते हैं, राजा अपनी चहेती प्रेमिका को पाने के लिए लुकछिप कर अनेक उपाय करता है और वह रानी से डरता रहता है। इस नाटिका में भी ऐसे भाव-व्यापार की वास्तविकता का ज्ञान हुआ तब उसने अपने पिता शुक्र से इसकी शिकायत कर दी। शुक्राचार्य ने ययाति को बूढ़ा होने का शाप दे दिया। ययाति उस समय देवलोक से लौट रहा था, रास्ते में उसे बूढ़ा होने का ज्ञान हो गया, वह जीवन से निराश हो चला। शुक्र के ऐसा शाप देने पर देवयानी भी दुःखी हुई थी, क्योंकि इससे उसका सुख भी जाता रहा, तब उसके आग्रह से शुक्र ने इस बुढ़ापा को विनिमय द्वारा दूर करने की अनुमति दे डाली। ययाति के पुत्र पुरु ने पिता को अपनी जवानी देकर उनका बुढ़ापा तीस वर्ष के लिए ले लिया और ययाति ने पुरु को राजसिंहासन सौंप दिया। एक तरह से प्रेम-प्रंसग में शर्मिष्ठा ने ही देवयानी पर विजय प्राप्त की। नाटिका का यही उद्देश्य परिणति प्राप्त करता है। अपने शृंगारभाव और व्यापार के कारण नाटिका आदि से अन्त तक आकर्षक बनी रहती है। इस नाटिका में प्रसंगानुकूल सरस अनुप्रासयुक्त गीतों की रचना हुई है। जैसे -

कालः कालकलातुलामधिगतः कामेन मे क्लाम्यतः
कान्तायाश्च न कापि वागिदमिदं कर्णान्तरं प्रापिता।
कामं कामकृशः क्रमेण विलयं प्राप्तैव कायोऽप्यसौ
कामिन्याः प्रणयोदयः प्रभवितेत्येवासवः शेरते।।

नाटककार की कुछ नूतन सूक्ति-कल्पनायें भी उसकी प्रतिभा का परिचय देती हैं, जैसे सायंकाल में सूर्य के समुद्र के बीच अस्त होने का कारण कवि की दृष्टि में वारुणी (पश्चिम दिक्) का सेवन है-

भानुरपि वारुण्यास्सेवातः शिथिलपादसञ्चारः।
रक्तश्च गगनधिया पश्चिमपाथोनिधिञ्च प्रविशति ननु।।

राजराज वर्मा-केरल के मलयालम भाषी संस्कृत के विद्वान थे और इन्होंने संस्कृत में महाकाव्य, गद्य-प्रबन्ध, गीतकाव्य एवं अन्य रचनायें की हैं। 'गैर्वाणी-विजय' इनका

एकमात्र रूपक है, पर वह इसलिए उल्लेखनीय है कि इसमें लेखक ने वर्तमान की अभिव्यक्ति की है, अंग्रेजी भाषा और साहित्य के अध्ययन के प्रति भारतीय जन आकृष्ट हो रहे थे। अंग्रेजी राजभाषा थी, उसमें प्रवीण होने पर ही राजसेवा में प्रवेश मिल पाता था। अंग्रेजी के इस सम्मान से संस्कृत की उपेक्षा हो रही थी। संस्कृत (देववाणी, गैर्वाणी) की यह उपेक्षा भारतीय मनीषियों की चिन्ता का विषय होना चाहिए। इस चिन्ता की नाटकीय अभिव्यक्ति इस लघुरूपक में हुई है, और इसीलिए यह उल्लेखनीय है। राजराज वर्मा का जन्म १८६६ ई. में और मृत्यु १९१८ में हुई। ये १८९२ में त्रिवेन्द्रम महाविद्यालय में संस्कृत के प्रोफेसर नियुक्त हुए थे। आपकी गहरी आस्था संस्कृत की उन्नति के प्रति थी। गैर्वाणी-विजय का पहला प्रकाशन ग्रन्थ लिपि में कलपदि पालघाट के प्रेस से १८९० ई. में हुआ। यह लघुरूपक है। इसका कथानक इस प्रकार है- एक दिन भारती (सरस्वती) ब्रह्मा के पास पहुंची। बहुत दुःखी होकर निवेदन किया कि मैं अब भारत में ही उपेक्षित हो रही हूँ। हौणी (अंग्रेजी) सभी की स्वामिनी बनाई जा रही है। भारती की दोनों कन्याओं गैर्वाणी (संस्कृत) और हौणी (अंग्रेजी) को ब्रह्माजी ने बुलवाया। दोनों की बातें सुनीं कि विवाद क्या है। गैर्वाणी ने कहा-मैं आदिकाल से वाल्मीकि, कालिदास जैसे कवियों से समादृत हुई हूँ, पर आज निर्वासित हो रही हूँ। हौणी ने सबको मोह लिया है और लक्ष्मी जी हौणी के साथ हैं। हौणी (अंग्रेजी) ने ब्रह्मा से कहा कि मैं तो गैर्वाणी का बहुत आदर करती हूँ पर लोग मुझ पर बहुत आकर्षित हैं, इसके लिए मैं क्या करूँ? गैर्वाणी ने हौणी की धृष्टता और अपने प्रति किये अपराधों का वर्णन किया। पर ब्रह्मा हौणी के विनय से प्रभावित थे। उन्होंने गैर्वाणी से कहा, इसे अपनी छोटी बहन समझकर व्यवहार करो, और सारा भार इसको सौंप दो। तभी गरुड वहां आ गये और उन्होंने केरल के राजा के इस निश्चय को सूचित किया कि राजा ने धर्मशास्त्र में अभिरुचि रखकर गैर्वाणी की पद-प्रतिष्ठा में दुगुनी वृद्धि कर दी है। इस प्रकार गैर्वाणी को प्रस्तुत विवाद में विजय प्राप्त हुई। रूपक की यह भी जोरदार अभिव्यक्ति है कि भारतीय जीवन और आचार (धर्मशास्त्र) को समझने के लिए गैर्वाणी (संस्कृत) के अध्ययन की अनिवार्यता सदैव बनी रहेगी। रूपक में भारती, गैर्वाणी हौणी प्रतीक (छाया) पात्र के ही रूप में आती हैं। नाटकीय मनोरंजन की दृष्टि से नाटककार ने नारद और दुर्वासा की भी उपस्थिति ब्रह्मा की सभा में दिखा दी है। हौणी जब ब्रह्मा के पास आती है, तब अर्धनग्न वैदेशिक वेषभूषा में है, ब्रह्मा से आते ही गुडमार्निंग कहकर अभिवादन करती है। नारद की यह प्रतिक्रिया है कि यह चाण्डाली कहां से आ गयी। और दुर्वासा उसे वानरी कहते हैं। हौणी दुर्वासा की ओर लक्ष्यकर कहती है कि यह भयानक जानवर मेरे लिए भय पैदा कर रहा है। गैर्वाणी की हौणी के प्रति शिकायतें हैं -

कथमिव सहसा समादधेऽहं कलहपदेषु मनागनिष्कृतेषु।
प्रतिपदचरितान् कथापराधान् वद कथमेकपदे (नु) विस्मरामि।।

किं किं न हि करोत्येषा मय्युद्वेजयितुं जनान्।
लिङ्गदोषमृषाव्याधि-प्रख्यापनसुदारुणा ।। (२०, २२)

(कलह में तिरस्कृत मैं सहसा कुछ भी धैर्य कैसे धारण करूँ ? प्रत्येक कार्यव्यापार में अपराध करती इस अंग्रेजी को एक बार में कैसे भूल जाऊँ। मेरे प्रति लोगों को विरुद्ध करने के लिए यह क्या-क्या नहीं करती, वाक्य प्रयोग के पद-विन्यास में लिंग दोष का झूठा आरोप करने में यह बड़ी कठोर है।)

परशुराम नारायण पाटणकर-परशुराम नारायण पाटणकर का जन्म भीमा नदी के तट पर रत्नागिरि (महाराष्ट्र) में हुआ। ये संस्कृत के विद्वान थे और इन्होंने अध्यापक का जीवन व्यतीत किया। समय के अनुकूल इन्होंने "वीरधर्मदर्पण" नामक सफल नाटक की रचना १६०५ ईस्वी में की। इसका प्रकाशन १६०७ ई. में काशी से हुआ।

वीरधर्म-दर्पण की कथा महाभारत-युद्ध से ली गयी है। युद्ध-भूमि में आचार्य द्रोण की चक्रव्यूह रचना तथा उसमें युद्ध करते बालक अभिमन्यु का मारा जाना। अर्जुन को दूसरे दिन जयद्रथ को मारने की प्रतिज्ञा तथा उसे पूरा किया जाना-इस प्रकार दो दिन के युद्ध के वीरभावों से परिपूर्ण गाथा इस नाटक की कथावस्तु है। जयद्रथ को मारने की प्रतिज्ञा अर्जुन ने इसलिए की थी कि वह ही चक्रव्यूह के द्वार का रक्षक बनकर युद्ध कर रहा था, जिसके कारण अभिमन्यु को छोड़कर कोई दूसरा महारथी चक्रव्यूह में प्रवेश न पा सका। जयद्रथ ने एक बार पाण्डवों से अपमानित होने पर शिव की कठोर तपस्या की थी, तपस्या से शिव प्रसन्न हुए थे और उन्होंने अर्जुन को छोड़कर सभी अन्य को विजय करने का वरदान उसे दे दिया था।

नाटक के कुल सात अंक हैं। चौथे अंक में वर्णित जयद्रथ के सहायक राक्षस शंकुकर्ण का सन्दर्भ महाभारत में नहीं है। यह नाटककार का अपना कल्पित संदर्भ प्रतीत होता है। शंकुकर्ण युद्धभूमि में कृष्ण द्वारा पकड़ा गया, तब उसने क्षमा मांगी, कहा कि जयद्रथ ने मुझे आप लोगों को मारने के लिए नियुक्त किया था, लेकिन अब मैं आपका सेवक हूँ और आप लोगों की सहायता करूंगा। सातवें अंक में अर्जुन ने जब जयद्रथ का सिर बाण से काट दिया तब शंकुकर्ण उसे लेकर उड़ा और उस शिर को जयद्रथ के पिता बृहद्रथ की गोद में गिरा दिया, पिता ने चौंककर उसे जमीन पर फेंक दिया, जिससे पिता का सिर भी सौ टुकड़े हो गया। पिता, पुत्र दोनों की मृत्यु हो गयी। जयद्रथ के पिता ने तपस्या से यह वर प्राप्त किया था कि जो मेरे पुत्र का सिर पृथ्वी पर गिरा देगा, उसके सिर के भी सौ टुकड़े हो जायेंगे। इनका फल कृष्ण के कौशल से उस पिता को ही भोगना पड़ा।

सात अंकों का यह नाटक कथावस्तु और नाट्यशिल्प की दृष्टि से सर्वथा सराहनीय है। पाटणकर ने छात्रों के लिए इस नाटक की रचना की थी, छात्रों को वीरभाव की वैसी ही सात्त्विक शिक्षा देने की सामर्थ्य इस नाटक में है।

प्रस्तावना में यह बात कही गयी है-स्वान्तेवासिप्रीतये यत्नशीलो जग्रन्थैतन्नाटकं सत्प्रयोगम्। इसका अभिनय भी कई बार हुआ। नाटक का आरम्भ भीष्म की शरशय्या के पास दर्शन हेतु गये अर्जुन, सुभद्रा और उनके पुत्र अभिमन्यु से वार्तालाप से होता है। उस वार्तालाप में अभिमन्यु ने अपना विचार प्रकट किया -

वंशस्य कीर्तिमतुलस्य पितुश्च नाम वीरप्रसूत्वमथ मातुरुदग्रयन्मे।
प्राणव्ययेन रिपुभिः कृतसंगरस्य भूयात् स्वधर्मचरणे प्रथितोऽधिकारः।।

अभिमन्यु के इस विचार पर भीष्म ने इसके क्षत्रियत्व को सराहा-

प्राणानापि हानेन धर्मसंरक्षणव्रतम्।
पाल्यं हि क्षत्रियश्रेष्ठैर्येन लोको भवेत् सुखी।।

नाटक सातवें अंक में वहां समाप्त होता है जहाँ अर्जुन की प्रतिज्ञा पूरी होती न देखकर कृष्ण अकाल संध्या कर देते हैं। अर्जुन प्रतिज्ञानुसार जलते पावक में प्रवेश करने की तैयारी करने लगते हैं और तब जयद्रथ सेना के व्यूह से निकलकर प्रसन्नता से उनके निकट आ जाता है। वह प्रसन्नता व्यक्त कर ही रहा था कि कृष्ण ने अकाल संध्या को तिरोहित कर दिया। सूर्य दिखाई पड़ने लग गये। अर्जुन ने बाण से जयद्रथ का सिर काट दिया। 'अरे रे क्षत्रियकुलाधम जाल्म एष आसादितोऽसि।' शंकुकर्ण राक्षस ने जयद्रथ के सिर को ले जाकर उसके पिता की गोद में डाला। पिता ने उसे भूमि पर गिरा दिया और उसका सिर शतखंड हो गया। महाभारत की कथा में अर्जुन ही दूसरा बाण चलाकर जयद्रथ के सिर को उसके पिता की गोद में गिराते हैं, यहां नाटककार ने नयी कल्पना प्रस्तुत की है।

जैसा कि कहा गया है कि इस नाटक को अध्यापक गुरु पाटणकर ने छात्रों के लिए प्रणीत किया है, उस दृष्टि से अपने शिष्य के प्रति सदैव स्नेहशील महान द्रोणाचार्य का चरित्र भी अंकित किया है। युद्ध-भूमि में द्रोण और अर्जुन परस्पर प्रतिस्पर्धी हैं, द्रोण ने पृथ्वी को पाण्डवों से रहित करने की प्रतिज्ञा की है। लेकिन जब युद्धभूमि में अर्जुन उनसे मिलते हैं तब वे गुरु अपने शिष्य को स्नेह से भरकर बाहुओं में बांध लेते हैं-

योऽयं बिभ्रदरातिपक्षकटकप्राग्भारभूमिं गुरुः
कर्तुं भूमिमपाण्डवामिव रणे सज्जोऽस्ति सत्यव्रतः।
स्नेहोत्कर्षवशाद् विलीन इव मामालिंगितुं स स्वयं
गृष्टिर्वत्समिवावलोक्य रभसादागाति हर्षान्वितः।।

(सत्यप्रतिज्ञ हमारे ये गुरु, जो शत्रुसेना के अग्रभाग में स्थित होकर उसकी रक्षा कर रहे हैं, जिन्होंने भूमि को पाण्डवों से रहित करने की प्रतिज्ञा की है, आश्चर्य है मुझ (अर्जुन) को देखकर प्रसन्नता से स्नेहवश तेजी से वैसे आ रहे हैं जैसे गाय बछड़े की ओर)

उपात्तरणकर्मणे स्फुरणशालि वाह्वोर्युगम्
किरीटिपरिरम्भणे भवति कण्टकैरावृतम्।
मनोऽपि दधदुग्रतां विनयमस्य दृष्ट्वा मयि
विलीनमिव सर्वथान्यथयति प्रतीपां धियम्।।

(युद्ध के लिए जिन दोनों भुजाओं में स्फुरण हो रहा था वे भुजाएं अर्जुन के आलिंगन करने में हर्ष से रोमांचित हो गयीं। इनका जो मन उग्र था, विनय को देखकर मेरे प्रति उसने सारे शत्रुभाव को भुला दिया) वैदर्भी मार्ग और प्रसाद गुण की यह रचना कथावस्तु की स्वाभाविकता से आरम्भ से अन्त तक अपनी प्रभावान्विति बनाये रखती है। अपने सराहनीय नाट्यशिल्प में यह नाटक मध्यकाल के नारायणभट्ट की रचना "वेणींसंहार" से किंचित् भी ऊन नहीं है, केवल एक बात को छोड़कर, कि इसमें नायिका के अभिनय का कोई नारी-पात्र नहीं है। यह नाटक राष्ट्र-प्रेमियों को बहुत पसन्द आया। १६२७ ई. में गोकुलचन्द्र शर्मा ने इसका अच्छा सा अनुवाद जयद्रथ वध नाम से हिन्दी में किया, जिसका प्रकाशन गंगा पुस्तकमाला लखनऊ से हुआ। १६३७ ईस्वी में इस अनूदित नाटक को संयुक्त प्रान्त आगरा व अवध (वर्तमान उत्तर प्रदेश) की हाईस्कूल परीक्षा के हिन्दी-पाठ्यक्रम में निर्धारित किया गया। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती पत्रिका में मूल नाटक और उसके अनुवाद 'जयद्रथ वध' की सराहना की थी।

पंचानन तर्करत्न-इनका जन्म बंगाल के चौबीस परगना जिलान्तर्गत भाटपाड़ा में ईस्वी सन् १८६६ में हुआ। भाटपाड़ा विद्वानों की जन्मभूमि रही है। पंचानन के पिता विद्वान थे, इन्होंने अपने पिता से व्याकरणशास्त्र की शिक्षा प्राप्त की। तत्पश्चात् अन्य गुरुओं से विविध शास्त्रों का अध्ययन किया। १८८५ ई. से १६३७ ई. तक आप बंगवासी प्रेस में ग्रन्थों के संपादन आदि कार्य करते रहे। उसके बाद काशी में आकर रहने लगे। पंचानन राष्ट्रीय जीवन जीने वाले व्यक्ति थे। संस्कृत शिक्षा और धर्म के प्रति आपकी गाढ़ रुचि रही। इन्होंने अंग्रेजी शासन के अन्मूलन के लिए क्रान्तिकारी पार्टी का गठन किया था जिसका नाम अनुशीलनी था। अलीपुर बम कांड में इनको १६०७ में बन्दी भी बनाया गया था। इन्होंने पार्थाश्वमेध काव्य तथा अमरमंगल, कलंकमोचन नामक दो नाटकों की रचना की है।

अमरमंगल नाटक स्वतन्त्रता की भावना से ओतप्रोत है। यह नाटक उदयपुर के महाराणा प्रतापके पुत्र अमरसिंह के जीवन की घटनाओं पर अधारित है।

नाटक में कुल आठ अंक हैं। नाटक का मुख्य विधेय मुग़लों के हाथ से चित्तौड़ दुर्ग को मुक्त करना है, जिसकी परिणति आठवें अंक में होती है।

नाटककार चित्तौड़ के क्षत्रिय राजवंश को, जो बाप्पा रावल का वंशज कहा जाता है, भगवान् राम के पुत्र लव का वंशज मानता है। अतः इस राजकुल के प्रति लेखक का हृदय महान आदर-भाव से संभरित है। घटनाओं का संकलन पंचानन ने संभवतः टाड-कृत

"राजस्थान का इतिहास" से किया है। अधिक से अधिक घटनाचक्रों के विनियोजन से नाटक का कलेवर आठ अंकों का हो गया है, कहीं कहीं अनावश्यक विस्तार किया गया है। जो बातें इतिहास में नहीं हैं उनकी कल्पना कथा को बहुत उदात्त नहीं बनाती, जैसे मानसिंह का भगवान् एकलिंग की पूजा के लिए सामग्री प्रेषित करना और पुरोहित द्वारा उसे अस्वीकार कर देना। आठवें अंक के पूर्व एक अंक के विस्तार जैसा विष्कंभक दिया जाना। यदि सारी कथावस्तु पांच अंको में ही विन्यस्त होती तो अधिक उदात्त बन जाती।

नाटक का आरम्भ वीरा वेश्या और राणा अमरसिंह के अनुराग-प्रसंग से होता है। अमर सिंह आरम्भ से ही विलासी जीवन के थे, महाराणा प्रताप को इसका हार्दिक सन्ताप था। मुग़ल राज्य द्वारा वीरा वेश्या को भेजकर अमरसिंह को अधिकाधिक विलासी बना देना ही उद्देश्य था। लेकिन देवगति से यह बात उलट भी हो गयी। आगे चलकर वीरा के विचार बदल जाते हैं, वह अमर सिंह के प्रति सम्मान भाव से भर जाती है। यही नहीं, वह उनकी पत्नी बनना चाहती है। दूसरी ओर मानसिंह की योजना यह थी कि अमरसिंह को उकसा कर उनसे चित्तौड़ पर आक्रमण कराया जाये, इस आक्रमण में मुग़ल सेना से युद्ध करते समय अमर सिंह का पतन निश्चित रूप से हो जायेगा। मानसिंह का एक गुप्तचर समरसिंह कपट योजना से अमर सिंह का सहचर बन जाता है। दूसरे, तीसरे और चौथे अंक में क्रमशः चित्तौड़ पर आक्रमण की योजना कार्यान्वित होती है। वीरा इस रहस्य को जानती थी, अतः वह निरन्तर अमर सिंह को इस प्रयास से विरत रखना चाहती थी। धीरे-धीरे अमरसिंह को समरसिंह के षड्यन्त्रों का भान होने लगा।

पांचवें अंक में अमरसिंह की सेना जब भागने लगी तब अमर सिंह की पत्नी ने शस्त्र धारण कर उसका नेतृत्व किया और उसे विजयी बनाया। अपनी पत्नी के युद्धभूमि में पहुंचने की बात अमरसिंह को बाद में ज्ञात हुई। वीरा ने भी चित्तौड़ पर विजय की योजना को कार्यान्वित करने के लिए अपने को भूमिगत कर लिया और तापसी का रूप धारण कर चित्तौड़ पहुंची। उस तापसी के प्रयत्न से हजारों तपस्वी दुर्गापाठ के लिए चित्तौरेश्वरी देवी के पूजा-महोत्सव में बुलाये गये। चित्तौड़ के शासक ने इसी तापसी (वीरा) के कहने से इसकी अनुमति दे दी। दुर्गापाठ के लिए आये सभी तपस्वी योद्धा थे। सातवें और आठवें अंक में युद्ध की घटनायें घटती हैं। चित्तौड़ विजय हो जाती है। इस विजय में वीरा का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। सागर सिंह जो जहाँगीर की ओर से चित्तौड़ का शासक नियुक्त था अमरसिंह का चाचा लगता था। उसने युद्ध की विजय परिणति पर स्वयमेव चित्तौड़ दुर्ग को अमरसिंह को अर्पित कर दिया। फिर पुरोधा ने वहां अमर का राज्याभिषेक सम्पन्न किया। अमर ने चित्तौरेश्वरी देवी का अर्चन किया, वीरा ने विजयगीत के रूप में चित्तौरेश्वरी देवी की प्रार्थना का गीत गाया।

पंचानन बंगाल के रहने वाले थे। बंगाली रचनाकार अतिशय कल्पना-प्रधान होते हैं, उपन्यासकार तो विशेषरूप से, लेकिन नाटक और दूसरी रचनाओं में भी उनकी कल्पना कम नहीं होती। इस नाटक में भी द्वितीय अंक से पांचवे अंक तक की कहानी केवल दो

अंकों में हो सकती थी तथा सातवें आठवें अंक की कथा को एक अंक में ही रखा जा सकता था। असम्बद्ध कथान्तर से नाटक का कलेवर बढ़ गया है। वीरा का चरित्र काल्पनिक है, पर उसे पूरे नाटक में विस्तार दिया गया है। अमरसिंह की रानी का युद्धक्षेत्र में जाने का वर्णन भी इतिहास-विरुद्ध है। जहां तक हमें ज्ञात है, चित्तौड़ दुर्ग में सम्भवतः चित्तौरेश्वरी देवी की प्रतिष्ठा नहीं है। इतनी सारी कल्पनाओं के होने पर भी नाटक उत्साह, वीरभाव, मातृभूमि के प्रति भक्ति तथा नारी के स्वच्छ अनुराग की अभिव्यक्ति से ओतप्रोत है, आकर्षक है, यह लेखक के कवित्व का प्रभाव है। नाट्यशिल्प के श्रेष्ठ न होने पर भी अभिनेयता में आकर्षण है।

नारी चरितों का अतिशय उत्कर्ष इस नाटक में है। चित्तौड़ विजय होने पर देवी ने वीरा (वेश्या) से उसका विवाह अमर सिंह से सम्पन्न कराने की बात कही तब वीरा ने जो उत्तर दिया वह उसके प्रकृष्ट प्रेम की अभिव्यक्ति करता है, अर्थात् वह निःस्वार्थ अनुराग रखकर राणा अमर के युद्धोद्योग को सफल बनाने में लगी थी-

प्रेम्णः सुखं येन जनेन लब्धं
न तस्य शारीरसुखेऽभिलाषः।
सुधारसास्वादनतर्पिताय
न रोचते पंकिलवारिधारा।।

राणा अमर सिंह की रानी ने युद्धभूमि में विजय कराकर जब उनसे नगर में जाने की आज्ञा मांगी (यद्यपि यह इतिहास विरुद्ध है) तब अमर अपनी रानी की प्रशस्ति ही गाते हैं-

त्वं राजनीतिनिगमे मम शिक्षयित्री
शिष्यासि मे रणकलासु कृतश्रमा त्वम्।
सर्वापदि स्थिरमतिः सचिवोऽसि मे त्वम्
त्वं गेहिनी सदृशदुःखसुखा सखी च।।

राणा अमर सिंह ने अपने सैनिकों के संबोधन में मेवाड़भूमि के उद्धार की जो बात कही है वह समसामयिक स्वतंत्रतान्दोलन की भी अभिव्यक्ति है।

भो भो मेवारवीराः समरमिदमहो युष्मदाक्रोडलीलं
याथ क्वेमं विहाय त्रिदशपुरपथं देशरक्षाव्रतं वा।
वीक्षध्वं जन्मभूमिर्ज्जवनपदभरैर्दुसहैः पीड्यमाना
निःशब्दं रोदितीयं मलिनमुखरुची रक्षतैनां सुपुत्राः।।

मातृभूमि का दर्शन कितना पुलकित करता है, यह तथ्य राणा अमर की उस उक्ति

से प्रकट होता है, जब से वे विजय के उपरान्त चित्तौड़ के निकट पहुंच कर उसे देखते हैं -

अपूर्वेयं सृष्टिस्त्रिभुवनविधातुः सुखमयी
रजःस्पर्शो यस्या वपुषि पुलकं मे जनयति।

वैतालिक के गीत भी तात्कालिक स्वतन्त्रता संघर्ष को इतिहास की पृष्ठभूमि में मुखर करते हैं -

जयति जयति देशोद्धारबद्धैकदृष्टिः,
जयति नृपतिवर्यो हिन्दुसूर्योऽग्र्यशौर्यः।।

बाप्पा रावल के वंश की प्रशंसा में कही गयी उक्ति इतिहास-सम्मत है और हमें प्रभावित करती है -

एकः सूर्यो ध्वान्तराशिं निहन्ति
व्याघ्रश्चैको हन्ति मेषान् सहस्रम्।
विद्वानेको मूर्खलक्षस्य जेता
हन्ति (?) बप्पावंश्य एकोऽरिसंघम्।।

पूरा नाटक हिन्दू स्वातन्त्र्य की भावना से ओत-प्रोत है। पंचानन में कवित्व की प्रतिभा का प्रकाश नाट्यप्रतिभा की अपेक्षा अधिक दिखायी पड़ता है। कथावस्तु के संयोजन में वे सुगठित दृष्टि नहीं रखते, उनका विन्यास अनगढ़ है।

इनका 'कलंकमोचन' नाटक राधा-कृष्ण के अनुराग-प्रसंग की अभिव्यक्ति करता है। इसकी रचना स्वतःस्फूर्त नहीं, वरंच विद्वानों के आग्रह से की गयी है। इसके अतिरिक्त इस काल की उल्लेखनीय अन्य नाट्यकृतियां इस प्रकार हैं :-

श्री श्रीनिवास शास्त्री (कुम्भकोणम्) ने 'सौम्यसोम' नाटक लिखा (१८८८ ई.)। इसमें कवि कालिदास ने कुमारसंभव महाकाव्य की कहानी को नाट्यरूप दिया गया है। दूसरे श्री श्रीनिवास शास्त्री ने, जिनका जन्म कावेरी तट पर सहजपुर में १८५० ई. में हुआ, दण्डी के दशकुमारचरित के तृतीय उच्छ्वास की कथा-उपहार वर्मा के चरित को लेकर 'उपहारवर्मचरित' रूपक की रचना की। इस काल के प्रायः दूसरे नाटककारों ने भी महाभारत, रामायण, भागवतपुराण एवं शिवपुराण के लोकप्रिय सन्दर्भों को लेकर अपनी नाट्यरचनायें लिखी हैं। किसी-किसी ने युगानुरूप कथा-सन्दर्भों में किञ्चित् परिवर्तन भी किया है। वैसे प्रायः इन सभी नाटककारों में मौलिक दृष्टि नहीं है एवं मानव प्रकृति को अभिव्यक्त करने वाले सन्दर्भों की कल्पना का नितान्त अभाव दिखायी पड़ता है। कालिदास के रघुवंश, कुमारसम्भव एवं मेघदूत के कथानकों को लेकर तो बीसवीं शती के अन्तिम

चरण तक रूपकों की रचना की जाती रही, जैसे संस्कृत के इन नाटककारों के पास और दूसरी पूंजी थी ही नहीं। प्रस्तुत काल में तो ऐसे कथानकों की पुनरावृत्ति रूपक रचना में दिखाई पड़ती है, जैसे महामहोपाध्याय वेंकट रंगनाथ (विजिगापट्टम) ने १८६६ ई. में 'मञ्जुलनैषध' की रचना की, तो महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा (छपरा, बिहार) ने 'धीरनैषध' नाटक लिखा। श्रीकालीपद (कोटालिपारा) ने १६१७ में 'नलदमन्तीय' नाटक की रचना प्रस्तुत की। तीनों ही नाटक विदर्भ-कुमारी दमयन्ती और निषध देश के राजा नल के प्रेम-प्रपंच पर आधारित हैं तथा प्रेम-कथा का यह प्रसिद्ध आख्यान महाभारत में वर्णित है।

कविराज रणेन्द्रनाथ गुप्त ने १६११ ई. में 'हरिश्चन्द्रचरित' नाटक की रचना की। प्रसिद्ध दानशील राजा हरिश्चन्द्र के उदारचरित पर यह रचना की गयी है। संस्कृत में बहुत पहले 'चण्डकौशिक' रूपक क्षेमीश्वर ने लिखा था। यह कहानी राजा हरिश्चन्द्र की है। क्रोधी कौशिक ऋषि विश्वामित्र ने राजा हरिश्चन्द्र का समस्त राज्य दान में ले लिया था। बात यों हुई कि महर्षि कौशिक प्रज्वलित अग्नि में महाविद्याओं का हवन कर रहे थे, महाविद्याएं आर्तनाद कर रही थीं। विघ्नराट् की प्रेरणा से सूकर का आखेट करते राजा हरिश्चन्द्र वहां पहुंच गये, आर्त नाद सुनकर उन्होंने महर्षि पर बाण चलाना चाहा। ऋषि का ध्यान टूट गया। जब राजा से ऋषि ने बाण चलाने का कारण पूछा, तब राजा ने अपने कर्तव्य की जागरूकता दिखाते हुए कहा -

दातव्यं द्विजदीनेभ्यो रक्षितव्या भयातुराः।
धर्मनीतिमतं युद्धं कर्तव्यं धरिणीभृताम्।

ऋषि ने राजा के आदर्श के अनुसार उसकी पत्नी तथा पुत्र को छोड़कर सारा राज्य दान में ले लिया और एक राजसूय यज्ञ की दक्षिणा के रूप में एक लक्ष मुद्राएं मांग लीं। राजा को इस दान के पालन करने में अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं। उसकी रानी शैव्या, पुत्र रोहिताश्व का चरित भी राजा की तरह ही उदात्त है। राजा को श्मशान घाट की नौकरी करनी पड़ती है। पर वह अपने सत्य का पालन कर भगवान का कृपापात्र बनता है। इस चरित पर विरल ही रचनाएं हुई हैं, इसलिए भी यह नाटक उल्लेखनीय है। महर्षि का अमानवीय चरित नाटकीय योजना के अनुकूल नहीं है।

हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इसी आख्यान को लेकर 'सत्यहरिश्चन्द्र' नाटक सन् १८७४ ई. में लिखा था, जो अभिनय और कथावस्तु -विन्यास की दृष्टि से बहुत अच्छा बन पड़ा था। यह नाटक संस्कृत के 'हरिश्चन्द्रचरित' से पहले की रचना है। इसकी सरलता और सहजता अपनी विशेषता है, किन्तु संस्कृत-नाटक में इस सहजता के दर्शन नहीं होते।

पुरानी कथाओं और आख्यानों को लेकर अनेक रूपक लिखे गये, यह संस्कृत के अध्ययन, लेखन तथा प्रचार के प्रति इस भाषा के प्रबुद्ध मनीषियों तथा नीति की सुरक्षा

पाकर हिन्दू-मानस में अपने धर्म, संस्कृत भाषा और प्राचीन गौरव की यशोगाथाएं गूंज रही थीं। कहने को हम परतंत्र थे, पर मुस्लिम अत्याचार से हमें मुक्ति मिल गयी थी। अभिव्यक्ति की ऐसी स्वतन्त्रातायें हम सब कहना चाहते थे, जैसा कि अतीत में शक्ति की छाया में उदात्त गौरव की गाथायें लिखी जाती थीं, पर आज उनके लिए जमीन छोटी पड़ रही थी, या नहीं थी। जयपुर के महाकवि गोपीनाथ दाधीच का 'माधवस्वातन्त्र्य' नाटक महान् नाटककार विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' नाटक की ऐसी ही नकल है, जिसकी अनुकृति के लिए दाधीच के पास उपयुक्त जमीन नहीं है। यह नाटक इसी काल में सन् १८८३ ई. में लिखा गया। दाधीच जी ने 'मुद्राराक्षस' की अनुकृति करते हुए अपने इस 'माधवस्वातन्त्र्य' नाटक में जयपुर स्टेट के राजकुमार माधवसिंह, अमात्य पद के लिए होड़ करने वाले कान्तिचन्द्र तथा फतेहसिंह, अंग्रेजी रेजीडेंट कालफोर्ड, जयपुर से सम्बन्धित खेतड़ी राज्य के सामन्त एवं उनके गुप्तचरों के विविध कूटनीतिक कार्यकलापों और दांव-पेंच की घटनाओं को नाटकीय कथा-विन्यास का रूप दिया है। नाटक का विधेय है कि माधवसिंह सभी की कूटनीतिक चालों से मुक्त होकर जयपुर राज्य की देखभाल करे। यह पूरा कथानक घर की पंचायत जैसा है, इस संकीर्ण कथानक में 'मुद्राराक्षस' की नाटकीयता को अनुकृत करना हास्यास्पद है। 'मुद्राराक्षस' की कथा तो वह नाट्यकथा है जिसका राजनीति-रस अपनी संजीवनी वर्षा से हिमालय से समुद्र तक की धरती को सुजला सुफला शस्यश्यामला कर देता है।

इसी काल में सन् १९२० के लगभग काशी नरेश प्रभुनारायण सिंह ने महाभारत के आख्यान अर्जुन के प्रति सुभद्रा के अनुराग तथा तदनन्तर सुभद्रा के हरण को लेकर 'पार्थपाथेय' रूपक की रचना की, जो उल्लेखनीय है। नाटकों के अतिरिक्त रूपक के भेदों-प्रहसन और भाण विधाओं में कई रचनाएं इस काल में प्रणीत हुईं। भाण और प्रहसन लोकधर्मी नाटकों की मूल परम्परा में आते हैं। इनका प्रयोजन उन्मुक्त आनन्द है, नाट्यशास्त्र के अनुसार ये शुद्धरूप से विनोद के लिए हैं, अपनी इस विनोदप्रियता के कारण मध्यकाल की राजसभाओं में ये बहुत आदृत हुए हैं। बारहवीं शती में 'लटकमेलकम्' की रचना करने वाला शंखराज कन्नौज राजसभा का कवि था। उसने अपनी इस रचना में समाज और राजसभा से सम्बद्ध उच्च लोगों की खिल्ली उड़ाकर मनोरंजन उत्पन्न किया है। विवेच्य काल में भी अंग्रेजी राज्य की स्थापना के अनन्तर जनभाषा हिन्दी में (भारतेन्दु काल में) प्रहसन और व्यंग्य नाटक बहुत लिखे गये। संस्कृत भाषा के रचनाकारों ने भी भाण तथा प्रहसन लिखे, पर इनकी रचनायें हिन्दी रचनाओं की तरह समय और समाज की अन्तरात्मा को अभिव्यक्त नहीं करतीं। संस्कृत में लिखे इन भाण और प्रहसनों में आती हुई रचना परम्परा की रूढ़ियों का पालन मात्र हैं। इसके दो कारण थे-एक तो यह कि संस्कृत के ये नाटककार प्राचीन आदर्शों से ही रचना के लिए प्रेरित हो रहे थे। इन विधाओं

की कुछ उल्लेखनीय कृतियां ये हैं-पंचायुधप्रपंचभाण (त्रिविक्रम), श्रृंगारसुधार्णवभाण (रामचन्द्र कोरड), श्रृंगारदीपकभाण (विज्ञभूरि राघवाचार्य) (अनंगजीवन भाण (कोच्चुणि भूपालक), रसिकभूषणभाण (उदय वर्मा)।

प्रकरण, वीथी, व्यायोग, डिम और ईहामृग-जैसी रूपक की विधाओं में भी रचनाएं की गयीं। इन विधाओं की उल्लेखनीय कृतियां हैं-कौमुदीसुधाकरप्रकरण (चन्द्रकान्त, १८८८ ई.) विजयविक्रमव्यायोग-महाभारत के जयद्रथवध आख्यान पर आधारित है (कविराज सूर्य), त्रिपुरविजयव्यायोग (पद्मनाभ), अक्षयपत्रव्यायोग (दामोदरन् नम्बुद्री), मन्मथमथनडिम (रामकवि), मन्दारमालिका वीथी (दामोदरन नम्बुद्री), ईहामृगगीत (कृष्णावधूत पण्डित), घोषयात्राडिम (लक्ष्मणसूरि)। अधर्मविपाक प्रतीक नाटक (अप्पाशास्त्री राशिवडेकर)।

इन रूपक रचनाओं में घोषयात्रा-डिम राष्ट्रीय विचारों को उज्जीवित करने वाली रचना है। लक्ष्मण सूरि ने इस डिम के माध्यम से पाण्डव युधिष्ठिर के उदात्त चरित को उजागर किया है। पाण्डव अपनी रानी द्रोपदी के साथ द्यूत-पराजय के फलस्वरूप वनवास का जीवन बिता रहे थे। कौरवराज दुर्योधन अपने साथियों कर्ण, शकुनि आदि के साथ पाण्डवों का उपहास करने वन में पहुंचता है, दूसरी ओर इन्द्र की प्रेरणा से गन्धर्वराज चित्रसेन दुर्योधन को दण्ड देने वहीं आ जाता है। जैसे ही दुर्योधन ने पाण्डवों के पास पहुंचकर व्यंग्य और उपहास करना चाहा, कि दूसरी ओर से चित्रसेन ने अपने साथियों के साथ उन पर बाणों से प्रहार करना आरम्भ कर दिया। कौरव अपनी पत्नियों के साथ बन्दी बना लिये जाते हैं। स्त्रियों ने सहायता के लिए पुकार मचाई। अर्जुन और भीम उनकी रक्षा करने पहुंच गये, तो देखा कि दृश्य कुछ और ही है। चित्रसेन ने अर्जुन से कहा कि मैंने आपके पिता इन्द्र की आज्ञा से ऐसा किया है। चित्रसेन ने सभी बन्दी कौरवों भीम और अर्जुन को सौंप दिया। वे उन सबको लेकर धर्मराज युधिष्ठिर के पास आये। युधिष्ठिर ने तत्काल सब को मुक्त कर किया और चित्रसेन से कहा कि हम आपस में भले लड़ते हैं लेकिन दूसरे के लिए एक साथ हैं। भाई का अपमान या दण्ड मेरे रहते नहीं होगा। द्रोपदी ने सभी स्त्रियों को बन्धन से छुड़ाया। युधिष्ठिर ने घटना को दूसरे रूप में भी लिया, कहा कि इन्द्र ने यह सब करके हमें अपने भाइयों से मिलने का अवसर दे दिया है। इन्द्र भी मिलन का यह दृश्य देखने के लिए वहां आ गये। डिम में कुल चार अंक हैं। रंगमंच पर शस्त्रास्त्रों का प्रयोग डिम के अनुरूप अभिनय को प्रभावी बना देता है।

अब तक विवेचित ये सभी नाट्यकृतियां प्रणीत होने के साथ-साथ रंगमंच पर भी अभिनीत अवश्य की गयीं हैं। इससे नाटक के रचयिताओं और उनके समाजिकों की अभिनय एवं रंगमंच के प्रति प्रगाढ़ अभिरुचि का पता चलता है। नाटकों का अभिनय प्रायः किसी न किसी देवता (मन्दिर-देवता) के यात्रा-महोत्सव में हुआ है।

(३) १९२० से १९५० ई. तक राष्ट्रीय भावनाओं का जागरण-काल

१९२० ई. के आस-पास देश के स्वतन्त्रता-आंदोलन में प्रमुख रूप से महात्मा

गांधी का नेतृत्व जनता को उद्वेलित करता रहा, तथा दूसरी ओर क्रान्तिकारियों द्वारा स्वतंत्रता के लिए किये जाने वाले रोमांचकारी प्रयत्न देश के युवकों में नयी आग जगा रहे थे। १६२५ ई. में काकोरी स्टेशन के पास, जो उत्तर प्रदेश में है, रेलगाड़ी से ले जाते हुए सरकारी खजाने को युवक क्रान्तिकारियों ने लूट लिया था। पूर्वी बंगाल में सूर्यसेन ने यूनियन जैक को जलाकर आजादी का तिरंगा झंडा फहरा दिया था। १६४२ ई. में अगस्त क्रान्ति हुई और आजादी के दीवानों ने गोलियों की परवाह न करके रेल, तार, डाक की व्यवस्था छिन्न-भिन्न कर दी। उत्तर प्रदेश के बलिया जिले के कलक्टरेट पर सात दिनों तक क्रान्तिकारी चित्तू पाण्डेय का शासन रहा। उन्होंने गांधीजी के चित्र से युक्त रुपये का नया सिक्का ढाल दिया। राष्ट्रीय भावनाओं के इस उन्मुक्त जागरण का जोरदार प्रभाव देश की सभी भाषाओं के साहित्य के रचनाकारों पर पड़ा। उनमें हिन्दी, बंगला, मराठी आदि में तो आग उगलने वाली रचनायें की गयीं। संस्कृत यद्यपि बोलचाल की भाषा नहीं थी तो भी संस्कृत का अध्ययन करने वाले बुद्धिजीवी पण्डित राष्ट्रीयता के इस प्रवाह में बिना डूबे नहीं रहे। गांधीजी पर काव्य और नाटक लिखे गये। अन्य राष्ट्रीय चरित भी संस्कृत-साहित्य रचना के लिए आदर्श प्रमाणित हुए।

एक यह बात अवश्य देखने में आयी कि मुस्लिम शासन-काल में जिन दृढ़-प्रतिज्ञ वीरों ने अपनी आन-बान के लिए सब कुछ निछावर किया था, संस्कृतभाषा के नाट्यकारों ने उन पर अपनी रचनाएं अवश्य की हैं, पृथ्वीराज, राणाप्रताप, शिवाजी के वीर-चरित को लेकर एक ने नहीं, कई ने अपने नाटक तथा काव्य रचे हैं। १८५७ का प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम तथा उसके बाद होने वाले स्वतंत्रता आंदोलन के कर्णधारों-लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, सुभाषचन्द्र बोस, जवाहर लाल नेहरू, चन्द्रशेखर आजाद, भगतसिंह, खुदीराम बोस आदि में से कुछ ही संस्कृत में साहित्य-रचना के विषय बन सके।

१६४७ ई. में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् अवश्य संस्कृत में इन पर भी साहित्य लिखा गया। इसके दो अलग-अलग कारण थे-एक तो यह था कि संस्कृतभाषी होने के कारण इन रचनाकारों में अपने आर्यधर्म के रक्षकों के प्रति अगाध आस्था थी, अभी एक-डेढ़ शती पूर्व तक मुस्लिम शासकों की धर्मान्धता से जो पीड़ा समय-समय पर हिन्दुओं को सहन करनी पड़ी है, उनके देव-स्थानों को अपवित्र किया गया है, वह अभी बहुत अतीत नहीं हुआ था। अंग्रेजी राज्य से एक नयी बात हुई कि धर्म की स्वतन्त्रता में अब कोई बाधा नहीं रही। अतः मुस्लिम शासकों की तुलना में अंग्रेज शासक और उनका राज्य धार्मिक जनता की दृष्टि में अच्छे थे। ऐसे वातावरण में हिन्दू धर्म के रक्षक उन वीर चरितों का गुणगान कवियों और नाट्यकारों को अभीष्ट था। दूसरा कारण था-इतिहास और अपनी परम्परा की विस्मृति, जिसके चलते संस्कृतभाषा के रचनाकार ब्रिटिश-परतन्त्रता के विरोध में राष्ट्रीय रचनाओं का संकल्प बहुत पीछे ले सके। जो लोग संस्कृत में रचना कर रहे थे, कदाचित कुछ एक को ही भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना का कूटनीतिक कुचक्र और बलात् किये गये लूटमार का इतिहास ज्ञात हो। अब सब के सामने अंग्रेजी राज्य के

सुप्रबन्ध का नक्शा था। लेकिन १९२० ई. के बाद जो राष्ट्रीय जागरण हुआ उसने संस्कृत भाषा के अध्येताओं और रचनाकारों को बहुत कुछ प्रबुद्ध किया। महात्मा गांधी पर काव्य तथा नाटक की रचना इसका प्रमाण है। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई के वीर चरित पर भी इस अवधि में काव्य-रचना हुई। इस अवधि में लिखे गये नाटक तथा काव्य पहले की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हुए। संस्कृत की परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में भी ये पढ़ाये जाने लगे। इस युग में रचित नाटकों में अपेक्षाकृत विचारों और भावों की प्रौढ़ता है। नाटक की शैली और शिल्प, प्रस्तावना आदि परम्परागत ही है।

इस अवधि के प्रमुख नाटककार हैं - हरिदास सिद्धान्त वागीश, मूलशंकर माणिकलाल, मथुराप्रसाद दीक्षित, जीव न्यायतीर्थ, वेंकटराम राघवन्। विस्तृत परिचय इस प्रकार है -

हरिदास सिद्धान्तवागीश-इनमें नाटककार और कवि दोनों हैं। इनका जन्म बंगाल के फरीदपुर जिले में कोटालपाड़ा-अनशिया ग्राम में १८७६ ई. में हुआ। आप विद्वान और साहित्य की रचनात्मक प्रतिभा से सम्पन्न थे। १९६१ ई. में इनका स्वर्गवास हुआ। आपने एक दर्जन से अधिक काव्य एवं नाटकों की रचना की है। यद्यपि १५ वर्ष की अवस्था से ही इन्होंने साहित्य-सर्जन आरम्भ कर दिया था, और २० वर्ष की अवस्था तक २ नाटक और २ काव्यों का प्रणयन कर लिया था, तो भी आपकी उदात्त कृतियां १९२० के अनन्तर ही प्रणीत हुईं। इनमें अन्य कृतियां और दो नाटक हैं :-

(१) मिवारप्रताप तथा (२) शिवाजीचरित। मिवारप्रताप महाराणा प्रताप के वीरचरित पर आधृत है। इसकी रचना १९४४ ई. में हुई। 'शिवाजीचरित' में छत्रपति शिवाजी के संघर्षों तथा उनके द्वारा महाराष्ट्र राज्य की स्थापना की कथा है। इसको कवि ने १९४५ ई. में रचा। दोनों ही नाटक नव जागरण की राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। नाटककार का भावावेश चरम सीमा पर है। शिवाजीचरित की प्रस्तावना में कहा गया है - कि देश प्रेम की आग जलाने के लिए इस नाटक का अभिनय किया जा रहा है -**येन साम्प्रतं सर्व एव स्वाधीनतां कामयते, वयं च तदुद्दीपनमेव कञ्चित् प्रबन्धमभिनेतुमभिप्रेमः।**

और सूत्रधार का परिपार्श्वक रंगपीठ पर पताका के रूप में तिरंगा झंडा लेकर प्रवेश करता है। तिरंगा झंडा राष्ट्रीय कांग्रेस का ध्वज है। बाद में इसके बीच में चरखा के स्थान पर अशोक चक्र को स्थान देकर इसे ही हमारा राष्ट्रध्वज स्वीकार किया गया। इसी भावना से प्रेरित होकर इन्होंने बहुत पहले १९१७ ई. में "बंगीय-प्रताप" नाटक की रचना की थी, जिसमें बंगाल के यशोर राज्य के राजकुमार प्रताप के वीर चरित और हिन्दुत्व-प्रेम की यशोगाथा है। इसकी रचना का काव्य पक्ष तो उदात्त है, लेकिन नाटकीय शिल्प और कथा-विन्यास सभी शिथिल हैं। नाटक की कहानी अकबर और जहांगीर के काल (सतरहवीं शती ई.) की है।

यद्यपि तीनों नाटक राष्ट्रीय नवजागरण की प्रेरणा का प्रमाण देते हैं, पर इनमें हिन्दुत्व अभिमान की बात मुखर होकर सामने आती है, जो संस्कृत भाषा के बुद्धिजीवी की

सहज मनोवृत्ति थी। इनके सभी नाटक रंगमंच पर अभिनीत रहे, इनकी प्रशंसा हुई और पुरस्कृत हुए।

'मिवारप्रताप' की कथा छह अंकों में विभाजित है। नाटक का आरम्भ (प्रथम अंक) अकबर के सेनापति मानसिंह के उदयपुर आगमन से होता है, जिसमें मानसिंह के स्वागत में राणाप्रताप या उनके पुत्र अमर ने उनके साथ भोजन न कर उनका तिरस्कार किया। मानसिंह अपमानित होकर दिल्ली लौटा, जिसके फलस्वरूप मुग़लसेना ने राणा प्रताप से युद्ध की तैयारी की। इसकी प्रतिक्रिया तीसरे अंक में प्रकट की गयी है, जहां दिल्ली लौटकर मानसिंह अपने अपमान की बात बादशाह अकबर से कहता है। अकबर के पुत्र सलीम (सलेम) भावी जहांगीर के नेतृत्व में एक लाख मुग़ल सेना ने राणा प्रताप को दण्डित करने के लिए आक्रमण किया। चौथे अंक में राणा प्रताप की राजपूत सेना ने हल्दीघाटी के मैदान में मुग़ल सेना का सामना किया, हारजीत तो किसी के पक्ष में नहीं हुई, लेकिन राणा प्रताप को अपनी रक्षा की दृष्टि से युद्धभूमि से हट जाना पड़ा। ठीक उसी समय उनके भाई शक्ति सिंह के हृदय में भाई के प्रति अगाध स्नेह उमड़ पड़ा, अब तक शक्तिसिंह मुग़ल-सेना के साथ था। लेकिन भाई द्वारा सम्मान की रक्षा हेतु युद्ध में यह पराक्रम देखकर उसने अपने को धिक्कारा, वह आगे भाई की रक्षा के लिए बढ़ा, जो दो मुग़ल सैनिक राणा प्रताप का पीछा कर रहे थे, उनको रास्ते में तलवार के घाट उतार दिया। दोनों भाई गले मिले। इसी समय राणा प्रताप का चेतक अश्व जो युद्ध से थक चुका था, मूर्च्छित होकर गिर पड़ा और उसकी मृत्यु हो गयी। राणा प्रताप का हृदय उसके प्रति संवेदना से भर उठा। इस प्रकार इस नाटक का चौथा अंक समूची कथावस्तु का हृदय है। इसमें भातृप्रेम राष्ट्रप्रेम के साथ एकाकार हो गया। कथा के इन सन्दर्भों में नाटक का दूसरा अंक, जिसमें मुग़लोद्यान में मीना बाजार (महिला मेला) का वर्णन है, मेल नहीं रखता। इस महिला मेला में बीकानेर के पृथ्वीराज की रानी कमला को बुलाया गया था, कमला के प्रति अकबर की दृष्टि ठीक नहीं थी, कमला ने अपनी कटार निकाल ली और उद्यानपालिका को आतंकित कर उद्यान से घर चली गयी। दूसरे अंक की यह कथा अकबर के चरित्र को धूमिल करती है, मुख्य कथा के साथ इनका सम्बन्ध कम ही है, पर नाट्यकार ने पृथ्वीराज की रानी कमला द्वारा मुग़लोद्यान में हिन्दुत्व गौरव की याद कराकर तथा राणा प्रताप में विधर्मियों में विजय किये जाने की आशा बांधकर इस मुग़लोद्यान मेला को मुख्यकथा के साथ संयुक्त किया है। इस संयोजन को उक्ति विन्यास कहा जा सकता है। रानी कमला की हार्दिक कामना है-

> एकः स्फुलिंगो ग्रसते महावनं
> रुद्रः किलैको धुनुते जगज्जनान्।
> एको मरुत् पातयते च पादपान्
> एकः प्रतापोऽपि तपेद् विधर्मिणः।।

पांचवे अंक में राणा प्रताप के वनवासी जीवन और उसकी कठिनाइयों का वर्णन है,

जिसमें उनको अपनी कन्या के लिए घास की रोटी पकानी पड़ी और उसे भी वनविलाव उठा ले गया। इस पर उन्होंने अकबर को सन्धि पत्र लिखा। छठे अंक में अकबर ने वह सन्धि-पत्र अपने दरबारी (हृदय से राणाप्रताप के पक्षधर) पृथ्वीराज को दिखाया और उनसे उसका उत्तर लिखवाया। पृथ्वीराज ने कुछ ऐसा लिखा, जिससे राणा प्रताप को अपने किये संघर्ष के महान् गौरव का बोध हुआ और वे पुनः अपने देश की स्वतंत्रता के संघर्ष में संलग्न हो गये। उनके पुराने खजांची भामाशाह ने उन्हें ले आकर विपुल धन दिया, जिससे खाद्य सामग्री इकट्ठा कर राणा प्रताप ने पुनः सेना का संगठन किया। देवीदुर्ग पर आक्रमण करके उसे विजित किया गया, दुर्ग में रहने वाले शाहबाज को बन्दी बना लिया गया, भागते हुए मुग़ल सैनिकों ने दुर्ग में आग लगा दी। भीलों ने उसे खाई (परिखा) के जल से बुझा दिया। अन्ततः राणा प्रताप विजयी हुए।

पूरा कथा-विन्यास बहुत कुछ इतिहास सम्मत ही है। राणा प्रताप के साथ भीलों के सहयोग का वर्णन यथार्थ स्थिति का चित्रण है। नाट्य मंच और अभिनय की दृष्टि से अकबर, मानसिंह और शक्तिसिंह की लम्बी एकोक्तियों (स्वगत कथनों) को उचित नहीं कहा जा सकता। नाटक में पात्रों की संख्या ५० के लगभग है। दूसरे अंक में केवल दो ही पात्र उद्यानपालिका और पृथ्वीराज की पत्नी कमला आते हैं। यह सब नाट्य संयोजन की चूक है। लेकिन इतना सब होने पर भी कथावस्तु का विन्यास नाट्यदृष्टि से इतना सहज बन गया है कि वह अन्य दोषों को आवृत किये हुए है। एक तरह से देश-प्रेम ही नाटक का विधेय है और वह देश भारत, हिन्दुस्थान है -

हिन्दुस्थाने यवनवसतिर्नोचिता भारतेऽस्मिन्
नीहारौघस्थितिरिव शरद्व्योम्नि नक्षत्रदीप्ते।
तस्मादस्मान्निजनिजधिया यात यूयं स्वदेशान्
अस्रस्रोतः स्रवतु न खलु च्छिन्नभिन्नाच्छरीरात्।।

(अर्थात् इस भारत हिन्दुस्थान में यवनों की बस्ती होना उचित नहीं है जैसे नक्षत्र-दीप्त शरद् ऋतु के आकाश में कुहासा के बादल छाना अच्छा नहीं लगता। इसलिए तुम सब अपनी-अपनी बुद्धि से विचारपूर्वक अपने देशों को लौट जाओ। व्यर्थ के युद्ध में शरीर के आघातों से रक्त का गिरना ठीक नहीं है।)

'शिवाजीचरित' दस अंकों का नाटक है। इसकी रचना १९४५ ई. में हुई। इस नाटक का भी विधेय वही है जो मिवारप्रताप नाटक का रहा। स्वयं नाटककार ने इस नाटक को मिवारप्रताप नाट्यकृति का छोटा भाई, अनुज कहा है। दोनों नाटकों में देश में अपनी स्वतन्त्रता की प्राप्ति ही परम लक्ष्य है। दोनों ही नाटकों के महान चरित राणा प्रताप और शिवाजी स्वतंत्रता प्राप्ति के संघर्ष के लिए अपना जीवन समर्पित किये हुए थे। दोनों भारतीय इतिहास के देदीप्यमान अध्याय हैं। ऐसे प्रखर चरित के कारण नाटक की कथावस्तु अपने आप उजागर होती रहती है, अब यह बात रचनाकार पर निर्भर है कि वह कितनी

सीमा तक अपनी कथा में नायक के प्रखर प्रकाश को संचित कर सका है। इन दोनों राष्ट्र-चरितों पर कइयों ने नाटक की रचना की है, पर हरिदास की नाट्यरचना की सफलता अपेक्षाकृत अधिक है। हरिदास की इन दोनों नाट्यकृतियों में भी मिवारप्रताप अधिक सफल नाट्यकृति है।

'शिवाजीचरित' दस अंकों का नाटक है। इसका बड़ा दोष इसकी कथावस्तु का लम्बा कथाविस्तार है। नाटक के प्रथम अंक का आरंभ शिवाजी के विद्यार्थी जीवन से होता है जिसमें वे अपने साथी गोविन्द के साथ हिन्दुओं के गौरव की रक्षा और उनके उद्धार की योजना बनाते हैं। द्वितीय अंक में तोरण दुर्ग की विजय, तृतीय अंक में बीजापुर के सुल्तान नादिर द्वारा शिवाजी के पिता साहनाथ की क़ैद, चौथे अंक में शिवाजी द्वारा सेनापति अफ़ज़ल ख़ां का वध, पांचवें अंक में नादिरशाह शिवाजी के ऊपर दमन के कुचक्र चलाता है, छठे अंक में शिवाजी सायस्ता खान की सेना को परास्त करते हैं, इसके अनन्तर विष्कम्मंक में मुग़ल साम्राज्य के सेनापति जयसिह का दक्षिण प्रयाण और शिवाजी से सन्धिकर उनको छत्रपति की उपाधि देना। संधि के अनुसार सातवें अंक में शिवाजी का दिल्ली प्रस्थान, दिल्ली दरबार में शिवाजी का अपमान, उनको बन्दी बनाया जाना। आठवें अंक में शिवाजी का बन्दीगृह में बीमारी का बहाना तथा मिठाई की टोकरी में बैठकर बन्दीगृह से निकल जाना। शिवाजी को पकड़ने के लिए औरंगज़ेब की सेना का पीछा करना, जयसिंह के पुत्र मर्द्दान सिंह का शिवाजी से आत्म समर्पण का प्रस्ताव, शिवाजी द्वारा उनको मुंहतोड़ उत्तर। दसवें अंक में शिवाजी का राज्याभिषेक, स्वामी रामदास का शिवाजी को आशीर्वाद-तापं हर च्छत्रमिव प्रजानाम्।

यह लम्बी कथा नाटक को महानाटक का रूप देती है। पर इससे अभिनय की सहजता बिखर जाती है। पहले अंक के विद्यार्थी शिवाजी दसवें अंक में छत्रपति के रूप में कैसे दिखाये जा सकते हैं, एक ही दिन के एक ही मंच के अभिनय में पात्र की अवस्था का परिवर्तन दर्शक का असमंजस का विषय बनता है। रामलीला, जो कई दिन चलती है, उसमें भी राम की अवस्था प्रायः लीला के आयोजक एकरूप ही रखते हैं, अलबत्ता दूरदर्शन के लम्बे सीरियलों में पात्र की बदली हुई उम्र का दिखाया जाना कथा की अनुकूलता के साथ स्वाभाविक बन जाता है। दस अंक के उक्त नाटक में यह स्वाभाविकता संभव नहीं होगी। इतिहास सम्बन्धी भूलें भी नाटककार ने की हैं, यह इतिहास की अनभिज्ञता के कारण ही हैं। शिवाजी जब दिल्ली आये तब उनके साथ जयसिंह नहीं थे, मिठाई की टोकरी से निकलने के बाद शिवाजी और पुत्र सम्भाजी शिर घुटाकर साधू वेष में प्रयाग, वाराणसी से होकर दक्षिण को लोटै थे। जयसिंह के किसी पुत्र मर्द्दान सिंह ने उनका पीछा नहीं किया था, वरंच जब औरंगजेब ने उनको बन्दी बना लिया तब जयसिंह के पुत्र रामसिंह को अपने पिता के कलंकित होने का भारी डर लगा, क्योंकि शिवाजी सन्धि के निमित्त आये थे और यहां उनके साथ धोखा किया गया। ऐसी परिस्थिति में रामसिंह ने स्वतः शिवाजी और उनके पुत्र को बन्दीगृह से मिठाई की टोकरी में बैठाकर निकाले जाने का व्यूह रचा था। तब

साधूवेश में पहले पूरब जाकर फिर दक्षिण की ओर प्रस्थान कर छह महीने की अवधि में शिवाजी अपनी राजधानी रायगढ़ पहुंचे थे।

इन ऐतिहासिक भूलों तथा कथावस्तु के काल के लम्बे विस्तार के रहते हुए भी नाटक अपनी नाटकीयता और अभिनय पक्ष में उदात्त है। मंच पर पात्र-योजना की साधारण भूल अवश्य हो सकती है। नाटक में शिवाजी के उत्साही, दृढ़संकल्पी, भय-विहीन, दुर्धर्ष वीर-चरित का अंकन भली भांति हो सका है। उनके सामने आने वाली बाधाओं का भी चित्रण कर उनके समग्र वीर-चरित को मूर्तिमान करने में नाटककार को सफलता मिली है। जयसिंह से की गयी वार्ता के अनुसार शिवाजी को दिल्ली जाकर औरंगजेब से बात करनी थी, शिवाजी दिल्ली जाने को तैयार हो गये-यह जानकर उनके साथियों ने दिल्ली जाने से रोका, साथियों को आशंका थी कि बादशाह शिवाजी को दिल्ली जाने पर बन्दी बना लेगा। साथियों की आशंका पर शिवाजी ने निर्भय हो उनको आश्वस्त किया -

तेजस्विनं कौशलिनं महाधियं शूरं तथा को नु रुणद्धि हन्तु वा।
आहन्यमानोऽग्निकणो हि तेजसा प्रवर्धते संचरतेऽन्यवस्तु वा।।

(जो तेजस्वी है, कौशल से युक्त है, बुद्धिमान और वीर है, उसको कौन बन्दी बना सकता है अथवा मारता है! अग्निकण पर यदि आघात किया जाता है तो वह अपने तेज से और भी प्रज्वलित होता है अथवा दूसरी वस्तु में छिटक कर उसे जलाने लगता है।) 'विराजसरोजिनी' हरिदास की दूसरी नाट्यकृति है, इसकी रचना उन्होंने युवावस्था में १८९६ ईस्वी में की थी। यह शृंगार रस से पूर्ण नाटिका है।

मूलशंकर माणिकलाल याज्ञिक-इनका जन्म गुजरात प्रान्त में खेड़ा जिला के नडियाद गांव में ३१ जनवरी १८८६ ई. में हुआ और मृत्यु १३ नवम्बर १९६५ में। इनकी उच्च शिक्षा बड़ौदा में हुई थी और वहीं संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल के पद पर कार्य करते हुए ये सेवानिवृत्त हुए। सेवा-निवृत्त होने के अनन्तर अपने गांव नडियाद में ही रहे।

याज्ञिक जी कवि और नाटककार थे। इन्होंने राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर संस्कृत में साहित्य का प्रणयन किया। काव्य से अतिरिक्त तीन नाटकों की रचना की है - (१) प्रताप-विजय (१९२६ ई.) (२) संयोगितास्वयंवर (१९२७ ई.) तथा (३) छत्रपतिसाम्राज्यम् (१९२९ ई.) । याज्ञिक जी ने भलीभांति अपने समय के इतिहास ग्रन्थों का अध्ययन कर अपने नाटक लिखे हैं। नाटकों में इतिहास की रक्षा करने के लिए वे प्रयत्नशील रहे हैं। यह बात अवश्य है कि उनके समय तक राणा प्रताप और शिवाजी के सम्बन्ध में इतिहास की पूरी छानबीन नहीं हो पायी थी। जहां तक नाटक-रचना की बात है, याज्ञिक जी कथावस्तु के विन्यास में पटु नहीं हैं, उन्होंने कथा के मार्मिक सन्दर्भों को पहचाना नहीं है, नाटक के शास्त्रीय लक्षणों का पालन अवश्य किया है, अभिनेयता (नाटकीयता) की दृष्टि से भी ये नाटक प्रभावशाली नहीं हैं।

प्रतापविजय नौ अंकों का नाटक है। नाटक का आरम्भ (प्रथम अंक) अकबर के सेनापति मानसिंह के उदयपुर नगरागमन से होता है, जहां वे राणा प्रताप के अतिथि बनते हैं और राणा प्रताप या उनके पुत्र अमर के अपने साथ भोजन न करने से बिना भोजन किये ही रुष्ट होकर चले जाते हैं। आगे दूसरे और तीसरे अंक में हल्दीघाटी-युद्ध की कथा है। चौथे अंक में अकबर की भेदनीति का निरूपण है। पांचवें अंक में कथावस्तु विन्यास की पताका स्थानीय एक नयी कथा का सन्दर्भ जुड़ता है, यह कथा है राणा प्रताप के पुत्र अमर का बीकानेर के राजा पृथ्वीराज की राजकुमारी बहन से प्रणय-सम्बन्ध, जो आगे चलकर विवाह के रूप में परिणत हो जाता है और नाटक के आठवें अंक में राणा प्रताप को पौत्र-जन्म का शुभ संवाद मिलता है। पृथ्वीराज अकबर की अधीनता स्वीकार करने वाले उसके दरबारी राजा थे, पर वे राणा प्रताप को राजपूतों की शान मानते थे और उन पर गर्व करते थे। छठे अंक में प्रताप के संधि पत्र को उन्होंने झूठा बताया। यवन-सेना ने उस पर्वत और वन को घेरना आरम्भ किया जिसमें रहकर राणा प्रताप अपना सैन्य संचालन कर रहे थे तथा अकबर के विरुद्ध युद्ध का बिगुल बजाया था। नवम अंक में राणा प्रताप सेना की सहायता से समृद्ध होकर अपने दुर्गों को विजय कर लेते हैं, विजयमहोत्सव का समापन होता है। दिल्ली से भी उनको तुरुष्कमुद्राङ्कित सन्धि-पत्र मिलता है और उनको अपने राज्य की स्वतन्त्रता मिल जाती है-

प्रौढप्रतापपरिवर्धितवंशकीर्तिः
कामं प्रशास्तु निरुपद्रवमात्मचक्रम्।

नाटक की कथावस्तु का विन्यास बहुत लम्बा हो गया है। इसमें पताका-प्रकरी के रूप में कुमार अमर का प्रणय-प्रसंग, विवाह, राजाज्ञा के न मानने पर प्रजापीडन और राणा प्रताप के वनवासी जीवन में महारानी का वन की प्रकृति की प्रशंसा और वन्यजीवन के सन्तोष आदि की बातें, नाटक के विधेय के विपरीत अभिलक्षित होती हैं और यह कथा-प्रबन्ध महाकाव्य का प्रबन्ध बन जाता है जो नाटकीय दृष्टि से उचित नहीं है। नाटक के वस्तु-गठन, वर्णन और पात्रों के घटनाक्रमों में राणा प्रताप के लिए स्वातन्त्र्य संघर्ष की उज्ज्वल दीप्ति होनी चाहिए थी, उसका अभाव है। राणा प्रताप के वनवासी जीवन में उनकी महारानी द्वारा प्रकृति के आनन्दात्मक जीवन की यह सराहना उचित नहीं प्रतीत होती-

घनविरूढफलाचितपादपं मधुरनिर्झरवारिपरिस्रवम्।
द्विजततेर्विरुतैश्च निनादितं ब्रजति नन्दनतां गिरिकाननम्।।

(अर्थात् इस पर्वत-वन में फलों से लदी वृक्षों की सघन कतारें हैं, निर्झरों का मीठा जल प्रवाहित हो रहा है, पक्षियों के समूह अपने कलरव से वन को भर रहे हैं, सब प्रकार से यह गिरि-कानन आनन्द का जनक इन्द्र का नन्दन वन है।) यह संवाद ऐसा लग रहा है जैसे पिता द्वारा वनवास दिये गये राम की पत्नी सीता के वचन हों, जो राम के साथ

वन में भी अपने को सुखी मान रही हैं। स्वतंत्रता की आग में प्रदीप्त राणा प्रताप की महारानी को गिरिकानन का आनन्दात्मक-बोध स्वभाव के विरुद्ध है। यह वर्णन करते समय याज्ञिक के सामने वनवासी राम की सीता हैं।

'संयोगिता-स्वयंवर' सात अंकों का नाटक है, इसमें कन्नौज नरेश जयचन्द्र के राजसूय यज्ञ तथा दिल्ली-सम्राट् पृथ्वीराज चौहान के साथ उनके संघर्ष की कहानी है, जिसके बीच मुख्य कहानी है जयचन्द्र की राजकुमारी संयोगिता का पृथ्वीराज के प्रति प्रणय रखकर मन से अपने आप समर्पित हो जाना, राजभवन से उसका निष्कासन, गंगातट के भवन में निवास, पृथ्वीराज का इस प्रणय निवेदन का समाचार पाकर चन्द के साथ आना और जयचन्द्र की सेना को पराजित करते हुए गौरवपूर्णक संयोगिता को लेकर दिल्ली चले जाना। जयचन्द्र ने राजसूय यज्ञ के साथ संयोगिता के स्वयंवर का समारम्भ किया था और उसमें पृथ्वीराज को निमंत्रण नहीं दिया था। यह सारी कथा भारतीय नाट्य रचना की मुख्य प्रवृत्तियों के अनुकूल है अर्थात् इसमें किसी कुमारी के प्रबल प्रणय का आख्यान है जो संघर्षों तथा बाधाओं के साथ अनुकूल परिणति प्राप्त करता है। इससे नाट्य-शिल्प में याज्ञिक जी को अपेक्षाकृत सफलता मिली है। एक दो चमत्कृत संदर्भ भी इस नाटक को रोचक बनाते हैं। कवि चन्द के साथ पृथ्वीराज उसका परिचारक बनकर (अपने को छिपाकर) जयचन्द्र की सभा में उपस्थित होते हैं। जयचन्द्र को सन्देह होता है, वे पृथ्वीराज की परिचारिका कर्णाटी को, जो किसी कारण दिल्ली छोड़कर कन्नौज चली आयी है, बुलाते हैं, उससे चुपचाप पहचान कराना चाहते हैं कि क्या कवि चन्द के साथ यह पृथ्वीराज चौहान है ? कवि चन्द के वाक्चातुर्य-पूर्वक दिये गये संकेत से कर्णाटी मुख का अवगुंठन करके भी हटा लेती है और पृथ्वीराज की पहचान नहीं हो पाती। (कथा का यह संदर्भ कवि चन्द के पृथ्वीराज रासो से लिया गया है।) इस प्रसंग में कवि के छन्द मननीय हैं। जयचन्द्र ने कवि चन्द के परिचारक (पृथ्वीराज) को देखा, तो उसे विस्मय हुआ, उसने तत्काल अनुभव किया कि यह परिचारक कैसे हो सकता है -

आजानुबाहुदृढमांसलबाहुशाली
सन्तप्तदीप्तनयनोऽपि मनोऽभिरामः।
एवं स्वमित्रपरिचायकतां गतोऽपि
स्वाभाविकीं न स पुनः प्रभुतां जहाति।।

(अर्थात्, यह पृथ्वीराज ही हो सकता है, जो आजानुबाहु है, भुजाएं दृढ़ मांसल हैं, इसकी चमकती आंखें अमर्ष से भरी हैं तो भी मन को मोहित कर रहा है, इसप्रकार अपने मित्र की परिचायकता में होकर भी अपने स्वाभाविक प्रताप से युक्त है)। वीरागंना परिचारिका कर्णाटी ने राजसभा में प्रवेश किया, तो पृथ्वीराज को देखकर मुख पर अवगुंठन करने लगी, जयचन्द्र को स्पष्ट संदेह होने लगा, कवि चन्द ने कर्णाटी को अपने गूढ़ वचन से संकेत कर सावधान किया, उसने तत्काल अवगुंठन हटा लिया और पहले अवगुंठन का कारण बताती हुई कहती है-

मित्रं विलोक्य पुरतो मम पूर्वभर्तु-
स्तस्यादरात् सपदि संवृतमाननं मे।
एकः पुमान् स पृथिवीपतिरेव यस्माद्
रात्रिर्यथा दिनकरात् समुपैमि लज्जाम्।।

(अर्थात् अपने पूर्वस्वामी के मित्र कवि चन्द को देखकर उनके प्रति आदरभाव से मैंने मुख ढंक लिया था, क्योंकि पृथ्वी के सम्राट् (पृथ्वीराज) ही वह एक पुरुष हैं जिनसे मैं लज्जा करती हूँ, जैसे सूर्य से रात्रि लजा जाती है।) ऐसे कई दूसरे छन्द भी याज्ञिक जी की कवि-प्रतिभा के साक्षी हैं। इन्होंने संगीतयुक्त गीतों का तीनों नाटकों में यथास्थान सन्निवेश किया है, किन्तु उनका औचित्य केवल संयोगिता स्वयंवर में ही फलता है। एक गीत की कुछ पंक्तियां हैं, विरह में नायिका गा रही है-

क्व नु मम विहरसि मानसहंस!
घन इव सततं वर्षति नयनम्,
स्फुटयति तडिदिव रतिरिह हृदयम्।
विरहविलुलितां परमाकुलितां
प्रियमुखनिरतामिव तव दयिताम्।

(मेरे मानसहंस! तुम कहां घूम रहे हो। मेरे नयन बादल की तरह बरस रहे हैं। तुम्हारे प्रति अनुराग मेंरे हृदय को बिजली के समान चीर रहा है। तुम्हारे विरह में मैं छिन्न-भिन्न हूँ, परम व्याकुल हूँ, तुम्हारे मुख दर्शन के लिए टकटकी लगाये हूँ, इस दयिता की रक्षा करो।) संस्कृत के (विशेषतः कालिदास के) श्रेष्ठ नाटकों के अनुरूप भाव-निबन्धन किये जाने का अनुकरण भी याज्ञिक ने किया है। नीचे के छन्द में जब संयोगिता पृथ्वीराज के साथ सदा के लिए दिल्ली जा रही है, अपने सहचर वृक्ष, लता, पक्षियों से जाने की अनुमति मांगी है, छन्द में इस भाव का निबन्धन, 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' के चौथे अंक में शकुन्तला की विदाई के समय कण्व ऋषि द्वारा वन के वृक्षों से शकुन्तला को जाने की अनुमति दिये जाने के भाव की छाया प्रतीत होती है-

रम्या मे वनवासबन्धुतरवो नानालतालिंगिताः
स्निग्धे मे शुकसारिके च दयितालापे नितान्तं रते।
वीणे मे मधुरस्वरानुरणनानन्दोर्मिमालावहे
यास्यन्तीं पतिमन्दिरं निजसखीं सर्वेऽनुजानन्तु माम्।।

(अनेक प्रकार की लताओं से आलिंगित वनवास काल के बन्धु हे वृक्षो, तथा हे स्नेहभरे तोता और सारिका! जो प्रेम के आलाप सदा सुनाया करते हैं, हे मेरी वीणे! जो तुम मधुर स्वरों का अनुरणन कर आनन्द-लहरियों की माला रच देती हो, तुम्हारी यह अपनी सखी पति के भवन जा रही है, तुम मुझको जाने की अनुमति प्रदान करो।)

याज्ञिक जी ने 'छत्रपतिसाम्राज्यम्' की रचना महानाटक के रूप में की है। इसमें १० अंक हैं। इसमें महाराष्ट्र राज्य के संस्थापक इतिहास प्रसिद्ध वीर शिरोमणि शिवाजी के चरित की उज्ज्वल गाथा है। सम्भवतः इसमें शिवाजी के जीवन के उत्कर्ष के पन्द्रह वर्षों की घटनाएं हैं,जिनमें हिन्दूराज्य की स्थापना का महान् संकल्प मूर्तिमान होता है। नाटक की समाप्ति (दशम अंक) शिवाजी के राज्याभिषेक से होती है, नाटक का यही (विधेय) लक्ष्य था। यह घटना सन् १६७५ की है। नाटक का आरम्भ (प्रथम अंक) हिन्दू साम्राज्य की स्थापना के संकल्प तथा तोरण दुर्ग-विजय से होता है। बीच के अंकों में शिवाजी के शौर्यपूर्ण अन्य कार्यों का कथा-विन्यास है। इस कथा-विन्यास में नाटककार ने प्रायः सभी ऐतिहासिक घटनाओं को समाविष्ट करना चाहा है, समाविष्ट करने का अर्थ है उनको दृश्य रूप में उपस्थित किया जाय। कौन सी घटनाएं सूच्य हों और कौन सी दृश्य हों इस प्रकार से नाट्यविवेक से संयुक्त कथा-चातुर्य इस नाटक में नहीं दिखायी देता। हम शिवाजी का इतिहास तो जान लेते हैं पर उनका शौर्य, साहस और कूटनीति हमारे प्रत्यक्ष नहीं होते। हृदय को अभिभूत करने वाली घटनाएं नाटककार से इसलिए छूट गयीं, क्योंकि वह ऐतिहासिक घटनाओं की सूची बनाने में तल्लीन हो गया था। एक-एक घटना पर एक-एक अंक की रचना की गयी है, जैसे तोरण विजय, जीर्ण मन्दिर के खोदने से धन की प्राप्ति, भवानी कृपाण की उपलब्धि, राजमाची दुर्ग की विजय, गुरु रामदास द्वारा युवकों को व्यायाम की शिक्षा, अफ़ज़ल खान का बघनख द्वारा वध, शिवाजी और उनके साथियों द्वारा बराती बनकर मुग़ल सेना को परास्त करना, जयसिंह से सन्धि वार्ता, औरंगज़ेब द्वारा आगरा में बन्दी बनाया जाना, टोकरी में छिपाकर बाहर निकाला जाना, दुर्ग-विजय, राज्याभिषेक। किसी-किसी अंक में दो-दो घटनाएं समाहित हैं। पर घटनाओं का दृश्य ही नाटक नहीं है, घटना के धरातल पर पात्रों की चित्तवृत्तियों, प्रतिक्रियाओं का चंचल तीव्र प्रवाह संवादों और कार्यों में प्रवाहित होकर नाटक को मूर्त रूप प्रदान करता है। ऐसे स्थलों का अनुसन्धान कर लेना ही कथा-विन्यास का चातुर्य है, नाटककार की सफलता है। वह याज्ञिक जी में नहीं है। उन्होंने ऐतिहासिक घटनाओं को केवल संवादात्मक रूप दे दिया है। कथा प्रदीप्त कहां है उस स्थल को पहचानकर नाटकीय दृश्यों में उपस्थित करने पर नाटक चमत्कृत हो उठता है। शिवाजी के शौर्य के ऐसे तीन विशिष्ट स्थल हैं-(१) अफ़ज़लखान का वध (२) औरंगज़ेब की राजसभा में मनसबदारों की कुर्सी पर शिवाजी द्वारा बैठना अस्वीकार करना (३) औरंगजेब के बन्दीगृह से निकलकर संन्यासी वेश में काशी, गया होते हुए रायगढ़ (राजधानी) लौटना। इन घटनाओं में पहली और तीसरी को दृश्य का विषय बनाया ही नहीं गया। द्वितीय घटना को आठवें अंक में दिखाया गया है, पर प्रस्तुति बिल्कुल प्रभावहीन है। इस प्रसंग में शिवाजी के विषय में औरंगज़ेब से रामसिंह का निम्न कथन राजव्यवहार की अनभिज्ञता जाहिर करता है-

रामसिंह-(अपवार्य) अपरिचितजनसम्मर्दः केवलं नर्दत्ययं धर्मपीडितो वनशार्दूलः।

रामसिंह (अलग एकान्त में) जनसमूह से घबड़ाकर घाम से पीड़ित वन का यह सिंह

केवल गरज रहा है। ऐसा कहना इतिहास के विरुद्ध है, क्योंकि शिवाजी के प्रति रामसिंह की ऊँची सम्मान-भावना है और रामसिंह के प्रयत्न से ही शिवाजी बन्दीगृह से निकल पाये थे।

नाटककार का प्रयत्न 'मुद्राराक्षस' की कोटि में कूटनीति की नाट्यरचना का था, पर यह ऐतिहासिक घटनाओं की सूचना-मात्र है। संस्कृत के उन महान् नाटककारों के भावों को अपनी भाषा में पेशल बनाकर प्रस्तुत करने का प्रयत्न भी कर रहा है, पर ऐसे छायानुवाद मात्र लगते हैं, जैसे -

क्षेत्रेऽपि सीरोत्कषणावकल्पिते उप्त्वा सुबीजानि समृद्धभूमौ।
समुद्गतेष्वेव नवाङ्कुरेषु क्षेत्री समुत्पश्यति शस्यसंपदम्।।

(चतुर्थ अंक में यह शिवाजी-शिवराज की उक्ति है। खेत को भली भांति जोतकर उस समृद्ध भूमि में बीज बोकर किसान उनके अंकुरों के उगने पर भविष्य में अन्न की महती उपज होने का विश्वास रखता है।) यह पद्य निम्न पद्य का, जो 'मुद्राराक्षस' नाटक की प्रस्तावना में आया है, छायानुवाद जैसा है -

चीयते बालिशास्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषिः।
न शालेः स्तम्बकरिता वप्तुर्गुणमपेक्षते।।

सातवें अंक के विष्कम्भक में मुग़लसेना के अध्यक्ष अपनी बातों में बीती हुई घटनाओं की सूचना देते हैं, जिन घटनाओं में शिवाजी का शौर्य देखकर औरंगज़ेब को शिवाजी के दमन हेतु महाराज जयसिंह को भेजना पड़ा था, वस्तुतः इन बातों की सूचना के लिए विष्कम्भक की आवश्यकता नहीं थी, इनका विवरण आगे जगन्नाथ पन्त और शिवाजी (शिवराज) के संवाद में सहज रूप से ले आया जा सकता था।

पद्यों की रचना में अनुप्रासयुक्त पदावली तथा नादध्वनि भी है, किन्तु भावों में प्रासंगिक गम्भीरता का अभाव है। जयसिंह की सेना की ओर जाते हुए शिवाजी (शिवराज) से दूत जगन्नाथ पंत कहते हैं -

वक्रा इमे तरुलतास्तबकैः सुगुप्ता
निम्नोन्नता विकटशाद्बलशैलमार्गाः।
आयाससाध्यकुटिलाक्रमपाटवे नः
शिक्षाविशेषमसमं वितरन्ति साक्षात् (७।९)

(तरुलता के कुंजों से ढके, घासों से भरे ऊँचे-नीचे टेढ़े, विकट पर्वत के ये रास्ते प्रयत्न करने पर साध्य हो जाते हैं और पार किये जा सकते हैं। ये प्रत्यक्ष रूप से हमें यह शिक्षा देते हैं कि उपाय द्वारा शत्रु को जीता जा सकता है। शिवाजी ने पर्वतों की इस विकटता का ही साहाय्य लेकर ही मुग़लसेना के छक्के छुड़ाये हैं, दूत द्वारा उनको इसकी सलाह बचकानापन है। इस उक्ति में एक दोष और है, टेढे-मेढ़े विकट पर्वत शत्रु से युद्ध

करने में शिवाजी के सहायक हैं, पर इस उक्ति में शत्रु स्थानीय हो गये हैं। जैसे पर्वतों को पार किया जा सकता है वैसे ही इनके समान शत्रुओं को परास्त कर सकते हैं।) नाटक का आरम्भ नान्दीपाठ कथावस्तु की प्रासंगिकता को भलीभांति चरितार्थ करता है-

उत्तुंगं सुरनिम्नगावलयितं नानामृगैः संकुलं
संक्रामन्मृगयुर्द्रुतं हिमवतः श्रृंगान्तरं श्रृंगतः।
सानन्दं विजयाय सत्त्वविजितो दिव्यं निजास्त्रं दिशन्
युष्मानेष पिनाकपाणिरवताल्लीलाकिरातः शिवः।।

(खिलवाड़ में किरातवेषधारी हाथ में पिनाक धनुष लिये यह भगवान् शिव आप लोगों की रक्षा करें, जो शिव हिमालय के एक शिखर से दूसरे ऊँचे शिखर को आखेट की खोज में तेजी से पार करते हुए, जहां गंगाजी कंकण के समान वृत्ताकार प्रवाहित हैं तथा जो शिखर अनेक वन्य पशुओं से भरे हैं, अर्जुन के पराक्रम से प्रसन्न होकर उनको आनन्द पूर्वक अपना दिव्य पाशुपत अस्त्र प्रदान कर रहे हैं।)

इस युग के राष्ट्रीय जागरण के अनुरूप नाटक की यह कथावस्तु एक महान नायक की चरित-गाथा है अतः नाट्यशिल्प के अभावों के रहते हुए भी नाटक की चर्चा संस्कृत-जगत् में बहुत हुई।

मथुराप्रसाद दीक्षित (महामहोपाध्याय)-इनका जन्म १८७८ ई. में उत्तर प्रदेश में हरदोई जिले के भगवन्तनगर में हुआ। आप संस्कृत के विद्वान थे। देश में चल रहे राष्ट्रीय आन्दोलन के विचारों का आप पर व्यापक प्रभाव पड़ा था। वैसे आपने शास्त्रीय तथा धार्मिक विषयों पर कई ग्रन्थ लिखे हैं पर आपकी प्रतिभा का परिस्फुरण आपकी नाट्यरचनाओं में हुआ, जो किसी न किसी रूप में राष्ट्रीय आन्दोलन के भावों की अभिव्यक्ति है। हिन्दी के वीरगाथा काल के महाप्रबन्ध पृथ्वीराजरासो के सम्पादन का श्रेय भी आपको है। आपकी प्रकाशित नाट्य-रचनाएं ये हैं -वीरप्रताप, गान्धीविजय, शंकरविजय, भारतविजय, वीरपृथ्वीराज, भक्तसुदर्शन, भूभारोद्धरण। कुछ नाटक अप्रकाशित हैं। इन नाटकों में वीरप्रताप और गान्धीविजय विषय की दृष्टि से उत्कृष्ट कृति हैं। वीरप्रताप सात अंकों का नाटक है। मेवाड़केशरी महाराणा प्रताप के स्वातन्त्र्य-प्रेम को अनेक ने लिखा है, पर संस्कृत में भी लिखे कई नाटकों की चर्चा हुई है। उसी क्रम में कुछ कम अधिक दीक्षित जी का वीरप्रताप नाटक भी है, इतिहास की वही प्रसिद्ध कथा है। दृष्टि सबकी अपनी-अपनी है। वीरप्रताप में नाटककार ने हिन्दुत्वाभिमान की अभिव्यक्ति की है, क्षत्रियों तथा भावी युवकों का आह्वान भारत की तात्कालिक परतंत्रता के उन्मूलन के लिए किया है, नाटक के आरम्भ में ही सूत्रधार की प्रस्तावना है-

इदानीं भारतदेशे हीनदीनदशापन्नानां वीराणां शौर्य-साहस-सहिष्णुतागुणानाम् उद्योतनाय परकाष्ठामापत्तिं भजमानानां पौर्वकाकालिक-क्षत्रियाणां शौर्यधैर्याद्यभिनयेन भाविनवयुवकेषु तत्तद्गुणसम्पादनाय...।

(इस समय भारतदेश में हीनदीन दशा में पड़े वीरों के शौर्य, साहस, सहिष्णुता गुणों को उद्दीप्त करने के लिए विपत्ति में होने पर भी पूर्वकाल के क्षत्रियों में जो शौर्य धैर्य रहा है उसके अभिनय के द्वारा भावी पीढ़ी के नवयुवकों में उन-उन गुणों की जागृति के लिए...)

नाट्यशिल्प ओर कथावस्तु-विन्यास की दृष्टि से नाटक शिथिल है। एकोक्तियाँ और एक ही अंक में असम्बद्ध दृश्यों की अवतारणा अभिनय तथा उसके प्रभाव को प्रायः कम कर देती हैं। राणा प्रताप और अकबर दोनों ऐतिहासिक चरित हैं, पर नाटककार अपने अनुसार जैसा चाहता है उनका वैसा संवाद प्रस्तुत कर देता है जो इतिहास-भावना से संगति नहीं करता। रचनाकार का यह आसन्नलेखकत्व संस्कृत के दूसरे कवियों-नाटककारों में भी है, दीक्षितजी में अधिक है। 'गान्धीविजय' दो अंकों का नाटक है और पूर्णतया राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत है। अंक दृश्यों में विभाजित हैं। पहले अंक में अफ्रीका की और दूसरे अंक में भारत की घटनाओं का चित्रण है। भारतीय सेठ अब्दुल्ला के बुलाने से उसके मुकदमें की पैरवी में गान्धीजी भारत से अफ्रीका गये, परन्तु वहां पर अंग्रेज़ों का अत्याचार और भारतीयों का अपमान देखकर उसके निराकरण में आन्दोलन शुरू कर दिया। अपने आन्दोलन में सफल होकर भारत लौटे। भारत में बिहार के चम्पारन जिले में नील की खेती में गोरों की मनमानी के विरुद्ध आन्दोलन खड़ा किया, गान्धीजी के संकल्प के अनुसार विदेशी वस्त्रों की होली जलाकर स्वदेशी का प्रचार किया गया। चरखा चलाकर हाथ से वस्त्र बुनने का उद्योग शुरू हुआ।

जलियावाला बाग़ के दमन की घटना, गांधीजी का नमक कानून तोड़ना, गान्धी-इरविन समझौता, 'अंग्रेजों, भारत छोड़ो' का अगस्त आन्दोलन, आजाद हिन्दसेना के सैनिकों का मुकदमा-ये सभी घटनाएं दूसरे अंक के भिन्न-भिन्न दृश्यों में हैं। अन्तिम दृश्य में लार्ड माउण्ट बेटन, जवाहरलाल नेहरू, जिन्ना और बलदेव सिंह आते हैं, उनके परामर्श की बातें होती हैं तथा पाकिस्तान के विभाजन के साथ भारत स्वतंत्र होता है। इस तरह से इस नाटक में युवकों को अपने राष्ट्रीय जागरण का दिग्दर्शन कराया गया है। नाटक के पात्र हैं - बाल गंगाधर तिलक, मदन मोहन मालवीय, महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, राजेन्द्र प्रसाद, सरदार पटेल, भूलाभाई, इरविन, माउण्टबेटन आदि। नाटक की रचना के समय इनमें अनेक पात्र जीवित रहे हैं। इस नाटक में संस्कृतनाट्य-परम्परा का अनुकरण कर दीक्षितजी ने प्राकृत के स्थान पर हिन्दी का प्रयोग किया है। कथावस्तु के विश्रृंखल होने पर भी नाटक रुचिकर है, क्योंकि उसके विविध दृश्यों में राष्ट्रीय जागरण का एक ही भावसूत्र अनुस्यूत है।

'भारतविजय' नाटक भी राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य भावना की कथा प्रस्तुत करता है। इसमें सात अंक हैं। इसकी रचना १६३७ ई. में हुई, जिसमें यह दिखाया गया कि अंग्रेज़ों ने भारत का शासन गांधी को सौंप दिया और भारत छोड़ कर चले गये। नाटककार का यह भावसत्य दस वर्ष बाद १६४७ ई. में प्रत्यक्ष होकर ही रहा। उसी समय इसका अभिनय

सोलन (शिमला के निकट) की राजसभा में हुआ था। ब्रिटिश सरकार ने इस नाटक को जब्त कर लिया था। १६४७ ई. की स्वतंत्रता के पश्चात् पुनः इसका प्रकाशन हुआ। वस्तुतः इस नाटक की कहानी महाकाव्य का प्रबन्ध है, इस रूप में उसका औचित्य नहीं है पर राष्ट्रीय भावना की दिव्य अभिव्यक्ति चाहे नाटक हो, चाहे महाकाव्य, या और कोई विधा हो, सभी प्रकार के अनौचित्य को तिरोहित कर देती है। और यह नाटक इस अनौचित्य के साथ भी प्रभावी एवं आकर्षक है। इस नाटक में १७५७ ई. से लेकर १६४७ ई. तक की उन-उन घटनाओं का समावेश किया गया है, जिनमें अंग्रेज़ों के अत्याचार तथा कूटनीति की कहानी और भारतीयों के स्वतंत्रता-संग्राम के विविध आयाम, शौर्य तथा बलिदान की गाथा है। नाटक की कथा प्लासी के युद्ध (१७५७ ई.) से आरम्भ होती है, १८५७ की सैनिक क्रांति, कांग्रेस की स्थापना, बालगंगाधर तिलक का नेतृत्व आदि विविध घटना-चक्रों के साथ अन्त में महात्मा गांधी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन द्वारा भारत स्वतंत्र हो जाता है। इस प्रकार इस कथा में अनेक नाटक हैं, भारतविजय नाटकों का महाप्रबन्ध है।

दीक्षित जी के दूसरे अन्य नाटकों में 'शंकरविजय' आदि शंकराचार्य के जीवन तथा कार्यों पर आधारित छह अंकों का नाटक है। इसमें मीमांसक मंडन मिश्र से उनके शास्त्रार्थ और विजय की कथा है। 'वीरपृथ्वीराज' नाटक १६४० ई. में लिखा गया। इसमें दिल्ली-सम्राट् पृथ्वीराज चौहान की पूरी जीवन गाथा है। चौहान द्वारा मुहम्मद ग़ोरी को पराजित किया जाना, जयचन्द से विरोध, संयोगिता स्वयंवर, जयचन्द्र द्वारा मुहम्मद ग़ोरी को निमंत्रण, युद्ध में चौहान की पराजय, बन्दी बनाया जाना, चन्द्रबरदाई को ग़ौर नगर जाकर बन्दी पृथ्वीराज से मिलकर कूट उक्ति से ग़ोरी से बदला चुकाना-आदि जातीय स्वाभिमान से पूर्ण गाथा नाटक की कथावस्तु है, जातीय स्वाभिमान के उल्लास में नाटककार ने सभी दृश्यों तथा अनेक संवादों का समावेश करना चाहा है, रंगमंच पर हत्या भी दिखायी है। नाट्यशिल्प की चिन्ता न करके उसने अपनी इच्छित कहानी को रूपायित करना चाहा है। भक्तसुदर्शन छह अंकों का नाटक है। इसमें अयोध्या के राजा ध्रुवसन्धि के ज्येष्ठ पुत्र सुदर्शन के उत्तराधिकार पाने की कहानी है। ध्रुवसन्धि के दो रानियां थीं। दोनों से एक-एक पुत्र थे, इसीलिए उत्तराधिकार पाने के लिए संघर्ष हुआ। ऋषि भारद्वाज की कृपा से सुदर्शन को ही राज्य का सिंहासन मिला। दीक्षित जी ने यह नाटक सोलन नरेश की रानी के इच्छानुसार रचा था और उनको ही समर्पित किया था। 'भूभारोद्धरण' पांच अंकों का नाटक है। इसमें यादवों के गृह-युद्ध की कहानी है। यह गृह-युद्ध दुर्वासा के शाप से हुआ। साम्ब को गर्भवती स्त्री के वेश में कुछ यादव-युवकों ने दुर्वासा के सामने उपस्थित किया और प्रश्न किया कि इसे कौन सी सन्तान होगी। दुर्वासा ने ध्यान से सब कुछ जान लिया और कहा कि इससे वह सन्तान होगी जिससे यादवों का विनाश हो जायेगा। साम्ब ने तवा बांधकर पेट फुला लिया था। कृष्ण ने उस तवे को चूर्ण कर फिकवा दिया, पर उसका शंकु चूर्ण नहीं हुआ और अन्त में वही विनाश का कारण बना। कृष्ण जब कुल का विनाश देखकर योगासन में वृक्ष के नीचे बैठे थे तब व्याध ने उनको हरिण समझकर

बाण मार दिया और बलराम ने समुद्र में जल समाधि ले ली। द्वारका समुद्र में डूब गयी। नाटक की पूरी कहानी पौराणिक है, तात्पर्य है कि भगवान् कृष्ण पृथ्वी का भार हरण करने के लिए अवतरित हुए थे और यह कार्य पूरा कर अपने लोक को चले गये।

जीव न्यायतीर्थ-ये पंचानन तर्करत्न के पुत्र थे। इनका जन्म १८६४ ई. में बंगाल प्रान्त के चौबीस परगना जिले के भट्टपल्ली गाँव में हुआ। जीव जी न्यायशास्त्र और साहित्य के पंडित थे। कलकत्ता विश्वविद्यालय में संस्कृत के अध्यापक और भट्टपल्ली संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल रहे। आपका जीवन संस्कृत के अध्ययन, अध्यापन और लेखन में ही बीता। इन्होंने प्रणवपारिजात तथा अर्थशास्त्र पत्रिकाओं का संपादन किया। इनके कई नाटक प्रणवपारिजात में ही प्रकाशित हुए हैं। जीव जी के नाटकों की संख्या तीन दर्जन के लगभग है। इनमें बीस से अधिक प्रहसन और भाण हैं तथा एक दर्जन नाटक हैं। कुछ प्रहसनों के नाम हैं-दरिद्रदुर्दैव, भट्टसंकट, चिपिटकचर्वण, चण्डताण्डव, वनभोजन, स्वातन्त्र्यसन्धिक्षण, पुरुषपुंगव, विवाहविडम्बन आदि। नाटक हैं-कैलाशनाथविजय, गिरिसंवर्धन व्यायोग, महाकवि कालिदास, कुमारसम्भव, रघुवंश, साम्यतीर्थ, शंकराचार्यवैभव, नागनिस्तार, विवेकानन्दचरित, स्वाधीनभारतविजय। श्री जीव नाटकों की रचना १९६२ ई. तक करते रहे। पर इनकी अधिकांश कृतियां १९५० ई. तक लिखी गयी हैं, इसलिए उनको इसी काल में रखा गया है। यह भी है कि ये इस युग के राष्ट्रीय जागरण का प्रतिनिधित्व नहीं करते, इन्होंने परम्परागत ही प्रहसन तथा नाटकों की रचना की है।

जीव जी के नाटकों की संख्या गिनती में बहुत है, परन्तु इस तुलना में इन नाटकों में साहित्यिक गुरुता का अभाव है। हिन्दी क्षेत्र में नाटक कम्पनियां जिस प्रकार के नाटक खेला करती थीं, जिनमें दर्शकों का मनोरंजन ही मुख्य उद्देश्य होता था तथा उस मनोरंजन या प्रहसन-व्यंग में कोई गम्भीरता नहीं होती थी, कृत्रिम मूर्खता या भोड़ापन का प्रदर्शन होता था, जीव जी के प्रहसन और भाण ऐसे ही हैं, उदाहरण के लिए 'वनभोजन' ऐसी ही कृत्रिम मूर्खता का प्रहसन है। 'चण्डताण्डवं' जिसमें १९३९-४१ के विश्वमहायुद्ध की हिंसात्मक प्रवृत्तियों का नग्न चित्रण किया गया है, रूस के नायक स्टालिन की धर्मध्वंसी कार्रवाइयों का परिहास-पूर्ण परिचय भी है, इस परिहास में आधारभूत गम्भीरता का अभाव है। लेखक युद्ध की परिस्थितियों, भारत और योरप में धर्म की अलग-अलग धारणाओं तथा कार्ल मार्क्स की अर्थ-नीतियों से अनभिज्ञ है, और बिना अभिज्ञता के ऐसे महायुद्ध पर प्रहसन या कोई भी नाटक नहीं लिखा जा सकता। प्रहसन के अतिरिक्त महाकवि कालिदास, रघुवंश, कुमारसम्भव, नागर-निस्तार, शंकराचार्यवैभव आदि नाटक भी परम्परा-प्राप्त कथाओं एवं अनुश्रुतियों के संवादात्मक संस्करण हैं, नाटकत्व की प्रतिष्ठा इनमें नहीं हो पायी है। देश-काल सम्मत स्वस्थ मनोरंजन अर्थात् रसाभिव्यक्ति जो विचारवान् को अभिभूत कर सके, उसका अभाव जीव जी के नाटकों में है।

जग्गू श्रीबकुलभूषण (जग्गू अलवारेय्यङ्गार)-जीव न्यायतीर्थ की ही तरह प्रतिक्रिया और परम्परा के अनुकरण में नाट्य रचना करने वाले जग्गू श्रीबकुलभूषण हैं। इनका कुल

मैसूर महाराजा का राजपण्डित घराना रहा है, वहीं इनका जन्म १६०२ ई. में हुआ। यह यदुगिरि की संस्कृत पाठशाला में साहित्य के अध्यापक थे। इन्होंने १७ वर्ष की अवस्था में संस्कृत में 'श्रृंगारलीलामृत' काव्य की रचना की। इनकी अन्य रचनाओं के अतिरिक्त नाटक की रचनाएं १५ हैं। इन्होंने पहला नाटक 'अद्भुतांशुक' १६३१ ई. में लिखा और उसका प्रकाशन १६३२ ई. में हुआ। इसकी रचना भट्ट नारायण के 'वेणीसंहार' नाटक की तुलना (प्रतिक्रिया) में हुई है। इसमें महाभारत में उल्लिखित कथा 'द्रौपदी-चीरहरण' को नाटक का विषय बनाया गया है। भगवान् कृष्ण की कृपा से दौपदी की साड़ी अनन्त हो गयी थी, और साड़ी खींचते-खींचते दुःशासन की भुजायें थक गयी थीं। नाटक के आरम्भ में सूत्रधार ने 'वेणीसंहार' की तुलना की बात स्पष्ट रूप से कही है-

यद् भट्टनारायणनिर्मितं प्राग्
वेण्यां महाभारतवस्तु रम्यम्।
तत् पूर्वभाव्यत्र विधाय वेण्या
संयोजितं श्रीकविना त्वनेन।।

कवि भट्टनारायण ने महाभारत की रम्य कथावस्तु को लेकर 'वेणीसंहार' नाटक लिखा, जिस नाटक का विधेय यह है कि अन्त में द्रौपदी अपनी खुली बेणी को दुर्योधन की जंघा के रक्त से संवारती है। पर उसके पूर्व की कथा क्या थी, इस नाटक में उसे निबद्ध कर कवि जग्गू श्री बकुलभूषण ने 'वेणीसंहार' के साथ संयोजित किया है।

इसी तरह इनके दूसरे नाटक भी हैं जिनमें रचनाकर्तृत्व की अपनी दृष्टि नहीं है। 'प्रतिज्ञाकौटिल्य' (महान् राजनीतिज्ञ चाणक्य की कथा) और 'प्रतिज्ञा-शान्तनव' (कुमार देवव्रत की विवाह न करने की भीष्म प्रतिज्ञा का कथानक) दोनों नाटक भास के 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' की नकल पर समानान्तर रचनाएं हैं। 'प्रसन्नकाश्यप' अभिज्ञानशाकुन्तल का उत्तरार्ध कथानक है जिसमें राजा दुष्यन्त अपनी पत्नी शकुन्तला तथा पुत्र भरत के साथ काश्यप कण्व के आश्रम में आता है, वहां अनसूया, आर्य शाङ्र्गरव आदि पुराने परिचितों के मिलन से वह आश्रम प्रसन्नता में डूब जाता है। इसका नामकरण जयदेव के 'प्रसन्नराघव' की नकल पर है। 'मणिहरण' में अश्वत्थामा के मस्तक की मणि निकाले जाने की कथा है जो भागवतपुराण से प्रेरित है। अन्य नाटकों की कथावस्तु भी ऐसी ही हैं जिनको संवाद का रूप देकर नाटक बना दिया गया है। कवि को यह पता नहीं कि भरतमुनि ने नाट्यरचना की मूलप्रेरणा और कथावस्तु की संजीवनी में क्या कहा है? अन्य नाटकों के नाम हैं-मंजुलमंजीर (रामचरित पर आधारित), अप्रतिमप्रतिम (धृतराष्ट्र द्वारा भीम की लौहमूर्ति का चूर्ण किया जाना), यौवराज्य (भरत के युवराज बनाये जाने की कथा), बलिविजय नाटक (वामनावतार की कहानी), अमूल्यमाल्य (कृष्ण की बाललीला), अनंगदाप्रहसन (वेश्या और धूर्त चोरों की कथा)।

महालिंग शास्त्री-इनका जन्म तंजौर जिले के तिरुबलंगाड ग्राम में १८६७ ईस्वी में

हुआ। आपने एम.ए. परीक्षा पास करने के बाद वकालत (बेचलर आफ ला) की परीक्षा उत्तीर्ण की और मद्रास हाईकोर्ट में वकालत किया। महालिंग जी का संस्कृत और संस्कृति से सहज अनुराग रहा है और भारतीय ललित कलाओं में आपकी अच्छी गति रही है। आपने संस्कृत में काव्य, व्यंग्य काव्य, साहित्यशास्त्र, नाटक, व्याकरण, संगीत विषयक ग्रन्थ लिखे हैं तथा विद्यालय के छात्रों के लिए चरित एवं पाठावलियां भी लिखीं हैं। आपके नाटकों की संख्या ६ है-उद्गातृदशानन, आदिकाव्योदय, कौण्डिन्यप्रहसन, कलिप्रादुर्भाव, श्रृंगारनारदीय, उभयरूपक, मर्कटमार्दलिक, अयोध्याकाण्ड, प्रतिराजसूय। इनके ये सभी नाटक १६२७ से १६४२ ई. के बीच रचित हुए। इनमें उभयरूपक और अयोध्याकाण्ड तो सामाजिक कथा पर आधारित नाटक हैं। कौण्डिन्यप्रहसन, कलिप्रादुर्भाव, श्रृंगारनारदीय, मर्कटमार्दलिक लोककथाओं पर आधारित प्रहसन कोटि के रूपक हैं। शेष नाटकों-उद्गातृदशानन, आदिकाव्योदय और प्रतिराजसूय में क्रमशः पुराण, रामायण एवं महाभारत से ली गयी कथाएं निबद्ध हैं।

महालिंग जी की नाट्य-रचना की अपनी एक दृष्टि है। पाश्चात्यशिक्षा के प्रभावस्वरूप भारतीय छात्रों में जो दिशा-हीनता आ रही थी, संस्कृति का जो ह्रास हो रहा था, उसकी अभिव्यक्ति 'उभयरूपक' में हुई है। इस नाटक का पात्र छागल ऐसे दिग्भ्रम का प्रतीक है। 'उभयरूपक' की रचना १६३८ ई. में हुई, उस समय भारतीय परम्परा में पाश्चात्त्य शिक्षा का संगम आते हुए प्रवाह को जो नया मोड़ दे रहा था उसकी एक झलक इस नाटक में है। इसमें सीधे-सादे विचार और उक्तियां तात्कालिक समाज के सहज भावों का परिचय देते हैं। अध्यापक वज्र घोष का मत है -

विदेश-वेश-भाषाढ्याः प्रभिन्नगतयो नराः।
विप्रकर्षं शनैर्यान्ति स्वजनेभ्योऽपि नूतनाः।।

(विदेशी भाषा पढ़कर और विदेशी पोशाक में सजकर नये युवक प्रगतिशील होते हुए अपने जनों से धीरे-धीरे दूर होते जाते हैं) बीसवीं शती के पूर्वार्ध में समाज में विचारों और संस्कारों की जो नयी क्रान्ति हो रही थी, उसकी एक झलक इस नाटक में है। इसलिए नाटक का महत्त्व है।

रमानाथ मिश्र - ये भी इस काल के उल्लेखनीय नाटककार हैं। इनका जन्म उत्कल में बालासोर नगर के निकट मणिखम्भ गांव में १६०४ ई. में हुआ। ये संस्कृत और अंग्रेजी दोनों के विद्वान थे। इन्होंने सात रूपकों की रचना की जिनमें पुरातन कथा को भी अपनी नयी दृष्टि से समुल्लसित किया तथा रूढ़ि तोड़कर उपेक्षित समाज को नाटक का विधेय बनाया। इनके रचित रूपक हैं-चाणक्यविजय (१६३८ ई.), श्रीरामविजय (१६४० ई.), पुरातनबालेश्वर (१६६७ ई.) आत्मविक्रम (१६५३ ई.), समाधान (१६४५) ई., प्रायश्चित्त (१६५२ ई.), कर्मफल (१६५५ ई.)। इनमें अन्तिम तीन रूपक समाधान, प्रायश्चित्त और कर्मफल युग की सामाजिक चिन्ताओं और विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'प्रायश्चित्त'

प्रेम कथा पर आधारित प्रकरण रूपक है, इसमें एक निराश्रित बालिका से राजा के लड़के का प्रेम हो जाता है। बालिका का पालन-पोषण एक किसान कर रहा था। राजा पहले तो पुत्र पर क्रुद्ध होकर उसे घर से निकाल देता है। लेकिन बाद में उसे भूल प्रतीत होती है, दुःखी होता है और बालिका से अपने पुत्र का विवाह तो कराता ही है, अपनी पुत्री का विवाह किसान के लड़के से कर भूल का प्रायश्चित करता है।

इस काल की दूसरी नाट्यकृति है-श्रीरामास्वामी कृत "रतिविजय"। इसकी रचना (१९२९ ई.) में हुई। इसमें एकोक्तियों (स्वगत) गीतों का विशेष प्रयोग हुआ है। १९२९ ई. में तीन छात्रों-नागेशपण्डित, शालिग्राम द्विवेदी और अच्युत पाध्ये ने "भ्रान्तभारत" की रचना की, जिसमें संस्कृत भाषा की उपेक्षा, बाल-विवाह की समस्या, बहुसन्तान का दारिद्र्य, विदेशी अन्धानुकरण जैसी समस्याओं पर वाद-विवाद परिचर्चा ही नाटक की कथावस्तु है। प्राकृत के स्थान पर हिन्दी का प्रयोग किया गया है। कृति का नाटकीय महत्त्व तो नहीं है, आज बीसवीं शती के अन्त में वे अति महत्त्वपूर्ण हो गयी हैं, जैसे परिवारनियोजन का महत्त्व। नाटक में बहुसन्तान वाले गृहस्थ की दुर्दशा का वर्णन है -

एकश्चतुष्पादिव कम्पतेऽर्भो
दौर्भ्यां गृहीत्वा चरणौ जनन्याः।
अन्यस्तदङ्के करुणं विरौति
दैवं विनिन्दत्यपरस्तु गर्भे।।

(एक शिशु बकइयां चल रहा है, दूसरा हाथों से माता का चरण पकड़कर लटका है, एक गोद में है तथा चौथा गर्भ में बैठा हुआ भाग्य की निन्दा कर रहा है।)

को. ला. व्यासराजशास्त्री ने रामायण की कथा को लेकर २५ लघु नाटक लिखे हैं। इन्होंने सामाजिक रुचि के अनुकूल लीलाविलास-प्रहसन (१९३५ ई.) की रचना भी की। प्रो. वेङ्कटराम राघवन् संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वानों में हैं, इन्होंने कई नाटक लिखे हैं, जिनमें 'कामशुद्धि' और 'आषाढस्य प्रथमदिवसे' कालिदास की कृतियों से प्रेरित नाटक रचनाएं हैं, 'अनार्कली' नाटक हिन्दूमुस्लिम एकता की संयोजित गाथा है, जिसमें बादशाह अकबर और उसक फतेहपुर सीकरी का इतिहास है। 'रासलीला', विजयाङ्का, विकटनितम्बा "पुनरुन्नेष" प्रेक्षण नाटक हैं। 'अवन्तिसुन्दरी' संस्कृत के प्रसिद्ध कवि और आचार्य राजशेखर के इतिहास पर आधारित है। 'प्रतापरुद्रविजय' भी ऐतिहासिक नाटक है। 'लक्ष्मीस्वयंवर' (१९५९ ई.) पौराणिक तथा 'विमुक्ति' (१९३१ ई.) सामाजिक प्रहसन है। राघवन् जी के नाटक में नये प्रयोग अधिक हैं, उस मात्रा में इनमें नाटकीय रचना की कुशलता नहीं दिखायी देती। तेलुगुभाषी प्रसिद्ध साहित्यकार विश्वनाथ सत्यनारायण ने 'गुप्तपाशुपत' और 'अमृतशर्मिष्ठ' दो नाटक लिखे, दोनों की कथा महाभारत से ली गयी है। त्रिरुचिरपल्ली के इ.सु. सुन्दरार्य की दो नाट्य रचनाएं हैं-'उमापरिणय', 'मार्कण्डेय-विजय', जैसा कि नाम से प्रकट है दोनों की कथा पौराणिक है।

इस काल की जिन नाट्यरचनाओं में कथावस्तु पुराण से भी ली गयी है, उनमें नये राष्ट्रीय जागरण के प्रभाव की कुछ न कुछ झलक है, और कुछ नहीं, तो गीतों में भारत देश की जयकार अवश्य की गयी है।

(४) १६५० ई. से १६६० ई. तक-स्वतन्त्रता का उत्साह-काल

१५ अगस्त १६४७ के दिन भारत स्वतन्त्र हुआ और उसका नया संविधान बना। संविधान के अनुसार २६ जनवरी १६५० को यह देश गणतंत्र राष्ट्र घोषित हुआ। स्वतंत्रता के लिए निरन्तर चलने वाले विषम संघर्ष तथा उथल-पुथल की सुखद परिणति ने सभी को उत्साह और आनन्द में विभोर कर दिया। संस्कृत भाषा के प्रचार-प्रसार, अन्वेषण-अनुसन्धान तथा गहन अध्ययन के नये द्वार अनावृत हुए। संस्कृत विश्वविद्यालयों तथा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठों की स्थापना हुई। संस्कृत के अध्ययन के प्रति समूचे देश में, हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक उत्साह दिखायी पड़ता है। एक तरह से देखा जाए तो पूरे देश की मान्य भाषा संस्कृत है। उसके प्रति सभी का आदर है। प्रायः मनीषी यह अनुभव करने लगे हैं कि बिना संस्कृत साहित्य का अध्ययन किये हम अपने देश भारत को भलीभांति जान नहीं सकते।

इस प्रकार ये परिस्थितियां संस्कृत के अध्ययन और उसके प्रचार-प्रसार के लिए तो अनुकूल हैं, यदि इन परिस्थितियों का लाभ उठाया जाये। लेकिन ऐसी स्थिति रचनात्मक ललित साहित्य के सर्जन के अनुकूल नहीं होती, न ही किसी महान् कृति का प्रणयन इस काल में सम्भव होता है। इसका कारण है कवि की रचना महान प्रेरणा लेकर उदित होती है, प्रेरणा का जन्म अभाव और संघर्ष से होता है, अति गहनतम अभाव को भरने के लिए वैसे ही महान् भाव का उदय कवि के अन्तरतम में जब-जब होता है तब-तब कोई युगान्तरकारी कवि की रचना-सृष्टि रच उठती है, पर ऐसे कवि का जन्म ही देश-काल और भाषा पर निर्भर होता है। विगत एक हजार वर्ष के भीतर संस्कृत में ऐसा कोई कवि नहीं हुआ। बीसवीं शती के पूर्वार्ध में देश की स्वतन्त्रता का आन्दोलन भारत में एक नये दिक्काल को जन्म दे रहा था, जिसका प्रभाव अन्य भाषा के कवियों के साथ संस्कृत भाषा के रचनाकारों पर भी पड़ा है और उसके फलस्वरूप १६५० ई. की अर्धशती में संस्कृत में कई जीवन्त रचनायें प्रकाश में आयीं, उदाहरण के लिए प.ना. पाटणकर का 'वीरधर्मदर्पण' तथा हरिदास सिद्धान्तवागीश का 'मिवारप्रताप' नाटक हैं। किन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात् वह दिक्काल तिरोहित होने लगा, इस तिरोभाव से संस्कृत के रचनाकार ही अधिक प्रभावित हुए हैं। कम से कम नाटक क्षेत्र में उच्च मौलिक जीवन्त रचना का दर्शन १६६० ई. तक नहीं होता। हिन्दी और अंग्रेजी के नकल पर कुछ नयी विधाओं के प्रयोग अवश्य किये गये हैं, इसके उदाहरण इस काल के भीतर लीला राव के रूपकों में देखा जा सकता है, पर उनमें जीवन्तता नहीं है। या फिर संस्कृत की प्राचीन प्रसिद्ध कृतियों के कथानक को लेकर या उनके किसी एक पक्ष को पूरक बनाकर रूपक-रचनाएं हुई हैं। इसके

उदाहरण यतीन्द्र विमल चौधुरी, रमा चौधुरी, वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य तथा श्रीराम वेलणकर के रूपकों में मिले थे। रूपक की ऐसी रचनाओं को संस्कृत के प्रति अनुराग और रचना का उत्साह के रूप में ही लेना चाहिए, कृतित्व की दृष्टि से उनमें निःसारता ही परिलक्षित होती है। भाषा-प्रयोग का चमत्कार अवश्य है, कथा, भाव और भाषा की समन्वित सुषमा के लिए निराश होना पड़ेगा। प्राचीन कवियों और उनके प्रयुक्त कथानकों को लेकर रूपक-रचना की पिष्टपेषणता, जब कि इतिहास और उसके भूगोल का सम्यक् ज्ञान न हो, अर्थ का अनर्थ कर बैठती है, भ्रमित होता है। उदाहरण के लिए कालिदास तथा मेघदूत को लेकर लिखे गये रमा चौधुरी के कविकुलकोकिल, साथ ही उस मूल कथानक और उसके कवि के अध्ययन, विश्लेषण तथा आकलन का रास्ता भी मेघमेदुरमेदिनीय नाटक देखे जा सकते हैं।

कुछ विद्वानों ने चरितात्मक नाटक लिखे हैं। उनकी नाटकीयता संवाद मात्र में है। जैसे कवि रवीन्द्र पर लिखा गया १५ अंकों का भास्करोदय नाटक या कि राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद के चरित पर 'भारतराजेन्द्र' नाटक; ऐसे नाटक संवाद के रूप में काव्य प्रबन्ध या चम्पूकाव्य हैं।

प्रमुख कवि और उनके रूपक

विश्वेश्वर बंग-प्रदेश में चट्टलानगरी के रहने वाले थे। इन्होंने एक दर्जन से अधिक नाटकों की रचना की है जिनमें 'प्रबुद्धहिमालय' और 'चाणक्यविजय' दो नाटक अच्छे बन पड़े हैं। प्रबुद्ध हिमालचल में उसकी नयी कथावस्तु और उसमें गुम्फित राष्ट्रीय समृद्धि के विचार हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं, यद्यपि उनका नाटकीय कौशल उतना उदात्त नहीं है।

विष्णुपदभट्टाचार्य भी बंग प्रदेश के चौबीस परगना में भट्टपल्ली गांव के रहने वाले थे। इनके पिता और नाना सभी ख्यातिप्राप्त विद्वान रहे हैं। भट्टाचार्य जी ने समाज की वर्तमान समस्या ग़रीबी तथा बेरोज़गारी को अपने रूपकों का विषय बनाया है तथा रूपक रचना को सरस करने के लिए उसे विवाह की समस्या, अनुकूल वधू, अनुकूल पति जैसी अभिलाषाओं के सन्दर्भों से भी संयोजित कर दिया है। इनके इस प्रकार के रूपकों में 'काञ्चनकुञ्चिक' तथा 'धनंजयपुरंजय' उल्लेखयोग्य हैं, यद्यपि दोनों की कहानी में बेरोज़गार युवक तथा दिशा-बोध विहीन पुत्र की समस्याओं का विस्तार किया गया है, तो भी इनको हिन्दी के सामाजिक समस्या (काम समस्या) के नाटकों की कोटि में नहीं समझना चाहिए। भट्टाचार्यजी ने अपने नाटकों की कहानी को पौराणिक पुट दिया है, परन्तु उसमें न तो मार्मिक सन्दर्भों का संयोजन है और न ही भारभूत प्रसंगों को छोड़ देने का विवेक। इनका एक रूपक 'कपालकुण्डला' है जो बंकिमचन्द्र के उपन्यास 'कपालकुण्डला' पर आधारित है। इनके पिता हरिचरण विद्यारत्न ने 'कपाल-कुण्डला' का अनुवाद संस्कृत में किया था, इन्होंने उसको अपनी रूपक रचना का विषय बनाया। नाटक सात अंकों का है, पर इसमें भी कथा-विस्तार अधिक है, अभिनेयता का अभाव है। रूपक तो वह रचना है, जो सीमित

अभिनय में कथा के लम्बे विस्तार को समेट लेती है। यह इस नाटक में नहीं दीखता है। भट्टाचार्य फरवरी १९६४ में दिवंगत हुए।

लीला राव-ये संस्कृत की सुप्रसिद्ध लेखिका और कवयित्री क्षमा राव की सुपुत्री हैं। इन्होंने १९५० ईस्वी के अनन्तर छठे और सातवें दशक में एक दर्जन से अधिक रूपकों की रचना की है, इनका नाट्य-शिल्प अभिनव है, उस पर हिन्दी में लिखे जानेवाले अधुनातन रूपकों की छाप है, विषय भी उनके नये हैं। आधे से अधिक रूपक ऐसे हैं जिनकी कथावस्तु लीला राव जी ने अपनी माता की लिखी कहानियों से ली हैं। रूपकों के नाम हैं-बालविधवा, होलिकोत्सव, जयन्तु कमाउनीयाः, तुलाचलाधिरोहण, मायाजाल, कपोतालय, कटुविपाक, वृत्तशंसिच्छत्र, स्वर्णपुरकृषीबल, तुकारामचरित, ज्ञानेश्वरचरित। इन रूपकों में तुकारामचरित, ज्ञानेश्वरचरित, मीराचरित को छोड़कर शेष सभी रूपक समाज में घटित होने वाली समस्याओं छल, प्रपंच, चोरी, दुर्घटना, ग़रीबी आदि का चित्रण करते हैं। एक तरह से ये रूपक कम हैं, संवादात्मक कहानी अधिक हैं। 'तुलाचलाधिरोहण' गद्यकाव्य जैसी रचना है।

इसी कालावधि में बीसवीं शती के छठे और सातवें दशक में बंगाल के **यतीन्द्र विमल** चौधुरी तथा उनकी पत्नी रमाचौधुरी ने संस्कृत में ४० के लगभग रूपक जैसी रचनायें की हैं। यतीन्द्र का जन्म कर्णफुली नदी के तट पर कधुर्खिल गांव में १९०८ ई. में हुआ, १९६४ ई. में वे दिवंगत हुए। पति-पत्नी दोनों ही उच्च शिक्षा सम्पन्न कुलों में उत्पन्न हुए थे। आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी लंदन से डी.फिल. उपाधि प्राप्त की थी। १९४३ ई. में यतीन्द्र ने प्राच्यवाणी संस्था की स्थापना की और इस संस्था के माध्यम से संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रचार-प्रसार का सराहनीय कार्य पति-पत्नी दोनों जनों ने किया। यतीन्द्र ने पालिभाषा में भी नाटक लिखा। रमा चौधुरी ने प्राच्यवाणी की अंगभूत संस्था प्राच्यवाणी संस्कृत पालि नाट्य संघ की स्थापना की और अपने इन नाटकों का अभिनय भी देश के उच्चसंस्थानों के आयोजनों में कराया।

यतीन्द्र विमल चौधुरी के लिखे प्रमुख नाटकों के नाम हैं-महिममयभारत, मेलनतीर्थ, भास्करोदय, सुभाषसुभाष, रक्षकश्रीगोरक्ष, निष्किंचनयशोधर, आनन्दराध, भारतलक्ष्मी, दीनदासरघुनाथ। इसके अतिरिक्त उन्होंने महर्षि अरविन्द, विवेकानन्द, राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद, चित्तरंजन दास, स्वामी रामकृष्ण की पत्नी सारदामणि, महाप्रभुचैतन्य की पत्नी विष्णुप्रिया, मीराबाई, प्रभु हरिदास, रामानुजाचार्य के चरितों को भी नाटकरूप में निबद्ध किया है।

देशभक्ति की प्रेरणा से और महापुरुषों के उज्ज्वल चरित के प्रति श्रद्धा रखकर संस्कृत नाट्य-साहित्य को समृद्ध करने के उत्साह में यतीन्द्र जी ने ये सारी रचनाएं की हैं। ये नाटक अभिनीत भी हुए हैं, इस कारण संस्कृत भाषा के प्रचार-प्रसार में इनके अमूल्य योगदान को नहीं भुलाया जा सकता। जहां तक नाटक रचना का प्रश्न है, नाट्यकृति की उदात्तता इनमें से किसी रचना में भी नहीं है। संवाद और पद्यों की ललित

रचना इनकी विशेषता है। कथावस्तु के संचयन में नितान्त मनमानापन है, नाटक के कथा-विन्यास में ही नाट्यकार की दूरदृष्टि का पता चलता है वह यहाँ किसी कृति में नहीं है। आजकल जैसे सीरियल दूरदर्शन पर दिखाये जाते हैं उसी के समकक्ष महिममयभारत, भास्करोदय, मेलनतीर्थ, निष्किंचनयशोधर नाटकों को लिया जा सकता है। नाटककार ने कृतिकार की स्वतंत्र चेतना का परिचय भी नहीं दिया है। 'महिममयभारत' और 'मेलनतीर्थ' नाटकों में जैसे वह सरकारी सत्ता का प्रचार माध्यम बन गया है। 'महिममयभारत' में सिन्धुक्षित् वैदिक ऋषि, नारद, ब्रह्मा, विष्णु, शिव और कमण्डलु से उद्भूत गंगा से लेकर शाहजहां की पुत्री जहांनारा और यमुना नदी, महानगर के दो मज़दूर राम और रहीम तथा दामोदरघाटी की योजना तक के चार प्रमुख कथा-प्रसंगों के माध्यम से प्राचीन से लेकर वर्तमान भारत तक और उसके समाज की रचना के प्रति समन्वित दृष्टि स्थापित करना लेखक का मुख्य प्रयोजन है। सरकार और हमारे संविधान की भी यही दृष्टि है। एक तरह से लेखक सरकार के मुख में समाया हुआ है। इसका अभिनय भी २० अप्रैल १६५६ ई. को केन्द्र सरकार के कुछ मंत्रियों के सम्मुख कराया गया है। वैसे सरकारी दृष्टि से ईसाई समाज का प्रतिनिधित्व इसमें नहीं हुआ और यह कमी रह गयी है। 'मेनलतीर्थ' नाटक भी इसी प्रकार का है और इसी दृष्टि से लिखा गया है। इसमें विविधता को अपनाकर भारतीय संस्कृति का विस्तार दिखाया गया है। इस नाटक में कुल दस अंक हैं। पहले चार अंकों तक अथर्वा ऋषि, अगस्त ऋषि, अशोक और उसके बौद्धधर्म के उपदेशकों की लंका-यात्रा के वृत्तान्त हैं। पंचम अंक में दीन इलाही के प्रवर्तक अकबर आ गये हैं, फिर क्रमशः चैतन्य महाप्रभु, विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, गांधीजी की नोआखाली यात्रा और अन्तिम प्रसंग है जवाहर लाल नेहरू का विश्वमैत्री-प्रयास। अर्थात् प्रतीक रूप में संस्कृति ही पूरे नाटक की कथावस्तु है। कोई कथावस्तु नहीं है, एक तरह से यह नाटक नहीं, नाट्यदर्शन का अभिनय है और सारा कृतित्व सरकार की नीतियों के प्रति बुद्धिजीवी-समर्थन है, और इसीलिए इसमें महर्षि दयानन्द सरस्वती को नहीं सम्मिलित किया गया, जो कि आज हिन्दू समाज का एक बहुत बड़ा भाग उनका ही निर्माण किया हुआ है। ऐसी कृतियों को देखने से यह लगता है कि संस्कृत पढ़ने वालों में मध्यकाल के इतिहास में जो दरबारदारी घर कर गयी थी, वह आज भी बनी हुई है।

रमा चौधुरी की प्रमुख नाट्यरचनाएं ये हैं - शंकरशंकर, कविकुलकोकिल, कविकुलकमल, कविकुलकुमुद, मेघमेदुरमेदिनीय, भारततात, भारताचार्य, भारतपथिक, देशदीप, पल्लीकमल। अन्तिम दो नाटकों, देशदीप और पल्लीकमल में सामाजिक दुःख-सुख की कहानी है। भारततात, भारताचार्य और भारतपथिक में क्रमशः महात्मागांधी, राष्ट्रपति राधाकृष्णन तथा राजा राममोहन राय की चरित गाथा है। कविकुलकोकिल और कविकुलकमल में कवि कालिदास के पूर्व एवं उत्तर जीवन की कथा कल्पित की गयी है। इसी प्रकार 'मेघमेदुरमेदिनीय' में मेघदूत में वर्णित यक्ष-यक्षी के पूर्व एवं शापमुक्ति के पश्चात् की सम्भावित जीवन-कथा है। शंकर-शंकर में आदि शंकराचार्य का जीवन है। इसके अतिरिक्त आपने तुलसीदास,

स्वामी अभेदानन्द तथा भगिनी निवेदिता पर भी रूपक लिखे हैं। अपने पति यतीन्द्र की तरह रमा चौधुरी में भी नाट्यलेखन का सराहनीय उत्साह है। पति के और अपने नाटकों के भी उन्होंने अभिनय कराये हैं, इससे संस्कृत भाषा का प्रचार हुआ है और उसके प्रति लोकप्रियता बढ़ी है। संस्कृत भाषा की यह सेवा उल्लेखनीय है। किन्तु ऐसा लगता है कि लेखिका ने भी पति की तरह सरकारी कृपा की अभिलाषा रखकर नाट्य का लेखन-कार्य किया है। इन्होंने राष्ट्रपति राधाकृष्णन् पर भारताचार्य नाटक उनके जीवनकाल में ही लिखा और अभिनय भी राष्ट्रपति भवन में इनके ही निर्देशन में १६६६ में हुआ। जिस अभिनय को राष्ट्रपति ने स्वयं सपरिवार देखा और उस पर पुरस्कार प्रदान किया।

दूसरी बात यतीन्द्रविमल और रमा चौधुरी की कृतियों में इतिहास की अनभिज्ञता या इतिहास की उपेक्षा है जो खटकने वाली बात है, जिसके कारण सारा कृतित्व ही गड्डमगड्ड हो जाता है और कोई सारभूत प्रभावान्विति नहीं बन पाती। यतीन्द्रविमल ने 'निष्किंचनयशोधर' में यशोधरा को गौतम बुद्ध द्वारा भिक्षुणी-संघ बनाने की अनुमति दिये जाने का उल्लेख किया है, यह बात इतिहास सम्मत नहीं है। गौतम बुद्ध के जीवन काल तक भिक्षु-संघ में स्त्रियों का प्रवेश नहीं हुआ था। इसी प्रकार रमाचौधुरी ने कालिदास के जीवन और उनके मेघदूत को आधार बनाकर जो अपने तीन नाटक लिखे हैं, यदि कोई उनको ही सत्य मान ले तो कालिदास के काव्यों का अध्ययन करने में उसे असमंजस की स्थिति का सामना करना पड़ेगा। कालिदास के युग में गुरुकुल की स्थिति विद्यमान थी, जहां छात्र गोचारण करते थे। 'कविकुलकोकिल' में रमाचौधुरी ने विद्यालय के अपने युग के सोंटापण्डित को उपस्थित कर दिया है। कालिदास को लकड़हारा बनाया है आदि आदि-यह सब वृत्त उनको रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत या ऋतुसंहार में क्या कहीं मिला है ? यदि नहीं मिला है तो ऐसी अनगढ़ कल्पनाओं से कालिदास के सारस्वत जीवन का उपहास नहीं करना चाहिए। 'मेघमेदुरमेदिनीय' में लेखिका ने मेघदूत के यक्ष-यक्षी के जीवन के पूर्ववृत्त तथा सन्देशानन्तर के जीवनवृत्त का जो चित्रण करना चाहा है, वह नितान्त बचकानापन है। हमें यह समझ लेना चाहिए कि 'यक्ष-यक्षी' केवल मेघदूत के जीवन-जगत् (संसार) में ही हैं, उससे न पूर्व में हैं और पर (बाद) में हैं, इस परिस्थिति का ठीक परिचय गीता के इस श्लोक से लेना चाहिए-

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।। (गीता २/२८)

जो कुछ मेघदूत में हम उस व्यक्तमध्य को ही देखें, न उसके पहले, न ही बाद में। शंकरशंकर नाटक में रमाचौधुरी ने सारा का सारा वृत्त 'शंकरदिग्विजय' महाकाव्य से लिया है। इस महाकाव्य में भी अनेक अंश श्रुत-परम्परा से कल्पित हैं। अतः रमा चौधुरी को नाटक लिखते समय शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्रभाष्य और उपनिषद् भाष्यों का अध्ययन भी करना चाहिए था। ब्रह्मविद्या गोपनीय विद्या है, सभी इसके अधिकारी नहीं होते, अतः

ब्रह्मतत्त्व का उपदेश अधिकारी शिष्य को ही दिया जाता है, न कि जैसा कुछ इस नाटक में उल्लेख है, गुरु गोविन्दपाद शंकर को आदेश देते हैं-

दिग्विजयं कुरु प्रचारय महिममयं ब्रह्मतत्त्वम् - सर्वमेव ब्रह्म।

वस्तुतः ऐसा आचार्य शंकर ने नहीं किया है, उन्होंने अन्य उपासनाओं, ईश्वरप्राप्ति के साधनों की अपेक्षा आत्मविद्या की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है, जिसको कोई विरल ही कर सकता है तथा जिसकी प्राप्ति से पुनः इस संसार में नहीं आना होता -

अनावृत्तिः शब्दात्, अनावृत्तिः शब्दात्।

(यह ऋषि वचन है, फिर से संसार में नहीं आना होगा, नहीं आना होगा)

वीरेन्द्रकुमार भट्टाचार्य (जन्म १९१७ ई.) केन्द्रीय शासकीय सेवा में रहे हैं। इन्होंने अंग्रेज़ी, बांग्ला और संस्कृत में समान रूप से पुस्तकें लिखी हैं। संस्कृत में एक दर्ज़न नाटकों की रचना की है, जिनमें पांच सुन्दर बन पड़े हैं- गीतगौराङ्ग (काव्यरूपक), शूर्पणखाभिक्षम् (काव्यरूपक), सिद्धार्थचरित (नाटक), शार्दूलशकट (नाटक), वेष्टनव्यायोग। अन्तिम दो नाटक वर्तमान प्राशासनिक व्यवस्था की त्रुटियों का निर्देशन करते है इसीलिए महत्त्वपूर्ण भी हैं। 'शार्दूलशकट' नाटक राष्ट्रीय परिवहन संस्थान के कर्मचारियों की समस्याओं और समाधानों का व्यावहारिक चित्रण है।

इसी प्रकार 'वेष्टनव्यायोग' में श्रमिकों द्वारा घेराव और तज्जन्य स्थिति का रोचक, गम्भीर ब्यौरा दिया गया है, नाट्यरूप में उसकी रोचकता बढ़ गयी है।

'गीतगौराङ्ग' काव्यरूपक वीरेन्द्र कुमार की महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें कुल ५ अंक और ३० दृश्य हैं। इन्होंने १९७४ ई. में इसकी रचना की थी। कृष्णभक्ति के भावावेश के साक्षात् अवतार गौराङ्ग महाप्रभु चैतन्य की जीवन-लीला का जीवन्त चित्रण इस गीतिनाटिका में संभव हुआ है। भक्ति और प्रेम के दिव्यभाव से समुल्लसित काव्य-छन्द विश्वमंगल के कृष्णकर्णामृत के पदों की स्मृति दिलाते हैं। फाल्गुन की पूर्णिमा के दिन विष्णुप्रिया अपने पति प्रभु चैतन्य का कीर्तन देखने को आकुल हैं, इस आकुलता के साथ उनको पति के साहचर्य के दिनों का स्मरण हो आता है, इस प्रसंग की ये पंक्तियां वैसे ही भाव को प्रत्यक्ष कर रही हैं -

मार्गशीर्षो जायते कनकधान्यं
सर्वसद्मसु विहितं नरैर्नवान्नम्
लभसे त्वमपि बहुधनं हृदयरमणं
कुरुषे च सुखशयनं निशि मया कान्त
श्रयामि तवाङ्कं विचित्रजल्पा
विभावरी याति मुहूर्तकल्पा

तदानीं प्रभो विष्णुप्रियाया निलये मातं स्वर्गदुर्लभमपि सुखम्।
इदानीं भक्तशरणवंचिताया हृदये जातं रौरवसुलभं दुःखम्।।

(अगहन में सुवर्ण-जैसी धान की बालियां पकती हैं, सभी घरों में अन्न का भण्डार भर जाता है। हृदयरमण! तुम भी बहुत धन प्राप्त करते हो और मेरे साथ रात में सुख-पूर्वक शयन करते हो। मैं तुम्हारी गोद में अनेक प्रकार की बातें करती हुई लेटी हूँ और रात्रि एक मुहूर्त-सी अत्यन्त छोटी होकर बीत जाती है। हे प्रभो, क्या बात थी कि उस समय विष्णुप्रिया के घर में स्वर्गदुर्लभ सुख तुमसे वंचित मेरे हृदय में नरक में मिलने वाला दुःख समाया हुआ है।)

महाराष्ट्र के रत्नागिरि जिले के **श्रीराम वेलणकर** (जन्म १९१५ ई.) ने सातवें दशक में एक दर्जन नाटकों की रचना की है, जिनमें कुछ तो सामाजिक हैं किन्तु उनके नाट्यशिल्प एवं कथावस्तु को सराहा नहीं जा सकता, फिर भी तीन नाटक उल्लेखनीय हैं और अच्छे बन पड़े हैं- 'रानी दुर्गावती' (१९६४ ई.) में गोडवाना की महारानी दुर्गावती का वीर चरित अंकित हुआ है, जिसने बादशाह अकबर से युद्ध किया था। 'स्वातन्त्र्यलक्ष्मी' में झांसी की महारानी लक्ष्मीबाई द्वारा ब्रिटिश राज्य सत्ता से स्वतंत्रता के युद्ध की कहानी है। 'छत्रपतिशिवराज' (१९७४ ई.) पांच अंकों का नाटक है, जो भारतीय इतिहास के प्रसिद्ध नायक शिवाजी के चरित्र को उजागर करता है। नाटक पाठ्य अधिक है, अभिनेय कम। छन्दों के विविध प्रयोगों से संवाद काव्यमय हो गये हैं। पहले दो नाटकों का रेडियो-प्रसारण भी हुआ है।

श्रीराम बेलणकर ने संवादों के माध्यम से देश और युग के अन्तः का दर्शन किया है। काव्य-रचना के क्षेत्र में जिस स्थिति को आजकल युगबोध कहा जाता है और जिसके लिए प्राचीन शब्दावली सम्यक् समाधि है, वेलणकर में वह बात पायी जाती है। इस प्रसंग में 'रानी दुर्गावती' के दो छन्द उद्धृत किये जाते हैं, पहले छन्द में प्रकृति-दर्शन के माध्यम से उन्होंने अपनी देशभक्ति प्रकट की है -

गोण्डानामविता पुराणविहितो विन्ध्याचलः संकटे
रेवा मातृपदस्थिता शुचिजला लीलारता प्रीतिदा।
अद्रिः सप्तपुटः सखा समरसः शश्वत् प्रजानां प्रिय-
स्ते रक्षन्त्वधुना गिरीशकृपया मत्प्राणहारैरपि।।

(पुराण-प्रसिद्ध विन्ध्याचल पर्वत संकटकाल में इस गोण्डवाना (देश) का रक्षक कहा गया है, माता के रूप में स्थित पवित्र जल वाली रेवा नदी चंचल गति से बहती हुई हमें प्रसन्नता प्रदान करती है। सप्तपुड़ा पहाड़ मित्र है, सदैव से प्रजा का एक समान प्रिय रहा है, ये सभी आज मेरे प्राणों की बलि लेकर भी भगवान् शिव की कृपा से हमारे देश की रक्षा करें।) दूसरे छन्द में कुर्सीधारी नेताओं के प्रति क्षोभ व्यक्त किया गया है-

नेतारो बहवो वसन्ति भुवने सत्तासनाधिष्ठिता
नित्यं सर्वजनोपदेशचतुराः स्वार्थार्जनैर्निर्जिताः।
त्यक्तासुर्विरला तु भूमितनया राज्ञीव दुर्गावती
तस्या जीवनमृत्युकाव्यरचितं स्फूर्तिप्रदं स्यादिह।।

(लोक में कुर्सी पर बैठने वाले सत्ताधारी नेता बहुत हैं, जो जनता को उपदेश देने में तो चतुर होते हैं, पर स्वयं अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए चिन्तित रहते हैं। धरती की पुत्री रानी दुर्गावती के समान देश के लिए अपने प्राण निछावर करने वाले तो पुनः विरल हैं। यहां मैंने उसी रानी के जीवन-मृत्यु की गाथा को लेकर काव्य की रचना की है जो ओजस्विता प्रदान करेगा।)

ऐसे ही जीवन और युगबोध से प्रेरित एक अंक का नाटक का. र. वैशम्पायन ने १९७० में लिखा, नाम है-'देशस्वातन्त्र्य-समरकाले राष्ट्रधर्मः'। छोटे से नाटक में अस्पृश्यता, गोरक्षा, न्याय-निषेध, स्त्री स्वातन्त्र्य आदि विषयों पर मार्मिक एवं रोचक प्रसंग उद्भावित किये गये हैं। जैसे चाय निषेध करने वाला चाय पीने का तो निषेध करता है किन्तु स्वयं पीने के लिए बोतल में मदिरा रखे है, आदि।

राष्ट्रपुरुष महर्षि दयानन्द सरस्वती पर कई काव्य नाटक लिखे गये हैं उनमें सत्यव्रत वेदविशारद का 'महर्षिचरितामृत' (१९६५ ई.) नाटक उल्लेखनीय है, अच्छा बन पड़ा है। कवि कालिदास के काव्य में आये पात्रों और उनके जीवन चरित को लेकर नाटक रचना की रुझान हिन्दी और संस्कृत दोनों में समान रूप से रही है जो अब तक जारी है। श्री कृष्णकुमार ने 'अस्ति कश्चिद् वाग्विशेषः' नाटक कालिदास और विद्योत्तमा की विवाह-सम्बन्धी जनश्रुति के आधार पर लिखा है जो उल्लेखनीय है। हरिनारायण दीक्षित का 'मेनकाविश्वामित्रम्' नाटक प्रशस्त कृति है। इस बीच इतिहास के एक अनकहे अध्याय को नाटक-रचना का विषय बनाया गया। द्वितीय शती ईस्वी में भारशिव नागकुल के सम्राट वीरसेन नाग ने कुषाणों को पराजित कर काशी और मथुरा पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था और इस विजय के उपलक्ष्य में उसने काशी में दस अश्वमेध यज्ञ किये थे। उसके दौहित्र-पुत्र वाकाटक प्रवसरसेन ने अपने ताम्रपत्रों में भारशिवनाग की इस महान विजय का उल्लेख किया है और लिखा है कि उन्होंने गंगा की धारा को स्वतंत्र कर दश अश्वमेध यज्ञ कर अवभृथ स्नान किया था। भारशिवनाग क्षत्रियों के इतिहास का पता पहली बार वीरसेन नाग की प्राप्त स्वर्णमुद्रा से चला और इसका श्रेय श्री जयचन्द्र विद्यालंकार को है। हिन्दी में तब इस ऐतिहासिक वृत्त को लेकर प्रसिद्ध नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'दशाश्वमेध' नाटक सन् १९५० ई. में लिखा था। संस्कृत नाटक लेखन की इस कालावधि में श्री हरिशंकर त्रिवेदी ने भी इस ऐतिहासिक वृत्त पर 'नागराजविजय' नाम से एक अंक का रूपक लिखा है जिससे यथासम्भव राष्ट्रीय भावना का बोध प्रकट होता है, पर उनकी कथावस्तु में इतिहास की घटनाओं का व्यतिक्रम खटकने वाली बात है। नागराज की निम्न

प्रतिज्ञा सामान्यरूप से उस युग के ऐतिहासिक घटना-पटल का परिचय है -

हित्वा स्वां विदिशामतिक्रमपरैः पद्मावतीमाश्रितैः
सद्यः कान्तिपुरीं तथा च मथुरामाक्रम्य मे पूर्वजैः।
या कीर्तिः समुपार्जितेन्दुभवने जेगीयमाना भृशं
सा स्थैर्यं कथमाप्नुयादविजिते देशाद्रुहां सञ्चये।।

(मेरे पूर्वज अपनी नगरी पद्मावती को छोड़कर आगे बढ़े, उन्होंने विदिशा को जीता, तदनन्तर शीघ्र कान्तिपुरी में संगठित हुए और मथुरा पर आक्रमण कर कुषाणों की विजय कर जो कीर्ति अर्जित की, इन्द्र के भवन में जिस कीर्ति का अनेकशः गान हो रहा है, उस कीर्ति को स्थिरता नहीं प्राप्त हो सकती है यदि देशद्रोहियों के समूह का दमन नहीं कर दिया जाता)।

त्रिवेदी ने ५ अंको में वर्तमान भारतगणराज की स्थापना के घटनावृत्त को लेकर भी 'गणाभ्युदय' नाटक की रचना की है, जो उनके वर्तमान-बोध का परिचायक है।

इसी प्रकार **श्री सुब्बाराम** ने भी एक अनकहे प्रसंग को नाटक का विषय बनाया है, इनकी कृति का नाम है-'मेघोदय'। कथा है कि राजा लोमपाद के राज्य में वृष्टि नहीं हो रही थी, वृष्टि तब होती जब विभाण्ड मुनि के पुत्र ब्रह्मचारी ऋष्यभृंग उनके राज्य में आते। ऋषि के शाप के भय से वेश्यायें उनको लाने में असमर्थ रहीं। शालि गोपिकायें किसी प्रकार उनको ले आयीं। ऋष्यश्रृंग ने नारी को पहले कभी देखा नहीं था, नारी के प्रथम परिचय की अनुभूति उनको कैसी हुई, नाटक का यह अतिशय रोचक प्रसंग है। शिल्प, संवाद और भाषा की दृष्टि से मेघोदय एक अच्छी रचना है।

राष्ट्रीयता बोध के प्रसंग में **श्री विश्वनाथ केशव छत्रे** का नाटक 'अपूर्वशान्तिसंग्रामः' (१९२७ ई.) प्रेरक कृति है। नाटक एक अंक का है, इसमें गांधीजी की दाण्डी-यात्रा का प्रसंग है जिसमें उन्होंने नमक-क़ानून को तोड़ा था, कथावस्तु के नायक भाऊराव वकील हैं, जिन्होंने गांधीजी के सत्याग्रह में सम्मिलित होने के लिए अपनी वकालत छोड़ दी। भाऊराव को जेल जाना पड़ा, जेल से लौटने पर उन्होंने गांधीजी के सत्याग्रह संग्राम की पूरी जागृति गांववालों में पैदा की, जिससे हमें स्वतंत्रता प्राप्त होनी थी-

अन्यायं प्रतिरोद्धुमुज्ज्वलधिया धीराग्रणीगान्धिना
सत्याधिष्ठितसंगरस्त्वभिनवो हिंसाविहीनः कृतः।
साश्चर्यं जगतेक्षितः स सफलस्तं मार्गमार्ता जना
धैर्येणानुसरन्त्वतो विजयतां ख्यातो महात्मा चिरम्।।

(धीरों में अग्रणी उज्ज्वल-बुद्धि गान्धी ने अन्याय का विरोध करने के लिए हिंसा-रहित सत्य पर आश्रित एक नया युद्ध का आरम्भ किया। संसार ने आश्चर्य के साथ इस युद्ध की सफलता को देखा। जो पीड़ित हैं, वे धैर्य के साथ इस अहिंसात्मक सत्याग्रह युद्ध का अनुसरण करें। विख्यात महात्मा गांधी सदैव विजयी हों।)

नाटकों के नूतन शिल्प और आधुनिक चिन्तन की दृष्टि से गोपालशास्त्री दर्शन-केसरी के तीन नाटक संस्कृत-नाट्य साहित्य की श्रीवृद्धि करते हैं, इनके नाम हैं- पाणिनीय, नारी-जागरण, गोमहिमाभिनय। इनमें पहले नाटक का विषय पाणिनि का अष्टाध्यायी ग्रन्थ है और कृतिकार ने इसमें ज्ञान-विज्ञान का परिचय कराया है।

बिहार निवासी **विश्वनाथ मिश्र** ने सातवें दशक में 'कलिकौतुक' 'कवि-सम्मेलन'- नाम से दो प्रहसन और वामनविजय नाम से एक अंक का रूपक लिखा है जो अच्छे बन पड़े हैं। कवि सम्मेलन में विविध भाषाओं की मिश्र शब्दावली का प्रयोग परिहास की दृष्टि से किया गया है। परीक्षार्थी का कविता पाठ है-

पेपर जहां आउट नहीं, नहीं नकलस्य साधनम्।
छायास्तत्र न तिष्ठेषुः स्थानं पिछड़ा तदेव हि।।

(जहां पर प्रश्न पत्र पहले ही न मालूम हो जाते हों, और नकल करने के साधन न हों, वहां परीक्षार्थियों की छाया भी नहीं पड़नी चाहिए। वह बहुत पिछड़ा स्थान है।)

प्रहसनों की परम्परा में श्री गजेन्द्रशंकर लालशंकर पण्ड्या का 'कः श्रेयान्' (१९७६) प्रहसन धूर्तपुर पाठशाला के आचार्य शौनक की बेतुकी बातों का नाटकीय निबन्धन है, जो मनोरंजन के साथ धन-लोभ और घूस का भण्डाफोड़ करता है।

इस काल के अन्य नाटककार और उनकी उल्लेखनीय कृतियां इस प्रकार हैं- **श्री गजानन बालकृष्ण पलसुले** ने १९६१ में भारत की एकात्मता विषय को लेकर 'समानमस्तु मे मनः' नामक तीन अंकों का नाटक लिखा। **श्री विष्णुदत्त त्रिपाठी** ने पौराणिक संदर्भों को लेकर 'अनसूयाचरित' नाटक १९८७ में लिखा। **शिवसागर त्रिपाठी** ने 'प्राणाहुति' नाटक की रचना १९७७ में की। नाटक देशभक्त मीरमकबूल के बलिदान की कहानी कहता है, जो १९४७ में पाकिस्तान द्वारा कश्मीर पर आक्रमण किये जाने पर बारामूला के निकट पाकिस्तानी सैनिकों द्वारा मारे गये। **वेलादेवी** ने १९७६ में 'नासिकेतश्चरित' नाटक लिखा। **रेवाप्रसाद** द्विवेदी ने १८७६ में शेक्सपीयर के रोमियो जूलियट पर आधारित 'यूथिका' नाटिका लिखी। वेंकटरत्न ने 'इन्दिराविजय' नाटक १९७२ में लिखा। हजारीलाल शर्मा का 'हकीकत राय' नाटक शाहजहाँ की न्याय-निष्ठा को उजागर करता है। **ओगेटि परीक्षित शर्मा** ने संस्कृतभाषा के प्रयोग का व्यावहारिक पक्ष लेकर नये अभिनय-शिल्प के साथ छोटे-बड़े २७ नाटक लिखे हैं जो 'परीक्षिन्नाटकचक्रम्' के नाम से प्रकाशित हैं। (१९८३)। **भवानीशंकर त्रिवेदी** का 'मोक्षमूलरवैदुष्यम्' १९८१ **वीणापाणि पाटनी** का 'मधुरामलम्' (१९८६), **शिवप्रसाद भारद्वाज** का 'त्रिपत्री' एकांकी संग्रह (१९८५) तथा **कपिलदेव द्विवेदी** का सामाजिक नाटक 'परिवर्तन' अच्छे रूपकों में है। **हरिदत्त शर्मा** के तीन एकांकी उनके 'त्रिपथगा' संकलन में संगृहीत हैं। शर्माजी ने अपने एकांकियों में वर्तमान समस्याओं का प्रस्तुतीकरण किया है। एकांकियों में पात्रों की संख्या अधिक है जो अभिनय की दृष्टि से चिन्तनीय है। कुछ रचनाकारों ने अपनी नाट्यकृतियों में नाट्यशिल्प

को ही अधिक उजागर करना चाहा है उनमें हैं-'सीताहरणम्' के लेखक कालूरि हनुमन्तराव (हैदराबाद), 'कृतार्थकौशिकम्' के रचयिता श्रीकृष्ण जोशी, दिल्ली विश्वविद्यालय के कृष्णलाल का 'चमत्कारः' (नवलघु रूपकों का संग्रह) तथा मिथिलेश कुमारी मिश्रा की 'आम्रपाली' नाटिका, दोनों में भी नाट्यशिल्प की नवीनता झलकती है।

संस्कृत में अच्छे रेडियो रूपक (ध्वनिरूपक) भी लिखे गये हैं। पीछे श्रीराम वेलणकर के रेडियो रूपकों की चर्चा हुई है। राजस्थान के **श्री कलानाथ शास्त्री** ने उत्कृष्ट ध्वनिरूपकों की रचना की है। उनके 'पृथ्वीराज विजयः' तथा 'प्रतापसिंहीयम्' शिल्पसंवाद, प्रभावान्विति की दृष्टि से श्रेष्ठ रेडियो रूपक हैं। राणा प्रताप के साथ 'सिंह' पद का प्रयोग अवश्य चिन्त्य है, यतः इतिहासकार उनके नाम के साथ 'सिंह' नहीं लिखते। **रमाकान्त शुक्ल** ने कच-देवयानी के प्रेम-प्रसंग को लेकर 'अभिशापम्' नाम के रेडियो एकांकी १६८५ में लिखा। देवयानी की इसी पौराणिक कथा को लेकर सातवें दशक में रामलिंग शास्त्री ने 'देवयानी' रेडियो रूपक लिखा था जिसमें कथा का विस्तार अधिक है, ऐसे ही शास्त्रीजी का दूसरा रेडियो रूपक 'यामिनी' है जिनमें महाकवि विल्हण और उनकी प्रेयसी राजकन्या यामिनी की प्रेम-कहानी है। आकाशवाणी केन्द्रों की मांग पर रेडियो रूपक लिखे जाते रहते हैं, नाटक को ध्वनि नाट्य-विधा के अनुसार परिवर्तित कर देना ही उसकी विशेषता है, शेष कथावस्तु, संवाद आदि का कौशल कवि की प्रतिभा पर ही आश्रित होता है।

वैज्ञानिकों की अन्तरिक्ष-यात्रा को लेकर भी संस्कृत में एकांकी रूपक एवं ध्वनिरूपक लिखे गये हैं। बहुत पहले १६६६ में प्रयाग से प्रकाशित 'संगमनी' त्रैमासिक पत्रिका वर्ष २ अंक -३-४ में ऐसा एक रूपक प्रकाशित है जो अनूदित है, शीर्षक है-'एकविंशति शताब्दी-द्वाविंशति शताब्दी'। इसके लेखक हैं-**भगवान दास सफाड़िया,** मूल रूपक हिन्दी में है, संस्कृत अनुवाद प्रेमशंकर शास्त्री ने किया है। इस रूपक में भविष्य की कई कल्पनायें की गई हैं, जैसे २०६० ई. में मनुष्य शुक्र ग्रह पर विचरण करेगा, दूसरे नक्षत्र लोक में भी अनेक कार्यक्रम होंगे। मनुष्य की परमायु ३० वर्ष होगी। इसमें एक प्रसंग है, जिसमें नक्षत्रयात्री ज्ञानव्रत अपनी सहयात्री चित्रा से प्रेम करने लगता है। जब वह रासरंग करना चाहता है तब पता चलता है कि वह प्लास्टिक की बनी रोबेट है। इसी संगमनी के अंकों में इनका एक दूसरा एकांकी है-'ऐतिहासिकी परम्परा'। इसमें लेखक ने बदलती संस्कृति पर तीखा व्यंग्य किया है।

काव्यात्मक नाटिकाएं भी लिखी गयी हैं। अहमदाबाद के प्राचार्य **वासुदेव पाठक** ने कई लघु नाटकों का प्रणयन किया है। उनमें उनकी काव्यात्मकता नृत्य-नाटिका 'आराधना' अपने नये अभिनय-प्रयोग से आकृष्ट करती है। ऐसे रूपक कौशिकी वृत्ति के माने जाते हैं, जो नृत्य, विलास और गीतप्रधान होते हैं। इन रूपकों में 'हल्लीश' ऐसी ही विधा का रूपक है। इसी का नूतन शिल्प 'आराधना' में है।

कैशिकी वृत्ति के ऐसे ही नृत्य, विलास, गीतमयात्मक प्रयोग को लेकर कथावस्तु में नाटक भेद की उदात्त कहानी संजोते हुए तथा उसे भारतीवृत्ति से समन्वित कर **स्व. ब्रह्मदेव**

शास्त्री ने काव्य नाटिका का एक नया रूप प्रस्तुत किया, नवें दशक में उन्होंने ऐसी दो नाटिकायें लिखी हैं - एक है 'वेला', दूसरी है 'सावित्री', कवि की प्रतिभा से चमत्कृत ये काव्य नाटिकाएं संस्कृत नाट्य साहित्य के लिए नयी समृद्धि हैं और इनसे संस्कृत नाट्य-लेखन का स्वतंत्र अस्तित्व सामने आता है। इनमें संस्कृत नाट्य-प्रणयन की मूल वृत्ति काम (श्रृंगार) भाव की उदात्त संयोजना है तथा ये नूतन शिल्प भाषा और भाव की सुषमा से मंडित है। यहां इनका विस्तृत परिचय दिया जा रहा है।

'वेला' की कथावस्तु एक कवि-गोष्ठी की कहानी है। नाटिका में कुल चार अंक हैं, कवि गोष्ठी अन्तिम अंक में सम्पन्न होती है जिसका विषय कवि वाल्मीकि हैं। यहां कवि का वाल्मीकि से अभिप्राय उनकी मानस स्थिति से है जिसके प्रवेग से उनके कण्ठ से कवि वाणी फूट पड़ी थी। क्रौंञ्ची का अपने क्रौञ्च के प्रति विरह विकल करुण विलाप सुनकर वाल्मीकि का हृदय कांप उठा। उस कम्पन से सरस्वती की धारा फूट पड़ी, किन्तु यह कम्पन केवल क्रौंञ्ची के करुण-विलाप से ही नहीं था, कवि के हृदय में कम्पन का यह ज्वालामुखी पहले से विद्यमान था। क्रौंञ्ची का विलाप छोटी सी चिनगारी बनकर उस कंपन का स्पर्श मात्र करता है जिसके स्पर्श से रामकथा की कल्लोलिनी युग-युग के लिए प्रवाहित हो उठती है। क्रौंञ्ची का रुदन सुनने के अनन्तर ही वाल्मीकि को हा राम! हा राम! का विलाप सुनायी पड़ता है, और कवि को ज्ञात हो ही जाता है कि यह पवित्र रुदन सीता का है -

किन्तु किमेतत् ?
कैषा आक्रन्दति मया सह
तमसा-तटे हंसिनी सा।
हा राम हा राम इति रवति धरा
प्रद्रवति ग्रावा प्रत्यरण्ये।।
यदि चेत् सीता पुनीता
वनमुपगता रामेण निर्वासिता।।

कविगोष्ठी की यह अन्तिम कविता होती है, अर्थात् हृदय के महत्तम अभाव (वियोग से उत्पन्न वेदना) को दूर करने के लिए भाव की पवित्र सृष्टि ही काव्य की रचना है, जिस काव्य में न जरा (जीर्ण होने का भाव) है, न विरह है, न अभिशाप है, न विस्मृति है, रात्रि-विहीन नीलाम्बर देवलोक है-

अत्र नीलाम्बरा भाति
देवो भाति अरात्रकः।
नात्र जरा, न विरहः
नाभिशापो न विस्मृतिः।।

इस काव्य-संगीत के साथ ही नाटिका समाप्त हो जाती है, नाटिका का उद्देश्य अमर काव्य की कहानी और भारत की दिव्य काव्य-वाणियों का कथात्मक परिचय देना था। काव्य के सम्बन्ध में (अर्थात् सृष्टि रूपी काव्य के सम्बन्ध में) उपनिषद् के ऋषि ने भी यही बात कही है -

पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।

अर्थात् देवता के काव्य को देखो, न मरता है, न जीर्ण होता है, सदैव नित्य-नवीन दिखायी पड़ता है।

इस काव्यगोष्ठी के अभिनय में ब्रह्मदेव शास्त्री ने भारत महाद्वीप के साथ अन्यान्य द्वीपों की दिव्य काव्य-वाणियों के काव्य-पाठ का रोचक संयोजन किया है। यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि नाटिका की कहानी का स्थान हिमशिखर है। उसके पात्र यक्ष, किन्नर, साम-गायक तथा पृथ्वी के कुछ द्वीपों के प्रतीक पात्र हैं और दिवोदास, पृथ्वीराज, कवि-जनवल्लभ इनके मुख्य पात्रों में हैं। पात्र तो नितान्त पौराणिक हैं और काव्य पाठ में बातें आज तक की कही गयी हैं इसीलिए चमत्कारजनक हैं। वाल्मीकि का कथा-काव्य पाठ तो अंत में होता है। उसके पूर्व इसी भाव को कई नाना कल्पनाओं में उपस्थापित करने के लिए नाटककार ने जिन-जिन कवियों, कवयित्रियों और बाल कवियों से काव्य-पाठ कराये हैं उनसे इस काव्य-पाठ में कई द्वीपों का प्रतिनिधित्व हो जाता है। हम इन कविताओं में वैदिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, प्राकृतिक एवं मानवीय संवेदनाओं के अद्भुत सामंजस्य का दर्शन करते हैं, स्वर और संगीत के साथ मानव के भावलोक की कहानी कहती हुई यह नाटिका हमें भावों में डुबाती और विचारों में उठाती चलती है। निदर्शन के रूप में दो तीन काव्य-पाठ यहां दिये जाते हैं -

पहला काव्य-पाठ किशोर वय यक्षकवि वामदेव का है-

मनुरभवं सूर्यश्च वरुणे मरुत्वान्।
वसिष्ठश्चेन्द्रसकाशः बृहतीवाक् बृहस्पतिः।।

(मैं ही मनु था, सूर्य, वरुण और मरुत्वान् था। मैं ही वसिष्ठ था। मैं इन्द्र के समान हूँ, विराट वाणी का प्रवर्तयिता बृहस्पति हूँ)। इसके बाद बालकिन्नर कवि वेणु का कविता-पाठ है, उसकी कविता का विषय है-सनातन काम-राग का अश्वत्थ वृक्ष-

सुदूरे मूर्च्छति वेणुः अदूरे मायावी स्थितः।
विदिशा मे दिशा भाति रजा पृथ्वी मनोहरा।।
सुदूरे मूर्च्छति वेणुः मायावी तु इहागताः।
मृगो भांति शरो भाति दृशि क्षणं हृदि क्षणम्।।
सुदूरे मूर्च्छति वेणुः वयमत्र विमोहिताः।
ऊर्ध्वो भाति अधो भाति अश्वत्थः स सनातनः।।

(वंशी तो दूर बज रही है, मोहक मायावी निकट ही स्थित है। मेरे सामने कोई दिक् नहीं है (अथवा दिशाएं उलटी प्रतीत हो रही हैं।) धूल ही मनोहर पृथ्वी है। वंशी दूर बज रही है, मायावी सामने है (भाव है कि मोहका आकर्षण किसी परोक्ष प्रेरणा से उत्पन्न है।) हरिण सा चंचल नयन सामने है वह क्षण भर के लिए आंख में आता है और चंचल नयन से छूटा बाण दूसरे क्षण हृदय को बेध देता है। अनुराग की वंशी कहां बज रही है और हम यहां विमोहित हैं। यह राज यह मोह ऊपर-नीचे सर्वत्र छाया हुआ है। काम-राग का यह विस्तार सनातन अश्वत्थ वृक्ष है।)

उत्तर सागर तट से आयी लीना अप्सरा के काव्यपाठ की कुछ पंक्तियां हैं-

सूर्य आसीत् मम पिता। बाल्ये मां विससर्ज सः।
तीर्थयात्रामुपाक्रमत्।।
तुषारधवला माता। स्वाङ्के मां पर्यपालयत्।
सागरेण परावृता।।
षण्मासान्तरे सहसा। उषागात्री दिशा बभौ।
आकाशश्चारुणोऽभवत्।।
रक्ताम्बरः सुदिव्यांगः। गंगाजलपुटीकृतः।
पिता मे पर्यवर्तत।।

कविता वैदिक गायत्री छन्द में है। ध्रुव प्रदेश में छह महीने के अन्तराल से सूर्य के पूर्ण दर्शन होते हैं, इसी भाव से प्रेरित यह कविता है। भाव है-सूर्य मेरा पिता था, उसने जन्म देकर मुझे त्याग दिया और तीर्थयात्रा में चला गया। तुषार से धवल वर्ण हुई दुःखी समुद्र से घिरी हुई माता ने अपनी गोद में लेकर मेरा पालन किया। छह महीने के बाद सहसा उषा के उदय से दिशा शोभित हुई और आकाश लाल हुआ। तब लाल वस्त्र पहने सुन्दर दिव्य शरीर गंगा जल से नहाकर पवित्र मेरा पिता सूर्य लौटा।

कोरिया से आयी काया कवयित्री का काव्य-पाठ अपने भाव-बोध में बृहत्तर भारत की कल्पना प्रकट करता है -

अहन्तु भारतपुत्री
गयानगरीराज्यकन्या!
सम्यक् स्मरामि जन्मान्तरकथाम् -
एकदा तरलतारुण्ये
तरुणवेलानामपोतोपरि
सेवकसैनिकाऽभिभावकसहाया
प्रवसिता स्म समुद्रशोभासमाकर्षिता हर्षिता च।

तदैवेकेन देवोपमेन तरुणेन
वयमन्यपोतोपरि उद्धृताः सन्तः
समुत्तरमवगाहन्तः कोरिया-
तटेऽवतरिताः।
तत्र ते मां राजकन्यामिवाभिनन्द्य
स्नेहेन राजसिंहासनोपरि प्रतिष्ठापितवन्तः।
यद्यपि इयम्मे जन्मान्तरकथा, तथापि अद्यापि
दीप्यते काया गयापर्याया कोरियाप्रायद्वीपे।

(मैं भली भांति अपने जन्मान्तर का स्मरण कर रही हूँ, मैं भारत की पुत्री गयानगरी की राजकन्या थी। एक बार तरुणाई की चंचलता में समुद्र की शोभा से आकृष्ट होकर प्रसन्नचित्त वरुणवेला नामक पोत में सेवक-सैनिकों के साथ सवार होकर समुद्र-यात्रा पर निकल पड़ी। (समुद्र में तूफान आ गया और पोत डूबने-डूबने को हुआ) तभी एक देवोपम तरुण ने हम सब को एक दूसरे पोत पर बैठा दिया, उत्तर की ओर अवगाहन करते हुए हम कोरिया के तट पर उतर पड़े। वहां पर सबने राजकुमारी के रूप में मेरा अभिनन्दन किया, और स्नेह से राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित कर दिया। यद्यपि यह मेरी जमान्तर की कहानी है, तथापि आज भी गया की पर्याय काया कोरिया प्रायद्वीप में प्रकाशित हो रही है) मदिरा कवयित्री की निम्न सूक्ति भी पुराने भाव को नया पल्लवन प्रदान करती है-

धन्यं ते छविलोचनं पीयूष-विष-मदिरम्।
उज्जीवति मृत्युमेति मूर्च्छतीव समीक्षितः।।

(शोभा से भरी तेरी आंख धन्य है, यह अमृत और विष का एकत्र समन्वय है, जब तुम आंख खोलकर देखती हो तो मृत्यु (मूर्च्छा) आ जाती है, पलकें मूंदती हो तभी वह देखी जा सकती है।)

पक्षियों और किन्नरियों का उलटा गीत गायन भी निबद्ध किया गया है, जो काव्य-पाठ में नयी रोचकता लाता है, जैसे -

बपि रे संरमरा, संरमरा।
(पिब रे रामरसम् रामरसम्।)
रेदिम, वमेत्व मे मणर्वार्त्रिने दीमुकौ मे योनयन।
(मदिरे, त्वमेव मे नेत्रनिर्वाणम्। कौमुदी मे नयनयोः।)

मुख्य विधेय नाटिका का चतुर्थ अंक ही है, प्रथम, द्वितीय और तृतीय अंक इस चतुर्थ अंक की अवतारणा की भूमिका नहीं निभाते। यदि वे न भी हों तो चतुर्थ अंक की कथावस्तु में कोई न्यूनता नहीं आती। पहले अंक में कैलाश शिखर के परिसर में ऋषि का

दृश्य है जहां होम और तर्पण होता है। दूसरे अंक में अभिशापित यज्ञ तडाग की कल्पना की गयी है जहां पहुंचने पर दिवोदास, योद्धा पृथ्वीराज ओर कवि जनवल्लभ के मानस के पूर्वजन्म की दिव्य स्मृतियां जाग उठती हैं। तीसरे अंक में संगीतिका समारम्भ है, जिसमें कथक, ओडिसी, भरत नाट्य और भाव-नाट्य का कुशल प्रदर्शन होता है। सम्पूर्ण नाटिका संगीत और रागानुराग के भावों से ओतप्रोत है। कवि की भाषा में वैदिक, लौकिक और अद्यतन लौकिक संस्कृत के कुशल प्रयोग का चमत्कार उसकी प्रतिभा को चमत्कृत करता है।

कवि की दूसरी नाटिका 'सावित्री' है। पुराण प्रसिद्ध सावित्री-सत्यवान् की कथा को लेकर रचित यह काव्य-नाटिका चार अंकों में निबद्ध है। महाभारत का यम-सावित्री संवाद इस रचना का मूल आधार है, पर लेखक ने इस कथा में दो अपने काल्पनिक संदर्भों से अधिक रोचक और आश्चर्य भरे कथानक को बुद्धि-संगत बना दिया है। कल्पित संदर्भों के साथ कथावस्तु का विस्तार इस प्रकार है- पहले अंक में असुरों द्वारा अणु विस्फोट होता है, उससे व्याकुल होकर सावित्री और सत्यवान् के माता-पिता उनकी खोज ऋभु वन में करने लगते हैं। दूसरे अंक में सावित्री मूर्च्छित सत्यवान् के लिए विलाप कर रही है, उसी समय शुक्राचार्य से अमृत संजीवनी विद्या सीखकर बृहस्पति पुत्र कच आकाश मार्ग से वहां अवतरण करता है। सावित्री को देखकर उसे अपनी देवयानी की याद आती है जिसे छोड़कर वह चला आया है, उस परिदेवना में कुछ क्षण वह सावित्री के साथ करुणाविगलित होता है। पुनः अपनी अमृतविद्या से सत्यवान् को जीवित करने का प्रयास करता है, पर कर नहीं पाता, उस अमृतमंत्र की दीक्षा सावित्री को देता है, जिसका प्रयोग कर वह सत्यवान् को जीवित कर लेगी। यहां पर कच-देवयानी के प्रसंग की उद्भावना कर लेखक ने कथा को अधिक संवेदनशील बना दिया है। तीसरे अंक में असुरों का आपानक गृह, उनके द्वारा ऋषियों के तपोवन और देवनगर का आत्मसात् होना आदि दृश्य है, इसी बीच कच के आगमन से देवों में उल्लास आ जाता है। देवगण हिमशिखर पर जाते हैं। सावित्री मानस तट पर अमृत विद्या की साधना करने आ जाती है, त्रियाम रात्रिभर सावित्री को अमृत विद्या की सिद्धि के लिए शेष है। इन्द्र ने कहा, कच की विद्या देवयानी के शाप से निष्फल हो गयी, सावित्री यदि अमृत विद्या की सिद्धि प्राप्त कर लेती है तो उसी से देवों का कल्याण होगा, अन्य देवों ने भी कहा कि सावित्री सामान्य स्त्री नहीं है। यम ने कहा, मैं तो सत्यवान् को लेने जा रहा हूँ लेकिन यदि सावित्री की अमृत साधना से देवकार्य सिद्ध होता है तो मैं इसका सहायक बनूंगा -

तदा परीक्षाऽवसरोऽयं यमस्य च सावित्र्याः।
आशासे साधयिष्यामि भवतामभीप्सितम्।।

(अब यम और सावित्री के लिए यह परीक्षा का अवसर है, आशा करता हूँ कि मैं आप लोगों का अभीष्ट सिद्ध करूंगा।)

चौथे अंक का कथा विन्यास विशिष्ट है, कविकल्पना ने उसे बुद्धि-सम्मत तथा भाव-प्रवण दोनों बना दिया है। सावित्री स्वप्नावस्था में सत्यवान् की आत्मा को लेकर जाते हुए यम का पीछा करती है, इस अनुसरण में प्रेम-जगत् के अतीत-अनागत के कई कथादृश्य सामने आ जाते हैं जैसे वे चिरन्तन हैं। अमृतविद्या की साधना करती हुई जब सावित्री सिद्धि के निकट आती है तब स्वप्नावस्था मे प्रवेश कर जाती है। यम जब वहां सत्यवान् को लेने पहुंचा तो वहां अप्सराओं का नृत्य और गीत हो रहा था, जिसमें मृत्यु से दूर अमृत-देश की जयकार हो रही थी, जैसे-

मृत्युपरे अमृतदेशमभिजाने, अभिजाने।
विरहविकलस्वरोन्मेषमभिजाने, अभिजाने।

(मृत्यु से बहुत दूर अमृत देश को मैं जानती हूँ, जानती हूँ, विरह से विकल कण्ठ के स्वरोन्मेष कैसे होते हैं, जानती हूँ, जानती हूँ।) यम ने सावित्री को वरदान भी ऐसा दिया जिसमें सत्यवान् के जीवित होने का ही विधान था सावित्री ने वर मांगा था-

वरं यद् मया वरणीयः
यातु मे पितृकुलं शीघ्रं शतसन्ततिकुलायकम्।
सत्यवता सह मे भातु औरसपुत्रशतं भुवि।।
यमः। तथास्तु सावित्रि, मान्यथा गतिर्मे तवाग्रे।

(मेरे द्वारा वरणीय वर यह है - मेरा पितृकुल शीघ्र ही सौ सन्ततियों का निवास बन जाये। और सत्यवान् के साथ मैं पृथ्वी पर सौ पुत्रों से शोभित होऊँ। यम ने कहा- सावित्री, ऐसा ही हो, तुम्हारे सामने मेरी दूसरी गति नहीं है।)

वस्तुतः सावित्री के अमृत तप से यम किंकर्त्तव्यविमूढ़ होता जा रहा है। ये सभी घटनाएं स्वप्न में घट रही हैं। सावित्री लौटी नहीं, यम के पीछे चली जा रही है, यम के पाश में सत्यवान् की आत्मा है। आगे गहन नीला अन्धकार था, सहसा आकाश में पाटल प्रकाश फूट पड़ा, यह प्रकाश ऐसे ही लगा जैसे शिप्रा तट पर महाकाल की उज्जयिनी नगरी हो। सावित्री और यम दोनों दिव्यदृष्टि से मुक्त हो जाते हैं। आगे कवि अपनी मधुर कल्पना में रागानुराग के अतीत अनागत के कई दृश्य ले आता है, ये दृश्य प्रकाश की सहायता से ही अभिनेय हो सकते हैं जो 'छाया नाटक' के रूप हैं। पर हमारे मन और बुद्धि को अभिभूत कर लेते हैं भाव से और विचार से। ये दृश्य हैं जैसे-समुद्रमन्थन से निकल रहे हैं उर्वशी और धन्वन्तरि, विषपान से मत्तलोचन शिव हैं, वहीं सप्तर्षि तप कर रहे हैं, गंगा कल-कल करती हुई नीचे प्रवाहित हो रही हैं। क्रमशः अगस्त के साथ लोपामुद्रा, परशु के साथ जामदग्न्य, राम-सीता, द्रौपदी पाण्डव, कृष्ण का वेणु वादन और मूर्च्छित राधा, बाणासुर के सौधशिखर में उषा-अनिरुद्ध, ग्रीक कवि आरफियस्, विलास कक्ष से यशोधरा को छोड़कर निकलते कुमार गौतम, इसके अनन्तर रामगिरि पर निर्वासित यक्ष के रूप में

कालिदास दिखायी पड़ते हैं। तब तक निशावसान ब्रह्मवेला का समय हो जाता है, पार्वती मानस तट पर स्नान करने आती हैं। सावित्री भी प्रत्यूषवेला देखकर मानस तट पर लौटना चाहती हैं, उस समय यम अपने पाश को देखता है तो पाश भार-विहीन है, सत्यवान् की आत्मा विमुक्त होकर अपने शरीर में लौट आयी है। मानस तट पर सावित्री की समाधि टूट जाती है। सत्यवान् उठकर बैठ जाता है। यह सावित्री से पूछता है कि हम इस समय कहां पर हैं। कच आकर सावित्री-सत्यवान् का अभिनन्दन करता है, आकाश में शंखनाद और अप्सरागीति सुनाई पड़ती हैं। इस गीति में स्वदेश के गौरव का ही गान है -

कालिन्दीपरिरम्भा सुरसरिता विश्रमा शाम्भवी निर्झरणी।
रामकृष्णबुद्धधरा धर्मपरा शान्तिस्वरा सुरसभृता अवनी।

गीति के साथ नाटिका समाप्त होती है। काव्य-नाटिका न केवल प्रबन्धकल्पना में अभिनव है वरंच उसके संवाद सृष्टि-दर्शन और मनुष्य के राग को एक कर मनोरम वाणी में दर्शाती हैं। एक उदाहरण दिया जा रहा है-

यमः **जायते मे समाधानम्, सावित्रि**
परिज्ञाता ते प्रसंख्यानसिद्धिः।
सुलोचने, पश्यतु तावद् अदूरे काल-विवरे
तद्गर्गरसागरमन्थनम् समुज्झितघनम्।

सावित्री **कथं विस्मयावतरणमिव मे नयने**
अहो, सिन्धुतलात् निःसृता सद्यःस्नाता उर्वशी।
शृणोमि तस्या नूपुरक्वणितम्।
विद्युल्लेखेव कति विभाति सा तटांकिता तत्र।

यमः **तत्र अवतरति पार्वती मानस-तटे**
उपगता तस्याः स्नानवेला।
अपि च वितरति उषा स्वर्णरेखाः।

(यम ने कहा-मेरा समाधान हो गया, तुम्हारी भावसिद्धि प्रकट हो गयी सुलोचने! देखो निकट ही काल के विवर में बादल उठ रहे हैं, सागर का गर्गर मन्थन हो रहा है। सावित्री कहती है-क्या मेरी आंख में विस्मय का अवतरण जैसा हो रहा है ! अहो सिन्धुतल से तुरन्त नहायी उर्वशी निकल रही है! उसके नूपुर का क्वणित सुन रही हूं। सिन्धुतट पर वह बिजली की लेखा के समान कितने प्रकार से शोभित है। नाटिका की समाप्ति में यम कहते हैं-वहां मानस तट पर पार्वती आ रही हैं। उनकी स्नानबेला उपस्थित है उषा अपनी सुनहली रेखाओं का विस्तार कर रही है।)

पार्वती हों या सावित्री नारी की महान् शक्ति उनमें निहित है, वही अमृत है, कच की अमृतविद्या देवयानी (नारी) के अभिशाप से ही कुंठित होती है, तब वह उस अमृत विद्या का उपदेश सावित्री को देकर उसे उज्जीवित या सार्थक करता है, कच को सावित्री के रूप में मूर्तिमान् अमृतविद्या के दर्शन होते हैं, नाटिका के कथानक में भी सावित्री की अमृत-साधना ही देवों की विजय का कारण बनती है, इस सन्दर्भ में कच के उद्गार इसी सृष्टि दर्शन को प्रकट करते हैं जैसे-

त्वमेव हि आद्या सन्ध्या सपर्या, त्वमेव समिधा, वेदविधिस्त्वमेव।
त्वमेव सा मे विचितिः सुपर्णा त्वमेव अर्चिश्च शिखा तुरीया।
त्वमेव मे विद्या तत् सचित्रा, श्रद्धाश्रिता अमृता संवित्-श्रीः।
श्रुणु मे अभिहिताम् अमृताऽवधरणाम् सर्वथैव अव्यर्थाम्।
त्वमेव खलु सा प्रणिधानसंज्ञा, त्वमेव निद्रा जागर्तिस्त्वमेव।

त्वमेव प्रकृतिः प्रसृतिश्च रात्रिः, कालत्रयाणां हि निधानमेकम्।
सावित्रि, यापय प्रतीक्षान्तु त्रियामशेषाम् मन्त्रं जपन्ती मद्वीक्षितं ऋतम्।
तुरीयप्रान्ते तमसि तिरोहिते विमुक्तस्वापो हि सत्यवान् भवेत्।

(तुम ही सृष्टि की आदि सन्ध्या वेला हो, पूजा हो, तुम ही यज्ञ की समिधा (ग्रीष्म इध्मः शरद्-हवि) और वेद की विधि हो। तुम ही वह हो जिस कमल सरोवर की खोज मैं कर रहा था, तुम प्रकाश की किरण हो, दृश्य सृष्टि के अनन्तर (चतुर्थ) प्रकाश-ज्वाला हो। मूर्तिमान् प्रकट ज्ञान से समृद्ध श्रद्धा के आश्रित तुम ही मेरी वह अमृत विद्या हो। ....

तुम मेरी उपदिष्ट अमृतविद्या को सुनो, जो कभी व्यर्थ न होने वाली अमोघ है। कर्म की वह शक्ति तुम ही हो, तुम ही निद्रा हो, तुम ही जागरण हो, तुम ही प्रकृति हो, तुम ही सृष्टि हो। तीनों कालों की जन्मभूमि तुम ही हो।.... सावित्रि! तुम तीन प्रहर रात्रि की प्रतीक्षा करो इस बीच सत्य से प्रकाशित ऋत मन्त्र को जपती रहो। अन्धकार के परदे में तिरोहित (उसके उस पार) चौथे लोक में सत्यवान् अपनी निद्रा को तोड़कर उठ बैठेंगे।)

कवि मिश्र की तीसरी नाटिका 'प्रतिध्वनिः' अभी कुछ समय पूर्व प्रकाशित हुई है। इसमें याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी की उत्कण्ठापूर्ण कहानी चार अंकों में निबद्ध है। नाटिका अपने नूतन नाट्यशिल्प से संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि करती है।

नारी प्रकृति द्वारा सृष्टि-दर्शन का यह विश्लेषण कवि ने सांख्य-दर्शन के अनुसार किया है, जहां प्रकृति की विभुत्व शक्ति ही सृष्टि-रचना का मूल है।

कवि ने तीनों नाटिकाओं में संस्कृत नाट्य-परम्परा की पद्धति को अक्षुण्ण रखा है। तीनों में नान्दी, प्रस्तावना और भरत-वाक्य हैं। तथा कवि ने अपनी सर्जनात्मक कल्पना से उन्हें अभिनव रूप प्रदान कर युगानुकूल नूतनता का संचार किया है।

सिंहावलोकन - दो सौ वर्षों (उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी) के संस्कृत नाट्य साहित्येतिहास का यह आलोचनात्मक परिचय है, जिसमें परम्परा और कृतित्व दोनों को आंका गया है। ब्रिटिश राज्य की स्थापना और विज्ञान के कारण जो भौतिक सुविधायें विश्व और भारत को इन शताब्दियों में प्राप्त हुईं इससे हमारी नाट्यपरम्परा नित्य नूतन होती रही है। उन्नीसवीं शती के आरम्भ से लेकर बीसवीं शती के प्रारम्भ तक प्रायः प्राचीन नाट्यपद्धति का ही पिष्टपेषण होता रहा, पर बीसवीं शती में नाट्यपरम्परा की पद्धति में परिवर्तन हुआ, उससे नान्दी, प्रस्तावना और भरतवाक्य की पद्धति प्रायः लुत होती गयी। बीसवीं शती के सातवें दशक में संस्कृत के नाटक आकाशवाणी से प्रसारित होने लगे, उनका शिल्प आधुनिक हिन्दी नाटकों का सा हो गया। हिन्दी ने दृश्य की दृष्टि से संस्कृत नाटक रचना को प्रेरित किया यह नयी बात हुई। अंकों की कथावस्तु और दृश्यों का विभाजन उसी प्रकार होने लगा तथा प्रवेशक-विष्कम्भक हट गये। संस्कृत नाटकों में अभिनय की दृष्टि से इनका अपना औचित्य था, जो हिन्दी में अंग्रेजी के अनुसरण के कारण नहीं आ सका और बीसवीं शती के अन्त में संस्कृत नाटकों से भी यह लुप्त हो गया। संस्कृत नाट्य रचना के लिए यह उसकी मौलिक क्षति थी। संस्कृत नाटकों ने जिस पद्धति को दो हजार वर्षों से अधिक अवधि तक जीवित रखा और जिसका आरम्भ ५०० वर्षों, ईसवी पूर्व भास के नाटकों से होता है, उसका तिरोभाव शक्तिमान हिन्दी नाट्य साहित्य के उदय ने अपने एक ही आलोक में कर दिया है। पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र आधुनिक हिन्दी नाटकों के जनक माने जाते हैं। सन् १९३२ में इनके 'सिन्दूर की होली' नामक समस्यात्मक नाटक का प्रकाशन हुआ, जिसने अंग्रेजी नाट्य-रचना का अनुसरण करने वाले हिन्दी नाटककारों की आंखें खोल दीं और सभी ने मिश्र जी के नाट्यशिल्प का अनुसरण किया। आज हिन्दी के प्रायः सभी नाटक उसी नाट्यशिल्प में लिखे जा रहे हैं। स्वातन्त्र्योत्तरकाल में संस्कृत के सजग नाट्यकारों ने भी इसी पद्धति पर अपने नाटकों की रचना आरम्भ की है। इतिहास की परम्परा का यह परावर्तन अद्भुत है, संस्कृत के लेखकों ने न केवल हिन्दी नाट्यपरम्परा का अनुसरण किया, हिन्दी की काव्य रचनाओं का संस्कृत काव्यानुवाद भी बीसवीं शती में किया जाने लगा। 'कामायनी' और 'रामचरितमानस' का संस्कृत अनुवाद तो बड़े उत्साह से किया गया है।

नाट्यशिल्प के साथ-साथ नये विषयों का समावेश भी संस्कृत नाट्य रचनाओं में हुआ। यह युग और नवजागरण का प्रभाव है, पर नये विषयों के प्रवेश के साथ संस्कृत नाटक की अपनी विशेषता-रसाभिव्यक्ति, जो विश्व साहित्य में विख्यात है, लुप्त होती गयी। स्वातंत्र्योत्तर काल में दो चार नाटकों को छोड़कर रस-परिपाक के दर्शन नहीं होते। नये विषयों को इन नाटककारों ने अपनी रचना का विषय अवश्य बनाया, पर अधिकांश में प्रस्तुतीकरण की क्षमता का अभाव है। कहीं-कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वे हिन्दी के नाटकों की नकल कर रहे हों, जब कि उनका उत्तरदायित्व संस्कृत की महान नाट्य परम्परा का स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित करना होना चाहिए। कुछ नाटककारों ने अपने

नाटकों के लिए प्रायः कालिदास आदि के महाकाव्यों के प्रभावकारी सन्दर्भों का चयन किया है, जो प्रतिभा का उथलापन प्रकट करता है। कई एक ने शंकराचार्य जैसे वीतराग को नाटक का विषय बनाया है, वस्तुतः ऐसे महापुरुष महाकाव्य के ही विषय हैं, भरतमुनि भी शान्तरस को नाटक के लिए उपयुक्त नहीं मानते। शंकराचार्य को नाटक में प्रतिष्ठित करते हुए नाटककार की प्रतिभा अपने नाट्यरंग में ही खो गयी है।

कुछ नाटककारों ने प्राचीन पद्धति के अनुसार पात्रों को ध्यान में रखकर जहां प्राकृत, अपभ्रंश का प्रयोग होता था, हिन्दी भाषा का प्रयोग किया है, वह समुचित नहीं है। आज हिन्दी का वही स्थान है जो कभी संस्कृत का था। यदि कोई पात्र उच्च नागरिक नहीं है तो उसके द्वारा उसकी जनपदीय बोली का प्रयोग उचित कहा जा सकता है, परन्तु संस्कृत के साथ आज की जनपदीय बोली का प्रयोग अस्वाभाविक लगेगा, असमानता प्रकट करेगा। जब संस्कृत के साथ प्राकृत या अपभ्रंश का प्रयोग संवादों में किया जाता था तब वह अस्वाभाविक नहीं था, संस्कृत और प्राकृत-अपभ्रंश के शब्द-विन्यासों, क्रिया-पदों में ऐसे तत्सम तद्भव शब्द होते थे, जो बिल्कुल निकट के जगत में, उनमें कोई दूरी नहीं थी। संस्कृत के साथ हिन्दी या जनपदीय बोली का प्रयोग समय की विषम दूरी प्रकट करता है और संवाद अप्राकृतिक ही नहीं बेतुके हो जाते हैं। यदि संस्कृत नाट्य-रचना अपनी मौलिक स्थापना के लिए उद्यत है तो उसे भाषा-प्रयोग के इस पक्ष पर गहराई से सोचना होगा। हम यह भी ध्यान में रखें कि संस्कृत भाषा आज भी जीवित है, उसे बोलने वाले और उसका व्यवहार करने वाले हमारे बीच विद्यमान हैं, भले ही उसकी संख्या अल्प है, पर आज प्राकृत या अपभ्रंश भाषाओं का व्यवहार कौन करता है, उसका स्थान अन्य भाषाएं या बोलियां ले चुकी हैं। आज संस्कृत नाटकों में संस्कृत के साथ अवर पात्रों के संवाद की भाषा प्राकृत या अपभ्रंश रखा जाना, संस्कृत नाट्य-रचना को सचमुच नाटक बना देना होगा, और यह भी प्रकट करना होगा कि प्राकृत, अपभ्रंश की तरह संस्कृत भी मृतभाषा हो गयी है। अतः हम संस्कृत की जीवन्तता को कोई क्षति न पहुंचायें, इसका ध्यान सदा रखना चाहिए।

संस्कृत में साहित्य-रचना अन्य विधाओं को भी लेकर हुई, पर नाटक-रचना ने संस्कृत की भाषा-शक्ति को उजागर किया है और भाषा-कोश की अभिवृद्धि की है। अनेक नये शब्द आये हैं, दूसरी भाषा के शब्दों को भी आत्मसात् किया गया है। इन कारणों से नयी परिस्थितियों में संस्कृत की व्यवहार-क्षमता असीम है, यह प्रकट होता है, और जो यह कहा जाता है कि आसेतु हिमाचल तक व्यवहार में समान रूप से आ सकने वाली संस्कृत इस देश की राष्ट्रभाषा होने की क्षमता रखती है-इस सच्चाई में सन्देह नहीं रह जाता। संस्कृत-साहित्य की रचना का प्रमाण हिन्दीतर प्रदेशों का अधिक है, केरल, तमिल, महाराष्ट्र और बंगाल में तो सर्वाधिक ग्रन्थों की रचना हुई है। हिन्दी भाषी प्रदेश में संस्कृत नाट्यकारों की भाषा पर हिन्दी के वाक्य विन्यास-शैली का पूरा प्रभाव है, इससे उसमें सुबोधता तो आयी है पर संस्कृतभाषा की मूल प्रकृति की उपेक्षा खटकती है। इनमें संस्कृत

के कुछ वाक्य ऐसे भी मिल जायेंगे जिनमें यदि क्रिया हिन्दी की रख दी जाये, विभक्तियां हटा दी जायें तो पूरा वाक्य हिन्दी का हो जायेगा। कहीं विभक्तियां ही संस्कृत की हैं, शेष शब्द-विन्यास हिन्दी का है। लगता है कि संस्कृत हिन्दी के निकट आ रही है। कुछ वाक्य देखिये, जिनके हिन्दी अनुवाद के लिए कुछ सोचना नहीं पड़ेगा-

धूम्राक्षमृतम् इमम् कचं पेषयित्वा समुद्राम्भः मिश्रय।
होरात्रयम् मया समुद्राम्भसि लीनेन व्यतीतम्। (अभिशापम्, पृ. २६)

यहां व्यतीतम् तो हिन्दी की भी क्रिया है।

चित्रं यत् त्वयैव अभिशप्ता मे संजीवनी विद्या।
यदि चेत् स्मुत्कण्ठा वर्तते तत्प्रयोगे।
तत्र शोभन्ते सांची-अजन्ता-नालन्दा-बोधगया-
प्रभृतयः सौगतधर्मतीर्थाः। (सावित्री पृ. २७, ४२)

बीसवीं शती के इन संस्कृत नाटककारों ने भाषाई दृष्टि से राष्ट्रीय एकता को अभिसिंचित और पल्लवित किया है। सब मिलाकर बीसवीं शती का संस्कृत नाट्य साहित्य सामान्य नहीं है, जैसा कि पीछे विश्लेषण किया जा चुका है, चार-पांच महनीय कृतियां हमारे नाट्य साहित्य को गौरवान्वित करती हैं। राज्याश्रय नहीं रहा और संस्कृत के पाठकों की संख्या न्यून होती गयी, नये के प्रति आदर का भाव भी कम उपज रहा है, अतः कहीं-कहीं प्राचीन रचनाओं से भी प्रशस्त ऐसी कृतियों का यश विस्तारित नहीं हो सका है।

पञ्चम अध्याय

गद्य-साहित्य

पृष्ठभूमि

विश्व की भाषाओं के साहित्य के इतिहास का आकलन करें तो यह तथ्य स्पष्ट होता है कि उनमें से अधिकांश के साहित्य के उद्भवकाल में पद्य साहित्य ही प्रमुखतः लिखा गया, गद्य साहित्य का उद्भव बहुत बाद में हुआ। इसके कारणों का विश्लेषण भी इतिहासकारों ने किया है और कुछ ऐसे बिन्दुओं का उल्लेख किया गया है जिनके कारण पद्यबद्ध साहित्य को ही वरेण्य माने जाने के फलस्वरूप वही साहित्य संरक्षित हो पाया, गद्य साहित्य उपलब्ध नहीं हुआ। पद्य के आसानी से हृदयंगम हो जाने तथा स्मृतिबद्ध हो जाने के कारण उसे अभिलिखित रखना तथा सुरक्षित रखना सुविधा से संभव था, पद्य साहित्य के संक्षिप्त तथा सुगठित होने के कारण वह पीढ़ियों तक रक्षित और संचित रहा, गद्य विलुप्त होता गया। ऐसे अनेक कारणों से प्राचीन भाषाओं (जिनमें ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता आदि शमिल हैं) तथा अर्वाचीन भाषाओं (जिनमें अंग्रेजी जैसी पाश्चात्य तथा राजस्थानी, अवधी, मैथिली, गुजराती, बांगला आदि भारतीय भाषाएँ हैं) के साहित्येतिहास में प्राचीनतम प्रारंभिक युगों का पद्य साहित्य ही मिलता है, गद्य का विकास बाद में हुआ माना जाता है। इसके विपरीत संस्कृत में प्राचीनतम काल से पद्य और गद्य का प्रचुर साहित्य उपलब्ध है। वेदों का वाङ्मय पद्य और गद्य दोनों में निबद्ध है और प्राचीनतम काल से दोनों का साहित्य मिलता है। ऋग्वेद पद्यबद्ध है तो यजुर्वेद गद्य में। इनके काल में थोड़ा पौर्वापर्य भी मान लें तो यह तो फिर भी स्पष्ट है कि ऋग्वेद की ऋचाएँ कुछ समय पूर्व भी लिखी गई हों और यजुर्वेद का गद्य बाद में, तथापि हैं तो दोनों वैदिक काल के ही साहित्य। श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र आदि भी पद्यबद्ध नहीं हैं, गद्य में हैं, यद्यपि उन्हें गद्य विधा में वर्गीकृत नहीं किया जाता।

ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्, आदि गद्यबद्ध हैं और उनका गद्य इतना परिपक्व, सुगठित और उच्चस्तरीय है कि वह आदिमकालीन या प्रारंभिक अवस्था का न होकर चरम, परिपक्व और विकसित अवस्था का परिलक्षित होता है। मध्यकाल में शंकराचार्य रामानुज, वल्लभ, आदि के भाष्यों का गद्य, इससे पूर्व पतंजलि के महाभाष्य का गद्य इसके स्पष्ट प्रमाण हैं कि संस्कृत में प्रत्येक युग में प्रभूत और प्रकृष्ट गद्य लेखन होता रहा हैं। उपर्युक्त गद्य साहित्य विमर्श और शास्त्रीय विचारणा का है यद्यपि उसमें साहित्यिक गुण भी अनेक स्थानों पर प्रत्यक्ष हैं।

कथात्मक गद्य साहित्य भी संस्कृत में अतिप्राचीनकाल से उपलब्ध है। पंचतंत्र की कथाएँ विश्व के प्राचीनतम कथा-साहित्य में गिनी जाती हैं। आज जिस रूप में पंचतंत्र

उपलब्ध है वह हमारे प्राचीन संस्कृत कथा-साहित्य का नवीन और परिवर्धित रूप माना जाता है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि पंत्रतंत्र की कथाओं का उत्स जिस संस्कृत कथा-सागर से माना जाता है वह कितना प्राचीन होगा! लगता है पौराणिक उपाख्यानों तथा लोककथाओं का निबन्धन, पद्य और गद्य दोनों में होता रहा। गद्यबद्ध कथाओं का निदर्शन है पंचतंत्र, जिसमें सरल कहानी कहने की शैली में घटनाएँ तथा कथोपकथन निबद्ध हैं। साहित्यिक, अलंकृत (काव्यात्मक) गद्य साहित्य का इतिहास भी संस्कृत में बहुत पुराना है। सुबन्धु की वासवदत्ता कथा, दण्डी का दशकुमारचरित और बाणभट्ट का हर्षचरित एवं कादम्बरी इतिहास में सुविदित हैं।

इसी प्रकार गद्यबद्ध कथासाहित्य संस्कृत में कम से कम ढाई तीन हजार वर्षों से मिलता है और जिसे साहित्यिक और अलंकृत गद्य का नाम दिया जाता है वह भी संस्कृत में कम से कम डेढ दो सहस्त्राब्दियों पुराना है। इन कथा ग्रन्थों की शैली इतनी परिपक्व है कि वह प्रारंभिक अवस्था की न होकर परिनिष्ठित और परिणत स्थिति की सिद्ध होती हैं जिससे यह अनुमान सहज ही हो सकता है कि इससे पूर्व भी उत्कृष्ट गद्य-कथा-लेखन की परम्परा रही होगी। कथा-लेखन की एक समृद्ध और चिरन्तन परम्परा तो लोक साहित्य के प्रभाव से पनपी जिसका प्रतिनिधित्व गुणाढ्य करते हैं। प्राकृतों के आख्यान-कथन की यह परंपरा कभी विक्रमादित्य के नाम से संबद्ध 'वेतालपंचविंशतिका' की हृदयवर्जक कहानियों में, कभी सिंहासनद्वात्रिंशिका की कहानियों में परिलक्षित होती है तो कभी सामाजिक सबंधों को लेकर लिखी शुकसप्तति जैसी कथाओं में। मुग़लकाल में यूसुफ़ जुलेखा जैसे प्रेमाख्यानों पर भी कथाकौतुकम् जैसी कहानियाँ लिखी गई थीं।

नाटकों के कथोपकथन में तो गद्य सहस्त्राब्दियों से लिखा जा रहा है। हमारे नाटक गद्य और पद्य के समन्वित सहकार के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इस प्रकार शास्त्रीय लेखन में (विमर्शात्मक लेखन में), नाटकों तथा कथासाहित्य में जो संस्कृत गद्य मिलता है उसे आज की शब्दावली में इन तीनों विधाओं की गद्य-धारा के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त संस्कृत विद्वान् जो परस्पर पत्र व्यवहार करते थे या धार्मिक विवादों के अलावा विभिन्न धर्मशास्त्रीय समस्याओं के समाधानार्थ जो पंचनिर्णय होते थे उन्हें भी गद्य में अभिलिखित किया जाता है। बहुधा उस पर निर्णायक विद्वानों के हस्ताक्षर होते थे। इस गद्य की शैली अनूठी और विशिष्ट होती थी। यही शैली प्राचीन और मध्यकालीन राजाओं के शिलालेखों और दानपत्रों में प्रयुक्त मिलती है। कुछ शिलालेखों और ताम्रपत्रों में तो काव्यात्मक और अलंकृत गद्य भी मिलता है जिसके अन्त में 'स्वहस्तोयं मम भोजराजस्य' आदि वाक्यांशों से हस्ताक्षर का उल्लेख कर उसे राजकीय अभिलेख का रूप दिया होता है। शिलालेखों, ताम्रपत्रों और निर्णयलेखों का यह गद्य एक पृथक् विधा मानी जा सकती है जो संस्कृत की अपनी है, किन्तु इस विधा का अनुवर्तन आधुनिक काल में नहीं हुआ

है अतः यह विधा मध्यकाल तक ही सीमित रह जाती है। पत्र-लेखन की विधा अवश्य ही निरन्तर अनुवर्तमान है और आज भी संस्कृत विद्वानों के आपसी पत्राचार में देखी जा सकती है।

संस्कृत के गद्य साहित्य के इतिहास की यह पृष्ठभूमि स्पष्ट करती है कि गद्य की कुछ प्राचीन विधाएँ संस्कृत साहित्य के आदिकाल से ही मिलती हैं। संस्कृत गद्य की इस चिरन्तन धारा में युगानुरूप विकास भी हुआ है और तत्कालीन समाज, अन्य भाषाओं के साहित्य के साथ होने वाली अन्तःक्रिया तथा सर्जकों की प्रतिभा द्वारा नवीन आयाम स्थापित करने की अभिलाषा के फलस्वरूप नई विधाएँ भी विकसित हुई हैं। कादम्बरी जैसी प्राचीन कृतियाँ उपन्यास-विधा की पूर्वज तो हैं ही किन्तु आधुनिक उपन्यास की शैली में जो तत्त्व दृष्टिगत होते हैं उनकी कसौटी पर खरी उतरने वाली नई उपन्यास-विधा में भी आधुनिक काल में आते आते संस्कृत-लेखन हुआ है। लघुकथा की नवीन विधा संस्कृत में आधुनिक काल में पनपी है, ललित निबन्ध लिखे जाने लगे हैं, यात्रावृत्तान्त और फन्तासियाँ लिखी जाने लगी हैं, नई गद्य गीत शैली में लेखन हुआ है।

आधुनिक काल में विधाओं के आयामों का यह विस्तार एक दृष्टि से अभूतपूर्व है और आधुनिक काल की विशिष्ट देन कहा जा सकता है। इससे पूर्व किसी भी युग में साहित्य-लेखन की इतनी विविध विधाओं, विशेषकर गद्य विधाओं का उद्भव संस्कृत में नहीं हुआ था। इसके कारकों की तलाश की जाए तो दो-तीन बिन्दु स्पष्टतः इस बहुआयामी विस्तार के कारणों के रूप में निर्धारित किये जा सकते हैं। निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो इसका प्रमुख कारण है अन्य भारतीय व विदेशी भाषाओं के परिचय, आदान-प्रदान और पारस्परिक अन्तःक्रिया के फलस्वरूप उनके साहित्य में पनप रही नवीन उद्भावनाओं, विधाओं और शैलियों का सर्जनात्मक प्रभाव। आनुषंगिक कारण है कि इस पारस्परिक अन्तःक्रिया के फलस्वरूप आई एक पुनर्जागृति, देश में मुद्रणयंत्रों के प्रसार के कारण सभी भाषाओं के साहित्य के प्रसार के फलस्वरूप साहित्य रचना का नवजागरण तथा नवयुगीन प्रवृत्तियों के अनुसार संस्कृत जगत् में पनप रही एक विश्वदृष्टि, जो व्यापकता लिए हुए है। इन सब कारकों का समन्वय कर नवचेतना का प्रसार करने का सर्वप्रथम माध्यम था संस्कृत पत्रकारिता का उदय, जो उन्नीसवीं सदी की देन था और जिसके कारण ही उपर्युक्त समस्त कारक प्रभावी हो पाये। पत्रकारिता संभव हुई मुद्रणकला के प्रसार के कारण और पत्रकारिता से ही अन्य भाषाओं के साहित्य का परिज्ञान फैला, संस्कृत लेखक में सर्जनात्मक प्रवृत्ति बढ़ी, उसका लिखा पूरे देश में प्रसार और ख्याति पाने लगा, उसमें संकुचित दृष्टि की बजाय एक व्यापक दृष्टिकोण पनपा जो अन्य क्षेत्रों के उत्कृष्ट साहित्य का प्रभाव ग्रहण करने में हेठी नहीं समझता था, बल्कि विश्व के साहित्य में जहाँ कहीं जो भी कुछ उत्कृष्ट पाता था उसे अमरभाषा संस्कृत में अवतरित करना उसके साहित्य भांडागार को समृद्ध

करने का महनीय कार्य मान कर चलता था, हेय कार्य नहीं। पत्रकारिता ने इस युग में उद्गत संस्कृतसेवी संस्थाओं को भी बल दिया जिनका उद्भव इस युग की विशिष्ट घटना मानी जा सकती है।

इससे पूर्व के युगों में चाहे भारत में अन्य भाषाओं के साहित्य का पदार्पण हुआ हो और उसका परोक्ष अपरोक्ष प्रभाव अन्य भारतीय भाषाओं पर पड़ा हो, किन्तु संस्कृत साहित्य पर इस प्रकार का सर्जनात्मक प्रभाव कभी नहीं पड़ा था। संस्कृत ने प्राकृत जैसी लोकभाषाओं से गाथाएँ ली थीं, आर्या छन्द लिया था, नाटकों में प्राकृत भाषा को भी प्राकृत जनों द्वारा बोले जाने वाली भाषा के रूप में शामिल कर लिया था। सब विधाओं का विस्तार (अन्य भाषाओं के प्रभाव के फलस्वरूप) भी इसी प्रकार सीमित रहा। जयदेव ने गीतिकाव्य और गेय पदों की विधा की संस्कृत में अवतारणा कर एक नये युग का सूत्रपात अवश्य किया था। इसके बाद किसी नई विधा का जन्म हुआ हो ऐसा प्रतीत नहीं होता। इसका कारण यही था कि भारत में फ़ारसी आदि विदेशी भाषाओं का पदार्पण अवश्य हुआ किन्तु प्रसार के माध्यमों के अभाव में उनका फैलाव सामन्ती समाज तक ही सीमित रहा, वे न तो जनसामान्य के हृदय में स्थान बना सकीं और न भारतीय भाषाओं, विशेषकर संस्कृत के सर्जकों पर कोई सर्जनात्मक प्रभाव छोड़ सकीं। इसलिए उनका शिल्प, शैली या उनकी साहित्य विधाएँ संस्कृत में नहीं उतरीं। उन्नीसवीं सदी से जो सर्जनात्मक प्रभाव संस्कृत साहित्य में दृष्टिगोचर होने लगते हैं वे इसीलिए अभूतपूर्व कहे जाते हैं। इसी कारण अनेक साहित्येतिहासकारों ने इस युग को पुनर्जागरण युग या जनजागृतिकाल की संज्ञा दी है।

संस्कृत गद्य साहित्य में नई-नई विधाओं का उद्गम गद्य साहित्य में अभूतपूर्व विपुलता तथा उसके देश विदेशों में प्रचार के पीछे तो संस्कृत पत्रकारिता का सर्वाधिक योगदान रहा। सर्वप्रथम संस्कृत उपन्यास कहा जाने वाला शिवराजविजय सर्वप्रथम 'संस्कृत चन्द्रिका' पत्रिका में ही धारावाहिक रूप से निकला था। उस समय की अधिकांश कहानियों, उपन्यासों निबन्धों, पत्रों आदि का जन्म संस्कृत पत्रकारिता के अहाते में ही हुआ था। अप्पाशास्त्री राशिवडेकर के देवी कुमुद्वती आदि उपन्यास संस्कृत चन्द्रिका में, भट्ट मथुरानाथ शास्त्री के संस्कृत रत्नाकर में, अनेक सर्जकों के उपन्यास सुधर्मा जैसी पत्रिकाओं में निकलते रहे हैं। ललित निबन्ध, व्यंग्य विनोद, चुटकुले आदि कुछ नवीन विधाएँ पत्रकारिता की ही देन हैं। संस्कृत रत्नाकर मासिक (जयपुर) के संपादक भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने 'विनोद वाटिका' शीर्षक से जो स्तंभ अपने मासिक पत्र में शुरू किया था उसमें छोटे-छोटे चुटकले नियमित रूप से प्रकाशित होते थे, जो संस्कृत जगत् में बहुत लोकप्रिय हुए। साहित्य समीक्षा, समाचार समीक्षा आदि भी पत्रकारिता के अवदान ही हैं। यह भी एक सुखद संयोग रहा है कि संस्कृत की सुप्रचारित साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं के संपादकों ने स्वयं भी उत्कृष्ट और विपुल गद्य पद्यादि की नूतन रचना की और नये लेखकों को नवसर्जन के लिए भरपूर प्रोत्साहन भी दिया। ऐसे संपादकों में विभिन्न काल खंडों में प्रमुखतः उल्लेखनीय हैं अप्पाशास्त्री राशिवडेकर (१८७३-१९१३), जिन्होंने 'संस्कृत चन्द्रिका'

में स्वयं अनेक उपन्यास, कहानियाँ आदि लिखीं तथा जिनके कार्यकाल में अनेक विख्यात लेखक पनपे। फिर भट्ट मथुरानाथ शास्त्री (१८८६-१९६४) ने 'संस्कृत रत्नाकर' में शतशः कथाएँ, उपन्यास, निबन्ध आदि लिखे, नई विधाएँ पनपाईं और नये लेखक बनाए। इसी प्रकार डॉ. वेंकटराघवन् (१९०८-७९) ने देश की साहित्य अकादमी की मुख पत्रिका 'संस्कृत प्रतिभा' द्वारा भारत के संस्कृत नवलेखकों को प्रोत्साहित और स्वयं मंच-नाटक काव्य आदि में नूतन सर्जना की। इस दृष्टि से आधुनिक काल की संस्कृत सर्जना को इन तीन युगों में विभाजित कर देखा जा सकता है- अप्पाशास्त्री युग (१८९०-१९३०) भट्ट मथुरानाथ शास्त्री युग (१९३०-१९६०) और राघवन युग (१९६०-१९८०)। इन तीन युगों में संस्कृत गद्य में भी क्रान्तिकारी विकास हुआ। नई विधाएँ पनपीं तथा नये शिल्प के आयामों में अभूतपूर्व विस्तार हुआ। विद्योदय के संपादक हृषीकेश भट्टाचार्य, सहृदया के संपादक कृष्णाचार्य, मित्रगोष्ठी के संपादक विधुशेखर भट्टाचार्य आदि भी उत्कृष्ट मौलिक सर्जक तथा गद्य लेखक रहे। यह तो बात हुई विधाओं और शिल्प की, अर्थात् कलापक्ष की। इसके अतिरिक्त विषयवस्तु में, कथ्य के परिवेश में अर्थात् भावपक्ष में भी आधुनिक युग का संस्कृत सर्जन बहुआयामी है। आधुनिक युग की विषयवस्तु में न केवल बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ है बल्कि विस्तार भी हुआ है। आधुनिक युग का संस्कृत कवि या गद्यकार देवी-देवताओं की स्तुति या उपाख्यान ही नहीं लिखता, अब उसके नायक हैं राष्ट्रनेता, समाजसेवक, उसकी विषय वस्तु है विश्वशान्ति की आवश्यकता, ग़ुलामी की जंज़ीरों को तोड़ने का आन्दोलन, सामाजिक विद्रूपताओं पर प्रहार, राजनीति का प्रदूषण, भ्रष्टाचार, विश्वक्षितिज पर हो रही घटनाएँ। सामाजिक सरोकारों पर वह संस्कृत में उपन्यास और कहानियाँ लिख रहा है, आधुनिक युग की विषमताओं पर व्यंग्य और ललित निबन्ध लिख रहा है, विश्व राजनीतिक की घटनाओं का मूल्यांकन कर रहा है। विषयवस्तु की यह नवीनता और कथ्य की परिधि में यह विस्तार भी आधुनिक युग की विशिष्ट देन है।

यही कारण है कि आधुनिक युग का संस्कृत लेखन विशेषतः गद्य-लेखन इतना बहुआयामी और विस्तृत फलक वाला हो गया है कि उसका समग्र मूल्यांकन और आकलन अतीव दुष्कर कार्य हो जाता है। इसके साथ ही गद्य की शिल्पात्मक प्रवृत्तियों और विधाओं का जो विस्तार हुआ है वह इसे एक इतनी विराट् व्यापकता दे देता है जिसे समेटना एक नई ज़मीन तोड़ने का कार्य होगा। निदर्शन विधया यहाँ गद्य साहित्य की विविध विधाओं पर दृष्टिपात कर इस प्रकार के आकलन का प्रयास किया जा रहा है।

उपन्यास

कथासाहित्य की लोकप्रिय विधा उपन्यास को पाश्चात्य या भारतीयेतर साहित्य की देन मानने वाले नितान्त भ्रान्त हैं यह बात अनेक विद्वानों ने स्पष्ट की है। जिस प्रकार कथासाहित्य के प्राचीनतम उत्स (पंचतंत्र आदि) भारत में खोजे गये हैं उसी प्रकार उपन्यास विधा का अस्तित्व भी लगभग एक हज़ार वर्षों से किसी न किसी रूप में भारत में उपलब्ध

होता है। सुबन्धु की वासवदत्ता और बाणभट्ट की कादम्बरी तत्त्वतः उपन्यास नहीं हैं तो क्या हैं ? हो सकता है उसमें आज के उपन्यास के तथाकथित तत्त्वों (जैसे कथा वस्तु, पात्र और चरित्र चित्रण, कथोपकथन, देशकाल और वातावरण, उद्देश्य या सन्देश) तथा शैली आदि में से कुछ तत्त्व उस रूप में विद्यमान न हों जिस रूप में आज के उपन्यासों में हम उन्हें पाते हैं, किन्तु एक विधा की दृष्टि से जीवन की समग्रता का एक कथात्मक चित्रण जिस विशालफलक पर इन उपन्यासों में हुआ है वही तो उपन्यास का तात्त्विक रूप में भेदक, पहचान कराने वाला तत्त्व है। आज से इतनी शताब्दियों पूर्व शायद ही किसी अन्य भाषा के साहित्य में इतनी उत्कृष्ट शैली और उत्कृष्ट स्तर के उपन्यास उपलब्ध होते हों। इस दृष्टि से उपन्यास विधा को भारत में आयातित मानना निरी भूल है। यह बात अवश्य है कि आधुनिक काल में संस्कृत के नवलेखन का जो पुनर्जागृतियुग आया उसमें उपन्यास की विधा में भी युगान्तर आया तथा जो आधुनिक उपन्यास उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में लिखे गये या बीसवीं सदी के प्रारंभ में प्रसारित हुए वे स्पष्टतः पाश्चात्य उपन्यास की उस विधा से प्रभावित थे, जिसे भारत में बंगला उपन्यासों के माध्यम से विभिन्न भाषाओं ने एक नवीन कथाकृति शैली के रूप में अपनाया और बहुत मनोमोहक पाया।

यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि 'उपन्यास' शब्द का आज के अर्थ में (नॉवेल के पर्याय की तरह) प्रयोग अवश्य ही आधुनिक युग की देन है। इससे पूर्व उपन्यास का यह अर्थ संस्कृत में नहीं लिया जाता था। उपन्यास शब्द का प्रयोग तो नाट्यशास्त्र में नाट्यसंधियों के एक उपभेद के रूप में हमें मिलता है जिसे "उपन्यासः प्रसादनम्" द्वारा परिभाषित किया गया है या "उपपत्तिकृतो ह्यर्थ उपन्यासः प्रकीर्तितः" द्वारा। इसके अतिरिक्त किसी भी पक्ष को प्रस्तुत करने के लिए सामान्य भाषा में उपन्यास शब्द प्रयुक्त होता ही रहा है, जिसका एक उदाहरण है अमरुक का बहूद्धृत पद्य "निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः।" अंग्रेज़ी में नॉवेल शब्द के पर्याय के रूप में उपन्यास शब्द का प्रचलन बीसवीं सदी की देन है यह अवश्य निर्विवाद है। जो नॉवेल पाश्चात्य कथाविधा के प्रभाव के फलस्वरूप लिखे गये उनके वाचक शब्द विभिन्न भारतीय भाषाओं ने अपने-अपने ढंग से गढ़े। गुजराती जैसी भाषाओं ने शब्दसाम्य के आधार पर "नवलकथा" अभिधान बनाया तो मराठी जैसी भाषाओं ने इसे भारतीय परंपरा से जोड़कर "कादम्बरी" ही कहना शुरू कर दिया। मराठी में उपन्यास को कादंबरी नाम से जाने जाने की प्रथा अपने आप में हमारी पूर्वोक्त बात का एक प्रमाण ही है कि यह विधा भारत में आयातित नहीं है।

यह बतलाने की आवश्यकता भी नहीं है कि संस्कृत के वरेण्य साहित्य में उपन्यास की इसी प्रकार की विधा को पहले "कथा" या "आख्यायिका" का नाम दिया गया था तथा लक्षणकारों ने बड़ी विस्तृत सोदाहरण समीक्षा के साथ इसकी परिभाषाएँ, लक्षण आदि भी बनाये थे और वासवदत्ता, कादम्बरी आदि को उनके उदाहरणों के रूप में उल्लिखित किया था। जैन कथाकार सिद्धर्षि गणी की "उपमितभवप्रपंचकथा" जैसे पूर्णतः प्रतीकात्मक

उपन्यास एक अलग विधा का प्रतिनिधित्व अवश्य करते हैं, जिनमें अत्यन्त सुगठित गद्य है, किन्तु कथानक संसार सागर के आवर्त-विवर्तों में जकड़े संसारियों के भवबन्धन को दार्ष्टान्तिक बनाकर अलेगरी (Allagory) के रूप में किसी बन्धन में जकड़े व्यक्ति की कथा गूँथी गई है।

आधुनिक काल में संस्कृत के उपन्यासों की एक लम्बी श्रृंखला जो शुरू हुई वह भी कोई अलग-अलग घटना के रूप में नहीं देखी जानी चाहिए बल्कि कादम्बरी जैसी विशाल कथा लिखने की संस्कृत रचनाकार की प्रवृत्ति के नये युग और नई शैली से साक्षात्कार करने के बाद पारस्परिक नैसर्गिक आदान-प्रदान के फलस्वरूप रूपान्तरण मात्र के रूप में मूल्यांकित की जानी चाहिए, क्योंकि जिस संस्कृत उपन्यास शिवराजविजय को अधिकांश विद्वान् आधुनिक युग का पहला संस्कृत उपन्यास मानते हैं उससे पूर्व भी कादम्बरी की परम्परा में लिखे उपन्यासों की अनवरत श्रृंखला संस्कृत में रही होगी इसके अनेक प्रमाण दृष्टिगोचर होते हैं। एक उदाहरण है विश्वेश्वर पाण्डेय की 'मन्दारमंजरी' जो अठारहवीं सदी के प्रारम्भ में लिखी गई मानी जाती है। यह अल्मोड़ा अंचल में लिखी गई बताई जाती है, किन्तु इसमें आंचलिक या युगीन प्रभावों का कोई स्पर्श नहीं है, दीर्घ समासबहुल वाक्यों में अलंकारों का चमत्कार उल्लेखनीय है।

यह कथा लेखन-परम्परा ईसापूर्व से लेकर आजतक चली आ रही सर्जनश्रृंखला की समय-समय पर बदलती हुई और नवीकृत होती हुई परम्परा के रूप में समझी जा सकती है। ईसापूर्व की चारुमती (वररुचि) तरंगवती, शूद्रककथा (रामिल सौमिल्ल) आदि, बाद की मालती (हरिश्चन्द्र), शृंगारमंजरी (भोज), आश्चर्यमंजरी (कुलशेखर), त्रैलोक्यसुन्दरी (रुद्रट), मृगांकलेखा (अपराजित) की परम्परा में माधवानल कथा (आनन्दधर, १०वी सदी) तिलकमंजरी (धनपाल, ११ वी सदी) उदयसुन्दरी (सोड्ढल, ११ वीं सदी) आदि भी लिखी गईं जिन्हें चाहे नायिकाप्रधान आख्यायिकाएँ होने के कारण उपन्यास समझ लें या प्रेमकथा (रोमांस), किन्तु हैं वे बड़ी कहानी और उपन्यास के निकट की ही कथा विधाएँ। जैसा कि स्वाभाविक है कि एक कालजयी कृति अपना प्रभाव किसी भी साहित्य के इतिहास में इतना गहरा छोड़ती है कि उससे प्रभावित शैली में सदियों तक लेखन की परम्परा चलती रहती है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि बाण की कादम्बरी ने जो प्रभाव छोड़ा उसके कारण उस शैली के उपन्यासों की परम्परा संस्कृत में १२-१३ सदियों तक चलती रही और उसकी तरह अलंकृत गद्य लिखने की प्रवृत्ति भी बराबर बनी रही और प्रेमकथा, काल्पनिक कथा, रोमांस आदि से संबद्ध विषयवस्तु लेने की प्रवृत्ति भी, जो मंदारमंजरी से लेकर जयन्तिका और मकरंदिका जैसे उपन्यास में आज तक देखी जा सकती है। इस परम्परा में जो मोड़ आया वह दोहरे परिवर्तन का कारण बना- विषयवस्तु में भी सामाजिक मानवीय सरोकारों तथा समसामयिक घटनाओं पर आधारित कथावस्तु ली जाने लगी और शैली भी अधिक प्रसन्न, सहज और युगानुरूप होने लगी। यह मोड़ अवश्य है। आधुनिक युग की नई विधाओं का परिचय भारतीय भाषाओं को होने का एक परिणाम था जो प्रमुखतः

बंगलाभाषा के माध्यम से हुआ। जैसा पहले बताया जा चुका है इस प्रकार की नई सर्जना को प्रोत्साहन संस्कृत की उन साहित्यिक पत्रिकाओं से मिला जिनके संपादक स्वयं अच्छे और प्रगतिशील रचनाकार थे।

अम्बिकादत्त व्यासः-आधुनिक युग का सर्वप्रथम संस्कृत उपन्यास पं. अम्बिकादत्त व्यास का शिवराजविजयः माना जाता है जिसकी रचना सन्[1] १८८८ में आरम्भ हुई, १५ वर्ष तक चली और जिसका प्रथमतः धारावाहिक प्रकाशन संस्कृतचन्द्रिका में छठे व सातवें वर्ष में (१८९९-१९००) हुआ। बाद में यह पुस्तकाकार में प्रकाशित हुआ और अपनी नूतन शैली और प्रेरक विषयवस्तु के कारण इतना लोकप्रिय हुआ कि इसके अनेक संस्करण, टीका, अनुवाद आदि निकले, क्योंकि यह अनेक संस्कृत परीक्षाओं के लिए पाठ्यपुस्तक के रूप में वर्षों से नियत होता रहा है। इसकी विषयवस्तु है भारत में मुग़लों के साम्राज्य, अत्याचार आदि के विरुद्ध हुए आन्दोलनों के प्रतीक रूप में शिवाजी महाराज द्वारा किया गया सशस्त्र संघर्ष। उन दिनों विदेशी शासन के विरुद्ध आन्दोलन की जो राष्ट्रीय चेतना देश में पनप रही थी उसका प्रतिफल पूर्वी भारत में साधुओं के सशस्त्र संगठन के रूप में भी हो रहा था। ऐसे मठों का सशस्त्र गुरु संगठन बंकिमचन्द्र के "आनन्दमठ" जैसे उपन्यासों में संकेतित है जो अब सुविदित हो गये हैं। शिवराजविजय में ऐसे ही एक सशस्त्र संगठन की भित्ति पर शिवाजी के इतिहास की कथा को मनोरम ढंग से गूंथा गया है। पं. अम्बिकादत्त व्यास (१८५८-१९००) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की मंडली के संस्कृत विद्वान् थे और राष्ट्रभक्ति की धारा से सिक्त थे। उनमें जो सर्जनात्मक प्रतिभा थी उसके प्रमाण ४२ वर्ष की स्वल्प आयु प्राप्त करने के बावजूद उनके उत्कृष्ट और प्रभूत साहित्यसर्जन में देखे जा सकते हैं। संस्कृत में २७ और हिन्दी में ६४ ग्रन्थ इतनी सी आयु में लिख जाने वाले इस विद्वान में जो अलौकिक प्रतिभा थी उसका पूर्ण प्रतिफलन इस उपन्यास में मिलता है। इसे इस दृष्टि से युगान्तरकारी कहा जा सकता है कि पहली बार एक साथ कथ्य और शिल्प दोनों की नवीनता के साथ नई तकनीक से उपन्यास की अवतारणा इस साहित्यकार ने की जिसमें कादम्बरी के चिरन्तन प्रभाव से काफ़ी कुछ अलग रहते हुए भारत के मध्यकालीन इतिहास को विषयवस्तु बनाया गया। कथोपकथन और दृश्य परिवर्तन बिलकुल नई शैली में ढाले गये, बीच-बीच में गीतियाँ गूँथी गईं, परिच्छेदों का विभाजन किया गया तथा प्रसादगुण और कथा की गति पर विशेष ध्यान रखा गया। अलंकृत शैली न अपनाने पर भी लेखक कादम्बरी के अपरिहार्य प्रभाव से तो नहीं बच पाया, स्थान-स्थान पर वर्णनात्मक शैली में उसी प्रकार अनुप्रास, मालोपमा, उत्प्रेक्षा जैसे अलंकार, समस्त पद, क्रियाओं के गुच्छे, लघुवाक्यांशों की माला आ गई है पर कुल मिलाकर शिल्प आधुनिक ही कहा जाएगा।

---

१. डॉ. हीरानाथ शुक्ल ने १८७० में लिखे जाने का उल्लेख किया है जबकि पं. केदारनाथ मिश्र ने १८८८ में। पं. केदारनाथ मिश्र का हिन्दी अनुवाद सुप्रसिद्ध है।

यह उपन्यास व्यास जी की मौलिक कृति है या अनुवाद इस पर पिछले दिनों विद्वानों में बहुत विचारमन्थन हुआ। कुछ आधुनिक इतिहासकारों ने इसे रमेशचन्द्र दत्त के बंगला उपन्यास महाराष्ट्रजीवनप्रभात का अनुवाद बताया है जो बहुत अंशों में सच भी है। यह भी निर्विवाद है कि उन दिनों बंगला साहित्य का प्रभाव देश की प्रायः सभी भाषाओं पर था। क्योंकि कलकत्ता भारत की राजधानी थी, बंगला में पत्र पत्रिकाएँ बहुत विकसित और उत्कृष्ट स्तर की थीं, साहित्यकारों का सम्मान सर्वोच्च था और बंगला विश्व की नवीन भाषाओं के उत्कृष्ट साहित्य के निरन्तर सीधे संपर्क में आ रही थी। यह भी निर्विवाद है कि व्यासजी ने बंगला पढ़ी थी और महाराष्ट्रजीवनप्रभात जैसे उपन्यास भी पढ़े थे। स्वाभाविक है कि वे उन से प्रभावित हुए और उनकी प्रेरणा से उन्होंने शिवराजविजय लिखा। डॉ. हीरालाल शुक्ल ने "आधुनिक संस्कृत साहित्य" में उल्लेख किया है कि पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी ने ५ मार्च १६०० के अप्पाशास्त्री को संबोधित अपने पत्र में व्यास जी का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया था कि संस्कृतचन्द्रिका में छप रहा उनका यह उपन्यास दत्त के उपन्यास का अनुवाद है और व्यासजी ने यह स्वीकार भी किया था, किन्तु उनके असामयिक निधन के कारण पुस्तकाकार में छपे इस उपन्यास की भूमिका में यह तथ्य उल्लिखित होने से रह गया। डॉ. शुक्ल ने तो महाराष्ट्रजीवनप्रभात के कृष्ण मोहनलाल जव्हेरी द्वारा किये गये अंग्रेजी अनुवाद "शिवाजी" से उदाहरण देते हुए उसके वाक्यों को शिवराजविजय के वाक्यों से मिलाकर बताया भी है कि यह किस प्रकार उक्त कृति का संस्कृतानुवाद है। उन दिनों बंगला के उपन्यासों के संस्कृत में अनुवाद करने की सुदीर्घ परम्परा भी प्रारम्भ हुई थी, अतः इसमें संदेह की आवश्यकता भी नहीं है कि ऐसा ही हुआ होगा तथापि शोधार्थियों ने उक्त बंगला उपन्यास, उसके अंग्रेज़ी अनुवाद तथा शिवराजविजय का तुलनात्मक अध्ययन कर यह स्पष्ट किया है कि अनेक स्थलों पर अनुवादात्मक होने पर भी किस प्रकार व्यासजी ने इसमें अपनी मौलिक प्रतिभा का प्रयोग करते हुए न केवल शैली को पूरी तरह नया रूप देकर संस्कृत गद्य की अलंकृत शैली के निकट ला दिया है (जो बंगला में बिलकुल नहीं था) बल्कि गीतियाँ आदि जोड़कर रूपान्तरण भी किया है, साथ ही घटनाओं में भी परिवर्तन किया है। अन्य अनेक स्रोतों से नई घटनाएँ जोड़ी हैं। रौशनआरा (रसनारी) द्वारा शिवाजी को प्रणाम संदेश भेजना, माल्यश्रीक, वृद्ध पुरोहित और भूषणकवि का जयसिंह के पास भेजा जाना आदि अनेक घटनाएँ व्यास जी ने अपने ढंग से जोड़ी हैं। उन पर न केवल महाराष्ट्रजीवनप्रभात का प्रभाव है बल्कि "अंगुरीयविनिमय" जैसे पूर्ववर्ती उनन्यासों का भी प्रभाव है। व्यास जी ने सभी पात्रों के नामों का संस्कृतीकरण भी अनूठी शैली में किया है जो तत्कालीन पंडितों की प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है-अवरंगजीव (औरंगजेब) मायाजिह्नुः (मुअज्जम) स्तन्यजीवः (तानाजी) रसनारी (रौशन आरा) अवजलखान (अफ़लखाँ) रूष्टतमः (रूस्तम) आदि। यहीं नहीं, मोहर्रम को मोहरमः रमजान को रामयानम्, गोलकुंठा को गोलखंडः आदि लिखकर उन्होंने इन्हें संस्कृत प्रातिपदिक बनाया है।

इस सबसे यही प्रतीत होता है कि तत्कालीन बंगला उपन्यासों से प्रभावित होकर व्यासजी ने शिवाजी के जीवन पर उसी प्रकार की शैली में किन्तु उसे संस्कृत परंपरा में ढालकर एक नई कृति रचनी चाही थी। इस क्रम में उन्होंने कुछ उपन्यास और इतिहास ग्रन्थों से सामग्री लेकर तीन विरामों (खण्डों) व १२ निःश्वासों (अनुच्छेदों) में विभक्त यह उपन्यास लिखा। इस पर तत्कालीन हिन्दी उपन्यासों की शैली का प्रभाव भी है-जैसे देवकीनन्दन खत्री अपने तिलस्मी उपन्यासों अनुच्छेदों के प्रारंभ में दृश्य पटल बदलकर बतलाते हैं, बंगला उपन्यासों का भी और संस्कृत की परंपरा का भी। उनकी अलंकृत शैली संस्कृत परंपरा की है-

"अद्य हि वेदा विछिद्य वीथीषु विक्षिप्यन्ते, धर्मशास्त्राण्युद्धूय धूमध्वजेषु ध्मायन्ते, पुराणानि पिष्ट्वा पानीयेषु पात्यन्ते, भाष्याणि भ्रंशयित्वा भ्राष्ट्रेषु भर्ज्यन्ते। क्वचिन्मन्दिराणि भिद्यन्ते क्वचित्तुलसीवनानि छिद्यन्ते"- इस प्रकार के सानुप्रास वाक्यांश अथवा सूर्यास्तादि वर्णन के संदर्भ-"अथ जगतः प्रभाजालमाकृष्य वारुणीसेवनेनेव मांजिष्ठमंजिमरंजितः अनवरत-भ्रमणपरिश्रान्त इव सुषुप्सुः" इत्यादि पूर्णतः संस्कृतपरंपरा के हैं, किन्तु पात्र का नाम देकर नाटक की सी शैली में कथोपकथन,पात्रों के आन्तरिक चिन्तन का विवरण, घटनाओं का गतिशील चित्रण आधुनिक भारतीय भाषाओं का थोड़ा सा प्रभाव सूचित करते हैं। मुग़लकालीन तहज़ीब का, शस्त्रों और वस्तुओं का सजीव वर्णन लेखक ने किया है और उसके लिए संस्कृत शब्द गढ़े भी हैं, किन्तु सारा उपन्यास संस्कृत की परंपरागत शैली, व्याकरण गठन और पंडितसहज रुझान में रचा-बसा है, न तो अनुवाद लगता है न कृत्रिम। कवि की कारयित्री प्रतिभा किस प्रकार अन्य भाषाओं के साहित्य के प्रभाव ग्रहण करते हुए भी विषयवस्तु और शैली को मौलिक और सहज चमत्कार-प्रवण बना देती है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं अंबिकादत्त व्यास।

उपन्यास का कथानक तीन विरामों में विभक्त है। प्रत्येक विराम में चार-चार निःश्वास हैं। उपन्यास का आरम्भ एक आश्रम के एक बटु के सूर्योदय होते ही पुष्पचयन के लिये निकलने से होता है जो देवस्मरणात्मक मंगलाचरण कहा जा सकता है। फिर, वीर शिवराज के, मातृभूमि को म्लेच्छों के आधिपत्य से मुक्त कराने के संघर्ष का विवरण है जो प्रायः पूरा ही इतिहास पर आधारित है। कहीं-कहीं कुछ पात्र, घटनाएँ या विवरण कविकल्पना-प्रसूत भी हैं। बीजापुर दरबार में भेजे गये अफजल खाँ का वध, यशवन्तसिंह से भेंट, रोशनआरा से प्रणय, शाइस्ता खाँ पर आक्रमण, जयसिंह (जयपुरनरेश मिर्ज़ाराजा) से भेंट व संधि, दिल्ली दरबार में उपस्थित होना, औरंगजेब द्वारा बन्दी बना लिया जाना, रोगी होने के बहाने यहाँ से छद्मवेश में बच निकलना, सतत प्रयत्नों के बाद सतारा नगरी को राजधानी बनाना एवं सूखपूर्वक महाराष्ट्र में शासन करना-यह प्रधान कथावस्तु है। इसके साथ-साथ ही एक उपकथा रघुवीरसिंह और सावर्णी की अलग से चलती है जिसमें एक अनाथ राजपूत बालिका सौवर्णी अपने कुलपुरोहित के यहाँ पलती है और रघुवीरसिंह नामक युवक से प्रेम और विवाह में यह कथा परिणत हो जाती है। एक अन्य उपकथा

गौरसिंह, वीरेन्द्रसिंह की आती है जिसमें एक सूदूर स्थल में मातृभूमि के भक्त और स्वातंत्र्य के पक्षधर राजपूत युवक चित्रित किये गये हैं। उदयपुर के जागीरदार खड्गसिंह के पुत्र गौरसिंह, श्यामसिंह और बहिन सौवर्णी और जयपुर राजघराने का वीरेन्द्रसिंह जो ब्रह्मचारी गुरु के रूप में स्वतंत्रता संघर्ष में सहयोग अलग से आश्रम में रहकर करता है-कल्पित पात्र हैं, जो लेखक द्वारा महाराष्ट्र और राजपूताने के समन्वय-सहयोग की दृष्टि से निबद्ध किये गये लगते हैं।

इस प्रकार कथावस्तु, चरित्रचित्रण, कथोपकथन, भाषा, शैली उद्देश्य आदि सभी तत्त्वों की उत्कृष्टता के साथ एक आदर्श उपन्यास के रूप में खरा उतरने वाला "शिवराजविजय" नई चाल के उपन्यासों का प्रवर्तक माना जा सकता है।

कथासाहित्य के अनुवाद- व्यास-युग में ही नई चाल के उपन्यासों की एक ऐसी लम्बी श्रृंखला शुरू हुई जिसमें बंगला उपन्यासों की तरह घटनाओं की गति और कथोपकथन की यथार्थता के पुट से यथार्थवादी परिवेश का संस्कृत कथा-लेखन में प्रवेश हुआ, कादम्बरी वाली अलंकृत शैली से मुक्ति का सतत प्रयत्न परिलक्षित हुआ, जिसने भट्ट मथुरानाथशास्त्री-युग में आते-आते अधिक आधुनिक और यथार्थपरक रूप धारण कर लिया तथा नये प्रयोगों की ओर रुझान शुरू हुआ। बीसवीं सदी के प्रथम दो दशकों में बंगला उपन्यासों के अनुवाद की ऐसी प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है जो पूर्वी और उत्तरी भारत के हीं नहीं, दक्षिणी भारत के साहित्यकारों में भी पैठ गई लगती है। बंगला साहित्य के इस प्रभाव से उपन्यास और कथालेखन की नई धारा इस युग में प्रारम्भ हुई जिसमें विभिन्न भारतीय भाषाओं के उपन्यासों और कथाओं के अनुवाद भी निकले, उन कृतियों का आधार लेकर तथा कुछ नवीनता और मौलिकता का पुट देकर लिखे जाने वाले रूपान्तर भी निकले और उनसे प्रेरणा लेकर लिखे गये मौलिक उपन्यास और कहानियाँ भी निकलीं। इनमें से अनेक संस्कृतचन्द्रिका, सूनृतवादिनी, मंजूषा, सहृदया (श्रीरंगम्) संस्कृतसाहित्यपरिषत् पत्रिका, सूर्योदयः, संस्कृतरत्नाकरः आदि में धारावाहिक रूप से निकले और बाद में पुस्तकाकार में भी प्रकाशित हुए। संस्कृतचन्द्रिका के संपादक श्री अप्पाशास्त्री राशिवडेकर कथालेखन के प्रति इतने अधिक आकर्षित हुए कि एक बार तो उन्होंने 'कथाकल्पद्रुमः' नामक एक पत्रिका प्रकाशित करने का मानस भी बना लिया, इसकी घोषणा भी कर डाली तथा अलिफलैला की कहानियों का संस्कृतानुवाद नियमित प्रकाशित करने की योजना भी बना डाली, किन्तु लगता है यह मूर्त रूप नहीं ले पाई। अलाउद्दीन के जादुई चिराग पर कुछ कहानियाँ अवश्य लिखी गईं, कुछ छपीं। इसी प्रकार बंकिमचंद के कुछ उपन्यासों का अनुवाद भी अप्पाशास्त्री ने प्रारम्भ किया, जिनमें "लावण्यमयी" को संस्कृतचन्द्रिका में धारावाहिक प्रकाशित किया, फिर १६०६ में पुस्तकाकार प्रकाशन हुआ। देवी कुमुद्वती १६०३ और इन्दिरा १६०४ तथा कृष्णकान्तस्य निर्याणम् १६६७ में भी प्रकाशित होने लगे, पर पूर्ण न हो सके। अप्पाशास्त्री की शैली सहज और प्रसन्न थी तथा बाणभट्ट की लीक पर चलने की ललक से वे मुक्त थे। बीसवीं सदी के तीन दशकों में अनेक लेखक इसी शैली में

भारतीय भाषाओं के उपन्यास के अनुवाद करते देखे जा सकते हैं- विधुशेखर भट्टाचार्य ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उपन्यास का अनुवाद "जयपराजयम्" शीर्षक से किया (१९०६), चन्द्रप्रभा भी उन्हीं का है। श्रीशैलताताचार्य ने बंकिम की क्षत्रियरमणी का अनुवाद (१९९८) किया। बंकिम की दुर्गेशनन्दिनी का उनका अनुवाद संस्कृत साहित्य परिषद् पत्रिका में छपा (१९२३)। ए. राजगोपाल चक्रवर्ती ने शैवालिनी (मैसूर, १९१७) और कुमुदिनी, "विलासकुमारी संगरः" नामक उपन्यास तमिल साहित्य के अनुवाद के आधार पर लिखे। बंगला उपन्यासों के अनुवाद की श्रृंखला हरिचरण भट्टाचार्य का "कपालकुण्डला (बंकिमचन्द्र) १९१८ में प्रकाशित हुआ (पुस्तकाकार १९२६ में कलकत्ता से)। भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने बंगला के "पणरक्षा" (प्रवासी मासिक पत्रिका में प्रकाशित) उपन्यास का प्रभाव ग्रहण कर "आदर्शरमणी" नामक उपन्यास लिखा जो पहले संस्कृतरत्नाकर में धारावाहिक छपा, फिर १९०६ में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। इसमें एक आदर्शवादी युवक द्वारा एक कुलीन किन्तु निर्धन कन्या से विवाह कर आदर्श स्थापित किये जाने की कथा है। भट्टजी बंगला साहित्य और बंगला पत्र-पत्रिकाओं के सजग पाठक थे। उनके पुस्तकालय में बंगला साहित्य के शतशः ग्रन्थ रहते थे तथा प्रवासी, मातृभूमि आदि अनेक बंगला पत्रिकाओं के वे नियमित पाठक थे। बंगला साहित्य से प्रभावित कथालेखन संस्कृत में इस काल में खूब होता रहा, जिसमें कथानक का आधार लेकर कथाकार अपनी भाषा में उपन्यास लिखता था, कभी-कभी पात्रों के नाम भी बदल देता था। बंगाल की संस्कृत साहित्य परिषद् पत्रिका में ऐसे उपन्यास प्रकाशित हों यह स्वाभाविक ही था।

नगेन्द्रनाथ सेन का "कल्याणी" (१९१८) रेणुदेवी का रजनी (१९२०) और राधा (१९२२), राधारानी (१९३०), बलभद्र शर्मा का वियोगिनी बाला (संस्कृतचन्द्रिका, १९०६) गोपालशास्त्री की अतिरूपा (अतिरूपाचरितम्) (सं.सा.परिषद् पत्रिका १९०८) भट्ट मथुरानाथ शास्त्री की "अनादृता" असमसाहसम् जैसी कहानियाँ, जिन्हें लघु उपन्यास भी कहा जा सकता है (संस्कृतरत्नाकर में धारावाहिक रूप से प्रकाशित), बंगला उपन्यासों की भावप्रवणता और शैली से प्रभावित हैं। तमिल उपन्यासों के अनुवाद भी हुए। दोरैस्वामी अय्यंगार के तमिल उपन्यास "मेनका" का डी.टी. कुमार ताताचार्य कृत अनुवाद तिरुवायूर की उद्यानपत्रिका में छपा था। मुडुम्बी श्रीनिवासाचार्य ने तमिल उपन्यासों का आधार लेकर दो प्रेमकथात्मक उपन्यास लिखे, "प्रवालवल्ली" तथा "मणिमेखला"। काव्यकंठ गणपतिशास्त्री के "पूर्णा" शीर्षक उपन्यास को भी प्रसिद्धि मिली।

सामाजिक उपन्यास - दक्षिण भारत के प्रसिद्ध विद्वान् आन्ध्रप्रदेश के विजयनगर नरेश आनन्द गजपतिनाथ के राजपंडित सिंहाचलम् के पं. नरसिंहाचार्य (१८४२-१९००) ने भी कुछ उपन्यास लिखे। उनका "सौदामिनी" (मद्रास १९०५) ८ भागों में विभक्त है। "उज्ज्वलानन्द" भी उन्हीं का लिखा हुआ है। मद्रास से ही राजम्मा (जन्म १८७७) के उपन्यास भी निकले, जिनमें सामाजिक सरोकारों की विषमताओं पर प्रहार करने वाला "चन्द्रमौलि" प्रसिद्ध है। बालकुन्नन नम्बुद्रि (१८९१-१९४६) के "सुभद्रा" में नारीजीवन

की पीड़ाएँ चित्रित हैं। इसी प्रकार श्रीनिवासाचार्य के कैरविणी और चिरक्यल रामवर्मा वलियतम्बुरान् (१८८१-१९६२) का काल्पनिक कथावस्तु पर आधारित वनमाला भी उल्लिखित है। बंगाल में हरिदास सिद्धान्तवागीश (१८७६) ने "सरला" और नगेन्द्रनाथ सेन ने "कल्याणी" (१९१८) लिखा। परमेश्वर झा (१८५६-१९२४) के भावपूर्ण उपन्यास "कुसुमकलिका" को इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। इसका एक गद्यांश इस प्रकार है:- वाद्यन्ते चाव्यक्तमधुराणि पदानि बालक इवांगनाः कोमलांगा मृदंगाः, आलाप्यते चालिंग्य नवोढा कृशांगीव तंत्री। शयनीयशयने शयने सारंगी, संयोज्यन्ते वयस्या इव तुल्यकालाः कांस्यतालाः, परामृश्यते च शनकैः कामिनीव मानिनी क्रोडीकृता करांगुलीभिः सगुणा वीणा।"

इसी प्रकार की वर्णनात्मक ललित शैली का प्रयोग करते हुए प्रसाद गुणयुक्त भाषा के माध्यम से सामाजिक कथा कहने की प्रवृत्ति इस काल में स्पष्ट है जो संस्कृतचंद्रिका में प्रकाशित सामाजिक उपन्यासों में सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। रमानाथ शास्त्री की "दुःखिनी बाला" और भट्ट श्री बलभद्रशर्मा की "वियोगिनी बाला" इसी क्रम में आते हैं। वियोगिनी बाला का प्रारंभिक प्रसंग इस प्रकार है-

"संप्रति वर्षासमयः। शनैः शनैः सिंचति धरां पयोधरः। प्रस्थिता वियति बलाकावलिः। दोधूयन्ते सुरभिसमीरेण सलिलसिक्तास्तरुशाखाः। ह्रियते च चेतः सुमनसां नीपसुमनसां सुगन्धेन। नभसि भासते समुदितं धनुस्तुरासाहः। शैलशिखरेभ्य इतः प्रपतन् पयोनिर्झरः प्रस्तरात् प्रस्तरमुपेयिवान् नव्यां भव्यां च क्षणमुत्पादयतीव शोभाम्, प्रकीर्णानि सरसीषु मृणालकन्दानि। उड्डयन्ते इतस्ततः पयःप्रपातविधुरा भ्रमराः। भंगीसंगमङ्गीकुर्वन्ति मरुता सरांसि। उदंचयति चंचुं चातकः। मधुरमधुरं शब्दायन्ते केकिनः। कलयति चासौ पुँस्कोकिलकाकली कंठक्रमं पंचम (?) कामिनीनाम्। रसयति रसं रसालानां मधुरगंभीरस्वरः कीरः। "इससे तत्कालीन उपन्यासों की शैली का रुझान स्पष्ट होता है। समस्तपदघटित वाक्यों का युग समाप्त होने तथा नई चाल के प्रकृतिवर्णनों तथा देशकाल-परिवेश के चित्रण की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। अप्पाशास्त्रियुग के बाद सरलता की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है, चरित्रचित्रण और कथोपकथन अधिक यथार्थपरक होते जाते हैं। यह निःसंकोच मान लेना चाहिए कि बीसवीं सदी के सामाजिक उपन्यासों की शैली पर अन्य भारतीय भाषाओं के उपन्यासों की शैली का सर्जनात्मक प्रभाव विपुल मात्रा में रहा है। ऊपर उद्धृत सभी गद्यांशों में एक विशेष प्रकार की समानता का पाया जाना इसी का एक प्रमाण है।

सहृदया के संपादक परवस्तु आर. कृष्णाचार्य उद्भट गद्यलेखक थे (१८६९-१९२४), जिन्होंने भारतीय नारी के समर्पित जीवन की कथावस्तुओं पर अनेक उपन्यास लिखे तथा कुछ ऐतिहासिक महापुरुषों पर भी पातिव्रत्यम्, पाणिग्रहणम्, सुशीला, वररुचिः आदि उपन्यास (या दीर्घ कथाएँ) उनकी यशोगाथा के आधारस्तंभ हैं। उनका चन्द्रगुप्तः सहृदया में (१९०१) छपा था। इस प्रकार की कृतियों में संस्कृत में नये मौलिक उपन्यासों के उद्विकास के दर्शन होते हैं। कठिन से कठिन विपरीत स्थितियों में पति का अनुगमन करने वाली भारतीय पतिव्रता नारी का चित्रण, भारत में विवाह निर्धारण की कठिनाताओं का

कथानक समाज के रीतिरिवाजों से दबी नारी की व्यथा-ये सब सामाजिक सरोकारों से संबद्ध कथावस्तु वाले उपन्यास इस बात के प्रमाण देते हैं कि बीसवीं सदी के दूसरे दशक तक आते-आते नई चाल के मौलिक उपन्यास भी सामने आने लगे थे। सामाजिक उपन्यासों में उपेन्द्रनाथ सेन रायचौधुरी के अपेक्षाकृत पूर्वकालिक उपन्यास भी गिनाये जा सकते हैं जिनमें मकरन्दिका (१८६४) कुन्दमाला (१८६४) सरला (१८६६) आदि का नाम आता है। लम्बी कहानी या उपन्यास के वर्ग में परिगणनीय ऐसी कृतियाँ सहृदया जैसी पत्रिकाओं में छपती रहती थीं। नारायणशास्त्री का "सीमन्तिनी" भी सहृदया में छपा था। मनुजेन्द्र दत्त का उपन्यास "सती छाया" १८६५ की कृति है जिसकी कथा में घटनाचक्र की मनोरंजकता तथा गति हिन्दी फिल्मों की सी कथावस्तु उपस्थित करती है। डॉ. हीरालाल शुक्ल ने इसकी कथावस्तु को इस प्रकार प्रस्तुत किया है-

"सती छाया में एक महाविद्यालय की छात्रा इन्द्रप्रिया तथा उसकी पुत्री छाया की कहानी है। इन्द्रप्रिया पर एक राजकुमार रमणीमोहन मुग्ध है तथा वह उससे चोरी से विवाह कर लेता है। किन्तु इन्द्रप्रिया पर रमणीमोहन का मित्र अतुल भी मोहित है तथा उसे छलकपट से अपने वश में करना चाहता है। इन्द्रप्रिया अपनी माता के दर्शन के लिये विकल रहती है और रमणीमोहन उसे सांत्वना दिया करता है। कुछ ही मास के पश्चात् वह गर्भ धारण करती है। उसी समय अतुल की कुटिलता से रमणीमोहन के पिता उसका दूसरा विवाह करना चाहते हैं। राजकुमार पर उसकी कुटिलता काम कर जाती है और वह अपने पिता का निश्चय इन्द्रप्रिया को सुनाता है। इन्द्रप्रिया की प्रार्थना से भी वह द्रवित नहीं होता और अपने विवाह की बात पर अटल रहता है। बेचारी इन्द्रप्रिया नदी में डूबकर आत्महत्या करना चाहती है और तभी पीछे से आकर यशोदा उसे पकड़ लेती है। उसे उसके उदरस्थ शिशु की सौगंध दिलाती है। वह इन्द्रप्रिया को अपनी मालकिन के घर ले जाती है जहाँ वह शिशु को जन्म देती है। नवजात कन्या पर इन्द्रप्रिया का स्नेह स्वाभाविक था। एक बार जब इन्द्रप्रिया अपने घर की छत पर थी उसने रमणीमोहन को बारात के साथ वर के रूप में देखा। यहाँ इन्द्रप्रिया अपने वस्त्रालंकार को बेचकर अपना खर्च चलाती है। इन्द्रप्रिया ने अपनी पुत्री का नाम सती छाया रखा था। इन्द्रप्रिया के पिता तथा भाई वर्षों तक उसकी खोज करते रहे। और अंत में वह मिली। इन्द्रप्रिया ने अपनी पुत्री को यशोदा के हाथ अपने पिता के हवाले कर दिया। सती छाया अब अपने मातुल के घर पलने लगी। मामा के अतिरिक्त अन्य कोई उससे स्नेह नहीं करता था। मातुल सती छाया की शिक्षा घर में ही करते हैं। इधर छाया पर यतीन्द्र बहादुर का आकर्षण बढ़ने लगता है। इस प्रकार "सती छाया" की कहानी में अत्यधिक प्रवाह है। दत्त महोदय ने सरल संस्कृत में लिखकर उसे और भी आकर्षक बना दिया है। पंचम परिच्छेद में छाया की दीनावस्था का चित्रण है। अनाथ होने के कारण उसका विवाह नहीं होता, मातुलानी उसे घर से निकाल देती है। प्रभावोत्पादकता व सामाजिक यथार्थता की दृष्टि से वह एक सफल कृति है।

अप्पाशास्त्रीयुग में एक अन्य धारा सदियों से चली आ रही थी, प्राचीन भारतीय

आख्यानों के आधार पर कथानक लेखन की। उसके क्रम में भी उपन्यास की शैली में ग्रन्थ लिखे जाते रहे, जैसे लक्ष्मणसूरि ने रामायणकथा के आधार पर रामायणसंग्रह (१६०४) लिखा, महाभारतकथा में भीष्मविजयम् (१६०४) और महाभारतसंग्रामः (१६०५) लिखे।

मेधाव्रत शास्त्री (१८६३-१६६४) गुजरात के प्रसिद्ध लेखक थे जिन्होंने आर्यसमाज के विचारों का अनुसरण करते हुए गुरुकुलों में अध्ययन किया तथा विपुल साहित्य लिखा। उनके "कुमुदिनीचन्द्र" उपन्यास में (३५० पृष्ठों में, १६१६) चन्द्रसिंह नायक है और कुमुदिनी नायिका। यह सोलह अनुच्छेदों में विभक्त है जिन्हें "कला" का नाम दिया गया है। वन्यभूमि की घटनाओं पर आधारित होते हुए भी इस उपन्यास की शैली सरल और यथार्थपरक है।

कपिष्ठलं कृष्णमाचार्य (१८८३-१६३३) की "मन्दारवती", श्रीनिवासाचार्य की "कैरविणी" सभी में इसी प्रकार का कथानक और इसी प्रकार की शैली दृष्टिगोचर होती है। मैसूर के प्रसिद्ध विद्वान जग्गू बकुलभूषण ने "जयन्तिका" नामक उपन्यास (१६००) सुललित शैली में लिखा है जिस पर अनेक दशकों के बाद अनेक पुरस्कार मिले हैं। इसमें भी ललित वर्णनात्मक शैली अपनाई गई है। उनकी "उपाख्यानरत्नमंजूषा" और "यदुवंशचरितम्" में दूसरी ही शैली है।

डॉ. राघवन् ने सहृदया (श्रीरंगम्) पत्रिका में धारावाहिक प्रकाशित कल्याणरामशास्त्री के "कनकलता" उपन्यास का उल्लेख किया है जो शेक्सपीयर की काव्यकथा लुक्रीस का गद्यरूपान्तरण है। ६० पृष्ठों की यह प्रेमकथा सुललित संस्कृत गद्य में निबद्ध है। गोपालशास्त्री की "अतिरूपा", परशुरामशर्मा वैद्य की "विजयिनी", नारायण शास्त्री की "सीमन्तिनी", चिदम्बरशास्त्री की "सती कमला" और "कमलाकुमारी" और सहृदया संपादक परवस्तु आर. कृष्णाचार्य की सुशीला भी सहृदया में ही छपे थे। कमलाकुमारी में नारी जीवन के गर्हित पक्ष को और सती कमला में सराहनीय पक्ष को प्रस्तुत करने का प्रयास है। कुप्पूस्वामी ने "सुलोचना" (१६०६) में भी अबला जीवन का मार्मिक चित्रण किया हैं।

बंगला और तमिल साहित्य के अतिरिक्त अंग्रेजी साहित्य से भी प्रभाव ग्रहण कर संस्कृत में उपन्यास लिखे गये जिनका एक उदाहरण कनकलता तो ऊपर संकेतित है ही। ए आर राजवर्मा ने भी शेक्सपीयर के नाटक ऑथेलों का उपन्यास में रूपान्तरण किया "उद्दालचरितम्" शीर्षक से। इसमें भी पात्रों के नामों का संस्कृतीकरण करके मौलिक स्पर्श देने का प्रयत्न परिलक्षित होता है (आथेलो को उद्दाल कहना)। ए आर राजवर्मा कोइल्तम्बुरान का समय १८६३ से १६१८ के बीच का है। कादंबरी तिरुमलाचार्य ने शेक्सपीयर के कामेडी आफ एरर्स नाटक को संस्कृत गद्य में "भ्रान्तिविलास" शीर्षक से रूपान्तरित किया है जिसे उपन्यास कहा जा सकता है। रंगाचार्य ने गोल्डस्मिथ के विकार ऑफ वेकफील्ड उपन्यास का अनुवाद "प्रेमराज्यम्" नाम से किया है।

हिन्दी, मराठी आदि भाषाओं की कृतियों के रूपान्तरण भी किये गये। प्रतिवादिभयंकर अनन्ताचार्य ने हिन्दी उपन्यासकार जगन्नाथप्रसाद के उपन्यास संसारचक्र का अनुवाद "संसारचरितम्" नाम से किया (उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में) तथा वासुदेव आत्माराम लाटकर ने नरसिंह चिन्तामणि केलकर के उपन्यास का अनुवाद "बलिदानम्" नाम से प्रकाशित किया। "संसारचरितम्" का वर्णन कांजीवरम् की मंजुभाषिणी में प्रकाशित हुआ।

इस प्रकार संस्कृत के आधुनिक उपन्यास का प्रारम्भ अन्य भाषाओं की इस नूतन विधा के प्रभाव ग्रहण कर लिखे उपन्यासों से हुआ और शीघ्र ही इसकी अपनी मौलिक परम्परा बनने लगी। आज तक अनुवादों की, रूपान्तरणों की और मौलिक उपन्यासों की तीनों धाराएं चली आ रही हैं।

शैली में यथार्थपरकता, सरलता और कथानक, चरित्रचित्रण, देशकाल आदि पर अधिक ध्यान आधुनिक उपन्यास की इन प्रवृत्तियों का प्रतिफलन परवर्ती उपन्यासों में अधिकाधिक होता गया यद्यपि परवर्ती दशकों में लघुकथालेखन पर अधिक जोर परिलक्षित होता है तथापि बड़ी संख्या के उपन्यासों का लेखन, प्रकाशन आदि भी होता रहा। कुछ उपन्यास विभिन्न पत्रिकाओं में इसी प्रकार धारावाहिक रूप से प्रकाशित होते रहे जिस प्रकार संस्कृत चन्द्रिका के युग में होते थे। पं. नारायण शास्त्री खिस्ते के उपन्यास 'दरिद्राणां हृदयम्', दिव्यदृष्टि (१६३६) आदि काशी से सामाजिक उपन्यासों की शङ्खला को अविरत बढ़ाते पाये जाते हैं। इनमें कथ्य और शैली, दोनों की मौलिकता और मार्मिकता देखी जा सकती है।

बीसवीं सदी के मध्य में कुछ उपन्यासकारों ने शैली और वर्ण्यवस्तु-दोनों में अनेक नये प्रयोग करते हुए साथ ही आधुनिक सामाजिक संदर्भों को उजागर करते हुए अनेक उपन्यास प्रकाशित किये। बीसवीं सदी के मध्य का संस्कृत उपन्यासकार उस समय तक की समस्त उपन्यासविधाओं का प्रेक्षण करते हुए उन सभी शैलियों के साथ एक उपन्यास में भी प्रतिफलित कर सकता है इस का एक कारण है कलकत्ता के श्रीनिवासशास्त्री का "चन्द्रमहीपतिः" उपन्यास, जिसमें कथ्य और शैली-सभी की दृष्टि से अनेक उपन्यास-विधाओं और संस्कृत तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं की गद्यशैलियों का प्रभाव एक साथ देखा जा सकता है। अतः इसकी विस्तृत समीक्षा निदर्शन के रूप में प्रस्तुत की जाएगी।

ऐतिहासिक नायकों और उपाख्यानों पर उपन्यास लेखन का क्रम भी निरन्तर जारी रहा। देवेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय का वंगवीर प्रतापादित्य (साहित्य परिषत् पत्रिका १६३०-३१), इन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय का गौरचन्द्र (साहित्यपरिषत् पत्रिका, १६३२-३३) श्रीकान्त आचार्य का प्रतापविजयः,जगद्राम शास्त्री का छत्रसालविजयः आदि इस क्रम को आगे बढ़ाते हैं।

प्राचीन कथानक को आधुनिक शैली में आधुनिक संदर्भों के आलोक में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति आज तक संस्कृत कथाकार में देखी जा सकती है। इसी श्रृंखला में रामस्वरूप शास्त्री की त्रिपुरदाहकथा (अलीगढ़ १६५६) के.एम. कृष्णमूर्तिशास्त्री का वैदेहीविवाहम्

(१९५९) क.न. वरदराज अय्यंगार्य के सुधन्वचरितम् (सुधर्मा प्रकाशन, मैसूर १९७५), चन्द्रहासचरितम् (मैसूर १९७५), डॉ. ठाकुरप्रसाद मिश्र का चाणक्यचरितम् (१९८१) आदि को गिनाया जा सकता है। क्योंकि ये पौराणिक या प्राचीन वाङ्मय में चर्चित पात्रों के आख्यान के रूप में परिगणित किये जाएंगे- जीवनचरित के रूप में नहीं, अतः इनकी चर्चा हमने यहीं करनी उचित समझी है, जीवनचरित (बायोग्राफी) के परिच्छेद में नहीं। पाठक ऐसे आख्यानों में प्राचीन उपाख्यानों की दृष्टि से रुचि लेता है, अतः ये रोचक बन पाते हैं। रामायण, महाभारत आदि के पात्रों या प्रसंगों को लेकर उन्हें आधुनिक कथोपकथन शैली में ढालने या मनस्तात्त्विक अभिगम के साथ प्राचीन आख्यानों को नये ढंग से लिखने की प्रवृत्ति "भट्ट युग" से प्रारम्भ हुई जो जब तक चली आ रही है। वैसे कुछ विद्वानों द्वारा किये जा रहे इस प्रकार के प्रयत्न भी बराबर चलते रहे जिनमें रामायण या महाभारत की पूरी कथा को गद्य में निबद्ध किया गया हो। ऐसी एक उत्कृष्ट गद्यात्मक महाभारतकथा अजमेर (पुष्कर) के दाधीच पं. शिवदत्त त्रिपाठी द्वारा लिखी गई थी, जो १९३५ में दो भागों में प्रकाशित हुई। "गद्यभारतम्" शीर्षक से मुद्रित इस गद्यग्रन्थ में महाभारत के समस्त पर्वों की कथा (जिसमें हरिवंश पर्व भी शामिल है) सुन्दर, शुद्ध और सुपाठ्य गद्य में लिख दी गई है। इसका गद्य कादंबरी के प्रभाव से मुक्त है। लगभग ४०० पृष्ठों में समस्त महाभारत कथा आ गई है। बीसवीं सदी के तीसरे दशक से संस्कृतपत्रपत्रिकाओं में निखार आने लगा। वे अन्य भारतीय भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं से प्रभाव ग्रहण कर नई-नई विधाओं पर अधिक सामग्री देने लगीं, साथ ही संस्कृत साहित्य-सम्मेलनों तथा अन्य साहित्यिक गतिविधियों के फलस्वरूप संस्कृत विद्वानों में यात्रापरकता, गतिमत्ता, पारस्परिक आदान-प्रदान का क्रम अधिक तीव्र हो गया। इसके फलस्वरूप पत्रपत्रिकाओं में विविध विधाओं की लघुकथाओं का प्रकाशन बड़े व्यापक आयामों में होने लगा, जिस पर पृथक् से विचार किया जाएगा। उपन्यासों का भी धारावाहिक प्रकाशन पत्रपत्रिकाओं में होता रहा, साथ ही नई-नई विधाओं में मौलिक उपन्यासों का लेखन और अन्य भाषाओं से अनुवाद होते रहे। यह संभव है कि प्रकाशकों की अनुपलब्धता आदि अनेक कारणों से ग्रन्थाकार में प्रकाशित उपन्यास कम निकले हों क्योंकि बीसवीं सदी के तीसरे, चौथे, और पाँचवे दशकों में प्रकाशित ऐसे उपन्यास हमें बहुत कम संख्या में प्राप्त हो पाये।

छठे दशक से अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य को जिस प्रकार प्रोत्साहन मिला, साहित्य अकादेमी आदि सरकारी, अर्धसरकारी और गैर सरकारी संस्थाओं की ओर से सर्जनात्मक साहित्य को पुरस्कृत करने की योजनाएँ शुरू हुईं तथा उसके प्रकाशन हेतु अनुदान आदि की योजनाएँ भी प्रारम्भ हुईं। उससे संस्कृत लेखकों और प्रकाशकों में प्रकाशन के प्रति अधिक रुचि जागृत हुई। शायद यही कारण हो कि १९६० से अब तक संस्कृत उपन्यासों के प्रकाशन का विपुल अभिलेख प्राप्त होता है। कलकत्ता के श्रीनिवासशास्त्री ने अपना चन्द्रमहीपति उपन्यास १९३५ में शुरू किया, किन्तु वह १९५९ में जाकर प्रकाशित हुआ। विभिन्न संस्कृत पाठ्यक्रमों में आधुनिक संस्कृत उपन्यास व कथानक भी निर्धारित

किये जाएँ, यह प्रवृत्ति भी १९६० के बाद ही परिलक्षित होती है। इसके फलस्वरूप चन्द्रमहीपति, "कुसुमलक्ष्मी" (ए.आर. रत्नपारखी लिखित) आदि उपन्यास, डॉ. रामजी उपाध्याय की कृतियाँ तथा नवीन कथा संकलन विविध पाठ्यक्रमों में निर्धारित किये गये।

श्रीनिवासशास्त्री- इनका "चन्द्रमहीपतिः" बीसवीं सदी के संस्कृत उपन्यासकार की सभी तरह की प्रवृत्तियों का नमूना प्रस्तुत कर देता है। श्रीनिवासशास्त्री राजस्थान के लाम्बी ग्राम के मूल निवासी हैं। इनके पिता नवरंगरायशास्त्री राजगढ़ (बीकानेर) के प्रसिद्ध वैयाकरण थे। श्रीनिवास जी ने संस्कृत और आयुर्वेद का अध्ययन कर कलकत्ता में वैद्य के रूप में कार्य शुरू किया। इधर संस्कृत में कविता, गीतियाँ, उपन्यास आदि बराबर लिखते रहे। "चन्द्रमहीपतिः" इन्होंने १९३५ के आसपास लिखा था किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उसके बाद इसकी पांडुलिपि को निरन्तर निखार की प्रक्रिया से गुज़ारते हुए वे इसे एक आदर्श आधुनिक उपन्यास बनाने हेतु आधुनिक तत्त्वों, विचारधाराओं और शैलियों को जहाँ-जहाँ पाते गए उनका समावेश इस उपन्यास में करते गए और उपन्यास बढ़ता रहा। अन्ततोगत्वा सन् १९६० के आसपास यह प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास लगभग ३०० पृष्ठों में पूरा हुआ है और इसका मूल कथानक "चन्द्र" नामक एक राजा का जीवन-वृत्त है।

मूल कथानक यह है कि राजनगर का राजा चन्द्र अपने जीवन के विविध प्रकार के उतार-चढ़ावों को पारकर अन्त में बहुत समृद्धिशाली बन जाता है, किन्तु अपना सारा राज्य सर्वोदय सिद्धान्त के अनुरूप जनता के हित में लगा देता है, जनतांत्रिक चुनाव करवाता है और एक आदर्श राज्य की स्थापना करता है।

बाल्यकाल में ही चन्द्र के पिता राजा नवेन्दु ने विमलपुर के राजा रामपाल की राजकुमारी कमला के साथ चन्द्र का विवाह करना स्वीकार कर लिया था। जिस दिन राजकुमार चन्द्र युवराज के रूप में अभिषिक्त होने वाले थे उसके पहले दिन वे शिकार खेलने निकले और एक शेर का पीछा करते-करते साथियों से विछुड़ गए, घायल हो गए और विमलपुर पहुँच गए। एक संन्यासी की परिचर्या से वे स्वस्थ हुए और वहीं उनकी मुलाकात राजकुमारी कमला से हुई। दोनों स्नेहसूत्र में बंध गए। चन्द्र ने "शशधर" के छद्म नाम से राजा रामपाल के यहाँ ही नौकरी शुरू कर दी और अपने पराक्रम से उसे इतना प्रभावित किया कि जब उसे यह मालूम पड़ा कि शशधर नाम से स्वयं राजकुमार चन्द्र उसके यहाँ रह रहा है तो उसने निश्चय किया कि राजकुमारी का विवाह धूमधाम से वहीं उनके साथ कर दिया जाएगा। इसी बीच खलनायक कान्तिसिंह और उसके कुछ साथी जो कमला को हथिया लेना चाहते थे उसे अचानक महल से उठा ले गए और एक गुप्त सुरंगों वाले सूने महल में उसे बंद कर दिया। वहाँ राजा कामेश्वरसिंह का राज्य था। उनकी भतीजी सरोजिनी जो स्वयं युद्धविद्या में निपुण थी इस इलाके में घूमती थी और कान्तिसिंह के कुकृत्यों पर भी नज़र रखती थी। चन्द्र कमला को ढूंढते हुए वहाँ पहुँचे और संयोग से

एक शेर के आक्रमण से सरोजिनी को बचाकर उन्होंने उसका भी स्नेह प्राप्त कर लिया। सरोजिनी ने वीरतापूर्वक कान्तिसिंह की क़ैद से कमला को छुड़वाया और चन्द्र ने कमला और सरोजिनी दोनों से विवाह कर लिया।

उधर चन्द्र के अचानक ग़ायब हो जाने के कारण उनके पिता उनकी खोज करवा रहे थे। उनके मंत्री का पुत्र शक्तिधर उन्हें खोजते-खोजते विमलपुर पहुँचा और यह तय हुआ कि चन्द्र सरोजिनी और कमला, दोनों रानियों तथा पुत्र के साथ अपने राज्य लौटेगा, किन्तु समुद्र-यात्रा में दुर्घटनावश सब बिछुड़ गए। चन्द्र किसी दूसरे राज्य में जा पहुँचा और अपने बुद्धिबल से वहाँ का राजा बन गया। संयोगवश कमला और उसका पुत्र उससे उसी राज्य (चित्रपुर) में मिल गए और वे सब सानंद अपने पैतृक राज्य राजनगर में लौट आए। राजा चन्द्र ने आदर्श शासन शुरू किया। एक बार बाढ़ के कारण जब सारे राज्य की प्रजा त्रस्त हो गई तो राजा ने अपनी सारी सम्पत्ति और महल आदि प्रजा को सौंप दिए। उन्होंने सर्वोदय सिद्धान्त का नये संदर्भों में प्रतिपादन किया और अपने राज्य में जनतांत्रिक शासन शुरू किया।

यह कथानक मूलतः प्राचीन आख्यायिकाओं की सी कथावस्तु पर बना है, किन्तु वर्णनों तथा विचार-शैली में सब जगह आधुनिक संदर्भ, विचारधाराएँ तथा स्थितियाँ जुड़ी हुई हैं। उपन्यास की एक विशेषता यह भी है कि आधुनिक समय में प्रयुक्त होने वाले शस्त्रास्त्रों, भोज्यपदार्थों तथा अन्य वस्तुओं के लिए नये-नये शब्द लेखक को गढ़ने पड़े हैं। आधुनिक परिवेश के वर्णन के लिए, ध्वनि-साम्य तथा अर्थबोध के लिहाज से संस्कृत व्याकरण के अनुसार नये शब्द गढ़ने की प्रवृत्ति संस्कृत विद्वानों में, विशेषकर आधुनिक काल में, बहुत अधिक देखी जा सकती है। श्रीनिवासजी ने भी इसी प्रकार के सैकड़ों नये शब्द इस उपन्यास में प्रयुक्त किए हैं। कुछ ध्वनिसाम्य के आधार पर बनाये गये हैं जैसे "गैस" के लिए "गैष", टैंक के लिए "आटंकन" और तारपीड़ों के लिए "तारपीड़क", व कुछ अर्थ के आधार पर बने हैं, जैसे पैराटूपर के लिए "छत्रधारी सैनिक", एन्टीएयर क्राफ्ट गन के लिए "वायुयान विध्वंसक तोप" आदि। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि लेखक संस्कृत में आधुनिक शब्दों का समावेश करके संस्कृत की विपुलता का अहसास कराने के लिए ही ऐसे संदर्भ जानबूझकर जोड़ रहा है। लेखक ने उपन्यास की भूमिका में यह इच्छा भी की है कि इसे पाठ्यक्रम में लगाया जाए ताकि उस नवलेखन से छात्र परिचित हो सकें।

उपन्यास-लेखक का यह भी प्रयत्न प्रतीत होता है कि विविध प्रकार की प्राचीन और नवीन शैलियों और शिल्पों का समावेश एक साथ ही इसमें मिल जाए। इसीलिए कहीं-कहीं बाणभट्ट की तरह अलंकृत शैलियों का प्रयोग, वर्णनों में मिलता है। जैसे-"एकाकिनी अनीकिनीव कामस्य कमला एकस्यां निम्बाम्रोदुम्बरकदम्बजम्बूजम्बीरशोभितायां चलदलबकुलकुलसंकुलायां कर्कन्धूबन्धूकबन्धुरायां लोललतालसितायां मसृणश्वेतशिलायां कमलकुड्मलेषु सानन्दमुपविष्टा कमलेव राजते। (तृतीय निःश्वास) और, कहीं-कहीं आधुनिक

शैली के छोटे-छोटे कथोपकथन भी मिलते हैं। उपन्यास निश्वासों में विभक्त है। कुल ६ निश्वास हैं। प्रत्येक निश्वास के प्रारम्भ में उसकी कथावस्तु से मेल खाते हुए प्राचीन कवियों के तथा कुछ नव-निर्मित पद्य उद्धृत किए हुए हैं। बीच-बीच में प्रसंगवश गीतियाँ और कविताएँ दी गई हैं। स्वयं लेखक भी एक पात्र बनकर उपन्यास में आता है। "कविताकांत" लेखक की उपाधि है। उसका संक्षेप के.के. शास्त्री बनाकर उसे ही एक पात्र के रूप में लेखक ने राजा चन्द्र से मिलाया है। राजा को यह कवि अनेक कविताएँ सुनाता है। उपन्यास के नायक चन्द्रमहीपति के मुख से लेखक ने अपने सामाजिक और राजनैतिक सिद्धान्त विवेचित करवाए हैं। उसकी मान्यता है कि विदेशी साम्यवाद या समाजवाद इस देश में नहीं पनप सकता। हमें अपने ढंग का समाजवाद लाना होगा। इस समाजवाद को लेखक ने "सर्वाभ्युदयवाद" की संज्ञा दी है और चन्द्रमहीपति के राज्य में इसी के अनुसार शासन चलना बतलाया है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उपन्यास में कथा-लेखन की विविध शैलियों, शिल्पों और कथ्यों का एक जगह समावेश है। देवकीनन्दन खत्री के "चन्द्रकान्ता संतति" जैसे उपन्यासों की तरह तिलिस्म और औत्सुक्य की भी योजना है। नायक चन्द्र, खलनायक कान्तिसिंह के आदमियों से निपटने के लिए कई प्रकार के प्रयोगों का आश्रय लेता है। खलनायक के आदमी संकेत भाषा में पत्र लिखते हैं और अपना पता नहीं देते। पते के स्थान पर "श्वेत कन्दरा" लिख देते हैं। नायक चन्द्र जब कामेश्वरसिंह के राज्य में जाता है तो बहुत जल्दी वहाँ के आदमियों के भ्रष्टाचार और अराजकता की थाह पा लेता है। इसके अतिरिक्त छद्मवेश में राजनैतिक गतिविधियों पर आँख रखने वाले संन्यासी और पुरुष-वेश में घोड़े की सवारी करने वाली महिलाएँ तथा तलवार लेकर घूमने वाले सामाजिक भी उपन्यास में औत्सुक्य, उत्साह और कुतूहल की सृष्टि करते हैं।

जहाँ इस प्रकार के सस्पेन्स और टेरर के तत्त्व इस उपन्यास में मिलते हैं वहाँ नायक और नायिका के पूर्वराग के वर्णन में श्रृंगाररस की मधुर सरिता भी बहती है। विवाह के दृश्यों मे चन्द्र के साथ-नव-युवतियों की चुहलबाज़ी तथा उसका कमला के साथ प्रगाढ़ प्रेम एक रूमानी वातावरण की सृष्टि करते हैं। नायक का तीन रानियों के साथ विवाह करना, आधुनिक औचित्य की कसौटी पर कसा जाए तो अवश्य अवांछनीय लगेगा, किन्तु लगता है इस प्रसंग में लेखक ने प्राचीन राजघरानों की परम्परा को ध्यान में रखा है। अन्य अनेक मान्यताएँ आधुनिक युग से संगति रखती हुई हैं। स्थान-स्थान पर लेखक ने कभी नये शब्द बनाने की आवश्यकता को देखते हुए और कभी प्रौढ़ता लाने की लालसा में व्याकरण से अननुमत प्रयोग भी किए हैं। वे आधुनिक युग की प्रवृत्ति का परिचय देते हैं। राजसभा में एक नर्तकी नृत्य के साथ एक गीत गाती है।

"मम मनो व्याकुलम्।
रात्रिंदिवमलिमिलनं चिन्तत्।।"

यह गीति "मन मोरा बावरा" की धुन पर है। अन्य अनेक गीत राजस्थानी लोकगीतों की धुन पर हैं। स्पष्ट है कि ऐसी आधुनिक गीतियों के गुम्फन में नव-लेखक की व्याकरण के बन्धनों में कुछ शिथिलता बरतनी होती है। श्रीनिवास शास्त्री की अन्य कृतियाँ भी हैं जैसे, 'सूर्यप्रभा किं वा वैभवपिशाचः', किन्तु पुस्तक रूप में प्रकाशित यही कृति सामान्यतः परिज्ञात है। आज के साहित्य-संकुल युग में अन्य भारतीय भाषाओं में जो नये-नये प्रयोग हो रहे हैं उनके प्रतिबिम्ब यदि संस्कृत जैसी पुरानी भाषा में, आज तक, नवचेतना के प्रतीक के रूप में प्रतिफलित हो रहे हैं तो यह इस भाषा की जीवन्तता का आश्चर्यजनक प्रमाण है। श्रीनिवासजी जैसे आधुनिक संस्कृत लेखकों को इसका श्रेय जाता है।

पिछले वर्षों में ऐसा बहुत कम हुआ है कि "संस्कृतचन्द्रिका" काल की तरह पत्र-पत्रिकाओं में उपन्यास धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुए हों, तथापि कर्णाटक की सुधर्मा जैसी पत्रिकाओं में कुछ उपन्यास क्रमिक रूप में भी निकले। केशवचन्द्र दाश (उड़ीसा) के तिलोत्तमा (१९८३), मधुपानम् (१९८४) शीतलतृष्णा (१९८३) आदि उपन्यास इसी प्रक्रिया से सामने आये। उत्तर प्रदेश के वेदव्यास शुक्ल उपन्यासों की रचना में निरन्तर संलग्न हैं। सामाजिक संदर्भों से जुड़े उनके अनेक उपन्यास पुस्तकाकार में देवरिया से प्रकाशित हुए हैं, जिनमें सौप्रभम्, कौमारम् (१९८६) आदि गिनाये जा सकते हैं।

डॉ. रामजी उपाध्याय जो स्वयं सर्जनात्मक गद्य-साहित्य के प्रणेता हैं और गंभीर विवेचक तथा साहित्येतिहासकार भी, अनेक स्तरीय उपन्यासों की सृष्टि करते रहे हैं। उनके "द्वा सपुर्णा", "सत्यहरिश्चन्द्रोदयम्" सुप्रसिद्ध हैं। "सागरिका" पत्रिका के संपादक के रूप में संस्कृत के सुधी पाठक उनसे सुपरिचित हैं।

देश की ग़रीब जनता को वर्ण्यविषय बनाकर प्रकाशित उपन्यासों में जैसे "दरिद्राणां हृदयम्" (पं. नारायणशास्त्री खिस्ते) का नाम प्रथमतः आता है उसी प्रकार "जयदरिद्रनारायणम्" (आचार्य रामदेव) भी काशीविद्यापीठ मुद्रणालय, काशी से निकला है (१९६६)।

बिहारीलाल शर्मा का लिखा "मंगलायतनम्" भी १९७५ में वाराणसी से प्रकाशित हुआ। विद्याधर द्विवेदी ने "चक्रवत् परिवर्तन्ते" लिखा जो १९७८ में मिर्जापुर से प्रकाशित हुआ। राजनैतिक समस्याओं और सामाजिक गुत्थियों पर संस्कृत का उपन्यास-लेखक जागरूकता के साथ लिख रहा है इसका प्रमाण जिस प्रकार सामाजिक घटनाओं पर लिखी लघुकथाओं में मिलता है इसी प्रकार उपन्यासों में भी। "मंजूषा" पत्रिका में १९५० से निरन्तर धारावाहिक रूप से प्रकाशित "सीमासमस्या" जैसे उपन्यास (जिसमें एक वामपन्थी विचार धारा के युवक को केन्द्र में रखकर इसके लेखक श्रीगंगोपाध्याय ने सीमा की समस्या को वर्ण्य विषय बनाया है) इसका एक निदर्शन है। जैन उपन्यासकारों का अवदान बहुत प्राचीनकाल से संस्कृत में बहुमूल्य माना जाता रहा है। रूपकात्मक उपन्यास का एक विलक्षण उदाहरण है सिद्धार्थ गणी की "उपमितिभवप्रपंचकथा" जिसमें सांसारिक कर्मबन्धनों की पीड़ा तथा जन्ममृत्यु के चक्र को चित्रित करने हेतु एक कथानक का रूपक बाँधा गया है और अप्रस्तुत विधान द्वारा एक उपन्यास की सृष्टि की गई है। अलंकृत, समस्तपदघटित

और प्रौढ शैली में इस रूपक को जिस आकार में लिखा गया है उसे उपन्यास के वर्ग में ही वर्गीकृत किया जा सकता है। यह प्राचीन उपन्यास जैन समाज में ही नहीं, कथासाहित्य के व्यापक इतिहास में भी उल्लेखनीय माना जाता है। जैन मुनियों में संस्कृत वैदुष्य प्राप्त कर लेखन करने की जो परम्परा आजतक प्रचलित है उसी की यह देन हैं कि आज भी श्री चन्दन मुनि जैसे कथाकार संस्कृत कथा व उपन्यास लिख रहे हैं। उनके "आर्जुनमालाकारम्" विराटनगर (नेपाल) चिकपैठ बैंगलौर से १६६६ में और "प्रभवप्रबोधकाव्यम्" विलेपार्ले बंबई से १६७० में प्रकाशित हुए। मुनिगुलाबचन्द्र निर्मोही की रत्नपालकथा अहमदाबाद से १६७१ में प्रकाशित हुई।

नवयुगीन कथ्य-आधुनिक नगर जीवन के, राजनैतिक उठापटक के, आर्थिक उतार-चढ़ावों के, सरकारी नौकरी और व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा के घात-प्रतिघातों के समसामयिक परिवेश का आधुनिक शैली में, कथोपकथन प्रणाली का प्रयोग करते हुए आधुनिक उपन्यासों का सर्जन भी आज विपुल मात्रा में हो रहा है। ऐसे अनेक उपन्यासकार हैं जो इस प्रकार के आधुनिक परिवेश का चित्रण करते हुए समसामयिक कथावस्तु पर आधारित उपन्यास लिख रहे हैं। इनके प्रतिनिधि के रूप में उड़ीसा के **केशवचन्द्रदाश** का नाम लिया जा सकता है जो पुरी के जगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय में न्यायदर्शन विभाग के अध्यक्ष हैं।

श्री केशवचन्द्रदाश के शीलतृष्णा, प्रतिपद्, निकषा, अरुणा, अंजलिः, आवर्तम्, ऋतम्, मधुयानम्, तिलोत्तमा, शिखा, विसर्गः, शशिरेखा, ओंशान्तिः आदि उपन्यास तथा निम्नपृथिवी, दिशा विदिशा, ऊर्मिचूडा, पताका, महान्, एकदा आदि लघुकथासंग्रह प्रकाश में आ चुके हैं।

उनके लिखे १५-२० उपन्यास अब तक दृष्टिपथ में आ चुके हैं, जिनमें वर्तमान भारतीय जनजीवन और राजनीति अथवा नगरजीवन की घटना को लेकर सहज और अनलंकृत शैली में उपन्यास की प्रस्तुति की गई हैं। छोटे-छोटे वाक्य, सरल किन्तु संकेतात्मक शैली में परिवेश तथा मानवीय मनःस्थितियों का चित्रण, यथार्थपरक वार्तालाप की शैली के कथोपकंथन इन सब योजनाओं के फलस्वरूप ये उपन्यास आधुनिकता की कसौटी पर कसे जा सकते हैं। आज के परिवेश में ग्रामजीवन के निष्कपट समाज को छोड़कर व्यापार से धन कमाने या राजनीति और चुनाव की सफलताओं द्वारा चमकदमक का जीवन जीने के लिए किस प्रकार नवयुवक नगर जीवन की फैशन, उन्मुक्त विलासिता की ओर आकृष्ट हो जाते हैं, किन्तु यथार्थ की कड़वी सच्चाई कुछ और ही है अतः अन्त में किस प्रकार उनका मोहभंग होता है यह उनके कुछ उपन्यासों की कथावस्तु रही है। शिखा नामक उपन्यास में गाँव के समृद्ध भूमिपति कुलमणि का पुत्र विलास किस प्रकार पढ़ लिख कर बड़े शहर में पहुँच कर राजनीति और व्यापार में सफलता के प्रयत्न करता है, विलास बाबू बन जाता है, अपने पुराने विश्वस्त नौकर मुर्मू की सेवा के बल पर कुलमणि जीवित रहता है। विलास की संगिनी शम्पा आधुनिका है, रोजा उसकी सेक्रेटरी है। किन्तु

चुनावी उतार-चढ़ाव, व्यापार के घाटे, ऋणभार आदि के कारण विलास अन्त में टूट जाता है। कुलमणि की मृत्यु के समय भी वह नहीं पहुंच पाता। उसका वफादार नौकर, मुर्मू ही उसे मुखाग्नि देता है। अपनी पुत्री रजनी के नाम कुलमणि संपत्ति सौप जाता है, विलास लापता हो जाता है।

देशों और प्रदेशों की सीमाओं के आपसी झगड़ों से प्रेरित होकर शायद **रामकरण शर्मा** (जन्म १६२७) ने "सीमा" उपन्यास लिखा है। इसकी शुरुआत होती है लेखक (जो एक संस्कृत पंडित है) के अभिन्न मित्र यूसुफ़ के साथ चर्चा से। वह अपने पिता से सुनी एक पुरानी कहानी उसे सुनाता है जिसमें बतलाता है कि पहले वारुणदेव में परमर्षि गालव ने महासीमासिद्ध के प्रयोग अपने प्रज्ञाबल से किये थे। उस समय सौर विज्ञान का धनी ऐन्द्र देश, कौबेर देश, दुर्ग, वासव इत्यादि देश भी थे। किस प्रकार विभिन्न आक्रमण और प्रत्याक्रमण आदि की आशंकाओं के निवारण के लिये परमर्षि सौहार्द और सौमनस्य के ऐसे परमाणु अपने सिद्ध प्रयोग से बिखेरते हैं कि अन्ततः सारे देशों का हृदय परिवर्तन हो जाता है और वे परस्पर समन्वय के साथ रहने लगते हैं। न सीमा के झगड़ों में शक्ति व्यय होती है, न आशंकायें रहती हैं। विकास और समृद्धि बढ़ती रहती है। इस देश का नामकरण मनोहर किया है लेखक ने। उपन्यास सात खंडों में विभक्त है, जिनके अलग से शीर्षक नहीं दिये गये हैं केवल संख्यांकन किया गया है।

ब्रह्मर्षि का पात्र इसमें सर्वोच्च आध्यात्मिक शक्ति संपन्न है, वही नायक है। उपन्यास की शैली प्रौढ़ और ललित है। विषयवस्तु ही ऐसी है कि अलंकृत और दीर्घसमासघटित शैली इसके साथ न्याय नहीं कर सकती, अतः सुदीर्घ-समस्तपद, बहुत लम्बे वाक्य आदि इसमें नहीं है, तथापि प्रौढ़ता के लिहाज से समासों-अन्वयापेक्षी वाक्य खंडों तथा कहीं औपम्यादि अलंकारों की छटा का योजन लेखक ने किया है।

"रयीशः" उपन्यास "रईस" हिन्दी शब्द का संस्कृतीकरण है, किन्तु इसकी कल्पना यह है कि रयि (धन) के ईश धनपति आज जिस प्रकार षड्यंत्रों, आतंकों, व्यस्तता में फंसे हैं, अपराध और उपद्रव नये युग के महानगरों की परिभाषा बन गई है, उससे ऊपर उठकर क्या ऐसी स्थितियाँ कभी रहीं होंगी कि हम धनपति, सुसमृद्ध, सुशासनबद्ध रहें, किन्तु अपराध, छलप्रपंच न हों, नगरीकरण की व्यस्तता न हो। इसीलिये इसमें लेखक ने पाटलिपुत्र के प्राचीन परिवेश (सुमनःपुर) के संदर्भ में ऐसी स्थितियों का चित्रण किया है-जिनमें रयीश लोग गाँवों और कस्बों में शांतिपूर्वक रहते हैं। महानगरों और राजधानियों में नहीं पढ़े लिखे हों, शास्त्र साहित्य, संगीत, उपवन, पशुपालन आदि में रुचि रखते हों, विज्ञान उनका अनुचर हो। अपराधियों की आँखें चौधियाने, उन्हें निष्क्रिय बनाने के नवीनतम वैज्ञानिक प्रज्ञानिःसृत उपकरण हों। ऐसे आदर्श प्रदेश को देखकर बड़े-बड़े सत्ताधारी चमत्कृत होते हैं। उपन्यास बारह खंडों में विभक्त है। इसमें संख्यांकन द्वारा खंड विभाजन है, अलग-अलग शीर्षक नही दिये गये हैं।

रामकिशोर मिश्र लिखित "विद्योत्तमा", "अन्तर्दृष्टि" आदि की जानकारी भी मिली है। राजस्थान के युवालेखक उमेश शास्त्री "मधु" के लिखे उपन्यास भी अद्युनातन शैली में निबद्ध हैं। उन्होंने कथावस्तु चाहे मध्यकालीन इतिहास के सुप्रसिद्ध पात्रों की ली हो, किन्तु कथोपकथन, परिवेशचित्रण और घटनाक्रम का निवेश सहज सरल और जीती-जागती शैली में किया है। उनका उपन्यास "बिल्वमंगलम्" इस नाम के प्रसिद्ध भक्त की प्रेमकथा पर आधारित है। कृष्णवेणी नदी के तट के एक छोटे से गाँव के निवासी पं. रामदास के पुत्र बिल्वमंगल का प्रेम चिन्तामणि नाम की वेश्या से किस प्रकार हो जाता है, उसके न्यक्कार के फलस्वरूप बिल्वमंगल को भौतिक मोहावेश से विरक्ति हो जाती है, वह स्वयं अपने नेत्र फोड़ लेता है और भक्तिरस में आकंठ डूब जाता है, इस घटना को उपन्यास का रूप देकर उन्होंने १६८६ में इसे जयपुर से प्रकाशित किया है। उमेशशास्त्री मूलतः हिन्दी में भी कथाएँ और उपन्यास लिखते रहे हैं। उनके कुछ उपन्यासों और कहानियों का संस्कृत अनुवाद भी हुआ है। कुछ का उन्होंने स्वयं किया है, कुछ का अन्य विद्वानों ने।

ऐसा ही एक उपन्यास है "रसकपूरम्"। इसका कथानक जयपुर राज्य की एक मध्यकालीन घटना पर आधारित है। जयपुर के मुग़लकालीन राजा जगतसिंह का प्रेम रसकपूर नामकी नृत्यांगना से हो जाता है। वे अपना सबकुछ उस पर न्यौछावर कर देते हैं- उसे आधा राज्य तक देने का निर्णय कर लेते हैं। अन्तःपुर के और सामन्तों के षड्यंत्रों के बावजूद रसकपूर का वर्चस्व वर्षों तक पूरी रियासत पर रहता है, किन्तु धीरे-धीरे षड्यंत्रकारियों की योजनाएँ सफल हो जाती हैं और रसकपूर को नज़रबन्द कर दिया जाता है। उसे दयनीय स्थितियों में जीवन के अन्तिम दिन बिताने होते हैं। हिन्दी में श्रीउमेश शास्त्री के लिखे इस उपन्यास का अनुवाद "रसकपूरम्" नाम से पं. मोहनलाल पांडेय ने किया है। होने को तो यह अनुवाद है किन्तु यह शैली, वाक्यविन्यास और वर्णन-प्रसंगों में पूर्णतः मौलिकता लिये हुए है। कथा का आधार-पात्र लेकर श्री पांडेय अपनी ललित और अलंकृत शैली में वर्णनों को कलात्मक विस्तार देते हैं- वाक्यों का विस्तार कर उन्हें अलंकृत संस्कृत गद्यकाव्य का सा रूप देते हैं तथा कहीं-कहीं पद्यों को गद्यकाव्य का सा रूप देते हैं और कहीं-कहीं पद्यों का भी समावेश कर देते हैं। श्रीपांडेय मूलतः संस्कृतकवि हैं। भाषा पर उनके अधिकार और काव्यरचना-कौशल का प्रमाण इस उपन्यास में स्थान-स्थान पर मिलता है। यह उपन्यास भी बीसवीं सदी के अन्तिम दशक में जयपुर से प्रकाशित हुआ है। जयपुर के कथाकार गोस्वामी हरिकृष्ण शास्त्री ने रविठाकुर के "चोखेर बाली" का अनुवाद "उद्वेजिनी" शीर्षक से और चतुरसेन शास्त्री के "वैशाली की नगरवधू" का अनुवाद "आम्रपाली" नाम किया था ऐसी जानकारी मिली है किन्तु ये प्रकाशित नहीं हैं।

राजस्थान में फतेहपुर के वैद्य शंकर लाल शर्मा कवि के रूप में सुपरिज्ञात और समादृत हैं। इनका उपन्यास "शशिप्रभा" एक अलग पहिचान रखता है। यह उपन्यास, वर्णनात्मक निबन्ध, विमर्शात्मक गद्यकाव्य और चम्पूकाव्य सभी का समन्वय प्रतीत होता है। मूलतः इसकी कथावस्तु सेठ कृपासागर, उसकी पत्नी शशिप्रभा और उसके पुत्र रवि पर

आधारित है तथा विदेश में जाकर उसके डाक्टरी में निष्णात हो जाने तथा सेठ माणिक्यचन्द्र की पुत्री रमा से इसके विवाह की घटना के सूत्र पर अवलम्बित है। किन्तु इस कथासूत्र के साथ कश्मीरवर्णन, षड्ऋतुवर्णन, विवाह, समारोह-वर्णन आदि काव्यात्मक गद्यपद्य निबद्ध वर्णनों तथा सेठ कृपासागर द्वारा अपने पुत्र को दिये जा रहे पुरुषार्थ चतुष्टय, वर्णाश्रम, धर्माचरण की प्रक्रिया आदि के उपदेशों को गुम्फित कर लेखक ने इसे एक नया ही रूप दे दिया है और इसे गद्यकाव्य कहा है। कुल मिलाकर इसे उपन्यास विधा की ही रचना माना जाएगा। जयपुर से १९८५ में प्रकाशित यह उपन्यास संस्कृत कवियों द्वारा लिखे जा रहे गद्य का प्रतिनिधि नमूना प्रस्तुत करता है जिसमें उनकी अलंकृत शैली और काव्यात्मकता सहज रूप से गुथी रहती है। ऊपर के अनुच्छेद में "रसकपूरम्" आदि उपन्यासों की जो शैली संकेतित है उसी मार्ग पर ऐसे उपन्यास बड़ी संख्या में इस सदी में लिखे गये हैं।

दूसरी ओर कुछ ऐसे उपन्यास हैं जिनमें संस्कृत भाषा परिमार्जित होते हुए भी काव्यात्मकता बहुत सीमित रखी गई है। घटना, परिवेश, चरित्रचित्रण और कथोपकथन उपन्यासोचित हैं। ऐसा एक उपन्यास है "अविनाशि" जिसके लेखक हैं आसाम के सुप्रथित विद्वान् **विश्वनारायण शास्त्री।** इस पर उन्हें केन्द्रीय साहित्यअकादमी का साहित्य पुरस्कार (संस्कृतभाषा) भी मिल चुका है। यह आसाम के (प्रागृज्योतिष के) हर्षकालीन राजा भास्कर वर्मा को नायक बनाकर लिखा गया ऐतिहासिक उपन्यास है। भास्करवर्मा के पिता सुस्थितवर्मा के समय आसाम (कामरूप) पर गौड़ों का आक्रमण हुआ था। उसके पुत्र सुप्रतिष्ठित वर्मा और भास्कर वर्मा थे। बड़े भाई के निधन के कारण भास्कर वर्मा ६०१ ई. में सिंहासन पर बैठा। वह विवेकी और प्रतापी था। थानेश्वर नरेश प्रभाकर वर्धन के ज्येष्ठ पुत्र राज्यवर्धन (राज्यश्री का भाई) मालव विजय के लिए रवाना होता पर गौड राजा उसे षड्यन्त्रपूर्वक मरवा डालता है और ६०६ ई. में हर्षवर्धन थानेश्वर की गद्दीपर बैठता है। इस हर्षवर्धन से सन्धि कर उसके सहयोग से किस प्रकार भास्कर वर्मा गौडों पर चढाई करता है, उन्हें खदेड़ देता है, स्वयं उनकी भूमि पर आधिपत्य स्थापित करता है, विद्वानों को दान देता है, हर्षवर्धन द्वारा कान्यकुब्ज में भी उसका ससम्मान स्वागत किया जाता है, आदि घटनाओं पर लिखा यह उपन्यास आधुनिक उपन्यासों की शैली में अलंकृत वर्णनों और काव्यात्मक अतिरंजनाओं से बचते हुए लिखा गया है। लेखक ने स्वयं भी यह दावा किया है कि यह आधुनिक निखालिस उपन्यास शैली में लिखा गया है। यद्यपि भूमिका में उसने स्वयं इस पर हर्षचरित का प्रभाव स्वीकार किया है। यह प्रभाव कथात्मक भी हो सकता है और शैलीगत भी।

वैसे उपन्यास में कथोपकथन सजीव और सहज बन पड़े हैं। लम्बे अलंकृत वाक्य न होकर कथानक और परिवेश को बनाने वाले छोटे प्रवाहमय वाक्य हैं। लेखक असमिया और अंग्रेज़ी में लिखता रहा है तथा पारस्परिक अनुवादकार्य करता रहा है।

जयपुर के **गणेशराम शर्मा** के तीन उपन्यास सुविदित हैं- "जीवतोऽपि प्रेतभोजनम्"

"मूढचिकित्सा" और "मामकीनो जीवनसंघर्षः"। इनमें अन्तिम तो लेखक की आत्मकथा ही है जिसे उपन्यास न कहकर आत्मचरित या आत्मकथा कहना ही उपयुक्त होगा। शेष दो उपन्यास हैं। "जीवतोऽपि प्रेतभोजनम्" को लेखक ने एक सत्य घटना पर आधारित बनाया है। यह सात परिच्छेदों में विभक्त है और सामाजिक कथावस्तु और रूढिग्रस्त मानसिकता पर प्रहार इसके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है। मृत्युभोजों की रूढि के कारण किस प्रकार अनेक परिवार ऋणग्रस्त या बर्बाद हो जाते हैं इसे स्पष्ट करते हुए लेखक ने ऐसी घटना चुनी है जिसमें मध्यवित्त रूढिग्रस्त परिवार के एक सदस्य की मृत्यु की सूचना आ जाने पर ग्राम के पंच और बान्धव उसकी मुक्ति के लिए मृत्यु भोज आवश्यक बनाते हैं। कोई साधन न होने के कारण उसके बहनोई आदि मिलकर उसके ग़रीब पिता की जिसका निधन पहले ही हो चुका होता है, सारी संपत्ति बेचकर प्रेतभोजन कराते हैं, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि उसकी मृत्यु की खबर झूठी होती है। वह अन्ततः गाँव लौटता है और पाता है कि उसके पास अब जीने का कोई सहारा नहीं बचा है, सारी संपत्ति बिक चुकी है। और अधिक आश्चर्य की बात यह होती है कि बहनोई को ज्ञात होता है कि वह मरा नहीं है पर वह गाँव से यह छिपाता है। अब उस तथाकथित "जीवित प्रेत" के पास आक्रोश के अलावा और कोई चारा नहीं रहता।

उपन्यास यहीं समाप्त हो जाता है। यह गुरुकुलपत्रिका में धारावाहिक प्रकाशित हुआ था (वर्ष २२ अंक ७,८,६,१० मार्च-जून १६७०)। इसमें रूढ़ियों पर प्रहार का उद्देश्य सफल हुआ। मृत्यु भोज की रूढि के साथ लेखक ने यह भी चित्रित किया है कि मृत्युभोज पर प्रतिबन्ध होने के कारण प्रशासन और पुलिस ने उसे रोकना भी चाहा था पर उसी बिकी संपत्ति में से रिश्वत देकर आयोजक राजकीय प्रतिबंध से बचे रहे।

"मूढचिकित्सा" उपन्यास २१ प्रकरणों में विभाजित है। इसमें भी घटनावैचित्र्य मिलता है। मूढतापूर्वक पहले इलाज कैसे किया जाता था इसके अनूठे तरीके बतानेवाली घटनाओं के साथ-साथ शिक्षाप्रद सन्देश भी अन्त में निष्कृष्ट होता है। लेखक की एक कहानी इसी शीर्षक से प्रकाशित है। उसके आधार पर यह उपन्यास लिखा गया है। इसमें अर्धदग्ध गंवार तांत्रिक और ओझा रोगों के इलांज के नाम पर किस प्रकार टोने-टोटके करके लोगों को पीड़ित किया करते थे यही आधारभूत कथावस्तु है। औषध प्रयोग की बजाय टोने-टोटके करने यहाँ तक कि अच्छे भले पढ़े लिखे व्यक्ति को भी झाड़-फूंक और गर्म सलाखों से दागने तक की पीड़ा देने में उसके अन्धविश्वासी ग्रामीण संबंधी नहीं हिचकते यह सब इसमें वर्णित है।

आधुनिक शैली के सशक्त उपन्यासों के उल्लेखनीय सर्जक के रूप में हसूरकर परिवार ने भी चिरस्मरणीय लेखन किया और वह श्रृंखला अब भी चल रही है यह हर्षप्रद है। प्रसिद्ध विद्वान् श्रीपाद शास्त्री हसूरकर विख्यात सर्जनात्क लेखन के धनी भी थे यह सुविदित है। उन्होंने अन्य विधाओं की कृतियों के साथ-साथ गद्यग्रन्थ भी लिखे हैं।

रुद्रदत्त पाठक-(जन्म-१६१७) बिहार के वर्तमान औरंगाबाद जिला के प्रसिद्ध "देव"

ग्राम के निवासी थे गया तथा कलिकाता में सुगृहीतविद्य स्व. पाठकजी द्वारा लिखित "भारतीय रत्नचरितम्" का प्रकाशन १९६२ में तथा द्वितीय सं. का प्रकाशन १९८३ में हुआ। (प्रकाशक श्री विष्णुप्रकाशन, देव, औरंगाबाद बिहार) इसमें सप्तम वैवस्वत मनु से लेकर १९४७ तक के भारत की प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओं का संक्षिप्त किन्तु काव्यात्मक वर्णन किया गया है। इसकी घटना-प्रधानता के कारण इसमें लेखक का कवित्वपक्ष दब गया है, फिर भी भाषा विषय के उपयुक्त होने के कारण उद्वेजक नहीं है। राष्ट्रीय भावना से भरी यह रचना पठनीय तो है ही, साथ ही संस्कृत के प्रवर्तमान गद्य लेखकों के लिए बहुत कुछ अनुकरणीय भी है।

दुर्गादत्त शास्त्री ग्राम नलेटी, तहसील देहरा जिला कांगड़ा (हिमाचल प्रदेश) के निवासी हैं। अनेक रचनाओं जैसे राष्ट्रपथप्रदर्शनम् (काव्य), तर्जनी (काव्य), मधुवर्षणम् (काव्य), वत्सला (नाटक), तृणजातकम् (एकाङ्की) तथा लघुकृतियों, छायाविलासः, अनारकली, रेलमंत्री के रचनाकार शास्त्री जी की उपन्यास रचना 'वियोगवल्लरी' का प्रकाशन १९८७ में हुआ। उसकी कथावस्तु मौलिक, किन्तु प्राचीन कथाओं की शैली में निबद्ध है, जिसमें कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग हुआ है। लेखक के अनुसार "लुप्त हो रही भारतीय संस्कृति, हमारी प्राचीन सभ्यता एवं राष्ट्रीय एकता और अखण्डता की एक वेदना का परिणाम ही यह संस्कृत गद्यकाव्य है।"

श्रीनाथ हसूरकर (१९२४-१९८८, मध्य प्रदेश)-"संस्कृतभारतनररत्नमाला" नाम से ख्यात ग्रन्थ श्रृंखला के प्रणेता श्रीपाद शास्त्री हसूरकर (जन्म १८८२) के सुयोग्य पुत्र श्रीनाथ हसूरकर की आरम्भिक शिक्षा इन्दौर में हुई। मध्य प्रदेश के शासकीय संस्कृत महाविद्यालय, नीमच में ये प्राचार्य रहे। इन्होंने संस्कृत में गद्यलेखन १९७२ से आरम्भ किया। इनके कई ऐतिहासिक उपन्यास प्रकाश में आये -अजातशत्रुः (श्रीलाल बहादुरशास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली से १९८४ में प्रकाशित), सिन्धुकन्या (लेखक द्वारा नीमच से स्वयं प्रकाशित, १९८२), प्रतिज्ञापूर्तिः (उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी, लखनऊ से १९८३ में प्रकाशित) दावानलः (उत्तर प्रदेश सं. अकादमी, लखनऊ से १९९१ में प्रकाशित)। इनके अतिरिक्त उन्होंने "चेन्नमा" और "व्रती" लिखे। चेन्नमा उपन्यास क्रमशः"दूर्वा" (मध्य प्रदेश संस्कृत अकादमी की पत्रिका) में छपा। "सिन्धुकन्या" पर हसूरकरजी को "साहित्य अकादमी" पुरस्कार प्राप्त हुआ।

"प्रतिज्ञापूर्ति" में चाणक्य की दो प्रतिज्ञाओं-भारत से यवनों का निष्कासन एवं नन्दवंश का समूल विनाश, की पूर्ति की कथा वर्णित है। यहाँ पहली की अपेक्षा दूसरी प्रतिज्ञा को प्रमुख लक्ष्य मानकर कथावस्तु का विस्तार किया गया है। यह २२ परिच्छेदों में विभक्त है।

लेखक ने ऐतिहासिक कथावस्तु में कल्पनाप्रसूत प्रसंगों को भी अनुस्यूत किया है। इसमें तत्कालीन राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण रोचक है। संस्कृत भाषा पर लेखक का अधिकार है। कथा-नायक चाणक्य राजनीति तथा कूटनीति में

निपुण है, तथापि भोग-विलास से सर्वथा निर्लिप्त है, वह दृढप्रतिज्ञ, कर्मठ और विहिताविहित उपायों का प्रयोक्ता है। उसके चरित्र का चरम उत्कर्ष उपन्यास के अन्त के इस कथन से अभिव्यक्त हो जाता है-

एवञ्च पूर्णप्रतिज्ञस्य मम मानसं पुनरपि निवृत्तिमार्गमनुसर्तुं व्याकुलम्। महान खलु अतीतः कालः पापैर्यवनैर्विध्वंसितं तदाश्रमपदं परित्यज्य प्रतिज्ञापूर्त्यर्थं देशाद् देशान्तरं प्रवसतो मम। आचार्यचरणानां तां चरमामाज्ञां पालयितुमहर्निशं प्रयतमानेन मयाऽवधीरितः श्रेयस्करो निवृत्तिमार्गः। स्वीकृतः क्लेशबहुलः प्रवृत्तिमार्गः। आश्रितः कपटकुटिलो राजनीतेर्मायावी पन्थाः। प्रदर्शितश्च दुष्टसांसारिकपुरुषवत् अन्यविनिपातने स्वबुद्धिविलासप्रकर्षः। दिष्ट्या सुष्ठु परिणतं सर्वम्। इत ऊर्ध्वमपि राजनीतिमार्गमिममशान्तिसङ्करं दुर्नीतिबहुलमनुसर्तुं तु नेच्छति ममान्तरात्मा। निर्विण्णोऽस्मि विश्वासघातिभिरेतैः शाठ्यबहुलैः राजनैतिकव्यापारैः। शमधना वासनाविजयमेव विजयमनुत्तमं मन्यमाना अस्मादृशा आश्रमवासिनः क्व, क्व चायं समुद्वेगकारीर्ष्योदग्रः चिन्ताकुलो मार्गः। दिष्ट्या प्रतिपन्नमेवायुष्मता यावनसङ्कटस्य मूलतो विनाशनमार्यसंस्कृते रक्षणञ्च। तत् श्व एव ब्राह्मे मुहूर्ते प्रतिज्ञापूर्त्यर्थं किञ्चित्कालपर्यन्तमुज्झितं निवृत्तिपथमनुसर्तुं बनं शान्तं यास्यामि। (पृ.१६८)

(इस प्रकार मैंने प्रतिज्ञा पूरी कर ली, फिर मेरा मन निवृत्ति के मार्ग पर चलने के लिए व्याकुल है। पापी यवनों द्वारा नष्ट किये गये शान्त उस आश्रम-पद को छोड़, प्रतिज्ञापूर्ति के लिए देश-देशान्तर में भटकते मेरा अधिक समय बीत गया। आचार्य चरण की उस अन्तिम आज्ञा के पालन के लिए दिन-रात प्रयत्न करते हुए मैंने कल्याणकारी निवृत्ति के मार्ग की उपेक्षा की, क्लेश से भरा प्रवृत्ति का मार्ग पकड़ा, कपट से टेढे राजनीति के मायावी मार्ग का आश्रयण किया, दुष्ट सांसारिक व्यक्ति की भाँति दूसरों को गिराने में अपनी वृद्धि का प्रकर्ष दिखलाया। भाग्य से परिणाम अब अच्छा हुआ। इसके बाद भी, मेरी अन्तरात्मा अशान्ति से ग्रस्त, दुर्नीति से भरे इस राजनीति के मार्ग पर चलना नहीं चाहती। शम के धन वाले, वासना पर विजय को ही श्रेष्ठ मानते हुए हम जैसे आश्रमवासी कहां और यह ईर्ष्या से उदग्र, समुद्वेग उत्पन्न करने वाला, चिन्ताकुल मार्ग कहां ? सो कल ही ब्राह्म मूहूर्त में, प्रतिज्ञा-पूर्ति के लिए कुछ काल तक छोड़े निवृत्ति मार्ग पर पुनः चलने के लिए शान्त वन के लिए प्रस्थान करूंगा।)

दावानल (उपन्यास) में सोलह परिच्छोदों में सोमनाथ मन्दिर के ऊपर महमूद गजनवी के आक्रमण तथा वहां की स्थिति का सामना करने के लिए राजा जयपाल द्वारा प्रयुक्त प्रभावकारी कदम का वर्णन है। इसमें जयपाल, उसके पुत्र आनन्दपाल और पौत्र सुखपाल, त्रिलोचनपाल तथा धर्मपाल की वीरता एवं कूटनीति का वर्णन उपलब्ध होता है। लेखक ने महमूद की महत्त्वाकांक्षा का वर्णन करते हुए कहा है कि वस्तुतः वह अपनी आकांक्षाओं का दास था। उसकी लोकेषणा और वित्तेषणा की कोई सीमा न थी, उसमें पाप-पुण्य का कोई विवेक न था, सिंहासन-प्राप्ति के हेतु अपने भाई इस्माइल के साथी भी छल-बल का प्रयोग करने में उसे कोई संकोच नहीं था।

हम कह सकते हैं कि हसूरकर जी को प्रायः उनकी सभी रचनाओं में शिल्प और कथ्य, दोनों दृष्टियों से सफलता मिली है।

सत्यप्रकाश सिंह : अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में आचार्य रहे। इनका वैचारिक ग्रन्थ 'अरविन्ददर्शनम्' प्रकाशित है तथा इनका उपन्यास 'गुहावासी' १६६१ में मेहरचंद लछमनदास प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशित हुआ।

ओमानन्द रचनाकार का सहाध्यायी है, जो बचपन से विषय से निवृत्त चित्त का है, काशी में अध्ययन करते हुए वह अकस्मात् संन्यास लेकर कहीं चला जाता है। वह रचनाकार को भ्रमण के प्रसंग में हिलालय की एक गुहा में मिलता है। यहाँ यथार्थ-बहुल जीवन-सत्य का अन्वेषण रचनाकार का अभिप्रेत है। पूरी रचना प्रतीक रूप है। यहां वर्णित गुहा मानव के अन्तःपुर की गुहा को संकेतित करती हैं। उपन्यास की भाषा ललित-मधुर है।

श्याम विमल - इनका उपन्यास 'व्यामोही' सूर्य-प्रकाशन, दिल्ली से १६६१ में प्रकाशित हुआ। लेखक ने इसे पहले हिन्दी में लिखकर स्वयं संस्कृत में लिखा है। बंगला साहित्य के उपन्यासकार श्रीशरच्चन्द्र की भावुकता का लेखक श्याम विमल पर पुष्कल प्रभाव लक्षित होता है उनकी यह 'आत्मकथा' नारी के इर्दगिर्द प्रवाहित है। मनःस्थितियों के चित्रण में लेखक सफल है। हिमालय की उपत्यकाएँ, बदरिकाश्रम तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्र इसकी कथावस्तु के अन्तर्गत आते हैं।

श्रीकान्त आचार्य (कुकरेती) द्वारा लिखित 'प्रतापविजयः' उपन्यास पन्द्रह निःश्वासों में निबद्ध है तथा १६६३ नागपब्लिसर्स, जवाहर नगर, दिल्ली से प्रकाशित है। महाराणा प्रताप के जीवन पर आधारित यह उपन्यास पं. अम्बिकादत्त व्यास के उपन्यास 'शिवराज विजयः' को स्मृतिपथारूढ करने वाला है, फिर भी इसकी अपनी विशेषताएँ हैं, इसकी भाषा सम्मार्जित तथा प्रवाहमयी है, अतः इसे पढते हुए 'ऊब' नहीं होती, यह एक पठनीय ऐतिहासिक उपन्यास है।

कृष्णकुमार (जन्म १६२५, उत्तर प्रदेश)-मुरादाबाद में जन्मे तथा गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय में अध्ययन सम्पन्न करके कृष्णकुमार जी उत्तर प्रदेश के विभिन्न राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालयों में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष पद से सेवानिवृत्त हुए। इनके दो उपन्यास 'उदयनचरितम्' (द्वि. सं. १६८२) और 'तपोवनवासिनी' मयंक प्रकाशन, मिश्राबाग, हनुमनगढ़ी कनखल, हरिद्वार, १६६४ से प्रकाशित हुए।

जैसा कि "उदयनचरितम्" नाम से विदित हो जाता है, प्रसिद्ध वत्सराज उदयन और वासवदत्ता की कथा पर आधारित यह उपन्यास रचनाकार के अनुसार, सहृदयों के मनोरंजन के लिए प्रस्तुत है। उन्होंने कथासरित्सागर आदि विभिन्न स्रोतों से प्राप्त उदयन-चरित का समन्वय करके प्रस्तुत गद्यकाव्य का विन्यास तो किया ही है, फिर भी इसकी चरम परिणति लेखक की कल्पना-प्रसूत है।

दूसरी कृति "तपोवनवासिनी" में शाकुन्तलीय कथा को आधुनिक उपन्यास विधा में प्रस्तुत करने का कृष्ण कुमार जी का प्रयास इस अंश में विशेष स्तुत्य है कि नारी के स्वाभिमान को यहाँ उन्होंने शकुन्तला के माध्यम से प्रतिष्ठापित किया है। संस्कृत के क्षेत्र में प्राचीन कथा को पुनरुक्त करने का पहले भी प्रयास किया गया है, जैसे लक्ष्मणसूरि का श्रीभीष्मविजयम्। श्रीकृष्णकुमार पर प्राचीन कथाकारों बाणभट्ट आदि की शैली का प्रभाव लक्षित नहीं होता, यह प्रसन्नता की बात है, प्रवाहमयता को बहुत कुछ सुरक्षित रखने वाली संस्कृत के लेखन में इन्हें बहुत कुछ सफलता मिली है।

हरिनारायण दीक्षित -(जन्म १६३६ उत्तर प्रदेश) जिला जालौन के ग्राम पड़कुला में जन्मे दीक्षितजी कुमायूं विश्वविद्यालय, नैनीताल में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष हैं। इनके द्वारा लिखित् "गोपालबन्धुः" ईस्टर्न बुकलिंकर्स, दिल्ली-७ से १६८८ में प्रकाशित हुआ। इस कथाकाव्य में एक ऐसे बालक के चरित को अभिव्यक्ति मिली है, जो बहुत ही कम उम्र का है, पिछड़ी जाति में पैदा हुआ है, पिता की छत्रछाया से वञ्चित है और निर्धन तथा वृद्ध माता की इकलौती सन्तान है। वह मातृकल्पनाकल्पित गोपाल नामक अपने अग्रज की सत्ता पर पूर्णतया विश्वास कर लेता है। फलस्वरूप भगवान श्रीकृष्ण को उसका गोपालनामक बड़ा भाई तथा राधा को उसकी भाभी बनकर उसका साथ देना पड़ता है। (काव्यपरिचय) भाषा के रोचक, किन्तु प्राचीन बाणभट्टीय शैली से प्रभावित होने के साथ भावुकता के आधार पर बुना गया कथा-पट आधुनिक मन तक सम्प्रेषित होनेमें समर्थ नहीं लगता। इस कारण इस रचना का कथ्य भले ही किसी भगवद्भक्त के मन को मुग्ध कर दे बुद्धिवादी आधुनिक पाठक को प्रभावित नहीं कर सकता।

रामशरण त्रिपाठी शास्त्री (१६०८-१६७७) - उत्तर प्रदेश के बांदा जिले के एक ग्राम 'मरका' में जन्मे शास्त्री जी संस्कृत के एक समर्पित तथा परिनिष्ठित एकान्त साधक थे। श्रमपूर्वक अध्ययन के पश्चात् उन्होंने विभिन्न पाठशालाओं तथा कालेजों में अध्यापन किया और अन्तिम दिनों में प्रयाग में निवास किया। उनकी दो गद्य-रचनायें प्रकाश में आयी हैं-कौमुदीकथाकल्लोलिनी (चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी १६६१), और व्याकृतिवत्सराजम् (श्रीगङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद, १६८६)। प्रथम ग्रन्थ भट्टि काव्य के आदर्श पर वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी के क्रम को लक्ष्य बनाकर कथासरित्सागर के नरवाहनदत्तवृत्तान्त में सूत्रों के दृष्टान्त (प्रयोग) अनुस्यूत करते हुए निर्मित एक प्रौढ़ रचना है। रचनात्मक साहित्य के रूप में इस रचना का मूल्य भले ही कम हो, पर उपयोगिता की दृष्टि से तथा एक प्रकार के चमत्कार का अनुभव कराने वाली रचना के रूप में इसे अधिक प्रतिष्ठा मिली। पं. श्रीनिवासशास्त्री ने अपने संस्कृत उपन्यास 'सूर्यप्रभा किं वा वैभवपिशाचः' में इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में यह आर्या लिखी-

दीक्षितपदानुयाता व्याकरणक्षीरपूरिता वितता।
कल्लोलिनी सुललिता ज्ञैर्ग्राह्या रामशरणस्य।।

शास्त्री जी की दूसरी गद्यरचना भी उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए रचित है। इसमें चार विलास हैं, १. कारक निर्देशात्मक, २. समासस्त्रीप्रत्ययनिर्देशात्मक, ३. ससासतद्धित-निर्देशात्मक और ४. कृदन्तनिर्देशात्मक। यह संस्कृत एम.ए. कक्षा के छात्रों के उपयोग में आने वाले अध्यायों को आधार बनाकर प्रस्तुत है। इसमें वासवदत्ता के साथ विवाह तक का आख्यान है।

शास्त्रीजी के इन ग्रन्थों में यत्र तत्र उनकी प्रखर कवित्व प्रतिभा का भी परिचय मिलता है, जैसे इस प्रयोग में-''अविरलगलन्मधुमञ्जरीपुञ्जपिञ्जरितसरससहकारवन-निकुञ्जपुञ्जितपक्षिकुलकलरवरमणीये क्रीडोद्यान........।। (क.क.पृ. १०६), ''अपि दद्याद् दयोदन्वान् दीननाथो दीनाया मे दयमानो दयितेन मदीयेन सङ्गतिम्'' (वही, पृ. ११४), 'व्याकृतिवत्सराजम्' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार समझी जानी चाहिए-''व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनया विद्यया इति व्याकृतिः, वत्सराजमधिकृत्य कृतमाख्यानं वत्सराजम् व्याकृतेर्बोधकं तच्च वत्सराजम् इति व्याकृतिवत्सराजम्।''

आत्मकथा-शैली का उपन्यास - जयपुर के कलानाथ शास्त्री (जन्म १६३६) ने आत्मकथा शैली में एक उपन्यास लिखा है ''संस्कृतोपासिकाया आत्मकथा'', जिसमें प्रारंभ से ही संस्कृत शिक्षा लेने वाली एक युवती का पूर्वराग अपने संस्कृताध्यापक युवक से हो जाने, उस युवक के नगर छोड़ जाने किन्तु बाद में आई.ए.एस. परीक्षा उत्तीर्ण कर प्रशासनिक सेवा में आ जाने और अनजाने ही उसी युवक से उसका विवाह हो जाने की घटना वर्णित है। यह उपन्यास ''कथानकवल्ली'' संकलन में राजस्थान संस्कृत अकादमी द्वारा प्रकाशित है। इसमें उस युवती द्वारा आत्मकथा-शैली में स्मृत्यालोक (फ्लैश बैक) के रूप में अपनी प्रेमकथा लिखी गई है, इस आधारभूमि को लेकर आधुनिक परिवेश और सामाजिक स्थितियों का चित्रण है।

इस उपन्यास में संस्कृत के अध्येता के जीवन में कालिदास तथा अन्य वरेण्य साहित्यकारों की कृतियों का मानस पर पड़ने वाला प्रभाव भी मनस्तात्त्विक विश्लेषण की दृष्टि से अनुस्यूत है यद्यपि कहीं भी मनौवैज्ञानिक मीमांसा जैसी प्रक्रिया नहीं अपनाई गई हैं। जीवन की स्थितियों में कभी कालिदास की, कभी भवभूति की कोई उक्ति किस प्रकार सटीक बैठती है, इसकी स्मृति आना उसके अध्येता के लिए स्वाभाविक ही है। उसी का संकेत या उद्धरण स्मृत्यालोक के साथ सहज रूप में समाविष्ट हो जाता है। युवक अध्यापक और किशोरी छात्रा का पूर्वराग एक झीने से आकषर्ण के रूप में चित्रित है, कहीं कोई निकट संपर्क नहीं होता। विवाह के अनन्तर नायिका को मसूरी में नायक अपने जीवन के उतार-चढ़ाव की कथा कहता है कि किस प्रकार संघर्ष कर वह प्रतियोगिता परीक्षा में सफल हुआ और किस प्रकार उसके पिता ने कन्या के पिता से यह संबंध तय कर लिया। संस्कृत साहित्य का अध्ययन दोनों के जीवन का ऐसा संपर्कसूत्र रहता है जिसके कारण उनका

परस्पर परिचय प्रारंभ में होता है।

उसी के कारण दाम्पत्य जीवन में भी उनका घनिष्ठ स्नेह और सद्‌भाव बना रहता है। ३५ पृष्ठ की यह उपन्यासिका शैली और परिवेश के क्षेत्र में एक नये प्रयोग के रूप में देखी जा सकती है।

अलंकृत शैली की परंपरा - बाणभट्ट की अलंकृत शैली की दाय संस्कृत साहित्य पर इतनी गहरी है कि कादम्बरी की सी समस्तपदघटित अलंकारयुक्त लम्बे वाक्यों की लड़ी में गद्यरचना करने वाले उपन्यासकारों की कला प्रत्येक दशक में एक अनवरत चलने वाली प्रक्रिया बन गई है। उसी प्रकार की काल्पनिक प्रेमकथा (जिसे रोमेन्स कहा जाता है अंग्रेजी साहित्य में) भी सदा से कथावस्तु के रूप में अपनाई जाती रही है।

जग्गू बकुलभूषण ने वर्षों पूर्व "जयन्तिका" उपन्यास लिखा था जिस पर कादम्बरी की छाप स्पष्टतः देखी जा सकती है। श्री जग्गू बकुलभूषण पुरानी पीढ़ी के मूर्धन्य साहित्यकार और चूडान्त विद्वान् हैं अतः उनके स्तर की उत्कृष्टता और गुणवत्ता निर्विवाद है तभी "जयन्तिका" को वर्षों बाद जब १९९३ में पुरस्कृत किया गया तो नई पीढ़ी को एहसास हुआ कि काव्यशास्त्र के विमर्शकार जग्गू बकुलभूषण आज भी हैं और सर्जनरत हैं।[1]

राजस्थान के कवि गद्यकार **जगदीशचन्द्र आचार्य** ने भी कादम्बरी की शैली में ही उसी प्रकार की रूमानी प्रेमकथा पर नायिका प्रधान उपन्यास "मकरन्दिका" लिखा है जो राजस्थान से १९८५ में प्रकाशित हुआ है। इस प्रकार के अलंकृत शैली के उपन्यासों में कादम्बरी की शैली का स्पष्ट प्रभाव किस प्रकार प्रतिफलित हुआ है इसके उदाहरण के रूप में मकरन्दिका का एक उद्धरण ही पर्याप्त होगा। "रुद्रसेनोऽतीव प्रसन्नमुखमुद्रः, शीतलसमीरणतरंगदोलायितनिजमानसतरंगः, पार्श्ववर्तिजीर्णभवनांगणे नृत्यकलारतं मयूरं दृष्ट्वा तन्नर्तनमुद्रा निरीक्षमाणः परां मुदं लेभे। नीलकंठकंठाश्लेषमेषितुकामा सकामा, प्रियतमालिंगन-प्रधावितपाणिलतायुगलाभिरामा रामेव, चंचुपुटसंवहनप्रकटीकृतप्रेमगरिमाऽन्योन्य-दृग्विरलप्रतिबिम्बितत्वेन प्रमथनाथानलदग्धवपुषोऽपि समस्तप्राणिमंडलानि सांगावयवकरणदक्षतया विवशीकुर्वतोऽनंगोपाधिमनर्थयतः स्मरस्य सायकजन्मोद्दीपनाकलितनृत्यभंगा मयूरपार्श्वे स्थिता मयूरी रतिरिव भ्राजमाना नरपतेश्चित्तपटले किमपि कामोद्दीपनं ससर्ज।"

इस उपन्यास में कादम्बरी की शैली में सुदीर्धसमासघटित लम्बे वाक्य, उपमा, विरोधाभास, परिसंख्या आदि अलंकारों की योजना, परिवेश और प्रकृति के वर्णन के अलंकृत परिच्छेद इत्यादि के प्रयोग से इसे बाणभट्ट की परंपरा का अंग बनाने का कवि का स्पष्ट प्रयास परिलक्षित होता है। बाणभट्ट की इस विरासत में भागीदारी की परंपरा सदियों से चल रही है और अब भी क्षीण नही हुई है, यह एक आश्चर्यजनक सत्य है।

---

१. खेद है कि अब जग्गू बकुलभूषण जी नहीं रहे (सं.)

लघुकथा

उद्‌विकास-जिस कथा-विधा को आज हम लघुकथा, कहानी, शॉर्ट स्टोरी या गल्प (बांगूला) आदि नामों से जानते हैं उसमें भी संस्कृत लेखक कम से कम दो सदियों से तो उसी शैली और रुझान में लिख रहा है जिसमें अन्य भारतीय भाषाओं के कहानी लेखक लिखते रहे हैं। यह माना जाता है कि लघुकथा का यह प्रकार पाश्चात्त्य साहित्य से भारतीय साहित्यकार के साक्षात्कार की एक परिणति है। डॉ. राघवन् की यह अभ्युक्ति बहुधा उद्‌धृत की जाती है कि लघुकथा संस्कृत में पनप रही नवीन विधाओं में सर्वाधिक उल्लेखनीय है, यद्यपि कथा संस्कृत के लिए कोई नई चीज नहीं है। किन्तु जिस नये रूप में आज वह लिखी जा रही है वह विधा पश्चिम की ऋणी है।

भारतीय साहित्य में चाहे वह किसी भी भाषा की हो, आधुनिक युग में लघुकथा के इस रूप का उद्‌विकास पाश्चात्त्य साहित्य के, विशेषकर अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव की देन माना भी जाता रहा है। किन्तु यह सर्वांश सत्य नहीं है। केवल अंग्रेजी साहित्य को संस्कृत लघुकथाओं का प्रेरक मानना उचित नहीं होगा। संस्कृत के लघुकथाकार पर इस प्रकार का पाश्चात्त्य प्रभाव सीधे अंग्रेजी कथाओं के प्रभाव के रूप में कम और अंग्रेजी कथाओं से प्रभावित अन्य भारतीय भाषाओं के कथा साहित्य के रूप में अधिक सही तरह से आकलित किया जा सकता है। दूसरे यह प्रभाव केवल अंग्रेजी साहित्य का नहीं था, बल्कि अंग्रेजी में अनूदित अन्य, विदेशी भाषाओं (जैसे अरबी) के कथासाहित्य का भी था।

संस्कृत के कथानक साहित्य पर अंग्रेजी के साहित्य का सीधा प्रभाव कुछ विशेष साहित्यकारों के संदर्भ में भले ही देखा जा सके जो दक्षिण में या बंगाल में लिख रहे हों और अंग्रेजी उपन्यास या कहानी पढ़कर उसका प्रभाव ग्रहण करते हुए संस्कृत में लिखने लगे हों, किन्तु सामान्यतः यह कहना अधिक सही होगा कि अंग्रेजी कथानक साहित्य का जो प्रभाव संस्कृत लेखक की उस मातृभाषा के साहित्य पर पड़ा जो उस लेखक की अपनी भाषा रही है (जैसे बंगला, कन्नड़, मराठी) और जिस भारतीय भाषा की कहानी या उपन्यास उसने अपने बाल्यकाल में या कैशौर्य में पढ़े इस प्रकार का प्रभाव उसकी कारयित्री प्रतिभा पर अवश्य पड़ा होगा।

अरबी साहित्य की प्रसिद्ध कहानियों (अलिफलैला) का प्रभाव भी भारतीय भाषाओं पर रहा और वह अंग्रेजी अनुवादों के माध्यम से आया। अतः वह भी सीधा प्रभाव नहीं कहा जा सकता। "अरेबियन नाइट्स" में से कुछ कहानियों की अंग्रेजी से या मराठी से संस्कृत में अनुवाद अप्पाशास्त्री ने अवश्य किया था, किन्तु उसे अंग्रेजी कथासाहित्य का प्रभाव कैसे कहा जा सकता है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि संस्कृत पर कथासाहित्य के क्षेत्र में पाश्चात्त्य प्रभाव अन्य भारतीय भाषाओं के माध्यम से आया और अन्य भाषाओं के साहित्य का प्रभाव अंग्रेजी के माध्यम से। यह आकलन इसलिए भी अधिक सटीक सिद्ध होगा कि किसी भी संस्कृत लेखक की मातृभाषा अंग्रेजी रही हो ऐसी जानकारी नहीं है।

सर्जनात्मक प्रभाव सामान्यतः बाल्य या कैशोर्य में पड़ता है और उस अवस्था में पढ़ा हुआ मातृभाषा का साहित्य ही लेखक की सर्जनात्मक प्रतिभा को आकार देता है। बाद में चाहे वह द्वितीय भाषा के रूप में अंग्रेजी पढ़ ले या जर्मन फ्रेंच और उनकी किसी रचना का सीधे अनुवाद करने में भी प्रवृत्त हो जाए पर इसका निष्कर्ष यह निकालना कि उस अंग्रेजी या योरपीय विधा का सीधा प्रभाव संस्कृत पर पड़ा है, समुचित नहीं होगा। कुछ दक्षिण के संस्कृतज्ञों ने अंग्रेजी कहानियों, उपन्यासों या शेक्सपीयर के नाटकों का अनुवाद कर दिया हो या अरबी कहानियों के अंग्रेजी अनुवाद से संस्कृत में अनुवाद कर दिया गया हो, उससे यह निष्कर्ष निकालना कि संस्कृत कहानी, उपन्यास या नाटक साहित्य पर अंग्रेजी साहित्य का सीधा प्रभाव पड़ा है, सही नहीं होगा। ऐसा प्रभाव सभी भारतीय भाषाओं में देखा जा सकता है जो तत्कालीन समग्र परिवेश की देन है और अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं के माध्यम से ही संस्कृत में प्रतिफलित हुआ है, सीधे नहीं, ऐसा हमारा मन्तव्य है। अंग्रेजी के माध्यम से विश्व के समग्र कथासाहित्य का प्रभाव भारतीय भाषाओं पर आया, यही आकलन सही होगा।

भारतीय परम्परा-वैसे कथा विधा की परम्परा संस्कृत में शताब्दियों ही नहीं सहस्राब्दियों पुरानी है। वेद और पुराण के उपाख्यान भी कथाएं हैं और संक्षिप्त हैं। पंचतंत्र की कथाएं तो अतिप्राचीन होते हुए भी इतनी सुगठित हैं कि उन्हें विश्व के कथासाहित्य की जननी मानने में तनिक भी संकोच नहीं करना चाहिए। वैसे भी उनमें कथा के सारे तत्त्व विद्यमान हैं। उनके प्रभाव से ही अरबी और अन्य भाषाओं में कथा-लेखन हुआ, विशेषकर फेबल्स (पशु-पक्षियों की कथाओं) का। उसका प्रभाव पश्चिम पर पड़ा यह तो आज विश्व के सारे इतिहासकार मानते ही हैं। ठीक उसी परम्परा में अनेक शिक्षाप्रद कथाएं निरन्तर संस्कृत में लिखी जाती रहीं। जिनमें हितोपदेश, भोजप्रबन्ध आदि आते हैं। घटनाप्रधान कथाएं भी वेतालपंचविंशति आदि सुप्रसिद्ध हैं। ऐसे अनेक कथाग्रन्थ प्रत्येक युग में लिखे जाते रहे होंगे यह अनुमान इन्हें देखकर आसानी से किया जा सकता है। दशकुमारचरित में एक श्रृंखला में गूँथी गई कथाएँ प्रत्येक अपने आप में एक पूर्ण लघुकथा के रूप में देखी जा सकती हैं और उन पर कोई परदेशीय प्रभाव किसी ने आज तक नहीं बताया है।

इन सब तथ्यों को देखते हुए आज की लघुकथा को भी पाश्चात्त्य प्रभाव मान लेने से पूर्व गंभीरता से सोचना होगा। संस्कृत में अरेबियन नाइट्स के तर्ज़ पर लिखी लघुकथाएं भी सदियों से मिलती हैं और तोता-मैना के क़िस्सों की तर्ज़ पर लिखी लघु कथाएं भी। ऐसी अटकलें भी लगाई जाती रहीं हैं कि तोता-मैना के क़िस्से "शुकसप्तति" जैसी संस्कृत कथाओं की देन हैं या संस्कृत में ऐसी कथाएं अन्य भाषाओं की कथाओं को देखकर लिखी जाने लगी थीं। जो भी हो, कम से कम डेढ़ हजार वर्षों से तो इस प्रकार की लघुकथाएं संस्कृत में लिखी ही जाती रही हैं जिनका नमूना एक ओर तो गुणाढ्य की सदियों पुरानी बड्ढकहा (जो शायद मूलतः "वृद्धकथा" रही हो और बाद में "बृहत्कथा" कही जाने लगी

हो) के प्रभाव से प्रसूत गद्य पद्य आदि में लिखित कहानियों में देखा जा सकता है जिसमें क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामंजरी, सोमदेव का कथासरित्सागर आदि तथा सिंहासनद्वात्रिंशिका, वेतालपंचविशति आदि कथाएं आती हैं। दूसरी ओर पंचतंत्र के प्रभाव से प्रसूत उपदेशकथाओं या नीतिकथाओं में देखा जा सकता है जिनमें पशुपक्षियों की कथाएं भी आती हैं (हितोपदेश जैसी) और सामाजिक कथाएं भी (जैसी दशकुमारचरित मे संकलित कथाओं में मिलती हैं) जिनमें सदाचार आदि की समीक्षा निहित होती है।

इन कथाओं में "शॉर्टस्टोरी" या कहानी के प्रायः सभी तत्त्व विद्यमान हैं, घटनाक्रम, पात्र, चरित्रचित्रण, परिवेश और एक सन्देश। इससे यह स्पष्ट होता है कि संस्कृत में कहानी सदियों से लिखी जाती रही थी, पाश्चात्त्य प्रभाव से उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध और बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में उसकी शैली में कुछ परिवर्तन अवश्य आ गया। ऐसे परिवर्तन प्रत्येक युग में युगानुरूप परिवेश और शैली को आत्मसात् करने की दृष्टि से होते रहते हैं।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि में यह समझ लेना आसान होगा कि पंत्रतंत्र और गुणाढ्य के समय से संस्कृत कथा-साहित्य का जो इतिहास प्रारम्भ होता है उसी के विभिन्न पड़ाव इन विभिन्न युगों और बदलती शैलियों में आकलनीय हैं। दशकुमारचरित की कथाओं में सामाजिक सरोकार और परिवेश भी उसमें जुड़े देखे जा सकते हैं। १२वीं सदी से तो विक्रम-वेताल के संवादों की शैली में लोककथाओं के उत्स से उद्गत कहानियों की श्रृंखलाएं निरन्तर मिलती हैं। इनमें सहज और अनलंकृत गद्य हैं, कहीं-कहीं पद्य भी बीच में मिलते हैं। "वेतालपंचविंशतिका" नाम से शिवदास (१२वीं से १५वीं सदी), जंभलदत्त, दामोदर झा आदि की लिखी हुई कथाश्रृंखलाएं गत ८-१० सदियों से निरन्तर पाई जाती हैं। विक्रमादित्य और भोज राज के संदर्भ में "सिंहासनद्वात्रिंशिकाएं" भी लिखी जाती रही हैं। ये सब लोक साहित्य की पृष्ठभूमि पर अवस्थित हैं। किस प्रकार विक्रमादित्य के सिंहासन पर राजा भोज बैठना चाहता है पर वह तब तक नहीं बैठ सकता जब तक सिंहासन में जड़ी हुई ३२ पुतलियों के प्रश्नों का उत्तर नहीं दे देता। प्रत्येक प्रश्न में एक लोककथा अनुस्यूत है। इनमें जो ३२ कथाएं हैं उनमें से कुछ पद्यबद्ध भी हो सकती हैं, कुछ गद्यबद्ध, किन्तु प्रत्येक में घटना का उतार चढ़ाव है, एक गुत्थी है। यह हो सकता है कि लोकभाषाओं में जो सिंहासनबत्तीसियाँ प्रचलित हैं उन्हीं से प्रभावित होकर संस्कृत कथाकारों ने इन्हें लिखा हो। यह भी हो सकता है कि ये संस्कृत कथाएं स्रोत हों और उनसे "वेताल पच्चीसी" "सिंहासनबत्तीसी", "सुआबहत्तरी" आदि निकली हों। यह भी हो सकता है कि गुणाढ्य की मूल लोककथाएँ इन दोनों का उत्स हों। यह अन्तिम मन्तव्य अधिक विश्वसनीय है क्योंकि गुणाढ्य से प्रभावित कथासंग्रहों (जैसे "कथा-सरित्सागर) में विक्रम-वेताल की कथाएं भी मिलती हैं और तोता-मैना की कथाओं के मूल स्रोत भी।

सिंहासनद्वात्रिशिकाएं भी विभिन्न लेखकों की कृतियों के रूप में प्रचलित हैं। इनके लेखकों में कालिदास, नन्दीश्वरयोगी, सिद्धसेन दिवाकर, वररुचि आदि अनेक नाम लिये जाते हैं। इनका समय १६वीं सदी से प्रारम्भ होता है। इनके अनेक संस्करण, रूपान्तर

उत्तर भारत और दक्षिण भारत में मिलते हैं। उत्तरी भारत के संस्करण के ४ अध्यायों में ३ पद्यबद्ध हैं, एक गद्य में।

इसी प्रकार स्त्री-पुरुष के संबंधों और वफ़ादारी, बेवफ़ाई आदि की कथावस्तु को लेकर "शुकसप्तति" की कथाएँ मिलती हैं। इन सबका प्रेरणास्रोत संस्कृत का प्राचीन साहित्य ही रहा हो, यह आवश्यक नहीं। अन्य देशों में प्रचलित कथानकों से तथा भारत में प्रचलित लोक-कथाओं से प्रभावित होकर संस्कृत कथाकार ने उन्हें संस्कृत में अपनी शैली में ढाला हो यह भी हो सकता है। तभी तो १५वीं सदी के पं. श्रीधरने यूसुफ़ जुलेखा की कथा पर आधारित "कथाकौतुकम्" लिखा, ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं (भारतीयवाङ्मय कोशः, श्रीधर भास्कर वर्णेकर)। नारायण बालकृष्ण गोडगोले ने मराठी में लिखी ईसप की कथाओं (फेबल्स) का संस्कृतनुवाद "ईसब्नीतिकथा" नाम से किया ही था। आधुनिक काल से पूर्व भी विद्यापति की "पुरुषपरीक्षा" में, हेमविजयगणी के "कथारत्नाकर" में तथा अन्य कथा ग्रन्थों में संस्कृत कथाएँ मिलती हैं जो विभिन्न प्रदेशों और युगों में फैली हुई हैं। विक्रमादित्य की पृष्ठ-भूमि में 'कालकाचार्यकथा' की भी लंबी परम्परा रही है। महेन्द्र, देवेन्द्र, प्रभाचन्द्र, शुभशील, विनयचन्द्र आदि अनेक नामों से जैन साहित्य में कालकाचार्य कथानक लिखे मिलते हैं। सिद्धर्षि गणी की "उपमितिभवप्रपंच कथा" रूपकात्मक कथासाहित्य के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में सुविदित है ही।

बल्लाल सेन ने "भोजप्रबन्ध" में भोजराज के संदर्भ में अनेक प्रसिद्ध कवियों के कथानक मनोरंजक और सुरुचिर शैली में निबद्ध किये गये थे। ये मौलिक संस्कृत कथासाहित्य का एक निदर्शन कहे जा सकते हैं, जबकि ऊपर उल्लिखित कथाग्रन्थों की श्रृंखला विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित लोककथाओं के प्रभाव से प्रसूत हैं। इस पृष्ठभूमि से यह निष्कर्ष सहज ही निकलता है कि प्रत्येक युग में संस्कृत कथाकार कहानियाँ लिखता रहा है और उसके प्रेरणास्रोत विविध रहे हैं। उसने कहीं से भी प्रभावग्रहण किया हो,अपनी भाषा और शैली में कहानियाँ लिखी हैं। उस समय अकेली एक कहानी के प्रसार का कोई माध्यम या परिणाम उपलब्ध न होने के कारण वह कभी तो इन्हें किसी हलके से सूत्र में पिरोकर पूरी कथामाला बनाता रहा जिसकी परम्परा गुणाढ्य से लेकर शुकसप्तति या भोजप्रबन्ध से होती हुई आधुनिक काल तक आती है, और कभी किसी एक नायक जैसे विक्रमादित्य को केन्द्र में रखकर उसके चारों ओर कहानियों का जाल विछाते हुए उन बिखरी कहानियों को भी एक ग्रन्थ का रूप देता रहा जिससे उसकी एक पूरी पांडुलिपि बन जाए और उसे लेखकीय यश प्राप्त हो सके। इस प्रकार आधुनिक काल से पूर्व सुगुम्फित कथामालाएं ही मिलती हैं, छोटी कहानियों के अलग-अलग लिखने और छपने की प्रक्रिया आधुनिक काल में ही प्रारम्भ हुई दिखलाई देती है।

पत्रकारिता का योगदान : इसका एक प्रमुख कारण संस्कृत पत्रकारिता के प्रारम्भ के फलस्वरूप संस्कृत पत्रिकाओं में एक छोटी कहानी के प्रकाशित होने की सुविधा उपलब्ध होना रहा है, अतः संस्कृत लघुकथा की सुदृढ और सुदीर्घ परम्परा के आधुनिक काल में

प्रारम्भ होने का श्रेय भी संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं को देना अनुचित नहीं होगा। इसी सुविधा के कारण अप्पाशास्त्रीयुग में "संस्कृतचन्द्रिका" जैसी पत्रिकाओं से लेकर भट्ट मथुरानाथयुग की "संस्कृतरत्नाकर" और "भारती" जैसी पत्रिकाओं तक विभिन्न परिवेश और उद्देश्य को लेकर लिखी गई सैकड़ों कहानियाँ प्रकाशित हुईं, बाद में उनके संकलन पुस्तकाकार में भी निकलते रहे। इसी कारण संस्कृत लघुकथा के उद्विकास का आकलन संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं की तलाश के बिना नहीं किया जा सकता। इतिहासकार को सुविधा इस प्रक्रिया में अवश्य होती है कि वह उपलब्ध कथासंग्रह को देखकर उनका मूल्यांकन आसानी से कर लेता है, क्योंकि वे पुस्तकालयों में सुविधापूर्वक प्राप्त हो जाते हैं। संस्कृत साहित्य के इतिहास के अध्येता के लिए भी इन संग्रहों का संदर्भ लेकर उन्हें समझना सरल होता है अतः हम भी यहाँ अधिकाँश निर्देश उन्हीं के आधार से करके आधुनिक कथा की एक रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे।

संस्कृतचन्द्रिका से लेकर संस्कृतरत्नाकर आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित और आजकल भी संस्कृतप्रतिभा, स्वरमंगला, दूर्वा, भारती आदि पत्रिकाओं में (जिनमें विभिन्न संस्कृत अकादेमियों की मुखपत्रिकाएं शामिल हैं) प्रकाश्यमान विभिन्न स्वरूपों की इन कहानियों को अनेक वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रमुखतः दो वर्ग किये जा सकते हैं मौलिक और अनूदित। मौलिक को भी दो वर्गों में बाँटा जा सकता है- स्वोपज्ञ और प्रेरित।

उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में विभिन्न भाषाओं की कहानियों के अनुवाद बहुत प्रकाशित हुए जो संस्कृत पाठक को अरबी, अंग्रेजी आदि भाषाओं की हृदयावर्जक कहानियों से परिचित कराने के उद्देश्य से उन भाषाओं से अनूदित की गई थीं। अरबी भाषा की कहानियों से हमारा तात्पर्य है अलिफलैला की उन कहानियों से जो अरबी साहित्य की निधि हैं और जिनमें अल्लादीन का चिराग़ से लेकर सिन्दबाद जहाजी की कथाएं भी गिनाई जा सकती हैं। निःसन्देह इनका अनुवाद सीधे अरबी से किया गया हो ऐसी स्थिति नहीं है। प्रमुखतः ऐसी कहानियाँ अंग्रेज़ी से अनूदित थीं या अंग्रेज़ी से मराठी, बांगला आदि भाषाओं में किये अनुवादों से। अप्पाशास्त्री राशिबडेकर ने संस्कृतचन्द्रिका के चौथे वर्ष से उस का संपादन सम्हाला तो उत्कृष्ट, मनोमोहक कहानियों को उसमें प्रस्तुत करने का उनका मानस बना। उन्होंने स्वयं विभिन्न स्रोतों से जो कहानियाँ पढ़ी होंगी उन्हें तो नये सिरे से अपनी शैली में लिखकर संस्कृतचन्द्रिका में प्रकाशित किया ही, सहस्ररजनीचरित्र जैसी कहानियों का प्रकाशन भी करना चाहा। इस उद्देश्य से उन्होंने समय-समय पर भाँति-भाँति की जो योजनाएं बनाईं उनसे यह स्पष्ट हो जाएगा कि इस प्रकार की मनोमोहक कहानियों को संस्कृत में लाने की उनकी ललक कितनी तीव्र थी। १८९८ ई. में चन्द्रिका के छठे वर्ष के प्रथम अंक में इन्होंने विज्ञप्ति निकाली कि यदि ३०० हक सहमत हों तो प्रतिमास आठ पृष्ठ और बढ़ाकर इस पत्रिका का कलेवर बड़ा कर दिया जाय जिससे अरेबियन नाइट्स की कहानियों का क्रमिक प्रकाशन इसमें हो सके। उन ३०० ग्राहकों को ही यह बड़ा वाला अंक दिया जाएगा जिसमें अलिफ़लैला का धारावाहिक अनुवाद छपेगा, बाकी ग्राहकों को

नहीं। इस बड़े कलेवर वाले अंक के लिए उन ग्राहकों को प्रतिवर्ष ग्यारह आने और देने होंगे आदि।

लगता है यह योजना सफल नहीं हो पाई। २४ पृष्ठों की संस्कृतचन्द्रिका प्रतिमास निकलती रही पर उसमें अतिरिक्त पृष्ठ जोड़कर अलिफलैला का धारावाहिक प्रकाशन नहीं हो पाया। तब उन्होंने एक योजना बनाई "कथाकल्पद्रुम" नाम से एक अलगपत्रिका निकालने की जिसमें अरेबियन नाइट्स का अनुवाद क्रमिक रूप से निकले। इस हेतु १८२० शकाब्द की संस्कृतचन्द्रिका के एक अंक में उन्होंने यह विज्ञप्ति निकाली-

"We have intended to publish a monthly named Katha Kalp druma if 300 subscribers are available it will contain free translation of Arabian Nights in Sanskrit with necessary changes suitable to Hindus. As to the beauty of language in the sanskrit chandrika in itself the proof of it. It is greatly hoped that all the patrons of Sanskrit will pay regard to this and help us in this noble work"

यह योजना भी नहीं चल पाई। "कथाकल्पद्रुम" मासिक निकालने का उनका स्वप्न, साकार नहीं हो पाया। केवल अल्लादीन के चिराग़ की कुछ कहानियां अरेबियन नाइट्स से किया अनुवाद ही संस्कृतचन्द्रिका में प्रकाशित हो पाया या इससे यह अवश्य प्रमाणित होता है कि कथाविधा उस समय देश में कितनी लोकप्रिय हो गई थी और अरेबियन नाइट्स की कहानियाँ अंग्रेजी ही नहीं, भारतीय भाषाओं में अनूदित होकर भारतीय पाठक का हृदय जीत चुकी थीं। उनसे न तो संस्कृत लेखक अछूता रहा, न संस्कृत पाठक। यह माना जाता है कि "अल्लादीन का चिराग़" का "अल्लाउद्दीनस्य विस्मापको दीपः" नाम से संस्कृतानुवाद अप्पाशास्त्री ने अरेबियन नाइट्स के अंग्रेजी अनुवाद के आधार पर मराठी में अनूदित कथा के अनुवाद के रूप में किया था।

इस विवरण से स्पष्ट होगा कि उन्नींसवी सदी के अन्त में संस्कृत लघुकथा क्षेत्र में जो नवजागरण आया उसमें मूल प्रेरणास्रोत तथा आधारभूमि संस्कृत में सदियों से चल रही कथा परम्परा ही थी, किन्तु विभिन्न भाषाओं में उपलब्ध कहानियों के संपर्क से उसके लेखन का एक ऐसा अभियान नये सिरे से चला जिसमें भारतीयेतर उत्स की कथाओं ने उद्दीपन की भूमिका निभाई- इन्हें सर्वप्रमुख मंच तो मिला संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं में जिनका उद्गम "विद्योदय" (१८७३) से माना जाता है। वैसे विद्योदय में अधिकांशतः निबन्ध निकलते थे, कहानियों की शुरुआत "संस्कृतचन्द्रिका" तथा दक्षिण भारत की "सहृदया" बंगला की "परिषत् पत्रिका' आदि पत्रिकाओं में हुई। यह परम्परा काशी के सूर्योदय, अमरभारती, सारस्वती सुषमा आदि तक चलती रही।

"संस्कृतचन्द्रिका" के संपादक अप्पाशास्त्री राशिवडेकर की रुचि कहानियों में कितनी थी यह तो पिछले विवरण से स्पष्ट हो जाता है, किन्तु उन्होंने स्वयं जो कहानियां लिखीं

उनकी संख्या अधिक नहीं है। उन्होंने कुछ कहानियां तो भारतीय परिवेश की लिखीं और कुछ अलिफलैला की कथाओं के अनुवाद किये। उनकी लिखी कथा "राजकुमारः कमलानन्दः" प्रसिद्ध है जिसमें एक राजकुमार के पैदा होते ही षड्यंत्रकारियों के कुचक्र चल जाते हैं, उसकी धाय (धात्री) उसे बचाती है, एक नदी में एक टोकरी में सुरक्षित कर उसे छोड़ देती है, वह पुलिन्दों के सरदार द्वारा पाला जाता है, पराक्रमी हो जाता है, अन्त में एक त्रिकालदर्शी महात्मा उसे बतलाते हैं कि वह तो राजकुमार है, वह अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लेता है। यह कहानी बाद में संस्कृतपाठ्यपुस्तकों में भी पढ़ाई जाती रही। उनकी अन्य कहानियों में मणिकुंडलोपाख्यान, दधीच्युपाख्यान, पौराणिकी काचित्कथा पौराणिक कथानकों पर आधारित हैं, दशापरिणतिः, चित्रकारचातुर्यम्, कुटिलमतिर्नाम गोमायुः, बकचापलम्, भगवद्भक्तः, किमर्थं सद्गुरुः शिक्षाप्रद कथाएँ हैं। प्राधान्यवादः, "धिङ्मुग्धे विप्रलब्धाऽसि" "श्रीमती विद्यासुन्दरी देवी" आदि सामाजिक कथाएँ हैं तथा वेषमाहात्म्यम्, पुरोहितधौर्त्यम्, व्यसनविमोक्षः आदि मनोरंजक कहानियाँ हैं।

सच पूछा जाय तो इनमें से अधिकांश तो एक पृष्ठ या आधे पृष्ठ के लघुकथानक हैं, जिनमें एक मनोरंजक या शिक्षाप्रद घटना "स्किट" या बोधकथा शैली में निबद्ध है, किन्तु इनका ऐतिहासिक महत्त्व इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि ये संस्कृत लघुकथा के जन्मकाल की रचनाएं हैं तथा इनकी शैली इतनी सहज और सरल है कि नूतन शैली की पत्रकारिता-सुलभ (पत्रकारोचित) भाषा का प्रतिमान स्थापित करती हैं। कोई राजा काना था, किन्तु अपना वास्तविक चित्र बनवाने का शौकीन था। सभी चित्रकार विफल रहे, पर एक चित्रकार ने उसे बन्दूक चलाते हुए एक आँख बन्द किये चित्रित कर दिया, जिससे राजा भी नाराज़ न हो और चित्र में भी यथार्थता रहे- यह छोटी सी घटना पंत्रतंत्र शैली की संस्कृत में "कस्यचित् चित्रकारस्य चार्तुयम्" में निबद्ध है। कुटिलमतिर्नाम गोमायुः" तो पंचतंत्र शैली की ही कहानी है। "पुरोहितधौर्त्यम्" में किसी धनवान् किन्तु मूर्ख यजमान को ठगने चले अधकचरे पुरोहित की यह घटना निबद्ध है कि जब कोई विद्वान् वैदिक उसके पौरोहित्य की आलोचना करने पहुँचा तो सब के बीच में असलियत बताने से कतराते हुए एक अनुष्टुप् को ही आहुतिमंत्र के रूप में बोलते हुए उसने इशारा किया कि इस अनुष्ठान की दक्षिणा "महिषी शतम्। तवार्धं च ममार्धं च मा कोलाहलमाचर। अतस्तूष्णीं भव"। इस पर वह विद्वान पुरोहित मामला समझ गया और दोनों ने पचास-पचास भैसें बाँट लीं। "प्राधान्यवादः" आदि कथाएँ आधे पृष्ठ की हैं।

१८९८ से १९०१ के बीच निकली ये छोटी-छोटी कहानियाँ मनोरंजक, सरल और प्रवाहमय संस्कृत का नमूना प्रस्तुत करती हैं। इनसे प्रेरणा लेकर विभिन्न कथाकारों ने व्यापक फलक पर विविध कथा-वस्तुओं और शैलियों का प्रयोग करते हुए एक नये युग का सूत्रपात किया यह महत्त्व इनके साथ अनुस्यूत है। इसी शैली की कथाएँ "संस्कृतचन्द्रिका"

संपादक जयचन्द्र सिद्धान्तभूषण की भी इस पत्रिका में छपी हैं।

इस प्रकार का कथालेखन पूरे भारत में हो रहा था। पं. अंबिकादत्त व्यास छोटी आयु में ही पूर्ण संमान और यश प्राप्त कर चुके थे और भारतरत्न की उपाधि से अलंकृत हो चुके थे। संस्कृतचन्द्रिका में उनका उपन्यास शिवराजविजयः जिस प्रकार प्रभूत संमानोल्लेखपूर्वक धारावाहिक रूप से निकल रहा था (भारतरत्नश्रीमदम्बिकादत्तव्यासस्य आदि उपाधियों सहित) उसी प्रकार उनकी लिखी कहानियाँ भी विभिन्न प्रकारों से प्रसारित हो रही थीं। यह माना जाता है कि उनकी आठ कथाओं का संकलन "रत्नाष्टकम्" संभवतः संस्कृत लघुकथाओं का सर्वप्रथम प्रकाशित संग्रह हो। "कथाकुसुमम्" नाम से भी उनके एक कथासंग्रह का उल्लेख डा. हीरालाल शुक्ल ने किया है, किन्तु अन्य शोधप्रबन्धों में इसके रचयिता के रूप में वी. वेंकटरामशास्त्री का नाम मिलता है। १८९८ में वी.वी. शास्त्री (वी. वेंकटरामशास्त्री) का कथा संकलन "कथाशतकम्" भी मद्रास से प्रकाशित हुआ है, जिसमें देशी भाषाओं की सौ छोटी कहानियाँ संकलित थीं। (हंड्रेड पापुलर टेल्स एंड फेबिल्स इन प्रोज)

इसी आधार पर यह अभ्युक्ति आधुनिक संस्कृत साहित्य के अनेक शोधविद्वानों ने की है कि उन्नीसवीं शती का अन्तिम व बीसवीं सदी का प्रथम दशक संस्कृत की लघुकथाओं के सर्वाधिक उन्मेष की अवधि मानी जानी चाहिए। सन् १९०० ई. में मेदपल्ली वेंकटरमणाचार्य की "शेक्सपीयर नाटक कथावली" प्रकाशित हुई जो मेरी लैम्ब के "टेल्स फ्राम शेक्सपीयर" नामक सुप्रसिद्ध गद्यकथाग्रन्थ के अनुवाद के रूप में निकली। इसी वर्ष केरलवर्म वलिय कोइतम्बुरान् का सामाजिक कथाओं का संकलन "कथासंग्रह" भी निकला। एक-दो वर्ष पूर्व "संस्कृतचन्द्रिका" में अरेबियन नाइट्स के अनुवादों के धारावाहिक प्रकाशन की जो और योजना संस्कृतचन्द्रिका में निकली थी उसे देखकर ही शायद अनेक शोधविद्वानों ने "कथाकल्पद्रुम" नामक अलिफलैला के अनुवाद भूत कथासंकलन का भी उल्लेख कर दिया है, किन्तु जहाँ तक हमें ज्ञात हो पाया है ऐसा कथासंकलन प्रकाशित नहीं हो पाया था- जैसा कि पिछले पृष्ठों में दिये विवरण से स्पष्ट होता है। इस योजना के अन्तर्गत केवल "अलाउद्दीनस्तस्य विस्मापको दीपश्च" ही निकल पाई।

सन् १९०१ में अनन्ताचार्य कोडम्बकम् के दो कथासंकलन निकले बताये जाते हैं-"कथामंजरी" तथा "नाटककथासंग्रह"। १९०४ में मन्दिकल रामशास्त्री का कथासंकलन "कथासप्तति" के नाम से निकला। १९१० में तिरुनारायण अय्यंगार का कथासंकलन "गद्यकथासंग्रहः" निकला। डॉ. हीरालाल शुक्ल ने "कथासप्ततिः" और "गद्यकथासंग्रहः" को उस युग के कहानी-संग्रहों में सर्वोत्कृष्ट बताया है।

जैसा हमने अप्पाशास्त्री राशिवडेकर की कुछ अतिलघुकथाओं की कथावस्तु के संदर्भ से स्पष्ट किया है, इस युग की प्रारंभिक कथाएँ कभी तो संस्कृत जगत् में सुप्रचलित मनोरंजक कथाओं की सरल संस्कृत में लिखकर प्रसारित करने के उद्देश्य से लिखी मिलती हैं, कभी लोकभाषाओं की मनोरम मानवीय घटनाओं को पाठकों के प्रमोदार्थ संस्कृतबद्ध की

गई लगती हैं, कभी छात्रों को नवीन पाठ्य सामग्री देने के उद्देश्य से प्राचीन उपाख्यानों, नीतिकथाओं या महापुरुषों के जीवनवृत्तों को सरल गद्य में निबद्ध कर प्रणीत भी हुई लगती हैं इन सभी को प्रेरित कथाएँ ही कहा जा सकता है, अनूदित नहीं। बंगला, अंग्रेजी आदि भाषाओं से सीधे भी कुछ कथानुवाद हुए थे, उन्हें ही अनुवाद कहा जाना उपयुक्त होगा।

छात्रोपयागी कथाएँ : बालपाठ्यसामग्री प्रस्तुत करने के उद्देश्य से लिखी गई कहानियों के अनेक संकलन बीसवीं सदी में निकले हैं। प्रारंभिक अप्पाशास्त्री-युग में निम्नलिखित कथासंकलनों के प्रकाशन की जानकारी मिलती है-

१. संस्कृतगद्यावली ले.-पी.वी. काणे (बम्बई १६१३)
२. चरितरत्नावली (दो भागों में)-लेखक पी. शिवरामशास्त्री, (कुंभकोणम् १६२२ व १६२४)
३. कथारत्नाकर (तिरुनारायण अय्यंगार, १६१०)

इसके बाद तो अनेक कथासंकलनों का प्रकाशन हुआ जो आज तक जारी है। इनके अतिरिक्त प्राचीन संस्कृत साहित्य के काव्य, गद्यकथा प्रबन्धों या नाटकों की कथाओं को संक्षिप्त और सरल रूप में छात्रों के लिए लिपिबद्ध करने के प्रयत्न भी निरन्तर होते रहे हैं। प्रारम्भिक प्रयत्नों में आर.वी. कृष्णमाचारियर तथा महामहोपाध्याय वी.वी. मिराशी जैसे विद्वानों द्वारा संक्षिप्तीकृत कादम्बरीकथा या वासवदत्ताकथा गिनाई जा सकती हैं, साथ ही बी. अनन्ताचार्य, वाई. महालिंग शास्त्री, को. ल. व्यासराजशास्त्री, कैलाशनाथ आदि विद्वानों द्वारा भास, कालिदास, आदि के नाटकों की संक्षिप्त सरलकथाओं के संकलन भी गिनाए जा सकते हैं। मद्रास के पंचियप्पाकालेज (पंचयप्पकलाशाला) के संस्कृत प्राध्यापक पं. वी. अनन्ताचर्य ने मुद्राराक्षस, वेणीसंहार, मृच्छकटिक, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय, शाकुन्तल, मालतीमाधव, महावीरचरित और उत्तररामचरित इन संस्कृत नाटकों की कथाओं को सरल संस्कृत कथाओं के रूप में लिखकर छात्रों के हितार्थ प्रकाशित करवाया था। इसी का नाम है- "नाटककथासंग्रहः"। श्री अनन्ताचार्य की १२/४/३४ की भूमिका से ऐसा प्रतीत होता है कि यह संग्रह उन्होंने १६३४ में किया था। (१६४० में रामनारायण लाल, इलाहाबाद से प्रकाशित) श्री अनन्ताचार्य कोडंबकंनिवासी थे अतः लगता है इसी "नाटककथासंग्रह" को कोडंबकं अनन्ताचार्य के नाम से शोधविद्वानों ने १६८१ में प्रकाशित कथासंग्रह के नाम से उल्लिखित किया होगा। यह भी संभव है कि इन्होंने १६०१ में इसका प्रथम संस्करण दक्षिण भारत से प्रकाशित करवाया हो और अन्य संस्करण बाद में उत्तर भारत से निकाला हो। इन्हीं वी. अनन्ताचार्य ने हर्षचरितसार, चंद्रापीडचरितम् (१६०६) उदयनचरितम् १८ अध्यायों में वासवदत्ताकथासार, आदि भी इसी श्रृंखला में प्रकाशित करवाए। इसी प्रकार के कथासंक्षेपण के प्रयत्न हैं दत्तात्रेय वासुदेव निगुडकर का "रघुवंशसार" (१६००), वाई महालिङ्गशास्त्री का भासकथासार त्र्यंबकशर्मा काले, नन्दलाल शर्मा तथा आर.वी. कृष्णमाचार्य के कादम्बरीकथासार, काशीनाथ शर्मा की संक्षिप्तकादम्बरी। आर.वी. कृष्णमाचार्य ने भी हर्षचरितसार तैयार किया।

इस प्रकार के छात्रोपयोगी तथा सरल संग्रहों ने कथाकथन की सरल, अनलंकृत और निसर्गसहज शैली के निखार में पर्याप्त सहायता की। इसी प्रकार बंगला आदि भारतीय भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर प्रकाशित हो रही कहानियों के अनुवाद या उनकी छाया को लेकर लिखी गई कहानियों ने भी इस प्रारम्भिक युग में संस्कृत की कहानी को स्थापित किया और अलग पहचान दी। संस्कृतचन्द्रिका के संपादक जयचन्द्र सिद्धान्तभूषण ने इस पत्रिका के लिए अनेक कहानियाँ लिखीं, जिनमें से कुछ बंगला कथासाहित्य से प्रभावित थीं, कुछ संक्षिप्त मनोरंजनात्मक कथाएँ थीं और कुछ नीतिकथाएँ जो शिक्षा देने के उद्देश्य से "पंत्रतंत्र" की तर्ज़ पर लिखी गई थीं। व्याघ्रीविवाहार्थी श्रृंगालः, धर्मस्य सूक्ष्मगतिः, ईश्वरस्य धनदानक्रमः, वशीकृतभूतः, राक्षसप्रश्नम्, बुद्धिमाहात्म्यम् आदि इसी प्रकार की कहानियाँ हैं।

संस्कृत कथाओं की विपुलता का प्रमुख कारण संस्कृत पत्र-पत्रिकाएं रहीं, जिनमें एक अंक में एक कहानी पूरी हो सकती थी और पाठकवर्ग का ध्यान आकर्षित कर सकती थीं, यह तो सुविदित है ही। सम्पादकों को भी कहानी एक आकर्षक विधा लगती थी। यही कारण है कि जिस प्रकार संस्कृतचन्द्रिका के संपादक (पहले सहकारी संपादक) अप्पाशास्त्री ने अनेक कहानियाँ स्वयं लिखकर पत्रिका में प्रकाशित कीं, उसी प्रकार उससे अगले युग में संस्कृतरत्नाकर के संपादक (पहले सहकारी संपादक) भट्टश्रीमथुरानाथ शास्त्री ने बहुत बड़ी संख्या में विविध भावभूमियों की कहानियाँ इस पत्र में प्रकाशित कीं। इस कारण हमारे कालविभाजन की सरणि पर अप्पाशास्त्रियुग में जिन विधाओं का सूत्रपात संस्कृत कथासाहित्य में हुआ उसमें निखार और विस्तार भट्टमथुरानाथ-युग में हुआ परिलक्षित होता है।

चूँकि बंगाल कथासाहित्य की प्रमुख विहारभूमि रही है तथा बंगला साहित्य ने संस्कृत कथालेखन को भी बहुत अंशों में प्रेरणा दी है, अतः यह स्वाभाविक ही था कि बंगाल से निकलने वाली पत्रिकाओं में कथासाहित्य की विपुलता देखने को मिले। यही कारण है कि बंगाल की प्रतिष्ठित चिरंजीवी और सुप्रसिद्ध पत्रिका बंगीय "संस्कृत साहित्य परिषत्पत्रिका" में तीसरे दशक से लेकर लगभग पूरी आधी सदी तक संस्कृतकहानियाँ प्रकाशित होती रही हैं। इसमें भी तीनों तरह की कहानियाँ सम्मिलित हैं, अनूदित, प्रेरित और मौलिक।

जिस प्रकार बंगला उपन्यासों के अनुवादों या उनसे प्रेरित संस्कृत उपन्यासों के साथ आधुनिक संस्कृत उपन्यास-साहित्य का प्रथम चरण प्रारम्भ होता है उस प्रकार यद्यपि संस्कृत कथा का प्रथमावतार बंगला साहित्य के अनुवाद से नहीं होता, तथापि प्रारंभिक कथाएँ जो विभिन्न प्रेरणाओं से प्रसूत तथा विभिन्न उद्देश्यों को लेकर लिखी गयीं थीं, उनके बाद शैली परिष्कार और भावप्रवणता की अवतारणा की दृष्टि से बंगला साहित्य का पर्याप्त प्रभाव संस्कृत कहानियों पर परिलक्षित होता है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि लगभग १८६० से लेकर १६१० तक दो दशाब्दियों में संस्कृत कहानी पंचतंत्र की विरासत के अनुरूप छोटी-छोटी शिक्षाप्रद और मनोरंजक कथाओं के रूप में प्रारंभ हुई। इस अवधि में चाहे सामाजिक कहानियाँ पर्याप्त मात्रा में लिखी गईं, उन पर बंगला कहानी की उस

"भावप्रवणता" की उतनी छाया नहीं मिलती जो उसका वर्गचरित है। यहाँ तक कि संस्कृतचन्द्रिका के प्रधान संपादक जयचन्द्र भट्टाचार्य की भी प्रारंभिक कहानियाँ छात्रोपयोगी शैली में अधिक हैं, बंकिम और शरद् की शैली में नहीं। बांगला साहित्य का प्रभाव भट्टयुग की कहानियों में अधिक परिलक्षित होता है। स्वयं भट्टमथुरानाथशास्त्री की प्रारंभिक कथाएं और आदर्शरमणी जैसे उपन्यास (१६०६) बांगला से अधिक प्रभावित थे।

भट्टजी का अवदान-भट्टजी ने जयपुर से सन् १६०४ में संस्कृतरत्नाकर का संपादन प्रारंभ किया था और यह पत्र १६४६ तक जयपुर से निकलता रहा था। इसके प्रकाशन के दूसरे वर्ष से ही इसमें भट्टजी की संस्कृत कहानियाँ नये परिवेश, नई शैली और नई भावभूमि पर निकलना प्रारंभ हुईं, जिनकी धूम सारे देश में मच गई। कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले विद्योदय के (जिसके संपादकद्वय स्व. हृषीकेश भट्टाचार्य के बाद श्री विभूतिविद्याभूषण और भवभूति विद्यारत्न बन गये थे) प्रत्येक अंक में संस्कृतरत्नाकर की प्रशंसापूर्ण विज्ञप्ति होती थी। बांगला की भावप्रवण पारिवारिक कथाओं, प्रेमाख्यानों तथा सामाजिक विद्रूपों पर प्रहार करने वाली कहानियों से प्रभावित होकर भट्ट जी ने कथावस्तु, परिवेश और शैली में पूर्ण नवीनता लिए हुए जो कहानियाँ लिखीं, उन्होंने नये युग का सूत्रपात किया। इस शैली में अनेक कथाकारों ने कहानियाँ लिखना शुरू किया। बीसवीं सदी के दूसरे दशक में भट्टजी की सरला, निराशप्रणया आदि कहानियाँ प्रकाशित हुईं जो नारी की "अबला" और "विवशा" वाली छवि पर आधारित थीं। इसके बाद सैकड़ों कहानियाँ प्रकाशित होती रहीं जिनमें "दयनीया" "अनादृता" "प्रेम्णोः विजयः" प्रेम्णः प्रतिदानम्", 'एक बार आदि नारी की स्थिति को केन्द्र में रखकर लिखी गई थीं। "असमसाहसम्" "अद्भुतचिकित्सा", "दीक्षा", "विषमा समस्या" आदि सामाजिक कथाओं में आधुनिक परिवेश और शैली स्पष्ट देखी जा सकती है। भट्टजी की कहानियों को वर्गों में विभाजित करके देखना बहुत कठिन है, क्यों कि उन्होने इतने बड़े व्यापक और वैविध्यपूर्ण परिवेशों की कथाएं लिखी हैं, जिसमें अनेक प्रकार समाहित हो सकते हैं। कुछ भावपूर्ण प्रेमकथाएँ हैं, कुछ सामाजिक कुरीतियों का चित्रण कर उनके कारुणिक प्रभाव उभारती हैं तो दूसरी ओर कुछ हास्यव्यंग्य की हलकी फुलकी कहानियाँ हैं, कुछ मनोविज्ञान की गुत्थियों पर लिखी गई हैं और कुछ पूर्णतः प्रतीकात्मक हें। एक अलग वर्ग ऐतिहासिक कथाओं का है, जिनमें बुद्ध और अंगुलिमाल के संवाद की घटना से लेकर सिकंदर और पोरस के युद्ध, सोमनाथ मंदिर के ध्वंस, पृथ्वीराज, राणासांगा, हम्मीर, बूँदी के राजवंश, औरंगजेबकालीन राजाओं आदि मुग़लकालीन घटनाओं तक को आधार बनाकर लिखी गई हैं। इन्हें निश्चय ही अलग वर्ग में विभाजित किया जा सकता है। शेष सामाजिक कथाओं को शोधार्थियों ने मनोवैज्ञानिक, प्रेमसंबंधी, प्रतीकात्मक, हास्यविनोदात्मक, व्यंग्यात्मक, प्रयोगात्मक आदि अनेक वर्गों में विभाजित किया है।

कथावस्तु का वैविध्य इनकी प्रमुख विशेषता है जिससे संस्कृत कथाकार के चिन्तन के आधार-फलक का विस्तार स्पष्टतः समझ में आ जाता है। भावप्रवण कथाओं में कहीं

तो किसी विशेष बालविधवा पर पहली दृष्टि से पवित्र स्नेह की वर्षा करने वाले युवक को विवाह से मनाकर देने वाली विवश नारी की छवि है जो विवाह से तो मनाकर देती है पर एक दृष्टि में ही प्रिय को अपना हृदय निछावर कर देती है, उसकी एक झलक पाकर ही प्राणोत्सर्ग करती है सरला। कहीं विवशतावश अन्य युवती से विवाह कर लेने वाले पति को क्षमाकर देने वाली नारी की छवि है (निराशप्रणयः)। नारी के विभिन्न रूपों से सहानुभूति ऐसी कथाओं का प्रमुख स्वर है। दूसरी ओर कुछ ऐसी विनोदात्मक कथाएं बिलकुल अलग ही भावभूमि पर आधारित हैं जिनकी कल्पना भट्टजी की मौलिकता का प्रमाण है। "चपंडुकः" नामक कहानी इस दृष्टि से विशेष उल्लेख की पात्र हैं, जिसमें एक प्राचीन प्रौढ़ता के हामी और अभिमानी पंडितजी अपने कालेजीय छात्रों को कठिन-कठिन अप्रचलित शब्द बोलकर चकित करते रहते हैं। उन्हें छकाने के लिए कुछ छात्र ऐसी योजना बनाते हैं कि एक बार कक्षा में एक छात्र "चपंडुक" शब्द का प्रयोग कर देता है। पंडित जी इस शब्द से अनभिज्ञ होने के कारण आश्चर्य चकित हो जाते हैं पर वह छात्र उन्हें बताता है कि चपंडुक का अर्थ होता है "कुशल और विलक्षण"। इसके प्रमाणस्वरूप वह "वाचस्पत्यम्" कोष भी दिखला देता है। अब तो पंडित जी बड़ी-बड़ी गोष्ठियों में चपंडुक का प्रयोग करने लग जाते हैं। एक बार बड़ी विद्वद्गोष्ठी में इस शब्द को चुनौती दी जाती हैं तो वे प्रमाणस्वरूप "वाचस्पत्य" कोष निकालकर दिखलाना चाहते हैं पर उसमें शब्द मिलता ही नहीं। पंडित जी की बड़ी हँसी होती है। अन्त में बिलकुल सरल होकर उस छात्र से अपनी स्थिति बतलाते हैं और पूछते हैं कि यह सब क्या था ? छात्र बतलाता है कि उनकी गर्वभंगी को झटका देने के लिए कुछ छात्रों ने यह योजना बनाई थी और वाचस्पत्य कोष में एक फर्मा नये सिरे से नकली बनवा कर जिल्द में बँधवा लिया था जिसमें "चपंडुक" शब्द भी था। तब वह भला अन्य प्रतियों में कैसे मिलता ? इस पर पंडित जी का गर्व और अप्रचलित शब्दों के प्रयोग में गौरव की भावना समाप्त हो जाती है।

इसी प्रकार कुछ मित्रगण विनोद में एक सुन्दर साथी को नवयुवती का रूप देकर एक विद्वान् से संस्कृत पढ़ने भेज देते हैं। पंडितजी उस शिष्य को श्रृंगार काव्य भी पढ़ाते हैं और जब रहस्य खुलता है तो सारी बात विनोद में समाप्त हो जाती है। यह "शिष्या" नामक कहानी की कथावस्तु है। किस प्रकार साधु संन्यासी बनकर ठग लोग अन्धविश्वासी व्यवसायियों को ठगते हैं इस पर "पश्यतोहरः" कहानी है जो सामाजिक कुरीति पर प्रहार करती है और व्यंग्यात्मक कथा का उदाहरण है। मनोवैज्ञानिक स्थितियों का चित्रण करने वाली शैली प्रधान कहानियों में एक है "दानी दिनेशः", जिसमें एक बालक बड़े चाव से अपना प्रिय खिलौना अपने पिता से खरीदवाता है पर एक गरीब बच्चे को खिलौने के लिए तरसता देख वह प्राणप्रिय खिलौला भी उसे दे देता है।

एक प्रयोगात्मक कहानी है "करुणा कपोती च" जिसमें एक बालिका की नादानी से

उसके शैशव में एक कबूतरी को बिल्ली खा लेती है, बालिका देखती रहती है। उसी के विवाह के बाद जब उसका पति एक बार मगर द्वारा निगल लिया जाता है तो किस प्रकार उसे बचपन की यह घटना याद आती है- यह मनोवैज्ञानिक तरीके से चित्रित है।

"अद्भुतफलम्" बीसवीं सदी के दूसरे दशक की कहानी है जिसमें बीमार लेखक इलाज़ के लिये जाते समय मध्य प्रदेश के बीहड़ जंगलों के किसी झाड़ीदार पेड़ में फँसी बंदर की बच्ची को बचाता है। उसके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए बंदर उसे ऐसा फल देता है जिसमें अद्भुत रोगनाशक और स्वास्थ्यवर्धक गुण हैं जिनसे लेखक का रोग दूर हो जाता है। किसी इलाज़ की ज़रूरत नहीं पड़ती। इस प्रकार की अनेक कहानियाँ भट्टजी ने आत्मकथा याने आपबीतीं के रूप में उत्तमपुरूष में लिखी हैं जो आधुनिकता का ही एक निदर्शन है। उनकी कहानियाँ कभी-कभी केवल एक पत्र द्वारा घटनाएँ बयान करने की शैली में मिलती हैं, कभी केवल कथोपकथन के माध्यम से एक कहानी जिसे निबन्ध भी कहा जा सकता है, ऐसी है जिसका प्रत्येक शब्द "म" से शुरू होता है किन्तु फिर भी भाषा जटिल नहीं हुई है, एक पूरी कहानी बन जाती है, वर्णनात्मक निबन्ध भी। इसका शीर्षक है, "मकारमहामेलकम्" जिसमें बतलाया गया है कि मालवा में "म" कारों का मेला लगा जिसमें अन्य अक्षरों की अपेक्षा "म" का महत्त्व स्थापित किया गया, जलसा हुआ, भाषण हुए, शोभा यात्रा निकली आदि।

इस प्रकार की शताधिक कहानियाँ भट्टजी की कृतियों में शामिल हैं, जिन्होंने जिस प्रकार शैली के नूतन आयाम स्थापित किये उसी प्रकार कथावस्तु के वैविध्य का कीर्तिमान भी स्थापित किया। शायद ही किसी अन्य कथाकार ने इतनी विविध विषयक और विविध शैली निबद्ध कहानियाँ लिखी हों। इस दृष्टि से बीसवीं सदी के दूसरे दशक के बाद जो युग आरम्भ हुआ उसमें संस्कृत की नई कहानी द्वारा लाया गया युगान्तर स्पष्ट परिलक्षित होता है। इस नई कथावस्तु में प्रेम है, रोमांस है, राजनीति है, घटनाचक्र की गति है, कौतूहल और अद्भुतरस (जिन्हें अंग्रेजी में सस्पेंस और सरप्राइज कहा जाता है) हैं। शैली में भी चरित्रचित्रण की गहराई है, परिवेशांकन की चित्रोपमता है, भाषा में सहजता है, कथोपकथन है लालित्य है, हृदयावर्जकता है।

जैसा पहले बताया जा चुका है, बाणभट्ट की शैली का संमोहन भी संस्कृत लेखकों में बना रहा जो एक शाश्वत प्रवृत्ति लगती है, किन्तु नये युग की करवट के साथ जो नई कहानी आई उसने आजतक मुड़कर नहीं देखा है। वह नये-नये प्रयोग करती जा रही है। इसमें तीनों प्रकार की कहानियों को गिनाया जा सकता है, मौलिक, प्रेरित और अनूदित। इसके अतिरिक्त पंचतंत्र की शैली में बालपाठ्य शिक्षाप्रद कहानियों की धारा भी निरन्तर चलती रही है। यों तीन धाराओं में इस युग की संस्कृत कथात्रिवेणी बहती रही है-बाणभट्ट-प्रेरित अलंकृत कथा,पंचतंत्र शैली की बालपाठ्य कथाएँ तथा आधुनिक कहानी। आधुनिक के तीन उपभेद भी प्रारम्भ में अधिक स्पष्ट रहे, बंगला तथा अन्य भाषाओं की कहानियों के अनुवाद जिस विपुल मात्रा में प्रारम्भ में हुए, बंगला आदि

भाषाओं की कथाशैली से प्रेरित कहानियाँ जिस बड़ी मात्रा में लिखी गई वह धीरे-धीरे कम होती गई और संस्कृत कहानी ने शीघ्र ही अपनी मौलिक शैली विकसित कर एक अलग पहचान बना ली जो अब स्थापित है।

अन्य भाषाओं का प्रभाव : जिन कथाओं के अनुवाद ने प्रारम्भ में संस्कृत कथाकारों को अपनी शैली उद्‌विकसित करने हेतु प्रेरित किया उनमें केवल बंगला कहानियाँ ही नहीं थीं अलिफलैला की कहानियाँ भी थीं, शेख सादी के गुलिस्ताँ की कथाएँ भी थीं। बंगाल की 'संस्कृतसाहित्य परिषत् पत्रिका' में १९३० के दशक में फारसी कहानियों के अनुवाद भी छपे। बाद में डॉ. राघवन्-युग में तोल्सतोय आदि की कथाओं के भी। जयपुर के पद्‌मशास्त्री ने तो विश्व की सभी भाषाओं की १०० कथाओं के अनुवाद पिछले दिनों "विश्वकथाशतकम्" नाम से प्रकाशित किये हैं। पिछली अर्धशती में तेलुगुकी हास्यकथाओं के अनुवाद भी हुए, "आन्ध्रदेशहास्यकथा" आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी, हैदराबाद १९६४, आन्ध्रकाव्यकथाः सूर्यनारायणशास्त्री १९७२, अरविन्दाश्रम, पांडिचेरी की माता जी की कथाओं के अंग्रेजी से अनुवाद भी।

बंगला के भावप्रवण कथाकारों ने जिस प्रकार जयपुर के भट्‌टमथुरानाथशास्त्री, बम्बई के रमानाथ शास्त्री, मथुरा के बालभद्रशर्मा, बंगाल के जयचन्द्र सिद्धान्तभूषण और महाराष्ट्र के अप्पाशास्त्री आदि को प्रेरित किया उसी प्रकार हास्य व्यंग्य के बंगला उपन्यासकारों और कथाकारों की भी प्रेरणा प्रचुरता से दृष्टिगोचर हुई। प्रभात मुखोपाध्याय की विनोदपत्र शैली की बंगला कथाओं और उपन्यासों के अनुवाद भी हुए और उनकी प्रेरणा से मौलिक सामाजिक हास्य कथाएँ भीं लिखी गईं। "रसमयीर रसिकता" उपन्यास का अनुवाद "रसमयी" नाम से सं.सा. परिषत् पत्रिका में छपा, ऐन्द्रजालिकः, वायुपरिवर्तनम्, प्रतिज्ञापूरणम् आदि कथाएँ भी इसी पत्रिका में छपीं। टैगार की "यज्ञेश्वरेर यज्ञ" कहानी का इसी नाम से अनुवाद तुहिनिका देवी ने किया जो (फरवरी ३३) की परिषत्पत्रिका में छपा।

बंगला कथा में आधुनिक परिवेश के साथ-साथ सामाजिक परिवर्तनों, पुरानी मान्यताओं के साथ नये युग की टकराहट आदि का चित्रण दोनो रसों में बड़ी मनोरम शैली में हुआ था, करुण रस और हास्य रस, दोनों रसों के अंगी के रूप में श्रृंगार जैसी प्रमुख रस की जो योजना बंगीय कथाकारों ने की, उसने संस्कृत लेखक को बहुत आकर्षित किया। भट्टमथुरानाथ शास्त्री ने दूसरे दशक में "मिस्टरस्य गीताज्ञानम्" कथा में जो बंगला कथा से प्रभावित है ऐसे ही एक युवक गौरचन्द्र का चित्रण किया है जिसके हृदय में प्रेम के अंकुर फूटने लगे हैं और वह गीता के श्लोकों के निर्वचन के साथ कभी अपने प्रेमोद्‌गार प्रकट करता है, कभी अपनी प्रेयसी के सामने प्रणय निवेदन करना चाहते हुए भी एकाध प्रमुख शब्द बोलना भूल जाता है या हकला जाता है। "ममाध्यापनम्" शीर्षक उनकी कहानी में एक युवक एक किशोरी की ट्यूशन करने जाता है पर प्रेम-बन्धन में बँधने की सी अनुभूतिकर प्रेमपत्र लिख डालता है जो किशोरी के पिता के हाथ लग जाता है, ट्यूशन छूट

जाती है। भट्टजी की वे कथाएँ प्रारंभिक दशकों की हैं (१९१०-१९३०) और इनमें बंगला साहित्य के प्रेरक प्रभाव तलाशे जा सकते हैं।

इस युग की कहानियों में संस्कृत भाषा व्याकरणशुद्ध होते हुए भी ललित है, साथ ही पूर्णतः संस्कृत की प्रकृति के अनुरूप वाक्य-गठन हैं। केवल आधुनिक उपकरणों जैसे टेबिल-कुर्सी, चश्मा, कार, साइकिल, बिजली का बल्ब के लिए संस्कृत नाम लेखक को बताने पड़े हैं। भट्टजी ने कहीं टेबिल को "त्रिवली" बना दिया है, कुर्सी को आसन्दी कहा है, तिवारी को "त्रिद्वारिका" कहना पड़ा है आदि। परिवेश चित्रण, कथोपकथन और घटना प्रस्तुतीकरण बिल्कुल आधुनिक शैली में हैं। इस रूपान्तरण के माध्यम से संस्कृत कथा ने अपनी अलग पहचान स्थापित की यह आसानी से कहा जा सकता है।

इस कथा की आँधी को सर्वाधिक प्रेरणा पत्र-पत्रिकाओं से मिली और आज भी मिल रही है इसे पुनः दोहराया जाना अनावश्यक है। संस्कृतचन्द्रिका, संस्कृतरत्नाकर, सहृदया, उद्यान-पत्रिका, विद्यादेय, परिषत् पत्रिका, मधुरवाणी, अमरवाणी, (काशी), सूर्योदयः आदि प्रमुख पत्रिकाओं ने जिस प्रकार बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में संस्कृत कहानियों का प्रभूत मात्रा में प्रकाशन किया उसी प्रकार संस्कृत प्रतिभा, भारती, संस्कृतभवितव्यम्, विश्वसंस्कृतम् सारस्वतीसुषमा, शारदा आदि पत्रिकाओं ने उत्तरार्ध में इस प्रवाह को मूर्तरूप देने में मूल्यवती भूमिका निभाई। डा. राघवन् के संपादकत्व में केन्द्रीय साहित्य अकादमी की "संस्कृतप्रतिभा" का प्रकाशन जब से आरम्भ हुआ, सारे देश के कथाकारों की कथाएँ इसमें प्रकाशित हुई हैं। इसके अतिरिक्त विविध कथासंकलनों के पुस्तकाकार प्रकाशन से भी कथासाहित्य की विपुलता निरन्तर बढ़ रही है, इन सब के एक सामान्य आकलन से कथा-साहित्य की प्रवृत्तियों का मूल्यांकन सरलता से हो सकता है।

विद्योदय के संपादक भवभूति विद्यारत्न की अनेक कहानियाँ 'संस्कृत परिषत् पत्रिका' में निकली थीं। ये बृहदाकार भी थीं, छोटे आकार की भी 'लीला' शीर्षक कथा २९ पृष्ठों में फैली है पर इसे उपन्यास कहना उचित नहीं होगा, 'उपन्यासिका' अवश्य कहा जा सकता है। जिस प्रकार एक बालविधवा अपने बाल्यकाल से साथ रहे प्रेमपात्र के लिए हृदय में असीम प्रेम होते हुए भी विवाह न कर पाने तथा समाज की मान्यताओं से विवश होने के कारण अपना मन मसोस कर उसे भूलने और उसे भाई बताने तक की स्थिति में आ जाती है जिससे उसका जीवन सुखमय बीते। उत्तम पुरुष में आपबीती की शैली में लिखी गई यह कहानी नारी की उसी छवि का प्रतिनिधित्व करती है जो बंगला साहित्य द्वारा स्थापित है और जो भट्ट-युग की संस्कृत कहानियों का प्रमुख स्वर है। भवभूति विद्यारत्न की ही "विद्याधरस्य दुःखम्" शीर्षक लघुकथा में एक स्त्री पति द्वारा दी गई स्वतंत्रता का दुरुपयोग कर किस प्रकार एक आधुनिका उच्छृंखल हो जाती है यह बताया गया है। इसका प्रतिपाद्य है "न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति।"

नरेन्द्रनाथ चौधुरी की कहानी "विपाकः" भी स्त्री के स्वातंत्र्य के विरोध में जाती है। वसन्तकुमार विद्यारत्न की "कुललक्ष्मी" शीर्षक कथा में बतलाने का प्रयास किया गया है

कि चाहे चार माह के लिए ही सही, विवाहित रही पत्नी का सही स्थान पतिगृह ही है, पितृगृह नहीं। इसमें प्राचीन संस्कृत नाटकों की तरह अभिजात पात्रों और महिलाओं के कथोपकथन की भाषा तो संस्कृत है, पर अशिक्षित स्त्रियों के संवाद प्राकृत में निबद्ध हैं। नायिका संस्कृत बोलती है पर उसकी माता, सास, नौकरानियाँ प्राकृत बोलती हैं (परिषत्पत्रिका १९३३:, ३४)

तारिणीकान्त चक्रवर्ती की कहानी "पुष्पांजलिः (परिषत्पत्रिका १९२४) में लेखक सीधे-सीधे इस बात की शिक्षा देता प्रतीत होता है कि मद्यपान, दुश्चरित्रता आदि किस प्रकार अधःपतन की ओर ले जाते हैं। इसी प्रकार "आख्यायिका" शीर्षक कथा (परिषत्पत्रिका १९३३-३४) भी उपदेश का संदेश लेकर अवतरित हुई है। बंगला की विनोदप्रधान तथा व्यंग्यपरक शैली से प्रभावित अनेक कहानियों में घटनाओं और परिवेश की नूतनता, काल्पनिकता तथा दृश्ययोजना ने नये आयाम छुए हैं। उदाहरणार्थ, वेणुधर तर्कतीर्थ की काल्पनिक कथा "यमपुरीपर्यटनम्" (परिषत्पत्रिका १९२८-२९) में स्वप्न में यमपुरी का भ्रमण करते हुए लेखक क्या-क्या देखता है इस कथातन्तु में देश में फैले सभी कदाचारों पर बहुत अच्छे व्यंग्यात्मक प्रहार किये गये हैं-दहेज प्रथा, अशिक्षा, शिक्षाजगत् के भ्रष्टाचार, हड़तालें, राजनीति, फैशनपरस्ती आदि के कारण यमपुरी में क्या-क्या भुगतना पड़ता है यह बतलाते हुए लेखक बंगला की शैली में नये-नये प्रयोग भी करता है जैसे "चक्षुषा सर्षपकुसुमं द्रष्टव्यम्" "भारस्योपरि शाकगुच्छः" एकपदे उपस्थातव्यम् आदि। इसी हास्य-व्यंग्य शैली में लेखक वहाँ यह प्रश्न उठा देता है कि यमराज का क्षेत्राधिकार केवल हिन्दुओं पर ही है या म्लेच्छों पर भी (जैसे अंग्रेज)। इस पर यमराज भी हतप्रभ रह जाते हैं। लेखक को यह काम दिया जाता है कि वह तुरन्त भारतदेश में जाकर वहाँ पंडितों की व्यवस्था-सभा बुलाए और इस पर धर्मनिर्णय करवाए। तभी कहानी समाप्त हो जाती है।

बंगला से प्रभावित कहानियों की यह विशेषता उल्लेखनीय है कि उनमें उपन्यास की तर्ज़ पर परिच्छेद-विभाजन किया मिलता है। कहीं-कहीं ऐसी कहानियों में परिच्छेदों को १,२,३,४ आदि क्रमांक देकर विभाजित किया गया है, कहीं उनके भी शीर्षक दे दिये गये हैं। इस दृष्टि से उपन्यास में और कथा में कोई बड़ा भेद नहीं है, यह एहसास इन्हें देखने से होता है। कहानियों का आकार छोटा हो और उपन्यास का बड़ा केवल यही विभेदक लक्षण मानकर चलना भी भ्रान्ति ही होगी। आज का साहित्य दोनों में तात्त्विक भेद मानता है। जहाँ एक जीवन का, युग का या किसी स्थिति विशेष-देश, परिवार आदि का संपूर्ण चित्रण हो उसे उपन्यास और जहाँ कुछ घटनाओं का, जीवन की या किसी अन्य इकाई की कुछ स्थितियों मात्र का चित्रण हो उसे लघुकथा माना जाता है। उपन्यास का आकर छोटा होने पर भी पूरे जीवन चित्र को उपन्यास ही कहा जाएगा और कुछ स्थितिविशेषों का चित्रण उससे भी बड़े आकार का क्यों न हो, कहानी ही कहा जाएगा। इस दृष्टि से भट्टयुग की संस्कृत कथाओं में जहाँ परिच्छेद-विभाजन है या उन्हें शीर्षक भी दे दिये गये हैं, उपन्यास मान लेने की भ्रान्ति स्वाभाविक है। सं.सा.परिषत्पत्रिका में छपी अनेक कहानियाँ

इसी रूप में मिलती हैं। कहीं-कहीं तो उनमें आगे पीछे लेखक का नाम ही नहीं मिलता, क्योंकि इस पत्रिका में उन दिनों विषय-सूची नहीं छपती थी। कहानियाँ धारावाहिक छपती थीं। प्रत्येक धारावाहिक कहानी का पृष्ठांकन अपने क्रम से होता था, पत्रिका के उस अंक के क्रम से नहीं। यह स्थिति संस्कृतचन्द्रिका, संस्कृतरत्नाकर आदि के तत्कालीन मुद्रण प्रकार में निरपवाद रूप से सर्वत्र देखी जाती थी। एक अंक में किसी कहानी का एक फर्मा लगा दिया गया तो उसके पृष्ठांकन १७ से २४ हुए फिर किसी अन्य धारावाहिक के पृष्ठांकन ६ से १५ हुए। यों एक अंक अनेक धारावाहिकों के भागों को मिलाकर जिल्द में दिया जाता था। परिषत्पत्रिका में फर्मे अलग नहीं होते थे-एक पृष्ठ में पुराने धारावाहिक का एक अंश समाप्त होता था तो दूसरे धारावाहिक का कोई अंश उसी से शुरू हो जाता था। लेखक का नाम नहीं छपता। विषयसूची होती नहीं थी अतः छुट-पुट अंकों को देखकर तो लेखक का पता लगाना भी कठिन हो जाता था।

इस पत्रिका में विविध रसों, शैलियों और भावभूमियों की कहानियाँ निकलती थीं। यही स्थिति "सहृदया" और "उद्यानपत्रिका" आदि की भी थी। इन पत्रिकाओं की एक विशेषता यह भी थी कि प्रान्त विशेष की सीमाओं को पूरी तरह नकार कर संस्कृत लेखक इनमें लिखा करते थे। दक्षिण के लेख बंगाल की पत्रिकाओं में छपते थे, बंगाल, महाराष्ट्र आदि के लेख दक्षिण की पत्रिकाओं में। "संस्कृतचन्द्रिका" के युग के पहले से यही एकात्मता की भावना सारे संस्कृत जगत् में थी। स्वयं हृषीकेश भट्टाचार्य बंगाल के थे, पर लाहौर के कालेज में सेवारत थे। उनका "विद्योदय" प्रथमतः लाहौर से ही निकलने लगा, उनके बंगाल लौटने पर बंगाल से निकला। पत्र-पत्रिकाएँ सारे देश के संस्कृत पाठकों तक जाती थीं। एक युगान्तर, एक पुर्नजागरण का माहौल था। प्रान्तभेद, प्रदेश की सीमाएँ कोई अर्थ नहीं रखती थीं। अप्पाशास्त्री और जयचन्द्र सिद्धान्तभूषण क्रमशः महाराष्ट्र और बंगाल के थे पर दोनों मिलकर 'संस्कृतचन्द्रिका' निकालते थे। वह भी कभी बंगाल से, कभी महाराष्ट्र से। सारा देश संस्कृत के नवसर्जन की जागृति के आलोक से प्रकाशित था। सौहार्द, सद्भाव और सहयोग का ऐसा अपूर्व युग बहुत कम देखने को मिलता है। अप्पाशास्त्री के निधन पर दूर-दूर से निकलने वाली संस्कृत पत्रिकाओं ने जिस भावभीने हृदय से श्रद्धांजलि दी उससे इस एकात्मता का कुछ अनुमान हो सकता है। अस्तु।

नवयुगीन कथा : "संस्कृत साहित्य परिषत् पत्रिका" में दक्षिण के आर. रंगाचार्य शिरोमणि की एक कहानी "आई.सी.एस. जामाता" विशुद्ध हास्य का अच्छा उदाहरण है (१९३५-३६)। किस प्रकार आई.सी.एस. दामाद अपने आपको ऊँचा दिखलाने के प्रयास में हास्यास्पद हरकतें करता है यह इसमें बड़ी चुटीली शैली में चित्रित है। इसकी भाषा में भी नये प्रयोग मिलते हैं जैसे "ग्रावस्रावं विलेपुः अथवा स मुंडः कूष्मांडपातं पतितः"। ऐसी ही एक कहानी है "अहो कनीयान् ग्रामीणः" (१९३७-३८)। एक अन्य कहानी "नगरपरिपालनसभा" भी रंगाचार्य की लिखी हुई है जिसमें नगरपालिका के चुनाव के लिए एक वृद्ध महिला तथा एक अन्य महिला खड़ी होती हैं। चुनावी राजनीति के भष्टाचारों और

जोड़-तोड़ का इस प्रसंग में अच्छा चित्रण हुआ है। चुनाव में संघर्ष हो जाता है, मामला न्यायालय में जाता है जो चार वर्ष तक चलता है, तब तक उनका कार्यकाल ही समाप्त हो जाता है।

प्रेमकथा के रूप में "नलिनीवसन्तम् (सं.सा.प.पत्रिका १६३५-३७) शिवशंकर शास्त्री ने लिखी थी, जिसमें नलिनी और वसन्त का प्रेम "रोमियो जूलियट" की शैली में वर्णित है। इसमें समस्त पद घटित संस्कृत भाषा के लंबे वाक्य और प्रौढ व्याकरण निबद्ध शैली में लिखी सपाट प्रेमकथा है। कुछ यथार्थ लगने वाली कथावस्तु पर लिखी कहानियाँ भी इन दिनों इस पत्रिका में छपी थीं जैसे भामिन्या मदनतापः (१६३५-३६), जिसमें लेखक ने एक अधेड़ उम्र के (लगभग ४४ वर्ष के) व्यक्ति के विवाहित एक अष्टादशवर्षीय युवती की स्थिति वर्णित की है जो वृद्ध से विवाहित होने के कारण असन्तुष्ट रहती है, एक इक्कीस वर्ष के युवक से प्रणयनिवेदन करती है किन्तु उसके पति को इसकी जानकारी हो जाती है। इसके बावजूद वह उसे क्षमा कर देता है। अन्ततः नायिका को यह एहसास हो जाता है कि इस प्रकार के आपातिक सुख चरम सन्तोष नहीं दे सकते (अल्पं मदनसुखम्)। वह पातिव्रत का निर्वाह करती है और अगले जन्म में वही पति युवक रूप में उसे मिलता है। इसके लेखक हैं के.आर. शंकरनारायण शास्त्री।

इस प्रकार चौथे और पाँचवे दशक की कथाओं में वस्तु वैविध्य और शैली के नये प्रयोग शुरू होते हैं जो अगले दशकों में और विस्तार पाते हैं। चौथे दशक के लेखकों में पी.वरदराज शर्मा भी उल्लेखनीय हैं जिनकी कथाएँ "कस्यायमपराधः" (सं.सा.प.पत्रिका १६३६-३७) "किमिदमाकूतम्" (१६३७-३८), गर्ते पतेत् क्रोधनः" (१६३७-३८), "किं स्वतंत्रा अहो अनाथाः" (१६३६-४०) "कस्याहम्" ? (१६३६-४०) आदि नई सामाजिक चेतना से अनुप्राणित हैं। "कस्यायमपराधः" और "किं स्वतंत्राः" दोनों कथाएँ तत्कालीन रूढिबद्ध समाज द्वारा अबलाओं पर किये जा रहे अत्याचारों तथा रूढ़ियों में जकड़ी नारी की विवशता का कारुणिक चित्र उपस्थित करती हैं। "कस्यामपराधः" की नायिका विधवा होते ही कुलवधू की बजाय उपेक्षित नारी बन जाती है, अन्ततः उसे शरीर बेचने को विवश होना पड़ता है। उसकी उक्ति कहानी का जीवन-दर्शन स्पष्ट करती है-

"स्त्रीत्वमेव निन्दाभाजनम्। न विद्या, न स्वाधीना वृत्तिः, न वाऽर्जनशक्तिः। स्त्रियो नाम पुरुषैः परवत्यः। दिष्टदोषेण यदि या काऽपि विधवात्वमापाद्यते, कथन्तरा खिलीक्रियते। अवृत्तिकार्जिता हि स्त्री प्रदुष्येत्, स्थितिमत्यपीति बिभ्यति धार्मिकाः। सति चैवमनाथामशरणामकिंचनां च गेहाद् विद्रावयन्ति। न ताभ्योंऽशं दित्सन्ति। क्षते क्षारार्पणमिव सामुदायिकेभ्यो बहिष्कुर्वते मूर्त्तममंगलं मन्यन्ते। न वीथ्यामपि संचरितव्यम्। परिवाद्यस्य परा भूमिः। कष्टानामन्त्या काष्ठा। शुनीमिव न्यक्कुर्वन्ति। भुजगीमिव परिहरन्ति। किं न तस्या आसते बाह्याभ्यन्तराणि करणानि ? कामादयो वा ?"

लेखक "गर्ते पतेत् क्रोधनः" तथा "कस्याहम्" में तीखे व्यंग्य के साथ सामाजिक स्थितियों पर प्रहार करता है। इस समय की कहानियों में शैली के नये प्रयोग भी होने लगे,

एक ललित गद्यशैली विकसित हो रही थी। एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा, जिसमें भावज्ञान का वर्णन लेखक करता है- पांडुरां मे मुखच्छायामालोक्य साकूतनिरीक्षणेनानक्षरमाशयमाविश्चकार।"

बीसवीं सदी के मध्यकालीन चार-पाँच दशकों (१६३० से १६७०) में कथासाहित्य का विपुल विस्तार सभी दृष्टियों से उल्लेखनीय है। इस अवधि में कुछ लेखकों ने तो निरन्तर कथालेखन का क्रम जारी रखा, जिनमें भट्टमथुरानाथ शास्त्री का नाम सर्वोपरि है। कुछ ने अन्य विधाओं में लेखन के साथ-साथ कहानियाँ भी लिखीं जो पत्र-पत्रिकाओं में छपीं। कुछ ने इस युग से कथालेखन शुरू किया और बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में कथालेखन के क्रम को बढ़ाते रहे। म.म.पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पं. सूर्यनारायणाचार्य आदि जयपुर के विद्वानों ने, पं. बलदेव उपाध्याय, बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते आदि वाराणसेय विद्धानों ने अन्यान्य विधाओं में गम्भीर साहित्य प्रणयन करने के साथ-साथ किसी प्रसंग या हेतु से एकाध लघुकथाएँ लिख दीं जो प्रकाश में आईं, या संकलित हुईं। कुछ विद्वान् अच्छी संख्या में निरन्तर लिखते रहे जिनमें पं. गणेशरामशर्मा (डूंगरपूर, राजस्थान) श्रीधरप्रसाद पन्त सुधांशु (पीलीभीत, उत्तर प्रदेश) आदि के नाम लिये जा सकते हैं। इनमें गणेशरामशर्मा आदि जो भट्टयुग में उद्‌गत होकर राघवन् युग तक निरन्तर लिखते रहे, अपनी शैली में युगानुरूप नवीन प्रयोग करते रहे। बीसवीं सदी के अन्तिम चरण में जो नये कथाकार विकसित हुए उन्होंने शैलीगत प्रयोगों को और आगे बढ़ाया तथा युग-परिवेश का चित्रण अधिक सजीव रूप में किया।

ऐसे नये कथाकारों के बारे में विस्तृत चर्चा करने से पूर्व, जिनमें हरिकृष्णशास्त्री, अभिराज राजेन्द्र मिश्र, स्वामिनाथ आत्रेय, रेवाप्रसाद द्विवेदी, केशवचन्द्र दाश, राधावल्लभ त्रिपाठी, पद्‌म शास्त्री आदि शामिल हैं, भट्टयुग की कुछ अन्य प्रवृत्तियों की ओर ध्यान आकर्षित करना अनुचित नहीं होगा। बीसवीं सदी के तृतीय दशक से लेकर पंचम दशक तक ३० वर्षों का समय राष्ट्रीय भावनाओं के उद्वेलन का, स्वतंत्रता आन्दोलन का और युगपरिवर्तन का समय था। जब देश स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ रहा था, संस्कृत साहित्य में भी राष्ट्रियता, देशभक्ति, आत्मगौरव और स्वदेशी भावनाओं का एक ज्वार आया था। इसी युग में पंडिता क्षमा राव जैसी कवयित्रियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन के समर्थन में काव्य-रचना भी की और सामाजिक दुःखान्त कहानियाँ भी लिखीं। इस युग के कथाकारों की कहानियों में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट होती हैं। एक तो सीधे-सीधे राष्ट्रीय आन्दोलन के समर्थन में लिखी गई कहानियाँ, जिनमें अंग्रेजों के अत्याचार, उनके विरोध में देशभक्ति जगाते नेताओं या स्वाधीनता के कार्यकर्ताओं की घटनाएँ निबद्ध थीं, दूसरे उन्हीं दिनों प्राचीन भारत और मध्यकालीन भारत में हुई स्वदेश प्रेम की देशभक्ति में प्राणों का उत्सर्ग कर देने वाले वीरों की कथाएँ भी लिखी गईं, जो चाहे गुप्तकालीन हों महाराणा प्रताप और शिवाजी आदि के समय की हों या बालचर आन्दोलन से अथवा युद्ध में जूझने वाले वीरों से जुड़ी हों। यही कारण है कि भट्ट मथुरानाथ शास्त्री की अनेक कहानियाँ भारत के इतिहास से

संबंधित हैं- जिनमें बहुत सी राजपूतकालीन युद्धों की पृष्ठभूमि में निबद्ध हैं। उनकी लिखी "अलक्ष्येन्द्रश्च दस्युश्च", "वीरबालकः", "वीरपरीक्षा", "धन्योऽसि धर्मवीर", "सिंहदुर्गे सिंहवियोगः", "पुरुराजस्य पौरुषम्", "अंगुलिमालः", पृथ्वीराजपौरुषम्", "मातृसेवायां चिरममरे बलिदाने", "सामन्तसंग्रामः", "सत्यो बालचरः", "वीरो बालचरः:", "धन्यो भारतीयवीरः", "विजयघंटा", कृत्रिमबुन्दी", "भारतध्वजः आदि कथाएँ, सिकंदर और पोरस, बुद्ध और अंगुलिमाल, पृथ्वीराज और मुहम्मद ग़ोरी से लेकर सिंहगढ़ पर आक्रमण करने वाले शिवाजी तक की कथावस्तु पर आधृत हैं। बालचरों और आधुनिक योद्धाओं की कर्तव्यनिष्ठा पर भी कुछ कहानियाँ हैं जिनमें से अधिकांश उनके द्वारा संपादित संस्कृतरत्नाकर में प्रकाशित हुईं (१६०४ से लेकर १६४६ तक)।

पंडिता क्षमाराव की कुछ कथाओं में भी भारत के गौरव की भावधारा परिलक्षित होती है। उनकी कुछ कहानियाँ तो उनके प्रिय अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध हैं-जो कथापंचकम् (बम्बई १६३३) में संकलित हैं। उनकी गद्यकथाओं में कुछ की कथावस्तु तत्कालीन परिस्थितियों से संबंधित हैं और कुछ में सामाजिक रूढ़ियों से त्रस्त नारी की या शोषित वर्ग की दुर्दशा और त्रासदी चित्रित है। उनकी अधिकांश कहानियाँ दुखान्त है। कुछ कहानियों की कथावस्तु राष्ट्रीय आन्दोलन से भी संबद्ध हैं। कथामुक्तावली (बम्बई १६५४) में उनकी १५ गद्यकथाएँ संकलित है। इनमें से कुछ दुःखान्त प्रेमकथाएँ हैं जहाँ प्रेमी प्रेमिका का मिलन बर्फ से दब कर मृत्यु के समय ही होता है (हैमसमाधिः)। एक कहानी में पिता अपनी संतति का मुख देखने को तरस जाता है, क्योंकि उसने अपनी पत्नी का परित्याग कर दिया था और पत्नी ने मरते समय यह प्रतिज्ञा की थी कि उसकी संतान को उसके पति को न दिखाया जाय। एक कहानी में एक मछुवारा साधु बन जाता है, बरसों जब वह अपने नगर आता है तो उसकी माँ उसे पहचान लेती है किन्तु पड़ोसियों को जब मालूम पड़ता है कि यह तो मछुआरा है तो माँ-बेटे दोनों का बहिष्कार कर दिया जाता है। "खेटग्रामस्य चक्रोद्भवः" जैसी कहानियों में गुजरात के खेड़ा जैसे गाँवों में बस के पहुचने पर जो सामाजिक परिवर्तन होता है उसका मनोरम चित्रण गुजरात के ग्रामीण प्रविेश से संबद्ध कथाओं में है। इसी प्रकार की सामाजिक परिवेश की कथावस्तुओं पर लिखी पं. क्षमाराव की कहानियाँ आधुनिक लघुकथा का अच्छा निदर्शन सिद्ध होती हैं। उनमें विषयवैविध्य भी है, शैली भी शुद्ध एवं सुन्दर है।

गोस्वामी हरिकृष्ण शास्त्री भी भट्टयुग के कथालेखक हैं यद्यपि उनकी कथाओं के संकलन पुस्तक रूप में बहुत बाद में प्रकाशित हुए। उनकी "ललितकथाकल्पलता" में भाँति-भाँति की छोटी बड़ी १५ कहानियाँ हैं, जिनमें कुछ तो चम्पू शैली में गद्यमय हैं यद्यपि उनमें गद्य अधिक है, कहीं-कहीं कवि ने पद्य में कथोपकथन या वर्णन समाविष्ट कर दिये हैं। कुछ ३० पृष्ठों की हैं, कुछ ४-५ पृष्ठों की। कुछ एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं। "प्रतिफलम्" और "यदस्मदीयं न हि तत् परेषाम्" शीर्षकों से एक ही सूत्र से जुड़ी दो कहानियाँ इसमें मुद्रित हैं। एक उदारमना ठाकुर जसवन्तसिंह (जिसका नाम संस्कृतीकृत

करके लेखक ने यशस्वत् सिंह कर दिया है) के यहाँ माली का काम करने वाला वीरू बहुत ईमानदार है। मालिक कुछ दिन के लिए जाता है पर महीनों तक नहीं लौटता है, पर माली ईमानदारी से काम करता रहता है। सहसा दो हजार रूपये की थैली उसका वकील माली को लाकर देता है कि मालिक की मृत्यु हो गई पर वे तुम्हारे लिए वसीयत में यह छोड़ गये हैं। इसे अपनी ईमानदारी का प्रतिफल जानकर माली खुश हो जाता है। यह है "प्रतिफलम्" की संक्षिप्त कथा। उसी माली के दो हजार रुपयों को ठगकर खसोट लेने वाले एक व्यापारी से दूसरी कहानी संबद्ध है जो उसके धन की पोटली ऐंठ लेता है और पुराने पेड़ के कोटर में छिपाकर प्रसन्न हो जाता है, जबकि दैवयोग से माली को तत्काल ही वह पोटली मिल जाती है- यह है "यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्" का अर्थ।

ऐसी कथाओं में प्राचीन शैली से घटना का वर्णन है। परिवेश या चरित्रचित्रण की शिल्पात्मक नूतनता नहीं है। किन्तु ये कहानियाँ एक व्यापक फलक का स्पर्श करती हैं। लेखक द्वारा १९७६ में इनका प्रकाशन किया गया था।

भट्टयुग में शिक्षाप्रद, बालपाठ्य और सरल कथाएँ लिखने की धारा भी यथावत् चलती रही। ऐसी कथाएँ पत्र-पत्रिकाओं में निकलकर पाठ्यपुस्तकों में तो संकलित होती ही रहीं, अलग से भी कथासंकलन प्रकाशित हुए। भट्ट जी ने स्वयं भी ऐसी १५-२० कथाएँ स्वलिखित बालपाठ्यपुस्तकों में संकलित की हैं जो स्वयं उन्हीं की लिखी हुई हैं। "संस्कृतसुबोधिनी" नाम पाठ्यपुस्तक के दोनों भागों में ऐसी कहानियाँ देखी जा सकती हैं, जिनमें से किसी में माता-पिता का महत्त्व वर्णित है, किसी में शिवाजी की गुरुभक्ति, किसी में समय का मूल्य। "भारती" संस्कृत पत्रिका में, जिसका संपादन १९५२ से १९६४ तक भट्ट जी ने भी किया था विविध कथाकारों की कथाएँ प्रकाशित हुईं। इनमें से कुछ संकलित हुईं जो "लघुकथासंग्रहः" शीर्षक से श्रीगिरिराजशर्मा के संपादन में १९७५ में जयपुर से प्रकाशित हैं। १९८५ में प्रकाशित कथामृतम् (गणपति शुक्ल) शिक्षाप्रदकथाओं का संकलन है।

राघवन्-युग के कथाकारों में नवीन शैली के प्रयोग करने वाले अनेक लेखकों की कहानियाँ "संस्कृत प्रतिभा" पत्रिका में निकलती रही हैं जो केन्द्रीय साहित्य अकादेमी की मुख पत्रिका के रूप में संस्कृत की साहित्यिक पत्रकारिता का प्रतिनिधित्व १९५४ से निरन्तर कर रही है। डॉ. राघवन् के स्वर्गारोहण के बाद डॉ. विद्यानिवास मिश्र, डॉ. मल्लदेवरू आदि विद्वानों के संपादकत्व में यह निकलती रही है। इसी अवधि में पंजाब से निकलने वाले "विश्वसंस्कृतम्", नागपुर से निकलने वाले "संस्कृतभवितव्यम्" तथा विभिन्न प्रान्तों से निकलने वाली अन्य पत्रिकाओं में भी कहानियाँ तो बराबर प्रकाशित होती ही रही हैं। इस बीच विभिन्न संस्कृत अकादमियों से भी संस्कृतमुख पत्रिकाएँ निकलने लगी हैं। राजस्थान संस्कृत अकादमी की त्रैमासिक पत्रिका "स्वरमंगला", मध्य प्रदेश संस्कृत अकादमी की "दूर्वा", दिल्ली संस्कृत अकादमी की "सँस्कृतमंजरी" आदि इसी प्रकार की पत्रिकाएँ हैं, जो कहानियों को सर्वाधिक उपयुक्त पाती हैं। इन पत्रिकाओं की अपेक्षा की

पूर्ति के लिए लिखी जाने वाली संस्कृत कथाओं ने जिस प्रकार आधुनिक कथालेखकों को मिली सर्जनात्मक प्रेरणा के फलस्वरूप संस्कृतकथासाहित्य को समेधित किया है उसी प्रकार विभिन्न परीक्षाओं के पाठ्यक्रमों में आधुनिक संस्कृत की पाठ्यवस्तु रखने की नीति ने भी आधुनिक लेखकों को नया साहित्य लिखने की प्रेरणा दी है। इसके फलस्वरूप माध्यमिक उच्च माध्यमिक, स्नातक आदि स्तरों के संस्कृत पाठ्यक्रमों में निर्धारित "संस्कृत गद्य" की पाठ्यवस्तु के लिए पाठ्यपुस्तक बनाने वाले संकलनकर्ताओं ने नई कहानियों को भी अपने गद्यसंकलनों में रखा है। अधिकांश पाठ्य चर्याओं में जो गद्य ग्रन्थ नियत हैं उनमें कादम्बरी के शुकनासोपदेश या पंचतंत्र और हितोपदेश की कथाओं के साथ नये लेखकों की कहानियाँ भी संकलित हुईं, जिनमें अप्पाशास्त्री, भट्टमथुरानाथशास्त्री आदि के अतिरिक्त अन्य आधुनिक लेखक भी समाविष्ट किये गये। कभी-कभी इन संकलनों की अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए भी लेखकों ने कहानियाँ लिखकर दीं।

ऐसे कथासंकलन देश के विभिन्न प्रान्तों से निकले। काशी के शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदी ने १९६६ में "अभिनवकथानिकुंजः" नाम से जो कथासंकलन प्रकाशित किया उसमें भट्टमथुरानाथ शास्त्री, सूर्यनारायणाचार्य, गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी आदि के अतिरिक्त द्विजेन्द्रनाथ मिश्र, "निर्गुण" (जो संस्कृत विद्वान् होने के साथ-साथ हिन्दी के भी यशस्वी कथाकार रहे), पं. बलदेव उपाध्याय, पं. बटुकनाथशास्त्री खिस्ते, जगन्नाथ पाठक, म.म. परमेश्वरानन्द शास्त्री, गजानन शास्त्री मुसलगांवकर आदि की कहानियाँ भी सम्मिलित हैं, जिनमें से कुछ संकलनकर्त्ता के अनुरोध पर ही लिखी गई थीं। इनमें एक बिन्दु सभी में समानता से परिलक्षित होता है, वह है सरल, सहज और अनलंकृत भाषा। शेष तत्त्वों में किसी कहानी में चरित्र चित्रण प्रधान है, किसी में चित्रोपम वर्णन, किसी में घटनावैचित्र्य और किसी में कथोपकथन। कुछ कथाओं को छोड़कर अधिकांश की कथावस्तु आधुनिक युग की सामाजिक स्थितियों से ली गई है। बहुत कम ऐसी हैं जिनमें अपाला आत्रेयी जैसे वैदिक पात्र या पौराणिक पात्र कथानायक हों।

यदि पुराने पात्रों को लेकर कथाएं लिखी भी गई हैं तो कुछ ऐसे प्रयोग भी हुए हैं कि आज जयदेव और पद्मावती दिल्ली में रह रहे होते तो उनका जीवन कैसा होता। इस प्रकार के प्रयोग ए.आर. रत्नपारखी जैसे सर्जकों ने "जयदेवपद्मावतीयम्" जैसी कथोपकथनात्मक नाट्यरचनाओं में भी किये हैं। इसके आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि नये युग की छाप जिस विधा में सर्वाधिक प्रतिफलित हुई है वह विधा है कथानक, जिसमें लघुकथा और उपन्यास दोनों आते हैं।

"संस्कृत प्रतिभा" में छपी कहानियों में उपर्युक्त समस्त प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। प्राचीन साहित्य की उक्तियों को लेकर पूर्णतः नये परिवेश में उन्हें जोड़कर चमत्कार विनोद या हास्य व्यंग्य की उद्भावना के नये प्रयोगों का निदर्शन अशोक अकलूजकर की कुछ कथाएँ हैं, जिनमें कहीं तो "ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः" जैसी उक्ति पर एक विश्वविद्यालय में संगोष्ठी किये जाने पर उद्भूत हास्य विनोद है, कहीं "ततो

जयमुदीरयेत्" पर विनोदात्मक निबन्ध है। उपनिषद् की उक्ति को हास्य विनोद की समर्थक बतलाते हुए लेखक उसे थोड़ा रूपान्तरित कर पैरोडी सी बनाकर रखता है "आनन्दं भाषणे विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।"

श्री स्वामीनाथ आत्रेय भी प्रसिद्ध कथाकार हैं। उन्होंने राजनैतिक परिवेश की पृष्ठभूमि में "बुद्बुदपृष्ठे मशकः" जैसी कथाएँ लिखी हैं। राधावल्लभ त्रिपाठी (जो "दूर्वा" पत्रिका के संपादक भी रहे हैं) की कथा "महाकविः कंटकः" भी एक ऐसे कवि की बौद्धिक सनक पर व्यंग्य करती है जो राजनीति की महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होकर हास्यास्पद स्थितियों को जन्म देता रहा है। शुद्ध हास्य-विनोद की कथाओं में वाई.महालिंग शास्त्री की "शाकल्यस्य स्वभावोक्तिः" आती है जिसमें एक भोला सा छात्र स्वभावोक्ति का पद्य बनाना चाहता है और रात को जोर से उसे पढ़ता है।

"आखू पुरो भित्तिबिलं विधत्तः प्रधावतः संप्रति भूरिमायौ।" इसे सुनकर चोर जो सेंध लगाने आते हैं यह समझकर भाग खड़े होते हैं कि यह हम पर कही जा रही उक्ति है। पी.एस. शुभरामभट्ट (पट्टर) की उंछवृत्तिः भी ऐसा ही प्रयोग है। श्री डी.टी.ताताचार्य की कथा "वधूविनिश्चयः" सामाजिक आधुनिक पारिवारिक कथावस्तु पर आधारित है। जी. राम की कहानी "हा हन्त ! हन्त विधिना परिवंचितोऽस्मि" परीक्षाकक्ष में एक शरारती छात्र द्वारा नकल आदि अवैध तरीकों से पास होने के प्रयत्नों का चित्रण करती है जिसमें प्राध्यापक तक की मिलीभगत होती है। अन्त में छात्र रंगे हाथों पकड़ा जाता है और इसे विधि की विडम्बना बताता है।

कथालेखकों में को.ल.व्यासराजशास्त्री ने "हसत" शीर्षक से छोटे-छोटे चुटकुले लिखने में विशेष रुचि ली है। उनका एक चुटकुला है "दारिकापहरणम्" जिसमें एक वृद्धा माता इस बात पर हायतोबा मचाती है कि उसकी पुत्री का अपहरण हो गया है। वस्तुतः जामाता द्वारा कन्या के ले जाने की घटना को ही यह दारिकापहरण कहती है। रेवाप्रसाद द्विवेदी की लघुकथाएँ भी आधुनिक सामाजिक स्थितियों पर आधारित हैं। "त्रिपादी" शीर्षक कहानी में त्रिपादी याने रिक्शा चलाने वाले एक युवक की मनःस्थिति वर्णित है जो विश्वविद्यालयीय शिक्षा के लिए बनारस आता है, जीविका के लिए रिक्शा चलाता है पर इसमें हेठी नहीं समझता, क्योंकि वह कबीरमठ में रहता है और कबीर के जीवनदर्शन के अनुसार निःसंग और सार्थक जीवनयापन करता है। "कस्य दोषः" शीर्षक कहानी में द्विवेदी जी ने नारीत्व के इस अभिशाप का मार्मिक चित्रण किया है कि क्रूर पति के हाथों पीटी जाने पर पत्नी को उसी की होकर रहना पड़ता है और वैधव्य का अभिशाप भी भोगना पड़ता है। श्रीनिवास दीक्षित ने अपनी कहानी "रागधारा" में बारह वर्ष की एक लड़की की करुण कथा चित्रित की है जिसे अपने बाप का योगक्षेम चलाने के लिए निरन्तर गाते रहना पड़ता है, अन्त में कैंसर से पीडित हो जाने से उसका गाना बन्द हो जाता है। दीक्षित जी ने "अमृता" आदि शीर्षक से अन्य करुण कथाएँ भी लिखी हैं।

सामाजिक कथावस्तु के अतिरिक्त अन्य विविध प्रकार की वस्तु और शैली की कथाएँ भी पत्रपत्रिकाओं में बराबर निकल रही हैं। हमने पहले प्राचीन पात्रों को आधुनिक युग में लाकर उनके कारण हास्यजनक स्थितियाँ चित्रण करने वाली कथाओं का संकेत दिया है। उसी प्रकार प्राचीन पात्रों की मनःस्थिति का आधुनिक मनोविश्लेषण की दृष्टि से चित्रण करने वाली कहानियाँ भी लिखी गई हैं। उदाहरणार्थ विश्वनारायणशास्त्री की कथा "देवराजकुतूहलात्" में गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या की मनःस्थिति का वर्णन है। वह अपने आपको नितान्त अकेली, उपेक्षित और अपने पति द्वारा तिरस्कृत अनुभव करती है। ऐसी स्थितियों में इन्द्र के सानिध्य में उसका मन लगना स्वाभाविक बताया गया है।

देशी-विदेशी कहानियों के अनुवादों का क्रम तो निरन्तर चल ही रहा है। ऐसी कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में तो निकलती ही रहती हैं (जैसे गणपति शुक्ल "वात्स्यायन" ने एक नीमाडी लोककथा का अनुवाद संस्कृत प्रतिभा के प्रवेशांक में किया था- तथा डॉ. राघवन् ने स्वयं १६६६ में एक आर्मीनियाई कहानी का अनुवाद किया था) संकलनों के रूप में भी निकली हैं। विभिन्न देशों की सौ कहानियों का हिन्दी व संस्कृत में अनुवाद जयपुर के पद्म शास्त्री ने "विश्वकथाशतकम्" नाम से दो भागों में सन् १६८७ में प्रकाशित किया है। इसका संकेत दिया जा चुका है।

कथासंग्रह : विभिन्न कथालेखकों के कथासंकलनों के प्रकाशन का क्रम भी निरन्तर चल रहा है। कुछ संकलनों के नामों और प्रकारों से इसकी निरन्तरता का अनुमान हो सकता है-

१.	इक्षुगन्धा	अभिराज राजेन्द्र मिश्र (इलाहाबाद १६८६)
२.	कथासप्तकम्	नलिनी शुक्ला (कानपुर १६८४)
३.	कथानकवल्ली	कलानाथ शास्त्री (रा.सें.अका., जयपुर १६८७)
४.	बृहत् सप्तपदी	दुर्गादत्तशास्त्री (कांगडा १६६१)
५.	कथासरः	वी.वेलणकर द्वारा संपादित (बंबई १६८३)
६.	संस्कृतभवितव्यम्	श्रीधरभास्कर वर्णेकर (नागपुर १६५४)
७.	गल्पकुसुमांजलिः	म.म.कालीप्रसादशास्त्री (अयोध्या १६६०)
८.	कौमुदीकथाकल्लोलिनी	रामशरणशास्त्री (वाराणसी १६६१)
६.	कथावलिः	तिरुवेंकटाचार्य (चित्तूर १६७२)
१०.	संस्कृतकथाकुंजम्	गणेशरामशर्मा (राज.सं.अकादमी १६७२)
११.	अनन्तमार्गः	डॉ. कृष्णलाल (दिल्ली)
१२.	कथामंजरी	कर्णवीरनागेश्वर राव (गुंटूर)
१३.	अभिनवकथनिकुंजः	शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदीसंपादित काशी १६६६
१४.	आन्ध्रदेश्यहास्यकथाः	सूर्यनारायणशास्त्री, डॉ. वेंकटरमणः हैदराबाद १६६४

१५.	आन्ध्रकाव्यकथा	सूर्यनारायणशास्त्री हैदराबाद १६७२
१६.	कथासंवर्तिका	भागीरथप्रसाद त्रिपाठी (वागीश) शास्त्री वाराणसी १६८०
१७.	उपाख्यानत्रयम्	नरसिंहाचार्य, मैसूर
१८.	राजस्थानस्याधुनिकाः संस्कृतकथालेखकाः	संपा-पुष्करदत्तशर्मा रा.सं.अकादमी १६८०
१६.	रंजनकथामाला	डॉ कमल अभ्यंकर, मुम्बई
२०.	सुबोधकथासंग्रहः	मुम्बई
२१.	अभिनवसंस्कृतकथा	नारायणशास्त्रीकांकर, जयपुर १६८७
२२.	नाट्यकथासागरः	भि. बेलणकर संपादित : बंबई १६८४
२३.	कथाकौमुदी	प्रभुनाथ द्विवेदी वाराणसी १६८८
२४.	संस्कृतव्यंग्यविलासः	प्रशस्यमित्रशास्त्री इलाहाबाद
२५.	निम्नपृथिवी	केशवचन्द्रदाश पुरी
२६.	दिशा विदिशा	केशवचन्द्रदाश पुरी
२७.	महान् (बालकथा)	केशवचन्द्रदाश पुरी
२८.	एकदा (बालकथा)	केशवचन्द्रदाश पुरी
२६.	सिद्धेश्वरीवैभवम्	द्वारकाप्रसादशास्त्री रायबरेली १६७८
३०.	श्रीमाताकथामंजरी	अनुवादकः जगन्नाथवेदालंकारः, पांडिचेरी १६५७
३१.	बालकथाकुंजः	भि. वेलणकरः
३२.	विपंचिका	अनु. नागराजः सुधर्मा, मैसूर १६७६
३३.	कथावल्लरी	श्रीधर भास्कर वर्णेकर १६६३

यह सूची संकेत और निदर्शन मात्र के उद्देश्य से यथोपलब्ध सूचनाओं के आधार पर इस दृष्टि से दी गई है कि इससे उस व्यापक फलक और शैली वैविध्य का कुछ अनुमान हो सकता है कि किस प्रकार संस्कृत में कथाएँ अनूदित और संकलित होती रही हैं- और समय-समय संकलकों और संपादकों ने इस युग के संस्कृतकथालेखन की जानकरी के प्रसारार्थ अपने-अपने क्षेत्र की कहानियों के संकलन में किस प्रकार की रुचि ली है। इनमें से कुछ की समीक्षा पहले की जा चुकी है। वागीश शास्त्री (भागीरथप्रसादत्रिपाठी) की कथासंवर्तिका में १३ कहानियाँ दशार्णदेश की लोककथाओं की वस्तु एवं शैली का आस्वादन संस्कृत पाठक को बड़े ही रोचक एवं मार्मिक ढंग से करा देती हैं।

"इक्षुगन्धा" को साहित्यअकादेमी पुरस्कार मिल चुका है। इसके प्रणेता अभिराज राजेन्द्र मिश्र कविता, नाटक आदि अनेक विधाओं में सर्जन कर रहे हैं। इनकी कथाओं में भी आधुनिक परिवेश, मनःस्थितियों का चित्रण, सामाजिक रूढ़ियों की विडम्बनाओं पर

प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रहार आदि युगीन तत्त्व, सुगठित शैली में निबद्ध मिलते हैं। नारी के अबला पक्ष का इन्होंने भी मार्मिक चित्रण किया है। "शतपर्विका" कथा में भी यही पक्ष उभरा है। "जिजीविषा" में कामकाजी महिला के संघर्ष का चित्रण है, "भग्नपुंजर" में विधवा की दुर्दशा का। पुत्र की चाह में किस प्रकार कन्याएँ पैदा होती हैं। इन सबको पिता के आक्रोश, उपेक्षा और तिरस्कार का पात्र केवल इसीलिए बनना पड़ता है कि वे कन्याएँ हैं। यही वस्तु शतपर्विका की कथायें हैं। कन्याओं की उपेक्षा करने वाला पिता अचानक एक दिन कन्या के गुण देखकर पुत्र-पुत्री में भेदभाव की पीड़ा भूल जाता है- सुखान्त परिणति हो जाती है। "भग्नपंजर" में बालविधवा वन्दना बाप की झिड़कियां और संयम के उपदेश सुनती रहती है, किन्तु "परोपदेशे पांडित्यम्" का एहसास उसे तब होता है जब उसका बूढ़ा बाप माँ से प्रेमालाप करने लगता है। जब सांसारिक सुखों की अनदेखी वृद्धावस्था में भी लोग नहीं कर पाते तो मैं क्यों सारा जीवन रूढिग्रस्त होकर बिताऊँ, यह सोचकर वह अपने निष्कपट प्रेमी जयदेव के लिए घर से निकल पड़ती है। "जिजीविषा" में सेवारत लड़की "तपती" बॉस को शरीर देकर नौकरी कर पाती है, उसकी माँ उसका हाथ एक भले लड़के को सौंपने का सपना मात्र पाल रही है। उल्लेखनीय है कि इन कथाओं में विषय परिस्थितियों का करुण चित्रण होते हुए भी अन्त में आशा के स्वर से ही होता है। "इक्षुगन्धा" कहानी में नायक का प्रेम बचपन में जिस ग्रामकन्या बिट्टी से होता है वह किसी और को ब्याह दी जाती है। संयोग से नायक कलक्टर बनकर उसी जिले में आ जाता है जहाँ बिट्टी का पति कलक्टरी में काम कर रहा होता है। नायक को मालूम होता है कि बिट्टी ही उसके घर में नौकरानी का काम कर रही है। अन्त में वह अपनी पत्नी प्रभावती को इस बात पर राजी कर लेता है कि जिस बिट्टी का विवाह निर्धन होने के कारण नायक से नहीं हो पाया था उसी के लड़के के लिए वह बिट्टी की सुन्दर सुशील किन्तु निर्धन कन्या का हाथ स्वयं माँग लेगा। इस प्रकार सुखान्त परिणति में कथा समाप्त होती है।

इस प्रकार आधुनिक कथालेखक अपने परिवेश में जिन स्थितियों को देखता है उन्हें जिस आधुनिक भारतीय भाषा की कहानियाँ वह पढ़ता है उनके अनुरूप शैली में ढालकर लिख रहा है। इसी कारण उनमें देश और काल की पूरी प्रतिच्छाया देखने को मिलती है। राजेन्द्र मिश्र में भोजपुरी गीतों की भावभूमि ही नहीं उनके उद्धरण भी जिस प्रकार देखे जा सकते हैं उसी प्रकार केशवचन्द्र दाश मे उड़ीसा के देशकाल, भाषा और लोकसंस्कृति का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। उनकी ५० छोटी-छोटी कहानियाँ "दिशा विदिशा" में संकलित हैं। सभी में नवयुग की सेवारत नारी, पुरानी और नई पीढ़ी के विचारों का अन्तराल, पति-पत्नी, सास-बहू के संघर्ष आदि की पृष्ठभूमि पर मार्मिक कथाएँ हैं। "दूरस्थलोके" एक पत्नी का दूरस्थ पति को मार्मिक पत्र है कि बेटी बहुत याद करती है, लौट आओ वह लिखती है। "पश्यतु, पैसा (धनं) कदापि न मनसि शान्तिमाप्तुं प्रभवति।।" "रजोमहोत्सवः" में रमा और नलिनी दो सहेलियाँ हैं किन्तु बड़े घर में ब्याह कर एक अभिजात बन जाती हैं तो कितनी दूरी आ जाती है दोनों में! "झरी", "स्त्रीप्रत्ययः"

"शीतलकंकणम्" "चन्द्रशाला" आदि कथाओं में वही करुणा की टीस है। लेखक ने लोतक शब्द आँसू के लिए जगह-जगह प्रयुक्त किया है। भाषा और शैली में नये प्रयोगों के निदर्शन भी दाश की कथाओं और उपन्यासों में स्पष्ट ढूँढे जा सकते हैं। यहाँ आते-आते ऐसा लगता है कि बाणभट्ट के युग से समय का चक्र बिलकुल विपरीत ध्रुव पर आ गया है। बाणयुग में जहाँ लम्बे समस्त शब्द और लम्बे वाक्य उत्कृष्टता के प्रतीक थे वहाँ दाश में बहुत छोटे वाक्य दो या तीन शब्दों से स्थितियों का संकेत देते हैं। अधिकांश वाक्यों में क्रियापद नहीं है। उड़िया और बांगला भाषाओं के प्रभाव से किये गये ये नये प्रयोग नवयुगीन लेखन की एक अलग पहचान सी बनाते लगते हैं-

"शूकररक्षी कोदंडः। परिभ्रमणी तस्य इच्छानुसारिणी। वसतिः संध्यानुवर्तिनी। शूकरचारणं तस्य जीविका। बाल्यात् स शूकरसंचारकः। मालिकस्तु अन्यः।" (चन्द्रमंडलम्) {दिशा विदिशा}

कहीं-कहीं तो दाश के दो-तीन अनुच्छेदों में एक भी क्रिया पद नहीं आता, उसे "ऊहित" कर पाठक समझ लेता है यह बांगला, उड़िया आदि भाषाओं के कथालेखन की शैली का प्रतिबिम्ब है।

"सिद्धिः" नामक कहानी में एक भोला नागरिक अपने मुहल्ले के मन्दिर को जीर्ण-शीर्ण देखकर चाहता है कि उसकी मरम्मत करा दी जाए, आखिर वह सार्वजनिक पूजा-स्थल है। उसकी अपीलों का असर नहीं होता। लोगों की उपेक्षा से वह खिन्न रहता है। एक दिन वही होता है, आँधी-तूफान में मंदिर ध्वस्त हो जाता है। दूसरे दिन वह देखता है कि मन्दिर के टूटे पत्थरों को उठाकर लोगों ने अपने-अपने घरों के सोपान बना लिए हैं।

दाश की कहानियाँ अति संक्षिप्त होती हैं। लेखक बहुत सी बातें पाठकों के समझने के लिए छोड़ देता है। केवल भावभूमि की एक क्षीण सी रेखा खींच देता है। कहीं-कहीं क्षेत्रीय भाषाओं के शब्द यों की यों आ जाते हैं, कहीं पाणिनीय व्याकरण की अधिक परवाह नहीं की गई है। क्षेत्रीय प्रभाव ग्रहण कर आज का लेखक जो नई शैली बना रहा है वह बहुतों को प्राचीन परंपरा से कटने का सा आभास दे सकती है, बहुतों को संस्कृत भाषा की "जीवन्तता" का प्रमाण लग सकती है। आखिर युगपरिवर्तन के साथ समाज और स्थितियों के बदलने पर उसके चित्रण के लिए शैली में, शब्दों में और भाषा में-सभी में परिवर्तन की अपेक्षा स्वाभाविक ही तो है ! "दिशा विदिशा" कहानी की (जिसके नाम पर संकलन का नामकरण हुआ है) नायिका विदिशा को अपने परिवार के दस सदस्यों का पेट भरने के लिए अपने आप को हर रात बेचना पड़ता है। डा. दाश पुरी के जगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय में दर्शन के प्रोफेसर हैं और उपन्यास, कथा, कविता सभी में प्रयोगधर्मी नव शैली के समर्थ हस्ताक्षर के रूप में स्थापित हो चुके हैं।

"कथानकवल्ली" में कलानाथशास्त्री के एक उपन्यास और पाँच कहानियों का संकलन भी आधुनिक परिवेश के कालेज में पढ़ने वाले छात्र और छात्रा का प्रतिभाशाली

होने के कारण उद्भूत स्नेह का चित्रण करने वाली कहानी "दिग्भ्रमः" पड़ौस में रहने वाले एक युवक और युवती का मौन प्रेम, किन्तु रूढ़िग्रस्त परिवार के होने के कारण उस समय युवक का संकुचित हो जाना और वर्षों बाद दोनों के अपने-अपने क्षेत्रों में स्थापित और विवाहित हो जाने के बाद अचानक मिलने पर इस बात का सन्तोष कि रूढ़ि में बँधे और दकियानूस होने के कारण ही सही, उन्होंने उन भोले क्षणों में कोई गलती न की तो अच्छा ही रहा (मर्यादा) ऐसी कहानियाँ नई भावभूमि, परिवेश और घटनाओं का नई शैली में प्रस्तुतीकरण करती हैं। "अस्पृश्यताया रहस्यम्" में एक पुराना संस्कृतविद्वान् एक नवयुवक को संस्कृत पढ़ाने से इन लिए मना कर देता है कि वह सवर्ण नहीं है, किन्तु वही नवयुवक डाक्टर बन कर एक बार उसकी मन लगाकर चिकित्सा करता है। बुढापे में ऐसी भयंकर गैंग्रीन जैसी व्याधि से ग्रस्त पंडित जी को तब मालूम होता है कि वस्तुतः रोग के कारण अस्पृश्य तो वे हो गये हैं, सामाजिक रूढ़ियों से बनी अस्पृश्यता को लेकर चलना उनकी ग़लती ही थी। "दंभज्वरः" में नये-नये प्रशासनिक सेवा में आए दो नवयुवक एक धोती पहने विद्वान के साथ प्रथम श्रेणी में यात्रा कर रहे होते हैं और उसे पुराणपंथी समझकर अंग्रेजी में आपस में उसकी आलोचना करते हैं किन्तु अन्त में मालूम होता है कि वह विद्वान् अंग्रेजी का प्रोफेसर है और उस कमिश्नर का गुरु है जिसके नीचे काम करने वे जा रहे हैं।

कथालेखन में कुछ अनूठे प्रयोग भी कलानाथ शास्त्री ने किए हैं। प्राचीन भारतीय परंपरा के विरुद्ध नये युग में किस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में मूल्यों का ह्रास हुआ है इसके लिए लेखकों ने कहानियों में आधुनिक युग की विकृतियों का चित्रण तो किया ही है, एक नया प्रयोग इस प्रकार का भी किया गया कि एक ही शीर्षक से दो कहानियाँ अलग-अलग परिवेश की लिख दी जायँ- जिनमें एक प्राचीन भारतीय परिवेश की हो जिसकी उदात्तता और उत्कृष्टता स्वतः प्रकट होती हो, दूसरी उसी क्षेत्र की आधुनिक परिवेश की कहानी ऐसी हो जिसमें विकृति का चित्रण हो। लेखक अपनी ओर से तुलना या मूल्यांकन हेतु एक शब्द भी न लिखे, पाठक दोनों शब्दचित्रों की पारस्परिक भिन्नता का आकलन स्वयं कर ले। "धर्मक्षेत्रे" नाम से दो शब्दचित्र संस्कृतरत्नाकर (१३/४ अक्टूबर १६४८) में प्रकाशित हुए- एक में प्राचीन भारतीय गुरुकुल के धर्माचरण का शब्दचित्र है- दूसरे में आज के भारत में धर्मसुधार के अतिवादी प्रयत्नों का है। इसी प्रकार "कुरुक्षेत्रे" शीर्षक से दो शब्दचित्र हैं- एक में प्राचीन भारत के धर्मयुद्ध की अच्छी परम्पराओं का, जिसमें सायंकाल होते ही दोनों पक्षों के योद्धा युद्धविराम कर देते थे, कोई धोखा नहीं किया जाता था, दूसरे में आधुनिक बम युद्ध का, जिसमें छिपकर घात करने या धोखे से मारने का ही लक्ष्य रहता है (सं. रत्नाकर १३/६, दिसम्बर १६४८)।

इसी प्रकार के प्रयोग केवल नये तरीके से बात करने की दृष्टि से ही किये गये थे। चूंकि ये प्रयास लेखक की छात्रावस्था के थे अतः इनमें अपरिपक्वता दृष्टिगोचर होती है। एक अन्य प्रयोग केवल विनोद की दृष्टि से किया गया था, जिसमें यह बतलाना चाहा था

कि मनुष्य के शरीर में मस्तिष्क के होने से ही वह चित्रण और उधेड़बुन में पड़ा रहता है, वह न हो तो आदमी सानन्द जीवन बिताये। "मस्तिष्कम्" (भारती, ६/२) एक छोटी सी कहानी है जिसमें एक शल्यचिकित्सक किसी के सिर का आपरेशन करता है पर दिमाग वापस रखना भूल जाता है। मरीज छुट्टी पाकर चला जाता है। उसे ढूँढते हुए वह उसका मस्तिष्क वापस लगाने उसके पास पहुँचता है तो पाता है कि मरीज स्वस्थ-सानन्द है और मस्तिष्क जैसी इल्लत वापस फिर करवाना नहीं चाहता। यह केवल काल्पनिक व्यंग्यकथा है, केवल नये प्रयोग के उद्देश्य से ही लिखी गई है। शायद लेखक ने ऐसे प्रयोगों को महत्त्वहीन मानकर अपने किसी कथासंकलन में इन्हें स्थान नहीं दिया है पर नवलेखन में हो रहे अतिनूतन प्रयोगों के नमूने की दृष्टि से यहाँ इनका उल्लेख किया गया है।

डॉ. कृष्णलाल के कथासंकलन "अनन्तमार्ग" में "भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते", "अवांछिता", "अन्धत्वेन न हीयते ज्योत्स्ना", "वंचना" आदि शीर्षक से जो कहानियाँ हैं उनमें अधिकांशतः जीवन-मूल्यों पर विचार, उपदेश आदि भी निहित हैं। "भद्रं प्रेम" मे एक पथभ्रष्ट युवक पत्नी को भी छोड़ देता है, अन्त में पश्चात्ताप कर अध्यापक का जीवन जीता है। महाराष्ट्र से प्रकाशित कथासंकलनों में श्रीधर भास्कर वर्णेकर की कथाएँ उल्लेखनीय हैं। डॉ. वर्णेकर ने भी काव्य, नाटक, गीति सभी विधाओं में लेखनी साधिकार चलाई है। "संस्कृतभवितव्यम्" के संपादक के रूप में संस्कृतजगत् उनके विपुल कृतित्व से सुपरिचित है। उनकी कथाओं के अनेक संकलन हैं। "संस्कृतभवितव्यम्" में भी वे कथाएँ लिखते रहे हैं। "कथावल्लरी" की कथाएँ जयपुर के "संस्कृत मासिक" भारती में भी धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुई हैं। इनकी कथाओं में सामाजिक कथावस्तु और वर्तमान युग की विसंगतियों का मार्मिक चित्रण मिलता है। मूल्यह्रास की स्थितियों से उद्विग्न समाज की क्या दुर्दशा होती है इसका चित्र अनेक कहानियों में देखा जा सकता है। शराबी पति द्वारा तिरस्कृत भारतीय महिला किस कठिनाई से जीवन यापन करती है, कभी अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह कर संन्यास या समाज सेवा का जीवन बिताने को बाध्य हो जाती है पर वहाँ भी उसका अतीत उसका पीछा नहीं छोड़ता ("अन्नपूर्णा"-कथावल्लरी")

वी. वेलणकर बंबई के संस्कृत नाटककार के रूप में सुविदित हैं। उनके मंचन योग्य संस्कृतनाटक "श्रीरामसुधासंस्कृतनिधि" से प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने काव्य भी लिखे हैं। इस सबके साथ उन्होंने छोटी-छोटी कथाओं के संकलन और नाटकों के कथासारों का संकलन भी निकाला है। "कथासार" में उन्होंने अनेक कथाकारों की कथाएँ संकलित एवं संपादित की हैं। कमल अभ्यंकर की "चन्दनपेटिका" जशवंती दवे की "सुखम् अनु", एस. जी. देसाई की "शतं प्रति सौजन्यम्" यामुनेय की "पुरुषस्य भाग्यम्" आदि कथाएँ इसमें हैं। कमल अभ्यंकर ने विख्यात हिन्दी कथाकार प्रेमचन्द की "प्रायश्चित्त" कहानी का संस्कृतानुवाद किया है।

जयपुर के डॉ. नन्दकिशोर गौतम ने सामाजिक स्थितियों पर जो कथाएँ लिखी हैं उनमें बहुत सी दहेज़ के अभिशाप पर हैं। दहेज की इस कथावस्तु पर आधारित कथाओं

का संकलन उन्होंने "यौतुकवर्तनम्" नामक पुस्तक में किया है।

डूंगरपुर के गणेशराम शर्मा कविता, निबन्ध, पत्रकारिता आदि के क्षेत्र में सुविदित हैं। उनकी कहानियों में सामाजिक कथावस्तु पर आधारित व्यंग्यविनोदात्मक, अनूदित, प्रेरित, सभी तरह की कथाएँ आती हैं। उनकी कथाओं का एक संकलन राजस्थान संस्कृत अकादमी में उपलब्ध है। संस्कृतकथाकुंजम् (१९७२) में लेखक की कथाएँ संकलित है। इनमें कथावस्तु का वैविध्य दृष्टिगोचर होता है। शैली विस्तारपरक, कही वर्णनात्मक और आख्यानात्मक है। अलंकृत और समस्तपदघटित शैली का पाण्डित्य प्रदर्शन नहीं है। "वक्रदर्शनो हनूमद्भक्तः" में बताया गया है कि एक धूर्त पुजारी हनुमान जी के एकान्तस्थ मन्दिर को पुजाने के लिए निकट के बन्दरों को चने खिला-खिलाकर हिला लेता है और अन्धभक्तों में प्रचारित कर देता है कि हनुमान जी को प्रसन्न करने के लिए उनके बन्दरों को खिलाना आवश्यक है। उसकी खुद की चने की दुकान चल निकली है। अन्त में एक बार कुछ बन्दरों का एक झुंड उसके पीछे पड़ जाता है जबकि उसके पास चने नहीं होते। वह घायल हो जाता है और चुपचाप गाँव से चला जाता है। "गर्दभपुरे नापिताचार्यस्य प्रतिष्ठानम्" एक ऐसे विनोदी और प्रत्युत्पन्नमति नापित की कथा है जो पढ़ालिखा है और हज़ामत बनाते समय गर्दभों पर संस्कृत के श्लोक सुनाता जाता है। कुछ कहानियाँ बड़ी हैं- ३०-४० पृष्ठों तक की, कुछ २-३ पृष्ठों की हैं। लेखक की कहानियाँ देश की पत्र-पत्रिकाओं में वर्षों तक छपती रही थीं, उनके संकलन भी प्रकाशित हैं।

गणेशरामशर्मा की कुछ अन्य कथाओं के शीर्षकों से उनके वस्तुवैविध्य का अनुमान हो सकता है- सिद्धो रासायनिकः, शठे शाठ्यम्, स्वाभिमानः, अकिंचनस्यौदार्यम्, हास्यपरवशो राजकुमारः, त्रयस्तमाखुव्यसनिनः, भ्रातृस्नेहः, वीरपरीक्षा, भाग्यं पुरुषार्थश्च, श्रमदेवी, एका वाणी सत्या, पराधीना अतिथिदेवाः, पूर्वाग्रहः, स्पर्धा, भोजनभट्टानां सुहृद्गोष्ठी, धूर्तपुरोहितः, विधानभंगः। "संस्कृतकथाकुंजम्" की द्वितीय वीथी में १६ कहानियाँ और प्रकाशित हैं, भैरवतांडवम्, भवितव्यम्, सस्वरं रोदनम्, स्नेहानुरोधाः, यदृच्छा, मिथ्याकीर्तिर्लेखकमहाराजः, श्रमसिद्धिः, भाग्योदयः, पारपत्रम्, स्वाभिमानः, पश्चात्तापः, निरक्षरोऽपि सिद्धो वैद्यराजः, व्यक्तित्वपरिचयः, कर्मकौशलम्, दांभिकः, संस्कृतपांडितस्योत्तराधिकारः, पाषाणशंकरः।

डॉ. नारायणशास्त्री कांकर की अभिनवसंस्कृतकथा (१९८७) में १५ छोटी-छोटी कहानियाँ संकलित हैं। "कर्त्तव्यपरायणः द्राक्तरः", "प्रक्षिप्तम् अपि पुनः प्राप्तम्", दुर्दान्तः दस्युराजः, "न्यायकारी निदेशकः" आदि शीर्षकों से इनकी कथावस्तु का आभास हो जाता है। "न्यायकारी निदेशकः" में बताया गया है कि किस प्रकार छात्रसंघ के चुनाव में दो प्रत्याशियों के बराबर-बराबर मत आ जाने पर संघर्ष को टालने के लिए पुलिस के सुझाव पर संस्थान के निदेशक ने एक प्रत्याशी के लिए एक नया "संरक्षक" पद निर्धारित कर स्थिति को संभाल लिया, क्योंकि पर्ची उठाने से विजयी पक्ष तो संतुष्ट हो जाता है, पराजित पक्ष नहीं। कांकर जी ने सरलता पर विशेष ध्यान दिया है, छोटे अनलंकृत वाक्य तो लिखे ही हैं, संधियाँ भी नहीं की हैं। समस्त पदों के अलावा अन्यत्र कहीं भी 'संधि' न करने

की उनकी शैली ने एक अलग ही पहचान बना ली है। अब तो वे जहाँ कहीं लिखते या बोलते हैं, इसी संधिविहीन शैली का प्रयोग करते हैं।

इस प्रकार लघुकथा लेखन विभिन्न शैलियों और वस्तुओं को लेकर आज भी निरन्तर प्रवर्तमान है। शिक्षाप्रद कथाएँ, लोककथात्मक कहानियाँ, प्रेमकथाएँ, ऐतिहासिक कहानियाँ, सामाजिक कथावस्तु पर आधारित प्रेरक कथाएँ, बोधकथाएँ, बालपाठ्य कथाएँ, प्रयोगधर्मी कथाएँ, सहज और अनलंकृत शैली में भी लिखी जा रही हैं और बाणभट्ट वाली अलंकृत शैली में भी। इसके अतिरिक्त विभिन्न भाषाओं की कथाओं के अनुवाद भी हो रहे हैं।

संस्कृत में कहानियाँ लिखने का क्रम आज भी चल रहा है और स्तरीय कहानियाँ लिखी जा रही हैं इस तथ्य का एहसास उस समय भी हुआ था जब इस सदी के पॉचवे दशक में अंग्रेजी दैनिक हिन्दुस्तान टाइम्स ने एक अखिल भारतीय कथा प्रतियोगिता अंग्रेजी तथा विभिन्न भारतीय भाषाओं के लिए आयोजित की थी। इस अंग्रेजी पत्र के निदेशकों को तब आश्चर्य हुआ था जब संस्कृत की कहानियों की अनेक प्रविष्टियां उन्हें प्राप्त हुईं, उन पर निर्णायक मंडल ने विचार किया और यह पाया कि संस्कृत कथाकार भी आधुनिक परिवेश की उतनी ही जीवन्त कहानियाँ लिख रहा है। जहाँ तक हमें स्मरण है इसमें बल्लभ डोभाल की "कृषकाणां नागपाशः" कहानी प्रथम आई थी। इस प्रतियोगिता में पुरस्कार पाने वाली सभी भारतीय कहानियों का अंग्रेजी अनुवाद इस अंग्रेजी दैनिक ने प्रकाशित भी किया था।

कुछ आकाशवाणी केन्द्रों से संस्कृत कार्यक्रम प्रारम्भ हुए तो उनमें संस्कृत के उत्कृष्ट साहित्य से परिचय कराने के उद्देश्य से हिन्दी आदि प्रादेशिक भाषाओं की वार्ताएँ तो प्रसारित होने ही लगीं, कभी-कभी संस्कृत कविता, कहानियाँ आदि भी प्रसारित हुईं। जयपुर के आकाशवाणी केन्द्र को इस दृष्टि से गिनाया जा सकता है। यहाँ से कुछ वर्षों तक संस्कृत कार्यक्रम के लिए निर्धारित समय में मौलिक कहानियाँ भी प्रसारित हुईं। सामान्यतः ६-१० मिनट की अवधि में प्रसारित ये कहानियाँ अधिकतर मौलिक थीं। ऐसे कथाकारों में, जिन्होंने ऐसे प्रसारण किये आचार्य धर्मेन्द्रनाथ, कलानाथ शास्त्री, डा. नन्दकिशोर गौतम, डॉ. नारायण कांकर आदि अनेक कथालेखकों के नाम आते हैं। यही स्थिति देश के अन्य अनेक आकाशवाणी केन्द्रों की भी रही।

पं. विष्णुकान्त शुक्ल जैसे गद्यकार और कवि जिन्होंने सर्जनात्मक प्रतिभा पाई है, कविता और ललित निबन्ध आदि के साथ लघुकथा भी लिखते रहे हैं। उनकी "अग्रजः" (स्वरमंगला) आदि कहानियाँ निरन्तर पत्र-पत्रिकाओं में देखी जाती रही हैं।

निबन्ध : आजकल निबन्ध नायक गद्यविधा से जिस विधा का बोध सामान्यतः भारतीय भाषाओं में हो रहा है वह अंग्रेजी के (Essay) के पर्याय के रूप में है जिसमें एक विषय-विशेष, उसके एक अंग विशेष या विचार-बिन्दु को लेकर लेखक ने अपने विचार निबद्ध किये हों। इस परिभाषा में बहुधा दो अन्य प्रकार भी समाविष्ट माने जाते हैं। एक तो ऐसा संक्षिप्त शोधलेख जिसमें लेखक ने किसी अन्वेषणीय बिन्दु पर नई खोज

की हो और उसकी जानकारी संक्षेप में लेखबद्ध कर रहा हो (ग्रन्थाकार में नहीं) जिसे सामान्यतः शोधलेख, शोधपत्र (रिसर्चपेपर) ट्रीटिज (Treatise) या मोनोग्राफ (Monograph) भी कहा जा सकता है जिसमें लेखक के व्यक्तिगत मौलिक विचार मात्र हों यह जरूरी नहीं, उसकी खोज से निकले तथ्य मात्र भी हो सकते हैं, निष्कर्ष भी। दूसरे इस प्रकार में वह विधा भी समाविष्ट है जिसमें किसी विषय पर लेखक के मौलिक विचार निबद्ध हों, भावनाएँ ललित शैली में गुंफित की गई हों, विचारसरणि मनोरम ढंग से अभिव्यक्त हो। इसे अंग्रेजी में पर्सनल एसे (Personal Essay) कहा जाता है और इसकी परिभाषा भी पाश्चात्त्य जगत् में बड़े सोच विचार के साथ की गई है। इसमें शोध, तथ्य या स्थापनाएँ नहीं होतीं, विचारों और भावनाओं की ललित अभिव्यक्ति होती है अतः हिन्दी में भी इसे "व्यक्तिव्यंजक निबन्ध" कहा जाता है, कभी "ललितनिबन्ध"। यह विधा मौलिक गद्यलेखन की एक उत्कृष्ट विधा मानी जाती है, सर्जनात्मक विधा कही जाती है।

इस सर्जनात्मक विधा में केवल विमर्शात्मक, समालोचनात्मक, शोधात्मक और स्थापनालक्ष्यक सामग्री नहीं आती वह तो शोधप्रबन्ध, शोधलेख, ग्रन्थ आदि नामों से अभिहित की जाती है। इसे तो मौलिक एवं सर्जनात्मक इसी आधार पर माना गया है कि इसमें लेखक के मौलिक, वैयक्तिक विचार उसकी मौलिक शैली में निबद्ध होते हैं। एक ही विषय पर अलग-अलग लेखकों के विचार बिलकुल अलग, विभिन्न और विपरीत शैलियों में निबद्ध हो सकते हैं। ऐसा शोध-लेख में नहीं हो सकता, उसमें तो तथ्यों पर चलना होगा।

गुप्तकाल को ईसा की चौथी शताब्दी में ही बताया जाएगा, अलग-अलग लेखक इसका समय अलग-अलग बतायें ऐसा नहीं होगा जबकि अरुणोदय या उषःकाल के बारे में या सबेरे जल्दी उठना किन-किन विचारों को जन्म देता है इसके बारे में प्रत्येक ललित निबन्धकार अपनी दृष्टि से अलग-अलग विचार रख सकता है और अलग शैली में अलग बात कह सकता है।

हमारी प्राचीन परम्परा में भी इस प्रकार के निबन्धों का इतिहास विद्यमान है जिसमें गद्यबद्ध विमर्शात्मक निबन्ध, प्रबन्ध आदि भी आते हैं और मौलिक विचारों को अभिव्यक्त करने वाले निबन्ध भी, यद्यपि इस दूसरे प्रकार के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं जिसे 'ललित निबन्ध' कहा जा सके। विमर्शात्मक निबन्ध अधिकतर विवेचनात्मक प्रबन्धों (जैसे हेमाद्रि आदि के गद्यबद्ध ग्रन्थ, जिन्हें धर्मशास्त्र के इतिहास में निबन्ध के नाम से ही पुकारा जाता है।) ग्रन्थों, भाष्यग्रन्थों आदि के रूप में लिखे मिलते हैं, जिन्हें कभी-कभी संदर्भ कहा जाता था, जैसे पंडितराज जगन्नाथ ने अपने रसगंगाधर को 'संदर्भ' कहा है या बंगाल के कुछ विद्वानों ने श्रीमद्भागवत पर लिखे गद्यग्रन्थों को भागवतसंदर्भ कहा है। यदि ललित निबन्धों के उदाहरण प्राचीन साहित्य में खोजें तो उन्हें भी अलंकृत शैली में लिखे गये स्तुतिपरक "दंडकों" तक भी ले जाया जा सकता है, किन्तु वैसा साहित्य सही अर्थों में पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क का परिणाम है यह मानने में संकोच करना उपयुक्त प्रतीत नहीं

होता।

नई निबन्ध-परम्परा : सामान्यतः विश्वसाहित्य में यह माना जाता है कि इस प्रकार के व्यक्तिव्यंजक या ललित निबन्ध का उद्भव यूरोप में, विशेषकर फ्रांस में हुआ और मॉन्तें (मानटेन) नामक फ्रांसीसी साहित्यकार इसका प्रवर्तक था। उसने (जिसका नाम मिचेल द मॉन्ते : Monlaigne, Michel de है जिसका जन्म सन् १५३३ में और मृत्यु १५६२ में हुई) पेरिस से सन् १५८० में अपने निबन्धों का जिसे उसने ESSAIS नाम दिया था संकलन प्रकाशित किया जिसमें नागरिकता, सभ्यता, धर्म आदि पर उसके मौलिक व्यक्तिगत विचार बड़ी सुन्दर शैली में निबद्ध थे। यह विधा इतनी लोकप्रिय हुई कि इंग्लैण्ड में भी इसे Essay नाम से अपनाया गया और वेकन से लेकर एडिसन और ए.जी.गार्डिनर आदि अनेक साहित्यकार निबन्धकारों के रूप में विश्वप्रसिद्ध हो गये।

धीरे-धीरे इस विधा में शैली की मौलिकता प्रमुख हो गई और इसने विश्व की समस्त भाषाओं में अपनी लोकप्रियता प्राप्त की कि आज यह भी सर्जनात्मक गद्यसाहित्य की एक प्रमुख विधा मानी जाती है। लघु कथा की तरह निबन्ध को भी इस तीव्रता और शीघ्रता से लोक प्रिय बनाने में सर्वाधिक योगदान पत्रकारिता का रहा जिसकी अपेक्षा यही होती है कि जिसने अधिक संक्षेप में जितनी अच्छी तरह से एक बात कही जा सकती है, कह दी जाए जो कम कागज घेरे, जल्दी छापी जा सके और जल्दी पढ़ी जा सके। पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से लाखों निबन्ध किसी एक विषय पर जानकारी देने वाले ही नहीं, विमर्श और मीमांसादृष्टि प्रस्तुत करने वाले भी निकलते रहते हैं किन्तु हम उन्हें पत्रकारिता के क्षेत्र की एक विधा मानते हैं। साहित्य के क्षेत्र की विधा 'ललित निबन्ध' ही है। यह विधा भी साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से सर्वाधिक पनपी है। समस्त भारतीय भाषाओं में यह निबन्ध साहित्य लिखा जा रहा है।

जैसा ऊपर के संकेतों से स्पष्ट है, संस्कृत में विमर्शात्मक गद्य का इतिहास तो बहुत पुराना है, कथात्मक गद्य की तरह किन्तु ललितनिबन्धात्मक गद्य साहित्य या व्यक्तिव्यंजक गद्यसाहित्य का इतिहास पुराना नहीं है। इस दृष्टि से यह कहने में संकोच नहीं है कि इस विधा में लेखन भी पाश्चात्त्य लेखन की प्रवृत्तियों को आत्मसात् करने वाली भारतीय भाषाओं के साहित्य के संदर्भ का परिणाम रहा। विमर्शात्मक गद्य को शास्त्र-लेखन की परिधि में ही माना जाना चाहिए जिसमें ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों के अतिरिक्त पातंजलमहाभाष्य से लेकर शंकर, रामानुज आदि के भाष्य भी आते हैं और धर्मशास्त्र, मीमांसा, काव्यशास्त्र आदि पर लिखे गये प्रबन्ध भी। ये तो हुए शास्त्रीय गद्यबद्ध ग्रन्थ, किन्तु जिन निबन्धों में अद्वैतवाद या ध्वनिसिद्धान्त, स्फोटवाद या वैदिक विज्ञान आदि का विमर्श है वे भी शास्त्रीय निबन्ध हैं, सर्जनात्मक साहित्य का अंग नहीं। अतः वे हमारी विमर्शपरिधि में नहीं आते। इस दृष्टि से कालिदास के कालनिर्धारण पर लिखा गया शोध लेख भी सर्जनात्मक निबन्ध नहीं है और उसी प्रकार शेक्सपीयर और कालिदास की तुलना करने वाला निबन्ध भी। ये सब समीक्षाशास्त्र के अंग हैं, सर्जनात्मक गद्यसाहित्य के नहीं।

इसी कारण जहाँ तक निबन्ध का प्रश्न है विमर्शात्मक और सर्जनात्मक निबन्ध की विभाजक रेखा समझने में कितनी सरल लगती है, परिभाषित करते समय उतनी ही कठिनाई उपस्थित कर सकती है।

उदाहरणार्थ यदि कालिदास आज के युग में जीवित होते तो क्या करते इस पर लिखा गया काल्पनिक निबन्ध निश्चित ही सर्जनात्मक गद्य है, ललित निबन्ध है (यदि वह कथा की शैली में है तो काल्पनिक कथा हो जाएगी), विमर्शात्मक गद्य नहीं। किसी वयोवृद्ध पंडित से किया गया साक्षात्कार उससे हुई भेंट का संस्मरण किसी विद्वान् के निधन पर लिखा संस्मरणात्मक निबन्ध, बहुत वर्षों बाद काशी में जाकर किसी पंडित को कैसा लगा इसका विवरण देने वाला निबन्ध ये सब जिस प्रकार सर्जनात्मक गद्य के उदाहरण हैं उसी प्रकार वृन्दावन में पहुँचकर भक्तिरस का अनुभव, श्रीकृष्ण के सांनिध्य की काल्पनिक अनुभूति का लेखबन्धन आदि भी सर्जनात्मक निबन्ध है। यात्रा का जहाँ वृत्त निबद्ध हो उसे भी निबन्ध का ही प्रकार माना जाता है, यद्यपि यह निबन्ध और कथा या आत्मकथा के बीच का कोई प्रकार है यह मानकर आजकल उसे "यात्रावृत्त" की अलग विधा में विभाजित कर दिया गया है।

अब प्रश्न रह जाता है निरूपणात्मक या विवेचनात्मक निबन्धों का, जिनमें किसी ने "शुद्ध संस्कृत कैसे लिखी जाए" यह बताया हो या श्रमपूर्वक अध्ययन करने और गुरु से विनीत व्यवहार करने की सीख दी हो। वे किस वर्ग में विभाजित होंगे ? हमारा यह मन्तव्य है कि वे सर्जनात्मक गद्य की श्रेणी में नहीं आते बल्कि उसी प्रकार धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि के अंग हैं जिस प्रकार सन्ध्यावन्दन की पद्धति या यात्रा करने का शकुन लेने की विधि बताने वाले मौहूर्तिकों के शास्त्रग्रन्थ। विश्व की अन्य भाषाओं के साहित्य में भी ऐसे विमर्शात्मक गद्य को विज्ञान, शास्त्र आदि के वर्गों में विभाजित किया जाता है तथा उसके सामयिक विवेचन को पत्रकारिता वर्ग में रखा जाता है। दोनों ही सर्जनात्मक गद्य नहीं माने जाते।

हृषीकेश भट्टाचार्य का अवदान : इसी सरणि पर हम यहाँ संक्षेप में व्यक्तिव्यंजक निबन्धों को ही सर्जनात्मक गद्य का अंग मानते हुए आधुनिक युग में उसके उद्भव और विकास का संकेत करेंगे, यद्यपि प्रसंगवश उनके साथ ही विवेचनात्मक निबन्धों के प्रारम्भ और विकास का संदर्भ या संकेत आ सकता है यदि अपरिहार्य हो। वैसे आधुनिक काल में सर्वप्रथम जिस प्रकार के निबन्ध लिखे गये वे कुछ अपवादों को छोड़कर व्यक्ति व्यंजक या ललितनिबन्ध न होकर विवेचनात्मक या विमर्शात्मक निबन्ध ही थे, क्योंकि इनका उद्भव प्रमुखतः दो प्रकार की अपेक्षाओं के कारण हुआ। एक तो पत्रकारिता के उद्भव के साथ संस्कृत की साहित्यिक पत्रिका के प्रत्येक अंक में प्रकाशनार्थ ऐसे निबन्धों की उपयुक्तता अनुभव हुई जो किसी एक बिन्दु पर पाठक को नई और रोचक जानकारी दे सकें, इसलिए ऐसे पत्रों के संपादकों तथा अन्य लेखकों द्वारा विवेचनात्मक लेख लिखे गये। दूसरे संस्कृत की परीक्षाओं के पाठ्यक्रम विभिन्न कालेजों, विश्वविद्यालयों आदि में बने, जिनमें शास्त्रीय

विषयों के साथ-साथ दूरदर्शी पाठ्यक्रम निर्धारकों ने निबन्ध लेखन, रचना, अनुवाद आदि के अभ्यास के पाठ्यक्रम और प्रश्नपत्र भी रखे, जिनकी आवश्यकता की पूर्ति हेतु अच्छे निबन्धों के संकलनों की ज़रूरत महसूस हुई और उसकी पूर्ति हेतु जो पाठ्य पुस्तकें बनीं उनमें विमर्शात्मक निबन्ध ही अधिक थे। उदाहरणार्थ "विद्योदय" और "संस्कृतचन्द्रिका" जैसी पत्रिकाओं में उनके संपादकों द्वारा कभी बंगाल के कवि चंडीदास के कृतित्व का परिचय कराने हेतु निबन्ध लिखा गया (हृषीकेश भट्टाचार्य का "चंडीदासस्य") कभी कालिदास की कृतियों का तुलनात्मक और विमर्शात्मक विवेचन करने के हेतु निबन्ध लिखे गये (अप्पाशास्त्री का धारावाहिक निबन्ध "कालिदासः"), कभी तत्कालीन घटनाओं का आकलन करने वाले पत्रकारिता के क्षेत्र में गणनीय लेख लिखे गये। तथापि उस समय के निबन्धों में कुछ ऐसे भी थे, जिन्हें व्यक्तिव्यंजक निबन्ध निःसंकोच कहा जा सकता है। ये वे निबन्ध हैं जिन्हें अपवाद के रूप में सर्जनात्मक कहा जाएगा। उदाहरणार्थ, विद्योदय के संपादक हृषीकेश भट्टाचार्य ने "आत्मवायोरुद्गारः" शीर्षक से जो निबन्ध लिखे उनका उद्देश्य स्पष्टतः अपने व्यक्तिगत विचारों को सुललित शैली में किसी प्रतीक के माध्यम से या किसी भी विचार सूत्र को पकड़ते हुए, मौलिक अभिव्यक्ति देना ही था। इस श्रृंखला में कहीं उन्होंने भारतीयों की रूढ़िवादिता एवं स्वार्थपरता पर प्रहार किया है, कहीं एक काल्पनिक पात्र दुर्गानन्द स्वामी की आत्मकथा का रूप देकर उसी विचारसरणि पर चलते-चलते "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" की शैली में "उदर" को ही ब्रह्म बताते हुए कुछ "उदरसूत्र" लिखे हैं।

ये निबन्ध संस्कृत में व्यक्तिव्यंजक निबन्धों के सर्वप्रथम प्रतिनिधि या व्यक्तिव्यंजक निबन्धों के प्रवर्तक पूर्व पूरुष कहे जा सकते हैं। "विद्योदय" संपादक पं. हृषीकेश भट्टाचार्य किसी अंक में "प्राप्तपत्रम्" शीर्षक से उन्हें प्राप्त किसी पत्र का छद्मसंदर्भ देते हुए किसी विषय पर अपने लिखते थे तो किसी में पूना निवासिनी अनामिका देवी की ओर से मिले पत्र के रूप में महिलाओं के महत्त्व पर और आजकल जो उनकी दशा स्वार्थी और रूढ़िग्रस्त भारतीयों ने बना रखी है उस पर अपने सटीक विचार रख देते थे। इस प्रकार के चमत्कार में डूबोकर नई शैली और शुद्ध, अलंकृत भाषा में लिखे उनके लम्बे लेखों ने उन दिनों सारे देश को मंत्रमुग्ध कर रखा था। तभी तो 'विद्योदय' के अंकों से संकलित और स्वयं लेखक द्वारा संपादित व पुनरीक्षित निबन्धों को देशविख्यात विद्वान् वक्ता, लेखक और नेता पं. पद्मसिंह शर्मा ने, जो हिन्दी साहित्य के भी सुविदित साहित्यकार थे, उर्दू, संस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी के उद्भट अध्येता थे और हृषीकेशभट्टाचार्य के परम प्रशंसक थे, बाद में प्रबन्धमंजरी शीर्षक से प्रकाशित किया था। यह संकलन बहुचर्चित रहा था, पाठ्यपुस्तक के रूप में भी निर्धारित रहा था और संस्कृत गद्य के आधुनिक इतिहास में मील का पत्थर बन गया था। इसी कारण भट्टाचार्य की प्रतिभा मौलिक, सर्जनात्मक और विलक्षण मानी जाती थी। ये कुछ ऐसे निबन्ध थे जो अन्य, सामान्य विमर्शात्मक या विवेचनात्मक निबन्धों के बीच मौलिक प्रतिभाप्रसूत ललित निबन्धों के निदर्शन प्रस्तुत करते

हैं। अन्यथा सामान्यतः "कालिदासः" जैसे निबन्ध पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर छपते ही रहे हैं। पं. हृषीकेश भट्टाचार्य (१८५०-१९१३) बांगलाभाषा के अच्छे ज्ञाता, साहित्यमर्मज्ञ, अनुवादक, बांगलाव्याकरणकार आदि भी रहे हैं, हिन्दी अंग्रेज़ी आदि भाषाओं के ज्ञाता भी। वे बंगाल में जन्मे और शिक्षित हुए किन्तु उच्चतर अध्ययन के लिए गर्वनमेन्ट संस्कृत कालेज लाहौर में पहुँचे जहाँ बाद में ससम्मान उन्होंने संस्कृत प्राध्यापक के रूप में भी कार्य किया। उन्होंने लाहौर में संस्कृत, अंग्रेज़ी आदि की शिक्षा प्राप्त कर परीक्षाएं दी थीं, अन्य भाषाओं के साहित्य का व्यापक अध्ययन किया था। अतः उनकी विचार परिधि, दृष्टिकोण आदि विस्तृत, व्यापक और विश्वजनीन हो गये थे। उन्होंने लाहौर के लीटनर, बुलनर आदि विद्धानों को प्रभावित किया था, यहाँ तक कि मैक्समूलर जैसे विद्वान भी उनका लोहा मानते थे।

इस व्यापक अध्ययन, संपर्क और दृष्टिकोण विकसित कर लेने पर जिस प्रकार की मौलिक प्रतिभा का विकास होता है वही भट्टाचार्य जी के साथ हुआ जो "विद्योदय" पत्रिका के प्रवर्तन उसके संपादन, मौलिक निबन्ध लेखन आदि में प्रतिफलित देखा जा सकता है। प्राचीन पद्धति से पढ़े होने के कारण हृषीकेश भट्टाचार्य में संस्कृत का प्रौढ पांडित्य भी था। नव साहित्य के संपर्क से दृष्टिकोण व्यापक हो जाने के कारण प्रतिभा में निखार भी आया। निष्कपट, मधुर व्यक्तित्व के धनी होने के कारण उनकी मित्रमंडली भी बढती गई। अतः उनमें एक ऐसे साहित्यकार, निबन्धकार और विद्वान् संपादक का उद्‌विकास हुआ जो संस्कृत के इतिहास में अमर रहेगा।

भट्टाचार्य के गद्य की यह विशेषता थी कि उसमें थोड़ी बाणभट्ट वाली शैली के भी दर्शन होते थे, वर्णनात्मक वाक्य लम्बे, अलंकृत और बहुधा समस्तपदघटित होते थे, यद्यपि उनमें बात नई होती थी और नये ढंगसे कही जाती थी। उन दिनों अच्छे गद्य का मापदंड भी बाणभट्ट के आसपास भी घूमता था। तभी तो भट्टाचार्य की संस्कृत के लिए यह पद्यात्मक प्रशस्ति उन दिनों देश में सुविदित हो गई थी-

"मुद्रयति वदनविवरं मृतभाषावादिनां मुहेराणाम्।
स्मरयति च भट्टबाणं भट्टाचार्यस्य सा वाणी।।"

(मुहेरो मूर्खः)। इसमें भट्टाचार्य के गद्य की दो विशेषताएं स्पष्ट की गई हैं। एक तो वह जीती-जागती संस्कृत का नमूना होता है, दूसरे भट्ट बाण का सा सुन्दर होता है। आधुनिक गद्य लेखकों व निबन्धकारों में ऐसी अलंकृत शैली का रुझान भट्टाचार्य तक ही रहा, अप्पाशास्त्री से लेकर भट्टमथुरानाथ शास्त्री और समस्त परवर्ती लेखक उससे दूर होते गये और एक सहज, सरल गद्यशैली अन्य आधुनिक भाषाओं की तरह पनप गई। भट्टाचार्य में भी अलंकृत और सहज (अनलंकृत) शैली के बीच सन्तुलन की स्थिति स्पष्ट देखी जा सकती है। उनके कुछ पत्रात्मक निबन्ध नितान्त सरल शैली के हैं, संपादकीय अधिकतर सहज शैली में निबद्ध हैं। वे अलंकृत शैली के चमत्कार के मोह में अपने "आत्मवायोरुद्‌गारः"

(जिसे वे आटोबायोग्राफी का विनोदमय अनुवाद मानते हैं) धारावाहिक निबन्ध में एक पत्र को यों प्रारम्भ करते हैं-

"ओं स्वस्ति सर्वोपमायोग्य-सर्वविलासिनी-भुजङ्ग-भुजङ्गाधीशोपमामलयशः-सलिलक्षालितदिङ्मालिन्यानन्यसाधारण कौलीन्यवदान्यगुणिगणाग्रगण्य सर्वजनमान्य-धन्यतैकधामाभिराम-गुणग्राममंडित-पंडितप्रवर-श्रीलश्रीपंचभाजन-सज्जनमहाजन-सर्वजनरंजन-परमानन्दसंदोहप्रदानदक्ष मदेकपक्षपातनिरत दुर्गानन्दस्वामिमहोदय महादय सदोदय-सदादय-सदाश्रयेषु।

भवच्चरणकमलभृंगायमाणचेतसोऽकिञ्चनदासजनस्य भूम्यवलुठिताष्टांगप्रणाम-पुरः-सर-सविनयविज्ञापनवचनानि विलसन्तुतराम्।"

पर जब इन्हें नई बात कहनी होती है तो सहज सरल और लघुवाक्यघटित शैली अपना लेते हैं-"वस्तुतो भवतां प्रयत्न एष सम्यगस्थाननिहित एव। इदानीं संस्कृतभाषां न कोऽप्याद्रियते। महामहोपाध्यायवंशधरा अर्थकरीं राजकीयविद्यामभ्यस्यन्ति।" आदि।

जैसा पहले बताया जा चुका है यह पत्र भट्टाचार्य जी की अप्रतिम शैली में एक पात्र दुर्गानन्द स्वामी के साथ हुए काल्पनिक पत्राचार का एक अंग है। इसमें विद्योदय के संपादक को दुर्गानन्द स्वामी उलाहना देता रहता है, कभी ठीक ढंग का पारिश्रमिक ने भेजने पर, कभी संस्कृत भाषा के प्रचार जैसे निरर्थक कार्य के पीछे पड़े रहने पर। उसके उत्तर में संपादक उन्हें "उदरसूत्र" जैसी ललितोक्तिगर्भित झिड़कियाँ भेजता रहता है, कभी ऐसा शरारत भरा पश्चात्ताप करता रहता है कि मैं आपको अधिक द्रव्य भेंट कर पाऊँ इस चिन्ता में सूख रहा हूँ, जैसे पहले श्रोत्रियों को वेदाभ्यासजड कहा जाता था, वैसे मैं "विद्योदयजड" हो गया हूँ आदि।

ऐसे पत्राचारों में, निबन्धों में तत्कालीन दशाओं पर सटीक टिप्पणियाँ इसी शैली में होती थीं। दुर्गानन्दस्वामी अपने आपको अवतार बताने के प्रयत्न में आटोबायोग्राफी "आत्मवायोरुद्गारः" लिखना चाहते हैं। यह आत्मप्रचारक विद्वानों पर ही नहीं आडम्बरी साधुओं पर भी प्रच्छन्न व्यंग्य है। भट्टाचार्य जी के दो अन्य निबन्ध हैं- उद्भिज्जपरिषद्" और "महारण्यपर्यवेक्षणम्"। प्रथम मे यह बतलाया गया है कि वनस्पतियों की दृष्टि में मनुष्य कितना स्वार्थी, तुच्छ और निरर्थक है, दूसरे में जंगल के पशुपक्षियों की दृष्टि से मानवसमाज की विद्रूप स्थितियों का मनोरम चित्रण है। अश्वत्थदेव की अध्यक्षता में हुई उद्भिज्जों की सभा में मानव पर जो विचार होता है वह उद्भिज्जपरिषद् में निबद्ध है और जंगल के राजा सिंह की अध्यक्षता में पशुओं की सभा में किस प्रकार मानव को सदा से डरा-डरा सा, तनावों में रहता बताया गया है वह "महारण्यपर्यवेक्षणम्" में निबद्ध है।

इस प्रकार ये निबन्ध आधुनिक संस्कृत के प्रथम व्यक्तिव्यंजक निबन्ध कहे जा सकते हैं। ऐसे निबन्ध जो समय-समय पर "विद्योदय" में प्रकाशित हुए थे "प्रबन्धमंजरी" में संकलित हैं। यह संकलन १८२६ में निकला किन्तु निबन्ध उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशकों

में लिखे गये, अतः प्रारंभिक युग के कहे जा सकते हैं।

निबन्ध संकलन : वैसे संकलनों के प्रकाशन की दृष्टि से इससे पूर्व मुद्रित निबन्ध संकलन भी उपलब्ध हैं जिनमें से दो हैं- सियालकोट के विद्वान पं. नृसिंहदेव शास्त्री द्वारा लिखित निबन्धों की पुस्तक "प्रस्तावचन्द्रिका" जो मेहरचन्दलक्ष्मणदास ने लाहौर से १६२० में प्रकाशित की और साहित्याचार्य प्रो. रेवतीकान्त भट्टाचार्य लिखित "प्रबन्धकल्पलतिका" जो १६२८ में कलकत्ता से प्रकाशित हुई। ये दोनों शास्त्री आदि परीक्षाओं के विद्यार्थियों को पाठ्यसामग्री उपलब्ध कराने की दृष्टि से लिखी गई थीं। प्रस्तावचन्द्रिका में लाहौर कालेज के प्रिसिंपल बुलनर साहब को धन्यवाद देते हुए बताया गया है कि छात्रों के लिए निबन्ध लेखन पाठ्यक्रम में रखा गया है पर पाठ्यपुस्तकें नहीं मिलतीं, अतः यह पुस्तक निकाली जा रही है। इसमें निबन्ध कैसे लिखे जाएँ आदि सिद्धान्त या लक्षण संक्षेप में ३१ पद्यों में बता दिया गया है, शेष लेखक के स्वलिखित १६ निबन्ध हैं जिन्हें "प्रस्ताव" कहा गया है। इनके विषय हैं (१) सत्संगः, (२) मरालस्य मानसम् (३) दारिद्र्यम् (४) विद्वानेव हि जानाति विद्वज्जनपरिश्रमम् (५) विद्याः (६) सन्तोषः परमं सुखम् (राजभक्तिः) (८) सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः (६) अर्थस्य पुषषो दासः (१०) बुद्धिर्बलं बुद्धिमताम् (११) आमरणादपि विरुतं कुर्वाणाः स्पर्धया सह मयूरैः। किं जानन्ति वराकाः काकाः केकारवं कर्तुम्। (इसमें कुर्वाणाः छप नहीं पाया) (१२) दुर्जनः परिहर्तव्यः (१३) छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति, (१४) धर्मों रक्षति रक्षितिः (१५) धर्मः, (१६) रसः।

जैसा कि विषय-शीर्षकों से स्पष्ट है इनके विषय विवेचनात्मक हैं तथा उनका विवेचन भी शास्त्रीय ढंग से किया गया है। शास्त्रों और सुभाषितों के उद्धरण देते हुए इन्हें छात्रोपयागी बनाने का प्रयत्न किया गया है। यद्यपि एक विद्वान् के लिखे हुए होने के कारण इनका स्तर, भाषा शुद्ध और प्रौढ किन्तु अनलंकृत और सहज है। स्वाभाविक है कि इन विषयों के विवेचन में बाणभट्ट की शैली का प्रयोग हो भी नही सकता। कहीं-कहीं लेखक का अपना मन्तव्य भी दृष्टिगोचर होता है, किन्तु निबन्ध शुद्धतः विवेचनात्मक, विमर्शात्मक और "धर्म" "रस" जैसे विषयों का शास्त्रीय प्रतिपादन करने वाले हैं। अतः इन्हें ऊपर स्पष्ट की गई परिधि में न तो साहित्यिक गद्यविधा कहा जा सकता है न व्यक्तिव्यंजक निबन्ध, जबकि हृषीकेश भट्टाचार्य के निबन्ध साहित्यिक गद्यविधा के ही स्पष्टतः निदर्शन हैं।

यही स्थिति, थोड़े परिवर्तन के साथ रेवतीकान्त भट्टाचार्यके निबन्धों में पाई जाती है। इनका भी उद्देश्य छात्रों के लिए पाठ्यसामग्री प्रस्तुत करने का है। इसमें प्रारम्भ में ६७ पृष्ठों में निबन्ध लिखने की शिक्षा निबद्ध है किन्तु इसमें भाषा के गुण, दोष, रीति, अलंकार, रस आदि शास्त्रीय प्रकार के विषयों का विवेचन किया गया है। विरामादि चिन्हों के प्रयोग की जो जानकारी दी गई है वह अवश्य नवयुगीन अपेक्षाओं की पूर्ति करने वाली है। इसके बाद कुछ निबन्धों के लिए रूपरेखात्मक संकेत दिये गये हैं, जिन्हें हिन्ट्स कहा गया है- जैसे पर्वत, नदी, भूकंप, बाजार आदि के बारे में क्या-क्या विषयवस्तु रखी जाए। फिर वृत्तान्तात्मक प्रबन्ध, चिन्ताघटित रचना (अर्थात्, विवेचनात्मक) पौराणिकेतिवृत्तानि-

इन वर्गों में विभाजित निबन्ध मुद्रित हैं जिन्हें "प्रबन्ध" कहा गया है। पुनः अन्त में वर्णनीय विषयों के मार्गदर्शनार्थ पद्यों में निबद्ध सूचनाएँ दी गई हैं कि वसन्त, वर्षा आदि ऋतुओं पर विवाह, स्वयंवर, हाथी, मृगया, सुरा आदि के वर्णनों पर क्या-क्या विषय वस्तु होगी, फिर सफेद, काले रंगों के उपमानों की सूची दी गई है (जैसे कर्पूर, चन्द्र, सुधा, गंगा, काश, कर्पास आदि सफेद, कज्जल, काली, कोयला, यमुना, गज आदि काले, बन्धूक हंसचंचु आदि लाल रंग के प्रतिमान हैं)।

इस प्रकार "रचनाशिक्षा" के उद्देश्य से लिखित यह पुस्तक "प्रबन्धकल्पलतिका" का प्रथम स्तबक बताया गया है जो कलकत्ता से सन् १९२८ में प्रकाशित हुआ था। इसी प्रकार के छात्रोपयोगी प्रकाशन निबन्धसंकलनों के रूप में प्रत्येक क्षेत्र से बीसवीं सदी के तृतीय दशक से लेकर पंचम दशक तक निकलते रहे हैं। इसमें कभी-कभी प्राचीन गद्य के छात्रपाठ्य अंश भी संकलित कर दिये जाते थे, कभी लेखक या संकलनकर्ता के स्वलिखित निबन्ध। उदाहरणार्थ सन् १९३८ में दो निबन्धसंग्रह प्रकाशित हुए- म.म. पं. गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी के नाम से (संकलनकर्त्ता और संपादक के रूप में) निबन्धादर्शः दिल्ली से प्रकाशित हुआ और कविरत्न मायादत्त पांडेय द्वारा संपादित "संस्कृतप्रबन्धरत्नाकरः" चन्दौसी (उत्तर प्रदेश) से। प्रथम में चरकसंहिता, जातकमंजरी, उपमितभवप्रपंचकथा, कादम्बरी आदि से लेकर "आर्यविधासुधाकर" तक के गद्यांश पाठ्य के रूप में संकलित हैं और कोई निबन्ध लेखन शिक्षा जैसी चीज नहीं है। दूसरे में प्रारम्भ में निबन्धों के वर्णनात्मक, चरितात्मक, आलोचनात्मक, और कल्पनात्मक चार भेद बतलाकर कुछ सिद्धान्त विवेचन, फिर सुलेख, निपुणता, मनन आदि षट् साधनों की शिक्षा भी छात्र हितार्थ दी गई हैं। इसमें सुलेख शिक्षा में विरामादि चिह्नों का विवेचन है। तदनन्तर लेखक के "आदर्शनिबन्धः" (नमूने के निबन्ध) शीर्षक के अन्तर्गत मुद्रित १७ निबन्ध हैं जिनमें "मातृभूमिः" मातापितरौ, ब्रह्मचर्यम् आदि शीर्षक से बालपाठ्य निबन्ध भी हैं और कुछ सर्जनात्मक रेखा को स्पर्श करने वाले निबन्ध भी कहे जा सकते हैं, क्योंकि लेखक ने निबन्धों के ४ भेद बताते हुए "कल्पनात्मक" निबन्ध का एक प्रकार भी बतलाया है अतः उसके नमूनों का संकलन भी उसका लक्ष्य रहा होगा। ऐसे निबन्धों में "आशे ! त्वमालम्बनम्" "देवो दुर्बलघातुकः आदि गिनाये जा सकते हैं, जिनमें कहीं तो लेखक ने आशा की डोर में बँधे व्यक्ति किस प्रकार संकट के क्षणों को बिता लेते हैं इस पर अपने विचार व्यक्त किये हैं, कहीं इस संसार में दुर्बल सेवा कितना बड़ा अभिशाप है इस पर टिप्पणी दी है। शेष "धर्मो रक्षति रक्षितः" "नीतिर्थमाय कल्पते" आदि निबन्ध लेखक के स्वलिखित निबन्ध होने पर भी छात्रपाठ्य श्रेणी के ही हैं और हमारी पूर्ववर्णित परिधि में व्यक्तिव्यंजक या ललित निबन्ध नहीं बन पाते।

ऊपर दिये गये विवरण का आशय यही है कि जब से संस्कृत परीक्षाओं के पाठ्यक्रमों में निबन्ध विषय रखा गया तब से प्रतिभाशाली और वरिष्ठ विद्वानों और लेखकों की दृष्टि बालपाठ्य विवेचनात्मक निबन्धों का लेखन, संकलन, प्रकाशन आदि करने पर

रही, उनमें कहीं-कहीं सर्जनात्मक प्रतिभा-प्रसूत ललित निबन्ध भी आ गये, यह बात अलग है। इससे पूर्व पत्रकारिता की परिधियों में जो निबन्ध लिखे गये (जैसे हृषीकेश भट्टाचार्य के निबन्ध) उनमें मौलिक प्रतिभा का प्रतिफलन स्पष्टतः परिलक्षित होता है। अतः संस्कृत निबन्धों के मीमांसकों को यह वर्गीकरण स्पष्टतः प्रस्तुत कर देना चाहिए कि निबन्ध साहित्य इन दो क्षेत्रों में अलग-अलग शैली और अलग प्रकारों में अब तक पनप रहा है।

भट्टजी का अवदान : इस दृष्टि से मौलिक सर्जनात्मक प्रतिभा के प्रसूत निबन्धों की सर्वाधिक विविधता, विपुलता और उत्कृष्टता भट्टश्रीमथुरानाथशास्त्री के निबन्धों में खोजी जा सकती है। भट्टजी ने अधिकांश निबन्ध पत्रकारिता की अपेक्षाओं की पूर्ति के दृष्टिकोण से लिखे थे। उनका उद्देश्य यह रहा था कि अन्य भारतीय या पाश्चात्त्य भाषाओं में निबन्धों की जो चमत्कारजनक विविधता और प्रभावोदपादक शैली है, संस्कृत वैसे साहित्य से वंचित रहे यह स्थिति नहीं आनी चाहिए। इसी उद्देश्य से उन्होंने बीसवीं सदी के प्रथम चरण से ही "संस्कृतरत्नाकर" आदि पत्रों में ललितनिबन्ध, व्यंग्यात्मक निबन्ध, विनोदात्मक निबन्ध, प्रतीकपरक निबन्ध, स्थलवृत्तात्मक निबन्ध, यात्रावृत्तात्मक निबन्ध, वर्णनात्मक, विवेचनात्मक, भावात्मक, शोधात्मक, विचारात्मक, आलोचनात्मक, मनस्तात्त्विक सभी तरह के निबन्ध लिखे। यहाँ तक कि कुछ ऐसी नई निबन्ध विधाओं की भी उन्होंने उद्‌भावना की जो अन्य किसी भी भाषा में नहीं हो सकते थे, संस्कृत की विशिष्ट भाषिकी के कारण उसी में संभव थे। उनके अवदानों में एक ऐसी ही विशिष्ट निबन्ध विधा है चमत्कारात्मक निबन्ध, जिसमें एकाक्षर प्राधान्य के कारण चमत्काराधान अभीष्ट है। उनका इस विधा का एक निबन्घ है "मकारमहामेलकम्" जिसमें प्रत्येक शब्द "म" से शुरू होता है, किन्तु न तो यह चित्रकाव्य की तरह दुरूह और लगभग निरर्थक बन जाता है बल्कि सुललित भाषा में निबद्ध एक मनोरंजक वृत्तान्त संप्रेषित करता है जो कहानी की सी लगती है, ललित निबन्ध भी। इसमें भाषा में विशेषतः संस्कृत में मकार का महत्त्व बतलाने के लिए मकारों के एक कल्पित सम्मेलन का वृत्तान्त निबद्ध है- जिसमें प्रस्ताव पास होते हैं, निर्णय लिये जाते हैं। ऐसा निबन्ध केवल संस्कृत में ही संभव है। भट्टजी के निबन्धों का वैविध्य एक बहुत बड़ी व्यापक परिधि को छूता है और उसमें प्रतिभा का मौलिक और सर्जनात्मक पक्ष स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

उनका एक अन्य ललित निबन्ध "किन्तोः कुटिलता" है जिसमें विभिन्न प्रसंगों और कल्पित घटनाओं के शब्दचित्रों में यह बतलाया गया है, बात बनते एक "किन्तु" शब्द के आते ही कैसे पलट जाती है।

उनके निबन्ध लेखन की समय-सीमा १६०४ से १६६४ तक साठ वर्षों की रही, जो संभवतः एक कीर्तिमान है। संस्कृतरत्नाकर मासिकपत्र का प्रारम्भ जयपुर से सन् १६०४ में हुआ था। तभी से भट्टजी ने इसके सहायक संपादक के रूप में इसमें संपादकीय, निबन्ध एवं कहानियाँ लिखना शुरू किया। उनका यह लेखन क्रम सन् १६६४ में उनकी मृत्यु पर्यन्त चलता रहा। इस दौरान उनके द्वारा लिखे गये निबन्धों की संख्या गणनातीत है। ये निबन्ध

भट्टजी द्वारा संपादित संस्कृतमासिक पत्रों (जैसे संस्कृतरत्नाकर, भारती) में तो नियमित रूप से प्रकाशित होते ही रहे, देश के अन्य संस्कृत पत्रों में भी प्रकाशित हुए, जैसे काशी की अमरभारती, सारस्वती सुषमा, सूर्योदय आदि पत्रिकाएँ। साथ ही भट्टजी की लिखी कुछ पाठ्य पुस्तकों में भी ये संकलित हुए, जैसे "संस्कृतसुबोधिनी, सुलभसंस्कृत, संस्कृतसुधा आदि।

भट्टजी के लिखे बालपाठ्य निबन्धों में तो सामान्यतः वैसे ही निबन्ध शामिल हैं जिन्हें सही अर्थों में सर्जनात्मक नहीं कहा जा सकता जैसे मातापितरौ, विद्याया महिमा, सदाचारः, षड् ऋतवः जिनमें यद्यपि भट्टजी की मौलिकता का प्रतिफलन स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है तथापि ये पाठ्य निबन्धों की श्रेणी के ही हैं। इसके बावजूद वायुयान, कश्मीर यात्रा, ग्रामश्च नगरं च आदि निबन्धों में उनकी सर्जनात्मकता इन्हें केवल वर्णनात्मक निबन्ध की बजाय विचारात्मक या विवेचनात्मक निबन्ध बना देती है। बालपाठ्य निबन्धों के अतिरिक्ति उनके लिखे अन्य सभी निबन्ध सही अर्थों में सर्जनात्मक कहे जा सकते हैं और अधिकांश ललित निबन्ध या व्यक्तिव्यंजक निबन्ध के रूप में आदर्श प्रस्तुत करते हैं। "दन्तकथा" (सं. रत्नाकर १०/६) में वे दन्तशब्द का हमारे वाङ्मय में क्या स्थान है इस पर चिन्तन करते हुए दन्त कथाओं के रूप में उड़ने वाली अफवाहों से लेकर दन्त को लक्ष्य कर निबद्ध की गई काव्यात्मक अभिव्यक्तियों तक को उद्धृत करते हुए जो कुछ लिखते हैं वह मान्ते शैली के "पर्सनल ऐसे" का स्पष्ट उदाहरण बन जाता है जिसे अंग्रेजी विद्वान् डॉ. जॉनसन ने "लूज शैली ऑफ माइण्ड" कहा है। सांप्रतिक शिक्षा या धनभिक्षा (अमरभारती १, ७) संस्कृतज्ञानां महाशयता (सं.रत्नाकर १०/१०-११), साहित्यस्य सत्ता, मानवस्य महत्ता (सं. रत्नाकर १२/८) इत्यादि इसी प्रकार के व्यक्तिव्यंजक निबन्ध हैं। आंग्लसंस्कृतिरपसार्यताम्, भारती ८/८) चरित्रबलम् (भारती १०/१) अन्येषामुपकारको भवेत् (सं.रत्नाकर ६/११) आदि निबन्ध सामयिक स्थितियों से उद्घृत विचारों को अभिव्यक्ति देने हेतु लिखे गये हैं। अतः इन्हें विचारात्मक निबन्ध कहा जा सकता है। अमरकंटकः, हिमालयाञ्चले मणिकूटपर्वतः आदि अनेक निबन्ध स्थल वृत्तात्मक हैं, काँकरोली यात्रा (सं. रत्नाकर ६/७) उत्तरखंडयात्रा, भारतपर्यटनम् (संरत्ना ७/६-११-१२) आदि अनेक निबन्ध यात्रावृत्तात्मक हैं। "प्रिये मधुरवाणि! " शीर्षक एक निबन्ध सं. रत्नाकर के सम्पादक की हैसियत से भट्ट जी ने इस पत्र की ओर से एक अन्य पत्र मधुरवाणी (कनार्टक से प्रकाशित होने वाली संस्कृतमासिक पत्रिका) को संबोधित करके लिखा है जो निबन्ध है। अतः उसे पत्रात्मक निबन्ध भी कहा जा सकता है। इसमें संबोधन केवल शीर्षक में है, निबन्ध में मधुरवाणी की संस्कृत भाषा की अतिजटिलता तथा "अदमुईचाम्" जैसे प्रयोगों की जो आलोचना संस्कृतरत्नाकर में की गई थी वह दोषदृष्टि नहीं थी, हित की बात थी, यह बतलाया गया है और प्रथम पुरुष में ही मुधरवाणी के प्रति संदेश है। "शृणोतु प्रियसखी सावधाना भूत्वा तद्विषयकम् प्रसंगं सर्वमपि" आदि। युग के साथ भाषा का व्यवहार बदलता है इसके उदाहरण देते हुए तथा ललित शैली में युगानुरूप व्याकरण सुविधा की वकालत करते हुए

जिस प्रकार इसमें समझाने की मुद्रा अपनाई गई है वह रूठी सखी को मनाने की एक नई ही शैली है। प्रारम्भ में एक छोटे पद्य से बात शुरू की गई है- "विषत्यागोत्तरं जातो रत्नाकर इति स्थितौ। क्रुधाविष्टेव निर्वक्षि मुधा मधुरवाणि किम् ?"

जवाब-सवाल और विषय विवेचन के उद्देश्य से लिखे निबन्ध में सानुप्रास किन्तु सहज सरल, ललित शैली में निबद्ध यह नई विधा है जो भट्टजी के शैली-विस्तार के व्यापक फलक का निदर्शन है।

इसी प्रकार विषयविशेष के विवेचन के लिए मनोरंजक मानवीय स्थिति के सूत्र से प्रारम्भ कर अपनी बात को कहने की विधा भी भट्टजी ने अपनाई। "गन्धर्वसेनस्य स्वर्गयात्रा" शीर्षक उनका निबन्ध काशी से निकलने वाले "संस्कृतरत्नाकर" (१२/४, १४/६) आदि पत्रों में छपा था जिसका प्रतिपाद्य यह था कि संस्कृत को "मृतभाषा" कहने का फैशन कैसे चल पड़ा इसकी खोज करते हुए उन्होंने पाया कि किसी भी भाषाशास्त्री ने इसे मृतभाषा कभी नहीं कहा, कुछ पाश्चात्त्य भाषाशास्त्रियों ने जीवित भाषा अवश्य कहा है। यह भेडियाधँसान अविचारित रूप से चल पड़ी थी यह बतलाते हुए उन्होंने निबन्ध का प्रारम्भ एक कल्पित कथा से किया था। एक धोबी प्रातःकाल रोकर कहने लगा "हाय, गन्धर्वसेन मर गये।" सारा गाँव रोने लगा कि कोई महापुरुष मर गया। बाद में मालूम हुआ कि धोबी ने अपने गधे का नाम गन्धर्वसेन रख छोड़ा था। शेष लोग बिना सोचे समझे ही शोक मना रहे थे। इस प्रसंग से निरर्थक प्रवाद के रूप में फैले संस्कृत के मृतभाषात्व का उन्होंने निबन्ध के शेष भाग में सुललित शैली में खंडन किया है।

शैली की रमणीयता निबन्ध को सर्जनात्मक प्रतिभा का स्पर्श देकर किस प्रकार मौलिक बनाती है इसका निदर्शन भट्टजी के प्रत्येक निबन्ध में मिल जाएगा। "महर्धता पिशाची" (सं. रत्नाकर ६/६) में वे द्वितीय विश्वयुद्ध के समय विश्व में फैली मँहगाई और अभाव की स्थिति पर प्रहार करते हुए कागज़ की कमी से पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं के छाप पाने की दुर्दशा का चित्रण करते हैं। पर अपनी रुचिकर शैली से इसे पठनीय बना देते हैं - केवल विवरणात्मक निबन्ध नहीं रहने देते। "श्रूयते केषुचित् स्थानेषु महर्घतयाऽनया पुनः प्राकृतपरिस्थितिरुपस्थापिता, अर्थात् परिचालितानि पत्राणि (कागज) विहाय ईश्वरसृष्टेषु पत्रेषु ("वृक्षपल्लवेषु) लेखकार्यमारब्धम्।" ऐसे विनोदों के साथ वे वस्तुस्थिति का चित्रण भी मुहावरेदार संस्कृत में करते हैं - "स्कूलकालेजेषु पत्रविनाकृता त्रैमासिकपरीक्षैव खपुष्पायिता। अभूच्च शिक्षाध्यक्षाणामनुल्लंघनीयं शासनम् "परीक्षाणामुत्तरपुस्तकेषु नैकापि रेखा भवेल्लेखाच्छून्या।" इदानीं पत्राणां (मासिकादिपत्राणां) पत्र (कागज) कथा श्रूयताम्।" इत्यादि।

इस प्रकार भट्टजी की विभिन्न निबन्ध विधाओं में सर्जनात्मक लालित्य उल्लेखनीय है जिसके कारण ये निबन्ध साहित्य का भी अंग बन जाते हैं, केवल पत्रकारिता या शास्त्र लेखन की परिधि में नहीं रहते। यहाँ तक कि उनके शोधपत्रों में भी जो कभी सांस्कृतिक और ऐतिहासिक अनुसंधान को लेखबद्ध करने हेतु लिखे जाते थे। (जैसे नासाभूषण क्या मुग़लकाल से पहले भी था ?) कभी शास्त्रीय विषय का प्रतिपादन करने हेतु (जैसे

सांख्यशास्त्रस्य चिरविस्मृतो ग्रन्थकारः), किन्तु सब में लालित्य या चमत्कारपूर्ण भाषा का पुट मिलता है। नासाभूषण मुग़लों से पहले भी था इस विषय पर लिखे शोधलेख का शीर्षक ही सानुप्रास है" अपि नासाभूषणमिदमासां यवनजातीनां सहवासादनुकृतम्"? (सं. रत्नाकर६/६-७-८-६)। अनुप्रास, श्लेष, स्वाभावोक्ति आदि अलंकार हास्य-विनोद का पुट और युगानुरूप तथा विवेकपूर्ण अभिगम उनकी शैली की विशेषता कही जा सकती है। समस्त पदों के बिना सहज और ललित वाक्यों का प्रयोग उनकी भाषा की पहचान है। जैसा पहले बताया जा चुका है, एक निबन्ध उन्होंने भाषा का चमत्कार बताने के लिए ही लिखा है। जिसका हर शब्द "म" से शुरू होता है किन्तु उसमें भी प्रसाद गुण आश्चर्यजनक रूप से दृष्टिगोचर होता है। यह इस प्रकार शुरू होता है। "मकारमहामलेकम्" मन्यामहे मान्यमनीषिणां मानसमुदन्तेनामुना महान्तं मोदमासादयेद्यन् मालवमंडलान्तर्मन्दसोरमेदिन्यां माघमासस्यामायां मंगलवारे मकाराणां महामेलकमेकमघटत।"

मकारों के सम्मेलन में जो विचार-विमर्श होता है उसका विवरण भी मनोरंजक है। "म" की तारीफ होते-होते उसके विपरीत अभिमत भी सुनाई देते हैं। "मेलकमालोकयितुमागतानामीक्षकाणामेको मन्दमुपहस्य मध्ये मन्द्रमवोचत्" मर्कटमकरादिषु, मूर्खता-मिथ्यादिषु मद्यमांसादिषु मलिनेष्वपि मकारमहोदयो मूर्तिमात्मीयामाविष्करोत्येव।।" .....मकारमहाशयानां मंडलमक्षुभ्यत्।"

जिस प्रकार की काल्पनिक कथा इसमें निबद्ध हैं उसे देखते हुए इसे कहानी विधा में भी वर्गीकृत किया जा सकता है, किन्तु स्वयं लेखक ने इसे निबन्ध मानकर एक नई विधा "चमत्कारात्मक निबन्ध" का नाम दिया है अतः इसे निबन्ध ही माना गया है, क्योंकि इसमें भारतीय लिपियों और भाषाओं में मकार के महत्त्व का विवरण अन्तर्निविष्ट है।

भट्टजी के निबन्धों का एक संकलन, जिसके साथ उनका लिखा निबन्ध लेखन विधा का अनुदेश भी है प्रकाशित हो चुका है (केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जयपुर, सन् १६८७)। लेखक ने अपने जीवनकाल में विभिन संग्रहों और निबन्ध लेखनमार्गदर्शिकाओं का अध्ययन कर एक सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ बनाने के उद्देश्य से इसे लगभग १६४० के आसपास पूर्ण कर लिया था, किन्तु यह उनके जीवन काल मे प्रकाशित नहीं हो पाया। लगभग आधी सदी बाद, उनके निधन से २०-२५ वर्ष वाद यह छपा और इसमें विभिन्न निबन्धविधाओं के प्रतिनिधि के रूप में उनके १३ निबन्ध भी संकलित किये गये। इसमें निरूपणात्मक निबन्ध का प्रथम प्रकार बतलाया गया है जिसके उपभेद है-वर्णनात्मक, यात्रावर्णनात्मक स्थलवृत्तात्मक आदि। दूसरा प्रकार है विचारात्मक निबन्ध का, तीसरा विवेचनात्मक निबन्ध का, चौथा शोधात्मक निबन्ध का और पाँचवाँ ललित निबन्ध का, जिसके दो उपभेद बतलाये गये हैं "रूपकात्मक और चमत्कारात्मक। चमत्कारात्मक निबन्ध का उदाहरण है "मकारमहामेलकम्" जिसकी समीक्षा पिछले पृष्ठों में की गई है। रूपकात्मक निबन्ध के रूप में एक सर्जनात्मक विधा का उदाहरण लेखक के दो निबन्धों द्वारा दिया गया है एक है "बालकभृत्य" जिसमें लेखक अपने यहाँ नियोजित ऐसे भोले बालक का चित्रण करता है जो घरेलू नौकर के रूप

में मालिक को हर तरह से प्रसन्न करना चाहता है पर अफरातफरी में कोई न कोई ग़लती उससे हो ही जाती है- जैसे कभी चाय बहुत गर्म होती है, कभी लुढक जाती है, कभी दिया गिर कर टूट जाता है। अनजाने की ये गलतियाँ क्षम्य हैं यह बतलाने के लिए निबन्ध के उत्तरार्ध में लेखक इस रूप को स्पष्ट करता है कि हम संसारी जीव भी ईश्वर के सामने अनजाने ऐसी अनेक ग़लतियाँ करते हैं, क्यों न हम यह सब जानकर उसकी प्रार्थना करें, उससे क्षमा प्रार्थना करें-अन्त में इसी आशय की एक स्वलिखित संस्कृत ग़ज़ल लेखक उद्धृत करता है। इस रूपक के पीछे अन्य एक रूपक है। जिसमें लेखक बिना कुछ कहे यह बतला देता है कि मनुष्य को निर्णय का अधिकार नहीं है। वह यदि अपनी इच्छा से अपने परिवेश को चलाना चाहता है तो यह उसकी हिमाकत है, दुःसाहस है, भ्रान्ति है। यह एक अनूठी ही निबन्ध विधा है।

रूपकात्मक निबन्ध का एक अन्य प्रकार "हीरकः" शीर्षक के उदाहृत है, जिसमें एक हीरे की आत्मकथा है कि वह किस प्रकार से भाँति-भाँति के लोगों के हाथ पड़ता रहा, अधिकांशतः नाकद्रे, अगुणग्राही लोगों के हाथ। इस रूपक से लेखक एक गुणी की व्यथ बतलाना चाहता है जिसे विवशतावश अगुणग्राही लोगों से जीवन भर पाला पड़ता है। इसकी रूपकात्मकता लेखक प्रारम्भ में दिये गये एक यथार्थ से संकेत भी कर देता है- "लोकातिशायिगुणशालिभिरप्यकस्मादासाद्यते न कुहचिद् गुणतत्त्ववेदी।" अंग्रेजी सहित्य के सुप्रथित निबन्धकार एडिसन का एक निबन्ध विश्वसाहित्य में बहुचर्चित है जिसमें एक "शिलिंग" अपनी आत्मकथा कहता है। भारतीय भाषाओं में भी इसी विषय वस्तु को लेकर कुछ आत्मकथात्मक ललित निबन्ध लिखे गये हैं। भट्टजी ने संस्कृत में भी "रूपकरामस्यात्मकथा" शीर्षक से एक रुपये की रामकहानी लिखी थी।

"प्रबन्धपारिजातः" वस्तुतः पाठ्यपुस्तक और सर्जनात्मक निबन्धसंकलन का एक समन्वित रूप है जिसमें प्रथम खंड निबन्धों के विषय में सिद्धान्त विवेचन, भेद निरूपण, मार्गदर्शन आदि के द्वारा छात्रों और अध्येताओं के शिक्षणार्थ लिखा गया है, किन्तु निदर्शन के रूप में द्वितीय खंड में जो निबन्ध संकलित हैं उनमें से अधिकांश लेखक की सर्जनात्मकता के कारण साहित्य का अंग बन गये हैं, पाठ्य वस्तु मात्र नहीं हैं।

नई दिशाएँ : इस दृष्टि से बीसवीं सदी में प्रकाशित निबन्धों और निबन्धसंग्रहों के इतिहास का आकलन किया जाय तो दो ही बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि अधिकांशतः निबन्ध पाठ्यवस्तु के रूप में लिखे गये थे अतः उनमें सर्जनात्मकता कम और खानापूरी की प्रवृत्ति अधिक परिलक्षित होती है। तथापि उनमें कुछ समस्यात्मक मौलिक निबन्ध तलाशे जा सकते है। दूसरी यह कि निबन्ध लेखकों में जो स्वयं पत्रकार थे या जिन्होंने पत्र-पत्रिकाओं में भेजने की दृष्टि से या स्वान्तःसुखाय स्वविचाराभिव्यंजन की दृष्टि से मौलिक प्रतिभा प्रकट करते हुए निबन्ध लिखे वे साहित्य का अंग बनने लायक हैं- चाहें निबन्धविधा को छात्रपाठ्य मान लिये जाने के कारण उन पर अब तक साहित्येतिहासकारों की दृष्टि न गई हो।

ऐसे निबन्धकार प्रायः प्रत्येक दशक में प्रकाशित होते रहे हैं। इनमें से अधिकांशतः मौलिक निबन्ध लेखक रहे यद्यपि कुछ अच्छे निबन्धों के अनुवाद भी हुए (जैसे गणेशराम शर्मा ने हिन्दी और गुजराती के कुछ निबन्धों के अनुवाद किया जो पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। बालपाठ्य निबन्ध लेखकों के कुछ नये विषयों पर लिखे निबन्धों के लिए हंसराज अग्रवाल का संस्कृत प्रबन्ध प्रदीप (लुधियाना १६५५) देखा जा सकता है, जिसमें नई विषय वस्तुओं पर निबन्ध संकलित हैं- काश्मीर की समस्या, खाद्यसमस्या विश्व के देशों के संविधान आदि। इसी प्रकार श्रुतिकान्तशर्मा की "लघुनिबन्धमणिमाला" में हुक्का, घोड़े और साइकिल का संवाद, फुटबाल मैच, तृतीय श्रेणी की रेल यात्रा, धर्मनिरपेक्षता, संयुक्तराष्ट्रसंघ, चुनाव और मित्रता, सिनेमाघर, घुमक्कड, पिकनिक, मनोरंजन, खेल भावना आदि विषयों पर जो निबन्ध हैं उनके मौलिक सर्जनात्मक प्रतिभा के दर्शन होते हैं। "गल्पकुसुमांजलि" में कुछ ऐतिहासिक घटनाएँ वर्णित हैं।

संस्कृत निबन्ध संकलनों में डॉ.मंगलदेवशास्त्री का प्रबन्धप्रकाश, पं. चारुदेवशास्त्री की "प्रस्तावतरंगिणी" डॉ.रामजी उपाध्याय की संस्कृत निबन्धकलिका और संस्कृतनिबन्धावली, आचार्य केशवदेव शुक्ल का "निबन्धवैभव" डॉ. कपिल देव द्विवेदी का "संस्कृतनिबन्धशतकम्" डॉ. रामकृष्ण आचार्य की "संस्कृतनिबन्धांजलि, डॉ. पारसनाथ द्विवेदी का संस्कृतनिबन्धनवनीतम्, "डॉ. राममूर्ति शर्मा का "संस्कृत निबन्धादर्श" कैलाशनाथ द्विवेदी का "कालिदासीय निबन्ध विषय", डॉ. रमेशचन्द्र शुक्ल का "प्रबन्धरत्नाकर" आदि प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें संकलित निबन्धों में अनेक व्यक्तिव्यंजक निबन्ध की श्रेणी में भी आते हैं, कुछ विवेचनात्मक है, कुछ विवरणात्मक। डॉ. रामजी उपाध्याय जैसे विद्वानों ने सुरुचिर संस्कृत में भारतस्य सांस्कृतिकनिधिः, महाकविकालिदास, आदि गद्य ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें भारतीय संस्कृति का इतिहास, भारत के महाकवि आदि पर संस्कृत में विवरण और विवेचन है।

इस प्रकार के विवेचनात्मक गद्य का जो विपुल भांडागार वर्तमान संस्कृत में अवतीर्ण हुआ है जिसका विवरण यहाँ अप्रासंगिक होगा, वह शास्त्रीय ग्रन्थों के अध्याय में देखा जा सकता है।

निबन्ध संकलनों में श्री कर्णवीर नागेश्वर राव की "वाणीनिबन्धमणिमाला" (मद्रास) पं. रघुनाथ शर्मा की "चित्रनिबन्धावलि" (बनारस १६६४) डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय की निबन्धचन्द्रिका (बनारस १६७६), पं. नवलकिशोर कांकर का "प्रबन्धमकरन्द" (जयपुर १६७८), पं. बटुकानाथ शास्त्री खिस्ते की "साहित्यमंजरी" (बनारस १६७६), नरसिंहाचार्य की साहित्यसुधालहरी (आन्ध्रप्रदेश), डॉ. कृष्णकुमार अवस्थी का संस्कृतनिबन्धशेखर (लखनऊ), वासुदेवशास्त्री द्विवेदी की बालनिबन्धमाला और संस्कृतनिबन्धाादर्शः (बनारस १६७८), नृसिंहनाथ त्रिपाठी की निबन्धकुसुमांजलि (लखनऊ), डॉ. शिवबालक द्विवेदी की संस्कृतनिबन्धचन्द्रिका (कानपुर १६८५) और निबन्धरत्नाकर (कानपुर १६८५) भी प्रकाशित हैं जिनमें अधिकांश मूलतः पाठ्यपुस्तकों की दृष्टि से लिखे गये निबन्धों के संकलन हैं।

इनमें अनेक निबन्ध ऐसे भी हैं जो लेखक ने अपनी प्रतिभाके प्रस्फुरण को वाणी देते हुए लिखे थे, किसी पत्रिका में भी प्रकाशित हुए थे और बाद में संकलन में शामिल कर लिये गये। ऐसे निबन्ध साहित्य के स्थायी अंग बनेंगे।

ललित-निबन्ध की विधा के मूलतः लिखने वाले अनेक लेखक बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भी लिखते रहे जिनमें भट्टजी के अतिरिक्त गणेशराम शर्मा (डूंगरपुर) हरिकृष्ण शास्त्री (महापुरा) स्वामिनाथ आत्रेय, विष्णुकान्त शुक्ल (सहारनपुर) नवलकिशोर कांकर, नारायण कांकर, कलानाथशास्त्री (जयपुर) परमानन्द शास्त्री(अलीगढ़) आदि के नाम सुविदित हैं। ऐसे निबन्ध प्रमुखतः पत्र-पत्रिकाओं में ही निकलते रहे। पाठ्यपुस्तक की दृष्टि से जिनकी वाणिज्यिक खपत शीघ्र संभावित थी उन निबन्धों के संकलनों के प्रकाशक तो मिल गये अतः वे ग्रन्थाकार में संकलित भी हो गये और प्रकाशित भी, किन्तु ललित निबन्धों के संकलन बहुत कम निकल पाये। विष्णुकान्त शुक्ल "पूर्णकुंभः (१९८३) जैसे संकलन ही इसके अपवाद रहे या विभिन्न संस्कृत अकादमियों ने जहाँ संस्कृत के निबन्धकारों के प्रतिनिधि संकलन के प्रकाशन का निर्णय किया वहाँ अकादमी की ओर से प्रकाशित निबन्ध संकलन भी इसके अपवाद के रूप में गिनाये जा सकते हैं जैसे राजस्थान संस्कृत अकादमी का "राजस्थानस्य आधुनिकाः संस्कृतनिबन्धलेखकाः। वैसे संयोग यह रहा कि इस निबन्ध संकलन में भी ललित निबन्ध दो ही हैं, शेष काव्यशास्त्रीय विषयों के या अन्य विमर्शनीय बिन्दु के विवेचक या प्रतिपादक लेख ही हैं।

गणेशराम शर्मा सर्जानात्मक लेखक की विभिन्न विधाओं में लिखते रहे अतः उनके निबन्धों में कहीं विनोद, कहीं व्यंग्य उसी शैली में समाविष्ट हैं जो ललित निबन्ध को पहचान देती है। "जाने त्वां संस्कृतपंडितम्", "मिथ्याकीर्तिलेखकमहाराजः आदि विषयों में संस्कृत के दंभी विद्वानों का विनोदमय चित्र उपस्थित होता है। "धन्यवादस्यात्मचरितम्" "खेलन्ती खट्वा" "घंटागौरवम्" "मर्कटमहाशयाः" शीर्षकों से इनकी विषयवस्तु का ही नहीं, शैली का भी अनुमान सहज ही हो सकता है। यही भावभूमि और शिल्प व्यक्तिव्यंजक निबन्ध का होता है। इस भावभूमि पर विनोदमय शैली में "सायंतनं भ्रमणम्" (सं. रत्नाकर १०/६/२७) "सुरभिसमयावसानम् (सं. १०/११) आदि निबन्धों में हरिकृष्णशास्त्री ने पंडित कवियों के सायंकालीन भ्रमण के समय के विनोदालयों, एक दूसरे पर फब्ती कसते हुए बनाए गये पद्यखण्डों को उद्धृत करते हुए भी विनोदमय गद्य लिखा है और वसन्त समय समाप्त होने पर निराश हुई सुन्दरता को ईश्वर द्वारा दी गई सान्त्वना का काल्पनिक रूपक भी खींचा है। संस्कृत प्रतिभा में प्रकाशित उनका वसन्तवर्णनात्मक निबन्ध शिल्प के दूसरे पक्ष को प्रस्तुत करता है। इसमें सरस और ललित गद्य में वसन्त का वर्णन है।

स्वामिनाथ आत्रेय (तमिल के प्रसिद्ध लेखक, तंजौर निवासी) के निबन्ध भी ललित निबन्धों वाली हल्की-फुलकी शैली में कभी तो विवाह पद्धति में आने वाली शुभकामना पंक्ति 'मूर्धानं पत्युरारोह" को शीर्षक बनाकर कथोपकथनात्मक गद्य में यह बतलाते हैं कि पत्नी को इस उपदेश का पालन करने के बाद पति की "मूर्धा" से उतर आना चाहिए,

मूर्धा पर चढ़े ही नहीं रहना चाहिए, कभी इसी, विनोदमय शैली में प्राचीन उक्तियों पर आधुनिक संदर्भों को घटाते हुए अपनी बात कह देते हैं। उनके निबन्ध संस्कृत प्रतिभा में छपते रहे हैं।

परमानन्द शास्त्री (अलीगढ़) भी व्यक्तिव्यंजक और ललित निबन्धों में कभी प्रचलित सूक्तियों को आधार बनाकर हलके-फुलके वैचारिक प्रवाह को गूँथते चलते हैं- जैसे सौवर्णी वाचालता" (स्वरमंगला १६/४) में "कालिदासकविता नवं वयः, माहिषं दधि सशर्करं पयः।" आदि पद्य में कालिदास कविता का साहित्य, दधि से संबंध बिठाते हुए पद्य के एक-एक बिन्दु को लेते हैं, कभी आज के संदभों से संस्कृत की प्राचीन उक्तियों को जोड़कर निबन्ध की सृष्टि करते हैं।

विष्णुकान्त शुक्ल के ललित निबन्धों में इसी प्रकार का शिल्प, व्यक्तिव्यंजक वैचारिक श्रृंखला में नई उद्भावनाएँ तथा सहज और ललित भाषा एक उत्कृष्ट स्तर का प्रतिनिधित्व करते हैं। "अहमपि भारतीयः" (स्वरमंगला) में वे आधुनिक भारतीय परिवारों में छुरी-काँटे से खाना, केक काटकर जन्मदिन मनाना आदि पद्धतियों पर करारा व्यंग्य करते हैं। "कालमहिमा" में वे "बन्धो ! काल !!" को संबोधित कर आज की स्थिति का चित्रण करते हैं।

देश के सभी अंचलों में विपुल मात्रा में शास्त्रीय शोधात्मक, विवेचनात्मक और प्राचीन वाङ्मय के विभिन्न बिन्दुओं की व्याख्या करने वाले छोटे-बड़े प्रबन्धों का लेखन और प्रकाशन होता रहा है यह सुविदित है। ऐसे निबन्धों के लेखकों में से कुछ ने विवेचनात्मक निबन्धों के साथ-साथ कुछ सर्जनात्मक, व्यक्तिव्यंजक निबन्ध भी लिखे हैं, जिन्हें उनके समग्र गद्यलेखन में से तलाश कर पहचानने का काम अभी बाकी है। उदाहरणार्थ राजस्थान के लक्ष्मीनारायण पुरोहित के काव्यशास्त्रीय तथा अन्य विवेचनात्मक निबन्ध पाँचवे, छठे, सातवें दशकों में प्रकाशित होते रहे हैं। उनकी कविताएँ भी प्रकाशित हुई हैं। उन्होंने कुछ ललित निबन्ध विधा के निबन्ध भी लिखे हैं। जैसे "ज्ञकारस्यात्मनिवेदनम्" इसमें "ज्ञ" को वर्णमाला में निचली पंक्ति में स्थान मिलने की शिकायत और उसकी दोहरी दुविधा का चित्र आत्मकथा शैली में खींचा गया है।

कलानाथ शास्त्री ने कथाओं, उपन्यासों आदि के अतिरिक्त ललित निबन्ध भी लिखे हैं जो समय-समय पर प्रकाशित हुए हैं। "भारती", स्वरमंगला आदि का संपादन कार्य करने के कारण उन्हें जो स्तंभलेखन करना पड़ा उसमें चुटकले, छोटे-मोटे व्यंग्यात्मक गद्य, फब्तियाँ, टिप्पणियाँ आदि भी हलके-फुलके गद्य के वर्ण में आती हैं जिनका विपुल मात्रा में लेखन इन्होंने किया है। चुटकुले स्वसंपादित अंकों में खाली स्थान पर देने के अतिरिक्त "वाक्कीलस्य वाक्कीलनम्" (भारती, ६/६) जैसे शीर्षकों से "नहले पर दहला" शैली के करारे जवाबों को गद्यबद्ध करके, कभी एक नई शैली का चित्रकाव्यात्मक गद्य लिखकर भी इन्होंने नई ज़मीन तोड़ी है। उदाहरणार्थ, "राष्ट्रभाषाविषये विचित्रसंमतिः" में ऐसा गद्य है जिसे पूरा पढ़ने पर संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनाने का तर्क प्रमाणित होता है, किन्तु उसी को

एक पंक्ति छोड़-छोड़कर पढ़ने पर उसका विरोध और हिन्दी के राष्ट्रभाषात्व का समर्थन हो जाता है। इन सब छुट-पुट नमूनों के अतिरिक्त व्यक्तिव्यंजक निबन्धों के कुछ उदाहण हैं- "अहमपि लेखको भविष्यामि" (भारती ३/६), जिसमें लेखक बनने का चाव सबमें पनपता बताया है पर अच्छे लेखक के क्या गुण होने चाहिएं उनकी ओर कम का ध्यान जाता बताया गया है। "पंडितरामानन्दस्य पत्रम्" (भारती ८/६) जैसे हलके-फुलके ललित निबन्धों में किसी कल्पित पात्र द्वारा संपादक को लिखे विनोदमय पत्र के रूप में तत्कालीन स्थितियों पर व्यंग्य है तो "कूपे भंगा कथं पतिता (भारती १०/५) जैसे छोटे नमूनों में चुटकुला शैली की घटनाएँ निबद्ध हैं। ललित निबन्ध का एक उदाहरण है "मा च याचिष्म कंचन" (सं. प्रतिभा ७/१) जिसमें याचना की लम्बी भारतीय परम्परा वामन और बलि के प्रसंग से लेकर आजकल के चन्दा माँगने वालों तक ले आई गई है और ललित उद्धरण देते हुए मित्रों के पारिवारिक वार्तालाप की शैली में निबद्ध है। यह निबन्ध "याचनापुराणम्" शीर्षक से एक निबन्ध संकलन में सम्मिलित भी है (राजस्थानस्य आधुनिकाः संस्कृतनिबन्धलेखकाः,) रा.सं.अका.१६८७।

इस प्रकार उन लेखकों ने, जो संपादक भी रहे हैं अनेक प्रसंगों और आवश्यकताओं के क्रम में ललित निबन्धों की सृष्टि की है। यह क्रम निरन्तर चल रहा है। जैसा कि पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है ऐसे निबन्धों का प्रमुखतः प्रकाशन पत्रपत्रिकाओं ने ही दिया है, बाद में वे चाहे किसी संकलन में संकलित हो गये हों (जिनकी संख्या बहुत कम है)।

यात्रावृत्त-आधुनिक साहित्य में गद्यबद्ध विधाओं में "यात्रावृत्त" और "जीवनवृत्त" भी संमिलित माने जाते हैं। इन्हें उपन्यास, कथा, निबंध आदि से पृथक् विधा मानने का कारण शायद यही हो कि इनमें कल्पना या मौलिक उद्भावना का तत्त्व कम और वृत्तवर्णन, स्थलवर्णन या "रिपोर्टिंग" का तत्त्व अधिक होता है। सच पूछा जाये तो यात्रावृत्त पत्रकारिता का ही अंग है। इसमें समाचार घटनापरक न होकर यात्रावर्णनपरक होता है। इसलिए इसे पत्रकारिता और साहित्य की मध्यरेखा पर स्थित विधा अथवा दोनों का संमिश्रण एवं समन्वय करके उद्भावित विधा कहा जा सकता है। पाश्चात्त्य साहित्य में इसे "ट्रैवलॉग" या रिपोताज़ विधा कहा जाता है जिसमें स्वयं की गई यात्रा या प्रत्यक्ष देखी किसी भी घटना, विशेषकर यात्रा का रोचक वर्णन कर रमणीयता पैदा की जाती है। प्राचीन साहित्य में यात्राओं के वर्णन तो मिलते हैं, सुललित पद्य या गद्य में निबद्ध उनका वर्णनात्मक साहित्यिक रूप भी उपलब्ध होता है पर उसे अलग से विधा या काव्यभेद नहीं माना गया। काव्य, गद्यकाव्य या चम्पू के अन्तर्गत ही यात्रावर्णनादि समाविष्ट होते रहे हैं-जैसे विश्वगुणादर्शचम्पू में विभिन्न देशों, प्रान्तों का वर्णन है किन्तु यह यात्रावृत्त मात्र नहीं है, इसका प्रतिपाद्य कुछ और है। प्राकृत साहित्य में व्यापारियों की श्रावकों की या तीर्थयात्रियों की यात्राओं के वर्णन मिलते हैं इनमें से कुछ यात्रावर्णन का प्रमुख उद्देश्य लेकर ही लिखे गये हैं जैसे "वसुदेवहिंडी"। हो सकता है इन सब में यात्रावृत्त वास्तविक न हो, कल्पनानिबद्ध हो। उस स्थिति में वह उपन्यास या कथा की विधा में आएगा,

यात्रावृत्त विधा में नहीं, क्योंकि यात्रावृत्त स्वयं की यात्रा का स्वनिबद्ध विवरण ही होता है।

इसी प्रकार जीवनवृत्त विभिन्न ऋषियों या महापुरुषों के चरित्र या उपाख्यान के रूप में हमारे यहाँ वर्षों से लिखे जाते रहे हैं, किन्तु आधुनिक साहित्य में जीवनी या बायोग्राफी के रूप में जो विधा विकसित हुई है उसका प्रमुख विषय है व्यक्तिचरित का वर्णन जिसे आपने प्रत्यक्ष देखा हो। स्वयं दृष्ट व्यक्ति का चरितनिबन्धन जीवनी (बायोग्राफी) और स्वयं का आत्मचरित निबन्ध आत्मकथा (आटोबायोग्राफी) कहा जाता है और ये दोनों आधुनिक साहित्य की गद्य-विधाएँ मानी जाती हैं। संस्कृत में इन दोनों की इस रूप में अवतारणा बहुत सीमित मात्रा में हुई है। जिस प्रकार बॉसवेल नामक जीवन चरित लेखक अठारहवीं सदी के प्रसिद्ध अंग्रेजी कोषकार, विद्वान् और समीक्षक डॉ जानसन के चरित लेखक के रूप में अंग्रेजी साहित्य में प्रसिद्ध है उस प्रकार के उदाहरण संस्कृत में बिरले ही हैं। बाणभट्ट का हर्षचरित उस विधा के निकट अवश्य पहुँचता है, क्योंकि यह माना जाता है कि बाणभट्ट श्रीहर्ष की राजसभा में थे तथापि यह उनके जीवनचरित की तरह न लिखा जाकर वर्णनात्मक गद्यकाव्य के रूप में लिखा गया है। इस दृष्टि से हर्षचरित प्राचीनतम गद्यबद्ध जीवनचरित की श्रेणी में अग्रणी पंक्ति में आता है।

संस्कृत रचनाकारों में यात्राएँ करने और उनका वर्णन पद्य या कभी-कभी गद्य में करने की प्रवृत्ति तो सदियों से चली आ रही है, किन्तु उनका प्रकाशन कभी-कभी ही हो पाता था। तीर्थयात्रा की परम्परा सदियों से है और संस्कृत विद्वज्जन भी बदरीनाथधाम की या जगन्नाथपुरी की यात्रा करते थे। उसका विवरण भी लिखते थे। यही कारण है कि ऐसी तीर्थयात्राओं के वर्णन करने वाले गद्य बीसवीं सदी से ही प्रकाशित रूप में मिल जाते हैं। संस्कृतचन्द्रिका में तथा अमरभारती में लक्ष्मण शास्त्री तैलंग का जगदीशपुरयात्रा वर्णन प्रकाशित हुआ था (अमरभारती १/१०-११) उत्तराखण्ड यात्रा के वर्णन तो अनेक गद्यकारों ने किये हैं। एस.पी. भट्टाचार्य की "उत्तराखंडयात्रा (कलकत्ता १६४८) सुविदित है। मथुरानाथ शास्त्री ने "अस्माकम् उत्तरखंडयात्रा" संस्कृतगद्य में लिखी थी, जिसका कुछ अंश स्वसंपादित "भारती" मासिक पत्रिका में प्रकाशित भी किया था। इसका बहुत सा अंश "प्रबन्धपारिजातः" में मुद्रित है।

पं. हरिहरसुरूप शर्मा ने हिमालयांचल की यात्रा की थी। इस पर गद्य व पद्य दोनों में यात्रावर्णन लिखे थे। संस्कृतरत्नाकर मासिक "शिमलाशैललावण्यम्" शीर्षक से आर्याछन्दों में निबद्ध शिमला वर्णन बीसवीं सदी के प्रथम दशक में छपा था। इन्होंने अपनी काश्मीर यात्रा का वर्णन "मम काश्मीरयात्रा" शीर्षक से किया था जो "शारदा" पत्रिका (१६१५) में छपा है।

टी. गणपतिशास्त्री का "सेतुयात्रावर्णन" भी सुविदित है जिसमें धार्मिक आचारों का तो विवरण है ही, कुछ आधुनिक विकृतियों का भी बेबाक विश्लेषण है। वी.एस.रामस्वामि-शास्त्री ने "त्रिबिल्वदलचम्पू" (मदुरा १६३७) में अपनी पूरी भारतयात्रा का वर्णन करते हुए न केवल तीर्थस्थानों का विवरण दिया है बल्कि विश्वविद्यालयों अन्य शिक्षासंस्थाओं, प्राचीन

पुरातात्त्विक स्थलों, दर्शनीय स्थानों आदि का वर्णन भी किया है। रामस्वामिशास्त्री केवल संस्कृत पंडित ही नहीं थे, मदुरै के प्रसिद्ध वकील भी थे। सखाराम शास्त्री ने १९२४ में अपनी कोंकणयात्रा का वर्णन निबद्ध किया है।

बहादुरचन्द छाबड़ा (चापोत्कट) ने अपनी हालैण्ड यात्रा के बाद वहाँ की शोभा का वर्णन "न्यक्तरजनपदशोभा" शीर्षक से संस्कृतपद्यों में किया था जो बंगलौर की पत्रिका अमृतवाणी (१९५३) में छपा था। इसी प्रकार पद्यबद्ध वर्णन सी. कुन्हन राजा द्वारा "पर्सिपोलिस" नगरी का किया गया है जो "ब्रह्मविद्या" (आड्यार लायब्रेरी पत्रिका दिसम्बर १९५३ १७/४) में छपा है। ऐसे वर्णनों से लगता है, यात्रावृत्तों का भी पद्यों में गुम्फन ही संस्कृत पंडितों को अधिक भाया है। वैसे गद्य में भी यात्रावृत्त बड़ी संख्या में निबद्ध हैं। पत्र के रूप में भी यात्रावृत्त लिखे गये हैं- उदाहरणार्थ एम.रामकृष्णभट्ट (जो बंगलोर की पत्रिका अमृतवाणी के संपादक भी रहे) ने अपनी ईस्ट अफ्रीका की यात्रा का वर्णन संस्कृत में लिखे एक पत्र के रूप में, "संस्कृतभवितव्यम्" के संपादक को संबोधित किया था।

गद्य और पद्य की प्रत्येक विधा में अनुवाद की परम्परा आधुनिक संस्कृत साहित्य की एक विशिष्ट प्रवृत्ति के रूप में सर्वत्र परिलक्षित होती है। संस्कृत रचनाकार अन्य किसी भी भाषा की उत्कृष्ट कृति से प्रभावित पाकर सर्वप्रथम उसे अपनी भाषा में लाना चाहता रहा है, साथ ही उसे हृदयंगम कर अपने ढंग से उस विधा में मौलिक रचना भी करता रहा है। यही कारण है कि यात्रावृत्तों के अनुवाद भी बीसवीं सदी के अन्तिम चरण से लेकर आजतक संस्कृत में किसी न किसी रूप में होते रहे हैं। प्रसिद्ध यूरोपीय पर्यटक पियरे लोती ने अपनी भारतयात्रा का सुन्दर विवरणात्मक वृत्त "यात्रावृत्त" की अपनी शैली में बीसवीं सदी के प्रारंभ में लिखा था। संस्कृतरत्नाकर के संपादक भट्टमथुरानाथ शास्त्री ने प्रथमदशक में "भारतपर्यटनम्" शीर्षक से इस यात्रावृत्त की अपने ढंग से संस्कृत में अवतारणा की, जो संस्कृत-रत्नाकर में धारावाहिक रूप में मुद्रित हुई। उस समय के भारत में किसी प्रकार की महामारी के फैलने पर यात्राएँ कितनी कम हो जाती थीं, रेलें चलने लगी थीं, पर भारतीय यात्री उनमें बैठने से कतराते थे, इस सबका विवरण लोती ने आत्मवृत्त की तरह दिया है। इस नई विधा में संस्कृत अछूती न रहे, यही दृष्टि इसकी संस्कृत में अवतारणा के पीछे भट्टजी की रही प्रतीत होती है।

ऐसे आधुनिक संस्कृत साहित्य के इतिहासकारों की यह मान्यता है कि इस युग में गद्यकाव्य के रूप में यात्राप्रबन्ध को प्रतिष्ठापित करने का श्रेय श्रीशैल दीक्षित को जाता है जिन्होंने दो यात्राप्रबन्धों की रचना की है। प्रथम यात्रावृत्त है "कावेरीगद्यम्" जिसमें कावेरी यात्रा (कुर्ग) का वर्णन है। द्वितीय यात्राप्रबन्ध है "प्रवासवर्णनम्" जिसमें भारतीय प्रदेशों की यात्रा का वर्णन है। ए. राजगोपालचक्रवर्ती ने "तीर्थाटनम्" शीर्षक से पाँच अध्यायों में भारत के प्रमुख तीर्थों का चित्रण किया है। नारायणचन्द्र स्मृतितीर्थ ने आधुनिक उड़ीसा के प्रवास का वृत्त लिखते हुए "भुवनेश्वरवैभवम्" की रचना की है। अरबी के प्रसिद्ध कथाग्रन्थ "अलिफलैला" (सहस्ररजनीचरित) में जहाजी सिन्दबाद की यात्राओं का जो वर्णन

है वह यात्रावृत्त की विधा में नही आता, वह काल्पनिक कथा है, जिसमें जहाज से समुद्र की यात्रा करते समय घटी रोचक और विस्मयकर घटनाओं का वर्णन है। इसका अनुवाद भी संस्कृत में हुआ है। म.म. लक्ष्मण शास्त्री तैलंग का लिखा "सिन्दुवादवृत्तम्" पुस्तकाकार में भी प्रकाशित हो चुका है (शारदा प्रकाशन, वाराणसी १६७६)। अलिफलैला की कहानियों के अनुवाद के क्रम में सिंदबाद जहाजी की कहानियों के संस्कृतानुवाद "संस्कृतचन्द्रिका" आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं, किन्तु जैसा पहले हम स्पष्ट कर चुके हैं, अन्य किसी की यात्रा का वर्णन यात्रावृत्त की विधा में नही आता।

जयपुर के विद्वान् पं. नवलकिशोर कांकर ने "यात्राविलासम्" नामक एक उत्कृष्ट गद्यकाव्य की रचना की है जिसमें अपनी उत्तराखंड-यात्रा का प्रारम्भ से अन्त तक सुललित वर्णन अलंकृत संस्कृत गद्य में किया है जो पूर्णतः बाणभट्ट से प्रभावित शैली में है। इस गद्यकाव्य की प्रशंसा सारे देश में हुई, इसी के आधार पर संस्कृत सेवी संस्थाओं की ओर से उन्हें "गद्यसम्राट्" की उपाधि मिली, अनेक पुरस्कार मिले तथा अभिनन्दन हुए। यह यात्रा का प्रत्यक्षानुभूत वर्णन है और इसमें यथार्थ चित्रण, तत्कालीन वस्तुस्थितियों का सजीव विवरण तथा क्रमबद्ध कथन है। अतः यह सही अर्थों में यात्रावृत्त है। यद्यपि इसे लेखक ने भारत की अतिप्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए अथवा अन्य किसी कारण से स्ववृत्त कथन का रूप न देकर तथा आत्मवृत्त लिखने की बात न कहकर उत्तमपुरुष की बजाय प्रथम पुरुष में, एक प्रोफेसर की सपत्नीक तीर्थयात्रा के काव्यमय वर्णन का रूप दे दिया है। इसके पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यात्रा करने वाला प्रोफेसर स्वयं लेखक ही है। "यात्राविलासम्" काव्यम् (जयपुर से प्रकाशित) अनेक विश्वविद्यालयों तथा संस्थाओं की संस्कृत परीक्षाओं में पाठ्यपुस्तक के रूप में भी निर्धारित रहा है।

जयपुर के युवा कवि पं. पद्मशास्त्री (पद्मादत्त ओझा) जो "लेनिनामृतम्" (लेनिन की जीवनी पर आधारित संस्कृत काव्य) आदि काव्यों तथा "विश्वकथाशतकम्" आदि कथासंग्रहों के प्रणेता हैं, "लेनिनामृत" काव्यलेखन के उपलक्ष्य में सोवियत रूस की यात्रा पर भारत के अन्य विख्यात साहित्यकारों के साथ गये थे। इस यात्रा का प्रत्यक्ष वर्णन उन्होंने "मदीया सोवियतयात्रा" शीर्षक से किया है, जो पत्र-पत्रिकाओं में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ था। सरल और सहज शैली में लिखे गये इस यात्रावृत्त में रूस के उन नगरों का, जिन्हें इन लेखकों ने देखा था सटीक वर्णन भी है, घटनाओं का क्रमबद्ध विवरण भी है, अपनी टिप्पणियाँ भी हैं। यात्रावृत्त की परिभाषा पर खरा उतरने वाला यह यात्रावृत्तात्मक गद्य प्रबन्ध ट्रैबलाग के नमूने के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

आधुनिक संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं में जो यात्रावृत्त समय-समय पर प्रकाशित होते रहते हैं उनमें देश और विदेश दोनों की यात्राएँ वर्णित मिलती हैं। व्रजगन्धा में वाराणसी के प्रसिद्ध मूर्धन्य विद्वान स्व. रघुनाथशर्मा ने "मदीया व्रजयात्रात्रयी" में तीन बार की गई व्रजयात्राओं का वर्णन किया है।

जीवनवृत्त : जैसा पहले स्पष्ट किया जा चुका है, किसी उत्कृष्ट व्यक्ति का जीवन चरितलेखन जो एक आधुनिक विधा के रूप में विकसित हुआ है, पृथक् किसी काव्य विधा या गद्य विधा के रूप में संस्कृत साहित्य में वर्गीकृत नहीं है। तथापि जीवन चरितों का संस्कृत में लेखन प्रभूत मात्रा में होता रहा है। इस प्रकार के महापुरुष चरितों को सर्वाधिक पद्य में ही निबद्ध किया गया है, कभी-कभी चम्पू में, गद्य में बहुत कम। धर्मगुरुओं, महान् विद्वानों, साधु-सन्तों को यह देश सर्वाधिक आदर देता रहा है, साथ ही राजाओं की भी महिमा सर्वसमादृत रही है। "ना विष्णुः पृथिवीपतिः।" पृथ्वीपति को तो विष्णु का स्वरूप तक माना गया था। तभी तो बाणभट्ट ने हर्षचरित में कान्यकुब्जेश्वर स्थाण्वीश्वर जनपद नरेश हर्षवर्धन का चरित "हर्षचरितम्" में निबद्ध किया है। इसे सर्वप्रथम गद्यबद्ध जीवनवृत्त कहा जा सकता है। शंकराचार्य के जीवन और कृतित्व ने इस देश पर जो प्रभाव छोड़ा है उसे देखते हुए यह स्वाभाविक ही था कि उनका जीवनवृत्त भी लिखा जाए। "शंकरदिग्विजय" आदि शीर्षकों से विभिन्न विद्वानों ने शंकराचार्य का जीवन चरित्र विभिन्न शैलियों में लिखा है। इनमें सभी अधिकांश पद्यबद्ध ही हैं।

आधुनिक काल में भी पद्यबद्ध जीवन चरित विपुल मात्रा में लिखे जाते रहे हैं। म. म. पं. शिवकुमार मिश्र (काशी) का "यतीन्द्रदेशिकचरितम्" यति भास्करानन्द का जीवन खंडकाव्य के रूप में ही लिखा गया है। किन्तु अ.ति. कुमारताताचार्य का "चंडमारुताचार्यजीवनचरितम्" (विद्वद्वर चंडमारुताचार्य की जीवनी) गंगाधर शास्त्री का "राजारामशास्त्रिजीवनचरितम्" तथा "बालशास्त्रिजीवनचरितम्", श्रीशैलतातातचार्य का "रामशास्त्रिचरितम्", के.मार्कण्डेयशर्मा का "श्रीदीक्षितचरितम्" तथा मेधाव्रताचार्य के "नारायणस्वामिचरितम्" और "महर्षिविरजानन्दचरितम्" जीवनी साहित्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इनमें से कुछ तो निबन्धरूप में संस्कृतचन्द्रिका आदि पत्रों में छपे हैं, कुछ ग्रन्थाकार में भी उपलब्ध हैं। मेधाव्रताचार्य स्वयं गद्यकार (उपन्यासकार) हैं अतः स्वाभाविक था कि वे गद्यबद्ध जीवनियाँ ही लिखते।

विद्वानों, गुरुओं, साधु-सन्तों की जीवनियाँ अधिक लिखी गईं, यह संस्कृत साहित्यकार के रुझान का एक संकेत है वैसे शासकों की जीवनियाँ भी लिखी गई हैं- जैसे "श्रीशाहू-चरितम्" में आत्माराम लाटकर ने कोल्हापुर के छत्रपति की जीवनी लिखी है। श्रीशैल दीक्षित ने "श्रीकृष्णाभ्युदयम्" शीर्षक से मैसूर के कृष्णराज की जीवनी लिखी है। आत्मराम लाटकर ने "अनन्तचरितम्" शीर्षक से बम्बई के संस्कृत सेठ अनन्तराम सदाशिव टोपीवाले की जीवनी भी लिखी है। अंग्रेजी सम्राटों की जीवनी लिखने में भी संस्कृत लेखक पीछे नही रहे। जिस प्रकार भारतसम्राट् के रूप में विभिन्न ब्रिटिश सम्राटों की प्रशस्तियाँ लिखी गईं, उसी प्रकार जी.पी. पद्मनाभाचार्य ने "जार्जदेवचरितम्" शीर्षक से पंचम जार्ज की जीवनी भी लिखी। ब्रिटिश शासन काल में यह सब स्वाभाविक ही था। तत्कालीन शासक को स्मरण करने की प्रवृत्ति सदा से रही है। किन्तु संस्कृत साहित्यकार की चिरन्तन प्रवृत्ति श्रद्धेय महापुरुषों के जीवन को सम्मान देने की ही रही है। स्वतंत्रता-संग्राम के समय तथा उसके

अनन्तर ऐसे श्रद्धेय पुरुषों में स्वतंत्रता सेनानी अविभाज्य रूप से जुड़ गये थे। यही कारण है कि गांधी, तिलक आदि स्वतंत्रता-सेनानियों पर जिस प्रकार विपुलमात्रा में संस्कृत काव्य सर्जन हुआ, उसी प्रकार उनकी जीवनियाँ भी प्रभूत मात्रा में लिखी गईं।

भारत के विभिन्न प्रदेशों में स्थित धार्मिक संप्रदायों के प्रधान आचार्यो, सन्तों, आदि की जीवनी के लेखन का क्रम भी कुछ मठों में बड़े उत्साह से चलाया जाता है। ऐसी जीवनियाँ पद्य के अतिरिक्त गद्य में भी लिखी गईं। विभिन्न शंकराचार्यों के जीवन पर काव्यादि तो लिखे ही गये (जैसे कुछ वर्ष पूर्व ही गोवर्धनपीठाधीश श्रीनिरंजनदेवतीर्थ जी के जीवन पर सविवरण काव्य कविवर श्री दीनानाथ त्रिवेदी मधुप ने लिखा था जो प्रकाशित है) गद्यबद्ध जीवनवृत्त चम्पू, गद्यकाव्य आदि के रूप में भी लिखे गये। इस प्रकार के जीवनवृत्त लिखने और प्रकाशित करने की परम्परा रामानन्दाचार्यमठ, पालडी, अहमदाबाद में अनेक वर्षों से चली आ रही है। कोसलेन्द्र मठनाम से स्थापित इस मठ से काशी के जगद्गुरु रामानन्दाचार्य जी पर अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं- इस मत का यह प्रयत्न तो है ही कि रामानन्द संप्रदाय को एक स्वतंत्र संप्रदाय के रूप में स्थापित बताया एवं सिद्ध किया जाए, रामानुजसंप्रदाय के अंग या उद्भव के रूप में नहीं। इसके साथ ही रामानन्द संप्रदाय की दार्शनिक सिद्धान्तभित्ति को भी सुदृढ बनाने का प्रयत्न यहाँ किया जाता रहा है।

इसी क्रम में जयपुर के एक विद्वान् कवि और गद्यकार पं. गोस्वामी हरिकृष्णशास्त्री ने "आचार्यविजयः" नामक चम्पूकाव्य में जगद्गुरु रामानन्दाचार्य का जीवन चरित विस्तार से लिखा जो १९७७ में कोसलेन्द्रमठ, पालड़ी, अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ। इसमें प्रमुखतः सरस, अलंकृत गद्य का ही प्रयोग है, कहीं-कहीं प्रसंगवश एक दो पद्य आ जाते हैं। इसमें आचार्य के जीवन का पूर्ण विवरण तो है ही, उनके दार्शनिक सिद्धान्तों का परिचय भी है, अलंकृत शैली में काव्यात्मक वर्णन भी हैं। यह प्रौढ़ गद्यरचना काव्यात्मक जीवनियों में इस गद्यग्रन्थ को प्रतिष्ठापित करती है। हरिकृष्ण शास्त्री इस मठ के सम्मानित विद्वान् ही थे, मठाधीश नहीं। बाद में इस मठ के आचार्य रामप्रपन्नाचार्य जी के शिष्य रामेश्वरानन्दाचार्य जी ने भी संस्कृत में अपने संप्रदाय के प्रचारार्थ ग्रन्थ लिखे। इन्हें एक विशालकाय ग्रन्थ में संकलित भी किया गया है। इसमें रामानन्दाचार्य जी का संस्कृतगद्य में जीवन चरित है। अन्य आचार्यों के जीवन चरित भी निबद्ध हैं। इस रामानन्दाचार्यजीवन में विमर्शात्मक, सहज गद्य है, घटनाओं का तिथियों सहित वर्णन है, संप्रदाय के सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। इसी कारण शैली में काव्यात्मक अलंकृत शैली के प्रयोग का प्रयास परिलक्षित नहीं होता। यह जीवनीग्रन्थ का ही शुद्ध उदाहरण कहा जा सकता है।

संस्कृत का साहित्यकार जिस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलनों का सुरुचि प्रेक्षक रहा है, उनका समर्थक रहा है, उनका इतिहासकार बना है, उसी प्रकार उसने राष्ट्रनेताओं को चरितनायक बनाकर अनेक उत्कृष्ट संस्कृत कृतियाँ भी लिखी हैं। महात्मा गांधी पर लिखे संस्कृत ग्रन्थों की कल्पना कष्टसाध्य है। गाँधी जन्मशताब्दी के अवसर पर गाँधी शान्ति

प्रतिष्ठान द्वारा एक ऐसी सूची निकाली गयी थी जिसमें गाँधी जी पर लिखे लगभग ३० महाकाव्यों तथा अन्य अनेक काव्यों की जानकारी थी। पंडिता क्षमा राव, भगवदाचार्य, चारुदेव शास्त्री, वासुदेव शास्त्री बागेवाडीकर, पंढरीनाथाचार्य आदि अनेक समर्थ सर्जक गाँधी जी का चरित्र पद्यबद्ध कर चुके हैं। उनपर संस्कृत गद्य में भी बहुत लिखा गया है। ठीक उसी प्रकार लोकमान्य तिलक, जवाहरलाल नेहरू, इन्दिरा गाँधी, सुभाष बोस, डॉ. राजेन्द्रप्रसाद, डॉ. राधाकृष्णन आदि राष्ट्रनेताओं, टैगोर आदि राष्ट्रकवियों, यहाँ तक कि जगदीशचन्द्र वसु आदि भारतीय वैज्ञानिकों तथा अपने-अपने क्षेत्रों के संस्कृत विद्वानों पर भी संस्कृत का लेखक कुछ न कुछ लिखता रहा है। इनमें से कुछ जीवनी ग्रन्थ हैं, कुछ जीवन परिचय देने वाले लेख, निबन्ध या लघुप्रबन्ध हैं। संस्कृत के युगपुरुषों की जीवनियां तो लिखी ही गई हैं, जैसा स्वाभाविक भी था। इनमें से अधिकांशतः तो पद्यबद्ध हैं किन्तु अनेक ललित सरल और प्रवाहपूर्ण गद्य में भी लिखी गई हैं। उदाहरण स्वरूप कुछ का संक्षित विवरण दिया जा रहा है।

जिस प्रकार पं. बासुदेव शास्त्री बागेवाडीकर ने "श्रीगान्धिचरितम्" शीर्षक से गाँधी जी की जीवनी लिखी, जिसकी भूमिका डॉ. श्रीप्रकाश ने लिखी थी और जो १९५९ में शोलापुर में छपी उसी प्रकार उन्होंने "श्रीतिलिकचरित्रम्" शीर्षक से लोकमान्य तिलक की जीवनी लिखी जिसकी भूमिका भूतपूर्व राज्यपाल माधव श्रीहरि अणे ने लिखी थी जो गांधिचरित से पूर्व तिलकजन्मशताब्दी के अवसर पर १९५६ में शोलापुर से ही छप चुकी थी। भूमिका में माधव श्रीहरि अणे ने लिखा है कि महात्मा गाँधी जिस प्रकार स्वतंत्रभारत के पिता हैं, उसी प्रकार लोकमान्य तिलक पितामह हैं और दादाभाई नौरोजी प्रपितामह हैं। सभी का गुणानुकीर्तन हमारा कर्त्तव्य है। लगता है इसके अनुसरण में संस्कृत लेखक ने सभी के जीवन चरित लिखे हैं। बागेवाडीकर के "श्रीतिलकचरित्रम्" में तथ्यनिरूपणात्मक दृष्टिकोण से एक इतिहासकार की दृष्टि का प्रमाण देते हुए कालक्रम से अपने चरित्रनायक का जीवन चरित्र लेखक ने सहज भाषा में स्वाभाविक शैली में निबद्ध किया है। इसी से यह भी ज्ञात होता है कि तिलक ने जिस प्रकार गीतारहस्य मॉडले जेल में लिखा था उसी प्रकार ब्रह्मसूत्र का भाष्य भी उन्होंने जेल में ही लिखा था। जीवन चरित अध्यायों में या शीर्षक-बद्ध खंडों में विभाजित नहीं है- केवल १, २, ३, और ४ क्रमांकों से ४ विभाग बना दिये गये हैं। इसी कलेवर में जन्म से मृत्यु तक लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के जीवन, संघर्ष और कृतित्व का तथ्यात्मक विवरण दे दिया गया है।

"तिलक" का यह वंशनाम वस्तुतः "टिलक" है। इसी कारण तिलक का एक अन्य जीवन चरित्र जो "मधुरवाणी" संपादक पंढरीनाथाचार्य गलगली द्वारा लिखा गया है, अपना नाम "लोकमान्यटिलकचरित्रम्" ही बताता है। तिलकजन्मशताब्दी के प्रसंग में शताब्दी समारोहानन्तर प्रकाशित यह जीवनचरित्र १५ अध्यायों में विभक्त है और जन्म से मृत्यु तक अपने चरित्रनायक का जीवनवृत्त सहज शैली में लेखबद्ध करता है। इसमें भी "बालाचार्य टिलक" रचित ब्रह्मसूत्रवृत्ति का उल्लेख है। यह भी बताया है कि "भारत छोड़ो" आन्दोलन

का नामकरण तिलक की ही देन थी जो वस्तुतः जगन्नाथ पंडितराज के प्रसिद्ध अन्योक्तिश्लोक की प्रेरणा का फल था। "स्थितिं नो रे दध्याः" का अर्थ, "रुको मत, छोड़ भागो।" जगन्नाथ पंडितराज का यह श्लोक लोकमान्य तिलक को इतना पसंद आया था कि उन्होंने इसे अपने मुखपत्र "केसरी" का आदर्शवाक्य ही बना लिया था। उसके प्रथम पृष्ठ पर यह पद्य छपता था -

"स्थितिं नो रे दध्याः क्षणमपि मदान्धेक्षण सखे
गजश्रेणीनाथ त्वमिह जटिलायां बनभुवि।
असौ कुंभभ्रान्त्या खरनखरविद्रावितमहा-
गिरिग्रावग्रामः स्वपिति गिरिगर्भे हरिपतिः।"

इसमें मस्त हाथी से कहा गया है कि इससे पहले कि पराक्रमी सिंह जो हाथी समझकर पहाड़ तक को चीर डालता है, जब तक सो रहा है तब तक भाग लो। पराक्रमी भारतीय जनता की उदासीनता समाप्त होते ही उसका आन्दोलन मदान्ध विदेशी शासन को रौंद डालेगा यह बताते हुए "भारत छोड़ो" की चेतावनी विदेशी शासन को देने का यह अद्‌भुत तरीका था लोकमान्य तिलक का। यही "भारत छोड़ो" आन्दोलन का प्रेरक था यह बात बहुत कम लोगों को मालूम होगी। "लोकमान्यतिलकचरित्रम्" इसी पद्य से और लेखक द्वारा स्थापित इसी बात से प्रारम्भ होता है। इसमें भी तिलक के जीवन, वैदुष्य, प्रेरणास्रोत, परिवार, कृतित्व, राष्ट्रीयता आन्दोलन में उनके संघर्ष आदि से लेकर उनके विचारों तक का विवरण देते हुए अन्त तक का वृत्त निबद्ध है। मुखपृष्ठ पर उनके चित्र में नीचे "महतस्तेजसो बीजं बालोऽयं प्रतिभात्यहो" मुद्रित है और "बालो" पर विशेष अंकन है। जीवनचरित्र लेखन की नई इतिहासाकलनात्मक शैली तथा चरितनायक का चित्र मुखपृष्ठ पर मुद्रित करने का औचित्य तिथि एवं स्थान के विवरण सहित महत्त्वपूर्ण घटनाओं का कालक्रमानुसारी विवरण देने की प्रवृत्ति जीवन चरित को पृथक् विधा मानने का अच्छा आधार बनता है यह ऐसे जीवन चरित्रों को देखकर स्वतः हो जाता है।

इस प्रकार "महात्मचरितम्" (पंढरीनाथपाठक, भूमिकालेखक पंढरीनाथाचार्य गलगली, "मधुरवाणी" संपादक) जैसे ग्रन्थों द्वारा जिस रूप में गाँधी जी की जीवनी लेखबद्ध की गई उसी प्रकार देश के बड़े-बड़े नेताओं के जीवन चरित्र पुस्तकाकार में प्रकाशित हुए। इसके अतिरिक्त विभिन्न राष्ट्रनेताओं की जीवनियाँ सरल संस्कृत में गद्यबद्ध कर प्रकाशित करने के भी अनेक प्रयास हुए। स्तोत्रों या प्रशस्तियों के रूप में तो संस्कृत कवि राष्ट्रनेताओं के समर्थन में काव्य बराबर लिखता ही रहा, "देशभक्तपंचकम्" आदि संकलनों में विभिन्न नेताओं को समर्पित काव्यों के संग्रह भी प्रकाशित होते रहे हैं, किन्तु छोटी-छोटी जीवनियों के रूप में राष्ट्रनेताओं के चरित्र भी प्रकाशित हुए हैं। "भारतीयनररत्नसमुच्चयः" ऐसा ही गद्यबद्ध जीवनी संकलन है। यह गुना (मध्य प्रदेश) के एक छोटे से उपनगर राधोगढ़ से गाँधी जी की जन्मतिथि पर सन् १६७६ में प्रकाशित हुआ था जिसमें तिलक, गाँधी,

मोतीलाल नेहरू, पटेल, टैगोर, नेताजी सुभाषबोस, राजेन्द्रप्रसाद, राधाकृष्णन और जवाहरलाल नेहरू की संक्षिप्त जीवनियाँ हैं। प्रत्येक जीवनी के साथ उस नेता को संबोधित एक संस्कृत गीति (प्रसिद्ध कवि रुद्रदेव त्रिपाठी) मालवमयूर के संपादक (द्वारा लिखित) मुद्रित है। प्रारम्भ में इसके संपादक रुद्रदेव त्रिपाठी ने भूमिका में बताया है कि राष्ट्रीयता आन्दोलन पर ही इतना (संस्कृत में) लिखा गया है कि उसका आकलन सरल नहीं है। उन्होंने स्वयं इस प्रकार के ५०-६० ग्रन्थ संकलित कर रखे हैं, पत्र-पत्रिकाओं में निकले ऐसे साहित्य का तो अन्त ही नहीं है।

जयपुर के कुछ संस्कृत विद्वानों के जीवन चरित्र लिखने का श्रृंखलाबद्ध प्रयत्न जयपुर से प्रकाशित संस्कृत मासिक पत्रिका "भारती" के संपादक पं. जगदीश शर्मा ने भी किया। पं. जगदीश शर्मा के पिता पं. बिहारीलाल शर्मा जयपुर के प्रसिद्ध संस्कृत विद्यापीठ महाराजा संस्कृत कालेज में साहित्य के आचार्य एवं विभागाध्यक्ष थे। उनका संस्कृतगद्यबद्ध जीवनचरित्र "विहारिस्मारिका" शीर्षक से उन्होंने लिखा जो जयपुर से प्रकाशित है। इसमें प्राचीन पंडितों की शैली की प्रौढ़ संस्कृत भाषा उल्लेखनीय है। जन्मकाल से लेकर निधन पर्यन्त समस्त महत्त्वपूर्ण घटनाओं का कालक्रम से विवरण देते हुए किसी विद्वान का जीवन चरित्र व्याकरणानुमत भाषा में किस प्रकार लिखा जाता है इसका उदाहरण प्रस्तुत करते हुए पं. जगदीश शर्माजी की लिखी अनेक विद्वानों की जीवनियाँ जयपुर से प्रकाशित हैं।

दक्षिण भारत के शास्त्रज्ञ विद्वान और यशस्वी प्राध्यापक पं. वीरेश्वर शास्त्री द्राविड जो वाराणसी होते हुए जयपुर आ बसे थे, जयपुर के मूर्धन्य विद्वानों में गिने जाते थे। इनका जीवन चरित्र उसी शैली में "वीरेश्वर-प्रत्यभिज्ञानम्" शीर्षक से राजस्थान संस्कृत अकादेमी से प्रकाशित हुआ, जिसमें पं. वीरेश्वरजी की डायरी का विवरण भी है और उनके प्रमुख शिष्यों का वर्णन भी लेखक (पं. जगदीश शर्मा) ने दिया है। महामहोपाध्याय पदवी से सम्मानित एक अन्य जयपुरीय विद्वान् जो लाहौर के प्रसिद्ध गवर्नमेंट संस्कृत कालेज में प्रोफेसर रहे, पं. शिवदत्त शर्मा दाधिमथ नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने निर्णय सागर से प्रकाशित अनेक ग्रन्थों तथा काव्यमाला के ग्रन्थ पुष्पों का सम्पादन भी किया था। इनकी जीवनी भी "शिवदत्तप्रत्याभिज्ञा" शीर्षक से पं. जगदीश शर्मा ने लिखी जो "भारती" मासिक में क्रमिक रूप से प्रकाशित हुई। इस प्रकार विद्वानों की जीवनियों का प्रकाशन भी एक सतत प्रक्रिया है।

विद्वानों के जीवनवृत्तों के संकलन के प्रयास भी उल्लेखनीय हैं। "कविचरितामृतम्" शीर्षक से संस्कृत के प्राचीन कवियोंके जीवनवृत्तों का एक संकलन म.म. पं. परेश्वरानन्द शास्त्री जी ने किया था जिसमें वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि कवियों के जीवन चरित्र निबद्ध थे, किन्तु यह बालपाठ्यपुस्तक के रूप में चरित्रात्मक निबन्धों का संकलन मात्र था किन्तु स्तरीय रचना, शुद्ध, ललित भाषा आदि को देखकर इसे अनेक विश्वविद्यालयों ने संस्कृत गद्य की पाठ्य पुस्तक के रूप में स्वीकृत कर लिया था। अर्वाचीन संस्कृत विद्वानों के जीवन चरित्रों का संस्कृत में निबन्धन भी अपेक्षित था।

राजस्थान के वरिष्ठ अर्वाचीन संस्कृत विद्वानों के जीवन वृत्त प्रेरणादायक होंगे इस उद्देश्य से "विद्वज्जनचरितामृतम्" शीर्षक से जयपुर के कलानाथशास्त्री द्वारा लिखित (ग्यारह) प्रसिद्ध विद्वानों के जीवनवृत्तों को सरल गद्य में निबद्ध संकलन कोणार्क प्रकाशन दिल्ली से सन् १९८३ में प्रकाशित हुआ। इसमें जयपुर के वेदविद्यावाचस्पति पं. मधुसूदन ओझा, म.म. पं. दुर्गा प्रसाद द्विवेदी, काव्यमाला संपादक म.म. पं. दुर्गाप्रसादशर्मा, म.म. पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, कविशिरोमणि भट्टमथुरानाथ शास्त्री, शेखावटी के पं. रामधारी शास्त्री, झालावाड के कवि गिरिधरशर्मा नवरत्न, जोधपुर के आशुकवि पं. नित्यानन्दशास्त्री और डूँगरपुर के पं. गणेशराम शर्मा के जीवन वृत्त सम्मिलित हैं। प्रारम्भ में भूमिका में लेखक ने राजस्थान में हुए संस्कृत लेखन का संक्षिप्त आकलन भी किया है। यह पुस्तक राजस्थान विश्वविद्यालय की बी.ए. कक्षाओं के लिए पाठ्यक्रम में भी नियत की गई थी जिससे संस्कृत में जीवनवृत्तों की उपादेयता प्रकट हुई थी। कलानाथशास्त्री ने भारत के प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र वसु की संक्षिप्त जीवनी एक लेख के रूप में "भारती" नामक संस्कृत मासिक पत्रिका (जयपुर) में १९५०-५३ के बीच लिखी थी जिसे उसी दशक में उत्तर प्रदेश माध्यमिक शिक्षाबोर्ड ने अपनी संस्कृतपाठ्यपुस्तक में संकलित कर इस बात का प्रमाण दिया था कि ऐसी छोटी-छोटी प्रेरक जीवनियाँ सरल संस्कृत में निबद्ध हों तो छात्रपाठ्य के रूप में भी बहुत उपयोगी हो सकती हैं।

संपादककुलगुरु अप्पाशास्त्री राशिवडेकर का जीवन चरित्र पं. वासुदेव शास्त्री औदुम्बरकर ने लिखा है जिसे शारदा पत्रिका ने अपने पन्द्रहवें वर्ष के विशेषांक और उपहारग्रन्थ के रूप में सन् १९७३ में प्रकाशित किया था। राशिवडेकर जन्मशताब्दी के उपलक्ष्य में निकला यह जीवनचरित्र न केवल विस्तार से चरित्रनायक के व्यक्तित्व और कृतित्व का सरल सुललित और प्रवाहपूर्ण संस्कृत में विवरण देता है, बल्कि स्थान-स्थान पर अप्पाशास्त्री के उद्धरण देते हुए उनके कृतित्व का परिचय भी देता है, उनके संबन्ध में अन्य विद्वानों के उद्गारों को भी उद्धृत करता है तथा सारणियों के रूप में अप्पाशास्त्री के जीवन की घटनाओं को संकलित करने के अतिरिक्त अप्पाशास्त्री के साहित्य को भी सूचीबद्ध करता है। इसे संस्कृत जीवनी लेखन का एक अनूठा नमूना कहा जा सकता है।

लगभग ३०० पृष्ठों का यह ग्रन्थ पूर्वपर्व, प्रथमपर्व, मध्यमपर्व, उत्तमपर्व, उत्कृष्टपर्व, उत्तरपर्व और पश्चिमपर्व नामक ७ भागों में विभक्त है। पूर्वपर्व में तत्कालीन भारत की स्थिति तथा अप्पाशास्त्री से पूर्व तक की संस्कृत की स्थिति की पृष्ठभूमि दी गई है। प्रथमपर्व में अप्पाशास्त्री की जन्मभूमि, पर्वपरम्परा, जन्म, बाल्यकाल आदि का विवरण है। इसमें प्राचीन परम्परा के चरित्रलेखन की शैली में जन्मकुण्डली भी दी गई है और आधुनिक परम्परानुसार उनके मानस पर पड़े प्रभावों का भी चित्रण है। अप्पाशास्त्री ने अपना लेखकीय जीवन किस प्रकार शुरू किया इसका विवरण तत्कालीन पत्रिकाओं में प्रकाशित विज्ञप्तियों को उद्धरण देते हुए लेखक ने दिया है।

मध्यमपर्व में संस्कृतचन्द्रिका का प्रारम्भ, अप्पाशास्त्री का बहुआयामी लेखन, उनका

सम्मान, यशःप्रसार, पत्रकारिता में दक्षता और देशव्यापी कीर्ति आदि का वर्णन है। उत्तमपर्व में संस्कृतचन्द्रिका में लिखने वाले प्रतिष्ठित विद्वानों से पत्राचार, संपर्क, प्रतिक्रियाएँ, पत्रिका के आयामों में विस्तार, आर्थिक कठिनाइयाँ, विभिन्न संस्थाओं द्वारा "चन्द्रिका" का अभिज्ञान, सम्मान स्वीकार आदि का विवरण है। इसमें चन्द्रिका के अंकों से उद्धरण देते हुए यह परिदृश्य भी चित्रित किया गया है कि उस समय देश में कौन-कौन सी संस्कृत पत्रिकाएँ प्रमुख थीं और चन्द्रिका की सहयोगिनी थीं। अप्पाशास्त्री लिखित ग्रन्थों का, अनुवादों का, महाभारत तथा विष्णुपुराण आदि के उनके द्वारा लिये मराठी अनुवाद का तथा समय-समय पर उनके द्वारा तत्कालीन घटनाओं पर की गई टिप्पणियों का अच्छा विवरण है। लॉर्ड कर्जन ने जब भारतीयों की आलोचना में कुछ उद्गार व्यक्त किये तो उसके विरोध में अप्पाशास्त्री ने यह उल्लेख करते हुए कि कर्जन साहब के देश वाले भारतीयों की कितनी प्रशंसा कर चुके हैं, उन्हीं के तर्कों से उनका अनौचित्व स्पष्ट करने वाली टिप्पणी लिखी थी। इस प्रकार की टिप्पणियों को लेखक ने उद्धृत कर यह सिद्ध करना चाहा है कि "संवादनिबन्धने कृतहस्ता अप्पाशास्त्रिर्णा लेखनी समुचिताभिप्रायाविष्करणे दीक्षिता आसीत् तथा अनुतिष्ठद्भिः न एतैः गणिताः शासका अपि। संदृश्यताम् एतत् एकादशखंडीये संवादसंग्रहे विद्योतमानं संवादाभिप्रायरत्नम्।' लेखक ने इसी प्रकार की सरल शैली का प्रयोग किया है। कठिन सन्धि, समास आदि से उसने बचने का प्रयास किया है।

अप्पाशास्त्री ने सिद्ध किया था कि चेचक का टीका पाश्चात्त्यों ने ही खोज निकाला हो ऐसा नहीं है आयुर्वेदग्रन्थों में "गोस्तन्यमसूरिकावेध" का जो संकेत मिलता है उससे स्पष्ट है कि हमारे यहाँ भी ऐसा वैक्सीनेशन किया जाता था। गोस्तन्यमसूरिका का धार्मिक आधार पर विरोध करने वाले केरलीयों के प्रतिवाद में अप्पाशास्त्री ने यह आलेख लिखा था। इसका विवरण लेखक ने दिया है "लसीकावेधो भारतीयानाम् आयुर्वेदीयः" उपशीर्षक से। अध्यायों में छोटे-छोटे प्रसंगों को उपशीर्षकों द्वारा विभाजित करने की पत्रकारीय प्रक्रिया से विभाजित यह जीवनी संप्रेषण और सुखावबोध के पूर्णतः अनुकूल है। उपशीर्षक अंकों द्वारा क्रमांकित भी कर दिये गये हैं।

तत्कालीन घटनाओं के उल्लेखों के उद्धरण लेखक ने तिथि वर्ष आदि सहित दिये हैं जो शोधार्थियों के लिए तो उपयोगी हैं ही, विवरण को प्रामाणिक भी बनाते हैं और ऐतिहासिक महत्त्व के सिद्ध होंगे। उत्कृष्ट पर्व में सूनृतवादिनी साप्ताहिक पत्रिका का प्रारम्भ किस प्रकार किया गया इसका पूर्ण विवरण, पत्रिका के मुखपृष्ठ की प्रतिकृति तथा टिप्पणियों के उद्धरण सहित दिया गया है। अन्य विद्वानों के उद्गारों, अप्पाशास्त्री के मनोभावों आयोजनों तथा घटनाओं का रुचिकर वर्णन पाठक को बाँधे रखता है। वाई और कोल्हापुर की संस्कृत जगत् संबंधी घटनाओं के विवरण के साथ अप्पाशास्त्री की मान्यताओं, प्रगतिशील सुधारवादी और सुलझे हुए विचारों का चित्रण करते हुए लेखक उनके द्वारा संस्कृत प्रेस खरीदना और स्थापित करना, विभिन्न संस्थाओं की स्थापना और प्रेरणा आदि का वर्णन भी करता है। स्वतंत्रता आन्दोलन का समर्थन करके अप्पाशास्त्री ने राजकोप भी

झेला था जिसके फलस्वरूप उन्हें कोल्हापुर छोड़ना पड़ा था। वे मराठी पत्रिकाओं में भी लिखते थे और प्रतिष्ठित पत्रकार के रूप में भारत में जाने जाते थे।

जीवनीलेखक ने अप्पाशास्त्री के जीवन परिचय के साथ ही तत्कालीन स्थितियों के चित्रण के उद्देश्य से तत्कालीन प्रमुख संस्कृतलेखकों के नाम भी उद्धृत किये हैं, विज्ञानचिन्तामणि, विद्योदय, सद्धर्म, संस्कृतरत्नाकर, सहृदया, मंजुभाषिणी, विद्वद्गोष्ठी, विचक्षणा, विद्वत्कला, काव्यकादम्बिनी आदि तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं के नाम भी उद्धृत किये हैं और चरित्रनायक की अनेक संपादकीय टिप्पणियों को भी उद्धृत किया है। एक स्थान पर तो तत्कालीन भारतीय भाषाओं व अंग्रेजी की पत्र-पत्रिकाओं की भी सूचना लेखक ने इसी दृष्टिकोण से दे दी है कि उस समय के पत्रकारिता परिवेश की जानकारी पाठक को हो सके।

जीवनीलेखक की भूमिका को चरितार्थ करते हुए लेखक चरित्रनायक के व्यक्तिगत जीवन की पारिवारिक घटनाओं को भी यथार्थ रूप से अभिलिखित करता है, उदाहरणार्थ, उत्तरपर्व के आरम्भ में वह यह वर्णन करते हुए कि तीन विवाह करने के बाद भी जब अप्पाशास्त्री अपनी तृतीय पत्नी के एक सन्तान को जन्म देने के बाद दिवंगत हो जाने के कारण अकेले रह गये यह स्पष्ट करता है कि अपनी माता के कहने से उन्होंने १८३२ शाके में चौथा विवाह किया। उस समय उनकी आयु ३७ वर्ष की थी। उस समय की एक दिलचस्प घटना को जनश्रुति से सुनकर लेखक ने अंकित किया है कि नाना पहलवान नामक एक अतिथि ने विवाह समारोह की भोजन पंक्ति में जलेबियों से भरी एक बड़ी तपेली खा ली थी। उत्तरपर्व में चरित्रनायक के वार्धक्य की घटनाएँ तथा पत्राचार लेखन आदि से सम्बद्ध जानकारी निबद्ध की है। उनकी माता का निधन हो गया। जब उनके साथियों ने पुनः उनसे विवाह का आग्रह किया तो उसे न टाल पाने के कारण उन्हें यह स्वीकार करना पड़ा। अन्ततः औदुम्बर ग्राम के पं. नारायणशास्त्री की चतुर्दशवर्षीया कन्या वत्सला के साथ उन्होंने ४० वर्ष की आयु में फिर विवाह किया। उत्तरपर्व में अप्पाशास्त्री की दिनचर्या, शौक, आदत आदि का विवरण देकर २५ अक्टूबर १९१३ को उनके निधन का समाचार देते हुए लेखक ने अध्याय की समाप्ति की है। फिर पश्चिमपर्व नामक अन्तिम अध्याय में उनके निधन पर देश के विद्वानों, संस्थाओं, पत्रिकाओं, महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों आदि के शोकोद्गार उद्धृत हैं। साथ ही सारणी के रूप में उनके जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं की तिथियाँ, उनकी रचनाओं के विवरण आदि हैं। इसका शीर्षक है "अप्पाशास्त्रिजीवनालेखः। अन्त में अकारादिक्रम की अनुक्रमणिका भी है। संक्षेप में जीवनपरिचय के रूप में संस्कृत जीवनी एक प्रतिमान के रूप में प्रस्तुत की जा सकती है। शारदा पत्रिका द्वारा समय-समय पर प्रकाशित विशेष उपहारग्रन्थों की "शारदागौरवग्रन्थमाला" का यह एक महत्त्वपूर्ण पुष्प है। जिस विद्वान् पत्रकार ने केवल ४० वर्ष की आयु पाने के बावजूद संस्कृत पत्रकारिता के इतिहास के स्वर्णिम अध्याय लिख डाले उसका जीवन एक समूचे जीवनीग्रन्थ के योग्य है यह सिद्ध करते हुए सहज संस्कृत में सभी महत्त्वपूर्ण

चरित्रतत्त्वों, तथ्यों, परिवेश चित्रण हेतु आवश्यक संदर्भों और उद्धरणों व तिथियों से सम्मिलित यह जीवनवृत्त इस बात का प्रयास है कि संस्कृत में सभी नवीनतम साहित्य विधाओं की अवतारणा हो रही है।

वैसे पहले से ही संस्कृत पंडित विभिन्न सत्ताधारियों के चरित्रलेखन के क्रम में अंग्रेजों तक की जीवनी लिखते रहे हैं। रानी विक्टोरिया पर "वरूथिनीचम्पू" नामक जीवनी चम्पूविधा में लिखी बताई जाती है जो गुरुप्रसन्नभट्टाचार्य लिखित है। "शोकमहोर्मिः" नाम से विक्टोरिया के निधन पर जो शोकोद्गार पं. कुलचन्दशर्मा ने व्यक्त किये थे, वे भी गद्य-पद्य में, वाराणसी से सन् १९०२ में छपे बताये गये हैं।

आत्मकथा : संस्कृत में आत्मकथाएँ भी लिखी गई हैं यद्यपि उनकी संख्या बहुत कम है। प्रकाशित आत्मकथाओं में बहुत कम की जानकारी फैल पाई है। आत्मकथा दो प्रकार की हो सकती हैं। एक तो वे किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के अपने जीवन का वृत्त स्वयं अभिलिखित करने की दृष्टि से लिखी हों जैसे गाँधी जी की आत्मकथा, जिसका उन्होंने (अंग्रेजी मूल) शीर्षक रखा था "माई एक्सपेरिमेंट्स विथ ट्रुथ" या इसी प्रकार के विशिष्ट व्यक्ति के आत्मचरित, जिसमें अपने जीवन का यथार्थ चित्रण या अभिलेख उन्होंने लिपिबद्ध किया हो। दूसरे प्रकार की आत्मकथाएँ वे भी हैं जो यथार्थवृत्त तो लिपिबद्ध नहीं करती हैं किन्तु एक कल्पित पात्र के द्वारा किसी भी नाम से उसकी आत्मकथा के रूप में लिखी गई हों जबकि वस्तुतः वे उस पात्र के उद्भावक अर्थात् उस तथाकथित आत्मकथा के लेखक द्वारा लिखा एक काल्पनिक कथानक ही है, उसमें लेखक के स्वयं के जीवन के कुछ छायाचित्र या प्रभाव परोक्ष रूप से चाहे प्रतिफलित हो जाते हों- जैसे "बाणभट्ट की आत्मकथा" आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का लिखा आत्मकथा शैली का उपन्यास है, जिसमें बाणभट्ट ने अपनी आत्मकथा किस प्रकार लिखी है यह बतलाने के लिए पहले ऐसा रूपक रचा गया है कि बाणभट्ट की लिखी आत्मकथा किसी को मिल गई, वह यही है आदि। इस दूसरी विधा की आत्मकथाएँ संस्कृत में लिखी गई हैं जो किसी लेखक ने अपने द्वारा उद्भावित किसी पात्र की आत्मकथा के रूप में लिखी हैं और जिनमें सर्जनात्मक प्रतिभा प्रतिफलित भी हुई है किन्तु वे आत्मचरित नहीं हैं।

ऐसी आत्मकथाओं को उपन्यास ही माना जाता है अतः हमने उनका संकेत उपन्यास के अध्याय में दिया है। विद्योदय के संपादक पं. हृषीकेश भट्टाचार्य का लिखा "आत्मवायोरुद्गारः" ऐसी ही एक आत्मकथा है। उन्होंने आटोबायोग्राफी के अनुवाद के रूप में ही आत्मवायोरुद्गारः शब्द उद्भावित किया है और उसमें बताया है कि दुर्गानन्दस्वामी नामक किसी विचित्र चरित्र के विद्वान् ने अपने जीवन की संस्कृत वैदुष्य संबंधी घटनाओं को किस प्रकार लिपिबद्ध किया था और उसने अपनी आत्मकथा लिखने के लिए ही यह उपक्रम किया था। ये दुर्गानन्द स्वामी हृषीकेश भट्टाचार्य जी की कल्पना के ही उत्पाद हैं। कुछ विद्वानों ने इसे आत्मकथात्मक चम्पू मान लिया है।

इसी प्रकार कलानाथ शास्त्री ने "संस्कृतोपसिकाया आत्मकथा" लिखी है जो एक संस्कृत की अध्येत्री महिला की कैशोर्य से लेकर यौवन तक की आत्मकथा शैली में लिखा विवरण है जो मनोरंजक उपन्यास का ही प्रकार है यद्यपि उसका शीर्षक "आत्मकथा" है। आत्मकथा की लेखिका कल्पना लेखक की कल्पना की उपज है। यह मानसी कल्पना का उद्भव ही था इसी को संकेतित करते हुए लेखक ने जब इसका जयपुर की संस्कृत मासिक पत्रिका "भारती" में धारावाहिक प्रकाशन करवाया तो इसकी लेखिका का नाम "मानसी" छपता था। यह "मानसी" नामक लेखिका भी लेखक की कल्पना से प्रसूत थी।

इस प्रकार की उपन्यास विधा में लिखी तथाकथित आत्मकथाएँ आत्मचरित नहीं कही जा सकतीं। जिन लेखकों द्वारा आत्मचिरत लिखे गये हैं उनमें डॉ. मंगलदेव शास्त्री, पं. रमेशचन्द शुक्ल आदि का नाम लिया जाता है। किन्हीं श्री तपोवनस्वामी (१८६६-१६५६) की आत्मकथा चम्पूविधा में लिखी भी बताई गई है जिसमें कवि ने अपना आत्मचरित भी लिखा है और उसके साथ-साथ ईश्वरसिद्धि, जैसे विषयों पर प्रासंगिक टिप्पणी देते हुए आध्यात्मिक रुझान भी दिया है। इसमें पद्यांश अधिक है। आत्मकथा का शीर्षक "तपोवनचरितम्" अपरनाम ईश्वरदर्शनमू" है। अपनी शिक्षा-दीक्षा, अंग्रेजी व संस्कृत का अध्ययन आदि वृत्तान्त "उल्लासों" में विभक्त हैं। प्रथम खण्ड में दस, द्वितीय खंड में बीस उल्लास हैं।

पत्रसाहित्य : एक उत्कृष्ट लेखक द्वारा अपने मित्रों या अन्य विद्वानों आदि को लिखे गये पत्रों को भी गद्य साहित्य की एक विधा मानने की परम्परा कुछ भारतीय और भारतीयेतर भाषाओं में है। इसका कारण तो यही है कि जिस प्रकार एक ललित निबन्ध में किसी भी विषय या विषयों पर लेखक अपने आपको अभिव्यक्त करता है तो उत्कृष्ट लेखक होने के नाते उसकी शैली का लालित्य, अभिव्यक्ति का अनूठापन और उक्तिभंगी उसे साहित्य का ही एक पठनीय प्रकार बना देती हैं उसी प्रकार अपने पत्र में एक लेखक अपनी बात को आत्मीय और अन्तरंग क्षणों में व्यक्त करते हुए भी अभिव्यक्ति-सौष्ठव के लिहाज से साहित्यिक रचना जैसी ही करता चलता है यह मानकर अच्छे साहित्यिक पत्रों को स्थायी साहित्य का अंग मानना उचित समझा गया। यह सही है कि प्राचीन काल में चाहे डाक व्यवस्था नहीं रहीं हो, किन्तु पत्रों के आदान-प्रदान का इतिहास बहुत पुराना है। शकुन्तला के दुष्यन्त को पत्र लेखन की तरह अनेक पत्रों का हवाला तो काव्यादि में मिलता ही है, विद्वानों, राजाओं आदि द्वारा परस्पर संदेशों का आदान-प्रदान करने चले पत्रों तथा पंचनामा या निर्णय पत्र जैसे पत्रों का भी उल्लेख और अस्तित्व मिलता है। धार्मिक या सामाजिक निर्णय कुछ विद्वानों के समूह द्वारा किये गये हों, तो उनके निष्कर्ष अंकित कर उन पर हस्ताक्षर "स्वहस्तोऽयं मम" जैसी अभिव्यक्तियों से या "अभिमतं गागाभट्टस्य", या "संमतिर्मम श्रीनिवासशास्त्रिणः" जैसे संकेतों से होते थे।

मिर्ज़ाराजा जयंसिंह (जयपुर नरेश) और शिवाजी के बीच का पत्राचार संस्कृत में हुआ या उसका अनुवाद संस्कृत में हुआ यह कहा नहीं जा सकता, किन्तु ऐसे संस्कृत पत्राचार कुछ दशक पूर्व एक संस्कृतपत्रिका में प्रकाशित हुआ था। सवाई जयसिंह (जयपुर

नरेश) के समय "कृष्ण की राधा परकीया थी या स्वकीया थी" इस पर विद्वानों का विमर्श हुआ था। इसी क्रम में सवाई जयसिंह ने विभिन्न विद्वानों के अभिमत मँगवाये थे। पं. श्यामाचरण सुबलानन्द, जगन्नाथ, गोपीरमण आदि विद्वानों का एक पत्र सुन्दर संस्कृत गद्य में इसी के उत्तर में उन्हें लिखा मिला है जिसमें राधा और कृष्ण के रहस्यात्मक सनातन संबंध को स्पष्ट किया गया है। इसी प्रकार श्रीचैतन्य क्या श्रीकृष्ण के ही अवतार थे ? इस विषय पर एक चैतन्यसम्प्रदायी विद्वान् का सुललित संस्कृत गद्य में निबद्ध पत्र, जयपुर नरेश को भेजा हुआ जयपुर के रिहायसी व्यक्तिगत पुस्तकालय "पोथीखाना" में उपलब्ध है। इसके उद्धरण मुद्रित भी हैं।

विद्वानों के पारस्परिक पत्राचार में जहाँ व्यक्तिगत समाचारादि ही न होकर कोई विमर्श बिन्दु भी है और अभिव्यक्ति की भाषा उत्कृष्ट है वह साहित्य का अंग होने लायक विधा होगी ही, यह आसानी से कहा जा सकता है। ऐसे ही कारणों से पत्रसाहित्य भी गद्यविधा का एक प्रकार माना जाता है। किन्तु संस्कृत के साथ यह विशिष्ट स्थिति है कि यहाँ पत्रलेखन का जो इतिहास मिलता है उसमे पद्य का ही प्रयोग अधिक है, गद्य का बहुत कम। शकुन्तला का दुष्यन्त को पत्र भी कालिदास ने आर्या में लिखवाया है, बाणभट्ट ने पुंडरीक का महाश्वेता को पत्र भी आर्या में लिखवाया है।

आधुनिक काल में भी विद्वानों का बहुत सा पत्राचार पद्य में ही हुआ है। सन् १८३५ में मेकाले द्वारा प्रतिपादित शिक्षानीति के विरुद्ध कलकत्ता की एक पाठशाला के विद्वानों ने अपने विद्यालय के बन्द होने की स्थिति का करुण चित्रण करते हुए एक पत्र एच.एच. विल्सन को लिखा था। विल्सन ने उसका उत्तर भी उसी प्रकार संस्कृत में दिया था। पाठशाला बन्द होने से बच गई थी। यह पत्राचार संस्कृत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में उल्लेखनीय है। यह भी पद्यों में हुआ है इसी में विल्सन की वह प्रसिद्ध उक्ति है जिसे अयोध्या के "संस्कृतम्" पत्र ने अपना मुखवाक्य बनाकर हर अंक में छापा था।

"यावद् भारतवर्षं स्याद् यावद् विन्ध्यहिमाचलौ।
यावद् गंगा च गोदा च तावदेव हि संस्कृतम्।।"

इस प्रकार संस्कृत के आधुनिक पत्र-साहित्य में भी बहुत सा पद्यबद्ध होने के कारण पद्यखंड में विवरण का अधिकारी है। कुछ शोध विद्वानों ने ऐसे साहित्य का संकलन और उस पर अध्ययन प्रस्तुत भी किया है। अनेक आधुनिक विद्वानों का गद्य में भी पत्राचार हुआ है। उसके संकलन, अध्ययन आदि के प्रयास किये जा रहे हैं। "विद्योदय" और "संस्कृतचन्द्रिका" जैसे पत्रों में भी विद्वानों के ऐसे पत्र प्रकाशित होते रहते थे जो किसी विषय विशेष पर अपना मत रखने हेतु लिखे जाते थे।

इनमें बहुत से सुललित, विचारात्मक, सहजसंप्रेषक गद्य में हैं और अपनी विशिष्ट शैली के कारण साहित्य की एक विधा के रूप में गणनीय लगते हैं। "संस्कृतरत्नाकर", "भारती" आदि पत्रिकाओं में भी ऐसे पत्र छपे हैं। जैसा हमने हृषीकेश भट्टाचार्य के निबन्ध

साहित्य के विश्लेषण के प्रसंग में उल्लेख किया था, उन्होंने एक काल्पनिक गद्यशैली के उद्भव की दृष्टि से ही एक कल्पित पात्र के नाम एक पत्र लिखा था, उस पात्र के उत्तर की भी कल्पना की थी। वह पारस्परिक पत्राचार एक विशिष्ट रस की सृष्टि करता है अतः यह भी एक विधा है किन्तु जब पत्रलेखक वास्तविक न हो तो उसे पत्र-साहित्य न मानकर ललितनिबन्ध या कथा साहित्य का अंग ही माना जाता है। इस दृष्टि से ऐसा साहित्य पत्रलेखन विधा में नहीं आएगा।

संस्कृतचन्द्रिका में अप्पाशास्त्री राशिवडेकर ने यह प्रथा भी चलाई थी कि किसी पाठक विशेष की जिज्ञासा किसी बिन्दु पर होती और पत्र द्वारा उसने उसे अभिव्यक्त किया होता तो वह पत्र ही ज्यों की त्यों वे छाप देते थे। उसके उत्तर में कोई अच्छा समाधान प्राप्त होता था तो उसे भी ज्यों का त्यों छाप देते थे। ऐसे पत्रों से विचारों के आदान-प्रदान का एक विशिष्ट और मौलिक आकर्षण उद्भूत हो जाता था। उदाहरणार्थ, संस्कृतचन्द्रिका के नवम वर्ष में किसी जिज्ञासु ने शंका की थी कि किरातार्जुनीय के दशम सर्ग के १३ वें श्लोक में "सदृशमतनुमाकृतेः प्रयत्नं" इत्यादि में मल्लिनाथ ने एकावली अलंकार बतला दिया है जो ठीक नहीं लगता। इसका उत्तर तिरुवल्लुवर के अ.नारायणशर्मा ने अपने पत्र दि. आश्विन वदि ३० को दिया। इसे तथा इसके सहगामी पत्र को अप्पाशास्त्री ने नवमवर्ष के अन्तिम संयुक्तांक में अविकल छाप दिया ("प्राप्तपत्रद्वयम्" शीर्षक से) सहयोगी पत्र यों है-गुरुभ्यो नमः।

शुभकृत्-विरुवालूर आश्विनवदि ३० स्वस्ति श्रीमति कोल्हापुरनगरे संस्कृतचन्द्रिकायाः सहकारिसंपादकान् तत्रभवतो महाशयान् अप्पाशास्त्रिविद्यावाचस्पतीन् अ.नारायणशर्मा सप्रणामं प्रार्थयते। यथा-अतीतायां चन्द्रिकायां केनापि जिज्ञासुना किरातार्जुनीयपद्यस्य सदृशमतन्वित्यस्य व्याख्यायां महामहोपाध्यायमल्लिनाथकृतायां यदाशंकि तत्र यथामति यदधो मया लिख्यते तद् यदि प्रकटनार्हं भवेत् तर्हि पत्रिकायां तस्यावकाशदानेन मामार्योऽनुगृह्णन्त्विति। सर्वं शिवम्। भवतां विधेयो अ. नारायणशर्मा" इसके बाद "जिज्ञासोरुत्तरम्" उपशीर्षक से यह समाधान है कि यहाँ जो एकावली अलंकार मल्लिनाथ ने बताया है वह संगत ही है। यह उत्तर भी संक्षिप्त है। कुल २६ पंक्तियों में है।

इसी में एक अन्य पत्र है काव्यामाला संपादक म.म. पं. दुर्गाप्रसाद शर्मा के पुत्र पं. केदारनाथ शर्मा का जिसमें उन्होंने सूचित किया है कि वात्स्यायन के कामसूत्र का संपादन और प्रकाशन उन्होंने निर्णयसागर प्रेस से करवाया था, प्रतियाँ प्राप्त हो गई थीं, अतः पुनः छपवा दी गई हैं जो उनके पास ४ रु. ६ आने में उपलब्ध हैं। इच्छुक लोग उनके पते से मँगवा सकते हैं। इस ग्रन्थ को शालीन ढंग से छापा गया है, कहीं कोई अभद्रता नहीं है आदि। इसे भी ज्यों की त्यों पत्र के रूप में छाप दिया गया है। ऐसे पत्र "पत्रसाहित्य" में गिने जा सकते हैं। ऐसे पत्रों का प्रकाशन संस्कृत की पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर होता रहा है। कभी-कभी इसमें पारस्परिक उत्तर-प्रत्युत्तर और घात-प्रतिघात भी देखने को मिलते थे, जिनका स्वाद अलग ही होता था। संस्कृतरत्नाकर पत्र में (जयपुर) में मधुसूदन ओझा के

पुत्र प्रद्युम्न शर्मा और ओझा जी के शिष्य नवलकिशोर कांकर के बीच उपालंभों का आदान-प्रदान बड़ी रोचक शैली में हुआ था। दोनों मनोरंजक संस्कृत गद्य में लिखे गये थे।

आधुनिक संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं में से बहुत सी ऐसी हैं जिन्होंने पाठकों के पत्रों का स्तम्भ ही प्रकाशित करने की परम्परा चला रखी है। काशी की पत्रिकाओं "अमरभारती", "सूर्योदयः" "सुप्रभातम्" "सारस्वती सुषमा" आदि में भी किसी न किसी रूप में पत्र छपते रहते थे यद्यपि अलग से स्तम्भ उनमें पत्रों का नहीं था। पूना की "शारदा" पत्रिका में नियमित रूप से वसन्त गाडगिल (संपादक) पाठकों के पत्रों को प्रकाशित करते रहते थे जो उन्हें संबोधित होते थे। इनमें से बहुत से व्यक्तिगत पत्र भी होते थे- जैसे वसन्त जी के एक भयानक सड़क दुर्घटना में आहत हो जाने या स्वस्थ हो जाने पर उन्हें लिखे गये पत्र या उनके अपने प्रशंसकों को लिखे गये पत्र। इनमें पत्राचार का वह अन्तरंग पक्ष भी स्पष्ट हो जाता है जो पत्र साहित्य के अपने विशिष्ट मौलिक स्वरूप को व्यक्त करता है। मथुरा से निकलने वाली "व्रजगन्धा" (संपादक वासुदेव कृष्ण चतुर्वेदी) में भी संपादक को संबोधित पत्र छपते हैं। दिल्ली से प्रकाशित "अर्वाचीनसंस्कृतम्" में भी पत्र छपते हैं।

व्रजगन्धा के संपादक वासुदेव कृष्ण चतुर्वेदी ने छठे वर्ष के चतुर्थांक में स्वामी दयानन्द सरस्वती के एक दुर्लभ अप्रकाशित पत्र को उद्धृत कर उसकी समीक्षा भी प्रकाशित की है। यह पत्र पूर्णतः निजी है, बोल-चाल की या पत्राचार की संस्कृत भाषा में है और उसी प्रकार लिखी गई लिपि में है, जिस प्रकार पुराने पंडित परसवर्ण प्रयोग को प्राथमिकता देते हुए तथा अनुस्वार को अपर्याप्त मानते हुए लिखा करते थे। नमूना यों है।

श्रीरस्तु । स्वस्ति श्री श्रेष्ठोपमायोग्याय गंगादत्तशर्मणे दयानन्दसरस्वतीस्वामिन आशीर्वादो विदितो भवत्वत्र शं वर्तते तत्राप्यस्तु।। भवत्पत्रमागतं तत्रस्थो वृत्तान्तोऽपि विदितः। भवान् बुद्धिमान् पत्रं तु प्रेषितवान् परन्तु स्वयं च पत्रप्रेषणवन्नागत इदम्महदाश्चर्यम्।। इदम्पत्रन्दृष्ट्वैव शीघ्रमागन्तव्यमागत्य यस्मिन्दिने पाठशालायाम्पाठनारम्भं करिष्यति तस्मिन्नेव दिने एकमासस्य विचारितस्य तु प्रेषणङ्गृहम्प्रति कार्यमिति निश्चयो वेदितव्यो नात्र कार्या विचारणा।। इयं शङ्काऽपि भवता न कार्या जीविका तत्र भवेद् वा नेति।। इदानीन्तु प्रतिदिनम्मुद्रैका जीविकास्त्यत्र परन्तु यदा यदाभवतो गुणप्रकाशो भविष्यति तदा तदधिकाधिका जीविका निश्चिता भविष्यतीति विज्ञेयम्। इदानीन्तु भवतात्रैव स्थितिः कार्या पुनरन्यत्र वात्रैवाजीविका निश्चिता स्थास्यति न जाने भवेदाजीविका न वेति गमने कृते सति समयीति भवतोऽपि शंकाऽपि माभूत्।। अत्रागमने कृते सति भवति सर्वं शोभनम्भविष्यति।। परन्तु भवतात्रागमने क्षणमात्रोऽपि विलम्बो न कार्यः किम्बहुना लेखेनाभिज्ञेषु। संवत् १६२७ भाद्रपदशुक्लषष्ठ्यां वृहस्पतिवासरे लिखितमिदम्पत्रं विदितम्भवतु।

इस पत्र में स्वामी दयानन्द ने अपने मित्र गंगादत्त चतुर्वेदी को अपने पास पाठशाला में अध्यापक पद पर बुलाने का तकाजा किया है। यह प्रसिद्ध है कि स्वामी जी व्यक्तिगत पत्राचार में और बोलचाल में संस्कृत का बहुत प्रयोग करते थे। अनेक ग्रन्थ उन्होंने हिन्दी में लिखे हैं, पत्रादि भी हिन्दी में लिखे हैं, प्रवचन भी हिन्दी में दिये हैं किन्तु दंडी विरजानन्द

के पास मथुरा में पढ़ने के समय से ही बोलने-लिखने का अभ्यास उन्होंने किया था, इस पत्र में उसी प्राचीन पंडितक्षुण्ण पद्धति से संस्कृत लिखी गई है। ज्ञ और क्ष का उसमें प्रयोग न कर उन्होंने ज्ञ और क्ष ही लिखा है, यह अवश्य नई बात है।

"आधुनिक संस्कृत साहित्य" ग्रन्थ के लेखक डॉ. हीरालाल शुक्ल ने ऐसे अनेक विद्वानों का उल्लेख किया है जिनके समय-समय पर लिखे पत्रों के संग्रह के प्रयत्न हुए हैं। उदाहरणार्थ केरल नरेश के आस्थान विद्वान् राजराजवर्मा कोइतम्बुरन् के अपने आश्रयदाता को लिखे पत्रों और नरेश द्वारा उन्हें लिखे पत्रों का संग्रह तिरुअनन्तपुरम् के संग्रहालय में बताया गया है। इसी प्रकार दरभंगानरेश के आस्थान कवि चित्रधर मिश्र के पत्र दरभंगा शोध संस्थान में बताये गये हैं। राजराजवर्मा उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण में हुए थे। केरल वर्मा उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध मे हुए और उन्होंने भी अनेक विद्वानों को संस्कृत में पत्र लिखे, जिनका प्रकाशन "राजकीयलेखमाला" (त्रिवेन्द्रम) में हुआ भी है। किन्तु इसमें से प्रायः सभी संस्कृत पद्यों में हैं।

अप्पाशास्त्री राशिवडेकर का पत्राचार देश के बहुत से संस्कृत पंडितों से निरन्तर होता रहता था। इनमें से अधिकांश गद्य में हैं। यद्यपि अप्पाशास्त्री को जो विद्वान् पत्र लिखते थे उनमें से अधिकांशतः पद्य में होते थे- जैसे केरल के मानविक्रम एट्टन तम्बुरन, केरलवर्म वलिय तम्बुरन् आदि उन्हें संस्कृत पद्यों में पत्र लिखा करते थे। श्रीनिवास शास्त्री दीक्षित भी उन्हें पद्यों में लिखते थे। यह प्रसिद्ध ही है कि हिन्दी के मूर्धन्य संपादक (सरस्वती संपादक) महावीरप्रसाद द्विवेदी संस्कृत के अच्छे कवि थे। इन्होंने अप्पाशास्त्री को मैत्री और विनोदपूर्ण पत्राचार के दौरान ही एक मुक्तक काव्य "समाचारपत्रसम्पादकस्तवः" लिख डाला था जिसे अप्पाशास्त्री ने संस्कृतचन्द्रिका में छाप भी दिया था। एक पाठक ने इसे पढ़कर इसका उत्तर भी पद्यों में लिखा था। उसे भी अप्पाशास्त्री ने संस्कृतचन्द्रिका में प्रकाशित कर दिया।

"राजकीय लेखमाला" का संपादन पुन्नशेरि नीलकंठशर्मा (१८५८-१६३५) ने किया है जिसमें अनेक विद्वानों के पत्रों का संकलन है। दक्षिण भारत के अनेक विद्वानों के जो पत्र इसमें संकलित हैं उनमें से अधिकांशतः पद्यबद्ध हैं। ए.आर. राजराजवर्मा कोइतम्बुरन के पत्रों का संग्रह उनके "साहित्यकुतूहल" शीर्षक ग्रन्थ में देखा जा सकता है। कुडग्गल्लूर कुंजि कुट्टिन (रामवर्मा) तंबुरन (१८६५-१६१३) के लिखे पत्रों का उल्लेख भी मिलता है। इन्होंने मानविक्रम एट्टन तम्बुरन, केरलवर्मा, वलिय कोइतम्बुरन, के.सी. केशव पिल्लै, चीरट्टमन्तु विष्णु मूष आदि को जो पत्र लिखे थे उनमें से कुछ ही मलयालयमासिकों में छप पाये, शेष अप्रकाशित हैं, कटत्तनाट रविवर्मा तंबुरन (१८७२-१६१४) के पत्र "पद्यपेंटिका" (तंजौर १६११) के दशवें परिच्छेद में संगृहीत हैं। स्पष्ट है कि ये पद्यबद्ध हैं।

अप्पाशास्त्री राशिवडेकर का पत्राचार देश के बहुसंख्यक संस्कृत विद्वानों से था जिसमें से कुछ नमूने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं व ग्रन्थों में छपे देखे जा सकते हैं। बहुधा अप्पाशास्त्री "संस्कृतचंद्रिका" में अन्य विद्वानों के ऐसे पत्रों को भी प्रकाशित करते थे जो

उन्हें संबोधित न होकर किन्हीं अन्य विद्वान् को संबोधित होते थे, पर पाठकों के परिज्ञान हेतु जरूरी होते थे। उदाहरणार्थ पं.बलभद्रशर्मा ने जयपुर के कविशिरोमणि भट्टमथुरानाथ शास्त्री के नाम जो खुला पत्र लिखा वह संस्कृतचन्द्रिका (वर्ष १४-अंक ४-६) में छपा है। यह परस्परालोचन से संबद्ध पत्राचार है। बलभद्रजी को अप्पाशास्त्री को लिखा पत्र चंद्रिका के १३-७ व १४-२/४ अंकों में भी छपे हैं जिनमें साहित्यचर्चा है। अप्पाशास्त्री ने अन्य विद्वानों को जो पत्र लिखे उनमें से कुछ ही मुद्रित हो पाये हैं। डॉ. हीरालाल शुक्ल ने उनके लिखे १४१ पत्रों के प्राप्त होने का उल्लेख किया है। इनमें से कुछ संस्कृतचन्द्रिका, सूनृतवादिनी, सहृदया, संस्कृतरत्नाकर, मंजूषा, शारदा आदि संस्कृत पत्रिकाओं में, कुछ "सरस्वती" हिन्दी मासिकपत्रिका में (अप्पाशास्त्री के मित्र महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित) और कुछ "काव्यानन्द शकटीबालाचार्य पुणेकर जीवनचरित" नामक कन्नड ग्रन्थ में मिलते हैं। पं. चिन्तामणि रामचन्द्र सहस्त्रबुद्धे द्वारा सन् १९१२ ई. में प्रकाशित "पत्ररत्नमाला" में अप्पाशास्त्री के १०० पत्र संगृहीत हैं, ऐसा डॉ शुक्ल ने उल्लेख किया है। डॉ. शुक्ल ने अप्पाशास्त्री के अनेक अप्रकाशित पत्र स्व. डॉ. कुर्तकोटि शंकराचार्य से प्राप्त किये थे। उन्होंने यह उल्लेख भी किया है कि दिल्ली विश्वविद्यालय के सेवानिवृत्त प्रोफेसर रसिक विहारी जोशी जो ब्यावर (राजस्थान) के उद्भट विद्वान् पं. रामप्रतापशास्त्री के पुत्र हैं, के पास भी अप्पाशास्त्री के अनेक पत्र हैं जो उनके पिता पं. रामप्रताप शास्त्री को संबोधित हैं।

म.म. पं. गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी का पत्राचार भी अप्पाशास्त्री राशिवडेकर आदि सैकड़ों विद्वानों से था। म.म. गिरिधरशर्माजी के कनिष्ठ पुत्र डॉ. शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदी ऐसे पत्रों का संकलन एवं प्रकाशन करने का प्रयत्न कर रहे हैं। अप्पाशास्त्री का पत्राचार जिन विद्वानों से था उनमें प्रमुख हैं-म.म.पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पं.बलभद्रशर्मा, महेशचन्द्र तर्कचूडामणि, शिवरामशास्त्री, महाराज सुढलदेव, ति.अ.ति. कुमारताताचार्य, सम्पत्कुमार नरसिंहाचार्य, कस्तूरी रंगाचार्य, शंकरलाल श्रोत्रिय, श्रीनिवास शास्त्री, मानशंकर शर्मा, नरोत्तम चन्द्र शास्त्री, बालचन्द्र शास्त्री, गोवर्धन शर्मा, कोटीश्वरशास्त्री, श्रीमाली द्विवेदी, एम.एन. सुब्रह्मण्य शास्त्री, दशरथ शर्मा, आरुढभानु शास्त्री, वैद्यनाथ शास्त्री, वेंकटरामानुज रायसेतुमाधवाचार्य, गजेन्द्रगडकर, लक्ष्मणाचार्य, कृष्णशर्मा, वेंकट, रामलाल, काशीनाथ शास्त्री, अर्जुनवाडकर, नरेश शर्मा, घनश्यामदास, रामचरणाचार्य, रा. त्यागराज, राधाकृष्ण पौराणिक, चिन्तामणि शर्मा, विद्युशेखर भट्टाचार्य, चन्द्रशेखर शर्मा, भारतीदासन्, श्रीनिवासशर्मा, गोपालदेशिकाचार्य, जी.वी. धर्मभिक्षु, आवारिसुब्रह्मण्य, लिंगेशशर्मा विद्याभूषण, नारायणशास्त्री, भास्कर शास्त्री, यज्ञशास्त्री, विक्रमकविराजकुमार, शकरी बालाचार्य खुपरेकर, पुन्नशेरि नीलकंठ शर्मा, आर.वी. कृष्णमाचार्य, महावीरप्रसाद द्विवेदी, पाडुरंग शास्त्री, गोपीचन्द्र सांख्यतीर्थ आदि।

अप्पाशास्त्री के पत्रों की भाषा सजीव, सरल, संप्रेषक और ललित होती है, साथ ही उसमें पंडितोचित शास्त्रीय दृष्टि के साथ-साथ तत्कालीन समस्याओं पर भी मींमासादृष्टि

और गहरा पर्यवेक्षण भी होता था। डॉ. हीरालाल शुक्ल ने अप्पाशास्त्री पर शोध किया है, अतः उनके शोधग्रन्थ में इस पर विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। अप्पाशास्त्री के अधिकांश पत्र गद्यबद्ध हैं और पत्र की सी शैली में ही लिखे गये हैं-पत्र के रूप में प्रेषित या संबोधित कविता या अलंकृत पद्य रचना मात्र नहीं है।

आधुनिक संस्कृत विद्वानों के जो पारस्परिक पत्राचार होते थे उनके संकलन, शोध, प्रकाशन आदि पर भी इन दिनों विद्वानों का ध्यान गया है। जयपुर के प्रसिद्ध लेखक पं. नवल किशोर कांकर ने अपने पास उपलब्ध पत्रों का संकलन "पत्रसाहित्यम्" शीर्षक से प्रकाशित करवाने हेतु एक शोधार्थी को दिया था। डॉ. शिवांगना शर्मा ने इसका संपादन कर इसका प्रकाशन करा दिया है। जिस प्रकार दिल्ली के विद्वान, डॉ. सत्यव्रत शास्त्री ने पद्यबद्ध पत्रों का संकलन प्रकाशित करवाया है उसी प्रकार पद्य-गद्यात्मक पत्रों का यह संकलन जयपुर से प्रकाशित है। जयपुर के डॉ. शिवसागर त्रिपाठी ने वेदकाल से लेकर अब तक पत्र लेखन की जो संस्कृत परम्परा रही है उस पर अनेक शोधलेख लिखे हैं। उनके निर्देशन में एक शोध प्रबन्ध भी राजस्थान में इसी विषय पर अनुमत हुआ है।

चम्पूकाव्य

इस विधा में गद्य तथा पद्य का मिला-जुला प्रयोग होता है, जैसाकि कहा है "गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते"। इसकी विशेषता इस अंश में कही जा सकती है कि इस विधा में कवि को गद्य तथा पद्य दोनों के प्रयोग में अपना कवित्व प्रदर्शित करने का पूर्ण अवसर मिलता है। जिन्हें गद्य काव्य के अन्तर्गत कथा या आख्यायिका कहा गया है उनमें भी गद्य के साथ पद्यों का प्रयोग होता है, किन्तु वह नगण्य होता है। कुछ ऐसा भी नहीं कि चम्पू के कवि भावात्मक विषयों का वर्णन पद्य में तथा वर्णनात्मक विषयों का विवरण गद्य में करते हों। काव्य की विधा की दृष्टि से चम्पू विधा कुछ विलक्षण नहीं, फिर भी प्राचीन काल में इसमें अनेक काव्य प्रस्तुत हुए, जिनका संस्कृत साहित्य में विशिष्ट स्थान है। इस सन्दर्भ में कुछ प्राचीन चम्पुओं का नामोल्लेख अनुपयुक्त न होगा।

नलचम्पू (त्रिविक्रम, सप्तम तथा एकादशशती का मध्यभाग), यशस्तिलकचम्पू (सोमप्रभसूरि, १० वीं शती), चम्पूरामायण (भोजराज, ग्यारहवीं शती), यात्राप्रबन्धचम्पू (समरपुङ्गव दीक्षित १६ वीं का उत्तरार्ध) वरदाम्बिकापरिणयचम्पू (तिरुमलाम्बा) नीलकण्ठविजयचम्पू (नीलकण्ठदीक्षित, सत्तरहवीं शती) और इसी शती के वेंकटाध्वरी की रचना विश्वगुणादर्शचम्पू का नाम उल्लेख्य है। यहां अपनी रोचकता के कारण "विश्वगुणादर्शचम्पू" संस्कृत का एक महत्त्वपूर्ण चम्पूकाव्य है, जो परम्परा से अलग अपना परिचय रखता है। इसमें दो गन्धर्वों, विश्वावसु और कृशानु विमान पर होकर तीर्थों की यात्रा करते हैं और उनके दोषों तथा गुणों का क्रमशः वर्णन करते हैं। यह भी ध्यातव्य है कि चम्पूविधा में लेखन के प्रति रुझान दक्षिण के, विशेषतः केरल और आन्ध्र के रचनाकारों में अधिक रहा है।

आधुनिक काल में भी इन्हीं क्षेत्रों के रचनाकारों ने चम्पूकाव्य रचे। विश्वगुणादर्शचम्पू के आदर्श पर श्रीशैलश्रीनिवासाचार्य के पुत्र अण्णय्याचार्य ने तत्त्वगुणादर्शचम्पू की रचना की जिसमें जय और विजय के बीच संवाद द्वारा शैव और वैष्णव मतों के गुणदोषों को सूचित कराया गया है। राजापुर (महाराष्ट्र) के एक संस्कृत विद्यालय के आचार्य दत्तात्रेय वासुदेव निगुडकर (१६ वीं-२० वीं शती) ने अपने गङ्गागुणादर्शचम्पू काव्य में हा हा और हू हू नाम के दो गन्धर्वों के बीच गङ्गा के गुण-दोषों के वर्णन द्वारा गङ्गा की श्रेष्ठता प्रतिपादित है।

जहां काव्य की अन्य विधाओं की भाँति राम, विष्णु, शिव आदि के चरित्रों से सम्बद्ध रचनाएं आधुनिक काल में प्रस्तुत हुईं, वहां ऐसे चम्पू काव्य तो लिखे ही गये, साथ ही तीर्थ क्षेत्रों का माहात्म्य, आश्रयदाताओं का प्रशस्तिगान तथा यात्राविवरण से सम्बद्ध चम्पूकाव्य भी लिखे। इस प्रकार आधुनिक काल में चम्पूकाव्यों को कुछ व्यापक पृष्ठभूमि मिली, ऐसा डॉ. हीरालाल शुक्ल जैसे विद्वानों का विचार है।

मैं नहीं समझता कि एक इतिहास में रामादि परक कृतियों का विभाजन पूर्वक उल्लेख या विभाजन कितना विशेष महत्त्व रखता है, फिर भी यहां उस दृष्टि से आधुनिक काल के कुछ चम्पू काव्यों का उल्लेख किया जाता है।

रामचरित विषयक चम्पू काव्य- आसुरी अनन्ताचार्य (१७६०-१८५०) द्वारा रचित चम्पूराघव, जिस पर वेंकटनरसिंहाचार्य की टीका है तथा जो विजयवाडा से मुद्रित है। मैसूर के नरसिंह अय्यंगार की कन्या तथा कस्तूरी रंगाचार्य की शिष्या सुन्दरवल्ली (१६ वीं शती) कृत छः सर्गों में निबद्ध तथा बंगलौर से मुद्रित रामायणचम्पू, मद्रास से मुद्रित चम्पूरामायण (सीताराम शास्त्री, काकपरती, आंध्र) तीस सर्गों में विभाजित तथा १८६६ में प्रकाशित रामायणसंग्रहचम्पू (वि. उ. व्यंकटेश्वर, मुम्बई से प्रकाशित) रघुनाथविजयचम्पू (कृष्णकवि) मुम्बई से ही प्रकाशित) रामचर्यामृतचम्पू (कृष्णयंगार्य) मद्रास से मुद्रित, रामचम्पू (बंदलामुडीरामस्वामी) रामभद्रविजयचम्पू (एलत्तूर सुन्दरराजआयंगार १८४१-१६०५)।

कृष्णपरक चम्पूकाव्य - १८६६ में निर्मित तथा सुन्दराज कृत सुमनोरञ्जिनी टीका के साथ मुद्रित कंसवधचम्पू (केरलकालिदास केरलवर्म वलियकोइल तम्पुरान, १८४५-१६१४) पूतनामोक्षचम्पू (रविवर्मकोइल तम्पुरान् १८६२-१६००)।

शिवपरक चम्पूकाव्य-गौरीविलास चम्पू (भट्ट श्रीनारायणशास्त्री १८६०-१६११) पुराणकथाश्रित चम्पूकाव्य-धीरानन्दतरङ्गिणीचम्पू (कृष्णचन्द्रतर्कालङ्कारकृत तथा १८६५ में कलकत्ता से बंगाक्षरों में प्रकाशित।)

इसी प्रकार आश्रयदाताओं के चरित को लेकर लिखे गये चम्पूकाव्य भी हैं, किन्तु हम यहां आधुनिक काल के कुछ चम्पू काव्यों की विशेष चर्चा करना चाहते हैं।

राघवाचार्य (१८-१६वीं शती) ये अहोबिलमठ के एक आचार्य थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ वैकुण्ठविजयचम्पू काव्य में विष्णु की श्रेष्ठता निरूपित की। विश्वगुणादर्शचम्पू की भाँति

इसमें भी जय और विजय के बीच संवाद कराया गया है। साथ ही भूलोक के वैकुण्ठ श्रीरङ्गनगर, उसमें स्थित देवता, गरुड, कावेरी आदि नदियों की स्तुति की है, महीशूर नगर के यादवाद्रिक्षेत्र सह्यादि तथा अयोध्या, गङ्गा, काशी द्वारका आदि के माहात्म्य का संकीर्तन किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि रचनाकार जहां एक ओर अपने वैष्णव दर्शन-सिद्धान्त को प्रतिष्ठापित करने के उद्देश्य से शिव की अपेक्षा विष्णु की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करते हैं वहां दूसरी ओर नाना वर्णनों के आटोप से बाणभट्ट वाली शैली को पुनरुज्जीवित करते हुए अपना कवित्व भी प्रदर्शित करते हैं। यह डॉ. के. ई. गोविन्दन द्वारा सम्पादित होकर, गंगानाथ का केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद से १९८७ में प्रकाशित है।

धर्मदत्त (बच्चा) झा -(१८६०-१९१८) मिथिला (बिहार) के नवानी ग्राम में उत्पन्न बच्चा झा द्वारा विरचित सुलोचनामाधवचम्पू का प्रकाशन मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा से १९७७ में हुआ, जिसका सम्पादन डॉ. श्री बाबू मिश्र शर्मा ने किया। यह चम्पू काव्य पद्मपुराण के एक प्रेमाख्यान पर आधारित है तथा छत्तीस उच्छ्वासों में विभक्त है। इसका कथानक संक्षेप में इस प्रकार आरम्भ होता है-किसी समय विक्रम नाम के चक्रवर्ती हुए जिनकी सुशीला नाम की पट्टमहिषी से माधव नाम का पुत्र हुआ। उनकी नगरी "तालध्वजा" थी। पिता द्वारा राज्याभिषेक संस्कार से सम्पन्न माधव नीतिपूर्वक शासन करने लगा। एक दिन प्रातःकाल दण्डक छन्द में निबद्ध गीत सुन कर माधव जगा और सेनापति तथा सेना के साथ आखेट के लिए जंगल चला गया। मृगया-विहार के पश्चात् सेना को सेनापति के साथ राजधानी भेजकर स्वयं अकेला उस सरोवर की ओर चला, जहां उसने अपना रथ छोड़ रक्षा था। वहां रक्ताशोक वृक्ष के नीचे वह विश्राम करने लगा, तभी उसकी दृष्टि स्नान करती एक तरुणी चन्द्रकला पर पड़ी। उस पर वह मुग्ध हो गया, किन्तु उसने प्रसंगतः उससे अपनी प्रियसखी सुलोचना के बारे में बताया और कहा कि प्लक्षद्वीप में दीव्यन्तिका एक नगरी है, वहां के राजा गुणाकर और रानी सुशीला की कन्या सुलोचना है। स्वयं वह (चन्द्रकला) कैसे वहां आ गयी इस बारे में वह (माधव) जानने का हठ न करे। जब चन्द्रकला ने देखा कि माधव सुलोचना को दुर्लभ मान कर विषादग्रस्त हो गया तब उसने प्लक्षद्वीप पहुंचने का उपाय बताया। यह एक विस्तृत कथानक है और इसके अन्त में सुलोचना के अनुरोध पर महाराज सुसेन की कन्या जयन्ती का विवाह माधव के साथ होता है और दोनों, माधव तथा जयन्ती सुखपूर्वक रहने लगते हैं।

यह स्वाभाविक है कि पुराणोक्त मूल कथानक में चम्पूकार ने अपने अनुसाार परिवर्तन भी किया है। नाना गम्भीर शास्त्रों के अवगाहन में समर्थ, अनेक दुरूह टीका ग्रन्थों के अविश्रान्त लेखक सुप्रसिद्ध नैयायिक कविवर बच्चा झा जी के इस विशाल चम्पू ग्रन्थ का आकलन करते हुए महाकवि श्रीहर्ष द्वारा रचित नैषाधीय चरित का ध्यान बरबस आने लगता है और यह सुप्रसिद्ध पद्यार्ध भी स्मृति में स्फुरित होने लगता है-

"साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिले
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती।"

इस महीयसी रचना में गद्य और पद्य, दोनों के निर्माण में कवितार्किकशिरोमणि बच्चा झा जी को समान रूप से सफलता प्राप्त हुई है, ऐसा लगता है। यहां उनका यह पद्य (अन्तःपुर के सौधवर्णन के प्रसंग में लिखित, द्वितीय उच्छ्वासपृ. ५०) उद्धृत है-

वामाभिस्तुण्डुलादेरवहतिषु समालोचनीयस्मरश्री-
मूलाञ्चद्‌बाहुमूलं कुचयुगलसमुज्जृम्भितापूर्वशोभम्।
उत्क्षिप्ताः पातिताश्चाभरणरणितकारब्धपुष्पेषुकीर्त्यु-
द्‌गानं धैर्याणि यूनां दृढलधुमुसलाश्चूर्णयामासुरुच्चैः।। १३५।।

(सुन्दरियों द्वारा तण्डुल आादि अन्नों के कूटने के अवसर पर उठाये तथा गिराये जाने वाले मजबूत और हल्के मुसलों ने तरुण जनों का धैर्य चूर्ण कर डाला, उस अवसर में उन सुन्दरियों का बाहुमूल स्मरलक्ष्मी के मूल होने के कारण दर्शनीय हो गया, उनके कुचयुगल की अपूर्वशोभा बढ़ गयी, उनके आभरणों की अावाज मानों कामदेव का यशोगान रूप प्रतीत हुई।)

यह सम्पूर्ण पद्य वर्ण्य वस्तु को आंखों के सामने प्रस्तुत कर देने में समर्थ है और कवि के अद्‌भुत वर्णन-पाटव का परिचायक है। यह रचना अद्‌भुत वर्णनों का भाण्डागार है।

बदरीनाथ झा-कविशेखर बदरीनाथ झा का जन्म मिथिला के मधुबनी जिले के सरिसब ग्राम में १२ जनवरी १८६३ में खौआलवंशीय सिमरवारशाखा के काश्यपगोत्रीय श्रोत्रिय मैथिल परिवार में हुआ। संस्कृत में अनेक विधाओं में काव्य निर्माण में प्रवृत्त कविशेखरजी ने "गुणेश्वरचरितचम्पू" काव्य की रचना की, जो राजकीय मुद्रणालय, दरभंगा से १६५२ में प्रकाशित हुआ। पद्य-रचनाओं के पश्चात् गद्य-रचना में इनकी प्रवृत्ति अपने एक सहाध्यापक मित्र की प्रेरणा से हुई। प्रस्तुत चम्पूकाव्य के नायक महाराज गुणेश्वर मिथिला के शासकों में से एक थे। यह काव्य चार उच्छ्वासों में विभक्त है। प्रथम उच्छ्वास मे मिथिला की नाम-निरुक्ति, सीमाओं, नदियों, तीर्थों, देवताओं, आश्रमों, महात्माओं श्रेष्ठ पण्डितों तथा श्रुति-स्मृति-इतिहास प्रसिद्ध कथानकों का वर्णन है। द्वितीय में महाराजाधिराज माधवसिंह की सन्तति का वर्णन है तो तृतीय और चतुर्थ उच्छ्वासों में महाराज गुणेश्वरसिंह के समस्त इतिवृत्त और सन्तानपरम्परा का साहित्य के स्तर पर वर्णन हुआ है।

कवि ने काव्य के आरम्भ में सरस्वती, अभ्यास, व्युत्पत्ति और प्रतिमा से इसके निर्माण में सहयोग के लिए प्रार्थना की है, क्योकि "कस्याप्यद्य महात्मनः सुचरितं वक्तुं प्रवर्तामहे"। मिथिला के वर्णन से ही कवि ने बाणभट्ट और नलचम्पूकार त्रिविक्रम भट्ट की परम्परागत शैली, अर्थात् श्लिष्ट उपमाओं तथा परिसंख्या अलंकारों से ग्रस्त शैली में प्रवृत्त

हो गया है, फलतः "कथारस" उपेक्षित ही नहीं, बाधित भी हुआ है, फिर भी कहीं-कहीं वह अपने मोहक पद-न्यासों की छटा से विशेष उजागर हुआ है। मिथिला के दधि-मिश्रित चिपिटान्न (चूड़ा-दही) का भी कविशेखरजी इन शब्दों में उल्लेख करते हैं-

मृदु सुरभि स्वादीयश्चिपिटान्नं स्विन्नशालीनाम्।
हरति स्वान्तं यस्यां दध्ना बध्नाति चेत् सख्यम्।। १/६४

द्वितीय उच्छ्वास में कवि ने शाब्दिक शिरोमणि जीवनाथ शर्मा के मुख से चिन्ता को लेकर उसके त्याग का जो उपदेश कराया है उसे एक संक्षिप्त "शुकनाशोपदेश" कहा जा सकता है। कविशेखरजी की प्रौढकवित्वपूर्ण गद्य-निर्माण की क्षमता के प्रमाण-स्वरूप इस रचना में अनेक प्रसङ्ग हैं, जिनको उद्धृत करने का मोह स्थानाभाव के कारण बरबस संवरण करना पड़ रहा है। युवा राजकुमार की मनःस्थिति का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं-

"अथाभ्युदियाय ध्वलदलविधुकलेव तस्य लोकलज्जा, उन्मिमेष धर्षितामर्षिपुरुषेर्ष्येव तस्य परोपचिकीर्षा, उज्जगाम करीरप्रवेक इव तस्य विवेकः, उल्ललास सूद्यमविभव इव सामाजिकमर्यादारक्षणक्षपातः, उन्ननाम बालतालवनमिष तस्य मानसम्, उन्मिमील सायन्तनप्रदीपशिखेव तस्य साधुसुधीसुहृत्सम्मेलनप्रियता, दृढीबभूव दृषत्सेतुरिव तस्य धर्मनिष्ठा, अपससार प्रातस्तिमिरमिव तस्य बालचायल्यम्, प्रससार राकामुखाचन्द्रातप इव तस्य कीर्तिकलापः, प्रादुर्बभूव पौरस्त्यपुण्डरीकबन्धुमण्डलमिव तस्य प्रागल्भ्यम्, प्ररुरोह शिशिरापगमसरसीरुहमिव तस्य क्रियाकौशलम्,...।"

(धवल चन्द्रकलाकी भांति उसकी लोकलज्जा उदित हुई, क्रोधी व्यक्ति की ईर्ष्या को धर्षित करने वाली उसकी परोपकार करने की इच्छा उन्मिषित हुई, श्रेष्ठ करीर की भाँति उसका विवेक उद्भूत हुआ, उद्यमी के विभव की भाँति सामाजिक मर्यादाओं की रक्षा का उसका पक्षपात उल्लसित हुआ, नये ताल वन की भाँति उसका मन बढ़ा, उसकी साधु, सुधी तथा सुहृत्जनों के सम्मेलन के प्रति प्रीति सांयकाल के प्रदीप की शिखर की भाँति उन्मीलित हुई, उसकी धर्मनिष्ठा पत्थर के सेतु की भाँति दृढ हो गयी, उसके बचपन की चपलता प्रातः काल के अन्धकार की भाँति छंट गयी, उसका कीर्तिकलाप सायंकाल के चन्द्रातप की भांति फैल गया, उसका प्रागल्भ्य सूर्यमण्डल की भांति प्रादुर्भूत हुआ, उसका क्रियाकौशल शिशिर काल के समाप्त होने पर कमल की भाँति बढ़ गया है...)

हरिनन्दनभट्ट-गया (बिहार) राजकीय विद्यालय के संस्कृत अध्यापक हरिनन्दन भट्ट द्वारा विरचित 'सम्राट्चरितम' चम्पू काव्य १६३३ में प्रकाशित हुआ, पञ्चम जार्ज के प्रति 'राजभक्ति' से प्रेरित कवि की यह रचना तब प्रकाश में आयी जब सम्पूर्ण भारत-वर्ष स्वतन्त्रता के लिए जूझ रहा था। अपने वर्तमान 'सम्राट्' के प्रजानुरञ्जन के सभी कार्यों का वर्णन करना उसका लक्ष्य है, जिसे पढ़कर उसके छात्र-गण बाल्यकाल से दृढ़ राजभक्त बनें। काव्य के चरित नायक अपने युवराजत्व काल में भारत आकर उसके समुद्र, समुद्रतट,

काशी आदि का वर्णन किया। इस ग्रन्थ में कवि ने इन सबका वर्णन किया है, इसके अतिरिक्त लंदन नगरी, सम्राट की पितामही विक्टोरिया की राज्यशासनप्रणाली, पिता सप्तम एडवर्ड के राज्य काल का वर्णन है। कवि के कवित्व का बहुत अंश वस्तुवर्णन-परक हो गया है अतः उतना प्रभावोत्पादक नहीं बन पड़ा है। भाषा अवश्य सरल और कुछ मधुर भी है। सम्पूर्ण काव्य दस स्तबकों में विभक्त है। इसमें लक्ष्मी, सरस्वती, धर्म और नास्तिक की प्रश्नोत्तर रूप में आपस में बातचीत (चतुरालाप) जिसे कवि ने लगभग ११९० पद्यों में प्रस्तुत किया है, कुछ ठीक बन पड़ा है, कवि ने गद्यांश बहुत अल्पमात्रा में नियोजित किया है।

रघुनन्दन त्रिपाठी-गया (बिहार) के कल्याणपुर ग्राम के निवासी व्याकरण-साहित्याचार्य रघुनन्दन त्रिपाठी ने श्रीहरिहरचरितम् नामक चम्पूकाव्य का निर्माण कर अपने गुरु म.म. हरिहरकृपालु द्विवेदी (१८७०-१९४१) को चरित-नायक के रूप में प्रतिष्ठित किया है। काव्य का प्रकाशन सेठ श्रीरामनिरज्जन दास मुरारका संस्कृत कालेज, पटना सिटी द्वारा वि. सं. १९९८ (१९४१-४२ ई.) में किया गया। अपने उस समय के एक प्रख्यात पण्डित तथा अपने गुरु के चरित गान में समर्पित यह काव्य इतिवृत्तात्मक है।

रूद्रदेव त्रिपाठी द्वारा रचित "इन्दिराकीर्तिकौमुदी" (चम्पू) श्रीलाल बहादुरशास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ नयी दिल्ली १९८६ में प्रकाशित हुई, जो स्व. प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरागान्धी के चरित पर आधारित है। वैसे स्वातन्त्र्योत्तर काल में चम्पू विधा में संस्कृत काव्य रचना में बहुत शिथिलता आ गयी, ऐसा प्रतीत होता है।

षष्ठ अध्याय

दर्शन और शास्त्र

पृष्ठभूमि

भारतीय वाङ्मय में १६-२०वीं शती, जिसे हम 'अर्वाचीन युग' कहते हैं, कई विशेषताओं से समन्वित है। १६वीं शती में विश्व में कई क्रान्तिकारी वैज्ञानिक आविष्कार हुए, जिन्होंने सम्पूर्ण विश्व के पारम्परिक चिन्तन की दिशा बदल दी। भारतवर्ष में भी १८४५ ई. में रेलमार्ग बनना आरम्भ हुआ। १८५७ ई. में भारत में लन्दन यूनिवर्सिटी के आधार पर कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। इससे बहुविध लाभ हुए। पाश्चात्त्य ज्ञान-विज्ञान से भारतीयों का सीधा सम्पर्क हुआ और उनमें विवेचनात्मक चिन्तन की प्रवृत्ति जागी। विषयप्रतिपादन अमूर्त दार्शनिकता से हटकर वस्तुपरक और व्यवहारवादी हुआ। आयुर्वेद, ज्योतिष आदि विषय, जो व्यावहारिक विज्ञान थे उनमें यह प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुई। इस काल से पहले आयुर्वेद अधिकांश में दर्शन था, अब वह शुद्ध अर्थों में 'चिकित्साविज्ञान' बना। स्मरणीय है कि कलकत्ता मेडिकल कालेज में १८३५ ई. में पहली बार भारतीय पण्डित मधुसूदन दत्त ने मृतदेह में नश्तर लगाया था। आयुर्वेद में इस काल में शारीरिक संरचना, रोगनिदान, शल्यचिकित्सा संबन्धी ग्रन्थ लिखे गये, नये रोगों के लक्षणों और उनकी चिकित्सा पर विचार हुआ। ज्योतिष के ग्रन्थों में पाश्चात्त्य प्रणाली के आधार पर गणित की उपपत्तियाँ दी जाने लगीं। शास्त्रों में प्रकरण के अनुसार विषय की प्रस्तुति होने लगी।

वेदादि विशुद्ध आस्थामूलक शास्त्रों में भी इस काल में विज्ञान और युक्तिसङ्गतता का अन्वेषण किया जाने लगा। म.म. मधुसूदन ओझा ने 'वैदिकविज्ञान' सम्बन्धी कई ग्रन्थ लिखे। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ब्राह्मण भाग को वेद के अन्तर्गत ही नहीं माना, क्योंकि वे कई स्थान पर श्रुतियों के मन्तव्य से भिन्न थे और युक्ति द्वारा उन्हें उनके मन्तव्य के अनुकूल नहीं पाया जा सका।

इस काल में भारतवर्ष में आर्यसमाज और ब्राह्मसमाज की स्थापना ने धर्मशास्त्र पर विशेष प्रभाव डाला। 'विधवा विवाह' के ज्वलन्त प्रश्न पर खण्डन-मण्डनात्मक ग्रन्थ लिखे गये। कर्मकाण्ड शिथिल हुए, संस्कारों के स्वरूप और पद्धति का विवेचन किया गया, क्योंकि उनमें 'व्यक्ति' और तद्द्वारा समाज का निर्माण करने की सम्भावनाएँ निहित थीं।

धीरे-धीरे विश्वविद्यालयों एवं उच्च शिक्षा के अन्य केन्द्रों की संख्या बढ़ी। इनमें शास्त्रों पर शोध आरम्भ हुआ। लोगों ने ऐतिहासिक और विवेचनात्मक, समीक्षात्मक दृष्टिकोणों से प्राचीन ग्रन्थों की विषय-वस्तु को परखा। प्राचीन ग्रन्थों को संपादित किया

गया, उनके रचनाकारों के कालनिर्णय किये गये और उनके अवदान को निर्धारित किया गया। इन ग्रन्थों का अधिकाधिक प्रकाशन हुआ। इससे पुस्तकालयों में सहस्राब्दियों से प्रसुप्त ज्ञान लोगों के समक्ष प्रकट हुआ।

इन संपादकों ने प्रायः अपने संपादित ग्रन्थों पर टीका, विषम स्थलों पर टिप्पणियाँ आदि लिखीं। इस काल में अनेक क्रोडपत्रों का भी प्रकाशन हुआ, जिससे विद्वानों के व्यक्तिगत परिष्कार, जो उनकी वशंपरम्परा में 'थाती' के समान संगृहीत थे और दाय के रूप में शुरू से शिष्य को प्राप्त होते थे, सार्वजनिक जानकारी हेतु सुलभ हुए। इन प्रकाशनों से हमारे ज्ञान-क्षितिज का कितना विस्तार हुआ, इसे आंका नहीं जा सकता।

अठारहवीं शती के अन्त में एशयाटिक सोसायटी की स्थापना हो चुकी थी। इससे यूरोपियनों का भी भारतविषयक अध्ययन तेजी से बढ़ा। सर विलियम जोन्स ने यह पहचाना कि संस्कृत, यूनानी और लैटिन भाषाएँ सगोत्र हैं। इससे भारतीय विद्वानों की भी उत्सुकता बढ़ी और दोनों ने संस्कृत का अपने-अपने ढंग से भाषावैज्ञानिक अध्ययन किया। पश्चिम के विद्वान् पाणिनि के व्याकरण की वैज्ञानिकता से चमत्कृत हुए तो हमने भी 'ग्रीवास्थ ग्रैवेयक' न्याय से उसे नये सिरे से उलट-पुलट कर रखा। कोलब्रुक ने संस्कृत व्याकरण के साथ-साथ गणित ज्योतिष आदि की ओर भी पाश्चात्त्य जगत् का ध्यान आकृष्ट किया तो मैक्समूलर, मैक्डानल आदि के समर्पित प्रयासों से वेदों का महत्त्व उनके समक्ष उद्भासित हुआ। इन सबका प्रभाव भारतीय चिन्तन-प्रवृत्ति पर स्वाभाविक रूप से पड़ा। वे भी उन विद्वानों के सम्पर्क में आये, उनके ज्ञान का अनुसन्धान किया और उससे प्रेरित हो स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रणयन भी किया। यद्यपि अंग्रेजी और हिन्दीं में ऐसे ग्रन्थ अधिक लिखे गये, परन्तु संस्कृत में भी इन ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है। मनोविज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र, यूरोपीयदर्शन, इतिहास आदि पर संस्कृत ग्रन्थ लिखे गये हैं और लिखे जा रहे हैं। इस काल में संस्कृत में अनेक शोधात्मक, समीक्षात्मक और रचनात्मक, निबन्ध लिखे गये, जिनकी संख्या लाखों में पहुँचती है। ये संस्कृत में स्वतन्त्र चिन्तन की प्रवृत्ति के परिचायक हैं।

वेद

अर्वाचीन काल में नित्य नयी वैज्ञानिक गवेषणाओं ने पारम्परिक शास्त्रचिन्तन को अत्यधिक प्रभावित किया। वेद, जो भारतीय ज्ञान की निधि समझे जाते हैं, उनमें विज्ञान के तत्त्वों की खोज की जाने लगी। पं. मधुसूदन ओझा ने वेद के मन्त्रों की आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से व्याख्या की, जिसे 'वैदिक विज्ञान' नाम दिया। उन्नीसवीं शती में आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी वेदों को समस्त आधिभौतिक एवं आधिदैविक ज्ञान-विज्ञान का आगार माना था। उन्होंने वेदों के उपासनाप्रकरण में आये अग्नि, वायु, इन्द्र आदि पदों को भौतिक पदार्थों अथवा विभिन्न देवताओं का वाचक न मानकर भिन्न-भिन्न शक्तियों से समन्वित एक ही परमात्मा का वाचक माना। इस प्रकार वेदों की व्याख्या में युक्ति अथवा तर्कसङ्गतता ने प्रवेश किया। दयानन्द सरस्वती ने ब्राह्मण,आरण्यक

आदि को वेद के अन्तर्गत नहीं माना। इसकी विद्वानों के बहुसंख्यक वर्ग पर तीव्र प्रतिक्रिया भी हुई। फलस्वरूप करपात्री जी ने 'वेदार्थपारिजात', 'वेदस्वरूपविमर्श' आदि ग्रन्थ लिखकर इसका तीव्र खण्डन किया, जिसका खण्डन पुनः दयानन्द सरस्वती के समर्थक विशुद्धानन्द शास्त्री की ओर से 'वेदार्थकल्पद्रुम' लिखकर किया गया। करौली के राजा तथा शाहपुरा नरेश ने वेद के स्वरूप-निर्णय के सम्बन्ध में अपने सभापण्डितों से पत्र द्वारा शास्त्रार्थ कराया, जो 'वेदनिर्णय' के नाम से प्रकाशित है। सत्यव्रत सामग ने 'त्रयीपरिचयः' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा जिसमें संहिताओं के पौर्वापर्यादि पर विचार किया गया था तथा इसमें भी ब्राह्मण एवं आरण्यकादि वेद के अन्तर्गत हैं इसे प्रदर्शित किया गया था।

इस काल में वेदमन्त्र केवल 'अपूर्व' के जनक नहीं रह गये, उनके अर्थ पर व्यावहारिक सार्थकता की दृष्टि से भी विचार हुआ। दामोदर झा ने अपनी रचना 'मन्त्रार्थचन्द्रोदय' में विभिन्न कर्मकाण्डों में प्रयुक्त वैदिक मन्त्रों की व्याख्या की।

महर्षि दयानन्द सरस्वती (१८२४-१८८३) - महर्षि दयानन्द सरस्वती आधुनिक युग के क्रान्तिकारी विचारक और 'आर्यसमाज' के संस्थापक थे। उन्होंने वेदों की नवीन ढंग से व्याख्या की, तत्सम्बन्धी विपुल साहित्य का प्रणयन किया और वैदिक वाङ्मय के प्रचार हेतु अहर्निश कार्य किया। उनकी मान्यता थी कि हमारा मूल धर्म वह है जो वेदों में प्रतिपादित है, जो 'आर्यधर्म' है। वेद का मन्तव्य सबको ज्ञात हो सके, इसके लिए उन्होंने वेदों पर भाष्य लिखा और उनके तात्पर्य को विवेचित किया। महर्षि द्वारा प्रणीत संस्कृत भाषा में उपनिबद्ध ग्रन्थ इस प्रकार हैं-१-सन्ध्या-रचनाकाल-१६२० वि. (१८६३ ई.) २-भागवत-खण्डनम्-र. का. १६२३ वि. (१८६६ ई.) ३- अद्वैतमतखण्डनम्-र. का.-१६२७ वि. (१६७० ई.) ४- सन्ध्योपासनादि-पञ्चमहायज्ञ-विधिः (भाष्यसहित) रचनाकाल-१६३१ वि. (१८७४ ई.) ५-वेदविरुद्धमतखण्डनम्-१६३१ वि. (१८७४ ई.) ६-शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारणम् -१६३१ वि. (१८७४ ई.) ७-वेदभाष्यनिदर्शनाङ्कः-१६३१ वि. (१८७४ ई.) ८-संस्कारविधिः-१६३२ वि. (१८७५ ई.) ६-चतुर्वेद-विषयसूची-१६३३ वि. (१८७६ ई.) १०-वेदभाष्यनिदर्शनाङ्कः (पुनः)-१६३३ वि. (१८७६ ई.) ११-ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-१६३३ वि० (१८७६ ई.) १२-पञ्चमहायज्ञविधिः (पुनर्निबद्ध)-१६३४ वि. (१८७७ ई.) १३-ऋग्वेदभाष्यम् (मं. ७, सू. ६१, मन्त्र २ पर्यन्त) १६३४ वि.(१८७७ ई.) १४-यजुर्वेदभाष्यम् (सम्पूर्ण) १६३४ वि. (१८७७ ई.) 'सत्यार्थप्रकाश' इनका हिन्दी में उपनिबद्ध लोकप्रिय ग्रन्थ है।

इन ग्रन्थों की रचना स्वामी जी ने अपने जीवन-काल के अन्तिम दशक में की। यदि किसी दुरात्मा ने विष देकर उनकी हत्या न कर दी होती तो संस्कृत साहित्य सम्भवतः और भी ग्रन्थों से समृद्ध होता।

स्वामी जी के वेद-भाष्य-महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेद आरम्भ करने के ३७ दिन के अनन्तर ही यजुर्वेदभाष्य लिखना आरम्भ कर दिया था। ऋग्वेद भाष्य का लिखना १६३४ वि. मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष की षष्ठी तिथि को आरम्भ हुआ और यजुर्वेदभाष्य १६३४ वि. की पौष शुक्ल त्रयोदशी (गुरुवार) को। इस प्रकार ये दोनों गम्भीर भाष्य साथ-साथ लिखे गये,

इससे स्वामी जी की अपार प्रतिभा और अपने लक्ष्य के प्रति प्राणपण से समर्पण की भावना सूचित होती है।

'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' का प्रथम संस्करण काशी के लाजरस कम्पनी प्रेस में (३३३ पृ. पर्यन्त) मुद्रित हुआ, शेष ३७६ पृ. बम्बई के निर्णयसागर प्रेस से छपे (१८७७-७८ ई.)। बाद में इसके वैदिक प्रेस (स्वामी जी द्वारा स्थापित) से ११ संस्करण निकले, कलकत्ता से वेदतत्त्व प्रकाश नामक संस्करण निकला तथा आर्य-साहित्य मंडल, अजमेरु द्वारा संस्करण निकाले गये। ऋग्वेदभाष्य का प्रथम संस्करण १८७८-७६ ई. में निर्णयसागर प्रेस तथा अवशिष्ट भाग स्वामी जी द्वारा स्थापित वैदिक प्रेस से प्रकाशित हुए। इसके अनन्तर इसके तीन और संस्करण प्रकाशित हुए। चौथा संस्करण पं. युधिष्ठिर मीमांसक के सम्पादकत्व में करनाल (हरियाणा) से प्रकाशित है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती का वेद-दर्शन-'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' से स्वामी जी की वेदविषयक अवधारणा सुस्पष्ट रूप में विदित होती है। स्वामी जी के अनुसार वेद अपौरुषेय और नित्य हैं। वे परब्रह्म से निःश्वास के समान प्रादुर्भूत हैं। वैदिक मन्त्रों के ऋषि उनके द्रष्टा हैं, रचयिता नहीं। वेद में किसी देश, जाति या व्यक्तिविशेष का वर्णन नहीं है। उसमें कोई नाम रूढ नहीं है, सभी नाम धातुज (यौगिक) हैं। अतः उसमें यत्र-तत्र प्रतीयमान कथाएं आलङ्कारिक हैं, वास्तविक नहीं। वेद में सम्पूर्ण सत्य ज्ञान निहित है। यह समस्त आधिभौतिक एवं आधिदैविक ज्ञान-विज्ञान का अगार है, किन्तु इसका मुख्य तात्पर्य अध्यात्मज्ञान में पर्यवसित होता है। वेदों में निर्दिष्ट अग्नि, वायु, इन्द्र, आदि देवतावाची पद उपासनाप्रकरण में परब्रह्म के ही वाचक होते हैं, भौतिक पदार्थों के नहीं। उनमें पशुहिंसा तथा अन्य अनर्थकारी विषयों का वर्णन लेश भर भी नहीं है। वेद प्रकाश के समान स्वतः प्रमाण हैं, जबकि अन्य लौकिक-वैदिक साहित्य परतः प्रमाण हैं। वह जहां वेद के अनुकूल है, वहाँ प्रमाण है, अन्यत्र नहीं। इसके विपरीत, वेदार्थ की व्याख्या में व्याकरणादि वेदाङ्गों, मीमांसादि दर्शनशास्त्रों, शाखा-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद्-कल्पसूत्र आदि से सहायता ली जा सकती है, परन्तु इन शास्त्रों से विरुद्ध होने पर कोई मन्त्रार्थ अप्रमाण नहीं माना जा सकता, जब तक कि वह स्वयं वेद से विरुद्ध न हो। याज्ञिक क्रियाओं की आधिदैविक सृष्टियज्ञ में परिसमाप्ति होती है।

सत्यव्रत भट्टाचार्य 'सामग' (१६ वीं. शती उत्तरार्ध) त्रयीपरिचयः - १८१५ शक, तदनुसार १८६३ ई. में रचित। कलकत्ता के सत्य प्रेस से ग्रन्थकार द्वारा ही प्रकाशित। इसमें वेद के विभिन्न नामों का निर्वचन, संहिता के लक्षण, उनके पाठ प्रकार, उनकी शाखाओं का परिगणन, संहिताओं के पौवापर्य पर विचार, ब्राह्मण ही वेद के आदि भाष्य हैं, आरण्यक भी त्रयी के अन्तर्गत हैं, उपनिषदों का आधुनिकत्व, वेदों की उत्पत्ति का काल, वेदों का ऋषियों द्वारा दृष्ट होना, वेद का विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध तथा अधिकारी एवंविध वेदविषयक अन्यान्य बातों पर विचार किया गया है।

स्वामी हरिप्रसाद "वैदिक मुनि" (१६-२०वीं शती) आत्माराम के शिष्य।

वेदान्तसूत्रवैदिकवृत्तिः-चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी से १९८२ ई. में प्रकाशित द्वितीय संस्करण। इसका प्रथम संस्करण निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से १९१४ ई. में निकाला था। यह सम्पूर्ण ब्रह्मसूत्र का वैदिक दृष्टि से किया गया भाष्य है।

मधुसूदन ओझा (१८६६-१९३९ बिहार) ये वेद एवं धर्मशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे। ये पं. वैद्यनाथ झा के पुत्र तथा काशी के मूर्धन्य विद्वान पं. शिवकुमार शास्त्री के शिष्य थे। इन्होंने वेद के मन्त्रों की आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से व्याख्या की। लगभग पाँच दशकों तक अनवरत अनुसन्धान करके इन्होंने सैकड़ो ग्रन्थों की रचना की, जिनमें अधिकांश प्रकाशित हैं। ओझा जी के शब्दों में "वैदिक विज्ञान" के सिद्धान्त का स्वरूप है-

यत्र प्रदर्श्या विषयाः पुरातनाः,
यत्र प्रकारोऽभिनवः प्रदर्शने।
यत्र प्रमाणं श्रुतयः सयुक्तयः,
तद् ब्रह्मविज्ञानमिदं विमृश्यताम्।।

अर्थात् जहाँ पुराने विषयों का ही प्रदर्शन किया गया है, परन्तु प्रदर्शन का प्रकार अर्थात् शैली नवीन है। जहाँ श्रुति के साथ युक्तियों को भी प्रमाण माना गया है, वह "ब्रह्मविज्ञान" वेदविज्ञान का स्वरूप है। ओझा जी के अनुसार वैदिक विज्ञान का रहस्य मीमांसकों द्वारा उपेक्षित उपपत्ति या अर्थवाद है जो ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों तथा उपनिषदों में उपलब्ध होती है। शतपथ ब्राह्मण का अधिकांश भाग इन्हीं उपपत्तियों से परिपूर्ण है। इन्हीं उपपत्तियों के अनुशीलन से इनको वैदिक परिभाषाएँ प्राप्त हुईं, जिनके आधार पर इन्होंने वैदिक विज्ञान के रहस्य का उद्घाटन किया। ओझा जी के अनेकानेक मुद्रित अमुद्रित मिलाकर २४५ ग्रन्थों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निम्न हैं-

१-ब्रह्मसिद्धान्तः (सिद्धान्तवादः) गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी की "सिद्धान्तप्रकाशिका" व्याख्या के साथ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से १९६१ ई. में प्रकाशित यह ग्रन्थ विस्तृत और ओझा जी के वेदविज्ञानसम्बन्धी सिद्धान्तों का एकत्र संग्रहात्मक मौलिक ग्रन्थ है। ऋग्वेद के प्रसिद्ध नासदीय सूक्त का अनुशीलन कर जगत् के मूलतत्त्व के विषय में प्रचलित दस मतों का इसमें वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। पहले ये अलग-अलग १० लघु स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में लिखे गये थे। बाद में "सिद्धान्तवाद" नाम से इनमें निहित प्रमेयों का संग्रह-ग्रन्थ निकाला गया।

उपर्युक्त ग्रन्थ में ओझा जी ने वैदिक ग्रन्थों के आलोडन, अनुशीलन के उपरान्त सृष्टि के सम्बन्ध में अपने दार्शनिक विचार इस प्रकार प्रस्तुत किये हैं- जगत् का मूलतत्त्व ब्रह्म है, जिसे "रसो वै सः" श्रुति के आधार पर इस सिद्धान्त में "रस" नाम दिया गया है। उसकी एक त्रिगुणात्मिका शक्ति है, जो न सत् है न असत्, अपितु अनिवर्चनीय है। यह स्वतन्त्र नहीं अपितु "ब्रह्म" के आश्रित अर्थात् "परतन्त्र" है, इसीलिए इस सिद्धान्त को

"ब्रह्माद्वैतवाद" कहा गया है। ब्रह्म की शक्ति को इस दर्शन में "बल" कहा गया है। बल, शक्ति और क्रिया -ये तीनों शब्द अवस्थाभेद से एक ही तत्त्व के वाचक हैं। प्रसुप्त दशा में वह "बल" है, कार्योन्मुख होने पर "शक्ति" और कार्यरूप में परिणत होने पर "क्रिया" है। इस प्रकार यह एक सर्वथा विशिष्ट दर्शन है।

२-छन्दोनिरुक्तिः- यह मधुसूदन ओझा जी के द्वारा वैदिक छन्दःशास्त्र के विज्ञान के ऊपर किया गया बड़ा ही मार्मिक विवेचन है। जो "पिङ्गल छन्दःशास्त्र" की भूमिका के रूप में निर्णय सागर प्रेस से १६३८ ई. में प्रकाशित किया गया है। इस विवेचन में ओझा जी ने ब्राह्मण ग्रन्थों में छन्द के स्वरूप, प्रकार आदि का बड़े विस्तार से उदाहरण देकर निरूपण किया है। यह छन्द का सामान्य विवेचन मात्र नहीं है, अपितु उसे वैदिक अध्यात्मशास्त्र से जोड़ा गया है।

३-महर्षिकुलवैभवम्-ओझा जी के शिष्य म.म. गिरिधर यर्मा चतुर्वेदी ने इसके प्रथम खण्ड पर संस्कृत व्याख्या लिखी है। उस व्याख्या के साथ यह ग्रन्थ राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर, जयपुर द्वारा १६५६ ई. में प्रकाशित है। इस ग्रन्थ के २ खण्ड हैं। मूल ग्रन्थ सूत्रशैली में निबद्ध है, जिसमें वेद में ऋषितत्त्व तथा सृष्टितत्त्व की विवेचना की गयी है। ये ऋषियों को मन्त्र का "द्रष्टा" तथा "कर्ता" दोनों मानते हैं। ऋषियों को दिव्य वेद का ज्ञान ईश्वर के अनुग्रह से अवश्य प्राप्त होता है, अतः वेद इस अर्थ में "पौरुषेय" ही है। इस ग्रन्थ पर चतुर्वेदी जी की व्याख्या दृष्टान्तों से परिपूर्ण और परिष्कारमयी है।

४-देवतानिवित्-इसमें यज्ञ के देवताओं का वैज्ञानिक वर्णन है।

५-वेदधर्मव्याख्यानम्-मधुसूदन ओझा जी के पौत्र श्री पद्मलोचन शर्मा द्वारा सम्पादित और १६५२ ई. में प्रकाशित (द्वितीय संस्करण)।

स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती "करपात्री", उत्तर प्रदेश (१६०७-१६८२) स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती "करपात्री" आधुनिक युग के नैष्ठिक चिन्तक, वेदरहस्यमर्मज्ञ, तन्त्रज्ञ एवं भक्त साधक थे। इनका जन्म प्रतापगढ़ जिले के भटनी गाँव में सन् १६०७ ई. में हुआ था। इनके पिता का नाम पं. रामनिधि ओझा था, जो बड़े सात्त्विक प्रकृति के व्यक्ति थे। करपात्री जी का संन्यासपूर्व का नाम हरनारायण था। संन्यास के पश्चात् कर को ही पात्र बनाकर उसमें भोजन करने के कारण ये अपने वास्तविक नाम (हरिहरानन्द सरस्वती) की अपेक्षा उपनाम 'करपाात्री जी' से ही अधिक प्रसिद्ध हुए। स्वामी जी ने वेद, तन्त्र तथा भक्ति शास्त्र पर बड़े महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। उनकी प्रमुख रचनाओं का परिचय इस प्रकार है-

१. वेदार्थपारिजात-(राधाकृष्ण प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता से १६८० में प्रकाशित) यह गन्थ दो भागों में तथा दो हजार पृष्ठों में है तथा स्वामी जी द्वारा रचित वेद-भाष्य (शुक्लयजुर्वेद संहिता के चालीसों अध्यायों का अध्यात्मपरक शैली में विस्तृत भाष्य) की भूमिका है। इसमें वेदों के अपौरुषेयत्व तथा एवंविध अन्य सिद्धान्तों की पुष्टि युक्ति द्वारा

की गयी है। इसमें स्वामी दयानन्द सरस्वती के 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में प्रतिपादित मत का विरोध कर सनातनधर्मानुसार वेद की व्याख्या की गयी है।

२. वेदस्वरूपविमर्श- (भक्तिसुधा साहित्य परिषद्, कलकत्ता से १६६६ ई. में प्रकाशित) इस ग्रन्थ में ४ अध्याय हैं-१. वेदस्वरूपविमर्शः २. वेदप्रामाण्यविमर्शः ३. वेदापौरुषेयत्वविमर्शः ४. ब्राह्मणानां वेदत्वविमर्शः।

प्रथम अध्याय में वेद की अनन्तता, यज्ञमीमांसा आदि विषयों के विवेचन के साथ-साथ वेद में विज्ञान और इतिहास की खोज करने वालों का विस्तृत खण्डन किया गया है। द्वितीय अध्याय में वेद के नित्यत्व तथा स्वतःप्रामाण्य का निरूपण है। इसी में बुद्ध की सर्वज्ञता का खण्डन किया गया है तथा अन्त में वेद के अधिकारी का निरूपण है। तृतीय अध्याय में वेद के अपौरुषेयत्व के सम्बन्ध में गहन विचार किया गया है तथा वैयाकरणों के वेदविषयक सिद्धान्त का बड़ी विद्वत्ता के साथ प्रतिपादन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में बड़े ऊहापोहपूर्वक यह दिखलाया गया है कि ब्राह्मण भाग श्रुति का अविभाज्य अंग है। इस प्रकार वेदसम्बन्धी समस्त उपयोगी ज्ञान तथा वेदप्रामाण्यमीमांसा के लिए यह महनीय ग्रन्थ है (४५० पृ.)।

३. वेदप्रामाण्यमीमांसा- (धर्मसंघ शिक्षा मण्डल, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी से प्रकाशित, १६६० ई.) उपर्युक्त ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय के विषयों का ही हसमें कुछ विस्तार से प्रतिपादन है।

४. वेदार्थपारिजातभाष्य - माध्यन्दिनीय संहिता का बृहद् भाष्य। राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान से प्रकाशित। स्वामी करपात्री जी नवीन शैली से वेदों की व्याख्या करने में संलग्न थे। उन्होंने "अध्यात्मिक शैली" को महत्त्व प्रदान कर उसी का पूर्णतः उपयोग वेदभाष्य में किया है।

विशुद्धानन्द मिश्र शास्त्री-व्याकरणाचार्य, दर्शनवाचस्पति, वेदवेदाङ्ग पुरस्कार से सम्मानित, गुरुकुल विश्वविद्यालय (वृन्दावन) के पूर्व कुलपति तथा राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली के भारत सरकार द्वारा मनोनीत सदस्य। ग्रन्थ-वेदार्थकल्पद्रुमः। स्वामी करपात्री जी के 'वेदार्थपारिजात' के खण्डन हेतु प्रणीत ग्रन्थ। १६६२ ई. में आर्षसाहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली द्वारा प्रकाशित। इसमें स्वामी करपात्री जी के 'वेदार्थपारिजात' में किये गये स्वामी दयानन्द सरस्वती के मत के खण्डन का युक्ति और प्रमाणपुरस्सर चतुरस्र खण्डन किया गया है और दयानन्द सरस्वती के मत का निर्दोषत्व प्रतिपादित किया गया है। ग्रन्थकार की आलोचना शास्त्रीय प्रौढ़ि से परिपूर्ण और भाषा प्राञ्जल है। यह ग्रन्थ ३ खण्डों में रचित है।

राजेन्द्र प्रसाद मिश्र, जयपुर

ऋङ्मन्त्रार्थसमालोचनम् - वैदिक मन्त्रों की आदित्यमूला व्याख्या का प्रतिपादक ग्रन्थ, पृ. सं. ५८६। रसकपूर मुद्रणालय, जयपुर से १६८८ ई. में प्रकाशित।

सीताराम शास्त्री, (पुणे) म. म. सीताराम शास्त्री कलकत्ता के गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज में सीनियर रिसर्च फेलो रहे थे। ग्रन्थ-वेदार्थविचारः-संस्कृत कालेज कलकत्ता से १९६१ ई. में प्रकाशित। गौरीनाथ शास्त्री ने इस ग्रन्थ पर प्राक्कथन लिखा है। प्राचीन और अर्वाचीन, वेद व्याख्याओं के सम्यक् अनुशीलन के पश्चात् उनसे वेदार्थ का सम्यग् अवधारण नहीं होता इस मन्तव्य पर पहुँचकर अपनी मौलिक गवेषणात्मक दृष्टि से ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ के पर्यालोचन से शास्त्री जी के अगाध वैदिक और ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान का परिचय मिलता है।

दामोदर झा-ये दरभङ्गा मण्डल के अन्तर्गत साहपुर ग्राम के निवासी वैदिक विद्वान श्री विद्यानाथ झा के सुपुत्र और गिद्धौर राजकीय श्रीरावणेश्वर संस्कृत विद्यालय में अध्यापक थे। श्री बालकृष्ण शास्त्री के समकालीन।

ग्रन्थ-मन्त्रार्थचन्द्रोदय-वाराणसी के ज्योतिष प्रकाश प्रेस से १९४० ई. में ग्रन्थकार के जीवनकाल में ही मुद्रित। यह संस्कृत में मन्त्रार्थविषयक संभवतः प्रथम और अन्तिम ग्रन्थ है। इसमें १८ परिच्छेद हैं, जिनमें नित्यकृत्य, रुद्राभिषेक, षोडश संस्कार आदि स्मार्त कर्मकाण्ड में उपयोगी सभी वैदिक मन्त्रों और आश्वमेधिक मन्त्रों की स्पष्टार्थक रमणीय व्याख्या की गयी है।

त्र्यम्बक बलवन्त अभ्यङ्कर, (पुणे) ग्रन्थ-स्वरमञ्जरी-१९४१ ई. में प्रकाशित। यह वैदिक बलाघात पर रचित एक लघु छन्दोबद्ध ग्रन्थ है।

म. म. स्वामी गङ्गेश्वरानन्द (२० वीं शती) अथर्ववेदभाष्य अथर्ववेद के जिन काण्डों का भाष्य सायण ने नहीं किया था, उनका भाष्य अभिनवसायणभाष्य के नाम से स्वामी गङ्गेश्वरानन्द जी ने किया है। प्रकाशक गुरु गङ्गेश्वर चतुर्वेद संस्थान, १३ ए, पार्क एरिया, करोलबाग, नयी दिल्ली।

श्री किशोर मिश्र, वाराणसी १. वेदशाखापर्यालोचनम् तथा कात्यायनीयचरणव्यूह टीका २. मधुपर्कपर्यालोचनम् तथा अथर्ववेदीयमधुपर्कप्रयोग व्याख्या ३. कातीयमूल्याध्यायपरिशिष्टव्याख्या ४. वैदिकच्छन्दःपर्यालोचनम् ५. याज्ञिकन्यायमालाविस्तरः।

अन्य

वेदनिर्णय-वेदविषयक शास्त्रार्थपूर्ण पत्रों का संग्रह। राजपुताने के, करौली के राजा तथा शाहपुरा के नरेश इनके वेद के विषय में विभिन्न मत थे। इन्होंने वेद के स्वरूप निर्णय के लिए अपने राजपण्डितों से पत्र द्वारा शास्त्रार्थ कराया। उन्हीं पत्रों का संग्रहभूत यह ग्रन्थ है, जो शाहपुरा के नरेश नाहरसिंह वर्मा द्वारा हितचिन्तक प्रेस, काशी से सन् १८९९ ई. में मुद्रित है।

शिक्षा ग्रन्थ

सूर्यनारायण सूरावधानी-आन्ध्रप्रदेश (१९-२० वीं शती) वेलिमिकन्यापुर के निवासी व्यासशिक्षा पर 'वेदतैजस' व्याख्या आचार्य पट्टाभिराम शास्त्री द्वारा सम्पादित और वेदमीमांसा अनुसन्धान केन्द्र के प्रथम पुण्य के रूप में वाराणसी से १९७६ में प्रकाशित। व्यासशिक्षा कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध है। उसकी मुख्य और ६ उपशिक्षाएँ हैं, जिनमें 'व्यासशिक्षा' का मुख्य शिक्षाओं में प्रमुख स्थान है। १८ वीं शती में पाश्चात्त्य विद्वान् ल्यूडर्स ने इसका पहले पहल सम्पादन किया था। फिर यह सूरावधानी की वेदतैजस व्याख्या और राजा घनपाठी की 'सर्वलक्षणमञ्जरीसंग्रह' के साथ १९०८ ई. में दक्षिण भारत से आन्ध्रलिपि में प्रकाशित हुई। अब इस ग्रन्थ की महती उपयोगिता को देखते हुए इसे देवनागरी लिपि में प्रकाशित किया।

राजा घनपाठी, आन्ध्रप्रदेश **(१९-२० वीं शती)** व्यासशिक्षा पर सर्वलक्षणमञ्जरी 'नामक संग्रहग्रन्थ' मूल ग्रन्थ और वेदतैजस व्याख्या के साथ वेदमीमांसा अनुसन्धान केन्द्र, वाराणसी से १९७६ में प्रकाशित। श्री राजा घनपाठी मध्यार्जुन क्षेत्रीय शेरपट्टिग्राम के निवासी श्री रामशेष शास्त्री के दौहित्र थे। उन्होंने 'वेदतैजस' नाम की व्याख्या का भलीप्रकार अवगाहन कर सम्प्रदाय-सिद्ध पदार्थों को बड़ी स्पष्टतापूर्वक सिद्ध किया है।

शिवराम आचार्य - कौण्डिनन्यायशिक्षा १९९२ ई. में स्वाध्यायशाला लाजिम्पाट, काठमाण्डू से प्रकाशित।

मङ्गिपूडि वेङ्कटशास्त्री-व्यासशिक्षाविमर्शः १९९२ ई. में वेङ्कटशास्त्री द्वारा ब्राह्मण वीथी विजयवाडा से तिरुमल तिरुपति देवस्थान की सहायता से प्रकाशित।

गोपालचन्द्र मिश्र (सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में वेद विभाग के अध्यक्ष पद से सेवानिवृत्त) सम्प्रदायप्रबोधिनी शिक्षा-यह शिक्षाग्रन्थ संस्कृत टीका सहित प्रकाशित है।

मीमांसा

बालशास्त्री रानाडे (१८३९-१८८२) मूलतः महाराष्ट्रीय किन्तु काशीवासी विद्वान्। बृहज्ज्योतिष्टोमपद्धतिः। श्री बालशास्त्री ने अपने जीवन में ज्योतिष्टोम यज्ञ का सम्पादन किया था। वे वैदिक कर्मकाण्ड तथा शास्त्र दोनों के प्रकाण्ड पण्डित थे। ऋग्वेदीय शास्त्रों के मार्मिक विद्वान होने के साथ-साथ वे औद्गात्र के लिए आवश्यक सामगान के मधुर गायक भी थे।

प्रभुदत्त अग्निहोत्री (१८६४-१९२९) श्री प्रभुदत्त अग्निहोत्री का अध्यापन क्षेत्र काशी रहा। ये निष्ठावान् वैदिक ब्राह्मण थे। इनका उपनाम गौड़ था, परन्तु सर्वदा अग्निहोत्र व्रत का निर्वाह करने के कारण इनका उपनाम 'अग्निहोत्री' पड़ गया। म. म. पं. शिवकुमार शास्त्री इनके अनन्य मित्र थे। इनका श्रौतपदार्थविवेचनम् यज्ञयागादि के पारिभाषिक शब्दों का अत्यन्त उपादेय कोश है।

कृष्णाचार्य, महाराष्ट्र (१८६८-१८९६) पूना के निकट निरनरसिंहपुर ग्राम के निवासी। ऋग्वेद १/९५ (द्वे विरूपे.) पर संस्कृत टीका। यद्यपि इस सूक्त के देवता इन्द्र हैं, परन्तु व्याख्याकार ने इसकी नृसिंहपरक व्याख्या की है।

अन्नाशास्त्री वारे (१८६६-१९३९) ये नासिक के निवासी विश्रुत वैदिक विद्वान् थे। इन्होंने कई वैदिक ग्रन्थों का सम्पादन, किया, अनेक टीकाएँ लिखीं और धर्मशास्त्रपरक मौलिक ग्रन्थों की रचना की। उनमें से उल्लेखनीय ये हैं-

१. शुक्लयजुर्वेदकर्मकाण्डप्रदीपः २. शुक्लयजुर्वेदशान्तिकाण्डप्रदीपः ३. प्रतिष्ठासरणिप्रदीपः ४. गृह्यकर्मकाण्डप्रदीपः ५. श्रोतकर्मकाण्डप्रदीपः ६. पूर्वकर्मकाण्डप्रदीपः ७. शुक्लयजुर्विधानम् ८. भाषिकसूत्रटिप्पणी ९. मन्त्रभ्रान्तिहरसूत्रटिप्पणी १०. प्रत्यङ्गिरासूक्तसुधा ११. दत्तकनिर्णयामृतम्

वामन शास्त्री किञ्जवाडेकर, महाराष्ट्र **(१९ वीं शती)** ये अपने समय के मूर्धन्य मीमांसक थे। इनके ग्रन्थ हैं-१. अग्न्याधानपद्धतिः २. अग्निहोत्रचन्द्रिका ३. दर्शपूर्णमासप्रयोगः ४. आश्वलायनगृह्यप्रयोगः ५. पश्वालम्भनमीमांसा।

कृष्ण शास्त्री धुले, महाराष्ट्र **(१८७३-१९५३)** ये नागपुर के निवासी थे। संस्कृत की प्राचीन परम्परा के विद्वान होने के साथ-साथ ये आधुनिक विवेचनात्मक शोधपद्धति के भी मर्मज्ञ थे। ग्रन्थ-हौत्रध्वान्तदिवाकरः।

विद्याधर गौड़ अग्निहोत्री, (१८८६-१९४१) - इनका जन्म तत्कालीन पञ्जाब (आधुनिक हरियाणा) प्रान्त के रोहतक जिले में अपने नाना के घर हुआ था। इनके पिता पं. प्रभुदत्त गौड़ काशी के लब्धप्रतिष्ठ वैदिक विद्वान थे। विद्याधर गौड़ की सारस्वत सेवा का केन्द्र भी वाराणसी ही रही। ये पं. शिवकुमार शास्त्री के शिष्य थे। १. **कात्यायन** श्रौतसूत्र की **'सरला'** टीका - यह कात्यायन श्रौतसूत्र के ऊपर कर्काचार्य के भाष्य की टीका है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ७५ पृष्ठों की भूमिका है, जो बड़ी प्रामाणिक और विद्वत्तापूर्ण है। इस भूमिका में यज्ञ की प्रक्रिया को बड़े सरल और सुबोध ढंग से समझाया गया है। विद्याधर जी वैदिक कर्मकाण्ड के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक उभय पक्षों के मर्मज्ञ विद्वान थे। अतः इस व्याख्या में उन्होंने दोनों पक्षों को बड़े उत्तम और विशद ढंग से स्पष्ट किया है। इस टीका का लन्दन और जर्मनी के संस्कृत विद्वत्समाज में बड़ा आदर हुआ। अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी से सन् १९३० ई. में प्रकाशित। २- कात्यायन शुल्व सूत्र की टीका- इनकी यह टीका भी बड़ी व्यावहारिक और विषयोपयोगी है। गौड़ जी ने स्मार्तप्रभु, प्रतिष्ठाप्रभु, विवाहपद्धति, उपनयनपद्धति, वास्तुशान्तिपद्धति, शिलान्यासपद्धति, चूडाकरणपद्धति आदि अन्य कर्मकाण्डपरक ग्रन्थों की भी रचना की। परन्तु कात्यायनश्रौतसूत्र पर 'सरला' टीका ही उनके पाण्डित्य का प्रतिनिधि मेरुदण्ड है।

श्री चिन्नस्वामी "द्राविड़" तमिलनाडु (१८८९-१९५६ ई.) - म. म. पं. चिन्नस्वामी द्राविड़ (मूल नाम-वेंकट सुब्रह्मण्य शास्त्री) का जन्म तमिलनाडु प्रदेश के उत्तर आरकाट

जिले में "मण्डकोन्नतूर" नामक स्थान में सन् १८८६ ई. में हुआ था। इनके पिता अप्पा स्वामी शास्त्री वेद के बहुत बड़े विद्वान थे। इन्होंने प्रारम्भ में अपने पिता से कृष्णयजुर्वेद तथा पं. वेङ्कटरमण शास्त्री से व्याकरण तथा काव्य शास्त्र की शिक्षा ली। बाद मे मद्रास के मैलापुर संस्कृत महाविद्यालय में म. म. कुप्पूस्वामी शास्त्री से साहित्यशास्त्र, पं. चन्द्रशेखर शास्त्री तथा म. म. पं. वेंकट सुब्बाशास्त्री से मीमांसाशास्त्र का गहन अध्ययन किया। महामना मालवीय जी के आग्रहों पर इन्होंने १९१८ ई. से लेकर १९३८ ई. तक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में मीमांसा तथा धर्मशास्त्र का अध्यापन कार्य किया। ये मीमांसा के निष्णात विद्वान् थे। शास्त्री जी की निम्न कृतियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं-

१- आपदेवकृत मीमांसान्यायप्रकाश की 'सारविवेचनी' टीका - "मीमांसान्यायप्रकाश" की यह टीका मीमांसाशास्त्र के दुरूह सिद्धान्तों को सरल रूप में प्रस्तुत करती है। हरिदास संस्कृत सीरीज १५ में १९२५ ई., १९४९ ई. में प्रकाशित। २-तन्त्रसिद्धान्तरत्नावली - यह मीमांसा शास्त्र का मौलिक प्रकरण ग्रन्थ हैं, जिसमें मीमांसा के सिद्धान्तों का विविध उदाहरणों द्वारा विवेचन किया गया है। यह शास्त्री जी के गम्भीर पाण्डित्य का परिचायक ग्रन्थ है। (काशी से १९४४ ई. में प्रकाशित) ३-वैदिकयज्ञमीमांसा ४-यज्ञतत्त्वप्रकाशः इन दोनों ग्रन्थों में यज्ञ का रहस्य सुबोध रीति से समझाया गया है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त शास्त्री जी ने कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का विमर्शात्मक सम्पादन भी किया, जिसमें उनकी भूमिकाएँ तथा टिप्पणियाँ वैदिक वाङ्मय तथा मीमांसाशास्त्र के अनुशीलन के लिए अत्यन्त उपादेय हैं। ये ग्रन्थ निम्नलिखित हैं-

१-मीमांसाकौस्तुभ २-बृहती ३-ताण्ड्यब्राह्मण ४-आपस्तम्बगृह्यसूत्र ५- आपस्तम्बश्रौतसूत्र ६- बौधायनधर्मसूत्र ७- विधितत्त्वसंग्रह ८- तौतातिकमततिलकम्।

डि. टि. शैलताताचार्य (१९-२० वीं शती) संस्कृत कालेज, तिरुवाडि (तञ्जौर) में मीमांसा विषय में प्रोफेसर रहे। मीमांसाभ्युदयः संस्कृत कालेज तिरुवाडि से १९२५ ई. में प्रकाशित। ग्रन्थ ९ अधिकारों (अध्यायों) में विभक्त है, जिसमें मीमांसा सम्बन्धी विषयों, ग्रन्थों, ग्रन्थकारों (पाश्चात्य एवं पौरस्त्य) तथा उनके द्वारा प्रस्तुत विचारों पर निबन्धात्मक शैली में विचार किया गया है।

व्ही. पी. नम्पुतीरी (त्रिवेन्द्रम) - मीमांसान्यायप्रकाश - कारिकावली **१९६२ ई.**।

पट्टाभिराम शास्त्री- श्री पट्टाभिराम शास्त्री मीमांसा शास्त्र के अधिकृत विद्वान थे। इनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ निम्नलिखित हैं-

१- यज्ञतत्त्वप्रकाश-इस ग्रन्थ में शास्त्री जी ने बड़े आकर्षक ढंग से यागों का विस्तृत वर्णन किया है। २-मीमांसानयमञ्जरी-इस ग्रन्थ की रचना दो भागों में है। इस उत्कृष्टमीमांसाशास्त्रीय ग्रन्थ में आठ अध्यायों में मीमांसादर्शन से सम्बद्ध प्रत्येक सिद्धान्त का गहन विवेचन किया गया है।

रेमिल्ल सूर्यप्रकाश शास्त्री, आन्ध्रप्रदेश-श्री सूर्यप्रकाश शास्त्री आन्ध्रप्रदेश के मीमांसाशास्त्र

और वेद के मूर्धन्य विद्वान् हैं। वे श्री गौतमी विद्यापीठ संस्कृत कालेज के प्राचार्य पद से सेवानिवृत्त हुए। नित्यकाम्यकर्ममीमांसा - हैदराबाद से १९९० ई. में मुद्रित। इस ग्रन्थ में ५ अध्याय हैं जिनमें वेदविहित नित्य और काम्य कर्मों का विवेचन किया गया है।

श्री कुलमणि मिश्र, उड़ीसा-श्री सदाशिव केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ में धर्मशास्त्र के प्राध्यापक थे। पारस्करगृह्यसूत्र की व्याख्या "मार्गदर्शिनी" प्रकाशक - डॉ. हरिहर झा, प्राचार्य, श्री सदाशिव केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, पुरी उड़ीसा। १९८१ ई. में प्रथम बार प्रकाशित। इनके प्रधानसम्पादकत्व में महत्त्वपूर्ण 'धर्मकोश' का प्रकाशन पुरी से हुआ है।

मण्डन मिश्र-(श्री ला. ब. ब. शास्त्री राष्ट्रिय विद्यापीठ के कुलपति पद से अवकाश प्राप्त) इन्होने मीमांसादर्शन लिखा।

मीमांसा सूत्र पर शाबर भाष्य की टीकाएँ -

हरिहरकृपालु द्विवेदी, उत्तर प्रदेश (१८७०-१९४९) इनका जन्म प्रयाग जनपद में त्रिवेणी संगम के समीपवर्ती पण्डितपुर गॉव में हुआ था। इनके पिता पं. बलभद्र द्विवेदी बरॉव राज्य के प्रधान पण्डित थे। म. म. हरिहरकृपालु द्विवेदी जी ने काशी आकर पं. राममिश्र शास्त्री से वेदान्तमीमांसादि दर्शनों का अध्ययन किया था। प्रसिद्ध नैयायिक वामाचरण भट्टाचार्य तथा वेदान्तशिरोमणि लक्ष्मणशास्त्री द्राविड़ इनके सहपाठी थे।

कल्पलतिका (मीमांसासूत्रों पर शाबरभाष्य की तर्कपादान्त टीका) - यह मीमांसा के प्रमेयों का विस्तार से वर्णन करने वाली तथा बोद्धों के विज्ञानवाद, क्षणभङ्गवाद आदि का विशदता से खण्डन करने वाली एक प्रौढ़ रचना है (७०० पृष्ठ)।

वासुदेवशास्त्री अभ्यङ्कर, महाराष्ट्र-आपदेव के मीमांसान्यायप्रकाश की टीका (१९३७ ई.)।

नरहरिशास्त्री मारुलकर, महाराष्ट्र मीमांसासूत्रों पर टीका "बालबोधिनी" कोल्हापुर से १९५१ में प्रकाशित।

मदनमोहन पाठक (१९वीं शती) १-आपदेवकृत "मीमांसान्यायप्रकाश" पर टिप्पणी बनारस से १९०९ ई. में प्रकाशित। २-वैद्यनाथ तत्सत्कृत "न्यायबिन्दु" पर टिप्पणी बम्बई से १९१५ ई. में प्रकाशित।

जीवानन्द विद्यासागर (१९ वीं शती) लौगाक्षिभास्करकृत "अर्थसंग्रह पर टीका कलकत्ता से १८७४ एवं १९०१ ई. में प्रकाशित।

कृष्णताताचार्य (१९ वीं शती का उत्तरार्ध)- तिरूप्पुत्कुञ्कि के निवासी। भाट्टसार - मद्रास से प्रकाशित।

कृष्णनाथ भट्टाचार्य "न्यायपञ्चानन" (१९ वीं शती-उत्तरार्ध) ये नवद्वीप के समीप पूर्वस्थली के निवासी थे। लौगाक्षिभाकरकृत अर्थसंग्रह की प्रतिपादिका नाम्नी टीका कलकत्ता से १९०० ई. में प्रकाशित। रचनाकाल- १८९८ ई.।

प्रमथनाथ तर्कभूषण (१६ वीं शती उत्तरार्ध) लौगाक्षिभास्करकृत अर्थसंग्रह पर 'अमला' टीका कलकत्ता से १८६६ में प्रकाशित।

गङ्गानाथ झा (१८७१-१६४१) गङ्गानाथ झा संस्कृत के अंग्रेजीवेत्ता विद्वानों में मूर्धन्य थे। इन्होंने मीमांसा, वेदान्त, धर्मशास्त्र सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ एवं निबन्ध अंग्रेजी में लिखे। ये इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कुलपति रहे। मण्डनमिश्रकृत "मीमांसानुक्रमणिका" पर मण्डनटीका- चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला ६८ में वाराणसी से प्रकाशित, १६३० ई.।

सुदर्शनाचार्य, पंजाब (१६-२०वीं शती) पार्थसारथि मिश्र के ग्रन्थ "शास्त्रदीपिका" पर "प्रकाश" नाम्नी टीका, वाराणसी से १६०७ ई. में प्रकाशित।

नित्यानन्द "पर्वतीय" (१८६७-१६३१) मूलतः पर्वतीय परन्तु काशी के निवासी विद्वान्। १- कृष्ण यज्वा की "मीमांसापरिभाषा" पर "लघुटिप्पणी" द्वितीय संस्करण वाराणसी से १६१५ ई. में प्रकाशित। यह ग्रन्थ मीमांसाशास्त्र में प्रारम्भिक प्रवेश हेतु बड़ा उपयोगी है। इसमें मीमांसाशास्त्र में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों को न्याय के लक्षण-समन्वय की पद्धति से स्पष्ट कर उनके अर्थ का विशदीकरण किया गया है। २-कातीयेष्टिदीपकः - १६२४ ई.। यह कात्यायन श्रौतसूत्रसम्मत इष्टिनिरूपणात्मक ग्रन्थ है।

रामसुब्रह्मण्य (रामसुब्बा) शास्त्री - (१६-२० वीं शती) खण्डदेव की भाट्टदीपिका पर 'कल्पतरु' व्याख्या- तंजौर से १६१५ ई. में प्रकाशित।

एन.एस. अनन्तकृष्ण शास्त्री (१८८६)-मीमांसाशास्त्रसारः (मीमांसासिद्धान्ततत्त्वार्थप्रकाशः (बम्बई से १६३१ में प्रकाशित।)

टी. यू. वीरराघवाचार्य -आपदेवकृत "मीमांसान्यायप्रकाश" पर "मीमांसान्यायसुधा" टीका- तिरुवाडि से १६३५ ई. में प्रकाशित।

एन. आर. शर्मा- कृष्णयज्वा की "मीमांसापरिभाषा" पर टिप्पणी पञ्चम संस्करण बम्बई से १६५० ई. में प्रकाशित।

ए. चटर्जी- मीमांसाप्रकाश - कलकत्ता से १६५६ ई. में प्रकाशित।

वैशेषिकसूत्र पर व्याख्याएं

उत्तमूर वीरराघवाचार्य-न्याय एवं विशिष्टाद्वैत के प्रतिष्ठित विद्वान् "परमार्थभूषणम्" के प्रणेता। उपाधि-"तर्कार्णव"। वैशेषिकदर्शन पर "रसायन" व्याख्या-मद्रास से १६५८ ई. में प्रकाशित। इस कृति में विद्वान लेखक ने वैशेषिकदर्शन की प्रमुख टीकाओं, भाष्यों प्रशस्तपादभाष्य, व्योमवती, न्यायकन्दली, किरणावली आदि का आलोडन करके प्रामाणिक सूत्रपाठ प्रस्तुत किया है, जिसके अनुसार कुल सूत्र संख्या ३७३ हैं। व्याख्या की शैली प्रौढ़, प्राञ्जल एवं गम्भीर है। मतान्तरों के आक्षेपों का निराकरण करते हुए वैशेषिक सिद्धान्तों की परिरक्षा की गयी है- कार्यकारणभाव, सामान्य-विशेष-समवाय का निरूपण, वायु का अतीन्द्रियत्व, अनुमान, हेत्वाभासादि, परमाणु की स्थापना, आगम-प्रामाण्य, पाकज प्रक्रिया,

ईश्वरसिद्धि आदि इस दर्शन के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त-स्थलों पर व्याख्याकार का वैदुष्य एवं विषय विवेचन सामर्थ्य दर्शनीय है।

(स्वामी) हरिप्रसाद-वैशेषिकसूत्र की "वैदिकवृत्ति" निर्णयसागर प्रेस बम्बई से १९६१ ई. में प्रकाशित। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, यह वैशेषिक सूत्रों की वेदानुसारिणी वृत्ति है। इसमें शङ्कर मिश्र कृत "उपस्कार" के सूत्रपाठ का अनुसरण किया गया है। सूत्रों की संख्या ३७३ है। इस वृत्ति की विशेषता यह है कि इसमें वेदों के अनुसार सूत्रों में उक्त पदार्थों का विवेचन है, जैसे-पृथिवी के विवेचन-स्थल में श्रुति का प्रमाण देते हुए उसका स्वाभाविक रूप 'कृष्ण' सिद्ध किया गया है, अग्नि का स्वाभाविक रूप "लोहित" माना गया है जबकि नव्य नैयायिकों वैशेषिकों के मतानुसार वह भास्वर शुक्ल है, मन को अणुपरिमाण न मानकर मध्यम परिमाण माना गया है, ज्ञान आदि गुणों को मनःसंयोग विशिष्ट आत्मा के गुण माना गया है, कूटस्थ आत्मा के नहीं। मोक्ष को आनन्दमय माना गया है जो दुःख की अत्यन्त निवृत्ति पर ही संभव है, अतः वैशेषिक सूत्र में "दुःख की अत्यन्त निवृत्ति' को मोक्ष कह दिया गया है, आत्मा को "विभु" न मानकर अणु परिमाण वाला माना गया है। कारणत्व विवेचन के प्रसंग में सभी दर्शनों की कारण विषयक मान्यताओं में समन्वय-स्थापना, परमाणुओं को सांख्य के गुणों अथवा वेदान्त दर्शन की प्रकाश, क्रिया, आवरणशक्ति के समानान्तर बताना आदि इस वृत्ति की प्रमुख उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं।

(स्वामी) ब्रह्ममुनि परिव्राजक- इन्होंने ५८ ग्रन्थों की रचना की थी। वैशेषिक दर्शन पर "ब्रह्ममुनि" भाष्य- आर्यकुमार महासभा, बड़ौदा से १९६२ में प्रकाशित। इस भाष्य में सूत्रगत प्रत्येक पद को अन्वयानुसार लेकर उसकी व्याख्या की गयी है। अनेक स्थलों पर शास्त्रीय विषयों को लौकिक उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है। इस भाष्य में आत्मा के निरूपक सूत्र में सिद्ध किया गया है कि सूत्रकार परमात्मा और जीवात्मा दोनों को मानते हैं। परमात्मा विभु है, जबकि जीवात्मा एकदेशीय व शरीरवर्ती होने से अविभु (अणु) है। भाष्यकार ने अनेकस्थलों पर शङ्कर मिश्र, जयनारायण एवं चन्द्रकान्त आदि के मतों से अपनी असहमति दर्शायी है, जैसे प्रथम आह्निक के द्वितीय सूत्र में आये "अभ्युदय" पद का अर्थ भाष्यकार ने "सांसारिक सुख और ऐश्वर्य" किया है, जबकि शङ्कर मिश्र इसका अर्थ तत्त्वज्ञान या "स्वर्ग" करते हैं। इन्होंने इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में लिखित अपने प्राक्कथन में कहा है कि "वैशेषिक" आदि दर्शनों के सभी नाम यौगिक हैं। सभी दर्शन वेदों के उपाङ्ग होने से वेदों के साथ ही हुए हैं, अतः सभी दर्शन समकालीन हैं। उनमें पौर्वापर्य की कल्पना अनुचित है। इन्होंने वैशैषिक दर्शन के निमित्त कारण को "वैशेषिक" नाम से अभिहित किया है, यह एक नवीन उद्भावना है।

काशीनाथ शर्मा- वैशेषिक दर्शन पर "वेदभास्कर" भाष्य लेखक द्वारा ही १९७२ ई. में हिमाचल प्रदेश से प्रकाशित इस भाष्य में परम्परागत शास्त्रीय पद्धति से नहीं, अपितु वर्तमान विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में "पदार्थ" विद्यास्वरूप वैशेषिक दर्शन की व्याख्या की गयी है। व्याख्या के साथ अथवा पादटिप्पणी में वैज्ञानिक परिभाषाएँ या आंग्ल पर्याय भी दिये

गये हैं, जिससे इस भाष्य की विज्ञानपरकता अधिक व्यक्त होती है। शर्मा जी ने प्रथम सूत्र में आये "अर्थ" शब्द को मंगलवाचक नहीं माना है। विशेष पदार्थ की वैज्ञानिक व्याख्या की है। इस दर्शन के प्रवर्तक को गली में पड़े हुए कणों को खाने वाला कोई भिक्षुक न मानकर साक्षात् वामदेव महेश्वर को ही "कणाद" माना है, जिसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है- "वमति सृष्ट्यादौ कणान् परमाणूनिति वामदेवोऽहङ्कारः। अत्ति आत्मसात्करोति कणान् परमाणून्सर्गान्त इति कणादोऽहङ्कारः"। इस भाष्य में धातुओं को 'तैजस' नहीं अपितु पार्थिव ही माना गया है। इस प्रकार इसमें अनेक मौलिकताएँ हैं। भाष्यकार ने अपने मतों को वेद से प्रमाणित किया है, अतः इस भाष्य का नाम "वेदभास्कर" सर्वथा सटीक है।

सांख्य दर्शन

कविराज यति- सांख्यतत्त्वप्रदीपः (तत्त्वसमास" पर टीका) चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला-५० में १९१८-१९२१ ई. में प्रकाशित।

कृष्णामृत आचार्य- तत्त्वमीमांसा-चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला ५० में प्रकाशित। **जीवानन्द विद्यासागर** (१९ वीं शती का उत्तरार्ध) कपिल के सांख्यसूत्र पर टीका-कलकत्ता से १८७३ में प्रकाशित। **प्यारेलाल आत्मज**-कपिल के सांख्यसूत्र पर टीका बम्बई से १८९५ में प्रकाशित। **कृष्णनाथ न्यायपञ्चानन** वाचस्पति की "तत्त्वकौमुदी" की व्याख्या - ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका पर वाचस्पतिमिश्र द्वारा प्रणीत "तत्त्वकौमुदी" की कृष्णनाथ ने **व्याख्या** लिखी है। १९०४ ई. मे कलकत्ता से प्रकाशित। **पञ्चानन तर्करत्न भट्टाचार्य** (१९ वीं शती) ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका पर "पूर्णिमा" टीका कलकत्ता से १९०३ एवं १९०९ ई. में प्रकाशित। **नरेन्द्रनाथ तत्त्वनिधि** (१९ वीं शती-उत्तरार्ध) "तत्त्वसमास" पर भाष्य कलकत्ता से १९१५ में प्रकाशित। **हरिहरानन्द आरण्य** सांख्यतत्त्वालोक-सरस्वती भवन ग्रन्थमाला में वाराणसी से प्रकाशित। **बालराम उदासीन** जन्म १८४५ ई. १-सांख्यसूत्र पर टीका - बम्बई से १९०५ ई. में प्रकाशित। २- ईश्वरकृष्णकृत "सांख्यकारिका" पर "विद्वत्तोषिणी" टीका -बम्बई से १९०७ ई. में प्रकाशित। **कुञ्जबिहारी तर्कसिद्धान्त** सांख्यसूत्र पर "तत्त्वबोधिनी" टीका कलकत्ता से १९१९ ई. में प्रकाशित। **कालीपद तर्काचार्य** - विज्ञानभिक्षु के "सांख्यसार" पर "प्रभा" टीका कलकत्ता से १९३० ई. में प्रकाशित। **हरिराम शुक्ल** वाचस्पति मिश्र कृत तत्त्वकौमुदी पर **"सुषमा"** टीका - काशी संस्कृत सीरीज १२३ में १९३७ ई. में प्रकाशित। **शिवनाराण शास्त्री**- वाचस्पति मिश्र कृत "तत्त्वकौमुदी" पर "सुषमा" टीका-बम्बई से १९४० ई. में प्रकाशित। **सीताराम शास्त्री** - ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका पर अभिनवराजलक्ष्मी टीका-बनारस से १९५३ ई. में प्रकाशित। **ब्रह्मलीन मुनि**- सांख्यदर्शनम्-दिल्ली से १९५५ ई. में प्रकाशित। **ज्वालाप्रसाद गौड़** ये

वाराणसी के संन्यासी संस्कृत कालेज में अध्यापक थे। वाचस्पतिमिश्रकृत "तत्त्वकौमुदी" की टीका संन्यासी संस्कृत कालेज से ही प्रकाशित।

योग दर्शन

बालराम उदासीन- पतञ्जलि के योगसूत्र पर टीका - बङ्कीपुर से १८६७ और १८६७ ई. में प्रकाशित। **वेङ्कटराव रामचन्द्र**- पतञ्जलि के योगसूत्र पर टीका पूना से १८८७ और १६०६ ई. में प्रकाशित। **गदाधर वागदीय - योगरहस्यम्**- कलकत्ता से १६३२ ई. में प्रकाशित। **ताराचरण तर्करत्न** - व्यासकृत योगभाष्य की व्याख्या बनारस से १६५३ ई. में प्रकाशित। **कुलयशस्वी शास्त्री (श्री शङ्करब्रह्मण्य-देव तीर्थस्वामी)** - योगमकरन्दः (योगमञ्जरी नाम्नी स्वोपज्ञ व्याख्यासहित) सरस्वती प्रेस, कलकत्ता से १६५२ ई.में मुद्रित। ग्रन्थ का प्रकाशन ग्रन्थकार के पर्यवेक्षण में हुआ है। यह ग्रन्थ योगसूत्र के समान चार पादों में विभक्त है। ग्रन्थ में विषय का प्रतिपादन कारिकाओं में है, जिसपर व्याख्या भी ग्रन्थकार ने स्वयं लिखी है। इसमें योगसूत्र में प्रतिपादित विषयों की ही प्रस्तुति है, परन्तु कहीं-कहीं लेखक के मौलिक चिन्तन का भी निदर्शन मिलता है, जैसे-अहिंसा निरूपण के प्रकरण में उसने हिंसा के ७० भेद करके अपने सूक्ष्म विवेचन का परिचय दिया है। **ठक्कन झा शर्मा** (१८८४-१६४६) ग्रन्थ योगरत्नावली, योगदर्शन की एक मौलिकरचना।

न्याय-वैशेषिक दर्शन

बारहवीं शताब्दी में गङ्गेश के आविर्भाव के फलस्वरूप विषयप्रतिपादन की एक नयी शैली का प्रारम्भ हुआ, जिसे-"नव्य न्याय-शैली" के नाम से जाना जाता है। इसमें अवच्छेद्य-अवच्छेदक, अनुयोगी-प्रतियोगी, प्रकारता-विषयता आदि पारिभाषिक पदों के द्वारा संक्षेप एवं स्पष्टता के साथ दुरूह विचारों की प्रस्तुति हो सकती थी। इस शैली में इतनी सूक्ष्मता एवं स्पष्टता के साथ विषय को प्रस्तुत करने की क्षमता है कि विचाराभिव्यक्ति के लिए इससे अच्छी किसी शैली की कल्पना कर पाना कठिन है जैसा कि डी. सी. गुहा कहते हैं-

"The technigue of Navya Nyaya is so thorough and subtle that it is almost impossible to caneive a more purfect and unambiguous method of exprassion in Sanskrit, if not in any other language (Navya Nyaya System of Logic)

यही कारण है कि बारहवीं शताब्दी के उपरान्त सम्पूर्ण विद्वत्समाज ने इसे विचाराभिव्यक्ति के साधन के रूप में अपना लिया। चाहे वह नव्यव्याकरण का क्षेत्र हो या नव्यवेदान्त का, नव्यस्मृति, नव्य मीमांसा एवं नव्य न्याय सभी क्षेत्रों के विद्वानों ने निर्बाध भाव से इस शैली का प्रयोग किया। प्रयोग ही नहीं बल्कि उसमें उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करने

की चेष्टा की। इससे मूल ग्रन्थों पर लिखी गयी टीकाएँ सरल होने के स्थान पर कठिन होती चली गयीं, क्योंकि पारिभाषिक शब्दों के बहुल प्रयोग से, जबकि उन सभी में गहन विचारों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति की क्षमता कूट-कूट कर भरी हो, यह शैली इतनी दुरूह हो गयी कि परम्परागत गुरुओं से सीखे बिना इसका रहस्योन्मीलन अशक्य हो गया। यही कारण है कि दर्शन एवं शास्त्र की किसी विधा में मर्मज्ञ होने के लिए विज्ञ गुरु से नव्यन्याय का सम्यक् अनुशीलन प्राथमिक शर्त बन गयी। इसीलिए हम देखते हैं कि १६-२० वीं शती के अधिकांश विद्वान् न्यायशास्त्र में पारङ्गत हैं।

इस शैली की परिष्कार-प्रियता और प्रौढ़ता ने जहाँ विद्वानों को अपनी ओर आकृष्ट किया और उन्होंने गादाधरी, जागदीशी आदि पर विविध परिष्कारों से युक्त अपने टीकाग्रन्थ एवं मौलिक ग्रन्थ (द्रष्टव्य शशिनाथ झा द्वारा प्रणीत त्रितलावच्छेदकतावाद) लिखे वहाँ सामान्य विद्यार्थिवर्ग अथवा जिज्ञासुओं के लिए ये ग्रन्थ अनुपयुक्त पाये गये। न्याय-वैशेषिक दर्शन में सामान्य रूप से अवगाहन के लिए विश्वनाथ न्यायपञ्चानन की "सिद्धान्तमुक्तावली" सर्वथा उपयुक्त पायी गयी। इसी का इस युग में बहुशः अध्ययन-अध्यापन हुआ और इसी पर सर्वाधिक टीकाग्रन्थ लिखे गये। दूसरा लोकप्रिय ग्रन्थ अन्नभट्ट का "तर्कसंग्रह" रहा। उस पर भी अनेक टीकाएँ, टिप्पणियाँ, व्याख्याएँ आदि लिखी गयीं।

इस युग में न्याय-वैशेषिक, व्याकरण एवं अद्वैतवेदान्त ही अध्ययन-अध्यापन के सर्वाधिक प्रचलित विषय थे। अतः इन्हीं शास्त्रों पर सर्वाधिक ग्रन्थों एवं टीकाओं का प्रणयन मिलता है। मूल गन्थों एवं क्रोडपत्रों का बहुशः प्रकाशन होने से भी न्यायशास्त्र के रहस्य लोगों को उजागर हुए और लोगों ने अपनी टीकाओं में उनपर विचार व्यक्त किये।

गिरिधर उपाध्याय, बिहार **(१७५०-१८५० ई. लगभग)** पं. गिरिधर उपाध्याय का जन्म मिथिला के मँगरौली ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम वागीश शर्मा था। ये 'पदवाक्यरत्नाकर' के प्रणेता गोकुलनाथ उपाध्याय के शिष्य थे। विभक्त्यर्थनिर्णय - चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला १२ में मुद्रित। इस महत्त्वपूर्ण विशद ग्रन्थ में न्यायमतानुसार परमतखण्डन एवं स्वमतस्थापनपूर्वक प्रथमादि सातों विभक्तियों के अर्थ पर विचार किया गया है। इसमें स्थान-स्थान पर 'पदवाक्य-रत्नाकर' तथा अपने गुरु गोकुलनाथ उपाध्याय का निर्देश किया गया है।

पट्टाभिराम शास्त्री-ये दाक्षिणात्य आलूर नृसिंह शास्त्री के पुत्र तथा न्यायशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे। त्रिंशच्छ्लोकी-अण्णामलै विश्वविद्यालय से १६३७ ई. में प्रकाशित। इस ग्रन्थ में "न च-वाच्यम्" "ननु-इति चेन्न" "यदि-तदा" "वक्तुं युक्तम्" इत्यादि शास्त्रार्थ में प्रयुक्त होने वाले शब्दों के अर्थ, लक्षण और परिष्कार का प्रतिपादन है। ग्रन्थकार ने इस पर स्वोपज्ञ व्याख्या भी लिखी है जिसमें इन वाक्यांशो के अर्थ पर उदाहरणपूर्वक विचार किया गया है।

शतकोटि राम शास्त्री (१६ वीं शती) ये मैसूर राजसभा के मान्य विद्वान् तथा दाक्षिणात्य नैयायिकों के परमगुरु थे। देश में अनुगमसम्प्रदाय के प्रचार का मूल इन्हीं से है।

सप्ततिविभाजकलक्षणों पर "शतकोटि" नामक क्रोडपत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और अनुगमसम्प्रदाय के प्रसरण का हेतुभूत होने से मूल ग्रन्थ के समान ही आदरणीय हैं। रचनाकाल-१८५० ई.।

राखालदास न्यायरत्न, बंगाल **(१८२६-१६१४ ई.)** इनका जन्म बंगाल के चौबीस परगना जिले के अन्तर्गत भाटपाड़ा ग्राम में हुआ था। इन्होंने पं. जयराम सार्वभौम से व्याकरणशास्त्र तथा काव्यशास्त्र एवं यदुनाथ सार्वभौम से न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था। छात्रावस्था में ही इन्होंने नवद्वीप के गोकुलनाथ न्यायरत्न के साथ "पक्षता" के विषय में विचार करके प्रचुर ख्याति अर्जित की थी। ये अपने समय में न्यायशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् माने जाते थे। काशी और बंगाल, दोनों शिक्षा केन्द्रों पर इनकी पूर्ण प्रतिष्ठा थी। पञ्चानन तर्करत्न इनके शिष्य थे जिन्होंने ब्रह्मसूत्र पर "शक्तिभाष्य" तथा सांख्यदर्शन पर "पूर्णिमा" टीका आदि ग्रन्थ लिखे। १- तत्त्वसारः २- अद्वैतवादखण्डनम् ३- दीधितिकृत्न्यूनतावादः ४- गदाधरन्यूनवादः। इन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर दीधितिकार रघुनाथ तथा गदाधर की न्यूनताओं को प्रदर्शित किया है। ५- शक्तिवादरहस्यम् ६- मायावादनिरासः।

शशिनाथ झा, बिहार **(१६६३ ई. में देहावसान)** - इन्होंने गुजरात और बिहार में भारतीय दर्शन की विविध शाखाओं का ६० वर्षों से अधिक समय तक अध्यापन किया।

त्रितलावच्छेदकतावाद - यह ग्रन्थ अकेला ही झा जी के पाण्डित्य का डिण्डिम नाद करने को पर्याप्त है। नव्य न्याय के प्रौढ़ तर्क से संवलित इस ग्रन्थ में तीन कोटियों तक प्रयुक्त अवच्छेदकत्व के विषय में विचार किया गया है। यह ग्रन्थ दरभंगा से १६५५ ई. में प्रकाशित है। इन्होंने "खण्डनसारः" नामक एक अन्य ग्रन्थ भी लिखा है। इसके अतिरिक्त कई टीकाएँ लिखीं।

लोकनाथ झा- ये म. म. बालकृष्ण मिश्र के गुरु तथा धर्मदत्त (बच्चा) झा के समकालीन थे। दरभंगा में घर पर ही विद्यादान करते रहे।

१- उभयाभावादिवारकपरिष्कारः - नव्यन्याय की शैली में रचित यह प्रौढ़ ग्रन्थ वाराणसी से १६१८ ई. में प्रकाशित है। २- **जातिबाधकपरिष्कारः।**

वेप्पत्तूरु सुब्रह्मण्य शास्त्री- ये न्यायशास्त्र के परिनिष्ठित विद्वान तथा अण्णामलै विश्वविद्यालय में न्यायवेदान्त के अध्यापक थे। अपनी विद्वत्ता के लिए इन्हें राष्ट्रपति सम्मान से सम्मानित किया गया। १६८४ ई. के लगभग इनका निधन हुआ। शाब्दतरङ्गिणी- यह इनका मौलिक ग्रन्थ है। यह ६ तरङ्गों में विभाजित है जिसमें वाक्यार्थबोध सम्बन्धी विविध विषयों का अनुशीलन किया गया है। इसका प्रकाशन मद्रास विद्यासमिति द्वारा हुआ है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त इन्होंने व्युत्पत्तिवाद लकारार्थ पर "विवरण" नाम्नी टीका भी लिखी है।

अभेदानन्द भट्टाचार्य, बंगाल भगवानदास संस्कृत महाविद्यालय, हरिद्वार में प्राचार्य पद पर कार्यरत। **न्यायप्रमाणसमीक्षा-** १६८७ ई. में परिमल प्रकाशन, शक्तिनगर, दिल्ली से प्रथम बार प्रकाशित। इसमें न्यायशास्त्रीय ग्रन्थों में प्रतिपादित प्रमाणसम्बन्धी सिद्धान्तों की सरल भाषा में समीक्षा की गयी है।

एन. एस. रामानुज ताताचार्य-ये प्रसिद्ध नैयायिक श्री कृष्ण ताताचार्य के पुत्र, और स्वयं न्याय, वेदान्त, व्याकरणादि शास्त्रों के तलस्पर्शी विद्वान् तथा राष्ट्रपति सम्मान से सम्मानित हैं। इन्होंने तिरुपति केन्द्रीय विद्यापीठ के कुलपति पद से अवकाश ग्रहण किया। सम्प्रति पाण्डिचेरी के प्राच्य विद्याविभाग से सम्बद्ध हैं।

प्रत्यक्षतत्त्वचिन्तामणिविमर्शः-यह ताताचार्य जी का मौलिक ग्रन्थ है जो तिरुपति विद्यापीठ से प्रकाशित है। १९९४ ई. में इन्हें राम कृष्ण डालमियाँ श्री वाणी न्यास से भी सम्मानित किया गया। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त इन्होंने तर्कसंग्रहशाब्दबोधः, तर्कसंग्रहदीपिकाप्रकाशिका व्याख्या "बालप्रिया" तथा गादाधरी के विभिन्न अंशों पर व्याख्याओं की भी रचना की है।

बदरीनाथ शुक्ल, उ. प्र.-ये न्यायशास्त्र के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् थे। इन्होंने सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति पद से अवकाश ग्रहण किया। आरम्भवादः शारदा प्रकाशन, वाराणसी से प्रकाशित। यह नव्यन्याय की शैली में उपनिबद्ध महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसमें असत्कार्यवाद की स्थापना की गयी है। इसमें सांख्य के सत्कार्यवाद की गम्भीर आलोचना कर परमाणुकारणतावाद का युक्तिपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। इस सन्दर्भ में शङ्कराचार्य, मधुसूदन सरस्वती तथा आधुनिक विद्वान् पं. बच्चा झा के विचारों एवं तर्कों का प्रतिवाद किया गया है। अन्त में प्रकृति एवं अविद्या की विश्वोपादानकारणता का निराकरण किया गया है।

शुक्ल जी ने गङ्गेश की "तत्त्वचिन्तामणि" के मंगलवाद पर मथुरानाथ तर्कवागीश की प्रौढ़ व्याख्या का सम्पादन भी किया है जिसमें स्थान-स्थान पर मूल और व्याख्या के महत्त्वपूर्ण स्थलों पर पाण्डित्यपूर्ण टिप्पणियाँ लिखी हैं। इसका प्रकाशन सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय (वाराणसी) से हुआ है।

(क) न्यायविषयक ग्रन्थों पर टीकाएँ

गौतम के "न्यायसूत्र" पर टीका-ग्रन्थ

पञ्चानन भट्टाचार्य तर्करत्न (जन्म १८६६ ई.) न्यायसूत्र के अनुमान खण्ड पर "अनुमितिविवृतिः" नाम्नी टीका।

हरिप्रसाद स्वामी- **वैदिकवृत्तिः** बम्बई से १९१९ ई. में मुद्रित।

सुदर्शनाचार्य-प्रसन्नपदा नाम्नी न्यायसूक्तवृत्ति, बम्बई से १९२२ ई. में प्रकाशित।

श्री सुदर्शनाचार्य न्यायदर्शन के साथ-साथ पूर्व मीमांसा तथा वेदान्त के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। इन्होंने अद्वैतवेदान्तविषयक "अद्वैतचन्द्रिका" नामक ग्रन्थ की रचना की है।

कैलाशचन्द्र शिरोमणि- इन्होंने वाराणसी क्वीन्स कालेज में १८८० ई. से लेकर १९०७ ई. तक अध्यापन किया। १८९९ ई. में इन्हें महामहोपाध्याय की उपाधि प्राप्त हुई। न्यायसूत्र पर "भाषाच्छाया" नाम्नी टीका।

गङ्गानाथ झा (१८७१-१६४१ ई.) **खद्योत** नाम्नी वृत्ति-चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला ५५ में मुद्रित।

बालकृष्ण मिश्र (१८८८-१६४३ ई.) पं. शशिनाथ झा एवं बच्चा झा के शिष्य। **तात्पर्यविवृतिः** (न्यायसूत्रवृत्ति) - वाराणसी से १६१६ ई. में मुद्रित।

यदुनाथ मिश्र, बिहार (१६-२० वीं शती) न्यायसूत्रप्रदीप - १८८५ ई.।

आशुतोष तर्कभूषण, बंगाल- न्यायसूत्रटीका-कलकत्ता से प्रकाशित, १८६४ ई.।

राधामोहन विद्यावाचस्पति, बंगाल न्यायसूत्रविवरणम्-वाराणसी से पण्डित नूतन ग्रन्थमाला - २३ में मुद्रित, १६०१ ई.। यह ग्रन्थ आधुनिक समालोचनात्मक दृष्टिकोण से लिखा गया है। इसमें सूत्रों के पाठभेद का भी निर्देश किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि "तत्त्वं तु बादरायणात्" न्यायदर्शन के चतुर्थ अध्याय का अन्तिम सूत्र है। "लघुचन्द्रिकाव्याख्यान तथा विट्ठलेशी" से यह तथ्य प्रमाणित होता है।

हरिदत्तशर्मा त्रिवेदी (१६ वीं २० वीं शती) ग्रन्थ तत्त्वसुधालहरी नाम्नी न्यायसूत्रवृत्ति, लाहौर से १६१३ में प्रकाशित।

अम्बाप्रसाद शास्त्री (१६-२० वीं शती) न्यायसूत्रटिप्पणी, चौखम्बा सां.ग्र. मा. से अप्रैल १६२० में मुद्रित।

"तत्त्वचिन्तामणि" (गङ्गेशकृत) की टीकाएँ

मधुसूदन भट्टाचार्य, (बंगाल)-तत्वचिन्तामणि पर "सुषमा" टीका, कलकत्ता से आवर हेरिटेज-४ में प्रथम बार प्रकाशित, १६५६ ई.।

गुरुप्रसाद शास्त्री तत्त्वचिन्तामणि के "सिद्धान्तलक्षण" पर **दीपिका** टीका वाराणसी से १६३३, १६३७ ई. में प्रकाशित।

श्यामसुन्दर झा ये हिन्दू गुरुकुल संस्कृत महाविद्यालय, सूरत में प्राचार्य थे। चन्द्रिका व्याख्या - चिन्तामणि के व्याप्तिपञ्चक तथा सिंहव्याघ्रलक्षण पर "माधुरी" एवं "जागदीशी" टीकाओं के तात्पर्य को स्पष्ट करने वाली व्याख्या। ग्रन्थकार द्वारा ही १६५७ ई. में प्रथम बार वाराणसी से प्रकाशित।

स्वामी दिव्यानन्द (दत्तात्रेय शास्त्री) "लक्ष्मी" व्याख्या तथा उस पर "दिव्या" नाम्नी स्वोपज्ञ टिप्पणी। यह व्याख्या मूल चिन्तामणि ग्रन्थ तथा उस पर "दीधिति" तथा "जागदीशी" के तात्पर्य का प्रकाशन भली-भाँति करती है। इसके व्याख्यापेक्ष शास्त्रार्थपूर्ण स्थलों को स्पष्ट करने के लिए स्वामी जी ने स्वयं उस पर "दिव्या" नामक टिप्पणी लिखी है। यह नव्य न्याय की परिष्कार शैली का प्रौढ़ ग्रन्थ है। स्वामी जी द्वारा स्वयं वाराणसी से १६७० ई. में प्रकाशित।

"गादाधरी" तत्त्वचिन्तामणि की व्याख्या से सम्बद्ध टीकाग्रन्थ क्रोडपत्र इत्यादि-
कालीशङ्कर भट्ट- गादाधरी पर क्रोडपत्र। माधुरी, जागदीशी और न्यायकुसुमाञ्जलि पर

इनके क्रोडपत्रों के साथ वी. पी. द्विवेदी, ढुण्ढिराज शास्त्री और वामाचरण भट्टाचार्य (द्वितीय) के द्वारा सम्पादित तथा चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला-२५ में वाराणसी से १६१६ एवं १६२४ ई. में २ भागों में प्रकाशित।

रघुनाथ सूरि 'पर्वते' महाराष्ट्र **(१८२० ई. में देहावसान)** १- न्यायरत्नम्-गादाधरी के पञ्च वादों एवं हेत्वाभाससामान्यनिरुक्ति पर व्याख्यान, पूना से १८५३ ई. में प्रकाशित। २- गादाधरी चतुर्दशलक्षणी व्याख्या-अड्यार लाइब्रेरी ई. से प्रकाशित।

कृष्णम्भट्ट अर्डे, महाराष्ट्र **(१७५०-१८२५ ई.)** - गादाधरी पर "काशिका" वृत्ति।

तिरुप्पुकुलि श्रीकृष्णताताचार्य, काञ्ची- अवच्छेदकतासरः- गादाधरीपञ्चलक्षणी, चतुर्दशलक्षणी आदि पर क्रोडपत्र, अण्णामलै विश्वविद्यालय से प्रकाशित।

कृष्णभट्ट-गादाधरी पञ्चलक्षणी, चतुर्दशलक्षणी, सिद्धान्तलक्षण, अवयव, पक्षता आदि पर व्याख्यान-गादाधरी पर संभावित आक्षेपों को उठाकर उनका समाधान इसमें प्रस्तुत किया गया है। आन्ध्रलिपि में मैसूर से प्रकाशित।

देवनागरी-लिपि में पञ्चलक्षणी व्याख्या निर्णयसागर प्रेस से तथा चतुर्दशलक्षणी व्याख्या अड्यार लाइब्रेरी से मुदित हुई है।

पट्टाभिराम शास्त्री-गादाधरी पर क्रोडपत्र-अड्यार से १६४२ ई. में प्रकाशित।

शतकोटि राम शास्त्री (१८५० ई.) गादाधरी सत्प्रतिपक्षविभाजक क्रोडपत्र, शतकोटि काञ्ची से १६११ ई. में मुद्रित।

धर्मदत्त बच्चा झा, बिहार **(१८६०-१६२१ ई.)** १ - विवृति- गादाधरी सामान्यनिरुक्ति की व्याख्या, वाराणसी से काशी संस्कृत ग्रन्थमाला- ११२ में प्रकाशित १६३५ ई.।

वामाचरण भट्टाचार्य (१८८८-१६६१) **मनोरमा**- गादाधरी सव्यभिचार भाग की व्याख्या, वाराणसी से १६४० ई. में प्रकाशित। ये वामाचरण भट्टाचार्य म. म. गोपीनाथ कविराज तथा पं. शिवदत्त मिश्र के गुरु आधुनिक वामाचरण भट्टाचार्य हैं, जिन्होंने जागदीशी व्याप्तिपञ्चक, सिद्धान्तलक्षण तथा व्युत्पत्तिवाद की व्याख्याएँ लिखी हैं। **हरिनामदास स्वामी** (१८८१-१६५० ई.) १- चन्द्रकला (गादाधरी सामान्यनिरूक्ति की व्याख्या)- वाराणसी से प्रकाशित इस व्याख्या में मूल ग्रन्थ की प्रतिपद व्याख्यापूर्वक गादाधारी के तात्पर्य को सरल शैली में समझाया गया है। २- कलाविलासः (गादाधरी पर क्रोडपत्र) वाराणसी से प्रकाशित।

नारायणचन्द्र गोस्वामी- गादाधरी पर विवृति - वाराणसी से १६४० ई. में प्रकाशित।

श्रीकृष्ण ताताचार्य (२० वीं शती) गादाधरी सिद्धान्तलक्षण पर विशद व्याख्या, तिरुपति विद्यापीठ से मुद्रित।

एन. एस. रामानुज ताताचार्य १-बालबोधिनी-गादाधारी पञ्चलक्षणी, सिंहव्याघ्रलक्षण की व्याख्या, तिरुपति विद्यापीठ से प्रकाशित। यह व्याख्या सरल शैली में उपनिबद्ध और अध्येताओं के लिए अतीव उपयोगी है। २- **बालबोधिनी**- पक्षता गादाधरी व्याख्या, तिरुपति

विद्यापीठ से प्रकाशित तथा उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी द्वारा शंकर पुरस्कार से सम्मानित। ३-**भावदीपिका**-अवयव गादाधरी व्याख्या, तिरूपति विद्यापीठ से प्रकाशित। ४-विवरण-चतुर्दशलक्षणी गादाधरी की व्याख्या। डॉ. वीलिनाथन् द्वारा प्रकाश्यमान।

ज्वालाप्रसाद गौड़ -ये वाराणसी के संन्यासी संस्कृत कालेज में न्याय के अध्यापक थे। गादाधरी सत्प्रतिपक्ष, सव्यभिचार और अवयव प्रकरण की टीका संन्यासी संस्कृत कालेज से ही प्रकाशित।

"माथुरी" से सम्बद्ध टीकाएँ, क्रोडपत्र आदि-

कालीशङ्कर भट्ट, बंगाल - माथुरी पर क्रोडपत्र-चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला- २५ में वाराणसी से प्रकाशित।

जीवानन्द विद्यासागर, बंगाल फक्किका (माधुरी पञ्चलक्षणी की व्याख्या) कलकत्ता से प्रकाशित, १८६६ ई.। **उमानाथ** व्याप्तिचन्द्रिका-माधुरी पञ्चलक्षणी की व्याख्या, वाराणसी से प्रकाशित।

हरिराम शुक्ल सिंहव्याघ्रलक्षणव्याख्या-वाराणसी से प्रकाशित, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला-७८ में १६३० ई. में प्रकाशित।

वामाचरण भट्टाचार्य बंगाल (१८८८-१६६१ ई.) विवृतिः (माथुरी व्याख्या) कई भागों में वाराणसी से प्रकाशित, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला १४०, १६४४ ई.।

शिवदत्त मिश्र, उ. प्र. (२० वीं शती) वामाचरण भट्टाचार्य द्वितीय के शिष्य। **गङ्गानिर्झरिणी**- माधुरी व्याप्तिपञ्चक, सिंहव्याघ्रलक्षण की टीका, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला-६४ में वाराणसी से मुद्रित।

"जागदीशी" से सम्बन्धित टीकाएँ, क्रोडपत्र इत्यादि-

कालीशङ्कर भट्ट, बंगाल जागदीशी पर क्रोडपत्र-चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला-२५ भाग-१ में "क्रोडपत्रसंग्रह" के अन्तर्गत प्रकाशित।

सङ्गमेश्वर शास्त्री, आन्ध्र प्रदेश - जागदीशी पञ्चलक्षणी आदि पर क्रोडपत्र आन्ध्र यूनिवर्सिटी सीरीज-७ में १६३३ ई. में मुद्रित।

धर्मदत्त (बच्चा) झा, बिहार (१८६०-१६२१ ई.) विवृति-जागदीशी अवच्छेदकतानिरुक्तिव्याप्तिपञ्चक-सिद्धान्तलक्षण-व्याख्या, वाराणसी से १६२३ ई. में मुद्रित।

जीवानन्द विघासागर, बंगाल -वादार्थ- जागदीशी व्याख्या, कलकत्ता से प्रकाशित।

वामाचरण भट्टाचार्य (द्वितीय), बंगाल (१८८८-१६६१ ई.) १-मनोरमा (जागदीशी व्याप्तिपञ्चक-सिंहव्याघ्रलक्षण-सिद्धान्तलक्षण की व्याख्या) वाराणसी से १६३५ ई. में प्रकाशित। २- विवृति (जागदीशी पर) वाराणसी से १६३२ ई. में प्रकाशित

शिवदत्त मिश्र, उ. प्र.-गङ्गा (जागदीशी व्याख्या) इसके व्याप्तिपञ्चक और सिंहव्याघ्रलक्षण भाग काशी संस्कृत ग्रन्थमाला ७० में, व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावप्रकरण की व्याख्या, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला- ८६ में, अवच्छकेदकतानिरुक्ति की व्याख्या का. सं. ग्र.

-६४ में तथा सिद्धान्तलक्षण की का. सं. ग्र.- १०१ में मुद्रित है।

केशव द्विवेदी, उ. प्र.- नारायणी (जागदीशी सामान्यलयक्षणी की व्याख्या) वाराणसी से १६४६ ई. में मुद्रित।

मधुसूदन भट्टाचार्य, बंगाल-सुषमा (जागदीशी पक्षता की व्याख्या) कलकत्ता से प्रकाशित।

काशिकानन्द स्वामी-जागदीशी सामान्यलक्षण की व्याख्या, दक्षिणामूर्ति मठ, बनारस से १६५२ ई. में प्रकाशित। सरल तथा विशदार्थक व्याख्या।

कृष्णामाधव झा (१८६६-१६८५) ग्राम बिट्ठो, सरिसब पाही, मधुबनी, विहार के निवासी थे। उन्होंने मिथिला और काशी के अनेक गुरुओं से न्याय आदि शास्त्रों का अध्ययन किया। बहुत समय तक वल्लभ-सम्प्रदाय के गोस्वामियों के आश्रम में, मुम्बई में रहकर अध्यापन किया। उन्होंने सिद्धान्त लक्षण के गूढार्थ तत्त्वालोक की व्याख्या "सिद्धान्तलक्षण बोधिनी" लिखी, जो १६८२ ई. में गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद से प्रकाशित हुई।

तर्कभाषा (केशव प्रणीत) की टीका-

रुद्रधर झा-तर्कभाषा पर तत्त्वालोक व्याख्या हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला-२२६ में काशी से १६५२ ई. में प्रकाशित।

(ख) वैशेषिक दर्शन के ग्रन्थों पर टीकाएँ

जयनारायण तर्कपञ्चानन बंगाल (१८६७ ई.)- **विवृति**-वैशेषिक दर्शन की शङ्कर मिश्र प्रणीत वृत्ति "उपस्कार" की व्याख्या, इनके जीवनकाल में ही बिब्लियोथिका इण्डिका ग्रन्थमाला- ३४ में प्रकाशित।

पञ्चानन भट्टाचार्य तर्करत्न, बंगाल (१८६६ ई. में जन्म) वैशेषिक दर्शन की **"परिष्कार टीका"**-१६०६ ई. में कलकत्ता से प्रकाशित।

चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार (१६ वीं शती) तत्त्वावली-वैशेषिक सूत्रों की व्याख्या, कलकत्ता से १८६६ ई. में तथा चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला ४८ में मुद्रित।

प्यारेलाल आत्मज- वैशेषिकसूत्र पर "भाष्यानुवादः- बम्बई से १८८६ ई. में प्रकाशित।

देवदत्त शर्मा-वैशेषिकसूत्र पर भाष्यानुवाद बम्बई से १८८६ ई. में प्रकाशित।

टी. उत्तमूर वीरराघवाचार्य- ये न्याय, मीमांसा और विशिष्टाद्वैत वेदान्त के मर्मज्ञ विद्वान और राष्ट्रपति सम्मान से सम्मानित थे। वैशेषिकरसायनम् - वैशेषिक सूत्रों पर वृत्ति, मद्रास से १६५८ ई. में मुद्रित। यह वृत्ति वैशेषिक सूत्रों के रहस्य को उद्घाटित करने हेतु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

देशिक तिरुमलै ताताचार्य तमिलनाडु (१८६४-१६७४ ई.) - डी. टी. ताताचार्य का जन्म तमिलनाडु के "तिरुवरङ्गम्" नामक स्थान में हुआ था। उन्होंने पं. श्री निवासाचार्य एवं पं. कुप्पूस्वामी शास्त्री (कुम्भकोणम्) से शास्त्रों का अध्ययन किया था। ये अपने समय के न्याय, मीमांसा एवं विशिष्टाद्वैत वेदान्त के मूर्धन्य विद्वानों में से एक थे। "दर्शनकोश" के निर्माण में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। वैशेषिकसूत्रों पर "सुगमा" नामक वृत्ति-प्रथम बार गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद की शोधपत्रिका सं. ३२ एवं ३३ में प्रकाशित। १६७६ ई. में इसका इसी विद्यापीठ से पृथक् ग्रन्थ के रूप में प्रकाशन हुआ। यह सरल, सारपूर्ण और विषय को स्पष्ट करने वाली वृत्ति है।

उदयनकृत लक्षणावली की टीका एवं व्याख्या-

विश्वनाथ झा, बिहार - लक्षणावली की टीका-वाराणसी से १६०० ई. में प्रकाशित।

शशिनाथ झा, बिहार (१६६३ ई. में देहावसान) - लक्षणावली की व्याख्या मिथिला संस्कृत विद्यापीठ से १६६३ ई. में प्रकाशित। लक्षणावली पहले शिवादित्य की रचना मानी जाती थी। यह मद्रास के ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी की शोधपत्रिका में इसी ग्रन्थकार के नाम से छपी भी थी, किन्तु शशिनाथ झा ने अपनी इस व्याख्या की भूमिका में विभिन्न प्रमाण देकर प्रतिपादित किया कि यह उदयनाचार्य की रचना है। बंगाल के न्यायशास्त्र के प्रतिष्ठित विद्वान् श्री सत्करी मुखर्जी भी इनके विचार से सहमत थे।

उदयनकृत "न्यायमुक्तावली" की टीका

विश्वनाथ शर्मा-न्यायमुक्तावली पर "प्रकाश" नाम्नी व्याख्या, नव्यन्याय की परिष्कारप्रधान शैली में उपनिबद्ध यह टीका वाराणसी से मुद्रित है।

न्याय-वैशेषिक दोनों दर्शनों से सम्बद्ध ग्रन्थों पर टीकाएँ

जगदीश भट्टाचार्यकृत "तर्कामृत" की टीका

मुकुन्द भट्ट तरङ्गिणी बम्बई से प्रकाशित।

रत्ननाथ शुक्ल-प्रभा-वाराणसी से १६५८ ई. में प्रकाशित।

उदयनकृत "न्यायकुसुमाञ्जलि" की टीकाएँ

गङ्गाधर कविराज "कविरत्न" बंगाल (१७६६-१८८५ ई.) बंगाल के प्रसिद्ध वैद्य। काव्य, व्याकरण, काव्यशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र के चतुरस्र पाण्डित्य से समन्वित लब्धप्रतिष्ठ विद्वान्। **शोधना** नाम्नी न्यायकुसुमाञ्जलि की व्याख्या गङ्गाधरमनीषा ग्रन्थमाला में कलकत्ता से १८७२ में प्रकाशित। इन्होंने वैशेषिक सूत्र, योगसूत्र, ब्रह्मसूत्र आदि पर भी व्याख्याग्रन्थ लिखे।

कालीशङ्कर भट्टाचार्य-इन्होंने न्याय वैशेषिक दर्शन से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थों पर

क्रोडपत्र लिखे, अतः ये "क्रोडपत्रकार" के रूप में प्रसिद्ध हैं। ये १८ वीं शती के महानैयायिक चन्द्रनारायण भट्टाचार्य के शिष्य थे। कुसुमाञ्जलि पर क्रोडपत्र-चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला - २५ में वाराणसी से प्रकाशित।

चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार- कुसुमाञ्जलि टीका-कलकत्ता से १८४५ ई. में प्रकाशित।

महेशचन्द्र न्यायरत्न-कुसुमाञ्जलि पर व्याख्या-

धर्मदत्त बच्चा झा, बिहार (१८६८-१६२१) न्यायकुसुमाञ्जलि-**टिप्पणी** काशी संस्कृत ग्रन्थमाला-३० में प्रकाशित, १६५६ ई.।

लक्ष्मीनाथ झा, बिहार धर्मदत्त बच्चा झा के शिष्य तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के अध्यापक। न्यायकुसुमाञ्जलि-टिप्पणी-कालीसंस्कृत ग्रन्थमाला-३० में मुद्रित।

हरिहरकृपालु द्विवेदी, उ. प्र. (१६४६ ई. में देहावसान)-**न्यायकुसुमाञ्जलि** टीका अपूर्ण प्रकाशित।

कोल्लूर सोमशेखर शास्त्री, आन्ध्रप्रदेश आमोदः (कुसुमाञ्जलि व्याख्या) तिरुपति कुसुमाञ्जलि समिति द्वारा शास्त्रकल्पवल्ली ग्रन्थमाला में मुद्रित।

उत्तमूर वीरराघवाचार्य, काञ्ची विस्तरा (कुसुमाञ्जलिव्याख्या) तिरुपति विद्यापीठ से १६४१ ई. में प्रकाशित।

नावल्पाकं अय्या देवनाथाचार्य- न्यायवासना कुसुमाञ्जलि व्याख्या प्रकाशित।

हरिदासी कुसुमाञ्जलि के व्याख्याकार

उदयनाचार्य प्रणीत न्यायकुसुमाञ्जलि ग्रन्थ गद्यपद्यात्मक है। मूल ग्रन्थ कारिकाओं में उपनिबद्ध है, जिसपर उदयन की स्वोपज्ञ वृत्ति है। इसके मूल भाग की व्याख्या १८ वीं शती में वासुदेव सार्वभौम के शिष्य बंगालवासी हरिदास न्यायालङ्कार ने की।

१६वीं शती में हुए चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार, शिवचन्द्र सार्वभौम, कामाख्यानाथ तर्कवागीश, रामकृष्ण तर्कतीर्थ ने इस हरिदासी कुसुमाञ्जलि पर व्याख्याएँ लिखी हैं। बिहार नारायण मिश्र ने १६६६ ई. में इस पर एक व्याख्या लिखी है जो भारती विद्या प्रकाशन, वाराणसी से प्रकाशित है।

विश्वनाथ तर्कपञ्चाननकृत कारिकावली (भाषापरिच्छद) की टीकाएँ

देवी सहाय मिश्र (१६ वीं शती) "कण्ठाभरण" नाम्नी कारिकावली-व्याख्या निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित।

मुकुन्द शर्मा (१६११ ई.) "अन्वितार्थप्रदीपिका" व्याख्या-बम्बई से प्रकाशित।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली (विश्वनाथ पञ्चाननकृत) पर टीका-ग्रन्थ-

आलूर नृसिंह शास्त्री, काञ्ची-प्रभा नाम्नी सिद्धान्तमुक्तावली की व्याख्या, बाल-

मनोरमा प्रेस से १६२३ ई. में प्रकाशित। इस प्रौढ़ व्याख्या में प्रत्येक विषय की अवतरणिका देते हुए मूल ग्रन्थ के भाव को स्पष्ट किया गया है। स्थान-स्थान पर उक्त विषय के प्रमाणरूप में सूत्र, भाष्य, गादाधरी आदि ग्रन्थों से उद्धरण दिये गये हैं तथा मूलग्रन्थ की पंक्तियों का परिष्कार किया गया है। कहीं-कहीं दिनकरी का खण्डन भी किया गया है।

पट्टाभिराम शास्त्री, (१८५० ई.) पूर्वोक्त नृसिंह शास्त्री के शिष्य। मन्जूषा-यह मुक्तावली की विशद व्याख्या है। बालमनोरमा प्रेस, मद्रास से १६१२ ई. में मुद्रित।

कोच्चि रामवर्म परीक्षित महाराज (शासनकाल-१८६६-१६१५ ई.) सुबोधिनी (कारिकावली-मुक्तावली-दिनकरी-रामरुद्री की व्याख्या, तिरुपुंनितुरा से प्रकाशित। इस व्याख्या में मूल ग्रन्थ के रहस्य को दिनकरी, रामरुद्री टीकाओं के तत्त्वार्थ विशदीकरण के द्वारा स्पष्ट किया गया है। यत्र तत्र न्यायशास्त्रीय सिद्धान्तों को साररूप में प्रस्तुत किया गया है। श्री रामवर्म परीक्षित् न्यायवेदान्तादि दर्शनों के तलस्पर्शी विद्वान् तथा साहित्य के भी मर्मज्ञ थे। अतएव इन्हें ''दर्शनकलानिधि'' का विरुद प्राप्त था।

आनन्द चन्द्र सार्वभौम- ''आनन्दमयी'' व्याख्या-कलकत्ता से १८६६ ई. में मुद्रित। **दुर्गादत्त शास्त्री (१६०२ ई.) ''प्रज्ञामनोरमा''** व्याख्या-लाहौर से १६०२ ई. में प्रकाशित। पुनःसंस्करण- १६१३ ई.। **जे. लल्लूराम शर्मा** (१६१२ ई.) - **''विषमस्थला''** व्याख्या बम्बई से १६१२ ई. में प्रकाशित। **मुकुन्द शर्मा** - (१६१४ ई.) **''प्रभा-व्याख्या-प्रत्यक्षखण्डपर्यन्त,** बम्बई से प्रकाशित। **अम्बिका प्रसाद शर्मा-** (१६२१ ई.) **''समन्वय**-नाम्नी व्याख्या वाराणसी से १६२१-२२ एवं १६२८ ई. में प्रकाशित। **नृसिंह देव** (१६२३ ई.) -''प्रभा'' टीका बाल मनोरमा संस्कृत सीरीज ६ में १६२३ ई. में प्रकाशित। ''मञ्जूषा'' व्याख्या-बाल मनोरमा ग्रन्थमाला ६ में १६२३ ई. में प्रकाशित। **हरिदत्तशर्मा** - (१६२८ ई.) ''कामदुघा'' व्याख्या-लाहौर से १६२८ ई. में प्रकाशित। **शुक्ल शर्मा (१६३१ ई.) ''मयूख''** व्याख्या हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला १५ में वाराणसी से प्रकाशित। **रत्ननाथ शुक्ल (१६३१ ई.) ''प्रभा''** व्याख्या - हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला १५ में वाराणसी से प्रकाशित, १६३१ ई.। **नृसिंह त्रिपाठी** उ. प्र. (१६३२ ई.) मुक्तावली-प्रकाशः-मुक्तावली शब्दखण्ड की व्याख्या, गाजीपुर से १६३२ ई. में प्रकाशित। इसमें मुक्तावली का व्याख्यान प्रश्नोत्तरी शैली में सुगम ढंग से किया गया है।

कुञ्जबिहारी शर्मा तर्कसिद्धान्त (२० वीं शती पूर्वार्ध)- **मुक्तावली-व्याख्या**-कलकत्ता से १६३६ ई. में प्रकाशित। **चन्द्रधर सिंह, बिहार** (१६३६ ई.) ''चन्द्रिका-व्याख्या-दरभंगा(बिहार) से प्रकाशित। **कृष्णवल्लभाचार्य** -किरणावली व्याख्या वाराणसी से प्रकाशित। **ज्वालाप्रसाद गौड़-** मुक्तावली की टीका संन्यासी संस्कृत कालेज, वाराणसी से प्रकाशित। **पञ्चानन भट्टाचार्य ''तर्करत्न (१६६१ ई.)**-''मुक्तावलीसंग्रह नाम्नी व्याख्या-आगमानुसन्धान समिति द्वारा कलकत्ता से प्रकाशित। **सूर्यनारायण शुक्ल-** ''मयूख'' व्याख्या-चौखम्बा से मुद्रित, अष्टम संस्करण- १६७७ ई.। **रामशरण त्रिपाठी** उ. प्र. **(१६०८-१६७७ ई.)** मुक्तावली पर ''बालबोधिनी'' व्याख्या गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद से १६६३

ई. में प्रकाशित। यह केवल मुक्तावली का प्रत्यक्षखण्ड है। सरल विशदार्थक व्याख्या।

अन्नंभट्टप्रणीत "तर्कसंग्रह" की व्याख्याएँ

मुकुन्द शर्मा- "चन्द्रिका"- निर्णयसागर प्रेस से मुद्रित। **नीलकण्ठ भट्ट,** आन्ध्रप्रदेश - दीपिकाप्रकाशिका तर्क-संग्रहकार की स्वोपज्ञ टीका "दीपिका" की व्याख्या। यह व्याख्या मूल ग्रन्थ के आशय को स्पष्ट करने में अतीव सफल है। स्थान-स्थान पर "अत्रेदं बोध्यम्" "अयमाशयः" इत्यादि कहकर व्याख्यापेक्ष स्थलों को सरल ढंग से समझाया गया है। **लक्ष्मीनृसिंह शास्त्री (नृसिंह यतीन्द्र) - (१८-१९ वीं शती)** - भास्करोदया व्याख्या यह नीलकण्ठ भट्ट के उर्पयुक्त ग्रन्थ "दीपिकाप्रकाशिका" की व्याख्या है। मूल ग्रन्थ के साथ यह व्याख्या १९०३ एवं १९३३ ई. में निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित है। ये श्री नीलकण्ठ भट्ट के पुत्र थे। संन्यास लेने के उपरान्त काशी में आकर रहने लगे थे। **एम. पी. चन्द्रजा सिंह (१९ वीं शती)**-(पदकृत्यम् तर्कसंग्रहव्याख्या) इसमें तर्कसंग्रह के लक्षणगत पदों की सार्थकता पर विचार किया गया है। द्वितीय संस्करण वाराणसी से १८८९ ई. में प्रकाशित।

आलूर नृसिंह-शास्त्री, आन्ध्रप्रदेश-**नृसिंहप्रकाशिका**-तर्कसंग्रहदीपिका की विस्तृत और उत्कृष्ट व्याख्या, बालमनोरमा प्रेस (मद्रास) से १९१६ और १९२० ई. में मुद्रित। **पट्टाभिराम शास्त्री** - पूर्वोक्त नृसिंह-शास्त्री के शिष्य।

१- पट्टाभिरामप्रकाशिका-तर्कसंग्रहदीपिका की व्याख्या २-तर्कसंग्रह-टिप्पणी-ये दोनों ग्रन्थ बालमनोरमा प्रेस, मद्रास से १९१६ एवं १९२० ई. में प्रकाशित हैं। पट्टाभिरामीया व्याख्या अनुगमप्रधाना है। ३- वाक्यार्थबोधिनी - तर्कसंग्रह की शाब्दबोधात्मिका व्याख्या - वाविल्ला रामस्वामी पुस्तकालय से प्रकाशित।

कुरुगंटि श्री राम शास्त्री, आन्ध्रप्रदेश-१- तर्कसंग्रहसर्वस्वम्-तर्कसंग्रह व्याख्या, विजयवाड़ा से प्रकाशित। २- दीपिकासर्वस्वम्-तर्कसंग्रहदीपिका-व्याख्या, मद्रास से प्रकाशित। ये दोनों व्याख्याएँ मूल ग्रन्थ के अर्थ को स्पष्ट करने के साथ-साथ न्याय के अन्यान्य ग्रन्थों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का यत्र-तत्र संग्रह और उल्लेख करने के कारण अतीव व्युत्पत्त्याधायक हैं। रामशास्त्री श्री सूर्यनारायण शास्त्री के पुत्र तथा रामब्रह्म सुधीन्द्र के शिष्य थे। इन्होंने पञ्चलक्षणीसर्वस्व, मुक्तावलीसर्वस्व, सामान्यनिरुक्तिसर्वस्व आदि ग्रन्थों की भी रचना की।

सुब्रह्मण्य शास्त्री, आन्ध्रप्रदेश **(१८५०-१९५८ ई.)** - दीपिकाप्रकाश तर्कसंग्रहदीपिका की व्याख्या, मैसूर से प्रकाशित। ये न्याय एवं अद्वैतवेदान्त के तलस्पर्शी विद्वान् थे। इन्होंने अद्वैतवेदान्त सम्बन्धी "भामतीविवरण" आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की।

वामाचरण भट्टाचार्य (द्वितीय), बंगाल **(१८८८-१९६१ ई.)** -किरणावली तर्कसंग्रह की महत्त्वपूर्ण प्रौढ़ व्याख्या, वाराणसी से प्रकाशित। **टी. उत्तमूर वीरराघवाचार्य** (२०वीं शती- उत्तरार्ध)-न्याय, मीमांसा और विशिष्टाद्वैत वेदान्त के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान्। सुखप्रवेशिनी

- तर्कसंग्रहव्याख्या, ग्रन्थकार द्वारा ही तंजौर से १६३४ ई. में प्रकाशित। **एन्. एस्. रामानुज ताताचार्य, आन्ध्रप्रदेश** - बालप्रिया-तर्कसंग्रह दीपिका-प्रकाशिका की व्याख्या, डॉ. वीलिनाथन महोदय के द्वारा प्रकाशित, ४०० पृष्ठों की विशद और व्युत्पादिका व्याख्या। २- **तर्कसंग्रहशाब्दबोध** - तर्कसंग्रह स्थित वाक्यों के प्रकृति-प्रत्ययों के अर्थनिर्देशपूर्वक शाब्दबोध कराने वाला ग्रन्थ। **शिवनारायण शास्त्री** "विरला" व्याख्या ग्रन्थकार द्वारा ही १६६० ई. में प्रकाशित।

शिवदत्त मिश्र, उ. प्र. गङ्गा-तर्कसंग्रहव्याख्या, वाराणसी से प्रकाशित। **आनन्द झा** (२० वीं शती)- **सीता-** तर्कसंग्रहव्याख्या, वाराणसी से प्रकाशित। **गुरुप्रसाद शास्त्री** (२० वीं शती) - "परिमल" नाम्नी तर्कसंग्रहव्याख्या-वाराणसी से १६३४, १६३८, १६४० ई. में प्रकाशित। **राम शर्मा**-शक्तिसञ्जीवनी (तर्कसंग्रहव्याख्या) यह व्याख्या सरल तथा न्याय-वैशेषिक दर्शन के प्रारम्भिक प्रवेश हेतु अतीव उपयोगी है। करूर से नवनीत ग्रन्थमाला-३३ में प्रकाशित। श्री राम शर्मा श्री सुब्रह्मण्यशास्त्री (भामतीविवरण तथा तर्कसंग्रहदीपिकाप्रकाश के रचयिता) के पुत्र थे। **शङ्करनारायण शर्मा** उपर्युक्त पं. रामशर्मा कृत "शक्तिसञ्जीवनी" पर टिप्पणी-प्रकाशित।

राजा गिर्याचार्य-तर्कसंग्रहव्याख्या-यह तर्कसंग्रह के प्रत्येक वाक्य की राजा गिर्याचार्य परमहंस सुजयीन्द्र तीर्थ के पूर्वाश्रम के पुत्र थे। **ढुण्ढिराज शास्त्री**-हेत्वाभाससोद्धरणम्-तर्कसंग्रहव्याख्या, वाराणसी से १६६० ई. में मुद्रित।

"प्रमाणप्रमोद" (चित्रधर मिश्र) की व्याख्या दुःखमोचन झा "बबुआ" (बिहार) कृत मिथिलापुस्तकालय से प्रकाशित।

(ग) शाब्दबोधप्रक्रिया विषयक ग्रन्थों पर टीकाएँ

गदाधर भट्टाचार्यकृत "व्युत्पत्तिवाद" पर टीकाएँ इत्यादि

कालीशङ्कर भट्ट (१८-१६ वीं शती) - व्युत्पत्तिवाद पर क्रोडपत्र-चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला-२५ में वाराणसी से मुद्रित।

अनन्तालूवार् (अनन्ताचार्य) - व्युत्पत्तिवाद पर क्रोडपत्र-ये मैसूर के निवासी थे तथा आप 'गदाधर भट्टचार्य' के नाम से प्रसिद्ध थे। **कृष्णम्भट्ट** -व्युत्पत्तिवादव्याख्या - मैसूर से प्रकाशित।

जयदेव मिश्र, बिहार (१८४४-१६२५) - व्युत्पत्तिवाद पर 'जया' व्याख्या-इलाहाबाद से १६४० ई. में प्रकाशित। मूल ग्रन्थ के दुरूह स्थलों को सरल कर बोधगम्य बनाने में यह व्याख्या अतीव सफल है। **वेणीमाधव शुक्ल,** उ.प्र. (१८५०-१६५३ ई.)-शास्त्रार्थकला-व्युत्पत्तिवाद पर शास्त्रार्थपरक ग्रन्थ, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला-११५ में मुद्रित। **खुद्दीराम शर्मा,** बिहार (१६१० ई.) - नौका (व्युत्पत्तिवाद व्याख्या) मधुबनी, प्रेस, दरभंगा से १६१० ई. में मुद्रित। **धर्मदत्त बच्चा झा,** बिहार (१८६०-१६१८) - व्युत्पत्तिवादव्याख्या

"गूढार्थ-तत्त्वालोक" चौखम्बा तथा निर्णयसागर प्रेस से मुद्रित (१६११ ई.), स्वतन्त्र विचारपूर्ण, प्रौढ़ तथा पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या।

धर्मदत्त (बच्चा) झा अर्वाचीन युग के बिहार के दिग्गज नैयायिक थे। ये पं. दुर्गादत्त झा के पुत्र तथा बालशास्त्री रानाडे, विश्वनाथ झा आदि के शिष्य थे। इनका कार्यक्षेत्र प्रायः वाराणसी रहा। इन्होंने न्यायदर्शन सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखीं। भगवद्गीता पर भी इन्होंने टीका लिखी जो नव्यन्याय की शैली में उपनिबद्ध पाण्डित्यपूर्ण टीका है। **शिवदत्त मिश्र,** उ. प्र. **(१६००-१६७१ ई.)** - दीपिका (व्युत्पत्तिवाद व्याख्या) भारती विद्याभवन प्रकाशन, वाराणसी से प्रकाशित। **सुदर्शनाचार्य शास्त्री (१६-२० वीं शती)**-आदर्श (व्युत्पत्तिवादव्याख्या) वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई से १६१३ ई. में मुद्रित। **शशिनाथ झा - अर्थदीपिका** (व्युत्पत्तिवादव्याख्या) - वाराणसी से मुद्रित। **वेप्पत्तूरु सुब्रह्मण्य शास्त्री -** विवरणम्-व्युत्पत्तिवाद लकारार्थ व्याख्या अण्णामलै विश्वविद्यालय से १६४८ ई. में प्रकाशित। ये न्यायशास्त्र के परिनिष्ठित विद्वान् तथा राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित थे।

गोदवर्मराज, केरल **(१६११ ई.)** - सिद्धान्तमाला (व्युत्पत्तिवाद पर संग्रहग्रन्थ) व्युत्पत्तिवाद के सिद्धान्तों का संग्रह किया गया है। **लक्ष्मीकान्त झा, बिहार** - व्युत्पत्तिवाद की प्रकाश व्याख्या-वाराणसी से प्रकाशित। ये पं. बच्चा झा के जीवन के उत्तरार्ध के शिष्य थे। संस्कृतमहाविद्यालय, वाराणसी में दर्शन विभाग के अध्यक्ष रहे।

गदाधर कृत "शक्तिवाद' पर व्याख्या-ग्रन्थ

हरिनाथ तर्कवागीश (१६-२० वीं शती) - शक्तिवादव्याख्या-कलकत्ता से १८६४ ई. में मुद्रित। **सुदर्शनाचार्य शास्त्री (१६-२० वीं शती)** - आदर्शः (शक्तिवादव्याख्या) बम्बई से १६१३ ई. में मुद्रित। ये पं. गङ्गाधर शास्त्री के शिष्य थे। **दामोदर शास्त्री,** उ. प्र. **(१६२७ ई.) "विनोदिनी"** (शक्तिवादव्याख्या) काशी संस्कृत ग्रन्थमाला-५७ (१६२७ ई.) एवं ७७ में प्रकाशित।

शब्दशक्तिप्रकाशिका (जगदीश तर्कालङ्कारकृत) की टीकाएँ आदि

कृष्णकान्त विद्यावागीश (१८-१६ वीं शती) शक्तिसन्दीपनी व्याख्या-काशी संस्कृत ग्रन्थमाला-१०६ में मुद्रित। **कालीशङ्कर भट्टाचार्य,** बंगाल (१८-१६ वीं शती) शब्दशक्तिप्रकाशिका पर क्रोडपत्र चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला-२५ में मुद्रित। **जयचन्द्र भट्टाचार्य "सिद्धान्तभूषण"** (१६३४ ई.)- शब्दशक्तिप्रकाशिका-टिप्पणी काशी संस्कृत ग्रन्थमाला- १०६ में प्रकाशित, १६३४ ई.। **ढुण्ढिराज शास्त्री-** शब्दशक्तिप्रकाशिकाटिप्पणी वाराणसी से प्रकाशित।

गोकुलनाथ उपाध्याय प्रणीत "पदवाक्यरत्नाकर" की व्याख्या

यदुनाथ मिश्र, बिहार (१८८५ ई०) गूढार्थदीपिका (पदवाक्यरत्नाकर व्याख्या) सरस्वतीभवन ग्रन्थमाला-८८ में मुद्रित। मूलग्रन्थ के रहस्य को उद्घाटित करने वाली

महत्त्वपूर्ण व्याख्या। यदुनाथ मिश्र पं. जयनाथ मिश्र के पुत्र तथा जुडान झा एवं लोकनाथ झा के शिष्य थे। इन्होंने न्यायसूत्रप्रदीप आदि अन्य न्याय-शास्त्रपरक ग्रन्थों की भी रचना की।

भवानन्द तर्कवागीशकृत "षट्कारकविवेचन" की व्याख्या

माधव तर्कालङ्कार माधवी व्याख्या हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला, १५४ में मुद्रित।

न्याय-वैशेषिक दर्शन से सम्बद्ध अन्य ग्रन्थ

जयनारायण तर्कपञ्चानन (१६ वीं शती) पदार्थतत्त्वसार न्याय-वैशेषिक ग्रन्थ, १८६७ ई. में कलकत्ता से प्रकाशित। **तारानाथ तर्कवाचस्पति** (१८४०-१६०० ई.)-हरिराम तर्कवाचस्पति के ग्रन्थ "अनुमितेर्मानसत्वविचाररहस्यम्" पर "सरला" टीका न्याय-वैशेषिक ग्रन्थ, १८५६ ई. में कलकत्ता से प्रकाशित। २- तर्करत्नाकर न्याय-वैशेषिक ग्रन्थ, १८६८ ई. में बनारस से प्रकाशित। **गङ्गाधर कविराज कविरत्न** -भारद्वाजवृत्तिभाष्यम्-कलकत्ता से १८६६ ई. में प्रकाशित। **हरिनाथ तर्कवाचस्पति**-न्यायतत्त्वप्रबोधिनी-न्याय-वैशेषिक ग्रन्थ, कलकत्ता से १८६७ ई. में प्रकाशित। **श्रीनिवासाचार्य**-विशिष्टाद्वैतवादी अनन्ताचार्य के पुत्र। १- न्यायसिद्धान्त-तत्त्वामृतम् न्याय-वैशेषिक दर्शन। मद्रास गवर्नमेण्ट ओरियण्टल सीरीज-१६ में १६५० ई. में मुद्रित। **कोटिलिङ्गपुर गोदवर्मराज** (१६-२० वीं शती) - सिद्धान्तमाला ए. कृष्ण पिषारोटि द्वारा सम्पादित और केरल से १६११ ई. में मुद्रित। न्यायवैशेषिक दर्शन का ग्रन्थ। **एस. पी. रङ्गनाथ स्वामी**-कणादनयभूषणम् विजयनगरम् से १६१३ ई. में प्रकाशित। -विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी उद्योतकर के न्यायवार्तिक पर "भूमिका" वाराणसी से १६१६ ई. में प्रकाशित।

बी. ओट्टशङ्गडकर-सार्वभौमपरिष्कारः बम्बई से १६१६ ई. में प्रकाशित। **यदुनाथ मिश्र** (१६२८ ई. में स्वर्गवास) - ये नैयायिक लोकनाथ झा के शिष्य थे। पदवाक्यरत्नाकरव्याख्या - सम्पूर्णानन्दसंस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित।

वामाचरण भट्टाचार्य (द्वितीय) (१८८८-१६६१ ई.) - प्रामाण्यवाददीपिका वाराणसी से १६४४ ई. में प्रकाशित। **कालीपद तर्काचार्य** (१८८८-१६६२ ई.) ये कणाद तर्कवागीश (१७ वीं शती) के वंशज थे। १- कणाद तर्कवागीश के ग्रन्थ "भाषारत्न" पर टीका-संस्कृत साहित्य परिषद ग्रन्थमाला ६ में कलकत्ता में प्रकाशित, १६३६ ई. २- गदाधर के "मुक्तिवाद" की टीका सं.सा.प. ग्रन्थमाला-४ में प्रकाशित-१६२४ ई.। ३- हरिराम तर्कवागीश के मुक्तिवाद विचार पर "लक्ष्मी" टीका-कलकत्ता से १६५६ ई. में प्रकाशित। इसके अतिरिक्त इन्होंने जातिबाधविचारः, न्यायपरिभाषा और ईश्वरसमीक्षा नामक मौलिक ग्रन्थ भी लिखे। **आनन्द झा**-पदार्थशास्त्रम्- न्याय-वैशेषिक ग्रन्थ, वाराणसी से १६५० ई. में प्रकाशित। **रामभट्ट** न्यायाम्बुधिसोपानम् मद्रास से १६५० ई. में प्रकाशित। **विश्वनाथ शास्त्री** होशियारपुरवासी। पदार्थानुशासनम्-अहमदाबाद से १६५३ ई. में प्रकाशित। **ए. के.**

भट्टाचार्य ज्ञानलक्षणाविचाररहस्यम् (हरिरामतर्कवागीशकृत) पर "विमर्शिनी" टीका कलकत्ता से १९५८ ई. में प्रकाशित।

वेदान्तदर्शन

अर्वाचीन काल में शङ्कराचार्य का अद्वैत वेदान्त अखिल भारतीय स्तर पर सर्वाधिक व्यापक और लोकप्रिय दर्शन रहा। किन्तु, विशिष्टाद्वैत एवं द्वैत वेदान्तों से इसका १२ वीं शती से ही प्रबल विरोध रहा। रामानुज ने स्वयं शङ्कराचार्य की अविद्या की अवधारणा में सप्तविध अनुपपत्तियाँ उद्भावित कीं। मध्वाचार्य ने "भेद" को सर्वविध प्राणपण से सत्य सिद्ध करने का प्रयास किया, जो शाङ्कर अभेदवादी सिद्धान्त का गहरा विरोधी था। यह परम्परा उनके अनुयायियों में आकर और प्रबल हुई। द्वैतवादी व्यासतीर्थ ने अपने "न्यायामृत" में "चित्सुखी" आदि अद्वैतग्रन्थों का नाना प्रकार से खण्डन किया, तो मधुसूदन सरस्वती ने अपनी "अद्वैतसिद्धि" लिखकर व्यासतीर्थ के प्रत्येक तर्क का प्रबल उत्तर देकर उन्हें निरुत्तर कर दिया। इस बीच "जगत्सत्यत्ववादी" नैयायिकों से भी छिटपुट विरोध होते रहे। १४ वीं शताब्दी में शङ्करमिश्र ने "भेदरत्न" लिखकर अद्वैतवादी श्रीहर्ष के "खण्डनखण्डखाद्य" का उत्तर दिया और "अद्वैतवादी स्तेयों" (चोरों) से भेदरत्न की रक्षा की तो मधुसूदन सरस्वती ने "भेदरत्न" का खण्डन करते हुए "अद्वैतरत्नरक्षण" नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमें उन्होंने शङ्कर मिश्र की ही भाषा में उनका उत्तर दिया।

मधुसूदन सरस्वती के उपरान्त भी यह धारा सतत प्रवहमान रही। अद्वैतसिद्धि का खण्डन मध्वानुयायी रामतीर्थ ने अपनी तरङ्गिणी में किया और पुनः उनके तर्कों को गौड़ ब्रह्मानन्द सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि पर अपनी टीका "लघुचन्द्रिका" लिखकर प्रत्युत्तरित किया। "लघुचन्द्रिका" का प्रत्याख्यान वनमाली मिश्र ने अपनी टीका में किया और उसका उत्तर पुनः अद्वैतवाद की ओर से "अद्वैतसिद्धान्तवैजयन्ती" लिखकर दिया गया।

किन्तु इस खण्डनमण्डन का चरमोत्कर्ष अर्वाचीन काल में म. म. अनन्तकृष्ण शास्त्री तथा विशिष्टाद्वैत के प्रसिद्ध विद्वान् उत्तमूर वीरराघवाचार्य के ग्रन्थों में दिखायी देता है। अनन्तकृष्ण शास्त्री ने विशिष्टाद्वैत के मूर्धन्य विद्वान् वेङ्कटनाथ वेदान्तदेशिक की "शतदूषणी" के खण्डन में "शतभूषणी" नामक ग्रन्थ लिखा, जिसका खण्डन पुनः उत्तमूर राघवाचार्य की ओर से "परमार्थभूषण" नामक प्रौढ़ ग्रन्थ लिखकर किया गया। अनन्तकृष्णशास्त्री ने "वेदान्तरक्षामणिः" में रामानुज के श्रीभाष्य की आलोचना की थी, उसका खण्डन वीरराघवाचार्य ने "सिद्धान्तकौस्तुभ" नामक ग्रन्थ लिखकर किया। उन्होंने "परमार्थप्रकाशिका" लिखकर म. म. वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्कर के अद्वैतामोदः का भी खण्डन किया, जिसमें उन्होंने श्रीभाष्य का खण्डन किया था। पुनः अनन्तकृष्ण शास्त्री की ओर से "अद्वैततत्त्वशुद्धिः" लिखकर इन दोनों खण्डनों का उत्तर दिया गया और अद्वैतमत की स्थापना की गयी।

अनन्तकृष्ण शास्त्री ने अपने अद्वैतमार्तण्डः नामक ग्रन्थ में देशिकाचार्य कृत "व्याससिद्धान्तमर्दनम्" का तीव्र खण्डन किया तथा "अद्वैतदीपिका" में माध्ववेदान्ती

वेङ्कटरमणाचार्य कृत "चन्द्रिकाप्रकाशप्रसरः" तथा सत्यध्यान तीर्थ के "चन्द्रिकामण्डनम्" का निरसन किया। ये दोनों ग्रन्थ राम सुब्रह्मण्य शास्त्री द्वारा प्रणीत "चन्द्रिकाखण्डनम्" (व्यासरायकृत मध्वचन्द्रिका का खण्डन) के उन्मूलन हेतु माध्ववेदान्तियों की ओर से लिखे गये थे।

राम सुब्रह्मण्य शास्त्री ने विशिष्टाद्वैतवादी अनन्ताचार्य के "न्यायभास्कर" का खण्डन "न्यायभास्करखण्डनम्" लिखकर किया तथा रुद्रभट्ट शर्मा ने देशिक वरदाचार्य के "विरोधपरिहार" का "परिहारखण्डनम्" लिखकर उत्तर दिया। नटेशार्य ने अपनी अद्वैततरणिः में उपर्युल्लिखित वेङ्कटरमणाचार्य कृत "चन्द्रिकाप्रकाशप्रसारः" का खण्डन किया। इधर अद्वैतवादी पोलकं राम शास्त्री के "द्रविडात्रेयदर्शनम्" का खण्डन विशिष्टाद्वैतवादी डी. टी. ताताचार्य ने "विशिष्टाद्वैतसिद्धिः में किया। उन्होंने इस ग्रन्थ में अद्वैतवादी जगदीश्वर शास्त्री के भी कई ग्रन्थों का प्रत्युत्तर दिया।

इस प्रकार के अनेक ग्रन्थ वेदान्त के इन तीनों प्रमुख सम्प्रदायों के भीतर खण्डनमण्डनरूप से प्रणीत होते रहे, जिन्होंने इन दर्शनों की सैद्धान्तिक उद्भावनाओं को परिष्कृत और विशद कर उन्हें उत्कर्ष पर पहुँचाया।

इस खण्डन-मण्डनात्मक प्रवृत्ति से अलग कुछ ऐसे भी मनीषी थे जो इन तीनों प्रमुख मतों में समन्वय ढूँढ़ रहे थे। कृष्णावधूत पण्डित (१८३४-१९०० ई.) ने इन तीनों मतों पर अपने ग्रन्थ लिखे और समन्वयात्मक प्रवृत्ति को अग्रसर किया। वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्कर, सुदर्शनाचार्य पञ्जाबी भी इसी श्रेणी के विद्वान् थे। अद्वैतवेदान्त के अपने भीतर भी तत्त्वालोचन की दृष्टि से कुछ ग्रन्थों पर मतभेद हुआ। उदाहरणस्वरूप राजुशास्त्री के न्यायेन्दुशेखर में राम सुब्रह्मण्य शास्त्री ने दोष दर्शाये। उन्होंने अप्पयदीक्षित द्वारा भी विरचित "न्यायरक्षामणिभाष्य" से मतभेद प्रकट किया। इनके द्वारा ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य पर "सूसत्रभाष्यगाम्भीर्यार्थनिर्णयः" नामक जो ग्रन्थ लिखा गया उसका खण्डन इन्हीं के समकालीन गौरीनाथ शास्त्री ने "सूत्रभाष्यगाम्भीर्यार्थनिर्णयखण्डनम्" लिखकर किया, जिसका पुनः खण्डन राम सुब्रह्मण्य शास्त्री के शिष्य वेङ्कटराघव शास्त्री ने "सूत्रभाष्य गाम्भीर्यार्थनिर्णयमण्डनम्" लिखकर किया तथा अपने गुरु की कृति को निर्दोष प्रमाणित किया।

इस काल में पठन-पाठन एवं शास्त्रार्थ के अखिल भारतीय स्तर पर बहुप्रचलित होने के कारण अद्वैत वेदान्त, न्यायशास्त्र एवं व्याकरण इन तीनों शास्त्रीय विधाओं पर विपुल टीका-सम्पत्ति की रचना हुई, जिनसे इनके सिद्धान्तों का खण्डन-मण्डन और पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष के निकष पर घर्षित हो पूर्ण परिष्कार हुआ। अतः ये ग्रन्थ मौलिक ग्रन्थों के समान ही आदरणीय हैं। एक टीका से दूसरी टीका तक पहुँचते-पहुँचते तत्त्व के स्वरूप में कितना परिवर्तन हो जाता है यह गङ्गा के उस प्रवाह से समझा जा सकता है जो गंगोत्री में पतली धार के रूप में निकलती है और अनेक स्रोतों के जल से परिपूर्ण होकर समुद्र से मिलते समय सहस्र धाराओं में परिपूर्ण दिखायी देती है।

(१) शङ्कराचार्य का अद्वैत वेदान्त

रामचन्द्रेन्द्र सरस्वती (१७६५-१८५० ई.)-ये वासुदेवेन्द्र के शिष्य, उपनिषद् ब्रह्मेन्द्र के सतीर्थ्य और काञ्ची के मठाधीश थे। महावाक्यरत्नावलिः (स्वोपज्ञ "प्रभा" व्याख्या सहित) - यह ग्रन्थ वाराणसी से मुद्रित है। इस ग्रन्थ में २० प्रकरण हैं जिनमें १०८ उपनिषदों से १०८ सहस्र महावाक्यों का प्रतिपादन किया गया है। इनके सतीर्थ्य उपनिषद् ब्रह्म ने इसपर "भासकलोचना" नाम्नी व्याख्या लिखी है। पं. गौरीनाथ शास्त्री ने उपनिषदब्रह्म की टीका के साथ इसका सम्पादन किया है तथा विषम स्थलों पर अपनी टिप्पणी भी लिखी है।

इस ग्रन्थ के अतिरिक्त भी इन्होंने कर्माकर्मविवेकः, तत्त्वंपदार्थलक्ष्यैकशतकम्, ब्रह्मतारषोडशसमाधिः, ब्रह्मप्रणवदीपिका, भेदतमोमार्तण्डशतकम् विदेहमुक्तिप्रकरणम् आदि ग्रन्थों की रचना की।

नीलकण्ठ तीर्थ, केरल (१७७५-१८७५) -१ - अद्वैतपारिजातम् तथा इस पर शिवामृत (शिवपञ्चरत्न) नाम्नी स्वोपज्ञ टीका - निर्णय सागर प्रेस बम्बई से १६०१ ई. में प्रकाशित। यह एक पद्यबद्ध प्रकरण ग्रन्थ है जिसमें जीवन्मुक्त के लक्षणों का प्रतिपादन किया गया है। २-चित्सुधार्या (स्वाराज्यसर्वस्व) - इस ग्रन्थ में सांख्य, वैशेषिक, बौद्धादि मतों का खण्डन करने के उपरान्त अद्वैत मत की स्थापना की गयी है। पालघाट से प्रकाशित। ३-आत्मपञ्चकम्- पालघाट प्रेस से मुद्रित। वेदान्तकतकः, आत्मादर्शः, अष्टाक्षरस्तोत्रम्, सनत्सुजातीयव्याख्या आदि अन्य कई ग्रन्थों की भी रचना इनके द्वारा हुई है।

अच्युतराय मोडक, नासिक (१७७८-१८२३) - ये नासिक (महाराष्ट्र) के निकट पञ्चवटी में रहते थे। इनके पिता का नाम नारायण साठे तथा माता का नाम अन्नपूर्णा था। इनके पितामह ने संन्यास ग्रहण कर लिया था और वे अद्वैतसच्चिदानन्देन्द्र सरस्वती के नाम से जाने जाते थे। इन्हीं अद्वैतसच्चिदानन्द के शिष्य श्रीषष्टिनारायण अच्युतराय के अद्वैत दर्शन के गुरु थे। इन्होंने अपने पिता से भी अध्ययन किया। अच्युतराय अद्वैत वेदान्त के साथ-साथ काव्यशास्त्र एवं धर्मशास्त्र के भी पारदृश्वा विद्वान् थे। इन्होंने कुल मिलाकर लगभग ३० ग्रन्थों की रचना की है जो अद्वैत वेदान्त, काव्यशास्त्र, धर्मशास्त्र एवं काव्य से सम्बद्ध हैं। विद्वान् होने के साथ-साथ ये एक प्रसिद्ध कवि भी थे। इनके अद्वैतपरक प्रमुख ग्रन्थ निम्नलिखित हैं-

१- **अद्वैतविद्याविनोदः** - गायकवाड़ ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट बड़ौदा-३१७ में प्रकाशित। २- **महावाक्यार्थमञ्जरी** - मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित। ३- **अद्वैतजलजातम्** ४- **अद्वैतराज्यलक्ष्मीः** ५- **अवैदिकमततिरस्कारः** ६- **अद्वैतामृतमञ्जरी** ७- **बोधैक्यसिद्धिः** (आत्मबोध व्याख्या) ८- **जीवन्मुक्तिविवेकव्याख्या** पूर्णानन्देन्दुकौमुदी ६- **पञ्चदशीव्याख्या।** अन्तिम दोनों आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज २० में पूना से प्रकाशित हैं।

गङ्गाधरेन्द्र सरस्वती (१७८०-१८८० ई.) - ये सर्वज्ञ सरस्वती के प्रशिष्य एवं रामचन्द्र सरस्वती (उपनिषद्ब्रह्म के नाम से प्रसिद्ध) के शिष्य दाक्षिणात्य विद्वान् थे। स्वाराज्यसिद्धिः यह इनका मौलिक ग्रन्थ है। रचनाकाल - १८५६ ई., आर्यमतसंवर्धिनी प्रेस, मद्रास से मुद्रित। यह ग्रन्थ पद्यबद्ध तथा तीन प्रकरणों में विभक्त है। इस पर लेखक ने स्वयं "कैवल्यद्रुम" नाम्नी व्याख्या लिखी है। मूल ग्रन्थ एवं "कैवल्यद्रुम" व्याख्या दोनों पर कृष्ण शास्त्री ने "परिमल" नाम्नी व्याख्या तथा भास्करानन्द सरस्वती ने भी व्याख्या लिखी है।

कृष्ण गिरि (१६ वीं शती) - मोक्षसिद्धिः रचनाकाल- १८५८ ई.। मुन्नालाल प्रेस, वाराणसी से मुद्रित। इस प्रकरण ग्रन्थ में कर्म, उपासना और ज्ञान के क्रमिक अनुष्ठान से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति बतायी गयी है।

कृष्णानन्द सरस्वती (१८२५-१६०० ई.) ये वाराणसी के निवासी थे। सच्चिदानन्दाश्रम तथा वासुदेवेन्द्र इनके गुरु तथा हरिकृष्ण शर्मा इनके शिष्य थे।

अद्वैतविषयक इनके मौलिक ग्रन्थ हैं १- शास्त्राकूतप्रकाशः - इस ग्रन्थ में ३ आह्निक हैं जिनमें द्वैतवाद के खण्डनपूर्वक अद्वैतवाद की स्थापना की गयी है। जगदीश्वर प्रेस, बम्बई से मुद्रित। २-तिमिरोद्घाटनम् - इस ग्रन्थ में अद्वय आत्मतत्व का स्वरूप वर्णित है। राजकोट से मुद्रित।

कृष्णानन्द सरस्वती (१६ वीं शती) - ये भी वाराणसी के विद्वान् थे परन्तु उपर्युक्त कृष्णानन्द सरस्वती से भिन्न थे। ये श्री कैवल्यानन्द एवं श्री कृष्णानन्द के शिष्य थे।

इन्होंने अद्वैतसाम्राज्यम्, अज्ञानतिमिरदीपकः, स्वानुभूतिप्रकाशः, गीतासारोद्धारः, ब्रह्मगीता एवं 'अध्यात्म रामायण' की व्याख्या "चित्प्रकाशिनी" आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की। इनका प्रमुख प्रकाशित ग्रन्थ है- कैवल्यगाथा- कालपथी प्रेस, बम्बई से १६०३ ई. में प्रकाशित।

चन्द्रिकाचार्य भिक्षु (१६वीं शती)-ये दाक्षिणात्य श्री कृष्णानन्द एवं रामब्रह्मेन्द्र सरस्वती के शिष्य थे। त्यागराज शास्त्री (राजुशास्त्री के समकालीन।)

अद्वैतसिद्धान्त-गुरुचन्द्रिका इसकी रचना ग्रन्थकार ने श्री त्यागराज शास्त्री की प्रेरणा पर की। इसमें प्राचीन विलुप्तप्राय अद्वैत सिद्धान्तों की श्रुति और युक्तिपूर्वक गवेषणा की गयी है। ग्रन्थकार ने स्वयं इस पर "रसझरी" नामक व्याख्या भी लिखी है। ओरियण्टल प्रेस, मद्रास से प्रकाशित।

त्र्यम्बक शास्त्री (१६वीं शती)-एस. सुब्रह्मण्य शास्त्री के पूर्वज। १-अद्वैतसिद्धान्तवैजयन्ती-वाणीविलास संस्कृत ग्रन्थमाला में १६१६ ई. में प्रकाशित। मध्वानुयायी वनमालीमिश्र का इसमें खण्डन किया गया है जिन्होंने गौड ब्रह्मानन्द की "लघुचन्द्रिका" का खण्डन किया था। २- **श्रुतिमतानुमानोपपत्तिः** कामाक्षी द्वारा सम्पादित और कुम्भकोणम् से १६१० ई. में प्रकाशित। ३-**श्रुतिमतोद्योतः** वाणीविलास प्रेस से १६१६

में प्रकाशित। ४- **उपाधिमण्डनम्**-एस. सुब्रह्मण्य शास्त्री द्वारा सम्पादित और "एनल्स ऑफ ओरियण्टल रिसर्च" मद्रास में १९६२ ई. में प्रकाशित।

त्यागराज शास्त्री (राजु शास्त्री) (१८१५-१९०४) - ये मन्नार्गुडि के मूल निवासी, अप्पादीक्षित के पुत्र तथा यज्ञस्वामी दीक्षित के पिता थे। ये काव्यशास्त्र, मीमांसा, न्याय एवं अद्वैतवेदान्त के अधिकृत विद्वान् थे। इन्होंने अपने पितामह से काव्यशास्त्र, श्री नारायण सरस्वती से वेदान्त, रघुनाथ शास्त्री से मीमांसा एवं श्री गोपाल शास्त्री से व्याकरण का अध्ययन किया था। १-सद्विद्याविलासः छान्दोग्य-उपनिषद् के छठे अध्याय पर आधारित यह मौलिक पद्यबद्ध रचना है, जिसपर "रसानुभूतिः" नाम्नी शाङ्करभाष्यानुसारिणी व्यांख्या भी ग्रन्थकार ने स्वयं लिखी है। २-न्यायेन्दुशेखरः (चन्द्रिकाप्रसादनम्) इसमें विशिष्टाद्वैत विद्वान् श्री अनन्ताचार्य के "न्यायभास्कर" नामक ग्रन्थ का खण्डन किया गया है। न्यायभास्कर में अद्वैतसिद्धि की लघुचन्द्रिका टीका आदि ग्रन्थों का खण्डन किया गया था। राजु शास्त्री ने न्यायेन्दुशेखर लिखकर "चन्द्रिका" में प्रतिपादित अद्वैत सिद्धान्तों का पुनः मण्डन किया। यह ग्रन्थ हरिहर शास्त्री द्वारा सम्पादित और शारदा विलास प्रेस, कुम्भकोणम् में मुद्रित है, १९१५ ई.। ३. ब्रह्मविद्यातरङ्गिणीव्याख्या-यह श्रीमन्नारायण योगीन्द्र द्वारा प्रणीत अद्वैतपरक प्रकरण ग्रन्थ "ब्रह्मविद्यातरङ्गिणी" की व्याख्या है। ४. वेदान्तवादसंग्रहः - इस ग्रन्थ में अद्वैतसिद्धान्त के अवान्तर मतभेदों के पूर्वोत्तर पक्षों का विवेचन है। ५. आत्मलाभः - (अद्वैतसारः) पद्यबद्ध प्रकरण ग्रन्थ, १९५३ ई. में नवसालपुर कोआपरेटिव प्रेस से मुद्रित। इन्होंने इनके अतिरिक्त भी लगभग २० छोटे बड़े ग्रन्थों की रचना की, जिनमें स्तोत्र काव्य, वेदान्तपरक तथा धर्मशास्त्रसम्बन्धी रचनाएँ तथा कुछ अन्य हैं।

कृष्णावधूत पण्डित (१८३४-१९०९ ई.) ये गुहपुर के निवासी थे। इन्होंने अद्वैत, विशिष्टाद्वैत एवं द्वैत तीनों मतों पर ग्रन्थ रचना की। १- अद्वैतनवनीतम् के. टी. पाण्डुरङ्गी द्वारा सम्पादित और धारवाड़ से १९५७ ई. में मुद्रित। २-सूत्रार्थामृतलहरी आर. नागराज शर्मा द्वारा सम्पादित और मद्रास गवर्नमेण्ट ओरियण्टल सीरीज ७७ में १९५१ ई. में प्रकाशित। ग्रन्थकार ने इस पर स्वोपज्ञ व्याख्या भी लिखी है। ३-सूत्रार्थपद्धतिः।

हरिहर शास्त्री (१९ वीं शती) ये चिदम्बर नगर के निवासी, राजुशास्त्री के शिष्य तथा रमा शास्त्री के गुरु थे। न्यायेन्दुशेखरः (उत्तरभागः) इन्होंने अपने गुरु राजु शास्त्री द्वारा रचित "न्यायेन्दुशेखर" के उत्तरभाग को लिखकर उसे पूर्ण किया। कुम्भकोणम् से ब्रह्मविद्या पत्रिका में प्रकाशित।

केशवशास्त्री मराठे (१८४५-१९२० ई.) - इनके पूर्वज महाराष्ट्रीय थे, परन्तु इनका जन्म काशी में हुआ था। इनके पिता पं. बालम्भट्ट वेदवेदाङ्ग के ज्ञाता प्रतिभाशाली विद्वान् थे। इन्होंने पं. राजाराम शास्त्री तथा पं. बाल शास्त्री से वेदान्त दर्शन तथा व्याकरणादि शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन किया था। न्याय तथा वेदान्त की दुरूह दार्शनिक समस्याओं

को सुलझाने में इनकी विशेष रुचि थी। १- आत्मसोपानम्- यह ४७६ अनुष्टुप् छन्दों में प्रणीत शास्त्री जी का अद्वैतवेदान्तविषयक मौलिक ग्रन्थ है जिसमें आत्मा की उपलब्धि के साधनों का वर्णन किया गया है। यह श्री केशव शास्त्री के अध्यात्मविषयक चिन्तन की महती देन है। पण्डित ग्रन्थमाला-४ में मुद्रित। २-स्नेहपूर्तिपरीक्षा- यह म. म. पं. राममिश्र शास्त्री के विशिष्टाद्वैतपरक ग्रन्थ "स्नेहपूर्तिः" के खण्डन हेतु लिखा गया है। राममिश्र शास्त्री ने अपने ग्रन्थ में विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन अभिनव युक्तियों द्वारा किया था। उसकी प्रौढ़ आलोचना श्री केशव शास्त्री ने अपने इस ग्रन्थ में की है और अद्वैतमत का प्रतिपादन किया है।

मोहनलाल वेदान्ताचार्य, पञ्जाब (१८५०-१९१० ई.) - ये वाराणसी के निवासी पं. राममिश्र शास्त्री के शिष्य और गुरु नानक की तेरहवीं पीढ़ी के वंशज थे। वेदान्तसिद्धान्तादर्शः-वाराणसी से १८८७ ई. में मुद्रित। इस ग्रन्थ में ४ परिच्छेद हैं जिनमें अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्त सरल शैली में वर्णित हैं। इसमें अम्बिकादत्त व्यास की रचना "दुःखद्रुमकुठारः" का निर्देश मिलता है।

सुदर्शनाचार्य पञ्जाबी (१९-२० वीं शती) - अद्वैतचन्द्रिका- वाराणसी से १९०१ ई. में प्रकाशित।

वासुदेवशास्त्री अभ्यङ्कर, महाराष्ट्र (१८५०-१९२० ई.) - ये पूना के निवासी तथा नागेश भट्ट के प्रशिष्य भास्कराचार्य के पौत्र थे। इन्होंने श्री भास्कराचार्य एवं श्री राम शास्त्री से शास्त्रों का गहन अध्ययन किया था। ये मीमांसा एवं विशिष्टाद्वैत दर्शनों के मर्मज्ञ तथा अद्वैतवेदान्त के मूर्धन्य नैष्ठिक विद्वान् थे। १-अद्वैतामोदः - १९१८ ई. में आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थमाला-८४ में प्रकाशित। इस ग्रन्थ का प्रयोजन रामानुज के श्रीभाष्य में प्रतिपादित विशिष्टाद्वैतपरक सिद्धान्तों का खण्डन कर अद्वैतमत की स्थापना करना है। इसमें बड़े तत्त्वान्वेषी ढंग से युक्तिपूर्वक अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों को उपस्थापित किया गया है। २. दर्शनाङ्कुरः - **१९२४** ई. में प्रकाशित, "सर्वदर्शनसंग्रह" की व्याख्या। ३. **सिद्धान्तबिन्दुव्याख्या "बिन्दुप्रपातः"** भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना से १९२८ ई. में प्रकाशित। ४. भगवद्गीता पर टीका - १९३५ ई. में आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज-१०६ में प्रकाशित। इन अद्वैतपरक ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने आपदेव के "मीमांसान्यायप्रकाश" एवं रामानुजीय श्रीभाष्य पर भी टीकाएँ लिखीं तथा "धर्मतत्त्वनिर्णय" नामक ग्रन्थ लिखा जो आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज-९८ में पूना से १९२९ ई. में प्रकाशित है।

राम सुब्रह्मण्य शास्त्री (१८५०-१९२० ई.) - श्री राम सुब्रह्मण्य शास्त्री म. म. अश्वत्थ नारायण शास्त्री के प्रपौत्र, रामशङ्कर शास्त्री के पुत्र एवं शिवराम शास्त्री के शिष्य थे। ये चोल देश के शाहज ग्राम के निवासी थे। इनका अद्वैतवेदान्त में चिन्तन और वैदुष्य विलक्षण था। इन्होंने अद्वैतसम्बन्धी कई ग्रन्थों का प्रणयन किया जिनमें प्रमुख निम्न हैं १-सूत्रभाष्यगाम्भीर्यार्थनिर्णयः-आनन्दश्रम प्रेस से प्रकाशित। इसका एक अन्य नाम

"अणुभाष्यगाम्भीर्यम्" भी है। इस ग्रन्थ में ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य पर लगाये गये दोषों का खण्डन किया गया है तथा भागवतपुराणादि से अद्वैतमत की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिए अनेक युक्तियाँ दी गयी हैं। इनके इस ग्रन्थ के खण्डन हेतु इनके समसामयिक पं. गौरीनाथ शास्त्री ने "सूत्रभाष्यगाम्भीर्यार्थनिर्णयखण्डनम्" नामक ग्रन्थ लिखा, जिसका खण्डन पुनः राम सुब्रह्मण्य शास्त्री के शिष्य वेङ्कट राघव शास्त्री ने "सूत्रभाष्यगाम्भीर्यार्थनिर्णयमण्डनम्" लिखकर किया। २. न्यायभास्करखण्डनम्-चौखम्बा प्रेस, वाराणसी से १६१६ ई. में प्रकाशित। इस ग्रन्थ का प्रणयन अनन्ताचार्य विरचित ग्रन्थ "न्यायभास्कर" का निरसन करने हेतु हुआ है, जिसमें उन्होंने अद्वैतसिद्धि की टीका "लघुचन्द्रिका" का खण्डन किया था। ३. न्यायरक्षामणिभाष्योक्तिविरोधः-"न्यायरक्षामणि" अप्पय-दीक्षित द्वारा विरचित ब्रह्मसूत्रवृत्तिरूप ग्रन्थ है जो प्रथम अध्याय पर्यन्त ही उपलब्ध होता है। राम सुब्रह्मण्य शास्त्री द्वारा रचित न्यायरक्षामणिविरोधः नामक उपर्युक्त ग्रन्थ में दर्शाया गया है कि "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस सूत्र का अप्पय दीक्षित द्वारा किया गया अर्थ तथा अन्यत्र भी प्रकटित मन्तव्य, शाङ्कर भाष्य के विपरीत हैं। ४. न्यायेन्दुशेखर-दोषयोगघटनग्रन्थः- इस ग्रन्थ में राजु शास्त्री के न्यायेन्दुशेखर में दोष दर्शाये गये हैं। विनायक प्रेस, चिदम्बरम् से मुद्रित। ५. मध्वचन्द्रिकाखण्डनम्- चौखम्बा, वाराणसी से १६१६ ई. में मुद्रित। इसमें व्यासतीर्थ प्रणीत द्वैतदर्शन के ग्रन्थ "मध्वचन्द्रिका" का खण्डन किया गया है। यह ग्रन्थ "न्यायभास्करखण्डनम्" नामक उपर्युक्त ग्रन्थ के साथ प्रकाशित है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त भी शास्त्री जी ने अद्वैतविषयक ५० से अधिक ग्रन्थों की रचना की, जो अभी अप्रकाशित हैं।

शङ्कर चैतन्य भारती (१८५०-१६४०)-ये वाराणसी के संन्यासी संस्कृत कालेज से सम्बद्ध रहे। १. ख्यातिवादः इसमें पञ्च ख्यातियों का वर्णन करके अनिर्वचनीय ख्यातिवाद की स्थापना की गयी है। वाराणसी संस्कृत ग्रन्थमाला-५८ में प्रकाशित। २. दर्शनसर्वस्वम्-यह खण्डनखण्डखाद्य की "शारदा" नाम्नी इनकी टीका की प्रमेय बहुल विस्तृत भूमिका है जो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का अस्तित्व रखती है। इसमें विज्ञानवाद, शून्यवाद, स्वातन्त्र्यवाद आदिमतों की दार्शनिक कमियों को युक्तियों द्वारा प्रदर्शित कर अनिर्वचनीयता के सिद्धान्त को स्थापित किया गाया है। वाराणसी के संन्यासी संस्कृत कालेज द्वारा प्रकाशित।

कामाक्षी- १८५१-१६२० ई.-ये कावेरी के समीप चोलदेश की निवासिनी परम विदुषी महिला थीं। इनके पिता का नाम रामस्वामी था । मात्र १६ वर्ष की अवस्था में ही इनके पति की मृत्यु हो गयी। वैधव्य के उपरान्त पितृगृह में रहकर इन्होंने न्यायशास्त्र और अद्वैतग्रन्थों का अध्ययन किया और प्रकाण्ड वैदुष्य अर्जित किया।

इनके द्वारा रचित अद्वैतविषयक प्रमुख प्रकाशित ग्रन्थ हैं-

१. अद्वैतदीपिका- इसमें अद्वैतसिद्धि में प्रतिपादित मिथ्यात्व तथा अद्वयतत्त्व के परिष्कारों का संग्रह है। नटेश शास्त्री द्वारा सम्पादित और मयवेरम् से १६१० ई. में

प्रकाशित। २-श्रुतिमतप्रकाश-टिप्पणी- यह त्र्यम्यबक शास्त्री द्वारा विरचित ग्रन्थ पर टिप्पणी है। कुम्भकोणम् से १६१० ई. में प्रकाशित। ३. श्रुतिमतोद्योत-टिप्पणी- यह भी त्र्यम्बक शास्त्री द्वारा रचित मूल ग्रन्थ की टिप्पणी है, जो कुम्भकोणम् से ही मुद्रित है।

राम शास्त्री, काञ्ची (१८७५-१६३० ई.)- ये दाक्षिणात्य तिरूनेल नगर के निवासी, पं. हरिहर शास्त्री के शिष्य तथा न्याय एंव वेदान्त के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान थे।

कप्यासकौमुदी-अनन्तशयन के भास्कर प्रेस से मुद्रित। इस ग्रन्थ में छान्दोग्य उपनिषद् के अन्तर्गत आये "कप्यास" शब्द विशिष्टाद्वैतियों द्वारा निरूपित अर्थ का खण्डन करके व्याकरण की उपपत्ति द्वारा शाङ्करभाष्यसम्मत अर्थ को स्थापित किया गया है।

एन० एस० अनन्तकृष्ण शास्त्री, केरल (१८८६ ई.) म. म. अनन्तकृष्ण शास्त्री का जन्म पालक्क के अन्तर्गत "मूरणि" ग्म्राम में हुआ था। इन्होंने पं. हरिहर शास्त्री से व्याकरण एवं मद्रास संस्कृत कालेज में पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा का अध्ययन किया। इसके पश्चात् इन्होंने तिरुपति संस्कृत कालेज, कलकत्ता संस्कृत कालेज तथा बम्बई के भारतीय विद्याभवन के गीता विद्यालय में अध्यापन कार्य किया। अनन्तकृष्णशास्त्री का नाम आधुनिक अद्वैतवादी दार्शनिकों में सर्वोपरि है। इनके और विशिष्टाद्वैतवादी विद्वान् उत्तमूर वीरराघवाचार्य के जो इनके केवल समसामयिक ही नहीं अभिन्न मित्र भी थे, बीच चला खण्डन-मण्डनात्मक विवाद वेदान्त की दोनो शाखाओं की उज्ज्वल गौरवगाथा है। इनकी अद्वैततत्त्वशुद्धि और शतभूषणी स्वस्थ शास्त्रीय प्रतिस्पर्धा की स्पृहणीय परम्परा का मेरुदण्ड है। शास्त्री जी द्वारा प्रणीत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है-१. वेदान्तरक्षामणिः- म. म. अनन्तकृष्ण शास्त्री ने इस ग्रन्थ की रचना २ भागों में की है। प्रथम भाग में रामानुज के श्रीभाष्य की परीक्षा तथा समालोचना की गयी है। यह भाग १६१७ ई. में प्रकाशित हुआ। द्वितीय भाग में ब्रह्मसूत्र के आनन्दमयाधिकरण का विवेचन है। इस भाग का प्रकाशन १६२८ ई० में हुआ। विश्वमित्र प्रेस, कलकत्ता से मुद्रित। २-अद्वैततत्त्वशुद्धिः इस ग्रन्थ में अनन्तकृष्ण शास्त्री ने यू. वीरराघवाचार्य की "परमार्थप्रकाशिका" में प्रतिपादित विशिष्टाद्वैतपरक सिद्धान्तों की आलोचना एवं खण्डनपूर्वक अद्वैतमत की स्थापना की है। १६५८ ई. में मद्रास से प्रकाशित। ३-शतभूषणी- यह इनका सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें विशिष्टाद्वैत के आचार्य वेदान्तदेशिक की "शतदूषणी" का परीक्षापूर्वक खण्डन किया गया है। वेदान्तदेशिक ने अद्वैतमत में सौ दूषणों की उद्भावना की थी। उनका खण्डन कर अनन्तकृष्ण शास्त्री ने अद्वैतवेदान्त में सौ भूषण बताये हैं। यह ग्रन्थ मद्रास के पी. जी. पाल प्रेस से १६५६ ई. में मुद्रित है। ४-अद्वैततत्त्वसुधा-२ भागों में प्रस्तुत यह ग्रन्थ उत्तमूर वीरराघवाचार्य के "परमार्थभूषणम्" का खण्डन है। वीरराघवाचार्य ने शास्त्री जी की "शतभूषणी" की आलोचना "परमार्थभूषणम्" लिखकर की थी। उसका खण्डन अद्वैततत्त्वसुधा के दूसरे भाग में शास्त्री जी ने की। इसके प्रथम भाग में विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैत दर्शन के सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। प्रथम भाग का प्रकाशन १६६० ई. में तथा द्वितीय भाग का १६६२ ई. में वाराणसी से हुआ। ५-वेदान्तपरिभाषा-प्रकाशिका-यह "वेदान्तपरिभाषा" की व्याख्या

है जो कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित है। ६-अद्वैतमार्तण्डः-इस ग्रन्थ में "व्याससिद्धान्तमर्दनम्" (देशिकाचार्यकृत) आदि विशिष्टाद्वैत-द्वैतपरक ग्रन्थों का खण्डन कर अद्वैत सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। वणिक् प्रेस, कलकत्ता से मुद्रित। ७-शारीरकभाष्यटिप्पणीप्रदीपः कलकत्ता संस्कृतग्रन्थमाला-१ में मुद्रित, १९३३ ई.। ८-अद्वैतदीपिका-द्वैतवेदान्ती श्री वेङ्कटरमणाचार्य द्वारा विरचित "चन्द्रिकाप्रकाशप्रसरः" तथा सत्यध्यानतीर्थकृत "चन्द्रिकामण्डनम्" के खण्डन हेतु प्रणीत ग्रन्थ। वेङ्कटरमणाचार्य ने "(तात्पर्य) चन्द्रिकाप्रकाशप्रसरः" ग्रन्थ राम सुब्रह्मण्य शास्त्री द्वारा प्रणीत ग्रन्थ "चन्द्रिकाखण्डनम्" (व्यासराय कृत मध्वचन्द्रिका का खण्डन) के निरसन हेतु लिखा था। अद्वैतदीपिका में सत्यध्यान तीर्थकृत "चन्द्रिकामण्डनम्" का भी खण्डन किया गया है तथा अद्वैतमत की स्थापना की गयी है। ९. चतुर्ग्रन्थिसंग्रह कलकत्ता संस्कृत सीरीज में प्रकाशित। १०. भगवद्गीता भरतीयदर्शनानि च - इस ग्रन्थ में भगवद्गीता का अद्वैतवेदान्त में ही तात्पर्य विनिश्चित किया गया है। भारतीय विद्याभवन ग्रन्थमाला-४ में मुम्बई से मुद्रित। ११. शारीरिकन्याससंग्रहदीपिका- कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला-१ में प्रकाशित १९४१ ई.। प्रकाशात्मा के "शारीरकन्याससंग्रह" की टीका।

वाई. सुब्रह्मण्य शर्मा (१८९०-१९३० ई.) - ये बंगलौर के समीप यलम्बसि ग्राम के निवासी थे। मूलविद्यानिरासः (श्रीशङ्करहृदयम्) - यह एक महत्त्वपूर्ण रचना है, जिसमें अद्वैतमतानुसार अविद्या के स्वरूप, उसके आश्रय तथा विषय, उसके कार्य का वर्णन करते हुए अविद्या उन्मूलन के उपाय को प्रदर्शित किया गया है। अध्यात्म प्रेस बंगलौर से प्रकाशित।

सूर्यनारायण शुक्ल, उ०प्र० (**१८९५-१९४४ ई.**) - ये फैजाबाद के निवासी पं. रामेश्वरदत्त शुक्ल के पुत्र, पं. वामाचरण भट्टाचार्य के शिष्य तथा पं. चिन्नस्वामी शास्त्री के समकलीन और मित्र थे। इन्होंने वाराणसी के संस्कृत कालेज में वर्षों दर्शन विषय का अध्यापन कार्य किया। ये न्याय, व्याकरण एवं अद्वैतवेदान्त के प्रतिभासम्पन्न मनीषी और लेखक थे। इनके अद्वैतविषयक ग्रन्थ हैं- १. माध्वमुखभङ्गः- यह "अद्वैतरसनाकर्तरी" नामक ग्रन्थ के खण्डन हेतु प्रणीत है। इसमें वेद, उपनिषद् आदि से प्रमाण देकर द्वैत का खण्डन तथा अद्वैतवाद की स्थापना की गयी है। यह ग्रन्थ वाराणसी के हितचिन्तक प्रेस से मुद्रित है। २. माध्वभ्रान्तिनिरासः- इस ग्रन्थ में अद्वैतभ्रान्तिप्रकाशः नामक द्वैतपरक ग्रन्थ का खण्डन किया गया है। वाराणसी से प्रकाशित। १-और २-दोनों ग्रन्थों में सत्यध्यान तीर्थ द्वारा प्रदर्शित अद्वैत विषयक भ्रान्तियों का निराकरण तथा माध्वमत के भेदवाद के अवैदिकत्व का प्रदर्शन है। ३. खण्डनरत्नमालिका- खण्डनखण्डखाद्य का सारसंग्रहभूतग्रन्थ। ४. **निर्विकल्पतावादः**- शुक्ल जी ने "वादरत्नम्" नामक व्याकरणविषयक शास्त्रार्थ ग्रन्थ तथा मुक्तावलीमयूख, तर्कसंग्रहदीपिकामयूख आदि अनेक न्यायविषयक टीका ग्रन्थों की भी रचना की।

पोलकं राम शास्त्री-(१९००-१९६८ ई.) इनका जन्म चोल देश के नन्निल ग्राम के

समीप "पोल" नामक स्थान पर हुआ था। इन्होंने हरिहर शास्त्री, दण्डपाणि स्वामी तथा वेङ्कट राम शास्त्री से शास्त्रों का अध्ययन किया था। ये शिवाद्वैत तथा शाङ्कराद्वैत दोंनो के पारदृश्वा विद्वान् थे। १. **द्रविडात्रेयदर्शनम्-** इस ग्रन्थ में शङ्कराचार्य से पूर्ववर्ती ब्रह्मनन्दी तथा द्रविड़ाचार्य के सिद्धान्तों को दर्शाया गया है। बी.जी.पाल प्रेस से मुद्रित। इस ग्रन्थ तथा आगामी ग्रन्थ "चतुर्मतसामरस्यम्" का खण्डन देवनाथ ताताचार्य ने अपनी "विशिष्टाद्वैतसिद्धिः" में किया है। २. **चतुर्मतसामरस्यम्-** कामकोटि से मुद्रित। ३. **आभोगटिप्पणी-** मद्रास राजकीयपाण्डुलिपि पुस्तकालय सें मुद्रित। यह ग्रन्थ लक्ष्मीनृसिंह (१७-१८वीं शती) कृत "आभोग" (कल्पतरुव्याख्या) की टिप्पणी है। इसमें "आभोग" में वर्णित विषयों को संक्षेप में सरल ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

जगदीश्वर शास्त्री (२० वीं शती) ये यज्ञराम दीक्षित के पुत्र तथा कृष्णयज्ञ स्वामी एवं वेङ्कट राम शास्त्री के शिष्य थे। इनका जन्म कुम्भकोणम् के समीप इञ्जिक्कोल्लै ग्राम में हुआ था। १. निर्गुणतत्त्वनिर्णयः २. चिदचिच्छारीरकब्रह्मसिद्धिः ३. सप्तविधानुपपत्तिप्रकाशः- ये सभी ग्रन्थ अद्वैतमहासभा में मुद्रित हैं। इनके ग्रन्थों का खण्डन देवनाथ ताताचार्य ने अपनी "विशिष्टाद्वैतसिद्धिः" में किया हैं।

अद्वैतविषयक अन्य रचनाएँ

भवानीशङ्करानन्द (१७५०-१८५० ई.)-रघुनाथ यतीन्द्र के शिष्य। अद्वैतसिद्धान्तदीपिका-श्रीमहत्पुर के नक्षत्रशोधन प्रेस से मुद्रित। ६ परिच्छेदों में सम्पूर्ण इस ग्रन्थ के प्रथम पाँच परिच्छेदों में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा, विशिष्टाद्वैत और द्वैत मतों का खण्डन है और छठवें परिच्छेद में अद्वैतवाद की स्थापना और उसका विवेचन किया गया है।

माधवाश्रम (१७५०-१८५०) - ये वाराणसी के निवासी और श्री नारायणाश्रम के शिष्य थे। स्वानुभवादर्शः- कलकत्ता संस्कृत सीरीज-१७१ और २५६ में मुद्रित। यह २१५ पद्यों में उपनिबद्ध एक प्रकरण ग्रन्थ है जिसपर "अर्थप्रकाशिका" स्वोपज्ञ व्याख्या ग्रन्थकार द्वारा रचित है।

स्वामी निश्चलदास (१८-१९वीं शती)-युक्तिप्रकाश-बम्बई से १९१३ ई. में प्रकाशित।

शान्तिनाथ साधु (१८-१९वीं शती)-अद्वैततत्त्वप्रबोधिनी-२ भागों में विरचित। भारतीय दर्शन संस्थान, अमलनेर से मुद्रित। वेदान्त के सैकड़ों अमुद्रित ग्रन्थों में बिखरी पड़ी अनेक अद्वैतसाधक युक्तियों का इसमें सङ्कलन किया गया है।

कृष्णचन्द्र (१९ वीं शती)-ज्ञानप्रदीपः - कलकत्ता से १८७३ ई. में प्रकाशित।

ब्रह्मानन्द तीर्थ (१९ वीं शती) - तार्किकमोहप्रकाशः-इलाहाबाद से १८९२ ई. में प्रकाशित।

गोविन्दानन्द सरस्वती-(१८८५ ई.)-वाराणसीवासी विद्वान्, माधवानन्द सरस्वती के

शिष्य-ब्रह्मसुधाकारिका - निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित।

जगन्नाथ सरस्वती "यतीन्द्र" (१६ वीं शती) - ये हरिहर सरस्वती के शिष्य थे। अद्वैतामृतम्-पं. मोहनलाल शर्माकृत "अमृततरङ्गिणी टीका के साथ १८६४ ई. में जगदीश्वर प्रेस, बम्बई से मुद्रित।

भास्करानन्द सरस्वती, उ. प्र. (१८३३-१८६६)-अनुभूतिविवरणम् (स्वोपज्ञ व्याख्या सहित) भारतीयजीवन प्रेस, काशी से १८६६ में प्रकाशित।

कोच्चि रङ्गप्पाचार्य (१८२०-१८६१) - **चन्द्रिकाभूषणम्**- कुम्भकोणम् से १६०५ ई. में प्रकाशित (जिज्ञासाधिकरणपर्यन्त)। इस ग्रन्थ में रघुनाथ शास्त्री का खण्डन किया गया है।

हेमचन्द्र (१६-२० वीं शती) अद्वैतसिद्धान्त-लाहौर से १६०१ ई. में प्रकाशित।

वीरराघव यज्वा (१६-२० वीं शती) - अद्वैतब्रह्मतत्त्वप्रकाशिका-नेल्लोर से १६०७ ई. में मुद्रित।

वाणीकण्ठ शर्मा (१६-२० वीं शती)-अद्वैतखण्डनमण्डनम्-कलकत्ता से १६१२ ई. में प्रकाशित।

रुद्रभट्ट शर्मा (१६-२० ई. शती)-परिहारखण्डनम्-वाराणसी से १६१६ ई. में प्रकाशित। इस ग्रन्थ में देशिक वरदाचार्य के ग्रन्थ "विरोधपरिहार" का खण्डन किया गया है जिसे वरदाचार्य ने काशी के विश्वेश्वर शास्त्री के विरोध नामक पत्र के उत्तर में लिखा था।

हरिहरकृपालु द्विवेदी, उ. प्र. (१८७०-१६४८ ई.)-वेदान्तप्रबन्ध-१६१६ ई. में रचित।

सुन्दर राम शास्त्री (१८५०-१६२०)-ये रामलिङ्गार्य (ब्रह्मानन्द) के पुत्र थे। सर्ववेदान्ततात्पर्यसारसंग्रहः -विक्टोरिया प्रेस से मुद्रित।

हरिराम शर्मा (१६-२० वीं शती) रामानुजीयमतविमर्दनम् - अहमदाबाद से १६१८-१६ ई. में प्रकाशित।

अद्वैतेन्द्र सरस्वती (१६-२० वीं शती) - स्वानुभवतरङ्गः- पूना से १६२० ई. में प्रकाशित।

राघवेन्द्र रायपाल (१६-२० वीं शती) - अद्वैतदीपिकाविमर्शः मैसूर से १६२२ ई. में प्रकाशित।

नटेशार्य (१८५०-१६१०) - अद्वैततरणिः - वेङ्कट सुब्रह्मण्य शास्त्री द्वारा सम्पादित और बालमनोरमा प्रेस, मद्रास से १६२६ ई. में प्रकाशित। इस ग्रन्थ में वेङ्कटरमणाचार्य द्वारा विरचित "चन्द्रिकाप्रकाशप्रसरः" नामक ग्रन्थ का खण्डन किया गया है।

मल्लडि रामकृष्ण (२० वीं शती) भ्रममञ्जरी-विजयवाड़ा से प्रकाशित।

ब्रह्मलीन मुनि (२०वीं शती) - वेदान्तसुधा-सूरत से १६५६ ई. में प्रकाशित।

हरिहरानन्द सरस्वती (स्वामी करपात्री)- अद्वैतबोधदीपिका-अण्णामलै से १९६० ई. में प्रकाशित।

कालीकुमार मिश्र - वेदान्तानुभूतिकारिका-वर्दवान से प्रकाशित।

द्विजेन्द्रलाल पुरकायस्थ- जयपुर के निवासी तथा पट्टाभिराम शास्त्री के शिष्य। अद्वैतामृतसारः- जयपुर से प्रकाशित। पद्यबद्ध लघु प्रकरण ग्रन्थ।

अद्वैतविषयक टीका व्याख्या ग्रन्थ, उपनिषदों पर टीकाएँ, व्याख्या, विवरण इत्यादि

वेङ्कटाचार्य गजेन्द्रगडकर, महाराष्ट्र (**१७९२-१८५२**) - सतारा के राज्याश्रित विद्वान्। श्वेताश्वतरोपनिषद्-व्याख्या।

उपनिषद् ब्रह्मेन्द्र (१७५०-१८५०) - **ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्विवरणम्**-अड्यार लाइब्रेरी सीरीज से प्रकाशित।

अमरदास - (१८-१९ वीं शती) - श्रीचन्द्र इनके दीक्षागुरु तथा ब्रह्मविज्ञान इनके विद्यागुरु थे। ईश-केन-कठ-ऐतरेय-तैत्तिरीय-प्रश्न-माण्डूक्य-मुण्डकोपनिषद् की "मणिप्रभा" व्याख्या- चौखम्बा, वाराणसी से प्रकाशित।

भास्करानन्द सरस्वती (१८३३-१८९९) इनका जन्म कानपुर मण्डल के "मिथिलाल" गाँव में हुआ था, परन्तु ये काशी में निवास करने लगे थे। दशोपनिषद् टीका **"प्रकाशः"**। यह उपनिषदों के रहस्य का उद्घाटन करने वाली सुबोध टीका है। रचनाकाल- १८९५ ई। भारती जीवन प्रेस, वाराणसी से १८९९ ई. में प्रकाशित।

बलभद्र शर्मा-(१९-२० वीं शती) - ईशोपनिषद् पर बालभाष्यम्-नादियाड से प्रकाशित।

श्रीधर शास्त्री पाठक (स्वामी शङ्करानन्द भारती), महाराष्ट्र (१८७८-१९६० ई.) त्र्यम्बक शास्त्री के पुत्र, डेकन कालेज पूना से सम्बद्ध। ईश-केन कठ और मुण्डक उपनिषदों की टीका "बालबोधिनी" पूना से १९२१ ई. में प्रकाशित।

सीताराम तर्कभूषण (१९-२० वीं शती)-शङ्कराचार्य के ऐतरेयोपनिषद्भाष्य पर "शङ्करकृपा" नाम्नी टीका-१९२१ ई. में प्रकाशित (तृतीय संस्करण)।

लक्ष्मण सूरि (१८२०-१९२० ई.)-ये दाक्षिणात्य, तिरुनेल्वेली के निकट "हरिकेशनल्लूर" के निवासी थे। उपनिषत्संक्षेपवार्तिकम्-इस ग्रन्थ में अनुष्टुप् छन्द में निर्मित वार्तिकों के द्वारा समस्त उपनिषदों के तात्पर्य का साररूप प्रस्तुत किया गया है।

सच्चिदानन्देन्द्र सरस्वती (२० वीं शती) शङ्कर के केनोपनिषद्भाष्य पर टीका होलेनरसीपुर से १९५९ ई. में प्रकाशित।

ब्रह्मसूत्र तथा उसपर शाङ्करभाष्य से सम्बन्धित टीकाएँ इत्यादि-

भैरव शर्मा "तिलक" (१७५०-१८५० ई.) - **ब्रह्मसूत्रतात्पर्यविवरणम्**- पण्डित नूतन ग्रन्थमाला में वाराणसी से प्रकाशित। रचनाकाल - १८२४ ई.।

उपनिषद् ब्रह्मेन्द्र (१७६०-१८५०) १- सूत्रभाष्यसिद्धान्तसंग्रहः (ब्रह्मसूत्रसिद्धान्तसंग्रह) अड्यार लाइब्रेरी से प्रकाशित। इस ग्रन्थ में शाङ्कर भाष्य के प्रत्येक अधिकरण का सार प्रस्तुत किया गया है। २- ब्रह्मसूत्रार्याद्विशतिका-अड्यार लाइब्रेरी और निर्णय सागर प्रेस से प्रकाशित २०० आर्या छन्दों में ब्रह्मसूत्र के विषयों का उपन्यास करने वाला ग्रन्थ।

के. ए. गोविन्दविष्णु (१६ वीं शती) - शङ्कराचार्य के ब्रह्मसूत्रभाष्य पर टिप्पणी, बम्बई से १८६७ ई. में प्रकाशित।

वनमाली मिश्र (१६ वीं शती) ब्रह्मसूत्रसिद्धान्तमुक्तावली-यह ग्रन्थ ब्रह्मसूत्रों की वृत्ति के रूप में प्रणीत है। चौखम्बा, वाराणसी से प्रकाशित।

कृष्णानन्द सरस्वती - १८२५-१६०० ई. - सच्चिदानन्दाश्रम और वासुदेवेन्द्र योगी के शिष्य, वाराणसी के निवासी विद्वान्। ब्रह्मसूत्रकुतूहलम्-राजराजेश्वरी प्रेस, वाराणसी से मुद्रित। इस ग्रन्थ में "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" से लेकर "ज्योतिश्चरणाभिधानात्" पर्यन्त २४ सूत्रों की वृत्ति लिखी गयी है। ग्रन्थ की अवतरणिका में अद्वैतसिद्धान्तों को स्पष्ट किया गया है।

अनन्तानन्द गिरि (१६-२० वीं शती) - शङ्कराचार्य के ब्रह्मसूत्रभाष्य पर **"सारसंग्रह"** वाराणसी से १६०० ई. में प्रकाशित।

गिरीन्द्रनाथ वेदान्तरत्न, बंगाल (१६-२० वीं शती) - ब्रह्मसूत्रों पर "तत्त्वप्रबोधिनी" तत्त्वमीमांसादर्शन, १६२२ ई. में प्रकाशित।

कालिकेश वन्द्योपाध्याय, बंगाल (१६-२० वीं शती) - ब्रह्मसूत्र-व्याख्या-कलकत्ता से १६२६ ई. में प्रकाशित।

आर. एस. शर्मा, उ. प्र. (१०-२० वीं शती)-ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य की टीका (चतुस्सूत्रीपर्यन्त) मुरादाबाद से १६३१ ई. में प्रकाशित।

नरकण्ठीरव शास्त्री (१८५०-१६५०)-ये वेङ्कटेश्वर संस्कृत पाठशाला में अध्यापक थे। व्यासतात्पर्यदीपिका-प्रकाशित।

राम सुब्रह्मण्य शास्त्री (राम सुब्बा शास्त्री) (१८५०-१६२० ई.)-सूत्रभाष्यगाम्भीर्य-निर्णयः-आनन्दाश्रम प्रेस, मद्रास से प्रकाशित। इस ग्रन्थ में ब्रह्मसूत्र और उस पर शाङ्करभाष्य पर सार प्रस्तुत किया गया है तथा शाङ्करभाष्य पर प्रतिपक्षियों द्वारा लगाये दोषों का निराकरण किया गया है।

गुरुस्वामी शास्त्री (१८५०-१६१० ई.)-कुम्भकोणम् के समीप "वरहू" ग्राम में जन्म। मद्रास संस्कृत कालेज मे बाल सुब्रह्मण्य शास्त्री, वैद्यनाथ शास्त्री आदि से शास्त्रों का अध्ययन किया। १-तात्पर्यविमर्शिनी-अद्वैतानन्द तीर्थकृत "ब्रह्मसूत्रतात्पर्यदीपिका" की व्याख्या। २-शारीकव्याख्याप्रस्थानानि-इस ग्रन्थ में शाङ्कर भाष्य के आधार पर लिखे गये पद्मपाद, मण्डनमिश्र, सुरेश्वर, विमुक्तात्मा, प्रकटार्थकार, नृसिंहाश्रम आदि की व्याख्याओं का विवेचन किया गया है। बाल मनोरमा प्रेस से मुद्रित।

नीलमेघ शास्त्री (१८५०-१६१०) - चोलदेशीय तिरुविशन्नलूर ग्राम के निवासी, राम सुब्रह्मण्य शास्त्री के शिष्य। वेदान्तनवमालिका (लघुवृत्ति)-ओरियण्टल पब्लिशिंग हाउस, मद्रास से मुद्रित।

रघुनाथ सूरि "पर्वत" महाराष्ट्र (१६-२० वीं शती) ये श्री रामचन्द्र सूरि के पुत्र और राम शास्त्री के पिता थे। जीवन के उत्तरार्ध में नाना साहब के समाश्रित रहे। **शङ्करपादभूषणम्** (अद्वैतरक्षाकरण्डकः) - आनन्दाश्रमसंस्कृत ग्रन्थमाला - १०१ में प्रकाशित १६३२ ई.। इस ग्रन्थ में ब्रह्मसूत्र के प्रथम और द्वितीय अध्याय व्याख्यात हैं। प्रत्येक सूत्र में शङ्कराचार्य के मत का प्रतिपादन और द्वैतवादी आनन्दतीर्थ आदि द्वारा अद्वैत दर्शन में उद्भावित दूषणों का तीव्र खण्डन किया गया है। यह नव्य न्याय शैली में उपनिबद्ध प्रौढ़ ग्रन्थ है।

गौरीनाथ शास्त्री (१८५०-१६२०) - **सूत्रभाष्यगाम्भीयार्थनिर्णयखण्डनम्**-वाणी विलास प्रेस से मुद्रित। अद्वैतपरक इस ग्रन्थ में राम सुब्रह्मण्य शास्त्री कृत उपर्युक्त ग्रन्थ (सूत्रभाष्यगाम्भीर्यनिर्णयः) का खण्डन किया गया है तथा उसमें स्वीकृत पद्धति का अनौचित्य दर्शाया गया है। इसके लेखक गौरीनाथ शास्त्री श्री स्वामीनाथ शास्त्री के पौत्र, नृसिंह शास्त्री के पुत्र तथा सच्चिदानन्द सरस्वती के शिष्य थे।

वेङ्कटराघव शास्त्री - (१८५०-१६२०) - **सूत्रभाष्यगाम्भीर्यार्थनिर्णयमण्डनम्**- ब्रह्मवादिनी प्रेस, मद्रास से मुद्रित। इस ग्रन्थ में गौरीनाथ शास्त्री के उपर्युक्त ग्रन्थ "सूत्रभाष्यगाम्भीर्यार्थनिर्णयखण्डनम्" का खण्डन करके राम सुब्रह्मण्य शास्त्री के मूल ग्रन्थ "सूत्रभाष्यगाम्भीर्यार्थनिर्णय" का मण्डन किया गया है। ग्रन्थकार वेङ्कटराघव शास्त्री श्री राम सुब्रह्मण्य शास्त्री के शिष्य तथा कृष्ण शास्त्री एवं नारायण शास्त्री के सतीर्थ्य थे।

कृष्णशास्त्री (१८७०-१६३७) - म. म. कृष्णशास्त्री तिरुनेलवेली के निवासी और श्री श्रीहरिहरशास्त्री के शिष्य थे। इन्होंने मद्रास संस्कृत कालेज में प्राचार्य पद पर कार्य किया। वृद्धावस्था में इन्होंने संन्यास ले लिया था। अधिकरणचतुष्टयी-मद्रास के बाल मनोरमा प्रेस से प्रकाशित। इस ग्रन्थ में ब्रह्मसूत्र के आनन्दमयाधिकरण, यथाश्रयभावाधिकरण, ऐहिकाधिकरण और लिङ्गभूयस्त्वाधिकरण- इन चार अधिकरणों के विषयों पर विचार किया गया है। २- ब्रह्मसूत्रानुगुण्यसिद्धिः गोपालविलास प्रेस, कुम्भकोणम् से प्रकाशित।

गेल्लङ्मोण्ड रामराय, आन्ध्रप्रदेश (१६-२० शती) राम शास्त्री और सुब्रह्मण्य शास्त्री के शिष्य। १-शारीरकचतुस्सूत्रीविचारः-नाराशरा पेट, गुण्टूर से मुद्रित। २-शङ्कराशाङ्करभाष्यविमर्शः -तेलगु लिपि में मुद्रित।

सुब्रह्मण्य शास्त्री (१८७६-१६४७) ये श्री राम शास्त्री के पुत्र, मालावार में पालघाट की सीमा के अन्तर्गत काविशेरी ग्राम के निवासी, वेङ्कट शास्त्री के शिष्य तथा न्याय, वेदान्त, व्याकरण और गणित शास्त्र के मूर्धन्य विद्वान् थे। ब्रह्मसूत्ररत्नावली - आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज ७५ में प्रकाशित। यह ग्रन्थ पद्यबद्ध और शाङ्कर भाष्य का सारसंग्रहभूत ग्रन्थ है।

चिद्घनानन्द (१८६५-१९४५) ये वाराणसी के निवासी तथा लक्ष्मणशास्त्री के शिष्य थे। श्री अच्युतानन्द इनके दीक्षागुरु थे। ब्रह्मसूत्रभाष्यनिर्णयः- इसमें ब्रह्मसूत्र पर शङ्कर, रामानुज, भास्कर, मध्व, निम्बार्क आदि के भाष्यों की सम्यक् आलोचनापूर्वक शाङ्करभाष्य ही व्यासम्मत भाष्य है, यह प्रतिपादित किया गया है। राम कृष्ण सेवाश्रम प्रेस, वाराणसी से प्रकाशित।

भगवद्गीता पर टीकाएँ

धनपति सूरि, पंजाब (१८-१९ वीं शती) - १८११ ई. में वाराणसी संस्कृत कालेज में वेदान्त का अध्यापन कार्य कर रहे थे। भगवद्गीता पर भाष्योत्कर्षदीपिका-टीका रत्नागिरि से १८८० ई. में प्रकाशित। इनका जन्म पंजाब के रावलपिण्डी नगर में हुआ था, परन्तु ये वाराणसी में रहने लगे थे। "प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि" के रचयिता, सदानन्द व्यास के जामाता और बाल गोपाल तीर्थ के शिष्य थे।

जी. एस. पाठक (१८-१९ वीं शती) - **"बालबोधिनी"** टीका- के. एम. पाठक द्वारा सम्पादित तथा बम्बई से १८६३ ई. में प्रकाशित।

नीलकण्ठ तीर्थ (१८-१९ वीं शती) उ. प्र.-गीतार्थप्रकाशकः - निर्णयसागर प्रेस से मुद्रित। ये केरल के निवासी, गोविन्द सूरि के पुत्र तथा बालतीर्थ के शिष्य थे।

कृष्णानन्द सरस्वती (१८२५-१९००) - **भगवद्गीतैकदेशपरामर्शः** - गवर्नमेण्ट प्रेस, गोण्डारप्रेस से मुद्रित। इस ग्रन्थ में "गीता" का भेदवाद में नहीं, अपितु अद्वैतब्रह्म के प्रतिपादन में तात्पर्य है इस बात का प्रतिपादन किया गया है। इसके रचयिता कृष्णानन्द सरस्वती वाराणसी के निवासी थे। ये सच्चिदानन्दाश्रम और वासुदेवेन्द्र योगी के शिष्य थे।

कृष्णानन्द सरस्वती (१९ वीं शती) गीतासारोद्धारः - ये कृष्णानन्द सरस्वती स्वामी कैवल्यानन्द और कृष्णानन्द के शिष्य थे। इन्होंने "अद्वैतसाम्राज्यम्" नामक ग्रन्थ की भी रचना की।

धर्मदत्त (बच्चा) झा, बिहार (१८५०-१९२०)-गूढार्थतत्त्वालोकः भगवद्गीता की व्याख्या- यह व्याख्या नव्य न्याय की शैली में उपनिबद्ध है। निर्णय सागर प्रेस से प्रकाशित, १९१२ एवं १९२६ ई.। इस ग्रन्थ के प्रणेता धर्मदत्त (बच्चा) झा मिथिला के प्रसिद्ध नैयायिक थे। उन्होंने न्यायशास्त्र विषयक अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है।

वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्कर, पूना (१८५०-१९२०) अद्वैताङ्कुरः-यह ग्रन्थ भगवद्गीता के प्रथम, द्वितीय अध्याय की व्याख्या है। आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थमाला-१०९ में मुद्रित।

शङ्कराचार्यकृत "दशश्लोकी" की टीका, विवरण आदि-

तारानाथ भट्टाचार्य "तर्कवाचस्पति" बंगाल (१८२५-१९००)-ये कालिदास भट्टाचार्य

सार्वभौम के पुत्र तथा वाराणसी के निवासी थे। शङ्कराचार्यकृत "दशश्लोकी" पर "सार" टीका कलकत्ता से १८६५ ई. में प्रकाशित।

विष्णु वामन वापट (१९-२० वीं शती) शङ्कराचार्य की "दशश्लोकी" पर "विवरण" पूना से १९२१ ई. में प्रकाशित।

शङ्कराचार्यकृत "विवेकचूडामणि" पर व्याख्या-

हरिदत्त मिश्र (१९वीं-२० वीं शती) - शंकराचार्य की "विवेकचूडामणि" पर "सुबोधिनी" वाराणसी से १९०१ ई. में प्रकाशित।

दुर्गाचरण शास्त्री - शङ्कराचार्य कृत "आत्मबोध" की टीका कलकत्ता के "ऑवर हेरिटेज-७ में" १९५९ ई. में प्रकाशित।

सुरेश्वराचार्य कृत "तैत्तिरीयभाष्यवार्तिक" पर व्याख्या-

लिङ्गन सोमयाजी, आन्ध्र प्रदेश (२० वीं शती) - तैत्तिरीयवार्तिक पर "कल्याणविवरणम्" नाम्नी व्याख्या शारदा प्रेस, भटनवल्ली से मुद्रित।

भामती (वाचस्पति मिश्र प्रणीत ब्रह्मसूत्रभाष्य व्याख्या) से सम्बन्धित टीका-ग्रन्थ-

बालशास्त्री रानाडे "बालसरस्वती" महाराष्ट्र (१८३९-१८८२) ये मूलतः महाराष्ट्रीय परन्तु काशी के निवासी मूर्धन्य विद्वान् थे। भामती पर टिप्पणी-इन्होंने भामती से संवलित शारीरक भाष्य का विमर्शात्मक संस्करण भी तैयार किया था जो एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित है।

सुब्रह्मण्य शास्त्री (१८७९-१९४७ ई.)-श्री राम शास्त्री के पुत्र, पालकाड के समीपवर्ती काविशेरी ग्रांम के निवासी। इन्होंने अङ्गाडिपुर निवासी सुब्रह्मण्य शास्त्री से न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था। ये अद्वैतवेदान्त के साथ-साथ व्याकरण ओर छन्दःशास्त्र के भी पारगामी विद्वान् थे। भामतीविवरणम्- वाणी विलास प्रेस से मुद्रित।

लक्ष्मीनाथ झा (२० वीं शती)-मूलतः बिहार प्रदेशीय परन्तु वाराणसी के निवासी विद्वान्। ये मूर्धन्य नैयायिक पं. धर्मदत्त बच्चा झा के जीवन के उत्तरार्ध के शिष्य थे। संस्कृत कालेज वाराणसी में दर्शनाचार्य रहे। १- भामती टीका **"प्रकाशः"** २- भामती टीका "विकासः" -चौखम्बा, वाराणसी से दोनों ग्रन्थ प्रकाशित हैं। "प्रकाश" व्याख्या में भामती में प्रतिपादित विषयों को सरल ढंग से समझाया गया है। ये वेदान्त में नये प्रविविक्षुओं के लिए उपयोगी है। जबकि, "विकास"-नाम्नी व्याख्या में नव्य न्याय की तर्कपूर्ण परिष्कार-शैली में भामतीगत अर्थों को विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। यह प्रौढ़ विद्वज्जनों के लिए उपयोगी पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ है।

विद्यारण्यकृत "पञ्चदशी" की टीकाएँ

अच्युतराय मोडक (१८१४-१८३१) - पंचदशी पर "व्याख्या"-डी.आर. गन्धलेकर द्वारा सम्पादित और मद्रास से १८८५ ई. में प्रकाशित।

स्वामी निश्चलदास-पंचदशी पर "वृत्तिप्रभाकर" व्याख्या-मद्रास से १६०१ ई. में प्रकाशित।

लिङ्गन सोमयाजी (२०वीं शती) ये आन्ध्रप्रदेश के अन्तर्गत गुण्टूर जिले के निवासी तथा पञ्चदशी पर कल्याणपीयूष नाम्नी व्याख्या गुण्टूर से प्रकाशित। लक्ष्मीश्वर प्रेस, तेनालिनगर से मुद्रित यह व्याख्या मधुर काव्य शैली में उपनिबद्ध है।

काशीनाथ शास्त्री, उ.प्र. (१८८३-१६३८) वाक्यपदीय पर "अम्बाकर्त्री" व्याख्या के रचयिता पं. रघुनाथ शर्मा के पिता, वाराणसी के प्रख्यात विद्वान्। पञ्चदशीव्याख्या।

विद्यारण्यकृत "जीवन्मुक्तिविवेक" पर टीका

अच्युतराय मोडक (१८१४-१८३१) - "जीवन्मुक्तिविवेक" पर "व्याख्या"- बी. एस. पणशीकर द्वारा सम्पादित और आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थमाला- ४६ में १६१५ ई. में पूना से प्रकाशित।

विद्यारण्यकृत "अनुभूतिप्रकाश" की टीका

काशीनाथ शास्त्री, उ. प्र. **(१८८३-१६३८)** वाराणसी के मूर्धन्य विद्वान्। अनुभूतिप्रकाश - व्याख्या। वाराणसी से प्रकाशित।

श्री हर्ष कृत "खण्डनखण्डखाद्य" की टीकाएँ

तारानाथ भट्टाचार्य "तर्कवाचस्पति" बंगाल **(१८२५-१६०० ई.) - खण्डनखण्डखाद्य** पर टिप्पणी-चौखम्बा, वाराणसी से प्रकाशित।

मोहनलाल वेदान्ताचार्य, पञ्जाब (१८५०-१६१० ई.) खण्डनगर्तप्रदेशिनी- खण्डनखण्डखाद्य की नूतन, मौलिक, आलोचनात्मक टीका।

शङ्कर चैतन्य भारती (१८५०-१६४०) ये काशी के संन्यासी संस्कृत कालेज से सम्बद्ध थे। १- खण्डनखण्डखाद्य की "शारदा" नाम्नी टीका, व्याख्या एवं टिप्पणी २ भागों में संन्यासी संस्कृत कालेज द्वारा क्रमशः १६३८ एवं १६४० ई. में प्रकाशित। इस टीका की एक प्रमेयबहुत भूमिका भी ग्रन्थकार ने लिखी है जो "दर्शनसर्वस्वम्" के नाम से पृथक् छपी है।

सूर्यनारायण शुक्ल, उ. प्र. (१८६५-१६४४ ई.) - **खण्डनरत्नमालिका-** वाराणसी संस्कृत ग्रन्थमाला ८२ में १६३६ ई. में प्रकाशित। इसमें खण्डनखण्डखाद्य में उपनिबद्ध विषय को संक्षिप्त साररूप में सरल ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

प्रकाशानन्द कृत "वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली" की व्याख्या

जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य (१६-२० वीं शती)-मुक्तावलीव्याख्या- यह मुक्तावली

के विषयों को स्पष्ट करने वाली व्याख्या है। यह किसी प्राचीन व्याख्या (?) का आधार लेकर लिखी गयी है। कलकत्ता से १६३५ ई. में प्रकाशित।

मधुसूदन सरस्वतीकृत "अद्वैतसिद्धि" की टीका

योगेन्द्रनाथ बागची, बंगाल (१६ वीं शती) - "बालबोधिनी"-व्याख्या- यह ग्रन्थ अपूर्ण है। ग्रन्थकार ने ७३ वर्ष की अवस्था में इसका आरम्भ किया और इसको पूरा करने से पहले ही उनका देहावसान हो गया। इस टीका में मूल अद्वैतसिद्धि के गूढ़ातिगूढ़ रहस्यों का उद्घाटन, प्राचीन एवं नवीन मतों का अनुसन्धान करते हुए बड़ी विलक्षण प्रतिभा द्वारा किया गया है। अद्वैतसिद्धिकार के उपजीव्य ग्रन्थों के सिद्धान्तों को मन्थनपूर्वक निकालकर उनके मौलिक चिन्तन को स्पष्ट निर्धारित किया गया है। यह व्याख्या योगेन्द्रनाथ बागची के पुत्र शीताशुं शेखर बागची द्वारा सम्पादित और तारा पब्लिकेशन्स वाराणसी से १६७१ ई. में प्रकाशित है। योगेन्द्र नाथ बागची ने म. म. चण्डीदास भट्टाचार्य एवं गोपालदास भट्टाचार्य से नव्य न्याय का तथा म. म. लक्ष्मण शास्त्री से वेदान्त का अध्ययन किया था।

मधूसूदन स्रस्वती कृत "सिद्धान्तबिन्दु" पर टीका

तारानाथ भट्टाचार्य "तर्कवाचस्पति" (१८२५-१६००) - **सिद्धान्तबिन्दुसारः** - सरस्वती प्रेस, कलकत्ता से प्रकाशित। यह सिद्धान्तबिन्दु का साररूप ग्रन्थ है।

वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्कर, महाराष्ट्र (१८५०-१६२० ई.)

सिद्धान्तबिन्दु पर बिन्दुप्रपातः नाम्नी व्याख्या भण्डारकर-ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट पूना से १६२८ ई. में प्रकाशित। यह टीका शास्त्री जी के दार्शनिक पाण्डित्य से परिपूर्ण मौलिक टीका है। इसकी शैली सरल है जो मूल ग्रन्थ के विषयों को भलीभाँति स्पष्ट करने में समर्थ है। टीका में अन्य दर्शनों की ओर से पूर्वपक्ष को उठाकर अथवा यदि वह मूल ग्रन्थ में उत्थापित है तो इसके विशेष व्याख्यापूर्वक उसका निराकरण कर समाधान पक्ष को प्रस्तुत किया गया है जिससे अद्वैतसिद्धान्त सुव्यक्त हो उठता है। अद्वैतवेदान्त के आभ्यन्तर, विभिन्न मत मतान्तरों पर भी इसमें सम्यक् प्रकाश डाला गया है। और विषम गुत्थियों को सुलझाया गया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थकार के सुयोग्य पुत्र काशीनाथ अभ्यङ्कर द्वारा २८ पृष्ठों का महत्त्वपूर्ण उपोद्घात भी दिया गया है।

सदानन्दकृत "वेदान्तसार" की टीका

रामशरण त्रिपाठी, उ. प्र. **(१६०८-१६७७ ई.)** - वेदान्तसार की "भावबोधिनी" टीका चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से १६५४ ई. में प्रकाशित।

धर्मराजध्वरीन्द्रकृत "वेदान्तपरिभाषा" की टीका आदि

कृष्णनाथ भट्टाचार्य, "न्यायपञ्चानन, बंगाल (१८६२ ई.) वेदान्तपरिभाषा की "आशुबोधिनी" व्याख्या कलकत्ता से १८६२ ई. में प्रकाशित।

अमरदास (१८-१९ वीं शती) - वेदान्तपरिभाषाशिखामणि (रामकृष्ण दीक्षित कृत) की व्याख्या "मणिप्रभा" वेङ्कटेश्वर प्रेस से मुद्रित।

धनपति सूरि (१७५०-१८५० ई.) - **अर्थदीपिका**-वेदान्तपरिभाषा-व्याख्या, प्रकाशित।

शिवदत्त मिश्र (१८-१९ वीं शती) - वेदान्तपरिभाषा पर "अर्थदीपिका" टीका-ग्रन्थ का रचनाकाल-१८११ ई.। वेङ्कटेश्वर प्रेस (बम्बई) से १९१० ई. में प्रकाशित।

शान्त्यानन्द (१८५०-१९२० ई.) वेदान्तपरिभाषा-व्याख्या-निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित।

महाराज राम वर्मा, केरल (शासनकाल-१८९६-१९१५ ई.) **"वेदान्तपरिभाषासंग्रहः"** कोचीन प्राच्य ग्रन्थमाला-१ में मुद्रित।

विविध टीका-ग्रन्थ

दिवाकर (१७५०-१८५० ई.) - ये दाक्षिणात्य विद्वान् तथा "बोधसार" नामक ग्रन्थ के रचयिता श्री नरहरि शास्त्री के शिष्य थे। बोधसारव्याख्या- चौखम्बा प्रेस, वाराणसी से मुद्रित।

गङ्गाधरेन्द्र सरस्वती (१७८०-१८८० ई.) - ये दाक्षिणात्य विद्वान्, सर्वज्ञ सरस्वती के प्रशिष्य एवं उपनिषद्ब्रह्म के शिष्य थे। इन्होंने "स्वाराज्यसिद्धिः" नामक मौलिक ग्रन्थ लिखा, जिसपर भास्करानन्द सरस्वती तथा कृष्णशास्त्री की टीकाएँ हैं। इनके वेदान्तविषयक अन्य ग्रन्थ हैं १- वेदान्तसूक्तिमञ्जरी- यह अप्पयदीक्षित के सिद्धान्तलेशसंग्रह का सारभूत ग्रन्थ है, जिसपर लेखक भी "प्रकाश" नाम्नी स्वोपज्ञ व्याख्या भी है। कलकत्ता से प्रकाशित। २- सिद्धान्तचन्द्रिकाव्याख्या "उद्गारः" रामब्रह्मेन्द्र अथवा रामभद्रानन्द द्वारा विरचित सिद्धान्तचन्द्रिका की यह व्याख्या गोपाल नारायण प्रेस, बम्बई से प्रकाशित है। कैवल्यकल्पद्रुम-गङ्गाधरेन्द्र सरस्वती कृत "स्वाराज्यसिद्धि" पर टीका वाराणसी से १८८८ ई. में प्रकाशित।

स्वामी महादेवाश्रम (रामनिरञ्जन स्वामी), (१७८५-१८७० ई.) इन्होंने १८२४-२५ ई. के लगभग संन्यास लिया, उस समय ये अपने उम्र की प्रौढावस्था (४०-४२ वर्ष) में थे। पञ्चाक्षरीभाष्यप्रकाशिका- अमर प्रेस, काशी से १८८७ ई. में प्रकाशित। यह पद्मपादाचार्य द्वारा विरचित "पञ्चाक्षरी भाष्य" का विशदार्थप्रतिपादक व्याख्या ग्रन्थ है। मूल ग्रन्थ में २३ अनुष्टुप छन्द हैं। इसकी व्याख्या में स्वामी जी ने अद्वैत का खण्डन करने वाले प्रतिपक्षियों के मतों का निराकरण बड़ी सबल युक्तियों द्वारा किया है। सरल शैली में रचित प्रौढ़, प्रामाणिक रचना।

काकाराम (रामकृष्ण), १९ वीं शती - शङ्करानन्द कृत आत्मपुराण पर "सत्प्रसवा" नाम्नी टीका- बम्बई से १८७३ ई. में प्रकाशित।

माधव तीर्थ (१८२५-१९००) - ये दाक्षिणात्य विद्वान एवं श्री राम सुब्रह्मण्य शास्त्री के समकालीन थे। "चन्द्रिकासारबोधः" ओरियण्टलप्रेस, मद्रास से मुद्रित। यह इनके गुरु

चन्द्रिकाचार्य द्वारा प्रणीत "अद्वैतसिद्धान्तगुरुचन्द्रिका" का सारभूत पद्यबद्ध ग्रंथ है।

शिवानन्देन्द्र (१६ वीं शती) ये दाक्षिणात्य विद्वान् श्री चन्द्रिकाचार्य के शिष्य, माधव सरस्वती के सतीर्थ्य एवं राम सुब्रह्मण्य शास्त्री के समकालीन थे। स्वात्मादर्शः (माधवतीर्थ कृत "चन्द्रिकासार" की व्याख्या) - ओरियण्टल प्रेस, मद्रास से मुद्रित। माधवतीर्थ ने "चन्द्रिकासार" ग्रन्थ अपने गुरु चन्द्रिकाचार्य के ग्रन्थ "अद्वैतसिद्धान्तगुरुचन्द्रिका" के साररूप में लिखा था।

राम सिंह (१६ वीं शती)-महादेव सरस्वती कृत "तत्त्वानुसन्धान" पर **"अनुभवसागर"** अजमेर से १८६५ में प्रकाशित।

भास्करानन्द सरस्वती, उ. प्र. (१८३३-१८६६ ई.) - स्वाराज्यसिद्धि-व्याख्या, रचनाकाल १८६१ ई. भारती जीवन प्रेस, वाराणसी से १८६६ ई. में प्रकाशित। इसमें दर्शाया गया है कि विशुद्ध ज्ञान से ही मोक्षप्राप्ति सम्भव है।

बलभद्र शर्मा (१६-२० वीं शती) - १- विट्ठल दीक्षित के ग्रन्थ "विद्वन्मण्डनम्" पर उपोद्घात-नादियाड से प्रकाशित। २- रामचन्द्रेन्द्र सरस्वती के ग्रन्थ "महावाक्यरत्नावली" पर "सुबोधिनी" व्याख्या-वाराणसी से १६२२ ई. में प्रकाशित।

देवकीनन्दन शास्त्री (१६-२० वीं शती) - महावाक्यरत्नावली पर टीका-वाराणसी से १६२२ ई. में प्रकाशित।

गणपति शास्त्री (१८५०-१६२० ई.) "वेदान्तकेसरी" म. म. गणपति शास्त्री मन्नार्गुडि के समीपवर्ती पाङ्गानाडु नामक ग्राम के निवासी थे। इन्होंने राजु शास्त्री से न्याय, वेदान्त और व्याकरण शास्त्र का अध्ययन किया था। ये बचपन से ही आशुकवि भी थे। ये श्री विद्याप्रेस, कुम्भकोणम् में अद्वैतमञ्जरी ग्रन्थमाला में अद्वैतग्रन्थों के प्रकाशन हेतु नियुक्त विद्वानों में से प्रमुख थे। इन्होंने वेदान्तविषयक अनेक ग्रन्थों की रचना की तथा मीमांसा एवं काव्यविषयक ग्रन्थ भी लिखे। वैदिकाभरणव्याख्या-मुकुरः-अण्णामलै विश्वविद्यालय से प्रकाशित। इसके अतिरिक्त इनके वेदान्तविषयक अथशब्दविचारः, ईशावास्यविवृतिः, केनोपनिषद्विवृतिः, नैर्गुण्यसिद्धिः, शारीरकमीमांसारहस्यम्, श्रवणविधिवाक्यार्थः आदि ग्रन्थ हैं जिनमें से कुछ अप्रकाशित तथा कुछ स्वर्णमहोत्सव पत्रिका में प्रकाशित हैं।

वासुदेव ब्रह्मेन्द्र (१८५०-१६०५ ई.) ये उपनिषदब्रह्म योगी के प्रशिष्य और कृष्णानन्द सरस्वती के शिष्य थे। "शास्त्रसिद्धान्तलेशतात्पर्यसंग्रहः"- अप्पयदीक्षित कृत सिद्धान्तलेशसंग्रह का सारभूत ग्रन्थ, निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित।

शान्त्यानन्द (१८५०-१६२० ई.)-१-पञ्चीकरणव्याख्या **२-अद्वैतागम-हृदयसंग्राहकश्लोकाः**-ये दोनों ग्रन्थ निर्णय सागर प्रेस से प्रकाशित हैं।

कृष्ण शास्त्री (१८७०-१६३६ ई.) ये करुङ्गुल ग्राम के निवासी, हरिहर शास्त्री के शिष्य तथा ब्रह्मसूत्र पर "अधिकरणचतुष्टयी" के प्रणेता थे। गङ्गाधरेन्द्रसरस्वती के ग्रन्थ "स्वाराज्यसिद्धि" पर "परिमल" नाम्नी व्याख्या-आर्यमतसंवर्धिनी ग्रन्थमाला में मुद्रित।

सत्यनारायण शर्मा (१६-२० वीं शती) - महावाक्यरत्नावली पर "उपदेशपञ्चदशी" टीका-वाराणसी से प्रकाशित।

योगानन्द सरस्वती (१६-२० वीं शती) - कृष्णानन्द सरस्वती के ग्रन्थ "अज्ञानतिमिरदीपक" की टीका-बड़ौच से १६२६ ई. में प्रकाशित।

जी. वी. कृष्णदास (१६-२० वीं शती) - अनन्तभट्टकृत "अद्वैतरत्नाकर" की टीका कल्याण (बम्बई) से १६२८ ई. में प्रकाशित।

काशीनाथ शास्त्री उ. प्र. (१८८३-१६३८ ई.) वाराणसीवासी प्रकाण्ड विद्वान्, वाक्यपदीय की "अम्बाकर्त्री" व्याख्या के रचयिता पं. रघुनाथ शर्मा के पिता। महावाक्यरत्नावली की व्याख्या- वाराणसी से प्रकाशित।

वाई. सुब्रह्मण्य शर्मा (१८६०-१६३० ई.) नृसिंह सरस्वती के ग्रन्थ "वेदान्तडिण्डिमः" की टीका-बंगलौर से १६३४ ई. में प्रकाशित।

ए. चिन्नस्वामी शास्त्री (१६-२० वीं शती) अप्पयदीक्षित कृत "मध्वतन्त्रमुखमर्दनम्" पर टिप्पणी वाराणसी से १६४१ ई. में प्रकाशित।

(२) रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत वेदान्त

अनन्तार्य या अनन्तालवान, मैसूर (**१८२२-१८६२**) ये मैसूर प्रदेश के यादवगिरि अथवा मेलकोट के निवासी एवं कृष्णराव बोदेयार तृतीय (१८२२-६२ ई.) के राज्याश्रित कवि थे। इनका जन्म शेषाचार्य वंश में हुआ था। इनके पिता का नाम श्रृङ्गाराचार्य था। ये एक मूर्धन्य विशिष्टाद्वैती विद्वान् एवं समर्थ कवि थे। इन्होंने विशिष्टाद्वैतविषयक कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अतिरिक्त "कविसमयकल्लोलः" नामक काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थ भी लिखा। विशिष्टाद्वैतविषयक ग्रन्थों में प्रकाशित प्रमुख ग्रन्थ इस प्रकार हैं- १- अभिन्ननिमित्तम् २- आकाशाधिकरणम् ३- अपहतपाप्मत्वविचारः ४- भेदवादः - पी. बी. अनन्ताचार्य द्वारा सम्पादित और शास्त्रमुक्तावली ग्रन्थमाला-२६ में काञ्जीवरम् से प्रकाशित, १६०७ ई.। ५- ब्रह्मलक्ष्मनिरूपणम् ६-ब्रंह्मपदशक्तिवादः ७- दृश्यत्वानुमाननिरासः -पी. बी. अनन्ताचार्य द्वारा सम्पादित और शास्त्रमुक्तावली ग्रन्थमाला-३८ में प्रकाशित, १६०६ ई.। ८- ईक्षत्यधिकरणविचारः, ६-ज्ञानयाथार्थ्यवादः १०-मोक्षकरणतावादः-पी. बी. अनन्ताचार्य द्वारा सम्पादित और शा.मु.ग्रन्थमाला-३१ में प्रकाशित, १६०६ ई.। ११. निर्विशेषप्रामाण्यव्युदासवादः १२-प्रतिज्ञावादार्थः, १३-सामानाधिकरण्यवादः, १४- संविदेकत्वानुमाननिरासवादार्थः, १५- शरीरवादः, १६-शास्त्रैक्यवादः, १७- शास्त्रार्थसमर्थनम्, १८- सिद्धान्तसिद्धाञ्ज्ञानम्, १६-रामानुज के श्री भाष्य पर "भावनाङ्कुरः, २०- सुदर्शनसुरद्रुमः, २१-तत्क्रतुन्यायविचारः-पी. बी. अनन्ताचार्य द्वारा सम्पादित और शास्त्र मुक्तावली ग्रन्थमाला-३०में प्रकाशित, १६०७ ई.। २२- विधिसुधाकरः, २३- विषयतावादः।

उपर्युक्त ग्रन्थों में (४), (७) और २१ को छोड़कर शेष सभी पी. टी. नरसिंह

अय्यङ्गर द्वारा सम्पादित और वेदान्तवादावली ग्रन्थमाला १-२ में बंगलौर से प्रकाशित हैं, १८६८ एवं १८६६ ई.। २४- न्यायभास्करः - मद्रास से १८७१ ई. में प्रकाशित। इस ग्रन्थ में अद्वैतसिद्धि की टीका लघुचन्द्रिका का खण्डन है। २५- वेदान्तवादावली- कल्याण से प्रकाशित। २६- परतत्त्वनिर्णयः - कल्याण से १८६६ ई. में प्रकाशित। २७- बाडवानलः- काञ्जीवरम् और बम्बई से १६१५ ई. में प्रकाशित। इस ग्रन्थ में शुद्धाद्वैतपरक ग्रन्थ, 'सिद्धान्तसिद्धापगाखण्डनम्' का खण्डन किया गया है।

राम मिश्र शास्त्री राजस्थान (१८५१-१६११ ई.)-कर्मभूमि-काशी। ये विशिष्टाद्वैत दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् तथा धर्मशास्त्र के पारदृश्वा थे। डा. बाबू भगवानदास, म. म. हरिहरकृपालु द्विवेदी तथा पं. रामशास्त्री भागवताचार्य इनके शिष्यों में थे। इन्होंने विशिष्टाद्वैत के उच्चकोटि के ग्रन्थों का पहली बार सुसंस्कृत संस्करण तैयार कर उन्हें मुद्रित कराया तथा अपनी टिप्पणियों से उन्हें सुबोध बनाने का प्रयास किया। इनके मौलिक ग्रन्थ हैं- १-स्नेहपूर्तिः-यह शास्त्री जी का मौलिक प्रौढ़ दार्शनिक ग्रन्थ है, जिसका प्रणयन मधुसूदन सरस्वती कृत "अद्वैतसिद्धि" और अद्वैतवेदान्तसिद्धान्त के खण्डन हेतु हुआ है। २- ब्रह्मसूत्रवृत्तिः-यह ब्रह्मसूत्र पर विशिष्टाद्वैतमतानुसारिणी वृत्ति है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त शास्त्री जी ने धर्मशास्त्रविषयक प्रौढ़ ग्रन्थ "शुद्धिसर्वस्व" और "तुरीयमीमांसा" की भी रचना की।

देवनाथ ताताचार्य, आन्ध्र प्रदेश (१८६६-१६८८)-श्री देवनाथ ताताचार्य श्री नरसिंह ताताचार्य के आत्मज थे। इन्होंने २० वर्ष की अवस्था में ही साङ्ग वेद, न्याय, मीमांसा, वेदान्त, धर्मशास्त्र आदि का पूर्ण अध्ययन कर लिया और ये काञ्ची मण्डल के अन्तर्गत नावल्पाक्क अग्रहार में भगवदाराधन एवं शिष्यों को ज्ञान दान करते हुए रहने लगे। विश्वविद्यालय में न रहकर भी इन्होंने संस्कृत वाङ्मय की जो अपूर्व सेवा की, आत्मत्यागपूर्वक शिष्यों को पढ़ाया वह सराहनीय है। ये अनन्तकृष्ण शास्त्री के समसामयिक थे। इनकी कृतियां हैं-१-वेदान्तवैजयन्ती, २-न्यायकुसुमाञ्जलिव्याख्या "न्यायवासना", ३-"तत्त्वमुक्ताकलाप" की "अक्षरार्थ" व्याख्या। श्री वेङ्कटनाथ महादेशिक प्रणीत "तत्त्वमुक्ताकलाप" पर यद्यपि मूलग्रन्थकार की स्वोपज्ञ सर्वार्थसिद्धि व्याख्या है, पर उसमें स्थल-स्थल पर मतान्तरों पर जो विचार किया गया है, वह इतना विस्तृत और गहन हो गया है कि मूल अर्थ छिप जाता है। ताताचार्य कृत 'अक्षरार्थ' व्याख्या सरल शैली में मूल विषयों का बोध कराने हेतु अतीव उपयोगी है। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी से १६६० ई. में प्रकाशित। ४- सूत्रानुगुण्यसिद्धिविमर्शः, ५-विशिष्टाद्वैतसिद्धिः -१६६५ ई. में ग्रन्थकार द्वारा ही प्रकाशित। इस ग्रन्थ में मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि में प्रयुक्त युक्तियों की विशिष्टाद्वैत की दृष्टि से समालोचना की गयी है। इसके अतिरिक्त पोलकं राम शास्त्री के ग्रन्थ "द्रविडात्रेयदर्शनम्, चतुर्मतसामरस्य तथा इज्जिकोल्लै जगदीश्वर शास्त्री की "चिदचिच्छरीरकब्रह्मसिद्धि" तथा "सप्तविधानुपपत्तिपरीक्षा" की परीक्षा भी की गयी है।

उत्तमूर ति. वीरराघवाचार्य (१६-२० वीं शती) - ये उत्तमूर के निवासी और न्याय,

पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, विशिष्टाद्वैत के उद्भट विद्वान् थे। इन्होंने भेदसाम्राज्य के प्रणेता श्री रङ्ग रामानुज महादेशिक के चरणों में बैठकर विशिष्टाद्वैत वेदान्त की मर्मज्ञता प्राप्त की थी। अद्वैतवेदान्त के 'शतभूषणी' नामक लब्धप्रतिष्ठ ग्रन्थ के प्रणेता म. म. अनन्तकृष्णशास्त्री इनके समकालीन थे। उनके प्रति वीरराघवाचार्य की भावना परमार्थभूषण नामक ग्रन्थ की भूमिका से सुष्ठु प्रकट होती है-

"(शतभूषणी) प्रबन्धोऽयमाबाल्यात् अद्वैतग्रन्थालोडनेनैव क्षिप्तकालस्य, वैयक्तिकविद्वेषवैदेशिकस्य, तत्तन्मतमातिष्ठमानैः स्वस्वमतस्थापनार्थं निबन्धनं न्याय्यमिति सदध्यवसायस्य, नानाग्रन्थमुद्रणनिर्माणभूमिकालेखनव्याख्यानादिना विख्यातस्य, महामहोपाध्यायस्य सर्वसुहृदोऽस्मत्सुहृत्तमस्यास्मदभ्युदयैककाङ्क्षिणो महामनसोऽखिल-बुधक्षेमकामस्य अनन्तकृष्णशास्त्रिमहोदयस्येति अद्वैतिनामिवास्माकमपि तत्राभिमानः।"

तथापि परस्पर ऐसी सुहृद् भावना रखने पर भी इन दोनों विशिष्टाद्वैत और शाङ्कर अद्वैत के पक्षधर विद्वानों का दशकों तक जो परस्पर खण्डन-मण्डन चलता रहा, वह उन्नीसवीं शताब्दी के वेदान्त की दोनों धाराओं के वाङ्मय में विद्वेषविमुक्त शास्त्रालोडन की उज्ज्वल गौरवगाथा है। श्री उत्तमूर वीरराघवाचार्य द्वारा विशिष्टाद्वैत विषयक निम्न ग्रन्थों का प्रणयन किया गया-

१- परमार्थभूषणम्-१०८० पृष्ठों का विस्तृत प्रौढ़ ग्रन्थ, श्रीवत्स प्रेस, मद्रास से १९५९ ई. में प्रकाशित। विशिष्टाद्वैत दर्शन के १३ वीं शती में हुए उद्भट विद्वान् श्री वेङ्कटनाथ वेदान्तदेशिक ने शाङ्कर अद्वैतदर्शन में १०० दोषों की उद्भावना करते हुए, शतदूषणी नामक ग्रन्थ की रचना की थी। १९ वीं शती में म. म. अनन्तकृष्णशास्त्री ने "शतभूषणी" ग्रन्थ लिखकर अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से उसका आमूलचूल खण्डन किया। तब वीरराघवाचार्य ने विशिष्टाद्वैत की ओर से "परमार्थभूषणम्" नामक उपर्युक्त ग्रन्थ लिखकर "शतभूषणी" का खण्डन किया और शतदूषणी में प्रतिपादित वादों की स्थापना की। इस ग्रन्थ में द्रविड़ात्रेयदर्शनम्, चिदचिदशरीरकब्रह्मसिद्धिः, सप्तविधानुपपत्तिपरीक्षा तथा अद्वैततत्त्वशुद्धि आदि ग्रन्थों का भी अवान्तर रूप से खण्डन किया गया है। अनन्तकृष्ण शास्त्री द्वारा ही विरचित, श्रीभाष्य की समालोचनारूप "वेदान्तरक्षामणि" और "अद्वैततत्त्वशुद्धि" नामक ग्रन्थ भी यत्र-तत्र स्पृष्ट किये गये है। २-नयद्युमणिः - मूलतः मेघानन्दप्रणीत और वीरराघवाचार्य द्वारा सम्पादित ग्रन्थ। इसकी भूमिका में श्री राघवाचार्य ने अनन्तकृष्णशास्त्री के "वेदान्तरक्षामणि" और "सिद्धान्तकौस्तुभ" में प्रस्तुत विचारों का खण्डन किया है। मद्रास गवर्नमेण्ट ओरियण्टल सीरीज-१४१ में १९५६ ई. में प्रकाशित। ३- सिद्धान्तकौस्तुभ - अनन्तकृष्ण शास्त्री के "वेदान्तरक्षामणि" के विरोध में प्रणीत ग्रन्थ। इस ग्रन्थ की रचना शेष दोनों ग्रन्थों से पूर्व हुई। ४-वेदान्तदेशिक के ईशोपनिषद् भाष्य की व्याख्या, तजौर से १९३३ ई. में प्रकाशित। ५-परमार्थप्रकाशिका-रचनाकाल-१९४० ई.। इस ग्रन्थ में राघवाचार्य ने पूना के म. म. वासुदेवशास्त्री अभ्यङ्कर की रचना "अद्वैतामोदः" का आलोचनात्मक विवेचन और खण्डन किया है तथा विशिष्टाद्वैत मत की स्थापना की है। ६-यामुनाचार्य के

"सिद्धित्रय" पर "गूढप्रकाश" टिप्पणी-मद्रास से १६६२ ई. में प्रकाशित।

सुदर्शनाचार्य, पञ्जाब (१६ वीं शती) - ये पञ्जाब के मूल निवासी थे, परन्तु काशी में आकर रहने लगे थे। ये "अलिविलासिसंलापः" काव्य के रचयिता पं. गङ्गाधर शास्त्री के शिष्य और संगीत, साहित्य तथा दर्शनशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। ये रामानुजीय वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी थे। १-विशिष्टाद्वैताधिकरणमाला- इस प्रमेयबहुल ग्रन्थ में विशिष्टाद्वैतमतानुसारी रामानुजीय श्रीभाष्य के अनुसार ब्रह्मसूत्र के समस्त अधिकरणों के सिद्धान्तों का सरल भाषा में निरूपण किया गया है। यह ग्रन्थ हरिदास गुप्त द्वारा चौखम्बा संस्कृत मुद्रणालय, काशी से १६०२ ई. में प्रकाशित है। २-श्रीभाष्य पर "श्रुतप्रकाशिका"-व्याख्या-ग्रन्थलिपि में काञ्जीवरम् से १८८८ ई.में प्रकाशित।

वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्कर (१६-२० वीं शती) - "अद्वैतामोद", "सिद्धान्तबिन्दु-टीका" आदि अद्वैत ग्रन्थों के प्रणेता। इन्होंने आपदेव के "मीमांसान्यायप्रकाश" पर भी टीका लिखी और विशिष्टाद्वैत विषयक इन ग्रन्थों की रचना की- १- श्रीभाष्य चतुःसूत्री पर टिप्पणी-पूना से १६०४ ई. में प्रकाशित। २- यतीन्द्रमतदीपिका (श्रीनिवास दास कृत) पर "प्रकाश" नाम्नी व्याख्या-आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली-५० में पुणे से प्रकाशित, १६७७ ई.।

रामवदन शुक्ल (१६११-१६६३) -रामवदन शुक्ल का जन्म उत्तरप्रदेश के गोरखपुर मण्डलान्तर्गत कोड़रा ग्राम में हुआ था। इन्होंने वाराणसी से नव्यन्याय में आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की। नव्य एवं प्राचीन, मीमांसा, धर्मशास्त्र, साहित्य रामानुज वेदान्त के ये पारङ्गत विद्वान् थे। इन्होंने १६४४-४५ से १६७७ तक प्रयाग के रामदेशिक, संस्कृत महाविद्यालय में अध्यापक एवं प्राचार्य के रूप में कार्य किया। १६६१ से १६६२ तक एक वर्ष ये वाराणसी में शास्त्र प्रौढ़ि कक्षा में प्रोफेसर रहे। १६६३ ई. में इन्हें भगवत्सायुज्य प्राप्त हुआ। १- वेदार्थसंग्रह की "चन्द्रिकातिलक" नाम्नी टीका-सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से १६६१ ई. में प्रकाशित। यह श्री रामानुज यतीन्द्र कृत "वेदार्थसंग्रह" की टीका है। वेदार्थसंग्रह में विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों का श्रुतिमूलत्व युक्तिपूर्वक प्रतिपादित किया गया है। इस ग्रन्थ पर शुक्ल जी की उपर्युक्त टीका वास्तव में विषयों को स्पष्ट करने में चन्द्रिका की भाँति सहायक है। इन्होंने "शक्तिनिरूपण", "आत्मतत्त्वविवेक", "शब्दप्रमाणनिरूपण" आदि शास्त्रीय निबन्ध भी लिखे जो "सारस्वती सुषमा" नामक सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की शोध पत्रिका में प्रकाशित हैं।

अन्य ग्रन्थ

बुच्चि वेङ्कटाचार्य (१७७५-१८२५)-ये आन्ध्रप्रदेश में गुट्टि के समीपवर्ती वुक्कपट्टनम् के श्रीशैल परिवार के श्री अण्णयार्य के तृतीय पुत्र थे। वेदान्तकारिकावली-अड्यार लाइब्रेरी से १६५० ई. में प्रकाशित। इस ग्रन्थ में १० परिच्छेद हैं जिनमें विशिष्टाद्वैत दर्शन के तत्त्वों की प्रस्तुति है।

टी. ई. एस. कुप्पन अय्यङ्गर (१६ वीं शती) - अनन्ताचार्य के १- ब्रह्मलक्ष्मनिरूपणम् २-शरीरवाद ३-शास्त्रैक्यवाद और ४-शास्त्रारम्भसमर्थनम् पर "तात्पर्यदीपिका" टीकाएँ-वेदान्तवादावली ग्रन्थमाला १-२ में बंगलौर से १८६८-१८६६ ई. में प्रकाशित।

टी. ए. पी.- श्रीरङ्गाचार्य (१६ वीं शती का मध्य)- कार्याधिकरणवादः, शास्त्रमुक्तावली ग्रन्थमाला में काञ्चीवरम् से प्रकाशित, १६०१ ई.।

एन. आर. शर्मा-श्रीनिवासकृत "यतीन्द्रमतदीपिका" पर टीका, मूल ग्रन्थ का सम्पादन, बम्बई से १६०६ ई. में प्रकाशित।

टी. नीलमेघ शास्त्री - वेदान्तनवमालिका (ब्रह्मसूत्र पर टीका) - मद्रास से १६०६ ई. प्रकाशित।

देशिक वरदाचार्य-(१६ वीं शती)-दुर्वादविधूननम्- हितचिन्तक प्रेस काशी से मुद्रित, १६१६ ई.। यह रुद्रभट्ट द्वारा प्रकाशित "विरोधपरिहारखण्डन" का खण्डन है। रामानुजीय श्री अनन्ताचार्य की आज्ञा से देशिक वरदाचार्य ने इसे १६१६ ई. में प्रकाशित कराया।

रामानुजाचार्य (१६-२० वीं शती)-उशहपक के निवासी। १- विद्वन्मनोहरः, कुम्भकोणम् से १६२२ ई. में प्रकाशित।

आर. हलस्यानाथ शास्त्री- अर्थचन्द्रिका (ब्रह्मसूत्रों पर टीका)-बम्बई और कुम्भकोणम् से क्रमशः १६०८ एवं १६१८ ई. में प्रकाशित।

श्रीधराचार्य - वेदान्तदेशिक के ग्रन्थ की व्याख्या- वर्दवान से १६१८ ई.में प्रकाशित।

श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र महादेशिक (१६-२० वीं शती) - वेदान्तदेशिक के ग्रन्थ "रहस्यत्रयसार" की व्याख्या-मद्रास से १६१४ ई. में प्रकाशित।

श्रीनिवास सूरि (१६-२० वीं शती) १-वेदान्तदेशिक के "रहस्यत्रयसार" की प्रकाशिका (सारदीपिका) नाम्नी टीका कुम्भकोणम् से १६०७ ई. में ग्रन्थलिपि में प्रकाशित, बंगलौर से देवनागरी लिपि में प्रकाशित। २-अद्वैतमतखण्डनोपन्यासः-तेलुगु लिपि में राजमुन्द्री से १६१६ ई. में प्रकाशित।

एस. वरदाचार्य-१- वेदान्तदेशिक के "रहस्यत्रयसार" पर "कारिकादर्पण"- ग्रन्थलिपि में कुम्भकोणम् से १६१८ ई. में प्रकाशित। २-तत्त्वसुधा- मैसूर से १६५६ में प्रकाशित। यह ग्रन्थ अनन्तकृष्ण शास्त्री की "शतभूषणी" के खण्डन हेतु प्रणीत है।

रामचन्द्र पनशीकर (१६-२० वीं शती)-लोकाचार्य पिल्लइ के विशिष्टाद्वैतपरक ग्रन्थ "तत्त्वत्रय" पर टीका चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला में वाराणसी से प्रकाशित, १६३८ ई.।

(३) मध्वाचार्य का द्वैत वेदान्त

सत्यधर्म तीर्थ (१७६८-१८३०) ये पेशवा वाजीराव द्वितीय (१७६५-१८१८) के समकालीन थे। इनका देहावसान १८३० ई. में मैसूर में हुआ। द्वैत वेदान्त साहित्य की प्राचीन प्रणाली के ये अन्तिम ग्रन्थकार हैं। इन्होंने अपने जीवनकाल में लगभग १० ग्रन्थों

की रचना की। १- "तत्त्वसंख्यान" पर टीका, बम्बई से प्रकाशित। २-यादुपत्यविवृति-शेषपूरणी (भागवत की टीका) धारवाड़ से मुद्रित। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, यह यदुपति द्वारा की गयी व्याख्या के विशिष्ट अंशों की पूरक है।

काशी तिम्मण्णाचार्य (लगभग १८००-१८५०)-ये मैसूर के निवासी थे। इन्होंने वाराणसी में आकर शास्त्रों का अध्ययन किया था। ये अपने समय के नव्यन्याय एवं द्वैत वेदान्त के मूर्धन्य विद्वान् तथा त्र्यम्बक शास्त्री एवं सत्यधर्म तीर्थ के समकालीन थे। १- "तत्त्वसंख्यान" पर टीका, २- "तत्त्वोद्योत पर टीका, ३- "भेदोज्जीवन" पर टीका, ४- कृष्णामृतमहार्णव पर टीका, ५- प्रमाणपद्धति पर टीका एवं ६- "न्यायसुधा" के प्रथम अधिकरण पर टीका, ७- गुहाधिकरणविचार अद्वैत सभा, कुम्भकोणम् के हीरक-जयन्ती स्मृति ग्रन्थ में १९६० ई. में प्रकाशित। ७-कुमतखण्डनम् मैसूर से १९२३ ई. में प्रकाशित। ८- मध्व के विष्णुतत्त्वनिर्णय पर "तत्त्वदीपिका" टीका-तंजौर से प्रकाशित।

सातारा राघवेन्द्राचार्य (१८५३ में मृत्यु) - ये एक प्रसिद्ध वैयाकरण थे। परिभाषेन्दुशेखर पर इनकी टीका "त्रिपथगा" वाराणसी से छपी है। इन्होंने शब्देन्दुशेखर पर शब्दरत्न (प्रभा टीका) विष्णुसहस्रनाम, गीता तथा श्वेताश्दतरोपनिषद् की व्याख्या भी लिखी है।

नारायणाचार्य-ये श्री राघवेन्द्राचार्य (१८५३ ई. में मृत्यु) के पुत्र थे। १- मायीमहावाक्यार्थखण्डनम् २- श्वेताश्वतर उपनिषद पर द्वैतदृष्टिकोण से व्याख्या।

कोच्चि रङ्गप्पाचार्य (१८२०-९१) - ये कोयम्बटूर के श्रीनिवासाचार्य के कनिष्ठ पुत्र थे। इनके पितामह वृद्धाचार्य जगन्नाथ तीर्थ के समकालीन थे। इन्होंने मैसूर के शतकोटि राम शास्त्री से न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था। तिरुप्पुनित्तुरा के राज्याश्रित विद्वान होने पर इन्होंने सोद मठ के विश्वप्रिय तीर्थ से द्वैत वेदान्त का अध्ययन किया। ग्रन्थ १- चन्द्रिकाभूषणम्- इन्होंने अपने समकालीन श्री रघुनाथ शास्त्री "पर्वते" (१८२१-५६) के "शङ्करपादभूषणम्" के खण्डनहेतु यह ग्रन्थ लिखा। इसका एक भाग "जिज्ञासाधिकरण" कुम्भकोणम् से १९०५ ई. में प्रकाशित है। इन्होंने ब्रह्मसूत्र के अधिकरणों पर स्रग्धरा छन्द में "नयमालिका" नामक ग्रन्थ तथा "ऋजुत्वचन्द्रोदय" (वादिराज के ऋजुत्व के सम्बन्ध में) नामक ग्रन्थ भी लिखे, जो अप्रकाशित हैं।

गौड़गिरि वेङ्कटरमणाचार्य (१९-२० वीं शती)-ये मैसूर के निवासी थे। १-तात्पर्यचन्द्रिकाप्रकाशप्रसरः बंगलौर से १९२२ ई. में प्रकाशित। यह ग्रन्थ तिरुविशनल्लूर रामसुब्बा शास्त्री के ग्रन्थ "चन्द्रिकाखण्डनम्" के खण्डन हेतु लिखा गया है जो तंजौर के एक मान्य अद्वैतवेदान्ती विद्वान् थे। २- अद्वैतदीपिकावातागमः बंगलौर से १९२४ ई. में प्रकाशित।

सत्यध्यान तीर्थ (१९१३-४२) - ये उत्तरादि मठ के अधिष्ठाता और अपने समय के प्रकाण्ड विद्वान् थे। चन्द्रिकामण्डनम् "चन्द्रिकाखण्डनम्" (राम सुब्बा शास्त्री द्वारा प्रणीत) के खण्डन हेतु प्रणीत ग्रन्थ। तिरुपति से १९१६ ई. में प्रकाशित।

अन्य ग्रन्थ

हुलुगी श्रीपत्याचार्य (१७६८-१८३०) - जयतीर्थ की "तत्त्वोद्योतटीका" पर "द्वैतद्युमणि" नाम्नी टीका, बेलगॉव से १६४३ ई. में प्रकाशित।

वासुदेवाचार्य- द्वैतप्रदीपः - मैसूर से १६४६ ई. में प्रकाशित।

सेतु मध्वाचार्य (१८७१-१६५५) तत्त्वकौस्तुभकुलिशः - तिरुपति से १६५७ ई. में प्रकाशित। इसमें भट्टोजिदीक्षित का खण्डन किया गया है।

जालिहल श्रीनिवासाचार्य १- न्यायामृतार्णवः - गड्ग (बेलगाम ?) से १६४२ ई. में प्रकाशित। यह ग्रन्थ अनन्तकृष्ण शास्त्री के खण्डन हेतु प्रणीत है। २- न्यायसुधाकण्टकोद्धारः - मद्रास से १६६१ ई. में प्रकाशित। इस ग्रन्थ में भी अनन्तकृष्ण शास्त्री का खण्डन किया गया है।

सत्यप्रमोद तीर्थ - न्यायसुधामण्डनम्-पूना से १६६१ ई. में प्रकाशित। यह ग्रन्थ भी अनन्तकृष्णशास्त्री के खण्डन हेतु लिखा गया है।

विद्यामान्य तीर्थ - अद्वैततत्त्वसुधासमीक्षा- बंगलौर से १६६१ ई. में प्रकाशित। यह ग्रन्थ भी अनन्तकृष्ण शास्त्री के खण्डन हेतु प्रणीत है।

के. एन. कट्टी, कर्नाटक-न्यायासुधामण्डनप्रकाशः, १६६३ ई.

पी. सीताराम हेबर, कर्नाटक-शालिग्राम (उडुपी तालुका) निवासी। द्वादशदर्शनसमीक्षा-१६८० ई.।

वादिराजार्य अग्निहोत्री, कर्नाटक-प्रमाणसंग्रहः, १६८० ई. में द्वितीय संस्करण प्रकाशित।

(४) वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत वेदान्त

(योगी) गोपेश्वर (महाराज), बंगाल (१७८१ ई. में जन्म) १-पुरुषोत्तम कृत "अणुभाष्य-प्रकाश" पर "रश्मि" टीका बम्बई से १६२६-१६२६ ई. में २ भागों में प्रकाशित। २- भक्तिमार्तण्डः- नादियाड से प्रकाशित। ३- वल्लभाचार्यकृत "सुबोधिनी" के १० वें अध्याय की टीका "बुभुत्सुबोधिका"-नादियाड से प्रकाशित। इन्होंने वल्लभाचार्य के अन्य ग्रन्थों निरोधलक्षण, संन्यासनिर्णय, सेवाफल आदि तथा पुरुषोत्तम कृत "वेदान्ताधिकरणमाला" पर भी टीकाएँ लिखीं।

गिरिधर गोस्वामी (१८४५ ई. में जन्म)-१-वल्लभचार्य के "अणुभाष्य" पर "विवरण" नादियाड से सम्पादित और प्रकाशित। प्रथम, द्वितीय अध्याय मात्र। २- शुद्धाद्वैतमार्तण्डः-(शुद्धाद्वैतविचारः) रामकृष्ण भट्ट की "प्रकाश" और बालकृष्ण भट्ट की "प्रमेयरत्नार्णव" टीकाओं के साथ चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला-२८ में १६०६ ई. में प्रकाशित। ३-विट्ठल दीक्षित के ग्रन्थ 'विद्वन्मण्डल' पर 'हरितोषिणी' टीका बम्बई से १६२६ ई. में प्रकाशित।

ब्रजरत्न लाल, सूरत (१८६५ ई. में जन्म)-वल्लभाचार्य कृत "विवेकधैर्याश्रय" पर "विवृति" गुजराजी प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई से प्रकाशित।

रमानाथ शर्मा, (१६-२० वीं शती) गोवर्धन शर्मा प्रणीत "वेदान्तचिन्तामणि" पर "टिप्पणी"-१६१८ ई. में बालकृष्ण विद्यालय, बम्बई से प्रकाशित।

श्रीधर पाठक, महाराष्ट्र (१६-२० वीं शती)-वल्लभाचार्य के अणुभाष्य पर "बालबोधिनी" टीका-पूना से १६२१ ई. में २ भागों में प्रकाशित।

वल्लभकाका (१६-२० वीं शती)- वचनामृतम्-अहमदाबाद से १६२४ ई. में प्रकाशित।

श्यामसुन्दर झा (२० वीं शती)-शुद्धाद्वैत (पदार्थ) मणिमाला-१०६ श्लोकों में उपनिबद्ध ग्रन्थ। यह ग्रन्थ सरला प्रेस, वाराणसी से प्रथम बार १६५७ ई. में मुद्रित हुआ।

बीसवीं शताब्दी के कुछ अन्य शुद्धादैती (ब्रह्मपरिणामवादी) ग्रन्थकार

बलभद्रशर्मा- काश्यप गोत्रीय मथुरावासी देवकीनन्दन के पुत्र बलभद्रशर्मा शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री वल्लभाचार्य जी के द्वितीय पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी की पुत्री शोभा देवी के वशंज थे। इन्होंने नाथद्वारा के नन्दकिशोर शास्त्री तथा कर्णाटक के सुप्रसिद्ध माध्व वेदान्त के विद्वान् वामनाचार्य क्षीरसागर के निर्देशन में अध्ययन सम्पन्न किया था। इन्हें कवि काव्यरत्नाकर आदि कई उपाधियां प्राप्त थीं। इनके चार ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं। १-सिद्धान्तसिद्धापगा (१६१३, बम्बई) २-व्याख्यानरत्नावली (१६१६ बम्बई), ३-विद्वन्मडनोपोद्घातः (१६२१ मथुरा) और ४-ईशोपनिषत् का बालभाष्य (१६४६ बम्बई)।

प्रथम पचहत्तर पृष्ठों का ग्रन्थ रामानुज सम्प्रदाय के प्रतिवादिभयङ्कर श्री अनन्ताचार्य द्वारा लिखित तथा "मञ्जुभाषिणी" (एक साप्ताहिक सं.२४) में प्रकाशित लेख "शुद्धाद्वैतमतं वल्लभमतं वा" के उत्तर में लिखा गया था। दूसरा लघु ग्रन्थ शुद्धाद्वैत के आरम्भिक जिज्ञासुओं के लिए सरल संस्कृत में लिखित है। तीसरा ग्रन्थ जैसा कि उसके नाम से स्पष्ट है, "विद्वन्मण्डन" ग्रन्थ की भूमिका स्वरूप है तथा इसमें तीन आचार्यों, श्री वल्लभाचार्य, श्री विट्ठलनाथ और श्री गोकुलनाथ के बीच एकवाक्यतां (विचारों की एकता) स्थापित की गयी है। चौथे भाष्यरूप ग्रन्थ में पुष्टिमार्ग को वेदानुकूल सिद्ध करने का प्रयास है, "विद्वन्मण्डनोपोद्घात" (पृ.८५) में लेखक की इन पंक्तियों में कवित्व और सम्प्रदायनिष्ठा दोनों व्यञ्जित होते हैं- "हन्ताहो श्रीमदाचार्यचरणवचनामृतैकजीविताः साम्प्रदायिका विद्वांसो धारयत धारयत सम्प्रदायप्रमोषेण रत्ननिचितकलधौतसौधशिखरात् काकगर्तेष्वधोमुखं निपतन्तमात्मानुगतं जनम्। प्रणिधत्त च विपदोऽस्या अञ्जसैव निस्तरणाय श्रीमदाचार्यचरणपादारविन्दावधानसुधाम्। संस्मरत संस्मरत न कदाचित् प्रमादतोऽपि विस्मरत "विद्वद्भिः सर्वथा श्राव्यं ते हि सम्मार्गरक्षकाः' इति सकलपाषण्डतुण्डनिर्मोहिनीं श्रीमदाचार्यचरणाज्ञाम्। संरक्षत संरक्षत च सन्मार्गमित्यभिप्रार्थयामहे"।

गोस्वामी श्री दीक्षित (१६१४-१६७५)-ये मोटा मन्दिर, बम्बई के आचार्य थे तथा

इनके पिता श्री गोकुलनाथ और माता कुसुमप्रभा थीं। इन्होंने अनेक शास्त्रों का अध्ययन श्री बलभद्र और श्री रामनाथ से किया, उत्तरादिमठाधीश स्वामी श्री सत्यध्यानतीर्थ स्वामी से माध्वसम्प्रदाय का अध्ययन किया और श्री अनन्त कृष्ण शास्त्री ने इन्हें अद्वैत और पूर्व मीमांसा पढ़ायी तथा विभिन्न आचार्यों से श्रीरामानुज वेदान्त का अध्ययन किया। इन्होंने गुजराती में लिखित गोपालदास के छठे आख्यान पर कुसुमप्रभा व्याख्या लिखी जो १६४६ में बम्बई से प्रकाशित हुई। उन्होंने भगवदनुभव में संयोगानुभूति मात्र को-"परमफल" माना है, न कि वियोगानुभूति को, जैसा कि श्री हरिराय आदि ने माना है। इनके अन्य ग्रन्थ हैं- लघुव्याख्यानसमुच्चयः (१६६० बम्बई), ज्ञानभक्तितारतम्यविमर्शः (१६६५ बम्बई)।

अनिरुद्धाचार्य (१८६०) ने श्रीमद्गोपालपूर्वतापिनीयोपनिषद् की टीका ब्रह्मामृत पर "पीयूषलहरी" (१६२८ बम्बई) और श्रीमदाथर्वणनारायणोपनिषद् पर "वेदान्तविद्यालङ्कार" नाम की व्याख्या लिखी (१६४३ बम्बई से किरणावली व्याख्या के साथ प्रकाशित)।

हरिशङ्करशास्त्री ओंकार शुक्ल ने टिप्पणी लिखी जो अणुभाष्य और गिरिधर के विवरण के साथ प्रकाशित (१६४२) है, इन्होंने उपर्युक्त किरणावली व्याख्या लिखी, वामनाचार्य के शिष्य पण्डित जगन्नाथ ने "विद्वन्मण्डन" पर "मर्मानुवाद" पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष के रूप में लिखा, कोटा के गोकुलदास शास्त्री ने केनोपनिषद् पर व्याख्या लिखी (१६४६ कोटा) रामनाथभट्ट ने "दर्शनादर्शः" (१६१४ बम्बई) लिखा, इनकी छान्दोग्योपनिषद के प्रथम अध्याय पर व्याख्या १६२८ में बम्बई से प्रकाशित हुई। तैलंग भट्ट गिरिधर लाल ने सरस्वती-सन्देशः (१६१८ झालरा) की रचना की। वीरपुर के बालमुकुन्द वैकुण्ठराय शास्त्री ने श्रीदण्डाकारदिवाकरः (१६४६) लिखा।

(५) निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैत वेदान्त

गोस्वामी प्रियादास (१६ वीं शती का पूर्वार्ध)-इनके गुरु का नाम चन्द्रलाल था। १- सुसिद्धान्तोत्तमः-१६०० ई. में प्रयाग के सिटी एलवियन प्रेस से मुद्रित। मूल ग्रन्थ पर टीका और टिप्पणी भी ग्रन्थकार ने स्वयं लिखी है। २-वेदान्तसार टीका-१८०७ ई. में रचित। ३-श्रुतितात्पर्यामृतटीका-१८१३ ई. में रचित।

अमोलक राम शास्त्री (१६-२० वीं शती)-इनका जन्म कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत पुण्डरीक नामक गाँव में हुआ था। ये गौड़ श्री शालग्राम उपाध्याय के पुत्र सुदर्शनाचार्य शास्त्री के शिष्य और न्याय, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा के मर्मज्ञ विद्वान् थे। बाद में वृन्दावन में रहने लगे थे। १-माध्वमुकुन्द के परपक्षगिरिवज्र पर टीका वृन्दावन से १६३६ ई. में प्रकाशित। २- आत्मपरमात्मतत्त्वादर्शः - वृन्दावन के हरिहर प्रेस से १६२४ ई. में मुद्रित। इसमें चार्वाक, बौद्ध, जैन, सांख्य, शाङ्कर अद्वैत, भाट्ट भास्कर, द्वैत आदि मतों का निराकरण करके द्वैताद्वैत अथवा भेदाभेद सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। ब्रह्मसूत्रों का इसी दृष्टि से परिशीलन भी किया गया है।

शान्तदास वयविदेही (२० वीं शती)-१- निम्बार्ककृत "वेदान्तपारिजातसौरभ" पर "सुबोधिनी" टीका-इलाहाबाद से १६३० ई. में एवं दौलतपुर से १६३२ ई. में प्रकाशित। २- भेदाभेदाद्वैताद्वैतसिद्धान्तः-वाराणसी से १६३५ ई. में प्रकाशित।

श्री राधासर्वेश्वरशरण देवाचार्य (जन्म १६२६ ई., किशनगढ़ राजस्थान) निम्बार्कतीर्थ (सलेमाबाद) के पीठाधीश्वर श्री जी महाराज नाम से सुविदित इन्होंने श्री निम्बार्ककृत प्रातः स्तवराजस्तोत्र पर 'युग्मतत्त्वप्रकाशिका' टीका, पञ्चम, श्री युगलस्तवस्तवीतिः, श्रीयुगल-गीतिशतकम् तथा दशश्लोकी पर व्याख्या 'नवीनसुधा' लिखी है।

(६) चैतन्य का अचिन्त्यभेदाभेद वेदान्त

भवानीचरण तर्कभूषण (१८-१६ वीं शती)- ज्ञानरसतरङ्गिणी-कलकत्ता से १८२८ ई. में मुद्रित।

भक्तिविनोद ठाकुर (१६-२० वीं शती)-बलदेव विद्याभूषण के ग्रन्थ 'भगवद्गीताभाष्य' पर "विद्वद्रञ्जनी" टीका-कलकत्ता से १६२४ ई. में प्रकाशित।

अक्षयकुमार शास्त्री (१६-२० वीं शती)-बलदेव विद्याभूषण कृत 'प्रमेयरत्नावली' पर 'प्रभा' टीका-कलकत्ता से १६२७ ई. में प्रकाशित।

रामानन्दचार्य का दर्शन (अद्वैत)

दामोदर शास्त्री सहस्रबुद्धे (१६-२० वीं शती)-ये गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, वाराणसी में अध्यापक थे। १- विवरणोपन्यासः -रामानन्द सरस्वतीकृत "विवरणतात्पर्य" की व्याख्या। तारा प्रिंटिंग वर्क्स, बनारस से मुद्रित। १६०१ ई.। २- शङ्कराचार्यकृत "वाक्यसुधा" की टीका- उपर्युक्त ग्रन्थ के साथ ही प्रकाशित।

रघुवरदास वेदान्ती (१६-२० वीं शती) १- ब्रह्मसूत्र पर रामानन्दकृत "ब्रह्मामृतवर्षिणी" टीका तथा आनन्दभाष्य की टीका अहमदाबाद से १६२६ ई. में प्रकाशित।

काश्मीर शैवदर्शन

मनसाराम राजानक, कश्मीर (१८-१६ वीं शती)-मनसाराम राजानक का जन्म अठारहवीं शती के उत्तरभाग में हुआ और ये उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध तक जीवित रहे। १८०० ई. के लगभग पठानों के अत्याचारों से दुःखी होकर ये कश्मीर छोड़कर पंजाब (अब पाकिस्तान स्थित) के गुजराल जिले में जाकर "किलादार" नामक ग्राम में रहने लगे। यहीं रहकर इन्होंने काश्मीर शैवदर्शन पर "स्वातन्त्र्यदीपिका" नामक ग्रन्थ का निर्माण किया।

"स्वातन्त्र्य-दीपिका" एक सूत्रशैली में उपनिबद्ध ग्रन्थ है, जिसपर "वृत्ति" भी ग्रन्थकार ने स्वयं लिखी है। यह काश्मीर शैवदर्शन पर अभिनव दृष्टिकोण से लिखा गया महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। पाण्डुलिपि श्री रणवीर केन्द्रीय विद्यापीठ में (जम्मू) विद्यमान है। पं. नीलकण्ठ गुरटू द्वारा सम्पादित और शीघ्र प्रकाश्य।

हरभट्ट शास्त्री, कश्मीर-शास्त्री जी का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में हुआ। इन्होंने काश्मीर शैवदर्शन एवं तन्त्र के कई प्रमुख ग्रन्थों श्री-विद्यार्णवतन्त्र इत्यादि का सम्पादन किया। शास्त्री जी की मौलिक रचनाएं ये हैं-१-अजडप्रमातृसिद्धिवृत्तिः। शास्त्री जी ने आचार्य उत्पलदेव कृत "अजडप्रमातृसिद्धिः" पर संक्षिप्त वृत्ति लिखी है, जो काश्मीर राज्य के शोध विभाग द्वारा काश्मीर ग्रन्थावली के अन्तर्गत "सिद्धित्रयी" के एक भाग के रूप में प्रकाशित है। २. "पञ्चस्तवी" पर संस्कृत टीका। केरल के श्रीधर्माचार्य द्वारा विरचित "पञ्चस्तवी" पर यह बड़ी सारगर्भित टीका है, जिसका प्रकाशन काश्मीर रिसर्च विभाग से हुआ है। ३. शिवस्तोत्रम्-शास्त्री जी ने अपने जीवन में मिली उपेक्षाओं से मर्माहत होकर यह मनोहर स्तोत्र लिखा था, जो अप्रकाशित और सम्प्रति अप्राप्त है।

कान्तिचन्द्र पाण्डेय, उत्तर प्रदेश- ये लखनऊ विश्वविद्यालय में कार्यरत रहे। काश्मीर शैवदर्शन पर मौलिक शोधकार्य करने वालों में इनका नाम अग्रगण्य है। लखनऊ में इन्होंने "अभिनवगुप्त इन्स्टीट्यूट" की स्थापना करायी। काश्मीर शैवदर्शन पर अंग्रेजी में इन्होंने कई शोधपरक लेख एवं ग्रन्थ लिखे, जो प्रकाशित हैं। संस्कृत में विरचित इनका "शैवदर्शनबिन्दुः" नामक मौलिक ग्रन्थ है, जो १९६४ ई. में वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित है।

आचार्य अमृतवाग्भव, उत्तर प्रदेश (१९०३-१९८६)-इनका जन्म वाराणसी में वैदर्भ ब्राह्मणों के प्रसिद्ध वरकले वंश में हुआ था। इनका प्रारम्भिक नाम वैद्यनाथ वरकले था। इन्होंने संस्कृत महाविद्यालय, (सम्प्रति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय) में म.म. श्री गोपीनाथ कविराज एवं श्री नित्यानन्द पन्त से शिक्षा प्राप्त की। १९२८ ई. ये परिव्राजक हो गये और तबसे इनका नाम आचार्य अमृतवाग्भव के रूप में विख्यात हुआ। इन्होंने जम्मू में "श्रीपीठ", शैव दर्शन शोध संस्थान की स्थापना की। इन्होंने शैवदर्शन पर कई ग्रन्थ लिखे, जिनका परिचय इस प्रकार है- १. परमशिवस्तोत्रम्- यह कालक्रमानुसार आचार्य की प्रथम रचना है, जिसमें ३६ तत्त्वों के रूप में अभिव्यक्त परमेश्वर की स्तुति की गयी है। इसका प्रकाशन कुछ ही वर्ष पूर्व जम्मू से हुआ है। २. आत्मविलासः- इस ग्रन्थ में शाङ्कर अद्वैतवाद के अनुसार प्रतिपादित मायोपाधि, विवर्तवाद एवं जगन्मिथ्यात्व का खण्डन करके अद्वैत शैवदर्शन के अनुसार माया को ब्रह्म की स्वातन्त्र्यमयी शक्ति और जगत् की लीला का विलास बतलया गया है और कहा गया है कि यही वास्तविक औपनिषदिक सिद्धान्त है। पूर्वपक्ष के खण्डन एवं विषय के प्रतिपादन में तर्कों एवं अनुभूति का आश्रय लिया गया है। यह शैवदर्शन का अर्वाचीन युग का अत्युत्तम ग्रन्थ है। द्वितीय संस्करण जम्मू से प्रकाशित। ३. मन्दाक्रान्तास्तोत्रम्- कश्मीर के बारामुला नामक पत्तन में देवी शैलपुत्री के पावन तीर्थ पर इस स्तोत्रग्रन्थ का मन्दाक्रान्ता छन्द में निर्माण हुआ। इसमें काव्य एवं शास्त्र-तत्त्व दोनों का मञ्जुल समन्वय है। इसका प्रकाशन "वरकल राधाकृष्ण शोधसंस्थान", दिल्ली तथा "श्री अमृतवाग्भव शोधसंस्थान, जयपुर" से हुआ है। ४. महामन्त्रमयी परमशिवप्रार्थना- यह एकश्लोकमयी रचना है, जिसे महामन्त्र के रूप में माना गया है। इसका प्रकाशन दिल्ली

और जम्मू से कई बार हुआ है। ५. श्रीविंशतिकाशास्त्रम्- यह एक संक्षिप्त आगम दर्शन का ग्रन्थ है, जिस पर दो संस्कृत टीकाएँ भी लिखी गयी हैं। स्वाध्याय सदन, भरतपुर से प्रकाशित। ६. महानुभवशक्तिस्तोत्रम्- यह संक्षिप्त दार्शनिक स्तोत्र है, जिसमें परमेश्वर की पञ्च शक्तियों के रहस्य को उद्घाटित किया गया है। प्रथम बार श्री स्वाध्याय सदन, भरतपुर से तथा दूसरी बार जम्मू से प्रकाशित। ७. त्रिगुणवरस्तोत्रम्- इसमें भगवान् शिव की स्तुति है। दिल्ली से प्रकाशित। ८. सिद्धमहारहस्यम्- इस ग्रन्थ में आचार्य ने अपनी यौगिक साधनाओं, अनुभूतियों एवं शैवदर्शन के सिद्धान्तों का वर्णन किया है। १९६७ ई. में प्रथम बार म.म. गोपनीनाथ कविराज जी के अंग्रेजी प्राक्कथन के साथ वाराणसी से तथा दूसरी बार हिन्दी टीका के साथ जम्मू से प्रकाशित।

रामजू सौदागर, श्रीनगर-ये संस्कृत के विशेष विद्वान् नहीं थे, परन्तु किसी सिद्ध पुरुष से सम्पर्क होने पर साधुओं जैसी संस्कृत में शैवदर्शन पर इन्होंने "अभिनवसूत्रवार्तिक" का निर्माण किया। प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है अतः श्री रणवीर विद्यापीठ जम्मू में उसका शोधन परिमार्जन किया गया। श्री नीलकण्ठ गुरटू द्वारा सम्पादित, प्रकाशन हेतु प्रस्तुत।

बलजिन्नाथ पण्डित, श्रीनगर (१९१६ ई.) - इनका जन्म कुलगाम में १९१६ में हुआ। १. स्वातन्त्र्यदर्पणः (सटीकः) यह कारिकाओं में उपनिबद्ध शैवदर्शन का महत्त्वपूर्णग्रन्थ है। लेखक द्वारा स्वयं प्रकाशित। बाद में लेखक ने मूल ग्रन्थ पर अतीव सारपूर्ण संस्कृत टीका भी लिखी, जिसमें शैवदर्शन की अन्य दर्शनों से तुलना करते हुए अद्वैत शैवदर्शन के सिद्धान्तों तथा त्रिक प्रक्रिया के साधनों का वर्णन किया गया है। टीका सहित इसका प्रकाशन श्रीरणवीर विद्यापीठ, जम्मू से हुआ। २.ललितास्तवरत्नटीका-महामुनि विरचित ललिता देवी के सुमनोहर स्तोत्र ग्रन्थ पर संस्कृत टीका। मूल ग्रन्थ में श्रीचक्र की उपासना का काव्यात्मक शैली में वर्णन है। ३.विंशतिकाशास्त्रविमर्शिनी-आचार्य अमृतवाग्भव के "विंशतिकाशास्त्रम्" की संस्कृत टीका। टीका बड़ी वैदुष्यपूर्ण तथा सारगर्भित है। श्री स्वाध्याय सदन, भरतपुर से प्रकाशित। ४. आत्मविलासविमर्शिनी- आचार्य अमृतवाग्भव के "आत्मविलास" नामक शैवदर्शनपरक ग्रन्थ पर लिखी गयी विस्तृत व्याख्या। श्रीपीठ शैव दर्शन शोध संस्थान, जम्मू से प्रकाशित। ५.महानुभवशक्तिस्तोत्रटीका- यह भी अमृतवाग्भव जी के स्तोत्रग्रन्थ पर टीका है। श्रीस्वाध्याय सदन, जयपुर से प्रकाशित।

६.सिद्धमहारहस्यविमर्शिनी - आचार्य अमृतवाग्भव के ग्रन्थ पर विस्तृत संस्कृत टीका। प्रकाशन विचाराधीन। ७. काश्मीरशैवदर्शनस्य बृहत्कोशः-"शब्दकल्पद्रुम" की शैलीपर रचित शैवदर्शनविषयक अति महत्त्वपूर्ण और उपादेश कोशग्रन्थ। श्रीरणवीर विद्यापीठ जम्मू द्वारा इसका प्रकाशन कराया जा रहा है।

श्रीनाथ टिक्कू, श्रीनगर-भर्गशिखास्तोत्रम्-इस ग्रन्थ में साहित्यमयी शैली में शैवदर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

श्रीरघुनाथचन्द्र-विंशतिकाशास्त्रप्रकाशिनी-आचार्य अमृतवाग्भव के ग्रन्थ पर विशद संस्कृत टीका।

द्वारिकानाथ शास्त्री, जम्मू - ये जम्मू के आयुर्वेदिक कालेज में अध्यापक थे। बाद में डॉ. बलिजन्नाथ पण्डित के साथ "काश्मीरशैवदर्शनस्य बृहत्कोशः" के निर्माण में इन्होंने कार्य किया। इन्होंने स्वतन्त्र रूप से आचार्य अभिनवगुप्त के "परमार्थसार" पर एक संस्कृत टीका लिखी, जो अभिनव शैली में विरचित उत्तम टीका है। श्री रणवीर विद्यापीठ, जम्मू द्वारा प्रकाशित।

रामेश्वर झा-आचार्य रामेश्वर झा का जन्म मिथिलाञ्चल के समस्तीपुर जिले के "पटसा" ग्राम में वैशाखशुक्ल प्रतिपदा वि. सं. १९६२ (१९०५ ई.) में हुआ। उनके पिता का नाम श्री अयोध्यानाथ झा और माता का नाम रमा देवी था। आचार्य रामेश्वर झा ने पं. रामदत्त मिश्र, श्री राधाकान्त झा, श्री सदानन्द झा, पं. उग्रानन्द झा और पं. बालकृष्ण मिश्र के सान्निध्य में व्याकरण एवं न्यायशास्त्र का विधिवत् अध्ययन कर उभय शास्त्र में प्रगाढ़ पाण्डित्य अर्जित किया। इन्होंने खुर्जा स्थित श्रीराधाकृष्ण संस्कृत महाविद्यालय में न्यायविभागाध्यक्ष के रूप में तथा काशी के नित्यानन्द संस्कृत वेद महाविद्यालय में प्राचार्य के रूप में सफल अध्यापन कार्य किया। पं. रामेश्वर झा के अप्रतिम वैदुष्य के फलस्वरूप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से १९८० ई. में उन्हें महामहोपाध्याय की मानद उपाधि प्राप्त हुई और १९८१ ई. में भारत सरकार की ओर से राष्ट्रपति सम्मान भी मिला। महान् दार्शनिक एवं तन्त्रशास्त्र के मर्मज्ञ मनीषी महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज जी की प्रेरणा से पं. रामेश्वर झा ने शैवदर्शन विषयक "पूर्णताप्रत्यभिज्ञा" नामक मौलिक ग्रन्थ की रचना की। दो भागों में विभक्त पूर्णताप्रत्यभिज्ञा के प्रथम भाग में पूर्णता का तथा द्वितीय भाग में शैवदर्शन के ३६ तत्त्वों का वर्णन है। आर्ष शैली में लिखित यह ग्रन्थ शैवागमदर्शन के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त करता है। 'पूर्णताप्रत्यभिज्ञा' हिन्दी टीका के साथ तारा प्रिंटिंग वर्क्स वाराणसी से १९८४ ई. में प्रकाशित हुई है। "शिवतत्त्वविमर्शः" पं. रामेश्वर झा की दूसरी रचना है। इसके अतिरिक्त आचार्य रामेश्वर झा की दैनन्दिनियों में सहस्राधिक हस्तलिखित श्लोक सुरक्षित हैं। पं. रामेश्वर झा १२ दिसम्बर १९८१ को इहलीला समाप्त कर शिवसायुज्य को प्राप्त हुए।

रामचन्द्र द्विवेदी-इनके द्वारा लिखित "त्रिकदर्शनम्' सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से १९९२ में प्रकाशित हुआ।

वीरशैव धर्म-दर्शन

भारतीय धर्म-दर्शन में वीरशैव धर्म-दर्शन की भी एक भूमिका है। यह धर्म-दर्शन आगमों पर आधारित है।

सिद्धान्ताख्ये महातन्त्रे कामिकाद्ये शिवोदिते।
निर्दिष्टमुत्तरे भागे वीरशैवमतं परम्।। (सि.शि. ५.१४)

सिद्धान्तशिखामणि की इस उक्ति से यह बात सिद्ध होती है। भगवान शिव के द्वारा प्रतिपादित कामिक आदि वातुलान्त अट्ठाईस शैवागम सिद्धान्त आगम के नाम से प्रसिद्ध हैं। "आप्तोक्तिरत्र सिद्धान्तः शिव एवाप्तिमान् यतः" श्रीकण्ठ सूरि की इस उक्ति से यह पुष्ट हो सकता है। इन अट्ठाइस आगमों में दस आगम भगवान शिव से और अट्ठारह आगम भगवान रुद्र से उपदिष्ट माने जाते हैं। इस दस और अट्ठारह आगमों को दक्षिण के अघोर शिव जैसे शिवाचार्य सिद्धान्तागम नाम देते हैं और उनकी द्वैतपरक व्याख्या करते हैं। रत्नत्रयपरीक्षा में वे कहते हैं-"सिद्धान्तशब्दः पङ्कजादिशब्दवद् योगरूढ्या शिवप्रणीतेषु कामिकादिषु दशाष्टादशसु तन्त्रेषु प्रसिद्धः" (पृ. १४६)। इसके विपरीत काश्मीरी विद्वान् अभिनवगुप्त अपने महनीय ग्रन्थ 'तन्त्रालोक' में और जयरथ इस विशाल ग्रन्थ की अपनी अतिविशिष्ट 'विवेक' नामक टीका में १० शिवागमों को द्वैतवादी, १८ रुद्रागमों को द्वैताद्वैतवादी और ६४ भैरवागमों को अद्वयवादी बताते हैं। वे अपने इसी ग्रन्थ में कहते हैं कि अद्वैत द्वैत और द्वैताद्वैत शिवागमों के व्याख्याता त्र्यम्बक, आमर्दक श्रीनाथ नामक आचार्य हुए हैं और इन सिद्धान्तों के प्रचार के लिए इन्होंने अपनी-अपनी स्वतन्त्र मठिकाएँ स्थापित की हैं। शैवागमों के आधुनिक विद्वान् डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय जी ने भी १० शिवागमों को द्वैतवादी और १८ रुद्रागमों को द्वैताद्वैतवादी माना है। इन पूरे अट्ठाइस आगमों को मानने वाले वीर शैव आचार्य इनसे द्वैताद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। पूर्वोक्त अट्ठाइस शैवागमों के उत्तर भाग में वीरशैव सिद्धान्त प्रतिपादित है। अतः वीरशैव धर्म-दर्शन का मूल अट्ठाइस आगमों को ही माना जाता है। इसलिए पारमेश्वर आगम के-

वीरशैवं वैष्णवं च शाक्तं सौरं विनायकम्।
कापालमिति विज्ञेयं दर्शनानि षडेव हि।।

इस वचन में आगम-संमत षड्दर्शनों की गणना में वीरशैव की गणना की गई है।

'वीरशैव' शब्द का निर्वचन

'वीरशैव' शब्द का दार्शनिक और धार्मिक दृष्ट्या दो प्रकार से निर्वचन किया जाता है। शैव शब्द का अर्थ होता है शिवभक्त। उसमें जो वीर विशेषण लगाया गया है उसका दार्शनिक विवेचन करते हुए आचार्यों ने कहा है कि-

वीशब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका।
तस्यां रमन्ते ये शैवा वीरशैवास्तु ते मताः।
(सि.शि. ५.१६)

यहाँ पर "वी' शब्द का अर्थ विद्या होता है, जो कि शिव और जीव का अभेद बोधन करने वाली होती है। और "र" शब्द का अर्थ रमण माना गया है। अर्थात् उस विद्या में रमण करने वाला। इस प्रकार शिव और जीव का अभेद बोधन करने वाली विद्या में रमण करने वाले शिव भक्त ही 'वीरशैव' कहलाते हैं।

इस शब्द का धार्मिक निर्वचन इस प्रकार किया जाता है कि वीरव्रत परिपालन करने वाले शिवभक्त को वीरशैव कहते हैं। यहाँ पर दीक्षा में प्राप्त इष्ट लिंग को सदा शरीर पर धारण करते हुए उसकी निष्ठा से पूजा करना ही वीरव्रत कहलाता है। इतना ही नहीं, शरीर पर धारण किया हुआ इष्टलिंग यदि अनवधान के कारण शरीर से अलग हो जाता है तो उस समय प्राण त्याग करने का यह शिवभक्त संकल्प रखता है। इसीलिए भी इसको वीरव्रत कहा जाता है। इस वीरव्रत के परिपालन करने के कारण इस शिवभक्त को वीरशैव कहा जाता है। चन्द्रज्ञान आगम में -

इष्टलिंगवियोगे वा व्रतानां वा परिच्युतौ।
तृणवत् प्राणसंत्याग, इति वीरव्रतं मतम्।।
भक्त्युत्साहविशेषोऽपि वीरत्वमिति कथ्यते।
वीरव्रतसमायोगाद् वीरशैवं प्रकीर्तितम्।।
(चन्द्र.क्रिया. १०.३३-३४)

इस प्रकार उसका स्पष्टीकरण मिलता है। इस तरह गुरुदीक्षा में इष्टलिंग को शरीर पर सदा धारण करता हुआ शिव और जीव के अभेद बोधन करने वाली विद्या में रममाण शिवभक्त को ही 'वीरशैव' कहते हैं। वीरशैवों को ही लिंगायत भी कहते हैं। यह तो शास्त्रीय शब्द न होकर लोक प्रचलन में आया हुआ है। शरीर पर इष्ट लिंग धारण करने के कारण इन्हें व्यवहार में लिंगायत कहा जाता है, किन्तु धर्म और दर्शन की दृष्टि से 'वीरशैव' शब्द ही अधिक महत्त्व रखता है अतः प्राचीन वीरशैव संस्कृत साहित्य में 'वीरशैव' शब्द का ही प्रयोग मिलता है न कि लिंगायत शब्द का।

वीरशैव धर्म-दर्शन के संस्थापक आचार्य

वीरशैव धर्म एक सनातन धर्म है। इसकी परम्परा युग-युगों से आयी हुयी है। इस धर्म के युग प्रवर्तक पाँच आचार्य हुए हैं जिन्हें पंचाचार्य शब्द से सम्बोधित किया जाता है। कलियुग के उन आचार्यों के नाम - श्री रेवणाराध्य, श्री मरुलाराध्य, श्री एकोरामाराध्य, श्री पंडिताराध्य और श्री विश्वाराध्य के नाम से जाने जाते हैं। कलियुग के इन पांचों आचार्यों ने क्रमशः कोलनुपाक (आन्ध्र प्रदेश) के सोमेश्वर लिंग, वटक्षेत्र (मध्यप्रदेश, उज्जैन) के श्री सिद्धेश्वर लिंग, द्राक्षाराम क्षेत्र (आंध्रप्रदेश) के भीमनाथ लिंग, श्रीशैल (आन्ध्र प्रदेश) के श्रीमल्लिकार्जुन लिंग और श्रीकाशीक्षेत्र (उत्तर प्रदेश) के विश्वेश्वर ज्योतिर्लिंग से अवतरित होकर वीरशैव धर्म-दर्शन की स्थापना की है।

इन पाँचों आचार्यों ने सम्पूर्ण भारत देश में इस धर्म-दर्शन के प्रचार-प्रसार करने के लिए पाँच पीठों की स्थापना अन्यान्य प्रदेशों में की है। इनमें जगद्गुरु रेवणाराध्य का वीरपीठ कर्नाटक के चिक्कमंगलूर जिले के रमापुरी ग्राम में स्थित है। इसी प्रकार श्री जगद्गुरु मरुलाराध्य जी का सद्धर्म पीठ कर्नाटक के बेल्लारी जिले के उज्जयिनी ग्राम में स्थित है। श्री जगद्गुरु एकोरामाराध्य जी का वैराग्य पीठ हिमवत् केदार क्षेत्र के उखीमठ (चमोली जिला) में स्थित है। श्री जगद्गुरु पंडिताराध्य जी का सूर्यपीठ श्रीशैल (आन्ध्र प्रदेश) क्षेत्र में स्थित है और श्री जगद्गुरु विश्वाराध्य जी का ज्ञानपीठ सुप्रसिद्ध काशीक्षेत्र में विराजमान है।

ये पांचों पीठ अत्यन्त प्राचीन हैं। समय-समय पर इस देश के राजा-महाराजाओं ने भूदान, गोदान और सुवर्ण आदि दान देकर इन पीठों की गरिमा बढ़ायी है। इन पाँचों पीठों की आचार्य परम्परा अभी तक अक्षुण्ण गति से चली आ रही है। इन पाँचों पीठों के मूल परमाचार्य ही वीरशैव धर्म-दर्शन के संस्थापनाचार्य माने जाते हैं।

इन आचार्यों के अतिरिक्त वीरशैव धर्म के अनुयायी और प्रसारक-प्रचारक संत भी हो गये हैं। उनमें महात्मा बसवेश्वर, देवरदासिमार्य, अक्कमहादेवी, मन्मथस्वामी, आदि प्रमुख हैं।

धार्मिक संस्कार में स्त्री-पुरुषों को समान अधिकार

वीरशैव धर्म में प्रत्येक व्यक्ति को साधना में प्रवृत्त होने से पहले अपने कुलगुरु के द्वारा दीक्षा संस्कार लेना पड़ता है। इस धर्म में साधना करने के लिए स्त्री-पुरुष इन दोनों को समान अधिकार दिया गया है। अतः जैसे पुरुषों का दीक्षा संस्कार किया जाता है उसी प्रकार स्त्रियों का भी किया जाता है। इस दीक्षा संस्कार में पट्टाभिषिक्त कुलगुरु अर्थात् शिवाचार्य अपने शिष्यों को इष्टलिंग प्रदान कर पंचाक्षरी महामंत्र का उपदेश करते हैं। यह दीक्षा वर्ष के आठवें वर्ष भी की जाती है। इस दीक्षा में प्राप्त इष्टलिंग स्त्री और पुरुष दोनों अपने शरीर मस्तक, पसली, वक्षस्थल, कंठ और हथेली इन स्थानों में से किसी एक स्थान पर अपनी इच्छानुसार धारण करते हैं किन्तु नाभि के नीचे इसको धारण करना निषिद्ध है। उस इष्टलिंग को सुवर्ण, चांदी, पीतल, ताम्र आदि धातुओं से निर्मित सज्जिका में जो कि शिवलिंग नंदीश्वर, आम्रफल, विल्वफल तथा मोदक आकार का एक छोटा सा मंदिर होता है उस सज्जिका को डोरा से संलग्न करके शरीर पर धारण करते हैं। और प्रतिदिन एक या दो बार उस इष्टलिंग की पूजा की जाती है। इस प्रकार वीरशैव धर्म में दीक्षा इष्टलिंग धारण और उसकी पूजा आदि धार्मिक विधियों के स्त्री-पुरुषों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता। यह इस धर्म की विशेषता है।

वीरशैव दर्शन

वीरशैव दर्शन को शिवाद्वैत, शक्तिविशिष्टाद्वैत और विशेषाद्वैत आदि नामों से व्यवहृत

किया जाता है। इस दर्शन में परमतत्त्व को स्थल अथवा लिंग शब्द से अभिहित किया जाता है। सृष्टि से पूर्व यह सारा विश्व उस लिंग तत्त्व में विलीन रहता है और सृष्टि के समय में उसी से व्यक्त हो जाता है। शिव अपनी शक्ति के संकोच से निर्गुण और शक्ति के विकास से सगुण हो जाता है। शिव और शक्ति में अविनाभाव संबंध माना गया है। इसी पर शिव के अंश को ही जीवात्मा माना जाता है। यह जीवात्मा इस सिद्धान्त में बताये गये अष्टावरणों से युक्त होकर पंचविध आचारों का पालनकर्ता हुआ षट्स्थल मार्ग के द्वारा उसी पर शिव के साथ समरस हो जाता है। इस स्थिति को सामरस्य स्थिति कहते हैं। यही जीवात्मा की मुक्तावस्था है।

आधुनिक वीरशैव संस्कृत साहित्य

वीरशैव संस्कृत साहित्य अत्यन्त प्राचीन है। अट्ठाइस शैवागम इसके मूल स्रोत हैं। वेदों में तथा उपनिषदों में भी जहां तहां इस दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त प्रतिपादित पाये जाते हैं। इसके अलावा इस धर्म के प्राचीन आचार्यों के द्वारा लिखित वीरशैव संस्कृत साहित्य विपुल मात्रा में उपलब्ध है। प्रस्तुत प्रकरण में उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में विरचित वीरशैव संस्कृत साहित्य और साहित्यकारों के बारे में संक्षेप में विषय प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) शिवकुमार शास्त्री

महामहोपाध्याय पं. श्री शिवकुमार शास्त्री जी काशी के मूर्धन्य विद्वानों में से एक थे। काशी के विद्वान और जनता के मन में आपके प्रति अत्यन्त गौरव की भावना आज भी है। विद्वत्ता के साथ आप परम शिवभक्त भी थे। काशी जंगमबाड़ी महामठ के तत्कालीन ८१वें पीठाचार्य श्री १००८ जगद्गुरु राजेश्वर शिवाचार्य महास्वामी जी के प्रति शास्त्रीजी की नितान्त श्रद्धा थी। उन्हीं के निर्देशन पर पं. शिवकुमार शास्त्री जी ने ईसवी सन् १९०३ में "लिंगधारणचंद्रिका" नामक प्राचीन वीरशैव धर्म के ग्रन्थ के ऊपर शरद् नामक संस्कृत व्याख्या लिखी। मूल ग्रन्थकार श्री नंदिकेश्वर शिवाचार्य ने वीरशैव धर्म में प्रतिपादित इष्टलिंगधारण को वैदिक सिद्ध किया है। स्थान स्थान पर वेद, आगम, उपनिषदों का उदाहरण देकर उसको पुष्ट किया है। यह वीरशैव धर्म का एक सिद्धान्त ग्रन्थ है। पं. शिवकुमार शास्त्रीजी ने इस ग्रन्थ की अपनी शरद् टीका में पूर्व और उत्तर मीमांसा के न्यायों को उदाहरणों के द्वारा बड़ी सरल भाषा में मूल विषय को पुष्ट और स्पष्ट किया है। इस शरद् टीका के साथ लिंगधारणचंद्रिका ई. सन् १९०५ में पं. काशीनाथ शास्त्री के द्वारा सम्पादित होकर जंगमबाड़ी मठ से प्रकाशित हुई थी। सन् १९८८ में पं. ब्रजबल्लभ द्विवेदी के सम्पादकत्व में स्वामी शिवानन्द के द्वारा विरचित हिन्दी भाषानुवाद के साथ जंगमवाड़ीमठ के शैवभारती भवन के द्वारा प्रकाशित हुई है।

(२) उमचिगिशंकर शास्त्री

पं. उमचिगी शंकर शास्त्री संस्कृत साहित्य और दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान थे। वीरशैव धर्म-दर्शन के मर्मज्ञ पंडितों में इनका अग्रस्थान है। प्रस्थान त्रयी में प्रसिद्ध उपनिषदों के ऊपर प्राचीन वीरशैव आचार्यों के भाष्य लुप्तप्राय हो जाने के कारण इस क्षति की पूर्ति के लिए आपने प्रयास किया। लगभग ई. सन् १६२० में आप बेल्लारी जिला में स्थित उज्जयिनी पीठ के आस्थान विद्वान के रूप में रहे। उसी समय में आपने ईशावास्य, केन, मुण्डक और सिद्धान्त शिखोपनिषदों पर वीरशैव भाष्य लिखा है। ये चारों उपनिषद् उस समय कन्नड़ लिपि में प्रकाशित हुई थीं। मैसूर आस्थान विद्वान स्वर्गीय यम.जी. नंजुंडाराध्य ने १६७४ में देवनागरी लिपि में कन्नड़ भाषानुवाद के साथ इन्हें प्रकाशित किया। इस समय काशी जंगमवाड़ी मठ शैव भारती शोध प्रतिष्ठान के द्वारा ई. सन् १६६६ में इन सभी का संशोधित संस्करण प्रकाशित हुआ है। साथ ही पं. जगन्नाथ शास्त्री तैलंगजी का हिन्दी अनुवाद भी इसके साथ प्रकाशित हुआ है।

स्वर्गीय पं. शंकर शास्त्री ने इन उपनिषदों के मन्त्रों के आधार पर अपना वीरशैव भाष्य लिखकर उपनिषदों में प्रतिपादित वीरशैव सिद्धान्त को स्पष्ट किया है। इन उपनिषदों के भाष्य के अलावा पं. शंकर शास्त्री जी ने ब्रह्मसूत्र के ऊपर वृत्ति भी लिखी है। वह शांकरी वृत्ति के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें भी बादरायण सूत्रों के आधार पर वीरशैव सिद्धान्त को स्पष्ट किया गया है। ई. सन् १६७४ में मैसूर के यम.जी. नंजुंडाराध्य ने इसका सम्पादन करके प्रकाशित किया था। इस समय काशी जंगमवाड़ी मठ के शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के द्वारा १६६८ में संशोधित संस्करण प्रकाशित हुआ है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पूर्व सांख्यविभागाध्यक्ष डॉ. केदारनाथ त्रिपाठी ने इसका सम्पादन किया है।

(३) काशीनाथ शास्त्री

पं. काशीनाथ शास्त्री जी वीरशैव धर्म-दर्शन के तथा संस्कृत साहित्य के मूर्धन्य विद्वान थे। ई. सन् १६०५ में आप काशी में रहकर काव्यतीर्थ उपाधि प्राप्त की थी। आपके द्वारा लिखित "दुर्वाददूरीकरणम्" नामक संस्कृत ग्रन्थ काशी जंगमवाड़ी मठ से उस समय प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ में वीरशैव धर्म के कुछ आचार-विचारों के ऊपर किए गये आक्षेपों का शास्त्रीय ढंग से निराकरण किया गया है। यह ग्रन्थ काशी की विद्वन्मण्डली में मान्य रहा है। इसके अतिरिक्त वीरशैव धर्म दर्शन के संस्थापक श्री जगद्गुरु पंचाचार्यों के महिमा प्रतिपादक अनेक पद्य और भजनों को संस्कृत में लिखा है। इनके द्वारा लिखित संस्कृत के भक्ति साहित्य को जन सामान्य भी अत्यन्त आदर से पठन करते हैं। आपने मैसूर में काशीनाथ ग्रन्थ माला स्थापित करके अनेक संस्कृत ग्रन्थों का प्रकाशन किया है। वीरशैव विद्वत्समाज में आपका बड़ा आदर और सम्मान था।

(४) पंडित नीलकंठ शिवाचार्य

कर्नाटक के बेलगांव जिला के हूली ग्राम के बृहन्मठ के अधिपति स्व. नीलकंठ शिवाचार्य साहित्य, तर्क शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान थे। आप भी काशी के जंगमवाड़ी मठ में रहकर लगभग सन् १९३० में तर्क तीर्थपरीक्षा पास की। आपने "शिवाद्वैतपरिभाषा" नामक एक वीरशैव नामक प्रक्रिया ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में वीरशैव दर्शन सम्मत पदार्थ और प्रमाणों के बारे में विस्तृत विवेचन किया गया है। जैसे "अद्वैतवेदान्त" में "वेदान्त परिभाषा" को प्रारंभिक अध्ययन करने वालों के लिए उपयुक्त माना जाता है उसी प्रकार नीलकंठ शिवाचार्य जी की यह शिवाद्वैत परिभाषा भी वीरशैव सिद्धान्त के प्रारम्भिक अध्ययन के लिए अत्यन्त उपयुक्त मानी जाती है। यह ग्रन्थ मैसूर से पहले कन्नड़ लिपि में प्रकाशित हुआ था। ई. सन् १९८३ में डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य जी ने देवनागरी लिपि में परिवर्तित करके सम्पादित किया। यह ग्रन्थ जंगमवाड़ी मठ से १९८३ में प्रकाशित हुआ है।

ग्रन्थकार स्व. नीलकंठ शिवाचार्य जी का जन्म सन् १९०० में हुआ और इनका स्वर्गवास सन् १९७१ में हुआ। इन्होंने "शिवानुभवदीपिका", "वीरशैवसिद्धान्तचूडामणि" नामक दो संस्कृत दार्शनिक ग्रन्थ "विजयध्वजविलासः" नामक काव्य तथा "सुरभारती विलास" नामक नाटक की भी रचना की है।

(५) श्री जगद्गुरु वीरभद्र शिवाचार्य जी महाराज

श्री जगदगुरु वीरभद्र शिवाचार्य जी काशी जंगमवाड़ी महामठ के ८४वें पीठाधिपति हो गये हैं। आप साहित्य वेद और वेदान्त के प्रकाण्ड विद्वान थे। संस्कृत के अलावा और कई भाषाओं के विशेषवेत्ता थे। आपका जन्म ई. सन् १९०६ में आन्ध्र प्रदेश के नलगोंडा जिले के चर्लपल्ली ग्राम में हुआ। आपके पिता पं. नागभूषण शास्त्री जी शास्त्रवेत्ता थे। आप सन् १९२५ में काशी आकर यहाँ के जंगमवाड़ी मठ में निवास कर वेदतीर्थ और काव्यतीर्थ की उपाधि प्राप्त की। काशी में आपने १० वर्षों तक संस्कृत भाषा और शास्त्रों का अध्ययन किया साथ ही स्मृतितीर्थ और सर्वदर्शनतीर्थ उपाधि प्राप्त की। आप अपने अध्ययन काल में पं. वीरभद्र शर्मा के नाम से प्रख्यात रहे।

आपने श्रीकरभाष्य चतुःसूत्री का सम्पादन किया है। उसमें लिखित सम्पादकीय संस्कृत भूमिका संशोधकों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है। आपके द्वारा लिखित "शिवपञ्चविंशतिलीलाशीःशतकम्" संस्कृत पद्य ग्रन्थ भगवान शिव के २५ लीलाओं के बारे में विस्तृत जानकारी प्रदान करता है। इसके अलावा श्री जगद्गुरुविश्वाराध्याष्टकम्, श्री विश्वाराध्यभजनम्, आनन्दभजनम् आदि कई संस्कृत के स्तोत्र और भजन उनके द्वारा लिखे गये हैं। आप बालकवि थे। विभिन्न छन्दों में अनेक प्रसंगों में लिखित आपके संस्कृत पद्य बहुत ही मननीय हैं। सन् १९४४ में आपने जंगमबाड़ी मठ के ज्ञानपीठ के जगद्गुरु के पद को प्राप्त किया। आपके द्वारा स्थापित ज्ञान मन्दिर ग्रन्थालय इस पीठ के लिए अनमोल देन है। १९४८ में आप शिव सायुज्य को प्राप्त हुए।

(६) पंडित सदाशिव शास्त्री जी

पंडित सदाशिव शास्त्रीजी का कर्नाटक प्रान्त के बेल्लारी जिला के हिरिहाल ग्राम में ई. सन् १६०० में जन्म हुआ। आपने भी काशी में आकर जंगमवाड़ी मठ में आकर निवास करते हुए साहित्य, व्याकरण और वेदान्त का अध्ययन किया। आपने १६२० में वीरशैवेंदुशेखरः नामक संस्कृत ग्रन्थ की रचना की। उसी सन् में वह ग्रन्थ जंगमवाड़ी मठ से प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ में वीरशैव धर्म के तत्त्वसिद्धान्त को अनेक युक्ति और प्रमाणों के द्वारा सिद्ध किया गया है। यह एक अनूठा ग्रन्थ है। काशी छोड़ने के बाद आपने रमापुरी महापीठ का जगद्गुरुत्व प्राप्त किया। उस समय आपका नाम श्री १००८ जगद्गुरु शिवानंद शिवाचार्य रखा गया।

(७) पंडित सदाशिव शिवाचार्य जी

पंडित सदाशिव शिवाचार्य जी कर्नाटक के हासन जिला के सखरायपट्टण के हालूस्वामी मठ के पदाध्यक्ष रहे। कर्नाटक में ही आपने उच्च शिक्षा प्राप्त की। १६४८ में आपने कैवल्य उपनिषद् के ऊपर वीरशैव सिद्धान्त परक भाष्य लिखा जो सादाशिवभाष्यम् नाम से प्रसिद्ध है। मैसूर के आस्थान विद्वान् एम्.जी. नंजुंडाराध्यजी ने इस भाष्य का सम्पादन करके १६५१ में बेगलूर की प्रबोध पुस्तकमाला में प्रकाशित किया है। यह भाष्य भी इस उपनिषद् में छिपे वीरशैव सिद्धान्त को उजागर करता है। यह भाष्य हिन्दी अनुवाद के साथ शैव भारती शोध प्रतिष्ठान के द्वारा शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है।

(८) पंडित टी.जी. सिद्धप्पाराध्य जी

स्व. विद्वान डॉ. टी.जी. सिद्धप्पाराध्य जी बहुत बड़े संस्कृत भाषा और शास्त्र के विद्वान रहे। आप मैसूर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में प्राध्यापक रहे। सन् १६६० से १६६५ तक की कालावधि में आपने श्रीमद्भगवद्गीता और श्वेताश्वतरोपनिषद्र के ऊपर वीरशैव भाष्य लिखा। ये दोनों ग्रन्थ १६६५ में चित्रदुर्ग (कर्नाटक) के बृहन्मठ के द्वारा प्रकाशित हुए हैं। विद्वान टी.जी. सिद्धप्पाराध्य जी ने अपने विद्वत्तापूर्ण भाष्य में उपनिषद् और गीता में प्रतिपादित वीरशैव सिद्धान्त को उजागर करने का सफल प्रयास किया है।

इसके अतिरिक्त अथर्वशिखोपनिषद् के ऊपर आपने वीरशैव भाष्य लिखा है लेकिन अभी इसका प्रकाशन नहीं हुआ है। इसी तरह महात्मा बसवेश्वर और अक्कमहादेवी के कन्नड़ वचनों को इन्होंने बसवगीता एवं अक्कमहादेवीगीता के नाम से संस्कृत भाषा में छन्दोबद्ध किया है। इन दोनों का भी अभी तक प्रकाशन नहीं हुआ है। १६६६ में इनके द्वारा विरचित शरणगीता नामक संस्कृत पद्य ग्रन्थ चित्रदुर्ग बृहन्मठ से प्रकाशित हुआ है। इस शरण गीता में कर्नाटक के अनेक सन्तों की वाणी को संस्कृत पद्य रूप देकर उनके उपदेश को विश्व भर में प्रचारित होने का अवकाश प्रदान किया। संस्कृत समाज में इसका

अच्छा प्रभाव पड़ रहा है। इन संस्कृत पद्यों का अंग्रेजी अनुवाद भी आपने लिखा है।

(६) चंद्रशेखर शिवाचार्य जी महाराज

श्री १००८ जगद्गुरु डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महाराज जी का जन्म कर्नाटक के धारवाड़ जिला के नागनूरु ग्राम में १९४७ में हुआ। आपके पितामह संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे। आपके पिताजी थोड़ा बहुत संस्कृत जानते हैं। आपने अपने दीक्षागुरु अमरेश्वर स्वामी जी की प्रेरणा से संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ किया। सन् १९६६ में आपने काव्यतीर्थ उपाधि प्राप्त की। काशी के जंगमबाड़ी महामठ में १९७० में आपका प्रवेश हुआ और यहाँ के सं. सं. वि.वि. से सन् १९७३ में वेदान्ताचार्य की उपाधि प्राप्त की, साथ ही सन् १९८० में विद्या-वारिधि तत्पश्चात् १९८९ में विद्या-वाचस्पति उपाधि प्राप्त की।

"सिद्धान्तशिखामणिसमीक्षा" आपका विद्यावारिधि का शोधप्रबन्ध है। यह ग्रन्थ १९८९ में जंगमबाड़ी मठ के शैवभारती भवन के द्वारा प्रकाशित हुआ है। श्रीसिद्धान्तशिखामणि वीरशैव धर्म दर्शन का एक सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ है। श्री स्वामीजी ने इस ग्रन्थ में शिव, जीव, जगत् और बन्ध और मोक्ष के बारे में प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धान्तों को न्याय वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और अद्वैत वेदान्त में प्रतिपादित उपरोक्त दार्शनिक तत्त्वों के साथ तुलना की है। इसके अतिरिक्त सिद्धान्तशिखामणि में प्रतिपादित कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों की भी समीक्षा की गई है।

स्वामीजी द्वारा अपनी वाचस्पति उपाधि के लिए प्रस्तुत किया गया प्रबन्ध ही शक्तिविशिष्टाद्वैततत्त्वत्रयविमर्शः है। यह ग्रन्थ १९९६ में जंगमबाड़ी मठ के शैव भारती शोध प्रतिष्ठान से प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ के लिए उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी के द्वारा १९९७ में शांकर पुरस्कार प्रदान किया गया है।

इस ग्रन्थ में वीरशैव सिद्धान्त के अष्टावरण, पंचाचार और षट्स्थल नामक त्रिविध तत्त्वों के बारे में सुदीर्घ विवेचन किया गया है। यह अपने आप में एक अनोखा ग्रन्थ है। इन तीन तत्त्वों के बारे में विचार करते हुए वेदकाल से लेकर आधुनिक काल तक के सभी ग्रन्थों का प्रमाण उपस्थित किया गया है। स्वामी जी अपने विद्यार्थी अवस्था में डॉ. चन्द्रशेखर शर्मा हिरेमठ के नाम से जाने जाते रहे। वर्तमान समय में काशी जंगमबाड़ी मठ के ८६वें पीठाचार्य के रूप में विद्यमान हैं।

शाक्त दर्शन

पञ्चानन भट्टाचार्य तर्करत्न, बंगाल (१८६६ ई. १३४६ बंगाब्द)-इनका जन्म कलकत्ता के समीप भाटपाड़ा नामक स्थान में हुआ था। इनके पिता पं. नन्दलाल विद्यारत्न बहुत बड़े विद्वान् तथा कवि थे। इनका कर्मक्षेत्र बंगाल ही रहा। पचास वर्ष की अवस्था में काशीवास के निमित्त ये वाराणसी आये और सहस्त्रों छात्रों को न्याय और वेदान्तशास्त्र का अध्यापन किया। इन्होंने दस वर्षों तक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अवैतनिक रूप से अध्यापन कार्य किया। १. ब्रह्मसूत्र पर देवीभाष्यम् अथवा शक्तिभाष्य-श्री जीव न्यायतीर्थ

भट्टाचार्य द्वारा कालीघाट समिति की ओर से प्रकाशित, इण्डियन प्रेस, बनारस से १६३७ ई. में मुद्रित। यह ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र के ऊपर शाक्त दृष्टि से किया गया भाष्य है, जिससे तर्करत्न जी के वेद एवं तन्त्रविषयक पाण्डित्य तथा शाक्त दृष्टि का परिचय मिलता है। ब्रह्मसूत्रों का शक्ति-परक अर्थ लेकर किया गया यह मौलिक भाष्य है, जिसमें अर्थ की पुष्टिरूप में वेद-शास्त्रों से समुचित प्रमाण भी दिया गया है। ब्रह्मसूत्र के द्वितीय सूत्र "जन्माद्यस्य यतः" का पदच्छेद इन्होंने "जन्म आद्यस्य यतः"" करके "आद्य" अर्थात् सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाले ब्रह्माजी का जन्म जिससे हुआ, वही "ब्रह्म" है, यह अर्थ किया है। तथा वाक्सूक्त से "यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं" इत्यादि का प्रमाण उद्धृत किया है। इनका यह भी कथन है कि "ब्रह्म" ही शक्ति है। तर्करत्न जी का यह भाष्य नाना तर्कों तथा युक्तियों से संवलित, वैदिक तथा तांत्रिक प्रमाणों से परिपुष्ट महनीय भाष्य है। २-सप्तशती पर देवी-भाष्य-बंगाक्षरों में कलकत्ता के बंगवासी प्रेस से मुद्रित। ३- भगवद्गीता का शक्तिभाष्य- इन ग्रन्थों के अतिरिक्त भी तर्करत्न जी ने कई धर्मशास्त्र संबंधी, दार्शनिक तथा काव्य-ग्रन्थ लिखे। सांख्यदर्शन पर "पूर्णिमा" टीका, वैशेषिक दर्शन पर "परिष्कार" टीका तथा न्यायदर्शन अनुमानवाद पर अनुमितिविवृति" टीका इनके चतुरस्र पाण्डित्य की परिचायक हैं।

चक्रेश्वर भट्टाचार्य, आसाम (२०वीं शती) - ये उग्रतारा मन्दिर (दोलोई) के मुख्य पुजारी थे। १. शाक्तदर्शनम् - गौहाटी से १६७० ई. में प्रकाशित। रचनाकाल-१६६८ ई. यह ग्रन्थ १० परिच्छेदों में विभक्त है जिनमें शाक्तदर्शन के मूल तत्त्वों का प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर शास्त्रीय विवेचन किया गया है। २. तारार्चनतन्त्रम् ३. शतचण्डीयागप्रयोगतन्त्रम्।

तंत्र

सरयूप्रसाद द्विवेदी, उ.प्र. (१८३५) - द्विवेदी जी उत्तरभारत के मूर्धन्य आगमाचार्य थे। इनका जन्म अयोध्या से ८ कोस दूर सरयू नदी के किनारे "सनाह" ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम पं. राधाकृष्ण शर्मा था। इनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर जयपुर नरेश सवाई रामसिंह (शासनकाल १८३५-१८८० ई०) ने इन्हें अपना राजपण्डित बनाया था, जहां से आजीवन सरकारी कोष से उन्हें वृत्ति मिलती रही।

भास्करराय के पश्चात् लगभग दो शतकों बाद आगम के क्षेत्र में द्विवेदी जी जैसी विद्वद्विभूति का आविर्भाव हुआ, जिसने इस शास्त्र को एक नयी चेतना दी। द्विवेदी जी तन्त्र के साथ-साथ ज्योतिष एवं धर्मशास्त्र के भी मर्मज्ञ विद्वान् थे। "संग्रहशिरोमणि" उनका ज्योतिषविषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है तथा "सदाचारप्रकाशः" धर्मशास्त्र का। द्विवेदी जी के आगमविषयक प्रमुख ग्रन्थ इस प्रकार हैं- १. आगमरहस्यम्- द्विवेदी जी के प्रपौत्र श्री गंगाधर द्विवेदी द्वारा सम्पादित और राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला ८८ में जोधपुर (राजस्थान) से १६६७ ई. में प्रकाशित, प्रकाशक-राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान। ग्रन्थ २ भागों में उपनिबद्ध और प्रकाशित है। "आगमरहस्य" की प्रसिद्धि इसके रचनाकाल के बाद ही प्रायः

सम्पूर्ण उत्तरभारत में हो चुकी थी। कारण यह था कि ग्रन्थकार ने स्वयं अपने आगमशास्त्र के ग्रन्थों में यत्र-तत्र इसका उल्लेख किया था। इसके पूर्व "सप्तशती-सर्वस्व" तथा "वर्णबीजप्रकाश" भारतीय तंत्र साहित्य के क्षेत्र में व्यापक रूप से लोकप्रिय हो चुके थे और ग्रन्थकार का नाम श्रेष्ठ आगमाचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था। ग्रन्थ के पूर्वार्ध भाग में २८ पटल और ५०३१ कारिकाएं हैं। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें शैव, वैष्णव एवं शाक्त सम्प्रदायों के प्रमुख ग्रन्थों के आधार पर न केवल सृष्टि, प्रलय आदि शुद्ध दार्शनिक तत्त्वों का समावेश है, अपितु इसमें षट्कर्मसाधन तथा ध्यानयोगचतुष्टयप्रभृति व्यावहारिक विषयों का भी स्पष्ट निरूपण किया गया है। २-वर्णबीजप्रकाशः मुम्बई के प्रसिद्ध वेंकटेश्वर प्रेस से १६११ ई. में मुद्रित एवं प्रकाशित। संपादक-म.म. पं. दुर्गाप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थकार द्विवेदीजी के पुत्र थे। यह मंत्रशास्त्र का कोष ग्रन्थ है। क्रमशः आगम में माया, तार पवन, मेरु, अनुग्रह आदि शब्दों के पारिभाषिक अर्थ होते हैं-उनके द्वारा ही मन्त्रों में प्रयुक्त विभिन्न वर्णों का सङ्केत किया जाता है। इस संकेत को समझे बिना मन्त्रों के वर्णात्मक स्वरूप की योजना नहीं ज्ञात हो सकती। मन्त्रों के एवंविध स्वरूप के जानने के लिए इस कोष की अत्यन्त उपादेयता है। ३. सप्तशतीसर्वस्वम्-नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से सन् १८६२ ई. में मुद्रित और प्रकाशित। लगभग सम्पूर्ण भारतवर्ष में सप्तशती या दुर्गापाठ का व्यापक प्रचार है, अतः उसके पाठ एवं विधि-विधान के विषय में व्यापक त्रुटियाँ और विसंगतियां भी हैं। द्विवेदी जी ने कात्यायनीतन्त्र, मेरुतन्त्र, मरीचिकल्प, चिदम्बासंहिता आदि आगम के मूल ग्रन्थों का भलीभाँति पर्यालोचन करके ग्रन्थों से एतत्सम्बन्धी सारभूत और प्रामाणिक तत्त्व को लेकर इस ग्रन्थ की रचना की है। २४ विश्रामों में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है। इसमें दुर्गापाठ से सम्बन्धित सभी प्रकार के वैदिक एवं तांत्रिक काम्य प्रयोग, पुरश्चरण आदि का सन्निवेश है। ४. मातृकास्तुतिः-टीका-इण्डियन प्रेस, प्रयाग से १६०७ ई. में मुद्रित। हरितायन-संहिता के अन्तर्गत ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं के द्वारा की गयी, मातृकावर्णरूपिणी भगवती त्रिपुरसुन्दरी की यह स्तुति है। इसमें मातृका विज्ञान के गूढ़ तत्त्वों के व्यापक अर्थ निहित हैं। द्विवेदी जी ने इस मूल ग्रन्थ की टीका में आगमशास्त्र के अनेक गंभीर विषयों-परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी का स्वरूप और आविर्भाव का प्रकार-तथा षट्चक्रों की अन्तर्भावना आदि का प्राञ्जल विवेचन किया है। ५. पादुकापञ्चकम्-टिप्पणी-वाराणसी के सत्यनाम प्रेस से सन् १६३२ ई. में मुद्रित। यह आदिनाथ कृत "गुरुपादुकास्तोत्र है, जिसमें शिवशक्ति के रूप में गुरु के शुक्लरक्त चरणों की स्तुति की गयी है। प्रातःकृत्य के अन्तर्गत तान्त्रिकों द्वारा इसके पाठ का विधान है। इसमें कुल ६ श्लोक हैं, जो बड़े गंभीर और अर्थपूर्ण हैं। द्विवेदी जी ने इस पर टिप्पणी लिखी है और इसमें इसके आगमिक अर्थों को स्पष्ट किया है। ६.सर्वार्थकल्पद्रुमः यह अथर्ववेद की पिप्पलाद शाखा में प्रतिपादित कृत्यासूक्त का विवरण है। भद्रकाली इसकी मुख्य देवता हैं। इसमें विभिन्न कामनाओं की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के यन्त्र-मन्त्रों की साधना का उल्लेख किया गया है। वेद और तंत्र दोनों की सम्मिलित

अनुष्ठान-प्रक्रिया इसमें निहित है। ७. परशुरामसूत्रवृत्तिः (टिप्पणी)-यह श्रीविद्या का प्रतिपादक आर्ष ग्रन्थ हैं। द्विवेदी जी ने इस पर टिप्पणी लिखी है। मूल ग्रन्थ पर रामेश्वरसूरि का एक "सौभाग्यसुधोदय" टीका भी है जो गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा से प्रकाशित हो चुकी है। ८. साधकसर्वस्वम्-यह शक्तिदर्शन का प्रधान ग्रन्थ है। इसमें शक्ति की उपासना से सम्बन्धित सैद्धान्तिक और प्रायोगिक दोनों धाराओं का निरूपण और विवेचन प्रामाणिक आगम ग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। इसमें २२ प्रकाश हैं, जिनमें इस दर्शन के विविध विषयों का प्रतिपादन है। ६. दीक्षापद्धतिः-दीक्षा आगमानुयायियों का एक प्रमुख संस्कार है। इस ग्रन्थ में अनेक मूल ग्रन्थों का परीक्षण करके विभिन्न पद्धतियों में प्रचलित आन्तरिक विसंवाद को दूर करके मूल तंत्र की अनुगत प्रक्रिया के अनुसार दीक्षा-पद्धति का निरूपण किया गया है। १०. ललितासहस्रनामवृत्तिः- ललितासहस्रनाम श्रीविद्या का सुप्रसिद्ध सहस्रनाम है। इस पर सुप्रसिद्ध आचार्य भास्करराय ने "सौभाग्यभास्कर" नामक भाष्य लिखा है। परन्तु, उक्त भाष्य इतना विस्तृत और गंभीर है कि इसका अवगाहन चतुरस्र पण्डित्य द्वारा ही सम्भव है। द्विवेदी जी ने अगस्त्य मुनि प्रणीत मूलसूत्रों के आधार पर इस वृत्ति का निर्माण किया है, जो मूल ग्रन्थ के अभिप्रेत विषयों को सरलता से समझने में सहायक है।

स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती, बंगाल (१८७७-१६७५ ई.) - इनका संन्यास-पूर्व नाम श्री प्रमथनाथ मुखोपाध्याय था। इनका जन्म बंगाल के मालदह जिले में सन् १८७७ ई. में हुआ था। १६०५ ई. में बंगभंग आन्दोलन में इन्होंने सक्रिय कार्यकर्ता के रूप में भाग लिया। ५० वर्ष की आयु में स्वामी जी ने संन्यास लिया।

स्वामी जी ने 'जपसूत्रम्' नामक ग्रन्थ लिखा, जो छः खण्डों में सूत्राकार में रचित है। इसपर इन्होंने कारिका रूप में वृत्ति ग्रन्थ का निर्माण किया तथा बंगला में स्वयं विस्तृत व्याख्या भी की है। ब्रह्मसूत्र की भाँति यह ग्रन्थ चार अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। इस ग्रन्थ की सूत्रसंख्या ५२२ तथा कारिकाएँ २०५६ हैं। यह ग्रन्थ प्राचीन पद्धति के अनुसार जपविद्या का समीक्षण प्रस्तुत करता है। इसे अध्यात्मविद्या और उपनिषद् का विश्वकोष माना जा सकता है। भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी द्वारा इसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ है।

बदरीनाथ (१६ वीं शती) मिथिला के 'उजान' (उद्यान) ग्राम के निवासी, श्री भोलानाथ के पुत्र थे।

चक्रकौमुदी-गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद से १६७६ ई. में प्रकाशित। यह एक स्वतन्त्र रूप से लिखित महत्त्वपूर्ण तान्त्रिक ग्रन्थ है। जिसमें योग की क्रियाओं के माध्यम से सत्, चित् और आनन्द रूप अभीष्ट पुरुषार्थ की प्राप्ति बतायी गयी है। ग्रन्थ का विभाजन सात परिच्छेदों में किया गया है, जिनमें क्रमशः मूलाधारचक्र, स्वाधिष्ठानचक्र, मणिपूरचक्र, अनाहतचक्र, विशुद्धचक्र, आज्ञाचक्र तथा सहस्त्रारचक्र का वर्णन है। ग्रन्थ में चक्रों की स्थिति को चित्रों द्वारा भी समझाया गया है। ग्रन्थ में विषय

को प्रस्तुत करने की शैली सरल किन्तु पाण्डित्यपूर्ण है।

नारायण शास्त्री खिस्ते (१८८३-१९६१)-मूलतः महाराष्ट्रीय परन्तु काशीवासी विद्वान। ये पं. गङ्गाधर शास्त्री के शिष्य थे। कर्पूरस्तवः (महाकालप्रणीतः श्रीमद्दक्षिणकालिकायाः) पर 'परिमल' टीका- पण्डितराज रङ्गनाथ विरचित "दीपिका" तथा साहित्याचार्य पं. नारायण शास्त्री खिस्ते कृत 'परिमल' टीका के साथ हरिदास संस्कृत सीरीज-६ में विद्याविलास प्रेस, वाराणसी द्वारा मुद्रित (१९२८ ई.)। इससे पूर्व यह काशी के ही प्रभाकरी मुद्रणालय से भी मुद्रित हुआ था। ये दोनों व्याख्याएँ अतीव सरल तथा उपयोगी हैं।

स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती "करपात्री" जी (उत्तर प्रदेश) (१९०७-१९८२)- श्रीविद्यारत्नाकर भक्तिसुधा साहित्य परिषद् कलकत्ता से २०२९ वि. तदनुसार १९७२ ई. में प्रकाशित। इस ग्रन्थ में तन्त्रशास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों कुलार्णव, कल्पसूत्र, श्रीविद्यार्णव, त्रिपुरारहस्य आदि के आधार पर तान्त्रिक विषयों का समग्र विवरण प्रस्तुत किया गया है। आरम्भ में दीक्षाक्रम तदनन्तर महागणपतिक्रम, श्रीक्रम, श्यामाक्रम, दण्डिनीक्रम, वाराहीक्रम और परापद्धति का प्रतिपादन है। ग्रन्थ के परिशिष्ट में श्रीविद्यामन्त्रभाष्य, पूर्णाभिषेक का विशद वर्णन है। अन्त में आदि शंकराचार्य द्वारा प्रणीत सौन्दर्यलहरी, त्रिपुरसुन्दरी आदि स्तोत्र तथा महायागक्रम में प्रयोगविधि समेत भावनोपनिषद् दी गयी है। इस प्रकार यह ग्रन्थ तान्त्रिक विषयों के विवरण तथा विवेचन सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

महन्त बटुकनाथ, उ. प्र. (१९ वीं शती)-कालीपूजापद्धति - यह ग्रन्थ तन्त्र के कौल मार्ग से सम्बन्धित है। इसकी रचना विन्ध्याचल के भैरवकुण्ड पीठ के महन्त बटुकनाथ जी ने १९ वीं शताब्दी में की थी। प्रकाशित संस्करण में इस ग्रन्थ के सभी पारिभाषिक शब्दों की विस्तृत व्याख्या एवं कालीपूजा की ऐतिहासिक परम्परा पर एक महत्त्वपूर्ण भूमिका दी गयी है, जो विशेष उल्लेखनीय है। गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ इलाहाबाद से १९९५ ई. में प्रकाशित।

"स्वामिनारायण" दर्शन

श्री कृष्णवल्लभाचार्य "स्वामिनारायण" गुजरात (२० वीं शती) - जूनागढ़ (गुजरात) के स्वामिनारायण मन्दिर के अधीश्वर। ये नव्य न्याय, सांख्य-योग, मीमांसा और वेदान्त के मर्मज्ञ विद्वान् थे। इन्होंने श्री वामाचरण भट्टाचार्य तथा श्री दामोदर लाल गोस्वामी से न्याय वेदान्तादि दर्शनों का अध्ययन किया था। इन्होंने स्वामिनारायण सम्प्रदाय के अन्तर्गत निम्न महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है -१-तत्त्वप्रभावली (श्वैतायनीय विशिष्ट न्यायशास्त्र)- चौखम्बा प्राच्य विद्या ग्रन्थमाला-५ में वाराणसी से प्रकाशित, प्रथम संस्करण-१९७६ ई.। यह ग्रन्थकार द्वारा विरचित एक मौलिक ग्रन्थ है, जिसमें स्वामिनारायण सम्प्रदाय के विभिन्न ग्रन्थों में उपनिबद्ध विषयों को संगृहीत और संग्रथित कर उन्हें नव्यन्याय की शैली में उपन्यस्त किया गया है। ग्रन्थकार के शब्दों में यह 'तत्त्वचिन्तामण्यनुजा भगिनीरूपा' है। इसमें कुल ४ खण्ड हैं, जिनमें १४ परिच्छेदों के अन्तर्गत २२ संगतियों, ८ पदार्थों,

१० द्रव्यों, ३५ गुणों, १६ कर्मों, मूलतः ३ किन्तु कार्यतः विविध शक्तियों, ५ अधिसंसर्गों जाति, उपाधि धर्म, विशेष, ५ प्रकार के आभावों आदि से सम्बन्धित विचारों की प्रस्तुति तथा उद्देश, लक्षण परीक्षा द्वारा तार्किक रीति से शुद्ध करके उनकी स्थापना की गयी है। इस ग्रन्थ में ३० प्रकार की ख्यातियों का विप्रतिपत्तियों सहित निरूपण-विवेचन खण्डन करने के अनन्तर स्वामिनारायण सम्मत "सत्समुच्चय" ख्याति के सिद्धान्त को प्रमाणित किया गया है। ग्रन्थ में ७८० कारिकाएँ हैं, जिनमें ५४५ तक (तृतीय परिच्छेद पर्यन्त) ग्रन्थकार का स्वोपज्ञ भाष्य भी है। २-"साक्षात्कारसूत्र" तथा उसपर कल्याणी वृत्ति। ब्रह्मसूत्र की शैली पर उपनिबद्ध इस ग्रन्थ में कुल ४७ सूत्र हैं, जिनपर ग्रन्थकार का स्वोपज्ञ भाष्य भी है। यह ग्रन्थ उपर्युक्त ग्रन्थ के साथ ही चौखम्बा वाराणसी से प्रकाशित है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त कृष्णवल्लभाचार्य ने न्यायसिद्धान्तमुक्तावली तथा "तत्त्वमुक्ताकलाप" पर "किरणावली" नाम्नी टीकाएँ भी लिखी हैं।

पुराण दर्शन

अन्नदाचरण तर्कचूडामणि, बंगाल (जन्म १८६१ ई.) ये पुराण, धर्मशास्त्र, न्याय एवं साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे। पुराणरहस्यम्- काशी के भारत धर्ममहामण्डल द्वारा १९३३ ई. में प्रकाशित। इस ग्रन्थ में पुराणों की रचनाशैली का विवेचन तथा उनमें वर्णित विषयों की संगति का निदर्शन किया गया है। ग्रन्थ की शैली सरल है। यह पुराणों के प्रति सामान्य लोगों में फैली अज्ञता और अनास्था का निवारण करने में समर्थ उत्कृष्ट ग्रन्थ है।

गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, जयपुर (१८८१-१९६७) - ये मधुसूदन ओझा जी के शिष्य थे। उनके वैदिक विज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों पर इन्होंने टीका लिखी है। ये पुराणों के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इन्हें जीवन में अनेक पुरस्कार तथा राष्ट्रपति द्वारा विशिष्ट सम्मानपत्र प्राप्त हुआ। १-पुराणपारिजातः-केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ दिल्ली से प्रकाशित १९५८ ई.। इस ग्रन्थ में पुराणों में वर्णित धर्म और दर्शन की विस्तृत विवेचना की गयी है। लेखक का दृष्टिकोण वैज्ञानिक और समन्वयवादी है। यह उसके १५ वर्षों के गम्भीर पुराणानुशीलन का परिणाम है। स्वामी करपात्री जी ने इसकी भूमिका लिखी है। २- प्रमेयपारिजातः- विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली से प्रकाशित। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त चतुर्वेदिसंस्कृतनिबन्धावली, नामक इनका पाण्डित्यपूर्ण निबन्ध-ग्रन्थ भी प्रकाशित है।

भक्तिदर्शन

स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती करपात्री उत्तर प्रदेश (१९०७-१९८२)-भक्तिरसार्णवः।

यह ग्रन्थ मधुसूदन सरस्वती प्रणीत "भक्तिरसायन" की शैली में भक्तिरस के स्वरूप का विवेचन करता है। उदाहरणों की प्रचुरता के कारण शास्त्रीय शैली में उपनिबद्ध होने पर भी ग्रन्थ जनसामान्य के लिए सरल तथा सुबोध है। इस ग्रन्थ मे वेद से सम्बद्ध भी अनेक लेखों तथा निबन्धों का संग्रह है।

गोविन्दचन्द्र पाण्डेय (जन्म १६२३ ई. अल्मोड़ा, उत्तर प्रदेश) - इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कुलपति पद से सेवा-निवृत्त। इतिहास एवं संस्कृति के प्रतिष्ठित विद्वान्। सम्प्रति प्रयागवासी। शङ्कर पुरस्कार से सम्मानित। १- भक्तिदर्शनविमर्शः- यह भक्तिदर्शन परक निबन्धों का संग्रह है। इस ग्रन्थ में ऐतिहासिक और दार्शनिक दोनों दृष्टियों से "भक्ति" के स्वरूप और महत्त्व पर विचार किया गया है। इसमें शास्त्रचिन्तन की गम्भीरता और विचारों की मौलिकता दृष्टिगोचर होती है। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से १६६१ ई. में आचार्य बदरीनाथ शुक्ल स्मृति ग्रन्थमाला-प्रथम पुष्प के रूप में प्रकाशित।

विज्ञान दर्शन

मधुसूदन ओझा बिहार (१८६६-१६३६) - ये "ब्रह्मसिद्धान्त" आदि वैदिक विज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों के प्रणेता थे। इन्होंने दर्शनपरक ग्रन्थों का भी वैज्ञानिक दृष्टि से अनुसन्धान किया। एवंविध प्रणीत प्रकाशित ग्रन्थों में प्रमुख हैं १-गीताविज्ञानम्-इसमें भाष्य से पूर्व रहस्यकाण्ड में श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के नामों का रहस्य, शास्त्ररहस्य तथा विषयरहस्य का वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। २-शारीरकविमर्शः -इस सचित्र ग्रन्थ में वैज्ञानिक रूप से शारीरक दर्शन का प्रतिपादन है। ३-ब्रह्मचतुष्पदी- इस ग्रन्थ में प्रजापति, विराट्, आत्मा तथा आत्मशक्ति इन चारों का वैज्ञानिक विवेचन है। ४-ब्रह्मसमन्वयः- इसमें निर्विशेष, परात्पर, अव्यय, अक्षर तथा क्षर आदि आत्मतत्त्वों तथा उनसे सृष्टि का वैज्ञानिक वर्णन है।

सुद्युम्न आचार्य, मध्य प्रदेश (जन्म-१६४६ ई.) - जन्मस्थान-कोलगँवा, सतना (म. प्र.) सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की। सम्प्रति मु.म. टाउन पोस्ट, ग्रेजुएट कालेज, बलिया (उ.प्र.) में कार्यरत। आचार्य ने अर्वाचीन विज्ञान के प्रकाश में प्राचीन दर्शन, शब्द-शास्त्र एवं भाषाशास्त्र के सिद्धान्तों को देखने-परखने का प्रयास किया है। उनका विचार है कि प्राचीन सिद्धान्तों का नवीन विज्ञान के अन्वेषणों से प्राप्त ज्ञान के अनुकूल संशोधन किया जाना चाहिए, तभी संस्कृत में निहित ज्ञान अद्यतन होकर प्रसाङ्गिक और ग्राह्य हो सकेगा। इस दिशा में उन्होंने अपने ग्रन्थों के माध्यम से विशेष प्रयास किया है -१-अधिविज्ञानं दर्शनशास्त्रम्-इस ग्रन्थ में उन्होंने भारतीय दर्शनों विशेषतः न्यायदर्शन के अनुसार पञ्च ज्ञानेन्द्रियों से उपलब्ध प्रत्यक्ष ज्ञान एवं पञ्च महाभूतों के स्वरूप को आधुनिक भौतिकशास्त्र तथा रसायनशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित किया है। स्थान-स्थान पर अर्वाचीन वैज्ञानिकों, उनके सिद्धान्तों एवं अद्यतन यन्त्रों की चर्चा आयी है। चित्रों द्वारा विषय को स्पष्ट करके समझाने का प्रयास किया गया है। ग्रन्थ की भाषा सरल और प्राञ्जल है। शैली सरल और स्वाभाविक है। एक प्रकार से यह ग्रन्थ प्रत्यक्ष एवं पञ्चमहाभूत संबंधी दार्शनिक सिद्धान्तों एवं वैज्ञानिको तथ्यों का तुलनात्मक अध्ययन है। पृ. सं. १४४ प्रकाशक-वेद वाणी वितानम्, प्राच्य विद्या शोध संस्थानम्, कोलगवाँ, सतना (म. प्र.) प्रकाशन-वर्ष १६६४ ई.। २- राजन्तां दर्शनांशवः

वेदवाणीवितानम्, प्राच्यविद्या शोध संस्थान, सतना (म. प्र.) से १९९२ ई. में प्रकाशित। व्याकरण, न्याय, बौद्धादि दर्शनों के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों को आधुनिक विज्ञान के सन्दर्भ में देखने-परखने और आलोचित करने का प्रयास किया गया है।

परमार्थ दर्शन

रामावतार शर्मा, बिहार (१८७७-१९२९) -"वाङ्मयार्णवकोश" तथा अनेक साहित्यिक शास्त्रीय निबन्धों के लेखक। परमार्थदर्शनम्- महामण्डल शास्त्र प्रकाशक समिति, काशी द्वारा सन् १९१३ ई. में प्रकाशित। इस ग्रन्थ में शर्मा जी ने अपने मौलिक, क्रान्तिकारी दार्शनिक विचारों को उपन्यस्त किया है, जिसे षड्दर्शनों से भिन्न सप्तम दर्शन की संज्ञा दी जा सकती है। यह ग्रन्थ प्राचीन ग्रन्थों की भाँति सूत्रशैली में लिखा गया है जिसपर शर्मा जी ने "वार्तिक" और अधिकरण भी स्वयं लिखे हैं। यही नहीं, उन्होंने अपने दार्शनिक सिद्धान्त को सरल करके समझाने के लिए इस पर विस्तृत भाष्य की भी रचना की है। शर्मा जी का दर्शन वह दर्शन है, जिसमें तर्क की कसौटी पर खरे उतरने वाले आचार-विचारों एवं धर्मसम्बन्धी मान्यताओं को ही ग्रहण किया गया है। जिससे कभी-कभी इनके नास्तिक होने का भ्रम होता है परन्तु यह यथार्थ नहीं है, क्योंकि इन्होंने ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने वाले चार्वाकों की तीव्र निन्दा की है। इस ग्रन्थ में ४४६ सूत्र तथा ८२६ पद्यबद्ध वार्तिक हैं। यह ग्रन्थ म. म. शर्माजी द्वारा लिखित स्वोपज्ञ भाष्य के साथ प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली द्वारा १९९४ में भी प्रकाशित हुआ है।

अन्य दर्शन

हरिहरनाथ त्रिपाठी (१९-२० वीं शती) - भारतीयविचारदर्शनम् - भारतीय विचारों और आचारों का ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन २ भागों में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित।

हाराणचन्द्र भट्टाचार्य, बंगाल (१८८९-१९४४) - इन्होंने काशी आकर पं. शिवकुमार शास्त्री से व्याकरण शास्त्र का अध्ययन किया था। ये पं. जयदेव मिश्र के सतीर्थ्य थे। इन्होंने गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, वाराणसी तथा कलकत्ता में अध्यापन कार्य किया। कालसिद्धान्तदर्शिनी- कलकत्ता से १९४१ ई. में प्रकाशित। इस ग्रन्थ में अथर्वसंहिता, आगममत, उपनिषत्, ऋक्संहिता, कामशास्त्र, कालकारणिक मत, गौड़ीय वैष्णव मत, चरकसंहिता, जैन ज्योतिःशास्त्र जल्हण, द्वैतशाक्त, नकुलीश, पाशुपत, निम्बार्क, निरीश्वर साख्य, नैयायिक, पाञ्चरात्र, पाशुपत, पौराणिक प्रत्यभिज्ञादर्शन, प्रपञ्चसार, वाक्यपदीय, प्राभाकर मीमांसक, बौद्ध, भागवत, भाट्ट मीमांसक, मनुस्मृति, महाभारत, विष्णुपुराण, वीरशैव, रामानुजीय दर्शन, लोकायत, वेदाङ्ग ज्योतिष, वेदान्त, वैशेषिक, वैष्णवागम, शाक्त, शैव, शैवविशिष्टाद्वैत, सूतसंहितादि मतों के अनुसार काल-तत्त्व का निरूपण तथा उसका विवेचन है। प्राचीनकाल में "कालवाद" नाम का एक मत प्रचलित था। यह उसी

परम्परा को पुनर्जीवित करने का एक प्रयास है। इस ग्रन्थ में अनन्ताचार्यकृत वेदान्तवादावली और श्रीधरकृत यतीन्द्रमतदीपिका आदि अर्वाचीन मतों के भी उल्लेख हैं। ग्रन्थ की भूमिका म. म. गोपीनाथ कविराज ने लिखी है।

मोहनलाल वेदान्ताचार्य (उदासीन साधु) पंजाब (१६-२० वीं शती) - ये रामशास्त्री भागवताचार्य (समस्यासमज्या तथा अन्योक्तिमुक्तावली नामक काव्यों के प्रणेता) के सतीर्थ्य थे। इनका जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पंजाब के गुरदासपुर जिले में हुआ था। ये गुरु नानक की तेरहवीं पीढ़ी के वंशज थे। इन्होंने काशी में दर्शनशास्त्र के तत्कालीन मूर्धन्य पण्डित राममिश्र शास्त्री से वेदान्त के प्रौढ ग्रन्थों का अध्ययन किया था। महामोहविद्रावणम्- १८८३ ई. में काशी से प्रकाशित। यह लेखक का मौलिक प्रौढ़ ग्रन्थ है, जिसमें वैदिक धर्म तथा दर्शन पर किये गये आक्षेपों का युक्तिपूर्वक खण्डन किया गया है। इसके प्रथम 'प्रबोध' में स्वामी दयानन्द सरस्वती के इस मत कि "ब्राह्मणग्रन्थ श्रुति के अन्तर्गत नही हैं, क्योंकि वे संहिताओं के समान अपौरुषेय नहीं वरन् पौरुषेय है" का प्रमाणपुरस्सर खण्डन किया गया है तथा व्याकरण के त्रिमुनियों एवं षड्दर्शनों के प्रवर्तकों कपिल, कणाद, गौतमादि के ग्रन्थों से इस मत के खण्डन हेतु प्रमाणरूप में उद्धरण दिये गये हैं। इस ग्रन्थ से लेखक के वेद तथा दर्शनविषयक पाण्डित्य का पूर्ण परिचय मिलता है। इन्होंने श्रीहर्ष के अद्वैत वेदान्तविषयक ग्रन्थ "खण्डनखण्डखाद्य" पर "खण्डनगर्तप्रदेशिनी" नामक टीका भी लिखी है, जो कि मूल ग्रन्थ पर आलोचनात्मक टीका है।

गोपाल शास्त्री, बिहार (१८६२) -गीताकर्मयोगशास्त्रम्-इस ग्रन्थ में "गीता का तात्पर्य कर्मयोग के प्रतिपादन में है" इसका विस्तृत गंभीर विवेचन बड़े युक्तिपूर्ण ढंग से किया गया है। यह दार्शनिक पाण्डित्य से परिपूर्ण ग्रन्थ है।

केदारनाथ त्रिपाठी- इन्होंने श्री सूर्यनारायण शुक्ल से न्यायवैशेषिक और श्री हरिहर कृपालु द्विवेदी से वेदान्तशास्त्र का अध्ययन किया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन-विभागाध्यक्ष के पद से सेवानिवृत्त हुए। जन्मान्तरवादः- वाराणसी से १६८५ ई. में प्रकाशित। इसमें पुनर्जन्म के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय दर्शनों, आधुनिक संतों और मनीषियों और मुस्लिम धर्मग्रन्थ एवं पाश्चात्त्य दार्शनिकों के विचार प्रस्तुत किये गये हैं। पुनः अन्त में मनोविज्ञान और प्रत्यक्ष घटनाओं के सन्दर्भ में उनका परिशीलन कर पुनर्जन्म की संभाव्यता और उपयोगिता पर विचार किया गया है।

सर्वदर्शन

श्रीपादशास्त्री हसूरकर महाराष्ट्र (१६-२० वीं शती)-द्वादशदर्शनसोपानावलिः-१६३८ ई. में इन्दौर सहकारी मुद्रणालय से मुद्रित। "सर्वदर्शनसंग्रह" के पश्चात् सभी भारतीय दर्शनों का परिचय देने वाला यह अत्यन्त उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसकी विषय-प्रतिपादन-शैली नवीन, सारपरक व अतीव सुबोध है। इसमें ६ वैदिक दर्शनों के अतिरिक्त ६ अवैदिक

दर्शनों - चार्वाक, जैन, वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार तथा माध्यमिक का भी विवेचन किया गया है।

शिवजी उपाध्याय, उ. प्र. (जन्म- १६४७ ई. के लगभग) - सम्प्रति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी में साहित्य विभाग के अन्तर्गत प्राध्यापक पद पर कार्यरत। "व्यक्तिविमर्शः" नामक मौलिक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ के प्रणेता। इन्होंने "सर्वदर्शनविमर्शः" (१६६०) नामक दर्शन विषयक ग्रन्थ की भी रचना की। वाराणसी से प्रकाशित । यह माधवाचार्य के "सर्वदर्शनसंग्रहः" के आधार पर विरचित है। इस ग्रन्थ की विशेषता है- सभी दर्शनों में लक्ष्यैकप्रतिपादकत्व का अनुसन्धान, जो दर्शनों के इतिहास में एक नयी समन्वयवादी प्रवृत्ति का प्रतिफलन करती है।

अवैदिकदर्शनसंग्रहः- श्रीरङ्गम् (तमिलनाडु) के **श्री गङ्गाधर वाजपेय याजी** ने १६११ ई. में इस लघुकाय दार्शनिक ग्रन्थ का प्रकाशन किया। इसमें बौद्ध तथा जैन दर्शन के सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। दर्शनोदयः- मैसूर (कर्नाटक) राजा के धर्माधिकारी म. म. पण्डितरत्न **श्री लक्ष्मीपुरम् श्रीनिवासाचार्य** ने "दर्शनोदय" नामक इस ऐतिहासिक ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १६३३ ई. में किया। श्रीनिवासाचार्य एक प्रतिभासम्पन्न प्रतिष्ठित विद्वान् थे और इनका सभी शास्त्रों पर असाधारण एकाधिकार था। डॉ. सर्वपल्लि राधाकृष्णन् ने "दर्शनोदय" की पुरोवाक् में इस ग्रन्थ के महत्त्व का वर्णन किया है। इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में शून्यतादर्शन, सत्यतादर्शन, मिथ्यात्वदर्शन, सेश्वरमीमांसा, विशिष्टाद्वैतदर्शन तथा शैवदर्शन का वर्णन किया गया है। दूसरे भाग में श्रीभाष्यभूषण नाम से विशिष्टाद्वैतदर्शन तथा शैवदर्शन का वर्णन किया गया है। यह भाग अपेक्षाकृत लघु है। तृतीय तथा अन्तिम भाग में शैव, पाञ्चरात्र तथा वैखानसागम के विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

श्रीरामकृष्णगीता- यह **त्र्यम्बक आत्माराम भण्डारकर** की रचना है। इसका प्रकाशन सन् १६७३ ई. में श्री सत्करी मुखोपाध्याय के सम्पादकत्व में वाराणसी से हुआ था। यह दर्शनिक ग्रन्थ काव्यात्मक शैली में अठारह अध्यायों में लिखा गया है। इसमें वैराग्य तथा विश्वप्रेम आदि उच्च भावनाओं का बड़ा उत्तम प्रतिपादन है।

अरविन्द का पूर्णाद्वैत दर्शन

श्री अरविन्द (१५ अगस्त १८७२-५ दिसम्बर १६५०) द्वारा प्रवर्तित "पूर्णाद्वैत" वेदान्त अर्वाचीन युग की, दर्शन के क्षेत्र में मौलिक उपलब्धि कही जा सकती है। अरविन्द का दर्शन उपनिषदों पर आधारित और उसका परिपोषक है। इन्होंने वेद और दर्शनविषयक लगभग २१ ग्रन्थ लिखे, जो अंग्रेजी में हैं। इनका दर्शन आज विश्व में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका है। पाण्डिचेरी में स्थापित "अरविन्द आश्रम" इस विचारधारा के प्रचार-प्रसार से सम्बन्धित विभिन्न गतिविधियों का केन्द्र है।

अरविन्द-दर्शन का मूल प्रतिपाद्य इस प्रकार है- सृष्टि का परमतत्त्व एक है जो

सच्चिदानन्दस्वरूप "ईश्वर" है। वह सर्वातिशायी, सर्वव्यापी है। उसकी शक्ति 'चितूशक्ति' है जो एक तरफ तो सर्वातिशायिनी और ब्रह्म से अभिन्न है, जब उसका स्वरूप अनभिव्यक्त रहता है, और दूसरी तरफ सर्वकारयित्री है, तब यह सृष्टिव्यापारोन्मुखी होकर "प्रकृति" कहलाती है। इस प्रकार प्रकृति चितूशक्ति का क्रियात्मक स्वरूप है। प्रकृति पुनः अवस्थाभेद से दो प्रकार की है- परा और अपरा। "सच्चिदानन्द" की प्रथम सिसृक्षा ही परा प्रकृति है जो क्रियाशील होकर "अतिमानस" तत्त्व को अभिव्यक्त करती है। अतिमानस विशुद्ध ज्ञानात्मक है। अपरा प्रकृति अज्ञानमिश्रित है। वह मन, जीवन, प्राणीरूप शेष संसार को जन्म देती है। जैसे परा प्रकृति की मध्यस्थता से सच्चिदानन्द तत्त्व इस व्यष्टि-समष्ट्यात्मक जगत् के रूप में परिणत होता है, वैसे ही उसी के द्वारा यह अज्ञानमय जगत् से उठकर अपने ज्ञानमय स्वरूप को प्राप्त करता है। जगत् अवरोह-आरोह प्रक्रिया के अनुसार गतिमान् है। चैतन्य से अवरोह-प्रक्रिया के अनुसार जगत् की अभिव्यक्ति हुई है, जिसकी पराकाष्ठा उस छोर पर है जहाँ सृष्टि बिलकुल निरानन्द, अचिन्मयी और असद्रूप प्रतीत होती है। इस अवरोह से फिर आरोह आरम्भ होता है और आत्मलीन (प्रसुप्त) सच्चिदानन्द तत्त्व उन्मुख होता है। इसके उन्मुख होने में "अतिमानस" नेतृरूप से कार्य करता है और चितूशक्तिवाहक रूप से अन्तर्हित, अतिमानस स्वरूपोपलब्धि के लिए सुषुप्तप्राय सच्चिदानन्द तत्त्व को उद्बोधित करता है और चित्शक्ति उसे भावी विकास के मार्ग पर ले चलती है।

अरविन्द सृष्टिक्रम में कर्मवाद के विपरीत "चैतन्यविकासवाद" को स्वीकार करते हैं। व्यष्टि पुनर्जन्मद्वारा चैतन्यविकास की ओर उन्मुख है। इसी प्रकार समष्टि भी विकासोन्मुखी है। करोड़ों वर्ष पूर्व पृथ्वी जीवजन्तुओं से रहित थी, फिर उसमें वनस्पतियाँ, पशु-पक्षी आदि आविर्भूत हुए और अन्त में मानव अस्तित्व में आया। यह विकासक्रम जैसे भौतिक स्तर पर हैं वैसे चैतन्य स्तर पर भी है।

अरविन्द "मायावाद" के सिद्धान्त के विरोधी हैं। वे उसे सांसारिक जीवन के प्रति निराशा से उद्गत मानते हैं। योगज ज्ञान की स्थिति में आध्यात्मिक चैतन्य में अनुप्रविष्ट प्राणी को संसार "असत्" लग सकता है, क्योंकि वह सान्द्र चैतन्यानुभूति की स्थिति है, पर इससे यह वस्तुतः असत्य नहीं हो जाता। समस्त ज्ञानेन्द्रियों से जिसका प्रतिक्षण अनुभव हो रहा है, वह जगत् असत्य कैसे हो सकता है ? पूर्णज्ञान के द्वारा व्यष्टि और समष्टि दोनों के लिए इस पृथ्वी पर ही "दिव्यजीवन" की प्राप्ति संभव है, जिसका साधन पूर्णयोग है।

सत्यप्रकाश सिंह - (२० वीं शती) - अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, उ. प्र. में संस्कृत विभाग में प्राध्यापक। श्री अरविन्ददर्शनम्- अलीगढ़ से १९७५ ई. में प्रकाशित। इस ग्रन्थ में १४ अध्यायों के अन्तर्गत श्री अरविन्द के पूर्णाद्वैत वेदान्त दर्शन का प्रतिपादन किया गया

है। अध्यायों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं- सच्चिदानन्दः, चित्शक्तिः, अतिमानसम्, अवरोहप्रक्रिया, आरोहप्रक्रिया, अतिमानसज्ञानी, दिव्यजीवनम्, दुःखपापादिकारणनिरूपणम्, कर्मवादप्रतियोगिचैतन्यविकासवादः, मायावादनिरासः, अज्ञानम्, पूर्णज्ञानम्, पूर्णयोगः, तथा वेदान्तपरम्परायां श्रीअरविन्दस्य योगदानम्। इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर अन्य दर्शनों के साथ पूर्णाद्वैत दर्शन का तुलनात्मक विवेचन भी किया गया है।

आधुनिक तान्त्रिक सन्दर्भ में श्रीतन्त्रालोक

वाराणसी ही नहीं विश्व की प्रमुख शिक्षा संस्था सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रकाशन विभाग द्वारा समस्त तन्त्रशास्त्रीय ग्रन्थों का विशेषकर काश्मीर शैव दर्शन के उपजीव्य ग्रन्थ 'श्रीतन्त्रालोक' का हिन्दी भाष्य सहित प्रकाशन सम्पन्न हो रहा है। इसके हिन्दी भाष्यकार काश्मीर शैवागमों के साधक विद्वान् परमहंस मिश्र हैं। अपनी कृति का नामकरण इन्होंने नीर-क्षीर विवेकभाष्य किया है। इस प्रकाशन के पूर्व 'तन्त्रालोक' का संस्करण मूल एवं जयरथ कृत 'तन्त्रालोकविवेक' टीका सहित काश्मीर संस्कृत टैक्ट्स सिरीज श्रीनगर से बारह भागों में (सन् १९१८-१९३८ ई.) प्रकाशित हुआ था, जिसके प्रथम भाग तक के सम्पादक श्री एम.आर शास्त्री तथा द्वितीय भाग से अन्तिम बारहवें भाग तक के सम्पादक श्री एम. एस. कौल थे। तदनन्तर वाराणसी से आचार्य श्री कृष्णानन्द सागर ने श्रीशिवोऽहं सागर-ग्रन्थमाला के अन्तर्गत तीन जिल्दों में इस ग्रन्थ का संस्करण प्रकाशित कराया। पुनश्च इस ग्रन्थ का एक अन्य संस्करण देश की प्रसिद्ध प्रकाशन संस्था मोतीलाल बनारसी दास द्वारा स्व. रामचन्द्र द्विवेदी तथा नवजीवन रस्तोगी के संयुक्त सम्पादकत्व में आठ जिल्दों में प्रकाशित हुआ। इस संस्करण में दो से सात एवं आठवें जिल्द में कश्मीर ग्रन्थ माला के बारह भागों में प्रकाशित श्रीनगर संस्करण की फोटो स्टेट छापी गयी है। इस संस्करण की प्रमुख विशेषता इसके पहले भाग में श्री नवजीवन रस्तोगी की विस्तृत एवं भावी गवेषकों के लिए उपयोगी भूमिका है, जो पूरी तरह से मन्थन कर अत्यधिक श्रम करके तैयार की गयी है। इसके अतिरिक्त उसमें कुछ परिशिष्ट भी दिये गये हैं। अन्तिम आठवें भाग में जयरथकृत विवेक में उद्धृत प्रमाण वाक्यानुक्रमणी तथा तन्त्रालोक की श्लोकानुक्रमणी भी दी गयी है।

अब यह ग्रन्थ हिन्दी भाष्य के साथ पाठकों के समक्ष आ रहा है। अब तक इस संस्करण के पांच खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। प्राप्त सूचना के अनुसार कुल आठ अथवा नव खण्डों में इसके पूर्ण होने की संभावना है। अन्तिम खण्ड में अभिनवगुप्त के लघुस्तोत्रों के हिन्दी भाष्य को भी प्रकाशित करने की सूचना भाष्यकार से प्राप्त हुई है।

श्री परमहंस मिश्र संस्कृत के विद्वान और कवि हैं। साथ ही वह शैव दर्शन की काश्मीर शाखा के साधक भी हैं। नारीशक्ति के उज्ज्वल चारित्रिक पक्ष पर आधारित 'सात एकांकी' श्रीतन्त्रालोक का सारभूत ग्रन्थ 'तन्त्रसार' का हिन्दी-भाष्य प्रकाशित हो चुके हैं।

सम्पादन के क्रम में इन्होंने 'अवधूतोल्लास' का सम्पादन एवं पद्यानुवाद मन्त्रयोगसंहिता का एवं श्री भारत धर्ममहामण्डल, वाराणसी के सूर्योदयपत्रिका का सम्पादन सन् १९७५ से १९८० तक सम्पन्न किया है।

श्री तन्त्रालोक अशेषआगमोपनिषद् के रूप में प्रसिद्ध आकर ग्रन्थ है और काश्मीर शैव दर्शन का एक विशाल पद्धति ग्रन्थ है। इसके लेखक भारतीय वाङ्मय के सुप्रसिद्ध चिन्तक, महान तन्त्रविद् महामाहेश्वर अभिनव गुप्त हैं। इनका काल दसवी-ग्यारहवीं शती बताया जाता है। इस ग्रन्थ में दसवीं शती से पूर्व के समस्त तान्त्रिक सम्प्रदाय, सम्पूर्ण आगम तथा अन्य भारतीय वाङ्मय का निष्कर्ष काश्मीर दर्शन की क्रमशाला के रूप में निरूपित है।

धर्मशास्त्र

१९ वीं शती में भारतीय सामाजिक पटल पर राजा राममोहन राय एवं महर्षि दयानन्द सरस्वती के अवतरण ने धर्मशास्त्र की प्रवृत्ति को पर्याप्तरूपेण प्रभावित किया। राजा राममोहन राय ने बंगाल में विधवा स्त्रियों का दुःखमय दुर्वह जीवन देखा, जहाँ ६-१० वर्ष की अवस्था में बिना पति का मुँह देखे वैधव्य को प्राप्त स्त्री आजीवन एकादशी व्रत करने, उत्तम भोजन वस्त्र से विरत रहने और तपोमय जीवन गुजारने पर विवश थी, उधर राजस्थान आदि कुछ प्रदेशों में उन्हें उनकी इच्छा के विरुद्ध पति के साथ जबर्दस्ती जला दिया जाता था। इन कारणों से उन्होंने सतीप्रथा का तीव्र विरोध किया और विधवाओं के पुनर्विवाह का समर्थन किया। स्पष्ट था कि परम्परावादी समाज पर इसकी तीव्र प्रतिक्रिया होनी थी। विद्वानों में इसके पक्ष-विपक्ष पर दो दल बन गये और वर्षों यह विवाद प्रबल बनकर छाया रहा। विधवाविवाह पर समस्त शङ्काओं का निर्मूलन करने के लिए राजाराम शास्त्री कार्लेकर ने "विधवोद्वाहशङ्कासमाधिः" नामक शास्त्रीयप्रमाणपरिपुष्ट ग्रन्थ लिखा, जिसका खण्डन अज्ञातनामा किसी दक्षिणी विद्वान् की ओर से 'विधवोद्वाहविवेकः लिखकर किया गया। पुनः बालशास्त्री रानाडे ने 'दोषाभासनिरासः' लिखकर इसका खण्डन किया तथा विधवा-विवाह को निर्दोष और शास्त्र-सम्मत बताया।

इस काल में दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित मतों पर भी क्रिया, प्रतिक्रिया हुई। उनके वेदों एवं कर्मकाण्डों, संस्कारों आदि के सम्बन्ध में युक्तिपरक विवेचनात्मक दृष्टिकोण से प्रभावित होकर जहाँ संस्कारों के स्वरूप और उनकी पद्धतियों का विवेचन करने वाले और उनके मनोवैज्ञानिक प्रभाव का अनुसन्धान करने वाले ग्रन्थ लिखे गये, वहाँ आर्यसमाज की सनातन हिन्दू धर्म के स्वरूप पर तीव्र कुठाराघात करने वाली प्रवृत्ति एवं बौद्धिक सूक्ष्मता से विक्षुब्ध होकर 'सनातनधर्मोद्धारः' जैसे मूर्धन्य ग्रन्थों का प्रणयन हुआ, जिनमें पारम्परिक हिन्दू धर्म के सदाशय, भावप्रवण, लोकोपकारी और सहिष्णु स्वरूप को प्रस्तुत किया गया। परन्तु इस प्रहार से एक शाश्वत लाभ यह हुआ कि हिन्दू धर्मशास्त्र ने अपने कट्टर कर्मकाण्डों से बोझिल, रूढ़िवादी स्वरूप पर पुनर्विचार किया तथा अपने अवांछित

तत्त्वों से शीघ्र मुक्त होकर शाश्वत मूल्यों से समन्वित धर्म के विमल स्वरूप के अनुशीलन में दत्तचित्त हो गया।

धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ

राजाराम शास्त्री कार्लेकर (१८७५ ई. में स्वर्गवास) - ये मूलतः दाक्षिणात्य किन्तु काशीवासी चितपावनजातीय वैदिक विद्वान् गोविन्द शर्मा के पुत्र थे। इन्होंने उस युग के महनीय विद्वान् पं. दामोदर शास्त्री से न्यायशास्त्र का तथा पं. काशीनाथ शास्त्री अष्टपुत्रे से व्याकरण के प्रौढ़ ग्रन्थों का तलस्पर्शी अध्ययन किया था। राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, काशी में ये बहुत दिनों तक धर्मशास्त्र विभाग के प्रधानाचार्य रहे। विधवोद्वाहशङ्कासमाधिः- राजाराम शास्त्री जी की केवल यही एक रचना प्रकाशित है। रचनाकाल-१८५५ ई.। यह एक लघुकाय धर्मशास्त्रीय निबन्ध है, परन्तु यह रचना इतनी प्रौढ़, प्रामाणिक एवं विद्वत्समादृत है कि एकमात्र इस रचना के आधार पर ही शास्त्री जी का यश अक्षुण्ण है। विधवा विवाह को राजाराम मोहन राय द्वारा मान्यता दिये जाने और उसका प्रचार किये जाने के फलस्वरूप बंगाल और काशी के पण्डितों के एक वर्ग में उसके प्रति बड़ा आक्रोश था। इसी परिस्थिति में विधवा विवाह को शास्त्रीय मान्यता प्राप्त है, यह दर्शाने तथा उसकी शास्त्रीय व्यवस्था देने हेतु शास्त्री जी ने धर्मशास्त्र तथा मीमांसा ग्रन्थों का गाढ़ अनुशीलन कर इस ग्रन्थ की प्रमाणपुरस्सर रचना की है। शंका के सारे संभावित पक्षों को उठाकर पक्ष-विपक्ष के रूप में प्रबल युक्तियों द्वारा उनका समाधान प्रस्तुत किया है। पण्डित जी के शिष्य बालशास्त्री द्वारा रचित 'तिलक' व्याख्या के साथ यह ग्रन्थ काशी के मेडिकल हाल प्रेस से सन् १६६६ ई. में मुद्रित है।

बालशास्त्री रानाडे, महाराष्ट्र (१८३६-१८८२) - बालशास्त्री रानाडे मूलतः महाराष्ट्रीय थे किन्तु इनके पिता गोविन्द भट्ट इनके जन्म से बहुत पूर्व ही अपने मूल निवास स्थान कोंकण प्रदेश से काशी आकर बस गये थे। बालशास्त्री ने ग्वालियर के पं. बाबा शास्त्री बापट से सिद्धान्तकौमुदी का, ग्वालियर महाराजा के न्यायाधीश षट्शास्त्रपारङ्गत विद्वान् श्री कुप्पा शास्त्री एवं काशी के श्री राजारामशास्त्री से पूर्व मीमांसा एवं धर्मशास्त्र का, पुणे के विद्वान् (उस समय ग्वालियर पधारे) श्री मोर शास्त्री से न्यायशास्त्र का तथा तत्कालीन अपरपाणिनि के रूप में प्रसिद्ध काशीनाथ शास्त्री अष्टपुत्रे से व्याकरण का गम्भीर अध्ययन किया। यागेश्वर शास्त्री ओझा इनके सतीर्थ्य थे। अपने उत्कृष्ट पाण्डित्य के कारण बालशास्त्री को विद्वानों के बीच "बालसरस्वती' की उपाधि मिली हुई थी। दोषाभासनिरासः-यह बालशास्त्री द्वारा प्रणीत धर्मशास्त्र विषयक ग्रन्थ है। यह वास्तव में इनके गुरु राजाराम शास्त्री द्वारा प्रणीत ग्रन्थ "विधवोद्वाहशङ्कासमाधिः" की "तिलक" नाम्नी व्याख्या है, जिसका प्रणयन पं. बालशास्त्री ने अज्ञातनामा किसी दाक्षिणात्य विद्वान् द्वारा "विधवोद्वाहशङ्कासमाधिः" के खण्डन रूप में लिखे गये ग्रन्थ "विधवोद्वाहविवेकः" का निरास करने के लिए किया। यह वैदुष्यपूर्ण व्याख्या पं. राजाराम शास्त्री के मूल ग्रन्थ के

साथ काशी के मेडिकल हाल प्रेस से १६६६ ई. में प्रकाशित है। बालशास्त्री ने व्याकरण में महाभाष्य-टिप्पणी एवं परिभाषेन्दुशेखर पर "सारासारविवेकः" नाम्नी टीका तथा वेदविषयक "बहृत् ज्योतिष्टोमपद्धतिः" नामक पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों का भी प्रणयन किया।

हरिनाथ द्विवेदी (स्वामी मनीष्यानन्द)-ये बालशास्त्री रानाडे के शिष्य तथा शिवकुमार शास्त्री (लिङ्गधारणचन्द्रिका-व्याख्या के रचयिता) के समकालीन और उनके प्रतिपक्षी थे। संन्यास लेने के उपरान्त ये स्वामी मनीष्यानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए। अशौचनिर्णय-त्रिंशत्श्लोकी-१६१४ ई. में काशी के सिद्धविनायक प्रेस से मुद्रित। यह मिताक्षरा और निर्णयसिन्धु आदि ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया एक विस्तृत भाष्य है, जो अत्यन्त उपादेय और संग्रहणीय है।

सरयूप्रसाद द्विवेदी, उ. प्र. (१८३५ में जन्म) - सदाचारप्रकाशः- नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से सन् १८८२ ई. में मुद्रित और प्रकाशित। इस ग्रन्थ में वर्णाश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत धर्मशास्त्रसम्मत लोकचर्या का विस्तृत निरूपण है। मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियों को लेकर धर्मशास्त्र के अन्य मूल निबन्धों के आधार पर आचार-विचार और भारतीय जीवन की मान्यताओं का उल्लेख किया गया है।

हरिकृष्ण शास्त्री (१६-२० वीं शती) - माध्यन्दिनीय गौतमगोत्रीय गुर्जर ब्राह्मण श्री वेङ्कटराम शास्त्री के पुत्र। इनका जन्म दक्षिण के औरङ्गाबाद नगर में हुआ था। शास्त्री जी की ज्योतिष में अव्याहत गति थी। इन्होंने "बृहत्ज्योतिषार्णव" नामक ज्योतिष के विस्तृत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। इनका धर्मशास्त्र विषयक ग्रन्थ है- ब्राह्मणोत्पत्तिमार्तण्डः- वेङ्कटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई से सन् १६५४ ई. में प्रकाशित। ग्रन्थकार ने श्रीमालपुराण (कल्याणखण्ड) ब्रह्माण्डपुराण (धर्मारण्यमाहात्म्य), मेवाड़पुराण (एकलिङ्गक्षेत्रमाहात्म्य), कण्डोलपुराण, कण्वाश्रममहात्म्य हिंगोलपुराण (हिंगुलाद्रिखण्ड), नागपुराण, कोटचर्कमहात्म्य, बालखिल्य खण्ड, सह्याद्रिखण्ड, प्रभासखण्ड, वापीखण्ड, वायुपुराण, कायस्थप्रकाश आदि ग्रन्थों की पर्यालोचना करके बड़े परिश्रमपूर्वक इस ग्रन्थ की रचना की है। ग्रन्थ में कुल १६ अध्याय ४६४१ श्लोक तथा ६१६ पृष्ठ हैं। यह वास्तव में ग्रन्थकार द्वारा रचित "बृहज्ज्योतिषार्णव" नामक ग्रन्थ का ही षष्ठ मिश्र स्कन्ध है, जिसे विषय के महत्त्व की दृष्टि से पृथक् ग्रन्थ का स्वरूप दे दिया गया है।

रमागोविन्द त्रिपाठी (२० वीं शती) - जन्मस्थान-सतना (मध्यप्रदेश) मायानन्द गिरि संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी में पुराणेतिहासविभाग के अध्यक्ष रहे। संस्कारतत्त्वसमीक्षा- विश्ववाणी प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी से १६८१ ई. में प्रकाशित। पं. रघुनाथ शर्मा ने इस पर भूमिका लिखी है। इस ग्रन्थ में प्रमुख १६ संस्कारों के काल, विधि आदि के विषय में प्राच्य धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर प्रामाणिक विवेचन किया गया है।

राममिश्र शास्त्री, राजस्थान (१८५१-१६११) - मूलतः राजस्थानी होते हुए भी इनकी कर्मभूमि काशी रही। ये विशिष्टाद्वैत और धर्मशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् तथा बाबू भगवानदास, हरिहरकृपालु द्विवेदी सदृश शिष्यों के गुरु थे। ये विशिष्टाद्वैत मतानुयायी थे। १- शुद्धिसर्वस्वम्-

अमर प्रेस, काशी से सन् १८८४ ई. में मुद्रित। यह "आशौच व्यवस्था" के विषय में रामिश्र जी का प्रमेयबहुल प्रमाणपरिपुष्ट विद्वत्तापूर्ण धर्मशास्त्रीय निबन्ध है। २- तुरीयमीमांसा -मेडिकल हाल प्रेस, काशी से १६०१ ई. में प्रकाशित। इस ग्रन्थ में तुरीय (चतुर्थ) आश्रम संन्यासाश्रम का विवेचन है। इस सन्दर्भ में शङ्कराचार्य, मध्व आदि के मतों की समीक्षा की गयी है और मोक्ष संन्यासियों को ही होता है अन्य को नहीं, इसका निराकरण कर प्रतिपादन किया गया है कि "ज्ञानी को मोक्ष होता है, संन्यासी को नहीं"। संन्यास में केवल ब्राह्मण का नहीं अपितु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों का अधिकार माना गया है। इस ग्रन्थ में शंकराचार्य के संन्यासविषयक मत का खण्डन किया गया है। ३- व्रात्यसंस्कारमीमांसा काशी से प्रकाशित-इसके अतिरिक्त उन्होंने उद्वाहसमयमीमांसा, मन्त्रमीमांसा एवं दत्तकविजय-वैजयन्ती आदि धर्मशास्त्रविषयक अनेक अन्य उपादेय ग्रन्थों का भी निर्माण किया तथा विशिष्टाद्वैतसम्बन्धी "स्नेहपूर्तिः, "ब्रह्मसूत्रवृत्तिः" नामक ग्रन्थ लिखे।

बाबू भगवानदास-डॉ. बाबू भगवानदास का भारतीय दर्शनों तथा पुराणों का अध्ययन बड़ा गम्भीर था। ये उपर्युल्लिखित राम मिश्र शास्त्री के मेधावी और मनीषी शिष्य तथा "कर्मणा जातिः" सिद्धान्त के प्रचारक थे। मानवधर्मसारः-संस्कृत में पद्यबद्ध इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने प्राचीन भारतीय मूल्यों की परिवर्तित जीवन युग में उपयोगिता का विशेष वर्णन किया है।

उमापति द्विवेदी (नकछेदराम दूबे, उत्तर प्रदेश १८५३-१६११) - उमापति द्विवेदी का जन्म उत्तरप्रदेश के गोरखपुर जिले (ग्राम-सहुआपार) में हुआ था। इनके पिता पं. हरिदत्त द्विवेदी उस युग में व्याकरण, न्याय एवं वेदान्त के मूर्धन्य विद्वान् माने जाते थे। अपने पिता से ही उमापति द्विवेदी ने सकल शास्त्रों का अध्ययन कर तलस्पर्शी वैदुष्य प्राप्त किया। ये भगवान् राम के प्रति यजमान-पुराहित के भाव की भक्ति रखते थे। भगवान् राम को अपना यजमान और अपने को उनके पुरोहित मुनि वशिष्ठ के स्थान पर मानते थे, जिन्होंने महाराज दशरथ का पौरोहित्य कर पुत्रेष्टि यज्ञ कराया था जिससे राम जैसा पुत्र उत्पन्न हुआ। वस्तुतः व्याकरण, नव्यन्याय तथा धर्मशास्त्र तीनों क्षेत्रों में इनका वैदुष्य अप्रतिम था।

सनातनधर्मोद्वारः-रचनाकाल-१६०६-१६१२ ई.। प्रथम खण्ड १६१२ ई. में प्रकाशित, द्वितीय खण्ड-तृतीय एवं चतुर्थ खण्ड १६४२ ई. में हिन्दू विश्वविद्यालय प्रेस से मुद्रित। धर्मशास्त्रपरक ग्रन्थ पं. उमापति द्विवेदी की अक्षय्य कीर्ति का मेरुदण्ड है। ग्रन्थ चार खण्डों में विभक्त है। पूर्वार्ध में दो खण्ड हैं तथा उत्तरार्ध में दो खण्ड। पूर्वार्ध के दोनों खण्डों में धर्म के मूल पर विचार किया गया है तथा उत्तरार्ध में सामान्य धर्म के स्वरूप तथा बातों का विवेचन है। ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में धर्म का स्वरूप तथा लक्षण, धर्म की महिमा, धर्म के प्रमाणस्वरूप वेद के स्वरूप एवं माहात्म्य, विधिवाक्य एवं अर्थवाद की धर्म में उपयोगिता, मन्त्र तथा ब्राह्मणों के स्वरूप का विवेचन किया गया है। द्वितीय खण्ड में वेद के स्वतः प्रामाण्य का विरोध करने वाले विद्वानों के मत की समालोचना है। जर्मनी के वैदिक विद्वान् बेबर तथा मैक्समूलर के वेदविषयक सिद्धान्तों की गम्भीर मीमांसा के अनन्तर द्विवेदी जी

ने स्वामी दयानन्द सरस्वती के 'ब्राह्मणभाग वेद नहीं' है इस मत का खण्डन बड़े विस्तार के साथ किया है। श्रुति प्रामाण्य के अनन्तर स्मृति सदाचार एवं आत्मतुष्टि की प्रमाणता दिखाकर "श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षात् धर्मस्य लक्षणम्" इस श्लोक में प्रोक्त धर्म के चतुर्विध लक्षणों की मीमांसा पूर्ण की गयी है।

ग्रन्थ के उत्तरार्ध में दो खण्ड हैं, जिनमें तृतीय खण्ड में सामान्य धर्म-सत्य धृति, क्षमा, दम, ब्रह्मचर्य, अस्तेय आदि का निरूपण किया गया है। इस सन्दर्भ में "देवपूजन" नामक सामान्य धर्म का लगभग २०० पृष्ठों में विस्तारपूर्वक विवेचन है। संहिता, शतपथब्राह्मण तथा कात्यायन श्रौतसूत्र से प्रचुर प्रमाण देकर द्विवेदी जी ने अपने कथन की पुष्टि की है। स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रतिमा विषयक मत का यहाँ बड़ा ही तर्कपूर्ण खण्डन किया गया है। यजुर्वेद के विश्रुत मंत्र-अंश 'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः' में आये "प्रतिमा" शब्द का "सत्यार्थप्रकाश" में "मूर्ति" मानकर वेद में मूर्तिपूजा का निषेध है, ऐसा प्रतिपादित किया गया है, जबकि द्विवेदी जी ने उसका अर्थ समता (तुल्यता) बतलाया है जो सर्वथा युक्तिसंगत है। इस विषय में स्वामी जी पर द्विवेदी जी की मधुर व्यंग्योक्ति है-

पाणिनीयां नदीं श्रुत्वा श्रुत्वा न प्रतिमेति च।
मरुस्थलीं श्रुतिं चैनां फलैक्यमभिधावतोः।।

अर्थात् पाणिनीय व्याकरण में नदीसंज्ञक शब्दों में आने वाले "मरुस्थली" शब्द को यदि कोई वास्तविक नदी समझकर उसकी ओर दौड पड़े तो उसे जो फल मिलेगा वही श्रुति में प्रयुक्त "न प्रतिमा" मन्त्रांश में पठित "प्रतिमा" शब्द का "मूर्ति" अर्थ लगाने वाले को मिलेगा। अर्थात्, दोनों कें प्रयत्न निष्फल रहेंगे। ग्रन्थ का चतुर्थ खण्ड सामान्य धर्म के निरूपण का उत्तरार्ध है। इसमें विशेष धर्म का निरूपण किया गया है। ब्राह्मणपूजन, श्राद्ध, तीर्थ एवं भगवद्भक्ति इन चारों का इसमें विस्तार से वर्णन और विवेचन है। तीर्थों के निरूपण-प्रसंग में काश्यां मरणान्मुक्तिः इस चिन्तन का मर्म उद्घाटित किया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में लेखक की गद्यशैली बड़ी कसाव-युक्त प्रौढ़ उदात्त तथा विषयानुसारिणी है। युक्तियों या शैली में कहीं शैथिल्य नहीं दृष्टिगोचर होता। इस ग्रन्थ में कुल १५३० पृष्ठ हैं। इसकी भूमिका महामना मदनमोहन मालवीय ने लिखी है।

नित्यानन्द पन्त "पर्वतीय" (१८६७-१६३१)-नित्यानन्द पन्त "पर्वतीय" पं. गंगाराम त्रिपाठी के दौहित्र पुत्र थे, जिन्होंने काशी में नागेश भट्ट कृत शेखरद्वयी के अध्ययन-अध्यापन की परिष्कार शैली का सृजन कर नव्य व्याकरण की नयी परम्परा चलायी। पर्वतीय जी काशी में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम नामदेव पन्त था। इन्होंने अपने पिता से ही अपनी वाजसनेयी शाखा की संहिता का तथा कर्मकाण्ड एवं धर्मशास्त्र का अध्ययन किया था तथा म. म. गङ्गाधर शास्त्री से व्याकरणादि शास्त्रों की शिक्षा पायी थी। ये स्थापना से लेकर १६०६ ई. तक सेन्ट्रल हिन्दू कालेज में प्राध्यापक रहे। इन्होंने मीमांसा

एवं वेद सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों जैमिनि सूत्रवृत्ति, मीमांसापरिभाषा एवं कात्यायनश्रौतसूत्र (कर्कभाष्य सहित) का सम्पादन किया और उनके विषमस्थलों पर टिप्पणी लिखी।

हिन्दू जाति के प्रमुख १६ संस्कारों में दस संस्कारों का विशेष महत्त्व है। इसीलिए "दशकर्मपद्धति" का प्राचीन मनीषियों ने संकलन किया जिनमें संस्कारों की विधि वर्णित है। परन्तु इन पद्धतियों में शास्त्रीय विवेचन का अभाव है। इस कमी की प्रतिपूर्ति हेतु "पर्वतीय" जी ने कर्मकाण्डपरक ग्रन्थ लिखे, जिनमें प्रारम्भिक भाग में शास्त्रीय विवेचन किया गया है तथा उत्तरभाग में विधि बतलायी गयी है। विधान में प्रयुक्त वैदिक मन्त्रों की व्याख्या करते हुए उस प्रसङ्ग में प्रयुक्त ऋचा की उपयोगिता भी बतायी गयी है।

पर्वतीय जी के द्वारा प्रणीत कर्मकाण्डपरक ग्रन्थ निम्नवत् हैं-

१- संस्कारदीपक - १९१७ ई., दो भाग। इसमें पारस्करगृह्यसूत्रानुसार दस संस्कारों का शास्त्रीय विवेचन तथा उनका विधान प्रायोगिक रूप में वर्णित है।

२- परिशिष्ट दीपक- १९२२ ई.। यह "संस्कारदीपक" का ही एक प्रकार से तृतीय भाग अथवा परिशिष्ट है जिसमें दान एवं शान्तिविधान वर्णित है।

३- अन्त्यकर्मदीपक - १९२८ ई.। इसमें अन्त्यकर्म तथा "शौचनिर्णय" निरूपित है।

४- वर्षकृत्यदीपक - १९३१ ई.। इसमें वर्षभर के व्रतों अनुष्ठानों का काल, स्वरूपनिर्णय पूजन एवं उद्यापन की विधि दी गयी है।

सापिण्ड्यदीपक- १९१३ ई.। इसमें विवाह में सापिण्ड्य पर आधारित प्रतिबन्धों का निर्णय करते हुए "वर्ज्य" कन्याओं का विस्तृत विवरण दिया गया है।

पर्वतीय जी ने व्याकरणसम्बन्धी भी दो ग्रन्थ लिखे- लघुशब्देन्दुशेखर की टीका "दीपक" (परिष्कारपरक) तथा परमलघुमञ्जूषा टिप्पणी, जो विद्वानों द्वारा मान्य और समादृत हैं।

अन्य

कामाक्षी, आन्ध्रप्रदेश (१६ वीं शती) - स्मृतिरत्नप्रकाशिका, नीलकण्ठीयविषयमाला, अद्वैतदीपिका। सभी ग्रन्थ कुम्भकोणम् से प्रकाशित।

गोविन्ददेवशर्मा (१८०१-१८७३) व्यवस्थासारसञ्चयः।

पाच्चु मूत्तत (१८१४-१८८३) सुखबोधकः।

शिवशङ्कर - रणवीररत्नाकरः (१८६० ई.)

पाडूर पट्टुतोल विद्वान् नम्बूदरीपाद (१८२४-१८६७) -व्यवहारचन्द्रिका।

जे. आर. वेलण्टाइन - खृष्टधर्मकौमुदी (१८५६ ई.) तथा खृष्टधर्मकौमुदीसमालोचना १८६४

तारानाथ तर्कवाचस्पति - तुलादानपद्धतिः (१८६६ ई.)

हरिनाथ शास्त्री (१८४७-१९२३)

आशौच निर्णयः

मंदिकल राम शास्त्री-आर्यधर्मप्रकाशिका।

चन्द्रकान्त तर्कालंकार - स्मृतिचन्द्रिका (१९०३)।

नानूराम शास्त्री - धर्मप्रमाणविचारः (१९०३ ई.)

अप्पाशास्त्री राशिवडेकर - याजुषहौत्रविचारः (१९१३ ई.)

नीलकण्ठ थाटे, महाराष्ट्र - कायस्थप्रभुधर्मादर्शः (१८२७ ई.)

बापूभट्ट केलकर, महाराष्ट्र-ये रत्नागिरि जिले में "फनसी" नामक स्थान के निवासी थे। १- श्राद्धमञ्जरी-१८१० ई. २- प्रायश्चित्तमञ्जरी-१८१४ ई. एवं ३- कृत्यमञ्जरी-१८१८ ई.।

त्र्यम्बकराम ओका, महाराष्ट्र - आचारभूषणम्-१८१६ ई.।

त्र्यम्बक नारायण माटे, महाराष्ट्र - आचारेन्दुः - १८३८ ई.।

एन. एस. अनन्तकृष्ण शास्त्री, केरल (१६ वीं शती) सनातनधर्मप्रदीपः।

जयदेव मिश्र, बिहार (१८५४-१९२५) १- महाविनायकस्थापनपद्धतिः २- वास्तुपद्धतिः ३- शतचण्डीपद्धतिः ४- कुलदेवतास्थापनपद्धतिः ५- नीलवृषोत्सर्गपद्धतिः ६- तुलादानपद्धतिः। वे सभी कर्मकाण्ड के ग्रन्थ हैं।

पञ्चानन तर्करत्न, कलकत्ता (१८६६-१९३६)-नन्दलाल विद्यारत्न के पुत्र । १- विशुद्धनित्यकर्मव्यवस्था २- प्रायश्चित्तविधिः ३-ग्रहणकृत्यव्यवस्था।

अन्नाशास्त्री वारे, नासिक (१८६६-१९३६)-१-गोत्रप्रवरनिर्णयप्रदीपः २- आषाढोद्वाहनिर्णयः ३- दत्तकनिर्णयामृतम् ४- कुण्डार्क पर टीका ५- सूर्योपस्थानटीका ६-गायत्रीकोटिहोमपद्धति पर टीका।

सभापति उपाध्याय, उत्तर प्रदेश (१८८२-१९६४) - वैदिकधर्मरहस्यम्। इस ग्रन्थ में सनातन धर्म के विरुद्ध किये गये आक्षेपों का निराकरण किया गया है।

कृष्णशास्त्री धुले (नागपुर) - सापिण्ड्यभास्करः १९४१ ई. में रचित।

कृष्णमाधव झा, बिहार (१८८८-१९८६) मलमासविचारः।

हर्षनाथ झा बिहार २० वीं शती, ग्रन्थ - संस्कारदीपकः।

कुशेश्वर (कुमार) शर्मा - १८९०-१९४३ बिहार-इन्होंने धर्मशास्त्र के सार संग्रह रूप "पर्वनिर्णयः" नामक ग्रन्थ को विभिन्न विद्वानों तथा निबन्धकारों से सम्पर्क करके पर्वों, व्रतों तथा धार्मिक उत्सवों की तिथि आदि का निर्णय प्रस्तुत किया है जो वाराणसी के ज्योतिष प्रकाश प्रेस से १९८५ में प्रकाश में आया है। इस ग्रन्थ का एक और महत्त्व इस कारण है कि लेखक ने लगभग अनेक महत्त्वपूर्ण समकालिक मैथिल विद्वानों का उल्लेख करते हुए उनके द्वारा उन-उन पर्वों के सम्बन्ध में निर्णय करवाया है, साथ ही उन निर्णयों

को प्रामाणिक रूप देने के लिए पण्डितों की सभा आमन्त्रित करके विचार-विमर्श करके भी सम्पुष्टि प्राप्त की है।

व्याकरण

व्याकरण की सभी धाराओं में पाणिनीय व्याकरण को लगभग सम्पूर्ण भारत में व्याप्त होने का गौरव प्राप्त हुआ। इसका कारण एक ओर जहां पाणिनीय अष्टाध्यायी का अतिशय नियमबद्ध और वैज्ञानिक होना था, वहां अपने इस बौद्धिक आकर्षण के कारण इसने जिस मनीषी-वर्ग को अपनी ओर अध्ययन-मनन हेतु आकृष्ट किया, उनके बुद्धिप्रकर्ष जन्य परिष्कारों का भी इसमें अत्यधिक योगदान रहा। इनकी उद्भावनाओं से समन्वित होकर पाणिनीय व्याकरण-परम्परा असंख्य नद-नदियों के प्रवाहों से परिपुष्ट भागीरथी की भाँति इतने सुदूर काल तक आकर भी आज सतत प्रवाहित है। प्रवाहित ही नहीं, आज भी इसमें बहुविध चिन्तन निरन्तर चल रहे हैं, नित्य नयी गवेषणाएँ प्रकाशित हो रही हैं। और जबसे कम्प्यूटर का क्रान्ति-युग आरम्भ हुआ है आधुनिक भाषाविज्ञान कम्प्यूटर पर जाने के लिए बारम्बार इस व्याकरण की ओर आग्रहपूर्ण दृष्टि से देख रहा है।

पाणिनीय व्याकरण सम्प्रदाय में कैयट, भट्टोजिदीक्षित और नागेश भट्ट जैसे प्रतिभाशाली विद्वान् हुए, जिन्होंने व्याकरण शास्त्र में पदार्थ-विचार की विशिष्ट धारा प्रवाहित की और अब यह शास्त्र पदविद्या मात्र न होकर पदार्थ-विद्या बन गया। इसमें अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना, धात्वर्थ, कारकार्थ आदि पर विचार होने लगा। उधर मीमांसा, न्यायशास्त्र आदि में भी शाब्दबोध पर व्यापक विचार किया गया है। व्याकरणशास्त्र का इन मतों से वाद-विवाद स्वाभाविक था। इसके परिणामस्वरूप व्याकरणशास्त्र के अन्तर्गत पदार्थ विवेचन में अधिक परिष्कार और दार्शनिकता का समावेश हुआ। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में शब्दविमर्श की जिस दार्शनिक परम्परा का बीजवपन किया था वह शताब्दियों तक लगभग प्रसुप्त रहने के बाद मानों फिर पल्लवित पुष्पित होने लगा।

व्याकरण शास्त्र के इतिहास में जैसे चौदहवीं शती में रामचन्द्राचार्य और तदनन्तर भट्टोजिदीक्षित (१५६०-१६१०) के आविर्भाव ने जैसे सिद्धान्तकौमुदी का प्रणयन द्वारा इस शास्त्र के विकास को एक नया मोड़ दिया और आगे लगभग सम्पूर्ण भारत में प्रक्रिया-पद्धति से संस्कृत व्याकरण का अध्ययन-अध्यापन होने लगा, उसी प्रकार अठारहवीं शती में नागेश भट्ट के अवतरण से फिर एक बार व्याकरण की दिशा बदली और अर्वाचीन काल "शेखरयुग" रूप में उभरा, अर्थात् नागेशभट्ट के "शब्देन्दुशेखर" एवं "परिभाषेन्दुशेखर" से प्रभावित रहा। नागेश ने 'सिद्धान्तमञ्जूषा', 'शब्देन्दुशेखर' और 'परिभाषेन्दुशेखर' इन तीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया। सिद्धान्तमञ्जूषा में व्याकरण के दार्शनिक तत्त्वों का न्यायवैशेषिक, मीमांसा आदि दर्शनों से तुलनात्मक अनुशीलन और विवेचन है। "शब्देन्दुशेखर" भट्टोजिदीक्षित कृत प्रौढ़ मनोरमा की व्याख्या है जो पतञ्जलि के महाभाष्य पर आधारित

है। "परिभाषेन्दुशेखर" में पाणिनीय तन्त्र में स्वीकृत परिभाषाओं के स्वरूप एवं क्षेत्र का विशेष अनुशीलन है। इन ग्रन्थों की दार्शनिकता, विषय-परिष्कार-शैली आदि ने अग्रिम युग के विद्वानों को अत्यधिक आकृष्ट किया और दोनों "शेखर" ग्रन्थों पर ही सर्वाधिक टीकाएँ लिखी गयीं, इन्हीं को केन्द्र बनाकर शास्त्रार्थ और अध्ययन-अध्यापन की विधा प्रवर्तित हुई। अतः इस युग को "शेखरयुग" कहना तनिक भी अत्युक्ति नहीं है।

दूसरी ओर इस शास्त्र के विकास में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व और जुड़ा। नव्यन्याय की शैली ने सभी दर्शनों एवं अन्य विधाओं की भाँति व्याकरण में भी प्रवेश किया, क्योंकि यह शैली अधिक वैज्ञानिक थी। इस में विषय को सूक्ष्मतम स्तर पर प्रतिपादित करने की क्षमता थी। इस शैली की दो विशेषताएँ थीं-सम्बन्ध-निर्णय एवं विषय-परिष्कार। इनसे प्रभावित होकर व्याकरण शास्त्र में "न्यास" एवं "परिष्कार" पद्धति का प्रवर्तन हुआ। अब वैयाकरण लक्ष्य को भूलकर "लक्षणैकचक्षुष्क" बन गये। किसी सूत्र को लेकर उसमें लाघव हेतु परिवर्तन का प्रयास और उससे उत्पन्न कठिनाइयों को दूर करना 'न्यास' शैली है। इस प्रणाली पर काशी आदि शिक्षा-केन्द्रों में शास्त्रार्थ आयोजित होते थे। दिग्गज पण्डित अपने द्वारा उद्भावित नवीन युक्तियाँ रहस्य के रूप में क्रोडपत्रों में सुरक्षित रखते थे। और वे शास्त्रार्थ में प्रयोग की जाती थीं। शिष्य गुरुओं से अपनी श्रद्धा के बल पर इसे प्राप्त करते थे। अब ये क्रोड़पत्र प्रकाशित हैं और सर्वजनसुलभ हैं। परन्तु, व्याकरण की सर्वाधिक अर्वाचीन प्रणाली परिष्कार प्रणाली है, जिसमें नव्यन्याय की अवच्छेदकावच्छिन्न शैली में सूत्रार्थ की व्याख्या की जाती है या अन्य किसी लक्षण को अपन्यस्त किया जाता है। १६-२० वीं शताब्दी के विद्वानों और टीकाकारों में इसी शैली का 'वर्चस्व" छाया रहा।

रामाज्ञा पाण्डेय, उ. प्र. (१६-२० वीं शती) - पं. रामाज्ञा पाण्डेय का जन्म बलिया जिले के रतसड़ नामक ग्राम में हुआ था। इन्होंने काशी में पं. देवनारायण तिवारी, पं. गङ्गाधर शास्त्री, पं. दामोदर शास्त्री तथा पं. शिवकुमार शास्त्री से व्याकरण के प्रौढ़ ग्रन्थों का अध्ययन किया। बाद में "साधोलाल स्कालर" के रूप में अनेक वर्षों तक डॉ. वेनिस के सान्निध्य में रहकर भी इन्होंने नवीन विषयों का श्रवण तथा मनन किया, जिससे इनमें व्याकरण शास्त्र में दार्शनिक तत्त्वों के अन्वेषण करने की प्रवृत्ति का उदय हुआ।

इन्होंने प्रारम्भ में कुछ काल तक काशी में अध्यापन किया। १९२१-२२ ई. के लगभग इनकी नियुक्ति जगन्नाथ पुरी (उड़ीसा) के संस्कृत कालेज के अध्यापक पद पर हुई। इन्होंने कुछ दिनों बिहार के मुजफ्फरपुर नगर में स्थित धर्मसमाज राजकीय संस्कृतकालेज में भी अध्यापन कार्य किया और अन्त में बाबू सम्पूर्णानन्द के आग्रह पर काशी के संस्कृत कालेज में आ गये।

व्याकरणदर्शनम् - यह ग्रन्थ तीन खण्डों में विभक्त है - १- भूमिका २- पीठिका ३- प्रतिभा। ये भाग सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय वाराणसी से क्रमशः १९५४, १९६५ एवं १९७८ ई. में प्रकाशित हैं। यह व्याकरणदर्शनविषयक अत्यन्त प्रौढ़ ग्रन्थ है। प्रातिशाख्य,

निरुक्त, महाभाष्य, वाक्यपदीय तथा नागेशभट्ट की सिद्धान्तमञ्जूषा आदि में प्रतिपादित व्याकरण के दार्शनिक स्वरूप, उसके वर्ण्य सिद्धान्तों, पदार्थ-चिन्तन आदि का बड़ा गम्भीर ऊहापोहपूर्ण विवेचन पाण्डेय जी ने इस ग्रन्थ में किया है।

रामप्रसाद त्रिपाठी, उ. प्र. (२० वीं शती) - त्रिपाठी जी का जन्म उत्तरप्रदेश के जौनपुर मण्डल में हुआ था। इन्होंने काशी में रहकर पं. देवनारायण तिवारी (१८८६-१९४१ ई.) से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया। कुछ वर्षों काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा उसके बाद वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य किया। १-पाणिनीयव्याकरणे प्रमाणसमीक्षा- वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय से १९७२ ई. में प्रकाशित। यह एक अत्यन्त उच्च कोटि का ग्रन्थ है। महाभाष्यकार पतञ्जलि से लेकर भट्टोजिदीक्षित तक के व्याकरणाचार्यों द्वारा लिखे गये ग्रन्थों का सम्यक् अनुशीलन कर त्रिपाठी जी ने उक्त प्रामाणिक ग्रन्थ का प्रणयन किया है।

२- सिद्धान्तचिन्तामणिः- सम्पूर्णानन्द ग्रन्थमाला-१५ में संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी से १९८७ ई. में प्रकाशित। इसमें नव्यन्याय की शैली में नियमापवाद सूत्रों की पर्यालोचना कर उनके सूक्ष्मतम परिष्कृत रूप को प्रस्तुत किया गया है।

चारुदेव शास्त्री, लाहौर (२० वीं शती) - उपसर्गार्थचन्द्रिका - पॉच खण्डों में रचित यह संस्कृत उपसर्गों का कोश है। विभिन्न उपसर्गों के धातुओं से जुड़ने पर उनके अर्थ-वैभिन्य को प्रयोगों द्वारा दर्शाया गया है। बीच-बीच में ग्रन्थनामोल्लेखपूर्वक उद्धरण भी दिये गये हैं।

खुद्धी झा, बिहार-कोइलक ग्रामवासी। नागेशोक्तिप्रकाशः- नागेशभट्ट के अभिप्राय को विशदतया स्पष्ट करने वाला यह ग्रन्थ दरभंगा से प्रकाशित है।

शास्त्रार्थविषयक ग्रन्थ

जयदेव मिश्र, बिहार (१८४४-१९२५ ई.) म. म. पं. जयदेव मिश्र का जन्म बिहार प्रदेश के मधुबनी जिले में हुआ था। इन्होंने मिथिला के प्रसिद्ध वैयाकरण पं. हल्ली झा, म. म. पं. रज्जो मिश्र तथा काशी के "वाग्देवतातार" पं. शिवकुमार शास्त्री से व्याकरणादि शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन किया था। अल्प वय में ही इनकी गणना काशी के गणमान्य पण्डितों में होने लगी थी। ये व्याकरण की परिष्कार-पद्धति के विश्रुत और पारगामी विद्वान् थे। इनकी "शास्त्रार्थरत्नावली" में पाणिनीय सूत्रों के ऊपर बनने वाली शास्त्रार्थ की संभावित सभी कोटियों की चर्चा की गयी है। शास्त्रार्थ में मिश्र जी की विद्वत्ता सुप्रथित थी। उनका यह ग्रन्थ शास्त्रार्थ पद्धति के परिज्ञान हेतु अतीव उपयोगी है।

वेणीमाधव शुक्ल, उ. प्र. (१८५०-१९५३)-पिता का नाम श्री देवदत्त शुक्ल। वैयाकरण केसरी वेणीमाधव शास्त्री का जन्म जौनपुर मण्डल के अन्तर्गत बदलापुर के उदयपुर गेल्हवा ग्राम में हुआ था। इन्होंने श्री दुर्गादत्त शास्त्री तथा काशी के म. म. जयदेव

मिश्र से व्याकरण, न्याय, वेदान्त आदि शास्त्रों का अध्ययन किया था। १- पाणिनीयसूत्र-न्यासशास्त्रार्थकला - ग्रन्थकार के पुत्र श्री राजनारायण शास्त्री द्वारा सम्पादित और मास्टर खेलाड़ीलाल एण्ड सन्स, बनारस द्वारा १९९४ वि.(१९३७ ई.) में प्रकाशित। न्यास शैली में शास्त्रार्थकला का उत्तम ग्रन्थ। २- परिभाषेन्दुशेखर- बृहच्छास्त्रार्थकला ३- परिष्कारदर्पणः- राजनारायण शास्त्री ने इसपर टिप्पणी लिखी है। इसके अतिरिक्त इन्होंने वैयाकरणभूषणसार टीका कौमुदीकल्पलतिका, शक्तिवाद और व्युत्पत्तिवाद पर टीका, हिंसाखण्डनकौमुदी आदि अनेक अन्य ग्रन्थों की भी रचना की।

सूर्यनारायण शुक्ल - उ. प्र. (१८९५-१९४४) म. म. पं. वामाचरण भट्टाचार्य के शिष्य, व्याकरण, न्याय एवं अद्वैतवेदान्त के मनीषी विद्वान्। पाणिनीयव्याकरण-वादरत्नम्-२ भाग, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला-८० में १९३२ ई. में प्रकाशित। यह शास्त्रार्थ विषयक ग्रन्थ है जिसमें न्यासरत्नावली, न्यासकौमुदी, पाणिनितन्त्रक्रोडपत्रम्, शिशुतोषिणी भावकुतूहलम्, शास्त्रार्थरत्नावली आदि शास्त्रार्थ ग्रन्थों के विषयों का समावेश है।

अष्टाध्यायी पर वृत्ति एवं टीकाग्रन्थ इत्यादि

गोकुलचन्द्र (१८४० ई.) इनके पिता का नाम बुधसिंह एवं गुरु का नाम जगन्नाथ था। अष्टाध्यायी पर संक्षिप्त वृत्ति।

ओरम्भ भट्ट, महाराष्ट्र (१८४३ ई.) ये मूलतः महाराष्ट्र के थे, परन्तु बाद में काशी के ही निवासी हो गये थे। ये बालशास्त्री के गुरु पं. काशीनाथ शास्त्री के समकालीन थे। "व्याकरणदीपिका" नाम्नी वृत्ति- इस वृत्ति में उदाहरण के रूप में सिद्धान्त-कौमुदी की वृत्तियों और पंक्तियों का उपयोग किया गया है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती (१८२४-१८८३ ई.) आर्यसमाज के संस्थापक। अष्टाध्यायीभाष्यम्-यह अष्टाध्यायी सूत्रों की विस्तृत व्याख्या है।

देवदत्त शास्त्री, उ.प्र. (१९वीं शती) - हरिद्वार के निवासी। अष्टाध्यायी पर वृत्ति-लखनऊ के कान्यकुब्ज प्रेस से १८८६ ई. में प्रकाशित।

भाउशास्त्री धुले, नागपुर (१८२८-१९२५) गजसूत्रवृत्तिः पाणिनीयसूत्र १/३/६७ पर टीका।

भीमसेन शर्मा, उ.प्र. (१८५४-१९१७ ई.)-जन्मस्थान-एटा, उत्तर प्रदेश स्वामी दयानन्द सरस्वती के समकालीन। पाणिनीय अष्टाध्यायी की वृत्ति। इसमें प्रत्येक सूत्र की पदच्छेदपूर्वक वृत्ति और उदाहरण दिये गये हैं। द्वितीय संस्करण १९०४ ई. में प्रकाशित।

जीवराम शर्मा, उ.प्र. (१९-२०वीं शती)-ये मुरादाबाद की बलदेव आर्य पाठशाला मे अध्यापन कार्य करते थे। अष्टाध्यायी पर वृत्ति-१९०५ ई. में प्रकाशित।

गङ्गादत्त शर्मा, उ.प्र. (१८६६-१९३३ ई.)- ये गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार में अध्यापक थे। अष्टाध्यायी पर तत्त्वप्रकाशिका नाम्नी वृत्ति। यह एक महत्त्वपूर्ण विशदार्थिका वृत्ति है।

जानकीलाल माथुर, राजस्थान (२०वीं शती) अष्टाध्यायी पर वृत्ति-इसमें उदाहरणों तथा उपयोगी वार्तिकों का भी समावेश है। वैदिक और स्वरप्रकरण के सूत्रों के उदाहरण भी स्वरांकन सहित दिये गये हैं।

ए. राजराजवर्म कोइतम्बुरान (१८६३-१६१८) लघुपाणिनीयम्-यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें अष्टाध्यायी के १७६५ सूत्रों की व्याख्या सरल शैली में की गयी है। भाषा विषयक भारतीय और पाश्चात्त्य दोनों मतों का इसमें समन्वय है।

गोपाल शास्त्री नेने दर्शनकेशरी (२०वीं शती)-बृहदृजुपाणिनीयम्- करुणापति त्रिपाठी द्वारा सम्पादित तथा उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी लखनऊ से १६८३ ई. में प्रकाशित। इनका "ऋजुपाणिनीयम्" भी प्रकाशित है।

महाभाष्य पर टीका-व्याख्या ग्रन्थ

बाल शास्त्री रानाडे, महाराष्ट्र (१८३६-१८८२ ई.) अपने अपार वैदुष्य के कारण ये काशी में "बालसरस्वती" के रूप में प्रसिद्ध थे। यद्यपि ४३ वर्ष की अल्पायु में ही ये दिवङ्गत हो गये, तथापि इतनी कम आयु में इन्होंने विलक्षण कीर्ति अर्जित की। व्याकरणमहाभाष्य-टिप्पण-यह ग्रन्थ कैयट की टीका के साथ राजराजेश्वरी प्रेस दुर्गाघाट, काशी, से १८६५ ई. में प्रकाशित हुआ है।

माधवशास्त्री भण्डारी, राजस्थान (१६-२०वीं शती) भण्डारी जी का मूल निवास स्थान पश्चिम खानदेश के अन्तर्गत "नेर" ग्राम था। इन्होंने वाराणसी में व्याकरण , मीमांसा एवं धर्मशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित पं. नित्यानन्द "पर्वतीय" (१८६८-१६३१ ई.) से शास्त्रों का गहन अध्ययन किया। इन्होंने कुछ समय वाराणसी में, तदनन्तर लाहौर के प्राच्य महाविद्यालय में अध्यापन कार्य किया। महाभाष्य पर "स्फोटविमर्शिनी" व्याख्या। यह व्याख्या महाभाष्य के केवल २ आह्निकों पर लिखी गयी है, जिसमें व्याकरण सिद्धान्त के अनुसार "स्फोट" की आवश्यकता, उसके स्वरूप, अपभ्रंशों में शक्तिविचार, माहेश्वर सूत्रों में अद्वैतब्रह्मप्रतिपादकता आदि विषयों पर विशद विचार किया गया है।

महेश झा, बिहार (१६०३-१६८७ ई.) महाभाष्य पर "विमला" व्याख्या, सुल्तानगंज, बिहार से १६४४-४५ ई. में प्रकाशित।

वाक्यपदीय पर टीका-व्याख्या ग्रन्थ

नृसिंह त्रिपाठी, उ.प्र. (१६-२०वीं शती)- ये गाजीपुर के "खढिया" गाँव के निवासी थे। इन्होंने काशी के पं. देवनारायण तिवारी (१८६६-१६४१ ई.) के सान्निध्य में रहकर व्याकरण-ग्रन्थों का अध्ययन किया था। पं. रामाज्ञा पाण्डेय इनके सतीर्थ्य थे। त्रिपाठी जी व्याकरण के साथ-साथ न्यायशास्त्र के भी मर्मज्ञ विद्वान थे तथा साहित्य में भी इनकी अच्छी गति थी। वाक्यपदीप ब्रह्मकाण्ड की "प्रकाश" टीका। यह वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड के

ऊपर बड़ी ही प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण टीका है। काशी के श्रीचन्द्र कालेज से १९९४ वि. (१९३७ ई.) में प्रकाशित। त्रिपाठी जी ने न्यायमुक्तवली के शब्दखण्ड पर भी "प्रकाश" नाम्नी टीका लिखी है।

रघुनाथ शर्मा, उ.प्र. (१९-२०वीं शती)- पं. रघुनाथ शर्मा उत्तर प्रदेश के बलिया जिले के अन्तर्गत "छाता" नामक ग्राम के मूल निवासी थे। इनके पिता पं. काशीनाथ शास्त्री (१८५३-१९३८ ई.) अपने समय में काशी के मूर्धन्य विद्वानों में से थे। इन्होंने काशी में ही रहकर व्याकरणाशास्त्र का अध्ययन किया तथा बाद में गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज वाराणसी में अध्यापन कार्य करते हुए वहीं से सेवानिवृत्त हुए। १. वाक्यपदीय पर "अम्बाकर्त्री" व्याख्या। यह व्याख्या वाक्यपदीय की अन्य व्याख्याओं की अपेक्षा विस्तृत तथा अपने में पूर्ण है। शर्मा जी ने वाक्यपदीय के पाठभेदों की आलोचना करते हुए ग्रन्थ के शुद्ध संस्करण तथा इस व्याख्या की रचना कर वास्तव में महनीय कार्य किया है। यह टीका विद्वानों में अतीव प्रसिद्ध है (इस व्याख्या के ब्रह्मकाण्ड का प्रकाशन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी से १९६३ ई. में, द्वितीय काण्ड का १९६८ ई. में तथा तृतीय काण्ड का १९९१ ई. में हुआ। २. वाक्यपदीयपाठभेदनिर्णयः- २ भागों में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से १९९१ ई. में प्रकाशित।

प्रक्रियाकौमुदी की टीका

"प्रक्रियाकौमुदी" १४वीं शती में रामचन्द्राचार्य द्वारा प्रणीत प्रक्रियापद्धति का प्रथम ग्रन्थ है। इसी को आधार बनाकर आगे भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी की रचना की। इस पर शेषकृष्ण ने "प्रकाश" नाम्नी व्याख्या लिखी। अर्वाचीन काल में मुरलीधर मिश्र ने इस व्याख्या पर "रश्मि" नामक टिप्पणी लिखी है।

"सिद्धान्तकौमुदी" की टीकाएँ, टिप्पणी इत्यादि

सिद्धान्तकौमुदी भट्टोजिदीक्षित (१६-१७वीं शती) द्वारा प्रणीत प्रक्रियापद्धति का सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है। आगे यही व्याकरण के पठन-पाठन का मुख्य आधार बना। अष्टाध्यायी-पद्धति से अध्ययन क्वचित् ही कहीं-कहीं होता रहा। इसपर प्रणीत टीकाओं में निम्न उल्लेखनीय हैं।

सभापति उपाध्याय, उ.प्र. (१८८२-१९६४ ई.) - वाराणसी के निवासी। सिद्धान्तकौमुदी पर "लक्ष्मी" व्याख्या-चौखम्बा, वाराणसी से प्रकाशित। सिद्धान्तकौमुदी के प्रारम्भिक कुछ ही अंशो पर यह टीका लिखी गयी है, पर महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है।

गोपाल शास्त्री नेने "दर्शनकेसरी" महाराष्ट्र (१८९२-१९६७ ई.)- सिद्धान्तकौमुदी-टिप्पणी यह टिप्पणी खण्डशः मुद्रित हुई।

कनकलाल शर्मा, बिहार (१९-२०वीं शती)- ये मुंगेर जिले के अन्तर्गत महमदा ग्राम के निवासी श्री एकनाथ ठाकुर के पुत्र थे। फक्किकारत्नमञ्जूषा (सिद्धान्तकौमुदी)।

पंक्तिव्याख्यानरूपा) हरिकृष्णनिबन्धन भवन, वाराणसी से १९३६ ई. में प्रकाशित।

वेल्लङ्गोण्ड रामराय, आन्ध्रप्रदेश (२०वीं शती)- शरद्रात्रिः-सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या। (सिद्धान्तकौमुदी के टीकाकारों में पं. गोपालदत्त पाण्डेय का नाम उल्लेखनीय है। इनकी हिन्दी टीका चौखम्बा विद्याभवन से दो खण्डों में प्रकाशित है।)

''प्रौढमनोरमा'' पर टीका-टिप्पणी इत्यादि

प्रौढमनोरमा भट्टोजिदीक्षित द्वारा अपनी ''सिद्धान्तकौमुदी'' पर रचित व्याख्या है। इस ग्रन्थ में खण्डन-मण्डन का प्राचुर्य है। इन्होंने इसमें न्याय, पदमंजरी, काशिका तथा अपने गुरु शेषकृष्ण द्वारा प्रणीत ''प्रक्रियाप्रकाश'' का स्थान-स्थान पर खण्डन किया है। महाभाष्य को आधार बनाकर इन्होंने बड़ी प्रतिभा एवं युक्तिपूर्वक वैयाकरणों के द्वारा पूर्व स्थापित मतों को निरस्त कर स्वमत स्थापन किया है। इस पर अर्वाचीन काल में प्रणीत मुख्य टीकाएँ इस प्रकार है-

सभापति उपाध्याय (१८८२-१९६४ ई.) शब्दरत्नसहित ''प्रौढमनोरमा'' की ''रत्नप्रभा'' टिप्पणी-व्याकरणशास्त्र के इस दार्शनिक ग्रन्थ के ऊपर लिखी गयी यह सुबोध टिप्पणी है जो मूल ग्रन्थ के दुरूह तथा विषम स्थलों को उद्भाषित करने में सर्वथा उपयोगी है। भैरव मिश्र की ''शब्दरत्नप्रकाशिका'' व्याख्या के साथ वाणी विलास प्रेस, वाराणसी से १९४० ई. में मुद्रित (द्वितीय संस्करण)।

माधवशास्त्री भण्डारी (१९-२० वीं शती) - प्रौढमनोरमा (अव्ययीभावान्त) के विषम स्थलों पर ''प्रभा'' नाम्नी टिप्पणी। प्रस्तुत टिप्पणी केवल परिष्कारों की दृष्टि से ही उपयोगी नहीं है, अपितु इसमें प्राचीन वैयाकरण कैयट तथा नागेश भट्ट के परस्पर मतभेद होने पर वस्तुस्थिति की समीक्षा भी की गयी है।

इन टीकाओं के अतिरिक्त **चन्द्रशेखर शास्त्री** ने बालमनोरमा (१९०० ई.) तथा भावप्रकाशिका (१९०५ ई.) नामक ग्रन्थ लिखे।

''वैयाकरणभूषणसार'' की टीकाएँ, व्याख्या आदि

'वैयाकरणभूषणसार' कौण्डभट्ट द्वारा प्रणीत ग्रन्थ है जो भट्टोजिदीक्षित के भतीजे थे। यह पाणिनीय व्याकरण के दार्शनिक तत्त्वों को प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ है। इस पर आधुनिक काल में प्रणीत टीकाओं में से कुछ प्रमुख ये हैं-

राघवेन्द्राचार्य गजेन्द्रगडकर, सतारा (१७९२-१८५२ ई.) - वैयाकरणभूषणसार पर ''प्रभा'' टीका।

शकङ्करशास्त्री मारूलकर, पूना (१८७४-१९५८ ई.) - ये वासुदेवशास्त्री अभ्यङ्कर के शिष्य थे। वैयाकरणभूषणसार की ''शाङ्करी'' टीका पूना से १९५७ ई. में प्रकाशित।

गोपालशास्त्री नेने, महाराष्ट्र (१८९२-१९६७ ई.) इनके पिता का नाम बाबूभट्ट नेने था। ये वाराणसी के प्रसिद्ध विद्वान् नित्यानन्द पर्वतीय के शिष्य थे। वैयाकरणभूषणसार की ''सरला'' व्याख्या। इसमें शाब्दबोधप्रक्रिया को सरल ढंग से समझाया गया है। नैयायिकों

और वैयाकरणों के अनुसार शाब्दबोध के स्वरूप और अन्तर को नेने जी ने बड़ी सूक्ष्मतापूर्वक विवेचित किया है।

ब्रह्मदत्त द्विवेदी, उ. प्र. (१९८७ में दिवंगत)-ये पं. हरिहरकृपालु द्विवेदी के पुत्र थे। इन्होंने सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य किया। व्याकरण के कई ग्रन्थों पर इनकी टीकाएँ चौखम्बा से प्रकाशित हैं। वैयाकरणभूषणसार पर टीका चौखम्बा वाराणसी से प्रकाशित।

रामप्रसाद त्रिपाठी, उ. प्र. (२० वीं शती)-पं. देवनारायण तिवारी के शिष्य "सिद्धान्तचिन्तामणि" के रचयिता। वैयाकरणभूषणसारटिप्पणी- वाराणसी से प्रकाशित।

"लघुमञ्जूषा" पर टीका-ग्रन्थ इत्यादि

लघुमञ्जूषा अथवा सिद्धान्तमञ्जूषा नागेश भट्ट (१६७५-१७४५ ई.) द्वारा प्रणीत ग्रन्थ है। नागेश भट्ट को नव्य व्याकरण युग के प्रवर्तक होने का गौरव प्राप्त है। इन्होंने इसके अतिरिक्त शब्देन्दुशेखर, परिभाषेन्दुशेखर और महाभाष्य-प्रदीप पर उद्योत इन तीन ग्रन्थों की और रचना की। आधुनिक काल में नागेशभट्ट के ग्रन्थों पर ही सर्वाधिक टीका एवं व्याख्याएँ लिखी गयीं, इसी से नागेशभट्ट की लोकप्रियता एवं उनके वैदुष्य का पता चलता है।

सिद्धान्तमञ्जूषा वाक्यपदीय के समान व्याकरण दर्शन का प्रतिष्ठापक ग्रन्थ है। इस पर आधुनिक काल में प्रणीत टीका-व्याख्यादि ग्रन्थ इन प्रकार हैं-

नित्यानन्द पन्त "पर्वतीय" (१८६७-१९३१)-इन्होंने नागेशभट्ट की शेखरद्वयी-शब्देन्दुशेखर एवं परिभाषेन्दुशेखर के अध्ययन-अध्यापन की परिष्कार शैली का प्रवर्तन कर व्याकरण शास्त्र की एक नयी परम्परा चलायी, जो आज तक अबाध गति से प्रवर्तित है। पर्वतीय जी ने म. म. पं. गगाधर शास्त्री जी से व्याकरण आदि शास्त्रों का गहन अध्ययन किया था। ये व्याकरण, न्याय, मीमांसा, वेदान्त तथा धर्मशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् थे।

परमलघुमञ्जूषा पर "टिप्पणी" सन् १९१८ ई.। इस ग्रन्थ में शास्त्रीय विषयों पर न्याय और मीमांसा के साथ व्याकरण सिद्धान्तों के वैभिन्न्य को पदार्थों के स्वरूप, लक्षण समन्वय आदि पर टिप्पणी देकर स्पष्ट कर दिया गया है। जहाँ नागेश ने अपने मत की पुष्टि महाभाष्य से केवल संकेत मात्र देकर की है, वहाँ पन्त जी ने भाष्यादि ग्रन्थों से उद्धरण देकर ग्रन्थकार के आशय को स्पष्ट किया है। नागेश द्वारा प्रयुक्त दीर्घ एवं अस्पष्ट शब्दों का स्पष्टीकरण सरल शब्दों में दिया गया है।

सभापति उपाध्याय, उत्तर प्रदेश (१८८२-१९६४) - लघुमञ्जूषा की 'रत्नप्रभा' टीका। श्री सभापति उपाध्याय का जन्म बलिया जिले में हुआ था। इन्होंने काशी में पं. देवनारायण तिवारी, पं. दामोदर शास्त्री तथा शिवकुमार शास्त्री से व्याकरण तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन किया था। ये बिड़ला संस्कृत कालेज, वाराणसी के प्राचार्य तथा विधान परिषद् उ. प्र. के सदस्य रहे। उपाध्याय जी व्याकरण शास्त्र के उच्चतम परिष्कारों के

साथ-साथ न्याय के गम्भीर पाण्डित्य से भी मण्डित थे अतः इन्होंने प्रमुख व्याकरण ग्रन्थों पर जो व्याख्या लिखी, वह दुरूह स्थलों को स्पष्ट करने में भी अतीव सफल है। नागेशभट्टकृत लघुमञ्जूषा की "रत्नप्रभा" टीका मूल ग्रन्थ की ग्रन्थियों को दूर करने का श्लाघनीय प्रयास है। यद्यपि यह व्याख्या सम्पूर्ण मूल ग्रन्थ पर नहीं है, पर आवश्यक महत्त्वपूर्ण अंशों पर उपनिबद्ध होने से नितान्त उपयोगी है।

किशोरी शर्मा (१६-२० वीं शती) - सर्वतन्त्रस्वतन्त्र श्री लालजी शर्मा के अनुज। परमलघुमञ्जूषा पर "अर्थप्रकाश" नाम्नी टीका- १६२५ ई. में काशी के ज्ञानमण्डल प्रेस से मुद्रित।

कृष्णमाधव झा, बिहार (१८६८-१६८६) परमलघुमञ्जूषा की "तत्त्वप्रकाशिका" टीका।

शशिनाथ झा, बिहार (२० वीं शती) ये नैयायिक शशिनाथ झा से भिन्न हैं। इनके गुरु म. म. कृष्णसिंह ठाकुर महाराज दरभंगा के वंशधर रहे हैं। परमलघुमञ्जूषा की टीका दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय से प्रकाशित।

पेरि सूर्यनारायण शास्त्री (२० वीं शती) -नागेशभावप्रकाशः- १६८८ ई. में प्रकाशित। यह ग्रन्थ नागेशकृत लघुमञ्जूषा के सुबर्थवाद की व्याख्या है। शैली अत्यन्त सरल और विषयोद्भासिका है। शास्त्रीय गुत्थियों को सुलझाने वाला यह अति उपयोगी ग्रन्थ है।

"शब्देन्दुशेखर" की टीकाएं, व्याख्या-ग्रन्थ इत्यादि

अर्वाचीन युग को शेखरयुग की संज्ञा दी जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। नागेश के दोनों शेखर ग्रन्थ, शब्देन्दुशेखर एवं परिभाषेन्दुशेखर आज के व्याकरण अनुशीलन पर छाये हुए हैं। इन दोनों ग्रन्थों पर रचित विपुल टीका-सम्पत्ति इसका उज्ज्वल प्रमाण है। शब्देन्दुशेखर पर निम्न टीकाएँ उल्लेखनीय हैं -

सदाशिवभट्ट धुले, पूना (१७५०-१८५२ ई.) - शब्देन्दुशेखर पर विवृति।

राघवेन्द्राचार्य गजेन्द्रगडकर, सतारा (१७६२-१८५२ ई.) - शब्देन्दुशेखर पर विषमी टीका।

भाऊशास्त्री धुले, नागपुर (१८२८-१६२५ ई.) शब्देन्दुशेखर पर 'शेखरविवृतिसंग्रहः' नाम्नी टीका।

तात्या शास्त्री, महाराष्ट्र (१८४५-१६१६ ई.) - शब्देन्दुशेखर पर टीका। इन्होंने परिभाषेन्दुशेखर पर "भूति" नाम्नी प्रसिद्ध टीका भी लिखी है।

उमापति द्विवेदी (नकछेदराम दूबे) १८५३-१६११ ई. - शब्देन्दुशेखर पर "जटा" टीका। इन्होंने भी परिभाषेन्दुशेखर पर महत्त्वपूर्ण टीका लिखी है।

ताता सुब्बराय शास्त्री (२०वीं शती) - शब्देन्दुशेखर पर "गुरुप्रसादः" नामक व्याख्या ग्रन्थ।

पेरि वेङ्कटेश्वर शास्त्री (२०वीं शती) - ये सुब्बराय शास्त्री के शिष्य थे।

गुरुप्रसादशेषः नाम्नी व्याख्या - इन्होंने अपने गुरु की अवशिष्ट व्याख्या को इस नाम से पूर्ण किया।

वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्कर, पूना (१८६३-१९४२ ई.) शब्देन्दुशेखर पर "गूढप्रकाशः" टीका। इन्होंने वेदान्तविषयक ग्रन्थों सिद्धान्तबिन्दु टीका इत्यादि की भी रचना की है। ये चतुरस्र पाण्डित्य से मण्डित विश्रुत विद्वान थे।

ब्रह्मदत्त द्विवेदी, उ. प्र. (१९०६-१९८७ ई.) ये श्री हरिहरकृपालु द्विवेदी के पुत्र थे। इनका जन्म प्रयाग में हुआ था। १९३२ ई. में ये पटना के मुरारका संस्कृत कालेज में अध्यापक हुए। इनका कार्यक्षेत्र पटना और वाराणसी रहा। शब्देन्दुशेखर हलन्तनपुंसकलिङ्ग-भाग तक की "राधिका" टीका-वाराणसी से १९८८ ई. में प्रकाशित। द्विवेदी जी की यह "राधिका" टीका सरल शैली में लिखी गयी सुबोध टीका है। आचार्य रामप्रसाद त्रिपाठी के शब्दों में- "यह शेखर की ग्रन्थि का भेदक ग्रन्थ" है।

हर्षनाथ मिश्र (२० वीं शती) - शब्देन्दुशेखर पर टीका (अपूर्ण)।

नित्यानन्द पन्त पर्वतीय (१८६७-१९२९ ई.) - ये व्याकरण, मीमांसा, धर्मशास्त्र तीनों के तलस्पर्शी विद्वान् थे। लघुशब्देन्दुशेखर पर दीपक टीका आरम्भ से अव्ययीभाव पर्यन्त - १९१८ ई.। यह टीका अर्थ और परिष्कार दोनों दृष्टियों से विशिष्ट है। इसके प्रकाशन से पं. गङ्गाराम त्रिपाठी द्वारा काशी में प्रवर्तित परिष्कार शैली का स्वरूप, जो अभी तक क्रोडपत्रों के रूप में अन्तर्निहित था, प्रथम बार विद्वानों के सामने आया। नागेश ने अधिकतर कैयट के मत का खण्डन किया है। इस टीका में उस खण्डन की युक्तियुक्तता की बड़ी सूक्ष्मतापूर्वक परीक्षा की गयी है। पर्वतीय जी के समय तक इस विषय पर पल्लवित परिष्कार शैली की कोटि-प्रकोटियां तथा पारम्परिक विचार-पद्धति का स्वरूप इस टीका से उद्घाटित होता है।

"परिभाषेन्दुशेखर" पर टीका ग्रन्थ

सदाशिवभट्ट धुले महाराष्ट्र (१७५०-१८३४)-परिभाषेन्दुशेखर पर "भाट्टी" टीका।

राघवेन्द्राचार्य गजेन्द्रगडकर, सतारा (१९९२-१८५२)-परिभाषेन्दुशेखर पर "त्रिपथगा" टीका।

गोपालाचार्य कहाडकर महाराष्ट्र (१८-१९ वीं शती) - ये नीलकण्ठ शास्त्री थाटे (१७५०-१८३४) के शिष्य थे। दूषकरदोद्भेदिनी - इस ग्रन्थ में इन्होंने विष्णुशास्त्री के उपर्युक्त ग्रन्थ "चिच्चन्द्रिका" की बहुशः आलोचना की है।

विष्णुशास्त्री भट्ट, पूना (१९ वीं शती) - परिभाषेन्दुशेखर पर "चिच्चन्द्रिका-टीका" इसके प्रकाशन से पूर्व ही गोपालाचार्य ने इसमें अनेक दूषणों की उद्भावना की, जिनका प्रत्युत्तर इस ग्रन्थ के द्वितीय संशोधित संस्करण में दिया गया।

यागेश्वर शास्त्री, उत्तर प्रदेश (१८२८-१८९९) -परिभाषेन्दुशेखर पर "हैमवती" टीका सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से १९७५ ई. में प्रकाशित। श्री यागेश्वर शास्त्री

(आस्पद-ओझा, उपाधि-वैयाकरणकेसरी) का जन्म बलिया में हुआ था। इन्होंने काशी में उस समय के मूर्धन्य वैयाकरण श्री काशीनाथ कार्लेकर से व्याकरण का गहन अध्ययन किया था। श्री राजाराम शास्त्री से भी इन्होंने कुछ समय अध्ययन किया। श्री बालशास्त्री इनके सतीर्थ्य थे।

"हैमवती" व्याकरण की प्रक्रिया-शैली में उपनिबद्ध प्रौढ़ व्याख्या है। यह सरल सुबोध शैली में नागेश के कथन का प्रत्यक्षर व्याख्यान कर उसके भीतर निहित तात्पर्य की भी विशद व्याख्या करती है। मुख्यतः प्रक्रिया-शैली का अवलम्बन करने पर भी यत्र-तत्र जहां इसमें 'परिष्कार' पद्धति का आश्रय लिया गया है, वहां नव्य परिष्कार-पद्धति की सूक्ष्मता दर्शनीय है। (द्रष्टव्य-"अन्तरङ्गादप्यपवादो बलीयान्" की व्याख्या)।

म. म. तात्याशास्त्री ने अपनी व्याख्या "भूति" में "हैमवती" का बहुत कुछ आश्रय लिया है, परन्तु दोनों में अन्तर यह है कि "भूति" में परिष्कार-शैली का प्राधान्य है जबकि हैमवती में प्रक्रिया-शैली का।

"हैमवती" में यागेशवर शास्त्री द्वारा स्वीकृत "परिभाषेन्दुशेखर" का पाठ, इसी ग्रन्थ के ऊपर "गदा" नाम्नी टीका के रचयिता वैद्यनाथ से नितान्त भिन्न है। शास्त्री जी ने अनेक स्थलों पर नागेश के कथन को अपनी प्रतिभा द्वारा "चिन्त्य" बतलाकर उसमें अरुचि दर्शायी है (द्रष्टव्य "व्यपदेशिवदेकस्मिन्" की व्याख्या) और अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य का परिचय दिया है।

"हैमवती" में ग्रन्थकार ने उल्लेख किया है कि इसकी रचना 'टिप्पणी' द्वारा प्रसारित मोहान्धकार का तर्कों द्वारा निराकरण करने हेतु हुई, परन्तु इस "टिप्पणी" का रचयिता कौन है, यह आज भी गवेषणा का विषय है।

वैद्यनाथ झा बिहार (१६ वीं शती)-परिभाषेन्दुशेखर पर "गदा" टीका। इसमें अनेक परिभाषाओं में पाठ का निर्देश किया गया है।

बालशास्त्री रानाडे, महाराष्ट्र (१८३६-१८८२ ई.)-परिभाषेन्दुशेखर पर "सारासारविवेकः" नाम्नी टिप्पणी। बालशास्त्री रानाडे का जन्म महाराष्ट्र प्रदेश के कोंकण जिले में चितपावन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम गोविन्द भट्ट था। श्री बालशास्त्री का मूल नाम "विश्वनाथ" था, पर बाल्यकाल में सर्वप्रिय होने के कारण ये "बाल" आख्या के द्वारा प्रसिद्ध हुए। इन्होंने ग्वालियर आकर श्री बाबा शास्त्री बापट महोदय से व्याकरण, श्री कुप्पा स्वामी से मीमांसा तथा उद्भट नैयायिक श्री मोर शास्त्री से न्याय शास्त्र का अध्ययन किया। इसके अनन्तर काशी जाकर तत्कालीन मूर्धन्य वैयाकरण "अपर पाणिनि" के विरुद से प्रसिद्ध पं. काशीनाथ शास्त्री तथा विद्वद्वर अपर पतञ्जलि पं. राजाराम शास्त्री से व्याकरणादि शास्त्रों का विशिष्ट अध्ययन किया।

जयदेव मिश्र, बिहार (१८४४-१६२५ ई.)-परिभाषेन्दुशेखर की विजया टीका-यह व्याकरण की परिष्कार शैली का ग्रन्थ है। परिष्कार पद्धति का ज्ञान कराने हेतु यह टीका

सरल, सुबोध तथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस टीका में तात्या शास्त्री की "भूति" टीका का कई स्थानों पर नामोल्लेख पूर्वक खण्डन किया गया है। भूति टीका की अपेक्षा इसकी लोकप्रियता विद्वानों में अधिक है। इन्होंने व्युत्पत्तिवाद पर "जया" टीका भी लिखी है।

तात्या शास्त्री, महाराष्ट्र (१८४५-१९१९ ई.) - इनका मूल नाम रामकृष्ण शास्त्री था, परन्तु ये तात्या शास्त्री के नाम से प्रसिद्ध थे। इनके पूर्वजों का मूल स्थान कोंकण प्रदेश था। इनका जन्म मध्यप्रदेश के नागपुर जिले में हुआ था। इनके पिता श्री महादेव शास्त्री थे। इन्होंने वाराणसी में रहकर "बालसरस्वती" पं. बालशास्त्री रानाडे से परिष्कार सहित व्याकरण, वेदान्त तथा धर्मशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया था। परिभाषेन्दुशेखर पर "भूति" टीका-यह शास्त्री जी की वैदुष्यपूर्ण रचना है। इसमें मूल ग्रन्थ के भावों का बड़ी मार्मिक रीति से सरल शब्दों में व्याख्यान किया गया है, जिससे परिष्कार-पद्धति का भी पूर्ण निदर्शन मिलता है।

गणपति शास्त्री, महाराष्ट्र (१९-२० वीं शती) - तात्याशास्त्री की उपर्युक्त "भूति" टीका की टीका।

उमापति द्विवेदी (नकछेदराम दूबे), उत्तर प्रदेश (१८५३-१९११) - परिभाषेन्दुशेखर पर "जटा" नाम्नी टीका। ये बालशास्त्री युग के विद्वान थे। इनके पिता पं. हरिदत्त द्विवेदी व्याकरण, न्याय एवं वेदान्त के मूर्धन्य पण्डित थे। पं. उमापति द्विवेदी का पण्डित्य चतुरस्त्र था, पर व्याकरण तथा धर्मशास्त्र में इनका विशेष प्रवेश था।

रघुनाथ शर्मा उ. प्र. (१९-२० वीं शती) पं. काशीनाथ शास्त्री के पुत्र, वाराणसीवासी विद्वान्। लघुजूटिका (परिभाषेन्दुशेखर पर परिष्कार ग्रन्थ) काशी संस्कृत ग्रन्थमाला १९ में विद्याविलास प्रेस से १९२४ में प्रकाशित।

गोविन्द शास्त्री (१९-२० वीं शती)-म. म. गोविन्द शास्त्री गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज कलकत्ता में प्रोफेसर थे। परिभाषेन्दुशेखर पर "लघुजटाजूट" (क्रोडपत्र) मास्टर खेलाड़ी लाला एण्ड सन्स, बनारस द्वारा सन् १९४० ई. में प्रकाशित।

रामाचार्य, मध्यप्रदेश (१९-२०वीं शती) -"परिभाषेन्दुशेखर व्याख्या" १८७० ई.

वेणीमाधव शुक्ल, उ. प्र. (१८५०-१९५३) - म. म. जयदेव मिश्र के शिष्य। परिभाषेन्दुशेखर पर टीका।

वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्कर, पूना (१८६३-१९४२ ई.) परिभाषेन्दुशेखर पर "तत्त्वादर्शः नामक टीका।

हर्षनाथ मिश्र (२० वीं शती) - परिभाषेन्दुशेखर पर "दुर्गा" टीका प्रथम संस्करण लाल बहादुर शास्त्री विद्यापीठ, दिल्ली से १९७८ ई. में तथा द्वितीय सं. राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली से १९८७ ई. में प्रकाशित।

"काशिका" से सम्बन्धित टीका-ग्रन्थ

चन्द्रभानु त्रिपाठी, उ. प्र. (जन्म १६२५) आप सम्प्रति प्रयाग में निवास कर रहे हैं। बलभद्रत्रिपाठी विरचित काशिकावृत्तिसार पर "सुधा" टीका-गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ प्रयाग से १६६२ ई. में प्रकाशित २ भाग।

टीकाकार डॉ. चन्द्रभानु त्रिपाठी का जन्म प्रयाग के समीपवर्ती फतेहपुर जनपद के "एकडला" ग्राम में हुआ। ये मूल ग्रन्थ "काशिकावृत्तिसार" के प्रणेता बलभद्र त्रिपाठी के सीधे वंशज हैं। उनके कुल में पिछली कई पीढियों से पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा रही है। अतः चन्द्रभानु त्रिपाठी द्वारा वंश परम्परा से प्राप्त पाणिनीय व्याकरण और काशिका के संस्कारों के कारण यह "सुधा" टीका अतीव स्पष्ट उपयोगी बन पड़ी है। टीकाकार द्वारा ही मूल ग्रन्थ को प्रथम बार सम्पादित भी किया गया है। "सुधा" टीका में मूल ग्रन्थ के दुर्बोध पदों और वाक्यों के अर्थ को स्पष्ट करने के साथ-साथ वृत्ति में अनुल्लिखित उदाहरणों को पूरित किया गया है, वृत्ति में जो वार्तिक नहीं लिए गये हैं, किन्तु प्रयोग में प्रचलित शब्दों के साधक हैं उन्हें लाया गया है तथा वैदिक उदाहरणों में स्वराङ्कन करके सूत्र और वृत्ति की सार्थकता दर्शायी गयी है।

लघुसिद्धान्त कौमुदी - प्रसिद्ध वैयाकरण श्री भट्टोजिदीक्षित के शिष्य वरदराज ने अष्टाध्यायी के एक हजार सूत्रों को लेकर पाणिनीय व्याकरण के बोध के लिए प्रथम सोपान के रूप में लघुसिद्धान्त कौमुदी नामक एक अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ की रचना की। यह लघुकाय ग्रन्थ पाणिनीय व्याकरण शास्त्र में प्रवेश के लिए अत्यन्त उपादेय है। इस ग्रन्थ की अनेक टीकाएं संस्कृत तथा हिन्दी में उपलब्ध हैं। टीकाओं का विवरण निम्न है-

१. सदाशिव शास्त्रीकृत सुधा संस्कृत टीका। यह चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी से १६७७ में प्रकाशित है। २. धरानन्द शास्त्री कृतप्राज्ञतोषिणी' हिन्दी टीका। यह मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी से १६७७ तथा १६८२ में प्रकाशित है। ३. महेश सिंह कुशवाहा कृत 'माहेश्वरी' हिन्दी टीका। यह दो भागों में है। प्रथम भाग में सूत्र व्याख्या और द्वितीय भाग में रूप सिद्धि है। यह चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी से १६८८ में प्रकाशित है।

कातन्त्र व्याकरण

इस व्याकरण का बंगाल में अधिक प्रचलन रहा।

अन्नदाचरण तर्कचूडामणि, बंगाल (जन्म १८६२ ई.) - इनका जन्म नोआखाली जिले में हुआ था। ये बंगाल के मूर्धन्य विद्वान थे। "कातन्त्रपरिशिष्ट" के कठिन अंशों पर "कौमुदी" टीका-यह टीका इनके जीवनकाल में ही प्रकाशित और लोकप्रिय हुई।

काशमीरी भाषा का व्याकरण

ईश्वर कौल (१६ वीं शती) - ईश्वर कौल का जन्म संस्कृत विद्वानों की लम्बी परम्परा वाले काश्मीरी परिवार में हुआ था। १८६१ ई. में महाराजा ने इन्हें अरबी ग्रन्थों का संस्कृत तथा हिन्दी भाषा में अनुवाद करने के लिए नियुक्त किया था। १० वर्ष पश्चात्

ये संस्कृत महाविद्यालय के प्राचार्य हुए। कश्मीरशब्दामृतम्-नाग प्रकाशन, दिल्ली से १६८५ ई. में प्रकाशित। ग्रन्थ का रचनाकाल -१६१३ वि. (१८५६ ई.) यह संस्कृत की सूत्र और वृत्ति शैली में रचित कश्मीरी भाषा का व्याकरण है। इसमें कुल ६२ सूत्र और ३३७ पृष्ठ हैं।

विविध

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बंगाल (१६ वीं शती)-गुग्धबोधव्याकरणसारः (१८५१ ई.) २- व्याकरणोपक्रमणिका (१८५१ ई.)।

दीनबन्धु झा, बिहार (१६ वीं शती) - आशुतोषव्याकरणम्।

अन्नदाचरण तर्कचूडामणि, बंगाल (जन्म-१८६२ ई.)-म. म. अनन्दाचरण तर्कचूडामणि व्याकरण के अतिरिक्त पुराण, न्याय, मीमांसा तथा धर्मशास्त्र के भी विलक्षण विद्वान् थे। इन्होंने "पुराणरहस्यम्" नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा तथा "धर्मशास्त्रकोष" का सम्पादन किया। इन्होंने अध्ययन तो बंगाल में किया था, परन्तु अध्यापन काशी में रहकर किया। १-धातुप्रत्ययविवेकः २-सुब्रहस्यम् ३-शब्दशक्तितत्त्वम् ४-परिशिष्टधातुसूत्रम् ५-परिशिष्टकारकम् ६-परिशिष्टनाम्नां सूत्रम् ७-धातुसंग्रहः ८-धातुसूत्रम् ६- षट्कारकविवेकः १०-नमस्कारविवेकः ११-सर्वनामसूत्रम् १२-कृद्वत्तिः १३-कलापपरिशिष्टम् १४- नामप्रत्ययविवेकः।

द्वारकानाथ शर्मा (१६-२० वीं शती)-१-समासवाक्यावली (१६०४ ई.) २-कारक-वाक्यावली (१६०४ ई.) ३-गणकारिका (१६०३ ई.) ४- लघुसंक्षिप्तव्याकरणम् (१६०२ ई.)।

वेङ्कटरङ्गनाथाचार्य (१६-२० वीं शती)- सारमञ्जरी (१८६७ ई.) २-लघुशब्दसर्वस्वम् ३- धातुपाठप्रकरणम् (१६०५ ई.)

नारायणभट्ट पर्वणीकर (१६-२०वीं शती) - श्लोकबद्धसिद्धान्तकौमुदी।

मधुसूदन तर्कालङ्कार (१६-२०वीं शती) - इंग्लैण्डीयव्याकरणसारः (१६३५ ई.)

रामदास निराकारी (२०वीं शती)-ये पञ्जाब विश्वविद्यालय में दर्शनविभाग के अध्यक्ष थे। शब्ददर्शनम्-१६८६ ई. में पटियाला (पंजाब) से प्रकाशित। इस ग्रन्थ में ४५०० श्लोकों में शब्दसम्बन्धी विविध विचारों का निरूपण किया गया है।

ज्योतिष

पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क से इस काल में अंग्रेजी भाषा में उपनिबद्ध आधुनिक खगोल और गणितविषयक ग्रन्थों के पठन-पाठन की प्रवृत्ति विकसित हुई। अंग्रेजी और संस्कृत दोनों भाषाओं पर अधिकार रखने वाले विद्वानों, बापूदेव शास्त्री, सुधाकर द्विवेदी तथा महाराष्ट्र के बापूजी केतकर ने अद्यतन खगोलीय तथा गणितीय सिद्धान्तों का भारतीय गणित सिद्धान्तों से समन्वय कर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। रेखागणित, बीजगणित

तथा त्रिकोणमिति सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे गये तथा दीर्घवृत्त, परिवलय आदि के गणित का विकास तेज़ी से हुआ। इधर श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव ने "सूर्यसिद्धान्त" का आधुनिक सिद्धान्तों के आधार पर "विज्ञानभाष्य" लिखा है, जिसमें ग्रह-नक्षत्रादि सम्बन्धी अद्यतन अन्वेषणों से संस्कृत-जगत् समृद्ध हुआ है।

दुर्गाप्रसाद त्रिपाठी, (उ.प्र. जन्म १७६८ ई.-मृत्यु १८७८ ई. लगभग) जन्मस्थान-फतेहपुर जिले के अन्तर्गत, इलाहाबाद की सीमा से सटा "एकडला" गाँव। ये अचार्य चन्द्रभानु त्रिपाठी के पूर्वज थे। इनके पिता का नाम गोदीराम था। जातकशेखरः-ग्रन्थ का रचनाकाल १८६५ वि.तदनुसार १८३८ ई.। आचार्य चन्द्रभानु त्रिपाठी की "सुरभि" नाम्नी संस्कृत टीका के साथ शक्तिप्रकाशन, इलाहाबाद से १६८३ ई. में प्रथम बार प्रकाशित यह फलित ज्योतिष का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें आयुर्दायाध्याय विशेष महत्त्वपूर्ण है।

बापूदेव शास्त्री, महाराष्ट्र (१८२१ ई.-१८६० ई.) ज्योतिष शास्त्र के इतिहास में भास्कराचार्य के पश्चात् प्रगति अवरुद्ध सी हो गयी। "ग्रहलाघव" तथा "मकरन्द" जैसे एक-दो ग्रन्थों को छोड़कर किसी विशिष्ट ग्रन्थ का प्रणयन नहीं हुआ। अरबी तथा फारसी के प्रभाव ने भारतीय ज्योतिषशास्त्र में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं किया। किन्तु १६वीं-२०वीं शती में पाश्चात्त्य विज्ञान के सम्पर्क में आने से भारतीय ज्योतिर्विज्ञान आन्दोलित हो उठा। नवीन विज्ञान के प्रकाश में भारतीय ज्योतिष के सिद्धान्तों का पुनरध्ययन-समीक्षण प्रारम्भ हुआ, जिसमें प्रथम पदन्यास का श्रेय म.म. बापूदेव शास्त्री को जाता है।

बापूदेव शास्त्री का जन्म १ नवम्बर १८२१ ई में पूना के समीप वेलणेश्वर ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम पं. सीताराम था। शास्त्री जी का प्रारम्भिक नाम पं. नृसिंह शास्त्री था, जिन्हें सब "बापू" नाम से ही पुकारते और जानते थे। इन्होंने एल. बिल्किन्स महोदय से पाश्चात्त्य रेखागणित, पदार्थ-विज्ञान आदि पढ़ा। संस्कृत सम्बन्धी इनकी शिक्षा-दीक्षा पहले पूना में श्री पाण्डुरंग तात्या देवेकर की पाठशाला में, तदनन्तर नागपुर में पं. ढुण्ढिराज महोदय द्वारा हुई। भारतीय और पाश्चात्त्य ज्योतिष की दोनों धाराओं पर शास्त्री जी का गहन अधिकार हो गया, जिससे आगे चलकर संस्कृत-जगत् बड़ा उपकृत हुआ। अपने जीवन-काल में कई बार यूरोपीय विद्वानों से आपका विभिन्न विषयों पर शास्त्रार्थ हुआ, जिनमें सर्वदा ये अपने विषय की सही स्थापना में सफल रहे। इनके पाडित्य से प्रभावित होकर लन्दन के विद्वानों ने सन् १८६४ ई. में इन्हें "रायल एशियाटिक सोसायटी" का मान्य सदस्य बनाया। १८८७ ई. में भारत सरकार ने सी.आई.ई. की उपाधि से तथा १८८६ में महामहोपाध्याय की उपाधि से विभूषित किया। बापूदेव शास्त्री ने सन् १८७३ ई. में चन्द्र और सूर्यग्रहण के समय का अत्यन्त शुद्ध निश्चय किया था, जिसके कारण ये काश्मीरनरेश द्वारा सम्मानित किये गये। १६३३ ई. में इन्होंने दृक्सिद्ध पञ्चाङ्ग का निर्माण किया जो आपके सुपुत्र पं. गणपतिदेव शास्त्री के संपादकत्व में अब तक

प्रकाशित हो रहा है। १६वीं-२०वीं शताब्दी में नवीन गणित की जागृति के मूल कारण शास्त्री जी हैं। गणित विषयक यूरोप के उच्च सिद्धान्तों का भारतीय सिद्धान्तों के साथ इन्होंने बहुत कुछ सामञ्जस्य किया। शास्त्री जी के संस्कृत में ग्रन्थ इस प्रकार हैं-

१. रेखागणितम् २. त्रिकोणमितिः ३. सायनवादः ४ प्राचीनज्योतिषाचार्याशयवर्णनम् ५. अष्टादशविचित्रप्रश्नसंग्रहः ५. तत्त्वविवेकपरीक्षा ६. मानमन्दिरस्थयन्त्रवर्णनम् ७. अङ्कगणितम्।

इनमें इनका "त्रिकोणमितिः" ग्रन्थ सर्वाधिक प्रसिद्ध है। भारतीय तथा वैदेशिक गणितज्ञों के मतों के विश्लेषण तथा नूतन विषयों के उल्लेखपूर्वक मन्थन के कारण इस ग्रन्थ का महत्त्व किसी भी गवेषणाग्रन्थ से अधिक है। शास्त्री जी के निर्देशन में ही श्रीनीलाम्बर झा ने पाश्चात्त्य पद्धति का अनुसरण करते हुए "गोलप्रकाशः" नामक ग्रन्थ रचा।

नीलाम्बर झा, बिहार-१८३३ ई. में एक प्रतिष्ठित और विद्वान् मैथिल ब्राह्मणकुल में इनका जन्म हुआ था। ये अलवर के राजा शिवदाससिंह के आश्रित थे। पं. नीलाम्बर झा भारतीय और पाश्चात्त्य ज्योतिष दोनों के विद्वान् थे। इन्होंने "गोलप्रकाशः" नामक ग्रन्थ रचना की। यह ग्रन्थ पाश्चात्त्य पद्धति का अनुसरण कर लिखा गया है, जिसमें प्राचीन सिद्धान्तों की उपपत्ति तथा बहुत से प्रश्नों के उत्तर बड़ी उत्तमता तथा नवीन रीति से समझाये गये हैं।

सामन्त चन्द्रशेखर, उड़ीसा इनका जन्म उड़ीसा के अन्तर्गत कटक से २५ कोस दूर खण्डद्वारा राज्य में सन् १८३५ ई. में हुआ था। ये व्याकरण, स्मृतिशास्त्र, पुराण, न्याय, काव्य और ज्योतिष के मर्मज्ञ विद्वान् थे। वेध द्वारा ग्रहों को निश्चित कर इन्होंने "सिद्धान्तदर्पण" नामक ज्योतिष का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा।

वेङ्कटेश रामकृष्ण (बापूजी) केतकर (जन्म-१८५४ ई.) - ये महाराष्ट्र के "केतकी" नामक स्थान के निवासी और आधुनिक काल के मूर्धन्य ज्योतिर्विद् थे। इन्होंने कई वर्षों के गहन चिन्तन और शोध के परिणामस्वरूप ज्योतिषविषयक कई ग्रन्थों का प्रणयन किया, जिनमें निम्न प्रमुख हैं-

१-ज्योतिर्गणितम्-यह बापूजी के २० वर्षों के अगाध तपोमय चिन्तन की देन है इससे ३००० वर्ष पहले और बाद की ज्योतिष सम्बन्धी गणना बिलकुल सूक्ष्मता पूर्वक सटीक की जा सकती है। रचनाकाल - १८६८ ई. आर्यभूषण प्रेस, पूना से १६३७ ई. में मुद्रित। २. केतकीग्रहगणितम्- रचनाकाल- १८६६ ई. । ३. वैजयन्तीपञ्चाङ्गगणितम् १६०० ई. (रचनाकाल) ४. केतकीपरिशिष्टम् - १६१६ ई. में रचित । ५, भारतभूमडण्ल-सूर्यग्रहणम्- १६२१ ई, में रचित। ६, सौरार्यब्राह्मतिथिगणितम्-१६२७ ई. में रचित। ७. सोपपत्तिग्रहगणितम्-१६१४ ई. रचित। ८. नक्षत्रविज्ञानम्- १६१६ ई. में रचित। ६. गोलद्वयप्रश्नविमर्शः - १६१८ ई. में रचित। १०. पञ्चाङ्गसंशोधनम् नं. ३- १६२३ ई.

रचित। ११, गोलत्रयप्रश्नविमर्शः - १६२४ ई. में रचित।

इन ग्रन्थों को न केवल भारतवर्ष अपितु इंग्लैण्ड, हालैण्ड, फ्रांस, अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों में भी बड़ी प्रंशसा मिली है।

डी.वी. केतकर (बापूजी केतकर के सुपुत्र)- १. परिमलवासनाभाष्यम्- डी.वी. केतकर ने बापूजी के "केतकीग्रहगणितम्" तथा "केतकीपरिशिष्टम्" पर सम्मिलित रूप से यह भाष्य लिखा है। जो आधुनिक उच्च गणितीय सिद्धान्तों पर आधारित है। २. शास्त्रशुद्धायनांशनिर्णयः- यह ग्रन्थ भी बड़ा प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण है।

सुधाकर द्विवेदी, उत्तर प्रदेश, (१८६० ई.-१६१० ई.) - म.म. पं. सुधाकर द्विवेदी का जन्म काशी से एक कोस दूर स्थित खजुरी ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम पं. कृष्णदत्त द्विवेदी था। इन्होंने संस्कृत कालेज, वाराणसी में पं. देवकृष्ण मिश्र से ज्योतिष शास्त्र की शिक्षा पायी थी। अध्ययन के पश्चात् १८८६ ई. से जीवन पर्यन्त इन्होंने संस्कृत कालेज के ज्योतिष के प्रधान आचार्य पद को सुशोभित किया। प्रारम्भ से ही द्विवेदी जी अनुपम वैदुष्य के धनी थे। अध्ययन काल में ही इन्होंने म.म. बापूदेव शास्त्री के ग्रन्थ में की गई अशुद्धि का संशोधन करने का महान् कार्य किया था। १८८७ ई. में सरकार ने इन्हें म.म. की उपाधि से विभूषित किया।

पं. सुधाकर द्विवेदी ने भारतीय ज्योतिष और पाश्चात्य ज्योतिष के सम्मिलन का जो कार्य पं. बापूदेव शास्त्री द्वारा आरम्भ किया गया था, उसे आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। अर्वाचीन युग के ज्योतिषशास्त्रविदों में उनका स्थान अप्रतिम है। यद्यपि पं. नीलाम्बर झा तथा पं. बापूदेव शास्त्री के ग्रन्थों में भी भारतीय, पाश्चात्य ज्योतिष के सम्मिलन का प्रयास दृष्टिगोचर होता है पर इनके ग्रन्थों में वैसी समन्वयात्मिका तथा गवेषणात्मिका प्रवृत्ति नहीं मिलती जो सुधाकर जी के ग्रन्थों में प्राप्त होती है। चन्द्रश्रृङ्गोन्नतिसाधन के विषय में लल्ल-भास्कर-गणेश-दैवज्ञ ज्ञानराज-कमलाकर आदि प्रसिद्ध दैवज्ञों तथा पं. बापूदेव शास्त्री जी के मत का निराकरण करते हुए युरोपीय ज्योतिः शास्त्र की विधि से जो उन्होने चन्द्रश्रृङ्गोन्नतिसाधन की युक्तियुक्तता प्रदर्शित की है, वह दर्शनीय है। उस पर प्रशंसनीय तथ्य यह है कि यह ग्रन्थ उन्होंने केवल बीस वर्ष की अवस्था में प्रणीत किया। १८ वर्ष की अल्पायु में ही इन्होंने दीर्घवृत्त नामक ग्रन्थ की रचना की थी, जिसपर इन्हें महामहोपाध्याय की उपाधि प्राप्त हुई। आपने ज्योतिष सम्बन्धी विपुल साहित्य के प्रणयन तथा सम्पादन का कार्य किया, जिसमें से कुछ प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार हैं-१. दीर्घवृत्तलक्षणम्- प्रथम संस्करण ब्रजभूषणदास एण्ड कम्पनी बनारस द्वारा सन् १८८१ में प्रकाशित, द्वितीय संस्करण पं, बलदेव मिश्र की टिप्पणी के साथ मास्टर खिलाड़ी एण्ड सन्स, वाराणसी द्वारा सन् १६४३ ई. में तथा तृतीय संस्करण संस्कृत विश्वविद्यालय द्वारा १६८१ ई. में प्रकाशित २. वास्तवचन्द्रश्रृङ्गौन्नतिधनम् ३. भूभ्रमरेखानिरूपणम् ४. ग्रहणे छादकनिर्णयः ५. यन्त्रराजः ६. प्रतिमाबोधकः ७. धराभ्रमे प्राचीननवीनयोर्विचारः ८. पिण्डप्रभाकरः ६. गणकतरङ्गिणी

- यह कालक्रम से लिखा गया ज्योतिष शास्त्र का इतिहास है। जिसमें ५०० ई. से १८०० ई. तक के ज्योतिषियों तथा उनकी रचनाओं का प्रामाणिक विवरण है। १०. द्युचरचारः ११. समीकरणमीमांसा १२. दिङ्मीमांसा।

सम्पादित ग्रन्थ- १. पञ्चसिद्धान्तिका २. सिद्धान्ततत्त्वविवेकः ३. शिष्यधीवृद्धितन्त्रम् ४. करणकुतूहलवासना ५. लीलावती ६. बृहत्संहिता ७. ब्रह्मस्पुटसिद्धान्त-८. ग्रहलाघवः ९. त्रिंशिका १०. करणप्रकाशः ११. बीजगणितम् १२. सिद्धान्तशिरोमणिः १३. सूर्यसिद्धान्तः १४. चलनकलन १५. चलराशिकलन १६. अंकगणित का इतिहास १७. वेदाङ्ग ज्योतिष पर भाष्य।

मुरलीधर झा, बिहार (१८६९ ई.- १९२९ ई.)- इनका जन्म बिहार प्रदेश के दरभंगा जिला के अन्तर्गत "श्यामसिद्धव" ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री चानन झा था। इन्होंने भी काशी में ज्योतिष के मूर्धन्य विद्वान पं. सुधाकर द्विवेदी के शिष्यत्व में रहकर ज्योतिष का गहन अध्ययन किया था। ज्योतिषशास्त्र की इनकी अगाध विद्वत्ता से प्रभावित होकर १९०६ ई. में गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज के प्राचार्य श्री थीवो ने इन्हें ज्योतिषविभाग में प्रधानाचार्य नियुक्त किया था। तब से लगातार १९२७ ई. तक, २१ वर्षों तक अध्यापन-कार्य करने के पश्चात् इन्होंने अवकाश ग्रहण किया।

सन् १९२२ ई. में इन्हें महामहोपाध्याय उपाधि द्वारा विभूषित किया गया। इनकी ये रचनाएँ उल्लेखनीय हैं- १. वेदाङ्ज्योतिष के ऊपर "सुधाकर भाष्य" पर "लघुविवरण" नाम की टीका। २. "सिद्धान्ततत्त्वविवेक" का समालोचनात्मक संस्करण। ३. लीलावती" तथा "बीजगणित" की उपपत्ति तथा टिप्पणी। त्रिकोणमिति - म.म. बापूदेव शास्त्री की इस कृति का विशिष्ट टिप्पणी के साथ सम्पादन।

इसके अतिरिक्त "सिद्धान्तशिरोमणि के गणिताध्याय और गोलाध्याय के अशुद्ध पाठों का भी इन्होंने संशोधन किया। मुरलीधर झा जी ने सिद्धान्तज्योतिष के कठिन-ग्रन्थों पर स्थान-स्थान पर जो टीका-टिप्पणी लिखी है, उससे उनकी तलस्पर्शिनी विद्वत्ता का परिचय मिलता है। वराहमिहिर रचित "बृहत्संहिता" की कीटभक्षितजीर्ण-शीर्ण पाण्डुलिपि से झा जी ने अपनी प्रतिभा के बल पर सुसम्पादित संशोधित संस्करण निकाला जो उनके प्रकाण्ड वैदुष्य का प्रमाण है।

बलदेव मिश्र-बिहार (१८६९ ई.) पं. बलदेव मिश्र का जन्म सन् १८६९ ई. में बिहार प्रान्त के सहरसा जिले के बनगाँव नामक सुप्रसिद्ध ग्राम में हुआ था। ये भी पं. सुधाकर द्विवेदी की शिष्य-मण्डली में से एक थे। इन्होंने १९२२ ई. से लेकर १९३० ई. तक काशी विद्यापीठ में गणित का अध्यापन किया। कुछ समय गया जिले में संस्कृत महाविद्यालय के अधीक्षक पद का कार्य करने के उपरान्त सन् १९४० ई. से १९५१ ई. तक सरस्वती-भवन पुस्तकालय में सूची-निर्माणकर्ता (कैटेलागर) का कार्य तथा तदुपरान्त अवकाश ग्रहण करने तक पटना के काशी प्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट में दुर्बोध

हस्तलिपियों के वाचन का कार्य किया। इनका लिखा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ "आर्यभटीय" की संस्कृत टीका है, जिसका प्रकाशन बिहार रिसर्च सोसाइटी, पटना द्वारा सन् १९६६ ई. में किया गया है। "आर्यभटीय" जैसे स्वतन्त्र नवीन विचारों से संचलित ग्रन्थ की टीका करना अत्यधिक बुद्धिसाध्य कार्य है, पर बलदेव मिश्रजी इस कठिन कार्य में सर्वदा सफल हुए हैं। इसके अतिरिक्त इनके अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ इस प्रकार हैं-१. त्रिकोणमिति", २. भास्करीय बीजगणित पर टिप्पणी। इन्होंने अपने गुरु पं. सुधाकर द्विवेदी के अनेक ग्रन्थों-दीर्घवृत्त, चलन-कलन, चलन-राशि-कलन आदि का सम्पादन कार्य भी किया।

रामयत्न ओझा, बिहार - (१९३८ ई. में मृत्यु) - पं. रामयत्न ओझा का जन्म बिहार प्रदेश के छपरा मण्डलान्तर्गत मांझी ग्राम में उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में हुआ था। इन्होंने काशी में पं. अयोध्यानाथ शर्मा से फलित ज्योतिष तथा म.म. सुधाकर द्विवेदी से सिद्धान्त का विधिवत् अध्ययन किया। ज्योतिष शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान श्री ओझा को महामना मालवीय जी ने हिन्दूविश्वविद्यालय के संस्कृत महाविद्यालय में ज्योतिष विभाग का अध्यक्ष बनाया। ओझा जी का "फलितविकासः" नामक मौलिक ज्योतिष के सम्बन्ध में उपयोगी गवेषणापूर्ण ग्रन्थ है।

बलदेवदत्त पाठक, उत्तर प्रदेश (जन्म १८७३) इनका जन्म गोरखपुर जनपद के देवापरा गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम रामदीहल पाठक था। इन्होंने काशी में पं. सुधाकर द्विवेदी से ज्योतिष शास्त्र का अध्ययन कर विशेषज्ञता प्राप्त की थी। पाठक जी ने "मण्डपकुण्डसिद्धिः" नामक ग्रन्थ की रचना की। यह पुस्तक प्रकाशित है। इन्होंने "नाडीवलययन्त्र" का निर्माण किया था। आज भी यह यंत्र काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में ज्योतिषशास्त्र की जानकारी के लिए प्रयुक्त होता है।

सीताराम झा, बिहार (१८९० ई.-१९७५ ई.) पं. सीताराम झा का जन्म मिथिला के दरभंगा जिले के "चौगमा" ग्राम में सन् १८९० ई. में हुआ था। इन्होंने कलकत्ते से ज्योतिषतीर्थ तथा राजकीय संस्कृत कालेज से ज्योतिषाचार्य की पदवी प्राप्त की। १९२१ ई. में ये काशी की "संन्यासी पाठशाला" में ज्योतिष के अध्यापक नियुक्त हुए तथा ४१ वर्षों तक अध्यापन के पश्चात् १९६२ ई. में विद्यालय के अध्यक्ष पद से अवकाश ग्रहण किया।

पं. सीताराम झा ज्योतिष के तीनों स्कन्धों-गणित, फलित तथा रमल के मर्मज्ञ विद्वान् थे। इन्होंने प्राचीन ग्रन्थों की व्याख्या तथा उपपत्ति लिखने के अतिरिक्त मौलिक ग्रन्थों का भी निर्माण किया। इनके प्रमुख संस्कृत ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं-पाराशर-होराशास्त्र, जो ग्रन्थ का बड़े परिश्रम से सम्पादित विमर्शात्मक संस्करण है। मौलिक रूप से लिखे गये ग्रन्थों में कतिपय ग्रन्थों के नाम ये हैं-गणितसोपान, गणितचन्द्रिका, गोलपरिभाषा, गोलबोध, जन्मपत्रविधान, ज्योतिषशास्त्र प्रयोजन आदि।

दयानाथ झा (१९६५ ई. में मृत्यु)-विमण्डलवक्रविचारः- मिथिलाशोधसंस्थान, दरभंगा से प्रकाशित।

चन्द्रभानु पाण्डेय, उ.प्र. (१९-२०वीं शती)-ये सरस्वती भवन अनुसन्धान केन्द्र (वाराणसी) से जुड़े रहे और उसी रूप में उन्होंने ग्रन्थ का सम्पादन किया। बीजगणितावतंसः- पर टिप्पणी-लघुग्रन्थरत्नप्रभावली-५ में "सारस्वती सुषमा" में १९५६ ई. में प्रकाशित। मूल ग्रन्थ सन् १३५० ई. में श्रीनारायण पण्डित द्वारा विरचित है। इसका पहली बार सम्पादन और प्रकाशन चन्द्रभानु पाण्डेय जी द्वारा हुआ है। पाण्डेय जी ने प्रचलित अर्वाचीन बीजगणित पद्धति के अनुसार इसपर विशद किन्तु सरल टिप्पणी लिखी है। उपपत्तियाँ तथा साधन आदि सब यथास्थान दिये गये हैं, जिससे यह टिप्पणी विषय को स्पष्ट करने में सर्वथा समर्थ और उपयोगी हो गयी है।

कन्हैयालाल शर्मा "दीक्षित, उ.प्र. (१९-२०वीं शती) हथुआ राज्य के महाराज के आश्रित। रत्नाभरणम्-काशी के हितचिन्तक प्रेस से १९३४ ई. में मुद्रित। श्री दुर्गादत्त त्रिपाठी द्वारा सम्पादित और प्रकाशित। ग्रन्थ का रचनाकाल १९८५ वि. तदनुसार १९२८ ई.। यह फलित ज्योतिष का अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है। केवल कुण्डली के आधार पर भूत, भविष्य, वर्तमान का आशु उत्तर देने तथा बालकों को सुलभ तथा स्पष्ट फल कहने में योग्य बनाने हेतु इस ग्रन्थ की रचना की गयी है।

दुर्गादत्त त्रिपाठी, उ.प्र. (१९-२०वीं शती)-ये कन्हैयालाल शर्मा के समकालीन थे। इनके पिता का नाम श्री रणवीर दत्त त्रिपाठी और गुरु का नाम श्रीमाधव शास्त्री था। ये काशी में रामघाट पर रहते थे। "रत्नाभरणम्" पर "श्रीनाथ" नाम्नी टीका-मूल ग्रन्थ के साथ हितचिन्तक प्रेस, काशी से १९३४ ई. में मुद्रित।

दुर्गाप्रसाद द्विवेदी (१९-२०वीं शती)-उपाधि-महामहोपाध्याय। ये जयपुर महाराज के समाश्रित रहे। उपपत्तीन्दुशेखरः- भास्कराचार्यकृत सिद्धान्तशिरोमणिकी परिष्कारमयी टीका, अहमदाबाद से १९३६ ई. में प्रकाशित। इसमें मूल ग्रन्थ के गणित की सभी उपपत्त्यिां दी गयी हैं। बापूदेव शास्त्री द्वारा किये गये विशेष परिष्कारों का भी इसमें समावेश है। यह ज्योतिषीय गणित का प्रौढ और उपयोगी ग्रन्थ है।

सीताराम शास्त्री शेंडे (२०वीं शती) - ये दक्षिण भारत के ब्रिटिश राज्यकालीन और मोर (राज्य) के निवासी थे। इन्होंने नित्यानन्द पर्वतीय जी (१८६७-१९३३) से व्याकरण, वेद, मीमांसा और धर्मशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया। इसके अतिरिक्त ये "खगोल-विज्ञान" के भी बहुत अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में वर्षों तक अध्यापन कार्य किया और प्रवाचक के पद से सेवा-निवृत्त हुए। पं. सीताराम शास्त्री जी को आकाशीय तारों एवं नक्षत्रों का बहुत अच्छा ज्ञान था, इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ "वेदार्थविचार" है। इसमें खगोल की दृष्टि से ऋग्वेदीय ऋचाओं की व्याख्या की गयी है। "वसन्त-सम्पात" के सिद्धान्त को अभिलक्षित कर तदुपयोगी मन्त्रों की व्याख्या द्वारा निर्वचन करने की मौलिकता (नक्षत्रविद्या) इस ग्रन्थ की विशेषता है। निर्वचन करने की शैली यास्क के निरुक्त का अनुगमन करती है। यह एक महत्त्वपूर्ण प्रौढ रचना है।

महावीरप्रसाद श्रीवास्तव (२०वीं शती)-सूर्यसिद्धान्त पर "विज्ञानभाष्य" अद्यतन खगोलीय एवं गणितीय गवेषणाओं से परिपूर्ण ग्रन्थ।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त गोदवर्मराज कृत "गोलाध्यायः", योगध्यान मिश्रकृत "क्षेत्रतत्त्वदीपिका" (१८३६ ई.,) हट्टन के "ए फोर्स इन मैथमेटिक्स" का अनुवाद। कुट्टमत्तु कुंजुन्नि कुरुप्प (१८१३-८५) कृत "श्री चक्रगणितम्", इलत्तूर रामस्वामी (१८२४-१६०७) कृत "क्षेत्रतत्त्वदीपिका" (१८२३-२८) (ज्यामिति पर ग्रन्थ,) रघुनाथ कृत "दृग्गणितम्" (१८७७ ई.) जयदेव मिश्र (१८५४-१६२५) कृत "वास्तुपद्धतिः", पटइटत्त शंकरन मूषत (१८६६-१६५५) कृत "अंकविद्या" यज्ञेश्वर दीक्षित कृत "गोलानंदानुक्रमणिका" (१८४२ ई.) लाला पंडितकृत प्रश्नरत्नावली (१८६५) ए. आर. राजराजवर्म कोइतम्बुरान कृत "करणपरिष्करण" तथा पञ्चाङ्गशुद्धिपद्धतिः" (१६२० ई.) दीनानाथ व्यासकृत "सर्वसंग्रहः, रामदयालु पण्डितकृत प्रश्नशिरोमणिः (१८७४ ई.) सुन्दरवीरराघव कृत ख्यादिचक्रम, ख्यादिस्फुटम, ख्यादिगतिभेदम्, गोविन्द आप्टेकृत सर्वानन्दलाघवम्' तथा सर्वानन्दकरणम्, महादेव पाठक कृत "जातकतत्त्वम्" आदि गणित तथा ज्योतिष के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

आयुर्वेद

१६ वीं-२० शताब्दी का युग भारतीय आयुर्वेद पर पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान के प्रभाव का युग है। १८२४ ई. में कलकत्ता में संस्कृत कालेज की स्थापना हुई जिसका मुख्य उद्देश्य प्राच्यविद्या के साथ-साथ आधुनिक विज्ञान का भी प्रचार करना था। १८२७ ई. से वहाँ भारतीय और यूरोपीय चिकित्सा की कक्षाएँ प्रारम्भ हुईं। वहाँ अस्थियों के अध्ययन के साथ-साथ पशुओं का छेदन भी कराया जाता था। १८३५ ई. में कलकत्ता मेडिकल कालेज की स्थापना हुई। इसके परिणामस्वरूप एलोपैथी के ज्ञान का जो प्रचार-प्रसार हुआ, उससे भारतीय आयुर्वेद अछूता न रह सका। १६ वीं शती के अन्त में कविराज विनोदलाल सेनगुप्त ने "आयुर्वेद-विज्ञानम्" का प्रणयन किया, जिसका द्वितीय खण्ड कलकत्ता से १८८७ ई. में प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ में प्राचीन-नव्य विचारधाराओं का संगमन बड़े स्पष्ट तथा प्रभावी रूप में देखने को मिलता है। इस ग्रन्थ की शैली प्राचीन गुरु-शिष्य संवाद-पद्धति पर आधारित है, परन्तु इसमें नवीन तथ्यों को आयुर्वेदीय रूप देकर उन्हें आत्मसात् किया गया है। अनेक रोगों के आधुनिक नामों को संस्कृत में अनूदित कर उनका विवेचन किया गया है। रोगों के निदान में आधुनिक विधियों का सहारा लेने को कहा गया है, परन्तु चिकित्सा की पद्धति तथा औषधि आयुर्वेदीय ही है। यह ग्रन्थ आगे चलकर बीसवीं शती के गणनाथ सेन आदि आयुर्विदों के लिए पथ-प्रदर्शक बना। गणनाथ सेन इस समन्वयवादी विचारधारा के अग्रणी नेता बने। इनके "प्रत्यक्षशारीरम्" के प्रकाशन (१६१३ ई.) से आधुनिक काल में आयुर्वेद के शरीरशास्त्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। इनकी मान्यता थी कि जहाँ प्रत्यक्षविरोध हो वहाँ, तथा सूत्रशैली में निर्दिष्ट शास्त्रीय विषयों का विशदीकरण आधुनिक शारीरशास्त्र के तथ्यों के अनुसार करना चाहिये। किन्तु इन नवीन

विचारों की परिपोषक विचारधारा का विरोध भी हुआ। बंगाल में इनकी विचारधारा का विरोध कविराज ज्योतिषचन्द्र सरस्वती ने, काशी में डॉ. भास्कर गोविन्द घाणेकर ने किया। घाणेकर का कथन था कि आधुनिक विज्ञान के प्रभाव में आकर प्राचीन आर्ष ग्रन्थों पर आक्षेप करना उचित नहीं, बल्कि उनका गहन विचारपूर्वक समाधान किया जाना चाहिए। उन्होंने इसी शैली पर सुश्रुतसंहिता के शारीरस्थान पर व्याख्या लिखी, जो विद्वानों द्वारा समादृत हुई। कारण यह था कि एक ओर जहाँ द्रुत गति से मेडिकल कालेजों की स्थापना हो रही थी, वहाँ दूसरी ओर गुरु-परम्परा से आयुर्वेद की शिक्षा भी चल रही थी। मुर्शिदाबाद इस प्रकार की आयुर्वेदीय शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र था।

१९५० के आस-पास सारे भारत के आयुर्वेदिक कालेजों में प्राचीन एवं आधुनिक दोनों के मिश्रित और विषयप्रधान पाठ्यक्रम पढ़ाये जाते थे। संहितापद्धति का क्रम नहीं रहा। किन्तु, ज्योतिषचन्द्र सरस्वती जैसे वैद्यों का एक वर्ग जो प्राचीन पद्धति का समर्थक था ओर मिश्र पद्धति को हानिकर मानता था उसके आग्रह से विद्यापीठों में शुद्ध आयुर्वेद का पाठ्यक्रम एवं उसमें परीक्षाव्यवस्था चलती रही। इन परस्पर विरोधी दो विचारधाराओं से लाभ यह हुआ कि एक ओर पाश्चात्य ज्ञान समन्वित मिश्र-पद्धति से आयुर्वेद का भण्डार समृद्ध हुआ तथा इसे अनुसन्धानात्मक दृष्टि मिली, तो दूसरी ओर शुद्ध आयुर्वेद ने विश्व का ध्यान आयुर्वेद के महत्त्व की ओर आकर्षित किया।

१९६० के बाद नव्य विज्ञान की अनुसन्धानात्मक दृष्टि से देशी चिकित्सापद्धतियों को अग्रसर करने की दिशा में प्रयास हुए। १९६९ में इस हेतु केन्द्रीय सरकार द्वारा केन्द्रीय परिषद् की तथा १९७१ में भारतीय चिकित्सा-परिषद् की स्थापना हुई। स्वास्थ्य सेवाओं में देशी चिकित्सा को एलोपैथी के समान महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। इससे आयुर्वेद का शिक्षण-अनुसन्धान प्रगत हुआ और विदेशियों का ध्यान भी इस ओर आकृष्ट होने लगा।

आधुनिक काल में आयुर्वेदीय वाङ्मय में निम्न नयी प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं-

१. आधुनिक रोगों, औषधियों, शरीर के अङ्गों के नामों को संस्कृत में रूपायित कर उनका ग्रहण किया गया।

२. रोग-निदान के लिए आधुनिक परीक्षण-पद्धतियों स्टेथोस्कोप से शब्दश्रवण आदि को मान्यता दी गयी। शारीरज्ञान के लिए शवच्छेद तथा शस्त्रादिकर्म के लिए प्रत्यक्षाभ्यास को स्वीकारा गया।

३. पहले ग्रन्थों में सब विषय मिलेजुले रहते थे, इस काल में विषय-वस्तु को विभाजित कर उसे सुसम्बद्ध क्रम से प्रस्तुत किया गया। राजेश्वर शास्त्री का "स्वस्थवृत्तसमुच्चय" इसका उदाहरण है।

४. शास्त्रीय योगों में युगानुरूप संशोधन-परिवर्धन किये गये।

५. जो लेखक स्वयं वैद्य थे, उन्होंने अपने अनुभवों को भी ग्रन्थों में संयोजित किया। इस प्रकार व्यावहारिक प्रामाणिकता से आयुर्वेद परिपुष्ट हुआ।

इस युग में जो वाङ्मय सृजित हुआ, उसके प्रमुख प्रणेताओं और उनकी रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं-

गुरुपद हालदार शर्मा, कलकत्ता (१८७६ ई. में जन्म)-ये मूलतः दार्शनिक थे। इन्होंने वेद और दर्शन से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थों की रचना की, जिनमें शतरुद्री की सरल टीका, सप्तशती की वृत्ति (दर्शनमूलक) सनत्सुजातीय की बंगला टीका आदि उल्लेखनीय हैं। बृद्धत्रयी- यह इनका सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसमें चरक, सुश्रुत और वाग्भट आयुर्वेद की इस वृद्धित्रयी के कृतित्व पर महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक विचार किया गया है। प्रथम बार न्यू महामाया प्रेस कलकत्ता से १९५५ ई. में मुद्रित।

गङ्गाधर राय (१७९६-१८५५) - इनका कार्यक्षेत्र मुर्शिदाबाद (बंगाल) रहा। इन्होंने आयुर्वेद के अतिरिक्त तन्त्र, व्याकरण, साहित्य, दर्शन, उपनिषद, धर्मशास्त्र, ज्योतिष आदि विषयों पर भी ग्रन्थ लिखे। इनकी रचनाओं की कुल संख्या ७६ बतायी जाती है, जिनमें आयुर्वेद से सम्बन्धित निम्नवत् हैं-

१. "चरकसंहिता" की "जल्पकल्पतरु" व्याख्या- यह अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण व्याख्या है, विशेषतः दार्शनिक विषयों का इसमें गंभीर विवेचन किया गया है। चक्रपाणि टीका के साथ एक संस्करण कलकत्ता से १९२७ ई. में प्रकाशित। २. परिभाषा ३. भैषज्यरामायणम् ४. आग्नेयायुर्वेदव्याख्या ५. नाडीपरीक्षा ६. राजवल्लभीय द्रव्यगुणविवृतिः ७. भास्करोदयम् ८. मृत्युञ्जयसंहिता ९. आरोग्यस्तोत्रम् १०- आयुर्वेदसंग्रहः ११. प्रयोगचन्द्रोयम्।

परमेश्वर पण्डित (१९ वीं शती) - हृदयप्रियः-त्रिवेन्द्रम् के गवर्नमेण्ट प्रेस से १९३१ ई. में मुद्रित। अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावली-१११। ग्रन्थ का रचनाकाल १८६४ ई.। यह वाग्भटाचार्य के "अष्टाङ्गहृदय"पर आधारित आयुर्वेद का ग्रन्थ है जिसमें प्राच्य एवं नवीन लेखकों के चिकित्साशास्त्र सम्बन्धी विचारों को अद्यतन व्यावहारिक-विज्ञान की दृष्टि से परीक्षित किया गया है और उन्हें सरल कारिकाओं में उपनिबद्ध किया गया है। इसमें ५ खण्ड हैं। प्रत्येक खण्ड कई अध्यायों में विभक्त है। "सुखसाधक" इनका वैद्यक विषयक अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

कृष्णराम भट्ट (१८४८-१८९७) - ये जीवराम भट्ट के ज्येष्ठपुत्र थे। इन्होंने अपने पिता से ही वैद्यक का अध्ययन किया था। ये आयुर्वेद के उद्भट विद्वान् तथा यशस्वी चिकित्सक थे और जयपुर के राजकीय संस्कृत महाविद्यालय में आयुर्वेद के प्राध्यापक रहे। आपका प्रसिद्ध ग्रन्थ "भैषज्यमणिमाला" (सिद्धभेषजमणिमाला) है। इसमें शास्त्रीय तथा अनुभूत (विशेषतः जयपुर परम्परा में प्रचलित) योगों का संकलन है। यह आमुख, द्रव्य, चित्र, उपाय (चिकित्सा) और रसायन (बाजीकरण) इन पाँच गुच्छों में विभक्त है। यह ग्रन्थ "मणिच्छटा" नामक व्याख्या सहित जयपुर से १९६८ ई. में प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त भट्ट जी ने आयुर्वेद विषयक ग्रन्थ "विद्वद्वैद्यतरङ्गिणी" की भी रचना की।

कविराज विनोदलाल सेनगुप्त, बंगाल (१९ वीं शती) - इन्होंने १९ वीं शती के अन्त

में "आयुर्वेदविज्ञानम्" नामक संहितात्मक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ का द्वितीय खण्ड १८८७ ई. में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। इसके पहले बंगला अनुवाद के साथ इसका प्रकाशन हो चुका था। यह ग्रन्थ "भाव-प्रकाश" तथा अन्य प्राचीन-नवीन ग्रन्थों का आधार लेकर लिखा गया है। १६ वीं शती तक एलोपैथिक चिकित्सा-पद्धति इस देश में व्यापक प्रचार-प्रसार पा चुकी थी (१८३५ ई. में कलकत्ता मेडिकल कालेज की स्थापना हो चुकी थी) अतः इस ग्रन्थ में उस पद्धति के तत्कालीन आधुनिकतम ज्ञान का भी सन्निवेश है। उस ज्ञान को आयुर्वेद के भीतर आत्मसात् करने का प्रयत्न किया गया है। इसके लिए कई रोगों के आधुनिक नामों को संस्कृत रूप देकर उनका वर्णन किया गया है परन्तु चिकित्सा आयुर्वेदीय ही है। कई अन्य तन्त्रोक्त उपयोगी औषधियों का भी इसमें समावेश कर लिया गया है।

इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु चार स्थानों में विभाजित है १. सूत्रस्थान २. शरीरस्थान ३. द्रव्यस्थान ४. निदान-चिकित्सितस्थान। प्रथम स्थान में कुल ७८ अध्याय, द्वितीय में १५ तृतीय में ४१ तथा चतुर्थ में ८२ इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ में कुल २१६ अध्याय हैं। बीसवीं शती के लिए यह ग्रन्थ पथ-प्रदर्शक बना, जिसके आधार पर गणनाथ सेन आदि आयुर्विदों ने अपने ग्रन्थ लिखे।

पी. एस. वारियर, केरल (१८६६ ई.) वैद्यरत्न डॉ. पी. एस. वारियर आर्य वैद्यशाला, कोट्टिकल के संस्थापक थे। इन्होंने दक्षिण भारत में शारीरविज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। १. अष्टाङ्गशारीरम्-१६२५ ई., इसमें ८ अध्याय हैं। २. बृहच्छारीरम्- १६४२ ई.। यह पश्चात्य चिकित्साशास्त्र पर आधारित ग्रन्थ है। इनमें कुल १२ अध्याय हैं। ३. अनुग्रहमीमांसा-पी. एस. वारियर तथा व्ही. एन. नायर द्वारा संयुक्त रूप से विरचित ग्रन्थ। यह जन्तुरोगों की चिकित्सा से संबद्ध है। १६३८ ई. में कलकत्ता से मुद्रित।

योगीन्द्रनाथ सेन (१८७१-१६१८)-ये कविराज गंङ्गाधर राय के शिष्य म. म. कविराज द्वारकानाथ सेन के पुत्र थे। चरकसंहिता पर इन्होंने "चरकोपस्कार" नामक व्याख्या लिखी, जो १६२० ई. में अपूर्ण प्रकाशित हुई थी। स्वामी लक्ष्मीराम ट्रस्ट, जयपुर से इसका पुनः प्रकाशन हुआ है। इसमें सुबोध और व्यावहारिक ढंग से आयुर्वेदपरक विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

हाराणचन्द्र चक्रवर्ती-(देहावसान १६३५ ई.) ये कविराज गङ्गाधर के शिष्य थे। इन्होंने "सुश्रुतसंहिता" पर "सुश्रुतार्थसंदीपन" नामक भाष्य लिखा। १६०८ ई. में कलकत्ता से प्रकाशित। यह टीका सरल तथा बोधगम्य है।

शारदाचरण सेन-"शारदा" व्याख्या। यह "माधवनिदान" की व्याख्या है। प्रकाशक -कविराज पी. के. सेन, बनारस, १६३२ ई.।

कविराज गणनाथसेन (१८७७ ई.-१६४५ ई.) - म. म. कविराज गणनाथ सेन का

जन्म काशी में १८७७ ई. को हुआ था। इनके पिता कविराज विश्वनाथ सेन आयुर्वेद के चिकित्सक एवं आचार्य थे। गणनाथ सेन प्राचीन एवं नव्य आयुर्वेदीय विचारधारा के समन्वयकारक थे। कविराज विनोदलाल सेन की "आयुर्वेदविज्ञानम्" में स्थापित पद्धति को इन्होंने और आगे बढ़ाया।

१- सिद्धान्तनिदानम् - रोगनिदानविषयक शास्त्र। प्रथम संस्करण १६२६ ई. में कल्पतरुप्रसाद भवन, कलकत्ता से प्रकाशित। इसमें न्यूमोनिया, टायफायड, कालाजार आदि कुछ अन्य आधुनिक रोगों को भी समाविष्ट कर लिया गया है। आचार्य प्रियव्रत शर्मा ने इस पर "तत्त्वदर्शिनी" व्याख्या लिखी है। २. प्रत्यक्षशारीरम्-यह भी गणनाथसेन की प्रसिद्ध रचना है। यह शरीरव्यवच्छेदशास्त्र विषयक ग्रन्थ है। १६१६ ई. में कलकत्ता से मुद्रित। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से आधुनिक काल में शारीरशास्त्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। इस ग्रन्थ में आधुनिक शारीरविज्ञान के तथ्यों को भी संस्कृत में रूपान्तरित कर ग्रहण किया गया है। ३. शरीरविच्छेदः- शल्यक्रियाविषयक। १६१६ ई. में मुद्रित। ४. संज्ञापञ्चकविमर्शः - कलकत्ता से १६३१ ई. में प्रकाशित। ५. शारीरपरिभाषा- कलकत्ता से १६३६ ई. में प्रकाशित। कविराज गणनाथ सेन आयुर्वेद में प्राचीन विचारधारा के साथ अर्वाचीन वैज्ञानिक तथ्यपूर्ण विचारधारा के समन्वयकारक मूर्धन्य एवं अग्रणी नेता थे। अतः प्राचीन परम्परा के परिपोषक कुछ लोग जिनमें बंगाल के पं. ज्योतिषचन्द्र सरस्वती तथा काशी के डॉ. भास्कर गोविन्द घाणेकर प्रमुख थे, इनसे सहमत नहीं थे।

ज्योतिषचन्द्र सरस्वती (१६ वीं-२० वीं शती) - ये भी बगंवासी थे। ये गणनाथ सेन के विचारों के विरोधी थे। इन्होंने "चरकप्रदीपिका" नामक टीका लिखी थी जो केवल सूत्रस्थान तक प्रकाशित हुई थी। यह व्याख्या विद्वत्तापूर्ण तथा जटिल स्थलों को स्पष्ट करने में अतीव उपयोगी है। इन्होंने "शारीरविनिश्चयः" नामक ग्रन्थ भी लिखा था, जो अप्रकाशित है।

शिवदास सेन (१६-२० वीं शती)-"चक्रदत्तः" नामक चिकित्सासग्रंह ग्रन्थ पर "तत्त्वचन्द्रिका" टीका। "चक्रदत्त" म. म. चरक चतुरानन चक्रपाणिदत्त द्वारा प्रणीत चिकित्सा-ग्रन्थ है, उस पर शिवदास सेन ने बड़ी उपयोगी टीका लिखी है। मूल ग्रन्थ सहित टीका वाचस्पत्य प्रेस कलकत्ता से १६३३ ई. में मुद्रित है।

यादव जी त्रिक्रमजी (१८८१-१६५६) - इनका जन्म गुजरात के पोरबन्दर में हुआ था। इनके पिता वैद्य त्रिक्रम जी मोरधन जी थे। इन्होंने अपने पिता से आयुर्वेद का, राजस्थान के पं. गौरीशंकर शास्त्री से आर्ष ग्रन्थों का तथा हकीम रामनारायण जी से यूनानी चिकित्सा का अध्ययन किया।

इन्होंने प्राचीन ग्रन्थों के पुनरुद्धार का अपूर्व कार्य किया, जो इनके वैदुष्य का परिचायक है। इन्होंने "मधुकोष" व्याख्या सहित "माधवनिदान" का संपादन किया, जो १६०१ ई. में निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हुआ। चरकसंहिता और सुश्रुतसंहिता

का इनके द्वारा संपादित संस्करण (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित) अद्यावधि सर्वोत्तम संस्करण है। इसके अतिरिक्त इन्होंने बहुत से अन्य ग्रन्थों तथा उनके अनुवादों को प्रकाशित कराया। श्री रणजितराय आयुर्वेदालंकार इनके योग्य शिष्य थे। त्रिक्रम जी के स्वतन्त्र ग्रन्थ निम्नांकित हैं-

१- आयुर्वेदीय व्याधिविज्ञानम्- दो भागों में। पूर्वार्ध वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन से १९५४ ई. में तथा उत्तरार्ध १९५६ ई. में प्रकाशित।

२- रसामृतम्- मोतीलाल बनारसीदास द्वारा १९५१ ई. में प्रकाशित। ग्रन्थ में ९ अध्याय, साथ में ९ परिशिष्ट हैं। इसमें भस्म, विष्टि, रसयोग आदि वर्णित हैं।

३- द्रव्यगुणविज्ञानम्- पूर्वार्ध भाग का तृतीय संस्करण आयुर्वेदभवन से १९५३ ई. में प्रकाशित तथा उत्तरार्ध भाग का प्रथम खण्ड (द्वितीय संस्करण) निर्णय सागर प्रेस से १९४७ ई. में एवं द्वितीय खण्ड १९५० ई. में प्रकाशित।

४- सिद्धयोगसंग्रहः- अनुभूत तथा शास्त्रीय योगों का संकलन। यह ग्रन्थ ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें युगानुरूप शास्त्रीय योगों में भी कुछ संशोधन किये गये हैं। श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन से द्वितीया आवृत्ति सन् १९४६ ई. में प्रकाशित।

यादव जी ने अर्वाचीन युग में द्रव्यगुण को वैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। इन्होंने संभाषापरिषदों के माध्यम से आयुर्वेद की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि को वैज्ञानिक दृष्टि से समन्वित कर उसे बोधगम्य और आकर्षक बनाने का स्तुत्य कार्य किया।

हरिदास श्रीधर कस्तूरे - आयुर्वेदीयपञ्चकर्मविज्ञानम् (श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन से १९७० ई. में प्रकाशित) आधुनिक काल में आर्ष पञ्चकर्म प्रणाली को पुनरुज्जीवित करने तथा शास्त्रीय एवं व्यावहारिक दोनों पक्षों को समन्वित रूप से प्रस्तुत करने का यह श्लाघ्य प्रयास है।

अज्ञातकर्तृक - केरलीयपञ्चकर्मचिकित्साविज्ञानम्। चौखम्बा, वाराणसी से १९७२ ई. में प्रकाशित।

सत्यदेव वाशिष्ठ (२० वीं शती) - भिषक् केशरी वैद्याचार्य श्री सत्यदेव वाशिष्ठ, सनातन धर्म आयुर्वेद महाविद्यालय, भिवानी (पञ्जाब) से जुड़े। नाडीतत्त्वदर्शनम्- १९५२ ई. में सुप्रभात प्रेस, वाराणसी से प्रकाशित। इस ग्रन्थ में नाड़ीविषयक गहन अनुसन्धान प्रस्तुत किया गया है। "दूतधारा" विज्ञान का निरूपण इस ग्रन्थ की महती विशेषता है जिसमें दूर देशस्थित रोगी के रोग का निदान उसके दूत की नाड़ी द्वारा करने की सफल प्रक्रिया प्रदर्शित की गयी है। लेखक ने इसके शताधिक प्रयोग किये हैं और अनेक छात्रों को सिखाया है। नाड़ी विषयक अनुसन्धान करने के अनन्तर रावणकृत "नाडीविवृति" की युक्तियुक्त व्याख्या करते हुए कणाद नाडी, वसवराजीय नाडी तथा नाडी सम्बन्धी अन्य श्लोकों की यथावसर युक्तिपूर्ण व्याख्या की गयी है। ग्रन्थ में कुल ८ अध्याय हैं।

गुलराज शर्मा मिश्र एवं गोविन्द प्रसाद उपाध्याय (२० वीं शती) - दोनों ने संयुक्त रूप से "विशिखानुप्रवेशविज्ञानम्" नामक ग्रन्थ की रचना की है (चौखम्बा से १६८६ ई. में प्रकाशित)। यह धन्वन्तरि द्वारा मूलरूप से प्रतिपादित विशिखानुप्रवेशविधि या चिकित्साकर्मप्रवेशविज्ञान का ग्रन्थ है। "विशिखानुप्रवेश" व्यवहारशास्त्र के साथ ही निदानचिकित्सा में समुत्पन्न समस्याओं का समाधान है।

लक्ष्मीनारायण शर्मा (१६-२० वीं शती)-मत्स्यदेश में जयपुर के अन्तर्गत बाणगङ्गा के तटवर्ती "धौला" ग्राम के निवासी। रसेन्द्रभास्करः - बम्बई के वेङ्कटेश्वर स्टीम प्रेस से १६१० ई. में मुद्रित और प्रकाशित। यह ग्रन्थ रसरत्नाकर, रसेन्द्रचिन्तामणि, रसप्रदीप, रसरत्नसमुच्चय, रसमङ्गल, रसदीपक, रसहृदय, काकचण्डीश्वर, रसेन्द्रसारसंग्रह, रसेन्द्रकोष, गौरीकांचलिकातंत्रशाङ्र्गधर, भावप्रकाश, टोडरानंद आदि ग्रन्थों के अनुशीलन के पश्चात् प्रणीत है। इसमें उन विविध ग्रन्थों के अभिप्राय तो सुगम रीति से वर्णित हैं ही, साथ ही साथ उनमें अप्राप्य विशेष विधियों को भी श्रेष्ठ वैद्यों से साक्षात् जानकर इसमें सन्निविष्ट किया गया है। ग्रन्थ श्लोकों में निर्मित और द्वादश मयूखों में विभक्त है। प्रथम मयूख का नाम "उपोद्घातमयूख" द्वितीय का "रसप्रकरणमयूख" तृतीय का "उपरसमयूख" चतुर्थ का "भानुप्रकरणमयूख" पञ्चम का "उपधातुप्रकरण" नवम का "उपविषप्रकरण" दशम का "यन्त्रप्रकरण" एकादश का "मृत्युञ्जय रस प्रकरण" और द्वादश का नाम "परिशिष्ट प्रकरण" है।

प्रियव्रत शर्मा, बिहार (१६२०) - आचार्य प्रियव्रत शर्मा आयुर्वेद के क्षेत्र में अपने अमूल्य योगदान के कारण सुविदित हैं। ये वाराणसी के निवासी तथा पं. रामावतार शर्मा के सुपुत्र हैं। इनका जन्म १६२० ई. में पटना (बिहार) के समीपवर्ती एक ग्राम में हुआ था। इनका परिवार पारम्परिक रूप से वैद्यों का परिवार था। अतः आयुर्वेद का ज्ञान इन्हें परम्परा से विरासत में मिला।

श्री शर्मा बिहार में बहुत वर्षों तक राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय के प्राचार्य तथा स्वास्थ्य सेवाओं के उपनिदेशक रहे। बाद में द्रव्यगुणविज्ञान में प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, तत्पश्चात् भारतीय औषधविज्ञान के परास्नातक संस्थान के निदेशक एवं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में भारतीय औषधविज्ञान संकाय के निदेशक एवं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में भारतीय औषधविज्ञान संकाय के डीन रहे। १६८० ई. में वे वहां से सेवानिवृत्त हुए।

शर्मा जी ने पिछले पचास वर्षों में आयुर्वेद वाङ्मय के साहित्यिक, वैज्ञानिक, वैचारिक एवं ऐतिहासिक पक्षों पर ४० से अधिक ग्रन्थ तथा लगभग ४५० शोधपत्र लिखे हैं। उनके ग्रन्थों में से प्रमुख का परिचय निम्नवत् है-

१-अभिनवशरीरक्रियाविज्ञानम्-चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से १६५४ ई. में प्रथम संस्करण प्रकाशित। १६६२ ई. में द्वितीय संस्करण। २-द्रव्यगुणविज्ञानम्-४ भागों में प्रकाशित। प्रथम भाग चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से १६५५ ई. में (प्रथम संस्करण) तथा

द्वितीय-तृतीय भाग १६५६ ई. में (प्रथम संस्करण) प्रकाशित हुआ। ३-रोगिपरीक्षाविधिः - १६५७ ई. में चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से प्रकाशित। ४-दोषकारणत्वमीमांसा- विद्याभवन आयुर्वेद ग्रन्थमाला-४ में चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी से प्रकाशित (१६५५ ई.)। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है इस लधुकाय ग्रन्थ में दोषों के कारणत्व पर विचार किया गया है। ६-षोडशाङ्गहृदयम् - पद्मा प्रकाशन, वाराणसी से १६८७ ई. में प्रकाशित। यह आर्यावृत्त में निबद्ध आयुर्वेद का विवरणात्मक ग्रन्थ है। इसमें १६ अध्याय हैं-

१- मौलिकसिद्धान्ताः (१-२१) २- शारीरम् (२२-२६) ३- द्रव्यगुणम् (२७-५४) ४- भेषजकल्पना (५५-१०६) ५- रसशास्त्रम् (११०-१६६) ६- स्वस्थवृत्तम् (१६७-१८१) ७- रसायनम् (१८२-१८३) ८- बाजीकरणम् (१८४-१८५) ६- रोगविज्ञानम् (१८६-२२०) १०- कायचिकित्सा (२२१-२४६) ११- मानसरोगः (२४७-२४६) १२- प्रसूतितन्त्रम् (२५०-२५८) १३- कौमारभृत्यम् (२५६-२६२) १४- अगदतन्त्रम् (२६३-२६४) १५- शल्यतन्त्रम् (२६५-२६७) १६- शालाक्यतन्त्रम् (२६८-२७२)।

६- आयुर्वेददर्शनम् - चौखम्बा विश्वभारती, वाराणसी से हरिदास आयुर्वेद सीरीज-१ में प्रकाशित (१६६४ ई.)। यह ग्रन्थ सूत्ररूप में लिखित है। इसमें ४ पाद हैं- १- प्रमेयपादः २-प्रमाणपादः ३-प्रकृतिपादः तथा ४- विकृतिपादः। प्रथम पाद में ३२, द्वितीय में ८, तृतीय में ११ तथा चतुर्थ पाद में १३ सूत्र हैं। सूत्रों पर शर्मा जी द्वारा विरचित स्वोपज्ञभाष्य भी है। साथ ही साथ हिन्दी एवं अंग्रेजी में भाष्य का अनुवाद भी दिया गया है।

७- प्रियनिघण्टुः "रसयोग" विषयक ग्रन्थ

कविराज सदानन्द शर्मा घिल्डियाल- इनके पिता जीवानन्द शर्मा तथा माता सरस्वती थीं। इनका रसशास्त्र संबंधी मुख्य ग्रन्थ "रसतरङ्गिणी" है जो उनके गुरु नरेन्द्र नाथ मित्र द्वारा लाहौर से प्रकाशित है। द्वितीय संस्करण-१६३५ ई.। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त शर्मा जी ने रसकौमुदी की व्याख्या लिखी तथा पारदयोगशास्त्र आदि रससंबधी ग्रन्थों का संपादन किया।

श्यामसुन्दराचार्य वैश्य (१८७१-१६१८) ये काशी के पं. राममिश्र शास्त्री तथा पं. अर्जुन मिश्र के शिष्य थे। इनका प्रमुख ग्रन्थ "रसायनसार" है, जिसमें रसशास्त्र संबंधी इनके द्वारा अनुभूत योगों का वर्णन है। श्यामसुन्दररसायनशाला, काशी द्वारा प्रकाशित तृतीय संस्करण, १६३५ ई.।

वासुदेव मूलशंकर द्विवेदी-ये जामनगर आयुर्वेद शिक्षण केन्द्र में रसशास्त्र एवं भैषज्यकल्पना के विभागाध्यक्ष थे। इनका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ "पारदविज्ञानीयम्" है जो द्विवेदी जी के प्रत्यक्ष प्रयोगों पर आधारित है। शर्मा आयुर्वेद मन्दिर, दतिया से १६६६ ई. में प्रकाशित।

हरप्रपन्न शर्मा (बम्बई) - रसयोगसागरः (१६२७ ई.) इस ग्रन्थ की विद्वत्तापूर्ण विस्तृत भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

भूदेव मुखोपाध्याय - रसजलनिधिः, अंग्रेजी अनुवादसहित पाँच खण्डों में, १६२६ से १६३८ ई. तक की अवधि में प्रकाशित।

जीवराम कालीदास शास्त्री (आचार्य चरणतीर्थ महाराज) - "रसरत्नसमुच्चय" की टीका "रसोद्धारतन्त्रम्" नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ। शास्त्री जी गोंडल की प्रसिद्ध रसशाला के संस्थापक थे।

दत्तराम चौबे-१- रसराजसुन्दरम्-ज्ञानसागर प्रेस बम्बई द्वारा १८६४ ई. में प्रकाशित चतुर्थ संस्करण- १६२४ ई.। २- बृहद्निघण्टुरत्नाकरः ६ भागों में बम्बई से प्रकाशित।

कविराज प्रताप सिंह (जन्म १८६२ ई.) आयुर्वेदीयखनिजविज्ञानम्, प्रकाश आयुर्वेदीय औषधालय द्वारा १६३१ ई. में प्रकाशित। इस ग्रन्थ की भूमिका गणनाथ सेन ने लिखी है। कविराज जी का जन्म उदयपुर में १८६२ ई. में हुआ था। इन्होंने मद्रास में पं. गोपालाचार्लु तथा कलकत्ता में कविराज गणनाथ सेन के साथ आयुर्वेद का अध्ययन किया। ये काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आयुर्वेदिक फार्मेसी के अधीक्षक, राजस्थान सरकार में निदेशक तथा १६५४ ई. में केन्द्रीय सरकार में देशी चिकित्सा के सलाहाकार रहे। आप रसशास्त्र के मान्य विद्वान् थे।

उपर्युक्त ग्रन्थ के अतिरिक्त कविराज जी के अन्य ग्रन्थ हैं- प्रसूतिपरिचर्या, विषविज्ञानम्, आरोग्यसूत्रावली, प्रतापकण्ठाभरणम् इत्यादि।

स्वामी हरिशरणानन्द -१- भस्मविज्ञानम् - दो खण्डों में (१६५४ में प्रकाशित) कूपीपक्वरसनिर्माणविज्ञानम् (१६४१ ई.)। स्वामी जी पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी, अमृतसर के संचालक थे। २- त्रिदोषमीमांसा, अमृतसर, १६३४ ई.।

हजारीलाल शुक्ल- रसेन्द्रसम्प्रदायः (स्वयं लेखक द्वारा १६५५ ई. में प्रकाशित) "रसरत्नसमुच्चय" पर टीका शुक्ल जी ने राजकीय आयुर्वेदिक कालेज, पटना में कई वर्षों तक अध्यापन एवं प्रत्यक्ष कर्माभ्यास किया।

पारसराम शास्त्री - रसायनसुधानिधिः - लेखक द्वारा कामठी से १६२६ ई. में प्रकाशित। पारसराम शास्त्री जी दाधीचवंशीय बलदेव मिश्र के सुपुत्र थे।

ज्ञानचन्द्र शर्मा- रसकौमुदी। इसमें ३ 'अधिकार' हैं। विद्योतिनी हिन्दी टीका के साथ चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से १६७७ ई. में प्रकाशित।

निदान और चिकित्साविषयक ग्रन्थ

कविराज उपेन्द्रनाथ दास (१८६१-१६६५) कविराज उपेन्द्रनाथ दास का जन्म १८६१ ई. में फरीदपुर जिला (बंगलादेश) के गच्चापाड़ा ग्राम में हुआ था। ये दिल्ली के आयुर्वेदीय कालेज एवं तिब्बती (तिब्बिया) कालेज में प्राध्यापक रहे। इन्होंने काशी के उमाचरण कविराज से आयुर्वेद का अध्ययन किया था। १- पञ्चभूतविज्ञानम्-चौखम्बा, वाराणसी से इसका द्वितीय संस्करण १६६२ ई. में प्रकाशित हुआ। २- त्रिदोषविज्ञानम्-चतुर्थ संस्करण, चौखम्बा, वाराणसी से १६६६ ई. में प्रकाशित।

भानुशंकर शर्मा - त्रिदोषवादः, भावनगर से १६३५ में प्रकाशित।

विश्वनाथ द्विवेदी - त्रिदोषालोकः, पीलीभीत से १६४१ ई. में प्रकाशित।

राजेश्वरदत्त शास्त्री (१६०१-१६६६) - शास्त्री जी उत्तर प्रदेश में गोण्डा जिले के मूल निवासी थे। ये काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक कालेज में प्रोफेसर एवं अध्यक्ष रहे तथा आयुर्वेद विभाग के प्रमुख चिकित्सक थे। इनमें शास्त्रज्ञान एवं अनुभव दोनों का प्राचुर्य था अतः इनकी रचनाओं में शास्त्र एवं व्यवहार, प्राचीन तथा नवीन दोनों का मंजुल सामंजस्य पाया जाता है। इनके लिखे दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं- १- चिकित्सादर्शः - सम्पूर्ण ग्रन्थ तीन खण्डों में है। १६५७, १६६१ तथा १६६४ ई. में लेखक द्वारा प्रकाशित। २- स्वस्थवृत्तसमुच्चयः

भास्कर विश्वनाथ गोखले (२० वीं शती)-श्री विश्वनाथ गोखले आयुर्वेद महाविद्यालय, पूना में कई वर्षों तक प्राध्यापक तथा जामनगर स्नातकोत्तर शिक्षण केन्द्र के प्राचार्य रहे। आपका वैदुष्य बड़ा मौलिक और अनुभव गम्भीर था। इन्होंने "चिकित्साप्रदीपः - नामक ग्रन्थ की रचना की जो लेखक द्वारा ही प्रकाशित (द्वितीय आवृत्ति, १६६१ ई.) है। राजेश्वरशास्त्रीकृत चिकित्सादर्श जिस प्रकार आयुर्वेद की काशी-परम्परा का, उसी प्रकार यह पूना परम्परा का प्रतिनिधि ग्रन्थ है।

रामरक्षापाठक- पाठक जी का जन्म १६०६ ई. में नयाटोला, छपरा (बिहार) में हुआ था। १-त्रिदोषतत्त्वविमर्शः, वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन से १६६० ई. में द्वितीय संस्करण प्रकाशित। २- पदार्थविज्ञानम्-वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन से १६४८ ई. में प्रकाशित। यह ग्रन्थ अतीव लोकप्रिय हुआ। ३- आहारविज्ञानम् ४- मर्मविज्ञानम्। पाठक-जी राजकीय आयुर्वेदिक स्कूल, पटना के स्नातक थे। ये गुरुकुल कांगड़ी आयुर्वेद महाविद्यालय तथा बेगूसराय आयुर्वेदिक कालेज में प्राचार्य रहे। १६५३ ई. में ये जामनगर आयुर्वेदिक अनुसन्धान केन्द्र में निदेशक तथा १६६४ ई. के बाद ५ वर्षों तक लंका में भण्डारनायके आयुर्वेद कालेज में रहे।

शंकरदाजी शास्त्री पदे - ग्रन्थ - वनौषधिगुणादर्शः (सात भागों में) तृतीय संस्करण १६०६-१६१३ ई. में प्रकाशित। इन्होंने केशवकृत सिद्धमन्त्र का भी संपादन कर उसे प्रकाशित कराया (१८६८ ई.)।

जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल- निघण्टुशिरोमणिः, प्रयाग से १६१४ ई. में प्रकाशित।

रूपलाल वैश्य-'रूपनिघण्टु'। नागरी प्रचारिणी सभा काशी से १६४० ई. में प्रकाशित। रूपनिघण्टुकोशः भी इन्हीं की रचना है।

शंकरदत्त गौड़ - शंकरनिघण्टुः। वनौषधिभंडार, जबलपुर से १६३५ ई. में प्रकाशित। इसमें यूनानी द्रव्यों का भी वर्णन है।

बलदेव प्रसाद मिश्र-आयुर्वेदचिन्तामणिः। श्रीकृष्णदास, बम्बई से १६३७ ई. में प्रकाशित। यह एक निघण्टुग्रन्थ है और भावप्रकाश पर आधारित है।

भागीरथ स्वामी (जन्म- १६०६ ई.) स्वामी जी आयुर्वेदमहामहोपाध्याय कहे जाते थे। इनका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ "सन्दिग्धनिर्णय" है जो वनौषधशास्त्र है। इसमें द्रव्यों का विवेचन कर प्रमाणपूर्वक उसकी सन्दिग्धता का निवारण किया गया है। ग्रन्थ में चित्र भी दिए गये हैं। इस प्रकार का यह प्रथम और ऐतिहासिक कार्य है। १६३६ ई. में कलकत्ता से प्रकाशित। "आत्मसर्वस्व" स्वामी जी की दूसरी रचना है, कलकत्ता से प्रकाशित। "आत्मसर्वस्व" स्वामी जी की दूसरी रचना है जो कलकत्ता से १६२६ ई. में प्रकाशित है। "लघु आयुर्वेदविज्ञान" तथा "सिद्धौषधमणिमाला" भी आपकी रचनाएं हैं।

विष्णु वासुदेव गोडबोले - निघुण्टुरत्नाकरः १६६७ ई. में निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित। रविदत्त वैद्यकृत हिन्दी अनुवाद के साथ इसका द्वितीय संस्करण १८६२ ई. में नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से छपा था। पं. कृष्णशास्त्री नवरे द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ १६३६ ई. में दो खण्डों में निर्णयसागर बम्बई से प्रकाशित हुआ।

अज्ञातकर्तृक - अमृतसागरः नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से १८६६ ई. में प्रकाशित। अज्ञातकर्तृक - नूतनामृतसागरः बम्बई से प्रकाशित। यह ४४ तरंगों में विभक्त है मुख्यतः "भावप्रकाश" पर आधारित। ग्रन्थ रचना सं. १६४७ (१८६० ई.) में पूर्ण हुई।

रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी-१ कौमारभृत्यम् - १६४८ ई. में चौखम्बा, वाराणसी से प्रकाशित। २- अभिनवविकृतिविज्ञानम् १६५७ ई. में चौखम्बा से ही प्रकाशित।

कविराज यामिनीभूषण राय-कुमारतन्त्रम् कलकत्ता से १६२० ई. में प्रकाशित।

वामदेव मिश्र - शल्यतन्त्रसमुच्चयम् १६२६ ई. में लेखक द्वारा स्वयं प्रकाशित। इस ग्रन्थ में ५० अध्याय हैं जिनमें विषय मुख्यतया सुश्रुतसंहिता पर आधारित हैं। यन्त्रों-शस्त्रों के चित्र भी दिये गये हैं। मिश्र जी राजकीय आयुर्वेद विद्यालय में अध्यापक थे।

अनन्तराम शर्मा - शल्यसमन्वयम्।

उमेशचन्द्र गुप्त - वैद्यकशब्दसिन्धुः (१६१४ ई.) यह आयुर्वेदिक शब्द-कोष है।

विश्वेश्वरदयालु वैद्यराज - वैद्यकशब्दकोषः (१६२५ ई.) यह वनौषधिविषयक है।

बालकृष्ण जी अमर पाठक - "मानसरोगविज्ञान" श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन से १६४६ ई. में प्रकाशित। यह ग्रन्थ प्रौढ़ और विद्वत्तापूर्ण है। पाठक जी आयुर्वेदिक कालेज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राचार्य रहे थे।

जयदेव शास्त्री - सिद्धभैषज्यमञ्जूषा।

बालकृष्ण शिवराम मुंजे - ये नेत्ररोगों के विशेषज्ञ तथा संस्कृत भाषा के विशेष अभिमानी एवं अभिज्ञ थे। इनका "नेत्ररोगचिकित्सा" नामक ग्रन्थ नेत्ररोगों से संबन्धित एक मात्र संस्कृत ग्रन्थ है।

म्हसकर एवं वाटवे (बम्बई) - स्वास्थ्यवृत्तम् - इस ग्रन्थ में स्वास्थ्य की रक्षा एवं दीर्घायु के कारणों तथा उपायों की चर्चा की गयी है। १६५४ ई. में बम्बई से मुद्रित।

पुरुषोत्तम सखाराम हिर्लेकर (महाराष्ट्र) - अमरावती निवासी श्री सखाराम हिर्लेकर

उत्कृष्ट वैद्य तथा आयुर्विद्याविशारद थे। इन्होंने भारतीय आयुर्विद्या शिक्षण समिति के कार्यकारी अध्यक्ष के पद पर बहुत दिनों तक कार्य किया। १९४२ ई. में इन्होंने "शरीरं तत्त्वदर्शनम्" नामक ग्रन्थ लिखा जो आयुर्वेद के मूलभूत त्रिदोषसिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला उत्तम शास्त्रीय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध प्रत्येक भाग १२ प्रकरणों में विभक्त है। संपूर्ण ग्रन्थ अनुष्टुप् छन्द में उपनिबद्ध है। इस ग्रन्थ पर स्वयं हिर्लेकर जी ने "शास्त्रीय समीक्षा" लिखी है तथा अमरावती के ही वैद्य हरिहर वामन देशपांडे ने हिन्दी अनुवाद के साथ इसे छापा है। सरस्वती मुद्रणालय, अमरावती से मुद्रित। "आयुर्वेदीय औषधिविज्ञानम्" आपकी दूसरी महत्त्वपूर्ण रचना है।

दामोदर शर्मा गौड़ - १- अभिनवं शारीरम् - वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन नागपुर द्वारा १९७४ ई. में प्रकाशित। २- अभिनवप्रसूतितन्त्रम्-स्वामी लक्ष्मीराम ट्रस्ट, जयपुर से १९५० ई. में प्रकाशित। श्री गौड़ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में शारीरविज्ञान के प्राध्यापक थे। इनकी अध्यक्षता में, आचार्य यादव जी त्रिक्रम जी की प्रेरणा पर दिल्ली में वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन द्वारा शारीरशास्त्र पर तृतीय शास्त्रचर्चापरिषद् आयोजित हुई, जिसमें शारीर संज्ञाओं के अर्थ निश्चित कर "पारिषद्यं शब्दार्थशारीरम्" नामक ग्रन्थ में उपनिबद्ध किये गये।

अन्य ग्रन्थ

१- विषहरतन्त्रम् (१८७०) - गणेश। २-पूर्वकालीनाः कथं दीर्घायुषः (१८९३)-जयचन्द्र सिद्धान्तभूषण भट्टाचार्य। ३-आयुर्वेदसंग्रहः-काव्यकण्ठं गणपति मुनि ४- चिकित्सानुशासनम् - काव्यकण्ठं गणपति मुनि ५- आयुर्वेदतत्त्वरत्नाकर-व्रजविहारी चतुर्वेदी (१८६६-१९४५) ६-रोगिमृत्युदर्पणम्-मथुराप्रसाद दीक्षित ७-देहधात्वग्निविज्ञानम् हरिदत्त शास्त्री ८- चक्रदत्तरत्नप्रभा-निश्चल कर।

काव्यशास्त्र

पण्डितराज जगन्नाथ के पश्चात् संस्कृत के काव्यशास्त्र में किसी मौलिक सिद्धान्त की स्थापना का प्रयत्न नहीं पाया जाता। केवल डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा काव्य में एक अभिनव तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं, वह है-सत्य। उनका कथन है कि सत्यानुभूति ही काव्य की आत्मा है-

सत्यमर्थगतं काव्ये, अर्थे शब्दस्य संस्थितिः।
शब्दार्थयोर्हि सद्भावात् अस्य साहित्यरूपता।।

(काव्य-सत्यालोक)

डॉ. शर्मा कहते हैं कि सत्य सभी का अभीष्ट होता है और काव्य में भी सत्य की स्थिति होती है। इस सत्य में सूक्ष्मता का आधान होने से तीव्र प्रभावकारिता आती है। यह प्रभावकारिता ही काव्य में चमत्कार कहलाती है। शब्दार्थ में सत्य के रमणीय प्रतिपादन को

काव्य कहते हैं। यह काव्य-सत्य एक व्यापक सिद्धान्त है जिसमें शब्द, अर्थ, अलङ्कार, व्यञ्जना, रस, गुण अदि समस्त तत्त्वों का अन्तर्भाव हो जाता है।

डॉ. शर्मा का यह काव्यलक्षण पाश्चात्त्य आलोचना शास्त्र से प्रभावित प्रतीत होता है। अरस्तू ने भी काव्य में वास्तविकता के समावेश पर बल दिया है।

परन्तु कोई विशेष मौलिक योगदान न करने पर भी १६ वीं-२० वीं शती के आचार्यों ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षणों एवं सिद्धान्तों को व्याख्यापित कर उसे विविध दृष्टिकोणों से देख-परखकर विशद एवं सरलतर रूप में प्रस्तुत करने का यत्न तो किया ही है। यों तो, क्वचित् ही कोई लेखक पूर्णतः अपनी मौलिक उद्भावना रखता है। प्रायः सभी अपने पूर्व आचार्यो के मत में कुछ परिष्कार कर उसे प्रस्तुत करते हैं और इस परिष्कार में ही उनकी नवीनता होती है। पण्डितराज जगन्नाथ तक आते-आते काव्यशास्त्र पूर्णतः मथित हो परिपक्व हो चुका था। उसमें कुछ अधिक करने को शेष न था। पुनश्च, संस्कृत काव्य-रचना में भी पण्डितराजोत्तरवर्ती युग में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। किसी कालजयी कृति का निर्माण हम नहीं पाते, अतः उसका अनुवर्ती काव्यशास्त्र मौलिक तत्त्व कहाँ से ढूँढे ? शायद यह भी एक कारण रहा है कि इस युग में काव्यशास्त्र में मौलिकता अत्यल्प मात्रा में विद्यमान है। इस युग के आचार्यों की कुछ सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार परिलक्षित होती हैं- १- प्रायः सभी आचार्यों की रचना "बालबोधाय" है, अतः प्रस्तुति की शैली सरल और विशद है, खण्डन-मण्डन नगण्यप्राय है। २- लेखकों में पण्डितराज जगन्नाथ की "निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपम्" की प्रवृत्ति अधिक दिखायी देती है, वे स्वरचित लक्षण के साथ स्वरचित लक्ष्य भी प्रस्तुत करते हैं, इस प्रकार रचना उनकी मौलिक हो जाती है। कई कवियों ने उदाहरणों में अपने आश्रयदाता का गुणगान किया है और नाम भी अपने आश्रयदाताओं के नाम पर रखे हैं, जैसे-गोदवर्मयशोभूषण। कई ने एक ही पात्र की जीवन से सारे उदाहरण दिये हैं। यह नवीन तथ्य है जिसका ऐतिहासिक महत्त्व भी है। ३- आचार्यों को चन्द्रालोक एवं कुवलयानन्द की एक ही कारिका के पूर्वार्ध में लक्षण एवं उत्तरार्ध में लक्ष्य देने की पद्धति अधिक रुची है। ४- प्राय५ आचार्य अपना अभीष्ट मत प्रस्तुत करने के अनन्तर पूर्वाचार्यों के मतों का भी उल्लेख कर देते हैं जिससे उस विषय का तुलनात्मक अध्ययन हो जाता है।

गंगाधर कविराज (१७९८-१८८५) - ये मुर्शिदाबाद (बंगाल) के निवासी थे। ये मूलतः आयुर्वेद के विशेषज्ञ एवं व्यवसाय से वैद्य थे, परन्तु आयुर्वेद के ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने काव्य, व्याकरण और काव्यशास्त्र विषयक अनेक (२४) ग्रन्थों की रचना की। "प्राच्यप्रभा" इनका काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है, जो अग्निपुराण पर आधारित है।

श्रीनिवास दीक्षित (१६ वीं शती)-ये सम्भवतः राजचूडामणि दीक्षित के पिता थे। इनके पिता का नाम भावस्वामी, माता का नाम लक्ष्मी तथा गुरु का नाम केशव परिव्राजकाचार्य था। इनके चार ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है १- अलंकारकौस्तुभ, २- काव्यदर्पण ३-काव्यसारसंग्रह और ४- साहित्यसूक्ष्मसरणि।

सदाजी-इनके पिता का नाम बल्लाल था तथा ये "रत्नगिरि" जिले के निवासी थे। साहित्यमञ्जूषा (रचनाकाल-१८२५ ई.) बाजीपन्त के पुत्र ने इसपर "कुंचिका" नाम्नी टीका लिखी।

दामोदर शास्त्री - वाणीभूषणम् (१८३३ ई.)।

बलभद्र सिंह - वृत्तिबोधनम् (१८३३ ई.)।

अच्युतरायशर्मन् "मोडक"-महाराष्ट्र (१९ वीं शती) पण्डितराज जगन्नाथ के उत्तरकालीन आचार्यों में अच्युतराय "मोडक" का विशिष्ट स्थान है। इन्होंने अपने ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर प्राचीन मतों की समीक्षा तथा नवीन मतों की स्थापना की है। इनके पिता का नाम नारायण तथा माता का नाम अन्नपूर्णा था। ये नासिक के समीप स्थित पञ्चवटी के निवासी थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ साहित्यसार की पुष्पिका में उसका रचनाकाल शक १७५३ (१८३१ ई.) लिखा है, अतः अच्युतराय का समय १९ वीं शती निश्चित है। ग्रन्थ की पुष्पिका से ही पता चलता है कि इनके गुरु श्री नारायण स्वामी "षष्टि" थे।

अच्युतराय का "साहित्यसारः" काव्यशास्त्र विषयक प्रतिष्ठित ग्रन्थ है। इसमें १२ प्रकरण तथा कुल १३१३ कारिकाएँ हैं। ग्रन्थकार ने स्वयं इसपर "सरसामोदः" नामक टीका भी लिखी है। इस टीका के साथ यह ग्रन्थ निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित है। "सरसामोदः" टीका के आधार पर लेखक द्वारा विरचित "भागीरथीचम्पू" (१८१४ ई.) कृष्णलीलामृत, निरञ्जनमञ्जरी, अद्वैतामृतमञ्जरी, नीतिशतपत्र नामक रचनाओं का ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त इन्होंने पंडितराज जगन्नाथ के "भामिनीविलासः" पर "प्रणयप्रकाशः" टीका, विद्यारण्य भारतीतीर्थ की "पञ्चदशी" पर टीका तथा अद्वैतराज्यलक्ष्मी, अद्वैतविद्याविनोदः, अवैदिकमततिरस्कारः, ईशदेशिकविवेचनमञ्जरी, गीतासीतापति, गोदालहरी, जीवन्मुक्तिविवेकव्याख्या, प्रारब्धवानध्यानस्मृतिबौध्यायिकसिद्धिः, महावाक्यार्थमञ्जरी, रामगीताचन्द्रिका,विष्णुपदलक्षणम्, श्रीकण्ठस्तवः, वेदान्तामृतचिद्रत्नम, सौद्धयाज्ञकल्पद्रुमः हेरम्बचरणामृतलहरी आदि ग्रन्थों की रचना की।

"साहित्यसार" ग्रन्थ चन्द्रालोक आदि ग्रन्थों की भाँति कारिका के पूर्वार्ध में लक्षण एवं उत्तरार्ध में स्वरचित लक्ष्य की शैली में उपनिबद्ध है। लक्ष्यभूत उदाहरण प्रायः अद्वैतपरक ही दिए गये हैं। इस ग्रन्थ की भाषा सरल है। इसकी "सरसामोद" टीका में आचार्य ने काव्यप्रकाश, ध्वन्यलोक, सरस्वतीकण्ठाभरण साहित्यदर्पण, कुवलयानन्द, रसगंगाधर आदि प्राचीन एवं अर्वाचीन काव्यशास्त्र का परिशीलन कर उनका सार प्रस्तुत किया है।

स्वाति तिरुनाल महाराजा (१८१३-१८४७ ई.) इनके पिता का नाम राजराजवर्म कोइतम्बुरान एवं माता का नाम लक्ष्मी था। ये केरल के निवासी थे। इन्हें हिन्दी, तेलगु, कन्नड़, पर्शियन, अंग्रेजी, संस्कृत आदि अनेक भाषाओं का ज्ञान था एवं साहित्य तथा संगीत से विशेष अनुराग था। इन्होंने १८२९ से लेकर १८४७ ई. तक, १८ वर्ष तक राज्य किया। इनके काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ का नाम "प्रासव्यवस्था" है। इसमें गीतों के लिए प्रासों की

व्यवस्था का वर्णन है। इसके अतिरिक्त इन्होंने भक्तमंजरी, स्यानन्दूरपुरवर्णनचम्पू, श्रीपद्मनाभशतकम्, अन्यापदेशशतकम्, कुचेलोपाख्यानम्, अजामिलमोक्ष, गीत (१६७,) कीर्तन (१५०) रागमाला तथा उत्सवप्रबन्ध (गीतिकाव्य) नामक ग्रन्थों की रचना की।

कान्तिचन्द्र मुखोपाध्याय (१६ वीं शताब्दी) - काव्यदीपिका, कलकत्ता से प्रकाशित। यह ग्रन्थ आठ शिखाओं में विभक्त है, जिनमें समस्त काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का विवेचन है। आचार्य ने काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों से लक्षण लेकर उनपर स्वरचित वृत्ति लिखी है। उदाहरण अभिज्ञानशकुन्तल, किरातार्जुनीय आदि काव्यों से दिये गये हैं।

भास्कराचार्य, पेरूम्बुदूर (१६ वीं शती)-साहित्यकल्लोलिनी-इस ग्रन्थ में काव्यशास्त्रीय एवं नृत्यशास्त्र के तत्त्व व्याख्यात हैं।

चण्ड मारुताचार्य (१८५०-१८६६ ई.) १-चित्रमीमांसोद्धारः (१८६० ई.) २-लघुरसकुसुमाञ्जलिः-ये दोनों काव्यशास्त्रविषयक ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने "विधुरविलापः" नामक व्याख्यान, "अलिनराजकथा" तथा "सुभाषितम्" नामक निबन्ध संग्रह भी लिखा।

चावलि राम शास्त्री -(१६ वीं शती का उत्तरार्ध) १- कुवलयामोदः २- अलंकारमुक्तावली।

मुरारिदान चरण, जोधपुर (जन्म १८३७ ई.) यशवन्तयशोभूषणम् (काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ भाषाभूषण का संस्कृत रूपान्तर)

कृष्ण सुधी- इनके पिता श्री शिवराम एवं पितामह नारायण पण्डित थे। ये कांची के समीप स्थित उत्तमेरूर के निवासी थे। काव्यकलानिधिः (रचनाकाल-१८४५ ई.)। इसमें दस "कुसुम" हैं। प्रायः सारे काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का इसमें विवेचन किया गया है।

सीमारामभट्ट पर्वणीकर-ये सवाई जयसिंह तृतीय (१८१८-१८३४ ई.) के समकालीन थे। १-लक्षणचन्द्रिका २-काव्यप्रकाशसारः, ३-नायिकावर्णनम् ४-साहित्यसारः, ५- साहित्यसुधा ६- साहित्यतत्त्वम् ७- साहित्यार्णवः ८-साहित्यतरङ्गिणी ६-श्रृङ्गारलहरी १०- काव्यत्तवप्रकाशः ११- साहित्यचिन्तामणिः।

कोल्लूरि राजशेखर, आन्ध्रप्रदेश (१६ वीं शती) - ये आन्ध्र प्रदेश में सोमनाथपुरी के निवासी तथा पेशवा माधवराव (१७६०-१७७२) के कृपापात्र थे। "साहित्यकल्पद्रुमः" (८१ स्तबकों में) तथा "अलंकारमकरन्दः" इनकी साहित्यशास्त्रविषयक रचनाएँ हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने "शिवशतकम्" "श्रीशचम्पू" अथवा "भागवतचम्पू" नामक ग्रन्थों की भी रचना की।

मुडुम्बी वेंकटराम नरसिंहाचार्य - विजयानगरम् के विजयराम गणपति आनन्दगणपति के आश्रम में रहकर इन्होंने संस्कृत साहित्य की बड़ी सेवा की। इनके साहित्यशास्त्र विषयक ग्रन्थों के नाम हैं- काव्योपोद्घातः, काव्यप्रयोगविधिः, काव्यसूत्रवृत्तिः एवं अलंकारमाला। इसके अतिरिक्त इन्होंने "विक्टोरियाप्रशस्तिः" देवोपालम्भः, नरसिंहादृहासः, जयसिंहाश्वमेधीयम्, युद्धप्रोत्साहनम् नामक काव्यों तथा अनेक स्तोत्रकाव्यों की रचना की।

श्रीकृष्ण कवि (१८३५-१६०६)-इन्हें कृष्णशर्मन् अथा कृष्णावधूत भी कहा जाता है। इनके ग्रन्थ "मन्दारमरन्दचम्पू" में दिये गये आत्म-परिचय के अनुसार इनका निवास-स्थान गुहपुर था तथा इनके गुरु वासुदेव योगीश्वर थे। इसके अतिरिक्त इनके कुल एवं समय के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु इनके ग्रन्थ के अलंकार प्रकरण पर "कुवलयानन्द" का व्यापक प्रभाव देखते हुए तथा कुछ अन्य तथ्यों की मीमांसा विद्वानों ने कर इनका समय १८३५ ई. से १६०६ ई. निर्धारित किया है।

श्रीकृष्ण कवि ने काव्यशास्त्रविषयक चार ग्रन्थों की रचना की १-मन्दारमरन्दचम्पू २- काव्यलक्षणम् ३-रसप्रकाशः (काव्यप्रकाशटीका) और ४- सारस्वतालंकारसूत्र एवं भाष्य। "मन्दारमरन्दचम्पू" में लक्षण गद्य और पद्य दोनों में अर्थात् चम्पू शैली में उपनिबद्ध हैं। इसमें छन्दःशास्त्र, नाट्यशास्त्र, काव्यशास्त्र एवं कविशिक्षा विषयक सामग्री का निरूपण किया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ ११ बिन्दुओं में विभक्त है। इस ग्रन्थ तथा राजचूडामणि दीक्षितकृत काव्यदर्पण में कई स्थलों पर शब्दशः समानता है। यह ग्रन्थ काव्यमाला गुच्छक ५२ में केदारनाथ एवं वासुदेव लक्ष्मणशास्त्री पणशीकर के सम्पादकत्व में प्रकाशित है।

अनन्तराय (अनन्ताचार्य) (१६ वीं शती ई.) इनका जन्म मैसूर प्रदेश के यादवगिरि (मेलकोट) में हुआ था। इनके पिता का नाम श्रृङ्गाराचार्य था। ये कृष्णराव वोदेयार तृतीय (१८२२-६२ ई.) के राज्याश्रित कवि और बिचारों से विशिष्टाद्वैतवादी थे। १-कविसमयकल्लोलः (काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ) २-कृष्णराजयशोडिण्डिमः। इन्होंने अनेक वादों की रचना की जो "वेदान्तवादावली" में प्रकाशित है।

इलत्तूर रामस्वामी, केरल (१८२४-१६०७ ई.) इनके पिता का नाम शंकर नारायण शास्त्री था। १-रामोदयम् (अलंकारशास्त्रप्रधान महाकाव्य)। इसके अतिरिक्त इनके विभिन्न काव्य, स्तोत्र, नाटक, व्याख्यान ग्रन्थ तथा "क्षेत्रतत्त्वदीपिका" नामक एक ज्यामितीय ग्रन्थ भी है। कुल ३३ रचनाएँ।

रत्नभूषण, पूर्वी बंगाल (सम्प्रति बांगलादेश)-काव्यकौमुदी (१८५६-रचनाकाल) इसमें दस परिच्छेद हैं, जिसमें प्रथम तीन व्याकरणात्मक हैं। इनमें नाम, लिङ्ग, धातु-प्रत्ययों का विवेचन किया गया है। शेष परिच्छेदों में काव्यलक्षण, ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य, गुण, अलंकार, दोषों का विवेचन है।

नृसिंह शास्त्री (१८३०-१८७० ई.) इनका जन्म मैसूर के निकट यरालतिया गाँव में हुआ था। ग्रन्थ-काव्यसंशोधनम्।

चन्द्रकान्त तर्कालंकार, (१८३०-१६०६ ई.)-म. म. चन्द्रकान्त तर्कालंकार का जन्म कलकत्ता में हुआ था। इन्होंने गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज कलकत्ता में १८२६ ई. से १८३० ई. तक अध्यापन किया। १-अलंकारसूत्राणि (काव्यशास्त्रविषयक ग्रन्थ) २-सतीपरिणयम् (महाकाव्य) ३-चन्द्रवंश (महाकाव्य) ४-कौमुदीसुधाकरम् (प्रकरण) ५-स्मृतिचन्द्रिका ६-कातन्त्रछन्दःप्रक्रिया ७-मीमांसासिद्धान्तसंग्रहः। इन्होंने गोभिल गृह्यसूत्र का प्रकाशन भी किया (१८७१-८० ई.)।

गदाधरनारायण भञ्ज (१८३१-१८६१ ई.) रसमुक्तावली।

अणुरत्नमण्डन (१६ वीं शती)-ये तपगच्छा के जैन रत्नशेखर सूरि के शिष्य थे १- जल्पकल्पलता-कविशिक्षाविषयक २-मुग्धमेधाकरः अलंकार-विवेचन।

रामाचार्य (मध्य प्रदेश)-ये कान्ताचार्य (१८५६-१८६२) के मातामह एवं गुरु थे। रदोद्भेदिनी-काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ।

कच्छपेश्वर दीक्षित -१-रामचंद्रयशोभूषणम्- इस ग्रन्थ में तीन परिच्छेद हैं जिनमें प्रथम में श्रृंगाररस, द्वितीय में अन्य आठों रस एवं तृतीय में भावों का विवेचन किया गया है।

श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकाल संयमीन्द्र (१८३६-१६१६) इनका संन्यास-पूर्व नाम कृष्णमाचार्य वकील था। इन्होंने अपने ग्रन्थ "अलंकारमणिहार" के उपोद्घात एवं उपसंहार में आत्मपरिचय दिया है। इनके पिता का नाम ताताचार्य और माता का नाम कृष्णाम्बा था। ये अमिडेला ग्राम के निवासी थे। इनका जन्म १८३६ ई. तथा देहावसान १६१६ ई. में हुआ।

इन्होंने कुछ ६७ ग्रन्थ लिखे, जिनमें "अलंकारमणिहार" इनका काव्यशास्त्रविषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसका प्रकाशन गवर्नमेण्ट लाइब्रेरी सीरीज, मैसूर से चार भागों में हुआ है। ग्रन्थ स्वरचित कारिकाओं में लिखा गया है और कारिकाओं को स्पष्ट करने के लिए वृत्ति लिखी गयी है। इसमें समीक्षा शैली का आश्रय लेते हुए प्राचीन एवं अर्वाचीन आलंकारिकों के मतों के साधुत्व-असाधुत्व का विवेचन किया गया है।

इन्चूर केशव नम्बूदरी (१८५५-१६३२) जन्मस्थान-इन्चूर। १- कुलशेखरीयम् इसमें अलंकारों का निरूपण है। २-विधुवंशचम्पू।

रंगनाथाचार्य, तिरुपति (१८५६-१६१६) "अलंकारसंग्रहः" इनका काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त इन्होंने २-सुभाषितशतकम् ३-श्रृङ्गारनायिकातिलकम् ४- गोदावचूर्णिका ५-हंससन्देशम् आदि काव्य भी लिखे।

अम्बिकादत्त व्यास (१८५६-१६०० ई.)-साहित्यनलिनी।

छविलाल सूरि (जन्म १८६० ई.) १- वृत्तालंकारः-इन ग्रन्थ में प्रत्येक पद्य में छन्द और अलंकार का लक्षण है। २- विरक्तितरङ्गिणीशतकम्।

नारायण शास्त्री, तंजौर (१८६०-१६११)-१-विमर्शः (६ भाग)। काव्यमीमांसा (२ अध्याय) इन दोनों काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने अनेक महाकाव्य, चम्पू, आख्यायिका, नाटकों (६१) महाप्रबन्धों (२१) की रचना की।

अन्नदाचरण तर्कचूडामणि, बंगाल (जन्म १८६२ ई.)-ग. म. अन्नदाचरण तर्कचूडामणि हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक थे। १-रामाभ्युदयम् (महाकाव्य) २-ऋतुचित्रम् ३-काव्यचन्द्रिका (सरला टीका सहित) तथा २७ अन्य ग्रन्थ।

राम सुब्रह्मण्य (राम सुब्बा) (मृत्यु १६२२ ई.) ये रामशंकर के पुत्र तथा शिवराम के

शिष्य थे। १- अलङ्कारशास्त्रसंग्रह अथवा अलङ्कारशास्त्रविलासः। इस ग्रन्थ में आचार्य ने विद्यानाथ की काव्यपरिभाषा की आलोचना की है। इन्होंने अनेक शास्त्रीय ग्रन्थों की भी रचना की।

वेंकट "बालकालिदास" (१६ वीं शती का उत्तरार्ध) - नारायण के पुत्र, वेंकटशास्त्री के प्रपौत्र। १- चित्रचमत्कारमञ्जरी (काव्यशास्त्रविषयक) २- सूर्यस्तवः

सुब्रह्मण्य शास्त्री (१६ वीं शती का उत्तरार्ध) - यशवन्तयशोभूषणम्।

हरिदास सिद्धान्तवागीश (१८७६ ई. में जन्म) इनका जन्म पूर्व बंगाल के फरीदाबाद जिले में हुआ था। पिता गंगाधर विद्यालंकार तथा गुरु जीवानन्द विद्यासागर थे। काव्यकौमुदी-रचनाकाल १८४२ ई. १३६३ बंगाब्द में कलकत्ता से प्रकाशित। इस ग्रन्थ में लक्षण सूत्रों में निबद्ध हैं। ग्रन्थ १५ कलाओं में विभक्त है, जिसमें सभी काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का निरूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने २० अन्य काव्य और टीका ग्रन्थों की रचना की।

मथुरानाथ शास्त्री (जन्म-१६०६ ई.) - जयपुर (राजस्थान) में जन्म, पिता द्वारकानाथ शास्त्री। ग्रन्थ १- काव्यकलारहस्य २- रसगंगाधर पर टिप्पणी। इसके अतिरिक्त भी इन्होंने कई काव्यग्रन्थों की रचना की।

शिवदत्त शर्मा काव्यरसायनम् - (१६०३ ई. में रचित)

जगन्नाथप्रसाद वर्मा - भावनिदर्शिका (१६०४ ई. में रचित) इस ग्रन्थ में अलंकारों का निरूपण है।

नरसिंह आचार्य - पाश्चात्यशास्त्रसारः (१६०८ ई. में रचित)

मणिशंकर गोविन्द - अलङ्कारमणिमाला (१६०६ ई. में रचित)

रामावतार शर्मा (१८७४-१६२६) - साहित्यरत्नावली।

कालीपद तर्काचार्य (१८८८-१६७२) - जन्मस्थान-फरीदपुर जिला। मधुसूदन सरस्वती तथा हरिदास सिद्धान्तवागीश के वंशज। इनके पिता का नाम श्री सर्वभूषण हरिदास शर्मा था। १-काव्यचिन्ता २-काव्यपरिणतिः ३-काव्यलक्षणविमर्शः इन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने दर्शनशास्त्र, नाटक, महाकाव्य कुल मिलाकर लगभग २४ ग्रन्थ लिखे।

यदुनाथ झा (१८८५-१६२८) व्यञ्जनावादः इसमें व्यञ्जना की स्थापना नवीन ढंग से की गयी है। १६३५ ई. में वैशाली प्रेस, मुज्फ्फरपुर से प्रकाशित।

सीताराम शास्त्री - साहित्योद्देशः, १६२३ ई. में प्रकाशित। इसके ऊपर भारद्वाज यज्ञेश्वर शर्मा मिश्र ने टिप्पणी लिखी है।

लेखनाथ (१८८६-१६६५ ई.) - ये दरभंगा के महाराजाधिराज कामेश्वरसिंह के आश्रित थे। ग्रन्थ - रसचन्द्रिका, इस ग्रन्थ में नायक-नायिका भेद पर विचार है। इसके

अतिरिक्त २ काव्यों की रचना तथा २ ग्रन्थों का सम्पादन भी किया।

हरिशास्त्री दाधीच (जन्म-१८६३ ई.) अलङ्कारकौतुकम्, अलङ्कारलीला आदि लगभग १६ ग्रन्थ।

गिरिधरलाल व्यास शास्त्री (जन्म १८८४ ई.) ग्रन्थ-अलंकारदर्पणम्- अभिनवकाव्यप्रकाशः (प्रथम, द्वितीय भाग) तथा काव्यसुधारक (चन्द्रालोक की वृत्ति) के अतिरिक्त ४ अन्य ग्रन्थ।

श्वेतारण्यनारायण यज्वन् (२०वीं शती) १- वृत्तालङ्काररत्नावली सटीक, छन्द-अलंकारों के उदाहरण में राम की स्तुति। २- शिवार्थालङ्कारस्तवः - अलंकारों में शिव की स्तुति।

छज्जू राम शास्त्री विद्यासागर, कुरुक्षेत्र -जन्म (१८६५ ई.) आधुनिक काव्यशास्त्रियों में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। "साहित्यबिन्दुः" "रसगंगाधरखण्डनम् तथा "परीक्षा" नाम्नी काव्यप्रकाश की टीका इनके महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ हैं। साहित्यबिन्दु मेहरचन्द लक्ष्मनदान, देहली से १६६१ ई. में प्रकाशित हुआ है। यह अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने न्याय, वेदान्त, व्याकरण, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, नाटक आदि विषयक लगभग १४ ग्रन्थों की रचना की।

कृष्णमाधव झा, बिहार-अलङ्कारविद्योतनम् (अलङ्कारशास्त्र का ग्रन्थ)।

कौत्स अप्पल्ल सोमेश्वर शर्मा - ये श्री वेंकटेश्वर प्राच्य महाविद्यालय, तिरुपति में प्राध्यापक थे। ये व्याकरण तथा साहित्य के मर्मज्ञ आचार्य थे। १- साहित्यविमर्शः (१६४५-४६ में रचित), श्री वेंकटेश्वर ओरिएण्टल इंस्टीट्यूट से १६५१ में प्रकाशित। इसमें पौरस्त्य एवं पाश्चात्त्य दोनों की समन्वित नवीन पद्धति से काव्यशास्त्र का निरूपण किया गया है।

ब्रह्मानन्द शर्मा (१६२३ ई. में जन्म)-१-वस्त्वलङ्कारदर्शनम्-इसमें अलङ्कारों का वैज्ञानिक रीति से विवेचन है। २- काव्यसत्यालोकः इसे आधुनिक काव्य शास्त्र में नयी सरणि प्रस्तुत करने वाला कहा गया है। ३-तत्त्वशतकम् ४- रसालोचनम्।

(शर्मा जी ने महात्मा जाझोजी (१४१५) के जीवन-दर्शन (सबदवाणी) पर आधारित जझेश्वर दर्शन की रचना भी की है।)

टीका ग्रन्थ

जीवानन्द विद्यासागर (१६ वीं शती) - इन्होंने "साहित्यदर्पण" पर "विमला" टीका लिखी।

दुर्गाप्रसाद त्रिपाठी (१६ वीं शती) - इन्होंने "रसमञ्जरी" पर टीका लिखी। इस काव्यशास्त्र परक टीका के अतिरिक्त इन्होंने ज्योतिष, कर्मकाण्ड तथा व्याकरण पर भी मूल ग्रन्थ तथा टीकाएं लिखीं।

महेशचन्द्र न्यायरत्न (१८३८-१६०५) काव्यप्रकाश पर टीका। "मृच्छकटिकप्रणेतृनिर्णयः" इनका आलोचनात्मक ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त इन्होंने मीमांसा, वेद विषयक ४ अन्य ग्रन्थों

की भी रचना की।

जग्गू वेंकटाचार्य-ये कर्णाटक (मैसूर) में वेदान्तबोधिनीसंस्कृत पाठशाला में प्राध्यापक थे। ग्रन्थ-कुवलयानन्दचन्द्रिकाचकोरः-यह वैद्यनाथ पायगुण्ड की टीका (कुवलयानन्द पर) "चन्द्रिका" की व्याख्या है। २- श्रीरसगंगाधरमर्मप्रकाशमर्मोद्घाटनम् नागेशभट्टकृत रसगंगाधर की टीका मर्मप्रकाश की व्याख्या इसमें नागेशभट्टकी आलोचना की गयी है। दोनों ग्रन्थ बंगलौर से प्रकाशित हैं।

दशरथ द्विवेदी, उत्तर प्रदेश (१६ वीं शती का उत्तरार्ध) १- काव्यालङ्कारसूत्रभाष्य। २-पिङ्गलछन्दःसूत्रभाष्य। इसके अतिरिक्त भी द्विवेदी जी ने आयुर्वेद, व्याकरण धर्मशास्त्र, भक्ति आदि संबंधी लगभग ८ ग्रन्थ लिखे हैं।

मानवल्लि गङ्गाधरशास्त्री (१८५३-१६१३)-पिता-नृसिंह शास्त्री मानवल्लि, पितामह-सुब्रह्मण्य शास्त्री। गुरु-राजाराम शास्त्री, बालशास्त्री। "रसगंगाधर" पर टीका। इसके अतिरिक्त "अलिविलासिसंलाप" (खण्डकाव्य) तथा व्याकरण, न्याय, काव्यविषयक १३ अन्य ग्रन्थ लिखे।

रायम्पेटा वेंकटेश्वर कृष्णमाचारियर (१८७४-१६४४) पिता-वेंकटेश्वर। ग्रन्थ-चित्रमीमांसा पर टीका। २४ अन्य ग्रन्थ।

वामनभट्ट झलकीकर, महाराष्ट्र (१६ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध) - काव्यप्रकाश पर "बालबोधिनी" टीका।

रामनाथ चतुर्वेदी, उत्तर प्रदेश (१८६६-१६३४) - रसमञ्जरी पर टीका। अन्य ग्रन्थ।

राम षारक (२० वीं शती) १- कुवलयानन्द चन्द्रिका की व्याख्या २- ध्वन्यालोकलोचन की "बालप्रिया" व्याख्या। ३- चित्रमीमांसा की व्याख्या। १६ अन्य ग्रन्थ।

खुद्दी झा-(२० वीं शती)-काव्यप्रकाश की व्याख्या।

म. म. सु. नीलकण्ठशास्त्री (जन्म-१६०४ ई.) शास्त्री जी गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, त्रिवेन्द्रम में न्याय विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष रहे। १६५६ ई. में सेवानिवृत्त।

ध्वन्यालोकोज्जीवनी, केरलविश्वविद्यालय विरुवनन्तपुरम् से १६८१ ई. में प्रकाशित। जैसा कि नाम से ही विदित है, यह ध्वन्यालोक की व्याख्या है। शास्त्री जी ने "सावित्री" (लघु नाटक) श्रीरामचरितम् (कम्बरामायणम् का संस्कृतानुवाद) तथा कात्यायनीव्रतम् आदि अन्य कृतियों की भी रचना की।

कुप्पूस्वामी शास्त्री-ध्वन्यालोक पर व्याख्या- चौखम्बा, वाराणसी से प्रकाशित।

चण्डिकाप्रसाद शुक्ल, उत्तर प्रदेश (१६२१) शुक्ल जी ने प्रयाग विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष पद से अवकाश ग्रहण किया। ध्वन्यालोक की टीका "दीपशिखा" विश्वविद्यालयप्रकाशन- वाराणसी से प्रकाशित, १६८३ ई.। इसमें लेखक की

मान्यता है कि अभिनवगुप्त अनेक स्थलों पर आनन्दवर्धन के अभिप्राय-प्रकाशन में असफल रहे हैं।

बदरीनाथ झा (२० वीं शती) - उपाधि-कविशेखर। १- रसमञ्जरी पर "सुरभि" व्याख्या २- रसगंगाधर पर "चन्द्रिका" व्याख्या ३-ध्वन्यालोक पर "दीधिति" व्याख्या-ये तीनों व्याख्याएं चौखम्बा वाराणसी से प्रकाशित हैं।

वैद्यनाथ झा (१६३२ ई. में जन्म) - झा जी का जन्म बिहार प्रान्त के मधुबनी जिले में हुआ था। ये बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर से १६६२ ई. में सेवानिवृत्त हुए। ध्वन्यालोकलोचनविमर्शः - मिथिला संस्कृत शोधसंस्थान, दरभंगा से प्रकाशित।

केदारनाथ ओझा - इनके द्वारा लिखित रसगङ्गाधर की व्याख्या सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित है।

रेवाप्रसाद द्विवेदी (१६३५, मध्य प्रदेश) इनकी "काव्यालङ्कारकारिका" काव्यशास्त्र विषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसमें काव्यशास्त्रीय तत्त्वों पर नवीन ढंग से विचार किया गया है। द्विवेदी जी का काव्यदर्शन "प्रत्ययवादी" है। इसमें काव्यशास्त्र के "दर्शन" का सम्यक् विवेचन हुआ है। आचार्य द्विवेदी अलङ्कारवादी हैं। उनके अनुसार काव्य की आत्मा "अलङ्कार है और अलङ्कार का लक्षण "पर्याप्ति" है। इस सन्दर्भ में उन्होंने काव्य के छः प्रस्थानों रस, रीति, अलङ्कार, ध्वनि, वक्रोक्ति ओर औचित्य-की अलङ्कारवादी समीक्षा की है। द्विवेदी जी के अनुसार "ध्वनि" का अर्न्तभाव भी अलङ्कार में हो जाता है। जिस प्रकार अग्नि सोम को निगल जाती है उसी प्रकार अलङ्कार ध्वनि को-

अस्मन्मते त्वलङ्कारः काव्यस्याङ्गस्य वीक्षणे।
ध्वनिं सोमं यथा वह्निः कवलीकृत्य राजते।।

इस ग्रन्थ में १८४ मूल कारिकाएँ हैं, जिनपर द्विवेदी जी ने संस्कृत एवं अग्रेजी में टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त संग्रह एवं उपस्कार कारिकायें भी हैं। इसका प्रकाशन चौखम्बा सुरभारती, वाराणसी से १६७७ ई. में हुआ है।

शिवजी उपाध्याय, उ. प्र. (जन्म-१६४७ ई. के लगभग) - उपाध्याय जी का जन्म उ. प्र. के मिर्जापुर जनपद में हुआ है। इस समय आप सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी में साहित्य विभाग में प्राध्यापक पद पर कार्यरत हैं। इन्होंने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ "व्यक्तिविमर्शः" और दर्शनपरक ग्रन्थ "सर्वदर्शनविमर्शः" की रचना की। दोनों ग्रन्थ मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण हैं।

व्यक्तिविमर्शः-यह एक नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाला मौलिक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में व्यञ्जना (व्यक्ति) को ही प्रधान शक्ति माना गया है। अभिधा और लक्षणा का अन्तर्भाव व्यञ्जना में ही हो जाता है। सम्पूर्ण ग्रन्थ कारिकाओं में उपनिबद्ध है, जिसपर ग्रन्थकार द्वारा स्वोपज्ञ वृत्ति भी रचित है। इनका एक अन्य दार्शनिक ग्रन्थ है -

सर्वदर्शनविमर्शः - जो सायणाचार्य के सर्वदर्शनसंग्रह के आधार पर विरचित है। इस ग्रन्थ की विशेषता है- सभी दर्शनों में लक्ष्यैकप्रतिपादनत्व का सन्धान। ग्रन्थ १६६० ई. में वाराणसी से प्रकाशित है।

जगन्नाथ पाठक (जन्म १६३४)-कविताशतकम् 'विच्छित्तिवातायनी' के अन्तर्गत प्रकाशित। 'संस्कृत में काव्यसर्जना' के पीछे कवि की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति की प्रक्रिया पर विचार नगण्यप्राय है। काव्य किसे कहते हैं, इस प्रश्न का जहाँ विशद विवेचन हुआ, वहीं काव्यसृष्टि की प्रक्रिया या कवि की भावभूमि के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता आचार्यों ने नहीं समझी। इस दृष्टि से पाठक जी की यह रचना एक प्रशंसनीय देन है। स्वरूप की दृष्टि से यह काव्यविवेचन न होकर काव्य-प्रशंसा है, किन्तु बीच-बीच में काव्य-सर्जना की प्रक्रिया और कवि के भावनात्मक धरातल को निरूपित किया गया है।

रेवाप्रसाद द्विवेदी-शतपत्रम्-कालिदास संस्थान, वाराणसी सं. १६८७ ई. में प्रकाशित। यह कविता की प्रशंसा में रचित काव्य है किन्तु वस्तुतः इसमें काव्य का दर्शन उसका लक्षण, उत्पत्ति-प्रक्रिया सब कुछ व्याख्यात है। कवि की भाषा-शैली अत्यन्त सबल, परिष्कृत, प्रसादगुणोपेत और उच्छल-प्रवाहमयी है। उदाहरणार्थ कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं-

कविता हृदयस्य संविधानं तरलस्य प्रणयेन मुक्तबन्धम्।
वृणुते परतन्त्रतां स्वतन्त्राः सुहृदो यत्र विना पराभियोगम्।।

कविता प्रणय-तरल हृदय का (न कि संसद् का) एक ऐसा मुक्तबन्ध (न कि बन्धनकारी) संविधान है, जिसमें स्वतन्त्र सुहृज्जन परतन्त्रता का वरण किया करते हैं, वह भी पराभियोग के बिना।

कविता हृदयस्य कापि भाषा मुखरा मौनमयी वधूर्नवेव।
न हि शक्तिरथो न तत्र भक्तिः प्रतिपत्तिस्तु समर्पणाय मार्गः।

कविता हृदय की एक ऐसी भाषा है जो मुखर भी रहती है और मौन भी, नववधू की भाँति। यहाँ सम्पूर्ण अर्पण का एक मात्र उपाय है प्रतिपत्ति, न शक्ति और न ही भक्ति।

विहितं सहकारमञ्जरीभिर् मृदु तल्पं चितिचञ्चरीकपत्न्यै।
कवितेति निरुच्यते प्रपन्नैर् वचसां नृत्यविधौ स्वतः प्रवृत्ते।।

चितिभ्रमरी के लिए सहकारमंजरी जो मृदुतल्प बना दिया करती है। वही है कविता। वाणी जब स्वतः नर्तन करने लगती है तो उसी को सहृदय कविता कह दिया करते हैं।

समीक्षाशास्त्र

जयमन्त मिश्र (२०वीं शती)-कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय के पूर्व

कुलपति मिश्र जी कई वर्षों आल इण्डिया ओरिएण्टल कान्फ्रेंस के वेद, धर्मदर्शन और साहित्य के विभागीय अध्यक्ष रहे। आप १६६६ में होने वाली कान्फ्रेंस के संमान्य अध्यक्ष निर्वाचित किये गये। काव्यात्ममीमांसा-चौखम्बा-वाराणसी से प्रकाशित।

भागवतप्रसाद त्रिपाठी पुरी-(२०वीं शती)-रसनिष्पत्तितत्त्वालोक-सदाशिव केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ से १६८३ ई. में प्रकाशित।

रामजी उपाध्याय, उत्तर प्रदेश (२० वीं शती)-नाट्यशास्त्रीयानुसन्धानम् १६८५ ई. में भारतीय संस्कृति संस्थान, वाराणसी से प्रकाशित। इस ग्रन्थ में दस प्रकार के रूपकों के स्वरूप, तत्त्व, अङ्गों एवं परिभाषिक शब्दों को विवेचनात्मक शैली में समीक्षित किया गया है। आवश्यकतानुसार अनेकानेक नाट्य-ग्रन्थों से अंश उदधृत किये गये हैं और उनकी समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। यह नवीन ढंग का एक श्लाघ्य प्रयास है।

एन.एन. चौधरी (२०वीं शती)-संस्कृत विभागाध्यक्ष, दिल्ली विश्वविद्यालय। काव्यतत्त्वसमीक्षा- मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली द्वारा १६५६ ई. में प्रकाशित। ग्रन्थ ६ उल्लासों में रचित है जिनमें प्रथम उल्लास में काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में विविध मतों, द्वितीय में शब्दार्थ के स्वरूप एवं शब्दशक्तियों, तृतीय में शब्दों की अर्थव्यञ्जकता, चतुर्थ में रस, पञ्चम में ध्वनि, षष्ठ में गुण-दोष-अलंकारों के विषय में विचार किया गया है। यह आधुनिक समीक्षाशास्त्र की विवेचनात्मक शैली में प्रणीत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। कलकत्ता विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष और मूर्धन्य विद्वान् श्री सत्करी मुखर्जी ने इस ग्रन्थ का "प्राक्कथन" लिखा है।

छन्दःशास्त्र

दुःखभञ्जन कवीन्द्र, उत्तर प्रदेश-ये सहित्य, संगीत, ज्योतिष तथा दर्शनशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् थे। वाग्वल्लभः- काशी संस्कृत सीरीज से १६३३ ई. में प्रकाशित। इस पर इनके पुत्र पं. देवी प्रसाद कविचक्रवर्ती ने "वरवर्णिनी" टीका भी लिखी है। ग्रन्थ की भूमिका देवी प्रसाद जी के गुरु पं. दामोदरलाल गोस्वामी द्वारा लिखी गई है। यह ग्रन्थ छन्दःशास्त्र का प्रतिपादन करने वाला बड़ा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

अयोध्याप्रसाद शास्त्री, उ. प्र. (२० वीं शती) - एटा मण्डल के अन्तर्गत "सोरो" के समीप होडलपुर ग्राम में इनका जन्म हुआ था। पं. वशिष्ठ सनाढ्य इनके गुरु थे। बाद में ये रायबरेली में रहने लगे थे। छन्दोवैभवम्- आचार्य कुटीर, सत्यनगर, रायबरेली से १६६३ ई. में प्रकाशित (द्वितीय सोपान) इसके प्रथम सोपान में एकाक्षरपाद वृत्त से लेकर अष्टाक्षर पाद वृत्तों तक सभी संभावित वृत्तिभेद, उनके प्रस्तार प्रक्रिया और स्वरूपानिदर्शन पूर्वक उदाहरणों के साथ निरूपित हैं। द्वितीय सोपान में बृहती नामक नवाक्षरपाद वृत्त के भेदोपभेद स्वरूपनिरूपण पुरस्सर वर्णित हैं।

सौन्दर्यशास्त्र

सौन्दर्यशास्त्र एक अद्यतन शास्त्र है। यह शब्द पहले हमारे यहाँ, व्यवहृत नहीं हुआ। एक प्रकार से यह पश्चिम की देन है। पश्चिम में भी सौन्दर्यशास्त्र का विकास सौन्दर्यशास्त्र के रूप में कोई अधिक प्राचीन नहीं है। इस शास्त्र का जिससे आरम्भ माना जाता है उस अरस्तू की कृति का नाम "एस्थेटिक्स" नहीं "पोयटिक्स" है। हमारे यहाँ भी प्राचीन काल में सौन्दर्यशास्त्र अलंकारशास्त्र किंवा काव्यशास्त्र का ही अन्तर्वर्ती विषय था। वामन ने अलंकार की परिभाषा लिखी-सौन्दर्यमलङ्कारः, और काव्य के बाह्य शैलीगत सौन्दर्य एवं आभ्यन्तर इस सौन्दर्य की चर्चा तथा नायिका के माधुर्य दीप्त्यादि रूपसौन्दर्य की चर्चा वहीं की गयी। साहित्य पाँच कलाओं में से मूर्धन्य कला है। जैसे इसमें सौन्दर्य को अविनाभाव से जोड़ा गया वैसे अन्य संगीत, चित्रकला, मूर्ति एवं स्थापत्य कलाओं के सन्दर्भ में इसकी यत्र-तत्र चर्चा होती रही।

समीक्षकों की धारणा है कि भारतीय परम्परा में सौन्दर्यशास्त्र का पश्चिमी मूल्यों जैसा अध्ययन नहीं हुआ, परन्तु भारतीय काव्यशास्त्र के रससिद्धान्त को उसके समकक्ष रखा जा सकता है और इसीलिए रससिद्धान्त एवं सौन्दर्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन करने की परम्परा लगभग प्रतिष्ठित हो चुकी है। रस और सौन्दर्य दोनों "आनन्द" प्रदान करते हैं, सहृदय को विगलितवेद्यान्तर बना देते हैं और दोनों "ध्वनित" या अभिव्यक्त होते हैं।

सौन्दर्य का विवेचन वस्तुवादी एवं प्रमातृवादी (सहृदयवादी) दोनों दृष्टियों के आधार पर किया जा सकता है। वस्तु का बाह्य आकार, उसका सौष्ठव क्रमव्यवस्था, विचित्रता, स्पष्टता आदि प्रेक्षक के हृदय में सौन्दर्यानुभूति के उद्भावक बनते हैं, पर मूलतः वह बड़ी आँखों, नुकीली नाक या शंख जैसी ग्रीवा में नहीं रहता। वह तो अङ्गना के अङ्गों में से छनकर आने वाला कोई मुग्ध कर देने वाला भाव है, जो बरबस मन को आकर्षित कर उसे आनन्द में डुबो देता है। जैसा कि शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त के मुख से निकला था "अये, लब्धं नेत्रनिर्वाणम्"। सौन्दर्य "व्यञ्जना" है, सौन्दर्य "ध्वनि" है। यह अतिव्यापक है, इसीलिए सौन्दर्य दर्शन के लिए विशेष प्रकार की संवेदनशीलता, विशेष दृष्टिसौन्दर्य का हृदयसौन्दर्य होना आवश्यक है। इसीलिए भारत में इस विवेचन से पहले जहाँ वस्तुगत और प्रमातृगत दोनों रहा है, वहाँ उत्तरोत्तर प्रमातृगत होता गया है। प्लेटो, रस्किन प्रभृति कई पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्री भी सौन्दर्यदर्शन को वस्तु के आकार-प्रकार तक सीमित न रखकर उसे प्रमाता के साथ जोड़ना चाहते हैं। प्लेटों का तो कथन है कि जो भी सौन्दर्य के तत्त्व की यथोचित खोज करने में दत्तचित्त होगा, उसे विभिन्न सुन्दर रूपों को देखने से पता लगेगा कि एक रूप की सुन्दरता दूसरे रूप की सुन्दरता से भिन्न नहीं है।

सौन्दर्य के प्रति वस्तुगत और प्रमातृगत दृष्टियों के अलावा सौन्दर्यदर्शन को पदार्थवादी और आध्यात्मिक धरातल पर भी परखा गया है। सौन्दर्य केवल शरीर का ही गुण नहीं है, शरीर-सौन्दर्य के ऊपर मन का सौन्दर्य, उसके ऊपर प्रज्ञात्मक सौन्दर्य और

सर्वोपरि नैतिकता अथवा चेतना का सौन्दर्य स्वीकार किया गया है। यद्यपि पश्चिम के सौन्दर्य चेताओं में सौन्दर्यानुभूति एवं नैतिकता के सम्बन्ध को लेकर तीव्र मतभेद रहा है। कुछ आचार्य सौन्दर्यानुभूति और नैतिकता को परस्पर निरपेक्ष रूप में स्वीकार करते हैं, कुछ उन्हें परस्पर संबद्ध मानते हैं, परन्तु भारतीय आचार्यों की दृष्टि इस विषय में निर्द्वन्द्व रही है। कालिदास ने कुमारसम्भव में कहा है 'यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः', अर्थात् रूप कभी पाप को जन्म नहीं दे सकता। नैतिकता एवं रसानुभूति में सहज अन्तरङ्ग सम्बन्ध है। रसानुभूति सत्त्वोद्रेक से होती है और सत्त्वगुण से उत्पन्न मनःस्थिति कभी अनैतिक नहीं हो सकती। "रस" संवित् या चिति के उदात्तस्तर से सम्बद्ध होने के कारण अनैतिक नहीं हो सकता।

"औचित्य" की भी सौन्दर्यदर्शन में अहम् भूमिका है। जिस देश, काल, समाज और परिस्थिति में जो उचित है वही "सुन्दर" लगता है। यहाँ औचित्य को व्यापक अर्थों में लिया जाना चाहिये। क्षेमेन्द्र ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ "औचित्यविचारचर्चा" में इसका विस्तृत निरूपण किया है।

इस प्रकार, पहले भारतवर्ष में सौन्दर्यविवेचन मुख्यतः काव्यशास्त्र का विषय था और उसी के अन्तर्गत इसपर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किये गये थे। परन्तु इधर स्वतन्त्र रूप से सौन्दर्यशास्त्र पर कुछ रचनाएं प्रकाश में आयी हैं, जिनपर आगे चर्चा की जायगी।

जगन्नाथ पाठक, बिहार (जन्म १९३४)-सौन्दर्यकारिका-सौन्दर्यशास्त्रपरक ये १०२ कारिकाएँ पाठक जी की रचना "विच्छित्तिवातायनी" (मुक्तक काव्य-संग्रह) में संकलित और प्रकाशित हैं। यह ग्रन्थ १९९१ ई. में इलाहाबाद में ही मुद्रित हुआ। रचयिता की इन कारिकाओं पर स्वोपज्ञ संस्कृत टीका भी है, जिससे उसके सौन्दर्य दर्शन पर अधिक स्पष्ट दृष्टि पड़ती है।

यह रचना संस्कृत में एक अभिनव प्रयोग है, अतः इसके विषय में कुछ वक्तव्य है। इस रचना में संभवतः प्रथम बार "सौन्दर्यशास्त्र" को एक स्वतन्त्र दृष्टिकोण से देखा गया है। वह "काव्यशास्त्र" का अङ्गभूत अलङ्कार और रसविवेचन मात्र नहीं, विश्व की प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक कलाकृति, प्रत्येक कण-कण में व्याप्त सौन्दर्य है।

सौन्दर्य के प्रति रचनाकार की दृष्टि एक मुग्ध, विनीत अर्चक आराधक की सी है। वह सौन्दर्य को आकार और पदार्थ की बाह्य प्रतीति तक सीमित न रखकर उसे अमूर्त स्पर्शवर्जित अनुभूति तक ले जाता है जो दीपक की प्रभा अथवा मुक्ता की तरलता की भाँति पदार्थ के आकार के पीछे कहीं अन्तर से छनकर जाती हुई अभिव्यक्त होती है। सौन्दर्यानुभूति बाह्य सामग्री निरपेक्ष है। जिनकी सौन्दर्यदृष्टि सूक्ष्मग्राहिका है वे पक्षियों के कलरव से व्याप्त, शफरीनर्तित, स्वच्छ जल से परिपूर्ण सरोवर में जितना रमते हैं उतना ही ग्रीष्मकाल में सूखे हुए सर में भी-

स्वच्छाम्भःपरिपूर्णं सुन्दरमस्त्येव निश्चयेन सरः।
शुष्कमपि प्रतिभाते सुन्दरमित्याहुरतिनिपुणाः।।

जो चित्त को तत्क्षण समुत्सुक बना दे, मन को सुकुमार ढंग से झटिति हरण कर ले, चेतना को इतना डुबो दे कि भान ही भूल जाय, वहीं तो सौन्दर्य है! यहाँ आकर सौन्दर्यानुभूति वस्तु को प्रमाता (भावुक) से जोड़ती है। सौन्दर्य का संवेदन करने वाली दृष्टि के आलोक में पड़कर वस्तु का सौन्दर्य कई गुना होकर स्फुरित होने लगता है।

भारतीय आध्यात्मिक दृष्टि से उत्प्रेरित ग्रन्थकार सौन्दर्य को सत्यम् शिवम् सुन्दरम्, ब्रह्म से अभिन्न मानता है। विश्व में जो कुछ सत्य है, वह मङ्गलकारी है और जो सत्य और मङ्गलकारी है, वही सुन्दर भी है। जीवन जितना सुन्दर है, उतनी ही मृत्यु भी-

जीवनमपि सौन्दर्यं सौन्दर्यं मृत्युमपि समं चाहुः।
व्याकीर्णा धीर्येषां त एव भेदं प्रकुर्वन्ति।। २८।।

सौन्दर्यानुभूति कभी अनैतिक नहीं हो सकती, क्योंकि यह सत्त्वोद्रेक से युक्त चित्तवृत्ति में प्रकट होती है और ऐसी दशा में काम क्रोधादि रह नहीं सकते। यह विश्व की परम पवित्र और सुकुमार भावना है जो तनिक सा विरूप भाव आते ही तत्काल नष्ट हो जाती है। इस प्रकार, पाठक जी की यह रचना विद्वानों द्वारा मननीय है।

गोविन्द चन्द्र पाण्डेय (१९२३, अल्मोड़ा, उत्तर प्रदेश) "भक्तिदर्शनविमर्शः" (१९९१) के पश्चात् गोविन्द चन्द्र पाण्डेय का "सौन्दर्यदर्शनविमर्शः" नाम का ग्रन्थ, जिसमें पाण्डेय जी के सम्बद्ध विषय पर तीन व्याख्यान संगृहीत हैं, सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय, वाराणसी से १९९५ में सद्यः प्रकाश में आ चुके हैं। पाण्डेय जी पं. विद्यानिवास मिश्र के शब्दों में "भारतीयमनीषाया भूमैकनिष्ठाया नाल्पसन्तुष्टाया अखण्डतानुसन्धायिन्याः प्रतिमानभूताः" हैं- संस्कृति, इतिहास तथा बौद्धदर्शन के अभिनिविष्ट विद्वान् पाण्डेय जी ने सौन्दर्यशास्त्र को विज्ञान न मानकर दर्शन का ही विभागविशेष माना है। ग्रन्थ के तीनों व्याख्यानों के शीर्षक हैं-१. सौन्दर्यशास्त्रस्वरूपालोचनम्, २- रूपतत्त्वविमर्शः, और ३-रसतत्त्वविमर्शः। प्रथम अध्याय में, जैसा कि स्वयं पाण्डेय जी लिखते हैं सौन्दर्यशास्त्र की इतिहासपरतन्त्रता की आलोचना की है। सौन्दर्य की बुद्धि लक्ष्य की अपेक्षा से उत्पन्न होती है और सौन्दर्य की मीमांसा पुरूषार्थ की दृष्टि और आन्वीक्षिकी की अपेक्षा करती है। इस प्रकार देश और काल के भेद से लक्ष्यों के भिन्न होने पर तथा दृष्टियों के विपरिवर्तमान होने की स्थिति में सौन्दर्य-मीमांसा का अवधारण भी भिन्न हो ही जाता है। पाण्डेय जी के अनुसार सौन्दर्य-बुद्धि के दो पक्ष हैं-एक तो प्रातिभकल्पना द्वारा सृष्ट रूप का प्रतिभास और दूसरा सहृदय के विवेक द्वारा संगत रसास्वाद। दूसरे अध्याय में नाना युगों में विवर्तित काल, शिल्प, सङ्गीत के व्यापक रूप की कल्पना के भेद बताते हुए तथा उनसे सम्बद्ध आशंकाओं पर विचार करते हुए व्यञ्जकत्व को ही पर रूप धर्म स्वीकार किया है। तृतीय

अध्याय में भरत मुनि के रस सूत्र के व्याख्यानों को प्रस्तुत करके उनकी आलोचना की है। सामान्यतः आचार्य अभिनवगुप्त के रस सूत्र के व्याख्यान का समर्थन करते हुए, आचार्य अभिनवगुप्त के भाव-निरूपण तथा रससंख्यानिर्धारण पर पुनर्विचार करने के लिए (विद्वानों से) निवेदन किया है। समग्र ग्रन्थ सौन्दर्यशास्त्र पर भारतीय तथा पाश्चात्त्य चिन्तन के आधार पर प्रस्तुत एक विचारोत्तेजक निर्माण है। विश्वास है, इससे भविष्य में अनेक विचारक प्रेरित होंगे और सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन को और विकसित करेंगे।

सङ्गीतशास्त्र

राम पाणिवाद (१६ वीं शती)-तालप्रस्तरः-इसमें तालों का प्रतिपादन है।

कृष्णानन्द व्यास (१६ वीं शती)-रागकल्पद्रुमः (१८२५ ई.) कलकत्ता से प्रकाशित। व्यास जी को मेवाड़ की महारानी ने "रागसागर" की उपाधि प्रदान की थी।

कृष्ण बनर्जी (१६ वीं शती) गीतसूत्रसारः (१८५६ ई.)- यह संगीतशास्त्र विषयक एक उत्तम ग्रन्थ है।

स्वाति तिरुनाल (१८१३-१८४७)-संगीतसारसंग्रहः (१८७५ ई.)

विष्णुनारायण भारतखण्डे, महाराष्ट्र (१८६०-१६३६ ई.)-संगीतशास्त्र के महान पण्डित एवं कलाकार श्री विष्णुनारायण भातखण्डे का नाम आधुनिक काल के संगीतशास्त्रज्ञों में सर्वोपरि है। इनका जन्म १० अगस्त, १८६० ई. को बम्बई में हुआ था। इनका मराठी, हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी, गुजराती, संस्कृत इन सभी भाषाओं पर विलक्षण अधिकार था। इन्होंने अन्य भाषाओं के अतिरिक्त संस्कृत में संगीतशास्त्र सम्बन्धी निम्न महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की-१-श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्- यह इनका संस्कृत में उपनिबद्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें श्री भातखण्डे ने आधुनिक काल में प्रचलित सङ्गीत जिसे वे "लक्ष्य" कहते हैं, को विवेचित किया है। उन्होंने विभिन्न संगीतज्ञों के अनुसार प्रस्तुत रागों के स्वरूप में समानता और भिन्नता का विवेचन कर "राग" के मूल स्वरूप को निर्धारित करने का प्रयास किया है। इस ग्रन्थ के प्रणयन में लेखक का सङ्गीतसम्बन्धी पाण्डित्य, आनुभविक ज्ञान और ऐतिहासिक दृष्टि सराहणीय है। २-अभिनवरागमञ्जरी-इसमें रागों का विवेचन है। ३- अभिनवतालमञ्जरी-इस ग्रन्थ में तालों का निरूपण किया गया है। इनका स्वर्गवास १६ अगस्त, १६३६ ई. को हुआ।

जगदीशचन्द्र आचार्य, जोधपुर - सङ्गीतलहरी।

कामशास्त्र

गङ्गाधरशास्त्री मंगरूलकर - रतिकुतूहलम्।

कुट्टमत्तु कुंजुन्नि कुरुप्प (१८१३-१८८५) -रतिप्रदीपिका।

शिवराम - भूपालविलासः।

सहिव्रम - पञ्चसायकम् (१८७५ ई.)

नारायणभट्ट पर्वणीकर - अनङ्गरङ्गोदयस्थलम्

व्रजरत्न भट्टाचार्य - रसिकरहस्यम् (१८६६ ई.)

मथुराप्रसाद दक्षित - केलिकुतूहलम्

मनोविज्ञान

विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि, उत्तर प्रदेश (२० वीं शती) - मनोविज्ञानमीमांसा-आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली से १६५६ ई. में प्रकाशित। इस ग्रन्थ में क्रीड़ा, शिक्षण, अवधान, प्रकृति (आदतों) इच्छित क्रियाओं, चरित्र, संवेदन, प्रत्यक्ष, स्मृति, कल्पना, विचार, संवेग, बुद्धिपरीक्षा आदि मनोवैज्ञानिक विषयों का विवेचन किया गया है। नयी मनोवैज्ञानिक विचारधाराओं का भी परिचय दिया गया है। ग्रन्थ में कुल २५ परिच्छेद हैं।

रामस्वरूप शास्त्री उ. प्र. (२० वीं शती) - स्वप्नविज्ञानम् - अलीगढ़ विश्वविद्यालय से १६६० ई. में प्रकाशित। यह मौलिक तत्त्वविवेचन से युक्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

व्रजबिहारी चतुर्वेदी (१८६६-१६४५) मनोविज्ञानम्।

मामराजदत्त कापिल, उ.प्र.(२० वीं शती)-अर्वाचीनं मनोविज्ञानम्- सम्पूर्णानन्द-विश्वविद्यालय वाराणसी से १६६५ ई. में प्रकाशित। रचनाकाल १६५७ ई.। यह ग्रन्थ षोडश अध्यायों में रचित है। प्रथम अध्याय में मनोविज्ञान की परिभाषा, उसके अध्ययन की प्रणाली, उसकी विविध शाखाएँ एवं सम्प्रदाय तथा उसका अन्य विज्ञानों के साथ सम्बन्ध वर्णित है। द्वितीय अध्याय में मन सम्बन्धी शरीरसंरचना एवं षट्चक्रों का वर्णन है। तृतीय अध्याय में व्यक्ति पर वंशानुक्रम और वातावरण सम्बन्धी प्रभाव के विषय में विभिन्न मतों और तत्त्वों का विवेचन है। चतुर्थ में सहज, क्रियाओं, मूल प्रवृत्तियों आदि का, पॉचवें में चेतना के स्वरूप का, छठें में एकाग्रता, सातवें में प्रत्यक्ष ज्ञान, आठवें में सविकल्पक प्रत्यक्ष, नवें में अभ्यास, शिक्षण आदि का दसवें में विचार का ग्यारहवें में कल्पना, बारहवें में स्मृति, तेरहवें में संवेदनभावादि, चौदहवें में असामान्य मनोविज्ञान सम्बन्धी बातों का विस्तृत विवेचन है। प्राच्य शास्त्रीय ज्ञान को अर्वाचीन गवेषणाओं से जोड़ते हुए वैज्ञानिक शैली में प्रणीत यह प्रौढ़ रचना है।

प्रभुदयाल अग्निहोत्री, उ. प्र.-अभिनवमनोविज्ञानम् (चित्रसहित)-सम्पूर्णानन्द ग्रन्थमाला ६ में वाराणसी में प्रकाशित, १६६५ ई.।

व्ही. एस. वेङ्कटराघवाचार्य, आन्ध्र प्रदेश-शिक्षामनोविज्ञानम्-केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ तिरुपति द्वारा सन् १६७१ ई. में प्रकाशित।

दीनेशचन्द्र शास्त्री-प्राचीनभारतीयमनोविद्या-सामान्य तथा विशेष नामक दो अध्यायों

में प्रणीत। १६७२ ई. में कलकत्ता से प्रकाशित।

भाषा विज्ञान

ए. आर. राजराजवर्म कोइतम्बुरान् (१८६३-१६१६)-भाषोत्पत्तिः-इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने भाषाविषयक भारतीय व पाश्चात्य मतों की समीक्षा की है।

आर. एस. वेङ्कटराम शास्त्री (२० वीं शती)-ये मद्रास संस्कृत कालेज में प्रोफेसर थे। भाषाशास्त्रप्रवेशिनी- बाल मनोरमा सीरीज-२८ में प्रकाशित, १६३८ ई.। यह अर्वाचीन भाषाविज्ञान की भाषा एवं शैली में रचित विवेचनात्मक लघु ग्रन्थ है।

गणित और विज्ञान

पी. सुब्बाराय, आन्ध्र प्रदेश-शैक्षिकी सांख्यिकी, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति द्वारा सन् १६८२ ई. में प्रकाशित।

रेवाप्रसाद द्विवेदी, उत्तर प्रदेश - कार्ष्णायसस्य प्रभवः - (भिलाई स्टील प्लांट) हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित।

रामनिहाल शर्मा, मध्य प्रदेश - जन्तुविज्ञानम् (विषय-वस्त्रविज्ञान)

धुनीराम त्रिपाठी - प्राच्यभारतीयं ऋतुविज्ञानम्- यद्यपि यह एक शोधप्रबन्ध है, परन्तु विषय-प्रतिपादन की नवीन और वैज्ञानिक दृष्टि के कारण एक मौलिक ग्रन्थ सा महत्त्व रखता है। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से १६७२ ई. में प्रकाशित।

वास्तुशास्त्र

द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, उ. प्र. (२० वीं शती)-गोरखपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में कार्यरत थे। वास्तुशास्त्रम्-शिल्पशास्त्र एवं चित्रकला विषयक शास्त्र का ग्रन्थ। इस ग्रन्थ की भूमिका में उल्लेख है कि टी. गोपीनाथ राव ने ४० वर्ष पहले वास्तुशास्त्र विषयक ४ ग्रन्थों को रचकर प्रकाशित किया।

भूगोल

ए. आर. राजराजवर्म कोइतम्बुरान (१८६३-१६१६) भूगोलविवृतिः-पाश्चात्त्य भूगोल शस्त्र के आधार पर प्रणीत ग्रन्थ है।

ए. कुप्पूस्वपमी शास्त्री-भूगोलशासनम्।

इतिहास

भूदेव मुखोपाध्याय (१८२५-१८२१) -स्वप्नलब्धभारतस्येतिहासः।

ताराचरण भट्टाचार्य-भारतगीतिका-इस ग्रन्थ में भारतवर्ष का राजनैतिक इतिहास गीतों में लिखा गया है।

रमेशचन्द्र शुक्ल-भारतस्वातन्त्र्यसङ्ग्रामेतिहासः-देववाणी परिषद्, दिल्ली द्वारा प्रकाशित। ''रसदर्शनम्'' इनकी साहित्यशास्त्रविषयक सुप्रसिद्ध रचना है।

दिनेशचन्द्र पाण्डेय (२० वीं शती) सिमडेगा कालेज, रांची (बिहार) के प्राचार्य रहे।

भारतीयकांग्रेसस्येतिहासः-१६६४ ई. में सारन से प्रकाशित। इस ग्रन्थ में १८५७ ई. से लेकर १६४७ ई. तक भारत का स्वातन्त्र्यान्दोलन वर्णित है। इस आन्दोलन में कांग्रेस का जन्म और उसकी भूमिका क्रमवार प्रस्तुत की गयी है। न केवल ऐतिहासिक दृष्टि से भाषा और राष्ट्रीयता की दृष्टि से भी ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है।

रामावतार मिश्र, (१८६६-१६८४)-ये बिहार राज्य के गया मण्डल के अन्तर्गत बेनीपुर ग्राम के निवासी थे। भारतवर्षेतिहासः - २३२ पद्यों में रचित भारतवर्ष का संक्षिप्त इतिहास। रांची से १६८६ ई. में प्रकाशित।

गिरिधरलाल व्यास, उदयपुर-मेदपाटेतिहासः-मेवाड़ का पद्यात्मक इतिहास।

अज्ञातकर्तृक- कश्मीरेतिहासः। लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली से प्रकाशित।

काशीनाथ मिश्र, बिहार (१६३० ई. में जन्म-लगभग) ये चयनपुर (सहरसा) के निवासी हैं। ये पटना यूनिवर्सिटी में संस्कृत विभागाध्यक्ष रहे।

कर्णाटराजतरङ्गिणी-१६६४ ई. में पटना से प्रकाशित। इस ग्रन्थ में मिथिला में कर्णाटवंशीय राजाओं, हरिसिंहदेव आदि के शासनकाल का वर्णन है। इसमें मिथिला की संस्कृति का सजीव चित्रण मिलता है।

राजनीतिशास्त्र

कौटिलीय अर्थशास्त्र पर टीकाएँ

म. म. टी. गणपतिशास्त्री, (१६-२० वीं शती) कौटिलीयमर्थशास्त्रम् पर ''श्रीमूला'' व्याख्या। इसे प्रथम बार शास्त्री जी ने १६२४ ई. में अनन्तशयन राजकीय मुद्रणालय से प्रकाशित कराया था, १६६१ ई. में इसका पुनः प्रकाशन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से हुआ है।

राजेश्वर शास्त्री द्रविड़ (उत्तर प्रदेश) १६७६ ई. में देहावसान - ये वाराणसीवासी थे। ग्रन्थ-कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् पर ''वैदिकसिद्धान्तरक्षिणी'' टीका। यह टीका कामन्दकीय नीतिसार तथा अर्थशास्त्र की जयमंगला टीका को आधार मानकर लिखी गयी है। इस

मौलिक टीका में विभिन्न शास्त्रीय विषयों की अवतारणा की गयी है तथा विरोधों का परिहार भी किया गया है। इन्होंने अर्थशास्त्र के १५ अधिकरणों में से प्रथम अधिकरण के सम्पूर्ण १७ अध्यायों पर अपनी टीका लिखी है, परन्तु केवल पहले और दूसरे अध्याय की टीका ही प्रकाशित है। हनुमान मन्दिर न्यास, कलकत्ता तथा गीर्वाण वाग्वर्धिनी सभा, रामघाट, वाराणसी द्वारा वि. सं. २०३१ (१६७५ ई.) में प्रकाशित।

अशोक चैटर्जी शास्त्री-कलकत्ता विश्वविद्यालय में संस्कृत प्राध्यापक श्री शास्त्री ने "कौटिलीयार्थ शास्त्रचर्चा" नामक अर्थशास्त्र पर विचार पूर्ण ग्रन्थ लिखा जो १६८२ ई. में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ।

कृषि

शालग्राम शास्त्री (१८८५-१६४०) - भारतीयकृषकः।

पाककला

पी. एस. अनन्तनारायण शास्त्री (१८८५-१६४७) - पाकतत्त्वम्।

आखेट

विश्वनाथ सिंह (१७८१-१८५४) १- धनुर्विद्या २- राजुरञ्जनम्।

मनोरञ्जन

कृष्णचन्द्रदेव - मोदमञ्जूषा (१८६७ ई.)

गौरीशङ्कर भट्टट-मनोरञ्जनसंग्रह : (१८६६ ई.)

कोशग्रन्थ

आर्वाचीन युग में यूरोपीय सभ्यता एवं उसमें निहित वैज्ञानिक विवेचनात्मक अन्तर्दृष्टि के सम्पर्क में आने के परिणामस्वरूप संस्कृत कोषों का प्रणयन अकारादिक्रम से होने लगा। शब्दों के प्रकृति-प्रत्ययों का विभाजन कर उनके अर्थविवेचन में सूक्ष्मता लाने का प्रयास किया गया तथा शब्दों के अर्थों को स्पष्ट करने हेतु विषयों के निर्देश, उद्धरण आदि दिये जाने लगे। म.म.पं. रामावतार शर्मा का "वाङ्मयार्णवकोष" अमरसिंह की नामलिङ्गानुशासन-परम्परा पर आधृत अन्तिम कोष है, परन्तु उसमें भी वैज्ञानिक वर्णक्रम से शब्दचयन किया गया है और उस पर आधुनिकता का पूर्ण प्रभाव है। "शब्दकल्पद्रुम" और "वाचस्पत्यम्" तो पूरी तरह अर्वाचीन परम्परा के हैं, जिनमें शब्दों के आगे प्रकृति-प्रत्ययों का विभाजन आदि दिया गया है।

अर्वाचीन युग में देश में विश्वविद्यालयों एवं अन्य उच्च शैक्षणिक संस्थानों में बहुलता से शोधकार्यों के प्रवर्तित होने के कारण विभिन्न शास्त्रों से सम्बन्धित कोशों की आवश्यकता पड़ने लगी और आवश्यकता आविष्कार की जननी है, अतः लगभग प्रत्येक शास्त्रविषयक

कोश भी इस युग में रचे गये जो "विश्वकोश" एवं "पारिभाषिक कोश" की उभयविध प्रकृति के हैं। कुछ ऐसे ग्रन्थ भी प्रणीत हुए हैं जो इतिहास तथा कोशग्रन्थ दोनों के लक्षणों से समुपेत हैं।

इस काल में प्रणीत प्रमुख कोशों का परिचय इस प्रकार है-

तारानाथ भट्टाचार्य "तर्कवाचस्पति" कलकत्ता (१८१२-१८८५) - ये कलकत्ता संस्कृत कालेज के दर्शन और व्याकरण के प्रोफेसर और अर्वाचीन काल के मूर्धन्य विद्वानों में अग्रगण्य थे। इन्होंने वाराणसी के तत्कालीन विश्रुत विद्वान् पं. काशीनाथ शास्त्री से व्याकरण शास्त्र का गहन अध्ययन किया था। ये न्याय, व्याकरण एवं धर्मशास्त्र के विशेष मर्मज्ञ थे वैसे इनका पाण्डित्य तो चतुरस्र था। ये संस्कृत वाङ्मय में आधुनिक काल के महान् कोशकार हैं। तारानाथ भट्टाचार्य ने निम्न २ कोश ग्रन्थों का प्रणयन किया-

१-शब्दस्तोममहानिधिः-चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला-१०१ में वाराणसी से प्रकाशित १९६७ ई.। ५ खण्डों में सम्पूर्ण। रचनाकाल - १८६२ से लेकर १८८७ ई. तक। इस ग्रन्थ में यद्यपि संस्कृत के सभी शास्त्रों से शब्दों को ग्रहण कर उनकी व्युत्पत्ति, उनके विशेष अर्थ और उनसे सम्बन्धित सभी आवश्यक बातों की जानकारी दी गयी है, परन्तु न्यायशास्त्र और स्मृतिशास्त्र में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ, तात्पर्य आदि का विशेष विवेचन किया गया है। वस्तुतः यह कोश ग्रन्थकार द्वारा प्रकाशित बृहत् वाचस्पत्यम् नामक कोश के प्रणयन से पूर्व जिज्ञासु जनों, विद्यार्थियों के सौकर्य हेतु रचित एक (अपेक्षाकृत) संक्षिप्त कोश है। पृ. सं. ५१५।

२-वाचस्पत्यम्-यह २० भागों में प्रकाशित अर्वाचीन युग का विशाल शब्दकोश है। इसका प्रकाशन कलकत्ता से १८७३ ई. से लेकर १८८४ ई. तक हुआ। चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला ९४ में वाराणसी से १९६३ ई. में (प्रथम भाग) प्रकाशित। यह वास्तव में संस्कृत शब्दों का विश्वकोश है, जिसमें वेदों, वेदाङ्गों, पुराणों, उपपुराणों, दर्शन, तन्त्र, राजनीति, संगीतशास्त्र, सैन्यविज्ञान, पाकशास्त्र, शिक्षा, कल्प, अश्वविद्या, हठयोग आदि प्रायः संस्कृत वाङ्मय की समस्त विधाओं के शब्दों की व्युत्पत्ति और उनकी व्याख्या दी गयी है। इसके अतिरिक्त समस्त भारतीय आस्तिक-नास्तिक दर्शनों के पारिभाषिक शब्दों एवं सिद्धान्तों को भी व्याख्यायित करने का श्लाघ्य प्रयास किया गया है। ये दोनों कोश अकारादि वर्ण-क्रम से उपनिबद्ध हैं।

राजा राधाकान्त देव इनका 'शब्दकल्पद्रुम' भारतीय कोश के इतिहास में एक विलक्षण उल्लेख योगदान है।

रामावतार शर्मा, बिहार (१८७७-१९२९ ई.) - म. म. रामावतार शर्मा का जन्म छपरा में १८७७ ई. में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री देवनारायण शर्मा था। इन्होंने काशी के तत्कालीन विश्रुतविद्वान् म. म. पं. गङ्गाधर शास्त्री से साहित्यशास्त्र एवं अन्य शास्त्रों का अध्ययन किया था। १९०२ ई. से आगे कुछ वर्षों तक इन्होंने काशी के सेन्ट्रल

हिन्दू कालेज में तदनन्तर कलकत्ता विश्वविद्यालय में "वसुगोपाल मल्लिक व्याख्याता" के रूप में पुनः १९१९ ई. तक पटना विश्वविद्यालय में संस्कृत का अध्यापन किया। मालवीय जी के आमन्त्रण पर १९१९ ई. में ये पुनः काशी हिन्दू विश्वविद्यालय आ गये और १९२९ ई. तक वहां अध्यापन तथा प्रशासन का कार्य संभाला। १९२९ ई. में केवल ५२ वर्ष की आयु में इनका स्वर्गवास हो गया।

वाङ्मयार्णवकोषः-यह शर्मा जी की समस्त कृतियों में सबसे प्रसिद्ध है जो उनके यश को शताब्दियों तक चिरस्थायी रखने का पर्याप्त है। यह अमरकोश की भाँति पद्यबद्ध है और प्राचीन परम्परानुसार लिखा गया संस्कृत का आधुनिकतम महाकोश है। प्राचीन ग्रन्थों में इसमें कई भिन्नताएं भी हैं जो इसे अधिक उपयोगी बनाती हैं। इसमें नवीन कोशों की भाँति शब्दों को अकारादि क्रम से रखा गया है, साथ ही साथ विभिन्न शब्दों के अर्थों में जो सूक्ष्म भिन्नता है उसे स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार यह अधिक वैज्ञानिक है। इसमें लौकिक ही नहीं, वैदिक शब्दों का भी समावेश किया गया है। इस ग्रन्थ की भूमिका में शर्मा जी ने कोशविद्या का एक विवेचनात्मक इतिहास भी लिखा है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह ग्रन्थ ज्ञानमण्डल प्रकाशन संस्थान, वाराणसी से १९६६ ई. में प्रकाशित है।

इस कोशग्रन्थ की रचना के अतिरिक्त शर्मा जी ने केशव द्वारा रचित प्राचीन कोशग्रन्थ "नानार्णवसंक्षेपः" का सम्पादन कर पहली बार उसे प्रकाशित कराया।

शास्त्रीय कोश

श्रौतकोशः - सी. जी. काशीकर (२० वीं शती) के मुख्य सम्पादकत्व में इस कोश का प्रणयन हुआ। वैदिक संशोधन मण्डल, पूना से १९५८ ई. में प्रकाशित। यह वैदिक यज्ञादि क्रियाओं सम्बन्धी ज्ञान का विश्वकोश है।

वेदार्थकोशः- यह ग्रन्थ पं. चमूपति, (२० वीं शती) गुरुकुलकांगडी हरिद्वार की अध्यक्षता में ३ भागों में रचा गया। यह राजवीर शास्त्री के "वैदिककोष" का आधारभूत ग्रन्थ है।

(दयानन्द) वैदिककोषः- विमर्श टीका सहित, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट द्वारा १९०५ ई. में प्रकाशित। पं. राजवीर शास्त्री (२० वीं शती) इसके निर्माता हैं। यह महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य तथा अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध वैदिक पदार्थों का संग्रहभूत ग्रन्थ है। ब्राह्मण, निरुक्त, व्याकरण और उपनिषदों के अनुसार शब्दों का प्रकृति-प्रत्यय-विभाग देकर अर्थ स्पष्ट किया गया है। प्रकरण भेद से मन्त्रों में पठित पदों के विभिन्न अर्थों का एक सन्दर्भ में पूर्ण चित्र उपस्थित करने में यह कोश पूर्णतया सहायक है।

मीमांसाकोशः - केवलानन्द सरस्वती (नारायण शास्त्री मराठे) महाराष्ट्र (१८७७-१९५७ ई.) कृत। ये लक्ष्मणशास्त्री जोशी "तर्कतीर्थ" ("धर्मकोश" के सम्पादक तथा १९५२ ई. में प्राज्ञ पाठशाला के उपाध्यक्ष) के गुरु थे। इन्होंने अत्यन्त उपादेय, वैदुष्यपूर्ण इस "मीमांसाकोश"

का निर्माण किया, जो प्राज्ञ पाठशाला मण्डल ग्रन्थ माला में सतारा से १९५२ ई. से लेकर १९६६ ई. तक प्रकाशित है। यह कोश ६ भागों में विभक्त है जिसमें अकारादिवर्णक्रम से सभी अधिकरणों, शास्त्रीय लौकिक न्यायों तथा सिद्धान्तों इन तीनों का संग्रह है।

धर्मशास्त्रकोशः-सम्पादक-अन्नदाचरण तर्कचूडामणि (१९ वीं शती, बंगाल)

धर्मकोशः-लक्ष्मणशास्त्री जोशी "तर्कतीर्थ" के सम्पादकत्व में निर्मित। प्राज्ञ पाठशाला, वाई (सतारा) से कई भागों में प्रकाशित। १९३७ ई. से प्रकाशन आरम्भ चतुर्थ भाग १९७६ ई. में प्रकाशित। यह धर्मशास्त्र एवं राजनीति सम्बन्धी ज्ञान का विश्वकोश है।

धर्मशास्त्रकोशः-कुलमणि मिश्र (१९१०-१९८७ ई.) रचित। मिश्र जी सदाशिव केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ पुरी में धर्मशास्त्र के अध्यापक थे। अपनी सारस्वत सेवा के लिए इन्हें राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। इनके द्वारा रचित यह धर्मशास्त्रकोश २ खण्डों में है। इसमें धर्मशास्त्र सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों का संग्रह तथा उसकी व्याख्या की गयी है। यह कोश भुवनेश्वर राजकीय संग्रहालय द्वारा प्रकाशित है।

राज्यव्यवहारकोशः-ढुण्ढि व्यास रचित (१९ वीं शती का पूर्वार्ध) ये तंजौर मराठा राज्य के शासक सरफोजी (द्वितीय) (१८००-१८३२) के आश्रित विद्वान् थे। इनके द्वारा विरचित यह कोश राजनैतिक प्रशासन सम्बन्धी शब्दों का विश्वकोश है।

न्यायकोषः-भीमाचार्य झलकीकर (महाराष्ट्र) द्वारा विरचित। रचनाकाल-१८१४ शक तदनुसार १८९२ ई.। यह न्यायशास्त्र का एक प्रकार से पारिभाषिक विश्वकोष है। न्याय के विभिन्न शब्दों के लक्षण मानक ग्रन्थों से उदधृत किये गये हैं ताकि शब्द के अर्थ को व्यापक परिधि में समझा जा सके। यह न्यायदर्शन सम्बन्धी जानकारी के लिए अत्यन्त उपादेय कोश है।

भरतकोशः-मानवल्लि रामकृष्ण कवि (२० वीं शती) द्वारा रचित संगीतशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का कोश। यह १९५१ ई. में श्री वेङ्केटेश्वर प्राच्य विद्या शोध संस्थान तिरुपति में रीडर थे। इनके द्वारा रचित इस कोश-ग्रन्थ में संगीत शास्त्र के चारों अङ्गों (नाट्य, गीत, नृत्त और वाद्य) के पारिभाषिक शब्दों को अकारादि क्रम से लेकर उन्हें व्याख्यायित किया गया है। मानक संगीत ग्रन्थों से ही परिभाषा विषयक उदाहरण लिये गये हैं।

अव्ययकोशः-लेखक-वा. श्रीवत्साङ्काचार्य (२० वीं शती) ये श्रीरङ्गम के निवासी तथा मद्रास संस्कृत कालेज में अध्यापक थे। इनका "अव्ययकोश" अव्ययों के प्रामाणिक विवेचन से परिपूर्ण मान्य प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरणों से प्रमाणित, प्रौढ़ पाण्डित्य से परिपूर्ण उपयोगी कोश है, जिसमें प्रत्येक अव्यय का प्रकार, उसका अर्थ (प्रामाणिक ग्रन्थों के उद्धरणपूर्वक) और अनेक उदाहरणों से उसके अर्थों का स्पष्टीकरण (उदधृत ग्रन्थांशों के सम्पूर्ण विवरण जैसे ग्रन्थ अध्याय, पंक्ति अथवा श्लोक की संख्यादि के उल्लेख के साथ) दिया गया है।

इन कोशों के अतिरिक्त व्याकरणकोशः, परिभाषासंग्रहः (के. वी. अभ्यङ्कर रचित व्याकरणपरिभाषा कोष) भारतीय शास्त्रकोशः (ने. राज वंश सहायहीरा) दर्शनकोशः तथा काश्मीरशैवदर्शनबृहत्कोशः जम्मू विद्यापीठ से निर्माणाधीन आदि अनेक कोश-ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं और हो रहे हैं जिन्होंने शास्त्रीय ज्ञान सम्बन्धी क्षितिज का पर्याप्त विस्तार किया है।

इतिहास-कोश

अद्वैतवेदान्तसाहित्येतिहासकोशः-आर. तंगास्वामी शर्मा। (१६२४ ई. में जन्म) मद्रास द्वारा विरचित और १६८० ई. में मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित। इसमें अद्वैतवेदान्त के प्राचीन आचार्यों से लेकर अद्यतन लेखकों तक का संक्षिप्त जीवन-वृत्त एवं उनकी रचनाओं का विवरण है। दर्शनिक विचारक्रम का इतिहास भी दर्शाया गया है। इस प्रकार ये अपने नाम के अनुरूप एक इतिहास ग्रन्थ भी है और कोश भी।

दर्शनमञ्जरी-४ भागों में प्रस्तावित। इसका प्रथम भाग मद्रास विश्वविद्यालय से १६८५ ई. में प्रकाशित है। इस भाग में न्याय-वैशेषिक दर्शन का इतिहास ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों के विषय में आवश्यक संक्षिप्त उल्लेखपूर्वक वर्णित है। इसके लेखक भी आर. तंगास्वामी शर्मा है।

शास्त्रीय निबन्ध

उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में निबन्ध शैली विचारों के प्रतिपादन, अनुसंधान एवं समीक्षण के लिए सर्वाधिक सशक्त विधा के रूप में उभरी। राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, वैज्ञानिक तथा साहित्यिक विषयों पर इस युग में लक्षाधिक निबन्ध लिखे गये, जिनकी प्रवृत्ति रचनात्मक, विवेचनात्मक, सभीक्षात्मक तथा शोधात्मक है। उपलब्ध ज्ञान सामग्री के आधार पर १८५० ई. में जन्मे श्री हृषीकेश भट्टाचार्य के निबन्ध इस परम्परा में प्रथम माने जाते हैं। इनके आगे तो हमें संस्कृत निबन्धो की एक विकसित परम्परा देखने को मिलती है जिसमें हर प्रकार के विषयों पर विविध शैलियों में रचित निबन्ध हैं। कुछ प्रमुख निबन्ध कृतियों का परिचय इस प्रकार है -

हृषीकेश भट्टाचार्य, बंगाल (१८५० ई. में जन्म) १- प्रबन्धमञ्जरी-विचारप्रधान निबन्धों का संग्रह। १८७२ ई. से छपने वाले "विद्योदय" संस्कृत पत्र में प्रकाशित भट्टाचार्य जी के निबन्धों को "प्रबन्धमञ्जरी" में संकलित कर प्रकाशित किया गया है। २- प्रबन्धकलालतिका-यह भी एक निबन्धसंग्रह है। प्रबन्धमञ्जरी में जहां विचारप्रधान निबन्धों का संग्रह है वहाँ यह ग्रन्थ शास्त्रीय विषयों की समालोचना से परिपूर्ण अतः समीक्षात्मक है।

रामावतार शर्मा, बिहार (१८७७-१६२६ ई.)-वाङ्मयार्णवकोश नामक प्रसिद्ध शब्दकोश

तथा परमार्थदर्शनम् नामक मौलिक स्वतन्त्र दर्शन कृति के रचयिता। १-प्रकीर्णप्रबन्धाः- मिथिला विद्यापीठ संस्कृत शोधसंस्थान दरभंगा से १६५६ ई. में प्रकाशित। यह शर्मा जी के साहित्य एवं काव्यशास्त्र सम्बन्धी निबन्धों का संग्रह है। २- कलाकौमुदी-मिथिला विद्यापीठ से ही प्रकाशित। इसमें ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी निबन्धों का संग्रह है।

भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी "वागीश शास्त्री" मध्य प्रदेश (१६३४ ई. में जन्म) - त्रिपाठी जी का जन्म मध्य प्रदेश के सागर मण्डल के अन्तर्गत बिलइया ग्राम कें १६३४ ई. में हुआ था। आपने वृन्दावन में संस्कृत साहित्य, वेदान्त तथा संगीत का एवं काशी में आकर पाणिनीय व्याकरण, भाषाशास्त्र, वेद, न्याय, पुराणेतिहास, योगदर्शन, तन्त्र, आयुर्वेद तथा पुरातत्त्व का अध्ययन किया। आप का वैदुष्य चतुरस्र है। आप इस समय वाराणसी में रह रहे हैं। १६७० ई. से सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के अनुसन्धान संस्थान के निदेशक रहे।

संस्कृतवाङ्मयमन्थनम्-यह वागीश शास्त्री का प्रौढ़ निबन्धसंग्रह है। वाग्योगचेतना ग्रन्थमाला-६ में संस्कृतभारती विद्यायोग चेतना प्रकाशन, वाराणसी द्वारा १६६० ई. में प्रकाशित। यह ग्रन्थ सात कल्लोलों में विभक्त है। १-वैदिककल्लोलः २-शब्दशास्त्रकल्लोलः ३-साहित्यशास्त्रकल्लोलः ४- दर्शनशास्त्रकल्लोलः ५- पुराणेतिहाससंस्कृतिकल्लोलः। इन कल्लोलों के अन्तर्गत कुछ ६२ निबन्ध संकलित हैं जो अनुसन्धानप्रकृति के हैं। उनमें या तो किसी समस्या को उठाकर उसका समाधान प्रस्तुत किया गया है या प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों की समालेचना की गयी है। शब्दशास्त्र से सम्बन्धित निबन्ध व्युत्पत्तिप्रधान, निर्वचनप्रधान या सभीक्षाप्रधान हैं। साहित्यशास्त्र से संबन्धित निबन्ध प्रायः समालोचनात्मक हैं। दर्शन से सम्बन्धित निबन्धों में कुछ समीक्षाप्रधान हैं तो कुछ में नवीन तत्त्वों के उद्घाटन का भी प्रयास किया गया है। कुछ निबन्ध परिवेश की समस्याओं यथा पर्यावरण प्रदूषण की समस्या आदि का शास्त्रीय समाधान प्रस्तुत करते हैं। कुछ में पाण्डुलिपियों के सम्पादन, अनुवाद के सिद्धान्त, प्राचीन भारत में वैज्ञानिक विकास जैसे शोधात्मक, विवेचनात्मक, विषयों का प्रतिपादन है। इस प्रकार यह गवेषणात्मक शैली में लिखा गया महत्त्वपूर्ण निबन्ध ग्रन्थ है।

राम नारायण मिश्र उ. प्र. (१६४० ई. में जन्म)-श्री राम नारायण मिश्र का जन्म सन् १६४० ई. में उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जनपद में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री बुधिराम मिश्र था। आपने सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से साहित्य तथा नव्य न्याय में आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की तथा बम्बई विश्वविद्यालय से "अलंकारशास्त्रे व्याकरणसिद्धान्तविमर्शः" विषय पर शोधकार्य पर पी. एच. डी. उपाधि प्राप्त की। इस समय आप गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद में प्रवाचक (रीडर) के पर पर कार्यरत हैं।

मिश्रनिबन्धावली-यह शास्त्रीय शोधपूर्ण निबन्धों का संग्रह है। यह ग्रन्थ २ भागों में है जिसका अभी केवल एक ही भाग प्रकाशित है (प्रकाशक-रंगेश प्रकाशन, देवरिया उ. प्र.) प्रकाशन वर्ष-१६६३ ई.। ग्रन्थ के इस प्रथम भाग में कुछ ३७ निबन्ध (५४३ प्र.) हैं, जिनमें अधिकांश व्याकरणविषयक तथा कुछ अद्वैतदर्शन, साहित्यशास्त्र, भक्ति, न्याय तथा सामान्यवस्तुविषयक हैं। शैली शास्त्रचर्चा हेतु अतीव उपयुक्त प्राञ्जल, गम्भीर और कसावयुक्त है।

केदारनाथ ओझा (२० वीं शती)-विद्यावैजयन्ती-निबन्धमाला-१६७८ ई. में प्रकाशित, शास्त्रीय समालोचना प्रधान निबन्धों का संग्रह।

जयमन्त मिश्र (२० वीं शती) -निबन्धकुसुमाञ्जलिः प्रमुखतः - साहित्य और व्याकरण विषयक शास्त्रीय अनुसन्धान परक निबन्धों का संग्रह, चौखम्बा (वाराणसी) से प्रकाशित

आद्याप्रसाद मिश्र, उ. प्र. (१६२१ ई में जन्म)- जौनपुर जनपद के अन्तर्गत द्रोणीपुर ग्राम में जन्मे आद्या प्रसाद मिश्र सांख्य, अद्वैतवेदान्त, न्याय एवं व्याकरणादि शास्त्रों के तलस्पर्शी विद्वान् और राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित हैं। आपने इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कुलपति पद से अवकाश ग्रहण किया।

निबन्धमन्दाकिनी-अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद से १६६४ ई. में प्रकाशित। इस ग्रन्थ में ५० निबन्ध संगृहीत हैं, जिनमें २० शास्त्रीय चिन्तनपरक तथा अन्य साहित्यिक एवं सामाजिक समस्याओं से जुड़े विषयों पर हैं। संस्कृत एवं भारतीय संस्कृति विषयक निबन्ध हैं। प्रत्येक निबन्ध के प्रणयन में लेखक का मौलिक दृष्टिकोण, विषय के अन्तरतल तक प्रविष्ट होने की क्षमता, प्रतिपादन की प्रमाणपुष्टता एवं शैली का प्राञ्जल-प्रसन्न-गम्भीरत्व दर्शनीय है।

इनके अतिरिक्त म. म. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी की "चतुर्वेदिसंस्कृतरचनावली" (१६६६ ई. में प्रकाशित), रघुनाथ शर्मा प्रणीत "चित्रनिबन्धावलिः" (शास्त्रीय निबन्धों का संग्रह, १६६४ ई. में प्रकाशित), पं. बलदेव उपाध्याय की "विमर्शचिन्तामणिः (१६८५ ई. में प्रकाशित) मङ्गलदेव शास्त्री का "प्रबन्धप्रकाशः", कालूर हनूमन्त राव की "साहित्यजगती" विन्ध्येश्वरी प्रसाद शास्त्री (२० वीं शती द्वितीय चरण) की "विज्ञानमञ्जरी" आदि इस युग के उल्लेखनीय निबन्ध संकलन हैं।

विश्वनाथ मिश्र (२० वीं शती) -बीकानेर (राजस्थान) में राजकीय संस्कृत महाविद्यालय के पूर्व प्राचार्य। प्रौढ़निबन्धसौरभम्- १६८८ ई. में बीकानेर से प्रकाशित। इस ग्रन्थ में काव्यशास्त्रविषयक समीक्षापरक व्याकरण के विभिन्न तत्त्वों-सिद्धान्तों के अनुशीलन से सम्बद्ध तथा दर्शनविषयक ३५ प्रौढ़ निबन्धों का संग्रह है। लेखक की शैली सरल, शास्त्रार्थ के अनुसन्धान में समर्थ, स्पष्ट एवं व्यवस्थित है।

दर्शनपरक काव्य-ग्रन्थ

दुःखद्रुमकुठारः-खड्गविलास प्रेस, पटना द्वारा सन् १८८७ ई. में प्रकाशित। इस गद्यशैली में रचित काव्यात्मक ग्रन्थ में संसार के नानाविध दुःखों के निवारण के लिए उनके आत्यन्तिक उच्छेद के साधनरूप में ज्ञान एवं भक्ति का निरूपण किया गया है। इसका विषय गम्भीर है परन्तु गद्यशैली की मधुरता के कारण इसमें शुष्कता नहीं है, अपितु यह नितान्त सरस और हृदयावर्जक दार्शनिक काव्य है।

पञ्चानन तर्करत्न, बंगाल (जन्म १८६६ ई.) १-प्राणदूतम् २-इन्द्रियानुशासनम्-ये दोनों खण्डकाव्य की विधा में प्रणीत दार्शनिक काव्य हैं।

टी. वी. कपालि शास्त्री-शास्त्री जी तन्त्र एवं अरविन्द दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् थे। उन्होंने वेदों पर अरविन्द भाष्य लिखा "महामनुस्तवः" इनका तंत्रविषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जो प्रकाशित है।

महामनुस्तवः-दीप्ति प्रकाशन, अरविन्द आश्रम (पाण्डिचेरी) से १९६९ ई. में प्रकाशित। इसमें श्रीविद्या का माहात्म्य वर्णित है। ग्रन्थ में कुल ३२ पद्य हैं जिनमें श्री देवी के स्वरूप एवं श्रीविद्या के अन्य तत्त्वों का वर्णन है। पदशय्या सहज और शैली प्रवाहपूर्ण है।

(म.म. गङ्गाधर शास्त्री द्वारा विरचित महान् दार्शनिक काव्य "अलिविलासिसंलापः" की चर्चा पहले हो चुकी है।)

सप्तम अध्याय

आधुनिक संस्कृत साहित्य को जैन मनीषियों का योगदान

भारतीय परम्परा में धर्म और साहित्य दोनों की धाराएं बहुत पहले से ही अविच्छिन्न होकर प्रवाहित हो रही हैं। आधुनिक काल में, विज्ञान के प्रभाव से दोनों धारायें एक दूसरे से स्वतन्त्र और पृथक् होकर प्रवाहित होने लगी हैं। यह कुछ विलक्षण बात है कि जैन मनीषियों ने आधुनिक काल में भी भारतीय परम्परा को प्रश्रय देते हुए धर्म और साहित्य की धारा को लगभग एक साथ प्रवाहित किया है। खेद है कि हमें १६वीं शताब्दी में रचित जैन ग्रन्थों की सामग्री इतिहास के उपयोग के लिए नहीं प्राप्त हो सकी। यहां हमने अनेक जैन मनीषियों द्वारा रचित वाङ्मय को विचार का विषय बनाया है। जैन मनीषियों ने जहां साहित्य, जिसे धार्मिक साहित्य भी कहा जा सकता है का निर्माण किया, वहां शुद्ध धर्म-दर्शन परक ग्रन्थ भी लिखे। साथ ही अपनी ओर से व्याकरण आदि शास्त्रीय विषयों में ग्रन्थों का निर्माण किया। यहां उनके क्रमशः जीवन और ग्रन्थ चर्चित हैं।

भारतवर्ष की प्रतिष्ठास्वरूप संस्कृत भाषा तथा भारतीय संस्कृति सार्वदेशिक, सार्वजनीन तथा सर्वग्राही है। जहां हमारी संस्कृति देश, धर्म, जाति, वर्ण, भाषा सम्प्रदाय, आचार-व्यवहार सभी को अपने में समेटे हुए कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक सभी को एकता के सूत्र में (भारतीयता में) बांधे हुए अपनी अविच्छिन्नता, प्राचीनता तथा उदारता के कारण सर्वथा नवीन तथा अलौकिक रूप मे शोभायमान है, वहीं संस्कृत भाषा जो कि भारतीय संस्कृति की संरक्षिका तथा संवाहिका है सभी देश, जाति, वर्ण तथा धर्म के धर्मावलम्बियों, चिन्तकों, मनीषियों तथा कवियों द्वारा सहस्राब्दियों से आज तक पल्लवित, पुष्पित तथा संवर्धित होती रही है।

संस्कृत साहित्य और भारतीय तत्त्वज्ञान के उद्भव और विकास में जितना योगदान वैदिक दार्शनिक चिन्तनधारा का है, लगभग उतना ही योगदान श्रमणचिन्तन धारा का भी है। यह अलग बात है कि श्रमणचिन्तनधारा का क्षेत्र अधिक व्यापक नहीं हो पाया और उसमें रचित वाङ्मय अधिसंख्य प्रबुद्ध समाज के पठन, मनन का विषय नहीं बन पाया। श्रमणचिन्तनधारा में भी जैनधर्म तथा दर्शन के क्षेत्र में बौद्धधर्म और दर्शन की अपेक्षा अधिक गतिशीलता रही है। जैन मनीषियों ने प्रभूत मात्रा में ईसा की प्रथम शताब्दी से ही अपने मूल परम्परागत सिद्धान्त के आलोक में, संस्कृत, प्राकृत, आदि भाषाओं में अपने ग्रन्थ लिखे। जहां बौद्ध धर्म-दर्शन की धारा सूखती सी गयी, वहां जैन धर्म-दर्शन के क्षेत्र

में आधुनिक काल में भी निर्माण की प्रवृत्ति बनी हुई है। जैन मनीषी लोकव्यवस्था के लिए किसी परोक्ष शक्ति की कल्पना नहीं करते। उनके अनुसार यह लोक अनादिनिधन तथा अकृत्रिम है। मनुष्य का उत्थान और पतन उसके हाथ में है। जैनधर्म योगप्रधान है। काम को साधकर इन्द्रियों को अपने अधीन कर, वहां केवल ज्ञानप्राप्ति का लक्ष्य है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ही शरीर को साधनायोग्य बनाते हैं। ये धर्मरूपी वृक्ष के आवश्यक अंग हैं। सोलह संस्कार, त्यागोन्मुख भोग पर विश्वास, कर्मफल के सिद्धान्त पर आस्था के साथ जैन धर्म एवं दर्शन का प्रचार-प्रसार जैन मनीषियों के उद्देश्य थे। इसी कारण अपने ग्रन्थ में बाईस परीषहों, सोलह कारण भावनाओं, श्रावक के द्वारा ग्यारह प्रतिमाओं का ग्रहण, जिससे मानव मुक्ति, आचार्यत्व तथा तीर्थङ्करत्व को प्राप्त करता है, आदि को व्याख्यायित करना उनके जीवन का मूलमंत्र था। जैन धर्म के अनुसार प्रत्येक वस्तु में अर्थक्रियाकारिता होती है। अपेक्षा की दृष्टि से वस्तु में सद् असद् तथा अवक्तव्य ये तीन गुण होते हैं। व्यक्ति रागद्वेष रहित होकर सन्तोष को धारण करे, दुःख-सुख में समभाव रखे तथा आचार-व्यवहार का पालन करे तो आत्मकल्याण के साथ लोककल्याण भी कर सकता है। संस्कृत में जैन मनीषियों ने न केवल धर्म और दर्शन के ग्रन्थ लिखे, प्रत्युत काव्य, कोष, छन्द, अलंकार, गणित, ज्योतिष आदि विषयों में भी ग्रन्थों की रचना की।

संस्कृत में "तत्त्वार्थसूत्र" नामक दार्शनिक ग्रन्थ की रचना ईसा की प्रथम शती में हुई। द्वितीय शताब्दी के दार्शनिक कवि समन्तभद्र ने संस्कृत में "स्वयम्भूस्तोत्र", "स्तुतिविद्या", "देवागमस्तोत्र", "युक्त्यनुशासन", "रत्नकरण्ड-श्रावकाचार", "जीवसिद्धि", "तत्त्वानुशासन प्रमाण पदार्थ", "कर्मप्राभृतटीका" तथा "गन्धहस्तिमहाकाव्य" नाम के ग्रन्थों की रचना की। द्वितीयशती के ही सिद्धसेन ने द्वात्रिंशिकाओं का प्रणयन किया। पाँचवी शती के उत्तरार्ध के जैनाचार्य देवनन्दी ने जैनेन्द्रव्याकरण "सर्वार्थसिद्धि" समाधितन्त्र, इष्टोपदेश और दशभक्ति ग्रन्थ लिखे। सातवीं शती के मानतुंग का भक्तामरस्तोत्र बहुत प्रसिद्ध हुआ। सातवीं शती में ही तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण प्रभृति महापुरुषों के चरितों पर प्रबन्धकाव्य लिखने की परम्परा स्थापित हुई। रविषेण ने विमलसूरि की प्राकृत में रचित रामकथा को संस्कृत के ललित छन्दों में पद्मचरित निबद्ध किया। जटासिंह नन्दि ने वराङ्गचरित महाकाव्य लिखा। आठवीं शती में वीरसेन ने संस्कृत प्राकृत मिश्रित भाषा में षट्खण्डागम की धवला टीका और जयधवला टीका लिखी। सम्भवतः इस काल के कवि धनञ्जय ने द्विसन्धान महाकाव्य की रचना की।

आठवीं शती के जैन नैयायिक अकलङ्कदेव ने लघीयस्त्रयवृत्ति-न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाणसङ्ग्रह, तत्त्वार्थवार्तिक तथा अष्टशती आदि ग्रन्थ लिखे। इसी शती के आचार्य हरिभद्र ने सहस्राधिक ग्रन्थों का प्रणयन किया, जिसमें पचास से अधिक उपलब्ध

हैं, जिनमें षड्दर्शनसमुच्चय तथा अनेकान्तविजयपातका प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

नवम शती के जैन साहित्यकारों में जिनसेन प्रथम ने महापुराण तथा जिनसेन द्वितीय ने पार्श्वाभ्युदय नामक खण्डकाव्य की रचना की। इसी शताब्दी के विद्यानन्द ने "अष्टसहस्री"तथा "तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक" ग्रन्थों का प्रणयन किया। नवम शती के ही वादीभसिंह का "गद्यचिन्तामणि" ख्यातिप्राप्त ग्रन्थ है।

दशम शताब्दी में जैनकवियों द्वारा संस्कृत में महाकाव्यों का प्रणयन किया गया, जिनमें असग का वर्धमानचरित तथा "शान्तिनाथचरित" वीरनन्दि का चन्द्रप्रभचरित हरिचन्द का "धर्मशर्माभ्युदय" प्रसिद्ध महाकाव्य हैं। ग्यारहवीं शती के जैन कवियों की परम्परा में वादिराज के "पार्श्वनाथचरित" महाकाव्य तथा "यशोधरचरित" खण्डकाव्य हैं। सोमदेव ने "यशस्तिलकचम्पू" तथा "नीतिवाक्यामृत" की रचना की। ११हवीं शती में ही महासेन ने "प्रद्युम्नचरित" महाकाव्य तथा धनपाल ने "तिलकमञ्जरी" का प्रणयन किया।

१२ हवीं शती के जैन साहित्यकारों में प्रसिद्ध हैं वाग्भट, धनेश्वर, श्रीपाल, हेमचन्द्र, जिनचन्द्र, पद्मानन्द, चन्द्रप्रभ मुनिचन्द्र, देववन्द्र, रामचन्द्र, गुणचन्द्र। इनमें कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्र ने व्याकरण, अलंकारशास्त्र तथा कोषग्रन्थों का निर्माण किया। उनका "काव्यानुशासन" तथा "हेमशब्दानुशासन" दोनों ही अपने-अपने विषय के आकलनीय ग्रन्थ हैं।

१३हवीं शती के जैनकवि तथा आचार्य हस्तिमल्ल के द्वारा जैननाटक की रचना की गयी। इस शती में जैनकवियों द्वारा अधिकाधिक महाकाव्यों का प्रणयन किया गया जिनमें धर्मकुमार का "शीलभद्रचरित", माणिकचन्द्रप्रणीत "पार्श्वनाथचरित", अर्हद्दास का "मुनिसुव्रत" वस्तुपाल का "नरनारायणानन्द" बालचन्द्र का "वसन्तविलास", वर्द्धमान भट्टारक का "वराङ्गचरित", अमरचन्द्र का "पद्मानन्द", जिनपाल उपाध्याय का "सनत्कुमारचरित" महाकाव्य उल्लेखनीय हैं।

१४हवीं शती के साहित्यकारों में जिनप्रभसूरि ने "श्रेणिकचरित" मानतुङ्ग ने "श्रेयांसनाथचरित", कमलप्रभसूरि ने "पुण्डरीकचरित" तथा मेरुतुङ्ग ने "जैनमेघदूत" ग्रन्थों की रचना की।

१५हवीं तथा १६हवीं शताब्दी में उत्पन्न जैनमनीषियों ने अपनी संस्कृत रचनाओं को विविध आयाम दिये। भट्टारक सकलकीर्ति ने अनेक काव्य तथा चरितग्रन्थ लिखे। मेधावी पण्डित का "चित्रबन्धस्तुतिकाव्य", मुनिभद्र का "शान्तिनाथचरित", चरित्रसुन्दर का "कुमारचरित" महाकाव्य इन्हीं शताब्दियों में निर्मित हुए। इस प्रकार अन्य धर्मों की तरह जैनधर्म भी भारतभूमि का प्राचीनतम धर्म है, जिसमें अनेक तीर्थङ्कारों के साथ आचार्य तथा सन्त पुरुषों ने धर्मानुसरण, उपदेश, व्याख्यानमाला तथा ग्रन्थों के प्रणयन द्वारा मुक्ति तथा आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है। सन्त पुरुषों की इसी परम्परा में बीसवीं शती के साहित्यजगत् में आचार्य मुनि ज्ञानसागर जी आदि मनीषियों ने अपने व्यक्तित्व तथा

कृतित्व के द्वारा संस्कृतभाषा तथा सम्पूर्ण मानव जाति को अमूल्य मानवतावादी दृष्टिकोण प्रदान किया है।

मुनि सुधर्मसागर महाराज-जन्म १८८७ ई.-आचार्य सुधर्मसागरजी का मूल नाम नन्दलाल शास्त्री है। इन्होंने मथुरा तथा बम्बई में संस्कृत साहित्य, व्याकरण, न्याय तथा आर्यवेदशास्त्र का अध्ययन किया। शास्त्री तथा न्यायवाचस्पति की उपाधि प्राप्त कर आप लेखक तथा व्याख्याता हुए। सुधर्मसागर जी की रचनायें हिन्दी, संस्कृत, गुजराती तथा मराठी में हैं। जैनधर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अनवरत प्रयत्नशील आचार्य नन्दलाल शास्त्री ने आचार्य शान्तिसागर से सप्तमप्रतिमा का व्रत लिया तथा गृहस्थाश्रम से विरक्त हो गये। इनका दीक्षित नाम पहले ब्रह्मचारी ज्ञानचन्द्र तदनन्तर सुधर्मसागर हुआ। निरन्तर वर्धमान वैराग्य भावना से प्रेरित सुधर्मसागर ने क्षुल्लक दीक्षा ली तथा स्वात्मोन्नति के साथ-साथ अनेक ग्रन्थों की संस्कृत टीकायें भी लिखीं जिनमें पुरुषार्थानुशासन, रयणसार, प्रतिक्रमण, षट्कर्मोपदेशरत्नमाला, उमास्वामिकृत श्रावकाचार, परमार्थोपदेशगुणभूषण श्रावकाचार आदि संस्कृत ग्रन्थों की टीकायें हैं। उन्होंने संघ के तपस्वियों को जैनधर्म के उपदेश के साथ संस्कृत का अध्ययन कराया जिससे मुनिराज नेमिसागर, वीरसागर, कुन्थुसागर, क्षुल्लकपार्श्वकीर्तिजी संस्कृत, व्याकरण साहित्य के उत्तम ज्ञाता तथा लेखक हैं। सुधर्मसागर जी ने सुधर्मध्यानप्रदीप नामक उपदेशात्मक काव्य की रचना संस्कृत में की है।

सुधर्मध्यानप्रदीप पचीस अधिकारों में विभक्त संस्कृतश्लोकमय रचना है जिसमें सुधर्मसागर ने जिनेन्द्र तथा परमेष्ठी की वन्दना के अनन्तर प्राचीन जैनग्रन्थों की स्मृति दिलाते हुए जीव का लक्षण, ज्ञान का लक्षण, आत्मस्वरूप, सम्यग्दर्शन, महाव्रतों अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का स्वरूप, इन्द्रियविजय, मनोनिग्रह, ध्यान की क्रियायें, आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, संस्थानविचय, पिण्डस्थ ध्यान, धारणा तथा तत्त्व का स्वरूप, रूपस्थ ध्यान, अर्हन्त का स्वरूप, सिद्धों के ध्यान आदि का अलग-अलग अधिकार में विवेचन है। अन्त में मंगलाचरण तथा प्रशस्तिवचन हैं। ग्रन्थ की भाषा सुस्पष्टपदावली से युक्त सरल तथा उपदेशात्मक होने से बोधगम्य है। वस्तुतः यह उपदेशात्मक काव्यग्रन्थ है। इसका हिन्दी अनुवाद धर्मरत्न पं. लालरामजी शास्त्री ने किया है। भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् सोनगिर दतिया (म. प्र.) से इसका प्रकाशन हुआ।

मुनि ज्ञानसागर सं. १९४९-२०२३ सं. तदनुसार १८९२ ई. से १९७३ ई. तक - मुनिज्ञानसागरजी का जन्म राजस्थान के राणोली ग्राम (सीकर-राजस्थान) में दिगम्बर जैन खण्डेलवाल के छावड़ा गोत्रोत्पन्न सेठ सुखदेवजी के परिवार में हुआ था। सुखदेवजी के पुत्र चतुर्भुज इनके पिता थे तथा माता का नाम था-घृतावरीदेवी (घेवरी या घृतावरी)। इनका बचपन का नाम "भूरामल" था। बाल्यावस्था से ही भूरामल की अध्ययन में रुचि थी किन्तु मात्र दस वर्ष की अवस्था में (सं. १९६९ अर्थात् १९०२ ई. में) पिता की मृत्यु हो गयी। परिवारिक आर्थिक असंतुलन से परिवार के भरणपोषण के दायित्व का निर्वाह एक वस्त्रविक्रेता के यहां नौकरी करके करने लगे। अध्ययन में बाधा उपस्थित होने पर भी

ज्ञानार्जन की तीव्र इच्छा तथा जिज्ञासु मन से प्रेरित होकर अपने बड़े भाई छगनलाल की अनुमति से वाराणसी के स्याद्वाद महाविद्यालय में संस्कृत साहित्य एवं जैनदर्शन की उच्च शिक्षा प्राप्त की। ज्ञानसागर जी ने क्वीन्स कालेज काशी से शास्त्री की परीक्षा उत्तीर्ण की। अध्ययनकाल में ही आपने अप्रकाशित जैनधर्म के ग्रन्थों के प्रकाशन का महनीय कार्य किया। जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत नव्यव्याकरण, साहित्य आदि विषयों के ग्रन्थों का अध्ययन किया। स्वावलम्बी होने के कारण विद्यालय में वैतनिक सेवा विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा तथा स्वाध्याय आदि के द्वारा पं. भूरामल की युवावस्था, विद्वत्ता, गृहसंचालनपटुता, जीविकोपार्जन आदि योग्यता से प्रभावित लोगों ने भूरामल से गृहस्थधर्म का दायित्व ग्रहण करने का आग्रह किया, किन्तु जैनधर्म दर्शन एवं साहित्यसर्जन में इसे बाधा समझते हुए भूरामल जी ने आजीवन ब्रह्मचारी रहने का व्रत लिया।

भूरामलजी ने जीवन के ५० वर्ष तक मां सरस्वती की आराधना करते हुए, काव्यसर्जना तथा अध्यापन द्वारा जैन-दर्शन एवं साहित्य की श्रीवृद्धि की। इनके ग्रन्थ हिन्दी तथा संस्कृत दोनों में हैं। इन्होंने संस्कृतभाषा में आठ ग्रन्थों की तथा हिन्दी में चौदह ग्रन्थों की रचना की।

मुनि ज्ञानसारगजी ने संस्कृतप्रेमियों को जैनधर्म तथा दर्शन की विशेषताओं से परिचित कराते हुए साहित्यिक तथा दार्शनिक-उभयविधा में ग्रन्थों का प्रणयन किया। साहित्यिक ग्रन्थों में भी महाकाव्य, चम्पूकाव्य तथा मुक्तक विधाओं से जुड़कर "जयोदय" "वीरोदय" "सुदर्शनोदय" तथा "श्रीसमुद्रदत्तचरित" इन चार महाकाव्यों का "दयोदय" चम्पूकाव्य का और "मुनिशतक" इस मुक्तकरचना का निर्माण किया। दार्शनिक ग्रन्थों की परम्परा में "प्रवचनसार" तथा "सम्यक्त्वसारशतक" ये दो ग्रंथ सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय तथा जैनधर्म साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

अध्ययन, अध्यापन तथा अनेक ग्रन्थों के प्रणयन के अनन्तर, आत्मकल्याण तथा आत्मोत्कर्ष की प्रबलभावना से प्रेरित होकर, इक्यावन वर्ष की अवस्था में (सं. २००४ तदनुसार १९४७ ई. में) आचार्य वीरसागरजी महाराज की आज्ञा से अजमेरनगर में ब्रह्मचर्यप्रतिमा धारण कर ली। अनवरत संसार से विरक्तिभाव बढ़ने पर सं. २०१२ (१९५५ ई.) में वीरसागरजी के समीप ही क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। आचार्य श्रीनेमिसागर का सान्निध्य भी देशाटन करते हुए प्राप्त किया। भूरामल जी ने "क्षुल्लक" के बाद "ऐलक" अवस्था को भी ग्रहण किया। तदनन्तर विक्रमसम्वत् २०१६ (१९५९ ई.) में जयपुर में भूरामल जी ने आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज से दिगम्बर मुनिदीक्षा ग्रहण की तथा समस्त बाह्य परिग्रह को छोड़ दिया। इस अवसर पर वे "ज्ञानसागर" की उपाधि से विभूषित हुए। संघ के उपाध्याय रूप में साधुपुरुष तथा स्त्रियों को शिक्षा प्रदान करने लगे। मुनिदीक्षा के अनन्तर स्थान-स्थान पर प्रवचन, जैनधर्म का प्रचार-प्रसार, दीक्षादान तथा चातुर्मास भी किया। इसी चार्तुमास के क्रम में अजमेर में मुनिज्ञानसागरजी ने पं. हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री से भेंट की। पं. हीरालाल मुनि ज्ञानसागर के ग्रन्थों को प्रकाशित करना

चाहते थे, अतः मित्रों के सहयोग से मुनिश्रीज्ञानसागर ग्रन्थ माला की स्थापना हुई।

मुनि ज्ञानसागर के व्यक्तित्व, कृतित्व, काव्यप्रतिभा तथा दार्शनिक चेतना से प्रभावित होकर अनेक जैनधर्म दीक्षित व्यक्तियों ने इनका शिष्यत्व ग्रहण किया। प्रमुख नौ शिष्यों में मुनिश्रीविद्यासागर जी अपनी साहित्यिक तथा दार्शनिक सेवाओं के कारण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

१९६९ ई. में मुनि ज्ञानसागरजी दीक्षादान के अवसर पर आचार्य पद से सुशोभित हुए। अनवरत अध्ययन, साहित्यसर्जना, सरल उपदेश शैली, व्रतसंयम, इन्द्रियनिग्रह आदि के द्वारा इनके प्रभावशाली व्यक्तित्व ने अनेकानेक व्यक्तियों को प्रभावित किया।

शनैः शनैः मुनि ज्ञानसागरजी में शान्ति, निराकुलता, साहिष्णुता एवं धीरता के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। उन्होंने आहार, पानादि का पूर्ण परित्याग कर दिया। अन्त में ज्येष्ठ कृष्ण अमावस्या वि. सं. २०२३ तदनुसार ७ जून १९७३ को समाधि ग्रहण द्वारा अपने पार्थिव शरीर का परित्याग कर दिया।

जयोदय-मुनिज्ञानसागर द्वारा विचचित "जयोदय" महाकाव्य जैनधर्म एवं दर्शन को प्रस्तुत करने वाला दार्शनिक एवं धार्मिक काव्य है। अठ्ठाइस (२८) सर्गात्मक इस काव्य में जयकुमार और सुलोचना की प्रेमकथा का पौराणिक आख्यान उपनिबद्ध है। जयोदय महाकाव्य के कथानक का मूलस्रोत श्री जिनसेनाचार्य, श्रीगुणभद्राचार्य विरचित महापुराण (आदिपुराण भाग २) में मिलता है। इसका प्रथम प्रकाशन ब्रह्मचारी सूरजमल ने जयपुर से १९५० में किया।

इस काव्य में जयकुमार का परिचय स्वयंवर में राजाओं के एकत्र होने, दासी द्वारा सुलोचना के समक्ष राजाओं का परिचय देने आदि का वर्णन तथा सर्गान्त में कविपरिचय का श्लोक आदि वर्णनों के द्वारा ज्ञानसागरजी ने श्रीहर्ष के नैषधकाव्य की परम्परा में, उसे आदर्श मान कर काव्य सर्जना की है, ऐसा कहा जा सकता है।

जैनधर्म पर आधारित शान्तरस प्रधान जयोदय महाकाव्य में श्रृंगार, वीर तथा भक्तिरस की भी त्रिवेणी प्रवाहित है जो अंगीरस शान्त को ही पुष्ट करती है। महाकाव्य का परम्परागत समस्त वैशिष्ट्य तो इसमें है ही साथ ही श्लेष, अन्त्यानुप्रास, रूपक, यमक के चामत्कारिक प्रयोग के साथ कवि की विविध शास्त्रविषयक व्युत्पत्ति भी परिलक्षित होती है। जयोदय महाकाव्य के प्रत्येक वर्णन में कवि की सूक्ष्म वर्णनाशक्ति, सरलता, वर्णनचातुरी-विलक्षणता, सात्त्विकता, रसभाव-योजना, कल्पनाश्रयता, काव्यकला, छन्दोयोजना तथा युगबोध सभी की एक समन्वित प्रतीति होती है।

"जयोदय" काव्य में मुनिज्ञानसागर के हृदय में विद्यमान राष्ट्रप्रेम, राष्ट्रभक्ति तथा राष्ट्रियचेतना प्रस्फुरित हुई है। श्लेष के माध्यम से प्रभात तथा राष्ट्र का यह वर्णन अवलोकनीय है-

सत्कीर्तिरञ्चति किलाभ्युदयं सुभासा,
स्थानं विनारिमृदुवल्लभराट् तथा सः।
याति प्रसन्नमुखता खलु पद्मराजो
र्नियाति साम्प्रतमितः सितरुक्समाजः ।। जयोदय(१८/८१)

(प्रभातपक्ष में-हे अजातशत्रु एवं कोमलप्रकृतिवाले मनुष्यों के प्रिय राजन् (मृदुवल्लभ) जयकुमार ! इस समय प्रातःकाल सूर्यदीप्ति सुन्दर कीर्ति अभ्युदय को प्राप्त हो रही है। श्रेष्ठ कमल प्रसन्नमुखता को प्राप्त है तथा चन्द्र परिवार निकल रहा है अर्थात् अन्यत्र जा रहा है। राष्ट्रपक्ष में इस समय (स्वतंत्र भारत में) सुभाषचन्द्र बोस की उज्ज्वल कीर्ति अभ्युदय को प्राप्त हो रही है। अजातशत्रु तथा कोमलप्रकृतिवालों के प्रिय राजा डॉ. राजेन्द्र प्रसाद राष्ट्रपति पद को प्राप्त कर रहे हैं, अथवा बिना पत्नी के और कोमल स्वभाव वाले सरदार बल्लभ भाई पटेल प्रतिष्ठा को प्राप्त हो रहे हैं, पद्मराज नामक राजनेता (देश के स्वतंत्र होने पर) प्रसन्न हो रहे हैं। अंग्रेजों का परिवार (गौरांग समाज) भारत देश से निकल रहा है अर्थात् अपने देश जा रहा है)

मुनिज्ञानसागर ने जयोदय महाकाव्य में धर्म तथा मानवतायुक्त, कर्तव्यपरायण, सदाचार संवलित सामाजिक चिन्तन को प्रस्तुत किया है, कथानक के माध्यम से अपरिग्रहव्रत की शिक्षा प्रदान की है।

वीरोदय-यह भगवान् महावीर के त्याग एवं तपस्यापूर्ण जीवन पर आधारित २२ सर्गों का महाकाव्य है। इसका कथानक भी महापुराण के तृतीय भाग "उत्तरपुराण" से गृहीत है। अपनी प्रतिभा तथा वैदुष्य से महाकवि ज्ञानसागर ने स्थान-स्थान पर कथानक में परिवर्तन करते हुए काव्यकला तथा दार्शनिक दृष्टि का मणिकांचन-संयोग उपस्थित किया है। कालिदास तथा अश्वघोष की श्रेणी में आता हुआ सा यह महाकाव्य ब्रह्मचर्यव्रत के अतिरिक्त अहिंसा एवं अपरिग्रह की शिक्षा प्रदान करता है। महाकाव्य की प्रायः समस्त पारम्परिक विशेषतायें तो इसमें हैं ही, प्रकृति और मानव के चिरसहचरत्व को ज्ञानसागरजी ने ऋतुओं के विशेष वर्णन के द्वारा स्थापित किया है। जयोदय काव्य जहां काव्यमर्मज्ञों के बौद्धिक विलास का साधन है, वहां वीरोदय महाकाव्य सहृदयहृदयग्राह्य है। वीरोदय के पुनर्जन्मवाद और कर्मवाद मानवमात्र को अच्छे कार्य की प्रेरणा देते हैं। प्रभात वर्णन के अनुरूप कोमलकान्तपदावली तथा श्लेष, यमक तथा अन्त्यानुप्रास से युक्त भाषा सर्वत्र दृष्टिगत होती है। वीरोदय का प्रथम संस्करण १९६८ में प्रकाशचन्द्र जैन द्वारा व्यावर से प्रकाशित हुआ।

सुदर्शनोदय-यह नौ सर्गों का छोटा सा महाकाव्य है। इसमें चम्पापुरी के श्रेष्ठी ऋषभदास तथा उसकी पत्नी जिनमति के शुभलक्षणोपेत पुत्र सुदर्शन के जन्म से लेकर मोक्ष प्राप्ति तक की समस्त घटनायें वर्णित हैं। सुदर्शन युवावस्था में जिन मन्दिर में सागरदत्त की पुत्री मनोरमा के प्रति प्रथम दर्शन से ही आकृष्ट होता है, विवाह तथा दाम्पत्य जीवन

व्यतीत करते हुए एक मुनि की वाणी से माता-पिता के साथ स्वयं भी संन्यासी जीवन व्यतीत करना चाहता है, किन्तु मुनि के द्वारा पूर्वजन्म के वृत्तान्त को सुनाने पर तथा गृहस्थ जीवन ही व्यतीत करने का आदेश प्राप्त करता है। धीरे-धीरे सुदर्शन का मन नियमपालन से तेजस्विता को प्राप्त करने लगा। कपिला ब्राह्मणी रानी अभया तथा देवदत्ता वेश्या ने रत्यात्मक चेष्टाओं से सुदर्शन के दृढ तथा मनोरमानिष्ठ चित्त को डिगाने का प्रयास किया, किन्तु वे सभी असफल रहीं। सुदर्शन ने उन सबको जैनधर्म तथा सदाचार का उपदेश दिया तथा स्वयं आत्मध्यान में लीन हो गये। अन्त में उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुआ तथा बाह्यकर्म के क्षीण होने पर उन्हें मोक्ष की प्राप्ति हुई। कवि ने प्रतिभावैदुष्य से स्थान-स्थान पर विभिन्न स्रोतों से प्राप्त कथा में परिवर्तन एवं परिवर्धन किया है। इसका प्रकाशन प्रकाशचन्द्र जैन द्वारा ब्यावर से १६६६ में हुआ।

सुदर्शनोदय महाकाव्य के द्वारा कवि ने पञ्चनमस्कार के महत्त्व से पाठक को अवगत कराया है। इसके साथ ही पातिव्रत्य, पत्नीव्रत, सदाचार, सम्यक्चरित्र आदि की भी शिक्षा दी है। इसमें श्रृंगाररसाभास पर शान्तरस की अद्भुत विजय दिखाई गयी है।

समुद्रदत्तचरित- इसमें नौ सर्ग हैं तथा भद्रमित्र नामक काव्यनायक के जन्मजन्मान्तरों की घटनाओं तथा उत्कर्ष और अपकर्ष का वर्णन है, जिससे नायक का आत्मोत्कर्ष होता है। इसका प्रथम संस्करण दिगम्बर जैसवाल जैन समाज द्वारा अजमेर से १६६८ में प्रकाशित हुआ। इस काव्य में कवि ने अस्तेय नामक महाव्रत की शिक्षा दी है। इस में पुनर्जन्मवाद तथा कर्मफलवाद का वर्णन एवं तालमेल स्थापित करते समय पाठक वास्तविक कथानक भूल जाता है। दर्शनप्रधान एवं धर्मोपदेश प्रधान होने के कारण यहां काव्यपक्ष गौण सा हो गया है।

दयोदयचम्पू-यह सप्तलम्बात्मक है तथा इसमें मृगसेन नामक धीवर तथा धण्टा नाम्नी धीवरी के अनेक जन्मों की कथा का वर्णन है। उज्जयिनी के राजा ऋषभदत्त के राज्य में गुणपाल नामक श्रेष्ठी तथा उनकी पत्नी गुणश्री एवं पुत्री विषा थी। जूठे बर्तनों से भूख मिटाते एक बालक को देखकर एक ऋषि ने कहा कि यह बालक गुणपाल का दामाद होगा। ऋषि ने उसके पूर्वजन्म की कथा सुनायी, इसी प्रसंग में धीवर के जन्म-जन्मान्तरों का वृत्तान्त भी सुनाया। गुणपाल ने उस बच्चे को मारने के लिए अनेक प्रयास किये लेकिन सफल नहीं हुआ। वेश्या वसन्तसेना के वचनों से वास्तविकता का ज्ञान, पत्नी गुणश्री द्वारा पश्चात्ताप तथा सोमदत्त के साथ राजकुमारी का विवाह सम्पन्न हुआ। मुनिराज ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र रूप रत्नत्रय को अपनाने का उपदेश दिया। अन्त में सभी ने दैगम्बरी दीक्षा, तपस्या आदि के द्वारा सर्वार्थसिद्धि प्राप्त की।

भक्तिसंग्रह-मुनि ज्ञानसागर प्रणीत "भक्तिसंग्रह" एक स्तोत्रकाव्य है जिसमें बारह स्तुतिखण्डों के माध्यम से कवि ने ईशचन्दना, वाणीवन्दना, गुरुवन्दना, तीर्थङ्करवन्दना, योगी-वन्दना, प्रतिमावन्दना आदि की है।

मुनिमनोरञ्जनाशीति- इक्यासी श्लोकों से युक्त यह एक लघुकाव्य है, जिसमें सरल तथा सरस शैली, कोमलकान्तपदावली के द्वारा मुनिजनों तथा जैन साधुओं द्वारा आधारित जीवन शैली में प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ का उद्देश्य कवि ने स्वयं प्रकट किया है कि मोही जनों के लिए यह ग्रन्थ अञ्जनस्वरूप है तथा उनके भवबन्धन रूपी दुःखसमूह को नष्ट करने वाला है-

मुनिमनोरञ्जनं तावदिदमञ्जनं
मोहिजनचक्षुषोर्दुःखभरभञ्जनम्।

मुनि ज्ञानसागर के प्रत्येक काव्य की भाषा प्रसाद गुणोपेत है जौ प्रौढ मधुर तथा सर्वत्र शब्दालंकार एवं अर्थालंकार से अलंकृत है। अन्त्यानुप्रास, श्लेष तथा यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा अपह्नुति तथा रूपक उनके प्रिय अलंकार हैं। स्थान-स्थान पर लोकाक्तियों, सूक्तियों तथा मुहावरों का प्रयोग कहीं जीवन के रहस्य का उद्घाटन करता है तो कहीं सत्पथ की प्रेरणा प्रदान करता है। अहो दुरन्ता भवसम्भवाऽवनिः (जयोदय), आचार एवाभ्युदयप्रदेशः (वीरोदय) का गतिर्निशि हि दीपकं विना (जयोदय), झञ्झानिलोऽपि किं तावत् कम्पयेन्मेरुपर्वतम् (वीरोदय) प्रायः प्राग्भवभाविन्यो प्रीत्यप्रीती च देहिनाम् (सुदर्शनोदय) इत्यादि प्रसिद्ध सूक्तियां आचार, ज्ञान, पूर्वजन्म, कर्मवाद आदि पर आस्था को व्यक्त करती हैं।

महाकाव्यों तथा स्तुतिकाव्यों में कवि की वर्णनाशक्ति भी अद्भुत तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व तथा पदार्थ की विश्लेषिणी है। प्रकृति के साथ मानव के साहचर्य को स्थापित करते हुए कवि ने अगाध प्रकृतिप्रेम को प्रदर्शित किया है। सूर्योदय का वर्णन करते हुए कवि बुझते हुए दीपक की उपमा शोचनीय वृद्ध से देता हुआ कहता है-

निस्नेहजीवनतयापि तु दीपकस्य
संशोच्यतामुपगतास्ति दशा प्रशस्य।
संघूर्ण्यमानशिरसः पलितप्रभस्य,
यद्वन्मनुष्यवपुषो जरसान्वितस्य ।। जयोदय (१८/४१)

अर्थात् प्रातः की बेला में स्नेहरहित (तेलरहित) होने से हिलती हुई लौ वाला, क्षणिक कान्ति वाला सुन्दर दीप शोचनीय दशा को प्राप्त हो गया है, जैसे प्रेम से रहित, जीवन के थोड़ा अवशिष्ट रहने से हिलते हुए सिर वाला, श्वेत केशों वाला, वृद्धावस्था से पीडित मनुष्य शोक का विषय हो जाता है। इनके काव्यों में भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष का प्राबल्य प्रतीत होता है, किन्तु कलापक्ष भावपक्षानुप्राणित है। श्लेष के माध्यम से कवि की विविध शास्त्रविषयक व्युत्पत्ति भी परिलक्षित होती है। श्लिष्ट पदों के माध्यम से व्याकरण-ज्ञानविषयक वैलक्षण्य द्रष्टव्य है-

न वर्णलोपः प्रकृतेर्न भङ्गः कुतोऽपि न प्रत्ययवत्प्रसङ्गः।
यत्र स्वतो वा गुणवृद्धिसिद्धिः प्राप्ता यदीया पदरीतिऋद्धिम्।। जयोदय (१/३१)

व्याकरणशास्त्र के सुबन्त-तिङ्न्त पदों में वर्णों का लोप या प्रकृति में (मूलशब्द में) भङ्ग होता है, प्रत्यय लगकर गुणवृद्धि हुआ करती है, किन्तु राजा जयकुमार के राज्य में ब्राह्मणादि वर्णों का लोप नहीं था, प्रजा के गुणों की वृद्धि स्वतः सिद्ध थी।

नैषधकार श्रीहर्ष की भांति उनके महाकाव्यों के प्रत्येक सर्ग के अन्त में कविपरिचय होता है-

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं,
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवती देवी च यं धीचयम्।

मुनि ज्ञानसागर जी ने अपने काव्यों में धर्म तथा मानवता से युक्त कर्तव्यपरायण सदाचारी सामाजिक चिन्तन को प्रस्तुत किया है। कर्मानुसार वर्णव्यवस्था, आदर तथा ममत्वप्रधान परिवार, षोडश संस्कार, त्यागोन्मुख भोग, प्रजाहितचिन्तन संलग्न राजा, कर्तव्य परायण मंत्री, राष्ट्रहित की चेतना से युक्त देशवासी ये सभी ज्ञानसारगर जी के राजनीतिक आदर्श हैं।

आचार्य कुन्थुसागर मुनि-ये कर्नाटक प्रान्त के ऐनापुर ग्राम के निवासी तथा आचार्य श्री शान्तिसागर के शिष्य थे। इनके पिता का नाम शान्तात्मा तथा माता का नाम सरस्वती था। धार्मिक संस्कारों में पले होने के कारण हृदय में वैराग्य भावना के होते हुए भी माता-पिता की इच्छा से विवाह किया तथा मात्र पचीस वर्ष की अवस्था तक गृहस्थाश्रम में रहे। १९२५ ई. में आचार्य शान्तिसागर से क्षुल्लक दीक्षा ली तथा पार्श्वकीर्ति नाम से विख्यात हुए। बत्तीस वर्ष की अवस्था में ऐलक दीक्षा भी ले ली। वि.सं. १९८६ में दिगम्बरी दीक्षा ली तथा ज्ञानसाधना, परोपकारवृत्ति तथा सर्वजनहितैषणा से विमल कीर्ति प्राप्त की। गुजरात वासियों ने कुन्थुसागरजी की वक्तृत्वशक्ति तथा सदुपदेशों का सर्वाधिक लाभ प्राप्त किया। २ जुलाई १९४५ को आपका असामयिक निधन हो गया।

कुन्थुसागर ने जैनधर्म के सिद्धान्तों, आचार्यों तथा आत्मशुद्धिभावना को संस्कृत भाषा में लगभग तीस ग्रन्थों के द्वारा व्यक्त किया है। प्रमुख ग्रन्थ है- चतुर्विंशतिजिनस्तुति, शान्तिसागरचरित्र, बोधामृतसार, निजात्मशुद्धिभावना, मोक्षमार्गप्रदीप, ज्ञानामृतसार, लघुबोधामृतसार, स्वरूपदर्शनसूर्य, नरेशधर्मदर्पण, लघुप्रतिक्रमण, लघुज्ञानामृतसार, शान्तिसुधा-सिन्धु, श्रावकधर्मप्रदीप, मुनिधर्मप्रदीप, लघुसुधर्मोपदेशामृतसार, स्वप्नदर्शनसूर्य (षड्भाषात्मक) भावत्रयफलदर्शी, सुवर्णसूत्रम्।

शान्तिसुधासिन्धु अन्वर्थनामा, शान्ति की प्रतिष्ठा करता है। पाँच अध्यायों में विभक्त तथा पांच सौ बीस पद्यों से समन्वित यह ग्रन्थ जैन आचार-संहिता सा प्रतीत होता है। प्रथम अध्याय का नाम हितोपदेशवर्णन है जिसमें आत्मा के स्वरूप से सम्बद्ध

जिज्ञासापूर्ण प्रश्नों के उत्तर निबद्ध हैं। द्वितीय अध्याय जिनागमरहस्यवर्णन है। तृतीय अध्याय का नाम वस्तुस्वरूप है, जिसमें बहुमुखी दृष्टिकोणपूर्वक नीतियों की सार्थकता प्रतिबिम्बित हुई है- मानवीय आदर्शों का व्यापक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। चतुर्थ अध्याय हेयोपादेय के स्वरूप का सारपूर्ण अंश है। इसमें साधु, विद्वान्, दानी, पतिव्रता, न्यायप्रशासक महापुरुषों के लोकोत्तर प्रभाव का वर्णन है। पंचम अध्याय में समग्र शान्ति की कामना की गयी है तथा आत्मा के दिव्य गुणों का अवतरण किया गया है। अध्यात्म, मनोविज्ञान, जीव, मोक्ष, वैराग्य, कर्मफल, सुख-दुःख, सत्य, धर्म आदि तत्त्वों की यथार्थता विश्वशान्ति के परिप्रेक्ष्य में निरूपित है।

ग्रन्थकार का अभिमत है कि महापुरुष सुख और दुःख दोनों अवस्थाओं को बन्धनमय मानते हुए उनमें समता धारण कर लेते हैं। मानव की समस्त क्रियायें अन्तरङ्गशुद्धि के बिना निष्फल हैं-

ये केऽपि मूढा गमयन्ति कालं अन्तर्विशुद्धया हि विना वराकाः।
वृथैव तेषां च भवेद्विचारः क्रियाकलापो विफलं नृजन्म।।

अर्थात् जो कोई मूर्ख मनुष्य अन्तरङ्ग शुद्धि के बिना ही समय व्यतीत करते हैं उनके सब विचार व्यर्थ हो जाते हैं, उनका क्रिया कलाप निष्फल हो जाता है। कुन्थुसागरमुनि का स्पष्ट वक्तव्य है कि क्रोध, मान, माया, लोभ मिथ्यात्व, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद और मोहादि कषायों का सर्वथा त्याग करने से अन्तःशुद्धि होती है तथा खेत, मकान, स्वर्ण, चांदी आदि बाह्य परिग्रह का सर्वथा परित्याग करने से बाह्यशुद्धि होती है-

त्यागेन कोपादिचतुष्टयानां मिथ्यात्वहास्यादिविमोहकानाम्।
अन्तर्विशुद्धिः सुखदा सदैव क्षेत्रादिवास्तुत्यजनेन बाह्या।।३५४

जैनधर्म सुखशान्ति, विभूति, बन्धुत्व, आत्मकल्याण का आश्रय है अतः मुनिकुन्थुसागर मानवीय गुणों की सर्वोच्चता प्रतिपादित करते हुए कहते हैं-

क्षमासमं नास्ति तपोऽपरं च दयासमो नास्त्यपरो हि धर्मः।
चिन्तासमो नास्त्यपरश्च रोगो रसोऽपरो न स्वरसस्य तुल्यः।
सुखं न सम्यक्त्वसमं त्रिलोके विज्ञानतुल्या ह्यपरा न विद्या।
चारित्रतुल्येत्यपरा न शान्तिर्ज्ञात्वा तदर्थं सततं यतन्ताम्।। (३०३, ३०४)

अर्थात् क्षमा के समान अन्य कोई तपश्चरण नहीं है, दया के समान अन्य कोई धर्म नहीं है, चिन्ता के समान अन्य कोई रोग नहीं है, अपने आत्मजन्य आनन्दरस के समान अन्य रस नहीं, सम्यक् दर्शन के समान अन्य सुख नहीं है, विज्ञान के समान अन्य कोई

विद्या नहीं है, सम्यक्चरित्र के समान अन्य कोई शान्ति नहीं है, इसलिए इन सभी के लिए सदैव प्रयत्न करना चाहिए। जीवन में कामशक्ति तृष्णा सदैव दुःखदायी है, क्योंकि कामनाओं के उपभोग से कामनायें शान्त नहीं होती "न स्याद्धि जीवः कदापि तृप्तः, सत्कामभोगैरिह जीवलोके।" उन्होंने आत्मा को, मनोज्ञ, भुवनेशवंद्य, महर्षि आदि अनेक रूपों में देखा है। जीवमात्र के लिए भी उनका यही सन्देश है-

यथैव विश्वो जलवृष्टिहीनः कदापि नो तिर्ष्ठति कुंथुसिन्धुः।
आचार्यवर्यः सुखशान्तिमूर्तिः पूर्वोक्तशान्तेर्न बहिः प्रयाति।। ५२०

अर्थात् जिस प्रकार जल की वर्षा से रहित यह संसार नहीं रहता, उसी प्रकार सुख-शान्ति की मूर्ति कुथुसागर सदृश आर्चायवर्य परम शान्ति से बाहर कदापि नहीं जाते। अनुप्रास के अतिरिक्त विरोधाभास, स्वभावोक्ति, प्रतीप, व्यतिरेक, दृष्टान्त, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति का सौन्दर्य विशेष रूप से आकृष्ट करता है। आचार्य ने मौलिक सिद्धान्त तथा चिन्तन को उपमा के माध्यम से ही व्यक्त किया है-

यथैव मेधाः पवनप्रसंगात् प्रजा यथा दुष्टनृपस्य संगात्।
मिथः प्रबोधादिति तेऽपि शान्तिं लब्ध्वा लभन्ते समयं स्वराज्यम्।।

अर्थात् जैसे मेघ वायु के सम्पर्क से बिखर जाते हैं, जैसे प्रजा दुष्टराजा के संग से बिगड़ जाती है। (उसी प्रकार से अज्ञानी जीव भी संसार रूपी समुद्र में डूबकर गिर जाते हैं) वे ही अज्ञानी जीव उन दोनों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेने से अपने आत्मा में शान्ति प्राप्त कर आत्मा के शुद्ध स्वरूप (समय) को तथा मोक्षरूप स्वराज्य को प्राप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार जैसे सूर्य के बिना दिन उसी प्रकार गुरु के बिना यह संसार ही शून्य है-

सम्पूर्णविश्वं प्रतिभाति शून्यं, सूर्येण हीनं च दिनं यथा कौ। २-१८१

कुन्थुसागर जी की भाषा भावों को जनसामान्य तक पहुंचाने में सन्देशवाहक का कार्य करने से शुद्धसाहित्यिक, परिष्कृत संस्कृत, सरस पदावली तथा प्रसादगुण से युक्त है। संवादशैली में सम्पूर्ण ग्रन्थ का प्रणयन किया गया है। इस शैली में कवि की मौलिक प्रतिभा और मनोवैज्ञानिक वर्णन-शक्ति अंकित है। प्रत्येक विषय जिज्ञासापूर्वक प्रश्न के रूप में प्रस्तुत किया गया है, सरस पद्यों में उनका उत्तर समाहित है। कहीं-कहीं कुंथुसागर जी की शैली व्याख्यात्मक और विवेचनात्मक भी है, भाषा प्रसाद तथा माधुर्यगुण समन्वित है। अन्ततः यह ग्रन्थ साहित्यिक एवं काव्यशास्त्रीय समस्त तत्त्वों से परिपूर्ण एक नीतिविषयक ग्रन्थ है जिसमें वैदर्भी रीति का बाहुल्य तथा संगीतात्मकता है।

श्रावकधर्मप्रदीप - यह पांच अध्याय तथा २१२ श्लोकों से युक्त रचना श्रावकों के धर्म-आचरण, कर्तव्य-अकर्तव्य को प्रकाशित करने के लिए दीपक के समान है, अतः

अन्वर्थनामा यह ग्रन्थ जैनधर्म के प्रमुख सिद्धान्त अहिंसा की आलोचना का खण्डन करने के लिए लिखा गया है। इस कृति में पाक्षिक, नैष्ठिक तथा साधक श्रावकों के स्वरूप, प्रवृत्ति आचार-विचार, गुणदोषत्याग, व्रतग्रहण, व्यसनत्याग, दैनिक कर्तव्य, सामयिक का स्वरूप, क्षुल्लक, ऐलक, आर्यिकाओं के स्वरूप एवं कर्तव्यों का सांगोपाङ्ग विवेचन होने से वस्तुतः यह श्रावकों की आचरणसंहिता है।

सुवर्णसूत्रम्-चार पद्यों (खण्डों) में निबद्ध "सुवर्णसूत्रम्" विश्वधर्म के स्वरूप को प्रतिबिम्बित करता है। सुवर्णसूत्रम् का प्रारम्भ वीर जिनेन्द्र की स्तुति एवं नमन से हुआ है, तदुपरान्त जैनधर्म का स्वरूप प्रतिपादित है।

निजात्मशुद्धिभावना- यह कृति मंगलाचरण से अन्त्य प्रशस्ति तक चौंसठ श्लोकों से युक्त रचना है जिसमें अतिसरल सरस तथा बोधगम्य भाषा में अपनी आत्मा के स्वरूप तथा उसकी शुद्धि की भावना को वर्णित किया गया है। जैन दर्शन में आत्मस्वरूप का प्रदाता शास्त्र ही पठनीय है, श्रावणीय है तथा पाठनीय है-

तदेव शास्त्रं पठितुं सुयोग्यं
श्रोतुं सदा पाठयितुं परांश्च।
विरोधहीनं परमार्थभूतं
स्वराज्यदं स्वात्मसुबोधकं यत्।। (७)

मूलचन्द्र शास्त्री (जन्म १६०३ ई.-१६८६ ई. मृत्यु) - मूलचन्द्र शास्त्री जैनपरिवार से सम्बद्ध मातापिता की इकलौती सन्तान थे। सागर जिले के मालथोन ग्राम में जन्म प्राप्त मूलचन्द्र शास्त्री ने बचपन में ही पितृविहीन होने के कारण अभावों में ही जीवन व्यतीत किया तथा विद्यार्जन किया। मूलचन्द्र शास्त्री की बहुमुखी प्रतिभा काव्य की अनेक विधाओं में अभिव्यक्त हुई। लोकाशाहमहाकाव्य, वचनदूतम् खण्डकाव्य तथा तर्धमान-चम्पू नामक चम्पूकाव्य का सृजन किया। इन्होंने टीका ग्रन्थों का भी प्रणयन किया। टीकाग्रन्थों में हरिभद्रसूरि प्रणीत षोडशक प्रकरण की १५००० श्लोकप्रमाणटीका तथा विजय हर्षसूरि प्रबन्ध की ४५० श्लोक प्रमाण टीकायें उल्लेखनीय हैं। "अभिनवस्तोत्र" स्तोत्रात्मक रचना है। अभिनन्दन ग्रन्थों में भी अनेक स्तुत्यात्मक रचनायें प्रकाशित हैं जिनमें विद्यासागर पत्रिका (१६८५) में प्रकाशित ज्ञानसागरसंस्तुति तथा शिवसागर स्मृतिग्रन्थ में प्रकाशित शिवसागरस्तुति तथा गणेशस्तुति प्रसिद्ध हैं। इन्होंने न्यायरत्न नामक दार्शनिक सूत्र ग्रन्थ की भी रचना की।

वचनदूतम्-१५१ श्लोकों से संवलित एक लघुकाव्य है जिसमें पूर्वार्द्ध में ध्यानस्थ नेमि के निकट राजुल की वेदना का वर्णन ६७ श्लोकों में तथा उत्तरार्द्ध में ८४ पद्यों में राजुल के हताश होकर गिरि से लौट आने का समाचार सुनकर माता-पिता तथा सखियों के द्वारा प्रकट की गयी परिस्थितिजन्य वेदना अंकित है। दो खण्डों में दिगम्बर जैन प्रबन्धकारिणी

कमेटी, जयपुर से प्रकाशित इस खण्डकाव्य में राजुल विविध दृष्टान्तों तथा अन्योक्तियों के माध्यम से प्रणय निवेदन करती है। चित्ताकर्षक भावभिव्यंजना कहीं-कहीं कालिदास के मेघदूत को स्मरण दिला देती है।

वर्धमानचम्पू-गद्यपद्यात्मक इस चम्पूकाव्य में कवि ने २४ वें तीर्थकर महावीर स्वामी के पांचों कल्याण को काव्यात्मक भाषा में चित्रित किया है। आठ स्तबकों में विभाजित यह ग्रन्थ जैन विद्यासंस्थान से महावीर कीर्ति के द्वारा प्रकाशित है। इस ग्रन्थ का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य यह है कि कवि ने परम्परा से हटकर बुराई में भी अच्छाई को देखा, दुर्जनों की निन्दा नहीं की। उन्होंने कांच और मणि का दृष्टान्त देकर कहा कि जैसे कांच के सद्भाव में ही मणि की प्रतिष्ठा है, उसी प्रकार दुर्जनों का सद्भाव कवि की प्रसिद्धि के लिए अपेक्षित है।

कविप्रकाशे खल एव हेतुर्यतश्च तस्मिन् सति तत्प्रकर्षः।
काचं विना नैव कदापि कुत्र मणेः प्रतिष्ठा भवतीति सम्यक्।।

कवि के अनुसार जीवदया धर्म तथा उसकी हिंसा अधर्म है। दिगम्बरी दीक्षा का महत्त्व, गृहस्थाश्रम का त्याग, कैवल्य प्राप्ति का रहस्य, नगरादि का वर्णन त्रिशला माता का वर्णन ये सब इस चम्पूकाव्य के महत्त्वपूर्ण अंश हैं। प्रसादगुण से युक्त रसाभिव्यक्ति, प्रवाहमयी भाषा, अलंकारों के प्रचुर प्रयोग से वर्धमानचंपू बीसवीं शती का सुन्दर चम्पूकाव्य है तथा संस्कृतसाहित्य को जैनकवि मूलचन्द्रशास्त्री का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

मूलचन्द्र की रचनाओं में काव्यात्मक सौन्दर्य चित्ताकर्षक है। भाषा में प्रवाह तथा पदों में ललित्य है। इनके काव्यों में शब्दसौष्ठव तथा अर्थगाम्भीर्य का मज्जुल समन्वय है। ये संस्कृत की सेवा के लिए राजस्थान सरकार द्वारा तथा वचनदूतम् के लिए महावीर पुरस्कार से सम्मानित हुए। इन ग्रन्थों में कवि की बौद्धिक विलक्षणता द्रष्टव्य है। दार्शनिक सिद्धान्तों सांसारिक असारता, वैराग्य, गुरुभक्ति तथा आचार्योचित गुणों का सुन्दर दिग्दर्शन है।

दयाचन्द्र शास्त्री (जन्म १६१५ ई.)-सागर जिले के शाहपुर स्थान में जन्म प्राप्त दयाचन्द्र शास्त्री ने अध्ययनोपरान्त अनेक शिक्षणसंस्थाओं में अध्यापन किया। जैनपूजाकाव्य पर पीएच. डी. प्राप्त करने के अनन्तर छात्रहितैषी पत्रिका का सम्पादन करते हुए जैनदर्शन आचार तथा सिद्धान्तविषयक तीस ग्रन्थ लिखे। अमरभारती भाग १, भाग २, भाग ३ नाम से प्रकाशित संस्कृत रचना दयाचन्द्रजी की अनूठी रचना है, जिसमें स्फुट रचनायें-प्रतिभापरिचय, सरस्वतीवन्दनाष्टक, संस्कृतभाषास्तवन आदि संकलित हैं। गुरुवर गोपालदास की गौरवगाथा, समस्यापूर्ति के रूप में कतिपय संस्कृतपद्य, रक्षाबन्धनम् आदि शीर्षक के माध्यम से स्फुट रचनायें हैं। इनके द्वारा रचित तीन अन्य ग्रन्थ हैं-मीमांसा, निबन्ध तथा मित्र। दयाचन्द्र जी के कवित्व की भाषा अनुप्रास, यमक, उपमादि अलंकारों से अलंकृत होने से प्रशंसनीय तथा विद्वज्जनों द्वारा पठनीय है।

जवाहरलाल सिद्धान्तशास्त्री-राजस्थान स्थित भीण्डर निवासी पं. जवाहर लाल सिद्धान्त शास्त्री ने आधुनिक साधु, बृहद्जिनोपदेश, कर्माष्टक प्रकृति ग्रन्थ तथा मुख्त़ार-स्मृतिग्रन्थ अनेक ग्रन्थों की टीकायें लिखीं। तत्त्वार्थसूत्र, संस्कृत लब्धसार तथा क्षपणकसार आदि ग्रन्थों का पद्यानुवाद भी किया। संस्कृत भाषा में प्रणीत दो काव्य पद्मप्रभस्तवनम् तथा जिनोपदेशः हैं। पद्प्रभस्तवनम् राजस्थान से प्रकाशित श्रेष्ठ काव्यकृति है जिसमें छठे तीर्थकर पद्मप्रभ की पचीस पद्यों में स्तुति है। कवि महाप्रभु को अपने आराध्य के रूप में चित्रित करते हुए, चारित्रिक पक्ष की भक्तिपूर्ण अभिव्यंजना करता है। "जिनोपदेश" शतककाव्य है। जैनधर्म के विख्यात सिद्धान्तों की आध्यात्मिक अभिव्यक्ति है। भाषा सरल, सरस, प्रसाद तथा माध ुर्यगुण प्रधान है। शास्त्रीजी के काव्यों का जैन काव्य साहित्य के विकास में विशेष योगदान है।

पं. जुगलकिशोर मुख्तार (जन्म १८७७ ई.)-विपत्तियों को प्रकृति की देन मानने वाले तथा कर्मयोगी की भाँति जीवन व्यतीत करने वाले सहारनपुर जिले में जन्मे पं. जुगलकिशोर मुख्तार सत्य तथा न्याय का आश्रय लेते हुए उपदेशक का कार्य करते रहे, साहित्याराधना से कभी भी विचलित नहीं हुए, समन्तभद्र आश्रम की स्थापना की। इन्होंने समन्तभद्र की समस्त पुस्तकों पर भाष्यलेखन किया है। अनेक ग्रन्थों पर प्रस्तावनायें लिखी हैं, जिससे इनके बहुआयामी व्यक्तित्व का पता चलता है। 'अनेकान्त' नामक मासिक पत्रिका के प्रकाशक तथ सम्पादक रहे। "जैन साहित्य और इतिहास पर विशदप्रकाश" नामक ग्रन्थ में पं. जुगलकिशोर के बत्तीस निबन्ध सामाजिक, राष्ट्रीय, आचारमूलक, भक्ति परक, दार्शनिक एवं जीवनशोधक हैं। संस्कृत रचनाओं में जैनादर्श दसश्लोकात्मक स्फुट काव्य रचना है।

राजवैद्य (पं. बारे लालजी जैन)-संस्कृत भाषा, संस्कृति तथा साहित्य के परम प्रेमी, टीकमगढ़ जिले में जन्मे राजवैद्य पं. बारे लाल जी जैन के साहचर्य से अहारक्षेत्र की संस्थायें उत्तरोत्तर उत्कर्ष को प्राप्त हुईं। इसी सिद्धक्षेत्र में अहारक्षेत्र की महिमामयी स्तुति बारे लाली ने "अहारतीर्थस्तवनम्" नामक सोलह पद्यों से समन्वित लघु काव्य रचना में की है। अहार क्षेत्र में एकमासोपवासी मुनि को एक व्यापारी ने नवधाभक्ति पूर्वक अहार दिया। यहां प्रथम जिनालय में शान्तिनाथ की प्रतिमा स्थापित है।

इसी प्रकार अन्य अनेक मनीषी तथा विद्वान् हैं जिन्होंने अपनी साहित्यिक सेवा में संस्कृत साहित्य को संवर्धित तथा पोषित किया है। उनमें स्व. ठाकुरदास शास्त्री की "श्रीमद्वर्णिगणेशाष्टकम्" तथा "पपौराष्टक", राजकुमार साहित्याचार्य की वर्णिवाणी, जबलपुर निवासी भागचन्द्र जैन की संस्कृत रचना 'सोऽयं लोके भवतु नितरां कस्य, नो पूजनीयः' तथा "तुभ्यं नमः भव्यहितङ्कराय" स्तुत्यात्मक रचनायें है। भागचन्द्र जैन की प्राचीन भारतीय भाषाशास्त्र जैनदर्शन-संस्कृति तथा कला के क्षेत्र में विशिष्ट सेवायें हैं। दोनों ही संस्कृत रचनायें प्रसाद गुण तथा वैदर्भी रीति से युक्त रचनाकार के प्रौढ़ पाण्डित्य का प्रदर्शन करती हैं। भुवनेन्द्रकुमार शास्त्री की पंच पद्यात्मक रचना विद्यासागरस्तवनम्,

गोविन्ददास जी कोठिया का अहारतीर्थस्तोत्र भी स्तोत्रात्मकलघुकाव्य रचना है। गोविन्ददास जी के अनेक हिन्दी संस्कृत टीकाग्रन्थ भी हैं जिनमें चन्द्रप्रभचरित के चार सर्गों की हिन्दी संस्कृत टीका तथा "धर्मशर्माभ्युदय" के छह सर्गों की संस्कृत हिन्दी व टीका सुबोधता तथा स्पष्टता के कारण प्रसिद्ध हैं।

पं. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य (१९१५-१९७४ ई.)-इन्होंने आरा जैन कालेज में अध्यापन कार्य करते हुए अनेक हिन्दी संस्कृत ग्रन्थों का प्रणयन किया तथा मागधम् पत्रिका का सम्पादन भी किया। आपकी संस्कृत रचना संस्कृतगीतकाव्यानुचिन्तनम् है।

अन्य प्रसिद्ध जैन कवियों की परम्परा में अमृतलाल शास्त्री, नेमिचन्द्र जैन, महेन्द्रकुमार जैन, गुलाबचन्द जैन, कुमारी माधुरी शास्त्री तथा श्रीमती मिथिलेश जैन के नाम उल्लेखनीय हैं। अमृतलाल शास्त्री ने वर्णिसूर्यः, गोपालदासः गुरुरेक एव तथा श्रद्धाप्रसूनाज्जलिः नामक तीन स्तुतिरचनाओं का प्रणयन किया है। सरल सुबोध तथा विषयानुरूप पदावली का प्रयोग करते हुए श्रद्धाप्रसूनाञ्जलि में वे अविद्या को राक्षसी तथा रूढियों को पिशाचिनी की संज्ञा देते हैं। उन्हें द्रवित करने के लिए वर्णी जी को सूर्य स्वरूप माना है। उन्होंने द्रव्यसंग्रह, चन्द्रप्रभचरितम् तथा तत्त्वसिद्धि का हिन्दी अनुवाद भी किया है। महेन्द्रकुमार शास्त्री की श्रद्धाञ्जलि रूप पंच श्लोकात्मक इनकी स्फुट रचना है।

महिला जैन मनीषियों की परम्परा में संस्कृत साहित्य कु. माधुरी शास्त्री तथा श्रीमती मिथिलेश जैन की लघुकृतियों से गौरवान्वित है। माधुरी शास्त्री ने आर्यिका रत्नमती तथा आर्यिका ज्ञानमती जो क्रमशः उनकी मा तथा बहन हैं, को समर्पित करते हुए पांच पद्यों में रत्नमती (माता) की स्तुति तथा इक्कीस श्लोकों में आर्यिका ज्ञानमती की स्तुति की है। श्रीमती मिथलेश जैन ने तं धर्मसिन्धुगुरुवर्यमहं नमामि शीर्षक से गुरुवन्दना छः श्लोकों में की है।

इस प्रकार जैन समाज में महाकाव्य, खण्डकाव्य, चम्पूकाव्य के माध्यम से एक ओर तीर्थंकरों तथा जैनधर्मदीक्षित राजाओं तथा महापुरुषों के जीवनचरित को प्रस्तुत करने के माध्यम से योगदान की परम्परा रही तो दूसरी ओर जैनधर्मसिद्धान्त, आचारव्यवस्था तथा दर्शन का अधिकाधिक प्रचार तथा प्रसार उन जैनमनीषियों, साधुओं, साध्वियों का लक्ष्य रहा। इसी कारण साधु-साध्वियों को लक्ष्यकर अनेक अभिनन्दन ग्रन्थ प्रस्तुत हुए जिनमें गुरुओं की वन्दना में लघु स्तुत्यात्मक रचनायें प्रभूतमात्रा में प्रकाशित हुईं।

आचार्य तुलसी-तेरापंथ परम्परा के नवम आचार्य तुलसी ने बीसवीं शती में संस्कृत साहित्य के प्रति महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है तथा अपनी ज्ञानज्योति को न्याय-दर्शन, नीतिविषयक साहित्य, समस्यापूर्ति, स्तुतिकाव्य तथा स्तुतिकाव्यों-अनेक विधाओं में प्रस्तुत किया है। आचार्य तुलसी ने स्तुतिविषयक चौबीस तीर्थकरों की स्तुति से सम्बद्ध चतुर्विंशतिस्तवनम् तथा समस्यापूर्तिरूप कल्याणमन्दिरस्तोत्रम्, नीतिविषयक, शिक्षाषण्णवति, कर्तव्यषट्त्रिंशिका,

दर्शनविषयक जैनसिद्धान्तदीपिका, न्यायविषयक भिक्षुन्यायकर्णिका तथा योगविषयक मनोऽनुशासनम् की रचना करके सरल व सुबोध तथा मूल्यवान् सामग्री प्रदान की है।

शिक्षाषण्णवतिः-आचार्य तुलसी विरचित नीतिविषयक यह ग्रन्थ ९६ श्लोकों की रचना है जिसका जैनसिद्धान्त तथा उपदेशात्मक विषयों के आधार पर बीस प्रकरणों में विभाजन है। जैन साधु-साध्वियों को संस्कृत का अभ्यास कराने तथा आत्मतुष्टि को लक्ष्य कर प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रणयन हुआ है। ग्रन्थ में गुरुप्रकरण, धर्मप्रकरण, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, प्रकरण ज्ञान, संयम, श्रद्धा प्रकरण आसक्ति, विरक्ति, सद्गुणरत्नमाला, मोक्षमार्ग, भगवद्भारती तथा स्याद्वाद प्रकरण हैं। गुरु की महत्ता को प्रकट करते हुए आचार्य कहते हैं-

मेधाविनाऽपि मनुजेन महामहिम्ना
धर्तव्य एव किल सद्गुरुरुत्तमाङ्गे।
को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्यां
को वा भवान्तमयते गुरुमन्तरेण। १८

अर्थात्-जैसे कोई नौका के बिना समुद्र पार नहीं हो सकता, वैसे ही गुरु के बिना भवसागर को पार कोई नहीं कर सकता। इसी प्रकार स्याद्वाद में विषय में उनका मत है -स्याद्वादी विवाद में न पड़कर समन्वय के द्वारा विजय प्राप्त करता है-

"..............तथैव स्याद्वादी सततमविवादी विजयते।"९४

ग्रन्थ की शैली प्रसाद, माधुर्य गुणों से युक्त वैदर्भी है। भाषा में सरलता, सहजता, स्पष्टता, बोधगम्यता तथा प्रवाह है, श्लोकों में उपमाओं का सौन्दर्य सर्वत्र आकलनीय है। यहां यह पद्य आकलनीय है-

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषैः
श्रीब्रह्मचार्यतितमां समलंकृतः स्यात्।
गुर्विङ्गितज्ञमपहाय विनीतशिष्यं
स्थैर्य्यं क्व वेत्ति सकलाभिरलं कलाभिः।। ५७

कर्तव्यषट्त्रिंशिका-आचार्य तुलसी विरचित यह ग्रन्थ भी छत्तीस श्लोकों का संग्रह उपदेशात्मक ग्रन्थ है जिसमें मानवमात्र विशेषतः साधुओं को सत्कर्तव्यों तथा अकर्तव्यों की सरल संस्कृत में शिक्षा दी गयी है। गुरु के प्रति विश्वास तथा प्रणति, विनयभावना, ब्रह्मचर्य व्रत की श्रेष्ठता, सत्यव्रत, संयम, परोपकार, अहंकारराहित्य तथा अध्यात्म चिन्तन का उपदेश है।

जैनसिद्धान्तदीपिका-यह ग्रन्थ धर्म और दर्शन के सिद्धान्तों की पारिभाषिक व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसका रचनाक्रम सूत्र तथा वृत्ति के क्रम से है। सर्वजनसुलभ बनाने हेतु

युवाचार्य महाप्रज्ञ ने हिन्दी व्याख्या लिखी है। दस प्रकाशों में विरचित इस दर्शन ग्रन्थ के प्रथम प्रकाश में द्रव्य, गुण तथा पर्याय का निरूपण है। दूसरे प्रकाश में जीवविज्ञान, तीसरे प्रकाश में जीव और अजीव के भेदों का निरूपण है। चौथा प्रकाश बन्ध, पुण्य, पाप तथा आश्रव के स्वरूप से सम्बद्ध है। पाँचवें प्रकाश में संवर, निर्जरा तथा मोक्षमार्ग का स्वरूप तथा छठे प्रकाश में मोक्षमार्ग का वर्णन है। सातवें प्रकाश में जीवस्थान (गुणस्थान) का निरूपण, आठवें में देव, गुरु, धर्म का वर्णन, नवें प्रकाश में दया, दान तथा उपकार का स्वरूप निरूपित है। दसवें प्रकाश में निक्षेप का वर्णन है। इसमें कुल ३०६ सूत्र हैं।

भिक्षुन्यायकर्णिका-१९४५ ई. में आचार्य तुलसी के द्वारा विरचित न्यायविषयक ग्रन्थ भिक्षुन्यायकर्णिका सात विभागों में गुम्फित, न्यायशास्त्र के सिद्धान्तों को १३७ सूत्रों में प्रस्तुत करता है। पहले विभाग में लक्षण और प्रमाण के स्वरूप का वर्णन है। दूसरे विभाग में प्रत्यक्ष का स्वरूप, तीसरे में मति का स्वरूप, चौथे में श्रुत के स्वरूप का निरूपण है। पांचवां विभाग नय के स्वरूप-वर्णन से सम्बद्ध है। छठे विभाग में प्रमेय तथा प्रमिति के स्वरूप का वर्णन है तथा सातवें विभाग में प्रमाता के स्वरूप का निरूपण है। इसका हिन्दी भाषा में अनुवाद साध्वी कनकप्रभा ने किया है। सहजबोधगम्यता से युक्त सूत्र तथा वृत्ति का उदाहरण द्रष्टव्य है- तत् प्रत्यक्षं परोक्षञ्च अक्षम् - इन्द्रियम् अक्षो जीवो वा। अक्षं प्रति गतं प्रत्यक्षम्। अक्षेभ्योऽक्षाद्वा परतो वर्तते इति परोक्षम्। अर्थात् प्रमाण के दो प्रकार हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष। अक्षशब्द इन्द्रिय और जीव दोनों का वाचक है। अक्ष-प्रतिगत अर्थात् इन्द्रिय और आत्मा द्वारा होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है। जो ज्ञान साक्षात् इन्द्रिय और आत्मा से नहीं हो, वह परोक्ष कहलाता है। इसी प्रकार 'मनोद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारिमनःपर्यायः। अर्थात् मनोद्रव्य के पर्यायों का साक्षात् करने वाला ज्ञान मनःपर्याय कहलाता है। (द्वितीयविभाग सूत्र १,६)

मनोऽनुशासनम्-आचार्य तुलसी विरचित योग विषयक ग्रन्थ "मनोऽनुशासनम्" सं. २०१८ में प्रणीत हुआ। इस ग्रन्थ में अनुभूतिजन्य यौगिक सत्यों को स्वीकार किया गया है। योगविषयक सूक्ष्मताओं के न होने के कारण यह ग्रन्थ सर्वजनग्राह्य है। सात प्रकरणों में गुम्फित यह ग्रन्थ भी १८० सूत्र रूप में ही है। पहले प्रकरण में योग का विस्तृत विवेचन है। द्वितीय प्रकरण में मनकी अवस्थाओं का निरूपण है। तृतीय प्रकरण में ध्यान, आसन, भावना आदि का वर्णन है। चौथा प्रकरण ध्यान के प्रकार, धारणा, विपश्यना, लेश्या आदि के वर्णन से सम्बद्ध है। पांचवें प्रकरण में वायु के प्रकार और उनकी विजय का निरूपण है। छठे प्रकरण में महाव्रत, श्रमणधर्म, संकल्प, जप आदि का सातवें में जिनकल्प की पांच भावनाओं प्रतिमाओं का प्रतिपादन है। इसका हिन्दी अनुवाद और व्याख्या युवाचार्य महाप्रज्ञ ने की है।

आचार्य नथमल मुनि-बीसवीं शती का जैन संस्कृत साहित्य अपने आप में विविधता तथा उत्कृष्टता से संवलित अतएव विवेचनीय है। उसमें भी थेरापंथ के साहित्य का अपना ही वैषिष्ट्य है। तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य तथा अन्य आचार्यों ने जैनधर्म के

मौलिक तत्त्वों के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से आप्त पुरुषों तथा धार्मिक महापुरुषों के गौरव के वर्णन की दृष्टि से प्रभावी राजा, मंत्री तथा अनुयायियों के अनुरोध से संस्कृत तथा हिन्दी में अपनी कारयित्री तथा भावयित्री प्रतिभा का प्रसार किया।

तेरापंथ परम्परा के आचार्य महाप्रज्ञ अथवा नथमल मुनि की बहुआयामी प्रतिभा महाकाव्य, खण्डकाव्य, स्फुटश्लोकों, मुक्तकरचनाओं तथा अनेक विषयक निबन्धों के माध्यम से विविध रूपों में परिलक्षित होती है। उनका विवेचन इस प्रकार है-

श्रीभिक्षुमहाकाव्यम्-आचार्यवर्य तुलसी के कृपापात्र अन्तेवासी मुनि श्रीनथमल जी द्वारा विरचित श्रीभिक्षुमहाकाव्य तेरापंथ के आद्यप्रवर्तक आचार्य श्री भिक्षु के जीवनदर्शन पर प्रकाश डालने वाला चरितमहाकाव्य है। इसकी रचना वि. स. २०१७ अर्थात् १९६० ई. में हुई। महाकाव्य के सामान्य लक्षणों से युक्त अट्ठारह सर्गात्मक यह महाकाव्य शब्दसौष्ठव तथा अर्थगाम्भीर्य से युक्त है तथा शैली पद्यात्मक है। यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है।

सम्बोधि-आचार्य महाप्रज्ञ की श्लोकबद्ध कृति सम्बोधि योग-प्रक्रिया को विश्लेषणात्मक रूप में प्रस्तुत करती है। ग्रन्थ में १६ अध्याय तथा ६६८ श्लोक हैं। सम्बोधि शब्द सम्यग्ज्ञान, सम्यक्दर्शन, सम्यक्चरित्र को अपने में समेटे हुए, आत्मज्ञान के लिए तीनों के समान वैशिष्ट्य को प्रस्तुत करता है। गीता की शैली पर लिखित यह काव्य जैनदर्शन में आत्मार्पण का माहात्म्य स्वरूप है। आत्मा ही परमात्मा या ईश्वर है। इसमें आचारांग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, भगवती ज्ञातधर्मकथा, उपासक दशा, प्रश्नव्याकरण दशाश्रुत, स्कन्धादि आगमों का सार सगृंहीत है। कृष्ण का गीतारूप उपदेशामृत प्राप्त कर अर्जुन का पुरुषार्थ जाग उठता है, तो महावीर की वाक्-प्रेरणा से मेघकुमार की मूर्च्छित चेतना जागृत हो जाती है। मेघकुमार के द्वारा प्राप्त प्रकाश का व्यापक दिग्दर्शन ही सम्बोधि में है। गीता का अर्जुन कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में मनोबल खो देता है। सम्बोधि का मेघकुमार साधना की समरभूमि में कायर होता है। गीता के संयत गायक कृष्ण हैं तो सम्बोधि के गायक महावीर हैं। ग्रन्थ का प्रकाशन तथा सम्पादन मुनि श्री शुभकरण तथा मुनि श्रीदुलहराज ने किया है।

रत्नपालचरित्रम् -आचार्य महाप्रज्ञ नथमल मुनि विरचित रत्नपालचरित्रम् जैन पौराणिक आख्यान पर आधारित पद्यमय खण्डकाव्य है। पाँच सर्गों में निबद्ध प्रस्तुत काव्य में कथानक की अपेक्षा कल्पना का आधिक्य है, किन्तु रत्नपालचरित्रम् की कल्पना, सहजता तथा वास्तविकता से अनुप्राणित है। भावविन्यास तथा शब्दरचना के मञ्जुल साहचर्य से युक्त यह खण्ड काव्य संस्कृत साहित्य को गौरवान्वित करने वाला उत्कृष्ट काव्य है। कवि के द्वारा सं. २००२ में संपूर्ण किया गया यह ग्रन्थ मुनि दुलहराज कृत हिन्दी अनुवाद से युक्त है।

तुला-अतुला -आचार्य महाप्रज्ञ विरचित तुला-अतुला पांच भागों में विभक्त स्फुट श्लोकों का संग्रह है। इसमें कवि के आशुकवित्व, समस्यापूर्ति तथा अन्य अनेक विषयों से सम्बद्ध श्लोक हैं।

मुकुलम्-नथमल मुनि द्वारा ही प्रणीत मुकुलम् भी संग्रह ग्रन्थ है, जिसमें छात्रोपयोगी उन्चास (४६) लघु निबन्ध हैं। इसमें वर्णनात्मक, भावनात्मक तथा संवेदनात्मक सभी प्रकार के निबन्ध संक्षिप्त प्रसाद गुणयुक्त, स्वल्पसमासों वाली, प्राञ्जल तथा प्रवाहपूर्ण भाषा में प्रस्तुत किये गये हैं। यह कृति ज्ञान तथा अनुभव दोनों के विकास में सहयोगी है। इसकी रचना वि. सं. २००४ में राजस्थान में हुई तथा मुनिदुलहराज द्वारा हिन्दी अनुवाद किया गया।

अश्रुवीणा-यह महाप्रज्ञ आचार्य नथमलमुनि द्वारा मन्दाक्रान्ता छन्द में विरचित खण्डकाव्य है जिसके कथानक का मूलस्रोत जैन आगम में वर्णित जैनभिक्षुणी चन्दनबाला की कथा है। चौबीसवें तीर्थकर महावीर ने विपन्नों का उद्धार तथा जनहितसाधन का महान् लक्ष्य लेकर तेरह बातों का घोर अभिग्रह धारण किया था। वह उसी महिला के हाथ से भिक्षा लेंगे जो राजपुत्री हो, अविवाहित हो, क्रीत हो, मुण्डित सिर हो आदि, अन्यथा न वे भोजन करेंगे न पानी पियेंगे। अकस्मात् उनके व्रत के अनुरूप चन्दनबाला मिलती है जो तीन दिन से भूखी थी, उसके खाने के लिए उबले उड़द छाज कोने में डाल दिये गये थे। विपत्ति को झेलने से केवल उसकी आँख में आँसू नहीं थे। आँसू न होने से महावीर भिक्षा ग्रहण किये बिना ही मुड़ते हैं, किन्तु सहसा चन्दनबाला की आँखों से आँसू छलक पड़ते हैं। वे वापस आकर भिक्षा ग्रहण करते हैं। यही चन्दनबाला भगवान् महावीर के साध्वी संघ की अभिनेत्री तथा छत्तीस हजार साध्वियों में प्रमुख बनी।

अश्रुवीणा में प्रारम्भ से अन्त तक श्रद्धाभाव का आलोक व्यापक रूप में फैला है। भावों के प्रवाह में बीच-बीच में कथा अनुस्यूत है। उदात्त तथा स्फूर्त भावनाओं की अभिनव अवतारणा है। प्रवाह से हटकर परिशुद्ध आन्तरिकता की स्थिति में पहुंचे हुए व्यक्ति की लेखनी से निर्गत यह खण्डकाव्य आपाततः मेघदूत सदृश गीतिकाव्य प्रतीत होता है, किन्तु वस्तुतः यह अश्रुवीणा खण्डकाव्य धर्म और चेतना का शब्द और अर्थ के साहित्य के स्तर पर मृद्वीकापाक है अथवा धर्मचेतना की अश्रु वर्षा है। यहां श्रद्धालु तथा श्रद्धेय के बीच क्षणमात्र में घटित होने वाली घटना चित्रित है। विपत्ति के सागर में डूबी चन्दनबाला के सतप्त जीन में अकस्मात् महावीर रूपी वर्षाकाल का जलद उमड़ पड़ता है, वह विस्फारित नेत्रों से देखती है-

धन्यं धन्यं शुभदिनमिदं विद्युता द्योतिताशः
सिञ्चन्नुर्वीं नवजलधरः कर्षकेणाद्य दृष्टः।
तापः पापोऽगणितदिवसैरन्तरुर्व्याः प्रविष्टः
श्वासानन्त्यान् गणयतितमां निःश्वसन्नुष्णमुच्चैः।।

(आज का शुभदिन कितना धन्य है। कृषक ने नवमेघ को देखा है कि वह विद्युत्प्रकाश से समस्त दिशाओं को आलोकित करता हुआ, अपनी धाराओं से भूमि को सींच रहा है। बहुत दिनों से जो दुष्ट ताप भूमि में छिपा हुआ था, आज वह जोर से गरम आहें छोड़ता हुआ अपनी अन्तिम सांसें गिन रहा हो-ऐसा प्रतीत होता है।)

कवि ने यहां भावों की अभिव्यञ्जना बहुत ही सुन्दर की है। भिक्षा न ग्रहण करने पर चन्दनबाला ने अपने अश्रुप्रवाह को दूत बनाकर भगवान् को अपना सन्देश भेजा। अश्रुप्रवाह के माध्यम से चन्दबाला का सन्देश ही प्रस्तुत काव्य का प्रतिपाद्य है।

सम्पूर्ण रचना चन्दनबाला की श्रद्धा से आप्लवित ही नहीं, अश्रुवीणा के निनाद से झंकृत हो उठी है। भावावेग से मानों शब्द भी सजीव हो गये हैं। शब्दालंकार तथा अर्थालंकार में सर्वत्र परस्पर स्पर्धा परिलक्षित होती है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त तथा अर्थान्तरन्यास का सौन्दर्य सर्वत्र विद्यमान है। "ऐसा का श्रद्धा न खलु जनयेद् विस्मृतिं स्थूलतायाः, सर्वे सूक्ष्माः परमगुरुताऽभूत् प्रतीक्षाक्षणानाम्" "यत्रापूर्वाशयपरिणतिर्दुर्लभं तत्र किं स्यात्" "श्रद्धापात्रं भवति विरलस्तेन कश्चित् तपस्वीं।" तथा "सर्वे स्वादाः प्रकृति-सुलभा दुर्लभाश्चानुभूताः" "श्रद्धा स्वादो न खलु रसितो हारितं तेन जन्म", आदि दृष्टान्त तथा सूक्तियां मानस को भावविभोर करती हुई आकृष्ट करती हैं। डा. जगन्नाथ पाठक के शब्दों में "वाल्मीकि की सीता की भाँति, कालिदास की शकुन्तला की भाँति, बाणभट्ट की महाश्वेता की भाँति चन्दनबाला का अनुपम चरित्र आचार्य महाप्रज्ञ जी का संस्कृत साहित्य को अनुपम अवदान है।"

आचार्य महाप्रज्ञ (नथमलमुनि) ने न्याय और दर्शन के क्षेत्र में न्यायपंचविंशतिः, युक्तिवादः तथा अन्योपदेशः नामक ग्रन्थों का भी निर्माण किया है, किन्तु ये सभी अप्रकाशित हैं।

आचार्य चंदन मुनि १६१५ आचार्य चंदनमुनि तेरापंथ के नवम आचार्य तथा अणुव्रतप्रवर्तक आचार्य तुलसी के सहपाठी रहे हैं। इनका जन्म पंजाब प्रान्त के सिरसा गांव में हुआ था। इन्होंने नौ वर्ष की अवस्था में सुजानगढ़ राजस्थान में, १६२३ ई. में जैनधर्म की दीक्षा ली। चंदनमुनि ध्यान-साधना, स्वाध्याय चिन्तन, अध्ययन-अध्यापन तथा साहित्य-सर्जना में विशेष रूप से संलग्न रहे। इनमें संस्कृत प्राकृत, पंजाबी, हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी आदि भाषाओं में काव्यरसधारा अस्खलद्गति से प्रवाहित है। इनकी सभी रचनाओं का उद्देश्य व्यक्ति को आत्माभिमुख बनाने एवं सत्यं, शिवं की और अग्रसर करना है। चंदनमुनि विरल कवियों की श्रृंखला में आते हैं जिनकी प्रशंसा में किसी सहृदय विलक्षण प्रतिभासम्पन्न कवि ने कहा है-

श्रृंगारादिसमुज्ज्वलरचनापटवः क्षितौ न के कवयः।
ते तु नितान्तं विरला आत्मज्ञानाय वाग् येषाम्।।

(पृथ्वी पर शृङ्गार आदि समुज्ज्वल रसों में रचना करने में कौन समर्थ कवि नहीं हैं ! किन्तु वे कवि बिल्कुल विरल हैं जिनकी वाणी आत्मज्ञान के लिए होती है।)

चंदनमुनि का कवित्व बहुविध तथा बहुआयामी है। काव्य की लगभग सभी विधाओं में उन्होंने यथार्थ, आदर्श और कल्पना को एक सूत्र में पिरोते हुए अपने काव्य ग्रन्थों को प्रस्तुत किया है। चंदन मुनि की संस्कृत की प्रमुख रचनायें हैं-आर्जुनमालाकारम्, प्रभवप्रबोधकाव्य,

अभिनिष्क्रमणम्, ज्योतिस्फुलिङ्गाः, उपेदशामृतम्, प्रास्ताविकश्लोकशतकम्, वैराग्यैकसप्ततिः, प्रबोधपञ्चपञ्चाशिका, अनुभवशतकम्, पञ्चतीर्थी, आत्मभावद्वात्रिंशिका, पथिकपञ्चदशकम्, संवरसुधा।

आर्जुनमालाकारम्-यह अर्जुन नाम के मालाकार (माली) के आख्यान से सम्बद्ध एक गद्यकाव्य है। इसका नायक एक अतिसाधारण अर्जुन नामक माली पहले घटना-विशेष के प्रभाव से समग्र मानव जाति के प्रति विद्रोही बनते हुए, प्रतिदिन सात व्यक्तियों को मार गिराने का संकल्प ले बैठा। कालान्तर में दूसरी घटना के प्रभाव से वह प्रतिबुद्ध हुआ तथा महावीर स्वामी का शिष्य बन कर अहिंसा धर्म की साधना करता हुआ स्व तथा पर कल्याण का हेतु बन गया। सात समुच्छ्वासों में विभक्त इस गद्यकाव्य की आलंकारिक तथा चित्रात्मक शैली कादम्बरी, दशकुमारचरित तथा शिवराजविजय की स्मृति को उभारने में समर्थ है। "संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति" यह इस काव्य की मूल अभिव्यंजना प्रतीत होती है। चंदन मुनि की भाषा प्रसादगुण संवलित, सुकुमार तथा प्रवाहयुक्त है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन विराटनगर, नेपाल से हुआ है।

प्रभवप्रबोधकाव्यम्-चन्दनमुनि विरचित यह एक प्रबन्ध काव्य है तथा ईसा पूर्व की एक चामत्कारिक घटना पर आधारित है। जम्बूकुमार विवाह की प्रथम रात्रि में ही अपनी आठ नववधुओं को जैनधर्म की शिक्षा देते हुए, उनका परित्याग करते हैं। ब्रह्मचर्य और साधना के कठिन मार्ग पर चलने के लिए सहचारिणी बना लेते हैं। प्रभव राजकुमार पांच सौ चोरों का सरदार इस काव्य का खलनायक है। वह जम्बूकुमार की त्यागवृत्ति से प्रभावित होकर प्रव्रज्या स्वीकार कर लेता है। भौतिक सुख तथा गृहस्थ जीवन में प्रवेश किये बिना ही, दोनों राजकुमार (प्रभव तथा जम्मबूकुमार) संन्यास ग्रहण कर लेते हैं। मानस को प्रेरणा देने वाले अनेक उद्‌बोधक तथा सजीव वर्णन अर्थ और काम की आसक्ति मूलक लता के लिए उद्वेजक आंधी सरीखे हैं।

कथावस्तु की श्रेष्ठता, रचना चातुर्य, सरस तथा सरल शब्दावली, सुन्दर भावाभिव्यक्ति सभी पाठक को बरबस काव्य को आद्योपान्त पढ़ने के लिए आकृष्ट करते हैं। कहीं-कहीं कल्पनाओं का शाब्दिक गुम्फन तथा वर्णन-चातुर्य बाण की कादम्बरी जैसा प्रतीत होता है। भयातुर मनुष्य की दौड़ का दृश्य द्रष्टव्य है- "स्वसत्तया विस्मार्यमाण इव, द्विपादपि सहस्रपादिवारार्यमाणः, भूमिं स्पृशन्नपि विहायसोड्डीयमान इव, अग्रे किमस्तीत्यनालोकमानः. .... बिभ्राणे कूपे बालैः क्रीडाकाष्ठेणाहतो गेन्दुक इव पतनोन्मुखो बभूव।"

अभिनिष्क्रमणम् - यह सत्रह उच्छ्वासों में विभक्त नैतिक मूल्यों पर आधारित एक ऐतिहासिक गद्यकाव्य है, जो तेरापंथ के आद्यप्रवर्तक आचार्य भिक्षु के जन्म से लेकर स्थानकवासी सम्प्रदाय से अलग होने तक के इतिवृत्त का सजीव चित्रण प्रस्तुत करता है।

अभिनिष्क्रमणम् का साधारण अर्थ है-बाहर निकलना, किन्तु दार्शनिक एवं धार्मिक दृष्टि से इसका अर्थ है-प्रव्रज्या में बाधक घर को त्यागकर, सत्यान्वेषण की ओर निकल पड़ना। आचार्य भिक्षु ने अध्यात्म को आत्मसात् करने के लिए एक विशेष परम्परा से

अभिनिष्क्रमण किया था। उनके समीप, उस आत्मयोद्धा के साथ क्या-क्या घटित हुआ इसी विषयवस्तु पर आधृत यह काव्य है। स्थानकवासी सम्प्रदाय के अनुसार जैन श्रावक को उपाश्रय बनाकर रहने की आज्ञा थी। गृहस्थ जीवन में ही वैरागी और सांसारिकता से अलिप्त रहने की प्रेरणा उसके पीछे कार्य कर रही थी। समय के अन्तराल में श्रावकों में प्रविष्ट भौतिकता तथा अर्थलोलुपता के कारण श्री भिक्षु ने इसका विरोध किया तथा तेरह साधुओं को साथ लेकर तेरापंथ की स्थापना की। अभिनिष्क्रमण काव्य यथार्थ घटनाओं एवं परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराने वाला, सत्य और विशुद्धाचरण की तर्कसम्मत व्याख्या है। ग्रन्थ में वर्णित घटनाक्रम साम्प्रदायिक वातावरण से सम्बद्ध है तथा प्रसंगवश अप्रिय घटनाओं का भी वर्णन है। यह ग्रन्थ श्वेताम्बर जैन साधु एवं तेरापंथ साधुओं के जीवन की झांकी प्रस्तुत करता है।

कथावस्तु की दृष्टि से अभिनिष्क्रमण काव्य यद्यपि जीवन के अधिकाधिक पक्षों का स्पर्श करता है, किन्तु पारम्परिक महाकाव्य के लक्षण में अपने को न बाँधता हुआ विशिष्ट यथार्थ घटनाओं तथा भावनाओं का ही संकेत करता है। स्थान-स्थान पर सूक्तियों का प्रयोग तथा उपदेशों का सुन्दर विवेचन चित्ताकर्षक है-"प्रत्येकवस्तु का मूल्य अवसर पर है। बिना समय हर चीज विष बन जाती है-"हन्त, अनवसरेऽमृतमपि विषायते। विषमप्यवसरप्रयुक्तममृतमतिरिच्यत् सेवते सार्वभौमानां मञ्जुलमुकुटानि"।

सत्य के प्रति कवि की अडिग आस्था है। उसके विषय में अपना अभिमत व्यक्त करते हुए बारहवें समुच्छ्वास में कवि कहते हैं "सत्यमेव सत्यम्, सत्यमेव शिवम्, सत्यमेव च सुन्दरमिति समन्तात् सर्वेऽपि विदुषां वरीयांसो विदन्ति निगदन्ति च। तथापि सरलमपि तदनुशीलनं कर्तुं न शक्यते मनुष्यः।"

काव्य में भावपक्ष तथा कलापक्ष का सुन्दर समन्वय है। भावों के अनुरूप ही अर्थगाम्भीर्य समन्वित सूक्तियां तथा उपदेश हैं। कवि ने मूल जैन सिद्धान्त, आचार-व्यवहार, प्रकृति ऋतु तथा मनोभाव आदि का सुन्दर विवेचन किया है। वसन्त का वर्णन करते हुए चौदहवें समुच्छ्वास में कवि ने कहा है - "मन्दं मन्दं वहमानेन मधुमासपवनेन माधुर्यणैव सिक्तः सर्वोऽपि जीवलोकः। अप्राप्तवर्षापि वनराजिः केवलं चैत्रिकश्वसनेनानुप्राणिता कृतकायकल्पेव स्वजीर्णशीर्णान् अवयवान् पृथक्कृत्वा नवपल्लववती पुष्पवती....."।

धर्म की उत्पत्ति व्रतसंयम से होती है। कवि ने इसकी व्याख्या अतिसुन्दर प्रस्तुत की है - "तथा व्रतेष्वेव धर्मो नाऽव्रतेषु। दयायामेव धर्मो न हिंसायाम्। पटुनोपदेशेन हृदयपरिवर्तनमेव धर्मः न च बलप्रयोगेण। आत्मजन्यो हि धर्मो न पुनः स्वर्णरूप्यकादिद्रव्यजन्यः। एते खलु सार्वजनीनाः सिद्धान्ताः वर्तन्ते"।

ग्रन्थ की भाषा आलंकारिक है। अनुप्रास, यमक, श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का सौन्दर्य सर्वत्र विद्यमान है। प्रकृतिचित्रण प्रौढ है। वर्णनात्मकता, कल्पना, अतिशयोक्ति संकुल यह काव्य चंदनमुनि को बीसवीं शती के संस्कृत कवियों की परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान कर रहा है।

ज्योतिःस्फुलिङ्गाः-यह गद्यात्मक भावप्रधान कृति है। इसमें कवि ने अपने हृदयस्थ मूलभावों को सहजरूप से छोटे-छोटे ५७ निबन्धात्मक गद्यखण्डों में प्रस्तुत किया है। हितोपदेश की भाषाशैली को अपनाकर लिखा गया, स्फुलिङ्ग रूप में जीवन के विविध पक्षों को प्रस्तुत करता हुआ यह ग्रन्थ विद्यार्थी वर्ग के लिए अतिशय उपयोगी है। सत्कर्म, सच्चा तथा सद्व्यवहार की आधारभूमि पर यह भावाभिव्यंजना जीवन लक्ष्य को प्राप्त कराने में बुढ़ापे की लकड़ी सरीखी है-बड़ों को भी मनन एवं चिन्तन प्रदान करती है। भाषा व्याकरण तथा कोश ग्रन्थ पर मुनिश्री का असाधारण अधिकार ग्रन्थ में सर्वत्र परिलक्षित है। स्फुलिंग प्रकाश साथ-साथ मनोरंजन प्रदान करते हैं, ये निबन्ध विद्यार्थियों का चरित्रनिर्माण भी करते हैं, स्फुर्तिदायक भी है। उदाहरणस्वरूप-"अधुनैव विधत्स्व, ऊर्ध्वगामी भव, "उपर्युपरि पश्य, "सर्वत्र नहि स्वतंत्रता हितावहा, विषमपि पीयूषे परिणमय", "भूमा वै सुखम्, अल्पता च दुखम्", "समय एव करोति बलाबलम्", "उदासीना हि साधवः", "क्षमस्व" "वर्तमानं मोपेक्षस्व", "पूर्वं जानीहि पश्चादाचर", "प्रेम, बाङ्माधुर्यम्", "नित्यं नवीनो भव" आदि। ग्रन्थ में भाषा श्रुतिमधुर है। शब्द सौष्ठव तथा अर्थगाम्भीर्य है।

उपदेशामृतम्-सोलह चरणों में विभक्त उपदेशामृतम् अनुष्टुप्, छन्द में विरचित उपदेश काव्य है। इसमें जीवन के विविध पक्षों की व्याख्या, वर्णन तथा सद्दिशा निर्देश जो जीवन के विकास के लिए आवश्यक है-वर्णित है। इसके प्रथम चषक में जीवन में आने वाले उतार-चढ़ाव में धैर्य रखने तथा न धबराने की शिक्षा दी गयी है। दूसरे चषक में मानव का मानव के साथ सम्बन्ध व्याख्यायित है। मानवमन की कमजोरी तथा मानसिक रोगों जैसे मिथ्यात्व, अविरिति, क्रोध, गर्व, दम्भ, लोभ आदि की व्याख्या की गयी है। मृत्यु की समस्या को पन्द्रहवें चषक में वर्णित किया गया है। नैतिक शिक्षा के लिए यह ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण है। उपदेश की अनेक विधाएं सीधे-सीधे उपदेश देना, अप्रस्तुत रूप से दूसरे के माध्यम से उपदेश देना, व्यंग्य रूप से शिक्षा देना आदि इसमें प्रयुक्त हैं। इसमें पांच आश्रव, चार कषायों, पांच इन्द्रियों के विषयों आदि का स्वरूपवर्णन तथा इनके प्रतिकार की विधियों का साङ्गोपाङ्ग निरूपण, दार्शनिक गहनता, व्यवहारिक धरातल के श्लोक, अनुभवसिद्ध तथ्य इन सभी का सम्यक् विवेचन है। इसमें चरित्रकाव्य जैसी सरसता है। सम्यक् दर्शन के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कवि कहते हैं कि हेय, ज्ञेय तथा उपादेय का विवेक होना ही सम्यग्दर्शन है-

गरलं गरलं वेत्ति सुधा वेत्ति सुधा तथा।
रागद्वेषनिरोधित्वात् समदर्शी निगद्यते।।

मौलिक रचनाधर्मिता का परिचय देते हुए वाणी के छः दूषणों का वर्णन अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। जिह्वा पर ही विष तथा अमृत का वास होता है-

उच्चैर्जल्पोऽतिजल्पो वा कटुजल्पोऽनृतं वचः।
मध्ये साक्षेपजल्पश्च जल्पने दूषणानि षट्॥

जीवन में कष्ट सहे बिना कोई उपलब्धि नहीं हो सकती-

न लब्धो जीवनानन्दो वास्तविकोऽतिसुन्दरः।
न सोढा येन हन्तात्र काचित् कृच्छ्रपरम्परा॥

गीता के कर्मयोग को मुखर करने वाला श्लोक है-

गौणीकृत्य सुखं दुःखं कुरु कर्तव्यमन्वहम्।
कर्तव्ये भन्यता ह्यास्ते न हि जीवनपूरणे॥

सांसारिक दुःखों, क्लेशों, तनावों से मुक्त होने की सरलविधि बताते हुए चन्दनमुनि कहते हैं -

यथा बलवती तृष्णा तथा क्लेशपरम्पराः।
क्लेशाः शेषाः स्वयं जातास्तृष्णा निःशेषिता यदा॥

इसी प्रकार दानवीरों पर व्यंग्य है -

भूरि पापार्जितं वित्तं किञ्चित् तत्र ददाति यः।
स एव दानवीरस्य पदवीं विन्दतेतराम्॥

वर्द्धमानशिक्षासप्तशती-श्रमण भगवान् महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव के शुभावसर पर यह निर्मित हुई। महावीर स्वामी के विश्वकल्याणकारी आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक उपदेश ही इस ग्रन्थ का विषय है। प्रस्तुत कृति में सात सौ शिक्षा पद हैं, इसी कारण इसका नाम शिक्षा-सप्तशती है। पूर्वपीठिका तथा प्रशस्ति को मिलाकर कुल ७४२ श्लोक हैं। श्रीजम्बू एवं सुधर्मा के प्रश्नोत्तरों के रूप में महावीर की शिक्षा को स्थायित्व पूर्वक प्रसारित किया गया है। भगवान् महावीर के निर्वाण के अनन्तर आर्य सुधर्मा उनके उत्तराधिकारी संघनायक हुए। जम्बू उनके प्रमुख शिष्य थे। जम्बू के प्रश्न करने पर सुधर्मा स्वयं अपनी ओर से कुछ न कहकर, महावीर के शब्दों में, महावीर की वाणी को उद्धृत करते हुए उन्हें उत्तर देते थे। प्रस्तुत ग्रन्थ में वक्तृबोद्धव्यता का यही क्रम है। चंदनमुनि ने महावीर द्वारा प्रतिपादित जैनदर्शन के विचार-विभाग तथा आचार-विभाग को बहुत ही सुन्दर तथा समीचीन रूप में सरलतम संस्कृत भाषा में प्रस्तुत किया है। विषयवस्तु को प्रश्नोत्तर शैली के माध्यम से सत्तर भागों में विभक्त कर तथा मंगलदशकम् एवं ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिः को लेकर बहत्तर भागों में विभक्त किया है। सभी खण्डों का विषय के आधार पर नामकरण है, जैसे धर्म-स्वरूपत्रयोदशकम्, कर्मबीजनवकम्, परिग्रहस्वरूपवर्णननवकम्,

विनीतव्याख्याद्वादशकम्, गुरुलघुत्वषट्कम्, षड्द्रव्याष्टकम्, दण्डत्रयषट्कम्, भावचतुष्टयसप्तकम्, सप्तभयषट्कम्, गोलकचतुष्टयपञ्चकम् आदि।

त्याग के यथार्थ स्वरूप तथा उसके नाम पर पनपने वाली प्रवंचना और विडम्बना का भेद अतिशय प्रेरक है। चंदनमुनि कहते हैं-

अलब्धभक्ष्यस्य किमूपवासैः, किं ब्रह्मचर्येण जरार्दितस्य।
मौनेन किं वक्तुमशक्तिभाजस्त्यागो न तादृक्षु महत्त्वमेति।।
(त्यागित्याख्यानषट्कम्)

अर्थात् भोजन का अभाव ही उपवास नहीं है। उपवास तो आत्मा की स्वोन्मुख पवित्र दशा है। उप-समीपे-आत्मनः समीपे वास-निवास-अवस्थिति सधती है। इसी प्रकार आसक्ति को छोड़े बिना बाह्य त्याग एक प्रकार से आत्मप्रवंचना ही है-

आसक्तिमन्तःपरिसर्पिणी हा, यावन्न चान्तःकरणं जहाति।
त्यागेन किं तेन बहिर्भवेन, स्ववञ्चनं वेति जिनैरभाणि।।
(त्यागिव्याख्यानषट्कम्)

जैनदर्शन ने ज्ञानेन्द्रियाभ्यां मोक्षः के रूप में ज्ञान और क्रिया दोनों का समन्वय स्वीकार किया है। ज्ञानपूर्वक कर्म करने से ही वास्तविक उपलब्धि है। ग्रन्थकार बड़ी ही सहजबोधगम्य शैली में कहते हैं-

किं भक्ष्यबोधादुदरस्य पूर्तिः किं यानघोषात्तुरगोपलब्धिः।
कृत्यार्पितं कर्म इहोपयोगि क्रियाहतं ज्ञानमनर्थकारि।।
(ज्ञानक्रियानवकम्-श्लोक ७)

इसी प्रकार कर्मवाद, जातीयप्रपञ्च, मिथ्यात्व, अहिंसा, धर्म की सतत उपासना, आत्मपर्यालोचन-प्रायः सभी विषयों पर महावीर स्वामी के उपदेश को, सुधर्मा के उत्तर के रूप में लेखनी चलायी है। धर्म का माहात्म्य उसकी गरिमा में प्रेरक शब्दों का प्रयोग-

धर्म एव गतितुल्यः स हि प्रतिष्ठा च दुःखमग्नानाम्।
धर्म एव शरणं ध्रुवमनाश्रयाणां प्रकृष्टतमम्।।

ग्रन्थ के अन्त में आगमों के सुभाषितों को सुन्दर तथा प्राञ्जल रूप में प्रस्तुत किया है-

यथां द्विरेफो रसमापिबन् सन् पुष्पाणि न क्लामयति द्रुमस्य।
प्रीणाति चात्मानमसौ तथैव गृह्णन् मुनिर्माधुकरीं जनेभ्यः।।
(आगमसुभाषितानि)

चन्दनमुनि ने प्रस्तुत रचना में अनुष्ट्प् तथा आर्या का प्रयोजन किया है। कहीं-कहीं शालिनी, मालिनी, शिखरिणी, उपजाति, शर्दूलविक्रीडित भी प्रयुक्त हैं। भगवद्गीता की तरह उपदेश शैली तथा सहजबोधगम्यता इस ग्रन्थ को चिरस्थायिनी कीर्ति प्रदान करने में समर्थ होगी।

प्रास्ताविकश्लोकशतकम् : यह पुस्तक नैतिक, धार्मिक आचरणपरक तथा औपदेशिक संस्कृत सुभाषित पद्यों का संग्रह है। नीतिशतक, वैराग्यशतक आदि प्राचीन शतककाव्यों के अनुरूप ही प्राञ्जल, सरल और सुबोध भाषा और शैली है। इसमें कवि की आत्मसाधना तथा साहित्यसाधना दोनों ही परिलक्षित होती हैं। मनुष्य जीवन में सद्धर्म के प्रभाव से ही इष्ट फल की प्राप्ति करता है। धर्म का आन्तरिक पक्ष व्यक्त करते हुए वे कहते हैं-

दानं मानविसंस्थुलं पुनरपि क्रोधग्निदीप्तं तपो,
विद्योत्सेकवती तथा प्रतिफलप्रेक्षिण्युपास्तिर्नृणाम्।

धर्मो दम्भसमन्वितः परमनःपीडाकरी च क्रिया,
पापायैव भवन्ति धार्मिकधिया साधारणैः प्रेक्षिताः।।

मान से ग्रस्त दान, क्रोध की आग को प्रदीप्त करने वाला तप, अहंकार को बढ़ाने वाली विद्या, प्रतिफल चाहने वाली सेवा, दम्भयुक्त धर्म तथा दूसरों के मन को कष्ट देने वाली क्रिया ये सभी मूर्खों के द्वारा धर्म की दृष्टि से देखे जाते हैं। वस्तुतः ये सभी पाप के लिए ही होते हैं।

कृष्ण वर्ण तथा गौरवर्ण के आधार पर सामाजिक वैषम्य एक कलंक है। गुणों का ही आदर होना चाहिए। वर्ण का नहीं-

कस्तूरी कृष्णापि हि भूरिगुणा मूर्तिमाप्नोति।
क्षणरागा च हरिद्रा मूल्यप्राप्तौ दरिद्राति।।

अर्थात् हल्दी क्षणिक रंग वाली स्वर्णाभ होने पर भी अल्पमूल्य वाली ही होती है जब कि कस्तूरी गुणों के आतिशय्य के कारण काली भी अतिशय मूल्यवती होती है। सहिष्णुता जीवन का बहुत बड़ा पक्ष है तथा स्थायी उन्नति का आधार है। जीवन का सबसे प्रमुख आधार मानव की विचार धारा है, 'यादृशी दृष्टिः तादृशी सृष्टिः।' अतिशय सरल तथा सारगर्भित शब्दों में चन्दनमुनि कहते हैं-

समीभूता दृष्टिः कुटिलमपि साम्ये परिणयेत्
तथा वक्रा दृष्टिः सरलमपि जानाति कुटिलम्।
न वस्तु स्वाभाव्यात् किमपि सरलं वाऽथ कुटिलं-
विचाराणां छाया विरचयति रूपं स्वसदृशम्।।

समदृष्टि कुटिल को भी समरूप में परिणत कर देती है। वक्र दृष्टि सरल को वक्र बना देती है। मनुष्य के विचारों की छाया ही उसे अपने सदृश बना लेती है।

इस प्रकार सम्पूर्ण शतक विविध उपयोगी विषयों पर भावपूर्ण अभिव्यक्तियों का गुम्फन है।

अनुभवशतकम्-प्रास्ताविकश्लोकशतकम् की तरह चंदनमुनि की यह भी जनजीवन को समार्ग पर चलने की शिक्षा देने वाली पद्यबद्ध रचना हैं, जिसमें उन्होंने प्राञ्जल, सरल एवं सुबोध संस्कृत में अपने अध्ययनलब्ध तथा अनुभवलब्ध तथ्यों को उन्मुक्त रूप में व्यक्त किया है।

संवरसुधा : यह बीस सरल गीतिकाओं से युक्त गेय काव्य है जिसमें गीतगोविन्द तथा जैनों में प्रचलित शान्तसुधारस की गेयता है। जैनदर्शन में वर्णित संवरतत्त्व पर गीतिकायें संस्कृत भाषा में निबद्ध हैं।

चंदन मुनि की अन्य रचनाओं में वैराग्य से सम्बद्ध सत्तर श्लोकों का संग्रह वैराग्यैकसप्ततिः तथा ज्ञान से सम्बद्ध पचपन श्लोकों का संग्रह प्रबोधपञ्चपञ्चाशिका हैं। आत्माभिव्यक्ति से सम्बद्ध है आत्मभावद्वात्रिंशिका बत्तीस पद्यों का संग्रह तथा जीवन यात्रा में संलग्न चिन्तामग्न मानवमात्र के लिए लिखा गया पचास पद्यों का संकलन है-"पथिकपञ्चदशकम्"। अन्ततः, मानवमात्र के कल्याण के लिए तथा आत्मोत्कर्ष हेतु देववाणी संस्कृत में लिखी गयी चंदनमुनि की समस्त रचनायें साहित्य क्या आधुनिक संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में अमूल्य अवदान हैं।

पन्नालाल साहित्याचार्य (जन्म-१९११) : पन्नालाल आचार्य ने जैन दृष्टि का अवलम्बन लेकर संस्कृत काव्य के उन सभी अंगों का सम्वर्धन किया है, जिससे भगवती वाग्देवी का अक्षय भण्डार और अधिक समृद्ध हुआ है। ५ मार्च १९११ को पारगुवाँ में जन्म प्राप्त पन्नालाल जी की श्रुतसेवा श्लाध्य है। आपने मौलिक ग्रन्धों के रूप में सर्वाधिक लेखन कार्य किया। साथ ही विशाल पुराणों का सम्पादन, ग्रन्थों की टीकायें, ८ स्मृति ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य भी किया। पन्नालाल जी का पारिवारिक वातावरण धार्मिक तथा सम्पूर्णजीवन अध्ययनरत है। आप अखिलभारतीय जैनविद्वत्परिषद के हृदय स्वरूप हैं।

पन्नालाल साहित्याचार्य जी के मोक्षप्रतिपादक दार्शनिक ग्रन्थ चिन्तामणित्रय नाम से प्रसिद्ध हैं- सम्यक्त्वचिन्तामणि, सज्ज्ञानचन्द्रिका तथा सम्यग्चारित्रचिन्तामणि। स्फुट रचनाओं में स्तुत्यात्मक रचनायें हैं- जिनमें पंचश्लोकात्मक महावीरस्तवनम्, दस श्लोंकों से युक्त महावीरस्तोत्रम् हैं। इनमें महावीर के गुणों की स्तुति है। बाहुबल्यष्टकम् के आठ श्लोकों में भगवान् बाहुबली आस्था के केन्द्र हैं। श्रीगणेशप्रसादवर्णीस्फुटरचना स्मृतिग्रन्थ में प्रकाशित पूज्य वर्णीजी की संक्षिप्त जीवन झांकी है। पूज्यवर्णी जी पन्नालाल जी के गुरु थे। धर्मसागरस्तुतिः में आठ श्लोकों में धर्मसागर के प्रति श्रद्धाभाव व्यक्त है। वृत्तहार तीस छन्दों की माला स्वरूप अन्वर्य अभिधान वाली यह रचना गुरु गोपालदास वरैया की संस्तुति

है। इसके साथ ही धर्म कुसुमोद्यान तथा सामयिकपाठ नीतिविषयक ग्रन्थ है। प्रमुख ग्रन्थों का परिचय प्रस्तुत है-

चिन्तामणित्रय : सम्यक्त्वचिन्तामणि-यह जैन दर्शन का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। यह धर्म, दर्शन तथा ज्ञान का कोश सदृश है। प्रस्तुत ग्रन्थ दस मयूखों में निबद्ध तथा १८१६ श्लोकों से संवलित सर्वथा मौलिक है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषयों में मुख्यरूप से सम्यक्दर्शन के विषयभूत सात तत्त्वों का निरूपण है तथा जीवन के भेदों, संसारी जीव के पंचपरावर्तनों, चौदह गुण स्थानों, चौदह मार्गणाओं, असंख्यात द्वीप समूहों, छह द्रव्यों, आस्रव के कारणों, कर्म के भेदप्रभेदों, प्रकृतिस्थित अनुभाग और प्रदेश, चारों भेदों, संवर के कारणों आदि का विवेचन समाविष्ट किया गया है। इसमें सत्प्रवृत्तियों, आधारभूत तत्त्वों तथा सम्यक्दर्शन का साङ्गोपाङ्ग विश्लेषण है। सरोवर में विद्यमान कमलपत्र के समान सम्यग्दृष्टि जीवन चारित्रमोह के उदय से गृहस्थाश्रम में रहकर भी उसमें लीन नहीं होता। ग्रन्थ के प्रथम मयूख में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति एवं माहात्म्य का वर्णन है। द्वितीय में जीवतत्त्व के स्वरूप एवं भेदों का विश्लेषण तथा तृतीय मयूख में गतिमार्गणा के द्वारा जीवतत्त्व का विशद विवेचन किया गया है। जीव की चार गति विख्यात हैं : नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति तथा देवगति। चतुर्थ मयूख में इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, आहार इत्यादि मार्गणाओं के द्वारा जीवतत्त्व का परिष्कृत विवेचन है। पंचम मयूख में चैतन्य रहित ज्ञान, दर्शन सुख वीर्य तथा सम्यक्त्वविहीन अजीवतत्त्व का सूक्ष्म निदर्शन है। अजीवतत्त्व के पांच भेद हैं- मुद्गल, धर्म अधर्म आकाश और काल, षष्ठ मयूख में बन्धनतत्त्व का निदर्शन है। आत्मा का कर्मों के साथ नीरक्षीरवत् एक क्षेत्रावगाह है। अष्टम मयूख में संवरतत्त्व का विस्तृत विवेचन है। नवम मयूख की निर्जरातत्त्व की व्याख्या से तथा दशम सम्यग्दर्शन के आधारभूत तत्त्व से सम्बद्ध है।

धर्मपरक इस दार्शनिक ग्रन्थ में शान्तरस का प्राधान्य है, किन्तु प्रसंगानुसार अन्य भयानक बीभत्स आदि रसों की भी अवस्थिति दर्शनीय है। प्रस्तुत रचना में दार्शनिक गम्भीर पाण्डित्य पूर्ण विषय सरल तथा रोचक शैली में प्रस्तुत है। मालिनी, शिखरिणी, स्रग्धारा, शार्दूलविक्रीडित, द्रुतविलम्बित आदि सभी प्रसिद्ध छन्दों में यह रचना गुम्फित है। शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का माणिकाञ्चन समन्वय है। सत्य के माहात्म्य-विवेचन के प्रसंग में आनुप्रासिक छटा दर्शनीय है-

सत्येन मुक्तिः सत्येन भुक्तिः स्वर्गेऽपि सत्येन पदप्रसक्तिः।
सत्यात्परं नास्ति यतः सुतत्त्वं सत्यं ततो नौमि सदा सभक्तिः।।

प्रश्नोत्तरशैली में विरचित प्रस्तुत ग्रन्थ में भावानुकूल परिष्कृत साहित्यिक संस्कृतभाषा तथा प्रसादपर्णू शैली है। सुकुमार वर्णों का प्रयोग तथा माधुर्य की छटा सर्वत्र विद्यमान है। दुर्बोध विषयों को सरल बनाने के लिए दृष्टान्तों तथा अन्योक्तियों का सहारा लिया गया है। जैन धर्म, दर्शन, सिद्धान्त को जन-जन तक पहुँचाने में समर्थ इस ग्रन्थ में वैदर्भी रीति के

साथ-साथ भावानुरूप संवादशैली, व्याख्यात्मक शैली, विवेचनात्मक शैली, दृष्टान्तशैली, समासशैली के दर्शन होते हैं।

सज्ज्ञानचन्द्रिका : दस प्रकाशों तथा ७६७ पद्यों में निबद्ध यह दार्शनिक रचना है। वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी से प्रकाशित इस ग्रन्थ में पंचपरमेष्ठियों का वर्णन, सम्यग्ज्ञान के सामान्य विशेष स्वरूप का विवेचन, उसके आठ अंग श्रुतज्ञान, मतिज्ञानादि का भेदप्रभेद सहित वर्णन है। चौंसठ ऋद्धियों तथा मोक्ष मतिज्ञानादि का भेद-प्रभेद सहित वर्णन है। चौंसठ ऋद्धियों तथा मोक्षसाधक शुक्ल, ध्यानादि का सम्यग्विवेचन है। भावानुरूप भाषा तथा सुकुमार शब्दों से युक्त माधुर्यगुण प्रसादगुण तथा वैदर्भी रीति की छटा है। सरस संवाद शैली से गम्भीर दार्शनिक विषय भी रोचक रूप में प्रस्तुत है। पन्नालाल जी ने इसमें धर्म, न्याय, साहित्य और व्याकरणादि विषयों का सामंजस्य किया है। प्रत्येक प्रकाश के प्रारम्भ में माङ्गलिक पद्यों की साहित्यिक छटा है-

दीपः किं नैव दीपो भ्रमति स नियतं क्षुद्रवायौ प्रणश्येत्
चन्द्रः किं नैव चन्द्रः किमिति स दिवसे दीनदीनो विभाति।
सूर्यः किं नास्ति सूर्यः किमिति स नियतं सायमस्तं प्रयाति,
त्वेवं ध्वस्तोपमानं जगति विजयते केवलज्ञानमेतत्।।

अर्थात् इस संसार में समस्त सूर्य, चन्द्र, दीप रूप उपमानों को ध्वस्त करने वाला केवल ज्ञान ही श्रेष्ठ है।

सम्यक्चारित्रचिन्तामणि : यह तेरह प्रकाशों में विभाजित तथा १०७२ श्लोकों से युक्त है। चारित्र की महिमा से जनसाधारण को अवगत करना ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य है। व्यवहार नय से, चरणानुयोग की पद्धति से मुनियों की जो हिंसादि पापों से निवृत्ति है, वही पृथ्वी पर चारित्र नाम से प्रसिद्ध है। इन्द्रियों का दास व्यक्ति दीक्षा नहीं ले सकता। जो व्यक्ति मोहनीय की सात प्रकृतियों को नष्ट कर, उपशमक्षय या क्षयोपशम कर, सम्यक् दर्शन प्राप्त कर लेता है, जो कर्मभूमि में उत्पन्न है, भव्यत्वभाव से युक्त है, तत्त्वज्ञान से युक्त है, संसारभ्रमण की सन्तति से भयभीत है तथा संक्लेशरहित है उसे ही चारित्र की प्राप्ति होती है। विषयानुरूप प्रत्येक प्रकाश का नामकरण है। जैसे चारित्रलब्धि अधिकार, पञ्चसमित्यधिकार, इन्द्रियविजयाधिकार, षडावश्यकाधिकार, पञ्चाचाराधिकार, ध्यानसामग्री, देशचारित्र्याधिकार, संयमासंयमलब्धिअधिकार आदि।

धर्मकुसुमोद्यान : इसमें धर्म रूपी कुसुम पुष्पित तथा पल्लवित है। धर्म के अहिंसा, सत्य अस्तेयादि दस भेदों को वर्णित किया गया है। यह १०६ पद्यों से युक्त नीतिविषयक लघुकाव्य है। मानव हृदय में विद्यमान अज्ञान को नष्ट करके, अपने कर्त्तव्य तथा आत्मा

का दर्शन कराना ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य है। प्राणियों को मोक्ष प्रदान करने वाला तत्त्व ही धर्म है।

सामयिकपाठ : तिहत्तर श्लोकों से युक्त यह लघु नीतिकाव्य है। इसमें कवि ने आत्मनिरीक्षण तथा आत्मोत्कर्ष और मोक्ष के लिए जिनेन्द्रदेव के प्रति आत्मनिवेदन किया है। व्यक्तिगत पापक्रिया-कलापों की आलोचना ही निर्जरा का कारण है। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर ग्रन्थ का प्रणयन हुआ है।

पन्नालाल आचार्य के समस्त ग्रन्थों में भाषा माधुर्यपूर्ण तथा प्रभावोत्पादक है। विचारों में व्यक्तित्व की छाप पग-पग पर है। सहज अर्थावगम्यता है। विषय के स्वाभाविक विकास में बाधा नहीं। मानव के उदात्त गुणों के प्रकर्ष को उसके अभ्युदय के योग्य बनाकर धार्मिकता का विन्यास करना यही कवि का उद्देश्य है। इस कारण विषय तथा भाव के अनुरूप दृष्टान्त, उपदेशात्मक, विवरणात्मक, तार्किक, विवेचनपरक तथा निवेदनपरक शैली का प्रयोग है। संगीतात्मकता तथा गेयता समन्वित वेदर्भी रीति की प्रधानता है। धर्मकुसुमोद्यान में मन के दस आदर्श भावों को धर्मरूप में प्रतिष्ठित किया गया है। सन्तोष के अमृत से तृप्त मानव के लिए त्रिलोकी का राज्य तृणवत् है। ऐसे व्यक्ति विपत्तियों में भी दुःखी नहीं होते। सरल बोधगम्य, प्रसादपूर्ण भाषा एवं शैली प्रत्येक धर्म-प्रेमी मानव को प्रभावित करती है।

आचार्य विद्यासागर : इनका जन्म दस अक्टूबर १९४६ शुक्लपक्ष की पूर्णिमा को सदलगा ग्राम (जिला वेलग्राम-कर्नाटक) में हुआ था। इनके पिता धर्मवत्सल मल्लप्पाजी तथा उनकी धर्मपत्नी जैन तीर्थ भट्टारक विद्याधर की समाधि के दर्शन प्रायः किया करते थे। अतः धार्मिक भावना से ओत-प्रोत दम्पती ने नवजात बालक के जन्म पर भट्टारक विद्याधर के नाम पर विद्याधर रखा। मात्र नौ वर्ष की अवस्था में ही वीतरागी, साधुओं की संगति के व्यसनी विद्यासागर ने आध्यात्मिक मार्ग पर चलने का संकल्प कर लिया था। अन्तःप्रेरणा से प्रेरित होकर आपने जयपुर (खानिया) स्थित आचार्य देशभूषण जी के समीप ब्रह्मचर्यव्रत अंगीकार कर लिया। कैशोर्य में ही योग की ओर उन्मुख हुए विद्यासागर ने ज्ञान की तीव्र पिपासा से अजमेर आकर मुनि आचार्य ज्ञानसागर के शिष्यत्व को ग्रहण किया तथा ज्ञानसागर जी से ही दीक्षा प्राप्त की। गुरु ज्ञानसागर का ज्ञानातिशय सुशिष्य विद्यासागर में प्रतिबिम्बित हुआ। १९७२ में मुनि विद्यासागर को आचार्य पद से विभूषित किया गया। आचार्य विद्यासागर ने पांच शतकों की रचना की- श्रमणशतकम्, भावनाशतकम् निरञ्जनशतकम्, परीषहजयशतकम्, सुनीतिशतकम्।

यह पञ्चशती के नाम से ज्ञानगंगा, ३० सदर बाजार, दिल्ली-६ से १९९१ में प्रकाशित हुई।

श्रमणशतकम् : आचार्य विद्यासागर प्रणीत "श्रमणशतकम्" आर्याछन्द में निबद्ध,

वैराग्यशतक की कोटि में आने वाला शतक ग्रन्थ है। इसमें दिगम्बर जैन श्रमणों की चर्या तथा विशेषताओं का रुचिर वर्णन है। मूलाचार के अनुसार श्रमण का अर्थ है-

श्रमणो मम इति प्रथमः द्वितीयः सर्वत्र संयतो ममेति।
सर्वं च व्युत्सृजामि च एतद् भणितं समासेन।।

अर्थात् जो तपस्या युक्त है (श्रमेण युक्तः श्रमणः) वही श्रमण है अथवा जो समत्वभाव से युक्त है वहीं श्रमण है। शतक का कथ्य दार्शनिक एवं आध्यात्मिक होते हुए भी श्रमणों तथा सहृदयों के लिए ऐसा रसायन है जिसका आस्वादन कर आत्मा के अमृत रूपी सरोवर में अवगाहन रूप आनन्द को पाया जा सकता है। क्षमादि दस धर्मों का पालन करने वाला महाश्रमण पापाभिमुख नहीं होता। समयसार ही सार पदार्थ है। मात्र बाहृय दिगम्बरत्व मोक्षधारण में कार्यकारी नहीं है। मोक्ष के लिए तो मनसा वाचा कर्मणा पवित्रता आवश्यक है।

भावनाशतकम् : मुनि विद्यासागर प्रणीत "भावनाशतकम्" भी आर्याछन्द में निबद्ध आध्यात्मिक काव्य है। जिन भावनाओं द्वारा तीर्थङ्कर प्रकृति का वन्ध होता है उन सोलह कारण भावनाओं का इसमें सरसता और कमनीयता के साथ यमकालंकार के माध्यम से वर्णन किया गया है। भावना का अर्थ है-ऐसा चिन्तन, जिसके द्वारा तीर्थङ्करत्व की भूमिका का निर्माण होता है। तीर्थङ्कर की व्युत्पत्ति है-तीर्थं हितशासनमागमं करोति सः तीर्थङ्करः। पुण्य की घनीभूत स्थिति है- तीर्थङ्करत्व। पुण्य की चरमावस्था ही तीर्थङ्करों में अभिव्यक्त होती है।

भावनाशतकम् में वर्णित षोडश कारण भावनायें हैं। दर्शनविशुद्धिः (निर्मलदृष्टिः), विनयसम्पन्नता (विनयावनतिः) वेगः शीलव्रतेष्वनतिचारः (सुशीलता), अभीक्ष्णज्ञानोपयोगः (निरन्तरज्ञानोपयोगः), संवेगः, दान (त्यागवृत्ति), तप (सत्तपः), साधुसमाधि (साधुसमाधि-सुधासाधनम्), वैयावृत्त्य, अर्हत् भक्ति, आचार्यभक्ति (आचार्यस्तुतिः), बहुश्रुतभक्ति (शिक्षागुरोः स्तुतिः), प्रवचनभक्ति (भगवद्भारतीभक्तिः), आवश्यकापरिहाणि (विमलावश्यकानि), मार्गप्रभावना (धर्मप्रभावना), प्रवचनवत्सलत्व।

विनयशीलता से मान का मर्दन होता है। संसार के दुःख ही वैराग्य की ओर उन्मुख करते हैं। प्रवचनवत्सलता से हृदय की क्रूरता समाप्त होती है तथा समत्व एवं समत्व का आगमन होता है। आत्मज्ञान ही वास्तविक सुख है तथा कैवल्य प्राप्ति का साधन है।

निरञ्जनशतकम् : यह द्रुतविलम्बित छन्द में रचित अमूर्त तत्त्व के प्रति स्तुतिसंवलित काव्य है। निरंजन शब्द का अर्थ है- वह आत्मा जो सभी प्रकार के अञ्जन (विकारों) से रहित है। निर्गतमञ्जनं यस्मात्। परमब्रह्मणि निरञ्जनं साम्यमुपैति दिव्यमिति श्रुतिः। चेतना की विशुद्धावस्था ही निरञ्जनत्व है। कवि का आराध्य मुक्त चेतना स्थान तथा काल की सीमा से निर्बन्ध और निर्द्वन्द्व है।

परीषहजयशतकम् : यह दिगम्बर जैन परम्परा में मान्य मुनियों के २२ परीषहों तथा उन पर द्रुतविलम्बित छन्द में निबद्ध यह शतक कथानक की दृष्टि से अत्यन्त दुरूह तथा नीरस है लेकिन माधुर्य और प्रसाद गुण के कारण, अध्यात्मरस का आस्वादन कराने वाला, अध्यात्म संघर्षों में अविचल रहने की प्रेरणा देता है।

परीषह का शाब्दिक अर्थ है- जिसको समग्रता से सहन किया जाये। मुनि जन २२ परीषहों को समग्रता से सहन करते हैं अतः ये परीषह कहलाते हैं। २२ परीषह हैं-क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभा-रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन।

सुनीतिशतकम् : यह आध्यात्मिक तथा दार्शनिक सुन्दर नीतियों का अनुपम संग्रह उपजाति छन्द में निबद्ध है। जीवन के दृष्टान्तों को उपमा, रूपक, यमक, दृष्टान्तादि के माध्यम से संजोकर, आत्म सम्बन्धी तथ्यों का पदों की सुकोमल शय्या तथा प्रसाद एवं माधुर्य गुण के प्रसार द्वारा व्यक्त किया गया है। सरलता एवं सुबोधता इस शतक की विशेषता है।

विद्यासागर जी के सभी शतकों के कथ्य का आधार अमूर्त है। श्रमणशतकम्, भावनाशतकम्, परीषहजयशतकम्-वैराग्यशतक हैं। निरञ्जजनशतकम्, अमूर्तोपासना से सम्बद्ध है ही। सुनीतिशतकम् में लौकिक नीतियों की अपेक्षा आध्यात्मिक एवं दार्शनिक नीतियों का ही वर्णन है। सभी शतकों का मुख्य रस शान्त है। पदलालित्य, माधुर्य की अतिशयता, प्रसादगुण का सर्वत्र प्रसार, यमकालंकार का विशेष प्रयोग होते हुए भी क्लिष्ट कल्पना का साहित्य है। अतः अनवरत रसानुभूति आपके शतकों की विशेषता है।

व्याकरणशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ : व्याकरणशास्त्र के क्षेत्र में भी जैन श्रमणपरम्परा अविच्छिन्न रही है। यह मान्य है कि सत्यप्रवाद नामक पूर्वग्रन्थ में "शब्दप्राभृत" नामक व्याकरण अन्तर्भूत था। भगवान् महावीर के समय अर्धमागधी प्राकृत का प्राधान्य था। मैत्रेय रक्षित द्वारा प्रणीत क्षपणक व्याकरण का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

जैन परम्परा में सर्वप्रथम विक्रम की छठी शती में आचार्य देवनन्दी, जिन्हें जिनेन्द्र भी कहा जाता है- ने "जैनेन्द्र व्याकरण" का प्रणयन किया। तत्पश्चात् विक्रम की नवीं शती में आचार्य पल्यकीर्ति ने शाकटायन व्याकरण की रचना की। तदनन्तर विक्रम की तेरहवीं शती में आचार्य हेमचन्द्र द्वारा "सिद्धहेमशब्दानुशासनम्" नामक ग्रन्थ प्रणीत हुआ। हेमचन्द्र के शासनकाल में ही मलयगिरि द्वारा "शब्दानुशासन" नामक अन्य ग्रन्थ भी लिखा गया। अनेक स्वतंत्र टीकाग्रन्थ तथा वृत्तियाँ भी लिखी गयीं।

विक्रम की बीसवीं शताब्दी में तेरापंथ धर्मसंघ के विद्वान् चौथमल्ल जी ने आचार्य कालूगणी की प्रेरणा से उनकी कल्पना को साकार करते हुए "भिक्षुशब्दानुशासन" तथा "कालूकौमुदी" संज्ञक दो व्याकरण ग्रन्थों की रचना की। चौथमल्ल जी ने अपने गुरु कालुगणी की सरल, सुबोध संस्कृतव्याकरण ग्रन्थ निर्माण की कल्पना को साकार रूप प्रदान

किया तथा तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक भिक्षुगणी के नाम पर "भिक्षुशब्दानुशासन" नामक व्याकरण ग्रन्थ निर्मित किया।

मुनि श्री चौथमल्ल जी का जन्म साहित्य, कला और संस्कृति के महान् केन्द्र मालव प्रदेश के जावद नामक शहर में सं. १६५० (१८६३ ई.) में हुआ था। पारिवारिक वातावरण के धर्मनिष्ठ होने के कारण, बाल्यावस्था से ही उनमें धर्मनिष्ठा, तत्त्वज्ञानरुचि तथा अडिग निश्चय होने के कारण सं. १६६५ (१६०८ ई.) में राजस्थान में चौथमल्ल जी का दीक्षासंस्कार हुआ। इन्होंने जैन आगमों के अतिरिक्त साहित्य, न्याय, दर्शन, व्याकरण, कोश आदि विविध विषयों का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन किया। अपने गुरु कालुगणी के सान्निध्य में वे निरन्तर जैनधर्म, आचारसंहिता के पालन, उपदेश तथा प्रचार में संलग्न रहे। मुनिश्री का जीवन सौम्यता, सरलता तथा भद्रता का साकार निदर्शन है। प्रौढ़ विद्वान् श्रद्धा परायण गुरुसेवी अध्यात्मप्रेरक सन्त होने के साथ-साथ उत्कृष्टवक्ता, कुशल लेखक तथा उत्तम पत्रकार थे। चौथमल्ल जी ने सं. २००२ (१६४७ ई.) में अपने पार्थिव शरीर को छोड़ दिया।

"भिक्षुशब्दानुशासन" अष्टाध्यायी की तरह आठ अध्यायों में विभक्त है तथा प्रत्येक अध्याय के अन्तर्गत चार-चार चरण हैं। इस प्रकार ३२ चरणों में ३७४६ सूत्र हैं। भिक्षुशब्दानुशासन की बृहद्वृत्ति का निर्माण पं. रघुनन्दनशर्मा आयुर्वेदाचार्य ने किया है तथा लघुवृत्ति अनेक मुनियों के द्वारा लिखी गयी। भिक्षुशब्दानुशासन धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ, लिंगानुशासन तथा स्वतंत्रन्यायदर्पण से समलंकृत है तथा पञ्चपाठिव्याकरण की प्रशस्त परम्परा का उद्वाहक है। सर्वाङ्गसम्पन्न इस व्याकरण ग्रन्थ में सूत्रों का क्रम सारस्वत तथा सिद्धान्तचन्द्रिका के अनुसार ही है। यह ग्रन्थ नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, सन्धि आदि का प्रौढ विवेचन प्रस्तुत करता है। इसके साथ ही सरल शैली में नये सूत्रों की रचना तथा नयी-नयी धातुओं की परिकल्पना इसका वैशिष्ट्य है। इस ग्रन्थ में पाणिनि व्याकरण से भिक्षुशब्दानुशासन पर्यन्त शब्द की विकास-परम्परा को भी प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ पर सर्वाधिक प्रभाव हेमचन्द्र प्रणीत सिद्धहेमशब्दानुशासन ग्रन्थ का प्रतीत होता है। हेमशब्दानुशासन में वाक्य की सर्वाङ्गपूर्ण व्याख्या है-"सविशेषणमाख्यातं वाक्यम्" (१/१/२६), भिक्षुशब्दानुशासन में भी यही व्याख्या स्वीकृत है "सविशेषणमेवाख्यातं वाक्यम्" (१/१/३०) इसी प्रकार दोनों ग्रन्थों में "ओऽम्" तथा "अर्हत्" की सदृशव्याख्या तथा अन्यत्र समान सूत्रों का प्रयोग है।

पाणिनिव्याकरण के प्रत्याहार के लिए स्वीकृत चौदह माहेश्वर सूत्रों की अपेक्षा भिक्षुशब्दानुशासन में अनुबन्ध रहित एक ही सूत्र है। यद्यपि भिक्षुशब्दानुशासन में वैज्ञानिकता का अभाव है, किन्तु प्रक्रिया लाघव तथा सरलता सर्वत्र है। उदाहरण स्वरूप समास प्रक्रिया की सरलता द्रष्टव्य है- प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया (३/१/६२) अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया"

(३/१/६३), पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या (३/१/२६) आदि।

"कालुकौमुदी" श्री चौथमल्ल जी द्वारा लिखित दूसरा व्याकरण ग्रन्थ है जो जिज्ञासु नवविद्यार्थियों के लिए संक्षिप्त प्रक्रिया के रूप में सिद्धान्तकौमुदी के आधार पर सूत्रों का संयोजन है। इस ग्रन्थ के पूर्वार्ध में दस प्रकरण हैं- संज्ञाप्रकरण, संधिप्रकरण, स्वादिप्रकरण, अस्मद्युष्मत्प्रकरण, अव्ययप्रकरण, स्त्रीप्रत्ययप्रकरण, कारकप्रकरण, समासप्रकरण, तद्धितप्रकरण, द्विरुक्तप्रक्रियाप्रकरण। उत्तरार्ध में आख्यात तथा कृदन्तप्रकरण हैं। इस प्रकार कालुकौमुदी संक्षिप्त किन्तु अपने आप में परिपूर्ण व्याकरण है। जैन मुनियों द्वारा प्रणीत ये दोनों ही ग्रन्थ संस्कृतसाहित्य की अमूल्य निधि हैं।

जैन आर्यिकायें : जैन साधुओं तथा मनीषियों की तरह जैन आर्यिकाओं ने भी संस्कृत साहित्य को महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान किया है। आर्यिका सुपार्श्व माताजी, आर्यिका ज्ञानमती, आर्यिका जिनभक्ति की दार्शनिक तथा स्तोत्रात्मक रचनायें संस्कृत का गौरव हैं। प्रमुख आर्यिकाओं का परिचयात्मक विवेचन प्रस्तुत है।

आर्यिका सुपार्श्वमाताजी (१६२५ ई.) सुपार्श्वमाताजी का जन्म राजस्थान के नागौर जिले में हुआ था। माता-पिता की लाड़ली 'भवरी' गार्हस्थिक सुखों से वंचित रहीं। बालवैधत्य की स्थिति में माता जी ने धर्म की शरण ली तथा अजितसागर के सहयोग से मनःशान्ति के लिए विद्याध्ययन करते हुए १६५७ ई. में आर्यिका दीक्षा ली तथा 'भवरी' से आर्यिका सुपार्श्वमती हो गयीं। आपने हिन्दी, संस्कृत में अनेक रचनायें लिखीं, संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों का सम्पादन तथा अनुवाद भी किया। सुपार्श्वमती-माता जी की प्रथम रचना पञ्चश्लोकात्मक महावीरकीर्ति, महावीरस्मृतिग्रन्थ में प्रकाशित हैं। इसमें दीक्षागुरु विमलसागर को नमन तथा विद्यागुरु आचार्य महावीरकीर्ति की संस्तुति है। द्वादश पद्यात्मक जयमाला में अजितसागर के बाह्य तथा अन्तरंग व्यक्तित्व का सूक्ष्म विवेचन है।

वन्देऽहं इन्दुमातरम्- नौ श्लोकों से युक्त तथा इन्दुमतीस्मृतिग्रन्थ में प्रकाशित स्फुट रचना में इन्दुमती का परिचय तथा इन्दुमती की आर्यिका दीक्षा आदि की तिथियों का उल्लेख है। शिवसागर स्मृतिग्रन्थ में प्रकाशित अष्टश्लोकात्मक रचना शिवसागर के प्रति श्रद्धाञ्जलि है। इसी प्रकार आचार्य चन्द्रसागरस्मृतिः अष्ट श्लोकों से युक्त, षट्श्लोकात्मक शिवसागर स्तोत्र, द्वादश श्लोकों से युक्त संस्कृतपूजा अजितसागर पर पुष्पाञ्जलि स्वरूप स्फुट रचना है। माताजी की स्तोत्रमयी रचनाओं में मुनियों के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित हैं। आद्योपान्त शान्तरस का सौन्दर्य है। छन्दों का वैविध्य तथा अनुप्रास, यमकादि शब्दमूलक अलंकारों का तथा उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अर्थमूलक अलंकारों की छटा है। वर्णनशैली आह्लादक है, पदलालित्य तथा रचना में प्रवाह है।

आर्यिका ज्ञानमती : बीसवीं शती की विदुषी, रचयित्री तथा साध्वी हैं (जन्म १६३४ ई.), टिकैतनगर बाराबंकी के अग्रवाल परिवार में जन्मी तथा मैना नाम से बचपन व्यतीत करने के अनन्तर आर्यिका ज्ञानमती ने १६ वर्ष की अवस्था में आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत ग्रहण किया। क्षुल्लक दीक्षा तथा आर्यिका दीक्षा लेने के बाद ज्ञानमती नाम से विख्यात

आपने जैनसाहित्य की अपूर्व सेवा की। संस्कृत में स्फुट रचनायें स्तुति रूप ही हैं, जिनमें प्रसिद्ध हैं-अष्टश्लोकात्मकशान्तिसागरस्तुति, एकादशपद्यात्मक शिवसागरस्तुति तथा महावीरकीर्त्याचार्यस्तुति। महावीरस्तुति में भुजंगप्रयात छन्द में महावीरकीर्ति को अन्तरंग-बहिरंग परिग्रहों से रहित, करुणा का सागर निरूपित किया गया है। वे पंचपरमेष्ठियों में राग होने से रागी तथा इन्द्रिय विषयों में राग न होने से विरागी निरूपित हैं। अपने दीक्षा गुरु महावीरकीर्ति को नमन करते हुए ज्ञानमती कहती हैं-"नमोऽस्तु गुरुवर्य ते परमयोगसिद्धये।"

पंचमेरुस्तुतिः षट्पद्यात्मक स्तोत्रकाव्य है। पाँच पर्वतों पर जिनालयों के स्थित होने के कारण दर्शनीय, पवित्र तथा पूज्य पर्वतों की महत्ता वर्णित है।

ज्ञानमती प्रणीत 'स जयतु गुरुवर्यः' में ग्यारह श्लोक में गुरुवर्य धर्मसागर का सम्पूर्ण जीवन परिचय, दर्शन, दिनचर्या तथा जीवनादर्शों को प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार श्रीधर्मसागराष्टकम् भी अन्वर्थनामा अष्टश्लोकात्मक स्तुति रचना है।

ज्ञानमती की समस्त रचनायें शान्तरस प्रधान हैं। इनमें महनीय आचार्यों के प्रति श्रद्धासुमन अर्पित है। रचनाओं में वैदर्भीरीति तथा प्रसादगुण का प्राधान्य है। सरल तथा सरस संस्कृत शब्दावली का प्रयोग है।

आर्यिका विशुद्धमति माताजी : सर्वतोमुखी प्रतिभा से युक्त तथा वैदुष्य मण्डित विशुद्धज्ञानमति माताजी का जन्म जबलपुर जिले में हुआ। पन्नालाल साहित्याचार्य से संस्कृत प्राकृत की शिक्षा ग्रहण कर दिगम्बर जैन महिलाश्रम की प्राचार्या हुईं। स्वाध्याय, चिन्तन तथा स्वपरकल्याण, साहित्य प्रणयन प्रमुख प्रवृत्ति रही। त्रिलोकसागर का हिन्दी अनुवाद किया। अष्टोत्तरशतनामस्तोत्र-सोलह श्लोकों से युक्त संस्कृतस्तोत्रकाव्य है। प्राणिमात्र के हित के लिए धर्मसागर को सविशेष शतनामों से सम्बोधित किया गया है।

आर्यिका जिनमति- महाराष्ट्र में जन्म प्राप्त जिनमति का गृहस्थावस्था का नाम प्रभावती था। आर्यिका ज्ञानमती के सम्पर्क से सोलह वर्ष की अवस्था में ही ब्रह्मचर्य लिया। १६५५ ई. में वीरसागर से क्षुल्लिका दीक्षा, शिवसागर से १६६२ ई. में आर्यिका दीक्षा ली। संस्कृत रचना स्मृतिपरक शिवाष्टक स्तोत्र है। इसमें दस पद्य अनुष्टुप् तथा शिखरिणी में हैं।

क्षुल्लिका राजमतिमाताजी : दक्षिण भारत में जन्मी राजमतिमाता जी मुनि जम्मूसागर की युवावस्था की पत्नी है। संस्कृत भाषा में स्तुतिरूप स्फुटरचना शान्तिसागर से सम्बद्ध नवश्लोकात्मक है जिसमें शान्तिसागर के सर्प के सामने होने पर भी विचलित न होने का संकेत है।

नामानुक्रमणिका

अ

च

छ

ज

ठ

ढ

त

प

य

र

श

स

ग्रन्थानुक्रमणिका

ग

घ

च

श

स

ह